प्रकाशक

मोतीलाल जालान

गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत् २०१७ से २०२५ तक १५,०००
संवत् २०३१ आठवाँ संस्करण ५,०००

मूल्य ९.०० (नौ रुपये)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

मुद्रक—संसार प्रेस, काशीपुरा, वाराणसी ।

समर्पण

श्रीमद्रामचरितमानसके निर्माणकर्ता जगदाचार्य भगवान् श्रीशंकरजी, श्रीरामचरितके अनन्य रसिक और श्रोता श्रीसीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारी मङ्गलमूर्ति पवनपूत रामदूत श्रीहनुमान्‌जी, श्रीमद्‌गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज जिनके द्वारा आज जगत्‌में वह चरित प्रकाशित होकर लोगोको श्रीरामसम्मुख कर रहा है, वैष्णवरत्न परम कृपालु श्री १०८ श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद् श्रीरूपकलाजी जिनकी आज्ञाने ही स्वयं "मानस-पीयूष" रूप धारण किया, स्वामी श्री १०८

पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज व्यास

जिन्होने इस ग्रन्थका नामकरण

किया एवं इस तिलकके

प्रेमी पाठक—

आप ही सब महाभागवतोके कर-कमलोमे यह "मानस-पीयूष" के केवल खण्ड १ का षष्ठ संस्करण सादर सविनय समर्पण करके प्रार्थी हूँ कि इसे स्वीकार करें और इस दीनको अपना शिशु और जन जानकर इसको श्रीसीतारामजीके चरणकमलोमे वह अनूठा सहज अविरल अमल अटल एकरस निरन्तर अनुराग और दृढ श्रद्धा-विश्वास प्रदान करें, जिससे प्रभु तुरंत द्रवित होते हैं।

आपका शिशु—

श्रीअंजनीनन्दनशरण

तीसरे संस्करणका परिचय

यद्यपि श्रीरामचरितमानस दार्शनिकसिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ नहीं है, किंतु भक्तिमार्ग (अर्थात् भगवान् श्रीरामजीके चरित्र और यश) का प्रतिपादन ही उसका प्रधान विषय है, तथापि प्रसङ्गवशात् जो कुछ वेदान्तविषयप्रतिपादक वचन मिलते हैं, उनसे इस ग्रन्थके सिद्धान्तके विषयमें लोगोंमें मतभेद है। कुछ लोगोंका कहना है कि मानसमें अद्वैत-सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया गया है। इस विषयमें उनका यह कथन है कि 'अद्वैतसिद्धान्तमें ब्रह्मको निर्गुण, निर्विकार, निरवयव, नाम-रूप-रहित, मन-वाणीके अगोचर अर्थात् अनिर्वचनीय माना जाता है और जीव ब्रह्मका अंश है, अतः दोनोंमें अभेद है तथा जगत् रज्जुसर्पवत् मिथ्या है।' जगत्के मिथ्यात्वके विषयमें शुक्ति-रजत, मृगजल और स्वप्न आदि दृष्टान्त दिये जाते हैं। उपर्युक्त विषय आदि उपनिषद्-पुराणादिमें आवें तो विशिष्टाद्वैती या द्वैती अपने सिद्धान्तानुसार उसका प्रतिपादन करेंगे, परंतु उनके खास निजके साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें ब्रह्म, जीव और जगत्के विषयमें उपर्युक्त प्रकारका कथन अद्वैतीको छोड़ प्रायः अन्य कोई भी सिद्धान्त नहीं करता। श्रीरामचरितमानसमें उपर्युक्त प्रकारका कथन अनेक प्रसङ्गोंमें आया है। यथा—'सोइ ब्रह्म निर्गुन ध्याव' (६ । ११२ । छं० १), 'बिनु पद', 'बिनु कर', 'आनन रहित' (१ । ११८ । ५-६), 'अकल अनीह अरूप अनामा', 'मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार' (७ । १११ । ५-६), इत्यादि—ये ब्रह्मविषयक कथन हुए। इसी तरह 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी' (७ । ११७ । २), 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा' (७ । १११ । ६) आदि जीवविषयक कथन हैं। और 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।' (१ । मं० श्लो० ६), 'रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल…।' (१ । ११७)। इत्यादि जगद्विषयक कथन हैं। इन वाक्योंको लेकर अद्वैतमतानुयायी श्रीरामचरितमानसको अद्वैतसिद्धान्तपरक ग्रन्थ बताते हैं। द्वैतसाधक वाक्योंके विषयमें वे यह कहते हैं कि ज्ञानके अनधिकारियोंको चित्त-शुद्धिके लिये वेदोंमें कर्मकाण्ड और उपासना-काण्ड बताया है, परंतु उनका वास्तविक ध्येय अद्वैत ही है, उसी प्रकार मानसमें भी जो कर्म या उपासनाके कारण द्वैतसाधक वाक्य आये हैं, उनकी भी वही व्यवस्था है, अतः उपर्युक्त कथनमें कोई बाधा नहीं है।

कोई कहते हैं कि 'यहाँ तो द्वैतका ही प्रतिपादन है, क्योंकि यह तो चरित्र है, प्रभुका गुणगान है। निर्गुणका गुणगान कैसा? 'यत्पादप्लव' से सावयवत्व दिखाया, 'रामाख्य' से नाम बताया, 'यन्मायावश' से ब्रह्म, माया और जीव (ब्रह्मादिदेवासुरा) का पृथक् अस्तित्व और भेद कहा। यह तो प्रथमारम्भकी बात है। आगे 'जीव कि ईस समान' (७ । १११), 'माया बस परिछिन्न जड़ जीव' (७ । १११), 'मायाबस्य जीव' (७ । ७८) 'मायाप्रेरक सीव' (३ । १५), 'जो जस करइ ' (२ । २१९) आदि वाक्योंसे स्पष्ट जगत्-सत्यत्व झलकता है। अतः मानसका सिद्धान्त द्वैत ही है।' अद्वैतसाधक वाक्योंके विषयमें परमात्मा अचिन्त्य शक्तिमान् 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' है, उसमें सब सम्भव है, इत्यादि युक्तियोंसे काम लेकर वे उन वाक्योंको लगाकर अपनी बात सिद्ध करते हैं।

श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव महात्मा तो गोस्वामीजीको अपने सम्प्रदायका होनेसे इस ग्रन्थको अपनी निजी सम्पत्ति ही मानते हैं। उनका कहना है कि इस ग्रन्थमें अद्वैतका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यहाँ तो आदिसे अन्ततक 'समन्वय सिद्धान्त' ही ओत-प्रोत भरा हुआ है, उनका कथन है कि अन्य साम्प्रदायिकोंको अपने सिद्धान्तानुसार इस ग्रन्थको लगानेमें बहुत खींचातानी करनी पड़ती है, परंतु इस मतमें दोनों विरोधी वाक्य सरलतासे लगते हैं। इस सिद्धान्तका तात्पर्य है—'कार्य-कारणका अभेद' अर्थात्

चिदचिद्विशिष्ट स्थूल ब्रह्म और चिदचिद्विशिष्ट-सूक्ष्म ब्रह्मका अभेद। स्थूल कार्य है, सूक्ष्म कारण है। परंतु वे दोनों हैं एक ही। अतः अद्वैतसाधक वाक्य सूक्ष्मपरक और द्वैतसाधक वाक्य स्थूलपरक माननेसे कोई अड़चन नहीं पड़ती। इस प्रकार समन्वय करनेका ढंग या नियम भी इसी ग्रन्थमें बताया है। 'निर्गुण' का अर्थ है—'अव्यक्त'। यथा—'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥' (६। ११२) ब्रह्मके निर्गुण और सगुण दो स्वरूप हैं। यथा—'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा' (१। २३) इन दोनोंमें अभेद है। यथा—'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा' (१। ११६) यह निर्गुण ही सगुण होता है। यथा—'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥' १। ११६।—इसका दृष्टान्त भी इसी चौपाईके आगे दिया है। यही बात अन्यत्र भी कही है, यथा—'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।' (१। १३)। 'सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही स्थूल हुआ है'—इस बातको गोस्वामी तुलसीदासजी इतना प्रसिद्ध मानते हैं कि उन्होंने दृष्टान्तके वास्ते उसका प्रयोग किया है, यथा—'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा॥' (४। १७)। दृष्टान्त प्रसिद्ध बातका ही दिया जाता है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जहाँ कहीं भी ग्रन्थमें 'निर्गुण' शब्दका प्रयोग किया गया है, प्रायः वहाँ साथ ही 'सगुण' शब्द भी रखा गया है। यथा—'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही' (३। ३२ छंद), 'निर्गुन सगुन विषम सम रूप' (३। ११), 'अगुन सगुन गुन मंदिर सुन्दर (६। ११४) 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपसिरोमने॥' (७। १३)। क्या इस प्रकारकी बातें कोई अन्य साम्प्रदायिक कह सकता है? अतएव श्रीरामचरितमानसका सिद्धान्त 'समन्वय' ही है।

यद्यपि पूर्वोक्त दोनोंकी अपेक्षा इस पक्षका कथन गम्भीर और सयुक्तिक जान पड़ता है, तथापि ग्रन्थका विषय और प्रतिपादनका ढंग देखनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रन्थ किसी एक सम्प्रदाय या जातिके लिये बनाया गया है। किन्तु इसका निर्माण मानवमात्रके कल्याणके लिये हुआ है और यह मानवमात्रकी सम्पत्ति है।

यद्यपि श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव थे और इसलिये उनका सिद्धान्त विशिष्टा-द्वैत ही है तथा यह बात उन्होंने समय-समयपर दर्शित भी कर दी है, तथापि अन्य साम्प्रदायिकोंके सिद्धान्तप्रतिपादक दृष्टान्त, युक्तियाँ आदि बहुत बातोंका भी उल्लेख इस ग्रन्थमें बहुत खूबीके साथ किया गया है। इसका यथार्थ कारण तो प्रभु ही जानें या स्वयं ग्रन्थकर्ता ही परंतु अनुमानसे यह बात कह सकते हैं कि यदि यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक ढंगपर लिखा जाता तो सम्भवतः अन्य संस्कृत ग्रन्थोंकी तरह यह ग्रन्थ भी सम्प्रदायमें ही सीमित रह जाता, सर्वसाधारण जनतामें इसका प्रचार उतना न होता जितना कि आजतक और इस समय हुआ है तथा होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त एक बात और भी ध्यान देने योग्य जान पड़ती है कि इस ग्रन्थके निर्माणके समय जिस प्रकारकी भाषाशैली रही होगी, विषयप्रतिपादन तथा विषय-प्रतिपादक दृष्टान्त आदिकी जो रीति लोकव्यवहारमें प्रचलित थी, उसीका अनुसरण हमारे पूज्य कविने भी किया और यही रीति साधारणतया पुराणोंमें भी देखी जाती है।

अपनेको अद्वैतमतानुयायी कहलानेवाले कुछ मायामोहित जीव भक्तिमार्गको तुच्छ समझकर वैष्णवोंका विरोध करते थे और अभी भी कुछ करते हैं तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ही ब्रह्म हूँ, जगत् मिथ्या है इत्यादि बातें कहकर देहाभिमान और विषयवासनाओंमें लिप्त रहते हैं। इन लोगोंके आचरणसे साधारणतया वैष्णवसमुदाय यही समझता है कि अद्वैती भक्तिमार्गके विरोधी हैं, परंतु वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। अद्वैत-सम्प्रदायके आद्य उत्पादक (जीर्णोद्धारक) स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज भी भक्तिमार्गके विरोधी न थे। उनके—'लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बं', 'भज गोविन्दं', 'अविनयमपनय विष्णो' आदि स्तोत्र बहुत प्रसिद्ध हैं। अद्वैतसिद्धिकार श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वतीजी भी बड़े भक्त थे। महाराष्ट्रके श्रीज्ञानेश्वर महाराज, श्रीएकनाथ महाराज, श्रीनामदेवजी, श्रीतुकारामजी महाराज, श्रीसमर्थ रामदासजी महाराज आदि महात्मा,

अद्वैत-प्रतिपादक होनेपर भी बहुत उच्च श्रेणीके भक्त थे। समर्थ रामदासजी महाराज तो कहते हैं कि 'मुक्तपणें रामनामा चा अव्हेर, तरी तो गवाँर मुक्त नोहे' अर्थात् मुक्तपनेके अभिमानसे कोई रामनामका अनादर करता है तो वह गँवार है, मुक्त नहीं है। अद्वैती होनेपर भी भक्तिमार्गके भाव किस प्रकार आ सकते हैं, उसका उदाहरण अध्यात्मरामायण है। अद्वैतियोंमें जो रामभक्त हैं, उनका तो कहना है कि वास्तविक भक्ति तो अद्वैती ही कर सकता है, क्योंकि वह अपनेको भगवान्‌में मिलाके मिटा देता है, उसके लिये संसारमें भगवान्‌के सिवा और कुछ है ही नहीं।—ऐसे अद्वैती इस ग्रन्थका आदरपूर्वक मान करेंगे ही।

विशिष्टाद्वैतियोंमें श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवोंका तो यह सर्वस्व है, प्राण है, जीवनधन ही है।

इन दोनोंके सिवा अन्य सिद्धान्तानुयायी लोग कुछ उपासनाभेद और कुछ भावभेद आदिके कारण प्रायः इस ग्रन्थकी ओर कम झुकेंगे। इनके अतिरिक्त एक साधारण वर्ग है, जो किसी सम्प्रदाय, द्वैत या अद्वैतके झगड़ोंमें नहीं पड़ता, वह केवल भगवच्चरित्र आदि समझकर इस ग्रन्थरत्नका आदर करता है।

अतः अन्य सिद्धान्तोंकी ओर विशेष दृष्टि न डालकर हमने 'मानस-पीयूष' में 'अद्वैत' और 'समन्वय' सिद्धान्तानुसार अर्थ और भावार्थके प्रतिपादनका प्रयत्न किया है। पर औरोंने भी जो लिखा है वह भी इसमें दिया गया है।

गोस्वामीजीने 'नानापुराणनिगमागमसम्मत·· रघुनाथगाथाभाषानिबन्ध' की रचनाकी प्रतिज्ञा की है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि पुराण, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदिका जो सिद्धान्त है, वही मानसका सिद्धान्त है। भगवान् श्रीस्वामी शंकराचार्यजी, भगवान् श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी, भगवान् श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी, भगवान् श्रीस्वामी मध्वाचार्यजी आदि आचार्योंने जिस प्रकार उपर्युक्त ग्रन्थोंसे ही अपना-अपना सिद्धान्त सिद्ध किया है, उसी प्रकार सब कोई अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार मानसका अर्थ लगा सकते हैं।

इसपर यह कहा जा सकता है कि 'किसी भी कारणसे हो, परंतु गोस्वामीजीने अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तके विरुद्ध प्रतिपादन किया—यह बात देखनेमें ठीक नहीं जँचती, उनको ऐसा न करना था।' तो उसका समाधान यह है कि गोस्वामीजीने कोई ऐसा विषय नहीं कहा जो उपनिषद्, पुराण आदि प्राचीन सर्वमान्य ग्रन्थोंमें न हो। अर्थात् मानसमें प्रतिपादित सब विषय प्राचीन सर्वमान्य ग्रन्थोंमें मिलता है। उस विषयकी संगति जिस प्रकार सर्वसम्प्रदायोंके आचार्योंने अपने-अपने सिद्धान्तानुसार लगायी है उसी प्रकार इस ग्रन्थके विरोधी वचनोंकी संगति भी लग सकती है।

किंतु श्रीगोस्वामीजी भगवान् बोधायनके समन्वयसिद्धान्तके पूर्ण अनुयायी हैं। उस समन्वय-सिद्धान्तका विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त नाम पड़नेपर ही लोगोंमें परस्पर भेदभाव मालूम पड़ने लगा है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजीने अपने आचार-व्यवहारोंसे उस व्यापक सिद्धान्तसे जनसमुदायको अपनाया। उन्हींके शिष्य-प्रशिष्योंमें श्रीगोस्वामीजी हैं। अतः उनके रचित इस मानसमें भी उसी तरह व्यापक शब्दोंके प्रयोग भरे पड़े हैं, जिससे लोगोंको अद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादनकी भावना होती है और बहुत-सी टीकाओंमें भी इसीकी झलक आती है। कुछ टीकाकारोंने समन्वयसिद्धान्त (विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त) पर प्रकाश डाला है, परंतु वह बहुत ही अधूरा-सा जान पड़ता है।

इधर कुछ दिनोंसे यहाँके धुरन्धर विद्वान् दार्शनिकसार्वभौम श्रीवासुदेवाचार्यजीसे इस विषयपर समयानुसार सत्सङ्ग होने लगा और होते-हुआते यह निश्चय हुआ कि इस ग्रन्थमें जो साधारणतया अद्वैत-प्रतिपादक वचन जान पड़ते हैं उनका समन्वयसिद्धान्तपरक कैसा अर्थ होता है—यह भी इस तीसरे संस्करणमें संगृहीत होना चाहिये। दार्शनिक आश्रममें मुझे इन गम्भीर विषयोंपर उपर्युक्त दार्शनिकजीके प्रवचन समय-समयपर सुननेको मिले।

इन प्रवचनोंके आधारपर 'मानस-पीयूष' के इस परिवर्धित, संशोधित तथा नये कलेवरके लगभग बिलकुल नये संस्करणमें समन्वय-सिद्धान्तका विषय भी लिखा गया है।

अद्वैत-प्रतिपादक होनेपर भी बहुत उच्च श्रेणीके भक्त थे। समर्थ रामदासजी महाराज तो कहते हैं कि 'मुक्तपणें रामनामा चा अनादेर, तरी तो गवाँर मुक्त नोहे' अर्थात् मुक्तपनेके अभिमानसे कोई रामनामका अनादर करता है तो वह गँवार है, मुक्त नहीं है। अद्वैती होनेपर भी भक्तिमार्गके भाव किस प्रकार आ सकते हैं, उसका उदाहरण अध्यात्मरामायण है। अद्वैतियोंमें जो रामभक्त है, उनका तो कहना है कि वास्तविक भक्ति तो अद्वैती ही कर सकता है, क्योंकि वह अपनेको भगवान्में मिलाके मिटा देता है, उसके लिये संसारमें भगवान्के सिवा और कुछ है ही नहीं।—ऐसे अद्वैती इस ग्रन्थका आदरपूर्वक मान करेंगे ही।

विशिष्टाद्वैतियोंमें श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवोंका तो यह सर्वस्व है, प्राण है, जीवनधन ही है।

इन दोनोंके सिवा अन्य सिद्धान्तानुयायी लोग कुछ उपासनाभेद और कुछ भावभेद आदिके कारण प्रायः इस ग्रन्थकी ओर कम झुकेंगे। इनके अतिरिक्त एक साधारण वर्ग है, जो किसी सम्प्रदाय, द्वैत या अद्वैतके झगड़ोंमें नहीं पड़ता, वह केवल भगवच्चरित्र आदि समझकर इस ग्रन्थरत्नका आदर करता है।

अतः अन्य सिद्धान्तोंकी ओर विशेष दृष्टि न डालकर हमने 'मानस-पीयूष' में 'अद्वैत' और 'समन्वय' सिद्धान्तानुसार अर्थ और भावार्थोंके प्रतिपादनका प्रयत्न किया है। पर औरोंने भी जो लिखा है वह भी इसमें दिया गया है।

गोस्वामीजीने 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं·· रघुनाथगाथाभाषानिबन्ध' की रचनाकी प्रतिज्ञा की है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि पुराण, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदिका जो सिद्धान्त है, वही मानसका सिद्धान्त है। भगवान् श्रीस्वामी शंकराचार्यजी, भगवान् श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी, भगवान् श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी, भगवान् श्रीस्वामी मध्वाचार्यजी आदि आचार्योंने जिस प्रकार उपर्युक्त ग्रन्थोंसे ही अपना-अपना सिद्धान्त सिद्ध किया है, उसी प्रकार सब कोई अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार मानसका अर्थ लगा सकते हैं।

इसपर यह कहा जा सकता है कि 'किसी भी कारणसे हो, परंतु गोस्वामीजीने अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तके विरुद्ध प्रतिपादन किया—यह बात देखनेमें ठीक नहीं जँचती, उनको ऐसा न करना था।' तो उसका समाधान यह है कि गोस्वामीजीने कोई ऐसा विषय नहीं कहा जो उपनिषद्, पुराण आदि प्राचीन सर्वमान्य ग्रन्थोंमें न हो। अर्थात् मानसमें प्रतिपादित सब विषय प्राचीन सर्वमान्य ग्रन्थोंमें मिलता है। उस विषयकी संगति जिस प्रकार सर्वसम्प्रदायोंके आचार्योंने अपने-अपने सिद्धान्तानुसार लगायी है उसी प्रकार इस ग्रन्थके विरोधी वचनोंकी संगति भी लग सकती है।

किंतु श्रीगोस्वामीजी भगवान् बोधायनके समन्वयसिद्धान्तके पूर्ण अनुयायी हैं। उस समन्वय-सिद्धान्तका विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त नाम पड़नेपर ही लोगोंमें परस्पर भेदभाव मालूम पड़ने लगा है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजीने अपने आचार-व्यवहारोंसे उस व्यापक सिद्धान्तसे जनसमुदायको अपनाया। उन्हींके शिष्य-प्रशिष्योंमें श्रीगोस्वामीजी हैं। अतः उनके रचित इस मानसमें भी उसी तरह व्यापक शब्दोंके प्रयोग भरे पड़े हैं, जिससे लोगोंको अद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादनकी भावना होती है और बहुत-सी टीकाओंमें भी इसीकी झलक आती है। कुछ टीकाकारोंने समन्वयसिद्धान्त (विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त) पर प्रकाश डाला है, परंतु वह बहुत ही अधूरा-सा जान पड़ता है।

इधर कुछ दिनोंसे यहाँके धुरन्धर विद्वान् दार्शनिकसार्वभौम श्रीवासुदेवाचार्यजीसे इस विषयपर समयानुसार सत्सङ्ग होने लगा और होते-हुआते यह निश्चय हुआ कि इस ग्रन्थमें जो साधारणतया अद्वैत-प्रतिपादक वचन जान पड़ते हैं उनका समन्वयसिद्धान्तपरक कैसा अर्थ होता है—यह भी इस तीसरे संस्करणमें संगृहीत होना चाहिये। दार्शनिक आश्रममें मुझे इन गम्भीर विषयोंपर उपर्युक्त दार्शनिकजीके प्रवचन समय-समयपर सुननेको मिले।

इन प्रवचनोंके आधारपर 'मानस-पीयूष' के इस परिवर्धित, संशोधित तथा नये कलेवरके लगभग बिलकुल नये संस्करणमें समन्वय-सिद्धान्तका विषय भी लिखा गया है।

Shri Ayodhyaji
18—9—1940.

. . . . ..

(Para 3)—So that I may not be too late, I hurry up writing to you my view in the matter of curtailment For valid and cogent reasons which I give below I strongly wish that the massive informations imparted to the Hindu public through 'Manas-Piyush' should be maintained intact, and, if possible, should be increased,

The most attractive and characteristic feature in 'Manas-Piyush' is the analytic and Synthetic treatment of the subject matter, giving in full details the important views of the most renowned and deeply devout Ramayanis and thus giving the readers a full opportunity of improving their knowledge and developing their mind in the direction of Sharanagati and Bhakti.

It is my definite opinion that the value of this Encyclopaedia Indica of Shri Ramayana should not be detracted by curtailment or abridgment of the matters so lucidly and vividly dealt with.

Sita Ramiya Brajendra Prasad.

श्रीअयोध्याजी
१८-९-१९४०

·· इस विचारसे कि मैं प्रस्तुत पुस्तकके संक्षिप्त करनेके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट करनेमें पीछे न रह जाऊँ मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ। मेरा दृढ़ तथा अटल विश्वास है कि 'मानस-पीयूष' द्वारा जो असीम ज्ञान-भण्डार हिंदू जनताके लाभार्थ प्रस्तुत किया गया है, उसको यही नहीं कि प्रस्तुत रूपमें रखना अनिवार्य है, वरन् उसमें यथाशक्ति वृद्धि करनेकी आवश्यकता है। मेरी इस धारणाकी पुष्टि निम्नलिखित अकाट्य एवं निर्विवाद प्रमाणोंसे होती है—

'मानस-पीयूष' की विशेषता तथा आकर्षण उसके व्याख्यात्मक एवं भावात्मक विषय-निरूपणमें सन्निहित है। केवल यही नहीं अपितु इस महान ग्रन्थमें ख्यातनामा रामायणियोंके सर्वोत्कृष्ट विचारोंको सविस्तर पाठकोंके सम्मुख करके उनको शरणागति तथा भक्ति-मार्गपर अग्रसर होनेमें सहायता प्राप्त होती है और तद्विषयक ज्ञानमें अभिवृद्धि होती है।

अतः यह मेरी निश्चित सम्मति है कि श्रीरामायणके इस महान् ग्रन्थकी महत्ताको संक्षिप्त करनेका प्रयास असङ्गत है। ··· ···

सीतारामीय व्रजेन्द्रप्रसाद

श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी, सम्पादक 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी) भी 'मानस' के पाठके सम्बन्धमें कुछ खोजके लिये यहाँ आये थे, उनसे भी मैंने इस काट-छाँटके विषयकी चर्चा की। उन्होंने उत्तरमें कहा कि 'मानस-पीयूष' में निकाल डालनेकी कोई वस्तु नहीं है, उसमें जो और बढ़े वह बढ़ायी ही जावे, कोई वस्तु घटायी न जाय।

यही राय श्रीयुत राजबहादुर लमगोड़ा एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, सीनियर एडवोकेट, फतेहपुरकी भी हुई। अतएव मैंने जो दूसरा संस्करण बालकाण्डका लिखा था उसको रद्द कर फिरसे लिखना प्रारम्भ किया और विवाह-प्रसङ्गतक लिखकर तैयार भी किया। इसमें मैंने श्रीपं० रामकुमारजीके पूरे हस्तलिखित टिप्पण भी

दिये और लमगोड़ाजीके विश्व-साहित्यमें 'रामचरितमानस' तथा 'मानसमें हास्यरस' से भी सहायता ली तथा उनसे और भी सहायता पाश्चात्य साहित्य और तुलसी-साहित्यके मिलानमें ली, जो हमने उन्हींके नामसे दी है। इस तरह पाश्चात्य साहित्यके विद्यार्थियोंका प्रेम तुलसी-साहित्यकी ओर आकर्षित करनेका प्रयत्न किया गया है।

इधर तीन वर्षोंसे श्रीरामानन्दीय वैष्णवोंके चित्त श्रीरामचरितमानसके विशिष्टाद्वैतपरक अर्थोंकी ओर आकर्षित हो रहे हैं। और किसी भी ग्रन्थमें विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त-परक अर्थ और उनकी संगति यथार्थ देखनेमें नहीं आयी। हमें यह भी देखनेमें आया कि प्रथम संस्करणमें बहुत-सी त्रुटियाँ हो गयी हैं, बहुतेरी कथाओं आदिके प्रमाण भी नहीं दिये गये हैं, कहीं-कहीं टीकाओंके उद्धरण भी अधूरे हैं। इधर १५-१६ वर्षोंमें जो और यत्किंचित् नया मसाला तथा नये विचार मिले हैं उनको भी संगृहीत करना है। संस्कृत-भाषाके पण्डितोंको मानसके अध्ययनमें प्रवृत्त करनेके लिये, उनकी रुचि इस ओर करनेके लिये संस्कृत ग्रन्थोंके उद्धरणों समानार्थी श्लोकों आदिका संग्रह और जहाँ-तहाँ मानसके वाक्योंसे उनका मिलान भी इसमें किया जाना आवश्यक था। इत्यादि सब बातोंपर दृष्टि जानेपर हमने तीसरी बार उसे फिरसे प्रारम्भसे लिखना प्रारम्भ किया। करीब सत्तर वर्षकी अवस्था होनेपर भी दस-बारह घंटे प्रतिदिन इस कार्यमें परिश्रम करते हुए तीन वर्ष बीत गये।

माँग बहुत होनेपर भी हम शीघ्र प्रेमी पाठकोंके करकमलोंमें कोई दूसरा संस्करण न दे सके।

श्रीयुत भक्तवर गङ्गाप्रताप डींगर आदि महानुभावोंने जो अपनी तजवीजें (Suggestions) नये संस्करणके लिये, वर्षों हुई भेजी थीं, उनके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

इस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली पुत्री मीराको भी भूलना न चाहिये। महाभारत, पद्मपुराण, भागवत आदिकी कथाओं-प्रसङ्गों आदिको चुन-चुनकर उसीने 'मानस-पीयूष' के लिये एकत्र कर दिया और कितनी ही बार सूची भी बनायी थी। भगवान् उसको स्वस्थ रक्खें और अपनी भक्ति दें।

पाठ

प्रथम संस्करणमें हमने नागरीप्रचारिणीसभाके प्रथम संस्करणका ही पाठ प्रायः रक्खा था। उस समय मुझे संवत् १६६१ के बालकाण्डका पता भी नहीं था। प्रथम भागके दूसरे संस्करणमें हमने सं० १६६१ का पाठ रक्खा था। अब इस नये संस्करणमें हमने पुनः पाठोंपर विशेष विचार किया है। जो पाठ सं० १६६१ का है वह हमने जैसा उस पोथीमें है वैसा ही दिया है, उसमें हेर-फेर नहीं किया। जहाँ हमने उसका पाठ नहीं लिया है, उसका कारण दिया है।

पं० शम्भुनारायण चौबे, पूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष, काशीनागरीप्रचारिणीसभाने जो १७२१, १७६२ लाला छक्कनलालजी, कोदोरामजी और काशीनरेशको सं० १७०४ की प्रतिके पाठ पत्रिकामें छपाये थे उससे हमने पूरी सहायता ली। १६६१ के पाठ उसमें कई जगह अशुद्ध मिले, इसलिये १६६१ वाली प्रतिका पाठ हमने असली प्रतिसे ही लिया। शेषका पाठ जो इस संस्करणमें दिया गया है, वह हमने चौबेजीसे ही लिया है। इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं, क्योंकि वह उन्होंने मेरे पास स्वयं भेज दी थी।

रिसर्च स्कालरोंको सं० १६६१ की पोथी देखनेका विशेष कष्ट न उठाना पड़े इसलिये हमने १६६१ का पाठ ज्यों-का-त्यों और आवश्यकतानुसार अपने टिप्पणीसहित दिया है। हमने अपनी ओरसे अनुस्वार अथवा उकारके चिह्न नहीं दिये हैं। पोथीमें अर्धचन्द्र बिन्दु केवल एक जगह देखनेमें आया, नहीं तो सर्वत्र ऐसा—ही है। हमने इस संस्करणमें १६६१ के पाठमें—ऐसा ही दिया है। जो अनुस्वार हमने आवश्यक समझकर अपनी ओरसे बढ़ाये हैं वहाँ हमने अर्धचन्द्र भी दिया है—जिसमें पाठक जान ले कि यह मूल प्रतिका नहीं है, किंतु सम्पादकका है।

१६६१ में एक प्रकरणके प्रकरणमें अनेक स्थलोंमें तालव्यी शकार 'श' आया है। अन्य लोगोंने सम्भवतः उसे लेखप्रमाद समझकर वहाँ भी 'स' छपाया है। मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। इसलिये मैंने उन स्थानोंपर 'श' ही दिया है जैसा पोथीमें है और उसका कारण भी जो अपनी तुच्छ बुद्धिमें आया, दिया है। अन्य पाठक भी उसपर विचार करें।

'ष' का प्रयोग 'ख' की जगह प्राचीन प्रायः सभी पोथियोंमें मिलता है। 'ख' को कभी 'रव' भी पढ़ लिया जाता है और 'रव' को 'ख'। सम्भव है कि इस दोषके बचनेके लिये 'ष' ही लिखा जाता रहा हो, अथवा और कोई कारण हो। उच्चारणमें भेद न होनेसे समस्त साहित्यज्ञोंने अब 'ष' की जगह 'ख' रखखा है। हमने भी इस संस्करणके मूल पाठमें 'ख' का ही प्रयोग किया है। प्राचीन पोथीमें जहाँ 'ए' है वहाँ हमने 'ए' जहाँ 'य' है वहाँ 'य' और जहाँ 'ये' है वहाँ 'ये' दिया है। प्राचीन पोथियोंमें 'ड़' की जगह 'ड' ही है। हमने सुविधाके लिये 'ड़' लिखा है।

पूर्व संस्करण छपाते समय हमें यह बोध न था कि दोहेके पूर्वकी चौपाइयाँ उस दोहेका अङ्ग हैं। यह बात हमें प्राचीन पोथियोंके देखनेसे कई वर्ष पीछे ज्ञात हुई। अतः इस संस्करणमें हमने दोहेका अंक जो प्रत्येक पृष्ठके ऊपर रहता है उसे ठीक कर दिया है और पुस्तकमें भी जहाँ जहाँ ग्रन्थके उदाहरण दिये गये हैं, वहाँ सर्वत्र पुनः पुस्तकसे मिलाकर दोहोंके अंक ठीक कर दिये हैं।

इस संस्करणमें जहाँतक स्मरणशक्ति काम दे रही है, हमारा प्रयत्न यह है कि पुनरुक्तियाँ न होने पावें। जिस शब्दका अर्थ एक बार आ गया उसका अर्थ फिर न दिया जाय। जो कथा एक बार लिख दी गयी वह फिर न दुहरायी जाय। जो विशेष भाव किसी वाक्यका एक जगह लिख दिया गया वह फिर दूसरी जगह न लिखा जाय। जहाँतक स्मरण रहता है हम पूर्व दोहा-चौपाईका संकेत कर देते हैं, जहाँ पूर्व वह विषय आ चुका है।

इस संस्करणमें हमने पाद-टिप्पणी प्रायः उड़ा ही दी है, जिसमें साधारण पाठकको भी समझनेमें कठिनता न हो। संस्कृतके उद्धरण छोटे अक्षरोंमें हैं, पर उनके अर्थ साधारण अक्षरोंमें हैं। जो संस्कृत नहीं पढ़े हैं, वे उन उद्धरणोंको छोड़ भी दें तो हानि नहीं। जिस शब्दका भाव लिखा गया है, उसपर जिस-जिसने जो लिखा है वह सब एकत्र ही उस-उसके नामसे दिया गया है, जिसमें एक साथ ही सबके भाव पाठकको मिल जायँ। पूर्वके महात्माओंने जो लिखा है उसे (कहीं-कहीं) न समझनेपर भी दे दिया है; क्योंकि यह तिलक Encyclopaedia इनसाइक्लोपीडिया ही है।

'टिप्पणी' शब्दसे पं० रामकुमारजीके भाव हमने सूचित किये हैं।

'मानस-पीयूष' में रुपयेमें बारह आना भावार्थ आदि साकेतवासी प्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजीके हैं, चार आनेमें समस्त उपलब्ध टीकाकारों, साहित्यज्ञों, रामायणविदों आदिके भाव हैं। बालकाण्डके प्रथम संस्करणके समय श्रीपण्डितजीके कथाके लिये तैयार किये हुए साफ हस्तलिखित खर्रे हमको केवल सत्तर (७०) दोहे तकके प्राप्त थे, शेष सब सुन्दरकाण्ड छपनेके पश्चात् प्राप्त हुए थे। वे सब इस संस्करणमें दिये जा रहे हैं। संस्कृत खर्रे भी पीछे ही प्राप्त हुए थे। उनका भी समावेश इसमें किया गया है। ये सब खर्रे हमारे पास मौजूद हैं और उनकी एक प्रतिलिपि भी जो छावनीके रामायणी श्री ६ रामसुन्दरदासजीके पास है।

पं० रामकुमारजीके खर्रोंके टिप्पणसे कहीं-कहीं असम्मत होनेपर मैंने स्पष्ट असङ्गति लिख दी है। मेरी समझमें ऐसा आता है कि किसी समय वैसा विचार उनके ध्यानमें आया, उन्होंने उसे टीप लिया कि पीछे इसपर विचार करेंगे परंतु वह वैसा ही रह गया। असम्मत होनेपर भी उसको देनेका कारण यह है कि सम्भव है कि मेरी समझमें नहीं आया, पर अन्य पाठक प्रेमी इसे लगा सकें तो लगा लें।

☞ पं० रामकुमारजीके हस्तलिखित टिप्पण हमें श्रीपुरुषोत्तमदत्त व्यास (श्रीरामनगर, काशी) से मिले। हम उनके परम आभारी हैं और पाठकोंको भी उन्हींका कृतज्ञ होना चाहिये। श्रीवैजनाथजी, श्रीकाष्ठजिह्वस्वामी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी, श्रीपंजाबी सन्तसिंहजी, बाबा श्रीजानकीदासजी, बाबा हरीदासजी, मुं० रोशनलालजी आदि कतिपय प्राचीन टीकाकारोंकी टीकाओंको इस संस्करणके लिये मैंने फिरसे अध्ययन करके उनके भावार्थोंमें जो त्रुटियाँ पूर्व संस्करणमें आ गयी थीं उनको ठीक करके लिखा है। उनकी पुरानी जटिल भाषा प्रथम बार इतनी अच्छी तरह नहीं समझा था।

श्रीकरुणासिंधुजी आदि प्राचीन टीकाकारोंकी टीकाओंसे जो संस्कृत श्लोकोंका संग्रह इस संस्करणमें किया गया है, उसमें अशुद्धि मिलनेपर जहाँतक हो सका उसके सुधारनेका प्रयत्न मूल ग्रन्थोंसे खोज-खोजकर किया गया है, फिर भी कहीं-कहीं संशोधन करना नितान्त असम्भव प्रतीत होनेपर निरुपायसे श्लोक ज्यों-का-त्यों दिया गया है।

इस संस्करणमें पूर्व संस्करणकी अपेक्षा टीकाकारोंके मतोंपर कुछ विशेष आलोचना की गयी है। प्रथम संस्करणमें हमारा उद्देश्य केवल संग्रह कर देनेका था, किसीपर कोई आलोचना करनेका विचार कदापि न था। परंतु कई ग्राहक प्रेमियोंने मुझे टीकाकारके कर्तव्य लिखे और यह लिखा कि अपना मत आलोचना-द्वारा अवश्य देना चाहिये। इसीसे प्रथम संस्करणमें आगे चलकर कहीं-कहीं आलोचना की गयी थी।

इस संस्करणमें बालकाण्डके प्रारम्भसे ही हमने प्राचीनसे प्राचीन टीकाकारोंसे लेकर आधुनिक टीकाकारोंतकके लेखोंमें जहाँ भी कोई बात हमें खटकी उसका हमने सोपपत्तिक निराकरण जहाँतक हो सका कर दिया है। जहाँ कोई बात हमारी समझमें नहीं आयी वहाँ हमने वैसा स्पष्ट कह दिया।

निराकरण करनेमें जो लिखा गया है उसको देखकर सम्भव है कि कोई लोग उसे खण्डन समझकर अनुचित मानें तो उसके विषयमें मेरी सविनय प्रार्थना है कि मैंने जो कुछ लिखा है वह कुछ खण्डन करनेके उद्देश्यसे नहीं, किंतु सिद्धान्तका समर्थन करनेके लिये ही लिखा है। हमने स्वयं जो प्रथम संस्करणमें लिखा है, उसमें भी जो भी हमारे अपने विचार हमको इस समय ठीक नहीं जान पड़े उनका भी हमने सोपपत्तिक निराकरण किया है। श्री पं० रामकुमारजीकी टिप्पणी जो मानस-पीयूषका मुख्य आधार है, उसमें भी यह बात हुई है। हमें अवश्य शोक होता है परंतु टीकाकारका यह कठोर एवं सत्य कर्तव्य हमें निरुपायसे करना पड़ा—इसके लिये पाठक आदि सभी महानुभावोंसे मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजी महाराजने ब्रह्मसूत्रके दूसरे अध्यायके दूसरे पादके प्रथम सूत्रपर लिखा है कि 'मुमुक्षुको सम्यक् ज्ञान होनेके लिये केवल अपने पक्षका प्रतिपादन करना तो ठीक है, परंतु दूसरेसे द्वेष करनेवाला जो परपक्षनिराकरण है उससे क्या प्रयोजन है?' यह शङ्का उठाकर उन्होंने उसका समाधान यह किया है कि 'बड़े सर्वज्ञ और सिद्ध महर्षियोंके बनाये हुए पूर्ण युक्तियोंसे प्रतिपादित सांख्यादि सिद्धान्तोंको देखकर सामान्य बुद्धिवाले मनुष्योंको उनपर श्रद्धा न हो जाय और वे उनका ग्रहण न कर लें, इसलिये वे दोषयुक्त हैं। उनका ग्रहण न करना चाहिये यह दिखानेके लिये उन सिद्धान्तोंका खण्डन करना आवश्यक है। यथा (भाष्य)—'ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण? बाढमेवं तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत्केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसम्भवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु, इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते॥'

इसीकी टीकामें द्वादश दर्शनाचार्य वाचस्पति मिश्रजी अपने 'भामती' टीकामें लिखते हैं कि विरक्तोंकी कथा-वार्ताका प्रयोजन तत्त्वनिर्णयमात्र होता है, परंतु परपक्षके निराकरण बिना तत्त्वनिर्णय ठीक से नहीं हो सकता, इसलिये विरक्तद्वारा भी परपक्षके दोष दिखाये जाते हैं। यह कुछ शत्रुका पक्ष समझकर या द्वेष

भावसे नहीं। अतः ऐसे प्रतिपादनसे विरक्तताभें कोई हानि नहीं। 'तत्त्वनिर्णयावसाना वीतरागकथा न च परपक्षदूषणमात्रेण तत्त्वनिर्णयः शक्य कर्तुमिति तत्त्वनिर्णयाय वीतरागेणापि परपक्षो दूष्यते। न तु परपक्षतयेति न वीतरागस्यास्य व्याहतिरित्यर्थः।

बालकाण्ड-तिलक प्रथम संस्करण तीन भागोंमें था, जिसमें २२७८ पृष्ठ थे और जो संवत् १९८१—१९८४ में प्रकाशित हुआ था। प्रथम भाग जिसमें प्रारम्भके तैंतालीस (४३) दोहोंका तिलक था, उसका दूसरा संस्करण मानस-पीयूषका उत्तरकाण्ड समाप्त होनेपर तुरत ही हमें करना पड़ा था। उसमें लगभग सौ पृष्ठ प्रथम संस्करणसे अधिक थे। उस भागका अब तीसरा संस्करण है जो प्रेमी पाठकोंके करकमलोंमें भेंट किया जा रहा है। डेमाई आक्टेवो आठपेजीमें यदि यह छपता तो इसमें एक हजारसे अधिक पृष्ठ होते। हमने उसका साइज बदल दिया है और पैरा आदिके नियमोंकी भी परवा न करके हमने इसे घना छपवाया है जिससे मूल्य भी विशेष न बढ़े।

यदि श्रीसीतारामजीकी इच्छा होगी तो यह नया संस्करण इसी ढंगपर आदिसे अन्ततक प्रकाशित हो सकेगा। नहीं तो इस अवस्थामें बिना किसी दूसरे सहायकके इतना परिश्रम तो असम्भव ही है। उन्हीं जगन्नियन्ताने जैसे शक्ति और तदनुकूल बुद्धि आदि देकर ७००० पृष्ठोंका प्रथम संस्करण अकेले इसी शरीरसे तैयार कराया था वैसे ही वे इस संस्करणको करा ले सकते हैं—अपनी शक्तिसे तो असम्भव ही था।

छपाई और संशोधन

दास सन १९३४ ई० से श्रीअयोध्याजीसे बाहर नहीं जाता। दूसरे चित्त भी लिखने-पढ़नेके कामसे हट गया था। इत्यादि कारणोंसे नवीन संस्करणके प्रकाशनमें अत्यन्त विलम्ब हुआ। श्रीअनन्तरामजीने इस कार्यके करनेमें उत्साह दिखाया किन्तु उनका शरीर बहुत अस्वस्थ हो गया और वे इस संसारको छोड़कर स्वर्गवासी हुए। श्रीरामचन्द्रदास पाटील साहित्यरत्न आदि उपाधियाँ प्राप्त कर चुके थे। इन्होंने अपना प्रेस खोलकर 'मानस-पीयूष' छापकर प्रकाशित करनेका उत्साह दिखाया।' ' पुस्तक प्रारम्भसे ही बहुत अशुद्ध छपी और मेरे बारम्बार लिखनेपर भी उन्होंने कुछ ध्यान न दिया, जिससे लाचार होकर उनके हाथसे काम छीन लिया गया। पृष्ठ १—३८४ में 'प्रेत-प्रेत' की भरमार प्रत्यक्ष है।

बहुत-से प्रेमियोंका आग्रह देखकर श्रीअयोध्याजीमें जैसे-तैसे एक नये प्रेसवालोंके द्वारा यह छपाई-का काम कराया जा रहा है। दासके नेत्रोंमें मोतियाबिन्दु हो गया है। केवल एक नेत्रमें कुछ रोशनी है उसीसे एक बार प्रूफका संशोधन कर दिया जाता है। एक महात्मा इसमें हमारी बहुत सहायता कर रहे हैं। हम उनके बहुत ही आभारी हैं, प्रूफकी इतनी देख-भालपर भी कुछ अशुद्धियोंका रह जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। छपाई, सफाई आदिके लिये प्रेसवालोंसे बारंबार प्रार्थना करता रहता हूँ, इससे अधिक क्या कर सकता हूँ? छपाई, सफाई और ठीक संशोधन तो उन्हींके अधीन है। कार्य शीघ्रातिशीघ्र हो इसलिये कुछ-कुछ काम दूसरे प्रेसोंसे भी लेता हूँ जितना भी वे कर सकते हैं। सब प्रेसवालोंको हम धन्यवाद देते हैं कि वे जो कुछ हो सकता है उससे प्रकाशनमें सहायक हो रहे हैं।

अन्तमें हम श्रीअनन्तरामजी तथा श्रीरामचन्द्रदास पाटीलको भी धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इसके प्रकाशनका साहस किया, यद्यपि वे उसमें असफल हुए। आज हम उन्हींकी कुछ सामग्रियोंको लेकर आगे चल रहे हैं। इस संस्करणके पृष्ठ १—३८३ बड़ोदा तथा नान्दुरासे जनवरी सन् १९४८ में प्रकाशित हुए थे। उसके आगेसे श्रीअयोध्याजीसे प्रकाशित हुए हैं। जो महानुभाव श्रीअयोध्याजी और फैजाबाद तथा अन्यत्र-के इस संस्करणके प्रकाशनमें हमारे सहायक हुए एवं जो आगे होंगे उनको भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

जिन-जिन महात्माओंने निःस्वार्थ भावसे इस श्रीमानससेवामें हमारा हाथ बँटाया है उनका मैं परम कृतज्ञ हूँ। आज्ञा न होनेसे मैंने उनका नाम नहीं खोला।

इस दीन शिशुको आशा है कि पं० रामकुमारजीकी तथा रामायणी श्रीमाधवदासजीकी आत्माएँ इस कार्यसे संतुष्ट होंगी कि इस दीनके द्वारा उनकी अभिलाषाएँ श्रीसीतारामजीने पूर्ण कीं।

श्रीसद्‌गुरुदेव भगवान् अनन्त श्रीरूपकलाजी, जिनकी परम गरीयसी आज्ञा तथा कृपाने हिंदीभाषा न जाननेवाले इस अबोध शिष्यसे अकेले ही इतना भारी कार्य सम्पन्न करा लिया उनको वारंवार यह दास सादर सप्रेम प्रणाम करता है। समस्त पूर्वाचार्यों तिलक करनेवालोंकी भी सादर सप्रेम प्रार्थना करता हूँ। आप सब ही इस ग्रन्थमें रत्नरूपसे सुशोभित हैं और सदा रहें। आपकी कीर्ति ही बढ़ाना इस दासका उद्देश्य रहा है। बालकके तोतले वचनके समान कहीं-कहीं जो आलोचनाएँ की गयी हैं उन्हें पढ़कर आप प्रसन्न ही हों।

अन्तमें आपसे प्रार्थना है कि आप इस शिशुको सप्रेम तथा प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दें कि इसी शरीरमें इस शिशुको प्रेम-भक्ति प्राप्त हो जाय और सदा श्रीसीतारामजीके नाममें, चरणोंमें, मुखारविन्दके दर्शनमें मन लवलीन रहे। जय श्रीसीताराम। पौष कृ० २ सं० २००७

—अञ्जनीनन्दनशरण, श्रीअयोध्याजी

चतुर्थ संस्करणके सम्बन्धमें

अनन्त श्रीगुरुदेवजीकी कृपासे बालकाण्डके प्रथम ४३ दोहोंका 'मानस-पीयूष' तिलक, चतुर्थ संस्करण, आज यह दास प्रेमियोंकी सेवामें भेंट कर रहा हूँ। यह संस्करण पिछले संस्करणकी अपेक्षा बहुत सुन्दर और शुद्ध छपा है। हमारे पास प्रचारका किंचित् भी साधन न होनेपर भी जनताने इसे कैसा अपनाया यह इसीसे स्पष्ट है कि सातों काण्डोंका तिलक पूरा होते-होते हमें बालकाण्डके नये संस्करणके छापनेकी आवश्यकता पड़ गयी और भाग १ छपकर तैयार भी हो गया।

—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण

आठवाँ संस्करण

पू० श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी महाराजने मानस-पीयूषके अधिक प्रचारकी इच्छासे अपना वर्तमान पूरा स्टाक तथा उसके पुनर्मुद्रण तथा विक्रय आदिके सर्वाधिकार स्वेच्छापूर्वक गीताप्रेस, गोरखपुरको प्रदान कर दिये। जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। जो-जो खण्ड जैसे-जैसे समाप्त होते जायँगे, वैसे-वैसे ही उनके पुनर्मुद्रणकी व्यवस्था करनेकी बात है। इसीके अनुसार प्रथम खण्डका यह अष्टम संस्करण प्रकाशित किया गया है।

प्रकाशक—गीताप्रेस, गोरखपुर

❀ श्रीगुरवे नमः ❀

इस भागमें आये हुए प्रकरणोंकी सूची

संकेताक्षरोंकी तालिका

संकेताक्षर	विवरण
अ०	अयोध्याकाण्ड, अध्याय
अ मं.	अलंकारमंजूषा अयोध्याकाण्ड-का मंगलाचरण
अ. २०५	अयोध्याकाण्डका दोहा २०५ या उसकी चौपाई
२. २०५	अयोध्याकाण्डका दोहा २०५ या उसकी चौपाई
अ. दी.	मानस अभिप्राय दीपक
अ दी. च.	मानसअभिप्रायदीपकचक्षु (श्री-जानकीशरणजी)
अ रा.	अध्यात्मरामायण
अमर	श्रीअमरसिंहकृत 'अमरकोश'
अलंकार मं०	लाला भगवानदीनजी रचित 'अलंकारमंजूषा'
आ. रा.	आनन्द रामायण
आ.	अरण्यकाण्ड
आ २. / ३. २.	अरण्यकाण्डका दूसरा दोहा या उसकी चौपाई
आज	इस नामका एक दैनिक पत्र
उ०	उत्तरकाण्ड; उत्तरखंड (पुराणों-का); उत्तरार्ध, उपनिषद्, (प्रसंगानुकूल लगा लें) ।
उ ११५, / ७. ११५	उत्तरकाण्डका दोहा ११५ या उसकी चौपाई
क०	कवितावली
क० ७	कवितावलीका उत्तरकाण्ड
कल्याण	गीताप्रेस, गोरखपुरका मासिकपत्र
करु० श्रीकरुणासिंधुजी	महन्त श्री १०८ रामचरणदास-जी महाराज करुणासिंधुजीकी 'आनन्दलहरी' टीका जो सं० १८७८ में रची गयी और नवल-किशोर प्रेससे वैजनाथजीकी टीकासे पहले प्रकाशित हुई।
कठ (कठोप) १. २. २०	कठोपनिषद् प्रथम अध्याय द्वितीयवल्ली श्रुति २०
का, १७०४	काशिराजके यहाँकी सं० १७०४ की लिखी पोथी
काष्ठजिह्वस्वामी	रामायणपरिचर्याकार श्रीदेवतीर्थ स्वामीजी
कि	किष्किन्धाकाण्ड
कि मं०	किष्किन्धाकाण्ड मंगलाचरण
केन ३ १२	केनोपनिषद् तृतीयखण्ड श्रुति १२
को रा.	कोदोरामजीका गुटका
खर्रा	पं० रामकुमारजीके प्रथमावस्था-के लिखे हुए टिप्पण

सकेताक्षर	विवरण
गणपति उपाध्याय उनकी मानसतत्त्वप्रकाश शंकावली	
गी०	गीतावली
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
गौड़जी,	प्रोफेसर श्रीरामदास गौड़, एम० एस्-सी० (स्वर्गीय)
(श्री चक्रजी)	महात्मा श्रीसुदर्शनसिंहजी (श्री चक्र), संपादक 'संकीर्तन' 'मानसमणि'
चौ०	चौपाई (अर्धाली)
छ०	लाला छक्कनलालजीकी पोथी
छां० ३ १३ ७	छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ३ खण्ड १३ श्रुति ७
जाबालो-	जाबालोपनिषद्
टिप्पणी	श्री पं० रामकुमारजीके हस्तलिखित कथाके लिये तैयार किये हुए टिप्पण जो स्वर्गीय पुरुषोत्तमदत्तजी (श्रीरामनगरलीलाके व्यास) से प्राप्त हुए
तु० प०	तुलसीपत्र मासिक पत्रिका जो सं० १९७७ तक महात्मा श्रीबालकराम विनायकजीके संपादकत्वमें श्रीअयोध्याजीसे निकली और फिर मानसपीयूषमें सम्मिलित हो गयी
तैत्ति० (तै०) २ ४	तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली २ अनुवाक ४
तैत्ति० शिक्षोप०	तैत्तिरीय शिक्षोपनिषद्
द्विवेदीजी	महामहोपाध्याय श्रीसुधाकर द्विवेदीजी
दीनजी	लाला श्रीभगवानदीन साहित्यज्ञ हिंदीके लेक्चरार, हिंदूविश्वविद्यालय, काशी जिनकी 'भक्तिभवानी' 'श्रीरामचरणचिह्न' और 'अलंकारमंजूषा' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं और जो ना० प्र० सभाके एक मुख्य सदस्य थे।
दो०	दोहा, दोहावली,
दो० १५९	दोहावलीका १५९ वाँ दोहा

सकेताक्षर	विवरण
नं प, (श्री) नंगे परमहंसजी	बाबा श्रीअवधविहारीदासजी बाँधगुफा, प्रयाग
ना प्र स, ना प्र	नागरीप्रचारिणीसभाका मूल पाठ

नोट—इससे पं० रामकुमारजीके अतिरिक्त अन्य महानुभावोंके विशेष भाव तथा सम्पादकीय विचार सूचित किये गये हैं। जो भाव जिस महानुभावके हैं उनका नाम कोष्ठकमें दे दिया गया है। जहाँ किसीका नाम नहीं है वह प्रायः सम्पादकीय टिप्पण हैं।

सकेताक्षर	विवरण
पं० पंजाबीजी	श्रीसंतसिंह पंजाबीजीके 'भावप्रकाश' टीकाके भाव। यह टीका भी १८७८ वि में तैयार हुई और सन् १९०१ मे प्रकाशित हुई।
प पु	पद्मपुराण
प. पु उ	पद्मपुराण उत्तरखण्ड
पां०, पाँड़ेजी	मुं० रोशनलालकी टीका जिसमे श्री पं० रामबख्श पाँड़ेजी रामायणीके भाव हैं।
पां. गी	पाण्डव गीता
पा०	पाणिनि व्याकरण
पू०	पूर्वार्ध, पूर्व,
प्र सं (मा पी प्र सं)	मानसपीयूष प्रथम संस्करण
प्रेमसदेश	एक मासिक पत्रिका
बा० ३, १ ३	बालकाण्डका दोहा ३ या उसकी चौपाई
बाहुक	श्रीहनुमानबाहुक
वि , विनय	विनयपत्रिकाका पद
वै सं , वैराग्य सं	वैराग्यसंदीपिनी
व्यासजी	पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्रीजानकीघाट, अयोध्याजी)
ब्रह्म वै पु	ब्रह्मवैवर्तपुराण
भक्तमाल	श्रीनाभास्वामीरचित भक्तमाल
भट्टजी	पं० रामेश्वर भट्टजीकी टीका
भगवद्गुणदर्पण भ गु द	वैजनाथजीकी टीकामें भगवद्गुणदर्पण ग्रन्थके उद्धृत श्लोक
श्रीभगवद्गुणदर्पण भाष्य	श्रीविष्णुसहस्रनामपर श्रीभगवद्गुणदर्पणभाष्य

संकेताक्षर	विवरण
भा दा	श्रीभागवतदासजीकी पोथी
भा. स्क.	श्रीमद्भागवत स्कन्ध
भक्तिरसबोधिनी-टीका	श्रीप्रियादासजीकृत गोस्वामी श्रीनाभाजीकृत भक्तमालकी टीका कवित्तोंमें
मं०	मंगलाचरण
मं० श्लो०	मंगलाचरणका श्लोक
मं० सो.	मंगलाचरणका सोरठा
मनु.	मनुस्मृति
महा रा.	महारामायणके अध्याय और श्लोक
महाभा	महाभारत
महाभा. शा. प.	महाभारत शान्तिपर्व
(डाक्टर) माताप्रसाद गुप्त	उनकी रची हुई 'तुलसीदास' नामक पुस्तक
मा. अ दी	मानस अभिप्राय दीपक
मा. त वि.	संत उन्मनी श्रीगुरुसहायलालजीकी बालकाण्डकी टीका
मानस-दीपिका	काशीजीके बाबा रघुनाथदास (रामसनेही) कृत टीका
मा. प. मा. पत्रिका	'मानसपत्रिका' (महामहोपाध्याय श्रीसुधाकर द्विवेदीजी तथा साहित्योपाध्याय श्रीसूर्यप्रसाद-मिश्रद्वारा सम्पादित मासिक पत्रिका जो काशीजीसे लगभग सं० १९७० तक निकली)
मानस प्रसंग मा. प्रसंग	मानसराजहंस श्रीविजयानंद त्रिपाठीजी (काशी) की रचित मानसप्रकरणकी टीका।
मा. प्र.	बाबा श्रीजानकीदासजी महाराज श्रीअयोध्याजीकी प्रसिद्ध बालकाण्डके आदिके ४२ दोहोंकी टीका 'मानसपरिचारिका'। बाबा माधोदासजी इन्हींके शिष्य थे। श्रीअयोध्याजीके रामायणियोंकी परम्परा इन्हींसे चली।
मानसमणि	एक मासिकपत्रिका जो 'रामवन' जिला सतनासे निकलती है।
मा. म.	पं० श्रीशिवलालपाठकजीविरचित 'मानस-मयंक' की बाबू इन्द्रदेवनारायणसिंहजी कृत टीका और मूल।
मा. मा	बाबा श्रीजानकीशरण (स्नेहलता) जी कृत मानस-मार्तण्ड नामक बालकाण्डके प्रथम ४२ दोहोंका तिलक जो दस-बारह वर्ष हुए छपा था।
मानस-रहस्य	यह अलंकारोंकी एक छोटी पुस्तिका थी।
मानसांक	गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित मानसका प्रथम संस्करण (टीकासहित) जो विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित हुआ था।
मा शं०	श्रीमन्मानस शंकावली
मा. स, मा सं	मानसपीयूषका संपादन
मार्क. पु	मार्कण्डेयपुराण
मिश्रजी	पं० सूर्यप्रसादमिश्रजी साहित्योपाध्याय।
मुक्तिको.	मुक्तिकोपनिषद्
मुण्डक १. २ १२	मुण्डकोपनिषद् प्रथम मुण्डक, द्वितीय खंड, द्वादश श्रुति
यजु. ३१. १९. १	यजुर्वेद संहिता, अध्याय ३१ कण्डिका १९ मन्त्र १
(पं.) रा. गु. द्वि.	मिरजापुरनिवासी साकेतवासी प्रसिद्ध रामायणी पं० श्रीरामगुलामद्विवेदीजी। इनके द्वारा संशोधित बारह ग्रन्थोंके गुटकाके संस्करणोंमेंसे सं० १९४५ में काशीके छपे हुए गुटका तथा मानसी वन्दनपाठकजीकी हस्तलिखित प्रतिलिपिमें दिया हुआ पाठ जो पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीके यहाँ है।
(पं) रा चं. शुक्ल	पं० श्रीरामचन्द्र शुक्ल, प्रोफेसर काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय

सकेताक्षर	विवरण
रा. ता.	श्रीरामतापनीयोपनिषद्
रा उ. ता	श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद्
रा ता भाष्य	बावा श्रीहरिदासाचार्यजी, श्रीजानकीघाट, श्रीअयोध्याजीका श्रीरामतापनीयोपनिषद्पर भाष्य
पं० रामवल्लभाशरणजी, पं रा व श	श्रीजानकीघाटनिवासी पंडितजी जो श्रीमणिरामजीकी छावनीके व्यास थे।
रा वा दा, रामायणीजी	बावा रघुनाथदासजीकी छावनी श्रीअयोध्याजीके रामायणी श्री रामबालकदासजी(साकेतवासी)
रा प.	'रामायणपरिचर्य्या' टीका (श्रीकाष्ठजिह्व देवतीर्थ स्वामीकृत सं० १९५५ की छपी)
रा प प	काशीनरेश श्रीईश्वरीप्रसादनारायणसिंहजीकृत 'रामायणपरिचर्या परिशिष्ट' सं० १९५५ की छपी।
रा प्र	श्रीसीतारामीय बावा हरिहरप्रसादजीकृत 'रामायणपरिचर्या परिशिष्ट-प्रकाश' सं० १९५५ का छपा।
रा पू ता.	श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्
रा प्र श	बावा रामप्रसादशरणजी (दीन), मानसप्रचारक, साकेतवासी
(वे शि) श्रीरामानुजाचार्यजी	श्रीवृन्दावन हरिदेवमन्दिरके सुप्रसिद्ध वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज।
श्रीरूपकलाजी	वैष्णवरत्न अखिलभारतीय श्रीहरिनामयश-संकीर्त्तन-सम्मेलन तथा श्रीप्रेमाभक्ति-सम्मेलनके प्रवर्तक, संचालक तथा श्रीनाभास्वामीरचित भक्तमाल और भक्तिरसबोधिनी टीकाके प्रसिद्ध तिलककार साकेतवासी अनन्त श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसादजी (श्रीरूपकलाजी), श्रीअयोध्याजी।
(मुं०) रोशनलाल	प्रयागनिवासी श्रीरामवख्श पांडेजीके भाव जो मुं० रोशनलालजीने लिखकर छपाये
लं १०३, ७. १०३	लंकाकाण्डका दोहा १०३ या उसकी चौपाई
लिं० पु पू	लिङ्गपुराण पूर्वार्ध
वाल्मी०	वाल्मीकीयरामायण
वि० विनय	विनयपत्रिकाका पद
श्रीविन्दुजी	ब्रह्मचारी संत श्रीविन्दुजी(साकेतवासी), सम्पादक 'कथामुखी,' श्रीअयोध्याजी।
वि० टी०	श्रीविनायकराव कवि 'नायक' पेन्शनर जवलपुर विरचिता 'विनायकी टीका' सं० १९७६, दूसरा संस्करण।
वि०पी०, विनयपीयूष	विनयपत्रिकाका 'विनयपीयूष' नामक तिलक, सन् १९४७ में प्रकाशित
वि पु ६ ५	विष्णुपुराण अंश ६ अध्याय ५
वीर, वीरकविजी	पं० महावीरप्रसाद मालवीयकृत टीका, जिसमें अलंकारोंको विशेष रूपसे दिखाया है। प्रयागसे सं० १९७९ मे प्रकाशित हुई।
वे० भू०, वे भू पं रा कु.दा	वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० श्रीरामकुमारदासजी, मानसतत्त्वान्वेषी रामायणी, श्रीअयोध्याजी
वै०	श्रीवैजनाथदासजीकृत 'मानसभूषण' नामक तिलक प्रथम संस्करण १८९० ई०
बृह (बृहदारण्यक) ३ ७ १५	बृहदारण्यकोपनिषद् तृतीयाध्याय सप्तम ब्राह्मण श्रुति १५
शं० ना०, शं० चौ०	मानसमराल स्वर्गीय पं० शम्भुनारायण चौबे, बी०ए०, एल-एल० बी०, पुस्तकालयाध्यक्ष काशी ना० प्र० सभा। (नागरीप्रचारिणी पत्रिका वै० १९९९ में उनके 'मानसपाठभेद' नामक लेखसे मानस-

संकेताक्षर	विवरण
	पीयूषके इस संस्करणमें सं १७२१, १७६२, छ०, को० रा०, और १७०४के पाठ-भेद दिये गये हैं)
(बाबू) श्या०सु०दा०	बाबू श्यामसुन्दरदासजी, सभापति, काशी नागरी प्रचारिणी सभाकी टीका
श० सा०	नागरीप्रचारिणीसभाद्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्दोंका कोश शब्दसागर (प्रथम वृहत् संस्करण)
शिला	जिला रायबरेली, ग्राम पूरे बछरहानिवासी स्वर्गीय बाबा श्रीहरीदासजीरचित 'शिलावृत्ति' नामक टीका, द्वितीय संस्करण सन् १९३५ ई०
पं० श्रीशुकदेवलाल	इनकी टीका जो नवलकिशोर प्रेससे प्रकाशित हुई थी जिसमें उन्होंने प्रत्येक दोहेमें केवल आठ चौपाइयाँ (अर्धालियाँ) रक्खीं और सब काट-छाँट डालीं।
श्लो०	श्लोक
श्वे० (श्वे० श्व०)	श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ६ मन्त्र २३
श्रीभाष्य	ब्रह्मसूत्रपर भगवान् श्रीरामानुजाचार्यजीका प्रसिद्ध भाष्य
सं०	संस्कृत, संहिता, संवत्
स०	सर्ग
संत उन्मनी टीका मा० त० वि० में देखिये	
संत श्रीगुरुसहायलालजी ,,	
सत्पंचार्थप्रकाश	बाबा सरयूदास, (श्रीअयोध्याजी) की नामपरक एक सौ पाँच चौपाइयोंकी टीका
सत्यो प० पृ० अ०	सत्योपाख्यान पूर्वार्ध अध्याय
सा० द०	साहित्यदर्पण
सि० कौमुदी	सिद्धान्तकौमुदी
सि० ति०	'सिद्धान्ततिलक' नामकी टीका पं० श्रीकान्तशरणजी (अयोध्या) कृत जो श्रीरामलोचनशरणजीने

संकेताक्षर	विवरण
	पुस्तकभण्डार लहेरियासरायसे सं० २००१ में प्रकाशित की और जिसका छपना तथा प्रकाशन जुलाई १९४७से सुलहनामाद्वारा और पटना हाईकोर्टबेंचके फैसला ता० ११ मई १९५१ से भी बंद कर दिया गया।
सिद्धान्तदीपिका	श्रीबालअलीजी विरचिता(अप्राप्य)
सी०रा० प्र०प्र० सी रा.नामप्र.प्र सी०नामप्र०प्र०	श्री १०८ महाराज युगलानन्यशरणजी लक्ष्मणकिला श्रीअयोध्याजीका 'श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाश' नामक नामपरत्वके प्रमाणोंका अपूर्व संग्रह।
सुं० १०	सुंदरकाण्ड दोहा १० या उसकी चौपाई
सु०द्वि०,सु०द्विवेदी	काशीके स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीजी।
(श्री) सुदर्शनसिंहजी	मानसमणिमें निकले हुए महात्मा श्रीसुदर्शनसिंजी (श्रीचक्र) जी के लेख।
सु० र० भां०	सुभाषितरत्नमाला भाण्डागार
सू०मिश्र,सू०प० मिश्र	साहित्योपाध्याय पं० सूर्यप्रसादमिश्र, काशी।
स्कं० पु०	स्कन्दपुराण
स्कं० पु० ना०उ० १७६	स्कन्दपुराण नागरखण्ड उत्तरार्ध अ० १७६
बाबा हरीदास	'शिला' में देखिये। भाष्यकार श्रीहरिदासाचार्यजी।
हारीत	हारीतस्मृतिकार; हारीतस्मृति
☞	स्मरण रखने योग्य विशेषभाव
=	अर्थात्
१७०४, १७२१, १७६२	इन संवतोंकी हस्तलिखित पोथियोंके पाठ जो शं० ना० चौबेजीने नागरीप्रचारिणी पत्रिकामें प्रकाशित कराये थे।
१६६१	संवत् १६६१ की हस्तलिखित बालकाण्डकी पोथी जो श्रावणकुंज श्रीअयोध्याजीमें सुरक्षित

सकेताक्षर	विवरण
	है। इसकी एक प्रतिलिपि हमने स्वयं लिख ली है जो हमारे पास है। इसमें हमने पाठके लेखपर अपने नोट्स (notes) भी दिये हैं।
[ ] ( )	कोष्ठकान्तर्गत लेख प्रायः सम्पादकीय हैं जहाँपर किसीका नाम नहीं दिया गया है।

(१)-स्मरण रहे कि बालकाण्डमें हमने बालकाण्डका सांकेतिक चिह्न 'बाल' अथवा '१' न देकर बहुत जगह (बालकाण्डके सातवें दोहेके आगेकी संख्या बतानेके लिये) केवल दोहेका नम्बर या दोहेकी संख्या और साथ ही बिन्दु बीचमें देकर अथवा कोष्ठकमे अर्धालीका नम्बर दिया है। जैसे, (३६१)=दोहा ३६१ या उस दोहेकी चौपाई। १३ (२), १३.२ वा १३।२=दोहा १३ की दूसरी अर्धाली। इत्यादि।

(२)-बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका और उत्तरकाण्डोंके लिये क्रमसे १, २, ३, ४, ५, ६ और ७ सूचक अंक दिये गये हैं।

(३)-प्रत्येक पृष्ठके ऊपर दोहा और उसकी चौपाइयोंका नम्बर दिया गया है, जिससे पाठकको देखते ही विदित हो जाय कि उस पृष्ठपर उन चौपाइयोंकी व्याख्या है।

ग्रन्थोंके नाम जो इस भागमें आये हैं

१ अनर्घराघव नाटक
२ अनेकार्थशब्दमाला
३ अभियुक्त सारावली
४ अमरकोश
५ ,, भानुदीक्षितकृत टीका
६ अमरविवेकटीका
७ अलकारमजूषा
८ अवतारमीमासा
९ अवतारसिद्धि
१० अव्ययकोश
११ आचारमयूख
१२ 'आज' (दैनिक पत्र)
१३ आह्निकसूत्रावली
१४ उत्तररामचरित

उपनिषद्—

१५ कठ, १६ केन, १७ छान्दोग्य, १८ जाबाल, १९ तैत्तिरीय, २० तैत्तिरीय शिक्षा, २१ बृहदारण्यक, २२ ब्रह्म; २३ मुण्डक, २४ मुक्तिक, २५ श्रीरामतापनी, २६ श्वेताश्वतर; २७ श्रीसीतोपनिषद्।

२८ (क) कवितावली (तु० रचनावली)
२८ कामन्दक
२९ काव्यप्रकाश
३० किरातार्जुनीय
३१ कीर्तिसलापकाव्यक
३२ कुमारसम्भव
३३ कुवलयानन्द

कोश—

४ " अमर
१० " अव्यय
३४ " पद्मचन्द्र
३५ मेदिनी
३६ " श्रीधरभाषाकोष
३७ " विश्वकोश
३८ " हिंदी शब्दसागर
३९ " हैमकोश

गीता—

४० गुरुगीता
४१ श्रीमद्भगवद्गीता
४२ पाण्डवगीता
४३ गीतारहस्य (श्रीबालगगाधर तिलक)
४४ (क) गीतावली (तुलसीरचनावली)
४४ चन्द्रालोक
४५ छन्दप्रभाकर
४६ तुलसीपत्र
४७ तुलसीग्रन्थावली (ना० प्र० स०)
४८ तुलसीरचनावली (श्रीसीतारामप्रेस काशी)
४९ (क) देवीभागवत
४९ दोहावली
५० दोहावली (लालाभगवानदीनजीकी टीका)
५१ धर्मसिंह
५२ नाना शास्त्रीकृत प्रतिवार्षिक पूजाकथासग्रह
५३ निर्णयसिंधु
५४ निरुक्ति (विष्णुसहस्रनामकी श्लोकबद्ध टीका)
५५ नैषध (हर्षकवि)
५६ पचदशी
५७ परमलघुमजूषा
५८ पाणिनीय शिक्षा
५९ पाणिनीय व्याकरण

पुराण—

६० कालिका
६१ कूर्म
६२ गरुड़
६३ नारदीय
६४ पद्म
६५ बृहद्विष्णु
६६ ब्रह्म
६७ ब्रह्मवैवर्त
६८ भविष्योत्तर
६९ भागवत
७० मत्स्य
७१ महाभारत
७२ मार्कण्डेय
७३ विष्णु
७४ शिव
७५ स्कन्द
७६ हरिवंश
७७ प्रसगरत्नावली
७८ प्रसन्नराघवनाटक

७९ ब्रह्मसूत्र
८० भक्तमाल (श्रीनाभास्वामीकृत)
८१ भक्तिरसबोधिनी टीका
८२ भर्तृहरिशतक
८३ भूषणग्रन्थावली
८४ भोजप्रबन्धसार
८५ मन्त्रप्रभाकर
८६ मनुस्मृति
८७ मयूरचित्र
८८ महाकालसंहिता
८९ महिम्नस्तोत्र (मधुसूदनीटीका)
९० मानस अभिप्रायदीपक
९१ मानस अभिप्रायदीपक चक्षु
९२ मानसतत्त्वप्रकाश
९३ मानसतत्त्वविवरण
९४ मानसदीपिका
९५ मानसपत्रिका
९६ मानसप्रसंग
९७ मानसमणि
९८ मानसमयंक
९९ मानसमार्तण्ड
१०० मानसरहस्य (अलंकार-पुस्तिका)
१०१ मानससुधा
१०२ मानसांक
१०३ मानसागरी
१०४ माहेश्वरसूत्र
१०५ मिताक्षरा
१०६ मुहूर्त्तचिन्तामणि
१०७ याज्ञवल्क्यस्मृति
१०८ योगवाशिष्ठ
१०९ योगशास्त्र
११० युगलअष्टयामसेवा (श्रीरामटहलदासकृत)
१११ रघुवंश
११२ रसेन्द्रसार संग्रह
११३ रामचन्द्रिका
११४ रामसुधा (काष्ठजिह्व स्वामी)
,, (क) रामस्तवराज

रामायण—
११५ अद्भुत
११६ अध्यात्म
११७ आनंद
११८ आश्चर्य
११९ महारामायण

वाल्मीकीय—
१२० ,, चन्द्रशेखरशास्त्रीकी टीका
१२१ द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदीकी टीका
१२२ ,, रूपनारायण पाण्डेकी टीका
१२३ ,, रामाभिरामी टीका
१२४ ,, शिरोमणि टीका
१२५ सत्योपाख्यान
१२६ रुद्रयामल अयोध्या-माहात्म्य
१२७ (क) बरवै (तु० रचनावली)
१२७ वाग्भट्टालङ्कार
१२८ वशिष्ठ-संहिता
१२९ विजय दोहावली
१२९ (क) विनय-पत्रिका
१३० विष्णुसहस्रनाम भाष्य
१३१ विहारी सतसई
१३२ वैराग्य-संदीपनी
१३३ बृहत् ज्योतिषसार
१३४ वृद्ध चाणक्य
१३५ वृहद्विष्णुपुराण
१३५ (क) वृद्ध सुश्रुत
१३५ (ख) वृहद्दैवज्ञरंजन
१३५ वैराग्यरहस्य
१३६ (क) भावप्रकाश
१३६ शतदूषणी
१३७ शाबरभाष्यपर श्लोकवार्त्तिक
१३८ शार्ङ्गधर
१३९ शास्त्रसार
१४० शिव संहिता
१४१ शैवागम
१४२ श्रीभाष्य

श्रीरामचरितमानसकी संगृहीत कुछ छपी टीकाएँ—
१४३ श्री १०८ रामचरणदास करुणासिंधुजीकृत
१४४ श्रीसंतसिंहपंजाबीजीकृत
१४५ मु० रोशनलालकृत (श्रीरामबख्श पाँडेजी)
१४६ श्रीबैजनाथजीकृत
१४७ रामायण परिचर्या, परिशिष्ट, प्रकाश
१४८ बाबा हरीदासजीकृत
१४९ पं० रामेश्वरभट्टकृत
१५० विनायकी टीका
१५१ बाबू श्यामसुन्दरदासकृत
१५० पं० महावीरप्रसाद मालवीयकृत
१०२ मानसांक
१५३ सिद्धान्त तिलक
९३ मानसतत्त्वविवरणसत-उन्मुनी टीका। (यह केवल बालकाण्डकी है)
१५४ मानसपरिचारिका। (यह केवल प्रथम ४३ दोहोंकी है)।
९५ मानसपत्रिका (यह केवल प्रथम ६० दोहोकी है)।
९९ मानसमार्तंड (प्रथम ४३ दोहोंकी टीका)

इत्यादि-इत्यादि
१५५ श्रुतबोध
१५६ संगीत मकरंद
१५७ सतसई (तुलसी)
१५८ सत्संगविलास
१५९ सत्योपाख्यान
१६० सरस्वती कण्ठाभरण
१६१ सांख्यशास्त्र
१६२ साहित्यदर्पण
१६३ सिद्धान्तकौमुदी
१६४ सिद्धान्ततत्त्वदीपिका (श्रीस्वामी बालकृष्ण-दासकृत)
१६५ सिद्धान्त-शिरोमणि (श्रीस्वामीभास्कराचार्यकृत)
१६६ श्रीसीतामन्त्रार्थ
१६७ श्रीसीतारामनामप्रताप प्रकाश
१६८ श्रीसीताशृङ्गारचम्पू
१६९ सुन्दरीतन्त्र
१७० सुदर्शनसंहिता
१७१ सुभाषितरत्नभाण्डागार
१७२ स्तवपंचक
१७३ स्तोत्ररत्नावली (गी० प्र०)
१७४ हनुमानबाहुक

स्मरणीय कुछ विषयों और शब्दोंकी अनुक्रमणिका

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

॥ श्री ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय ।
श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते रामचन्द्राय नमः ।
ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्यायै श्रीरूपकलादेव्यै ।
श्रीसन्तगुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः ।
ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय
श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय
शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय श्रीहनुमते ।
ॐ साम्बशिवाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीसरस्वत्यै नमः ।

परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः ।
श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः ।
श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः ।
श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः ।
सुप्रसिद्धमानसपण्डितवर्य्यश्रीसाकेतवासिश्रीरामकुमारस्चरणकमलेभ्यो नमः ।

मानस-पीयूष

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥ १ ॥
श्रीरामं रामभक्तिञ्च रामभक्तांस्तथा गुरून् ।
वाक्कायमनसा प्रेम्णा प्रणमामि पुनः पुनः ॥ २ ॥

जय श्रीसिय सियप्राणप्रिय सुखमाशीलनिधान ।
भरतशत्रुहन जनसुखद रामानुज हनुमान ॥ १ ॥
श्रीगुरुचरनसरोजरज निज मन मुकुर सुधारि ।
बरनउँ रघुबर बिमल जस जो दायक फल चारि ॥ २ ॥
बंदउँ तुलसीके चरन जिन्ह कीन्हो जग काज ।
कलि समुद्र बूड़त लखेउ प्रगटेउ सन्त जहाज ॥ ३ ॥

श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासकृत

श्रीरामचरितमानस

प्रथम सोपान

(बालकाण्ड)

श्रीजानकीवल्लभो विजयते ।

(श्लोकाः)

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—वर्णानामर्थसंघानाम् = वर्णानाम्-अर्थसंघानाम् = अक्षरोंके और अर्थसमूहोंके । छन्दसामपि = छन्दसाम् अपि = छन्दोंके (भी) । कर्त्तारौ = करनेवाले (दोनों) । 'वर्णानामर्थ' से 'मङ्गलानाम्' तक (केवल 'अपि' को छोड़कर) सब शब्द सम्बन्धकारक (अर्थात् षष्ठी विभक्तिके) हैं ।

अन्वय—(अहम्) वर्णानाम् छन्दसाम् अर्थसंघानां रसानां च मङ्गलानामपि कर्त्तारौ वाणीविनायकौ वन्दे ।

अर्थ—मैं अक्षरोंके, छन्दोंके, अर्थसमूहोंके, रसोंके और मङ्गलोंके भी करनेवाले श्रीसरस्वतीजी और श्रीगणेशजीकी वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

नोट—१ हमने यहाँ अन्वयमें वर्णोंके पश्चात् छन्दोंको लिखा है, क्योंकि छन्दोंका सम्बन्ध वर्णोंसे है, अर्थसे नहीं ।

मङ्गलाचरण

ग्रन्थके निर्विघ्न समाप्त और मङ्गलकारी होनेके लिये मङ्गलाचरण किया जाता है । आदि, मध्य और अन्तमें मङ्गलाचरण करना अति कल्याणकारी है । पातञ्जल महाभाष्य ('भूवादयो धातवः' । अष्टाध्यायी सूत्र १ । ३ । १) में लिखा है कि "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाऽध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युरिति ॥" अर्थात् जिन शास्त्रके आदि-मध्य-अन्तमें मङ्गलाचरण किया जाता है वे सुप्रसिद्ध होते हैं अर्थात् निर्विघ्न समाप्त भी होते हैं तथा उनके अध्ययन करनेवाले (अर्थात् वक्ता, श्रोता) आयुष्मान्, वीर और मङ्गलकल्याणयुक्त होते हैं ।

'मध्य' का अर्थ यहाँ ग्रन्थका बिल्कुल ठीक बीचोंबीच नहीं है, वरन् 'आदि और अन्तके बीचमें कहीं' ऐसा अर्थ समझना चाहिये । दो-एक टीकाकारोंने इस प्रसङ्गपर प्रमाणरूपमें निम्न श्लोक दिया है और महात्माओंने भी इसे अपनाया है । श्लोक यथा, 'आदिमध्यावसानेषु यस्य ग्रन्थस्य मङ्गलम् । तत्पठनं पाठनाद्वापि दीर्घायुर्धार्मिको भवेत् ॥' परंतु यह उद्धरण किस ग्रन्थसे लिया गया है, इसका उल्लेख किसीने नहीं किया और यह श्लोक अशुद्ध भी है । पर यदि किसी ऋषिप्रणीत ग्रन्थमें हो तो माननीय ही है ।

"तर्कसंग्रहदीपिका" में मङ्गलके विषयमें यह प्रश्न उठाया है कि "मङ्गल करना चाहिये, इसका प्रमाण क्या है ?" और उसके उत्तरमें यह बताया है कि एक तो शिष्टाचार [अर्थात् वेदोक्ततत्त्वज्ञानपूर्वक वेदविहित करनेवाले शिष्ट पुरुष ऐसा आचरण (मङ्गल) करते चले आये हैं ।], "समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्" ऐसी श्रुति है ।

उसी ग्रन्थमें यह भी शङ्का की गयी है कि, 'मङ्गलाचरण करनेपर ग्रन्थकी अवश्य निर्विघ्न समाप्ति होती है और मङ्गल न करनेपर समाप्ति नहीं होती' ऐसा नियम नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनुभव ऐसा है कि मङ्गल होनेपर भी ग्रन्थ समाप्त नहीं हुए तथा मङ्गलाचरण न होनेपर भी किरणावली आदि ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हुए हैं? और इसका समाधान यह किया है, (क) कादम्बरी आदि ग्रन्थोंकी समाप्ति न होनेका कारण यह हो सकता है कि मङ्गलाचरणोंकी अपेक्षा विघ्नकारक प्रारब्ध अधिक था। (ख) किरणावली आदिके सम्बन्धमें यह हो सकता है कि प्रथम मङ्गलकारक भगवत्-स्मरणादि करके ग्रन्थारम्भ किया हो। परंतु उस मङ्गलस्मरणका उल्लेख ग्रन्थारम्भमें नहीं किया। ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हुआ, इसीसे ऐसा अनुमान होता है।

वस्तुतः यह नियम भी तो नहीं है कि प्रत्येक ग्रन्थकारका विघ्नकारक प्रारब्ध कम होना ही चाहिये। जिसका विघ्नकारक प्रारब्ध नहीं है उसका ग्रन्थ मङ्गल न होनेपर भी निर्विघ्न समाप्त हो सकता है। इसीसे तो नास्तिकोंके ग्रन्थ मङ्गल न होनेपर भी समाप्त होते देखे जाते हैं। बाधक प्रारब्ध सर्वसाधारण लोग नहीं जानते, इसलिये ग्रन्थारम्भके समय यथासम्भव सबको ही मङ्गलाचरण करना चाहिये। यदि बाधक प्रारब्ध हुआ तो इससे निवृत्त हो ही जायगा और यदि न हुआ तो मङ्गलाचरण करनेसे कोई हानि नहीं है। इसीसे तो प्राचीन महात्माओंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें मङ्गलाचरण किया है जिसमें इसे देखकर आगे भी लोग इसका अनुकरण करें।

श्रीमद्गोस्वामीजीने भी इसी सिद्धान्तानुसार प्रत्येक काण्डके आदिमें नमस्कारात्मक एवं वस्तु-निर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया है। यों तो गोस्वामीजीने समस्त रामचरितमानसमें अपनी अनुपम प्रतिभा दिखायी है और उसे अनेकों रसोंसे अलंकृत कर भक्ति कूट-कूटकर उसमें भर ही दी है। उसी पूज्य रामायणके मङ्गलाचरणमें आपने जिन उत्कृष्ट भावोंका निर्देश किया है, जिस भक्तिभावका परिचय दिया है और जिस मङ्गलकार्यकी कामना की है, वे सब बातें सहज ही मनको आकर्षित किये लेती हैं। आपने मङ्गलाचरणको अनुष्टुप्छन्दमें देकर अपने हृदयकी अनुपम भक्तिको उँड़ेल दिया है।

☞ जितना मङ्गलाचरण गोस्वामीजीने इस ग्रन्थके प्रारम्भमें किया है, जो बालकाण्डके लगभग दशांशके बराबर होगा, इतना मङ्गलाचरण अर्वाचीन संस्कृत भाषा अथवा किसी भाषामें सुननेमें नहीं आता है। यही तो कारण है कि जितना मानवजातिने इसे अपनाया इतना कदाचित् ही किसीको अपनाया होगा।

श्लोकका छन्द

यह मङ्गलाचरण अनुष्टुप् छन्दमें है। अनुष्टुप् छन्दका स्वरूप इस प्रकार है। 'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्। द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥' (श्रुतबोध १०)। अर्थात् इसके चारों चरणोंमें आठ-आठ वर्ण होते हैं। प्रत्येक चरणका पञ्चम वर्ण लघु और छठा गुरु, दूसरे और चौथे चरणोंके सप्तम वर्ण भी लघु और पहले तथा तीसरे चरणोंके सातवें वर्ण गुरु होते हैं।

अनुष्टुप्छन्दमें मङ्गलाचरण प्रारम्भ करनेके अनेकों भाव कहे जाते हैं, जिनमेंसे एक यह है कि प्रथम यही छन्द रचा गया। वाल्मीकिजी आदिकवि हुए। उनके मुखारविन्दसे भी यही छन्द प्रथम निकला था। यथा—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥' (वाल्मी० १।२।१५) अर्थात् हे व्याध! कामपीडित क्रौञ्चके जोड़ेमेंसे तूने एकको मारा, अतएव अब संसारमें बहुत दिन न रहेगा। अर्थात् तेरा शीघ्र नाश हो। (कथा यह है कि एक बार जब भरद्वाजजीके साथ वे तमसा नदीपर स्नानको गये हुए थे, उसी समय एक व्याधने एक क्रौञ्च पक्षीको, जो अपनी मादाके साथ जोड़ा खा रहा था, मारा, जिससे वह छटपटाकर मर गया और मादा करुणस्वरसे चिल्लाने लगी। यह दृश्य देख उन्होंने व्याधको शाप दिया। पर वह शाप उनके मुखसे अकस्मात् छन्दोबद्ध श्लोकके रूपमें निकला। इसके पूर्व इस लोकमें कभी छन्दोबद्ध वाणी उपलब्ध नहीं थी)। इसीसे वाल्मीकिजी यहाँके 'आदिकवि' कहलाते हैं। वाल्मीकीय रामायणका मङ्गलाचरण भी इसी छन्दमें है। अतः पूर्व कवियोंके सत्कारवश उसी छन्दसे मानसका मङ्गलाचरण किया गया है। गोस्वामी तुलसीदासके समकालीन सुप्रसिद्ध भक्-

मालरचयिता श्रीमद्गोस्वामी नाभा नारायणदासजीने भी उनको वाल्मीकिजीका अवतार कहा है। यथा—'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो।' (छप्पय १२९)। तथा—'वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति।' (यह श्लोक भविष्यपुराणमें कहा जाता है)। और भाव ये कहे जाते हैं—(२) अनुष्टुप्छन्दके चारों चरण सम हैं, इसी प्रकार श्रीरघुनाथजी भी सम हैं। (३) इसमें बत्तीस वर्ण होते हैं और श्रीरघुनाथजी बत्तीस लक्षणोंसे युक्त हैं वा श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों १६–१६ कलाके पूर्ण अवतार हैं। अन्य किसी छन्दमें ३२ वर्ण नहीं होते। [वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। इनके अतिरिक्त माणवकाक्रीड (भ त ल ग), नगस्वरूपिणी (ज र ल ग) और विद्युन्माला (म म ग ग), ये तीन छन्द और हैं जिनमें भी ३२ ही वर्ण होते हैं। हाँ, बत्तीस वर्णवाले छन्दोंमें अनुष्टुप् आदि (प्रथम छन्द है।] (४) इसमें आठ-आठ वर्ण नहीं हैं परंच ये मानो अष्ट अङ्ग हैं जिससे कविने देवगणको साष्टाङ्ग प्रणाम किया है (५) श्रीअयोध्याजीमें अष्टचक्र हैं। यथा—'अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।' (अथर्ववेद-संहिता भाग, दशमकाण्ड, प्रथम अनुवाक, द्वितीय सूक्तमें)। और, अनुष्टुप्में भी आठ ही वर्ण-संख्या है। धामके भावसे इस छन्दको प्रथम धरा। इत्यादि अनेक भाव कहे गये हैं। पर ये सब भाव क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।

गणका विचार

किसी काव्यके प्रारम्भमें जो गण होता है उसीके अनुसार प्रायः काव्यका फल होता है। छन्दका नियम बतानेके लिये वर्णवृत्तोंमें तीन तीन वर्णोंका एक-एक गण निश्चित किया गया है। इनमें लघु और गुरुके भेदसे गणोंके कुल आठ भेद होते हैं। मगण (ऽऽऽ म), यगण (।ऽऽ य), रगण (ऽ।ऽ र), सगण (।।ऽ स), तगण (ऽऽ। त), जगण (।ऽ। ज), भगण (ऽ।। भ) और नगण (।।। न)। यथा—'आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्। यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरु लाघवम्॥ श्रुतबोध ३।' अर्थात् आदि, मध्य और अन्तमें 'भ, ज, स' में यथानुक्रम गुरु वर्ण होता है (अर्थात् भगणका आदि वर्ण गुरु होता है, शेष दोनों लघु। जगणका मध्य गुरु, शेष दो लघु। सगणका अन्तिम वर्ण गुरु और प्रथमवाले दोनों लघु होते हैं।) इसी प्रकार 'य, र, त' में क्रमसे आदि, मध्य और अन्तका वर्ण लघु होता है, शेष दो गुरु होते हैं। मगणमें सब वर्ण गुरु और नगणमें सब लघु होते हैं। इनमेंसे चार माङ्गलिक हैं और चार अमाङ्गलिक। यथा—'मो भूमिः श्रियमातनोति यो जलं वृद्धिं रचाग्निर्मृतिम्। सो वायुः परदेशदूरगमनं तव्योमशून्यं फलम्॥ जः सूर्यो रुजमाददाति विपुलं भेन्दुर्यशो निर्मलम्। नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां बुधाः॥ (श्रुतबोधके अन्तमें)। अर्थात् मगणकी देवता भूमि है जो मङ्गलश्रीका विस्तार करती है। यगणकी देवता जल है जो वृद्धिकारक है, रगणकी देवता अग्नि है जो मृत्युकारक है। सगणकी वायु है जिसका फल है 'बहुत दूर परदेशमें जाना'। तगणकी देवता आकाश है और फल शून्य। जगणकी देवता सूर्य और फल रोग है। भगणकी देवता चन्द्रमा और फल निर्मल यश है। नगणकी देवता स्वर्ग और फल सुख है। गणविचारके कुशल पण्डित ऐसा कहते हैं। इस श्लोकके अनुसार चार गणों—रगण, सगण, तगण और जगणका जो फल बताया गया है वह अशुभ है, इसीसे ये चार गण अमाङ्गलिक माने गये हैं। पिंगलशास्त्रमें '।' और 'ऽ' क्रमसे लघु और गुरुके बोधक चिह्न माने गये हैं। दुष्ट गणोंको आदिमें न देना चाहिये। यथा—'दुष्टा रसतजा यस्मादनादीनां विनाशकाः। काव्यस्यादौ न दातव्या इति छन्दविदो जगुः'॥ (छन्दप्रभाकरमें उद्धृत।)

स्मरण रहे कि वर्णवृत्त छन्दों और देवकाव्यमें गणका दोष नहीं देखा जाता। यथा—'दोषो गणानां शुभ-देव्यवाच्ये न स्यात्तथैवाक्षरवृत्तसज्ञे। मात्रोत्थपद्ये तु विचारणीयो न्यासाद् गुरोश्चैव लघोरनित्यात्॥' (छन्दप्रभाकरसे)। तो भी गोस्वामीजीने ग्रन्थारम्भके समस्त सोपानोंके मङ्गलाचरणमें शुभगणका ही प्रयोग किया है और वह भी सर्वत्र 'मगण' का ही। जैसे कि, १ वर्णाना (ऽऽऽ), २ यस्याङ्के (ऽऽऽ), ३ मूल धर्म (ऽऽऽ), ४ कुन्देन्दी (ऽऽऽ), ५ शान्त शा (ऽऽऽ), ६ राम का (ऽऽऽ), ७ केकी क (ऽऽऽ)।

इस श्लोकके आरम्भमें मगण पड़ा है, जिसकी देवता भूमि है, जो दिव्य गुणोंको उपजाती और मङ्गलश्रीका विस्तार करती है। मा० मा० कार यह प्रश्न उठाकर कि 'मगण गणसे ही क्यों प्रारम्भ किया जब कि नगण, भगण

और यगण भी तो शुभगण है!" उसका उत्तर यह लिखते हैं कि 'मगणकी देवता पृथ्वी है और पृथ्वीकी सुता श्रीजानकीजी हैं। स्त्री जातिको मातृसम्बन्ध विशेष प्रिय होता है। श्रीकिशोरीजी इस सम्बन्धसे अधिक प्रसन्न होकर कृपा प्रदान करेंगी, तब मेरा मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। वही हुआ भी।' वस्तुतः ग्रन्थकार जिस भी गणसे प्रारम्भ करते उसीमें शङ्का हो सकती है।

इन्हीं मङ्गलकामनाओंसे श्रीतुलसीदासजीने इस मङ्गलाचरणको एक विशेषरूप देकर अपने गम्भीर भावों और गुरुतर विचारोंका उचित रूपसे विकास किया है।

'वर्णानामर्थसंघानाम्' इति।

टिप्पणी—(पं० रामकुमारजी)—'आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबंध अनेक बिधाना। भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥' (१। ९। १०-११), इन सबोंके कर्त्ता वाणी-विनायक हैं। 'क' से लेकर 'ह' तक तैंतीस वर्ण व्यञ्जन हैं और अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ नौ स्वर हैं। ये सब बयालीस अक्षर हैं। एक एक अक्षरके अनेक अर्थ हैं।

नोट—२ पण्डितजीने यहाँ जो संख्या दी है 'माहेश्वरचतुर्दशसूत्र' में भी उतने ही वर्ण संगृहीत हैं। परंतु 'पाणिनीयशिक्षा' में लिखा है कि शिवजीके मतमें संस्कृत भाषा और वेद दोनों मिलकर तिरसठ या चौंसठ वर्ण ब्रह्माजीने स्वयं कहा है। 'अ, इ, उ, ऋ' इनमेंसे प्रत्येकके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन-तीन स्वरूप होनेसे ये बारह स्वर हुए। 'ए, ऐ, ओ, औ' इनके दीर्घ और प्लुत दो भेद होनेसे ये आठ और एक 'लृ' इस तरह कुल इक्कीस स्वर हैं। (क, च, ट, त, प) पञ्चवर्गके पच्चीस वर्ण हुए जो 'स्पर्श' कहलाते हैं। य, र, ल, व, श, ष, स और ह आठ वर्ण ये हैं। वेदोंमें चार 'यम' भी वर्णोंमें गिने जाते हैं। अनुस्वार (ं), विसर्ग (:), जिह्वामूलीय (ᳵक), उपध्मानीय (ᳵप) ये चार हुए। विसर्गके आगे 'क' होनेसे 'जिह्वामूलीय' और 'प' होनेसे 'उपध्मानीय' कहा जाता है। ऋग्वेदमें एवं मराठी भाषामें 'दुःस्पृष्ट' नामसे एक। 'लृ' का प्लुत-भेद भाष्यकारके मतसे है, पाणिनिके मतसे नहीं। इसीसे पाणिनिके मतसे तिरसठ और भाष्यकारके मतसे चौंसठ वर्ण हुए। यथा, 'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः। प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा॥ ३॥ स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥ ४॥ अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵक ᳵपौ चापि पराश्रितौ। दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥ ५॥' (पाणिनीयशिक्षा)।

गौड़जी कहते हैं कि यहाँ वर्णोंसे यदि अकारादि ग्रहण किये जायँ तो संस्कृतके नाते माहेश्वरसूत्रोंमें जो वर्ण दिये हैं उनके सिवा ह्रस्व ए, ओ, अय्, अव्, ड़, ढ़ आदिको शामिल करना होगा, एवं संस्कृतका अंग नाममात्र होनेसे और प्राकृतकी बहुलताके कारण ऋ, ऌ, ङ, ञ, ण, श, ष (मूर्द्धन्य षकार), ज्ञ आदि अक्षरोंका अभाव समझना पड़ेगा। परन्तु मानस ध्वन्यात्मक काव्य है। इसलिये यहाँ वर्णोंका लाक्षणिक अर्थ शिक्षा वेदाङ्ग है, जिसमें वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, वर्ण, स्वर, उदात्तस्वरित, ताल, ग्राम, द्रुत, अणुद्रुत आदि सम्पूर्ण गान्धर्ववेद शामिल हैं।

३—इस श्लोकमें 'छन्दसा' तक चार स्वतन्त्र विषय देखनेमें आते हैं। वर्ण, अर्थ, रस और छन्द। वर्णसे शब्द बनता है और शब्दसे वाक्य बनता है। वाक्यके अन्तर्गत तीन भेद हैं। साधारण, मिश्र और संयुक्त। फिर इनके भी कई भेद हैं। इत्यादि। 'वर्ण' शब्दसे यह सब बता दिया। शब्दालङ्कार भी जो वाक्यमें आते हैं उनका भी ग्रहण 'वर्ण' में हो गया। 'अर्थ' से शब्दार्थ, वाक्यार्थ, ध्वन्यर्थ इत्यादि और सब अर्थालङ्कारोंका ग्रहण हो गया। 'रस' और 'छन्द' पर आगे देखिये।

४—"रसानां" इति। जब मनोविकारोंका वर्णन कारण, कार्य, सहकारियोंसहित कवि करते हैं तो वे विकार पढ़नेवालेके मनमें भी जाग्रत होकर एक प्रकारकी उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। इसीको 'रस' कहते हैं। काव्यमें इनके नौ भेद हैं। शृङ्गार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। नाट्यशास्त्र तथा अमरकोशमें

आठ ही रस माने गये हैं। शान्तरसको रस नहीं माना है। यथा, 'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः। बीभत्सरौद्रौ च रसाः । अमरे १।७।१७।', "शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥" (अमरकोश-टीका)। 'रस' से समस्त काव्यरस, समस्त भक्तिरस और उनके भेद-प्रभेदके समस्त काव्य ग्रन्थोंका ग्रहण होगा। कोई-कोई भक्तिके वात्सल्य, सख्य और दास्य रसोंको भी इन नौ रसोंके साथ मिलाकर बारह रस कहते हैं। रस और छन्दोंके स्वरूप ठौर-ठौरपर यथोचित स्थानोंपर लिखे गये हैं।

५—जब पदोंकी रचनामें वर्ण या मात्रा या दोनोंकी संख्या, विराम और गति नियमानुसार होते हैं तब उस रचनाको 'छन्द' कहते हैं। 'छन्दस्' शब्द सबसे पहले अथर्ववेदके लिये पुरुषसूक्तमें प्रयुक्त हुआ है और बादको साधारणतया 'छन्दस्' से वेद ही समझे जाने लगे। वेदोंमें 'छन्दस्' गायत्री, अनुष्टुभादि वृत्तोंके लिये आम तौरपर प्रायः आया करता है। परंतु यह मन्त्रोंका अङ्ग नहीं है। उसके आगे छन्द शास्त्रके अनुसार वृत्तविभागका निर्देश है। (गौड़जी)। छन्द शब्दसे समस्त पिंगलशास्त्रका भी ग्रहण हो गया।

'वर्णानामर्थसंघानां कर्त्तारौ' इति।

(१) गौड़जी—वेदके छः अङ्ग शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त और छन्दस् हैं। इतिहास, पुराण, स्मृति और न्याय उपाङ्ग हैं। चारों वेद 'ऋग्, यजु', साम तथा अथर्वन्' में ही चार उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अथर्ववेद) भी शामिल हैं। वर्णोंमें शिक्षा और अर्थसंघोंमें व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, इतिहास, पुराण और उपवेद सभी शामिल हैं। रसोंमें समस्त काव्यग्रन्थ और छन्दोंके ग्रन्थोंमें वेदोंसे लेकर शेष सभी विद्याएँ आ गयीं। इन सबोंकी परम कर्त्री भगवती वाणी है। यहाँ भगवती सरस्वतीकी पूर्ण मूर्तिका ध्यान करते हैं। आगे चलकर 'सारद सुरसरिता' की वन्दनामें एक तो शारदाकी वन्दना है, दूसरे एकमात्र कविताके ही अङ्गका प्रसङ्ग है। मङ्गलके कर्त्तार एकमात्र गणेशजी हैं।

पं० रामकुमारजी—यहाँ मूर्तिरूप सरस्वतीकी वन्दना करते हैं। इसीसे कहते हैं कि वर्णादिकी कर्त्री हैं। आगे वाणीरूप सरस्वतीकी वन्दना करेंगे। यथा, "पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगलपुनीत मनोहर चरिता॥ मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥ १। १५।" यहाँ गणेशजीकी मूर्तिके साथ सरस्वतीजीकी मूर्तिकी वन्दना की और दोहा १५ में प्रवाहरूपा गङ्गाजीकी वन्दनाके साथ जब वन्दना की तब वाक्प्रवाहरूपा सरस्वतीजीकी वन्दना की।

(२) इस श्लोकमें श्रीसरस्वतीजीको वर्णादिकी कर्त्री कहा है। यह शङ्का होती है कि "वाणी वर्णादिकी कर्त्री क्योंकर हुई?"

इस विषयमें यह रहस्य है—(१) श्रीसरस्वतीजीने प्रणव (ॐ) से पचास वर्ण पाँच स्थानों (कण्ठ, मूर्धा, तालु, दन्त और ओष्ठ) से उत्पन्न किये। यथा, "व्यञ्जनानि त्रयस्त्रिंशत्स्वराश्चैव चतुर्दश। अनुस्वारो विसर्गश्च जिह्वामूलीय एव च॥ १॥ गजकुम्भाकृतिर्वर्णा प्लुतश्च परिकीर्तितः। एवं वर्णाश्चपञ्चाशन्मातृकायामुदाहृताः॥ २॥" (महाकालसंहितायाम्)। अर्थात् तैंतीस व्यञ्जन, चौदह स्वर [अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, (३ प्लुत), ए, ऐ ओ औ], अनुस्वार, विसर्ग और जिह्वामूलीय। इस तरह पचास वर्ण महाकालसंहितामें माने गये हैं। (☞ 'गजकुम्भाकृतिर्वर्ण' शब्दमें ऌकार सूचित किया है। क्योंकि इसका आकार हाथीके गण्डस्थलके सदृश होता है।) ये पचासों वर्ण और इनके भेद-प्रभेद भगवती सरस्वतीके शरीरके अगणित अवयव हुए। इन्हीं वर्णोंके पद और प्रत्ययसे अर्थोंके समूह, रस और छन्द प्रकट हुए। 'बरन बिलोचन जन जिय जोऊ। १। २०। १' देखिये। (२) दूसरे, जब-तक सरस्वतीजीकी कृपा न हो तबतक वाणी स्फुरित नहीं हो सकती। इससे भी इन सबोंपर आपहीका अधिकार जान पड़ता है। कवित्वशक्ति इन्हींसे प्राप्त होती है। यथा—'सद्यः कवित्वफलदां सद्यो राज्यफलप्रदाम्। भवाब्धितरणीं तारां चिन्तयित्वा न्यसेन्मनुम्॥" (ब्रह्मवैवर्तपुराणमें इनको श्रुतियों, शास्त्रों और विद्वानोंकी जननी और कवियोंकी इष्टदेवता कहा है। यथा—'वागधिष्ठातृदेवी सा कवीनामिष्टदेवता। सद्यो श्रुतीनां शास्त्राणां विदुषां जननी परा॥ १। ३। ५५।')

'वाणी' इति

श्रीमद्भागवतमें श्रीमैत्रेयजीने श्रीविदुरजीसे कहा है कि हमने सुना है कि एक बार अपनी परम सुन्दरी कन्या वाणीको देखकर ब्रह्माजीका चित्त कामवश हो गया। ऐसा सङ्कल्प देख उनके पुत्रों मरीचि आदिने समझाया कि कन्या-गमन-रूपी पाप आपके पहलेके किसी ब्रह्मा आदिने नहीं किया। यह कार्य 'तेजीयसी पुरुषोंको भी' शोभा नहीं देता। इत्यादि। यह सुनकर ब्रह्मा लज्जित हुए और उन्होंने अपना वह शरीर उसी समय त्याग दिया। (भा० ३। १२। २८-३३)। इसमें वाणीके लिये 'वाचं दुहितरं' शब्द आये हैं जिससे सरस्वतीका ब्रह्माकी कन्या होना स्पष्ट कहा है। महाकवि हर्षके 'नैषध' की भूमिकामें जो उनका और सरस्वतीका वादविवाद लिखा है उससे यह स्पष्ट है कि सरस्वतीजी अपनेको 'कुमारी कन्या' कहती हैं। नैषध सर्ग ११। ६६ में जो उन्होंने लिखा है 'देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्। अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥' अर्थात् जिनने विष्णुभगवान्‌का वामभाग पवित्र किया है, वह वाग्देवी दमयन्तीजीसे बोली कि शत्रुओंके लिये दयारहित कृपाण जिसने धारण किया है ऐसे इस राजाके पाणिग्रहणसे गुणसमूहोंको अनुगृहीत करो। इसपर वाणीने 'हर्ष' से कुपित होकर कहा कि तुमने मुझे विष्णुपत्नी कहकर लोकप्रसिद्ध मेरा कन्यात्व लुप्त कर दिया। इसका उत्तर उन्होंने दिया कि मुझपर क्यों कोप करती हो? एक अवतार-में तुमने नारायणको अपना पति बनाया है ऐसा व्यासजीने फिर क्यों कहा? 'किमर्थमेकस्मिन्नवतारे नारायणं पतिं चकृषे स्वम्, पुराणेष्वपि विष्णुपत्नीति पठ्यसे। तत सत्ये किमिति कुप्यसि? ॥'

कन्याका जबतक ब्याह नहीं होता तबतक वह पिताके घरमें ही रहती है। सरस्वतीका ब्रह्मलोकमें ही रहना पाया जाता है। यथा, 'भगति हेतु बिधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई ॥ १। ११।' इससे वह कुमारी कही जा सकती है।

ये ब्रह्माजीकी कन्या हैं। यह बात पद्मपुराण सृष्टिखण्ड पुष्करक्षेत्रमें ब्रह्माजीके यज्ञके समय पुलस्त्यजीके वचनोंसे भी स्पष्ट है। भगवान् विष्णुने सरस्वतीजीसे बड़वानलको ले जाकर दक्षिण समुद्रमें डालनेको कहा तब सरस्वतीने कहा, 'मैं स्वाधीन नहीं हूँ। आप इस कार्यके लिये मेरे पिता ब्रह्माजीसे अनुरोध कीजिये। पिताकी आज्ञा बिना मैं एक पग भी कहीं नहीं जा सकती। तब देवताओंने ब्रह्माजीसे कहा 'पितामह! आपकी कुमारी कन्या सरस्वती बड़ी साध्वी है। उसमें किसी प्रकारका दोष नहीं देखा गया है।' देवताओंकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजीने सरस्वतीको बुलाकर गोदमें बिठाकर मस्तक सूँघा और कहा, 'बेटी! तुम समस्त देवताओंकी रक्षा करो'। इससे भी 'कन्या' और 'कुमारी' होना सिद्ध हुआ।

महाकवि हर्षके कथनका प्रमाण खोजते-खोजते ब्रह्मवैवर्तमें मिला। उसके ब्रह्मखण्ड अ० ३ में एक कल्पमें सरस्वतीका जन्म परमात्माके मुखसे लिखा है और प्रकृतिखण्डमें इनको भगवान्‌की एक स्त्री भी कहा है जो गङ्गाके शापसे और भगवान्‌के फैसलेसे मर्त्यलोकमें अपने एक अंशसे सरस्वती नदी हुईं और एक अंशसे ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माकी स्त्री हुईं। यथा—'लक्ष्मीः सरस्वती गङ्गा तिस्रो भार्या हरेरपि। २। ६। १७।', 'गङ्गाशापेन कलया भारतं गच्छ भारति। स्वयं च ब्रह्मसदनं ब्रह्मणः कामिनी भव ॥ २। ६। ५३।', भारती यातु कलया सरिद्रूपा च भारतम्। अर्द्धांशा ब्रह्मसदनं स्वयं तिष्ठतु मद्गृहे ॥ २। ६। ८५।', इस तरह इसी कल्पमें सरस्वतीका भगवान्‌की स्त्री होना और किसीमें ब्रह्माकी स्त्री होना भी पाया जाता है। इसीसे भगवान्‌को 'वागीश' एवं 'वाचस्पति' भी कहा गया है और सरस्वतीको ब्रह्माणी भी कहा गया है। कल्पभेद होनेसे शङ्का नहीं रहती।

यहाँ 'वाणी' से अधिष्ठातृ देवता हस्तपादादियुक्तमूर्ति अभिप्रेत है। 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती इत्यमरे। ६। १।' ये सरस्वतीदेवीके नाम हैं। ब्रह्मवैवर्त पु० ब्रह्मखण्ड अ० ३ में इनका शुक्लवर्णा, पुस्तकधारिणी, अत्यन्त रूपवती श्रुतियों, शास्त्रोंकी स्रष्ट्री और विद्वानोंकी श्रेष्ठ जननी, वागधिष्ठातृदेवी कहा गया है और पौराणिक नाना-शास्त्रीविरचित प्रतिवार्षिक पूजाकथा-संग्रह द्वितीय भाग (काशीज्योतिषप्रकाश सं० १९९०) में सरस्वतीके स्वरूपका उल्लेख इस प्रकार है—'प्रणवासनसंरूढा, अंकुशाक्षसूत्रपाशपुस्तकधारिणी, चन्द्रार्धकृतशेखरा, जटाकलापसंयुक्ता त्रिलोचना, महादेवी' इत्यादि।

८ वन्दना (वन्दे वाणीविनायकौ) इति

(१) मङ्गलाचरणकी भाँति प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामीजीने वन्दनामें भी लोकोपकारहेतु एक परम्परा स्थापित की है। परंतु जिस प्रकार एक योग्य कुलाल साधारण मृत्पिण्डसे अनेकों प्रकारके पात्रोंको अपनी इच्छानुसार निर्माण करता है, उसी प्रकार इस मानवमानसशास्त्रवेत्ता ऋषिने लोक और वेदके उत्तम नियमोंको किस चतुरता और साधुताके साथ अपनी इच्छानुसार भक्ति और श्रद्धारूपमें प्रकट किया है, इसे कोई चतुर भक्त ही चिन्तन कर सकता है।

'वर्णानाम्' आदिका कर्त्ता कहकर गोस्वामीजीने वन्दनाका आरम्भ किया है। उनकी हार्दिक इच्छा है कि उनके इस ग्रन्थमें वर्ण, अर्थ, रस और छन्द अच्छे-अच्छे होंवे। (अर्थात् अक्षर मधुर हों मैत्रीयुक्त हों, प्रसादगुणयुक्त हों। थोड़े ही अक्षरोंमे बहुत और विलक्षण अर्थ भर दिये जायँ। शृङ्गारादि रस अपने अनुभाव, विभाव, सञ्चारी और स्थायी अङ्गोंसे परिपूर्ण हों। छन्द ललित हों। इत्यादि)। और यह ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो तथा स्वयं ग्रन्थकर्ताको एवं इस ग्रन्थके कहने-सुननेवाले वक्ताओं और श्रोताओं और पठन-पाठन करनेवालोंको मङ्गलकारी हो। अर्थात् सबको मङ्गलदाता हो। सरस्वतीजीका मुख्य धर्म वर्णादिका देना है और श्रीगणेशजीका मुख्य धर्म मङ्गल देना है। वर्णादि एवं छन्दादिकी दात्री श्रीसरस्वतीजी हैं और मङ्गलके दाता गणेशजी हैं। यथा—'मोदकप्रिय मुद मंगलदाता।' (विनय० १)। पुनः, कवित्वशक्तिकी दात्री भी श्रीसरस्वतीजी ही हैं। महाकालसंहितामें इसका प्रमाण है और इस बातको सब जानते ही हैं। एवं श्रीगणेशजी विघ्नविनाशक और मङ्गलकर्ता हैं। प्रमाण यथा—'सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि त्वत्प्रसादाद्गणाधिप ॥ ११ ॥ ये भजन्ति च त्वां देवं तेषां विघ्नं न विद्यते ॥ १३ ॥ सर्वमङ्गलकार्येषु भवान् पूज्यो जनैः सदा। मङ्गलं तु सदा तेषां त्वत्पादे च धृतात्मनाम् ॥ १४ ॥' (सत्योपाख्याने पू० अ० २३)। इसी अभिप्रायसे उन्होंने वर्णादिकी कर्त्री एवं दात्री और कवित्वशक्ति प्रदान करनेवाली सरस्वतीजीकी और 'विघ्नविनाशक मंगलदाता' गणेशजीकी वन्दना आदिमें की।

बाबा रामप्रसादशरणजीके अनुसार वर्ण, छन्द और काव्यके नवों रसोंकी चाह छन्दार्णव पिंगलके ज्ञाता कवियोंको, अर्थकी पण्डितोंको, भक्तिके पञ्चरसकी प्रेमियोंको और मङ्गलकी जीवमात्रको होती है। श्रीरामचरितमानसमें इन्हीं पाँचोंकी निर्विघ्न समाप्तिकी आशा मनमें रखकर श्रीगोस्वामीजी 'वन्दे वाणीविनायकौ' ऐसा कहते हैं।

☞ सारांश यह कि वाणी विनायककी वन्दनाद्वारा इस ग्रन्थको चौदहों विद्याओंका निचोड़ और समस्त मङ्गलकी खानि बनानेकी प्रार्थना अभिप्रेत है। (गौड़जी)

(२) प्रथम कार्य है रामचरित्रका बनाना। अतः प्रथम सरस्वतीजीकी वन्दना की। सरस्वतीजी श्रीरामचरित्रकी दात्री हैं। तत्पश्चात् उसके विघ्ननिवारणार्थ गणेशजीकी वन्दना की। (पं० रामकुमारजी)

'वाणी'को 'विनायक' के पहले रखने तथा उनकी गणेशजीके साथ वन्दना करनेके भाव महानुभावोंने अनेक कहे हैं, जिनमें कुछ ये हैं—(क) वाणी और भक्ति नारीवर्ग और विनायक और ज्ञान पुरुषवर्ग हैं। 'वाणी' को प्रथम रखकर दर्शाया है कि इस ग्रन्थमें भक्तिकी प्रधानता होगी। (ख) प्रथम वाणीकी वन्दना करके उनसे गणेशजीकी वन्दनाके हेतु वाचाशक्ति प्राप्त की। (ग) आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी लिखते हैं कि, 'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्। वाल्मी० १।४।७॥' अर्थात् रामायणमें श्रीसीताजीका ही महान् चरित है। (म० श्लोक ५ देखिये)। गोस्वामीजी भी कहते हैं, 'सतीसिरोमनि सियगुनगाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा॥' (१। ४२)। इसीसे उन्होंने सर्वत्र श्रीसीताजीकी वन्दना श्रीरामजीसे पहले की है। सरस्वतीजी विशेष रूपसे श्रीजीकी सेवा करती हैं। यथा, 'लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहैं। १। ३२७।' निष्कर्ष यह कि रामचरितमें श्रीजीका चरित प्रधान है और वाणीजी प्रधान रूपसे श्रीजीकी सेविका हैं, इसीसे प्रथम वाणीकी वन्दना की।

(३) वाणी और विनायक दोनोंकी एक साथ वन्दना करनेके भाव—(क) दोनों मङ्गल आदिके कर्त्ता हैं। (ख) वाणीसे गणोंकी उत्पत्ति करके गणेशजीको उनका रक्षक साथ-ही-साथ कर दिया है। (ग) दोनों श्रीरामोपासक हैं। यथा, 'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ। १। १९।' 'एकटक रही रूप अनुरागी। (१। ३४९)'

'भगति हेतु बिधिभवन बिहाई' । १ । ११ ।' अनुराग अपने ही हृदयमें होता है। इसीसे तो सरस्वती मनोहर जोड़ीको एकटक देखते ही रह गयीं और जब कोई कवि रामचरित कहलानेके लिये स्मरण करता है तब ब्रह्मभवन छोड़कर चली आती है। गणेशजी भी रामोपासक हैं, यह एक तो इसीसे स्पष्ट है कि वे रामनामके प्रभावसे प्रथम पूजित हुए। दूसरे मत्स्योपाख्यानमें उनको स्पष्ट हरिभक्त कहा है। यथा 'विष्णुभक्तो गणाधीशो हरते परशुधारक.॥' (घ) जैसे श्रीरामचरित-सम्भाषणमें श्रीसरस्वतीजी अद्वितीय है, वैसे ही श्रीगणेशजी लिखनेमें। जो उनके मुखारविन्दसे निकला उसे गणेशजीने तुरत लोकप्रवृत्तके लिये स्पष्ट अक्षरोंमें लिखकर दृष्टिगोचर कर दिया, इसीसे उनका परस्पर सम्बन्ध भी है। (तु० प० ४ । ७ । १५०-१५१) (ङ) वाणी श्रीकिशोरीजीकी और गणेशजी श्रीरामजीके सम्बन्धी है। श्रीसीतारामजीके सम्बन्धसे दोनोंको साथ रक्खा। (च) श्रीसरस्वतीजीका वास कवियोंके अन्तःकरणमें रहता है और श्रीसरकार (श्रीरामजी) की आज्ञानुसार जैसी ये प्रेरणा करती है वैसे ही शब्द उनके मुखारविन्दसे निकलते है। भूत, भविष्य और वर्तमानमें श्रीरामयशगानका कवियोंने जो साहस किया है और करेंगे वह इन्हींकी कृपासे। ये समस्त श्रीरामचरितकी साक्षी ठहरीं, क्योंकि जिस देशकालमें जो कुछ जिससे कहलाया वह इन्होंने ही। गोस्वामीजीको श्रीरामचरित कथन करना है, अतः उनकी वन्दना सबसे प्रथम उचित ही है। यह कर्मभूमि है। जो वेदविहित कर्म है, उनमें सबसे प्रथम पूज्य श्रीगणेशजी ही हैं। इसीसे इनकी वन्दना करते है। (मा० प्र० मा०)

(४) अब प्रश्न होता है कि 'जब श्रीसरस्वतीजी ही समस्त रामयशकी कहलानेवाली हैं तो सब कवियोंके मुखारविन्दसे एक ही अक्षर और एक ही भाव निकलने चाहिये। परंतु सबका काव्य समान नहीं। किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ। यह सब भेद क्यों?' इसका उत्तर यह है कि प्रभु श्रीरामजीने जब जहाँ जैसा चाहा कहलाया, क्योंकि श्रीरामजी ही उसके नियामक है। यथा, 'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।', 'सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥ १ । १०५॥' श्रीसरस्वतीजी सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होकर महाप्रलयपर्यन्त रहती हैं। इनके रहतेभरमें जो लीला हुई उसकी साक्षी वे अवश्य है, परंतु इनके पूर्व या परकी जो लीला है, उसका ज्ञान इनको नहीं। वह जिनकी लीला है वे ही जब अपनी कृपासे जो बतलाते है तब उसीके अनुकूल वे कवियोंके हृदयमें प्रकाश करती है। इसीसे श्रीरामचरितमें भेद देखनेमें आता है। कौन जाने किस कविसे किस कल्पकी लीला कथन करायी गयी है? इसी परस्पर भेदसे ग्रन्थकार कहते है, 'राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा बिस्तार। सुनि आचरजु न मानिहहिं, जिन्ह के बिमल बिचार॥ १ । ३३॥'

नोट—६ यहाँ कोई-कोई महानुभाव यह शङ्का करते हैं कि 'अपने इष्टदेवको छोड़कर 'वाणीविनायक' की वन्दना आदिमें क्यों की गयी?' इस शङ्कामें ही दूषण है। इसमें यह मान लिया गया है कि अनन्य उपासक अपने इष्टदेवके सिवा किसी औरकी वन्दना नहीं करता। यह भारी भूल है। अनन्यताका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने इष्टदेवको परिच्छिन्न बना देता है। शैताननें इसी तरह अपने इष्टदेवको परिच्छिन्न बनाया और पतित हुआ। अनन्य उपासक सम्पूर्ण जगत्‌को 'सियाराममय' देखता है और सबकी वन्दना करता है। वह माता, पिता, गुरुको ही नहीं वरं च अपनेसे छोटे-से-छोटेकी भी वन्दना करता है। फिर गणेशजीकी तो बात ही क्या? उपर्युक्त शङ्काका समाधान यों भी किया जाता है कि—(१) काव्यरचनाके लिये सरस्वतीजीके स्मरण और मङ्गल और विघ्नविनाशनके लिये श्रीगणेशजीके स्मरणकी रीति व्यवहृत होती आती है। श्रीरामजीकी ओरसे जो जिस कार्यके अधिकारपर नियुक्त है, उस कार्यके लिये उसकी प्रार्थना करनेमें हानि नहीं है। उपर्युक्त रीतिकी वन्दनासे उनके अनन्यताभावमें कुछ न्यूनता नहीं आती। विनयपत्रिकामें भी श्रीमद्गोस्वामीजीने इसी भावसे श्रीविघ्नविनाशक शुभमूर्ति गणेशजीकी वन्दना प्रथम ही की है। (२) श्रीरामभक्तिके नातेसे 'वाणीविनायक' की वन्दना की गयी है। श्रीगणेशजी रामभक्त है। वे श्रीरामनामके प्रतापसे ही प्रथम पूजनीय हुए। यथा, 'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ' (१ । १९) और श्रीसरस्वतीजीकी भक्ति इससे स्पष्ट है कि, 'भगति हेतु बिधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥ रामचरितसर बिनु अन्हवाए। सो श्रम जाइ न कोटि उपाए॥ १ । ११ (४-५)।' (३) अनन्यके लक्षण तो श्रीरामजीने श्रीहनुमान्‌जीसे ये बताये हैं कि 'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥ ४ । ३।' और शिवजी भी

कहते हैं कि, 'उमा जे रामचरनरत विगत काम मद क्रोध। निज-प्रभु-मय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध॥ ७। ११२।' श्रीगोस्वामीजीका भी प्रभुके प्रति यही भाव है। उन्होंने निज इष्टकी वन्दना सर्वरूपरूपी, सर्वशरीर-शरीरी, सर्व-अशअशी, सर्वनामनामी, सर्वप्रकाश्यप्रकाशक इत्यादि भावोंसे ही की है। जैसा कि उनके 'जड चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥ देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गधर्व। बदउँ किन्नर रजनिचर कृपा करहु अब सर्व॥ १। ७॥ सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी। जानि कृपाकर किंकर मोहू॥' 'मोहू' शब्द भी यह कह रहा है कि आप सब श्रीरामजीके किंकर हैं और मैं भी हूँ। रामकिंकर तथा श्रीसीताराममय जानकर ही मैं आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ। इस प्रकार भी वन्दना उनकी अनन्यताके परिपुष्टकारी भावकी ही द्योतक है। (४) 'सीतांशसम्भवां वाणीं रामांशेन विनायकौ। श्रीसीतारामांशसम्भूतौ वन्दे वाणीविनायकौ॥' (अज्ञात)। यह श्लोक भी वन्दनाके श्लोकमें अनन्यताका विश्वसनीय साक्षी है। (श्रीशुकदेवलाल)। (५) और भी भाव वा समाधान म० श्लोक ६ और म० सोरठा १ में दिये गये हैं। ग्रन्थकारने इन सबकी वन्दना करके श्रीरामनाम, श्रीरामरूप, श्रीरामचरित इत्यादिकी महिमा दिखायी है। परात्पर ब्रह्म प्रभु श्रीसाकेतविहारीजीतक पहुँचनेका मार्ग दर्शाया है। (६) 'इस ग्रन्थमें श्रीरामचरितके वर्णन करनेवाले तीन वक्ता और हैं। उन सबोंने अपने इष्टदेव श्रीरघुनाथजीका ही मङ्गलाचरण किया है। यथा, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, 'प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा॥ १। १०५। ७।' श्रीशिवजी—'बदौं बालरूप सोइ रामू।' द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥ करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥ १। ११२।' श्रीभुशुण्डिजी—'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥ प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी॥ ७। ६४।' तब भला गोस्वामीजी अपने इष्टदेवको छोड़कर क्यों वाणी-विनायककी वन्दना करने लगे?' ऐसा सोचकर कोई-कोई रामानन्य महानुभाव इस शङ्काके निराकरणमें 'वाणी' का अर्थ सरस्वती न करके 'श्रीसीताजी' ऐसा अर्थ करते हैं और 'विनायक' का अर्थ 'श्रीरघुनाथजी' करते हैं। इस तरहसे कि 'सुन्दरीतन्त्र' वाले 'श्रीजानकीसहस्रनाम' में वाणी भी श्रीसीताजीका एक नाम दिया गया है। यथा, 'ब्रह्माणी बृहती ब्राह्मी ब्रह्मभूता भयावनि.', 'वाणी चैव विलासिनी' और 'विनायक' का अर्थ विशेष नायक' करते हैं। श्रीरामचन्द्रजी सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंके नायक वा स्वामी हैं। यथा, 'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक। ६। ६२।' 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥ ६। २२।' (७) बाबा रामप्रसादशरणजी (दीन) कहते हैं कि श्रीगोस्वामीजीकी प्रतिज्ञा है कि 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥ १। १३।' 'वाणीविनायक' की वन्दना करता हूँ यह पुराणकी रीतिसे नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण हुआ। पुनः इसीमें वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण कहते हैं। ग्रन्थमें जो प्रतिपाद्य विषय है उसको परमात्मासे अभेद कथन करके उसकी वन्दना करना वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण है। यद्यपि नाम, रूप, लीला और धाम इन चारोंका यथार्थ स्वरूप इस ग्रन्थमें कथन किया गया है, तथापि अधिकतर सुगम नामको जानकर 'विषय' नामहीको कहते हैं। यथा, 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुतिसारा॥ १। १०।' सुगमताके कारण नामके प्रसगमें नामकी महिमा रूपसे अधिक कही गयी है, परंतु वास्तवमें नाम-रूप अभेद हैं। श्रीरामनाम ही ग्रन्थका विषय है, इससे ग्रन्थकर्ता नामहीकी वन्दना यहाँ कर रहे हैं, इस तरह कि 'वन्दे वाणीविनायकौ'=वाणीके वि (विशेष) दोनों नायक। अर्थात् रकार और मकार दोनों वर्ण जो वाणीके विशेष नायक हैं, उनकी वन्दना करता हूँ। 'विशेष नायक' का भाव यह है कि सामान्य नायक ब्रह्माजी हैं और विशेष श्रीरामजी हैं। यथा, 'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥ १। १०५।' 'विनायक' का यह अर्थ लेनेसे श्लोकके अर्थ दो प्रकारके हैं—(क) वाणीके विशेष नायक दोनों वर्ण 'रा' 'म' जो वर्णसमूह, अर्थसमूह, रससमूह, छन्दसमूह और मङ्गलसमूहके करनेवाले हैं, उनकी वन्दना करता हूँ। अथवा, (ख) वाणीके स्वामी 'रा' 'म' जिसमें वर्णसमूह (अर्थात् रेफ, रकारकी अकार, दीर्घाकार इत्यादि षट् कलाएँ) है, अर्थसमूह है, (इसीसे प्रणव और त्रिदेवकी उत्पत्ति है) जिनसे सब रसों और गायत्री आदि छन्दोंकी उत्पत्ति है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

नोट—१० प्राचीन ग्रन्थकर्ताओंकी रचनाओंमें यत्र-तत्र देखा जाता है कि प्रारम्भमें ही ग्रन्थकार सूक्ष्म रीतिसे ग्रन्थके विषयका परिचय दे देता है। उसी रीतिके अनुसार, श्रीमानसी वन्दनपाठकजीका मत है कि श्रीरामचरितमानसके इस प्रारम्भिक प्रथम श्लोकमें इस ग्रन्थके सप्त सोपानोंके विषयका परिचय मिलता है। इस तरह कि—(क) 'वर्णाना' से बालकाण्डकी कथाका परिचय दिया। क्योंकि जिसकी कोई जाति नहीं, वह ब्रह्म क्षत्रिय 'वर्ण' हुआ और उसी सम्बन्धसे श्रीविश्वामित्रजीका आगमन, अहल्योद्धार, यज्ञरक्षा और विवाह आदि व्यवहार हुए। (ख) 'अर्थसंघाना' से अयोध्याकाण्डकी कथा जनायी, क्योंकि इसमें पहले श्रीदशरथमहाराजके रामराज्याभिषेकमनोरथसिद्ध्यर्थ, फिर देवमनोरथसिद्ध्यर्थ, फिर भरतराज्यार्थ, श्रीरामभगवनगमनार्थ, श्रीरामजीके पुनरयोध्यागमनार्थ इत्यादि अर्थसमूहोंके साधन हुए। (ग) 'रसाना' से अरण्यकाण्डकी कथाका संकेत किया। क्योंकि 'रस' का अर्थ 'पराक्रम' भी है। यथा, 'श्रृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः। इत्यमरः। ३। ३। २२६।' वीर्य और पराक्रम पर्याय है। और, इस काण्डमें खर दूषण, त्रिशिरा, रावण-समान बली वीर और देवता-मनुष्यादिसे अमर सेनापतियों तथा जनस्थानमें रहनेवाले उनके चौदह हजार राक्षसोंको श्रीरामजीने अकेले अपने ही पराक्रमसे नाश किया। (घ) 'छन्दसा' से किष्किन्धाकी कथा सूचित की, क्योंकि छन्द करोड़ों जातिके हैं और यहाँ वानरी सेना भी करोड़ों जातिकी एकत्र हुई है। पुन 'छन्दस्' का अर्थ 'स्वच्छन्द', 'स्वतन्त्र' भी है, यथा, 'छन्दः पद्ये च वेदे च स्वैराचाराभिलाषयोः। इति मेदिनी।' छन्दः पद्येऽभिलाषे च' (अमरे ३। ३। २३९)। और छन्दका अर्थ 'आधीन' भी है। यथा, 'अभिप्रायवशौ छन्दौ। अमरे ३। ३। ८८।' अबतक (अरण्यकाण्डमें) श्रीरामजी स्वयं श्रीजानकीजीको खोजते फिरते रहे थे। अब सुग्रीव तथा सारी वानरी सेना उनके अधीन हो जानेसे वे सीताशोधके कार्यसे निश्चिन्त हुए, यह कार्य अब सुग्रीवके द्वारा होगा। इस तरह शत्रुको जीतनेके लिये श्रीरामजी सेनासहित 'स्वतन्त्र' हुए। (ङ) 'अपि' से सुन्दरकाण्ड। क्योंकि इस काण्डमें श्रीसीताजीका लङ्कामें होना निश्चित हुआ। 'अपि' निश्चयवाचक है। (च) 'मङ्गलाना' से लङ्काकाण्ड कहा, क्योंकि रावणादिके वधसे जगत्‌का मङ्गल हुआ। (छ) 'कर्त्तारौ' से उत्तरकाण्ड जनाया, क्योंकि इसमें श्रीरामजीने चक्रवर्ती राजा होकर हुकूमत की और राजाका 'कर्तव्य' पालन किया।

११ इसी प्रकार मानसप्रचारक श्रीरामप्रसादशरणजीका मत है कि, ग्रन्थके आदिमें कवि वेदोंके छओं अङ्गों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—का ग्रहण करते हैं। (शिक्षा आदिका तात्पर्य, यथा, 'वेद पठनकी विधि सबै 'शिक्षा' देत बताय। सब कर्मनकी रीति जो 'कल्प' हि दे दर्शाय॥ शब्द अशुद्धाशुद्धको ज्ञान 'व्याकरण' जान। कठिन पदनके अर्थ जो करै 'निरुक्त' बखान॥ अक्षर मात्रा वृत्तको ज्ञान 'छन्द' सो होय। 'ज्योतिष' काल ज्ञान इमि वेद षडङ्ग गनोय॥') । 'वाणी' से शिक्षाका ग्रहण हुआ; क्योंकि विद्या और जितनी उसकी विधि है, वह भी इन्हींकी कृपासे प्राप्त होती है। ऐसे ही 'विनायक', कर्मकाण्डके आदिमें पूज्य श्रीगणेशजीको 'कल्प' की संज्ञा दिया, क्योंकि 'कल्प' से कर्मोंकी रीति मालूम होती है। 'वर्णाना' से व्याकरणको लिया, क्योंकि इससे शब्दके शुद्धाशुद्धका ज्ञान होता है। 'अर्थसंघाना' से निरुक्त, क्योंकि इससे ही कठिन पदोंके अर्थका ज्ञान होता है। 'छन्दसा' से छन्द और 'मङ्गलानां च कर्त्तारौ' (अर्थात् तीनों कालोंमें मङ्गल करनेवाले) से ज्योतिष' (कालज्ञान) का ग्रहण हुआ। 'रसका ग्रहण सबके साथ है। जब वेदके समग्र अङ्गोंका ग्रहण हुआ तो सब वेद इसमें आ गये। (तु० प० ४। ७। १५८)।'

१२ सूक्ष्म रीतिसे इस श्लोकसे षट्शास्त्रोंका भी ग्रहण करते हैं। इस तरह कि 'वर्णाना' से 'न्याय', क्योंकि जैसे शुद्धाशुद्ध शब्दका ज्ञान पाण्डित्यका कारण है, वैसे ही न्यायको जाने बिना वस्तुतत्त्वका विशेष अभ्यास कठिन है। ग्रन्थमें न्याय आदिका मत कहेंगे। यथा, 'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।' (१) ३४१। 'अर्थसंघाना' से वेदान्तका ग्रहण हुआ। जितने भी इतिहास, पुराण आदि हैं, उन सबमें तीन ही प्रकारके वाक्य हैं।—रोचक, (स्वर्गादिका लालच दिखाकर वेदविहित कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाले), भयानक (नरकादिका भय दिखाकर निषिद्ध कर्मोंसे निवारण करनेवाले) और यथार्थ (जीव, माया और ईश्वरके यथार्थ स्वरूप दिखाकर निजानन्दकी, सच्चे सुखकी प्राप्ति करानेवाले)। 'अर्थसंघाना' से वेदान्तको लिया, क्योंकि कहीं ध्वनि अवरेबद्वारा, कहीं गौण रीतिसे और कहीं मुख्य तात्पर्यसे, अर्थसमूह निश्चय करके मोहजनित भ्रमको अन्तःकरणसे निर्मूल करके अपने सहज स्वरूपकी प्राप्ति करा देना ही इसका अभिप्राय

का उद्देश्य है। 'रसाना' से पातञ्जल 'योगशास्त्र' का ग्रहण हुआ, क्योंकि रसका वास्तविक अनुभव चित्तकी एकाग्रताहीमें हो सकता है और चित्तकी वृत्तिका निरोध ही योग है। 'छन्दसा' से 'सांख्य', क्योंकि जैसे गायत्रीमें परमात्मासे प्रार्थना है कि हमारी बुद्धिको प्रेरणा कर शुभकार्यमें लगावें (परमात्माकी ही प्रेरणासे बुद्धि शुभ कर्म करती है), वैसे ही सांख्यका मत है कि पुरुषकी प्रेरणासे प्रकृति सब काम करती है। 'मङ्गलाना' से वैशेषिक; क्योंकि वैशेषिकका मत है कि, 'समय एव करोति बलाबलम्'। अर्थात् कालकी प्रेरणासे जीव नाना प्रकारके सुख-दुःख भोगता है। 'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। ७। ४१।' और जब श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग हो गया तब तो फिर चाहे जहाँ रहे सर्वदा मङ्गल-ही-मङ्गल होता रहता है। कालका जोर (प्रभाव) जैसा सब जीवोंपर है वैसा ही हरिभक्तोंपर नहीं रहता। यथा—'आन जीव इव संसृत नाहीं। ७। ७८।' 'वन्दे वाणीविनायकौ' (अर्थात् मैं वाणीके दोनों विशेष नायक दोनों वर्ण 'रा' 'म' की वन्दना करता हूँ। नाम-नामीमें अभेद है।), इससे जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा इसमें आ गया। क्योंकि चारों भ्राताओंने एक-एक धर्म ग्रहण किया है। श्रीरघुनाथजीने श्रुति-स्मृति अनुकूल सामान्य-धर्म, लक्ष्मणजीने श्रीभगवत्-सेवाधर्म जो मुख्यधर्म है, श्रीभरतजीने भगवदाज्ञाप्रतिपालनधर्म और श्रीशत्रुघ्नजीने भागवतसेवाधर्म ग्रहण किया (रा० प्र० श०)।

१३ कुछ महानुभावोंने यह शङ्का की है कि, "गोस्वामीजीके इष्ट 'रामनाम' हैं यथा, 'रामकी सपथ सरबस मेरे राम नाम।' (क० ७। १७२), 'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो। अपनो भलो राम नामहि सों॥ (विनय० २२०), तो 'व' अक्षरसे ग्रन्थका आरम्भ क्यों किया ?"

यह शङ्का भी व्यर्थ सी ही जान पड़ती है, क्योंकि ऐसी ही शङ्का अन्य अक्षरोंमें भी हो सकती है। पर महानुभावोंने इसके भी अनेक भाव कहे हैं जिनमेंसे कुछ यहाँ दिये जाते हैं—(१) 'वर्ण' प्रथम शब्दमें रेफ है ही जो कविको इष्ट है। (२) ग्रन्थकी समाप्तिमें भी 'व' ही अक्षर देकर (यथा, 'दह्यन्ति नो मानवाः।') ग्रन्थको सपुटित किया है। मङ्गलाचरणके प्रथम श्लोकमें 'वाणी' और 'विनायक' की वन्दना है और इन दोनोंके प्रथम वर्ण 'व' है। इसलिये इन्हीं दोनोंके आदिम अक्षरोंका सपुट देकर मानो ग्रन्थको इनसे प्रसादित किया है। (३) 'वाणी और विनायक' दोनोंका बीज वकार है। बीजयुक्त मन्त्र बड़ा प्रभावशाली होता है। यथा, 'मंत्र सबीज सुनत जनु जागे। २। १८४।' वह परिपूर्ण फल देता है और शीघ्र। अतएव बीजसे ग्रन्थको प्रारम्भ करके बीजपर ही समाप्त किया। (प० रामकुमारजी) (४) तन्त्रशास्त्रानुसार 'व' अमृत बीज है। इसका सपुट देकर सूचित किया है कि इस ग्रन्थके अध्ययन और श्रवण करनेसे अमरपदरूपिणी श्रीरामभक्ति प्राप्त होती है। (प० रामवल्लभाशरणजी) (५) इस ग्रन्थका वैष्णवीय ग्रन्थ होना, ग्रन्थ-कर्त्ताका वैष्णव और ब्राह्मणवर्ण होना जनाया। (६) 'व' से प्रारम्भ करके अपनेको वाल्मीकिजीका अवतार सूचित किया। (७) इस सोपानका 'बालकाण्ड' नाम है। इसमें 'बाल' 'विवाह' लीला वर्णन करेंगे, अतएव काण्डके आदिमें इनका 'व' अक्षर दिया।

१४ मानसीवन्दनपाठकजी लिखते हैं कि जैसे वाल्मीकीय रामायण गायत्री २४ चौबीस अक्षर और मङ्गलाचरण द्वादशाक्षर मन्त्रार्थपर रचे गये, वैसे ही श्रीरामचरितमानस श्रीराम-षडक्षर ब्रह्मतारक मन्त्रपर है, परतु गुप्तार्थ है। 'वर्णाना' से मकार, अकार बिन्दुसहित रामबीज है। शेष पॉच अक्षर पॉच काण्डोंमें है। रहा अन्तका विसर्ग, सो उत्तरकाण्डमें है। [यह युक्ति ठीक-ठीक समझमें नहीं आती। अनुमान होता है कि 'वर्णाना' में रेफ है और अन्तमें 'आ' और 'म' है इसीसे 'रा' बीज सूचित किया।]

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥ २॥

शब्दार्थ—याभ्यां=जिन दोनोंके। पश्यन्ति=देखते हैं। सिद्धाः=सिद्ध लोग। स्वान्तःस्थमीश्वरम्=स्वअन्तःस्थम्-ईश्वरम्=अपने अन्तःकरणमें स्थित ईश्वरको।

अन्वय—अहं श्रद्धाविश्वासरूपिणौ भवानीशङ्करौ वन्दे याभ्यां विना सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरं न पश्यन्ति।

अर्थ—१ मैं श्रद्धाविश्वासरूपी श्रीपार्वतीजी और श्रीशङ्करजीकी वन्दना करता हूँ (कि) जिनके बिना सिद्ध लोग भी अपने अन्तःकरणमें स्थित ईश्वरको नहीं देख सकते हैं॥ २॥

अर्थ—२ जिनके बिना अपने हृदयमें स्थित ईश्वरको सिद्ध लोग भी नहीं देख सकते, ऐसे (जो) श्रद्धा-विश्वास (हैं उन) के (मूर्तिमान्) रूप भवानी-शङ्करकी वन्दना करता हूँ॥ २॥

नोट—१ यह वन्दना किसकी है? श्रद्धाविश्वासकी या भवानीशङ्करजीकी? इसमें मतभेद है। कारण कि उत्तरार्धमें जो महत्त्व दरसाया गया है, वह तो श्रद्धाविश्वासका है और रूपिणौ शब्दका प्रयोग किया गया है, जिससे प्रधानता श्रद्धाविश्वासकी पायी जाती है। इसीसे हमने दो प्रकारसे अर्थ किया है। अर्थ १ में श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, उन्हींको भवानी-शङ्कर मानकर वन्दना की गयी है। अर्थ २ में भवानीशङ्करकी वन्दना है, उन्हींको श्रद्धाविश्वासमय बताया गया है।

२—वाणी और विनायकजीकी वन्दना प्रथम श्लोकमें कर लेनेके पीछे दूसरे ही श्लोकमें श्रद्धाविश्वासरूप भवानी-शङ्करकी वन्दना की गयी है, इसका कारण यह कि अज्ञानका नाश और ज्ञानकी प्राप्ति बिना श्रद्धा और विश्वासके असम्भव है, जैसा भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें कहा है। यथा—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्। ४। ३९।' अर्थात् श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। अथवा—'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४। ४०।' अर्थात् अज्ञानी, श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष नाशको प्राप्त होता है और संशययुक्त पुरुषके लिये न सुख है न इहलोक है और न परलोक ही है। (डाक्टर माताप्रसाद गुप्त)। महाभारत शान्तिपर्व तुलाधार जाजलिसंवादमें कहा है, कि यदि कर्मोंमें वाणीके दोषसे मन्त्रका ठीक उच्चारण न हो सके और मनकी चञ्चलताके कारण इष्टदेवके ध्यानमें विक्षेप आ जाय तो भी यदि श्रद्धा हो तो वह उस दोषको दूर कर देती है। किंतु श्रद्धाके न रहनेपर केवल मन्त्रोच्चारण और ध्यानसे ही कर्मकी पूर्ति नहीं होती। श्रद्धाहीन कर्म व्यर्थ हो जाता है। श्रद्धालु मनुष्य साक्षात् धर्मका स्वरूप है। अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पापसे मुक्त करनेवाली है। श्रद्धा सबकी रक्षा करती है। उसके प्रभावसे विशुद्ध जन्म प्राप्त होता है। ध्यान और जपसे भी श्रद्धाका महत्त्व अधिक है। यथा—'वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत। श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हति॥ ९॥ शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्य चाशुचेः। देवा वित्तमवमन्यन्त सदृशं यज्ञकर्मणि॥ १०। ११ ''अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी। जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिव त्वचम्॥ १५।(महाभा० शा० प० अ० २६४)। पद्मपुराण भूमिखण्ड अ० ९४ में कहा है कि श्रद्धा देवी धर्मकी पुत्री है, विश्वको पवित्र एवं अभ्युदयशील बनानेवाली है, सावित्रीके समान पावन, जगत्को उत्पन्न तथा संसारसागरसे उद्धार करनेवाली है। आत्मवादी विद्वान् श्रद्धासे ही धर्मका चिन्तन करते हैं। अकिंचन मुनि श्रद्धालु होनेके कारण ही स्वर्गको प्राप्त हुए हैं। यथा—'श्रद्धा धर्मसुता देवी पावनी विश्वभाविनी। सावित्री प्रसवित्री च संसारार्णवतारिणी। श्रद्धया ध्यायते धर्मो विद्वद्भिश्चात्मवादिभिः॥ निष्किञ्चनास्तु मुनयः श्रद्धावन्तो दिवं गताः॥ ४४–४६।'

३—(क) श्रीमद्गोस्वामीजीको श्रद्धा और विश्वासकी आवश्यकता है, क्योंकि इनके बिना श्रीरामचरितमानस एवं श्रीरामभक्तिका मिलना दुर्लभ है। यथा—'जे श्रद्धा संबल रहित नहि संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहुँ मानस अगम अति ''। १। ३८।', 'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम। ७। ९०।' अतएव श्रद्धा-विश्वासरूपी कहकर, श्रद्धाविश्वासरूपसे भवानीशङ्करजीकी सहेतुक वन्दना की। (ख) प० रामकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि इनकी वन्दना मनःसिद्धिके हेतु है, क्योंकि ये श्रद्धा-विश्वासरूप हैं और कोई सिद्धि बिना विश्वासके नहीं होती। यथा—'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।' (७। ९०)। (ग) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि वन्दनाका अभिप्राय यह है कि श्रीरामजी मेरे हृदयमें बसते तो हैं परंतु उनका नाम, रूप, लीला, धाम और धारणा ये तत्त्व यथार्थ दर्शित नहीं

होते, श्रद्धाविश्वासरूपसे आपके मेरे हृदयमें बसनेसे मैं साङ्गोपाङ्ग इन तत्त्वोंको जान जाऊँगा। [ये सब भाव प्रथम अर्थके अनुसार कहे गये। आगेके भाव अर्थ २ के अनुसार कहे जाते हैं।] (घ) (श्रीशिवजी मानसके आचार्य हैं और श्रीपार्वतीजीकी कृपासे जगत्‌में उसका प्रचार हुआ। यथा—'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा ॥ १ । ३०', 'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ॥ १ । ३५ ।', 'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी ॥' (१ । ११२) । (ङ) ये गोस्वामीजीके इष्टदेवके परम प्यारे हैं। यथा, 'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें। १ । १३८ ।', 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' (भा० १२ । १३ । १६)'

'श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' इति।

१ (क) शब्दसारमें 'श्रद्धा' का अर्थ यह है—'एक प्रकारकी मनोवृत्ति जिसमें किसी बड़े वा पूज्य व्यक्तिके प्रति एवं वेदशास्त्रों और आप्त पुरुषोंके वचनोंपर भक्तिपूर्वक विश्वासके साथ उच्च और पूज्य भाव उत्पन्न होता है।' विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि किसी बातकी गूढ़ता और विचित्रतासे आकर्षित हो वेद, शास्त्र या गुरुसे उनके जाननेकी उत्कट इच्छाको 'श्रद्धा' कहते हैं। और श्रीगौड़जी कहते हैं कि किसी सद्‌गुण वा अच्छाईपर मन खिंचकर उसे स्वयं अपने तक अथवा अपनेको उस तक पहुँचाना चाहे वा वैसा ही होनेकी कामना करे तो इस अभिलाषाको 'श्रद्धा' कहते हैं। (ख) इसी तरह, 'विश्वास'=वह धारणा जो मनमें किसी व्यक्तिके प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता आदि अथवा किसी सिद्धान्त आदिकी सत्यता या उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है=किसीके गुणों आदिका निश्चय होनेपर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाला मनका भाव। (श० सा०) । = किसी बातपर अथवा किसी व्यक्ति आदिपर पूरा भरोसा हो जाना, उसपर मनका बैठ जाना। (गौड़जी, वि० टी०)

२ (क) यहाँ पार्वतीजी श्रद्धारूपा हैं, क्योंकि ईश्वरकोटिमें होनेके कारण एक छोटी-सी भूलपर महाभयानक पतिवियोगका कष्ट और अश्रुत अभूतपूर्व घोर तपस्या करके श्रीपार्वतीजीने एक लाख वर्षोंके लगभग बिताकर स्वयं मूर्तिमती श्रद्धा बनकर मूर्तिमान् विश्वास भगवान् शङ्करको पाया। श्रद्धासे ही 'उर उपजा अति दारुन दाहा', श्रद्धासे ही वियोग-कष्ट झेलती रहीं, श्रद्धासे ही देहत्याग किया, श्रद्धासे ही तपस्या की और सप्तर्षियोंकी एवं भगवान् शङ्करकी परीक्षामें खरी उतरीं। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'। (अर्थात् पुरुष श्रद्धामय है, जिस विषयमें इसकी श्रद्धा होगी वह उसी विषयका रूप बन जाता है। (गीता १७ । ३) । इसीका जगत्‌के लिये अप्रतिम उदाहरण उपस्थित किया। श्रद्धासे ही सकल-लोक-हितकारी कथा पूछी। 'मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई ॥ १ । १०९ ।' उसी समय श्रद्धाका उद्रेक हुआ था। 'तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं ॥ १ । १०९ ।' इस श्रद्धासे ही जिज्ञासा उत्पन्न हुई। भगवान् शङ्कर कहते हैं, 'तुम रघुबीरचरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी ॥ १ । ११२ ।' उनके भ्रमभजन वचन सुन उन्हें 'भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती ॥ १ । ११९ ।' सारे तन्त्रग्रन्थ, सम्पूर्ण रामकथा, इतिहास, पुराण इन्हीं भगवती श्रद्धाकी जिज्ञासाओंपर भगवान् विश्वासके उत्तर हैं, वही महेश्वर हैं। श्रद्धा उमा हैं। कोई विद्या नहीं जो उमामहेश्वर-संवादमें न आयी हो।

पं० रामकुमारजी—श्रीपार्वतीजीको श्रद्धा कहा। यथा, 'या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥' (मार्कण्डेयपुराण ८२ । २४) 'निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति' अर्थात् वेद और गुरुवाक्यमें भक्ति श्रद्धा है, वैसे ही श्रीशिववाक्यमें श्रीपार्वतीजीकी भक्ति श्रद्धा है।

(ख) श्रीशिवजीको विश्वास कहा। वे मूर्तिमान् विश्वास हैं, क्योंकि उनको श्रीरामतत्त्वपरत्वमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। क्षीरसागरमथन समय यद्यपि समस्त देवता उपस्थित थे और सब श्रीराम-नामका महत्त्व जानते थे तथापि कालकूटके झारको ही कोई न सह सका, उसको पी जानेका साहस भला कौन करता? परंतु शिवजीका ऐसा

अविचल विश्वास था कि आपने नामके प्रतापसे उस विषको पी ही तो लिया। यथा, 'जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जेहि पान किय।' (कि० मं०)। विष आपका कुछ न कर सका, किंतु अमृतरूप होकर आपका 'नीलकण्ठ' रूपसे भूषण हो गया। यथा, 'नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमीको। १। १९।', 'खायो कालकूट भयो अजर अमर तनु' (क० ७। १५८), 'पानि कियो बिष भूषन भो' (क० ७। १५७)। विश्वासका ऐसा रूप है कि भगवान् शङ्कर समस्त शङ्काओं-सन्देहोंका निवारण करते और समस्त जिज्ञासाओंका उत्तर देते हैं। स्वय किसी बातमें उन्हें सन्देह नहीं है। वह तो मूर्तिमान् विश्वास ही ठहरे। पुन, विश्वासको शिव कहनेका भाव कि जैसे बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती, वैसे ही बिना शिवजीकी कृपाके भक्ति नहीं होती। यथा, 'बिनु बिस्वास भगति नहिं···। ७। ९०।', 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥ १। १३८।'

३ 'श्रद्धा विश्वासरूपी' कहनेका तात्पर्य यह निकला कि—(क) ये ईश्वरको प्राप्त करानेवाले हैं—यथा, 'करहिं जोग जोगी जेहि लागी।'' नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल। सबइ लाभ जग जीव कहँ भए ईसु अनुकूल॥ १। ३४१।', 'जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत रामु धरे देही॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥ १। ३१०।' (ख) श्रद्धा और विश्वास नाममात्र दो हैं, वैसे ही श्रीभवानी शङ्करजी नाममात्र दो हैं। भवसागरमें पड़े हुए जीवके उद्धारहेतु एक श्रद्धारूप और दूसरे विश्वासरूप हो उपदेशमें प्रविष्ट हुए। (ग) श्रद्धा और विश्वास उमा और महेश्वरके स्वरूप हैं। यह कहकर जनाया कि जैसे भवानीशङ्करकी प्राप्ति दुर्लभ है, यथा, 'दुराराध्य पै अहहिं महेसू' वैसे ही श्रद्धा-विश्वास भी दुर्लभ है। पर वे महादेवपार्वतीजीकी कृपासे, उनकी वन्दनासे प्राप्त हो जाते हैं। (घ) 'बिना इनके नहीं देख सकते' कहकर यह भी जनाया कि देखनेके उपाय यह है कि गुरुवाक्य, वेदवाक्यमें श्रद्धा हो कि ये ठीक कहते हैं और तदनुकूल अपने कर्तव्यपर विश्वास हो कि इससे अवश्य मेरा मनोरथ सिद्ध होगा।

४ गौड़जी—(क) चेतनामात्रमें व्यापनेवाली श्रद्धा और समस्त जड़में व्यापनेवाली बुद्धिकी शक्ति संपूर्ण विश्वमें विकासका कारण है। जड़चेतनमें धृति, धारणा तथा दृढ़ता विश्वासके ही व्यापनेसे देख पड़ती है। इस प्रकार समस्त विश्वमें श्रद्धा देवी और विश्वास महेश्वर व्यापकर उसे धारण किये हुए हैं। श्रद्धाविश्वासरूपी उमामहेश्वरके बिना अपने अन्तस्तममें उपस्थित ईश्वरको सिद्ध भी नहीं लख पाते। श्रद्धाविश्वास और उमा-महेश्वरमें अभेद है। (ख) भगवान् शङ्कर विश्वासरूप हैं और भगवती पार्वतीजी श्रद्धारूपिणी हैं। भगवान् शङ्करका दिव्य शरीर विश्वास पदार्थका बना हुआ है और भगवतीका दिव्य शरीर श्रद्धा पदार्थका बना हुआ है। श्रद्धा, दया, क्षमा, धी, श्री, ह्री सभी भगवतीके विविधरूप हैं और देवीके नामोंमें आये हैं। यत्किंचित् श्रद्धा, दया, क्षमा आदि जो जीवके शरीरमें वा हृदयमें पायी जाती है, वह प्रकृतिका अंश ही है। परंतु प्रकृतिके जो विविध रूप हैं, उनमें श्रद्धा भी एक विशेषरूप है। यह रूप श्रद्धामय है। अर्थात् इस रूपके अणु-अणु श्रद्धाके ही बने हुए हैं। वस्तुत जीवका मानसिक शरीर मनोमयकोश श्रद्धाका ही बना हुआ होता है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव स.।' (गीता १७। ३), 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेत. प्रेत्य भवति।' अर्थात् यह पुरुष क्रियामय है, वह जो कुछ इस लोकमें करता है तदनुसार ही मरनेपर वह होता है। (छा० ३। १४। १)। यह पुरुष श्रद्धामय है, जो जैसी श्रद्धा करता है वह वैसा ही होता है। विश्वासदेवताकी श्रद्धा ही शक्ति है। भगवान् शङ्कर विश्वास हैं और उमा श्रद्धा हैं। इन्हींसे मनोमय सृष्टिका विकास होता है। भगवान् तो कूटस्थ हैं, अचल हैं, ध्रुव हैं जो त्रिलोकमें व्यापकर उसका भरण करते हैं और अन्त करणमें भी निरन्तर मौजूद हैं। जीवको उनतक अन्तर्मुख करनेवाली शक्ति श्रद्धा है और वह स्वय विश्वास हैं, कूटस्थ हैं, अचल हैं, ध्रुव हैं। श्रद्धारूपी किरणें विश्वाससे ही बिखरती हैं। उन्हींकी डोरीको थामकर जीव विश्वास-सूर्यतक पहुँचता है। स्वान्तःस्थ ईश्वरको सिद्ध लोग भी (अर्थात् जिन्होंने अणिमादि सिद्धियोंको वशीभूत कर लिया है, भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया है वे भी) बिना श्रद्धाविश्वासद्वारा अन्तर्मुख हुए कूटस्थ परमात्माको नहीं देख सकते।

नोट—४ 'पश्यन्ति' इति। इस श्लोकमें 'पश्यन्ति' पद दिया है। अन्तर्यामीरूप तो दिखायी नहीं देता, उसका तो अनुभव करना ही कहा जाता है। यथा—'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।' (इन्द्रकृत श्रीरामस्तुति ६। ११२) 'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहिं संता॥' (३। १३। अगस्त्यकृत रामस्तुति)। तब 'पश्यन्ति' कैसे कहा? इस शङ्काका समाधान यह किया जाता है कि—(क) श्रीमद्गोस्वामीजी 'पश्यन्ति' शब्द देकर दर्शाते हैं कि हृदयमें स्थित ईश्वर साकार श्रीरामजी ही है, कोई दूसरा नहीं। यथा—'परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं बाहेर फिरत बिकल भयो धायो।' (विनय० २४४) 'दीनबंधु उर अंतरजामी २। ७२।' 'अंतरजामी रामु सिय। २। २५६।' (ख) 'पश्यन्ति' से दिखाया कि निर्गुण ब्रह्म सिद्धों आदिको दिखायी नहीं पड़ता, पर यदि वे श्रद्धा और विश्वाससे ईश्वरका भजन करें, (वे तर्क और ज्ञानसे काम लेकर ब्रह्मका भजन करते हैं, श्रद्धासे नहीं। और वह तो तर्कातीत है, ज्ञानातीत है। यथा—'ब्यापक ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी॥ मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥ १। ३४१') तो वही निर्गुण ब्रह्म उनके लिये सगुणरूप होकर दृष्टिका विषय हो जाय। यथा—'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ १। ११६।', 'नयन बिषय मो कहुँ भएउ सो।' (श्रीजनकवचन १। ३४१)। भाव यह है कि ज्ञानके अहंकारियोंको उपदेश है कि यदि स्वान्तःस्थ ईश्वरको देखना चाहते हो तो तर्क-वितर्कको छोड़ श्रद्धा-विश्वाससे काम लेकर भजन करो। इसलिये 'पश्यन्ति' शब्द भावगर्भित यहाँ दिया गया। (लाला भगवानदीनजी)। (ग) 'पश्यन्ति' का प्रयोग 'ध्यानमें मनसे देखना, अनुभव करना, समझना' विचारना के अर्थमें भी होता है। आत्मा आँखसे देखनेकी वस्तु नहीं है। उसका अनुभव ही होता है। पर उसके लिये भी 'पश्यन्ति' का प्रयोग गीतामें मिलता है। यथा—'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (गीता २। २९)। आत्माके विषयमें ही यह वाक्य है और आत्माका स्वरूप नहीं होता। पुनश्च 'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' (गीता। १५। १०) 'यः पश्यति तथात्मान-मकर्तारं स पश्यति'॥ (गीता १३। २९) 'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥' भा० १२। १३। १)। हिन्दीभाषामें भी 'देखना' का अर्थ 'समझना, विचारना, अनुभव करना' होता है। यथा—'देखेउँ करि बिचारि मन माहीं। ५। ३२।', 'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी।' (५। २२) अतएव 'पश्यन्ति' के प्रयोगमें वस्तुतः कोई शङ्का ही नहीं उठ सकती। (घ) वेदान्तभूषणजीका मत है कि शास्त्रोंमें मूर्त और अमूर्तभेदसे, दो प्रकारसे अन्तर्यामीकी स्थिति सबके अन्तःकरणमें दिखायी गयी है। जिस तरह काष्ठमें अग्नि, पुष्पमें गन्ध व्याप्त रहता है उसी तरह व्यापक अन्तर्यामीको अमूर्त कहते हैं और भक्तोंकी भावनानुकूल विग्रह विशेषसे हृदयमें रहनेवाले ईश्वरको 'मूर्त' कहते हैं। अन्त-र्यामीके इसी मूर्त-अमूर्तरूपको गोस्वामीजीने 'सम' 'विषम' कहा है। यथा—'तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥' (२। २१९)। परंतु वह विग्रहविशेषसे हृदयप्रदेशमें स्थित ईश्वर भी बिना सुदृढ़ श्रद्धा और विश्वासके दिखायी नहीं देता। अमूर्त अनुभवकी वस्तु है और मूर्त दिखायी देनेवाला है, इसीसे यहाँ 'पश्यन्ति' पद रक्खा गया और अद्वैतमतमें तो साकारको ही ईश्वर' कहते हैं, अतः उनके मतसे भी 'पश्यन्ति' ठीक है।

५—श्रीशिवपार्वतीजी तो समस्त कलाओं और गुणोंके धाम हैं, यथा—'प्रभु समरथ सर्बग्य सिव सकल कला गुन धाम। जोग ग्यान बैराग्य निधि'॥ १। १०७।', 'सुता तुम्हारि सकल गुन खानी १। ६७।' (नारदवाक्य हिमाचलप्रति।) तब यहाँ केवल श्रद्धाविश्वासरूप कहकर क्यों वन्दना की गयी? इसका मुख्य कारण लोक-व्यवहारमें नित्य देखनेमें आया करता है। जब किसीसे कोई वस्तु माँगनेकी इच्छा होती है, तब उसकी वन्दनामें वही विशेषण दिये जाते हैं जिससे जाना जाय कि वह वस्तु उसके अधिकारमें है। श्रीमद्-गोस्वामीजीको श्रद्धा और विश्वास इन्हीं दोनोंकी आवश्यकता है। श्रीरामचरितमानस एवं भक्तिकी प्राप्ति बिना इनके दुर्लभ है। (नोट २ देखिये।)

६—'भवानीशङ्करौ वन्दे' इस तरह वन्दना तो श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीकी करते हैं और महत्त्व दिखाया श्रद्धा और विश्वासका। यह क्यों? यह प्रश्न उठाकर बाबा जानकीदासजी उसका उत्तर यह देते हैं कि, ऐसा करके कविने यह सूचित किया कि जब विशेषणमें ये गुण हैं तब विशेष्यका न जाने कितना महत्त्व होगा। (मा० प्र०)। वस्तुत 'रूपिणौ' यह सूचित कर रहा है कि इस वन्दनामें श्रद्धाविश्वास ही प्रधान है। भवानी-शङ्करको उन्हींकी मूर्ति मानकर उन्हींकी वन्दना की गयी है। अत महत्त्व भी उन्हींका दिखाया है। पुन', ऐसा करके कविने श्रद्धा-विश्वास और उमामहेश्वरमें अभेद सूचित किया है। विशेष गौड़जीकी टिप्पणी देखिये।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बोधमयम्=ज्ञानस्वरूप। नित्यम=नाशरहित। यमाश्रित =यम् आश्रित =जिनके आश्रित (होकर)। हि=निश्चय ही। वक्रोऽपि-वक्र -अपि=टेढ़ा भी। वन्द्यते=वन्दना किया जाता है।

अन्वय—(अहं) शङ्कररूपिणं बोधमयं नित्यं गुरुं वन्दे यमाश्रित हि वक्र अपि चन्द्र सर्वत्र वन्द्यते।

अर्थ—मैं शङ्कररूपी ज्ञानस्वरूप, नित्य श्रीगुरुदेवजीकी वन्दना करता हूँ (कि) जिनके आश्रित (शरण) होनेसे निश्चय ही टेढ़ा भी चन्द्रमा सर्वत्र वन्दन किया जाता है ॥ ३ ॥

नोट—१ यह मङ्गलाचरण 'गुरुं शङ्कररूपिणम्' कहकर किया गया है। 'शङ्कररूपिणम्' कहनेसे प्रधानता शङ्करजीकी पायी जाती है। इसीसे उत्तरार्ध भी 'शङ्कर' का ही विशेषण है। 'शङ्कररूपिणम्' कहनेसे ये आशय निकलते हैं—(क) इस श्लोकमें जब श्रीगुरुदेवजीकी वन्दना करने लगते हैं तो उनकी समताके लिये भगवान् शङ्करका ही ध्यान आता है, अत 'गुरु शङ्कररूपिणम्' कहा। (ख) शङ्करजीको गोस्वामीजीने अपना गुरु कई स्थलोंमें कहा है। यथा—"गुरु पितु मातु महेस भवानी। १। १५।', 'हित उपदेस को महेस मानो गुरु कै। बाहुक ४३।' 'बंधु गुरु जनक जननी विधाता', 'मेरे माय बाप गुरु संकरभवानिए' (वि० ७। १६८) इत्यादि। श्रीरामचरितमानसके सम्बन्धसे श्रीशङ्करजी गोस्वामीजीके दादा-गुरु हैं। भगवान् शङ्करने श्रीनरहर्यानन्दजीको रामचरितमानस सुनाया और उन्हें आज्ञा दी कि वे उसे तुलसीदासको पढ़ा दें जब उनकी बुद्धि उसका ग्रहण करने योग्य हो। यथा—'प्रिय शिष्य अनन्तानन्द हते। नरहरियानन्द सुनाम छते ॥ बसें रामसुशैल कुटी करि कै। तल्लीन उमा अति प्रिय हरि कै ॥ तिन्ह कहँ दर्शन आप दिए। उपदेसहु दै कृतकृत्य किए ॥ प्रिय मानसरामचरित्र कहे। पठए तहँ जहँ द्विजपुत्र रहे ॥ लै बालक गवनहु अवध विधिवत मन्त्र सुनाय। मम भाषित रघुपतिकथा ताहि प्रबोधहु जाय ॥' (बाबा वेणीमाधोदासरचित मूल गुसाईं-चरित्र)। इस तरह यह गोस्वामीजीकी विद्यागुरुपरम्परा या मानसगुरुपरम्परा है। यह परम्परा शङ्करजीसे चली है। पुन, यदि नरहर्यानन्दजीका पढ़ना वैसा ही समझें जैसे भुशुण्डीजीको लोमशजीका मानस देना, तो हम यह कह सकते हैं कि शङ्करजीने मानस गोस्वामीजीको दिया, जैसे लोमशद्वारा देनेपर भी ग्रन्थकार उनके विषयमें लिखते हैं कि, 'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा।' (१। ३०)। इस प्रकार शङ्करजी उनके मानसगुरु कहे जा सकते हैं।* इन कारणोंसे भी 'गुरुं शङ्कररूपिणम्' कहकर वन्दना की है।

* सम्भव है कि इसी कारण 'तुलसीदासजी 'गोसाईं' कहलाये, नहीं तो श्रीरामानन्दीय वैष्णव 'गोसाईं' नहीं कहलाते। इसका प्रमाणस्वरूप वल्लभसम्प्रदाय है, जो रुद्रसम्प्रदायके माने जाते हैं। वे भी मानते हैं कि शङ्कर बिना भक्ति नहीं। उनके सम्प्रदायके परमाचार्य रुद्रभगवान् हैं। वे सब गोसाईं कहलाते हैं, वैसे ही तुलसीदासजी भी कहलाये। वल्लभाचार्यस्वामी और गोस्वामीजी समकालीन थे। गोस्वामीजी उस सम्प्रदायके गोपाल-मन्दिर काशीमें बहुत दिन रहे भी और वहीं उन्होंने विनयकी रचना की। यह भी 'गोसाईं' कहलानेका कारण हो सकता है।

(ग) प० रामकुमारजी लिखते हैं कि गुरुको शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं ब्रह्म कहा गया है। यथा, 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥' (गुरुगीता ४३)। 'शंकर' का अर्थ है 'कल्याण करनेवाले'। इसीसे यहाँ शंकररूपी कहकर वन्दना की। (क्योंकि रामचरितमानस लिखने बैठे हैं।) इनकी वन्दनासे गोस्वामीजी अपना और इस ग्रन्थके वक्ता और श्रोता सबका कल्याण चाहते हैं। आगे मङ्गलाचरण सोरठा ५ मे हरिरूपी कहकर वन्दना करते हैं। [और 'राखै गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जगत्राता॥ १। १६६।' 'विधाता' से बड़ा कहा है। इस प्रकार त्रिदेवरूप तथा उनसे बड़ा भी कहा।]

२—श्रीगुरुमहाराजका मङ्गलाचरण करनेका हेतु यह है कि—(क) श्रीमद्गोस्वामीजीको यह श्रीरामचरितमानस अपने गुरुमहाराजसे प्राप्त हुआ है। यथा, 'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।' तदपि कही गुर बारहिं बारा।' (१। ३०–३१)। (ख)—गुरुमहाराज ज्ञान, विश्राम और भक्तिके देनेवाले हैं।

नोट—३ 'बोधमय नित्य गुरुं' इति। (क) गुरु वह है जो शिष्यके मोहरूपी अन्धकारको दूर करे। यथा, 'गु शब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति रु शब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥' (गुरुगीता श्लोक १२) 'महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।' (म० सोरठा ५), 'बिनु गुर होइ कि ज्ञान' (७। ८९)। गुरु ज्ञानके देनेवाले हैं। (ख) शास्त्रोंमें गुरुको सच्चिदानन्दरूप ही कहा गया है और गुरुका ध्यान जो वर्णन किया गया है उसमें उनको 'ज्ञानमूर्ति' और 'नित्य' कहा गया है। यथा, 'ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्। एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥' (गुरुगीता ६७)। उपनिषदोंमें भी गुरुके प्रति जिसकी वैसी ही श्रद्धा है जैसी भगवान्‌के प्रति। उसीको तत्त्वका अधिकारी कहा गया है। यथा, 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥' श्वे० उ० ६। २३।' जो अपनेको निरन्तर नित्य, ज्ञानस्वरूप, चेतन, अमर, सच्चिदानन्दस्वरूप मानता है, वास्तवमें वही 'गुरु' कहलाने योग्य है। इसीसे ज्ञानप्राप्तिके लिये 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' गुरुके पास जानेका उपदेश किया गया है। यथा, 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥' (मुण्डक० १। २। १२)। इसीके अनुसार गोस्वामीजीने ये विशेषण यहाँ दिये हैं।

प्रश्न—गुरुजी तो मनुष्य हैं, उनका पाञ्चभौतिक शरीर है जो नश्वर है, तब उनको 'नित्य' कैसे कहा?

उत्तर—(१) श्रीगुरुमहाराज और ईश्वरमें अभेद मानकर। यथा, 'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम बपु एक' (भक्तमाल श्रीनाभास्वामीकृत)। भगवान् नित्य हैं, अतः गुरुमहाराज भी नित्य हैं। पुनः, (२) गुरुको 'शङ्कररूपिणम्' कहा है और शङ्करजी 'नित्य' अर्थात् अविनाशी हैं। यथा, 'नाम प्रसाद संभु अबिनासी' (१। २६)। अतएव इस सम्बन्धसे गुरुको भी 'नित्य' कहा। पुनः, (३) 'शङ्कररूपिणम्' तथा उत्तरार्धके 'यमाश्रितो' ' से यहाँ प्रधानतया शङ्कररूपमें गुरुकी वन्दना होनेसे 'नित्य' कहा है। पुनः, (४) श्रीरामप्रसादशरणजी कहते हैं कि यद्यपि 'बोधमय' और 'नित्य' श्रीगुरुमहाराजके विशेषण हैं, परन्तु आप अपने काव्यमें तीन गुरु माने हैं। प्रथम श्रीरामचरितमानसको। यथा, 'सद्‌गुर ज्ञान बिराग जोग के' (१। ३२)। दूसरे, श्रीशिवजीको। यथा, 'गुर पितु मातु महेस भवानी।' तीसरे अपने मन्त्रराज-उपदेष्टा श्रीनरहर्यानन्दजीको जिनके वास्ते कहते हैं कि 'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।' (१। ३०) 'बोधमय, नित्य, गुरु' मेंसे 'बोधमय' श्रीरामचरित्रके लिये है, क्योंकि ये ज्ञानादिके सद्‌गुरु हैं। 'नित्य' शिवजीके वास्ते है, क्योंकि शिवजी अविनाशी हैं। यथा, 'नाम प्रसाद संभु अबिनासी' (१। २६)। और तीसरा शब्द 'गुरु' अपने निज गुरुमहाराजके लिये है। तीनों गुरु शङ्कररूप अर्थात् कल्याणकर हैं। इन्हीं तीनोंके आश्रित होनेसे इनका काव्य वक्रचन्द्रवत् सर्वत्र वन्दनीय होगा, इन तीनों गुरुओंके स्वरूप एक होनेसे इन तीनोंके कर्तव्य भी एक ही हैं। (उदाहरणके लिये म० सोरठा ५ 'बंदउँ गुरुपदकंज ' नोट १ देखिये)। (५) श्रीबैजनाथजीका मत है कि श्रीरामनाममें विश्वास होनेसे 'बोधमय' कहा, क्योंकि गुरुसे श्रीराममन्त्र मिलनेपर बोध हो जाता है, अन्यसे सुननेसे नहीं।

नोट—४ 'यमाश्रितो हि''' इति । (क) 'हि' का प्रयोग प्रायः निश्चय अथवा कारणका बोध करानेके लिये होता है। यथा, 'हि हेतावधारणे।' (अमरकोश ३ । ३ । २५६)। 'निश्चय' अर्थमें इसका अन्वय 'सर्वत्र वन्द्यते' के साथ होगा। 'कारण' अर्थमें इसका सम्बन्ध 'वन्दे' से होगा। क्यों वन्दना करते हैं? इस कारणसे कि 'यमाश्रितो'''। (ख) 'वक्रोऽपि चन्द्रः' इति। यहाँ 'वक्र चन्द्रमा' से शुक्लपक्षकी द्वितीयाका चन्द्रमा अभिप्रेत है। टेढ़ेसे सब डरते हैं। देखिये कि राहु भी टेढ़े चन्द्रमाको नहीं ग्रसता। यथा, 'बक्र चन्द्रमहि ग्रसै न राहू।' (१ । २८१)। पर शिवजीके आश्रित हो जानेसे, उनकी शरण लेनेसे, शङ्करजीके उसे ललाटपर धारण कर लेनेसे टेढ़े चन्द्रमाको भी सब प्रणाम करते हैं। द्वितीयाका चन्द्रमा ही वन्दनीय होता है, अन्य तिथियोंका नहीं, यथा, 'दुइज न चंदा देखिअ उदौ कहा भरि पाख।' (दोहावली ३४४)। (ग) 'चन्द्रमा' नाम यहाँ 'वक्र' के साथ बहुत ही उपयुक्त है। यह शब्द लिखनेमें भी टेढ़ा और उच्चारणमें भी टेढ़ा है। इसी तरह 'बक्र चन्द्रमहि ग्रसै न राहू' और 'अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही' में भी 'चन्द्रमा' शब्दका ही प्रयोग हुआ है। भगवान् शङ्करने इसमें 'रकार' देखकर इसे मस्तकपर रखा। यह शङ्करजीके 'रकार-मकार' में विश्वासका बोधक है।

टिप्पणी—इन विशेषणोंका भाव यह है कि श्रीगुरुदेवजी ज्ञानदाता हैं, अविनाशीकर्ता हैं, वन्दनीयकर्ता हैं। जैसे शिवजीके आश्रित होनेसे द्विजचन्द्र वन्दनीय हो गया, वैसे ही गुरुजीके आश्रित वक्रजन (शिष्य) वन्दनीय हो जाता है। [मेरी लघु एवं टेढ़ी बुद्धि श्रीगुरुकृपासे श्रीरामयश कथन करनेमें ऐसी समर्थ हो जावे कि सभी लोग इस ग्रन्थका आदर करें और मैं भी वन्दनीय हो जाऊँ, यह कवि चाहते हैं।] जैसे भुशुण्डिजी वक्र थे, पर गुरुकृपासे वन्दनीय हो गये। यथा, 'रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ बंदउँ पदसरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥ १ । १८।', वैसे ही गोस्वामीजी और इनकी कविता भी शङ्कररूपी गुरुके आश्रयसे जगत्-वन्दनीय हो गयी। यथा, 'भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती।' (१ । १५), 'तुलसी गुसाईं भयउ।' (बाहुक) 'रामनामको प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप, तुलसी सो जग मानियत महामुनी॥' (क० ७ । ७२), 'मेरे माय बाप गुरु संकर भवानियै।' (इन्हींके द्वारा मन्त्र मिला)।

नोट—५ (क) ऊपर मङ्गलाचरणके श्लोक १ एवं २ में और पुनः आगे श्लोक ४ में दो-दोकी वन्दना (अर्थात् वाणी विनायक, श्रद्धा-विश्वासरूपी भवानीशङ्कर और कवीश्वर-कपीश्वरकी वन्दना) साथ-साथ की गयी है, परंतु यहाँ अकेले गुरुमहाराजकी वन्दना है। ऐसा करके गुरुदेवजीका अद्वितीय होना सूचित किया है। अर्थात् जनाया है कि ये परब्रह्मके तुल्य हैं, इनकी समताका दूसरा कोई नहीं है। पुनः (ख) वाणी-विनायक, श्रद्धाविश्वासरूपी भवानी-शङ्कर इन चारकी वन्दना प्रथम की और अन्तमें कवीश्वर, कपीश्वर और श्रीसीतारामजी इन चारकी की और इनके बीचमें श्रीगुरुदेवजीकी वन्दना की गयी। इसमें भाव यह है कि गुरुजी रत्नस्वरूप हैं अतः इनको इनके बीचमें रत्नकी नाईं रक्खा है। पुनः, (ग) ऐसा करके इनकी प्रधानता दर्शित की है। यन्त्रराजके पूजनमें प्रधान बीचमें पधराये जाते ही हैं। गुरुका दर्जा (पद, महत्त्व) ईश्वरसे भी बड़ा है। यथा, 'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥ २ । १२९।' 'राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥ १ । १६६।'

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—गुणग्राम = गुणोंका समूह, यथा, सुयश। पुण्यारण्य = पुण्य अरण्य, पवित्र वन, पुण्योंका वन। विहारिणौ = विहार करनेवाले दोनों, विचरनेवाले। विशुद्ध = विशेष शुद्ध, अत्यन्त निर्मल।

अन्वय—(अहं) श्रीसीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ वन्दे।

अर्थ—मैं श्रीसीतारामजीके गुणग्रामरूपी पुण्य वनमें विहार करनेवाले विशुद्ध विज्ञानी श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जी दोनोंको प्रणाम करता हूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'सीताराम विहारिणौ' इति। (क) अरण्यका रूपक इसलिये दिया कि ये दोनों वनवासी हैं। [वाल्मीकिजीका एक आश्रम दक्षिणमें चित्रकूटके निकट है जहाँ श्रीरामजी गये थे। दूसरा आश्रम बिठूरमें था जहाँ श्रीसीताजी भेजी गयी थीं और जहाँ उनके दो जुड़वाँ पुत्र श्रीलवजी और श्रीकुशजी हुए थे। और, श्रीहनुमान्‌जी गन्धमादनपर्वतपर एक केलेके वनमें रहा करते हैं। यहीं भीमसेनको श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन प्रथम-प्रथम हुआ था। (महाभारत वनपर्व अ० १४५)] अथवा, वनसे चरितकी अपारता भी जनायी। श्रीसीतारामजीके चरित अपार हैं ही। यथा,—'रामचरित सत कोटि अपारा'। (७। ५२)। (ख) 'पुण्यारण्यविहारिणौ' कहकर जनाया कि ये दोनों सामान्य अरण्यके वासी नहीं हैं वरन् पुण्य वनके निवासी हैं। (ग) श्रीसीतारामजीके गुणग्रामको पुण्यारण्य कहा, क्योंकि सब वन पवित्र नहीं होते और श्रीसीतारामजीके गुणग्राम पवित्र हैं। यथा—'पावन गंगतरंगमाल से'१। ३२। रघुपतिकृपा जथा मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥ ७। १३०।' 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥' (७। १२६)। वा गुणग्राम पवित्र हैं अतः इस अरण्यको पवित्र कहा। नौ अरण्य मुक्तिदाता कहे गये हैं। [यथा—दण्डक सैन्धवारण्य जम्बूमार्गश्च पुष्करम्॥ ५५॥ उत्पलावर्तमारण्य नैमिष कुरुजाङ्गलम्। हिमवानर्बुदश्चैव नवारण्याश्च मुक्तिदाः॥ ५६॥' (रुद्रयामलान्तर्गत अयोध्यामाहात्म्ये अ० २०)। स्कन्दपुराणके नागरखण्ड अ० १९९ में ये श्लोक हैं—'एकन्तु पुष्करारण्य नैमिषारण्यमेव च। धर्मारण्यं तृतीयन्तु तेषां संकीर्त्यते द्विजा॥ १२॥ वृन्दावन वनञ्चैक द्वितीयं खाण्डव वनम्। ख्यात द्वैतवन चान्यत् तृतीय धरणीतले॥ १७।' इस प्रसङ्गमें 'ससारमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। उनका स्नान मनुष्य कैसे कर सकता है?' इस शङ्काके उत्तरमें बताया है कि भूतलमें तीन क्षेत्र, तीन अरण्य, तीन पुरी, तीन वन, तीन ग्राम, तीन तीर्थ, तीन पर्वत और तीन महानदियाँ अत्यन्त पवित्र हैं। इन आठ त्रिकोंमेंसे किसी त्रिकके एकमें स्नान करनेसे उस त्रिकका फल मिलता है और किसी एक त्रिकमें स्नान करनेसे आठों त्रिकोंका फल मिलता है और आठों त्रिकोंमें स्नान करनेसे समस्त तीर्थोंके स्नानका फल मिलता है। उन्हींमेंसे दो त्रिक ऊपर उद्धृत किये गये।] [अथवा, ये मर्यादापुरुषोत्तमके चरित्र हैं अतः पुण्यारण्यका रूपक किया। औरोंकी लीलामें अपवित्रताकी शङ्का भी होती है जिसके लिये 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा', 'समरथ कहुँ नहिं दोष' कहकर समाधान किया जाता है। (१। ६९—१। ७०। १ देखिये)] इससे यह भी जनाया कि जिसके बड़े पुण्य उदय हों वही इस वनमें विहार कर सकता है। यथा—'अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई॥' (७। १२९)। पुनः, (घ) श्रीवाल्मीकिजी एवं श्रीहनुमान्‌जी दोनोंने केवल श्रीरामयश गाया है। इन दोनोंको उत्तरार्धमें 'विशुद्ध विज्ञानी' कहा है जिससे यह समझा जा सकता है कि इन्होंने निर्गुण ब्रह्मका यश गाया होगा। यथा—'ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥ लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा। मन गोतीत अमल अविनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥ ७। १११।' इत्यादि ये गुण निर्गुण रामके हैं, जो सबमें रमण करते हैं। यही गुण इन्होंने भी गाये होंगे। इस बातका निराकरण करनेके लिये और सन्देह-निवारणार्थ सीतारामगुणग्राम' (अर्थात् सगुण ब्रह्मके चरित) में विहार करना कहा।

नोट—१ 'विहारिणौ' इति। (क) 'विहार' शब्द आनन्दपूर्ण विचरणका द्योतक है। इसमें भय, शङ्का आदिका लेश भी नहीं होता। ये दोनों इस पुण्यारण्यकी प्रत्येक वस्तुओंको देख और उनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके परमानन्दरसमें मग्न होनेवाले हैं। (भगवतीप्रसादसिंह मुख्तार)। (ख) हनुमान्‌जी सदा सुनते हैं इसके प्रमाण तो बहुत हैं। वाल्मीकिजी सदा उसीमें विहार करते हैं, इसका प्रमाण एक यह है कि कलियुगमें वे ही (हनुमान्‌जीके शापवश) तुलसीदास हुए और यह चरित गाया है। यह बात भक्तमाल तथा गुसाईंचरितसे स्पष्ट है और गोस्वामीजीने स्वयं भी कहा है। यथा—'जनम जनम जानकीनाथ के गुनगन तुलसीदास गाए।' (गीतावली ६। २३) 'जनम जनम' से सदा श्रीरामगुणग्राममें निरन्तर विहार करना स्पष्ट है। अथवा, यावज्जीव विहार करनेसे 'विहारी' कहे गये। श्रीसीतारामजीके गुणग्राममें ही अपना सारा जीवन लगा दिया। श्रीहनुमान्‌जी तो चिरजीवी हैं इससे वे अबतक विहार कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे और वाल्मीकिजी जबतक रहे तबतक करते रहे। अथवा, 'विहारी' से जनाया कि जो यत्र-यत्र क्वचित्

गुणगान करनेवाले हैं वे 'विहारी' नहीं हैं। क्योंकि 'विहारी' शब्दका अर्थ ही होता है, 'विहरति तच्छील' अर्थात् विहार करना ही जिसका स्वभाव है, वही 'विहारी' कहलाता है और जिसका जो स्वभाव होता है वह उसके साथ आजीवन रहता ही है। श्रीहनुमान्‌जीने तो श्रीरामराज्याभिषेकसमय श्रीरामजीसे यह वरदान ही माँग लिया था कि जबतक आपका चरित सुनता रहूँ तभीतक जीवन रहे। यथा—'यावद्राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन्। तावज्जीवेयमित्येवं तथाऽस्त्विति च राघवलोचन ॥ १६ ।' इसीसे अप्सराएँ और गन्धर्व श्रीरामजीके चरित्र उन्हें नित्य गाकर सुनाया करते हैं, यह बात उन्होंने भीमसेनसे कही है। यथा—'तदिहाऽप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदाऽनघ। तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम् ॥ महाभा० वन० १४८ । २० ।' और यह तो प्रसिद्ध ही है कि वे सर्वत्र रामचरित सुनने जाते हैं।

२—'विशुद्धविज्ञानौ' इति। (क) विज्ञानी=परमार्थतत्त्वका यथार्थ ज्ञाता। 'विशुद्धविज्ञानौ' कहनेका भाव कि परमार्थतत्त्व यथार्थ जाननेका विषय नहीं है। यथा—'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥ १ । ३४१ ।', 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (ब्रह्मोपनिषद्) परन्तु इस परमतत्त्वको ये दोनों प्रभुके कृपासे यथार्थ जानते हैं। (ख) कामादि विज्ञानीके मनमें भी क्षोभ प्राप्त कर देते हैं। यथा—'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ ॥ ३ । ३८ ।', अतः 'विशुद्ध' विशेषण देकर जनाया कि इनका विज्ञान सदा एक-रस रहता है, ये दोनों मूर्तिमान् विशुद्ध विज्ञान हैं, केवल विज्ञानधाम या विज्ञानी नहीं हैं।

३ ☞ 'ज्ञान' और 'विज्ञान' ये दोनों शब्द इस ग्रन्थमें आये हैं। कहीं-कहीं तो ज्ञानसे ही विज्ञानका अर्थ ग्रहण किया जाता है और कहीं-कहीं ज्ञानसे विज्ञानको अधिक कहा है। यथा—'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥' (३ । १५), 'सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ।'' 'दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी ॥' (७ । ५४), 'ज्ञानिहु ते अति प्रिय बिज्ञानी ।' (७ । ८६), 'ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना ।' (७ । ८३), इत्यादि। ज्ञान और विज्ञानकी व्याख्या श्रीशंकराचार्यजीने गीताभाष्यमें इस प्रकार की है, 'ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानम्। विज्ञानन्तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथैव स्वानुभवकरणम् ॥' अर्थात् शास्त्रोक्त (वेदान्त आदि शास्त्रोंका) ज्ञान 'ज्ञान' कहलाता है। शास्त्रसे ज्ञान-विषयका अनुभव करना 'विज्ञान' है। गोस्वामीजी भी 'ब्रह्मलीन, 'ब्रह्मपरायण' को विज्ञानी कहते हैं। 'विशुद्ध विज्ञानी' शब्द सम्भवतः मानसमें इसी स्थानपर है। श्रीपार्वतीजीने जो कहा है कि—'धर्मसील बिरक्त अरु ज्ञानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी ॥ सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया ॥ ७ । ५४ ।' हो सकता है कि अनन्य रामभक्त होनेसे 'विशुद्ध विज्ञानी' कहा हो।

☞ श्रीहनुमान्‌जीके लिये इस ग्रन्थमें यहाँ 'विशुद्ध विज्ञानी', आगे दोहा १७ में 'ज्ञानघन', कि० दोहा ३० (४) में 'बिज्ञान निधान' और सु० मं० में 'ज्ञानिनामग्रगण्य' विशेषण आये हैं। इनपर आगे विचार किया जायगा।

४—'कवीश्वरकपीश्वरौ' इति। श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जीकी एक साथ वन्दना करनेके कारण ये कहे जाते हैं— (क) निरन्तर कीर्तन और श्रवणके सद्धर्मसे दोनों साथ स्मरे गये। वाल्मीकिजीने "शतकोटिरामायण" लिखी। यथा— 'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि। १ । २५ ।', 'रामचरित सतकोटि अपारा। ७ । ५२ ।' (१ । २५ देखिये)। और, श्रीहनुमानजीने भी श्रीरामचरितसम्बन्धी एक महानाटक लिखा। यथा—'महानाटक निपुन कोटि कबिकुलतिलक गान गुन गर्ब गन्धर्व जेता ।' (विनय २९) 'काव्य कौतुक कला कोटि सिंधो ।' (विनय २८)। और ये रामयशके ऐसे अनन्य श्रोता हैं कि जहाँ-जहाँ श्रीरामचरित होता है वहाँ वहाँ आप बड़े आदरसे सुनने जाते हैं। यथा—'जयति रामयश श्रवण सजात रोमाञ्च लोचन सजल सिथिल बानी ।' (विनय २९), 'यत्र यत्र रघुनाथकीर्त्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्। बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥' वाल्मीकीयरामायणके मङ्गलाचरणमें सुगृहीत उद्धरणोंसे।) अर्थात् जहाँ जहाँ श्रीरघुनाथजीका कीर्तन होता है, वहाँ वहाँ हाथ जोड़े हुए, नतमस्तक, नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरे हुए खड़े रहनेवाले, राक्षसोंके नाशक श्रीहनुमान्‌जीको प्रणाम कीजिये। (ख) वाल्मीकिजी कीर्तन कर्त्ता हैं और श्रीहनुमान्‌जी श्रोता हैं। (ग) मुनि और वानर दोनों वनवासी हैं। अतः दोनोंको साथ रक्खा। (घ) (किसी-किसीका मत है कि) कविने हनुमन्नाटक और वाल्मीकीयसे भी सहायता ली है, इससे उनके कर्ताओंकी वन्दना की है। अथवा, (ङ) इससे कि कलियुगमें मानसकी रचना दोनोंने मिलकर की है। (गौड़जी)

किसी-किसीने 'कपीश्वर' से सुग्रीवका अर्थ लिया है, परन्तु यहाँ जो विशेषण दिये गये हैं वे हनुमान्‌जीमें ही पूर्णरूपसे घटित होते हैं, श्रीसुग्रीवमें नहीं। यथा—'प्रनवउँ पवनकुमार खलबनपावक ज्ञानघन'। १। १७।' 'पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥' (४। ३०) सुग्रीवजीने रामचरितपर कोई ऐसा काव्य नहीं रचा जो प्रसिद्ध हो। फिर हनुमान्‌जीको 'कपीश्वर' कुछ यहीं नहीं कहा गया, अन्यत्र भी कहा गया है। यथा—'ज्ञानिनाम-ग्रगण्यम्। सकलगुणनिधानं वानराणामधीशम्॥ सु० म० ३।', 'नव तुलसिका वृंद तहँ देखि हरष कपिराइ। ५। ५।' 'कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लंकाभयंकरम्।' यह भी स्मरण रहे कि श्रीहनुमान्‌जीहीने तो सुग्रीवजीको 'कपिपति' बनवाया। यथा—'जयति गतराज्यदातार हंतार संसार संकट दनुजदर्पहारी।' (विनय २८), 'नतग्रीव सुग्रीव दुःखैकबंधो' (विनय २७) 'जयति सुग्रीव ऋक्षादि रक्षन निपुन बालि बलशालि बध मुख्य हेतू।' (विनय २५), श्रीसीता-शोधमय तथा श्रीसीताजी-का पता लगाकर वानरोंके प्राणों और सुग्रीवके प्रतिज्ञाकी रक्षा की। यथा—'राखे सकल कपिन्हके प्राना' (५। २९)। इन कारणोंसे इनको 'कपीश्वर' कहा। 'ईश्वर' का अर्थ 'समर्थ, श्रेष्ठ' भी होता है जब वह समस्त पदमें आता है। समस्त वानरोंमें ये सर्वश्रेष्ठ हैं ही।

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ ५॥

शब्दार्थ—उद्भव=उत्पत्ति, पैदा करना। स्थिति=पालन-पोषण। संहार=नाश। श्रेयस्करी=श्रेय करी=कल्याण करनेवालीको। नतोऽहं=नत॰ अहं=अहं नत -अस्मि=मैं नमस्कार करता हूँ।

अन्वय—अहं उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं श्रीरामवल्लभां श्रीसीतां नतः (अस्मि)।

अर्थ—मैं उत्पत्तिपालनसंहारकी करनेवाली, क्लेशोंकी हरनेवाली, सम्पूर्ण कल्याणोंकी करनेवाली, श्रीरामचन्द्रजीकी प्रिया श्रीसीताजीको प्रणाम करता हूँ॥ ५॥

नोट—१ श्रीरामतापनीयोपनिषद्‌में इससे मिलती-जुलती श्रुति यह है, 'श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी। उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणीं सर्वदेहिनाम्॥ (राम० उ० ता० ३। ३) और भगवान्‌के विषयमें एक ऐसा ही श्लोक रघुवंश सर्ग १० में यह है "नमो विश्वसृजे पूर्वं तदनु बिभ्रते। अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने॥ १६॥'

२—रामतापनीके 'सर्वदेहिनाम्', 'जगदानन्ददायिनी' और 'श्रीरामसान्निध्यवशात्' की जगह यहाँ 'सर्वश्रेयस्करीं', 'क्लेशहारिणीम्' और 'रामवल्लभाम्' है। 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीम्' दोनोंमें है।

३—विशेषणोंके भाव—(क) उद्भव, स्थिति और संहार त्रिदेवके धर्म हैं। इनका कारण मूलप्रकृति है। इन विशेषणोंसे आपमें, 'मूलप्रकृति' का भ्रम हो सकता था, अतः 'क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं' कहा। पुनः, 'संहारकारिणी' के साथ क्लेशहारिणी इससे कहा कि मरण या संहारसे देहजनित सारे क्लेश और यातनाएँ मिट जाती हैं और जीवका बड़ा उपकार होता है, कल्याण एवं श्रेय होता है तथा सृष्टिका क्रम चलता रहता है।

(ख)—श्रीगौड़जी कहते हैं कि जन्ममें जितना क्लेश है उससे कम स्थितिमें, स्थितिमें कम संहारमें। पूर्वका क्लेश हरनेको ही, पर घटना क्रमशः होती है। क्रमसे उत्तरोत्तर क्लेशहरण होता है और जीवके उत्तरोत्तर विकासका यह मार्ग जब प्रशस्त रहता है तब वह अन्तमें पूर्ण विकसित हो इस चक्रसे निवृत्त हो 'परम श्रेय' रामपदको पहुँचाता है। यह 'परम श्रेय' कभी-न-कभी समस्त सृष्टिको इस जगल्लीला-अभिनेत्री रामवल्लभाद्वारा मिलता है, इसीसे 'सर्व-श्रेयस्करी' कहा।

(ग)—किसीका मत है कि उद्भवादिसे जनाते हैं कि संतोंके हृदयमें वैराग्यादि उत्पन्न करके उनको स्थित करती हैं और कामादि विकारोंका संहार करती हैं। इन विशेषणोंसे कवि ज्ञान एवं भक्तिकी प्राप्ति और स्थिति तथा अविद्याका नाश चाहते हैं।

(घ)—'क्लेशहारिणी' इति। योगशास्त्रमें क्लेशके पाँच भेद हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और

अभिनिवेश। इन पाँचोंके मिटे बिना भावोंका कल्याण नहीं होता। अतः 'क्लेशहारिणीं' कहकर तब 'सर्वश्रेयस्करीं' कहा। कल्याणके बहुत प्रकार कहे गये हैं।

४—'सीतां' इति। 'सीताम्' पद 'सि बन्धने' में 'क्त' प्रत्यय लगनेसे बनता है। 'सीता' नाम केवल हल जोतनेके समय प्रकट होनेसे ही नहीं है। यह तो 'राम' नामकी तरह अनादि है। निर्गुण ब्रह्ममें उसकी नित्या उत्तमा शक्ति बँधी, इसीसे वह सगुण ब्रह्म हुआ, नहीं तो ब्रह्ममें विकार कहाँ? सृष्टि कहाँ? जगत् कहाँ? 'श्रीसीताजी ही ब्रह्मके बँधनेका कारण हुईं', वह सगुण हुआ, प्रेम पाशमें बँधा, राम हुआ, इसीलिये आगे कहते हैं 'रामवल्लभाम्।' फिर वह राम कौन हैं, यह अगले श्लोकमें कहते हैं। (गौड़जी)

श्रीरामजी तथा उनका नाम अनादि हैं। रघुकुलमें अवतीर्ण होनेके पूर्व भी 'रामनाम' था। प्रह्लादजी सत्ययुगमें उसे जपते थे। पर जब वे ही रघुकुलमें अवतरे तब अनुभवी महर्षि वसिष्ठने उनका वही नामकरण वहाँ किया। वैसे ही 'सीता' नाम अनादि है। मनुशतरूपाजीको जब ब्रह्मने दर्शन दिया तब भी 'श्रीसीताराम' रूपसे। अनादि 'सीता' नामकी व्युत्पत्ति गौड़जीने ऊपर बतायी। वही 'सीता' जब श्रीजनकपुरमें अवतरीं तब उनका वही नाम वहाँके अनुभवी मुनिने रक्खा। परन्तु वहाँ उस नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई कि महाराज सीरध्वज जनकजी पुत्र-प्राप्तिके लिये यज्ञभूमिको जब हलसे जोत रहे थे उस समय हलके अग्रभागसे कन्या श्रीसीताजी प्रकट हुईं। यथा—'तस्य पुत्रार्थं यजनभुवं कृषतः सीरे सीता दुहिता समुत्पन्ना।' २८॥ (विष्णु पु० अंश ४ अ० ५) द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना' (श्रीसीतोपनिषद्) 'अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः॥ १३॥ क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।' (वाल्मी० १। ६६), अर्थात् श्रीजनक महाराज श्रीविश्वामित्रजीसे कह रहे हैं कि हलसे खेतको जोतते समय 'सीता' नामकी कन्या मुझको मिली। श्रीमहारानीजीने अनसूयाजीसे वाल्मी० अ० ११८। २८ में यही बात कही है। इन उद्धरणोंसे यह नहीं सिद्ध होता है कि इसी कारणसे 'सीता' नाम पड़ा। परंतु आनन्दरामायण सारकाण्ड अ० ३ में इसी कारणसे 'सीता' नाम होना कहा है। यथा, 'सीराग्रान्निर्गता यस्मात् सीतेत्यत्र प्रगीयते॥ ७४॥' अर्थात् हलके अग्रभागसे उनका प्रादुर्भाव हुआ, अतएव लोग उनको 'सीता' कहते हैं। (इसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि हलसे जो लकीर खेतमें पड़ती है उसका नाम 'सीता' है और ये वहीं लकीरसे हलाग्रद्वारा प्रकट हुई हैं इससे 'सीता' नाम पड़ा।)

'सीता' नामसे वन्दना करनेके और भाव ये कहे जाते हैं कि—(क) यही प्रधान नाम है। जब मनुशतरूपाजीके सामने प्रथम-प्रथम आपका आविर्भाव हुआ तब यही नाम प्रकट किया गया था। यथा, 'राम बाम दिसि सीता सोई।' (ख) यह ऐश्वर्यसूचक नाम है। जहाँ जहाँ ऐश्वर्य दर्शित करना होता है, वहाँ वहाँ इस नामका प्रयोग होता है।

५. छः विशेषण देनेके भाव—(१) उद्भवस्थितिसंहार मूलप्रकृतिके कार्य हैं। इससे इनमें मूलप्रकृतिका भ्रम निवारण करनेके लिये 'क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं' कहा। मूलप्रकृतिमें ये गुण नहीं हैं। वह तो दुष्टा दुःखरूपा और जीवको भवमें डालनेवाली है। यथा, 'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥ ३। १५॥' पर ये गुण 'क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं' विद्यामाया एवं महालक्ष्मीके भी हैं और श्रीसीताजी तो ब्रह्मस्वरूपिणी एवं समस्त मायाओंकी परम कारण हैं। यथा, 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद ॥ १८॥', 'जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥ १। १४८॥', 'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता॥ जगदंबा ' ' (७। २४), 'जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत ' (७। २४), 'माया सब सिय माया माहूँ।' (२। २५२), इसीलिये 'रामवल्लभा' कहा। यहाँ 'रामवल्लभा'='अतिशय प्रिय करुणानिधान की।' आगे 'रामाख्यमीशं हरिं' की वन्दना है। उन्हीं 'राम' की वल्लभा कहकर जनाया कि ये वही 'सीता' हैं कि जिनके अंशमात्रसे असंख्यों उमा, रमा, ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं और यह कि इनकी कृपा बिना श्रीरामस्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस तरह पूर्व विशेषणोंमें जो 'अतिव्याप्ति' थी वह 'रामवल्लभा' कहनेपर दूर हो गयी। (पं० रामकुमारजी)। (२) छः विशेषण देकर षडैश्वर्यसम्पन्ना, श्रीरामरूपा अर्थात् अभेद जनाया। विशेष दोहा १८ में देखिये। (३) 'सीता' नाम भी अनेक अर्थोंका बोधक है। यथा, लक्ष्मी सीता उमा

सीता सीता मन्दाकिनी मता। इन्दौरघुस्तथा सीता सीतोक्ता जानकी बुधैः॥' (अनेकार्थ)। अत 'रामवल्लभा' कहा। (प० रामकुमार)।

६ (क) इस श्लोकमें श्रीमद्‌गोस्वामीजीने श्रीजानकी-षडक्षर मन्त्रका भाव ही दर्शित किया है। वहाँ 'नमः' शब्द होनेसे 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्‌योगाच्च' (पाणिनि २।३।१६), इस सूत्रसे 'सीता' शब्दसे चतुर्थी हुई है। पर यहाँ उस 'नम' के बदले 'नत' है, अत 'सीता' शब्दसे चतुर्थी न होकर द्वितीया हुई है। परतु दोनोंका अर्थ एक ही है। (ख) यहाँ श्रीसीताजीके जो छः विशेषण दिये हैं, इसमें कविका परम कौशल झलक रहा है। पाणिनीयव्याकरणके अनुसार 'सीता' शब्दकी सिद्धि तथा अर्थ जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे होते हैं, वे सब भाव इन विशेषणोंसे प्रकट किये गये हैं। कहनेका आशय यह है कि ये विशेषण 'सीता' शब्दकी व्याख्या ही समझिये। इस तरह कि—(१) 'सूयते (चराचर जगत्) इति सीता' अर्थात् जो जगत्‌को उत्पन्न करती है उसका नाम 'सीता' है। 'यह 'सीता' शब्द 'षूङ्‌प्राणिप्रसवे' इस धातुसे बनता है। इससे 'उद्भवकारिणी' अर्थ प्रकट हुआ। (२) 'सवति इति सीता।' अर्थात् जो ऐश्वर्ययुक्त होती है उसका नाम 'सीता' है। यह सीता शब्द 'षु प्रसवैश्वर्ययो' इस धातुसे बनता है। इससे 'स्थितिकारिणी' अर्थात् पालन, रक्षण करनेवाली यह अर्थ प्रकट हुआ, क्योंकि जो ऐश्वर्यसम्पन्न होता है वही पालन-पोषण कर सकता है। (३-४) 'स्यति इति सीता'। अर्थात् जो संहार करती है वा क्लेशोंका हरण करती है उसका नाम 'सीता' है। यह सीता शब्द 'षोऽन्तकर्मणि' इस धातुसे बनता है। इसमें 'संहारकारिणी' एवं 'क्लेशहारिणी' का भाव आ गया। (५) 'सुवति इति सीता।' अर्थात् भक्तोंको सद्‌बुद्धिकी प्रेरणाद्वारा कल्याण करनेवाली होनेसे 'सीता' नाम है। यह 'सीता' शब्द 'षू प्रेरणे' इस धातुसे बनता है। इससे 'सर्वश्रेयस्करी' का अर्थ प्रकट हुआ। (६) 'सिनोति इति सीता। अर्थात् अपने दिव्य गुणोंसे परात्परब्रह्म श्रीरामजीको बाँधनेवाली (वशमें करनेवाली) होनेसे 'सीता' नाम है। यह 'सीता' शब्द 'षिञ् बन्धने' इस धातुसे बनता है। इससे 'रामवल्लभा' विशेषण सिद्ध हुआ। (ग) कुछ पण्डित 'सीता' शब्दको तालव्यादि भी मानते हैं। यथा, 'शीता नमः सरिति लाङ्गलपद्धतौ च शीता दशाननरिपोः सह धर्मिणी च' इति तालव्यादौ धरणि॥' (अमरकोष भानुदीक्षितकृत टीका।) इसके अनुसार 'श्यायते इति सीता' अर्थात् जो भक्तरक्षणार्थ सर्वत्र गमन करती है तथा सर्वगत अर्थात् व्यापक है अथवा चिन्मयी ज्ञानस्वरूपिणी है। यह 'सीता' शब्द 'श्यैङ् गतौ' धातुसे बनता है। इसमें ये सूत्र लगते हैं। 'गत्यर्थाकर्मक' (३।४।७२) इति क्त, 'द्रवमूर्ति' (६।१।२४), इति सम्प्रसारण 'हल' (६।४।२) इति दीर्घ (गति=ज्ञान। ये गत्यर्था ते ज्ञानार्था।)। इस तालव्यादि 'शीता' शब्दको भी 'पृषोदरादित्व' से दन्त्यादि 'सीता' शब्द बना सकते हैं। उपर्युक्त सब 'सीता' शब्दोंकी सिद्धि 'पृषोदरादित्व' से ही होती है। (घ) प० श्रीकान्तशरणजीका कथन है कि श्रीसीतामन्त्रका प्रथमाक्षर बिन्दुयुक्त श्रींबीज है, वह श्री शब्द 'श्रृ विस्तारे', 'श्रण दाने गतौ च', 'श्रृ हिंसायाम्' 'श्रु श्रवणे' और 'श्रिञ् सेवायाम्' धातुओंसे निष्पन्न होकर क्रमसे सृष्टि-विस्ताररूप उत्पत्ति, स्थिति, संहारकारिणी, श्रीरामजीको जीवोंकी प्रार्थना सुनाकर रक्षा करनेसे क्लेशहारिणी और चराचरमात्रसे सेवित होकर उनका कल्याण करनेसे सर्वश्रेयस्करी ये पाँच अर्थ देता है। 'श्री' का अर्थ शोभा भी है। अपनी शोभासे श्रीरामजीको वश करनेसे उनकी वल्लभा हैं। अत 'रामवल्लभा' श्रीका छठा अर्थ है। श्री*बीजके अतिरिक्त शेष चतुर्थीसहित सीता शब्द इस श्लोकके 'सीता' से और मन्त्रका अन्तिम 'नम' शब्द यहाँके 'नत' से अर्थमें अभेद है। अत यह श्लोक श्रीसीतामन्त्रका अर्थ ही है।

श्री प० रामटहलदासजी 'युगल अष्टयामसेवा' नामक पुस्तिकामें श्रीजानकीमन्त्रका अर्थ करते समय 'श्री' बीजके विषयमें लिखते हैं कि 'यह श्री शब्द चार धातुओंसे बनता है। जैसे 'श्रिञ् सेवायाम्। श्रृ विस्तारे। श्रृ हिंसायाम्। और श्रु-श्रवणे। ...।'

श्रीजानकीमन्त्रका अर्थ प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत खोज करनेपर भी नहीं मिल रहा है। श्रीअग्रस्वामीजीने

* यहाँ 'श्रीं' बीज ऐसा सम्भवत होना चाहिये पर पुस्तकमें 'श्री' ही है। बीज बिन्दुयुक्त होता है, सम्भवत हस्त-दोषसे बिना बिन्दुके लिख गया।

'रहस्यत्रय' में केवल षडक्षर ब्रह्मतारक श्रीराममन्त्रका अर्थ किया है। श्रीजानकीमन्त्रका अर्थ उन्होंने भी नहीं किया है। श्रीअग्रस्वामीजीने जिस प्रकार श्रीराममन्त्रके बीजका अर्थ किया है, उसी ढङ्गसे हम श्रीजानकीमन्त्रके बीजका अर्थ कर सकते हैं। तदनुसार शकार श्रीजानकीजीका और रकार श्रीरामजीका वाचक है। [ध्यान रहे कि ये दोनों 'श' और 'र' लुप्त चतुर्थ्यन्त हैं। अर्थात् 'श'=श्रीसीताजीके लिये और 'र'=श्रीरामजीके लिये।] 'ईकार' का अर्थ है 'अनन्य'। अर्थात् यह जीव श्रीसीतारामके लिये ही है, दूसरे किसीके लिये नहीं। [यह शब्द लुप्त प्रथमान्त है।] 'मकार' का अर्थ है जीव। महात्माओंसे इस बीजके अर्थके विषयमें एक श्लोक यह सुना जाता है। 'शकारार्थस्सीता सुछविकरुणैश्वर्यविभवा, इकारार्थो भक्ति स्वपतिवशयुक्त्युज्ज्वलरमा। सुरेफार्थो रामो रमणरसधाम प्रियवशो मकारार्थो जीवो रसिकयुगसेवासुखरत ॥ १ ॥' यह श्लोक अगस्त्यसंहिताका बताया जाता है, परंतु उपलब्ध अगस्त्यसंहितामें नहीं मिलता। यह अर्थ भी उपर्युक्त अर्थसे मिलता-जुलता है। श्रीरामटहलदासजी भी प्रथम व्याकरणधातुओंके द्वारा सिद्धि बताकर फिर 'अभियुक्तसारावली' का प्रमाण देकर यही बताते हैं। यथा—'प्रोक्ता सीता शकारेण रकाराद्राम उच्यते। ईकारादीश्वरो विद्यान्मकाराज्जीव ईरित ॥ श्रीशब्दस्य हि भावार्थ सूरिभिरनुमीयते। अ० ५। ५२।' चित्रकूटके परमहंस श्रीजानकीवल्लभदासजीने भी अपने 'श्रीसीतामन्त्रार्थ' (सं० १९९९ वि०) में भी लगभग ऐसा ही लिखा है।

'श्रीं' बीजके उपर्युक्त अर्थके अनुसार हमारे विचार यह हैं—(१) इस बीजका एक-एक वर्ण लुप्तविभक्तिक और स्वतन्त्र अर्थका वाचक है। उपर्युक्त धातुओंसे बना हुआ जो 'श्री' शब्द है, उसके एक एक वर्णका स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं होता। (२) उपर्युक्त धातुओंसे बने हुए 'श्री' शब्दके किसी विभक्तिका रूप 'श्रीं' ऐसा नहीं होगा (३) पूरे मन्त्रका समूचा अर्थ उसके बीजमें हुआ करता है जैसा कि षडक्षरब्रह्मतारक मन्त्रके अर्थमें 'रहस्यत्रय' में दिखाया गया है। यदि 'श्रीं' बीजके जो भाव ('उद्भवस्थिति' आदि छः विशेषणोक्त) पं० श्रीकान्तशरणजीने लिखे हैं उनको ठीक माना जाय तो फिर वह मन्त्रका बीज कैसे माना जा सकेगा। क्योंकि 'श्रीसीतारामजीके लिये जीव अनन्य है' यह मुख्य अर्थ उसमें नहीं आया। ध्यान रहे कि जो 'श्री' शब्द श्रीजानकीजी अथवा श्रीलक्ष्मीजीका वाचक है वह यहाँ नहीं है। केवल वर्णानुपूर्वी सदृश होनेसे 'श्रीं' बीजमें व्युत्पन्न 'श्री' शब्द मानकर ऐसी कल्पना की गयी है।

७—श्रीरामजीके पहले श्रीसीताजीकी वन्दनाके भाव—(१) हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त यह है कि परमात्माका ज्ञान भगवतीके अनुग्रहसे ही हो सकता है, अन्य किसी तरहसे नहीं। केनोपनिषद्‌में जो यक्षका प्रसङ्ग आता है उसमें कथा-सन्दर्भ यह है कि इन्द्रादि देवता असुरोंको हराकर, यह न जानकर कि भगवान्‌के दिये हुए अनेक प्रकारके बलोंसे यह विजय प्राप्त हुई है, अहंकारी हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि हमने अपने ही बलसे असुरोंको हरा दिया है, तब उनके इस गर्वका भङ्ग करके उनको यथार्थ तत्त्व सिखानेके लिये भगवान् एक बड़े भयंकर यक्षरूपसे प्रकट होते हैं और उनको पता नहीं लगता है कि यह कौन है। पश्चात् भगवच्छक्तिरूपिणी भगवती आकर उनको वास्तविक सिद्धान्त सिखाती है। (२) लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे भी स्वाभाविक ही है कि बच्चे तो केवल माँको जानते हैं और उससे उनको पता लगता है कि हमारा पिता कौन है। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।' (तैत्ति० शिक्षोप० ११। २) 'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।' (स्मृतिवाक्य) इत्यादि मन्त्रोंमें माताको ही सबसे पहला स्थान दिया गया है। इसका भी कारण यही है कि माता ही आदि गुरु है और उसीकी दया और अनुग्रहके ऊपर बच्चोंका ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक कल्याण निर्भर रहता है। (३) वैष्णव आदि सब उपासना-ग्रन्थोंमें यह नियम मिलता है कि भगवती जगन्माताके ही द्वारा भगवान् जगत्पिताके पास पहुँचा जा सकता है। (श्रीभारती कृष्णतीर्थ स्वामीजी।) श्रीसीताजीका पुरुषकार-वैभव हमने विनय पद ४१ 'कबहुँक अंब अवसर पाइ' में विस्तारपूर्वक दिखाया है और आगे इस ग्रन्थमें भी दोहा १८ (७) में लिखा गया है। (४) सरकारी दरबारमें पहुँचनेके लिये ये वसीला हैं। यही क्रम विनयमें भी है और आगे चलकर इस ग्रन्थमें भी है। यथा—'जनकसुता जगजननि जानकी। ' पुनि मन बचन कर्म रघुनायक ॥''' (१। १८)। (५) यह सनातन परिपाटी है कि पहले शक्तिका नाम आता है तब शक्तिमान्‌का। जैसे गौरी-शङ्कर, उमा-शिव, पार्वती-परमेश्वर, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण। (६) नारदीयपुराणमें कहा है कि प्रथम श्रीसीताजीका ध्यान करके तब श्रीरामनामका

अभ्यास करें । यथा—'आदौ सीतापदं पुण्यं परमानन्ददायकम् । पश्चाच्छ्रीरामनामस्य अभ्यास च प्रशस्यते ॥' (म० रा० कु०) । (७) लीलाविभूतिकी आदिकारण आप ही हैं । (८) भूषणटीका वाल्मी० १ । ४ । ७ । 'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।' की व्याख्या करती हुई उसका भाव यह लिखती है कि सम्पूर्ण रामायण श्रीसीताजीका ही महान् चरित्र है और इस अर्थके प्रमाणमे श्रीगुणरत्नकोशका यह प्रमाण देती है, 'श्रीमद्रामायणमपि परं प्राणिति त्वच्चरित्रे ।' इस भावके अनुसार भी प्रथम स्तुति योग्य ही है । (९) श्लोक ६ वन्दनाका अन्तिम श्लोक है अत 'अशेष-कारणपरम्' की वन्दना भी अन्तमे ही उचित है । (१०) पितासे माताका गौरव दशगुण कहा गया है । यथा—'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते ।' (मनुस्मृति) । (११) बच्चे पहले माँको ही जानते हैं । दूसरे, माताका स्नेह दूसरेको नहीं होता । श्रीगोस्वामीजी श्रीसीतारामजीमें माता पिताका भाव रखते हैं । यथा—'कबहुँक अंब अवसर पाइ' (विनय० ४१) 'कबहुँ समय सुधि द्यायबी मेरी मातु जानकी ।' (विनय० ४२) 'बाप आपने करत मेरी घनी घटि गई' (विनय० २५२) इत्यादि । (१२) प्रथम सीताजीकी वन्दनाकर निर्मल मति पाकर तब पिता (श्रीरामजी) की वन्दना करेंगे । यथा—'ताके जुग पद कमल मनावौं । जासु कृपा निर्मल मति पावौं ॥ १८ । ८ ।'

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—वशवर्ति=वशमे रहनेवाला, आज्ञानुसार चलनेवाला; अधीन । वर्ति=स्थित रहने, बरतने वा चलने-वाला । विश्वमखिलम्=अखिल विश्वम्=सारा जगत् । देवासुराः=देव-असुरा=देवता और असुर (दैत्य, दानव, राक्षस) । यत्सत्त्वादमृषैव=यत् सत्त्वात् (जिसकी सत्तासे) + अमृषा (यथार्थ) + एव (ही) सत्त्व=सत्ता, अस्तित्व, होनेका भाव । भाति=भासता है, प्रतीत होता है, जान पड़ता है । रज्जौ=रज्जु (रस्सी) मे । यथाऽहेर्भ्रम=यथा-अहे-भ्रमः=जैसे साँपका भ्रम । भ्रम=सन्देह, विपरीत ज्ञान, अन्यथा प्रतीति, किसी पदार्थको कुछका कुछ समझना । यत्पादप्लव=यत्-पादप्लव=जिनके चरण नाव (हैं) । एक=एकमात्र, एव=केवल (यही) + हि=निश्चय ही । भवाम्भोधे-स्तितीर्षावता=भवअम्भोधे तितीर्षावताम् । भव=ससार (अर्थात् ससारमे बारम्बार जन्मना-मरना) । अम्भोधि=जल-का अधिष्ठान=समुद्र । तितीर्षावता=तरने वा पार जानेकी इच्छा करनेवालोंको । तमशेषकारणपर=तम् अशेष-कारणपरम्=सम्पूर्ण कारणोंसे परे उन=सब कारणोंका कारण, जिसका फिर कोई कारण नहीं है, जहाँ जाकर कारणोंका सिल-सिला समाप्त हो जाता है और जो पर (सबसे श्रेष्ठ परम तत्त्व ब्रह्म) है उन । रामाख्यमीश=राम-आख्यम् ईश=राम-नामवाले समर्थ । हरि=पापरूपी दुःखों, क्लेशोंके तथा भक्तोंके मनको हरनेवाले भगवान् । 'हरिर्हरति पापानि', 'दुःखानि पापानि हरतीति हरि' ।

अन्वय—'अखिल विश्व यन्मायावशवर्ति (अस्ति तथा) ब्रह्मादिदेवासुरा यन्मायावशवर्त्तिन (सन्ति) । अमृषा सकल यत्सत्त्वाद् एव भाति यथा रज्जौ अहेर्भ्रम । भवाम्भोधे तितीर्षावतां हि एक एव यत्पादप्लव (अस्ति) अशेषकारण-परम् ईश हरि रामाख्य तम् अह वन्दे ।

अर्थ—सारा विश्व जिनकी मायाके वशमे है और ब्रह्मादि देवता और असुर (भी) जिनकी मायाके वशवर्त्ती हैं, (यह) सत्य जगत् जिनकी सत्तासे ही भासमान है । जैसे कि रस्सीमे सर्पकी प्रतीति होती है, भवसागरके तरनेकी इच्छा करनेवालोंके लिये निश्चय ही एकमात्र जिनके चरण प्लव (रूप) है, जो सम्पूर्ण कारणोंसे परे (अथवा जो सबका कारण और पर (श्रेष्ठ) (है) समर्थ, दुःखके हरनेवाले, 'श्रीराम' यह जिनका नाम है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ६ ॥

नोट—१ प्रथम चरणके अन्वयमे हमने 'वशवर्त्ति' को दो बार लिया है । कारण यह है कि 'विश्वमखिल' नपुसकलिङ्ग एक-वचन है, उसके अनुसार 'वशवर्त्ति' ठीक है । परन्तु आगेके "ब्रह्मादिदेवासुरा" पुँल्लिङ्ग बहुवचन है, इसलिये इनके अनुसार अन्वय करने समय 'वशवर्त्तिन' ऐसा वचन और लिङ्गका विपर्यय करना पड़ा ।

टिप्पणी—१ 'यन्मायावशवर्त्ति'' देवासुरा ' इति । ब्रह्मा आदि सभी श्रीरामजीकी मायाके वशवर्त्ती हैं । यथा, 'जो माया सब जगहि नचावा । जासु चरित लखि काहु न पावा ॥ ७ । ७२ ।', 'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं । अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥ ७ । ७१ ।', 'जासु प्रबल माया बस सिव बिरंचि बड़ छोट । ६ । ५० ।', 'जीव चराचर बस कै राखे' (१ । २००) पुन. 'अखिल विश्व' से मर्त्यलोक, 'ब्रह्मादि देव' से स्वर्गलोक और 'असुरा' से पाताल-लोक, इस प्रकार तीनों लोकोंको मायावशवर्त्ती बताया। ['विश्वमखिलम्' से सम्भव है कि लोग चराचरके साधारण जीवोंका अर्थ लें। इसीसे इसे कहकर ईश्वरकोटिवाले ब्रह्मादिको तथा विशेष जीव जो देवता और असुर हैं उनको भी बता दिया । 'यन्माया' से श्रीरामजीकी माया कही । देवताओं और असुरोंकी मायासे ब्रह्मादिकी माया प्रबल है और ब्रह्मादिकी मायासे श्रीरामजीकी माया प्रबल है । यथा, 'बिधिहरिहरमाया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥ २ । २९५ ।', 'सुनु खग प्रबल राम कै माया।''हरिमाया कर अमित प्रभावा । बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ॥ ● सिव बिरंचि कहु मोहइ को है बपुरा आन ॥ ७ । ६२ ।' इसीने सतीजीको नचाया था ।] पुन', 'यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिल' से सदेह होता है कि माया चेतन वस्तु है जो सबको अपने अधीन करती है। अत' आगे 'यत् सत्त्वादमृषैव'' ' कहकर जनाते है कि माया जड़ है, वह स्वत शक्तिमान् नहीं है किंतु निर्बल है, वह श्रीरामजीकी प्रेरणासे उनकी सत्तासे उनका आश्रय पाकर ही परम बलवती होकर सब कार्य करती है और भासती है। यथा, 'लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया ॥ १ । २२५ ।', 'सुनु रावन ब्रह्माड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया ॥ (५ । २१) ।

'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं''' इति ।

'अमृषा सकलम्' इति । जगत्को अमृषा (सत्य) कहनेका कारण यह है कि पूर्व चरणमे इसको मायावशवर्त्ती कहा है और कुछ आचार्य लोग इसको मायिक अर्थात् मिथ्या कहते है। उसका निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकार यहाँ 'अमृषा' विशेषण देते है !

यद्यपि वह स्वय सत्य है तथापि उसके प्रकाशके लिये ब्रह्मसत्ताकी अपेक्षा है। अत 'यत्सत्त्वादेव भाति' कहा। इस विषयको समझनेके लिये कुछ सिद्धान्त बता देना आवश्यक है। वह यह है कि सृष्टिके पूर्व यह जगत् सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें स्थित था और ब्रह्म उसमें व्याप्त था। ब्रह्ममें 'एकोऽहं बहु स्याम्' आदि सृष्टिकी इच्छा हुई, तब सूक्ष्म जगत्में परिवर्तन होने लगा और अन्तमें वह सूक्ष्म जगत् वर्तमान स्थूलरूपमे परिवर्तित होकर हमारे अनुभवमें आया।

इस सिद्धान्तसे स्पष्ट है कि यदि ब्रह्मकी सत्ता इस जगत्मे न होती तो वह स्वय जड़ होनेके कारण न तो उसमें परिवर्तन हो सकता और न वह स्थूलरूपमें आकर हमारे अनुभवमें आ सकता था। अत जगत्के अनुभवका कारण ब्रह्मकी सत्ता ही है। इसीसे 'यत्सत्त्वादेव भाति' कहा। स्मरण रहे कि यहाँ 'अस्ति' शब्द न देकर 'भाति' शब्द दिया गया। अर्थात् वह सत्य तो है ही, पर उसका अनुभव (प्रकाश) ब्रह्मकी सत्तासे होता है। श्रुति भगवती भी कहती है, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति ।' (श्वे० अ० ६ मन्त्र १४) । अर्थात् उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित हो रहा है। मानसमे भी यही कहा है। यथा, 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। १। ११७।' एक वस्तु सत्य होनेपर भी दूसरेकी सत्तासे उसका अनुभव होता है, इस बातके दृष्टान्तके लिये 'रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' कहा। सब ज्ञान सत्य है। यथा, 'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम् । श्रुतिस्मृतिभ्य सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतित ॥' (श्रीभाष्य १ । १ । १ सत्ख्यातिसमर्थन) । अर्थात् सब ज्ञान यथार्थ ही है, क्योंकि यावद्वस्तुओंमे सर्वात्मत्वका ज्ञान श्रुति स्मृति (तथा सद्युक्तियों) से सिद्ध है। ऐसा वेदवेत्ताओंका सिद्धान्त है। वह कभी मिथ्या नहीं होता। इसलिये यहाँ भी जो सर्पका ज्ञान है वह भी सत्य ही है। अतएव जब यह सर्पका ज्ञान सत्य है तब इस ज्ञानका विषय सर्प सत्य ही है। यद्यपि सर्प और सर्पका यह ज्ञान सत्य है तथापि यहाँपर जो सर्पका अनुभव हो रहा है, वह रज्जुके होनेसे ही हो रहा है। यदि रज्जु यहाँपर न होता तो सर्पका अनुभव कदापि न होता। जब हमारा सर्पका ज्ञान सत्य ही है, तब रज्जुपर सर्पके अनुभवको 'भ्रम' क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि रज्जु भी सत्य है, सर्प भी सत्य

है, परंतु 'रज्जु' का जो सर्परूपसे भान होता है यह भ्रम है। इसीको शास्त्रमें 'विपरीत ज्ञान' कहा है। जिस प्रकार हम यह नहीं जानते कि रज्जुकी सत्तासे हमें सर्पका अनुभव हो रहा है, वैसे ही हम यह नहीं जानते कि ब्रह्मकी सत्तासे हमें जगत्का अनुभव हो रहा है। किंतु हम यह समझते हैं कि वह अपनी ही सत्तासे अनुभवमें आ रहा है। यही हमारा 'विपरीत ज्ञान' अर्थात् भ्रम है।

इस प्रसंगमें सर्पकी सत्यता किस प्रकार है, इसका विवरण आगे दोहा ११२ (१) में देखिये।

प० श्रीकान्तशरणजीने 'सिद्धान्ततिलक' के उपोद्‌घातमें लिखा है कि 'श्रीरघुवराचार्यजीने सम्पूर्ण मानसकी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तपरक टीका लिखनेकी मुझे आज्ञा दी।' (पृष्ठ २)। 'इस तिलकका मुख्य उद्देश्य श्रीरामचरितमानसमें निहित विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त दिखानेका है।' (पृष्ठ ४)। इससे सिद्ध होता है कि सिद्धान्ततिलकमें विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तपरक अर्थ और भाव ही कहे गये हैं।

इस श्लोकके दूसरे चरणका अन्वय और अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है—

अन्वय—'यत्सत्त्वात् सकलम् (विश्वम्) अमृषा इव भाति। यथा रज्जौ अहे भ्रम'।

अर्थ—'जिनकी सत्यतासे सम्पूर्ण जगत् सत्य-सा जान पड़ता है, जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम हो।'

इस अर्थसे यह सिद्ध होता है कि जगत्की अपनी सत्ता नहीं है किंतु परमात्माकी सत्तासे वह 'सत्य-सा' जान पड़ता है। अर्थात् यह सत्य नहीं है किंतु मिथ्या है। पर विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त जगत्को सत्य मानता है। तब उपर्युक्त अर्थ विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तके अनुसार कैसे माना जा सकता है? आगे इसीके 'विशेष' में 'सकल' की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है। "यहाँ जगत्की नानात्व (अनेकत्व) सत्ताको 'सकल' शब्दसे जनाया है। जो 'सुत वित-देह-गेह-नेह (स्नेह) इति जगत्' रूपमें प्रसिद्ध है। "श्रीरामजी सुत-कुटुम्बादि चर और पृथिवी आदि अचर जगत्में वासुदेवरूपसे व्यापक हैं। 'उनकी प्रेरणा एवं सत्तासे ही' सब नातोंका बर्ताव एवं गन्धरसादिकी अनुभूति होती है।"

इस ग्रन्थ (सि० ति०) से जान पड़ता है कि 'सकल' शब्दसे जड़ चेतन सब पदार्थ न लेकर केवल उनके धर्म और गुण ही ग्रहण किये गये हैं जो वस्तुतः 'सकल' शब्दका ठीक अर्थ नहीं होता। क्योंकि यहाँपर ब्रह्मको छोड़कर जड़-चेतन सब पदार्थ और उनके गुण धर्मादिका ग्रहण होना चाहिये। 'जिनकी प्रेरणा एवं सत्तासे' यह अर्थ जो 'यत्सत्त्वात्' का किया गया है, उसमें 'सत्त्व' शब्दका अर्थ 'प्रेरणा' किस आधारसे किया गया है, यह नहीं बताया गया है। 'नातोंके बर्ताव एवं गन्ध-रसादिकी अनुभूति होती है' यह व्याख्या चरणके किस शब्दकी है, यह समझ नहीं पड़ता। 'सत्य-सा जान पड़ता है' अर्थमें आये हुए इन शब्दोंकी तो यह व्याख्या हो नहीं सकती। यहाँका विषय देखनेसे उनके (प० श्रीकान्तशरणके) कथनका आशय यह जान पड़ता है कि जगत्की नानात्व सत्ताके अनुभवका कारण श्रीरामजीकी सत्ता है। परंतु वस्तुतः इसका कारण अविद्या है न कि परमात्माकी सत्ता। और आगे चलकर उन्होंने भी यही कहा है। 'अविद्याके दोषसे भगवान्‌के शरीररूप जगत्में सुत-वित-गेह-स्नेहरूप नानात्व सत्ताकी भ्रान्ति होती है।'

'रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' के भावमें उन्होंने कूपके भीतर जल भरनेकी रस्सीपर मेंढकको सर्पका भ्रम होना विस्तारसे लिखा है। परंतु रज्जुपर तो साधारण सभीको सर्पका भ्रम हो जाता है। इसके वास्ते इतनी विशेष कल्पनाकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा। भा० १ म०।' की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं।—'जैसे तेजस् (अग्नि) में जल और काँच आदि मिट्टीका विनिमय (एकमें दूसरेका भ्रम) हो, उसी तरह जहाँ (भगवान्‌के शरीररूपमें) मृषा त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) अमृषा (सत्य) है, अर्थात् उनके शरीररूपमें तो सत्य है, अन्यथा मृषा है। जैसे काँचमें जलकी, अग्निमें काँचकी और जलमें अग्निकी भ्रान्ति दृष्टिदोषसे हो, वैसे अविद्याके दोषसे भगवान्‌के शरीररूप चराचर जगत्में सुत-वित देह-गेह-स्नेहरूप नानात्वकी सत्ताकी भ्रान्ति होती है।'—इसमें वे 'अग्निमें जल और जलमें अग्निकी भ्रान्ति दृष्टिके दोषसे हो' ऐसा लिखते हैं परंतु अग्निमें जल और जलमें अग्निका भ्रम अप्रसिद्ध है। इसको प्रसिद्ध दृष्टान्तसे समझाना था।

नोट—२ अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति' इस दूसरे चरणका अन्वय और अर्थ निम्न प्रकारसे होगा।

अन्वय—'यत्सत्त्वात् एव सकलम् अमृषा भाति यथा रज्जौ अहेर्भ्रम भवति।

अर्थ—जिनकी सत्तासे ही यह सारा जगत् सत्य प्रतीत होता है जैसे कि रस्सीमें सर्पका भ्रम होता है।

☞ प्राय टीकाकारोंने यही अर्थ लिखा है। इसके अनुसार भाव ये हैं।—

'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं…' इति

(अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार भावार्थ।)

(क) 'जिनकी सत्तासे यह सारा विश्व सत्य जान पड़ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत्‌में जो सत्यत्व है वह परब्रह्मका ही सत्यत्व है, जगत्‌का नहीं। इसपर यह शङ्का होती है कि 'जब वह सत्य है नहीं, तब वह हमें सत्य क्यों भासता है?' इसका उत्तर गोस्वामीजी प्रथम चरणसे सूचित करते हैं। वह यह कि सारा विश्व मायाके वशवर्ती है। अर्थात् यह मायाके कारण सत्य भासता है। 'भास सत्य इव मोह सहाया। १। ११७।'

ब्रह्मका स्वरूप तो निर्गुण निराकार कहा गया है। यथा—'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ १। १३।' 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥ १। १४१।' निर्गुण निराकार ब्रह्मपर सगुण साकार जगत्‌का भ्रम कैसे सम्भव है? इसका समाधान यह है कि जैसे आकाशका कोई रूप नहीं है, परंतु देखनेसे उसका रंग नीला कहा जाता है तथा उसका रूप औंधे (उलटे) कड़ाहका सा देख पड़ता है, वैसे ही रूपरहित ब्रह्मपर जगत्‌का भ्रम सम्भव है। इसपर शङ्का करनेवालेका यह कथन है कि पञ्चीकरणके कारण आकाशमें जो अष्टमांश पृथिवीका तत्त्व है, उसीके कारण यह भ्रम है, ब्रह्ममें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जिसके कारण उसपर जगत्‌का भ्रम हो सके। इसपर उत्तरपक्षवाले कहते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे पृथिवीमें आकाशतत्त्व होनेसे इसमें भी आकाशका भ्रम हो सकता है, पर ऐसी बात प्रसिद्ध नहीं है। अच्छा, मन तो अपञ्चीकृत भूतोंके सत्त्वगुणोंसे बना है और रूपरहित भी है पर स्वप्न और मनोरथ आदिमें सब जगत्-व्यवहार अनुभवमें आ जाता है। अतः अगुण अरूप ब्रह्मपर जगत्‌का भ्रम होना असम्भव नहीं है।

'जो चीज कभी देखी सुनी नहीं होती उसका भ्रम नहीं होता। अर्थात् जैसे किसीने सर्प नहीं देखा है तो उसे रस्सीपर सर्पका भ्रम नहीं होगा। उसी प्रकार जीवने पूर्व कभी जगत्‌को देखा है तभी तो उसे उसी जगत्‌का भास होता है। इससे भी जगत्‌का अस्तित्व सिद्ध होता है?' इस शङ्काका समाधान यह है कि यह ठीक है कि जो देखा-सुना होता है उसीका भास होता है; पर यह आवश्यक नहीं है कि वह देखा हुआ पदार्थ सत्य ही हो। जैसे कि खर या मिट्टी आदिका सर्प देखने और सर्पके दोष सुननेपर भी रस्सीपर सर्पका भ्रम और उससे भय आदि हो सकते हैं, उसी प्रकार पूर्व जन्ममें जगत् पूर्व देखा सुना हुआ होनेसे संस्कारवशात् इस जन्ममें भी जीवको जगत्‌का भ्रम होता है और पूर्व जन्ममें जो जगत्‌का अनुभव किया था, वह भी मिथ्या भ्रम था। इसी प्रकार पूर्वजन्ममें जो भ्रमसे जगत्‌का अनुभव हृदयमें बैठा हुआ है वही आगेके जन्ममें होनेवाले जगत् अनुभवरूपी भ्रमका कारण है और संसार अनादि होनेसे प्रथम-प्रथम भ्रम कैसे हुआ यह प्रश्न ही नहीं रह जाता।

'रज्जुमें जो सर्पका भ्रम था, वह प्रकाश होनेपर नष्ट हो जाता है। अर्थात् फिर वह सर्प नहीं रह जाता उसी प्रकार ज्ञान होनेपर जगत् भी न रह जाना चाहिये और तब उनके द्वारा अज्ञानियोंका उपदेशद्वारा उद्धार आदि व्यवहार भी न होना चाहिये। इस तरह संसारसे मुक्त होनेका मार्ग ही बंद हो जाता, पर ऐसा देखनेमें नहीं आता?' इस शङ्काका समाधान एक तो पञ्चदशीमें इस प्रकार किया है—'उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते। इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किं न सम्भवेत्॥ ६। ५४।' अर्थात् उपादान कारण नष्ट होनेपर भी उसका कार्य (किसी प्रसंगमें) क्षणभर रह जाता है। इस प्रकार नैयायिकोंने कहा है, वैसा ही हमारा क्या न सम्भव होगा? यह नैयायिकोंका सिद्धान्त है। इसके अनुसार यहाँपर भी अज्ञानरूपी कारण नष्ट होनेपर भी यह जगत्‌रूपी कार्य कुछ समयतक रह जाता है। युक्तिसे भी

यह बात सिद्ध होती है। जैसे रज्जु-सर्प-प्रसंगमें रज्जुके ज्ञानसे सर्पके अभावका निश्चय होनेपर भी उसका कार्य स्वेद, कम्प आदि कुछ देरतक रहता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानसे अज्ञान और तत्कार्य जगत्‌का बाध होनेपर भी कुछ समयके लिये उसकी अनुवृत्ति (आभास वा अनुभव) होती है। इसीको कहीं-कहीं 'बाधितानुवृत्ति' कहते हैं।

दूसरा समाधान यह है कि 'भ्रम' दो प्रकारका है। एक सोपाधिक, दूसरा निरुपाधिक। स्वड्के सर्पपर जो भ्रम होता है वह 'सोपाधिक' है और रज्जुमें जो सर्पका भ्रम है वह निरुपाधिक है। निरुपाधिक भ्रममें जो पदार्थ भ्रमसे अनुभवमें आता है, वह विचार आदिके द्वारा भ्रमनिवृत्ति होनेपर देखनेमें नहीं आता परन्तु सोपाधिक भ्रममें वैसी बात नहीं है। उसमें ज्ञानोत्तर भ्रमकी निवृत्ति होनेपर भी सर्पका आकार वैसा ही देख पड़ता है। रज्जुसर्पका वैसा नहीं समझ पड़ता। इसी प्रकार भ्रमसे जो जगत्‌का अनुभव होता है वह सोपाधिक भ्रम है, इसीलिये ज्ञानोत्तर भी जगत् पूर्ववत् अनुभवमें आता है। ब्रह्ममें जो अनन्त शक्तियाँ हैं, उन्हींके प्रकट होनेसे जगत् अनुभवमें आता है और शक्तियाँ शक्तसे पृथक् नहीं मानी जातीं।

(ख) 'यन्मायावश ' इस चरणमें हमें बताया है कि ब्रह्मादिसे लेकर सारा चराचर जगत् श्रीरामजीकी मायाके वश है। वह माया श्रीरामजीकी है अर्थात् माया श्रीरामजीके अधीन है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्मादि भी रामजीके वश हैं और श्रीरामजी न तो मायाके वश हैं और न ब्रह्मादिके वशमें। सारा विश्व मायाके वशवर्ती है। इस कथनसे सिद्ध होता है कि यह सारा विश्व सत्य है। 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥ १। ११८।' 'जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि। १। ११७।', 'तुलसिदास सब बिधिप्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।' (विनय० १२१), 'तुलसिदास कह चिदविलास जग बूझत बूझत बूझै।' (विनय० १२४), इत्यादिमें माया एवं मायाकार्य जगत् सब असत्य है ऐसा कहा गया है। दोनों वाक्योंमें परस्पर विरोध जान पड़ता है। इस सन्देहके निराकरणार्थ दूसरे चरणमें 'यत्सत्त्वात्' कहा। अर्थात् जगत्प्रपंच सत्य नहीं है किंतु श्रीरामजीके अस्तित्वसे, उनके आश्रित होनेसे यह सत्य भासता है। जो पूर्व चरणमें 'विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा' कहा था उसीको यहाँ 'सकल' से कहा गया है। दोनों पर्याय हैं। 'अमृषैव भाति' से आशय निकला कि सत्य है नहीं। जब सत्य नहीं है तो हमें उसपर विचार करनेकी आवश्यकता ही क्या? यह प्रश्न उठता है। इसका उत्तर 'रज्जौ यथाहेर्भ्रम' से लक्षित कराया है। अर्थात् जबतक हम उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते, उसको सत्य समझ रहे हैं, जबतक भ्रम रहेगा, तबतक वह दुःख देता ही रहेगा। जैसे जबतक रस्सीको हम सर्प समझते रहेंगे तबतक हमें भय रहेगा। यथा—'जग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अविचारे। बहु आयुध धरि बल अनेक करि हारहिं मरइ न मारे। निज भ्रम ते रबिकर संभव सागर अति भय उपजावै' (विनय० १२२) 'जदपि असत्य देत दुख अहई। १। ११८।' अतः उस दुःखकी निवृत्तिका, इस संसाररूपी सागरके पार जानेका उपाय करना आवश्यक हुआ। तीसरे चरणमें वह उपाय बताते हैं 'यत्पादप्लव एक एव हि '। वे कौन हैं और उनकी प्राप्तिका साधन क्या है? यह चौथे चरणमें बताया। 'अशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं' से नाम बताया और 'वन्दे' यह साधन बताया। 'सकृत प्रनाम किये अपनाये।' यह चारों चरणोंके क्रमका भाव हुआ।

(ग)—'यत्सत्त्वादमृषैव ' इति। यथा—'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ १। ११७।' 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजग बिनु रजु पहिचानें॥ १। ११२।', 'यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः। असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥ अध्यात्मरा० ७। ५। ३७॥' अर्थात् बुद्धिके भ्रमसे जो अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुकी प्रतीति होती है उसीको पण्डित लोगोंने अध्यास कहा है। जैसे असर्परूप रज्जु (रस्सी) आदिमें सर्पकी भ्रान्ति होती है वैसे ही ईश्वरमें संसारकी प्रतीति हो रही है। (पं० रामकुमारजी)।

(घ)—बिना अधिष्ठानके भ्रमरूप वस्तुकी प्रतीति नहीं होती। अधिष्ठानके ज्ञान बिना करोड़ों उपाय करे परंतु मिथ्या प्रतीति और उसके उत्पन्न हुए दुःख आदिकी निवृत्ति कदापि सम्भव नहीं। श्रीगोस्वामीजी सर्पका अधिष्ठान रस्सीके यथार्थ ज्ञानसे उस भ्रमकी निवृत्ति कहते हैं। दृष्टान्तमें रज्जु और सर्प, दार्ष्टान्तमें श्रीरामजी और विश्व हैं।

रस्सीकी सत्यता ही मिथ्या सर्पकी प्रतीतिका कारण है। श्रीरामजीकी सत्यता ही संसारको सत्यवत् प्रतीति करा रही है। जिसको रस्सीका यथार्थ ज्ञान है उसको मिथ्या सर्प अथवा तज्जन्य भय कदापि सम्भव नहीं। ऐसे ही जिसको श्रीरामजीकी सत्यताका दृढ़ विश्वास है, उसको संसार कदापि दुःखद नहीं। (तु० प०)

नोट—३ 'यत्पादप्लव' इति। प्लवका अर्थ प्रायः लोगोंने 'नाव' किया है। अमरकोशमें 'उडुपं तु प्लवः कोलः। १। १०। ११॥' प्लवके तीन नाम गिनाये हैं। इसपर कोई टीकाकार 'त्रय अल्पनौकायाः' ऐसा कहते हैं। अर्थात् ये तीनों छोटी नौकाके नाम हैं। छोटी नौकामें यह शङ्का होती है कि सागरमें नावके डूबनेका भय है वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो। नाव नदीके कामकी है। भट्टोजीदीक्षितात्मज भानुजीदीक्षित उसका अर्थ 'त्रय तृणादिनिर्मित तरणसाधनस्य' अर्थात् 'तृण आदिसे बनाया हुआ तैरनेका साधन' ऐसा कहते हैं। इस तरह 'प्लव' का अर्थ 'बेड़ा' जान पड़ता है। बेड़ाको डूबनेका भय नहीं होता।

४—'एक एव हि' का भाव यह है कि यही एकमात्र उपाय है, दूसरा नहीं। यथा—'सब कर मत खगनायक एहा। करिय रामपद पंकज नेहा॥ रघुपति भगति बिना सुख नाहीं। रामबिमुख न जीव सुख पावै॥ बिमुख राम सुख पाव न कोई। बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥ हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥ ७। १२२॥' यह उपसंहारमें कहा है। पुनः यथा—'भवजलधि पोत चरणारविंद जानकीरमण आनन्दकन्द' (विनय० ६४), 'स्वदङ्घ्रिमूल ये नरा भजन्ति हीनमत्सरा। पतन्ति नो भवार्णवे वितर्कवीचिसंकुले॥ ३। ४॥' यह ग्रन्थके मध्यमें कहा है।

५—'यत्पादप्लव एक एव हि' इति। यहाँपर शङ्का हो सकती है कि 'जब संसारसे तरनेके लिये एकमात्र यही साधन है तब श्रुतिवाक्य 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' की सङ्गति कैसे होगी? समाधान यह है कि यद्यपि ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, यह सर्वमान्य है, तथापि सर्वसाधारणको बिना श्रीरामजीकी कृपाके ज्ञान हो नहीं सकता और यदि हो भी जाय तो वह ठहर नहीं सकता। यथा—'बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥ १। ३।', 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥ करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। ७। ४५।', 'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥ (वेदस्तुति। ७। १३)', 'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥ ७। ११९।' इसीलिये 'पादप्लव' कहकर सगुणोपासनाहीको भवसागरतरणका प्रधान साधन बताया है। अर्थात् सगुणोपासना करनेपर ज्ञान, वैराग्य आदि जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होगी वह सब इसीसे प्राप्त हो जायगी। यथा—'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं। भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥ भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥ ७। ११९।', 'बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥ ७। १३।' अध्यात्मरामायणमें भी यही कहा है, यथा—'अज्ञानान्न्यस्य ते सर्वं त्वयि रज्जौ भुजङ्गवत्। त्वज्ज्ञानाल्लीयते सर्वं तस्माज्ज्ञानं सदाभ्यसेत्॥ २८॥ त्वत्पादभक्तियुक्तानां विज्ञानं भवति क्रमात्। तस्मात्त्वद्भक्तियुक्ता ये मुक्तिभाजस्त एव हि॥ २९। (२। १) अर्थात् रज्जुमें सर्प-भ्रमके समान अज्ञानसे ही आपमें सम्पूर्ण जगत्‌की कल्पना की जाती है, आपका ज्ञान होनेसे वह सब लीन हो जाती है, आपके चरण-कमलोंकी भक्तिसे युक्त पुरुषको ही क्रमशः ज्ञानकी प्राप्ति होती है, अतः जो पुरुष आपकी भक्तिसे युक्त हैं वे ही वास्तवमें मुक्तिके पात्र हैं। यह देवर्षि नारदने श्रीरामजीसे कहा है।

६—पाठपर विचार—पं० रामगुलाम द्विवेदीजीकी गुटका सं० १९४५ वि० की छपी हुई में 'प्लव एक एव हि' पाठ है। मानसमार्तण्डकारने 'प्लवमेव भाति' पाठ दिया है जो कोदोरामजीकी पुस्तकमें है और नंगे परम-हंसजीने भी यही पाठ रक्खा है। सं० १६६१ की पोथीमें प्रथम चार पन्ने नहीं थे। वे चार पन्ने पं० शिवलाल पाठकजीकी प्रतिसे लिखे गये हैं। उसमें 'प्लवमेकमेव हि' पाठ है। यह पाठ संस्कृत व्याकरणके अनुसार अशुद्ध है

क्योंकि अमरकोशमें 'उडुप तु प्लव· कोल· । १ । १० । ११ ।' ऐसा लिखा है । 'प्लव·' पुँल्लिङ्ग है, 'उडुप' नपुंसकलिङ्ग है । यदि 'प्लव' नपुंसकलिङ्ग होता है तो 'प्लव' ठीक होता पर नौकाके अर्थमें वह पुँल्लिङ्ग ही है । प्लवका अर्थ जब 'खस या तृण' होता है तभी वह नपुंसक होता है । पुँल्लिङ्ग होनेसे 'प्लव एक एव' ही पाठ शुद्ध होगा ।

७—इस ग्रन्थका ध्येय क्या है? यह इस श्लोकके इस चरणसे ग्रन्थकारने स्पष्ट कर दिया है कि इसमें भवतरणोपाय बताया है और वह उपाय है श्रीरघुनाथजीकी भक्ति । यही बात मध्यमें श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें और अन्तमें श्रीभुशुण्डिजीके प्रसङ्गमें पुष्ट की गयी है । दोनों जगह ज्ञान और विज्ञान आदिकी अवहेलनापर भगवान्‌की प्रसन्नता दिखायी गयी है । भगवान्‌ने ज्ञान आदि वर माँगनेको कहा । जब उन्होंने भक्ति माँगी तब भगवान्‌ने उनको 'चतुर' विशेषण दिया है । इस तरह ग्रन्थकारने अपने सिद्धान्तपर बड़े पुरातन भक्तों और भगवान्‌ की मुहर—छाप लगवा दी है ।

८—(क) यहाँ गोस्वामीजीने माया, जीव और ब्रह्म दोनोंके स्वरूप दिखाये हैं । मायाके वश होना जीवका स्वरूप है । यथा—'ईस्वर अंस जीव अबिनासी ।' 'सो माया बस भयउ गोसाईं ॥ ७ । ११७ ।' 'देखी माया सब बिधि गाढ़ी । देखी जीव नचावै जाही ॥ १ । २०२ ।' वशमें करना मायाका स्वरूप है और बन्धनसे छुड़ाना ब्रह्मका स्वरूप है । यथा—'बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव ॥ ३ । १५ ॥' (पं० राम कु०) । [अथवा (ख) यों कह सकते हैं कि यहाँ क्रमशः प्रथम चरणमें जीव, दूसरेमें माया और पिछले दोनों चरणोंमें ब्रह्मके लक्षण भी व्याजसे कहे हैं । जो मायाके वश है वह जीव है । यथा—'मायाबस्य जीव सचराचर । ७ । ७८ ।' और जो भ्रममें डालकर सबको वशमें किये हुए है वह माया है । जो ईश है और माया या भवसागरसे जीवको उबारता है वही ब्रह्म है ।] (ग)—इस श्लोकमें कर्म, ज्ञान और उपासना वेदके काण्डत्रय दिखाये हैं । 'यन्मायावशवर्ति···' से कर्म, 'रज्जौ यथाहेर्भ्रम' से ज्ञान और 'यत्पादप्लव' ''से उपासना दिखायी । (और कोई कहते हैं कि यहाँ प्रथम चरणमें विशिष्टाद्वैत, दूसरेमें अद्वैत और तीसरेमें द्वैत सिद्धान्तका स्वरूप है) ।

९—'वन्देऽहं' इति । पूर्व 'वन्दे वाणीविनायकौ', 'भवानीशङ्करौ वन्दे', 'वन्दे बोधमयं ', 'वन्दे विशुद्ध-विज्ञानौ' '' कहा गया और श्रीसीताजी तथा श्रीरामजीकी वन्दना करते हुए कहते हैं—'नतोऽहं रामवल्लभाम्' 'वन्देऽहमशेष ··' । यद्यपि 'वन्दे' का अर्थ ही 'अहं वन्दे' है तथापि पूर्वके चार श्लोकोंमें 'अहं' के न होनेसे और इन दो में 'अहं' शब्दका भी प्रयोग होनेसे यह भाव निकलता है कि भक्तको अपने इष्टमें अभिमान होना ही चाहिये । यथा—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे । मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥ ३ । ११ ।' इससे यह भी जनाया है कि श्रीसीतारामजी हमारे इष्टदेव हैं, अन्य नहीं ।

१० 'अशेषकारणपरं' इति । अर्थात् संसारमें जहाँतक एकका कारण दूसरा, दूसरेका तीसरा इत्यादि मिलते हैं, उन समस्त कारणोंके कारण जो श्रीरामजी हैं और जिनका कोई कारण नहीं, जो सबसे 'पर' हैं, यथा, 'बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ॥ सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवध पति सोई ॥ जगत प्रकास्य प्रकासक रामू ॥ १ ।११७ ।', 'यस्यांशेनैव ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा अपि जाता महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणाश्च एकः कार्यकारणयोः परः परमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव ॥' पुनः अशेषकारणपरं=अनन्त ब्रह्माण्डोंका कारण और 'पर' (अर्थात् सर्वश्रेष्ठ) । यथा 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १ । १ । २) । 'अशेषकारणपर' कहकर सबसे योगक्षेमके लिये समर्थ, सबके शरण्य, सर्वशक्तिमान् और जीवमात्रके स्वामी आदि होना सूचित किया । यथा, 'जेहि समान अतिसय नहिं कोई' ।

११ 'रामाख्यमीशं हरिम्' इति । 'हरि' शब्द अनेक अर्थोंका बोधक है । अमरकोशमें इसके चौदह अर्थ दिये हैं, यम, पवन, इन्द्र, सूर्य, विष्णु, सिंह, किरण, घोड़ा, तोता, सर्प, कपि, मेढक और पिंगल वर्ण । यथा, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्क-विष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥ ३ । ३ । १७४ ॥' और 'ईश' विशेषतः शिवजीका वाचक है । यहाँ 'रामाख्य' शब्द देकर सूचित करते हैं कि यहाँ 'हरि' और 'ईश' के उपर्युक्त अर्थोंमेंसे कोई भी अर्थ कविको अभिप्रेत नहीं है । यहाँ 'ईश' और 'हरि' दोनों ही 'राम' के विशेषण हैं । 'ईश' विशेषणसे जनाया कि ये

चराचरके कारणमात्र ही नहीं हैं किंतु उनकी स्थिति, पालन और संहारको अनेकों ब्रह्मा, विष्णु और महेशोंके समान अकेले ही समर्थ हैं, सबके प्रेरक, रक्षक, नियामक, नियन्ता सभी कुछ हैं। यथा, 'बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥ बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥ ७। ९२।', 'सब ईस आधीन जग काहु न देइअ दोषु॥ ७। २२१।' 'हरि' से जनाया कि जीवोंके समस्त क्लेशोंके, समस्त पापोंके तथा समस्त जीवोंके मनको हरनेवाले हैं। 'क्लेशं हरतीति हरि', 'हरिर्हरति पापानि'।

प० रामकुमारजीका मत है कि 'हरि' शब्दके अनेक अर्थ हैं। यथा, 'हरिरिन्द्रो हरिर्भानुः' इत्यादि। अतः 'रामाख्य' कहा। 'राम' शब्दसे दाशरथि राम, परशुराम, बलराम आदिका बोध होता है। (विशेष दोहा १९ (१) 'बंदौं नाम राम रघुबर को' में देखिये)। अतः अतिव्याप्तिके निवृत्त्यर्थ 'ईश' पद दिया। 'ईश' अर्थात् परम ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर, ब्रह्मादिके भी नियन्ता हैं। यथा, 'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जियँ देखहु नीकें। राम रजाइ सीस सब ही कें॥ २। २५४।', 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।' (गीता १८। ६१) अर्थात् शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मानुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। 'ईश' कहकर जनाया कि वही एकमात्र सबका शरण्य है, उसीकी शरण जाना योग्य है। यथा—'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥' (गीता १८। ६२)। सर्वभावेन उसीकी शरण जानेसे परम शान्ति और परमधामकी प्राप्ति होगी। यह सब भाव 'ईश' विशेषण देकर जनाये। प्रथम आवरण देवताओं वा परिकर एवं परिवारका पूजन होता है तब प्रधान देवका। (श्रीसीतारामार्चनविधि तथा यन्त्रराजपूजनविधि देखिये)। इसी भावसे श्रीरामजीकी वन्दना अन्तमें की गयी।

१३ यह श्लोक ग्रन्थके सिद्धान्तको बीजरूपसे दिखा रहा है। इसका वर्ण्य विषय 'अशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्' है। ये 'राम' विष्णु नहीं हैं वरंच करोड़ों ब्रह्मा, विष्णु और महेश इनके अंशमात्रसे उत्पन्न होते हैं। ये करोड़ों विष्णुसे भी अधिक पालनकर्ता हैं। 'यत्पादप्लवमेकमेव हि···' से ग्रन्थकार बता देते हैं कि इस ग्रन्थमें भक्तिका ही प्राधान्य है। भक्ति ही भगवत्प्राप्ति एवं मोक्षकी हेतु बतायी गयी है। इन्हीं दोकी चाह 'भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्' को होती है। श्रीरामचरणमें प्रेम अथवा मोक्ष दोनों श्रीरामजीके चरणोंकी भक्तिसे प्राप्त होते हैं। इस युगमें एकमात्र उपाय यही है। यही इस ग्रन्थका विषय है। यथा, 'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥ ७। ६१।', 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥ १। १०।', 'रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवनपुट पान॥ ७। १२८।'

वेदान्तभूषणजीका मत है कि इस श्लोकसे ग्रन्थमें आये हुए दार्शनिक सिद्धान्त 'अर्थपञ्चक'का वर्णन संक्षिप्तरूपसे दिग्दर्शन कराया गया है 'रामाख्यमीश हरिम्' से 'प्राप्यब्रह्म' का स्वरूप, 'वशवर्त्तिविश्वं सुराः' से प्राप्तामत्यगात्मा' (जीव) का स्वरूप, 'यत्पादप्लवमेकमेव हि' से भगवच्चरणानुराग 'उपायस्वरूप' 'भवाम्भोधि' से भवतरण 'फलस्वरूप' और 'यन्माया' से माया 'विरोधी स्वरूप' कहा गया। क्योंकि माया ही स्वरूपको भुलवा देती है। यथा, 'माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥' (विनय० १३६)।' इस प्रकार भी यहाँ वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण' है।

'इस प्रकार वन्दना करके कवि चाहता है कि समग्रमात्र उसके रचे हुए इस काव्यके वशवर्त्ती होकर एकमात्र उसीको भवसागरसे तार देनेकी नाव और समस्त अभीष्टोंका दाता समझकर इसके आश्रित हों।'

गौड़जी—वन्दनामें चतुर कवि अपने प्रतिपाद्य विषयका भी निर्देश करता है। इस वन्दनामें मानसके प्रतिपाद्य विषयका निर्देश बहुत उत्कृष्ट रीतिसे किया गया है। 'पुराणरत्न' विष्णुपुराण एवं भक्तितत्त्वप्रतिपादक श्रीमद्भागवतमें विष्णुपरत्वका प्रतिपादन है। श्रीरामचरितमानसमें परात्पर ब्रह्म रामका प्रतिपादन है। 'उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना॥' परंतु साथ ही विष्णु, नारायण और ब्रह्ममें अभेद भी माना है। अद्वैत वेदान्त सृष्टि-स्थिति-संहार-

के कर्ता ईश्वरको कुछ घटा हुआ पद देता है और परब्रह्मको निर्गुण एव परे मानता है। मानसकारने वैष्णव सिद्धान्त वेदान्तको लेकर सगुण और निर्गुणमें अभेद माना है और ईश्वरके सभी रूपोंको और समस्त विभूतियोंको एक रामका ही अवतार माना है। श्रीमद्भागवतमें भी 'अवतारा असंख्येया' कहकर विष्णुके असंख्य अवतार माने हैं, परंतु श्रीमद्भागवत विष्णुपरत्वका प्रतिपादक है। परब्रह्मको विष्णुरूपमें ही मानता है।

मानसके इस शार्दूलविक्रीडित छन्दके भाव श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरणवाले शार्दूलविक्रीडित 'जन्माद्यस्य''''धीमहि' से बहुत मिलता है। हम वह मंगलाचरण यहाँ तुलनाके लिये देते हैं।

जन्माद्यस्य यतो-ऽन्वयादितरतश्चार्थेषु } पदार्थोंमें सम्बन्ध और विच्छेदसे जिसके द्वारा इस अखिल विश्वका जन्म, पालन और संहार है।

अभिज्ञ स्वराट्—जो (पदार्थोंके विषयमें) सर्वज्ञ है और स्वतः ज्ञानसिद्ध है।

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये } आदिकवि (ब्रह्मा) के लिये जिसने हृदयद्वारा वह वेद फैलाया।

मुह्यन्ति यत्सूरय:—जिसमें विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः } जैसे तेजस् जल और काँचादि मिट्टीका विनिमय (एकमें किसी दूसरेका भासना) है।

यत्र त्रिसर्गोऽमृषा } उसी तरह जहाँ मृषा त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) (अमृषाकी तरह भासता) है।

धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं अपने प्रकाशसे त्रिकालमें (जो) माया-मुक्त (है)।

(ईश) सत्यं परं धीमहि—(उस) सत्यका (उस) परेका हम ध्यान करते हैं।

मानसकारके दूसरे चरणमें ठीक वही बात कही गयी है जो श्रीमद्भागवतके तीसरे चरणमें है। 'सकल' में 'त्रिसर्ग'का और 'रज्जौ यथाहेर्भ्रम' में 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमय' का अन्तर्भाव है। काँचमें जलका और जलमें काचका भ्रम तेज और जल वा तेज और काँचकी सत्ताको स्वीकार करता है, इस तरह यह अन्योन्याध्यास है, द्वैत सत्ताका परिचायक है। रज्जुमें साँपके भ्रममें एक रज्जुकी ही सत्ता माननी पड़ती है। इस तरह मानसकारका दृष्टान्त अधिक उत्कृष्ट है। रज्जु ब्रह्म है, जगत् साँप है, माया भ्रम है। भागवतकारके पहले दो चरणोंका अधिकांश अन्तर्भाव मानसकारके पहले चरणमें हो जाता है। श्रीमद्भागवतवाले मङ्गलाचरणमें सीधे उसी 'पर' और 'सत्य'को स्रष्टा, पालक और संहर्त्ता ठहराया है परंतु मानसकारने 'ब्रह्मादिदेवासुरा' अखिल विश्वको उसकी मायाके वशवर्ती दिखाया है अर्थात् सृष्टि, पालन, संहार क्रियाके करनेवाले देव और असुर भी उसीकी मायाके वशीभूत हो सारे व्यापार करते हैं, और वेदज्ञान, एवं अखिल विश्वकी बुद्धि तथा चेतना भी उसी मायाके वशवर्ती है, कोई बचा नहीं है, यह दरसाया है। अतः जहाँ भागवतकार ईश्वरको ही 'सत्यं परं ध्येयम्' मानते हैं वहाँ मानसकार उस 'अशेषकारणपरम् ईशम्' को जगत्कर्त्री मायाका नाथ मानते हैं। भागवतकारके दूसरे चरणमें 'अर्थेष्वभिज्ञ स्वराट्' अर्थात् उसी जन्मादिके कारणको 'सर्वज्ञ' और 'स्ववश' बताया है और 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्' अपने प्रकाशसे मायान्धकारसे मुक्त दिखाया है। भाव यह है कि जीव (चित्) अल्पज्ञ, माया (अचित्) वश और मोहित है और ईश्वर सर्वज्ञ, स्ववश और मायामुक्त है। इस तरह भागवतकार ईश्वरका ही प्रतिपादन करके उसे 'सत्य पर' मानते हैं। मानसकार परात्पर ब्रह्मका प्रतिपादन करके ईश्वरत्व उसके अधीन मानते हैं और 'सत्य पर' की जगह 'अशेषकारणपर' कहकर परसत्यकी अधिक व्यापक और उचित व्याख्या कर देते हैं। 'ईशम्' कहकर वह उस 'अशेषकारणपर' को उस मायाका स्वामी बताते हैं जिसके वशवर्ती ब्रह्मादि चराचर हैं। स्वामीके मायामुक्त होनेका प्रश्न ही नहीं होता, क्योंकि उसके मायाबद्ध होनेकी ही कोई कल्पना नहीं है। ब्रह्मादि तो मायावश हैं। 'सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन', 'रमा समेत रमापति मोहे' ईश्वरकोटि तो मायावशवर्ती है। वह 'अशेषकारणपर' तो 'विष्णुकोटिसमं पालन कर्त्ता। रुद्रकोटिसतसम संहर्ता॥' है। जो माया ऐसी

प्रबल होकर भी उस 'ईश' की दासी है उसका रूप दूसरे चरणमें दिखाया है जो भागवतकारके वर्णनके अनुरूप ही है। तात्पर्य यह कि मायाका रूप जो भाँति-भाँतिके अभ्यासोंसे वेदान्तमें उदाहृत किया है वह भागवतकार और मानसकारका एक-सा है परन्तु दृष्टान्त मानसकारका अधिक उपयुक्त है।

भागवतकारके 'अर्थेषु अभिज्ञः स्वराट्' के एवं 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं' के अर्थोंसे भी अधिक भावोंकी व्याप्ति मानसकारके 'ईशम् हरिम्' में है, क्योंकि ईशत्वमें न केवल सर्वज्ञता और स्वाधीनता है, वरन् मायापतित्व है, दासोंका, भक्तोंका आश्रय है, और मोह हर लेने, (हरिम्) उपासकोंको मायामुक्त कर देनेका भी सामर्थ्य है। साथ ही 'ईशम् हरिम्' कहकर यह भी सूचित किया कि वह ईश, वह हरि, शिव और विष्णुसे अभिन्न है। यद्यपि अंशी और अंशका, अङ्गी और अङ्गका, अवतारी और अवतारका सम्बन्ध है। यह तेहरा अभेद रामचरितमानसमें साद्यन्त प्रतिपादित है। एक बातमें श्रीमद्भागवतका मङ्गलाचरण अधिक उत्तम कहा जा सकता है कि उसकी भाषा द्वैत और अद्वैतवादियोंके पक्ष-पोषक अर्थोंके घटित करनेमें भी समर्थ है, परन्तु मायाको स्पष्टरूपसे प्रतिपन्न करके मानसकारने जहाँ द्वैतवादका निरसन किया है वहाँ अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैतका पोषण भी बहुत उत्तम हुआ है। किंतु इस परवर्ती दृष्टिसे तो मानसकारकी ही स्थिति उत्कृष्ट जान पड़ेगी, क्योंकि भागवतकार जहाँ जान-बूझकर सबके लिये गुंजाइश छोड़ देते हैं और 'सत्यं परं' को व्यावहारिक अर्थमें 'निरस्तकुहक' नहीं रखते, वहाँ मानसकार जिस पक्षको सत्य समझते हैं उसे असंदिग्ध और स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करते हैं जिन्हें तोड़-मरोड़कर किसीके लिये अर्थका अनर्थ करना सम्भव नहीं है।

भागवतकारने अपने मङ्गलाचरणको गायत्रीमन्त्रके भावोंमें ग्रथित किया है, जो श्रीमद्भागवतकी विशेषताको सूचित करता है और 'धीमहि' में गुरु-शिष्य या वक्ता-श्रोता उभयपक्षसूचक बहुवचन है जो ठीक गायत्रीमन्त्रमें प्रयुक्त क्रियापद है, जो वैदिक व्याकरणसे ही रूपमें ज्यों-का-त्यों दिया गया है। परन्तु मानसकारका यह अपना मङ्गलाचरण है, मानसके श्रोता-वक्ताका नहीं, अतः इसमें 'वन्दे' एक वचन क्रियापद है और जहाँ भागवतकारने निर्गुणरूपका ध्यान किया है। वहाँ मानसकारने सगुणब्रह्मके चरणोंकी वन्दना की है। 'परं सत्यं' की पूरी व्याख्या 'अशेषकारणपरम्' से ही हो सकती है। क्योंकि सबसे परे निरपेक्ष सत्य वही हो सकता है, जो सबसे परे, अशेष कारण हो, जहाँ जाकर कारणोंका सिलसिला खतम हो जाता हो। 'परं ब्रह्म परं तत्त्वं परं ज्ञानं परं तपः। परं बीजं परं क्षेत्रं परं कारणकारणम्'* 'रामाख्यम्' शब्द तो रामचरितमानसके सम्पूर्ण ग्रन्थका बीजमन्त्र ही है। 'राम' शब्दका अर्थ है, 'जो आनन्दसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक्य सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा'। उस 'ईशम्' की मैं वन्दना करता हूँ जिनका ऐसा 'राम' नाम है, जिन्होंने अखिल लोकोंको विश्राम देनेके लिये ईश होते हुए भी मायामानुषरूप धारण किया है। 'रामवल्लभाम्' वाले रामकी ही व्याख्या इस सम्पूर्ण छन्दमें वन्दनाके व्याजसे वर्णित है।

निदान भागवतकारके चारों चरणोंके भाव मानसकारने अपने मङ्गलाचरणमें व्यक्त कर दिये। साथ ही इतना करके भी मानसकारने वह बात और दी है जो भागवतकारने स्पष्टरूपसे इस छन्दमें व्यक्त नहीं कर पायी और जो दूसरे ढंगपर उसके आगेके शार्दूलविक्रीडितमें उन्होंने दी है। मानसकारने 'पादप्लवम्' कहकर सगुणरूपका ध्वन्यात्मक प्रतिपादन भी किया है, और भक्तोंके भवसागर पार होनेके लिये स्तुतिके व्याजसे उपासना-मार्गका भी उपदेश किया है। ध्वनिसे पहले चरणमें कर्म और दूसरेमें ज्ञान कहकर तीसरेमें उपासनाद्वारा उद्धारकी विधि दिखायी है, बड़ी चमत्कारिक रीतिसे तीनों विधियोंके सेव्य भगवान् रामचन्द्रकी वन्दना की है।

गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतकी छाया अनेक स्थलोंपर ग्रहण की है, परन्तु भावचित्रण बिलकुल निजी ढंगपर किया है जिससे भावापहरणका दोष उनपर नहीं लग सकता। उन्होंने 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' लिखा ही है, परन्तु मूल स्रोत चाहे जो हो उन्होंने अपनी अमृतप्रसविनी लेखनीसे उसमें नयी जान डाल दी है। भागवतकारका मङ्गलाचरण जितना

* गोस्वामीजीने क० सु० २५ में श्रीरामजीको 'विराट्रूप भगवान्' का भी रक्षक कहा है। यथा, 'रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर…'।

क्लिष्ट है, मानसकारका उतना ही प्रसादगुणपूरित है जिसमें उन्होंने व्यञ्जनासामर्थ्यसे अपनी रचनाको मूलरूप और भागवतके मङ्गलाचरणको छाया बना डाला है। मङ्गलाचरणवाला यह शार्दूलविक्रीडित उनकी उन अनुपम रचनाओंमेंसे है, जिसके आशयोंकी गम्भीरतामें जितने ही डूबिये उतने ही अर्थ-गौरवके रत्न मिलते हैं।

नोट—१४ (क) यह श्लोक शार्दूलविक्रीडित छन्दमें है। शार्दूल अर्थात् सिंह श्रेष्ठ पराक्रमशाली होता है इसी विचारको लिये हुए शार्दूलविक्रीडित छन्दमें अपने उपास्य इष्टदेवका मङ्गलाचरण करके कविने सूचित किया है कि श्रीरामजीके समान पराक्रमवाला चौदहों भुवनोंमें कोई नहीं है। (ख) गोस्वामीजी इस ग्रन्थमें सर्व-मतोंका प्रतिपादन करते हुए भी किस चतुरता और खूबीसे अपनी उपासनाको दृढ़ गढ़े हुए हैं, यह बात इस श्लोकमें भी विचार देखिये। (ग) छन्दका स्वरूप यह है। 'आद्यश्चेद् गुरवस्त्रय प्रियतमे षष्ठस्तथा चाष्टम.। नन्वेकादशतस्त्रयस्तदनु चेदष्टादशाद्यौ तत.॥ मार्तण्डैर्मुनिभिश्च यत्र विरति पूर्णेन्दुबिम्बानने। तद्वृत्त प्रवदन्ति काव्यरसिका शार्दूलविक्रीडितम्॥ (श्रुतबोध)।' इसके प्रत्येक चरणमें १९ अक्षर होते हैं और चरणका स्वरूप यह है कि क्रमश 'मगण सगण जगण सगण तगण' के वर्ण आते हैं और प्रत्येक चरणके अन्तका वर्ण गुरु होता है। यहाँ 'यन्माया' मगण (=तीनों वर्ण गुरु) 'वशव' सगण (=अन्त वर्ण गुरु), 'र्तिविश्व' जगण (=मध्य वर्ण गुरु), 'मखिल' सगण, 'ब्रह्मादि' और 'देवासु' दोनों तगण (=अन्त वर्ण लघु), के स्वरूप हैं, अन्त वर्ण 'रा' गुरु है। इसी तरह आगेके तीनों चरणोंमें देख लीजिये।

मङ्गलाचरणके श्लोकोंके क्रमका भाव

१-प० रामकुमारजी—'प्रथम गणेशजी पूजनीय हैं, इस वचनको सिद्ध किया। जिस कामके लिये वन्दना है उसके आचार्य शङ्करजी हैं। इससे गणेशजीके बाद शिवजीकी वन्दना की। फिर गुरुदेवकी वन्दना की, क्योंकि 'मैं पुनि निज गुरुसन सुनी।' पुन रामचरितके मुख्यकर्त्ता वाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जी हैं। पुन, इस चरित्रके प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं। अत उनकी इष्टरूपसे वन्दना की। इसके पश्चात् उन (श्रीसीतारामजी) की कथा की, जो उनका मुख्य वर्ण्य विषय है, प्रतिज्ञा की।

२-श्रीबैजनाथदासजी—प्रथम पाँच श्लोकोंमें 'नाम, लीला, धाम, रूप' का प्रचार पाया जाता है। अत उनके अधिकारियोंकी वन्दना की। प्रथम श्लोकको विचार कर देखिये तो रेफ (ं) और अनुस्वार ( ) ही दिखायी देगा, श्रीराम नामके ये दोनों वर्ण वाणीके विशेष स्वामी हैं, ऐसा अर्थ "वाणीविनायकौ" का करने से प्रथम श्लोकमें श्रीरामनामकी वन्दना हुई। श्रीरामनामके परम तत्त्वज्ञ एव अधिकारी श्रीभवानीशङ्करकी वन्दना श्लोक २ में है। गुरु शङ्कररूप अर्थात् विश्वासरूप हैं। श्रीरामनाममें विश्वास कराते हैं। इस तरह ये तीन श्लोक नामसम्बन्धी हुए। श्लोक ४ में 'ग्राम' और 'अरण्य' से धाम और 'गुण' से लीला सूचित की। अस्तु। इनके अधिकारी श्रीहनुमान्‌जी और श्रीवाल्मीकिजीकी वन्दना की। रूपकी अधिकारिणी श्रीसीताजी हैं। इनके द्वारा श्रीरामरूपकी प्राप्ति होती है। अत उनके बाद श्रीरामजीके ऐश्वर्य एव माधुर्यरूपकी वन्दना की। सातवें श्लोकमें काव्यका प्रयोजन कहा।

३—वर्ण और अर्थकी सिद्धि किसी भी कवि या ग्रन्थकारकी सहज ही इष्ट होती है, वह उसका परम प्रयोजनीय विषय है। अत कविने कविपरम्परानुकूल वाग्देवताकी, अक्षर ब्रह्मकी शक्तिकी वन्दना की। जैसे श्रीसरस्वतीजी श्रीरामचरित्र सम्भाषणमें अद्वितीय हैं वैसे ही श्रीगणेशजी लिखनेमें। जो उनके मुखसे निकला आपने लोकप्रवृत्तिके निमित्त उसको लिखकर दृष्टिगोचर कर दिया। इसी परस्परके सम्बन्धसे दोनोंकी योजना प्रथम श्लोकमें की। पुन भूत-भविष्य-वर्तमानमें श्रीरामयशगान करनेका कवियोंने जो साहस किया है वह आपहीकी कृपासे तो। गोस्वामीजीको श्रीरामचरित्रकथन करना है और वह जब जिसने कहा है तब इन्हींकी कृपासे तो। अत इनकी वन्दना प्रथम उचित ही है।

श्रीरामचरितमानसके श्रवण और कीर्तनके आदिकारण श्रीउमाशङ्कर ही हैं एव कथाश्रवण और नामस्मरणमें मुख्य श्रद्धा और विश्वास ही हैं जिनके बिना उनका वास्तविक रस प्रतीत ही नहीं होता। यदि श्रद्धा-विश्वास बिना ही कथाश्रवण अथवा नामस्मरण किया तो फल तो अवश्य होगा, परतु यथार्थ स्वाद उसका अपनी आत्माको अनुभव नहीं

होगा। जैसे चित्तकी एकाग्रता बिना कोई वस्तु पावे तो भूख निवृत्ति और शरीरकी पुष्टि आदि जो गुण उस पदार्थके हैं वे तो अवश्य ही होंगे परन्तु स्वाद उसका जैसा है वैसा कदापि प्रतीत न होगा।

अब यह देखना है कि श्रद्धा और विश्वास होनेपर और तो किसीकी अपेक्षा नहीं? इसका समाधान तीसरे श्लोकसे करते हैं। श्रद्धाविश्वासयुक्त होकर श्रीगुरुमहाराजके शरणमें यदि जावे तो कुटिल होनेपर भी वन्दनीय होगा। यह टेढ़ा काव्य भी जो श्रीगुरुमहाराजके आश्रित होकर कह रहा हूँ सर्वत्र वन्दनीय होगा। क्या और भी कोई इसके श्रवण-कीर्तनके रसिक हैं? इसपर चौथा श्लोक कहा। दोनों महानुभाव श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीतारामजीके चारु चरित्रके परमरसिक एवं कवि हैं। अतः उनके चरित्रकी सिद्धिके लिये उनका स्मरण परम वाञ्छनीय कर्तव्य है। अन्तमें इन दोनों श्लोकोंमें उनके इष्टदेवताद्वयकी वन्दना की।

वन्दनाके ६ श्लोक हैं। पाँच श्लोकोंमें 'वन्दे' शब्द दिया है और श्रीसीताजीके निमित्त 'नत' पद दिया है। इसी तरह आगे भी श्रीमद्गोस्वामीजीने अन्य सब देवादिकी वन्दना 'बदउँ' ही पदसे की है। ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं तो भी कुछ महानुभावोंका मत है कि केवल यही शब्द बदलकर रखनेमें कुछ विलक्षण अभिप्राय अवश्य है और वह यह है कि इस पदका प्रयोग करके माताके प्रति प्रीताधिक्यता दर्शायी है।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥ ७॥

शब्दार्थ—१ पुराण=भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीने अठारह पुराण बनाये हैं। पुराणका लक्षण श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार है—'सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च। वंशो वंशानुचरितं संस्थाहेतुरपाश्रयः॥ ९॥ दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः॥ १०॥' (भा० १२। ७) अर्थात् सर्ग (महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और मनकी उत्पत्ति), विसर्ग (जीवोंसे अनुगृहीत सूक्ष्म रचनाके वासनामय चर और अचर सृष्टिकी रचना), वृत्ति, रक्षा (अच्युत भगवान्‌के अवतारकी चेष्टा), मन्वन्तर (मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, ऋषि और श्रीहरिके अंशावतार ये छः प्रकार), वंश (ब्रह्मप्रसूतराजाओंकी त्रैकालिक अन्वय), वंशानुचरित (वंशको धारण करनेवाले प्रधान पुरुषोंके चरित), संस्था (नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक चार प्रकारके लय), हेतु (सृष्टि आदिका अविद्याद्वारा करनेवाला जीव) और अपाश्रय (मायामय जीवोंकी वृत्तियोंमें और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंमें जिसका व्यतिरेकान्वय हो वह ब्रह्म) इन दश लक्षणोंसे युक्त ग्रन्थको पुराण कहते हैं। इनके नाम इस श्लोकमें सूक्ष्मरीतिसे हैं। 'मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वत्रयं तथा। अ ना प लिं ग कू स्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक्॥' (महिम्नस्तोत्र मधुसूदनीटीका)। मकारवाले दो मत्स्यपुराण, मार्कण्डेय पुराण', भकारवाले दो, 'भविष्य, भागवत', शिवपुराण, व वाले तीन 'विष्णु, वाराह, वामन', ब वाले तीन 'ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त', अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड, कूर्म, स्कन्द। इसी प्रकार अठारह उपपुराण भी माने जाते हैं। जिनके नाम गरुडपुराण अ० २२७ श्लोक १-४ में ये हैं। आदिपुराण, नृसिंह, कुमारका बताया हुआ स्कन्द, नन्दीशका शिवधर्म, दुर्वासा, नारद, कपिल, वामन, औशनस, ब्रह्माण्ड, वारुण, कालिका, महेश्वर, साम्ब, सौर, पराशर, मारीच और भास्कर। २—निगम=वेद। वेद चार हैं। ऋग्, यजु, साम और अथर्व। इनके चार उपवेद भी हैं। ऋग्वेदका उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्वका अर्थशास्त्र उपवेद है। उपवेदोंके भी अनेक भेद हैं। वेद षडङ्गयुक्त हैं अर्थात् इनके छः अङ्ग माने गये हैं, वेदोंको समझनेके लिये इन छओं अङ्गोंका जानना परमावश्यक है। वे छः अङ्ग ये हैं, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इत्यादिसे युक्त स्वर और व्यञ्जनात्मक वर्णोंके उच्चारण-विशेषका ज्ञान कराना 'शिक्षा' का प्रयोजन है। क्योंकि इनके यथार्थ ज्ञानके बिना मन्त्रोंका अनर्थ ही फल होता है। यह पाणिनिने ही प्रकाशित किया है। वेदके पदोंकी शुद्धताको जान लेनेके लिये 'व्याकरण' प्रयोजनीय है। पाणिनिने आठ अध्यायोंका सूत्रपाठ बनाया है जो 'अष्टाध्यायी' नामसे प्रसिद्ध है। इसीपर कात्यायनमुनि वररुचिने वार्तिक और पतञ्जलिने महाभाष्यकी रचना की है। इन्हीं मुनित्रयके बताये

हुए व्याकरणको वेदाङ्ग अथवा माहेश्वर व्याकरण कहा जाता है। अन्य लोगोंके व्याकरण वेदाङ्ग नहीं है। इसी तरह वेदके मन्त्रपदोंका अर्थ जाननेके लिये यास्क मुनिने तेरह अध्यायोंमे 'निरुक्त' की रचना की है। इसमे पदसमूहोंका नाम, आख्यात, निपात और उपसर्गके भेदसे चार प्रकारका निरूपण करके-वैदिक मन्त्रपदोंका अर्थ दिखलाया है। निघण्टु, अमरसिंह एव हेमचन्द्रादिके कोष भी निरुक्तहीके अन्तर्गत हैं। ऋग्वेदके मन्त्र पादबद्ध छन्दोविशेषमे युक्त है और किसी-किसी अनुष्ठानमें छन्दोविशेषहीका विधान किया गया है। अतएव छन्दोंका जानना भी आवश्यक हुआ, क्योंकि बिना उसके ज्ञानके कार्यकी हानि और निन्दा होती है। इसीलिये भगवान् पिङ्गलनागने आठ अध्यायोंमे सूत्रपाठ बनाया है जिसका नाम 'पिङ्गलसूत्र' है। इसके तीन अध्यायोमे गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पक्ति, त्रिष्टुप् और जगती—इन सातों वैदिक छन्दोंको अवान्तर भेदोंके साथ सविस्तर वर्णन किया है। फिर पॉच अध्यायोंमें पुराण-इतिहासादिके उपयोगी लौकिक छन्दोका वर्णन है। वैदिक कर्मोंके अङ्ग दर्श (पौर्णमासी) इत्यादि काल जाननेके लिये ज्योतिष भी आवश्यक है जिसे भगवान् सूर्यनारायण तथा गर्गादि अठारह महर्षियोने बहुत प्रकारसे विरचा है। यों ही भिन्न-भिन्न शाखाके मन्त्रोंको मिलाकर वैदिक अनुष्ठानोंके विशेष कर्मोंको समझनेके लिये 'कल्पसूत्र' बने हैं। ३—आगम='आगत शिववक्त्रेभ्यो गत च गिरिजाश्रुतौ। मत च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥' (पद्मचन्द्रकोष और श्रीधरभाषाकोष)। अर्थात् शिवजीके मुखसे निकला हुआ और पार्वतीजीके कानोंमें पड़ा हुआ और वासुदेव भगवान्का जिसमे सम्मत है उसको 'आगम' कहते हैं।=तन्त्रशास्त्र। पुन, तन्त्र और अतन्त्र दोनों 'आगम' कहलाते हैं। तन्त्र तीन प्रकारके होते हैं, शैव, बौद्ध और कपिलोक्त। अतन्त्र अनेक हैं। तन्त्र और अतन्त्रका अटकल लगाया जाय तो ढाई हजार (२५००) से अधिक होंगे। यह तो हुआ कोशोंके अनुसार। गोस्वामीजीने अनेक स्थलोंमें प्रमाणमे आगम, निगम और पुराण इन तीनोंको दिया है। यथा, 'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। १।१२।' 'कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं। १।५१।', 'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। १।१०३।', 'धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना ॥ २।९५।', 'सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान। २।२३७।', 'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। २।२९३।' इत्यादि। श्रीरामायणजीकी आरतीमे गोस्वामीजी लिखते है, 'गावत बेद पुरान अष्टदस, छओ शास्त्र सब ग्रन्थनको रस।' इसमे वेद, पुराण और छओं शास्त्रोंका इस रामायणमें होना कहते हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने 'आगम' को षट्शास्त्र वा षट्दर्शनका पर्याय माना है। अतएव आगम=षट्दर्शन। प्रकृति, आत्मा, परमात्मा, जगत्के नियामक धर्म, जीवनके अन्तिम लक्ष्य इत्यादिका जिस शास्त्रमे निरूपण हो उसे 'दर्शन' कहते है। उपनिषदोंके पीछे इन तत्त्वोंका ऋषियोंने सूत्ररूपमे स्वतन्त्रतापूर्वक निरूपण किया। इस तरह छ दर्शनोंका प्रादुर्भाव हुआ। वे ये है, साख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा(वेदान्त)। 'साख्यमें' सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रमका विस्तारसे जितना विवेचन है उतना और किसीसे नहीं है। उसके अनुसार आत्मा अनेक हैं। उसमे परमात्माका प्रतिपादन नहीं है। सृष्टिको प्रकृतिकी परिणाम-परम्परा माननेके कारण यह मत 'परिणामवाद' कहलाता है। 'योग' में मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त यम, नियम, प्राणायाम, समाधि इत्यादिके अभ्यासद्वारा ध्यानकी परमावस्थाकी प्राप्तिके साधनोंका ही विस्तारसे वर्णन है। इसमें क्लेश, कर्मविपाक और आशयसे रहित एक ईश्वर माना है। 'न्याय' में ईश्वर नित्य, इच्छा, ज्ञानादि गुणयुक्त और कर्ता माना गया है। जीव कर्ता और भोक्ता दोनों माना गया है। इसमे तर्क करनेकी प्रणाली खण्डन-मण्डनके नियम मिलते है जिनका मुख्य विषय प्रमाण और प्रमेय है। 'वैशेषिक' मे द्रव्यों और उनके गुणोका विशेष निरूपण है। न्यायसे इसमें बहुत कम भेद है। ये दोनों सृष्टिका कर्ता मानते हैं, इसीसे इनका मत, 'आरम्भवाद' कहलाता है। 'पूर्वमीमासा' का मुख्य विषय वैदिक कर्मकाण्डकी व्याख्या है। 'उत्तरमीमासा' वेदान्त है। ब्रह्मजिज्ञासा ही इसका विषय है। साख्यके आचार्य कपिलदेवजी, विषय प्रकृति-पुरुष-विवेक और दुख-निवृत्ति प्रयोजन है। योगके आचार्य पतञ्जलि मुनि और चित्तका निरोध प्रयोजन है। वैशेषिकके आचार्य कणाद ऋषि, पदार्थ विषय और उसका ज्ञान प्रयोजन है। न्यायके आचार्य गौतमजी हैं, पदार्थज्ञान प्रयोजन है। पूर्वमीमासाके आचार्य जैमिनिजी, कर्मकाण्ड धर्म विषय और धर्मका ज्ञान प्रयोजन है। वेदान्तके आचार्य व्यासजी ब्रह्मका ज्ञान विषय और अज्ञानकी निवृत्ति, परमानन्दकी प्राप्ति प्रयोजन है। ४—समत=राय, सिद्धान्त, जिसकी राय मिलती

हो, सम्मत। यद्रामायणे=यत् (जो वा जिस) रामायणमें। निगदित=कथित, कहा हुआ। क्वचिदन्यतोऽपि=क्वचित्-अन्यत: अपि=कुछ किसी और स्थानसे वा कहीं औरसे भी। स्वान्त=स्व अन्त=अपने अन्त करणके। निबन्धमतिमञ्जुल-माननोति=निबन्धम्-अति मञ्जुलम्-आतनोति=अत्यन्त सुन्दर निबन्ध विस्तार करता है अर्थात् बनाता है। निबन्ध=वह व्याख्या (काव्य) जिसमें अनेक मतोंका संग्रह हो।

नोट—१ इस श्लोकका अर्थ कई प्रकारसे लोग करते हैं। अतएव मैं यहाँ कुछ प्रकारके अन्वय और उनके अर्थ तथा उनपर टिप्पणी देता हूँ।

अन्वय—१ यद्रामायणे (यस्मिन् रामायणे) नानापुराणनिगमागमसम्मतं निगदित (अस्ति) क्वचित् अन्यतः अपि निगदित (अस्ति) तत् तुलसी स्वान्त सुखाय अति मञ्जुल श्रीरघुनाथगाथाभाषानिबन्धम् आतनोति।

अर्थ—१ जिस रामायणमें अनेक पुराण, वेद और शास्त्रोंका सम्मत कहा गया है और कुछ अन्यत्रसे भी कहा गया है, उस रामायणको तुलसीदास अपने अन्त करणके सुखके लिये अत्यन्त सुन्दर रघुनाथगाथाभाषानिबन्ध (काव्यरूप) में विस्तारसे कहते हैं।

अर्थ—२ इस अन्वयके अनुसार गोस्वामीजी कोई नयी रामायण लिखने नहीं बैठे, किंतु किसी रामायणकी भाषाकाव्यमें करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं जिसमें यह सब कथा है। वह रामायण कौन है इसपर आगे लेखमें विचार किया गया है।

अन्वय—२ यद्रामायणे (यस्मिन् रामायणे) नानापुराणनिगमागमसम्मत निगदित (अस्ति) क्वचित् अन्यत: अपि निगदितं (अस्ति) अति मञ्जुल रघुनाथगाथाभाषानिबन्धम् तत् तुलसी स्वान्त सुखाय आतनोति।

अर्थ—२ जिस रामायणमें नाना पुराण, वेद और शास्त्रोंका सम्मत कहा गया है और कुछ अन्यत्रसे भी कहा गया है ऐसी अति सुन्दर श्रीरघुनाथकथा भाषाकाव्य रामायण तुलसीदास अपने अन्त करणके सुखके लिये अति सुन्दर विस्तारसे बनाता है।

नोट—३ इस अन्वयके अनुसार गोस्वामीजी कहते हैं कि हमने इस रामचरितमानसमें जो कहा है, वह नाना पुराणनिगमागमसम्मत है और इनके अतिरिक्त भी इसमें कुछ और भी कहा गया है।

अन्वय—३ यत् रामायणे निगदित (अस्ति) यत् नानापुराणनिगमागमसम्मत (अस्ति) तत् क्वचिदन्यतः अपि तुलसी स्वान्त सुखाय अति मञ्जुल रघुनाथगाथाभाषानिबन्धम् आतनोति।

अर्थ—३ जो रामायणमें कहा गया है और जो नाना पुराणनिगमागमसम्मत है, उसको और कुछ अन्यत्रसे भी (लेकर) तुलसीदास अपने अन्त करणके सुखके लिये अत्यन्त सुन्दर रघुनाथगाथा भाषाकाव्यमें विस्तार करता है।

नोट—४ 'रामायण' शब्द जब अकेला आता है तो प्राय: उससे वाल्मीकीय रामायणका बोध कराया जाता है। मानसमें भी वाल्मीकिजीकी वन्दनामें 'रामायन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यथा, 'बंदौं मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ। १। १४।' इसलिये यहाँ भी 'रामायणे' से वाल्मीकीयका अर्थ लेकर अन्वय किया गया है। इसके अनुसार गोस्वामीजी कहते हैं कि वाल्मीकीयमें जो कहा गया है, वह नाना पुराण-निगमागम सम्मत है, हम उस कथाको देते हैं और अन्यत्रसे भी कुछ प्रसङ्ग लिये हैं वह भी देते हैं।

अन्वय—४ यत् नानापुराणसम्मतम् यत् निगमसम्मतम्, यद् आगमसम्मतम्, यद् रामायणे निगदित (एव) क्वचिद् अन्यत अपि यन्निगदितम्, तत् सम्मतम्, तुलसी (दास) स्वान्त सुखाय अतिमञ्जुल रघुनाथगाथाभाषानिबन्धम् आतनोति। (प० रामकुमारजी)।

अर्थ—(इसका अर्थ मेरी समझमें वही है जो अन्वय ३ का है)

अन्वय—५ यत् रामायणे निगदित तत् तुलसी स्वान्तसुखाय, क्वचिद् अन्यत: अपि, नानापुराणनिगमागम-सम्मतम् अतिमञ्जुलम्...।

अर्थ—४ जो रामायणमें कहा गया है उसे तुलसीदास अन्तःकरणके सुखके लिये और कुछ अन्यत्रका भी लेकर नानापुराणनिगमागमसम्मत अत्यन्त सुन्दर ।

नोट—५. इस अन्वयके अनुसार वे कहते है कि जो रामायणमें है वह मैं कह रहा हूँ और अन्यत्रके भी प्रसङ्ग कहे हैं, ये सब नानापुराणनिगमागमसम्मत है।

नोट—६ 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' इति। (क) पं० रामवल्लभाशरणजी लिखते हैं कि, कोई वस्तु हो बिना दृष्टान्तके उसका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता। दृष्टान्तके निमित्त राजाओंके त्रिगुणात्मक चरित पुराणोंमेंसे इसमें कहे गये हैं। जैसे 'सिबि दधीचि हरिचंद कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी॥ २। ४८।', 'सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥ २। २२९।', 'ससि गुरतियगामी नहुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान। लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान॥ २। २२८।' इत्यादि। ऐसे ही और भी बहुत-सी कथाएँ पुराणोंसे आयीं। धर्माधर्मके विवेचनमें स्मृतियोंका आश्रय लिया गया है। यथा—'नारिधरम सिखवहिं मृदु बानी। १। ३३४।', 'कहहिं बसिष्ठु धरम इतिहासा। सुनहिं महीसु सहित रनिवासा॥ १। ३५९।', 'निगमागमसम्मत' अर्थात् चारों वेदों, चारों उपवेदों और छओं शास्त्रोंका सम्मत भी इसमें है। वेद कर्म, उपासना और ज्ञानमय त्रिकाण्डात्मक हैं। उसके विषयोंके उदाहरण। कर्मकाण्ड, यथा—'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ २। २१९।', 'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥ २। २८२।', 'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्मफल दाता॥ ७। ४१।' उपासना, *यथा*—'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु रामपदपंकज अस सिद्धांत बिचारि॥ ७। ११९।', 'तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥ ७। ११९।', 'बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥ विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे। हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥' (७। १२२) 'भगति सुतंत्र सकल सुखखानी॥ ७। ५।', ज्ञानकाण्ड, यथा—'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥ ७। १११।', 'ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥ ३। १५।' (तु० प० १९७४)।

प्रश्न—पुराणोंमें तो श्रीरामावतारसम्बन्धी चरित अत्यन्त अल्प अंशमें मिलता है। इसी तरह उपलब्ध उपनिषदोंमेंसे केवल दो चारके अतिरिक्त और किसीमें रामचरितकी चर्चा ही नहीं है। वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) में तो 'राम' शब्द भी नहीं है। गीतामें केवल एक जगह विभूतिवर्णनमें 'राम' शब्द आया है। 'रामः शस्त्रभृतामहम्। १०। ३१।' यह 'राम' शब्द भी 'परशुराम'के ही लिये समझा जायगा, क्योंकि भागवतमें 'भार्गवः शस्त्रभृतां वसिष्ठः।' परशुरामजीके लिये आया है। प्रस्थानत्रयीकी तरह अन्य दर्शनोंका भी हाल है। इतिहासमें केवल वाल्मीकीय रामायणमें प्रधानरूपसे श्रीरामचरित है। इत्यादि। तब यह कैसे कहा जाता है कि नाना पुराणादिका सिद्धान्त एकमात्र 'श्रीरामचरित' ही है।

उत्तर—हमारे पूर्वज आत्माराम महर्षियोंने *अनुभव करके यह बतलाया है कि समस्त* वेद, वेदाङ्ग और वेदवेदाङ्गविद् महर्षि 'भक्ति या ज्ञानादिद्वारा प्राप्य ब्रह्म, उपायद्वारा ब्रह्मको प्राप्त करनेवाले जीव, ब्रह्मप्राप्तिके उपाय, ब्रह्मप्राप्तिसे जीवको क्या फल मिलेगा और ब्रह्मप्राप्तिमें बाधा डालनेवाले विरोधीके स्वरूपों, अर्थात् इन्हीं पाँच अर्थोंको कहते हैं। यथा—'प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च॥ वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः। मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्गवेदिनः॥' (महर्षि हारीतजी)। इतिहास-पुराणादिमें अनेक कथाएँ कहकर उपर्युक्त पाँचों बातें ही समझायी गयी हैं और प्रस्थानत्रयीमें तो केवल इन्हीं पाँचों अर्थोंका ही विवरण है अन्य नहीं, परंतु क्रमशः महाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें भी कहा है कि, 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते।' इसका भी तात्पर्य यह है कि समस्त सच्छास्त्रोंमें उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार (आदि, मध्य और अन्तमें) श्रीहरिको ही कहीं उपायरूपसे और कहीं उपेयरूपसे कहा गया है, न कि यह कि उनमें अवतार-विशेषका चरित्र ही चित्रण किया है।

नोट—७ अन्वय और अर्थ १ के अनुसार 'यद्रामायणे' से कौन रामायण अभिप्रेत है, हमें इसपर विचार करना है। इस श्लोकमें प्राय पण्डितोंसे यह अर्थ कहते सुना है कि 'यद्रामायणे' से श्रीमद्गोस्वामीजी इस (अपने) रामायणको सूचित करते और कहते हैं कि हमने इसमें नाना पुराण, वेद, शास्त्रका सम्मत कहा है। पर यदि रामचरितमानसमेंके गोस्वामीजीके इस विषयके वचनपर ध्यान दिया जावे तो यह स्पष्ट देख पड़ेगा कि गोस्वामीजी स्वय वेद-पुराण-शास्त्रसे चुनकर कोई नवीन रामचरितमानस नहीं कह रहे हैं, बल्कि जो रामचरितमानस श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे वर्णन किया था और जो उनके गुरुमहाराजको श्रीशिवजीसे प्राप्त हुआ, वही रामचरितमानस अपने गुरुमहाराजसे सुना हुआ वे अब भाषाबद्ध करते हैं। यथा—'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥ मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।' १। ३०। 'तदपि कही गुर बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥ भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥ १। ३१।', 'रामचरितमानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥' 'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥' 'करौं कथा सोइ सुखद सुहाई। १। ३५।' जिसमें अनेकों पुराणों, वेदशास्त्रोंका निचोड़ भी आ गया है, उसीको वे (कवि) रामायण (यद्रामायणे) कहते हैं। श्रीपार्वतीजीकी प्रार्थना शिवजीसे है कि 'बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि' (१। १०९) ग्रन्थके अन्तमें कवि कहता है, 'यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्। मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥' (उ०)। अर्थात् जो श्रीरघुनाथजीके नामसे युक्त रामायण पहिले श्रेष्ठ कवि स्वामी श्रीशिवजीने दुर्गम रची थी उस मानसको अपने अन्तःकरणके अन्धकारको दूर करनेके लिये भाषाबद्ध किया।

उपर्युक्त उपक्रम, अभ्यास और उपसंहारके उद्धरणोंसे स्पष्ट हो गया कि गोस्वामीजीका 'यद्रामायणे' से उसी उमामहेश्वरसंवादमय रामचरितमानसका तात्पर्य है। तुलसीपत्र 'श्रीरामचरितमानसकी आविर्भावना' शीर्षक निम्न लेख भी हमारे मतका पोषक है।

'कोई भी आप्त पुरुष अपने एक प्रबन्धमें दो प्रकारकी बातें नहीं कहेगा, फिर भला गोस्वामीजी कैसे कहेंगे? यदि उन्होंने इसको अन्य ग्रन्थोंसे संग्रह किया है तो इन बातोंको उसी मानसमें उन्होंने क्यों स्थान दिया? पुन कहा है कि 'जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई॥ कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी।' इत्यादि १। ३३। यह कथा 'अलौकिक' है। यदि प्राचीन विख्यात ग्रन्थोंके संग्रहका भण्डार ही मानसका रूप है तो फिर यहाँ उसको 'अलौकिक' क्यों कहते? अस्तु। इसको अन्य शास्त्रोंका संग्रह कहना भूल है। इसको भगवान् शंकरजीने रचा है और श्रीतुलसीदासजीके द्वारा जगत्‌में इसका प्रचार हुआ है। जैसे गीताज्ञान प्रथमहीसे संसारमें प्रचलित था, परंतु उसका जीर्णोद्धार जब भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति किया और कल्पके आदिमें जैसे अन्तर्हित वेदों और शास्त्रोंको महर्षियोंने तपद्वारा ग्रहण किया था, ठीक उसी प्रकार भगवान् शङ्करजीकी कृपारूपी तपस्याद्वारा श्रीगोस्वामीजीने इसे अनुभव कर पाया, इसको उन्होंने यहाँ स्पष्ट कहा है। मानसकारकी प्रतिज्ञासे निर्भ्रान्त सिद्ध है कि यह रामायण उन्होंने संग्रहद्वारा नहीं बनायी।

'जिस रामायणका गोस्वामीजी उल्लेख करते हैं वह अवश्य ही उमामहेश्वरसंवादात्मक होगी। ऐसी कुछ अंशोंमें अध्यात्मरामायण है। पर इसमें स्पष्ट ही सिद्धान्तविरोध है। महारामायणके बारेमें भी सुननेमें आता है कि वह भी बहुत कुछ वैसी ही है। पर वह सर्वथा उपलब्ध नहीं है। अतः निश्चयरूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। हमारी टूटी-फूटी समझमें तो यह मानसचरित हृदयमें (सीना ब सीना) चला आया, लेखबद्ध कभी नहीं हुआ था और न सबको मालूम था। इस रूपमें इसका प्रथम आविर्भाव श्रीगोस्वामीजीद्वारा इस जगत्‌में हुआ, जैसे मनुशतरूपाद्वारा श्रीसाकेतविहारी परात्परतर प्रभु श्रीसीतारामजीका आविर्भाव हुआ था।' (तु० प०)।

सारांश यह कि गोस्वामीजी शङ्कररचित मानसरामायण ही लिखनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं जिसमें पुराणों और श्रुतियोंका सारसिद्धान्त है, इसके अतिरिक्त संतोंसे सुना हुआ एवं निजानुभव किया हुआ भी कुछ कहेंगे, यह भी नानापुराणनिगमागमसंमत ही है। बालकाण्डके प्रथम ४३ दोहे 'शङ्कररचित मानस' के बाहरके हैं। स्वान्तःसुखाय लिखा और उन्हें

सुख हुआ भी, यह बात ग्रन्थकी समाप्तिमें स्वयं उन्होंने कही है। 'पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।' मा० मा० कार यह प्रश्न उठाकर कि नाना पुराणादि, रामायणादि तथा रहस्यादिके अवलोकनमे उनको सुख नहीं हुआ ? क्या भाषाकाव्य रचनेसे ही सुख होगा ?' उसका उत्तर देते हैं कि कलिग्रसित लोगोंको परम दुखी देखकर उन्हें महादुःख है, उस दुःखके निवारणार्थ शङ्करजीने उन्हे भाषाकाव्य रचनेकी आज्ञा दी 'जिससे सबका कल्याण होगा'। यथा, 'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल-रहित सुमंगल भागी॥' लोगोंका कल्याण होनेसे कविके अन्तःकरणमें भी सुख होगा।

८ 'क्वचिदन्यतोऽपि' इति। जब रामचरितमानसमे नानापुराणनिगमागमसम्मत सब आ गये तब फिर और रह ही क्या गया जो 'क्वचिदन्यत अपि' से सूचित करते हैं ? उत्तर—(क) अन्वय और अर्थ (१) के अनुसार। 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना ३। ३९।' 'और एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥' (१।१९६), श्रीकाकभुशुण्डिगरुड़-संवाद कैसे हुआ ? भुशुण्डिजीने काकतन क्यों पाया ? इत्यादि श्रीपार्वतीजीके प्रश्न और उत्तर एवं भुशुण्डि-गरुड़-संवाद इत्यादि जो श्रीरामचरितमानसकी समाप्तिपर उत्तरकाण्डमें दोहा ५३ (८) 'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥' से प्रारम्भ होते हैं, इत्यादि, श्रीशिवरचित मानसमें 'क्वचिदन्यतोऽपि' हैं। (ख) अन्वय और अर्थ २, ३, ५ के अनुसार यह शब्द गोस्वामीजी अपने लिये कहते हैं। इनके अनुसार बालकाण्डके आदिके ४३ दोहेतक जो अपनी दीनता, चार संवादोंका सविधान, अपना मत, (यथा, 'मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते') आदि कहे हैं, वह उनका निजका है। फिर 'सतीमोह और तनत्याग' 'श्रीपार्वती तथा शिवचरित' यह शिवपुराण, कुमारसम्भव, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण आदिने लिया है। बीच-बीचमें चरित्रोंपर जो याज्ञवल्क्यजी अथवा ग्रन्थकारने स्वयं टीका-टिप्पणी की है, जैसे कि, 'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान। १। १२७।', 'जल पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलगु होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि॥ १। ५७।', 'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई॥ २। २४।' और इसी तरह श्रीभुशुण्डिजीके टिप्पण जो बीच-बीचमें हैं वे। यथा, 'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥ ३। २।', 'गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही।' (५। ५) इत्यादि। पुनः अपने मनके उपदेशके मिष लोकको जो ठौर-ठौर शिक्षा दी गयी है। इत्यादि, सब बातें जो उमाशम्भुसंवादके बाहरकी हैं, 'क्वचिदन्यतोऽपि' में आ सकती हैं। बड़े-बड़े जो अनेक रूपक, लोकोक्तियाँ, उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि हैं, वह भी कविके ही हो सकते हैं। (ग) प० रामकुमारजीका मत है कि उपपुराण, वेदके छः अङ्ग, नाटक (श्रीहनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव), रघुवंश, कुमारसम्भव, उत्तररामचरित, इतिहास, संहिताएँ, पञ्चरात्र आदि जितने छोटे-बड़े ग्रन्थ हैं, वे सब 'क्वचिदन्यतोऽपि' में समा जाते हैं। पंजाबीजी कहते हैं कि वेद, पुराण और रुद्रयामल, ब्रह्मयामलादि तन्त्रमें सब कुछ है, अतः श्लोकका आशय यह है कि नानापुराण-निगमागमसम्मत जो रामायण वाल्मीकिजीने बनाया है उसमें उन निगमागमोंके बहुतेरे आशय वाल्मीकिजीने नहीं लिखे और वह प्रसंग मेरे मनको अच्छे लगे वह जो मैंने दिये हैं वह 'क्वचिदन्यतोऽपि' है। जैसे कि 'भानुप्रताप' वाला प्रसंग। पाँड़ेजीका मत है कि 'निज अनुभव' ही 'क्वचिदन्यत' है। यथा, 'प्रौढ़ सुजन जन जानहिं जन की। कहहुँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥' 'भगति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी॥' (१। २३, १। ४३)। वे० भू० प० रा० कु० दासजीका मत है कि गोस्वामीजीने अर्थपञ्चकका ज्ञान कहीं सूक्ष्मरूपसे और कहीं विस्तारसे जो दिया है वह 'क्वचिदन्यतोऽपि' है। तापसप्रसङ्ग भी उसीमें आता है।

९ 'स्वान्तःसुखाय' इति। यहाँ 'स्वान्तःसुखाय' कहा और ग्रन्थके अन्त (उपसंहार) में 'स्वान्तस्तमःशान्तये' कहा है। दोनों बातें एक ही हैं, क्योंकि जब अन्तःकरणका मोहरूपी तम दूर होता है तभी 'शान्ति' या 'सुख' मिलता है। 'स्वान्तःसुखाय' की कामना जो आदिमें की गयी, उसकी सिद्धि अन्तमें दिखायी है; यथा 'जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहू। पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥ ७। १३०।'

१० 'तुलसी' इति। ग्रन्थकारने अपना नाम यहाँ लिखा है। पर स्मृतिमें अपना, अपने गुरुका, कृपणका, जेठे पुत्र और धर्मपत्नीका नाम लेना निषेध है। यथा, 'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात्

श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः।' यह शङ्का उठाकर बाबा स्वरूपदासजीने यह समाधान लिखा है कि जन्मसे बारहवें दिन जो नाम पिता पुत्रका रखता है, उस नामके लेनेका निषेध है, अन्य नामोंका नहीं। 'तुलसीदास' नाम पिताका रखा नहीं किंतु गुरुदत्त नाम है, अतः यह नाम लेना दोष नहीं है। इसी दोषके निवारणार्थ महाभाष्यकार पतञ्जलिने अपना यह नाम छोड़ दूसरा यौगिकनाम 'गोनर्दीय' लिखा है। अथवा, कूपखानकन्यायसे समाधान कर लें। जैसे कुआँ खोदनेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है और खोदनेवालेके शरीरमें कीचड़ लग जाती है, वह सब दोष उसीके जलसे मिट जाते हैं। जब अनेक जीव उसके जलको पीकर सुख पावेंगे उस पुण्यसे उसके हिंसाके पाप मिट जाते हैं और कीचड़ तो तुरत उसी जलसे धुल जाता है। इसी तरह यदि नाम लेनेसे पाप हुआ तो वह रामचरितके पठन-पाठनसे जो पुण्य होता है उससे मिट गया। अथवा, नामोच्चारण करनेका निषेध है, लिखनेका नहीं। इसीसे अनेक ग्रन्थकार अपना नाम लिखते हैं। इससे दोष नहीं। (शङ्कावली)।

११ ☞ प्रथम दो संस्करणोंमें हमने 'रघुनाथगाथा' और 'भाषानिबन्ध' को दो पद मानकर 'तत रघुनाथगाथा स्वान्तःसुखाय तुलसीदासः भाषानिबन्धम् आतनोति' ऐसा भी अन्वय और उसके अनुकूल 'उस रघुनाथजीकी कथाको तुलसीदासजी अपने अन्तःकरणके सुखके लिये भाषारचनामें विस्तार करते हैं' ऐसा अर्थ किया था। परंतु विचार करनेपर यह ज्ञान हुआ कि यह एक सामासिक पद है अतः इसके बीचमें दूसरा अन्य शब्द आना उचित नहीं है, अतएव अन्वय 'रघुनाथगाथाभाषानिबन्ध' किया गया। यद्यपि भावार्थ दोनोंका एक ही है पर व्याकरणानुसार अन्वय और अर्थमें त्रुटि देख पड़ती है।

१२ 'अतिमञ्जुलमातनोति' इति। 'अतिमञ्जुलं' 'रघुनाथगाथाभाषानिबन्ध' का विशेषण हो सकता है और 'आतनोति' का क्रियाविशेषण भी हो सकता है। भाषाकाव्यको 'अतिमञ्जुल' कहा, क्योंकि एक तो श्रीहनुमान्‌जीकी प्रेरणासे लिखा गया, उनकी कृपासे निर्मल रचा गया। यथा—'जस कछु बुधि बिबेक बल मोरें। तस कहिहौं हिय हरिके प्रेरें॥ १। १३।' दूसरा श्रीशिवकृपासे ऐसा बना। यथा—'संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥ १। ३६।' श्रीजानकीजीकी कृपासे निर्मल मति मिली। इत्यादि कारणोंसे यह निबन्ध 'अति सुन्दर' हुआ। मानसरूपक, चार सुन्दर संवादरूपी घाटों तथा भाषाके पदर्थोंसे परिपूर्ण होनेके सम्बन्धसे 'अतिमञ्जुल' है। प्रारम्भमें कहा है, 'सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि। तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥ १। ३६।' और अन्तमें कहा है कि 'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। ७। १२९।' एवं 'सरस चौपाई मनोहर (७। १३०) इस तरह सारा ग्रन्थ आदिसे अन्ततक मनोहर है। यदि 'आतनोति' का क्रियाविशेषण मानें तो भी हो सकता है यथा—'करइ मनोहर मति अनुहारी। १। ३६।' काष्ठजिह्वस्वामीजी लिखते हैं कि इसमें देश-देशान्तरोंकी सुन्दर सुन्दर भाषा चुन चुनके बहुत सुन्दर बनाया है। इसमें मिथिला, व्रज, भोजपुरी, अवधी, फारसी, अरबी, बुन्देलखण्डी, उदयपुरी, सरयूपारी आदि प्रान्तोंकी भाषाएँ आयी हैं। जैसे कि 'नेव' मिथिलाकी, 'धुआँ देखि' बुन्देलखण्डकी, 'गउर (महल) उदयपुरकी' 'रउरा' सरयूपारीकी, 'रौरे' बनारसी, 'म्हाँको' जयपुरी, 'थाको, थकि, थके' बँगलासी इत्यादि।

१३ 'भाषानिबन्ध' इति। श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीशिवरचित मानसरामायणको भाषामें करनेको कहते हैं तो फिर उन्होंने मङ्गलाचरण यहाँ और प्रत्येक सोपानके आदिमें संस्कृतमें क्यों किया? यह शङ्का उठाकर उसका समाधान लोगोंने यों किया है कि—(१) संस्कृत देववाणी है इसलिये माङ्गलिक और परम पवित्र है। अतः मङ्गलाचरणके लिये उसको उपयुक्त समझा और उसका सम्मान किया। पुनः (२) सम्भव था कि लोग सन्देह करते कि वेद-पुराणका सम्मत इसमें होना लिखते हैं, पर ये संस्कृत तो जानते ही न थे, वेद-पुराणका सम्मत ये क्या जानें? यदि संस्कृत जानते होते तो उसी भाषामें रचना करते, इस सन्देहके निवारणार्थ। (३) दोनों भाषाओंमेंसे जनताको अधिक स्वाद किसमें मिलता है, जो दोनोंके एकत्र होनेहीपर जाना जा सकेगा, इस विचारसे संस्कृतमें मङ्गल किया। अथवा, (४) देववाणी प्रभावोत्पादक होती है अतएव ग्रन्थारम्भमें रचनाका यह नियम सदासे प्रचलित है कि व्याख्यानदाता, कथावाचक जनताके कल्याणार्थ भाषाहीमें उपदेश करते हैं परंतु उपदेशके पूर्व देववाणीमें भगवान्, गुरु तथा देवताओंके दो-चार मङ्गलाचरण कर लेते हैं। (मा० मा०)

वेणीमाधवकृत मूलगुसाईंचरितसे स्पष्ट है कि काशीमें प्रह्लादघाटपर उन्होंने संस्कृतमें मानसका वर्णन प्रारम्भ किया। परंतु दिनमें जो वह रचते रातमें वह लुप्त हो जाता था। सात दिनतक यह लोकक्रिया जारी रही। पूज्य कवि बड़े चिन्तित रहते थे कि क्या करें। आठवीं रातको स्वप्नमें शिवजीने आज्ञा दी कि अपनी मातृभाषामें काव्यकी रचना करो। और फिर जागनेपर शक्तिसहित प्रकट भी हुए और 'शिव भाषेउ भाषामें काव्य रचो। सुरबानि के पीछे न तात पचो॥ सबकर हित होइ सोई करिये। अरु पूर्व प्रथा मत आचरिये॥ तुम जाइ अवधपुर बास करो। तहँह निज काव्य प्रकाश करो॥ मम पुण्य प्रसाद सों काव्यकला। होइहैं सम साम ऋचा सफला॥ सो०—कहि अस सम्भु भवानि अन्तर्धान भये तुरत। आपन भाग्य बखानि चले गोसाईं अवधपुर॥ १०॥

इस विषयपर तुलसीपत्रमें यह आख्यायिका निकली थी कि गोस्वामीजीने चैत्र शु० ७ रविवारको ६ श्लोक रचे और सिरहाने रखकर सो गये। एक वृद्ध ब्राह्मण उसे आकर ले गया। इससे दुखी हो आप अनशन व्रत करने लगे। अष्टमीकी रातको उसी वृद्ध ब्राह्मणरूपधारी भगवान् शिवने आकर इनसे कहा कि 'यदि तुम संस्कृतमें ही फिर रामायण बनाओगे तो कोई उपकार न होगा। क्योंकि इस समय यवनोंके अत्याचारसे संस्कृत अप्रचलित हो गयी है। अतः संस्कृतमें रामायणकी रचना भूखे मर्कटको मोती देनेके समान है। तुम उसी मानसरामायणको भाषाबद्ध करो जिसका प्रचार करनेके लिये संसारमें तुम्हारा अवतार हुआ है। श्रीमद्गोस्वामीजी इसपर बोले कि 'प्रथम तो उस शिवमानसविहारी मानसके प्रबन्धका मुझे क्योंकर अनुभव होगा? दूसरे भाषामें होनेसे पण्डित लोग उसका आदर न करेंगे।

भगवान् (शिव) बोले 'हे रामानन्यवर! तुम्हारे उस भाषा निबन्धकी महिमा किसी अलौकिक ग्रन्थसे कम न होगी, किंतु उसका प्रचार दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा। रहा मानसकी कथाको विशेषरूपसे जानना, सो उसका अनुभव मैं तुम्हें स्वयं करा दूँगा। गोस्वामीजीने पूछा, 'आप कौन हैं और यह मानस आपको कैसे मिला?' इसपर शिवजीने अपना परिचय दिया और साक्षात् होकर श्रीमद्गोस्वामीजीकी पाद्यार्घ्य-पूजा ग्रहणकर उनको आश्वासन दे अन्तर्धान हो गये। इस आख्यायिकाका प्रमाण बा० १५ में मिलता है। यथा—'सपनेहु साँचेहु मोहिपर जौं हर गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥' नवमीके प्रातःकाल फिर श्रीहनुमान्‌जीका स्मरणकर उन्होंने उनसे उसी दिन मानसके रचनेकी सम्मति ली। आज्ञा पाकर उसी दिन कर्क लग्नमें मानसका आरम्भकर अपने पूर्व रचित श्लोकोंके नीचे इस (सातवें) श्लोककी रचनाकर भाषा अनुबन्ध करने लगे। (तुलसीपत्र १९७२)। बाबा श्रीजानकीदासजीकृत मानसपरिचारिकामें लगभग यही आख्यायिका है। अन्तर इतना मात्र है कि आप महात्माओंसे ऐसा सुनना कहते हैं कि श्रीमद्गोस्वामीजीने प्रथम श्रीअयोध्याजीमें मानसरामायण जैसा गुरुमहाराजसे सुना था संस्कृतमें लिखा, फिर आपको यह करुणा हुई कि संस्कृत सबको हितकर न होगी भाषामें हो तो सबका हित होगा। ऐसा विचारकर काशीमें शिवजीकी सम्मति लेने गये। शिवजी दण्डीका रूप धारणकर वह संस्कृत रामायण माँग ले गये। फिर न लौटाया। अनशन व्रत करनेपर अपना परिचय देकर शिवजीने भाषामें करनेकी आज्ञा दी।

१४ ग्रन्थके आदिमें सात श्लोक देनेके अनेक भाव कहे जाते हैं। एक तो यही कि सात श्लोक ही लिखे थे तब शिवजीने उनको लुप्त कर दिया था। इसीसे उतने श्लोक ज्यों-के-त्यों बने रहे। आगे भाषामें मङ्गलाचरण प्रारम्भ किया गया। दूसरे, इन श्लोकोंमें सूक्ष्मरीतिसे इस ग्रन्थका विषय और प्रयोजन आदि बताया है। तीसरे, सात संख्यासे सूचित किया कि इस ग्रन्थमें सप्त सोपान (वा काण्ड) हैं। यथा—'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। ७। १२९।' प्रत्येक सोपानके लिये क्रमसे एक-एक मङ्गलाचरणका श्लोक आदिमें भी दे दिया है। चौथे, सातकी संख्या विषम अतएव माङ्गलिक है और सृष्टिमें अधिक प्रचलित है। जैसे कि दिन सात हैं, प्रधान सागर भी सात हैं। इसी तरह सप्त द्वीप, सप्त ऋषि इत्यादि हैं। पाँचवें, रामायणी श्रीरामबालकदासजी लिखते हैं कि (क) सात श्लोक देकर जनाया कि कलिके कुटिल जीवोंको पार करनेके लिये हम इसमें सप्तसोपानरूपी सप्त जहाज बनावेंगे। यथा—'सुठि सप्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को॥' (मूलगुसाईंचरित)। मानससरमें सात सीढ़ियाँ हैं यथा—'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्याननयन निरखत मन माना॥ १। ३७।' (ख) दिन सात हैं अतः सात श्लोक देकर जनाया कि सातों दिन अर्थात् निरन्तर इस ग्रन्थका पठन-पाठन वा श्रवण करना चाहिये। यथा—'तजि आस सकल भरोस

'गावहिं सुनहिं सतत सठ मना' (५ । ६०) । ऐसा करनेसे श्रीरामभक्ति प्राप्त होगी । यथा—'मुनि दुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास । जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास ॥ ७ । १२६ ।' (ग) मोक्षदायक पुरियाँ भी सात ही हैं अत सात श्लोक देकर जनाया कि ये सातों काण्ड जीवोंको मुक्ति देनेके लिये सप्त पुरियोंके समान हैं । इसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही पुरीका निवास है 'रघुपति भगति केर पथाना । ७ । १२९ ।'

१५ यह श्लोक 'वसन्ततिलका वृत्त' छन्दमें है । इस वृत्तके चारों चरण चौदह-चौदह अक्षरके होते हैं । इसके प्रत्येक चरणका स्वरूप यह है—तगण (अन्तलघु) भगण (आदिगुरु) जगण (मध्यगुरु) जगण अन्तके दोनों वर्ण गुरु । श्रुतबोधमें इसके लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं । 'आद्यं द्वितीयमपि चेद् गुरु तच्चतुर्थम् यत्राष्टम च दशमान्त्यमुपान्त्यमन्त्यम् । कामांकुशांकुशितकामिमतङ्गजेन्द्रे कान्ते वसन्ततिलका किल तां वदन्ति ।' अर्थात् पहला, दूसरा, चौथा, आठवाँ, दसवाँ और अन्तके दोनों वर्ण गुरु होते हैं । श्रीरामचरितमानसमें यह वृत्त दो ही काण्डोंमें और वह भी एक-ही-एक आया है । एक यहाँ और दूसरा सुन्दरकाण्डमें ।

ग्रन्थ-अनुबन्ध-चतुष्टय

मङ्गल, प्रतिज्ञा और अनुबन्ध-चतुष्टय इन तीनोंका प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें होना आवश्यक है । मङ्गलके सम्बन्धमें प्रथम श्लोकमें पूरा विषय लिखा जा चुका है । ग्रन्थकार रचनेकी जो प्रतिज्ञा करता है जिसमें साथ-ही-साथ मङ्गल अपना और ग्रन्थका नाम भी देता है, उसीको हमने 'प्रतिज्ञा' नाम दिया है । 'अनुबन्ध' का अर्थ होता है 'अनु बध्नाति (श्रोतॄन)' अर्थात् जो लोगों (श्रोताओं) को बाँध लेता है । तात्पर्य कि जिसको जाननेपर ग्रन्थमें श्रोताओंको रुचि (प्रवृत्ति) होती है । अनुबन्ध चार हैं । विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी । विषय अर्थात् ग्रन्थमें जिसका प्रतिपादन किया गया है । प्रयोजन दो प्रकारका होता है, एक तो ग्रन्थका, दूसरा विषयका । ग्रन्थका प्रयोजन विषय-प्रतिपादन करना है और विषयसे क्या लाभ होगा ? यह विषयका प्रयोजन है । सम्बन्ध तीन प्रकारका है । प्रयोजन और ग्रन्थका, विषय और ग्रन्थका और प्रयोजन और विषयका । ग्रन्थ और प्रयोजनका सम्बन्ध यह है कि ग्रन्थ प्रतिपादक है और प्रतिपादन प्रयोजन है । ग्रन्थ और विषयका सम्बन्ध यह है कि ग्रन्थ प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य है । प्रयोजन और विषयका सम्बन्ध यह है कि प्रयोजन साध्य है और विषय साधक है । विषय, प्रयोजन और ग्रन्थको चाहनेवाला, ग्रन्थके अध्ययनके अनुकूल बुद्धि आदि आवश्यक गुणोंसे युक्त तथा शास्त्रद्वारा अनिषिद्धको 'अधिकारी' कहा जा सकता है ।

इनमेंसे प्रतिज्ञा तो ग्रन्थकार ही स्पष्ट शब्दोंसे ग्रन्थारम्भमें प्राय कर दिया करता है । परन्तु अनुबन्ध-चतुष्टय केवल सूचितमात्र करनेकी प्रणाली चली आयी है, जिसको टीकाकार अथवा अध्यापक प्रकट करते हैं । इनके विषयमें कोई आर्षप्रमाण बहुत खोज करनेपर भी नहीं मिला । केवल प्रयोजन और सम्बन्धके विषयमें कुमारिलभट्टकृत 'अथातो धर्मजिज्ञासा' के शाबरभाष्यपर 'श्लोक-वार्तिक' में कुछ उल्लेख मिलता है । यथा—'सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् । यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते ॥ १२ ॥ सिद्धिः श्रोतृप्रवृत्तीनां सम्बन्धकथनाद्यत । तस्मात्सर्वेषु शास्त्रेषु सम्बन्धः पूर्वमुच्यते ॥ १६ ॥' अर्थात् 'जबतक किसी शास्त्र अथवा कर्मका प्रयोजन नहीं कहा जाता तबतक उसको कौन ग्रहण करेगा ? ॥ १२ ॥ श्रोताओंके प्रवृत्तिकी सिद्धि प्राय सम्बन्ध-कथनसे होती है । अत सब शास्त्रोंमें प्रथम 'सम्बन्ध' कहा जाता है ॥ १६ ॥

शेष बातोंका प्रमाण न मिलनेपर भी उनका फल प्रसिद्ध होनेसे ग्रन्थकर्ता इन सबोंका उल्लेख करते आये हैं । जिससे ग्रन्थके आरम्भमें ही ग्रन्थका सामान्य परिचय हो जाता है और मनुष्य उसके अध्ययनमें प्रवृत्त हो जाता है ।

इन्हीं बातोंको लक्ष्य करके पण्डित लोग कहा करते हैं, 'अधिकारी च विषय सम्बन्धश्च प्रयोजनम् । ग्रन्थादावश्य-कर्तव्या कर्त्रा श्रोतृप्रवृत्तये ॥' प्राय ग्रन्थारम्भके मङ्गलाचरणके साथ ही उपर्युक्त बातोंका उल्लेख किया जाता है । यथा—'सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम् । विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते ॥'

श्रीरामचरितमानसके प्रारम्भिक छः श्लोक वन्दनात्मक मङ्गलाचरण हैं । अब इस अन्तिम श्लोकमें प्रतिज्ञा करते हैं और साथ-ही-साथ अनुबन्धचतुष्टय भी सूचित करते हैं ।

(१) 'रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमातनोति' यह प्रतिज्ञा है। ग्रन्थकर्ताका नाम 'तुलसी' तो स्पष्ट ही है। 'रामायणे निगदितं' से सामान्यत ग्रन्थका नाम 'रामायण' है, यह सूचित किया। ठीक-ठीक नाम आगे भाषाकी चौपाइयोंमें कहेंगे। यथा—'रामचरितमानस एहि नामा। १। ३५। ७॥ (२) 'रघुनाथगाथा' विषय है। यथा—'बरनौं रामचरित भव मोचन। १। २।', 'करन चहौं रघुपति गुनगाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥ १। ८।' 'तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा॥ १। १३।', इत्यादि। (३) श्रीरामचरितका प्रतिपादन करना यह 'ग्रन्थका प्रयोजन' है। और 'स्वान्तःसुखाय' यह श्रीरघुनाथगाथारूपी 'विषयका प्रयोजन' है। ग्रन्थमें अन्ततक जो-जो इस ग्रन्थकी फलश्रुतियाँ कही गयी हैं वे सब साक्षात् विषयके और परम्परासे ग्रन्थके प्रयोजन हैं। यथा—'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी। १। १५। १०-११।', 'सुनत नसाहिं काम मद दंभा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥ १। ३५। ६-७।', 'रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी॥' से 'ते गोपद इव भवनिधि तरहीं। ७। १२९।' इत्यादि। ये सब इस श्लोकमें सूक्ष्मरूपसे 'स्वान्तःसुखाय' पदसे सूचित कर दिये गये हैं। (४) प्रतिपादक-प्रतिपाद्य, साधक-साध्य इत्यादि उपर्युक्त व्याख्यामें कथित सम्बन्ध 'सम्बन्ध' है। (५) भाषामें और विशेषकर श्रीरामचरितमानसकी श्रीरघुनाथगाथा तथा स्वान्तःसुखका चाहनेवाला 'अधिकारी' है। ऐसे अधिकारियोंके लक्षण विस्तारसे ग्रन्थमें प्रथम और सप्तम सोपान (बाल और उत्तर काण्डों) में आये हैं। यथा—'सदा सुनहिं सादर नर नारी। ते सुर बर मानस अधिकारी॥ १। ३८।' "रामकथा के ते अधिकारी।' से 'जाहि प्रान प्रिय श्रीरघुराई। ७। १२८।' तक इत्यादि सब इस श्लोकमें 'स्वान्तःसुखाय', 'रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमातनोति' इन शब्दोंसे सूक्ष्म रीतिसे जनाया है। ऊपर अधिकारीके लक्षणोंमें 'शास्त्रसे अनिषिद्ध' भी एक लक्षण बताया गया है। मानसके सप्तम सोपानके दोहा १२८ में 'यह न कहिअ सठही हठसीलहि। ··' इत्यादि लक्षण जो अनधिकारीके बताये गये हैं उनसे रहित होना 'शास्त्रसे अनिषिद्ध' से अभिप्रेत है।

भाषा मङ्गलाचरण सोरठा

जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिबरबदन।
करो अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभ-गुन-सदन॥ १॥

शब्दार्थ—जो=जिसे, जिसको यथा—'जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदासु। १। २६।', 'जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनिधीर। १। २७३।', 'सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान। १। १४।', 'जो अवलोकत लोकपति लोकसंपदा थोरि। १। ३३३।', 'जो अवलोकि मोर मनु छोभा। २। १४।', इत्यादि। सुमिरत=स्मरणमात्रसे, स्मरण करते ही। सिधि=सिद्धि, कामनाकी पूर्ति वा प्राप्ति। गननायक=गणोंके स्वामी, गणेशजी। करि=हाथी। वर=श्रेष्ठ, सुन्दर। बदन (वदन)=मुख। बुद्धिरासि=बुद्धिके भण्डार। राशि=ढेर, भण्डार। बुद्धि=अन्तःकरणकी चार वृत्तियोंमेंसे दूसरी वृत्ति। वाल्मीकीयमें अङ्गदजीके विषयमें कहा गया है कि उनमें बुद्धिके आठों अङ्ग हैं। यथा—'बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गयायुक्तं चतुर्बलसमन्वितम्। चतुर्दशगुणं मेने हनुमान् वालिनः सुतम्॥ ४। ५४। २।' वे आठ अङ्ग ये हैं—शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह, अर्थ, विज्ञान और तत्त्वज्ञान। सुभ-गुन-सदन=कल्याणकारी गुणोंके घर। गुण चौदह हैं। 'चतुर्दश गुण—देशकालका ज्ञान, दृढता, कष्टसहिष्णुता, सब विज्ञानता, दक्षता, उत्साह, मन्त्रगुप्ति, एकवाक्यता, शूरता, भक्तिज्ञान, कृतज्ञता, शरणागतवत्सलता, अमर्षित्व और अचापल। (चन्द्रशेखरशास्त्री वाल्मी० टीका) भा० ४। ३। १७ में 'विद्या, तप, धन, सुदृढ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल—ये छः गुण सत्पुरुषोंके कहे गये हैं। यथा—'विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः।' बुद्धिके भी दो रूप कहे गये हैं। एक वासनात्मिका, दूसरी व्यवसायिका। पहलीसे बाहरी वस्तुका ज्ञान होता है और दूसरीसे हम ज्ञान होनेके उपरान्त निर्णय करते हैं।

अर्थ—जिनके स्मरणमात्रसे सिद्धि प्राप्त होती है, जो गणोंके स्वामी हैं (गणेश जिनका नाम है) और सुन्दर हाथीके समान श्रेष्ठ मुखवाले हैं, वे बुद्धिकी राशि और शुभगुणोंके धाम (मुझपर) कृपा करें॥ १॥

नोट—१ इस सोरठेके अर्थ कई प्रकारसे लोगोंने किये हैं। कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

अर्थ—२ हे गणनायक! हे करिवर-वदन! हे बुद्धिराशि! हे शुभगुणसदन! जिसे स्मरण करनेसे सिद्धि होती है वह मुझे कृपा कीजिये।

इसमें वस्तुका नाम नहीं दिया, क्योंकि गणेशजी इसे भली प्रकार जानते हैं। यथा—'महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥' १। १९।', दूसरे, लोक-वेदमें प्रसिद्ध है कि श्रीरामनामसे ही काशीजीमें शङ्करजी सबको मुक्ति देते हैं। तत्काल सिद्धि देनेवाला इसके समान दूसरा नहीं है। अतः ग्रन्थकारने इशारा मात्र कर दिया। गोस्वामीजी व्यङ्गसे रामनाम माँगते हैं।

अर्थ—३ गणनायक, गजसमान श्रेष्ठ मुखवाले गणेशजी, जिनके नामके स्मरण करनेसे सिद्ध होते हैं (अर्थात् प्रथम पूजे जाते हैं), वे सद्गुणसदन बुद्धिराशि (श्रीरघुनाथजी) मुझपर दया करें। (सु० द्विवेदीजी)।

'गोस्वामीजी श्रीरामजीके अनन्य भक्त हैं, इससे और 'होइ' शब्दसे भी यह आशय विदित होता है कि यह सोरठा गणेशजीके लिये नहीं है। यह तो श्रीरघुनाथजीसे प्रार्थना है कि मुझपर कृपा कीजिये। श्रीरामजी परब्रह्म हैं, जिसे सांख्य शास्त्रमें 'अव्यक्त' नामसे कहा है। यह अव्यक्त ही बुद्धिका उत्पादक है। इसलिये 'बुद्धिराशि' कहा। 'बुद्धि' शब्दसे सगुणशक्ति श्रीरामजीकी प्रार्थना की गयी। (सु० द्विवेदीजी)। इसमें आपत्ति यह पड़ती है कि 'सिद्धि' का अर्थ 'सिद्ध' कैसे होगा? पर उन्होंने पाठ 'सिध होइ' रक्खा है, उसके अनुसार यह अर्थ ठीक है। हमको 'सिध' पाठ कहीं मिला नहीं। 'सिधि होइ' पाठसे ऐसा अर्थ कर सकेंगे कि 'गणनायक' को (मनोरथकी) सिद्धि होती है वे ·।'

अर्थ—४ जिन (श्रीरामजी) के स्मरणमात्रसे सिद्धि होती है, जो (श्रीब्रह्मादि) गणोंके स्वामी हैं, जिन्होंने श्रेष्ठ (अर्थात्) बड़ा मुख किया (कि जिसमें भुशुण्डिजीने प्रवेशकर अनन्त ब्रह्माण्ड देखे) वे बुद्धिराशि और शुभगुणसदन मुझपर अनुग्रह करें।

'करिबरवदन' का अर्थ 'जो प्राणियोंके मुखोंको उज्ज्वल करनेवाले अर्थात् प्राणियोंको यश देनेवाले' ऐसा विनायकी टीकाने किया है। शेष सब वही है।

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि इस ग्रन्थमें विष्णु भगवान्, श्रीरविमण्डलनिवासी भगवान् और श्रीसाकेतविहारीजीके अवतारोंकी कथाएँ हैं। इसीसे प्रथम सोरठेमें गुणरूपसे श्रीसाकेतविहारीजीका, दूसरेमें विष्णुका और तीसरेमें श्रीरविवासीजीका वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया गया।

भाषाका मङ्गलाचरण

मं० श्लोक ७ में 'रघुनाथगाथाभाषानिबन्ध' रचनेकी जो प्रतिज्ञा की थी उसीके अनुसार अब भाषाके मङ्गलाचरणसे प्रारम्भ करते हैं। भाषाका सब मङ्गलाचरण सोरठामें क्यों किया? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर महानुभावोंने दिया है। यद्यपि कोई भी छन्द होता उसीमें ऐसा प्रश्न उठ सकता है, इसलिये शङ्काकी बात नहीं है, तथापि 'सोरठा' के प्रयोगके भाव ये हो सकते हैं—

(१) इस ग्रन्थकी दिनोंदिन उन्नति हो, दिनोंदिन इसका प्रचार बढ़ता ही जाय और इसका पठनपाठन, वक्ता और श्रोता दोनोंके लिये कल्याणकारक हो, इस विचारसे सोरठामें मङ्गलाचरण किया गया। सोरठा छन्दके पहले और तीसरे चरणमें ११-११ मात्राएँ होती हैं और दूसरे और चौथेमें १३-१३ अर्थात् सोरठेमें वृद्धिक्रम है। यह बात दोहा, चौपाई या छन्दमें नहीं पायी जाती। दोहेमें ह्रासक्रम है। उसमें पहले चरणमें १३ मात्राएँ हैं और दूसरेमें ११, अर्थात् उच्चपदसे नीचेको गिरना होता है। और चौपाई और छन्दमें समान चरण होते हैं। वृद्धिक्रम इसीमें मिला, अतः अपनी अभिलाषाकी पूर्ति विचारकर इसीसे मङ्गलाचरण प्रारम्भ किया।

(२) 'सोरठा' में इष्टदेव श्रीसीतारामजीके नामोंके प्रथम अक्षर मिले।

(३) श्रीमहात्मा रामप्रसादशरणजी लिखते है कि 'सोरठा' छन्द मेघरागके अन्तर्गत है, जो वर्षाऋतु श्रावण, भादोंमें गाया जाता है और ग्रन्थकारने आगे कहा भी है कि 'बरषारितु रघुपतिभगति तुलसी सालि सुदास। रामनाम बर बरन जुग सावन भादों मास ॥', अतः मङ्गलमयी रामभक्तिपरिचायक 'सोरठा' का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त हुआ है।

(४) कीनारामयोगीजीके मतानुयायी कहते हैं कि आचार्यने सोरठा छन्दका प्रयोग इसलिये किया है कि इसमें ११, १३ की विधि लगी है और उसके अनुसार तान्त्रिकलोग सुगमतापूर्वक अपने लौकिक एव पारलौकिक अनुष्ठानमें उसका प्रयोग कर सकते हैं।

(५) प० रामकुमारजी कहते हैं कि सोरठा 'भोर' (प्रात काल) का सूचक है, कहने-सुनने वालोंकी अविद्या-रात्रिका नाशक होकर यह ग्रन्थ उनमें विज्ञानरूपी सवेरेका उदय करायेगा।

नोट—३ यहाँ शङ्का की जाती है कि 'जकार' दग्धाक्षर है। इसमे प्रारम्भ होनेसे मङ्गल कैसे हो सकता है ? प० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ दग्धाक्षर भूषणयुक्त है, अत दोष नहीं। यहाँ मात्रा 'ज' का भूषण है। केवल 'ज' न चाहिये। ['मङ्गल सुरवाचक शब्द गुरु होवे पुनि आदि। दग्धाक्षर को दोष नहिं अरु गण दोषहु बादि ॥' छन्दप्रभाकरके इस प्रमाणानुसार दग्धाक्षरका दोष यहाँ नहीं लग सकता, क्योकि एक तो यह मङ्गल है, दूसरे यहाँ आदि वर्ण गुरु है। छन्द-प्रभाकरके अनुसार 'ज' दग्धाक्षर नहीं है।] फिर यहाँ मित्रगण पड़े हैं जो सिद्धिदाता है और इसमे सिद्धिदाताकी ही वन्दना है। [ग्रन्थकारने प्रथम सर्वनाम 'जो' के प्रयोगसे प्रियदेवकी प्रसिद्धि सूचित की। सर्वनाम प्रसिद्धार्थमिति। (सू० प्र० मिश्रजी)]

नोट—४ 'जो सुमिरत' इति। मानसपीयूषके प्रथम सस्करणमे 'जेहि' और 'जो' दोनों पाठ दिये गये थे और उन पाठोंपर विचार भी किया गया था। वह विचार विशेषत नागरीप्रचारिणी सभाके प्रथम सस्करणके आधारपर किया गया था। क्योकि उसमें कोई पाठान्तर इस स्थानपर नहीं दिया गया है और सम्पादक मानसपीयूषने प्राय. उसीका पाठ रखना उचित समझा था। अब कतिपय प्राचीन लिपियोंको स्वय देखा है। इसीसे बालकाण्डकी प्रथम जिल्दके दूसरे सस्करणमें 'जो' पाठ रक्खा और वही इस तीसरे सस्करणमे रक्खा है। १६६१ वाली पोथीके प्रथम चार पत्रे (पन्ने) स० १६६१ के लिखे नहीं हैं। वे प० शिवलालपाठकजीकी पोथीसे उतारे गये हैं जिसमे भी 'जो' पाठ है। आरेकी मठियामे एक पोथी दो सौ साठ वर्षसे अधिक पुरानी लिखी हुई है। उसमे भी 'जो' पाठ है। मिरजापुरनिवासी श्री ६ प० रामगुलाम द्विवेदीजीने सर्वप्रथम महान् परिश्रम करके एक सशोधित पोथी द्वादशग्रन्थोंकी तैयार की, जो उनके पीछे कई प्रेसोंमें छपी। श्रीराम-चरितमानसकी एक प्रति गुटकाके रूपसे काशीजीमें सवत् १९४५ वि० मे प्रकाशित हुई। सुना जाता है कि उसमें भी 'जो' पाठ है। प्राय इसीके आधारपर लाला छक्कनलालजी, भागवतदासजी, मानसी वन्दनपाठकजीने अपनी-अपनी पोथियाँ लिखी है। इनमें तथा प० श्रीशिवलालपाठकजीकी पोथीमे भी 'जो' पाठ है। स० १७०४, १७२१, १७६२ मे यही पाठ है। पजाबीजीकी स० १८७८की पोथीमें 'जिह' पाठ है। कई प्राचीन टीकाकारोंने भी 'जिहि', 'ज्यहि,' 'जहि' पाठ दिया है। आधुनिक छपी हुईमें नागरीप्रचारिणीसभा (प्रथम सस्करण), विनायकीटीकाकार और वीरकविजीने भी 'जेहि' पाठ दिया है। गोस्वामीजीका क्या पाठ है यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि 'जेहि' पाठ रहा हो, पीछे ग्रन्थकारने स्वय बदलकर 'जो' किया हो। अथवा, पण्डितोंने मात्राओंकी सख्याके विचारसे 'जेहि' का 'जो' कर दिया हो। दोनों पाठ शुद्ध माने जा सकते हैं।

'जेहि' पाठमें यह दोष कहा जाता है कि 'जेहि' पदसे सोरठेके प्रथम चरणमे ग्यारहके बदले बारह मात्राएँ हो जाती हैं, जिससे प्रस्तारके विरुद्ध होनेसे 'यतिभग' दोष आ जाता है। सस्कृतभाषाके अनुसार 'जे' दीर्घ है परन्तु हिंदी भाषाके महाकवि श्रीमद्गोस्वामीजीने उच्चारणके अनुसार इसको जहाँ-तहाँ लघु ही माना है। यथा— 'जस मानस जेहि बिधि भयेउ जग प्रचार जेहि हेतु। १। ३५।', 'जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जेहि पान किय।' (४ मं०), 'करब सोइ उपदेसु जेहि न सोच मोहि अवधपति। २। १५१।', 'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष

कृत सिव सुजस। ७। ८८।' इत्यादि ठौर-ठौरपर 'जेहि' शब्द गोस्वामीजीने दिये हैं। इनमें दोषकी निवृत्ति फिर कैसे की जायगी?

'जो' पाठ प० श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्रीजानकीघाट) और रामायणी श्रीरामबालकदासजी आदि श्रीअयोध्याके महात्माओंने स्वीकार किया है। अतः हमने भी वही पाठ रक्खा है।

यदि 'जे' को उच्चारणके अनुसार लघु मानें तो भाषाके मङ्गलाचरणमें नगण-गण पड़ेगा और यदि यह मानें कि 'जे' गुरु ही माना जायगा चाहे उच्चारण करनेमें उसे ह्रस्व ही पढ़ें तो 'भगण' गण पड़ेगा। 'जो' पाठसे भी 'भगण' गण ही होगा। नगणका देवता स्वर्ग और फल सुख है। भगणका देवता चन्द्रमा और फल निर्मल यश है। (म० श्लो० १ देखिये।)

टिप्पणी—१ 'जो सुमिरत' इति। 'जो सुमिरत' का भाव कि—(क) जप, तप, पूजन आदिका अधिकार सबको नहीं होता और स्मरणका अधिकार सब वर्णाश्रमोंको है। आपके स्मरणमात्रसे ही सिद्धि मिलती है। इस पदको देकर सबको स्मरणका अधिकारी जनाया। 'जो' अर्थात् कोई भी वर्णाश्रमवाला हो, अथवा वर्णबाह्य अन्त्यज हो, एवं चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, वृद्ध, युवा, बालक कोई भी हो जो भी स्मरण करे वह मनोरथ सिद्ध कर ले। (ख) 'सुमिरत' अर्थात् स्मरण करते ही कामनाकी सिद्धि होती है, स्मरणहीकी देर है, सिद्धिमें देरी नहीं। प्रस्थान करनेमें आपका केवल स्मरण ही तो किया जाता है। (ग) [प० सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि 'सुमिरत' से जनाया कि अभी मैं आपकी वन्दनाके योग्य नहीं हूँ। आप कृपा करें और मैं रामचरितमानस लिखूँ तब वन्दनाके योग्य होऊँ।]

२ 'सिधि होइ' इति। गोस्वामीजी यहाँ यह नहीं लिखते कि क्या सिद्धि होती है। इसका कारण यह है कि यदि कोई एक-दो नाम दे देते तो इति हो जाती। नाम न देकर सूचित किया कि सब मनोरथ सिद्ध होते हैं अर्थात् मन, कर्म और वचन तीनों सिद्ध होते हैं, सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। [भगवत् या योगसम्बन्धी आठ सिद्धियाँ ये हैं—(१) अणिमा (यह प्रथम सिद्धि है जिससे अणुवत् सूक्ष्मरूप धारण कर सकते हैं, जिससे किसीको दिखायी नहीं पड़ते और कठिन-से-कठिन पदार्थमें प्रवेश कर जाते हैं)। (२) महिमा (इससे योगी अपनेको बहुत बड़ा बना लेता है)। (३) गरिमा (=गुरुत्व, भारीपन। इससे साधक अपनेको चाहे जितना भारी बना लेता है)। (४) लघिमा (इससे जितना चाहे उतना हलका बन जाता है)। (५) प्राप्ति (इच्छित पदार्थकी प्रापक है)। (६) प्राकाम्य (इससे मनुष्यकी इच्छाका व्याघात नहीं। इच्छा करनेपर वह पृथ्वीमें समा सकता, आकाशमें उड़ सकता है)। (७) ईशित्व (इससे सबपर शासनका सामर्थ्य हो जाता है)। (८) वशित्व (इससे दूसरोंको वशमें किया जाता है)। इनके अतिरिक्त दस सामान्य सिद्धियाँ हैं, यथा—'अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः। प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥ ४॥ गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति॥ ५॥' (भा० ११। १५)। 'अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्। मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥ ६॥ स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्। यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः॥ ७॥' (अर्थात् इस शरीरमें छः ऊर्मियाँ भूख-प्यासादिका न होना, दूरकी बात सुन लेना, दूरकी घटना देख लेना, मनके समान शीघ्र-गति होना, अभिलषित रूप धर लेना, पर-कायामें प्रवेश करना, स्वेच्छा-मृत्यु, देवताओंकी क्रीडाका दर्शन, संकल्पसिद्धि, आज्ञा (जिसका उल्लङ्घन न हो सके) और अप्रतिहतगति ये दस सामान्य सिद्धियाँ सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होती हैं)। इनके अतिरिक्त पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। त्रिकालज्ञता, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अभिभूत न होना, पराये मनकी जान लेना, अग्नि सूर्य-जल आदिकी शक्तिको बाँध लेना और पराजित न होना। यथा—'त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता। अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः॥ ८॥'

☞ विनयपत्रिकामें 'जो सुमिरत सिधि होइ' की जगह 'सिद्धिसदन' विशेषण है। इससे दोनोंका भाव साम्य समझकर हमने 'सिद्धियों' का वर्णन यहाँ किया है। इस तरह 'जो सुमिरत सिधि होइ' में यह भाव होता है कि योगसाधनद्वारा जो कष्टसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वह गणेशजीके 'सुमिरन' मात्र साधनसे सुलभ हो जाती हैं।]

३ 'गननायक करिवर बदन' इति। (क) गणोंके स्वामी कहनेका भाव कि शिवजीके गण क्रूर-स्वभाव, उपद्रवी और विघ्नकारक होते हैं। आपकी वन्दना करनेसे वे विघ्न न करेंगे, क्योंकि आप उनके स्वामी हैं। (ख) प्रथम कहा कि जिनके स्मरणसे 'सिद्धि' प्राप्त होती है, वे कौन हैं? उनके क्या नाम, रूप आदि हैं? यह 'गननायक' से बताया। गननायक (अर्थात् गणेशजी) उनका नाम है। पर गणनायक और भी हैं जैसे कि कार्त्तिकेय आदि। यथा—'स्कन्दश्च सेनापति', 'सेनानीनामहं स्कन्द' (गीता १०। २४)। यथा—'आनन्दकन्दाय विशुद्धबुद्धये शुद्धाय हंसाय परावराय। नमोऽस्तु तस्मै गणनायकाय श्रीवासुदेवाय महाप्रभाय॥' (पद्मपु० भूमिखण्ड ९८। १३) अर्थात् जो आनन्दके मूलस्रोत, विशुद्धज्ञानसम्पन्न, शुद्ध हंसस्वरूप हैं, कार्य-कारण जगत् जिनका स्वरूप है, जो सम्पूर्ण गणोंके स्वामी और महाप्रभासे परिपूर्ण हैं, उन श्रीवासुदेवको नमस्कार है। (इसमें वासुदेवको 'गणनायक' कहा है)। अत. इस अतिव्याप्तिके निवारणार्थ 'करिवरबदन' कहा। अथवा, 'करिवरबदन' कहनेसे पशुत्वदोष आरोपण होता, अतएव उसके निवारणार्थ 'बुद्धिरासि सुभ गुन सदन' कहा। ('करिवरबदन' होनेका कारण आगे, गणेशजीकी कथामें दिया गया है।)

४ 'बुद्धिरासि सुभगुनसदन' इति। (क) गणेशजीकी दो शक्तियाँ हैं, सिद्धि और बुद्धि (प्रथम चरणमें सिद्धिका नाम दिया और अन्तिममें बुद्धिका)। यथा—'ॐकारसन्निभाननमिन्दुभाल मुक्ताग्रबिन्दुममलद्युतिमेकदन्तम्। लम्बोदरं कलचतुर्भुजमादिदेवं ध्यायेन्महागणपतिं मतिसिद्धिकान्तम्॥' अर्थात् ॐकारसदृश हाथीकेसे मुखवाले, जिनके ललाटपर चन्द्रमा और बिंदुतुल्य मुक्ता विराजमान हैं, जो बड़े तेजस्वी और एक दाँतवाले हैं, जिनका उदर लम्बायमान है, जिनकी चार सुन्दर भुजाएँ हैं उन बुद्धि और सिद्धिके स्वामी आदिदेव गणेशजीका ध्यान करे। पुनश्च, 'गणेश हेरम्ब गजाननेति महोदर स्वानुभवप्रकाशिन्। वरिष्ठ सिद्धिप्रिय बुद्धिनाथ वदन्त एवं त्यजत प्रभीतो॥' (स्तोत्ररत्नावली गी० प्रे०)। अर्थात् हे गणेश! हे हेरम्ब! हे गजानन! हे महोदर! हे स्वानुभवप्रकाशिन्! हे वरिष्ठ! हे सिद्धिप्रिय! हे बुद्धिनाथ! ऐसा कहते हुए आपलोग डर छोड़ दें। (स्तोत्र ६० श्लोक १०) [पुन भाव कि राशि (ढेर) बाहर रहती है, सबको सुगमतासे प्राप्त होती है अत 'बुद्धिराशि' कहकर जनाया कि आप सबको बुद्धि प्रदान करते हैं, विनयपत्रिकामेंके 'बुद्धिविधाता' का भाव 'बुद्धिराशि'में है अर्थात् आप बुद्धिके उत्पन्न, विस्तार या विधान करनेवाले हैं, बुद्धिके दाता या प्रकाशक हैं। 'शुभगुणोंके सदन' कहनेका भाव कि सदनमें पदार्थ गुप्त रहता है। काहू 'अति सकोची' (अधिकारी) ही पाता है। यहाँ भगवत्प्राप्ति करानेवाले गुण 'शुभगुण' हैं। ये गुप्त पदार्थ हैं। ये पदार्थ अधिकारीको ही देते हैं। इसीसे 'अनुग्रह' करनेको कहा। अर्थात् यद्यपि मैं अधिकारी नहीं हूँ तो भी आप कृपा करके दे सकते हैं। (रा० प्र० से)] (ख) 'सिद्धि' 'बुद्धि' दोनोंको कहकर व्यञ्जित किया कि यहाँ शक्तिसहित गणेशजीकी वन्दना की गयी है। (ग) ['गणनायक' के साथ 'बुद्धिरासि सुभगुनसदन' विशेषण देनेका तात्पर्य यह है कि उनमें गणोंके राजा होनेके पूर्ण गुणधर्म वर्तमान हैं। अत. वे अपने पदके सुयोग्य पात्र और अधिकारी हैं।] 'जो सुमिरत सिधि होइ' से गणेशजीका प्रभाव कहा। 'गननायक' से नाम, करिवरबदन, से रूप, और 'बुद्धिरासि सुभ गुनसदन' से गुण सूचित किये। 'जो सुमिरत सिधि होइ' प्रथम कहा और 'बुद्धिरासि सुभगुनसदन' पीछे कहा, यह 'मुद्रालङ्कार' हुआ। (खर्रा)। 'जो सुमिरत सिधि होइ' में 'अक्रमातिशयोक्ति' है। यथा—'कारण और कारज दुहूँ जो बरनिय एक सग। अक्रमातिशय उक्ति सो भूषण कविता अङ्ग॥', 'अक्रमातिशयोक्तिस्यात्सहत्वे हेतुकार्ययो।', 'सूच्यार्थसूचनं मुद्राप्रकृतार्थपरैः पदैः॥' (कुवलयानन्द १४०, १३९) अर्थात् जब हेतु और कार्य साथ ही कहा जाता है तब वहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति' अलङ्कार होता है॥ १४०॥ शब्दोंसे साधारण अर्थ जो प्रकट हो रहा है उसके अतिरिक्त उन्हीं शब्दोंसे जहाँ कवि अपने हृदयका लक्षित अन्य भाव सूचित करता है वहाँ 'मुद्रा अलङ्कार' होता है।

६—इस सोरठेमें स्पष्टरूपसे नाम नहीं दिया क्योंकि प्रथम पूज्य होनेसे नाम प्रसिद्ध ही है।

विशेष भाव

प० रामकुमारजी—(क) गणेशजी श्रीरामनामके प्रभावसे प्रथम पूजनीय हैं। वे तो श्रीरामजीके स्वरूप ही हैं। (ख) 'रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥' (वसिष्ठसंहिता)।

इस श्लोककी सब बातें सोरठेमें हैं। जैसे कि 'नाम'—गणनायक। 'रूप'—करिवरबदन। 'लीला'—'सुमिरत सिधि होइ' और 'धाम'—शुभगुणसदन। इस प्रकार इस मङ्गलाचरणमें गणेशजीका 'नाम-रूप-लीला-धामात्मक' स्मरण है। (ग) इस सोरठेमें तीन बातें कहीं। सिद्धि, बुद्धि और शुभगुण। क्योंकि कवितामें, इन तीनोंकी आवश्यकता है। गोस्वामीजी चाहते हैं कि हमारा कार्य सिद्ध हो, ग्रन्थकी सिद्धि हो, रामचरित रचनेमें हमें उसके योग्य बुद्धि प्राप्त हो और इसमें काव्यके सब समीचीन गुण आ जावें। [प्रत्येक कविको तीन वस्तुओंकी चाह एवं जरूरत होती है। एक तो विघ्नबाधाओंसे रक्षा, क्योंकि बिना विघ्नरहित मनके किसी लोकोपयोगिनी कीर्तिका संस्थापन नहीं हो सकता। अतः निर्विघ्नताके लिये 'जो सुमिरत सिधि होइ' कहा। दूसरे प्रतिभा, मेधा, बुद्धि—इसके लिये 'बुद्धिरासि' कहा। तीसरे दिव्य गुणोंकी एकत्रता, क्योंकि इसमें मन पक्षपातरहित हो जाता है। अतः दिव्य गुणोंके सम्पादनके लिये 'शुभगुणसदन' का उल्लेख किया। (पं० रामगुलाम द्विवेदी, लाला छक्कनलाल)]

गणनायक श्रीगणेशजी

(१)—ये हमारोंके पञ्चदेवोंमेंसे एक हैं। वैवस्वतमन्वन्तरके इन गणेशजीका सारा शरीर मनुष्यका-सा है, पर सिर हाथीका-सा, चार हाथ और एक दाँत हैं, तोंद निकली हुई, सिरपर तीन आँखें और ललाटपर अर्द्धचन्द्र है।

श्रीगणेशजीकी उत्पत्तिकी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणके गणेशखण्डके अध्याय ७ में भी है। प्रथम षष्ठाध्यायमें पार्वतीजीका पुत्रप्राप्तिक यज्ञ करनेका वर्णन है, जिसमें समस्त देवता, मुनि, महर्षि आदि आये थे। शिवजीने उस महासभामें विष्णुभगवान्‌से प्रार्थना की। जिसे सुनकर भगवान्‌ने पार्वतीजीको व्रतादिका उपदेश किया। फिर व्रताराधनासे सन्तुष्ट हो पार्वतीजीपर कृपा करके श्रीकृष्ण भगवान्‌का प्रकट होना और वर देना वर्णन किया गया है। (अध्याय ९ श्लोक० १६)। अष्टमाध्यायपर्यन्त गणेशजीका रूप वर्णन किया गया है।

'करिवरबदन' इति। हस्तिमुखप्राप्तिकी कथा इस प्रकार वर्णन की गयी है। शङ्करजीके पुत्रोत्सवमें आमन्त्रित सब देवताओंने आकर बालक गणेशजीको आशीर्वाद देकर विष्णु-विधि-शिवादिसहित सभी महासभामें सुखपूर्वक विराजमान हुए। तदनन्तर सूर्य-पुत्र शनैश्चर आये और त्रिदेवको प्रणामकर उनकी आज्ञासे पार्वतीजीके महलमें गणेशजीके दर्शनार्थ गये। 'एतस्मिन्नन्तरे तत्र द्रष्टुं शङ्करनन्दनम्। आजगाम महायोगी सूर्यपुत्रः शनैश्चरः॥ अत्यन्तनम्रवदन ईषन्मुद्रितलोचनः।' (अ० ११-५, ६)। इनको नीचे मस्तक किये हुए देख पार्वतीजी बोलीं कि हमको और हमारे पुत्रको क्यों नहीं देखते हो? मुख नीचे क्यों किये हो? 'कथमानम्रवक्त्रस्त्वं श्रोतुमिच्छामि साम्प्रतम्। किं न पश्यसि मां साध्वीं बालकं वा ग्रहेश्वर॥ १८॥' शनैश्चरने अपनी पत्नीसे प्राप्त शाप इसमें कारण बताया कि हमारी दृष्टि जिसपर पड़ेगी उसका नाश हो जायगा। आपकी कथा सुनकर भी पार्वतीजीने न माना और कुतूहलसे कहा कि तुम निःशङ्क होकर मुझको और मेरे पुत्रको देखो (अ० १२। २)। बहुत समझानेपर भी न माननेपर शनिने धर्मको साक्षी कर ज्यों ही नेत्रके कोरसे सौम्यदृष्टि शिशुके मुखपर डाली, दृष्टिमात्रसे उसका सिर कट गया। 'सव्यलोचनकोणेन ददर्श च शिशोर्मुखम्॥ ७॥ शनैश्चरदृष्टिमात्रेण चिच्छेद मस्तकं मुने। विवेश मस्तकं कृष्णे गत्वा गोलोकमीप्सितम्॥ ७॥' और वह छिन्न मस्तक अपने अंशी श्रीकृष्ण भगवान्‌में प्रविष्ट हो गया*। पार्वतीजी पुत्रशोकसे मूर्च्छित हो गयीं। कैलासपर कोलाहल मच गया। सब देवता विस्मित हो गये, सबको मूर्च्छित देख भगवान्‌ने गरुड़पर सवार हो पुष्पभद्रा नदी-तीर जाकर देखा कि वनमें गजेन्द्र हथिनीसहित सो रहे हैं और उनका सुन्दर बच्चा अलग पड़ा हुआ है। तुरत सुदर्शनसे उसका मस्तक काटकर गरुडपर रखकर वे वहाँ आये जहाँ शिशुका धड़ गोदमें लिये हुए पार्वतीजी बैठी थीं और उस मस्तकको शिशुके धड़पर लगाया। सिरपर लगते ही बालक जी उठा और उसने हुंकार की,

* शनैश्चरकी पत्नी चित्ररथ गन्धर्वकी कन्या थी। वह बड़े उग्र स्वभावकी थी। एक बार शनि भगवद्ध्यानमें मग्न थे। उसी समय वह शृङ्गार किये मदमाती इनके पास गयी। ध्यानावस्थित होनेसे इन्होंने उसकी ओर नहीं देखा। उसीपर उसने शाप दे दिया। 'हरेः पादं ध्यायमानं पश्यन्ती मदमोहिता। मत्समीपं समागत्य सस्मिता लोललोचना॥ २९॥ शशाप मामपश्यन्तमृतुनाशाच्च कोपतः। बाह्यज्ञानविहीनश्च ध्यानसलग्नमानसम्॥ ३०॥ न दृष्टाहं त्वया तेन दृष्टमृतुरक्षणम्। त्वया दृष्टं च यद्वस्तु मूढ सर्वं विनश्यति॥ ३१॥'

'रुचिरं तच्छिरस्सम्यक् योजयामास बालकम् ॥ २० ॥ ब्रह्मस्वरूपो भगवान् ब्रह्मज्ञानेन लीलया। जीवयामास तं शीघ्रं हुङ्कारोच्चरणेन च ॥ २१ ॥ पार्वतीं बोधयित्वा तु कृत्वा क्रोडे च तं शिशुम्। बोध्यामास तं कृष्ण आध्यात्मिकविरोधने ॥' (अ० १२। २२)।

(२)—कल्पभेदसे गणेशजीके चरित्र अनेक प्रकारके हैं। उनकी उत्पत्ति, गणनायकत्व, हस्तिमुखत्व, प्रथम पूज्यत्व आदिकी कथाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। शनैश्चरकी दृष्टि पड़नेसे शिरश्छेदन होने और हाथीका मुख जोड़े जानेकी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणकी कही गयी। शिवपुराण रुद्रसंहिता कुमारखण्डमें वह कथा है जिसमें शिवजीने ही उनका सिर काट डाला था। यह कथा श्वेतकल्पकी है और इस प्रकार है—

(क)—श्रीपार्वतीजीकी जया और विजया सखियाँ एक बार आपसमें विचार करने लगीं कि जैसे शङ्करजीके अनेक गण हैं वैसे ही हमारे भी आज्ञाकारी गण होने चाहिये, क्योंकि शिवगणोंसे हमारा मन नहीं मिलता। एक समय श्रीपार्वतीजी स्नान करती थीं। नन्दीश्वर द्वारपर थे। उनके मना करनेपर भी शिवजी भीतर चले आये। यह देख पार्वतीजीको सखियोंका वचन हितकारी एवं सुखदायक समझ पड़ा। अतएव एक बार परम आज्ञाकारी अत्यन्त श्रेष्ठ सेवक उत्पन्न करनेकी इच्छा कर उन्होंने अपने शरीरके मैलसे सर्वलक्षणसम्पन्न एक पुरुष निर्माण किया जो सर्वशरीरके अवयवोंमें निर्दोष तथा सर्वावयव विशाल, शोभासम्पन्न महाबली और पराक्रमी था। उत्पन्न होते ही देवीने उसको वस्त्र-भूषणादिसे अलङ्कृतकर आशीर्वाद दिया और कहा कि तुम मेरे पुत्र हो। गणेशजी बोले कि आज आपका क्या कार्य है? मैं आपकी आज्ञा पूरी करूँगा। श्रीपार्वतीजीने कहा कि मेरे द्वारपाल हो। द्वारपर रहो। कोई भी क्यों न हो उसे भीतर न आने देना। द्वारपर बिठाकर वे सखियों-सहित स्नान करने लगीं। इतनेहीमें शिवजी आये। भीतर जाने लगे तो गणेशजीने रोका और न माननेपर उनपर छड़ीसे प्रहार किया। भीतर नहीं ही जाने दिया। तब गणेशजीपर क्रुद्ध होकर उन्होंने गणोंको आज्ञा दी कि इसे देखो 'यह कौन है? क्यों यहाँ बैठा है?' और बाहर ही बैठ गये (अ० १३)। शिवगणों और गणेशजीमें बहुत वाद-विवाद हुआ। वे शिवाज्ञापालनपर आरूढ और ये माताकी आज्ञापालनपर आरूढ। आखिर शिवजीने युद्धकी आज्ञा दी। (अ० १४) गणेशजीने अकेले ही समस्त गणोंको मारकर भगा दिया। तब ब्रह्माजी शिवजीकी ओरसे शान्ति कराने आये। आपने ब्रह्माकी दाढ़ी-मूँछ उखाड़ ली, साथके देवताओंको मारा, सब भाग गये। फिर भगवान् विष्णु, शिवजी, इन्द्रादि देवता, कार्त्तिकेय आदि संग्रामको आये, पर कोई गणेश-जीको जीत न सका। अन्तमें जब विष्णुसे युद्ध हो रहा था उसी बीचमें शिवजीने त्रिशूलसे गणेशजीका सिर काट डाला। नारदजीने पार्वतीजीको समाचार देकर कलह बढ़ायी। (अ० १५, १६)। पार्वतीजीने एक लक्ष शक्तियोंको निर्माणकर सबका नाश करने भेजा। वे जाकर सबको भक्षण करने लगीं। हाहाकार मच गया। तब नारदको आगे कर सब देवता दीनतापूर्वक पार्वतीजीके पास आकर उन्हें प्रसन्न करने लगे। पार्वतीजीने कहा कि यदि मेरा पुत्र जी जाय और तुम सबोंके मध्यमें पूजनीय हो तभी संहार रुक सकता है। यथा—'मृतपुत्रो यदि जीवेत तदा संहरणं न हि। यथा हि भवतां मध्ये पूज्योऽयं च भविष्यति ॥ १७। ४।' सबोंने इसे स्वीकार किया। शिवजीने देवताओंसे कहा कि आप उत्तर दिशामें जाइये। जो पहले मिले उसका सिर काटकर गणेशजीके शरीरमें जोड़ दीजिये। एक दाँतवाला हाथी उनको प्रथम मिला। उसका सिर काट लाकर उन्होंने गणेशजीके सिरपर लगा दिया। फिर जलको अभिमन्त्रितकर उनपर छिड़का जिससे बालक जी उठा। इस कारण 'करिवर बदन' वा 'गजानन' नाम पड़ा। (अ० १७)। पुत्रको जीवित देख माताने प्रसन्न होकर बहुत आशीर्वाद दिये और कहा कि जो तुम्हारी सिन्दूर, चन्दन, दूर्वा आदिसे पूजाकर नैवेद्य, आरती, परिक्रमा तथा प्रणाम करेगा उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँगी और पूजनसे विघ्न दूर होंगे। यथा—'तस्य वै सकला सिद्धिर्भ-विष्यति न संशयः। विघ्नान्यनेकरूपाणि क्षयं यास्यन्त्यसंशयम् ॥ १८। १२।' देवताओंने बालकको शिवजीकी गोदमें बिठा दिया और उन्होंने इन्हें अपना दूसरा पुत्र स्वीकार किया। तब गणेशजीने पिताको तथा भगवान् विष्णु, ब्रह्मा आदिको प्रणामकर क्षमा माँगते हुए कहा कि मनुष्योंमें मान ऐसा ही होता है। त्रिदेवने एक साथ वर दिया कि यह हमारे समान पूजनीय होगा, इनकी पूजा बिना जो हमारी पूजा करेगा उसको पूजाका फल न मिलेगा। यह गणेश विघ्नहर्ता और सब कामनाओं एवं फलोंको देनेवाला होगा यथा—'गणेशो विघ्नहर्ता हि सर्वकामफलप्रदः। १८। २२।' इस प्रकार गणेशजी

विघ्नविनाशन और सब कामनाओंके देनेवाले हैं। शिवजीने वर दिया कि विघ्न हरनेमें तुम्हारा नाम सदा श्रेष्ठ होगा। तुम मेरे सब गणोंके अध्यक्ष और पूजनीय होगे। इनसे 'सुमिरत सिधि होइ' और 'गणनायक' हुए। यथा—'त्वन्नाम विघ्न-हन्तृत्वे श्रेष्ठं चैव भवत्विति। मम सर्वगणाध्यक्ष सम्पूज्यस्त्वं सदाधुना॥ १८। ३१।' गणेशजीकी उत्पत्ति भाद्रपद कृष्ण चतुर्थीको चन्द्रोदयके समय हुई थी।

(ख) अब सिद्धि-बुद्धिके साथ विवाहकी कथा सुनिये। विवाहके योग्य होनेपर दोनों पुत्रोंका विवाह करनेका विचार होने लगा। दोनों पुत्र कहने लगे कि पहले हमारा ब्याह करो। माता पिताने यह युक्ति निकाली कि तुममेंसे जो प्रथम सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा करके आयेगा उसीका ब्याह पहले होगा। कार्त्तिकेय प्रदक्षिणाके लिये चल दिये। गणेशजीने बारम्बार बुद्धिसे विचारकर यथायोग्य स्नानकर घरमें आ माता पितासे बोले कि मैं आपको सिंहासनासीनकर आपकी पूजा करना चाहता हूँ। उन्होंने पूजा ग्रहण करना स्वीकार किया। गणेशजीने पूजनकर सात बार परिक्रमा की और प्रेमपूर्वक हाथ जोड़ स्तुति कर विनय की कि आप मेरा विवाह शीघ्र कर दें। उन्होंने कहा कि पृथ्वीकी परिक्रमा कर आओ। तब गणेशजी बोले कि मैंने तो सात परिक्रमाएँ कर लीं। वेद, शास्त्र, धर्मसञ्चयमें लिखा है कि जो माता-पिताका पूजनकर उनकी परिक्रमा करता है उसको पृथ्वीकी परिक्रमाका फल होता है। जो माता पिताको घरमें छोड़ तीर्थको जाता है, उसे उनको मारनेका पाप लगता है। यथा—'पित्रोश्च पूजनं कृत्वा प्रक्रान्तिं च करोति यः। तस्य वै पृथिवीजन्यफलं भवति निश्चितम्॥ १९। ३९।' अतएव मेरा शीघ्र विवाह कीजिये, नहीं तो वेद-शास्त्रोंको असत्य कीजिये। गणेशजीके वचन सुनकर दोनों प्रसन्न हुए। उसी समय विश्वरूप प्रजापति आ गये। उन्होंने अपनी 'सिद्धि' 'बुद्धि' नामकी दोनों कन्याओंको विवाह देनेकी प्रार्थना की। अतः धूम-धामसे ब्याह कर दिया गया। सिद्धिसे क्षेम और बुद्धिसे लाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुए। कार्त्तिकेयजीको नारदजीने कुनका दिया जिससे वे रुष्ट होकर माता-पिताको प्रणामकर क्रौंचपर्वतपर चले गये और फिर उन्होंने विवाह भी नहीं किया।

(ग) प्रथम पूज्य होनेकी कथा दोहा १९ की अर्धाली ४ में दी गयी है।

(३) पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें पुलस्त्यजीने भीष्मपितामहजीसे गणेशजीके जन्मकी कथा इस प्रकार कही है। एक समयकी बात है कि गिरिजाजीने सुगन्धित तैल और चूर्णसे अपने शरीरमें उबटन (अङ्गराग) लगवाया। उससे जो मैल गिरा उसे हाथमें उठाकर उन्होंने एक पुरुषकी आकृति बनायी, जिसका मुख हाथीके समान था। फिर खेल करते हुए श्रीपार्वतीजीने उसे गङ्गाजीके जलमें डाल दिया। गङ्गाजी अपनेको पार्वतीजीकी सखी मानती थीं। उसके जलमें पड़ते ही वह पुरुष बढ़कर विशालकाय हो गया। पार्वतीजीने उसे पुत्र कहकर पुकारा। फिर गङ्गाजीने भी पुत्र सम्बोधित किया। देवताओंने गाङ्गेय कहकर सम्मानित किया। इस प्रकार गजानन देवताओंके द्वारा पूजित हुए। ब्रह्माजीने उन्हें गणोंका आधिपत्य प्रदान किया। इस कल्पकी कथाके अनुसार 'करिबर बदन' वे जन्मसे ही थे। (अ० ४५। ४४५—४४६)। सृष्टिखण्डमें ही सनत्जीसे जो कथा व्यासजीने कही है उसमें लिखा है कि श्रीपार्वतीदेवीने शङ्करजीके संयोगसे स्कन्द और गणेश नामके दो पुत्रोंको जन्म दिया। (अ० ६५। ५)।

(४) श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीने यह शङ्का उठाकर कि 'खण्डितरूप (अर्थात् एक ही दाँत) धारण करनेका क्या हेतु है?' इसका समाधान यह किया है कि "पूर्वजन्मके अभिमानी पशुयोनि पाते हैं। वह अभिमान शृङ्गरूपसे देख पड़ता है। हाथी विद्याभिमानी था, इसीसे उसका शृङ्ग उसके मुखकी राह निकला। अभिमान दो प्रकारका है। एक तो अपनेको बड़ा मानना, दूसरा भक्ताभिमान। यथा—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥' (३। ११)। भक्ताभिमान कल्याणकारी है। यह दक्षिण दन्त है। परम मङ्गलहेतु गणेशजीका वामदन्त तोड़ डाला गया। अतः एकदन्त हैं।"

मङ्गलाचरणमें गणेशजीकी स्तुति

गोस्वामीजीके इष्ट श्रीरामजी हैं, तब प्रथम मङ्गलाचरणमें गणेशजीकी स्तुति कैसे की? संस्कृत मङ्गलाचरण-श्लोक-में भी कुछ इस विषयपर लिखा जा चुका है। कुछ यहाँ भी लिखा जाता है—

(१) इस ग्रन्थके आदिमें श्रीगणेशजीका मङ्गलाचरण किया है। इस तरह गोस्वामीजीने अपने अतिप्रसिद्ध बारह ग्रन्थोंमेंसे छ मे गणेश-वन्दना की है। और छ मे नहीं की। ऐसा करके उन्होंने पूर्वाचार्योंकी दोनों रीतियाँ दिखायी है। वह यह कि कोई आचार्य गणेशवन्दना करते है और कोई नहीं भी करते। (प० रा० कु०। विनय-पीयूषसे)

(२) आरम्भमें श्रीगणेशजीकी वन्दना करनेका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि गणेशजी अद्वितीय लेखक थे। अठारहो पुराणोके मननशील द्रुतलेखक श्रीगणेशजी ही है। किसी भी कार्यको निर्विघ्न समाप्त करनेकी कामनासे सिद्धिदाता गणेशजीका स्मरण-पूजन प्रारम्भ किया जाता है। आस्तिक हिंदू लेखकोंका विश्वास है, दृढ धारणा है कि सिद्धिदाता श्रीगणेशजी प्रसिद्ध और अद्वितीय लेखक है। अत ग्रन्थारम्भके पूर्व इनका स्मरण अवश्य करते है। ऐसा करनेसे ग्रन्थ-समाप्तिमें विघ्नकी सम्भावना नहीं रहती।

(३) भगवान्‌के चार प्रकारके अवतार शास्त्रोंमे कहे गये है। आवेश, अंश, कला और पूर्ण। जिसमें उपचित पुण्य विशेष हो ऐसे जीवात्माके अन्दर शक्ति आवेश होकर कार्य करनेवाला आवेशावतार। जैसे, ब्रह्मावतार, इन्द्रावतार, शिवावतार इत्यादि। इन्हीं आवेशावताररूप अधिकारी पुरुषोंमे श्रीगणेशावतार भी है अत· 'वसवोऽष्टौ त्रय· कालो रुद्रा एकादश स्मृता.। तारका दश चैवाशास्त्वमेव रघुनन्दन.॥' इत्यादि प्रमाणानुसार श्रीगोस्वामीजी 'गणपति, रुद्र, शक्ति और सूर्यादि देवताओंके अदर आवेशावतार श्रीजानकीवल्लभ ही तत्त्वदैवतरूपमें है, ऐसा समझकर स्तुति करते है। अत अनन्यता-का भङ्ग न समझना चाहिये। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी)।

(४) प्रभुको छोड़ भक्तकी वन्दना की, क्योंकि उनसे अनहोनी बात भी हो सकती है, प्रभु अपने उपासकको इतना मानते हैं। साक्षात् गणेश नाम न दिया, क्योंकि नामजपके कारण कवि उनको गुरु समझते थे। (सू० मिश्र)। (पृष्ठ ५५ टि० ६ भी देखिये)।

(५) प० जगन्नाथप्रसाद दूबेने पाँडे रामबख्शके भावको यों कहा है—'इस सोरठामे गुसाईंजीने श्रीगणेशजीकी वन्दना करके सनातन परम्पराका निर्वाहमात्र किया है, ऐसा कहनेका साहस नहीं होता। एक बार पाठ करनेके अनन्तर यदि हम अपनी ही आत्मासे पूछें तो हमें कुछ और ही उत्तर मिलेगा। उस स्पष्ट उत्तरमें श्रीपरमाचार्य गुसाईंजीकी ऋषिगण-सुलभ उदारता, भक्तोचित प्रेमकी पराकाष्ठा और सन्तजन सुलभ सम्यक् ज्ञानकी गरिमाका दिव्य दर्शन होगा। अपने इष्टमें तल्लीन रहते हुए भी उन्होंने प्रथमपूज्य श्रीगणेशजीकी वन्दना उसी उत्साह और प्रेमसे की है जैसा कि कोई परमानन्य गाणपत्य कर सकता है। श्रीरामभक्तिरूपी वर्षाऋतुमे पञ्चदेवोपासनारूपी इतर पञ्चऋतुओंका पोषण किया है।'

(६) श्रीचन्दनपाठकजीकी समालोचना तु० प० मे यों दी है—'लोकवत् लीलाके वर्णनमे कविका हार्द, चाहे उस काव्यमें कहीं भी दृष्टि डालिये, अथसे इति तक, सब कहीं चन्द्रमाकी सुधामयी किरणोंकी तरह ज्यों-का-त्यों एकरस अपनी छटा दिखलाता है, उसमें कैवल्यपादकी झलक रहती है। वन्दनामे तो उसका सजीव चित्र उतरा हुआ रहता है।'

(७) पुन, श्रीजहाँगीर अलीशाह औलियाके 'तुलसीचौपाई' का अनुवाद तु० प० मे यों दिया है कि :'इस सोरठाके भावकी विनयपत्रिकाके गणपतिवन्दनासे तुलना करनेपर हमे साफ साफ मालूम हो जाता है कि श्रीगुसाईंजी अपने अभिप्रेत वस्तुका क्या मूल्य रखते हैं। वे बहुदेववाद और पञ्चदेववादको बर्तते हुए भी सिर्फ :व्यभिचार अर्थात् अपने और इष्टके बीचमें किसी औरको स्थान देनेकी गन्ध भी नहीं लगने देते। जैसे कमल इस बातका 'जाज्वल्य' उदाहरण है कि वह पानीमें रहकर भी पानीसे अलग अपनी स्थिति रखता है, उसी तरह गुसाईंजी भी आध्यात्मिक जगत्‌मे इस बातके एक ही और सच्चे उदाहरण है कि बहुदेववाद, पञ्चदेववाद और कहाँतक कहे प्रेतपितरगन्धर्व एव चराचरवादका आश्रय लेते हुए भी वे अपने इष्टके अनन्यभक्त बने रहे। 'सेए न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी, हितु कै न माने बिधि हरिउ न हर॥' (विनय २५०)। यह उनकी निष्कामताका प्रमाण और परिणाम है। सबकी स्तुति करके वे क्या माँगते हैं? उसे उन्हींके मधुर शब्दोंमें सुनिये। 'माँगत तुलसीदास कर जोरे। बसहुँ राम सिय मानस मोरें॥' उनकी

यह प्रार्थना तुरत स्वीकृत हुई। श्रीरामजीने उनके रचित काव्य 'मानस' में सचमुच वास किया। इस बातकी गवाही वह घटघटवासी प्रभु स्वयं मधुसूदनसरस्वतीकी जुबानपर बैठकर दे रहा है। 'आनन्दकानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरु। कविता मञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥'

(८) श्रीस्वामीजी देवतीर्थ (काष्ठजिह्व) 'मानससुधा' में कहते हैं कि रामचरितमानस मन्त्ररामायण है और मन्त्रोंके आदिमें प्रणव (ॐ) का होना जरूरी है। इसलिये प्रणवस्वरूप गणेशजीकी वन्दना ग्रन्थके आदिमें की गयी है। (तु० प०)।

सोरठेमें सातों काण्डोंका अभिप्राय

आदि श्लोक और सोरठेमें सत सोपानोंका भाव कहा गया है! प्रथम श्लोकमें यह बात दिखला आये हैं। अब प्रथम सोरठेमें दिखलाते हैं।*

(१) 'सुमिरत सिधि' से बालकाण्ड। क्योंकि इसमें श्रीशिव-पार्वतीजी, श्रीनारदजी, श्रीमनु शतरूपाजी इत्यादिका स्मरण करना और कामनाकी सिद्धि होनेका वर्णन है। यथा—'सुमिरत राम हृदय अस आवा। १। ५७।', 'मन महुँ रामहि सुमिर सयानी। १। ५६।', 'पतिपद सुमिरि तजेउ सबु भोगू। १। ७४।' 'सुमिरत हरिहि श्रापगति बाधी। १। १२५।', 'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा। बिस्वबास प्रगटे भगवाना'। (१। १४४–१४६) 'सुमिरन' का प्रयोग इस काण्डमें बहुत हुआ है। पुन, श्रीदशरथजी महाराजकी पुत्रकामना, श्रीविदेहजी महाराजकी धनुर्भंगप्रतिज्ञा, श्रीविश्वामित्रजीकी यज्ञरक्षा इत्यादिकी सिद्धिके विस्तृत भाव भी इन दोनों शब्दोंमें आ जाते हैं।

(२) 'होइ' और 'गननायक' से अयोध्याकाण्ड। क्योंकि इसमें श्रीअवधपुरवासियोंसहित चक्रवर्ती महाराजकी इच्छा हुई कि श्रीरामजी युवराज 'हों', देवताओंने चाहा कि वनगमन 'हो', राज्यका त्याग 'हो', मन्थरा और श्रीकैकेयीजीने चाहा कि श्रीभरतजी प्रजाके स्वामी 'होवें' इत्यादि। अन्तमें श्रीरामजीकी चरणपादुकाएँ राजसिंहासनपर पधरायी गयीं।

'करिबरबदन' से अरण्यकाण्ड। क्योंकि श्रीरामजीके 'बर बदन' से निशाचरवधका संकल्प और श्रीगणेश यहीं हुआ। यथा—'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३। ९।', 'मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता॥ ३। ७।' पुन, प्रभु श्रीरामजी श्रेष्ठ प्रसन्न मुखसे वनमें विचरते रहे। यहाँतक कि शूर्पणखा और खरदूषणादि भी आपका सुन्दर मुख देखकर मोहित हो गये। यथा—'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा। ३। १७।' 'जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥ ३। १९।'

(४) 'करौ अनुग्रह सोइ' से किष्किन्धा। 'सोइ' से पूर्व परिचय जनाया, जैसा कि 'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना' में 'पहिचानि' शब्दमें सूचित होता है। श्रीहनुमान्‌जी, सुग्रीवजी, बालि, तारा, अङ्गदजी वानर और ऋक्ष सबपर अनुग्रह किया गया। यथा—'तब रघुपति उठाइ उर लावा। कि० ३।', 'सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। ४। १२।', 'राम बालि निज धाम पठावा' 'दीन्ह ग्यान हर लीन्ही माया। ४। ११।' 'निरखि बदन सब होहिं सनाथा। ४। २२।', इत्यादि।

(५) 'बुद्धिरासि' से सुन्दरकाण्ड। क्योंकि इसमें हनुमान्‌जी, जाम्बवन्तजी तथा विभीषणजीकी बुद्धिकी चतुरता और श्रीहनुमान्‌जीकी बुद्धिकी परीक्षा एवं वरदानका वर्णन है। यथा—'जानइ कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥ सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि'''सु० २।', 'जामवंत कह सोइ बिजई बिनई गुनसागर। ५। ३०।' 'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि। ५। ४१।', इत्यादि।

---

* नोट—यह क्लिष्ट कल्पना है। परंतु महात्मा श्रीहरिहरप्रसादजी, श्रीसन्तसिंहजी, पंजाबीजी, पाठकजी इत्यादि कई प्रसिद्ध महानुभावोंके अनुभवसे ये भाव निकले और रामायणीसमाजमें पसंद किये जाते हैं, इसीसे इस ग्रन्थमें भी उनका संग्रह किया गया है।

(६) 'सुभ गुन' से लङ्काकाण्ड । क्योंकि निशाचरोंकी गति, देवताओंका बन्दीखानेसे छूटना, विभीषणजीको राज्य, जगत्‌में 'शुभ गुणोंका' फिरसे प्रचार, प्रभु श्रीरामजीका निशाचरोंमें भी 'शुभ गुण' देखते रहना, इत्यादि 'शुभ' घटनाओंका उल्लेख इस काण्डमें हुआ है।

(७) 'सदन' से उत्तरकाण्ड । क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीको अपने सदन (धाम) श्रीअवधको तथा वानर, ऋक्ष और विभीषणादिका अपने-अपने स्थानोंको लौटना, देवताओंका सुखपूर्वक अपने-अपने लोकोंमें जा बसना इत्यादिका उल्लेख इस काण्डमें हुआ है।

मूक होहि बाचाल पंगु चढ़ै गिरिबर गहन।
जासु कृपा सो दयाल[1] द्रवौ सकल कलिमलदहन ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मूक = गूँगा। बाचाल = (सं० वाचा + अल) वाणीको समर्थ, बहुत बोलनेवाला, वक्ता, वाणीभूषण। यथा—'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्। इति अव्ययकोशे।' पंगु (सं०)=जिसके पैर न हों। जो पैरसे चल न सकता, लँगड़ा। गिरिबर = बड़े-बड़े पर्वत। गहन = गम्भीर, अति विस्तार। = वन; यथा—'अज्ञान गहन पावकप्रचण्ड।' (विनय ६४)। = दुर्गम। गिरिबर गहन = बड़े दुर्गम पर्वत। = वनसंयुक्त बड़े पर्वत।

अर्थ—जिनकी कृपासे गूँगा भी प्रबल वक्ता वा वाणीभूषण हो जाता है और पंगुल भी बड़े दुर्गम पर्वतपर चढ़ जाता है, वे कलिके समस्त पापोंको जला डालनेवाले दयालु मुझपर दया करें ॥ २ ॥*

प्रश्न—यहाँ किसकी वन्दना की गयी है?

उत्तर—कोई-कोई महानुभाव यहाँ विष्णु भगवान्‌की वन्दना होना कहते हैं और कोई-कोई सूर्यनारायणकी और कोई-कोई इसमें श्रीरामजीकी वन्दना मानते हैं। अपने-अपने पक्षका पोषण जिस प्रकार ये सब महानुभाव करते हैं वह नीचे दिया जाता है।

विष्णुपरक सोरठाके कारण

(१) श्री पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि—(क) 'पापनाशन' भगवान् विष्णुका एक नाम है। 'पापनाशन' और 'कलिमलदहन' एक-ही बातें हैं। पुन, भगवान् विष्णु-पाँव (चरण) के देवता हैं। यथा—'पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः।' अर्थात् चरण प्रकट होनेपर उनमें गति और पादेन्द्रियके अभिमानी विष्णु स्थित हुए। (भा० ३। २६। ५८)। इसलिये इनकी कृपासे पंगु बड़े-बड़े दुर्गम पर्वतोंपर चढ़ जाते हैं। भगवान् वाणीके पति हैं। यथा—'ब्रह्म बरदेस बागीस व्यापक' (विनय ५४), 'देव बिख्यात बरदेस बासन बिरज बिमल बागीस बैकुण्ठस्वामी' (विनय ५५), 'बरद बरदाभ बागीस विश्वात्मा बिरज बैकुण्ठमन्दिर-बिहारी।' (विनय ५६)। मं० श्लोक १ में भी देखिये। अत गूँगेको वाचाशक्ति प्रदान करते हैं। जैसे ध्रुवने जब भगवान् हरिकी स्तुति करनी करनी चाही पर जानते न थे कि कैसे करें तब अन्तर्यामी श्रीहरिने अपना शंख उनके कपोलपर छुआ दिया जिससे उनको दिव्य वाणी श्रीहरिकृपासे प्राप्त हो गयी। यथा—'कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले' ॥ ४ ॥ स वै तदैवप्रतिपादितां गिरं दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः ॥ ५ ॥' (भा० ४। ९)। अतएव 'जासु कृपा' 'मूक होहि बाचाल', 'पंगु चढ़ै गिरिबर' तथा 'कलिमलदहन' तीनों विशेषण भगवान् विष्णुमें घटित होते हैं। (ख) 'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥' यह श्लोक स्वामी श्रीधरजीने श्रीमद्भागवतकी टीकामें मङ्गलाचरणमें दिया है जिसमें 'परमानन्दमाधवम्' नाम देकर वन्दना की है। यह सोरठा अक्षरश इस श्लोकका प्रतिरूप है; अन्तर केवल इतना है कि श्लोकके 'तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।' के स्थानपर सोरठेमें 'सो दयाल द्रवौ कलिमलदहन' है। सब जानते हैं कि ये गुण किस देवविशेषके हैं, क्योंकि न जाने कबसे 'मूकं करोति' यह श्लोक सब सुनते आ रहे हैं। इसी कारणसे

१. सुदयाल—१७०४, रा० प्र०, वै।

* दूसरा अर्थ अन्तमें नोट ४ में दिया गया है।

किसी देवविशेषके नामका उल्लेख इस सोरठेमें नहीं किया गया। नोट—वैजनाथजीका भी यही मत है। श्रीनगे परमहंसजी कहते हैं कि 'यहाँपर लगभग किसी सोरठेमें स्पष्ट किसीका नाम नहीं लिखा गया है। सबको विशेषणोंद्वारा ही सूचित किया है। जैसे कि 'गणनायक' और 'करिवरबदन' विशेषणोंके नामसे ही गणेशजीकी वन्दना सूचित की, 'क्षीर-सागरशयन' विशेषणसे श्रीक्षीरशायी विष्णुकी, 'उमारमन' 'मर्दनमयन' विशेषणोंसे शिवजीकी तथा 'कृपासिन्धु' इत्यादिसे निज गुरुकी वन्दना सूचित की। वैसे ही इस सोरठेमें 'मूक होइ बाचाल' आदि विष्णुके विशेषण हैं।'] (ग) यहाँ वैकुण्ठवासी विष्णुका मङ्गल किया। आगे क्षीरशायी विष्णुका मङ्गल करते हैं। क्योंकि आगे दोनोंके अवतारोंकी कथा कहनी है। जय, विजय एवं जलन्धरके अर्थ वैकुण्ठवासी विष्णुका अवतार है और रुद्रगणोंके लिये क्षीरशायी विष्णुका अवतार है। इस तरह मङ्गलाचरणमें समस्त ग्रन्थकी कथा दिखायी है। [ग्रन्थमें चार कल्पोंकी कथा है। उनमेंसे ये तीन इन दो मङ्गलाचरणोंमें दिखाये, चौथा तो दिखाया नहीं, तब यह कैसे कहा कि समस्त ग्रन्थकी कथा दिखायी है? सम्भवतः पण्डितजीका आशय यह है कि ग्रन्थमें प्रधानतया अज अगुण अरूप ब्रह्म श्रीरामजीकी कथा है, उसके अतिरिक्त इन तीनों अवतारोंका भी वर्णन इस ग्रन्थमें है, यह इन दो सोरठोंसे सूचित किया है। अज-अगुण-अरूप ब्रह्मका अवतार गुप्त है, इससे उसे सोरठेमें नहीं दिखाया। वेदान्तभूषणजीका मत आगे 'श्रीरामपरक' में देखिये।] (घ) 'गणेशजीके पश्चात् भगवान् विष्णुकी वन्दना इससे की कि इन दोनोंका स्वरूप एक ही है'।

सूर्यपरक होनेके कारण

(१) बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि—(क) सोरठेमें किसीका नाम नहीं है। गुणक्रियाओंद्वारा नाम जाना जाता है पर यहाँ जो गुणक्रियाएँ दी हैं वे भगवान् और सूर्य दोनोंमें घटित होती हैं। विष्णुपरक माननेमें यह आपत्ति आती है कि एक तो आगे सोरठेमें विष्णुकी वन्दना है ही। दूसरे यदि दोनों सोरठोंमें विष्णुकी वन्दना मानें तो क्रिया एक ही होनी चाहिये पर दोनोंमें अलग-अलग दो क्रियाएँ हैं। 'सो दयाल द्रवौ' और 'करौ सो मम उर धाम।' एक पदमें एक कर्मके साथ दो क्रियाएँ नहीं होतीं। तीसरे, यदि स्थानभेदसे यहाँ 'रमावैकुण्ठ' की और आगे 'क्षीरशायी श्रीमन्नारायण' की वन्दना मानें तो यह अड़चन पड़ती है कि श्रीगणेशजी और श्रीमहेशजीके बीचमें विष्णुकी वन्दना नहीं सुनी जाती। उनकी वन्दना या तो ब्रह्मा और शिवके बीचमें या पञ्चदेवोंके बीचमें सुनी है। (ख)—श्रीगोस्वामीजीने इस ग्रन्थको श्रीअवधमें प्रारम्भकर समाप्त किया। श्रीअवधवासियोंका मत साधन-सिद्ध दोनों अवस्थाओंमें पञ्चदेवकी उपासना (पूजन) है। साधनदेशमें श्रीसीतारामजीकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध देशमें प्राप्त वस्तुको कायम (स्थिर) रखनेके लिये। यथा—'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥ राजा राम जानकी रानी। ' (२। २७३)। इसी तरह श्रीगोस्वामीजी पञ्चदेवकी स्तुतिकर श्रीसीताराम-यशगानकी शक्ति माँगते हैं। अतः सूर्यपरक सोरठा माननेसे पञ्चदेवकी पूर्ति तथा पञ्चदेवका मङ्गलाचरण हो जाता है। (ग) बालक जन्मसमय मूक और पङ्गु दोनों रहता है। सूर्यभगवान् अपने दिनोंसे इन दोनों दोषोंको दूर करते हैं। इनका सामर्थ्य आदित्यहृदय, वाल्मीकीय, महाभारत, विष्णुपुराण आदिमें स्पष्ट है। यथा—'विस्फोटककुष्ठानि मण्डलानि विचर्चिका। ये चान्ये दुष्टरोगाश्च ज्वरातीसारकादयः॥ जपमानस्य नश्यन्ति ।' (भविष्योत्तर आदित्यहृदय। वै०) अर्थात् चेचक, कोढ़, दाद, ज्वर, पेचिश आदि दुष्ट रोग जपसे नष्ट हो जाते हैं। 'एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः। वाल्मी० ६। १०७।' अर्थात् सूर्य ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, प्रजापति आदि हैं। 'सर्वरोगैर्विरहिताः सर्वपाप-विवर्जिताः। त्वद्भावभक्ताः सुखिनो भवन्ति चिरजीविनः॥' (महाभारत वनपर्व ३। ६७) अर्थात् सूर्यके भक्त सब रोगोंसे रहित, पापोंसे मुक्त, सुखी और चिरजीवी होते हैं। इत्यादि।

(२) विनयपत्रिकामें भी गणेशजीकी स्तुतिके पश्चात् सूर्यभगवान्की स्तुति की गयी है जिसमें यहाँके सब विशेषण दिये गये हैं। यथा—'दीनदयाल दिवाकर देवा। 'दहन दोष दुख दुरित रुजाली।' सारथि पङ्गु दिव्य रथगामी। हरि संकर बिधि मूरति स्वामी।' (पद २)। उस क्रमके अनुसार यहाँ भी सूर्यपरक सोरठा समझना चाहिये। विनयमें एवं वाल्मीकीय आदिमें सूर्यभगवान्को ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनोंका रूप माना है। इस

तरह इनमें विष्णुभगवान्‌के ही नहीं, वरन् ब्रह्माजी और शिवजीके भी गुण आ गये। सूर्यपरक सोरठा लेनेसे अधिक सौष्ठव और श्रेष्ठता जान पड़ती है।

(३) 'मूकं करोति' ' को यदि विष्णुसम्बन्धी माना जाय तो इसके विशेषणोंको लेकर सूर्यकी वन्दना कविके करनेमें कोई दोष नहीं। क्योंकि विष्णु और सूर्यमें अत्यन्त घनिष्ठता है। दोनोंके नाम भी एक दूसरेके बोधक हैं। वेदोंमे सूर्यको विष्णु कहा है। लोकमें भी सूर्यको 'नारायण' कहते है। विष्णुका भी व्यापक अर्थ है और सूर्यका भी तथा विष्णुका एक स्वरूप भास्कर भी है। (तु० प० भाष्य)।

(४) सूर्यदेव रघुकुल-गुरु भी है। यथा—'उदय करहु जनि रवि रघुकुलगुर। २। ३७।' इनकी कृपासे श्रीरघुनाथजीके चरित जाननेमे सहायता मिलेगी। यथा—'कुलरीति प्रीति समेत रबि कहि देत सबु । १। ३२३।'

नोट—प० रामकुमारजीके सस्कृत खर्रोंमे 'पगु चढ़ै' पर यह श्लोक है। **'रथस्यैक चक्र भुजगयमिता सप्त तुरगा निरालम्बो मार्गश्चरणरहित सारथिरपि। रविर्यात्येवान्त प्रतिदिनमपारस्य नभस क्रियासिद्धि सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥'** इति भोजप्रबन्धे श्लोक १६८। अर्थात् जिनके रथमे एक ही चक्र है, सात घोड़े है, जो सर्पोंसे उसमें बँधे हुए है, जिनका मार्ग निराधार है और सारथि भी चरणरहित है। इतना होनेपर भी वे सूर्य भगवान् अगाध अपार आकाशको पूरा कर देते है। इससे यह साराश निकलता है कि बडोकी कार्यसिद्धि उनके बलपर रहती है न कि किसी साधनपर।

श्रीरामपरक होनेके कारण

वेदान्तभूषणजी कहते है कि इस ग्रन्थमे श्रीरामजीके अवतारी (पर) रूपका वर्णन है और अवतारोंका भी। इस सोरठेमें अवतारी श्रीरामजीकी वन्दना है। प्रथम कारणस्वरूपकी वन्दना करके तब कार्यस्वरूपकी वन्दना की गयी। मूक वाचाल तब होता है जब उसकी जिह्वापर सरस्वतीका निवास होता है। यथा—'मूक बदन जस सारद छाई।' शारदाके स्वामी (नियन्ता) श्रीरामजी है। अत. बिना उनकी आज्ञाके सरस्वती प्रचुररूपसे किसी मूककी जिह्वापर नही जा सकती। पगुको पर्वतपर चढनेकी शक्ति श्रीरामजी ही देते हैं। सम्पाती पख जलनेसे पगु हो गया था। श्रीरामकृपासे ही उसके पख जमे, पगुता नष्ट हुई। यथा—'मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। रामकृपा कस भयउ सरीरा॥ ४। २९।' श्रीरामजी बिना कर्मफल भोगाये तथा बिना किसी प्रकारका प्रायश्चित कराये सम्मुखतामात्रसे समस्त 'कलिमल' दहन कर देते है। यथा—'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ ५। ४४।', 'बँसेउ पामर पातकी जेहि लई नामकी ओट। गाँठी बाँध्यो राम सो परख्यो न फेरि खर खोट॥' (विनय०)। यह स्वभाव श्रीरामजीका ही है, अन्यका नहीं। देखिये, जब नारदजीने क्षीरशायी भगवान्‌से कहा कि 'मैं दुरबचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मेरे॥ १। १३८।' तब उन्होंने यही कहा कि 'जपहु जाइ सकर सतनामा।' श्रीरामजी सम्मुख प्राप्त जीवको कभी अन्यकी शरणमें जानेको नही कहते। अत यह सोरठा सर्वतोभावेन श्रीरामजीके लिये है।

टिप्पणी—१ 'मूक होइ बाचाल ' इति। (क) मूक और पगु होना पापका फल है। बिना पापके नाश हुए गूँगा बोल नही सकता और न पगुल पर्वतपर चढ़ सके। इसीसे आगे 'सकल कलिमलदहन' विशेषण देते हैं। जिसमे यह सामर्थ्य है वही जब कृपा करे तब पापका नाश हो, अत. कहा कि 'सो दयाल द्रवौ।' (ख) पर्वतकी दुर्गमता दिखानेके लिये वनसहित होना। पाप मन, वचन, कर्म तीन प्रकारके होते है। यथा—'जे पातक उपपातक अहहीं। कर्म बचन मन भव कबि कहहीं॥ २। १६७।', 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई। ७। १२६।' 'सकल कलिमल' से तीनों प्रकारके छोटे-बड़े सब पाप सूचित किये। (ग) मूकका वाचाल होना और पगुका पर्वतपर चढना भारी पुण्यका फल है। अत 'मूक होइ जासु कृपा' कहकर जनाया कि आपकी कृपासे पाप नाशको प्राप्त होते हैं और भारी पुण्य उदय होते हैं अर्थात् बड़े-बड़े पापी आपकी कृपासे पुण्यका फल भोगते हैं।

नोट—१ मूक और पङ्गु मन एवं बुद्धिकी असमर्थताके सूचक हैं। श्रीमद्गोस्वामीजी अपनेको श्रीरामचरित्रवर्णनमें मूक, पङ्गु और कलिमलग्रसित ठहराकर विनय करते हैं। यथा—'निज बुधिबल भरोस मोहि नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं॥ करन चहउँ रघुपति गुन गाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥ सूझ न एकौ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥ मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी। १। ८।', 'श्रोता बक्ता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़। किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमलग्रसित बिमूढ़॥ १। ३०।' इस सोरठेमें स्पष्ट परोक्ष है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि जिन दयालुमें मूकको वाचाल, पङ्गुको गहन पर्वतपर चढ़ाने और सकल कलिमलोंके दहन करनेकी शक्ति है उनसे अपना नम्रत्व जानकर मैं विनती करता हूँ कि वह मुझे वक्ता, मेरी कविताको सबका सिरमौर (जिससे समाजभरमें इसका आदर हो) और मुझको निष्पाप करे। यहाँ 'परिकराङ्कुर अलङ्कार' है। यहाँ 'गिरिबर गहन' क्या है? उत्तर—पं० रामकुमारजीके मतानुसार श्रीरामचरितका लिखना पहाड़ है। उसे लिखनेमें वाणीसे तो मूक हूँ और मेरी बुद्धि पङ्गु है। श्रीरामयशगानका सामर्थ्य हो जाना तथा रामचरितमानस ग्रन्थकी समाप्ति निर्विघ्न हो जाना उसका पर्वतपर चढ़ जाना है। बाबा हरिहरप्रसादजी हरियशको पर्वत और रामचरित कहने और रामचरित्रके पार जानेके सामर्थ्यको पर्वतपरका चढ़ जाना कहते हैं। और, बैजनाथजीका मत है कि वेद-पुराणादि पर्वत हैं अर्थात् वेद-पुराणादिमें रामचरित गुप्त हैं जैसे पर्वतपर मणिमाणिक्यकी खानें गुप्त हैं। यथा—'पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥ ७। १२०।' वेदादिसे चरित्र निकालकर वर्णन करना पहाड़पर चढ़ना है।

नोट—२ 'सो दयाल द्रवौ' अर्थात् मुझे रामचरित लिखनेका सामर्थ्य दीजिये।

नोट—३ दहन करना तो अग्निका कार्य है और द्रवना जलका धर्म है। तब 'द्रवौ' और 'कलिमलदहन' का साथ कैसा? अग्नि और जल एकत्र कैसे? यह शङ्का उठाकर उसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि—(क) जलमें दोनों गुण हैं। 'दाहक' धर्म भी है। पाला भी जल है पर पौधोंपर पड़ता है तो उसे जला डालता है। खेती मारी जाती है। कमलको झुलस डालता है। यथा—'सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरसु जैसे॥ २। ७१।' इस प्रकार जलमें भी दाहक शक्ति है। काष्ठजिह्वा स्वामीजी लिखते हैं कि 'महाभारतके 'कक्षघ्न शिशिरघ्नश्च' इस श्लोकमें शिशिर अग्निका नाम प्रसिद्ध है'। (रा० प्र०)। पुनः, (ख) वेदान्तानुसार प्रत्येक स्थूलभूतमें शेष चार भूतोंके अंश भी वर्तमान रहते हैं। भूतोंकी यह स्थूल स्थिति पञ्चीकरणद्वारा होती है जो इस प्रकार होता है। पहले पञ्चभूतोंको दो बराबर भागोंमें विभक्तकर फिर प्रत्येकके प्रथमार्धके चार-चार भागकर जो बीस भाग हुए उनको अलग रक्खा। अन्तमें एक-एक भूतके द्वितीयार्धमें इन बीस भागोंमेंसे चार-चार भाग फिर इस प्रकार रक्खे कि जिस भूतका द्वितीयार्ध हो उसके अतिरिक्त शेष चार भूतोंका एक-एक भाग उसमें आ जाय। इस प्रकार जलमें अष्टम अंश अग्निका रहता ही है। (ग) श्रीमान् गौड़जी यहाँ दोनों शब्दोंकी सङ्गतिके विषयमें यह भाव कहते हैं कि जिस वस्तुको नष्ट करना होता है उसके लिये उनका प्रचण्ड प्रताप दाहक है। कलिमलको जलाकर नष्ट कर डालनेमें ही हमारा कल्याण है। परन्तु आपका हृदय जो नाश करनेके लिये वज्रसे भी अधिक कठोर है 'वज्रादपि कठोराणि', वह आपके उसी प्रचण्ड तापसे हमारे कल्याणके लिये 'द्रव' कर कोमल हो जाय। यह भाव है। अतः 'दहन' और 'द्रवण' असंगत नहीं है।

नोट—४ कोई-कोई महानुभाव इस सोरठेके पूर्वार्द्धका अर्थ यह भी करते हैं कि (अर्थ—२) 'जिनकी कृपासे (जीव) मूक होते हैं, वक्ता होते हैं, पङ्गु होते हैं और बड़े गम्भीर पर्वतोंपर चढ़ते हैं।' और इसके भाव यह कहते हैं कि—(क) मूक चार प्रकारके हैं। (१) वचनमूक जैसे ज्ञानदेवजीने भैंससे वेद पढ़वाया। (२) बधिरमूक वा अज्ञानमूक जैसे ध्रुवजी और प्रह्लादजी। (भक्तिरसबोधिनीटीका क० १०९)। (३) धर्ममूक जो किसी धार्मिक निमित्त किसीसे कुछ कहनेका अवसर पाकर भी किसीसे धर्म विचारसे कुछ न कह सके। (४) ज्ञानमूक जैसे जड़भरतजी, दत्तात्रेयजी जो परमार्थके तत्त्वको प्राप्त करके मौन ही हो गये। इसी तरह—(ख) पङ्गु भी तीन प्रकारके हैं। (१) स्थूलपङ्गु जैसे 'अरुण' जो सूर्यके सारथी हैं और 'गरुड़जीके

पङ्गु' जिन्हें सूर्यने सामवेद पढाया कि भगवान्की सवारीमे उनको सामवेद सुनाते रहे। कोई महात्मा गरुड़पक्षको 'नियत मूक' कहते हैं। (मा० प्र०)। (२) कर्मपगु जैसे श्रीशबरीजी और श्रीजटायुजी एव कोल भील। (३) सुमतिपगु। जिनकी बुद्धि श्रीरामपरत्वमें कुण्ठित हो गयी है वे कूटस्थ क्षेत्रज्ञभावको प्राप्त होते हैं। (ग) अर्थ २ मे 'होहिं' को मूक, पगु और वाचाल तीनोंके साथ माना गया है। मूक होते हैं अर्थात् निन्दादि वार्ता छोड़ देते हैं, वाचाल होते हैं अर्थात् भगवन्नामयशादि-कीर्तन करने लगते हैं। पगु होते हैं अर्थात् इधर-उधर कुत्सित स्थानोंमे जाना छोड़ देते हैं। गम्भीर पर्वतोंपर चढते हैं अर्थात् राज्य-सम्पत्ति छोड़ वनों और पर्वतोंपर जाकर भजन करने हैं। (घ) (अर्थ—३) वाचाल (कुत्सित बोलनेवाले) मूक होते हैं (कुत्सित बोलना छोड़ देते हैं) और गिरिवरगहनपर जो चढा करते हैं (चोर-डाकू आदि) वे पगु होते हैं अर्थात् दुष्ट कर्म छोड़ देते हैं। (ङ) अर्थ २ और ३ क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं। (रा० प्र०)।

नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन॥ ३॥

शब्दार्थ—सरोरुह (सर + रुह = सरसे उत्पन्न) = कमल (योगरूढि)। स्याम (श्याम) = श्याम साँवला वर्ण। तरुन (तरुण) = युवा अवस्थाका अर्थात् तुरतहीका पूरा खिला हुआ। अरुन (अरुण) = लाल। श्रीसन्तसिंह पजाबीजी लिखते हैं कि 'अरुणो व्यक्तराग स्यात् इति विश्वकोषे' के प्रमाणसे यहाँ अरुणताका भाव लेना चाहिये। अर्थात् अरुणता उस ललामीको कहते हैं जो प्रकट न हो, नेत्रोंमें किनारे किनारे लाल डोरोंके सदृश जो ललामी होती है। बारिज (बारि + ज = जलसे उत्पन्न) = कमल (योगरूढि)। उर = हृदय। छीरसागर (क्षीरसागर) = दूधका समुद्र। यह सप्त प्रधान समुद्रोंमेसे एक माना जाता है इसमें भगवान् श्रीमन्नारायण शयन करते हैं। सयन (शयन) = सोनेवाले।

अर्थ—(जिनका) नील कमल समान श्याम (वर्ण है), नवीन पूरे खिले हुए लाल कमल समान नेत्र हैं और जो सदा क्षीरसागरमें शयन करते हैं, वे (भगवान्) मेरे हृदयमे 'धाम' करें॥ ३॥

नोट—१ 'नील सरोरुह स्याम' इति। नील कमल-समान श्याम कहनेका भाव कि (क) कमल कोमल और आर्द्र होता है, वैसे ही प्रभु करुणायुक्त मृदुलमूर्ति हैं। यथा—'करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥ २। ८५।', 'बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही। २। ६७।', 'मृदुल मनोहर सुन्दर गाता। ४। १।' (ख) श्याम रग, श्याम स्वरूप भगवान्के अच्युत भावका द्योतक है। इस रगपर दूसरा रग नहीं चढता, यह सदा एकरस बना रहता है, वैसे ही भगवान् शरणागतपर एकरस प्रेम रखते हैं, चूक होनेपर भी शरणागतको फिर नहीं त्यागते।

नोट—२ 'तरुन अरुन बारिज नयन' इति। (क) तरुणसे युवावस्थाका रूप सूचित किया पुन, 'तरुन' बारिजका भी विशेषण है। अर्थात् पूर्ण खिले हुए कमलके समान। नेत्रोंकी उपमा कमलदलसे दी जाती है। नेत्र कमलदलके समान लम्बे हैं, आकर्णपर्यन्त लम्बे हैं। यथा—'अरुन कजदल लोचन सदा दास अनुकूल।' (गीतावली ७। २१), 'कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम्।' (स्तवपचक)। पुन. 'तरुण' कहकर जनाया कि भक्तोंके दु ख हरण करनेमें आपको किञ्चित् भी आलस्य कभी नहीं होता। क्योंकि युवावस्थामें आलस्य नहीं होता। (ख) 'अरुण' इति नेत्रोंकी अरुणता राजसगुणका द्योतक है और योगनिद्रासे जगे हुए महापुरुषके भक्तभयहारी भावको दर्शित कर रहा है। (देवतीर्थस्वामी)। 'अरुण' से जनाया कि ऊपर, नीचे और कोनोंमें लाल-लाल डोरे पड़े हुए हैं, यह नेत्रोंकी शोभा है। पूरा नेत्र लाल नहीं होता। यह ललाई दु.खहरण स्वभावका द्योतक है।

नोट—३ 'करौ सो मम उर धाम' इति। 'धाम' का अर्थ 'घर', 'स्थान', 'पुण्यतीर्थस्थल' 'तेज', 'प्रकाश' इत्यादि है। मेरे हृदयमें घर बनाइये, मेरे हृदयको पुण्यतीर्थ कर दीजिये, मेरे हृदयमें प्रकाश कीजिये, ये सब भाव 'करौ धाम' में है। एव धाम करो अर्थात् घर बनाकर निवास कीजिये। विशेष आगे शङ्का-समाधानमें देखिये।

टिप्पणी—१ 'सदा छीरसागरसयन' इति। (क) 'छीरसागरशयन' कहकर 'श्रीसीतारामलक्ष्मण' तीनोंको उरमें बसाया। पयपयोधिमें श्रीलक्ष्मीजी, श्रीमन्नारायण और शेष तीनों श्रीसीतारामलक्ष्मणजी ही हैं। यथा—'पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लषन रामु रहे आई॥ २। १३९। (प० रामकुमारजी)।

(ख)—हरिको हृदयमें बसाया जिसमें हृदयमें प्रेरणा करें। यथा—'जस कछु बुधि बिबेक बल मोरें। तसि कहिहौं हिय हरिके प्रेरें॥ १। ३१।' (प० रामकुमारजी।) [क्षीरशायी भगवान् श्रीरामजीके नाम रूप लीला धामका परत्व यथार्थ जानते हैं। ये स्वयं भी श्रीरामावतार ग्रहणकर श्रीरामजीकी लीला किया करते हैं, अतः वे श्रीरामचरित भलीभाँति जानते हैं हृदयमें बसेंगे तो यथार्थ चरित कहता लेंगी। (वन्दनपाठकजी)] नोट ८ पृष्ठ ६३ भी देखिये।

(ग)—भगवान् विष्णुके स्वरूपको व्यासजीने ऐसा वर्णन किया है, 'शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्। विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्॥ लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम्। वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥' इस स्वरूपवर्णनमें 'कमलनयन, गगनसदृश, मेघवर्ण' कहे और बड़ाईके विशेषण दिये हैं। 'नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन' कहकर फिर 'छीरसागरशयन' कहनेसे ही 'भुजगशयन, लक्ष्मीकान्त पद्मनाभ आदि सभी विशेषणोंका ग्रहण हुआ। (प० रामकुमारजी)।

(घ)—बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यह लोकरीति है कि राजाके शयनागारमें बाहरके लोगोंका तो कहना ही क्या, घरके भी लोग इने गिने ही जाने पाते हैं। यहाँ कामक्रोधादि बाहरके लोग हैं और अपने लोगोंमें शुष्क ज्ञान और वैराग्य हैं जो भीतर नहीं जाने पाते। यह भी सूचित किया कि भक्ति सदा पास रहनेवाली है।

(ङ)—श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि दुर्वासा ऋषिके कोपसे श्रीलक्ष्मीजी क्षीरसागरमें लुप्त हो गयी थीं, वैसे ही कलियुगरूपी दुर्वासाके कोपसे भक्तिरूपी लक्ष्मी लुप्त हो गयी है। क्षीरसमुद्र मथनेपर लक्ष्मीजी प्रकट हुईं। वैसे ही आप मेरे हृदयरूपी क्षीरसागरको मथन कराके जगत्के उद्धारहेतु श्रीरामभक्तिको प्रकट कराइये। यह भाव क्षीरसागरशयनसे धाम करनेकी प्रार्थनाका है। यहाँ हृदय क्षीरसागर है, विवेकादि देवता और अविवेकादि दैत्य हैं, मनोरथ मन्दराचलरूपी मथानी है, विचार वासुकिरूपी रस्सी है, प्रभुकी कृपासे काव्यरूप चौदह रत्न प्रकट होंगे। मोह कालकूट है जिसे नारदरूपी शिव पान करेंगे, नरनाट्य वारुणी है जिसे अविवेकी दैत्य पानकर मतवाले हुए, श्रीरामरूप अमृत है जिसे पाकर संतरूपी सुर पुष्ट हुए। हरियश अश्व है जो विवेकरूपी सूर्यको मिला, माधुर्य लीला सबको मोहित करनेवाली अप्सरा है। इसी तरह धर्म ऐरावत, रामनाम कल्पवृक्ष, ऐश्वर्यके चरित कामधेनु, धाम चन्द्रमा, सुकर्म धन्वन्तरि, अनुराग शङ्ख, कीर्ति-मणि, श्रीरामराज्यमें जो प्रताप है वही धनुष है। काकभुशुण्डिप्रसङ्गमें जब भक्तिरूपिणी लक्ष्मी प्रकट हुई तब सब जगका पालन हुआ। इत्यादि कारणोंसे 'छीरसागरसयन' कहकर हृदयमें धाम करनेको कहा।

(च) क्षीरसागर शुद्ध धर्म (सद्धर्म) का स्वरूप है, अतः वैसा ही धाम बनानेको कहा। (रा० प०)

(छ) आप ऐसे समर्थ हैं कि आपने जलमें धाम बनाया है जो सर्वथा असम्भव कार्य है। यथा—'चहत बारिपर भीति उठावा।' और इतना ही नहीं वरन् शेषशय्यापर आपका निवास है। आपके सङ्गमें विषधर सर्प भी निरन्तर प्रभुका यश गान करते हैं। मेरे हृदयरूपी समुद्रमें कामादि सर्प हैं। आप हृदयमें बसेंगे तो आपकी कृपासे वह भी श्रीराम-यशगानमें समर्थ हो जायगा।

नोट—४ विनयपत्रिकाटीकाकार लिखते हैं कि 'कहा जाता है कि सोरठा २ और ३ में यह गूढ़ आशय भरा है कि निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर अवतरे और तीनों गुणोंके अनुसार गोस्वामीजीने यहाँ तीन विशेषण दे तीन ही बातें अपने लिये माँगी हैं। इस तरह कि 'क्षीरसागरशयन' को सतोगुणरूप मान उनसे 'मूक होइ बाचाल' यह सतोगुणी वृत्ति माँगी। 'तरुण अरुण बारिज नयन' से रजोगुणीरूपी मान उनसे 'पंगु चढ़ै गिरिबर गहन' यह रजोगुणरूपी वृत्ति माँगी। और 'नील सरोरुहस्याम' से तमोगुणवाले समस्त 'कलिमलदहन' करनेकी प्रार्थना की।' [इससे सूचित होता है कि इस भावके समर्थक दोनों सोरठोंको वे क्षीरशायीपरक मानते हैं]

शङ्का—श्रीमद्गोस्वामीजी तो श्रीरामजीके अनन्य उपासक हैं। यथा—'का बरनों छबि आजकी, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लो हाथ॥' उन्होंने प्रायः सर्वत्र श्रीरामजीको ही हृदयमें बसनेकी प्रार्थना की है। यथा—'मम हृदय कंज निवास करु कामादि खल दल गंजनम्॥' (विनय ४५), 'बसहु राम सिय मानस मोरे।' (विनय १), 'माधुरी बिलास हास गावत जस तुलसिदास, बसत हृदय जोरी प्रिय प्रेमप्रानकी' (गीतावली), इत्यादि। तो यहाँ क्षीरशायी भगवान्‌को बसनेको कैसे कहा?

समाधान—(१) गौड़जी—त्रिपाद् विभूतिके भगवान् द्विभुजी सीतारामलक्ष्मण प्रत्येक एकपाद विभूतिवाले विश्वकी रचनामें श्रीमन्नारायण, लक्ष्मी और शेषका रूप धारण करते हैं। विश्वकी रचनाके लिये अनन्त देश और अनन्त-कालमें विस्तीर्ण उज्ज्वल क्षीरसागरमें विराजते हैं। यह नारायणावतार है जिसे महाविष्णु भी कहते हैं। गोस्वामीजी यहाँ सोरठेके पहले आधेमें अपने प्रभु रामकी ही वन्दना करते हैं जो नील सरोरुह श्याम हैं, जिनके 'तरुण अरुण वारिज नयन' हैं, जो (एकपाद विभूतिमें 'धाम' करनेको क्षीरसागरमें शयन करते हैं, और इस अनन्त उज्ज्वलता और अनन्त विस्तारमें ही 'सदा' शयन करते हैं, इससे कममें नहीं।) आप समर्थ हैं। मेरे हृदयमें विराजनेके लिये उसके अन्धकारको दूरकर अनन्त उज्ज्वलता प्रदान कीजिये और उसकी छुटाई और सकोचको दूर करके उसे अनन्त विस्तार दीजिये कि आप उसमें समा सकें। 'अर्जों समा कहाँ तेरी वसअतको पा सके। मेरा ही दिल है वो कि जहाँ तू समा सके॥' 'क्षीरसागरशयन' से लोग चतुर्भुजी रूपके ध्यानकी बात जो कहते हैं, वह किसी तरह ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि 'क्षीरसागरशयन' से ध्वनि बहुत-सी निकलती है जैसे नारायणका चतुर्भुजरूप, शेषपर शयन, नाभिकमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति इत्यादि-इत्यादि, तथापि ध्वनि भी शब्दोंसे नितान्त असम्बद्ध नहीं होती। क्षीरसागरशयन कहा, शेषशय्याशयन नहीं कहा, जो कि अनुप्रासकी दृष्टिसे भी सुन्दर होता, और अधिक ठीक होता, क्योंकि भगवान् तो क्षीरसागरमें नहीं वरन् शेषशय्यापर सोते हैं। यदि यह कहो कि गङ्गाघोषकी तरह यहाँ क्षीरसागरशयन भी है तो यह तब ठीक होता जब शेषको व्यक्त करना प्रयोजनीय होता। 'क्षीरसागर' कहना अवश्य प्रयोजनीय है। यह प्रयोजन अनन्त उज्ज्वलता और अनन्त विस्तार है। चतुर्भुजता नहीं है। हृदयको उज्ज्वल और उदार बनाना इष्ट है 'चतुर्भुज' की कल्पनासे क्या प्रयोजन सधेगा? साथ ही गोस्वामीजी महाविष्णु-को रामजीका अवतार होना भी यहाँ इङ्गित करते हैं और नारायण और राममें अभेद दिखाते हैं।

(२) टिप्पणी (१) देखिये। और भी समाधान टीकाकारोंने किये हैं।

(३) हमारा हृदय कलिमलग्रसित है, जबतक स्वच्छ न होगा श्रीसीतारामजी और उनके चरित्र उसमें वास न करेंगे। यथा—'हरि निर्मल मलग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत॥' (वि० १८५)। श्रीमन्नारायणके निवास करनेसे यह भी क्षीरसागरके समान स्वच्छ हो जायेगा, इसलिये प्रार्थना है कि वास कीजिये। अथवा, क्षीरसमुद्रके सदृश हमारे हृदयमें स्वच्छ और पवित्र घर बना दीजिये जिसमें श्रीसीतारामजी आकर नित्य वास करें। अवध धाम अथवा घर बनानेको कहा है, बसनेको नहीं। (वन्दनपाठकजी)।

(४) अगस्त्यसंहिता, वसिष्ठसंहिता, रामतापनी-उपनिषद् और सुन्दरीतन्त्रादि ग्रन्थोंमें क्षीरशायी भगवान्‌को पीठदेवता कहा है। ऐसा मानकर इनको प्रथम वास दिया। पीठदेवताका प्रथम पूजन सर्वसम्मत है, पीछे प्रधानपूजन होता है। (रा० प्र०)

(५) यह लोकरीति है कि जहाँ सरकारी पड़ाव पड़नेको होता है वहाँ परिकर प्रथम जाकर डेरा डालते हैं, सफाई कराते हैं, तत्पश्चात् सरकारी सवारी आकर वहाँ निवास करती है। 'वही रीति यहाँ भी समझ लें।' इत्यादि।

नोट—५ श्रीमनुशतरूपाजीको दर्शन देनेको जब प्रभु प्रकट हुए तब 'नीलसरोरुह नीलमनि नीलनीरधर स्याम। (१। १४६)' ये तीन उपमाएँ श्यामछविकी दी गयी हैं। श्रीमन्नारायणको इसमेंसे एक अर्थात् 'नीलसरोरुह' हीकी उपमा क्या दी?, यह शङ्का उठाकर उसके समाधानमें श्रीरामगुलामजी द्विवेदी कहते हैं कि वेदान्तके अन्तर्गत महाकारण और कारण शरीरोंकी जहाँ उपनिषदोंमें व्याख्या है वहाँ कारणकी उपमा नील कमलसे दी है। कमलहीसे ब्रह्माकी

उत्पत्ति है और उनसे जगत्की। महाकारण शरीरके लिये 'नीलमणि' की उपमा सार्थक है एवं कैवल्यके लिये 'नीलनीरधर' की। सगुण ब्रह्मके प्रतिपादनमें इन तीनों सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीरोंकी प्रधानता है। श्रीरामभद्रके परस्वरूपमें तीनोंका समावेश है और श्रीमन्नारायणमें दोका परोक्षभावसे ग्रहण होता है और कारणका प्रत्यक्षभावसे। क्योंकि वे जगत्के प्रत्यक्ष कारणस्वरूप हैं' (तु० प०)।

नोट—६ 'नीलसरोरुह' उपमान है, 'श्यामता' धर्म है, वाचक और उपमेय यहाँ लुप्त हैं, इससे 'वाचकोपमेय-लुप्तोपमा अलङ्कार' हुआ। तरुण अरुण धर्म है, वारिज उपमान है, नयन उपमेय है, वाचक नहीं है, इससे इसमें 'वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार' हुआ। गुण और निवासस्थान कहकर क्षीरशायी विष्णुका परिचय कराना किंतु नाम न लेना 'प्रथम पर्यायोक्ति अलङ्कार' है।

नोट—७ (क) श्रीनंगेपरमहंसजी—'सोरठा २ में एकपादविभूतिस्थ त्रिदेवान्तर्गत रमावैकुण्ठनाथ विष्णुकी वन्दना है जिनका पालन करना कार्य है। इस वैकुण्ठमें ब्रह्मादि देवताओंका भी आना-जाना होता है और सोरठा ३ में क्षीरशायी विष्णुकी वन्दना है जो गुणातीत तथा अनेक ब्रह्माण्डोंके नायक हैं। त्रिदेवगत विष्णुभगवान्‌की वन्दनामें तो और देवताओंकी भाँति 'द्रवउ' अर्थात् कृपा करनेकी ही प्रार्थना की है। जैसे गणेशजीसे 'करौ अनुग्रह' और भगवान् शिवसे 'करहु कृपा' मात्र ही विज्ञापन है। और परमप्रभु क्षीरशायीको अपने उरमें धाम बना लेनेकी प्रार्थना की है। त्रिपादविभूतिस्थ क्षीरशायी ही एकरूपसे एकपादविभूतिस्थ क्षीरसागरमें भी रहते हैं, दोनों एक ही हैं।

(ख) प्रश्न—त्रिदेवगत विष्णु और क्षीरशायी विष्णुकी अलग-अलग वन्दना क्यों की?

उत्तर—'त्रिदेवविष्णु भी पूज्यदेव और पालनके अधिष्ठाता ब्रह्माण्डके नायक हैं। जब सब देवताओंकी वन्दना हुई है तब इनकी भी होनी आवश्यक थी और इस एक सोरठेको छोड़ और कहीं इनकी वन्दना है भी नहीं। अतः सब देवोंकी भाँति इनसे भी दया चाही गयी है। परंतु क्षीरशायी सरकार तो अवतारी-अवतार अभेदतासे अपने इष्ट ही हैं। इसीसे उन्हें वन्दना करके अपने हृदयमें धाम ही बनानेकी भिक्षा माँगते हैं।' (श्रीनंगेपरमहंसजी)।

नोट—८ मानसमयङ्ककारका मत है कि मानसमें स्थानभेदसे दोनोंके अधिष्ठाता वैकुण्ठाधिपति विष्णु और क्षीरशायी विष्णुका अवतार वर्णन किया गया है। परमेश्वर एक ही है, स्थान अनेक हैं। इस हेतु दोनोंकी वन्दना की। परतम श्रीरामचन्द्रजी कारण हैं और श्रीमन्नारायण कार्य हैं। ये श्रीरामचन्द्रजीके चरितको यथार्थ जानते हैं। यथा—'परो नारायणो देवोऽवतारो परकारणम्। यथार्थं सोऽपि जानाति तत्त्वं राघवमीतयो॥' वे हृदयमें निवास करेंगे तो उनकी प्रेरणासे मेरे हृदयमें रामचरितमानसका यथार्थ कथन होगा।

कुंद इंदु सम देह उमारमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करौ कृपा मर्दन मयन॥ ४॥

शब्दार्थ—कुन्द=कुन्दका फूल। कुन्द जुहीकी तरहका एक पौधा है जिसमें श्वेत फूल होता है। यह कुआरसे चैत-तक फूलता रहता है। इसका फूल उज्ज्वल, कोमल और सुगन्धित होता है। इन्दु=चन्द्रमा। सम=समान, सदृश, सरीखा। उमारमन=उमारमण=पार्वतीपति=शिवजी। करुना (करुणा)=मनका यह विकार जो दूसरेका दुःख देखकर वा जानकर उत्पन्न होता है। और उसके दुःखके दूर करनेकी प्रेरणा करता है। यथा—'दुःखदु खित्वमार्त्तानां सतत रक्षणत्वरा। परदुःखानुसंधानाद्विह्वलीभवनं विभो'॥', 'कारुण्याख्यगुणो ह्येष आर्त्तानां भीतिवारक।' 'आश्रितार्त्याग्निना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रव। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्भवेत्॥' (भगवद्गुणदर्पणभाष्ये)। अयन=घर, स्थान। नेह=स्नेह, प्रेम। मर्दन=नाश करनेवाले। मयन=कामदेव।

अर्थ—कुन्दपुष्प और चन्द्रमाके समान (गौर) शरीरवाले, करुणाके धाम, जिनका दीनोंपर स्नेह है, कामको भस्म करनेवाले (उनका मान मर्दन करनेवाले) और उमामें रमण करनेवाले (श्रीशिवजी)! मुझपर कृपा कीजिये॥ ४॥

नोट—१ इस सोरठेमें साधारणतया श्रीशिवजीकी वन्दना है। पं० रामकुमारजी एवं नगेपरमहंसजी इसमें शिवजी-की ही वन्दना मानते हैं। पंजाबीजी, बैजनाथजी और रामायणपरिचर्याका भी यही मत है। श्रीकरुणासिन्धुजी, पं० शिव-लाल पाठकजी, बाबा श्रीजानकीदासजी (मानसपरिचारिकाके कर्त्ता) आदि महात्माओंकी सम्मतिमें इस सोरठेमें ध्वनि-अलङ्कारसे श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीकी अर्थात् 'शक्तिविशिष्ट शिव' की वन्दना पायी जाती है। भगवान् शङ्कर अर्द्ध-नारीश्वर हैं। अर्थात् उमाजी श्रीशिवजीकी अर्धाङ्गिनी हैं और एक ही अङ्ग (वामभाग) में विराजती हैं। अतएव 'उमा-रमन' कहकर 'उमा' और 'उमारमण' दोनोंका बोध कराया है और एक ही सोरठेमें दोनोंकी वन्दना करके विलक्षणता दिखायी है।

नोट—२ 'कुंद इंदु सम देह' इति। (क) यहाँ गौर वर्णकी दो उपमाएँ देकर दोनोंके पृथक्-पृथक् गुण शिव-जीके शरीरमें एकत्र दिखाये। इन दो विशेषणोंको देकर शरीरकी विशेष गौराङ्गता दर्शाते हुए उसका कुन्द समान कोमल और सुगन्धित होना और चन्द्रमा समान स्वच्छ, प्रकाशमान, तापहारक और आह्लादकारक होना भी साथ-ही-साथ सूचित किया है। ये विशेषण शिवजीके लिये अन्यत्र भी एक साथ आये हैं। यथा—'कुंद इंदु दर गौर सरीरा। १। १०६।' 'कुंदइंदुदरगौरसुंदरं अंबिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।' (७। मं० श्लो० ३) 'कुन्देन्दु कर्पूर दर गौर विग्रह रुचिर' (विनय १०) इत्यादि। (ख) ये तीनों उपमाएँ साभिप्राय हैं। ग्रन्थकार चाहते हैं कि हमारा हृदय कुन्दसमान कोमल और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान हो जावे। (पंजाबीजी)। (ग) कुदि धातुका अर्थ उद्धार है और इदि धातुका अर्थ परम ऐश्वर्य है। ये दोनों भाव दरसानेके लिये दो दृष्टान्त दिये। (काष्ठजिह्वा स्वामी)। (घ) कुन्दकी कोमलता और उज्ज्वलता तो शरीरमें प्रकट देख पड़ती ही हैं, सुगन्धता अङ्गमें भी है और कीर्तिरूप हो देश-देशमें प्रगट है, फैली हुई है। चन्द्रमा, उज्ज्वल, अमृतस्रावी और ओषधिपोषक है। श्रीशिवजीके अङ्गमें ये गुण कैसे कहे? इस तरह कि श्रीराम-चरितामृतकी वर्षा जो आपके मुखारविन्दसे हुई यही चन्द्रमाका अमृतस्राव गुण है। मुख चन्द्रमा है। यथा—'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥ ७। ५२।' श्रीरघुनाथजीके उपासक ओषधिरूप हैं। उनकी भक्तिमें दृढ़ करना ओषधिका पोषण करना है। (रा० प्र०)। (ङ) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'उज्ज्वलतामें छः भेद हैं। तमोगुणरहित निर्मलता, कुवासनारहित स्वच्छता, रजोगुणरहित शुद्धता, मलाभेदय-रहित सुख, अजरादिचेष्टारहित देदीप्यमान, सदा स्वतन्त्र इत्यादि।' 'परसे परस न जानिए' यही कोमलता है। सदा दया चन्द्रमाकी शीतलता है, सबको सुखदाता होना यह चन्द्रमाकी आह्लादकता है, कृपा अमृत है, जीवमात्र ओषधि है जिनका आप पोषण करते हैं। प्रकाश प्रसिद्ध है। ये सब गुण निर्हेतु परस्वार्थके लिये हैं, अतः मुझपर भी निर्हेतु कृपा करेंगे।'

नोट—३ 'कुंद इंदु' को शिवजीके विशेषण मानकर ये भाव कहे गये। यदि इस सोरठेमें श्रीउमाजी और श्रीशिवजी दोनोंकी वन्दना मानें तो इन विशेषणोंके भाव ये होंगे।—(क) शुद्धार्त जिज्ञासारूपा भवानीकी छटा कुन्दपुष्पके तद्वत् सुकोमल, सरस और सुरभित (विनयान्वित) है और शुद्धबोधमय भगवान् शङ्करकी छवि चन्द्रवत् प्रकाशमान, शीतल और अमृतमय अखण्ड एकरस है, क्योंकि 'उमा' नाम शुद्धार्त जिज्ञासाका भी है। उस शुद्ध सात्त्विक मनको देवदेवने अपने उपदेशसे श्रीरामचरितमें रमाया है, उसे 'परमतत्त्व' का बोध कराया है। (तु० प०)। (ख) कुन्द और इन्दुमें सनातन प्रणय सम्बन्ध है और श्रीशिवपार्वतीजीका चरित प्रणयरससे पूर्ण है। अतः यह उक्ति वा उपमा सार्थवती होती है। (तु० प०)। (ग) पीत कुन्दके समान 'कोमल, सुगन्ध मकरन्दमय उमाजीका शरीर है।' 'श्वेतप्रकाश अमृतमय उमारमनका तन है।' (मा० प्र०)।

'उमारमन' इति

पं० रामवल्लभाशरणजी—'उमारमण' विशेषण देकर कविने अभिन्नता भावको गर्भित करते हुए उनमें शक्तिकी विशिष्टताको स्वीकार किया है। इस तरह इसमें ब्रह्मविशिष्टरूपसे शक्तिकी भी वन्दना हो गयी।

श्रीजहाँगीरअली शाह औलिया—'अर्द्धाङ्ग भवानी शङ्करकी छबि भक्ति ज्ञानकी जोड़ी है।' अर्थात् यहाँ ज्ञान और भक्तिका एकीकरण दिखाया है।

गौड़जी—'उमा रमण' में विशेष प्रयोजन है। उमा महाविद्या है। यथा श्रुति, 'स' तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमा हैमवतीं ताँ् होवाच किमेतद्यक्षमिति'। (केन० ३। १२)। 'सा' ब्रह्मेति होवाच। (केन० ४। १) उमा महाविद्या ही ब्रह्मविद्या है। वही ब्रह्मज्ञान देती है। उमा-महेश्वर-संवादसे ही श्रीरामचरित प्राप्त हुआ है। भगवान् शङ्कर उसी महाविद्यामें रममाण हैं। कविका अभिप्राय यही है कि आप उमामें प्रीति करते हैं, अवश्य ही मुझे रामकथा कहनेकी शक्ति प्राप्त होगी। और कथाकी प्राप्ति उमाद्वारा हुई भी है। पहले उमा बालक रामबोलाको भोजन करा जाती थीं। उन्हींकी प्रेरणासे भगवान् शङ्करने रामबोलाका पालन ही नहीं कराया, वरन् गुरुके द्वारा रामचरितमानस भी दिया। इसीसे तो 'उमारमन' 'करुणाअयन' भी हैं। करुणा करके अहेतुक ही रामबोलाको जगत्प्रसिद्ध कवि तुलसीदास बना डाला। 'दीनपर ऐसा नेह' है।

नोट—४ (क) उमारमण (पार्वतीजीके पति) कहनेका भाव कि पार्वतीजी करुणारूपा हैं, इसीसे उन्होंने प्रश्न करके विश्वोपकारिणी कथा प्रकट करायी। आप उनके पति हैं अतएव 'करुणाअयन' हुआ ही चाहें। सब जीवोंपर करुणा करके रामचरित प्रकट किया, इसीसे शिवजीको 'करुणाअयन' कहा। (वै०, रा० प्र०)। 'करुणाअयन' यथा—'पान कियो विष भूषन भो करुनाबरुनालय साइँ हियो है।' (क० ७। १५७) वीरमणिका सङ्कट देख उसकी ओरसे शत्रुघ्नजीसे लड़े, बाणासुरके कारण श्रीकृष्णजीसे लड़े इत्यादि 'करुणाअयन' उदाहरण हैं। (वै०)। (ख) 'दीन पर नेह' यथा—'सकत न देखि दीन कर जोरें' (विनय० ६)। काशीके जीवोंको रामनामका अन्तकालमें उपदेश देकर मुक्त कर देते हैं, देवताओंको दीन देखकर त्रिपुरका नाश किया, इत्यादि इसके उदाहरण हैं। (ग) 'दीन पर नेह' कहकर कवि शिवजीसे अपना नाता 'दीनता' से लगाते हैं। (खर्रा)। भाव कि मैं भी दीन हूँ, अतएव आपकी कृपाका अधिकारी हूँ, मुझपर भी कृपा कीजिये। (घ) 'मर्दनमयन' इति। जैसे कलिमलदहनके लिये सूर्य या विष्णु भगवान्‌की वन्दना की और हृदयकी स्वच्छताके लिये 'क्षीरसागरशयन' की वन्दना की, वैसे ही यहाँ कामके निवारणार्थ 'मर्दनमयन' शिवजीकी वन्दना की है। जबतक काम हृदयमें रहता है तबतक भगवत् चरितमें मन नहीं लगता और न सुख ही होता है। यथा—'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बयें फल जथा। ५। ५८।'

टिप्पणी—१ (क) यहाँके सब विशेषण ('उमारमन', 'करुनाअयन', 'जाहि दीनपर नेह' और 'मर्दनमयन') चरितात्मक हैं। मदनका भस्म करना, रतिकी दीनतापर करुणा करके उसको वर देना, देवताओंपर करुणा करके उमाजीको विवाहना, फिर उमाजीपर करुणा करके उनको रामचरित सुनाना, यह सब क्रमसे इस ग्रन्थमें वर्णन करेंगे। इसीको सूचित करनेवाले विशेषण यहाँ दिये गये हैं। (ख) 'दीन पर नेह' और 'मर्दनमयन' को एक पङ्क्तिमें देकर सूचित किया कि कामको जलानेपर रति रोती हुई आयी तो उसकी दीनतापर तरस खाकर उसे आपने वरदान दिया कि 'बिनु बपु ब्यापिहि सबहिं पुनि सुनु निज मिलन प्रसंग। १—८७।' इस प्रकार 'मर्दनमयन' पद 'दीन पर नेह' का और 'उमारमन' पद 'करुनाअयन' का बोधक है। (ग) यहाँतक चार सोरठोंमें वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया गया। अर्थात् इन सोरठोंमें सूक्ष्मरीतिसे आगे जो कथा कहनी है उसका निर्देश किया है। इस तरह कि गणेशजी आदिपूज्य हैं, इससे प्रथम सोरठेमें उनका मङ्गल किया। यथा—'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ'। भगवान् विष्णु, श्रीमन्नारायण और शिवजीका मङ्गल किया, क्योंकि आगे इस ग्रन्थमें तीनोंकी कथा कहनी है। 'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। १। ४७।' से 'प्रथमहि मैं कहि सिवचरित बूझा मरमु तुम्हार। १। १०४।' तक शिवचरित है फिर उमा-शम्भु-संवाद है, तदन्तर्गत 'द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ।' दोहा १२२ (४) से 'एक जनम कर कारन एहा' १२४ (३) तक विष्णुसम्बन्धी कथा है और 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा' १२४ (५) से 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। १३९।' तक क्षीरशायी भगवान्-सम्बन्धी कथा है। (घ) पाँचवें सोरठेमें नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया। 'वन्दि अभिवादनस्तुत्यो'। उसमें 'बदउँ' शब्द आया है जो नमस्कार सूचित करता है। (ङ) इसपर यह प्रश्न होता है कि आगे मङ्गलाचरणका स्वरूप क्या बदला? स्वरूप बदलकर सूचित करते हैं कि एक प्रकरण चौथे सोरठेपर समाप्त हो गया। आगे श्रीगुरुवन्दनासे दूसरा प्रकरण चलेगा।

नोट—५ यदि 'उमारमण' से यहाँ उमाजी और उमापति शिवजी दोनोंकी वन्दना अभिप्रेत है तो यह शङ्का होती है कि उमाजीमें 'मर्दनमयन' विशेषण क्योंकर घटेगा ?' बाबा जानकीदासजी इसका समाधान यह करते हैं कि शिवजीने तो जब कामदेवको भस्म किया तब 'मर्दनमयन' कहलाये और श्रीपार्वतीजी तो बिना कामको जलाये अपने अलौकिक और अपूर्व त्यागसे पूर्वहीसे कामको मर्दन किये हुए हैं। इसका प्रमाण बालकाण्डके ८९वें दोहेमें मिलता है। जब सप्तर्षि आपकी परीक्षाके लिये दूसरी बार आपके समीप गये और बोले कि 'अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ काम महेस', तब आपने उत्तर दिया कि 'तुम्हरें जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा ॥ हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥ जौं मैं सिव सेए अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी ॥'' । १ । ९० ।' इन वचनोंसे श्रीपार्वतीजीका भी 'मर्दनमयन' होना प्रत्यक्ष है। मानसमार्तण्डकार लिखते हैं कि जैसे कुन्दसे उमाको और इन्दुसे शिवजीकी उपमा दी, इसी प्रकार आगे चलकर दो विशेषणोंसे दोनोंको एक रूपमें भूषित किया। 'करुणाअयन' जगन्माता पार्वतीजीको और 'जाहि दीन पर नेह' शङ्करजीको कहा। आगे चलकर दोनोंसे याचना करते हैं। श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं, 'करौ कृपा'। यथा विनयपत्रिकायाम्, 'दुसह दोष दुख दलनि कर देवि दाया।' और, शङ्करजीसे कहते हैं 'मर्दनमयन' अर्थात् 'मयन मर्दै नहीं, विध्वंस नहीं करे।' इस तरह 'मर्दन' को तोड़कर 'मर्दै न' करके अर्थ किया है।

नोट—६ 'उमारमण' का अर्थ 'उमा और उमारमण' लेनेकी क्या आवश्यकता जान पड़ी ? इसका कारण हमें एकमात्र यह देख पड़ता है कि भारतमें पञ्चदेवोपासना बहुत कालसे चली आती है। यथा—'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी ॥ रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी ॥ २ । २७३ ।' इसी आधारपर प० शिवलालपाठकजीका मत है कि भाषाके मङ्गलाचरणके पाँच सोरठोंमें पञ्चदेवका मङ्गलाचरण है और श्रीजानकीदासजीका मत है कि यहाँतक चार सोरठोंमें पञ्चदेवोंकी वन्दना है। प्रथम सोरठेमें गणेशजी, दूसरेमें सूर्य, तीसरेमें रमारमण और यहाँ उमा और उमारमणकी वन्दना है। मयङ्ककार दूसरे सोरठेमें विष्णुकी वन्दना मानते हैं, अत वे पाँचवें सोरठेमें सूर्यकी वन्दनाका भाव मानते हैं। गौरि और त्रिपुरारि (वा, शक्ति और शिव) के बिना पाँचकी पूर्ति नहीं हो सकती, अत दोनोंको 'उमारमण' से इन दोनोंका अर्थ लेना पड़ा। इस पक्षका समर्थन करनेमें कहा जाता है कि उमा शब्द श्लेषात्मक है, अतएव उमा और उमारमणका ग्रहण है, क्योंकि रूपका रूपक दो है, कुन्द और इन्दु। कुन्दके समान उमाजीका शरीर है, और इन्दुके समान अत्यन्त उज्ज्वल उमारमणका शरीर है। परन्तु इसके उत्तरमें 'कुंद इंदु दर गौर सरीरा।' १ । १०६ ।' और 'कुंद इन्दुदर गौर सुन्दर ' (उ० म० श्लो०) ये दो उदाहरण इसी ग्रन्थके उपस्थित किये जा सकते हैं।

नोट—७ उमारमण और मर्दनमयन ये दोनों विशेषण परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि जो कामको भस्म कर चुका वह स्त्रीमें रमण करनेवाला कैसे कहा जा सकेगा ? इन परस्पर विरोधी विशेषणोंको देकर बोधित कराया है कि भगवान्‌का विहार दिव्य और निर्विकार है। यह ब्रह्मानन्दका विषय है। (तु० प० भाष्यसे उद्धृत)। गौड़जी कहते हैं कि 'मर्दनमयन' तो अन्तमें प्रार्थनामात्र है कि मेरे हृदयको निष्काम बना दीजिये। अत उसमें कोई असङ्गति नहीं है।

प्रथम प्रकरण ('देववन्दना' प्रकरण) समाप्त हुआ।

बंदउँ गुरपदकंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकरनिकर ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कंज=कमल। महामोह=भारी मोह। मोह=अज्ञान। तम=अन्धकार। पुंज=समूह। रवि=सूर्य। कर=किरण। निकर=समूह।

अर्थ—१ मैं श्रीगुरुमहाराजके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ जो कृपाके समुद्र हैं, नररूपमें 'हरि' ही हैं और जिनके वचन महामोहरूपी समूह अन्धकारके (नाशके) लिये सूर्यकिरणके समूह हैं ॥ ५ ॥

नोट—१ 'बंदउँ गुरुपदकंज' इति। (क) श्रीमद्गोस्वामीजीने अपने इस काव्यमें तीन गुरु माने हैं। एक तो श्रीशिवजीको, दूसरे अपने मन्त्रराजोपदेष्टा श्री १०८ नरहरिजी (श्रीनरहर्यानन्दजी) को, जिनसे उन्होंने वैष्णवपञ्चसंस्कार और श्रीरामचरितमानस पाया और तीसरे श्रीरामचरितको। विशेष मं० श्लोक ३ पृष्ठ १८ प्रश्नोत्तर (४) में लिखा जा चुका है, वहाँ देखिये। (ख) इन तीनोंके आश्रित होनेसे इनका काव्य सर्वत्र वन्दनीय हुआ और होगा।

प्रमाण—(१) श्रीशिवजीके आश्रित होनेसे। यथा—'भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती। ससिसमाज मिलि मनहुँ सुराती॥ १। १५।' (२) निज गुरुके आश्रित होनेसे। यथा—'तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥ भाषाबद्ध करबि मैं सोई।''करौं कथा भवसरिता तरनी। बुधबिश्राम सकल जनरंजनि॥' (१। ३१)। 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्। यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥ मं० श्लोक ३।' (३) श्रीरामचरितके आश्रय या सङ्गसे। यथा—'प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजनमनभावनी। प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति रामजस संग॥ १। १०।' (ग) तीनों गुरुओंका कर्तव्य एक ही है, भवसागर पार करना। तीनोंके क्रमसे उदाहरण। यथा—'गुणागार संसारपारं नतोऽहं। ७। १०८।' शिवजी), 'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। ७। ९३ (मन्त्रोपदेष्टा गुरु), 'भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ़ नावा॥ ७। ५३।' (घ) यहाँ 'नररूपहरि' कहकर गुरुदेवजीकी वन्दना करनेसे मन्त्रोपदेष्टा तथा श्रीरामचरितमानस पढ़ानेवाले निज गुरु श्रीनरहर्यानन्दजीकी वन्दना सूचित की।

नोट—२ बाबा जानकीदासजी तथा बाबा हरिहरप्रसादजीने 'कृपासिंधु नररूप हरि' को 'पदकंज' का विशेषण माना है और विनायकीटीकाकारने भी। उनके अनुसार अर्थ यह होगा।—

अर्थ—२ मैं श्रीगुरुमहाराजके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ जो (चरण) दयाके समुद्र हैं, नर शरीरके हर लेनेवाले हैं अर्थात् आवागमनके छुड़ानेवाले हैं और सूर्यकिरणसमूह (समान) हैं जिससे महामोहरूपी अन्धकारसमूह 'बच न' (बच नहीं सकता)।

स्मरण रहे कि प्रायः गुरुजनों आदिकी वन्दनामें 'पदकंज' की ही वन्दना होती है। यथा—'बंदउँ मुनिपदकंज', 'बंदउँ बिधिपद रेनु' इत्यादि। परंतु वह वन्दना गुरुजनोंकी ही मानी जाती है और विशेषण भी गुरुजनोंके ही होते हैं न कि पदकंजके। पदकंजका विशेषण माननेसे 'जासु' का अर्थ 'जिससे' 'नररूपहरि' का अर्थ 'नरशरीर हरनेवाले अथवा नरके समान पद हैं पर वास्तवमें हरि अर्थात् दुःखहर्त्ता हैं' और 'बचन' का 'बच न' अर्थ करना पड़ता है।

नोट—३ 'कंज' इति। भगवान्, देवता, मुनि, गुरु तथा गुरुजनोंके सम्बन्धमें कमलवाची शब्दोंकी उपमा प्रायः सर्वत्र दी गयी है। कभी कोमलता, कभी आर्द्रता, कभी विकास, कभी रंग, कभी सुगन्ध, कान्ति और सरसता, कभी उसके दल, कभी माधुरी और कभी आकार आदि धर्मोंको लेकर उपमा दी गयी है। इसलिये कमलके गुणोंको जान लेना आवश्यक है। वे ये हैं 'कमलं मधुरं वर्ण्यं शीतलं कफपित्तजित्। तृष्णादाहास्रविस्फोटविषसर्पविनाशनम्॥' अर्थात् कमल मधुर, रंगीन, शीतल, कफ और पित्तको दबानेवाला, प्यास, जलन, चेचक, तथा विषसर्प आदि रोगोंका नाशक है। (वि० टी०)।

नररूपहरिके भाव

'नररूपहरि' से सूचित किया कि—(१) गुरुका नाम लेना निषेध है। (मं० श्लोक ७ पृष्ठ ४२ देखिये)। इसलिये गोस्वामीजीने 'रूप' शब्द बीचमें देकर अपने गुरुकी वन्दना की। आपके गुरु नरहरिजी हैं। यथा—'अनंतानंद पद परसि कै लोकपाल से ते भये। गयेश करमचन्द अल्ह पयहारी॥ सारीरामदास श्रीरंग अवधि गुण महिमा भारी। तिनके नरहरि उदित' (भक्तमाल छप्पय ३७)। छप्पयमें 'तिनके' से कोई 'अनन्तानन्दजी' का और कोई 'रङ्गजी' का अर्थ करते हैं। पयहारीजीके शिष्य अग्रदेवजी हैं जिनके शिष्य नाभाजी हुए, नाभाजी और गोस्वामीजी समकालीन थे।

इससे ये 'नरहरिजी' ही गोस्वामीजीके गुरु सिद्ध होते हैं। श्रीवेणीमाधवदासजीके 'मूल गुसाईं चरित'से भी श्रीमद्गोस्वामीजीके गुरु श्री १०८ अनन्तानन्द स्वामीजीके ही शिष्य प्रमाणित होते हैं। यथा—'प्रिय शिष्य अनन्तानन्द हते। नरहर्य्यानन्द सुनाम छते ॥' छप्पयके 'नरहरि' ही 'नरहर्य्यानन्द' जी हैं।

(२) गुरु भगवान् ही हैं जो नररूप धारण किये हैं। जैसे मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह-रूप हरि है वैसे ही गुरु नररूपहरि हैं, अर्थात् नर-अवतार हैं। यथा—'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नम' ॥ (गुरुगीता ४३) (श्री प० रा० कु०)। अग्रदासजी कहते हैं कि 'गुरुन विषै नरबुद्धि शिलासम गनै विष्णुतन। चरणामृत जल जाल मन्त्र वन्दै बानी सम ॥ महाप्रसादहिं अन्न, साधुकी जाति पिछानै। ते नर नरकै जायँ वेद स्मृत बखानै ॥ अग्र कहैं यह पाप घर अतिमोटो दुर्घट विकट। और पाप सब छुटै पै ये न मिटैं हरिनामरट ॥'

(३) (शिष्यके) नररूप (=शरीर) के हरनेवाले हैं अर्थात् आवागमन छुड़ा देते हैं।

(४) 'हरि' इससे कहा कि 'क्लेश हरतीति हरि।' आप जनके पञ्चक्लेश और मोहादिको हरते हैं या यों कहिये कि प्रेमसे मनको हर लेते हैं इससे 'हरि' कहा। (श्रीरूपकलाजी)।

(५) 'हरि' का अर्थ 'सूर्य' भी होता है। मानसमयककारने 'सूर्य' अर्थ लिया है। 'सूर्य' अर्थसे यह भाव निकलता है कि जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार गुरु शिष्यको उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत्-को प्रकाशपूर्ण बनाते हैं। यथा—'सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशक। गुरु प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणा बुद्धिदानत ॥' (पद्मपुराण भूमिखण्ड ८५।८)। सूर्य दिनमे प्रकाश करते, चन्द्रमा रात्रिमे प्रकाशित होते और दीपक केवल घरमें प्रकाश करता है, परतु गुरु शिष्यके हृदयमें सदा ही प्रकाश फैलाते हैं। वे शिष्यके अज्ञानमय अन्धकारका नाश करते हैं अत शिष्योंके लिये गुरु ही सर्वोत्तम तीर्थ हैं। गुरु सूर्य हैं और उनके वचन किरणसमूह हैं।

(६) बैजनाथजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीके गुरु इतने प्रसिद्ध नहीं थे जैसे कि ये प्रसिद्ध हुए। इसलिये उनका नाम प्रसिद्ध करनेके लिये 'रूप' शब्द नर और हरिके मध्यमें रखकर इस युक्तिसे उनका नाम भी प्रकट कर दिया।

नोट—४ 'कृपासिंधु नररूप हरि' इति। अर्थमें हमने 'कृपासिंधु' को 'गुरु' का विशेषण माना है परतु इसको 'हरि' का भी विशेषण मान सकते हैं। अर्थात् दयासागर हरि ही नररूपमें हैं। 'सिंधु' के सम्बन्धसे एक भाव यह भी निकलता है कि एक हरि क्षीरसिंधुनिवासी हैं जो नररूप धारण करते हैं और गुरु हरि-कृपारूपी समुद्रके निवासी हैं जो साधनरहित जीवोंका उद्धार करनेके लिये नररूप धारणकर शिष्यका उद्धार करते हैं। मैं सब प्रकार साधनहीन दीन था, मुझपर सानुकूल हो मेरे लिये प्रकट हुए। यथा—'सो तो जानेउ दीनदयाल हरी। मम हेतु सुसतको रूप धरी ॥' (मूलगुसाईंचरित)। सानुकूलता इससे जानी कि अपने वचनोंसे मेरा महामोह दूर कर दिया। यदि 'हरि'का अर्थ 'सूर्य' लें तो यह प्रश्न उठता है कि सूर्य और सिंधुका क्या सम्बन्ध? प० रामकुमारजी एक खर्रेमे लिखते हैं कि 'सिंधुमें सूर्यका प्रवेश है और सिंधुहीसे सूर्य निकलते हैं यह ज्योतिषका मत है।' [ज्योतिषियोंसे परामर्श करनेपर ज्ञात हुआ कि यह मत ज्योतिषका नहीं है। क्योंकि सूर्य तो पृथ्वीसे सहस्रों योजन दूर है और सिन्धु तो पृथ्वीपर ही है। हाँ! ऐसी कल्पना काव्योंमें की हुई मिलती है। यथा—'विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ। रिपुतिमिरमुदस्योदीयमान दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूय ॥' (किरातार्जुनीय १।४६) श्रीद्रौपदीजी युधिष्ठिर महाराजसे कह रही हैं 'कि समयके कारण जिनके प्रकाशका नाश होनेसे जो उदास हो गये हैं तथा जिनके किरण शिथिल हो गये हैं, अगाध समुद्रमें डूबे हुए ऐसे सूर्यको जिस प्रकार दिनके आरम्भमे अन्धकाररूपी शत्रुका नाश करके उदय होनेपर लक्ष्मी, शोभा, तेज और कान्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रारब्धवशात् जिनका प्रताप सकुचित हो गया है और जिनका सब धन, राज्य आदि नष्ट हो गया तथा जो अगाध विपत्तिरूपी समुद्रमें डूबे हुए हैं, शत्रुका नाश करके अभ्युदय करनेवाले आपको राज्यलक्ष्मी प्राप्त हो।' इस श्लोककी टीकामें श्रीमल्लीनाथ सूरिजी लिखते हैं कि 'सूर्योऽपि साय सागरे मज्जति परेद्युरुन्मज्जतीत्यागम।' अर्थात् सूर्य सायकाल समुद्रमे डूबता है ऐसा आगम है। सम्भवत· इसी आधारपर प० रामकुमारजीने यह भाव लिखा हो।

पीछे न लिया हो।] जैसे सूर्योदयसे अथवा हरि-अवतारसे जीवोंका कल्याण होता है, वैसे ही गुरुके प्रकट होनेपर ही शिष्यका कल्याण होता है, अन्यथा नहीं। यथा—'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥' ७। ९३॥

टिप्पणी—'कृपासिंधु', 'नररूपहरि' 'जासु बचन रबिकर निकर' ये विशेषण क्रमसे देनेका तात्पर्य यह है कि श्रीगुरुदेवजीको हरिका नर-अवतार कहा है। अवतारके लिये प्रथम कारण उपस्थित होता है तब अवतार होता है और अवतार होनेपर लीला होती है। यहाँ ये तीनों (अवतारका कारण, अवतार और लीला) क्रमसे सूचित किये हैं। अवतार-का हेतु 'कृपा' है यथा—'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥ १२१॥ कृपासिंधु जन हित तन धरहीं।' (१। १२२) 'भए प्रकट कृपाला ...' (१। १९२)। गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनु धारी॥५। ३९।' 'कृपासिंधु' पद देकर 'नररूप हरि' अर्थात् नर-अवतारका कारण कहा। 'नररूप हरि' कहकर अवतार होना सूचित किया। और 'महामोहतमपुंज जासु बचन रबिकर निकर' से अवतार होनेपर जो लीला होती है सो कही। अर्थात् श्रीगुरुमहाराज कृपा करके महामोहरूपी अन्धकार-समूहको अपने वचनरूपी किरणसे नाश करते हैं, यह लीला है।

आगे चौपाइयोंमें श्रीगुरुचरणरजसे भवरोगका नाश कहना चाहते हैं। मोह समस्त रोगोंका मूल है। यथा—'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥ ७। १२१॥', इसलिये पहले यहाँ मोहका नाश कहा गया।

श्रीरामावतार और श्रीगुरु-अवतारका मिलान

श्रीरामचन्द्रजी	श्रीगुरुदेवजी
श्रीरामावतार सन्त गो द्विज आदिकी रक्षा-हेतु उनपर कृपा करके रावण-वधके लिये हुआ।	१ श्रीगुरुदेवावतार शिष्यों वा आश्रितोंपर कृपा करने तथा उनके महामोहके नाशके लिये हुआ। महामोह ही रावण है। यथा, 'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो है' (वि० १८१)।
श्रीरामजीने बाणसे रावणका वध किया।	२ श्रीगुरुजीने वचनरूपी बाणोंसे शिष्यका महामोह दूर किया। वचन बाण हैं। यथा, 'जीभ कमान बचन सर नाना' (२-४१)
श्रीरामजीके बाणको 'रवि' की उपमा दी गयी है। यथा, 'रामबान रबि उएँ जानकी' (५। १६)।	३ श्रीगुरुजीके वचनोंको 'रबिकर निकर' की उपमा दी गयी।

४ श्रीगुरुदेवावतारमें यह विशेषता है कि जिस रावणको श्रीरामजीने मारा था वह रावण, यद्यपि उसने चराचरको वशमें कर लिया था, पर स्वयं मोहके वश रहा, मोहको न जीत सका था और श्रीगुरुदेवजीने महामोह ऐसे प्रबल शत्रु रावणका नाश किया।

नोट—५ 'महामोह तमपुंज ...' इति। (क) गीतामें मोहकी उत्पत्ति इस प्रकार बतायी है। 'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥ क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥' (अ० २) अर्थात् मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे विषयोंमें आसक्ति हो जाती है जिससे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है। कामनाकी प्राप्तिमें विघ्न पड़नेसे क्रोध और क्रोधसे 'सम्मोह' होता है जिससे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जानेसे बुद्धि (ज्ञानशक्ति) का नाश होता है। बुद्धिके नाशसे मनुष्य अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है। (ख) निज स्वरूपकी विस्मृति, पररूपकी विस्मृति, देहमें आत्मबुद्धि, निज-पर बुद्धि, मायिक विषयों, सांसारिक पदार्थों, देहसम्बन्धियोंमें ममत्व और उनमें ही सुख मान लेना इत्यादि 'मोह' है। यह मोह जब दृढ़ हो जाता है, अपनी बुद्धिसे दूर नहीं हो पाता तब उसीको 'विमोह' 'सम्मोह' 'महामोह' कहते हैं

नोट—'महामोह' इति। ईश्वरके नाम, रूप, चरित, धाम, गुण इत्यादिमें सन्देह होना 'महामोह' है। यथा—'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम ॥ ७ । ५८ ।' इसीको आगे चलकर नारदजीने 'महामोह' कहा है। यथा—'महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहें खग मोरे ॥ ७ । ५९ ।' पुन, पार्वतीजीके प्रश्न करनेपर शिवजीने कहा है कि 'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। १ । ११४ ।' इसीको आगे चलकर 'महामोह' कहा है। यथा—'जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना ।।' (१ । ११५)।

पूर्व संस्करणमें हमने यह भाव लिखा था पर पुनर्विचार करनेपर हमें यही मालूम हुआ कि वस्तुत· 'महामोह' शब्द 'भारी मोह' के अर्थमें है। उपर्युक्त दोनों प्रसङ्गोंमें तथा अन्यत्र भी महामोह, मोह, बिमोह, भ्रम आदि शब्द पर्य्याय-वाचीकी तरह प्रयुक्त हुए हैं, यथा—'भयउ मोह बस तुम्हरिहिं नाईं' (७ । ५९), 'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई ॥' (७ । ५९), 'नहिं आचरज मोह खगराजा' (७ । ६०), 'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ॥ ७ । ६१ ।', 'होइहि मोह जनित दुख दूरी। (७ । ६२), 'एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेउ भवानी ॥ १ । ११४ ।', 'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम। १ । ११५ ।', 'ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी ॥ १ । १२० ।', 'नाथ एक संसउ बड़ मोरें।' 'अस बिचारि प्रगटौं निज मोहू ॥ जैसे मिटै मोह भ्रम भारी' महामोह महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला ॥ (१ । ४५ । ४६ । ४७), 'अस संसय मन भयउ अपारा। १ । ५१ ।', 'भएउ मोह सिव कहा न कीन्हा।' (१ । ९८), इत्यादि। गरुड़जीने भुशुण्डिजीसे जो कहा है कि 'मोहि भयउ अति मोह प्रभुबंधन रन महुँ निरखि। ७ । ६८ ।' वही 'अति मोह' यहाँ महामोहका अर्थ है।

'महामोह' शब्द कहीं कोशमें भगवद्विषयक मोहका ही वाचक नहीं मिलता। एक तो 'महामोह' शब्द ही कोई स्वतन्त्र शब्द कहीं कोशोंमें नहीं मिलता है और न ऐसा उल्लेख ही मिलता है कि महामोहसे भगवद्विषयक मोह ही लिया जाता है। इस सोरठेमें बताते हैं कि गुरु भगवत्-सम्बन्धी एव अन्य वैषयिक (अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि विषयक;) सभी प्रकारके दृढ मोहके नाशक हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'जासु बचन' का भाव कि गुरु वस्तुत· वही है जिसका वचन सूर्यकिरणके समान (महामोहान्धकारका नाशक) है और वही भगवान्का अवतार है। (ख) 'रबिकर निकर' का भाव यह है कि किरणें चन्द्रमामें भी हैं पर उनसे अन्धकारका नाश नहीं होता। यथा—'राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ। सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ ॥ ७ । ७८ ।' अत 'रविकर' कहा। 'निकर' कहा क्योंकि सूर्यकिरण हजारों हैं, इसीसे सूर्य 'सहस्रांशु' कहे जाते हैं। यथा—'पद्मस्तु सहस्रांशु' जैसे सूर्यके हजारों किरणें है वैसे ही गुरुके वचन अनेक हैं। [(ग) मोह तम है। यथा—'जीव हृदय तम मोह बिसेषी'। १ । ११७ ।' उसके नाशके लिये गुरुका एक वचन किरण ही पर्याप्त होता, पर यहाँ 'महामोह' रूपी 'तमपुज' है जो एक वचनोंसे नाशको प्राप्त होनेवाला नहीं है। उसके नाशके लिये गुरुके अनेक वचनोंकी आवश्यकता होती है जैसा कि शिवजीके गरुड़जीके प्रति कहे हुए वचनोंसे सिद्ध है। यथा—'मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही। कवन भाँति समुझावौं तोही ॥ तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा ।।' (७ । ६१)। अतएव 'तमपुज' के सम्बन्धसे 'रविकर निकर' कहा गया। (घ) 'गुरुजीके वचनको 'रबिकर निकर' कहा, तो यहाँ सूर्य, और ब्रह्माण्ड क्या है?' यह प्रश्न उठाकर दो एक टीकाकारोंने रूपककी पूर्ति इस प्रकार की है कि ज्ञान सूर्य है। यथा—'जासु ज्ञानु रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा ।।' (२ । २७७)। म० श्लोक ३ में गुरुजीको 'बोधमय' कहा है। अर्थात् उनको ज्ञानका ही पुतला वा ज्ञानस्वरूप कहा ही है। तात्पर्य यह कि उनके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश सदा बना रहता है। इस तरह हृदय ब्रह्माण्ड है जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य सदा उदित रहते हैं, कभी उनका अस्त नहीं होता। प० रामकुमारजीका मत है कि 'हरि' सूर्यको भी कहते हैं अत गुरु सूर्य भी हैं और उनके- बचन सूर्यकिरण-समूह हैं।] (ङ) महामोहतमपुञ्जके लिये गुरु-

वचनोंको 'रविकरनिकर' कहकर 'गुरु' शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया कि जो शिष्यके मोहान्धकारको मिटा दे वही 'गुरु' है। यथा—'गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यादुकारस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥ इति गुरुगीतायाम्।' अर्थात् गु शब्दका अर्थ 'अन्धकार' है और 'रु' शब्दका अर्थ है 'उस अन्धकारका नष्ट करना'। महान्धकारको दूर करनेसे ही 'गुरु' नाम हुआ।

नोट—६ यहाँ जो 'महामोह तमपुंज निकर' विशेषण दिया गया है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। 'तम' शब्द रूपकके वास्ते आया है, क्योंकि ऊपर 'रविकर निकर' कहा है, उसीके सम्बन्धसे यहाँ 'अन्धकारका समूह' कहा गया। परंतु 'तम पुञ्ज' कहनेसे मोहका कारण जो अज्ञान है उसका भी ग्रहण किया जा सकता है। इस तरह भाव यह होता है कि गुरुमहाराज अपने वचनोंसे कारण और कार्य दोनोंका नाश कर देते हैं। क्योंकि यदि कार्य नष्ट हुआ और कारण बना रहा तो फिर भी कार्यकी उत्पत्ति हो सकती है। इसी अभिप्रायसे श्रीमद्भागवतमें गुरुके लक्षण ये बतलाये हैं कि वह शब्द शास्त्र और अनुभव दोनोंमें पारङ्गत हो। यथा—'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ ११। ३। २१।' अर्थात् उत्तम श्रेय साधनके जिज्ञासुको चाहिये कि वह ऐसे गुरुकी शरण जाय जो शब्द ब्रह्म (वेद) में निष्णात, अनुभवी और शान्त हो। श्रुति भी ऐसा ही कहती है। यथा—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ मुण्डक १। २। १२।' उपनिषद्में जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ कहा है उसीको यहाँ 'शाब्दे' और 'परे निष्णात' कहा है। दोनों गुणोंका होना आवश्यक है। केवल श्रोत्रिय हुआ, अनुभवी न हुआ, तो वह गुरु होने योग्य नहीं, क्योंकि केवल वाक्ज्ञानमें निपुण होनेसे महामोहको न हटा सकेगा। और केवल अनुभवी होगा तो वह समझा न सकेगा, जब शिष्य समझेगा ही नहीं, तब महामोह कैसे निवृत्त होगा? इसीमें तो कहा है कि 'शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि। श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥ भा० ११। ११। १८। अर्थात् जो शब्द ब्रह्म (वेद) का पारङ्गत होकर ब्रह्मनिष्ठ न हुआ अर्थात् जिसने ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर लिया, उसे दुग्धहीना गौको पालनेवालेके समान वेदपठनके श्रमके फलमें केवल परिश्रम ही हाथ लगता है। जान पड़ता है कि 'महामोह तमपुञ्ज' ये विशेषण इन्हीं भावोंको लेकर लिखे गये हैं। बिना ऐसे गुरुके दूसरेके वचनसे महामोह नष्ट नहीं हो सकता।

नोट—७ 'यहाँ भाषामें गुरुवन्दना किस प्रयोजनसे की गयी?' यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह दिया जाता है कि श्लोकमें बोध और विश्वासके निमित्त वन्दना की थी, और, यहाँ 'महामोह' दूर करनेके लिये की है। श्लोकमें गुरुको शङ्कररूप अर्थात् कल्याणकर्ताका रूप कहा और यहाँ हरिरूप कहा। ऐसा करके जनाया कि गुरु सम्पूर्ण कल्याणोंके कर्ता हैं और जन्म-मरणादिको भी हर लेनेवाले हैं। पुनः एक बार शङ्कररूप और दूसरी बार हरिरूप कहनेका कारण यह भी है कि गुरु तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनोंके रूप माने गये हैं। यथा—'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।' यहाँ शङ्का हो सकती है कि हरि और हररूप मानकर वन्दना की, ब्रह्मारूप मानकर भी तो वन्दना करनी चाहिये थी? इसका समाधान यह है कि ब्रह्माजीकी प्रतिष्ठा, पूजा आदि वर्जित है, इससे 'विधिरूप' न कहा। उनकी पूजा क्यों नहीं होती? यह विषय 'बन्दउँ विधिपदरेनु' (१। १४) में लिखा गया है। प्रमाणका एक श्लोक यहाँ दिया जाता है। यथा—'तदा नभो गता वाणी ब्रह्माणं च शशाप वै। मृषोक्तं च त्वया मन्द किमर्थं चालिशेन हि॥ ६४॥ तस्माद् यूयं न पूज्याश्च भवेयुः क्लेशभागिनः॥' (शिवपुराण माहेश्वरखण्डान्तर्गत केदारखण्ड अ० ६)।

भाषा-मङ्गलाचरण पाँच सोरठोंमें करनेके भाव

पाँच सोरठोंसे पञ्चदेव 'गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव और गौरी (=शक्ति)' की वन्दना की गयी है। यथा—'बहुरि सोरठा पाँच कहि सुन्दर मधुर सुलोन। पंच देवता बरेउ जाहि ग्रन्थ सुभ होय॥' (गणपति उपाध्याय)। यही मत और भी कई महानुभावोंका है।

इसमें कोई टीकाकार फिर यह शङ्का उठाकर कि 'पाँचवें सोरठेमें तो गुरुकी वन्दना है तब पञ्चदेवकी वन्दना पाँचों सोरठोंमें कैसे कहते हैं?' उसका समाधान यह करते हैं कि गुरु हरिरूप हैं और मं० श्लो० ३ में उनको शङ्कररूप भी कहा है। पुनः, हरि सूर्यको भी कहते हैं। तीनों प्रकार वे पञ्चदेवमें आ जाते हैं।

प० शिवलालपाठकजीके मतानुसार दूसरे सोरठेमे विष्णुकी वन्दना है और पाँचवेमें सूर्यकी। वे लिखते हैं कि 'अपने प्रयोजन योग्य सूर्यमें कोई गुण न देखकर गुरुहीकी सूर्यवत् वन्दना की, क्योंकि सूर्यमे तमनाशक शक्ति है वैसे ही गुरुमें अज्ञानतमनाशक शक्ति है और ग्रन्थकारको अज्ञानतम नाशका प्रयोजन है। अत गुरुकी सूर्यवत् वन्दना की गयी है, जिससे पञ्चदेवकी भी वन्दना हो गयी और अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो गया' (मानसअभिप्रायदीपक)।

बाबा जानकीदासजीके मतानुसार प्रथम चार सोरठोंमें पञ्चदेवकी वन्दना है। सोरठा ४ पर देववन्दनाका प्रकरण समाप्त हो गया।

नोट—☞ प्राय सभी प्राचीन पोथियोमे 'नररूप हरि' ही पाठ मिलता है, पर आधुनिक कुछ छपी हुई प्रतियोंमे 'नररूप हर' पाठ लोगोंने दिया है। श्री १०८ गुरुमहाराज सीतारामशरण भगवानप्रसादजी (श्रीरूपकलाजी) श्रीमुखसे कहा करते थे कि प० रामकुमारजी 'हर' पाठ उत्तम मानते थे क्योंकि 'हर' और 'निकर' में वृत्त्यानुप्रास है। ऊपरके सोरठोमे अनुप्रासका क्रम चला आ रहा है वही क्रम यहाँ भी है।

श्रावणकुञ्जकी पोथीका पाठ देखनेके पश्चात् वे 'हरि' पाठ करने लगे थे।

चौ०—बंदौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥ १॥

शब्दार्थ—पदुम (पद्म)=कमल। परागा (पराग)=(कमलके सम्बन्धमें) वह रज या धूलि जो फूलोंके बीच लम्बे केसरोंपर जमा रहती है।=पुष्परज। इसी परागके फूलोंके बीचके गर्भकोशोंमे पड़नेसे गर्भाधान होता है और बीज पड़ते हैं।=(गुरुपदके सम्बन्धसे) तलवेमें लगी हुई धूलि=रज। सुरुचि=सुन्दर, रुचि=दीप्ति, कान्ति वा चमक।=(प्राप्तिकी) इच्छा, चाह, प्रवृत्ति। यथा—**'रुचि जागत सोवत सपने की'** (२। २०१)।=स्वाद, यथा—**'तब तब कहैं सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई।'** (विनय १६४)। सुबास=सुन्दर वास। वास=सुगन्ध।=वासना, कामना। सरस=(स+रस)=रससहित।=सुरस। 'स' उपसर्ग 'सहित' अर्थ देता है और 'सु' के स्थानपर भी आता है जैसे सपूत=सुपूत। सरस=सरसता है, बढता है। सरस=सुन्दर। सरस अनुरागा=अनुराग सुन्दर रस है।=अनुराग करके सरस है।=अनुराग रसयुक्त।=सुन्दर अनुराग सरसता है। पुन सरस=सम्यक् प्रकारका रस (मा० प्र०)।

इस अर्धालीका अर्थ अनेक प्रकारसे टीकाकारोंने किया है। अर्थमें बहुत मतभेद है। प्राय सभी अर्थ टिप्पणियों-सहित यहाँ दिये जाते हैं।

अर्थ—१ मै श्रीगुरुचरणकमलके परागकी वन्दना करता हूँ जिस (पराग) में सुन्दर रुचि, उत्तम (सुगन्ध) और श्रेष्ठ अनुराग है।

नोट—१ यह अर्थ श्रीपजाबीजी और बाबा जानकीदासजीने दिया है। केवल भावोंमे दोनोंके अन्तर है। (क) पजाबीजीका मत है कि उत्तम रुचि अर्थात् श्रद्धा, उत्तम वासना और श्रेष्ठ प्रेम ये तीनों श्रीगुरुपदकमलके रजमें रहते हैं। जो मधुकरसरिस शिष्य कमलपरागमें प्रेम करनेवाले हैं, पदरजका स्पर्श करते हैं, उन्हें ये तीनो प्राप्त होते है और जो श्रीगुरुपदरजके प्रेमी नहीं हैं उनको नहीं मिल सकते। (ख) बाबा जानकीदासजी (मानसपरिचारिकाकार) लिखते हैं कि सोरठा ५ में पदकमलकी वन्दना की, तब यह सोचे कि श्रीगुरुपदको कमलकी उपमा क्या कहें, पदकमलमें कमलके धर्म क्या कहें, जब कि उस धूलिहीमें कमलके धर्म आ गये जो कहींसे श्रीगुरुपदमे लपट गयी है। ऐसा सोच-समझकर पदरजमे कमलके धर्म दिखाये। (ग) धर्म किसे कहते हैं ? गुण, स्वभाव और क्रिया तीनोंका मेल 'धर्म' कहलाता है। अर्थात् किसी वस्तुके गुण, स्वभाव और क्रिया तीनों मिलकर उसका धर्म कहलाते हैं। यहाँ 'सुरुचि' गुण है, 'सुवास' स्वभाव है और 'रस' क्रिया है। (मा० प्र०)। (घ) अब यह प्रश्न होता है कि ये तीनों वस्तु धूलिमें कहाँ हैं ? उत्तर—कमलमें सुरुचि वर्ण (दीप्तिमान् रङ्ग) है, गुरुपदरजमें 'सुरुचि' है वह गुणधर्म है। सुन्दर सुगन्ध स्वभाव है। कमलमें रस है और रजमें जो श्रेष्ठ अनुराग है यही क्रिया धर्म है। ये तीनो धर्म आगेकी तीन अर्धालियोंमें क्रमसे दिखाये गये हैं। (मा० प्र०)।

अर्थ—२ मैं श्रीगुरुपदपरागकमल्की वन्दना करता हूँ, जिसमें सुरुचिरूपी सुवास और अनुरागरूपी सुन्दर वा सम्यक् प्रकारका रस है।

नोट—२ (क) पिछले अर्थमें 'पदुम' को दीप-देहलीन्यायसे 'पद' और 'पराग' दोनोंका विशेषण माना था और धर्मके तीन प्रकार कहे गये। अब इस अर्थमें 'पदुम' का अन्वय 'पराग' के साथ किया है और कमलके दो धर्म सुवास और मकरन्द लिये हैं। पदरजमें जो सुरुचि और अनुराग हैं वही सुवास और रस है। (मा० प्र०)। (ख) बैजनाथजीने भी ऐसा ही अर्थ किया है। वे लिखते हैं कि कमलमें पीत पराग होता है और भूमि (मिट्टी) का रंग भी पीत माना जाता है। रंग तो प्रसिद्ध है ही, अतः अब केवल गन्ध और रस कहते हैं। पदरजमें शिष्यकी जो सुन्दर रुचि है वही सुगन्ध है। गुरुपदमें सारे जगत्की एकरस रुचि (चाह) होती है, अन्य इष्ट नामोंमें सबकी एकरस रुचि नहीं होती। इसी प्रकार रजमें जो एकरस अनुराग है वही रस है। [अनुरागमें नेत्रोंसे जल निकल पड़ता है, इसी विचारसे अनुरागको सुन्दर रस कहा। यथा—'रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै। (विनय० ८२)] (ग) पंजाबीजीने यह दूसरा अर्थ दिया है और मानसमयङ्ककारने भी। 'सम्यक् प्रकारका' ये शब्द इनमें नहीं हैं। अनुराग रस है, ऐसा अर्थ इन दोनोंने किया है। पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीमद्गुरु पदकमलरज, जिसमें भक्तोंकी शुद्ध रुचिरूपी सुगन्ध और भक्तोंका प्रेमरूपी रस है, उसकी मैं वन्दना करता हूँ। प० शिवलाल पाठकजीका मत है कि श्रीगुरु-पद रजमें ये दोनों सदा रहते हैं। जो बड़भागी शिष्य मन-मधुकरको इसमें लुब्ध कर देता है, उसमें भी सुरुचि और भगवच्चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हो जाते हैं। मानसमयङ्ककारका मत है कि शिष्यकी रुचि और शिष्यके अनुरागको पद-परागके वास और रस माननेसे सर्वथा असङ्गति होगी। क्योंकि सुगन्ध और रस तो परागमें स्थित है, कहीं बाहरसे नहीं आये हैं। तब सुरुचि और अनुराग दूसरेका कैसे माना जा सकता है? अतएव यहाँ भावार्थ यह है कि श्रीगुरुपदपद्म-परागमें जो भगवत-भागवतमें श्रद्धा और अनुराग उत्पन्न करानेवाला गुण है, जिसके सेवनसे शिष्यके हृदयमें श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न होता है, उस शक्तिजन्य श्रद्धा और प्रेमसे सुवास और रसका रूपक है। सुरुचि=श्रद्धा (मा० मा०)। (घ) यहाँ 'रज' का प्रताप कहते हैं। जिसके पास जो चीज होती है वही वह दूसरेको दे सकता है। सत सदा भगवद-नुरागमें छके रहते हैं। वे श्रद्धा-विश्वासके रूप ही हैं। फिर गुरुदेव तो ब्रह्मरूप ही हैं तब उनके रजमें यह प्रभाव क्यों न हो? रजमें 'सुरुचि और अनुराग' मौजूद हैं, इसीसे सेवकको प्राप्त होते हैं (शीला) कमलपरागसे पदपरागमें यहाँ विशेषता यह है कि यह अपने गुणधर्म सेवकमें उत्पन्न कर देता है। कमलपरागमें यह गुण नहीं है। पदरजसेवनसे शिष्यमें भी भक्ति-भक्त-भगवन्त-गुरुके प्रति सुन्दर रुचि हो जाती है, गुरुके साथ-साथ शिष्यकी भी सराहना होने लगती है यही 'सुवास' है। गुरुपदरजसेवनसे वह श्रेष्ठ अनुराग जो श्रीगुरुमें भगवान्‌के प्रति है, शिष्यमें भी आ जाता है। इस प्रकार यहाँ अधिक तद्रूपकालङ्कार भी है। कमलमें रुचि और रस है। पदरजमें 'सुरुचि' और 'सरस अनुराग' है। पदरज परमार्थका देनेवाला है यह विशेषता है। 'सत-दरस परस ससर्ग' का यह फल होता ही है। यथा—'जबहि रामु कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेमु मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन पेमु न जाइ बखाना॥ २। २२०।'

अर्थ—३ मैं श्रीगुरुपदकमलपरागकी वन्दना करता हूँ जो सुरुचि (सुन्दर प्रकाश वा दीप्ति), सुवास और रसयुक्त है और जिसमें रंग भी है। (रा० प०, रा० प० प०)।

नोट—३ इस अर्थमें 'सरस' के 'स' को सुरुचि, सुवास और रस तीनोंके साथ लेना होगा। 'अनु' उपसर्गका अर्थ 'सदृश' और 'साथ' श० सा० में मिलता है। 'राग' का अर्थ 'रंग' है। इस तरह 'अनुराग' का अर्थ 'रंगसहित' हो सकता है। काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि कमलमें ये चार गुण हैं, रुचि, वास, रस और रंग। वे ही सब गुण परागमें हैं। इसपर रा० प० प० कार लिखते हैं कि किसी चीजमें सुगन्ध है, पर रुचि नहीं होती, जैसे चोवामें। किसीमें रुचि है पर गन्ध नहीं, जैसे सुवर्णमें। किसीमें सुवास, रुचि और रस भी होता है पर रंग नहीं, जैसे शिखरनमें। पर पद-परागमें ये सब गुण हैं। रामायणीजीने 'अनु' का अर्थ 'किंचित्' किया है।

अर्थ—४ मैं सुन्दर रुचि, सुन्दर वासना और सरस अनुरागसे गुरुजीके चरणकमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ। (रा० प्र० बाबा हरिहरप्रसादजी)।

नोट—४ यह अर्थ सीधा है। इसमें वे कोई शङ्काएँ नहीं उठतीं जो औरोंमें की गयी हैं। पर रूपक नहीं रह जाता।

अर्थ—५ मैं गुरुजीके कमलरूपी चरणोंकी परागसदृश धूलिकी वन्दना करता हूँ जो धूलि परागकी ही नाईं रुचिकर, सुगन्धित, रसीली और रँगीली है। (वि० टी०)।

नोट—५ यह अर्थ रा० प० वाला लगभग समझिये।

अर्थ—६ मैं श्रीगुरुजीके चरणकमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ जिसमें (मेरी) सुन्दर रुचि ही सुगन्ध है (जिसके कारण हृदयमें) अनुराग सरसता है। (प० विश्वनाथ मिश्र)।

नोट—६ प० विश्वनाथ मिश्रका लेख हमने अन्तमें दिया है।

अर्थ—७ मैं श्रीगुरुपदपद्मके परागकी वन्दना करता हूँ जो अच्छी रुचि, अच्छी वासना और अनुरागको सरस करनेवाली अर्थात् बढ़ानेवाली है। (अर्थात् जिनके पदपरागका ऐसा प्रताप है)। (श्रीनंगे परमहंसजी)।

अर्थ—८ मैं गुरुमहाराजके चरणकमलोंके रजकी वन्दना करता हूँ, जो सुरुचि (सुन्दर स्वाद), सुगन्ध तथा अनुरागरूपी रससे पूर्ण है। (मानसाङ्क)।

नोट—७ रजकी इतनी बड़ाई किस हेतुसे की? उत्तर—चरणमें अङ्गुष्ठ शेषनाग हैं, अङ्गुलियाँ दिग्गज हैं, पदपृष्ठ कूर्म हैं, तलवा सगुण ब्रह्म है और रज सत्तास्वरूप है। इसीसे पदरजकी इतनी बड़ाई की। (काष्ठजिह्वा स्वामी)।

टिप्पणी—(१) यहाँ चार विशेषण अर्थात् सुरुचि, सुवास, सरस और अनुराग दिये हैं जिसका अभिप्राय यह है कि रजके सेवनसे चारों फल प्राप्त होते हैं। सुरुचिसे अर्थकी प्राप्ति कही, क्योंकि रुचि नाम चाहका भी है, सुवाससे धर्मकी प्राप्ति कही, क्योंकि धर्ममें तत्पर होनेसे यशरूपी सुगन्ध फैलती है। सरससे कामकी प्राप्ति कही, क्योंकि काम भी रससहित है, और अनुरागसे भक्ति देनेवाली सूचित किया, क्योंकि 'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा'। (खर्रा)। (२) 'चार विशेषण देनेका भाव यह है कि कमलमें चार गुण हैं वही गुण परागमें हैं। तात्पर्य यह है कि जो गुण चरणमें हैं वह रजमें भी हैं'।

नोट—८ म० श्लोक ३ में गुरुकी, सोरठा ५ में गुरुपदकी और फिर यहाँ पदरजकी वन्दना करनेके भाव ये कहे जाते हैं—

(क) श्लोकमें शङ्कररूप कहकर स्वरूपकी वन्दना की, फिर सोचे कि हम स्वरूपके योग्य नहीं हैं तब चरणकी वन्दना की। उसका भी अधिकारी अपनेको न समझा तब रजकी वन्दना की। (रा० प्र०)

(ख) गुरुकी वन्दना करके अपनेको उनके आश्रित किया। पदवन्दनासे अपनेको सत् समीप बैठने योग्य बनाया, जैसे द्वितीयाका टेढ़ा चन्द्रमा शङ्करजीका आश्रय लेनेसे वन्दनीय हुआ। तब गुरुवचनद्वारा महामोहका नाश हुआ। अब पदरजकी वन्दनासे भवरोगको परिवारसहित नाश करना चाहते हैं (रा० प्र०)।

नोट—९ श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र—इस चौपाईका अर्थ कुछ टीकाकार इस प्रकार करते हैं—'श्रीगुरुजीके चरण-कमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ, जिसमें सुन्दर प्रकाश है [सुरुचि], सुन्दर गन्ध है, जो रसयुक्त है [?] और जिसमें अनुराग [प्रेम भक्ति] उत्पन्न होता है।'

सभी लोग जानते हैं कि 'पराग' धूलिको कहते हैं। उसको 'सरस' (रसयुक्त) मानना अनुचित है, क्योंकि 'पराग' (धूलि) में रस नहीं होता और न साहित्यमें परागका विशेषण कभी 'सरस' हुआ ही है। इसी कारण कुछ लोग

दूसरे ढङ्गसे अर्थ करते हैं। वे 'सरस' का अर्थ 'बढ़कर' लेते हैं। जैसा कि अयोध्याकाण्डमें गोस्वामीजीने लिखा है, 'सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरस सेवकाई॥'

यहाँपर जिस प्रकार 'सरस' का अर्थ बढ़कर, अधिक बढ़िया है उसी प्रकार उक्त चौपाईके 'सरस' का अर्थ बढ़कर लेते हैं और 'सरस अनुरागा' का अर्थ करते हैं 'बढ़िया प्रेम होता है।' किंतु 'सरस अनुरागा' शब्दमात्रसे इतना अर्थ नहीं होगा। 'होता है' के लिये कोई क्रिया अवश्य चाहिये पर यहाँ क्रिया नहीं है। यदि 'अनुरागा' को क्रिया मानें जैसा कि निम्नलिखित चौपाईमें है, 'प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा। तुरत दिब्य सिंघासन माँगा॥' तो 'अनुरागा' का अर्थ 'अनुरक्त हो गया' लेना पड़ेगा। ऐसी दशामें 'सरस अनुरागा' का अर्थ होगा 'अधिक अनुरक्त हो गया'।' पर क्या अनुरक्त हो गया इसका पता नहीं चलता। 'अनुरागा' क्रियाका कर्त्ता वैसी दशामें 'परागा' ही होगा जो हो नहीं सकता। अतएव यह अर्थ भी असमर्थ है।

कुछ सज्जन लोग 'अनुरागा' का अर्थ 'रक्तवर्ण' भी करते हैं पर साहित्य-संसारमें कमल परागका रंग 'पीला' ही माना जाता है 'लाल' नहीं, इससे यह अर्थ भी ठीक नहीं जँचता।

वस्तुतः इस चौपाईमें कोई क्रिया 'बंदउँ' के अतिरिक्त नहीं है और अगली चौपाईसे भी इस चौपाईकी क्रियाके लिये कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी चौपाईमें तो दूसरी बात ही आरम्भ हो जाती है। 'अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥' आदि।

यद्यपि नीचेकी सब चौपाइयाँ 'गुरु पदपदुम परागा' का ही विशेषण हैं या उससे ही सम्बन्ध रखनेवाली हैं पर 'सुरुचि सुबास सरस अनुरागा' से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'सुरुचि सुबास सरस अनुरागा' का सम्बन्ध केवल 'गुरु पदपदुम परागा' से ही है। इसलिये चौपाईका यह एक पद अपने अर्थके लिये स्वतन्त्र है। किंतु इसमें कोई क्रिया नहीं है। हमारे विचारसे 'सरस' शब्दको क्रिया मानकर अर्थ करना चाहिये तभी इसका ठीक-ठीक अर्थ लग सकेगा अन्यथा अर्थमें खींचातानी करनी पड़ेगी और अर्थ भी ठीक न होगा। सुतरां 'सरस' का अर्थ होगा 'सरसता है' 'बढ़ता है'। 'सरसाना' का अर्थ 'बढ़ाना' बराबर होता है। 'सरसना' क्रियाका प्रयोग भी कम नहीं होता।

यहाँपर 'सरसना' क्रियाकी सार्थकताके लिये अवधीके व्याकरणकी इसी सम्बन्धकी एक-दो बातें भी बता देना उचित होगा। अवधी और ब्रजभाषामें संज्ञाके आगे 'ना' लगाकर तुरत क्रिया बना लेते हैं। इससे कवितामें बहुत कुछ सुविधा होती है जैसे आनन्दसे 'आनन्दना', निन्दासे 'निन्दना' आदि। क्रियाके इस रूपमेंसे 'ना' को अलग कर जब शब्दको क्रियाके लिये प्रयुक्त करते हैं तो ऐसी दशामें क्रियाके उस रूपका प्रयोग सदा सामान्य वर्तमान कालमें होता है। जैसे, १ पूँछ गनि तिन मयथ देखाई। २ पीपर पात सरिस मन डोला। ३ जौं सिय भवन रहइ कह अंबा। ४ का नहिं पावक जारि सक। आदि।

ठीक इसी प्रकार, जैसे पूँछ, डोल, कह और सकका प्रयोग सामान्य वर्तमान कालकी दशामें हुआ है, 'सरस' भी सामान्य वर्तमान कालकी अवस्थामें प्रयुक्त होकर 'सरसता है' अर्थ देगा। अस्तु, हमारे विचारसे उक्त चौपाईका अर्थ इस प्रकार होना चाहिये। 'मैं (तुलसीदास) श्रीगुरुजीके चरण-कमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ जिसमें (मेरी) सुन्दर रुचि ही सुगन्ध है [जिसके कारण हृदयमें] अनुराग सरसता है (बढ़ता है)। यहाँपर यदि 'सुरुचि' का अर्थ सुन्दर चमक या प्रकाश किया जाय तो साहित्यिक दृष्टिसे कोई चमत्कार नहीं होगा। क्योंकि जब चरणोंको कमल बनाया, चरणोंकी धूलिको 'पराग' कहा [उक्त चौपाईमें 'पराग' शब्द श्लिष्ट समझना चाहिये जिसका अर्थ कमलके पक्षमें 'पुष्परज' और चरणोंके पक्षमें 'धूलि' होगा] तो 'सुबास' का भी किसीके साथ रूपक होना चाहिये। तभी 'रूपक' अलङ्कार पूर्ण होगा। इसलिये 'सुरुचि' का अर्थ सुन्दर रुचि लेना होगा। जिस प्रकार 'सुगन्ध' के कारण कमलके पास जानेकी इच्छा होती है। उसी प्रकार सुन्दर रुचि होनेसे ही गुरुके चरणोंमें प्रेम बढ़ता है। यदि हृदयमें रुचि न होगी तो

गुरुके चरणोंमें 'प्रेम' कदाचित् न बढ़ेगा। इसलिये 'सुरुचि' का अर्थ हृदयकी सुन्दर 'रुचि' ही लेना अधिक उपयुक्त और समीचीन है। ['आज' गुरुवार सौर २६ ज्येष्ठ सं० १९८४, वै०]।

अमियमूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥ २॥

शब्दार्थ—अमिय (सं० अमृत। प्रा० अमिअ)=अमृत। अमियमूरि=अमरमूर, अमृतवटी, सजीवनी बूटी। मय-संस्कृत भाषामें यह तद्धितका एक प्रत्यय है (जिसे शब्दके अन्तमें लगाकर शब्द बनाते हैं) जो 'तद्रूप' विकार और 'प्राचुर्य' अर्थमें शब्दोंके साथ लगाया जाता है। यहाँ 'विकार' के अर्थ में है। (श० सा०)। चूरन (चूर्ण)—सूखी पिसी हुई ओषधि, जड़ी वा बूटी।=धूल। चारू (चारु)=सुन्दर। समन (शमन)=शान्त करने, दबाने वा नाश करनेवाला। भवरुज=भवरोग=बारबार जन्म-मरण, आवागमन होना। परिवार=कुटुम्ब। 'भवरुजपरिवार'—काम, क्रोध, क्षोभ, मोह, मद, मान, ममता, मत्सर, दम्भ, कपट, तृष्णा, राग, द्वेष इत्यादि जो मानसरोग हैं जिनका वर्णन उत्तरकाण्ड दोहा १२१ में है, वे ही भवरोगके कुटुम्बी हैं।

अर्थ—(श्रीगुरुपदरज) अमृतमूरिमय सुन्दर चूर्ण है जो भवरोगके समस्त परिवारका नाश करने-वाला है॥ २॥

'अमियमूरिमय चूरन' के भाव

नोट—१ यहाँ 'अमियमूरिमय चूरन' और 'पदपराग' का रूपण है। शारीरिक रोगोंके लिये चूर्ण बनता है। सजीवनी बूटीसे मृतप्राय भी जीवित हो जाते हैं। जैसे लक्ष्मणजी सजीवनीसे जी उठे। पर पदपरागरूपी चूर्णसे शारीरिक और मानसिक दोनों रोग दूर होते हैं। इत्यादि विशेष गुण रजमें दिखानेसे यहाँ 'अधिक अभेद रूपक अलङ्कार' है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि समुद्रमन्थनपर जो अमृत निकला वह जहाँ-जहाँ पड़ा वहाँ-वहाँ जो ओषधियाँ जमीं वे सब सजीवनी हो गयीं। सजीवनमूरि जिलाती है और रोग हरती है। और यहाँ 'रामविमुखजीव' मानो मृतक है। उनको रज रामसम्मुख करती है, यही जिलाना है। (शीला)।

नोट—२ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि वैद्यक ग्रन्थमें अमरमूरिका चूर्ण खानेसे देवरूप और सिद्ध हो जाना कहा है, क्योंकि वह जड़ी अमृतमय है (अर्थात् वह जड़ीरूपमें अमृत ही है)। श्रीगुरुचरणरज-रूपी चूर्ण मोक्षरूपी अमृतमय है [अर्थात् जीवन्मुक्त कर देता है और अन्तमें चारों मुक्तियोंका देनेवाला है। दिव्य रामरूप (सारूप्य) की प्राप्ति कराता है। जन्म-मरण आदिका नाशक है] यह विशेषता पदरजमें है।

नोट—३ अमृत मृतकको जिला देता है और रज असाध्य भवरोगका नाशकर जीवको सुखी करता है।

नोट—४ अमृत देवताओंके अधीन है और गुरुपदरज सबको सुलभ है।

नोट—५ बैजनाथजी लिखते हैं कि ओषधियोंके पञ्चाङ्गों (मूल, त्वचा, दल, फूल, फल) में मूल ही सबसे श्रेष्ठ है। मूल तीन प्रकारका होता है। विषवत्, मध्यस्थ और अमृतवत्। अमृतवत् मूलसे हानि नहीं होती, इसीको 'अमियमूरि' कहा है। अथवा, जो विशेष अमृतवत् है जिनसे कायाकल्प आदि होते हैं। यथा—'असिततिल-विमिश्रं भृङ्गराजस्य चूर्णं सवितुरुदयकाले भक्षयेद्यः पलार्द्धम्। स भवति चिरजीवी चक्षुषा गृध्रतुल्यो भ्रमरसदृशकेशः कामरूपो द्वितीयः॥' इत्यादि चूर्ण खानेसे देह अमरवत् हो जाता है। श्रीगुरुपदरजरूपी अमियमय चूर्ण भगवत्प्राप्ति-रूपी अमरत्व प्रदान करता है। उस प्राकृत चूर्णके कूटने, पीसने आदिमें कष्ट, खानेमें कष्ट और यह चूर्ण बिना कष्टका है।

टिप्पणी—(१) 'अमियमूरिमय' से खानेमें मधुर, 'चारु' से देखनेमें सुन्दर और 'समन सकल भवरुज परिवारू' से उसका गुण जनाया। (२) यहाँ 'अधिक तद्रूपकालङ्कार' है। अर्थात् उपमान (अमियमूरिमय प्राकृत चूर्ण) से उपमेय (पदरजरूपी पारमार्थिक चूर्ण) में बहुत अधिक श्रेष्ठता है। ओषधि शारीरिक रोग दूर करती है, पदरज भवरोग और उसके परिवारको भी नाश करता है। वह ओषधि एक-दो रोगोंको दूर करती है और यह अगणित

असाध्य परमार्थपथके बाधक रोगोंको दूर करता है। 'भवरुज परिवार' असाध्य बहुत-से रोग हैं। यथा—'एक ब्याधिबस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि। पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि ॥ ७ । १२१ ।' असाध्यता यह है कि नियम, धर्म, जप, तप, ज्ञान, दान, यज्ञ आदि उपाय चाहे जितने करो भवरोग जाते नहीं। यथा—'नेम धरम आचार तप ज्ञान जग्य जप दान। भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान ॥ ७ । १२१ ।' ऐसे असाध्य रोग भी पदरज-चूर्णसे दूर होते हैं। इससे यह जनाया कि श्रीगुरुपदरजसेवा सबसे अधिक श्रेष्ठ है। (३) इस अर्धालीमें परमार्थकी सिद्धि कही, आगे इसीसे स्वार्थकी सिद्धि कहते हैं। अर्थात् श्रीगुरुपदरज-सेवनसे लोक-परलोक दोनोंका बनना कहा।

नोट—६ इससे यह उपदेश मिलता है कि अन्य सब साधनोंको छोड़कर श्रीगुरुनिष्ठ हो जाना समस्त साधनोंसे सुलभ और अति श्रेयस्कर उपाय भवनाश और भगवत्प्राप्तिका है। गुरुनिष्ठ भक्त श्रीपादपद्मजी, तत्त्वाजीवाजी, घाटमजी आदिके चरित प्रसिद्ध हैं।

नोट—७ बाबा जानकीदासजी कहते हैं कि पूर्व जो 'सुरुचि' गुण धर्म कहा था उसीको यहाँ 'अमिय परिवारू' रजके इस विशेषणमें कहते हैं। अर्थात् भवरुजपरिवारका नाश करनेकी वह रज 'रुचि' (दीप्ति वा प्रकाश) है।

नोट—८ भवरोगका परिवार कामादि तो बड़े सूक्ष्म हैं। यथा—'मिले रहैं मारयो चहैं कामादि संघाती। मो बिनु रहैं न मेरियै जारैं छल छाती ॥ ... बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं ॥' (विनय० १४७)। और रज स्थूल है। स्थूलसे सूक्ष्मका नाश कैसे होगा? उत्तर यह है कि (क) यहाँ जिस गुरुपदरजका वर्णन हो रहा है वह बुद्धिस्थ गुरुपदरज है और वह भी सूक्ष्म है। अत सूक्ष्मसे सूक्ष्मके नाशमें शङ्का नहीं रह जाती। अथवा, (ख) जैसे मन्त्रजाप, यज्ञ, तप, तीर्थ, दान आदि स्थूल साधनोंसे सूक्ष्म मनकी शुद्धि की जाती है, इनसे मनकी मलिनता और पाप दूर होते हैं वैसे ही पदरजसे कामादिका नाश होता है (रा० प्र०)।

नोट—९ 'प्रथम रोगहीसे भूमिका बाँधी, सो क्यों?' अर्थात् ग्रन्थको रोगहीके प्रसङ्गसे प्रारम्भ करनेका क्या भाव है? यह प्रश्न उठाकर रा० प्र० कारने उसका उत्तर लिखा है कि श्रीरामचरित कहना एक बड़ा भारी मन्दिर बनाना है। मन्दिर बनानेमें शरीरका पुरुषार्थ लगता है। ग्रन्थकार अपने शरीरको भवरोगग्रसित जानकर प्रथम ही रोग छुड़ानेका विचारकर श्रीगुरुपदरजकी वन्दना करते हैं और इस अमिअमूरिमयचूर्णसे अपने शरीरको नीरोग करते हैं। शरीर नीरोग होकर पुष्ट हो तब मन्दिर बने। (रा० प्र०)। विनायकी टीकाकार भी लिखते हैं कि 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलकारणम् ॥' धर्म, अर्थ काम और मोक्ष सभीकी सिद्धिके लिये आरोग्यता मुख्य कारण है। यदि शरीर रोगग्रस्त हो जाय तो कोई भी कार्य ठीक ठीक न बन पड़ेगा। इस हेतु वैद्यकशास्त्रको मुख्य मान उसीके आधारसे ग्रन्थका आरम्भ करते हैं, जैसा कि कुमारसम्भवमें कहा है, 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥' (५ । ३३)

सुकृत[1] संभुतन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सुकृत=पुण्य। =धर्मशील। =जो उत्तम रूपसे किया गया हो। (श० सा०)। तन=शरीर, देह। बिमल=निर्मल, उज्ज्वल। बिभूति=अङ्गमें चढ़ानेकी राख, भस्म। मञ्जुल=सुन्दर। मङ्गल मोद=नोटमें दिया गया है। प्रसूती=जननेवाली; माता।

इस अर्धालीके पूर्वार्द्धका अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न किया है, उनमेंसे कई एक यहाँ दिये जाते हैं। टिप्पणियाँ भी साथ ही दी गयी हैं।

अर्थ—१ श्रीगुरुपदरज सुकृतरूपी शम्भुके शरीरकी निर्मल विभूति है। सुन्दर मङ्गल और आनन्दकी जननी (उत्पन्न करनेवाली) है।

---

१ श्रावणकुञ्जकी पोथीमें 'सुकृति' पाठ है। परंतु प० शिवलाल पाठकजीकी किसी पुस्तकमें यह पाठ नहीं है। मानसमयंक, अभिप्रायदीपक आदिमें भी 'सुकृत' ही पाठ है। और १७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा० सबमें 'सुकृत' ही है। अत. मूल आधारका ही पाठ रक्खा गया। 'सुकृति' (स०)=पुण्य। (श० सा०)।

नोट—१ (क) मा० प्र० कार लिखते हैं कि यहाँ विपर्यय अलंकारसे कहते हैं। जैसे शिवजीके शरीरमें लगकर श्मशानकी विभूति सुशोभित होती है, वैसे ही गुरुचरणरज विभूतिमें लगकर समस्त सुकृतरूपी शम्भुतन सुशोभित होते हैं। भाव यह कि जिस पुण्यमें गुरुचरणरज नहीं पड़ा वह सुकृत तो है, पर शोभित नहीं है। 'तनु विमल विभूती' का अर्थ वे 'तनुको निर्मल करनेकी विभूति है' ऐसा करते हैं। (मा० प्र०)।

(ख) यहाँ सुकृतमें शम्भुतनका आरोप और गुरुपदरजमें निर्मल विभूतिका आरोपण है। प्रथम रूपकके अन्तर्गत दूसरा उत्कर्षका हेतु होनेसे 'परम्परित' है। (वीरकवि)।

(ग)—इस अर्धालीमें अधिक तद्रूपकालङ्कारसे यह भाव निकलता है कि श्रीशिवजीके शरीरमें लगनेवाली विभूति (चिताकी भस्म) तो महा अपावन है, पर शिवजीके अङ्गके सङ्गसे वह विमल अर्थात् शुद्ध और पावन हो जाती है। यथा—'भव अग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी। १। १०।' 'तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजो विशुद्धये। तथा हि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम्॥' (कुमारसम्भव ५। ७९)। और श्रीगुरुपदरजविभूतिसे तो सुकृतरूपी शिवतन ही निर्मल हो जाता है। पदरजसे सुकृतके निर्मल होनेका भाव यह कि जब श्रीगुरुजीके आश्रित होकर श्रीगुरुपदरजका आश्रय लेकर धर्म किये जाते हैं, तब सुकृत बढ़ने लगते हैं और तभी उनकी शोभा है। कर्तृत्वाभिमान मल है जो छूट जाता है।

(घ)—गुरु शम्भु हैं, गुरुका तन (=शिवका तन) सुकृत है। ऐसा मानकर यह भावार्थ कहा जाता है कि सुकृतरूपी शिवतनमेंकी निर्मल विभूति है, अर्थात् गुरुके तनमें लगनेसे निर्मल हो गयी है उसीसे मञ्जुल मङ्गल-मोदकी देनेवाली है।

(ङ)—बैजनाथजी लिखते हैं कि ऐसा माहात्म्य सुनकर कोई सन्देह करे कि न जाने कहाँकी अपावन धूलि पैरोंमें लगी है, वह कैसे पवित्र हो सकती है? इसपर कहते हैं कि 'सुकृत संभु तन''। अर्थात् जैसे चिताकी अपावन भस्म शिवतनमें लगनेसे पवित्र हो गयी वैसे ही सुकृतरूप शिवका तन पाकर गुरुपदमें लगी हुई धूलि पवित्र हो गयी। गुरुके भजनप्रतापसे वह शुद्ध हो गयी। तात्पर्य कि यह सुकृतियोंके समाजका माहात्म्य है, कुछ अधर्मियोंके समाजकी बात नहीं है।

अर्थ—२ यह (श्रीगुरुपदरजरूपी) निर्मल विभूति सुकृतरूपी शम्भुतनके लिये सुन्दर मङ्गल और आनन्दको उत्पन्न करनेवाली है।

अर्थ—३ 'श्रीगुरुपदरज शिवजीके शरीरमें सुन्दर लगी हुई निर्मल भस्म (के समान है)।' यहाँ 'सुकृत'= सुन्दर लगी हुई।

नोट—२ भाव यह है कि शिवतनमें लगी हुई विभूति उनके शरीरके सङ्गसे ऐसी विशुद्ध हो जाती है कि नृत्य करते समय उनके शरीरसे गिरी हुई रजको देवता लोग मस्तकपर लगाते हैं और उसके स्मरणसे मङ्गल-मोद होता है, वैसे ही श्रीगुरुपदमें लगनेसे कैसी ही अपावन रज हो वह पावन और मुद मङ्गल करनेवाली है। यहाँ समरूपक है।

अर्थ—४ सुकृती पुरुषरूपी शिवके शरीरपरकी गुरुपदरजरूपी निर्मल विभूति सुन्दर मङ्गलमोदकी उत्पन्न करनेवाली है। (प० रा० प्र०)।

नोट—३ पंजाबीजी और बाबा हरिहरप्रसादजीने 'सुकृत' का अर्थ 'सुकृती साधु' किया है और श्रीनंगे परमहंसजीने भी यह अर्थ दिया है यहाँ 'सुकृती' और शिवका एक रूपक है। भाव यह कि चिताभस्म तो श्रीशिवजीके अङ्गमें लगनेसे निर्मल हुई और रज विभूति सुकृतीरूपी शिवको निर्मल करती है। (रा० प्र०)।

नोट—४ अर्धाली ३ और ४ 'सुकृत संभुतन बिमल करनी' में जो श्रीगुरुपदरजके सम्बन्धमें कहा गया है वही श्रीशिवजीके तथा सुकृतियोंके विषयमें कहा गया है। यथा—'सुकृतिनामिव शम्भुतनो रजः सुविमलं मृदुमङ्गलमोदकृत्। जनमनोमुकुरस्य मलापहं तिलकमस्य गुणौघवशीकरम्॥' (अर्थात् सुकृती पुरुषोंके समान श्रीशिवजीके शरीरकी विभूति अत्यन्त निर्मल, कोमल, मङ्गलमोद करनेवाली, भक्तके मनरूपी दर्पणके मैलका नाश करनेवाली है और उसका तिलक समस्त गुणोंको वश कर देनेवाला है।) पं० रामकुमारजीने अपने संस्कृत खर्रेमें यह श्लोक दिया है पर पता नहीं कि कहाँका है। इसके आधारपर एक अर्थ और हो सकता है।

अर्थ—५ 'सुकृती पुरुषों एवं श्रीशिवजीके तनकी निर्मल विभूति (के समान) है' दोनोंको कहनेमें भाव यह होगा कि सुकृती सन्तोंके पदकी निर्मल रज और शिवके तनकी अपावन चिताभस्म दोनोंका प्रभाव श्रीगुरुपदरजमें है।

अर्थ—६ यह विभूति (रज) सुकृतरूपी शम्भुके तन (के स्पर्श) से निर्मल हो गयी और सुन्दर मोदमङ्गलकी उपजानेवाली है।

नोट—५ यहाँ गुरुको शिव और उनके तनको सुकृत मानकर अर्थ किया है।

अर्थ—७ (यह रज) सुकृतरूपी शम्भुतनको निर्मल करनेकी विभूति है और सुन्दर मङ्गल और मोदकी उत्पन्न करनेवाली (माता) है।

'सुकृत' को 'शम्भुतनु' कहनेके भाव

(१)—श्रीशिवजी सुकृतरूप हैं। यथा—'मूलं धर्मतरो' (३ म० श्लो० १)। इसलिये 'शिवतन' को सुकृत कहा। पुन, जो फल सुकृतसेवनका है वह शिवसेवासे भी प्राप्त होता है। सुकृतका फल श्रीरामपदप्रेम है। यथा—'सकल सुकृत फल राम सनेहू।' १। २७। और श्रीशिवसेवाका फल भी यही है। यथा—'सिवसेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति राम पद होई॥ ७। १०६।'

(२)—'रज-लाभ बहुत सुकृतोंका फल है। जो सुकृती होगा वही श्रीगुरुपदरजके आश्रित रहेगा, दूसरा नहीं। अतएव रजके कल्याणकारी धर्मको लेकर 'शम्भु' की उपमा दी। 'शम्भु' का अर्थ ही है 'कल्याणकर्ता'। (रा० प०)।

(३) भस्म और शिवतनका नित्य संयोग है, वैसे ही रज और सुकृतका नित्य संयोग है, रजविहीन सुकृती होता नहीं। (मा० प्र०)।

(४)—सुकृत' का अर्थ 'सुकृती' लें तो शिवतनको वा शिवजीको सुकृती कहा, क्योंकि दोनोंके रजका एक-सा द्रव्य है। नोट ४ देखिये।

नोट—६ 'बिमल बिभूती' इति। (क) 'विमल' कहनेका भाव यह है कि जो भस्म शिवजीके तनपर है वह मलिन है और गुरुपदरज 'विमल' (निर्मल) है। (पं० रामकुमार)। (ख) पूर्व जो 'सुवास' धर्म रजमें कहा था वह यहाँ दिखाया। सुकृतोंको निर्मलकर उज्ज्वल मङ्गल-मोदरूपी ऐश्वर्य देना यही 'सुवास' है। 'मोद' का अर्थ 'सुगन्ध' भी है। (मा० प्र०)। (ग) गुरुपदरजको, ऐश्वर्यरूप होनेके कारण यहाँ 'विभूति' कहा।

नोट—७ 'मंजुल मंगल मोद' ' इति। (क) मङ्गल=अभीष्टकी सिद्धि।=कल्याण। मोद=आनन्द (श० सा०)। पुन, 'पुत्रोत्सवादि' मङ्गल है और तज्जनित आनन्द मोद है। (रा० प्र०) बाह्येन्द्रियोंद्वारा जो सुख हो वह 'मङ्गल' है, जैसे शुद्ध सात्त्विकी भगवत्सम्बन्धी कर्म अथवा प्रिय वस्तुका देखना, पुत्र-जन्म आदि। 'मोद' वह सुख है जो अन्तःकरणके विचारसे उत्पन्न हो; जैसे अन्तःकरणसे परमेश्वरका विचार करना अथवा प्यारी वस्तुके मिलनेसे जो आनन्द होता है, जैसे भगवान्‌का जन्मोत्सव, कथा-श्रवण, साधुओंको भोजन देना। (वि० टी०)। वा, मङ्गल=बाह्यानन्द मोद=आन्तरिक आनन्द। (ख) 'मंजुल' से पाया जाता है कि कोई-कोई मङ्गलमोद मलिन भी होते हैं? हाँ, जो काम-क्रोधादिद्वारा निन्दित कर्मों या विचारोंसे सुख उत्पन्न होते हैं वे 'मलिन मङ्गल मोद' हैं जैसे दूसरेको दुखाकर अपनेको जो सुख मिले वह 'मलिन' है। सुन्दर नहीं है। अथवा, सामारिक विषयोंद्वारा जो बाह्य वा आन्तरिक सुख होते हैं वे मलिन हैं और परमात्म-तत्त्व प्राप्तिसे वा भगवत्प्राप्ति आदिसे जो बाह्यान्तर सुख होते हैं वे 'मंजुल' हैं। (मा० प्र०)। वा, रजोगुण-तमोगुण-सम्बन्धी मङ्गलमोद मलिन हैं, शुद्ध सात्त्विक मङ्गलमोद 'मंजुल' हैं। अथवा, 'मंगल' को 'मोद' का विशेषण मान लें, तो भाव यह होगा कि सब आनन्द माङ्गलिक नहीं होते। जैसे कि विषयानन्द भी आनन्द है पर वह नित्यके अनुभवसे सबको ज्ञात है कि वह अन्तमें दुःखदायी ही होता है। क्षणिक मात्रका सुख होता है और अनेक रोगादि उत्पन्न करके वही दुःखका कारण बनता है। यज्ञादिसे उत्पन्न सुख भी अस्थिर है, स्वर्गादि पाकर भी फिर गिरना पड़ता है, इसीसे श्रीवचनामृत है कि 'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥ नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥ ७। ४४।' इनसे बारम्बार जन्म-मरण होता है और 'जनमत मरत दुसह दुख होई।' अतएव

'मङ्गल' विशेषण देकर उसका निरास किया। तब माङ्गलिक कौन हैं? ब्रह्मानन्द, ज्ञानानन्द, योगानन्द आदि माङ्गलिक हैं जो आवागमनको छुड़ानेवाले हैं। इसपर प्रश्न होगा कि 'मञ्जुल' विशेषणकी आवश्यकता क्या रह गयी? गोस्वामीजी ब्रह्मानन्द आदिको 'मञ्जुल' नहीं कहते। इस आनन्दको छोड़कर भी जिस आनन्दकी इच्छा श्रीजनकमहाराज, शङ्करजी, सनकादि करते हैं वही 'मञ्जुल' है।

नोट—८ यहाँ तनकी सेवा जनायी और आगे मनकी। (प० रामकुमारजी)

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलक गुन गन बस करनी॥ ४॥

शब्दार्थ—जन=दास। मंजु=सुन्दर।=(यहाँ मुकुरके सम्बन्धसे) स्वच्छ। मुकुर=दर्पण, मुख देखनेका शीशा, आईना। मल=मैल, विकार। यहाँ मोहादि विषयजनित मैलापन या मोरचा (जंग) अभिप्रेत है। यथा—'मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई॥ नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागे। (विनय० ८२) 'काई विषय मुकुर मन लागी॥ मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। १। ११५।' तिलक=टीका। वह चिह्न जिसे गीले चन्दन, केसर, कस्तूरी आदिसे मस्तक आदि अङ्गोंपर साम्प्रदायिक संकेत वा शोभाके लिये लगाते हैं। तिलक करना=मस्तक आदिपर टीकाके रूपमें लगाना या धारण करना।=शिरोधार्य करना।

अर्थ—(श्रीगुरुपदरज) जनके सुन्दर मनरूपी दर्पणके मलको हरनेवाली है। तिलक करनेसे गुणसमूहोंको वशमें करनेवाली है॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'जन मन मंजु मुकुर मल' इति। मंजु मनमें मल कैसा? उत्तर—(क) जन (भक्त) का मन है, इसलिये मंजु है। निर्मल रहना उसका स्वाभाविक गुण है। यथा—'बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥ ४। १६।' पर विधिवश कुसङ्गमें पड़ जानेसे विषयका सङ्ग पाकर उसपर मैल आ जाता है। यथा—'बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। १। ३।', 'काल सुभाउ करम बरिआईं। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाईं॥ १। ७।', 'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥ ७। १२२।', 'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी॥ ४। २१।' देखिये, देवर्षि भक्तप्रवर श्रीनारदजीका मन स्वाभाविक निर्मल है। यथा—'सहज बिमल मन लागि समाधी। १। १२५।', सो उनका मन दैवयोगसे कामजित् होनेके अहंकारवश होकर फिर विश्वमोहिनीको देख कामवश हो गया और उसकी प्राप्ति न होनेपर वे क्रोधवश हो गये। उनके निर्मल मनमें गर्व, काम और क्रोधरूपी मल लग गया था—'जिता काम अहमिति मन माहीं। १। १२७।' 'उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी। १। १२९।', 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।'''जप तप कछु न होइ तेहि काला॥ हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला। १। १२७। १२९। १३१।', 'बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥' सुनत बचन उपजा अति क्रोधा॥' (१। १३५। १३६)। (प० रा० कु०)। (ख) बाबा जानकीदासजीका मत है कि अपने-अपने वर्णाश्रम धर्ममें रत रहना मनकी मंजुता है और भगवत्-भागवत-धर्मसे विमुख होना 'मल' (मा० प्र०)। (ग) [स्मरण रहे कि निर्मल वस्तु, जैसे दर्पण आदिमें ही मैल जब पड़ता है तब तुरत झलकने लगता है जैसे स्वच्छ वस्त्रपर धब्बा। जो सर्वथा मैला है, उसमें मैल क्या देखा जायगा। भक्तके मनरूपी दर्पणमें विषयरूपी स्नेह (चिकनाई) से मैल बैठ जानेपर वह गुरुपदरजसेवनसे दूर जाता है जैसे विभूतिसे चिकनाहट दूर हो जाती है। जो भक्त नहीं है वरं च भगवद्विमुख है वह गुरुके पास जायगा ही कब? वह तो स्वयं अपनेको गुरु समझता है। उसके मतमें तो गुरुकी आवश्यकता ही नहीं। तब उसके हृदयका मैल कब छूट सकता है? यथा—'मूरुख हृदय न चेत'']

नोट—१ श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि विचारसहित मन 'मंजु मन' है। ऐसा 'मंजु मन' ही दर्पण है। दर्पणमें अपना मुख दीखता है और विचारसहित मनरूप दर्पणमें अपना आत्मस्वरूप देख पड़ता है। यथा—पद्मपुराण कपिलगीतायाम्, 'विचार दर्पणं यस्य अवलोकनमीक्षितम्। दृश्यते तत्स्वरूपं च तत्रैव पृथक नहि॥ हृदय दर्पणं यस्य मनस्तत्रावलोकयन्। दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपं च निश्चिते॥' मनदर्पणमें रज कैसे लग सकती है?

पादोदक पीनेसे रज मनतक पहुँच जाता है, उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर सद्विचार उत्पन्न होते हैं। यथा—'गुरुगीतायाम, 'शोषणं पापपङ्कस्य दीपनं ज्ञानतेजसाम्। गुरोः पादोदकं सम्यक् संसारार्णवतारकम् ॥' (श्लोक २३)। अर्थात् गुरुका चरणोदक पापरूपी कीचड़का सुखानेवाला, ज्ञानरूपी तेजका प्रकाशक और सम्यक् प्रकारसे संसारसमुद्रसे तारनेवाला है।

नोट—२ यहाँतक चार अर्धालियोंमें गुरुपदरजका माहात्म्य दिखाकर यह भी जनाया है कि यह 'विषयी, साधक और सिद्ध' जो तीन प्रकारके जीव हैं, यथा—'विषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥ २ । २७७ ।' उनके सेवने योग्य है। 'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी' से विषयीके लिये जरूरी दिखाया, क्योंकि वे विषयासक्त होनेसे भवबन्धनमें पड़े हैं। रजसेवनसे उनका विषयरूपी मल दूर हो जायगा। 'समन सकल भवरुज परिवारू' से साधक (मुमुक्षु) के लिये जरूरी दिखाया, क्योंकि साधकको साधन करनेमें मानस-रोगोंसे विघ्नका डर है। 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती' से सिद्धोंके भी कामका बताया। सिद्ध (अर्थात् मुक्तकोटिवाले जीव) को 'मंजुल मुद मङ्गल' स्थित रखनेके लिये रजका सेवन जरूरी है।

नोट—३ 'किए तिलक गुनगन बस करनी' इति। (क) जैसे तन्त्रशास्त्रकी रीतिसे वशीकरण मन्त्रसे मन्त्रित करके नामके अनुकरणसे जो तिलक जिसके उद्देश्यसे किया जाता है, वह वशमें हो जाता है। तिलककर पुरुष स्त्रियोंको वशमें करते हैं, राजतिलकसे प्रजा वशमें होती है और द्वादश वैष्णव तिलक करनेसे देवताओंसहित श्रीरघुनाथजी वशमें होते हैं, इत्यादि, वैसे ही श्रीगुरुपदरजके तिलकसे गुणगण वशमें हो जाते हैं। यथा—'जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥ २ । ३ ।' (रा० प्र०)। (ख) रज-तिलकमें विशेषता दिखाते हैं कि वहाँ वशीकरणप्रयोगके तिलकमें मन्त्र, तिथि, वार आदिका विचार करना पड़ता है और यहाँ बिना मन्त्र, तिथि, वार आदिके विचारके गुरुपदरजके तिलकमात्रसे गुणगण वशमें होते हैं। (रा० प्र०)। (ग) रहूगणसे जडभरतजीने महत्पुरुषोंके चरणरजके विषयमें ऐसा ही कहा है। यथा—'रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥' भा० ५ । १२ । १२ ।' अर्थात् हे रहूगण! इस प्रकारका ज्ञान महापुरुषोंके चरणरजको सिरपर धारण करनेके सिवा तप, यज्ञ, दान, गृहस्थोचित धर्मोंके पालन, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता।' (घ) 'गुणगण' से यहाँ ज्ञान, वैराग्य, विवेक, शान्ति, दया, क्षमा, शील, संतोष आदि दिव्य गुण अभिप्रेत हैं। बिना गुणोंके भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यथा—'शान्तः समानमनसा च सुशीलयुक्तः तोषक्षमागुणदयाऋजुबुद्धियुक्तः। विज्ञानज्ञाननिरतः परमार्थवेत्ता निर्धर्मकोऽभयमना स च रामभक्तः।' (महारामायण ४९ । ९)' अतः शुभगुणोंका वश करना कहा गया। (मा० प्र०, वै०)।

नोट—४ श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि जीवके कल्याणके तीन मार्ग हैं। कर्म, ज्ञान और उपासना। 'सुकृत संभु तन···' में कर्म देश कहा, क्योंकि तीर्थादिमें सुकृतोंकी वृद्धि होती है। वैसे ही गुरुपदरजका स्मरणकर कर्म करनेसे सुकृतिकी वृद्धि होती है। यथा—'सर्वतीर्थावगाहस्य सम्प्राप्नोति फलं नरः। गुरोः पादाम्बुजौ स्मृत्वा जलं शिरसि धारयेत् ॥' (गुरुगीता २२) 'जनमनमंजु···' से ज्ञानदेशमें और 'किए तिलक···' से उपासनामें सहायक दिखाया।

नोट—५ प० रामकुमारजी, पाण्डेजी—चार चौपाइयोंमें 'मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण' चारों प्रयोगोंका रजसेवनसे भी सिद्ध होना सूचित किया। 'समन सकल भवरुज परिवारू' अर्थात् भवरोगनाशक है, यह मारण हुआ। सुकृत संभु तनमें लगनेसे शोभा करती है, सब मङ्गल मोहित हो जाते हैं, यह 'मोहन' है। 'जनमन मंजु मुकुर मल हरनी' से 'उच्चाटन' कहा। और, 'गुनगन बस करनी' से 'वशीकरण' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—६ प० रामकुमारदास (मणिपर्वत, श्रीअयोध्याजी)—गुरुचरणरजको 'प्रसूती', 'बसकरनी' और 'मलहरनी' विशेषण देकर सूचित किया है कि गुरुमहाराज परब्रह्म हैं, गुरुपदरज आद्याशक्ति है जो उत्पत्ति, पालन और संहार तीनों क्रियाओंसे युक्त है। प्रसूतीसे सृष्टि-उत्पत्ति क्रिया, बसकरनीसे पालनशक्ति क्रिया और मलहरनीसे संहारक्रिया सूचित की है।

नोट—७ ग्रन्थकारको ग्रन्थके रचनेमे मानसरोगका डर था, दूसरे रामचरितमानस रचनेके लिये सद्‌गुणोसे युक्त होनेकी भी आवश्यकता है। इसलिये केवल मारण और वशीकरणको प्रकट कहा है।

नोट—८ प० रा० कु०—(क) व्याकरणमे पुँल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग—ये तीन रूप कहे गये हैं। गोस्वामीजीने तीनो लिंगोमे परागका यश गाया है 'बंदउँ गुरुपद पदुम परागा' पुँल्लिगका स्वरूप है, 'सुकृत संभुतन बिमल बिभूती' स्त्रीलिंगका स्वरूप है। 'चूरन' और 'भवरुजपरिवारू' पुँल्लिंग हैं, तथा 'पराग' भी पुँल्लिंग है, इसलिये चूर्णको पुँल्लिंगकी उपमा दी। 'बिभूती' स्त्रीलिंग है, इसलिये 'प्रसूती' मलहरनी, बसकरनी' कहा। 'रज' नपुंसकलिङ्ग है इसलिये उसके सम्बन्धमे आगे २ (१) मे 'अञ्जन' कहा है।

(ख) यहाँतक यह बताया कि रजकी वचनसे वन्दना करे, यथा—'बंदउँ गुरुपद पदुम परागा', चूर्णरूपसे उसे खाय और अङ्गमें लगावे। पुन, उसमे मनको लगावे, क्योंकि 'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी' है, उसका तिलक करे, क्योंकि 'किए तिलक गुनगन बसकरनी' है और नेत्रमे लगावे, यथा—'गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन'। इस तरह गुरुपद-रजके आश्रित होकर वचन, तन और मनसे सेवन करे। (प० रा० कु०)।

नोट—९ पूर्व जो श्रेष्ठ अनुराग-रस गुण कहा था, वह यहाँ दिखाया। मनरूपी दर्पणका मैल हर लेना और गुणोंको वश कर देना यही अनुराग-रस है। (मा० प्र०)।

श्रीगुरुपदनख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥ ५॥

शब्दार्थ—नख=नाखुन। मनिगन (मणिगण)=मणियोंका समूह। जोती (ज्योति)=प्रकाश। दिव्य दृष्टि=(नेत्रोंकी) दिव्य ज्योति=देखनेकी अलौकिक शक्ति। शुद्ध बुद्धिमे ज्ञानका प्रकाश। यथा—'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' (गीता ११। ८)। हिय=हृदय।

अर्थ—श्रीगुरुमहाराजके चरणनखरूपी मणिगणके प्रकाशको सुमिरते ही हृदयमे दिव्य दृष्टि (उत्पन्न) होती है। (मैं उनकी वन्दना करता हूँ)॥ ५॥

नोट—१ जब हृदय शुद्ध हुआ और उसमे शान्ति, क्षमा, दया आदि गुण हुए तब वह ध्यान करने योग्य हुआ, उसमे बढ़िया प्रकाशवाली वस्तुके पानेकी इच्छा हुई। अतः अब ध्यान बताते हैं। जिससे दिव्य प्रकाश मिले। (वै०, रा० प्र०)।

नोट—२ बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि (क) गोस्वामीजीने पहले गुरुकी वन्दना, फिर गुरुपदकंजकी और तब गुरुपदकमलपरागकी वन्दना की। यथा—'बन्दे बोधमयं नित्यं गुरुम्', 'बंदौं गुरुपदकंज' और 'बंदौं गुरुपद पदुम परागा'। उसी परम्परासे वे यहाँ भी 'बंदौं श्रीगुरुपदनख' कहते हैं, यद्यपि पदमे 'बंदौं' नहीं है। (ख) यहाँ 'बंदौं' पद न देनेमें भी अभिप्राय है। वह यह कि वे 'गुरु' शब्दके साथ सर्वत्र 'श्री' विशेषण देना चाहते थे। अर्थात् वे 'बंदौं श्रीगुरुपदकंज' 'बंदौं श्रीगुरुपदपदुम परागा' कहना चाहते थे और उसी तरह यहाँ 'बंदौं श्रीगुरुपदनख' लिखना चाहते थे, परंतु छन्दोभङ्गके विचारसे वे 'बंदौं' और 'श्री' दोनों सर्वत्र न लिख सके। तब उन्होंने यह चमत्कार किया कि आदिमें 'पद' और 'पराग' के साथ 'बंदौं' दिया और 'श्री' यहाँ प्रसंगके बीचमें दे दिया जिससे पाठक समझ लें कि 'बंदौं' और 'श्री' सबके साथ हैं। (मा० प्र०)। इस चमत्कारके उदाहरण और ग्रन्थमें मिलेंगे। यथा—'सौंपे भूप रिषिहि सुत बहु बिधि देइ असीस। जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस। १। २०८।' इसमे राजाको प्रणाम करना नहीं लिखा, केवल राजाका आशीर्वाद देना कहा गया और इसी तरह माताको प्रणाम करना लिखा गया है, पर माताका आशीर्वाद देना नहीं लिखा। एक-एक कार्य एक-एक जगह लिखकर दोनो जगह दोनो शिष्टाचारोका होना जना दिया है।

प० रामकुमारजी लिखते हैं कि नखकी वन्दना नहीं करते, क्योंकि गुरुपदकी वन्दना कर चुके है। नख पदसे भिन्न नहीं हैं, अतः पद ही हैं। 'रज' पदसे भिन्न है। इसीसे 'रज' के साथ 'बंदौं' शब्द दिया गया और 'नख' के साथ नहीं दिया गया। [नख पदसे भिन्न नहीं है, तथापि 'पद' से प्रायः तलवेका भाव लिया जाता

है। रज तलवेमें होती हैं, चरणचिह्न तलवेके लिये जाते हैं, इत्यादि। हो सकता है कि इस प्रकार नखको पदसे पृथक् मानकर वन्दना की गयी हो।]

टिप्पणी—१ 'प्रथम गुरुपदरजकी वन्दना करके फिर पदनखकी महिमा कहनेका भाव यह है कि रजके सेवनसे मन भवरोगसे रहित हुआ, पुनः विषयसे रहित हुआ। विषय ही मल है, यही कुपथ्य है। यथा—'विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे'। विषयरहित होनेपर मन नख-प्रकाशके सुमिरनका अधिकारी हुआ। 'दलन मोह तम'…' तक मनकी सफाई कही है।'

टिप्पणी—२ 'श्रीगुरुपदनख'…' इति। (क) पदनखको मणिगण कहा है और मणिगण लक्ष्मीजीके कटाक्ष हैं। इसलिये 'नख' के साथ 'श्री' पद दिया। [ऐश्वर्य या शोभासे युक्त होनेसे 'श्री' विशेषण दिया। (रा० प्र०)। बैजनाथजी 'श्री' को गुरुका विशेषण मानते हैं। अर्थात् ऋद्धि, सिद्धि, यश, प्रताप, गुण, कीर्ति, भुक्ति, मुक्ति, ज्ञान, भक्ति आदि ऐश्वर्ययुक्त ऐसे श्रीमान् जो गुरु हैं उनके पदनख।]

(ख) 'मनिगन जोती' इति। पैरोंमें कई नख हैं, इसीसे 'मणिगण' की उपमा दी। क्योंकि दीपावलीमें तेल-बत्ती चुकने और पतंगे, पवन इत्यादिसे बाधाका भय रहता है, और वह हिंसा-उष्णतायुक्त भी है। और मणिमें अखण्ड, एकरस, शीतल, स्वतःप्रकाश रहता है तथा उसमें उपर्युक्त (दीपकवाली) बाधाओंका भय भी नहीं रहता। यथा—'परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती। ७। १२०।'

(ग) 'जोती सुमिरत'…' इति। यहाँ 'नखों' का स्मरण करना नहीं कहते। नख तो अलग रहे, यहाँ केवल नखोंकी 'ज्योति' का स्मरण करनेका माहात्म्य कहते हैं। यहाँ 'सुमिरे' न कहकर 'सुमिरत' कहा, क्योंकि 'सुमिरत' से तत्काल या शीघ्र फलकी प्राप्ति सूचित होती है और 'सुमिरे' से अन्तमें फलकी प्राप्ति समझी जाती है। पुनः 'सुमिरत' शब्द देकर मणिगणसे इसमें विशेषता दर्शित की। (रा० प्र०)।

(घ) 'दिव्य दृष्टि हियँ होती' इति 'दिव्य दृष्टि' हृदयमें होती है। अर्थात् ज्ञान-वैराग्य, निरावरण, भगवत्स्वरूपका विचार एकरस हृदयमें रहता है, कभी मन्द नहीं पड़ता। (रा० प्र०)। 'हियँ होती' कहनेका भाव यह है कि बाहरसे भी दिव्य दृष्टि होती है, जैसे कि ज्योतिष यन्त्र, मन्त्र, सिद्धि अथवा किसी देवताकी उपासना इत्यादिसे। पर उससे हृदयके नेत्र नहीं खुलते। इसी तरह सिद्धाञ्जन लगानेसे बाहरकी दृष्टि अधिक हो जाती है, भीतरकी नहीं। और नखप्रकाशके स्मरणसे हृदयके नेत्रोंमें दिव्य दृष्टि आ जाती है। (प० रामकुमार)।

नोट—३ 'रजका प्रसंग तो आगे दोहासे फिर उठाया है। यहाँ बीचमें रजका प्रसंग अधूरा छोड़कर नखका माहात्म्य क्यों कहने लगे?' इस शङ्काको उठाकर बाबा जानकीदासजी उसका उत्तर यह देते हैं कि रजसे कामादि रोगोंका नाश हुआ, सुकृत शोभित हुए, मंजुल मङ्गल मोद उत्पन्न हुए, मल दूर हुआ और गुणगण वश हुए, परंतु प्रकाश न देख पड़ा तब रजके निकट नखोंका प्रकाश देख नखोंकी वन्दना प्रकाश-प्राप्तिके हेतु करने लगे। नख और रजका आगे मेल दिखाकर दोनोंका प्रसंग एक साथ समाप्त करेंगे। पहले पृथक्-पृथक् इनके गुण दिखाये। नखज्योतिसे आँखें खुलेंगी तब फिर आँखके लिये रज-अञ्जनकी जरूरत होगी। यही क्रम लेकर रज, फिर नख, फिर रजके प्रकरण लगाये हैं।

रजका पूरा प्रकरण न समाप्त करनेसे भी यह बात पुष्ट होती है कि 'बंदौं' और 'श्री' पदरज और पदनख दोनोंके साथ समझे जायँ। (मा० प्र०)।

दलन मोह तम सो सु प्रकासू। बड़े भाग उर आवहि जासू॥ ६॥

शब्दार्थ—दलन=नाश करनेवाला। सो सु प्रकासू=वह सुन्दर प्रकाश। सोसु प्रकासू=सूर्यका प्रकाश। सोसु=सहस्रांश=सूर्य। भाग=भाग्य=नसीब; किसमत।

अर्थ—१ वह सुन्दर प्रकाश (श्रीगुरुपदनखज्योति) मोहरूपी अन्धकारका नाशक है। (वह नखप्रकाशका ध्यान) जिसके हृदयमें आवे उसके बड़े भाग्य हैं॥ ६॥ (प०, वै०, रा० प्र०)।

नोट—१ (क) श्रीगुरुपदनखज्योतिसे दिव्य दृष्टिका होना पूर्व कहा अब यह दूसरा गुण बताते हैं कि उससे मोहान्धकार भी नष्ट हो जाता है। 'सु' प्रकाशका भाव यह है कि दीपकमें ऊपर काजल रहता है, अग्नि, सलाई, तेल, बत्ती आदिके संयोगसे ही उसमे प्रकाश रहता है, बाधाका भय रहता है, फिर रात्रिहीमें और थोड़ी ही दूर उसका प्रकाश रहता है। सूर्यका प्रकाश तप्त, फिर उसमें धूम, धूलि, मेघ, ग्रहण आदिकी बाधाएँ रहती हैं और फिर वह दिनभर ही रहता है, रात्रिमे नहीं। यदि कहे कि मणिमें प्रकाश थोड़ा होता है सो बात नहीं है। सीमन्तक आदि ऐसी मणि हैं जिनमें सूर्यके समान प्रकाश होता है। मणिका प्रकाश दिन और रात दोनोंमे अखण्ड एकरस रहता है, शीतल है, इत्यादि कारणोंसे उसके प्रकाशको 'सुप्रकाश' कहा। अथवा, मणिमे प्रकाश होता है और गुरुपदनखमें 'सुप्रकाश' है, क्योंकि इसमें पारमार्थिक गुण है और मणिमे केवल प्राकृतिक बाह्य प्रकाश है। (वै०, रा० प०)।

(ख) 'बडे भाग' इति। इस कथनसे भी 'सुप्रकास' पाठ सिद्ध होता है। क्योंकि सूर्यका प्रकाश सबको सुलभ है और 'नख प्रकाश' के लिये कहते है कि 'बडे भाग'।' सीमन्तक आदि मणियाँ सबको प्राप्त नहीं होतीं, बड़े ही भाग्यवान्को कहीं नसीब होती हैं। वैसे ही श्रीगुरुपदनखमें सब सुलभता है। एक यही बड़ी कठिनाई है कि जब बड़े भाग्य उदय हो तब श्रीगुरुपदमे भक्ति और उनके पदनख-प्रकाशका ध्यान हृदयमें आता है। लाखोंमे कोई एक ऐसे बडभागी होते हैं। गुरुपदानुरागी बड़भागी कहे जाते हैं। यथा—'जे गुरुपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़ भागी॥ २। २५९।'

(ग) 'उर आवहिं' कथनसे सूचित करते है कि वे आनेवालेके वशकी बात नहीं है, हृदयमें ले आना उसके अख्तियारसे बाहर है। इससे आनेवालेकी इच्छा प्रधान बतायी। अथवा, जिसके उरमें आवे उसके बड़े भाग्य हैं' इस अर्थमें भागी या अभागीका कोई नियम नहीं, जैसे 'गरुड सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥' (खर्रा)।

अर्थ—२ (श्रीगुरुपदनख-प्रकाश) मोहान्धकारके नाशके लिये सूर्यके प्रकाशके समान है। जिसके हृदयमें आवे उसके बड़े भाग्य हैं॥ ६॥ (मा० प्र०, मा० म०)।

नोट—२ पूर्व नखमें मणिगणवत् प्रकाश कहा और अब सूर्यवत् प्रकाश कहते हैं। मणिवत् प्रकाशसे दिव्य दृष्टि हुई, हृदयके ज्ञान-वैराग्यरूपी नेत्रोंमे देखनेकी शक्ति तो हुई पर रात्रिके अन्धकारके कारण नेत्र बंद ही रहे। जैसे आँखें कैसी ही नीरोग हों पर रात्रिमें उन्हें सूझता नहीं, इसीसे मनुष्य आँखें बंद किये पड़े रहते हैं। वैसे ही दिव्य दृष्टि होनेपर भी मोहान्धकारके कारण सूझता नहीं, अत. ज्ञान-वैराग्य नेत्र खुले नहीं, बंद पड़े रहे। अत मोहान्धकारके नाशके लिये नखको सूर्यकी उपमा दी। क्योंकि मणिप्रकाशसे रात्रिका नाश नहीं होता, रात तो बिना सूर्योदयके नहीं जाती। यथा—'बिनु रबि राति न जाइ', 'तुलसी कबहुँक होत नहिं रबि रजनी इक ठाम।' यहाँ नख सूर्य है, शिष्यका हृदय आकाश है, हृदयकी अविद्या अन्धकार रात्रि है। अतएव यह अर्थ समीचीन है। (मा० प्र० अभिप्रायदीपक)। (ख) 'सोसु' यहाँ क्रिया नाम है। सूर्य सर्व रसोंके शोषण करनेवाले हैं, इसीसे 'सोसु' नाम है। (मा० प्र०)।

नोट—३ शङ्का—गुरुपदवन्दनासे 'महामोह तमपुंज' का नाश तो कर चुके तब यहाँ 'दलन मोह तम' फिर कैसे कहा?

समाधान—(क) महामोह राजा है। गुरुवचनसे उसका नाश किया। मोह उस राजाका परिवार वा सेवक वा सेना है, उसके लिये वचनकी आवश्यकता नहीं, नख भी नहीं, केवल नखप्रकाशमात्र उसके नाशके लिये पर्याप्त (काफी) है। या यों कहें कि मुखियाको मुखसे और प्रजाको चरणसे जीता। (ख) प० रामकुमारजी लिखते है कि 'यहाँ ग्रन्थकारके अक्षर धरनेकी सावधानता है।' पञ्चपर्वा अविद्यामें मोह और महामोह दोनों नाम गिनाये गये है। इसीसे गोस्वामीजीने दोनोंका नाश भी पृथक्-पृथक् कहा। पुन, यह बताते हैं कि नखके प्रकाशमें बहुत गुण हैं। मोहान्धकारका नाश करनेमे गुरुके वचन अधिक हैं, यह सूचित किया। (प० रामकुमारजी)।

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥ ७॥

शब्दार्थ—उघरना = आवरणरहित होना, खुलना। बिलोचन = दोनों नेत्र। ही = हिय = हृदय। बिलोचन ही के = हृदयके दोनों नेत्र, हियकी आँखें। अर्थात् ज्ञान और वैराग्य। यथा—'ज्ञान बिराग नयन उरगारी। ७। १२०।' भव रजनी = संसाररूपी रात्रि।

अर्थ—(श्रीगुरुपदनख-प्रकाशसे) हृदयके (ज्ञान-वैराग्यरूपी) निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसाररूपी रात्रिके दोष और दुःख मिट जाते हैं॥ ७॥

नोट—१ 'उघरहिं बिमल ···' इति। (क) 'उघरहिं' से पहले उनका बंद होना पाया जाता है। हृदयके नेत्र तो 'दिव्य दृष्टि' पाकर पहले ही निर्मल थे, तो बंद क्यों रहे? समाधान यह है कि—(१) अंधा देख नहीं सकता चाहे सूर्यका भी प्रकाश क्यों न हो। यथा—'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥ १। ११५।' अतएव मनमुकुरके मलका हरण कहकर नेत्रों (दिव्य दृष्टि) का होना कहा, तत्पश्चात् नखप्रकाशसे अविद्या रात्रिका अन्त कहा। अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश होनेपर ज्ञान-प्रकाशरूपी प्रभात हुआ तब निर्मल नेत्रोंका खुलना कहा। (२) नेत्र निर्मल भी हों तो क्या? रात्रिमें तो उन्हें भी कुछ सूझता नहीं तब वह ही भले, खुलकर क्या करें? जैसे सूर्योदय होते ही रात्रि मिट जाती है, उजाला होते ही मनुष्य सोतेसे जाग उठते हैं; नेत्र आप-ही-आप खुल जाते हैं वैसे ही नख-प्रकाशसे संसाररूपी रात्रि मिटते ही मोहान्धकार दूर हुआ; ज्ञान-वैराग्यरूपी नेत्र स्वयं खुल गये। (३) नेत्रके देवता सूर्य हैं और ज्ञान-वैराग्यरूपी नेत्रोंके देवता श्रीगुरुपदनखरूपी सूर्य हैं। बिना देवताके इन्द्रियोंमें प्रकाश नहीं होता। इसीलिये हृदयके नेत्र बंद पड़े रहे। जब श्रीगुरुपदनखरूपी सूर्य देवताका प्रकाश मिला तब खुले। (ख) 'बिमल बिलोचन' इति। 'बिमल' कहनेका तात्पर्य यह है कि ज्ञान-वैराग्यका जो रूप है, वह सदा निर्मल रहता है। अथवा, भाव यह है कि जबतक भवरजनीके मोहान्धकार-रूपी दोष और (विचारका न सूझना रूपी) दुःख बने रहे तबतक किसी वस्तुकी यथार्थ पहचान न होती थी। (पं० रामकुमारजी)। (ग) प्रथम विषय हैं तब इन्द्रियाँ। इसीसे प्रथम 'सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती' कहकर दृष्टिकी शुद्धता कही तब विषयेन्द्रिय 'लोचन' की शुद्धता कही गयी। (पं० रामकुमार)। (घ) 'मिटहिं' से फिर न आना सूचित किया। (प० रा० कु०)।

नोट—२ 'दोष दुख भवरजनी के' इति। (क) श्रीबैजनाथदासजी कहते हैं कि बेमर्यादा काम करनेसे दोष होता है और उसका फल दुःख होता है। जैसे पर-स्त्रीगमन, चोरी आदि दोष रात्रिमें ही होते हैं जिनका फल अपयश और राजदण्ड आदि दुःख होता है। वैसे ही भवरात्रिमें इन्द्रियोंके विषय, जैसे कानोंसे परनिन्दा या ग्रामवार्ता सुनना, त्वचासे परस्त्रीका स्पर्श करना, नेत्रोंसे स्त्री आदिको देखना, रसनासे परदोष गाना, भक्ष्याभक्ष्य खाना इत्यादि दोष हैं। मन विषयोंमें लगकर बुद्धिको भ्रष्ट कर देता है जिससे अनेक योनियोंमें भ्रमना होता है। इत्यादि दोष हैं। जन्म, जरा, मरण, त्रयताप, नरक, गर्भवास आदि दुःख हैं। (ख) बाबा जानकीदासका मत है कि रात्रिमें अन्धकार दोष है। (मा० प्र० रा० प०) चोर, सर्प, बिच्छू आदिका भय [व दुःस्वप्न। (रा० प०)] दुःख हैं, वैसे ही भवरजनीका दोष अविद्या, अज्ञान आदि हैं जिससे जीव आत्मस्वरूप भूल गया। और कामक्रोधादि सर्प आदिका भय (यथा मोहादिके कारण सूझ न पड़ना) दुःख है। (मा० प्र०) [अथवा, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, दुःख हैं। (रा० प्र०)]

नोट—३ विनयपत्रिकाके पद ७३, ७४ 'जागु जागु जागु जीव जोहै जगजामिनी। ··' और 'जानकीसकी कृपा ··' से इस अर्धालीके भाव बहुत स्पष्ट हो जाते हैं। वहाँ भी संसाररूपी रात्रिका ही प्रसङ्ग है। रात्रिमें मनुष्य स्वप्न देखता है कि उसका सिर काट लिया गया, वह राजासे रंक हो गया इत्यादि, जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। वैसे ही संसाररूपी रात्रिमें मोहवश मनुष्य सुत, वित्त, कलत्र, देह, गेह, नेह आदिको सत्य जानकर उसीके कारण त्रिताप सहता है। यह संसाररात्रि मोहमय है। यथा—'देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी॥ १॥ सोवत सपने सहै संसृत संताप रे। बूड़ो मृगबारि खायो जेवरी के साँप रे॥ २॥ ' दोष दुःख सपनेके जागे ही पै जाहि रे॥ ३॥ तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहूँ ताय रे ··' (पद ७३)। मोहमयरूपी भवरात्रि अपना स्वरूप भुला देती है। वासना, मोह, द्वेष आदि

भवनिशाका निबिड़ अन्धकार है जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मद, मान आदि निशाचरों और चोरोंका भय रहता है। सबेरा होना ज्ञानरूपी सूर्यका उदय है। इससे अन्धकार मिट जाता है, चोर आदि भाग जाते हैं, त्रयताप दूर हो जाता है। यथा—'सब प्रभात प्रगट ज्ञान भानु के प्रकास वासना सरोग मोह द्वेष निबिड तम टरे॥ भागे मद मान चोर मोर जानि जातुधान काम क्रोध लोभ छोभ निकर अपडरे। देखत रघुबर प्रताप बीते संताप पाप ताप त्रिबिधि ॥' (पद ७४)।

नोट—४ मा० प० में चोर, सर्प, बिच्छू आदिसे दुःख कहा है। भवरात्रिमें मत्सर, मान, मद, लोभ आदि चोर हैं। यथा—'मत्सर मान मोह मद चोरा। ७। ३१।' 'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥ २॥ तम मोह लोभ अहँकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा॥' (विनय १२५)। संशय अथवा रागादि सर्प हैं। यथा—'संसय सर्पग्रसन उरगाद। ३। ११।' 'रागादि सर्पगन पन्नगारि।' (विनय० ६४)। भोगादि बिच्छूके डंक हैं। यथा—'भोगाव वृश्चिकविकारं' (विनय० ५६)। मोह अन्धकार है। यथा—'प्रबल अबिद्याकर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥ ७। ११८।'

नोट—५ यहाँ नखप्रसङ्गमें फिर विशेषता दिखाते हैं कि वहाँ तो फिर रात्रि आती है, अन्धकार छा जाता है, नेत्र बंद हो जाते हैं और दुःस्वप्न होता है, इत्यादि। पर श्रीगुरुपदनखप्रकाशसे जो प्रभात होता है वह सदा बना रहता है, निर्मल नेत्र फिर बंद नहीं होते और न अज्ञानादि तम और त्रयताप आदि दोष-दुःख होते हैं। पुनः सूर्य बहिरंग प्रकाशक है और नख अन्तरङ्गप्रकाशक हैं, यह विशेषता है। (मा० प्र०)।

नोट—६ नखमणिसे नेत्रोंमें दिव्य दृष्टि हुई। अब रात बीतनेपर नेत्र खुले। प्रभात होनेसे सब वस्तुएँ सूझने लगती हैं, वही आगे कहते हैं।

सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥ ८॥

शब्दार्थ—सूझना=देख पड़ना, दिखायी देना। मणि=बहुमूल्य रत्न। जवाहिर। जैसे हीरा, पन्ना, मोती आदि। यह कई प्रकारकी होती है। गजमणि, सर्पमणि इत्यादि। यथा—'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥ १। ११।', 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥ १। १५१।' इन उद्धरणोंमें सर्पमणिको मणि, गजमणिको मुक्ता और पर्वतसे प्राप्तको माणिक्य कहा है। पर उत्तरकाण्डमें पर्वतसे निकले हुए रत्नको भी मणि कहा गया है। यथा—'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।'' 'पावन पर्वत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना। भाव भगति मनि सब सुख खानी॥' (७। १२०)। मानिक (माणिक्य)=लाल रङ्गका एक रत्न जो 'लाल' कहलाता है। पद्मराग, चुन्नी, याकूत। गुपुत (गुप्त)=छिपा हुआ। खानिक=खान, खदान।=खानका। खानि (सं०)=वह स्थान जहाँसे धातु, पत्थर, रत्न आदि खोदकर निकाले जाते हैं। खान, उत्पत्तिस्थान।

अर्थ—१ श्रीरामचरित्ररूपी मणिमाणिक्य गुप्त या प्रकट जहाँ जो जिस खानिमें हैं, दिखायी देने लगते हैं॥ ८॥

अर्थ—२ श्रीरामचरितरूपी मणिमाणिक्य जो जहाँ और जिस खानिमें गुप्त हैं (वे सब) प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। (भाव यह कि मणि और माणिक्य दोनों ही गुप्त होते हैं सो वे दोनों प्रकट हो जाते हैं।)

नोट—१ 'रामचरित मनि मानिक' इति। श्रीरामचरितमें मणि और माणिक्य दोनोंका आरोप है। कारण यह कि—(क) चरित गुप्त और प्रकट दो तरहके कहे गये हैं इसीसे मणि और माणिक्य दोसे रूपक दिया गया। मणि गुप्त है, माणिक्य प्रकट है। मणि हाथीके मस्तकके भीतर गुप्त है, सर्पके मस्तकमें गुप्त है। गज और सर्प (जिनमें मणि होती है) यद्यपि संसारमें हैं तथापि दैवयोगसे भले ही मिल जायँ, भेटीका वहाँ गम्य नहीं है। वैसे ही अनुभवी सन्तरूपी मणिसर्प या गज संसारमें हैं जिनके हृदयमें अनुभव किया हुआ श्रीरामचरित्र गुप्त है, पर वे श्रीरामकृपासे ही मिलते हैं। यथा—'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥ ७। ६९।', 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता। ५। ७।' भक्तिमणिके विषयमें जैसा कहा है कि 'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥ (७। १२०), वैसा ही यहाँ श्रीरामचरितमणि संसारमें होनेपर भी दैवयोगसे ही मिलता है।

माणिक्य पर्वत और खानोंमें होता है। पर्वत प्रकट है। भेदी जानते हैं। वैसे ही वेदपुराणरूपी पर्वतोंमें श्रीरामचरित गुप्त है। सज्जन पण्डित इसके मर्मी हैं। यथा—'पावन पर्वत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥ मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥ भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी॥ ७। १२०।' माणिक्य भेदीसे मिलता है इसीसे उसे 'प्रगट' कहा। इस तरह बाह्यचरित्ररूपी माणिक्य विद्वान् सज्जनोंसे मिलता है।

'मणि' प्रथम है तब 'माणिक्य', वैसे ही दूसरे चरणमें प्रथम 'गुपुत' है तब 'प्रगट'। इस प्रकार यहाँ 'यथासंख्य वा क्रमालङ्कार' है। मणि गुप्त है, माणिक्य प्रकट है।

(ख) (प० शिवलालपाठकजीके मतानुसार) सगुण और निर्गुण दो प्रकारके चरितोंके लिये दो उपमाएँ दीं। सगुणयश माणिक्यवत् वेद-पुराणरूपी पर्वतोंमें है, यह प्रकट है। और, निर्गुण ब्रह्म सब संसारमें व्यापक है। निर्गुणका चरित मणिवत् संसाररूपी सर्पमें स्थित है। यह गुप्त है (मा० म०)

नोट—२ 'गुपुत प्रगट जहँ जो' इति। 'गुप्त' चरित कौन हैं और 'प्रकट' कौन हैं इसमें भी कुछ मतभेद है।

गुप्त	प्रकट
१ ऐश्वर्य या रहस्यके चरित गुप्त हैं। यथा—'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ।' (१। १९५), 'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी। २। २४४।' 'मुनि समूह महँ बैठे सन्मुख सब की ओर। ३। १२।' 'सीता प्रथम अनल महुँ राखी।...प्रभुचरित काहु न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे। ६। १०७-१०८।', 'अमित रूप प्रगटे तेहि काला।' 'उमा मरम यह काहु न जाना। ७। ६।' (पाँ०, वै०)।	१ माधुर्य चरित प्रकट हैं जो सब देखते हैं। दशरथनन्दनरूपसे जन्म, बाल आदि अवस्थाएँ, विवाह, वनवास, आदि सब प्रकट हैं, सब जानते हैं।
२ वेद-पुराणादिमें जो संक्षेपसे कहे गये हैं। (प०)	२ वेद-पुराणोंमें जो विस्तारसे कहे हैं।
३ अनेक बारके अवतार गुप्त हैं। (वै०, रा० प्र०)	३ जय-विजय, जलधर, हरगण और भानुप्रताप रावणके लिये जो अवतार हुए वे 'प्रकट' हैं।
४ अनुभवसे उत्पन्न जो चरित हैं वे गुप्त हैं (मा० प्र०)	४ वेद-पुराणमें जो चरित है।
५ कौसल्या अम्बा तथा भुशुण्डिजीको एवं सतीजीको जो अद्भुत दर्शन कराया वह गुप्त।	५ दशरथ-अजिरमें खेलना प्रकट।
६ पुण्यपर्वतरूपी हृदयगुफाके निर्गुण ब्रह्मका यश गुप्त। (मा० म०)।	६ सगुण यश जो वेद-पुराणोंमें है वह प्रकट।

नोट—'जो जेहि खानिक' इति। (क) श्रीरामचरित कई खानिके हैं। कहीं तो धर्मोपदेशरूपमें, कहीं योग, ज्ञान, वैराग्योपदेशरूपमें और कहीं लोकमर्यादा उपदेशरूपमें हैं। सबको मिला न दे, अलग-अलग ही रक्खे। (रा० प०)। (ख) (मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि) 'खानि' से अर्थ उन अनेक रसके रंगोंका है जिनमें श्रीरामजीके चरित्रोंका वर्णन किया गया है। जैसे शृङ्गाररस श्याम, करुणरस पीत, वीररस लाल और शान्तरस श्वेत है इत्यादि। (ग) 'जो जेहि खानिक' अर्थात् जो जहाँ जिस रंगके थे। तात्पर्य कि जैसे मणि-माणिक्य अनेक रंगके होते हैं वैसे ही प्रभुके चरित

अनेक रसोंके हैं। कहीं शृङ्गाररसका चरित है जैसे पुष्पवाटिकामें। कहीं करुणरसके चरित हैं जैसे श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर। इत्यादि ठौर-ठौरपर अनेक रसोंके चरित हैं। (घ) 'सूझहिं' अर्थात् श्रीगुरुनख-प्रकाश हृदयमें आनेसे सब गुप्त एवं प्रकट चरित जो जहाँ भी और जिस रसमें हैं प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं।

टिप्पणी—(अ) पूर्व प्रकाशका होना कहा था और इस अर्धालीमें 'प्रकाश हुएका रूप' दिखाया गया। (आ) इस प्रकरणमें सात आवृत्तियाँ हैं। (१) यह मुक्त, मुमुक्षु, विषयी त्रिविध प्रकारके जीवोंद्वारा सेव्य है। (२) तन-मन-वचनसे सेव्य है (३) मोहन, वशीकरण, मारण और उच्चाटन चारो प्रयोग इसीसे सिद्ध हो जाते हैं यह बताया गया। (४) रजमें सात गुण कहे गये और सात ही गुण नखप्रकाशमें कहे। यथा—'समन सकल १ भवरुज परिवारू।', 'सुकृत संभुतन २ बिमल बिभूती।' 'मंजुल मंगल ३ मोद ४ प्रसूती।', 'जन मन मंजु मुकुर मल ५ हरनी', 'किए तिलक गुनगन ६ बस करनी'। और 'नयन अमिय दृग दोष ७ बिभंजन।' ये रजके सात गुण हैं। तथा—'सुमिरत दिव्य १ दृष्टि हियँ होती।', 'दलन मोह तम' २, उघरहिं ३ बिमल बिलोचन ही के।', 'मिटहिं दोष ४ दुख ५ भवरजनी के। और 'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत ६ प्रकट ७।', ये नखप्रकाशके सात गुण हैं। (५) रजकी महिमा पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुसकलिङ्ग तीनों लिंगोंमें गायी गयी। (६) रजका छः प्रकारसे सेवन बताया गया। (क) मुखमें खाये। यथा—'अमिय मूरिमय चूरन चारू।' 'चूर्ण' खाया जाता है। (ख) देहमे लगाये। यथा—'सुकृत संभुतन बिमल बिभूती।' भस्म देहमे लगायी जाती है। (ग) मनसे ध्यान करे। यथा—'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।' मनसे ध्यान करनेसे मल दूर होता है। (घ) तिलक करे। यथा—'किए तिलक गुनगन बस करनी।' (ङ) नेत्रमें लगाये। (यह आगे कहते हैं)। यथा—'नयन अमिअ दृगदोष विभंजन।' (च) स्तुति करे। यथा—'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं···।' यह उसकी प्रशंसा हुई। (७) रजसे भवरोगका मिटना कहा, नख-प्रकाशसे भवरजनीके दोष एवं दुःखका दूर होना कहा, रामचरितका सूझना कहा जिससे भव भी मिटा। इति सप्तमावृत्ति।

दो०—जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान॥ १॥

शब्दार्थ—अंजन=आँखोंकी रोशनी ठीक रखनेके लिये पलकोंके किनारेपर लगानेकी वस्तु। सुरमा, काजल। सुअञ्जन=सुन्दर अञ्जन=सिद्धाञ्जन। तन्त्रशास्त्रमें अनेक सिद्धाञ्जन लिखे हैं जिन्हें आँखमे लगा लेनेसे पर्वतमें रत्नोंकी खानें, वनमें ओषधियाँ, पृथ्वीमें गड़ी हुई वस्तु, खजाना आदि, घर, गाँव इत्यादिमे अनेक कौतुक सहज ही दीखने लगते हैं। अंजि (आँजि)=आँजकर, लगाकर। दृग्=नेत्र। साधक=साधन करनेवाला। सिद्ध=जिसका साधन पूरा हो चुका, सिद्धिको प्राप्त प्राणी। कौतुक=तमाशा।=सहज ही। सैल (शैल)=पर्वत। बन=जंगल, जल। भूतल=पृथ्वीतल=पृथ्वीमें। भूरि=बहुत-से। निधान=वह स्थान जहाँ जाकर कोई वस्तु लीन हो जाय, लयस्थान।=जिस पात्रमे धन रखकर पृथ्वीमें छिपा दिया जाता है उस पात्रको 'निधान' कहते हैं। यथा—'द्रव्य निधाय यत्पात्र भूमौ संस्थाप्य गोपयेत्। तत्पात्र च निधानं स्यादित्युक्तं कोशकोविदैः॥' (प० रामकुमारजी)=गड़ा हुआ खजाना या धन।=निधि। (श० सा०), (रा० प्र०, प०)।

अर्थ—१ जैसे नेत्रोंमें सिद्धाञ्जन लगाकर साधक, सिद्ध और सुजान पर्वत, वन और पृथ्वीतलमें समूह निधान कौतुक ही (अर्थात् साधारण ही, सहज ही, अनायास) देख लेते हैं॥ १॥

नोट—१ इस दोहेके अर्थ भी अनेक प्रकारसे टीकाकारोंने लिखे हैं 'साधक सिद्ध सुजान' के और अर्थ लोगोंने ये किये हैं—(क) साधक और सिद्ध जो सुजान अर्थात् प्रवीण हैं। (प०)। (ख) साधक लोग सुजान सिद्ध होकर। (वै०)। (ग) ज्ञानवान् कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले सिद्ध लोग। (वि० टी०)। (घ) चतुर साधक सिद्ध हो जाते हैं। इसी तरह 'कौतुक देखहिं' और 'भूरि निधान' के भिन्न-भिन्न अर्थ लेनेसे कई अर्थ हो गये हैं।

अर्थ—२ जैसे नेत्रोंमें सिद्धाञ्जन लगाकर साधक, सिद्ध और सुजान पर्वत, वन और भूतलपर अनेक लव्यस्थानोंमें कौतुक देखते हैं। *३

नोट—२ ऊपर कहा है कि श्रीगुरुपदनखप्रकाशसे हृदयके नेत्र खुल जाते हैं और वहाँ भी जो श्रीराम-चरित मणि माणिक्य हैं वे देख पड़ते हैं। कैसे देख पड़ते हैं? यह विशेषसे समता दिखाकर बताते हैं कि जैसे 'साधक सिद्ध ''।' इस तरह यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है। 'यथा' का सम्बन्ध इस प्रकार पूर्वसे है। पुन, 'यथा' का सम्बन्ध आगे 'रज अजन' से भी है। अर्थात् 'यथा सुअजन अजि '' तथा 'गुरु पदरज मृदु मंजुल अजन।' तेहि करि विमल विवेक विलोचन। बरनौं रामचरित'' ' ॥ प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यहाँतक चार चौपाइयों (अर्धालियों) में रजका माहात्म्य और चारहीमें नखके प्रकाशका माहात्म्य कहा। अब दूसरी बात कहते हैं। वह यह है कि जैसे साधक आदि सुअजन लगाकर पृथ्वी-का द्रव्य देखते हैं, ऐसे ही मैं गुरुपदरजरूपी अजनसे विवेकरूपी नेत्रोंको साफ करके रामचरित वर्णन करता हूँ।' इस तरह 'यथा सुअजन''' उपमान वाक्य हुआ और 'गुरुपदरज''' उपमेय वाक्य हुआ। 'यथा''' यह वाक्य दीपदेहली-न्यायसे इस प्रकार दोनों ओर है। ऐसा करके कविने पदनख-प्रकाश और पदरज दोनोंका यहाँ मिलाप कराया। इस प्रसङ्गसे मिलता हुआ एक श्लोक पण्डितजीने संस्कृत खर्रेमें यह दिया है। 'तद्दृग्मार्गवर्ती चक्षु समुन्मीलतु सर्वदा। यत्र सिद्धाञ्जनायन्ते गुरुपादाब्जरेणव.॥' अर्थात् जैसे ब्रह्मविद्यारूपी अजन हृदयके नेत्रोंको खोल देता है वैसा ही समझकर सिद्ध लोग श्रीगुरु-चरणकमलकी रजको अजनवत् लगाते हैं।

'साधक सिद्ध सुजान' इति

प० रामकुमारजी—'साधक, सिद्ध, सुजान तीन ही नाम क्यों दिये? साधकको प्रथम क्यों रक्खा? उत्तर—जीव तीन प्रकारके हैं। मुक्त, मुमुक्षु (वैराग्यवान् परमार्थतत्त्वका इच्छुक) और विषयी। यथा— 'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। ७। १५।',' बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव'''। २। २७७।' इसीसे यहाँ तीन नाम दिये। इससे यह सूचित किया है कि जैसे सिद्धाञ्जन लगानेमें मनुष्यकी योग्यता आदिका कोई नियम नहीं है, कोई भी हो जो लगावेगा उसको अजनसे देख पड़ेगा, वैसे ही तीनों प्रकारके जीवोंमें कोई भी हो, सभी रजके अधिकारी हैं। नखके प्रकाशके अधिकारी भाग्यवान् ही हैं, सब नहीं। साधकको प्रथम रक्खा, क्योंकि द्रव्यके देखनेमें साधक (जो अर्थार्थी होते हैं) मुख्य हैं।'

प० शिवलालपाठकजी—कर्म, ज्ञान और उपासना तीन भेदसे तीन नाम दिये। ससारमें कर्मकाण्डी, ज्ञानी और उपासक तीन प्रकारके लोग हैं। कर्मकाण्डी साधक हैं, ज्ञानी सिद्ध हैं और उपासक सुजान हैं। पुन इस ग्रन्थमें चार सवाद हैं। याज्ञवल्क्य-भरद्वाजसवाद, शिव उमा-सवाद, भुशुण्डि गरुड़-सवाद और तुलसी-सत-सवाद। इनमेंसे याज्ञवल्क्यजी कर्मकाण्डी हैं, कर्मकाण्डके आचार्य हैं, अत ये साधक हैं। श्रीशिवजी ज्ञानी हैं अत ये सिद्ध हैं और श्रीभुशुण्डिजी उपासक हैं अत ये सुजान हैं। जैसे ये तीनों श्रीरामचरित मणिमाणिक्यको शैल, वन और भूतलमें देखते हैं और इन्होंने चरित कहा वैसे ही मैं श्रीगुरुपदरज-अजन लगाकर सतोंसे कहूँगा।

'सैल, बन, भूतल भूरिनिधान' इति

(१)—यहाँ रामचरितके सम्बन्धमें 'शैल, वन, भूतल' क्या है? उत्तर—(क) वेद-पुराणादि शैल हैं। यथा—'पावन पर्वत बेदपुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥ ७। १२०।' ससार ही वन है जिसमें अन्तर्यामी रूपसे श्रीरामजीके अनेक चरित हुआ करते हैं। यथा—'ससार कान्तार अति घोर गम्भीर घन '।' (विनय ५९)। अनुभवी सतों, भक्तोंका हृदय भूतल है। यथा—'संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम अछयबट भ्राजै।' (गीतावली ७। १५)। [सतसमाज वा सत्सङ्ग भूतल है। (मा० म०, वै०)] अथवा, (ख) चित्रकूट, सुवेल आदि पर्वत हैं, दण्डकारण्य

*३ पजाबीजी एव बाबाहरिहरप्रसादजीने इस दोहेका अर्थ यह भी दिया है कि 'गुरुपदरजके प्रभावसे साधक सिद्ध पदवीको प्राप्त होते हैं और शैल, वन, पृथ्वी और बढ़िया अनेक निधियोंको मायाका कौतुक जानकर देखते हैं अर्थात् मिथ्या जानते हैं।' ४ मा० मा० में उत्तरार्धका यह अर्थ है—'पृथ्वीके पूर्णनिधि (स्वरूप) कौतुकोंको (यथार्थ) देखते हैं।'

आदि वन है और श्रीअवध-मिथिला आदि भूतल हैं, जहाँ-जहाँ प्रभुके चरित हुए हैं वहाँ-वहाँ जैसे-जैसे चरित्र और जब जब हुए सब देख पड़ते हैं। (पु०)।

(२) सिद्धाञ्जन लगानेसे पर्वतमें रत्नोंकी खानें, वनमें दिव्य ओषधियाँ, (वनका अर्थ जल लें तो जलमें मुक्तावाली सीप जहाँ होती है उसे देख लेते हैं) और भूतलमें गड़ा हुआ धन देखते हैं। वैसे ही श्रीगुरुपदरज अंजन लगानेसे वेदपुराणादिमें माणिक्यरूप सगुण यश, संसाररूपी वनमें जीवमात्ररूपी सर्पमें गुप्त मणिवत् अगुण रामचरित और सन्त-समाजरूपी भूतलमें सगुण निर्गुणमिश्रित गुप्त एवं प्रकट चरित्र देखते हैं। (अ० दी०)।

(३)—प० शिवलालपाठकजीका मत है कि 'कर्मकाण्डीको केवल मीमांसा और वेदरूपी पर्वतका अधिकार है, ज्ञानी संसार वनके अधिकारी हैं और उपासकोंको सत्सङ्ग-भूतल ही आधार है। सुतरां कर्मकाण्डीको पावन पर्वत वेदमें माणिक्यवत् श्रीरामचरित, ज्ञानी ज्ञानके अवलम्बसे संसारवनमें जीवमात्रमें गुप्तमणिवत् निर्गुण रामचरित और उपासक भक्तिके अवलम्बसे संतसमाजरूपी भूतलमें सगुण एवं निर्गुण मणिमाणिक्यवत् गुप्त और प्रकट दोनों प्रकारके चरित देखते हैं।' (मा० मा०)। यहाँ यथासंख्याक्रमालङ्कार है। कर्मकाण्डी लौकिकतत्त्व, ज्ञानी वैदिकतत्त्व और उपासक सत्सङ्गतत्त्व देखते हैं।

(४) प० रामकुमारजी कहते हैं कि शैल, वन और भूतल तीनहीका नाम देनेका भाव यह है कि जगत्‌में तीन स्थान हैं। नभ, जल और थल (भूतल)। शैलसे नभ, वनसे जल और भूतलसे थल (भूमि) कहा। तात्पर्य यह कि सब जगहके द्रव्य देख पड़ते हैं। अतएव ये तीन आकर कहे।

(५)—बाबा हरिहरप्रसादजी 'भूरि निधान' का अर्थ 'सम्पूर्ण ऐश्वर्य' करते हैं। श्रीरामचरितसम्बन्धमें नित्य नैमित्य-लीला' अर्थ है। (रा० प्र०)।

गुरुपदरज* मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन॥ १॥
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन॥ २॥

शब्दार्थ—मृदु=कोमल। नयन=नेत्र। नयन अमिय=नयनामृत। बिभंजन=पूर्णरूपसे नाश करनेवाला, नाशक। विवेक=सत्-असत्‌का ज्ञान करानेवाली मनकी शक्ति।=ज्ञान। मोचन=छुड़ानेवाली।

अर्थ—(वैसे ही) श्रीगुरुपदरज कोमल-सुन्दर 'नयनामृत' अञ्जन है जो नेत्रोंके दोषोंको पूर्णरूपसे नाश करनेवाला है॥ १॥ उससे विवेकरूपी नेत्रोंको निर्मल करके (अथवा, उसे निर्मल विवेकरूपी नेत्रोंमें लगाकर †) भव (संसार, आवागमन) को छुड़ानेवाला श्रीरामचरित वर्णन करता हूँ॥ २॥

टिप्पणी—'मृदु मंजुल अंजन।' इति। (क) प्राकृत अंजन जो ओषधियोंसे बनता है और श्रीगुरुपदरज अञ्जन इन दोनों सिद्धियोंको तोलते हैं। ओषधि अञ्जन प्रायः कड़ुआ होता है, ओखेसे लगता है और प्रायः श्यामरङ्गका होता है जिससे चञ्चलता उत्पन्न होती है। रजअञ्जन 'मृदु' अर्थात् कोमल है, कर्कश और नेत्रोंको दुःखदाता नहीं है। तथा 'मंजुल' अर्थात् नेत्रोंको सुन्दर करनेवाला है। पुनः, 'मृदु मंजुल' कहकर लगानेमें 'मृदु' और देखनेमें सुन्दर सूचित किया। (ख) 'नयन अमिय' इति। जैसे अंजनका कुछ-न-कुछ नाम होता है, वैसे ही इस रज अञ्जनका भी कुछ नाम होना चाहिये। वही यहाँ बताते हैं। अर्थात् इसका नाम 'नयनामृत' है। तात्पर्य कि विवेक-

* गुरुपद मृदु मंजुल रज—१७२१, १७६२, भा० दा०। गुरुपदरज मृदु मंजुल—१७०४, छ०, को० रा०, प० शिवलालपाठक।

† (१) कोष्ठकान्तर्गत अर्थ इस भावसे होगा कि पूर्व नखप्रकाशसे निर्मल विवेक नेत्र खुल चुके हैं, अब केवल उनमें रज अंजन लगाना है। यह अर्थ श्रीनंगेपरमहंसजीका है। प्रायः और सबने दूसरा अर्थ दिया है। उसका भाव टिप्पणीमें प० रामकुमारजीने दिया है। (२) विनायकीटीकाकारने 'नयन अमिय' का अर्थ 'जो नेत्रोंको अमृतके समान है अर्थात् हृदयको शीतलता और विवेकको स्थिरता देनेवाला है' ऐसा लिखा है।

रूपी नेत्रोंके लिये यह अमृतके समान है। (मा० प्र०)। [अथवा, लौकिक व्यवहारमें भी एक 'नयनामृत' नामका अञ्जन है जो शोधा सीसा, पारा और उतना सुरमा तथा उन सबोंका दशांश भाग भीमसेनी कपूर मिलाकर घोटनेसे बनता है। वह आँखोंमें लगता नहीं। रजकी उससे समता दी। (वै०)] (ग) 'दृग दोष विभंजन' इति। 'नयनामृत' नाम बताकर उसका गुण बताया कि 'दृग्दोषको दूर करनेवाला' है। बाह्य नेत्रोंके दोष, धुंध, माड़ा, फूली, मोतियाबिन्दु, तिमिर आदि हैं जो प्राकृत अञ्जनसे दूर होते हैं। श्रीगुरुपदरजसे 'विवेक बिलोचन' को निर्मल करना आगे कहते हैं उसके सम्बन्धसे विवेक (अथवा ज्ञान-वैराग्य) रूपी नेत्रोंमें क्या दोष है? बाबा जानकीदासजीका मत है कि अहं-मम-बुद्धि ज्ञान-वैराग्य नेत्र के दोष हैं; मैं ज्ञानी हूँ, मैं वैराग्यवान् हूँ ये दोष ज्ञानियोंमें आ जाते हैं। काष्ठजिह्वास्वामीका मत है कि किसीको भला जानना, किसीको बुरा यही दोष है। जिसे रज मिटा देता है। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि इसे नयनामृत कहा है अमृत मृतकको जिलाता है। यहाँ और-का-और सूझना, असत्में सत्यका और सत्में असत्का मानना, परदोष देखना इत्यादि दोष मृतक दृष्टिके हैं। इनको मिटाकर शिष्यको दिव्य निर्मल दृष्टि प्रदान करना जिससे वह जगत्को निज प्रभुमय देखने लगता है, परदोष-दृष्टि जाती रहती है, यही रज अमृताञ्जनका जीवन देना है। ओषधि अञ्जनमें ये गुण नहीं हैं। रजमें विशेषता दिखायी।

टिप्पणी—२ रजके प्रकरणमें यह चौपाई भिन्न क्यों लिखी? समाधान—प्रथम श्रीगुरुपदरजका माहात्म्य कहा। फिर श्रीगुरुपदरज और श्रीगुरुपदनख (प्रकाश) का माहात्म्य कहकर दोनोंका माहात्म्य (दोनोंके गुण) एकही सा सूचित किया। गोस्वामीजी रजसे ही विवेक नेत्रको निर्मल करके रामचरित वर्णन करते हैं। ऐसा करके वे जनाते हैं कि हम रजके अधिकारी हैं, नखके नहीं।

नोट—१ गोस्वामीजीने रज-अञ्जन लगाया जो 'मृदु, मंजु और नयन अमिय—' गुणोंसे युक्त है। इसीसे उनका भाषाकाव्य अन्य रामायणसे अधिक मृदु, मञ्जुल आदि गुणविशिष्ट हुआ। कविने वाल्मीकीयको भी 'सकोमल मंजु दोषरहित' कहा है पर इस भाषाकाव्यको 'अतिमंजुल' कहा है। यथा—'भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति'। मं० श्लो० ७। (वै० भू०)

टिप्पणी—३ 'तेहि करि बिमल'' इति। (क) विवेक नेत्रोंको निर्मल करना कहा, क्योंकि श्रीरामचरित ज्ञान-नेत्रसे ही देख पड़ता है यथा—'ज्ञान नयन निरखत मनमाना। १। ३७।' (ख) 'जथा सुअंजन अंजि'' ' से लेकर यहाँतक दृष्टान्तालङ्कार है। यथा—'चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः।' (कुवलयानन्द ५२), 'वर्ण्य अवर्ण्य दुहूनको भिन्न धर्म दरसाइ। जहाँ बिंब प्रतिबिंब सो सो दृष्टान्त कहाइ॥' (महकृत खर्रा)। अर्थात् जहाँ उपमान और उपमेय वाक्योंमें बिम्ब प्रतिबिम्बभावसे भिन्न धर्म दर्शित किये जाते हैं वहाँ दृष्टान्तालङ्कार होता है। (ग)-'अबतक अन्योक्ति कह आये। अब अपन मिश्रिध अर्थात् अपने ऊपर कहते हैं 'तेहि करि बिमल' '।' फिर दूसरे चरणमें विमलताका धर्म कहते हैं, **'बरनौं रामचरित भवमोचन'**। (खर्रा, रा० प्र०)।

टिप्पणी—४ दृग्दोष अर्थात् अज्ञानका नाश हुआ, विवेक खुला। 'तेहि करि' का भाव यह है कि विवेकनेत्र नखप्रकाशसे भी विमल होता है, परन्तु हमने रज अञ्जनसे उसे विमल किया। तात्पर्य यह है कि सिद्धाञ्जनसे बाहरके नेत्र विमल होते हैं और गुरुपदरजअञ्जनसे विवेक-नेत्र विमल होते हैं यह गुरुपदरज अञ्जनमें विशेषता है। उससे विवेक नेत्र विमल करके रामचरित वर्णन करता हूँ, इस कथनका तात्पर्य यह है कि जो कार्य नखके प्रकाशसे होता है वही कार्य रजसे भी होता है।

दोनोंका मिलान

रज	नख-प्रकाश
१ रजसे विवेक नेत्र निर्मल होते हैं। यथा—'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन'।	नख प्रकाशसे विवेक नेत्र उघरते हैं। यथा—'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के'।
२ रज अञ्जन लगाकर रामचरित्र	नख प्रकाशसे रामचरित सूझता है।

- वर्णन करते हैं। यथा—'बरनौं रामचरित भवमोचन'।
३ रजसे भवरोग मिटते हैं।
यथा—'समन सकल भवरुजपरिवारू'।

यथा—'सूझहिं रामचरित मनि मानिक'।
नख-प्रकाशसे भवरजनीके दुःख-
दोष मिटते हैं। यथा—'मिटहिं दोष
दुख भव रजनी के'

नोट—२ (क) रजरूपी चूर्णसे भवरोग मिटा। यथा—'समन सकल भवरुज परिवारू'। नखसे भवके दोष दुःख दूर हुए। यथा—'मिटहिं दोष दुख भव रजनीके' और रामचरित्रसे साक्षात् भवका ही नाश हुआ। (ग) 'भवमोचन', 'करौं कथा भवसरिता तरनी। १। ३१।', 'श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये। ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवा ॥' (समाप्तिपर)। (ग) अञ्जन लगाया आँखमें और काम किया 'रामचरित्र वर्णन' इसको 'असङ्गति अलङ्कार' कहते हैं। असङ्गति तीन प्रकारकी होती है। यथा—'तीन असङ्गति काज अरु कारण न्यारे ठौर ॥ और ठौर ही कीजिये और ठौर को काम। और काज आरंभिये और कीजिये ठौर' (मानस-रहस्य)। यहाँ 'तीसरी असङ्गति' है। (घ) श्रीगुरुजीकी तथा उनके पद, पदरज, पदनखप्रकाशकी वन्दनाके व्याजसे यहाँतक श्रीगुरुदेव तथा श्रीगुरुभक्तिका महत्त्व दिखाया है कि एकमात्र इसी साधनसे सब कुछ सहज ही प्राप्त हो सकता है।

। इति श्रीरामचरितमानसान्तर्गतश्रीगुरुवन्दनाप्रकरणसमाप्तः ।

श्रीसंतसमाजवन्दना प्रकरण

बंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोहजनित संसय सब हरना ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—महीसुर = ब्राह्मण। चरना = चरण, पद। जनित = उत्पन्न। संसय = (संशय) = संदेह। हरना = हरनेवाले।

अर्थ—मैं प्रथम ब्राह्मणोंकी वन्दना करता हूँ (जो) मोहसे उत्पन्न हुए सब संदेहोंके हरनेवाले हैं ॥ ३ ॥

नोट—(१) 'प्रथम महीसुर' इति। अनेक वन्दनाएँ (श्रीवाणी-विनायक, श्रीभवानी-शङ्कर, श्रीवाल्मीकिजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसीतारामजी, पञ्चदेव, श्रीगुरु, श्रीगुरुपद, श्रीगुरुपदरज, श्रीगुरुपदनखप्रकाशकी) पूर्व कर आये तब यहाँ 'बंदौं प्रथम' कैसे कहा? यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान महानुभावोंने अनेक प्रकारसे किया है।—(क) 'प्रथम' शब्द प्रकरणके साथ है। अर्थात् पहले वाणी-विनायकसे लेकर प्रथम चार सोरठातक देवताओंकी (जिनसे चरितमें सहायता मिली इत्यादि) और पञ्चदेवोंकी वन्दना की फिर पाँचवें सोरठेसे लेकर 'बरनौं रामचरित भवमोचन। २। २।' तक दूसरा प्रकरण (श्रीगुरुदेववन्दना) प्रकरण हुआ। अब इस चौपाईसे तीसरा प्रकरण प्रारम्भ किया। उसमें विप्रपदकी वन्दना करते हैं; क्योंकि चारो वर्णोंमें ये प्रथम वर्ण हैं। (मा० प्र०) वा (ख) यहाँ ब्राह्मणके लिये 'महीसुर' पद देकर सूचित किया है कि अभीतक 'स्वर्गके देवताओं वा ईश्वरकोटिवालोंकी वन्दना की थी। 'शङ्कररूपिणम्' और 'नररूप हरि' कहकर श्रीगुरुदेवजीकी गणना भी देवकोटिमें की और उन्हींके साथ उनको रक्खा। अब भूतलके जीवोंकी वन्दना प्रारम्भ करते हैं। इनमें विप्र 'महीसुर' अर्थात् पृथ्वीके देवता हैं। अतः भूतलके जीवोंमें प्रथम भूदेवकी वन्दना की। 'महीसुर' शब्द देकर उनको पृथ्वीके जीवोंमें सर्वश्रेष्ठ और प्रथम वन्दनायोग्य जनाया। वा, (ग) 'प्रथम' शब्द 'बंदौं' के साथ नहीं है किंतु 'महीसुर' के साथ है। प्रथम = प्रथम पूजनीय (जो विप्र हैं)। पर प्रथम पूजनीय तो गणेशजी हैं? ठीक है। पर वे भी तो ब्राह्मणोंद्वारा ही पूजनीय हैं। जब जन्म होता है तब प्रथम ब्राह्मण ही नामकरण करते हैं, नक्षत्रका विचारकर पुजवाते हैं तब गणेशजीका पूजन होता है। इस प्रकार ब्राह्मण सर्वकार्यमें सर्वस्थानोंमें सबसे मुख्य हैं। सर्व कर्मोंमें प्रथम इन्हींका अधिकार है। अतः ब्राह्मणको प्रथम पूजनीय कहा। (मा० प्र०)। वा, (घ) प्रथम = मुख्य, जैसे कि वसिष्ठ आदि जिन्होंने स्मृतियाँ बनायीं, ऐसे भाग्यवान् कि श्रीरामजी उनके शिष्य हुए। (रा० प०)। (ङ) प्रथम महीसुर = जो ब्राह्मण सबसे प्रथम हुए।—ब्रह्मा वा ब्रह्माके मानसपुत्र श्रीसनकादि जो सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। पर इसमें आपत्ति यह है कि ब्रह्मा और सनकादिकी वन्दना तो आगे कविने की

ही है। दूसरे, (बाबाहरिदासजी कहते हैं कि) ऐसा अर्थ करनेसे अन्य ब्राह्मणोंकी न्यूनता होती है कि वे वन्दनायोग्य नहीं हैं। (च) ब्राह्मण जगत विभूतिमें एवं नरोंमें आदि हैं, मैं उनके चरणोंकी वन्दना करता हूँ। (शीला)। (छ) ब्राह्मण ऋषियोंमें प्रथम ही हैं अत 'महीसुर' के साथ 'प्रथम' शब्द दिया। (मा० मा०)। अथवा, (ज) अबतक तो देवताओं और गुरुकी वन्दना की, अब रामचरितवर्णनके आरम्भमें महीसुरकी वन्दना करते हैं। (वि० टी०)। वा, (झ) साधुओंके पहले ब्राह्मणकी वन्दना की अत 'प्रथम' कहा। (रा० प्र०)। वा, (ञ) महीसुर = भृगु। प्रथम = विष्णु भगवान्। प्रथम महीसुर चरना = भगवान्के (वक्षःस्थलपरके) भृगुचरणको। (रा० प्र०)।

नोट—२ 'महीसुर' क्यों कहलाते हैं। इसकी कथा स्कन्द पु० प्रभासखण्डमें है कि एक समय देवताओंके हितार्थ समुद्रने ब्राह्मणोंके साथ छल किया जिसको जानकर ब्राह्मणोंने उसको अस्पृश्य होनेका शाप दिया था। शापकी ग्लानिसे वह सूखने लगा तब ब्रह्माजीने आकर ब्राह्मणोंको समझाया। ब्राह्मणोंने उनकी बात मान ली। तब उनका वचन रखने और समुद्रकी रक्षा भी करनेके लिये यह निश्चय किया कि पर्वकाल, नदीसङ्गम, सेतुबन्ध आदिमें समुद्रके स्पर्श, स्नान आदिसे बहुत पुण्य होगा और अन्य समयोंमें वह अछूत रहेगा। और ब्राह्मणोंको वरदान दिया कि आप लोग आजसे पृथ्वीपर 'भूदेव' के नामसे प्रसिद्ध होंगे।

यहाँ 'महीसुर' कहकर यह दिखाया कि 'महां सुष्ठु राजन्ते' अर्थात् जो पृथ्वीपर अच्छी प्रकारसे 'दीप्त' (प्रकाशित) हों उनको महीसुर कहते हैं। जैसे स्वर्गमें इन्द्रादि प्रकाशित हैं वैसे ही पृथ्वीपर ब्राह्मण (स्वा० वे० श्री० प० अखिलेश्वरदासजी)।

नोट—३ 'मोहजनित संसय सब हरना' इति। (क) पूर्व तो ('महीसुर' कहकर वन्दनाकी और अब विशेषण देकर जनाते हैं कि जिनकी वन्दना करते हैं, वे देवतातुल्य हैं अर्थात् वे दिव्य हैं, उनका ज्ञान दिव्य है, वे श्रोत्रिय एवं अनुभवी ब्रह्मनिष्ठ हैं तभी तो 'सब' संशयोंके हरनेवाले हैं। विशेष श्रीगुरुवन्दनामें 'महामोह तमपुंज' म० सोरठा ५ देखिये। (ख) मोहसे ही संशय होता है, मोह कारण है, संशय कार्य है। इसीसे 'मोहजनित संसय' कहा। मायावश ज्ञानका ढक जाना और अज्ञानका छा जाना 'मोह' है यथा—'प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा। भएउ मोहबस तुम्हरिहिं नाईं। ७। ५९।' (ग) ये विशेषण साभिप्राय हैं। इसमें ग्रन्थके वर्णित वस्तुका निर्देश है। अर्थात् यह जनाते हैं कि यह ग्रन्थ मोहजनित संशयोंसे ही प्रारम्भ हुआ है, प्रत्येक संवाद जो इसमें आये हैं उनका मूल 'संशय' ही है और उसीकी निवृत्ति इसमें की गयी है। श्रीरामचरित श्रीभरद्वाजजीके संशयसे प्रारम्भ हुआ। यथा—'नाथ एक संसउ बड़ मोरे। १। ४५।' इसको निवृत्तिके लिये पार्वतीजीका संशय और उसका श्रीशिवजीद्वारा निवारण कहा गया। यथा—'अजहूँ कछु संसउ मन मोरे। १। १०९।' श्रीपार्वतीजीके संशयके निवारणमें श्रीगरुड़जीका संशय और भुशुण्डिजीद्वारा उसका निवारण कहा गया। यथा—'भयउ मोह बस तुम्हरिहिं नाईं। कहेसि जो संशय निज मन माहीं। ७। ६१', 'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। १। १२०।' 'तव प्रसाद सब संसय गयऊ। ७। ६६।', 'तव प्रसाद संसय सब गयऊ। ७। १२५।' 'भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा। ७। १३०।' में भरद्वाजजीके संशयकी निवृत्ति ध्वनित है। बस यहीं श्रीरामचरितकी समाप्ति कवि करते हैं 'सब संसय' शब्द जो यहाँ है वही उपर्युक्त दो संवादोंमें भी है। ये विशेषण देकर गोस्वामीजी प्रार्थना करते हैं कि मैं यह कथा सन्देह, मोह, भ्रमहरणार्थ लिखता हूँ, आप कृपा करें कि जो कोई इसे पढ़े या सुने उसके भी संशय दूर हो जायँ। बैजनाथजी लिखते हैं कि गोस्वामीजी कहते हैं कि जहाँ कहीं आप इस कथाको कहें वहाँ इस मेरी प्रार्थनाको समझकर, आप संशय करनेवालेके संशय शीघ्र हर लिया करें। पुन, यह विशेषण इससे दिया कि ब्रह्मज्ञान, वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि सबके ज्ञाता ब्राह्मण ही होते हैं। पुनः, कथा भी प्रायः ब्राह्मणोंसे ही सुनी जाती है, अत जो संशय कथामें होते हैं उनका समाधान भी प्रायः उन्हींके द्वारा होता है। (घ) इस विशेषणसे ब्राह्मणोंके लक्षण और कर्तव्य बताये गये जैसा कि महाभारत, भागवत, पद्मपुराणादिमें कहे गये हैं। पहलेके ब्राह्मण ऐसे ही होते थे। (वि० टी०)। इससे आजकलके ब्राह्मणोंको उपदेश लेना चाहिये।

सुजन समाज सकल गुन खानी। करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी॥ ४॥

शब्दार्थ—सुजन=सज्जन, साधु, सन्त। समाज=समुदाय। सप्रेम=प्रेमसहित। प्रेमके लक्षण, यथा—'अन्तर प्रीति उमँगि तन रोम कठ भरि होइ। विह्वलता जल नेत्रमे प्रेम कहावै सोइ।' (वै०)। अर्थात् रोमाञ्च, गद्गदकठ, विह्वलता, प्रेमाश्रु इत्यादि प्रेमके लक्षण हैं। सुबानी=सुन्दर (मधुर मिष्ट) वाणीसे। 'सुबानी' के लक्षण ये हैं। मीठी, कानोंको सुखद, सत्य, समय सुहावनी और थोड़े अक्षरोंमे बहुत भाव लिये हुए जो वाणी होती है वह 'सुबानी' है यथा—'अर्थ बड़ो आखर अलप मधुर श्रवण सुखदानि। साँची समय सोहावनी कहिये ताहि सुबानि।' (वै०)

अर्थ—समस्त गुणोंकी खानि सज्जन समाजको मैं प्रेमसहित सुन्दर वाणीसे प्रणाम करता हूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'सुजन समाज ' इति। (क) यहाँ 'सुजन' शब्द दिया। आगे इन्हींको 'साधु' 'सत' कहा है। सुजन (सज्जन), साधु और सत पर्यायवाची है फिर भी इनके प्रयोगमे कुछ भेद यहाँ दिखाते हैं। वे ये कि 'सकल गुण खानि' होनेसे 'सुजन' कहा और पराया काज साधनेके सम्बन्धसे 'साधु' तथा मुद मङ्गलका विस्तार करनेके सम्बन्धसे 'सत' कहा है। (ख) 'सकल' 'गुनखानी' इति। इससे जनाया कि जो गुण ग्रन्थारम्भसे यहाँतक कह आये उन सबोंकी खानि हैं। (खर्रा)। ['सकलगुणखानि' से वे सब गुण यहाँ सूचित कर दिये जो इस काण्डमे आगे दिये हैं तथा जो अरण्यकाण्डमें 'सुनु मुनि सतन्हके गुन कहऊँ।' से 'मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते।' (दोहा ४५, ४६) तक एव उत्तरकाण्डमें 'संतन्हके लच्छन सुनु भ्राता' से 'गुनमदिर सुखपुन' (दोहा ३७, ३८) तक और ग्रन्थमें जहाँ तहाँ भी कुछ कहे गये हैं। (ग) गुणखानि कहनेका भाव यह है कि जैसे खानिसे सोना, चाँदी, मणि माणिक्य आदि निकलते हैं, वैसे ही शुभगुण सुजन समाजमें ही होते हैं, अन्यत्र नहीं। जो इनका सङ्ग करे उसीको शुभ गुण प्राप्त हो सकते हैं। पुन· 'खानि' कहकर यह भी जनाया कि इनके गुणोंका अन्त नहीं, अनन्त हैं, कितने है कोई कह नहीं सकता। यथा—'मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥ ३। ४६।'] (घ) यहाँ मन, वचन और कर्म तीनोंसे प्रणाम सूचित किया। 'सप्रेम' से मन 'सुबानि' से वचन और 'करौं' से कर्मपूर्वक प्रणाम जनाया।

२—पहले गुरुजीकी वन्दना की, फिर ब्राह्मणोंकी, तब सन्तोंकी। इस क्रमका भाव यह है कि—(क) विप्र श्रीरामरूप हैं। यथा—'मम मूरति महिदेव मई हैं' (विनय पद १३९)। और गुरु श्रीरामजीसे भी विशेष हैं। यथा, 'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥ २। १२९।' यही क्रम ग्रन्थमें चरितार्थ भी है अर्थात् कर्तव्यद्वारा दिखाया गया है। यथा— 'पुनि वसिष्ठ पद सिर तिन्ह नाए। प्रेम मुदित मुनिबर उर लाए॥ विप्रबृद बदेउ दुहुँ भाई। १। ३०८।' यहाँ प्रथम गुरुवसिष्ठको प्रणाम करना कहा है तब ब्राह्मणोंको। पुन यथा—'कुल इष्ट सरिस वसिष्ठ पूजे विनय करि आसिष लही। कौसिकहि पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परै कही॥ बामदेव आदिक रिषय पूजे मुदित महीस। १। ३२०।' यहाँ दोनों गुरुओंको प्रथम पूजकर तब ब्राह्मणोंका पूजन है। पुन· यथा—'पूजहु गनपति गुर कुल देवा। सब बिधि करहु भूमिसुर सेवा॥' (२। ६)। इसमें भी पहले गुरुपूजाका उपदेश है तब ब्राह्मण-सेवाका। पुनश्च 'गुर पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक ···। ७। १२८। 'इसमें भी प्रथम गुरुको कहा है तब द्विजको। (ख) विप्रपदपूजनका फल सन्त मिलन है, इसलिये प्रथम विप्रचरणकी वन्दना की, तब सन्तकी। यथा—'पुन्य एक जग महु नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥ ७। ४५।' जब ऐसे पुण्योंका समूह एकत्र होता है तब सन्त मिलते हैं। यथा—'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। ७। ४५।' इसका चरितार्थ (पात्रोंद्वारा अनुकूल आचरण) भी श्रीरामचरितमानसमें है। यथा—'बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मगल काजा॥ २। ७।', 'मुनि महिदेव साधु सनमाने। २। ३११।' (ग) विप्रवन्दन कारणरूप है, साधुवन्दना कार्यरूप है। कारणके अनन्तर कार्य होता है। विप्रवन्दनाके पीछे साधुवन्दनाका यही कारण है। मङ्गलाचरणके द्वारा उपदेश दिया है। (प० रा० कु०)। [(घ) मानसमें श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीसे जो भक्तिके साधन कहे हैं, उनमें प्रथम विप्रपद-प्रीति साधन कहा है और सन्तपदप्रेम पीछे। इसी भावसे यहाँ सन्तके पहले विप्रवन्दना की। यथा—"प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती। सतचरनपकज अति प्रेमा॥ ३। १६।' अथवा, (ङ) बहुधा ब्राह्मणेतर ही भगवद्भक्त होते हैं। उनकी ब्राह्मणोंमें कभी अनादर बुद्धि न होने पावे, इस विचारसे सन्तके पहले ब्राह्मणको रक्खा।]

नोट—१ सुजन-समाज सकल गुणोंकी खानि है, यह कहकर आगे उनके गुण कहते हैं। २ 'गुनखानि' यथा—'जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति। चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥' (भर्तृहरिनीतिशतक २३)। अर्थात् सज्जनोंकी सङ्गति बुद्धिकी जड़ता (अज्ञान) को नाश करती है, वाणीको सत्यसे सींचती है, मानकी उन्नति करती है, पाप नष्ट करती है, चित्तको प्रसन्न करती है और दिशाओंमे कीर्तिको फैलाती है! कहिये तो वह मनुष्योंके लिये क्या नहीं करती?

साधु चरित* सुभचरित† कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥ ५॥

शब्दार्थ—चरित=आचरण, रहन-सहन, जीवन। सुभ (शुभ)=सुन्दर, उत्तम, कल्याणकारी। ☞ यहाँ तथा आगेके सब विशेषण श्लिष्ट हैं अर्थात् दोहरे अर्थवाले हैं। कपास तथा साधुचरित दोनोंमें इनके श्लेष अर्थ लगते हैं। ये अर्थ टिप्पणियोंमें तथा आगे दोनोंके मिलानमें दिये गये हैं।

अर्थ—साधुका चरित कपासके चरितसे (वा, चरितके समान) शुभ है, जिसका फल नीरस, उज्ज्वल और गुणमय है॥ ५॥

नोट—१ 'सुभ' इति। मङ्गलमय, कल्याण, परोपकारपरायणताके भावसे 'शुभ' कहा। समानता यह है कि दोनों परोपकार करते हैं। सन्तोंके सब कार्य परोपकारार्थ ही हुआ करते हैं। यथा—'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ ७। १२१।' 'परोपकाराय सतां विभूतयः।' पुनः, 'शुभ' का अभिप्राय यह है कि वे अशुभ कर्म कभी नहीं करते।

२ प० रामकुमारजी—कपासके फलका रूपक करते हैं। कपासके फलमें तीन भाग होते हैं। इसीसे यहाँ तीन विशेषण दिये। 'फल' भी श्लिष्ट है। साधुपक्षमें, 'फल'=कर्मका परिणाम। कपास पक्षमें, 'फल'=ओषधिका विकार। निरस=नीरस=रसरहित। (कपासपक्षमें) अर्थात् बेलज्जत है, किसी रसका धर्म उसमें नहीं है। रूखा।=विषयरसरहित होनेसे रूखे। (साधुपक्षमें)। बिसद=उज्ज्वल। (कपासपक्षमें)=निर्मल, मद-मोह कामादि रहित होनेसे उज्ज्वल। (साधुपक्षमें)। गुणमय=सूत्र वा तन्तुयुक्त (कपासपक्षमें)। माइक्रसकोपसे देखें तो कपासमें सूतके रेशे वा डोरे देख पड़ते हैं। सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि कारणमें कार्य सूक्ष्म-रूपसे रहता है। साधुपक्षमें, गुणमय=सद्गुणयुक्त।

३—बैजनाथजी लिखते हैं कि कपास खेतमें बोया जाता है, सींचा जाय, निराया जाय, इत्यादि। साधुप्रसङ्गमें खेत, बीज, सींचना, निराना, वृक्ष, फल आदि क्या हैं?

उत्तर—सुमति भूमि, सत्सङ्ग बीज, उपदेश अंकुर, यम-नियमादि सींचना निराना, निवृत्ति वृक्ष और विवेक फल हैं। विवेक फलके अन्तर्गत शान्ति, सन्तोषादि अनेक गुण हैं। (बै०)।

४—कपास उज्ज्वल है, पर और रङ्ग उसपर चढ़ जाते हैं। साधुचरित सदा स्वच्छ रहता है जिसपर 'चढ़ै न दूजो रङ्ग' यह विशेषता है। जहाँ भी साधु रहेंगे, वहीं 'फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।'

५—मिलान कीजिये, 'नीरसान्यपि रोचन्ते कार्पासस्य फलानि मे। येषां गुणमयं जन्म परेषां गुह्यगुप्तये॥'

*—†—चरित—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, प० राम गु० द्वि०। १६६१ में इस पन्नेका पाठ प० शिवलालपाठकजीकी पोथीसे लिया गया है पर अभिप्रायदीपक और मा० मा० में 'साधु सरिस सुभ चरित कपासू' पाठ है जिसका अर्थ श्रीजानकीशरणजीने यह दिया है। 'कपासके शुभचरित्र सदृश (सच्चरित्र) साधु हैं।' यही पाठ रामायणपरिचर्यामें छपा हुआ है। पंजाबीजी, बैजनाथजी, बाबा जानकीदासजी आदिने 'साधुचरित सुभ सरिस कपासू' पाठ दिया है। इस पाठके अनुसार 'साधुचरित' उपमेय, 'कपास' उपमान, 'सरिस' वाचक और 'शुभ' साधारण धर्म होनेसे 'पूर्णोपमा' अलंकार होगा। अर्थ यह है, 'साधुका चरित कपासके समान शुभ है।' [वा, 'सुन्दर कपासके समान है। (नंगेपरमहंसजी)] ∵ 'साधुचरित सुभचरित कपासू' पाठमें 'साधुचरित' उपमेय है और 'कपासचरित' उपमान है। 'चरितकपासू' पाठमें तद्रूपकालङ्कारद्वारा साधुचरितमें विशेषता भी दिखायी जा सकती है। यह पाठ १६६१ में भी है जहाँसे भी लिया गया हो।

(सु० र० भा० ५ । १८४) । अर्थात् कपासके फल नीरस होनेपर भी हमें बहुत अच्छे लगते हैं क्योंकि उनका गुणमय जन्म लोगोंके गुह्यगोपनके लिये ही है ।

जो सहि* दुख पर छिद्र दुरावा । बंदनीय जेहि जग जसु पावा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—दुरावा=छिपाया, ढाँक दिया । बंदनीय=वन्दना, प्रशंसा या आदर करने योग्य । जसु (यश)= कीर्ति, नाम ।

अर्थ—जो (स्वयं) दुःख सहकर पराये दोषोंको ढाँकते हैं, जिससे जगत्‌में वन्दनीय और यश (वा, वन्दनीय यश वा वन्दनीय होनेके यश) को प्राप्त है ॥ ६ ॥†

अर्धाली ५, ६ का रूपक निम्न मिलानसे स्पष्ट हो जायगा ।

कपासचरित्र और साधुचरित्रका मिलान

कपास		साधु
नीरस है अर्थात् इसमें रस नहीं होता ।	१	कामक्रोधादि विकारोंसे रहित और इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें न लिप्त होना 'नीरसता' है । यथा—'विगत काम ' ', 'विषय अलंपट' (७ । ३८), 'तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ।' (विनय १६९) । साधुचरितका फल नीरस है । अर्थात् उनमें विषयासक्ति नहीं है । अनासक्तिभावसे किये होनेसे वे कर्मफलका भोग नहीं करते ।
विशद अर्थात् उज्ज्वल है,	२	साधुके कर्म निष्काम, निःस्वार्थ और भगवत्-सम्बन्धी होते हैं, उनका हृदय अज्ञानान्धकार तथा पापरहित निर्मल होता है और चरित्र उज्ज्वल होते हैं । यही 'विशदता' (स्वच्छता) है । यथा—'सरिता सर निर्मल जल सोहा । संत हृदय जस गत मद मोहा ॥' ' बिनु घन निर्मल सोह अकासा । हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥ ४ । १६ ।'
गुण (सूत्र, तन्तु) मय होता है	३	साधु भी गुण (सद्गुण) मय होते हैं । यथा—'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ । ३ । ४५ ।' से लेकर 'मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते । कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते । ४६' तक ।
कपासके ढेढमें तीन फाल (भाग फाँक), छिलका, बिनौला और रुई होती हैं ।	४	तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) और तीन अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) तीनों फाल और छिलके हैं । तीनों गुण और तीनों अवस्थाएँ आत्मासे स्फुरित होती रहती हैं [ये अवस्थाएँ मनकी वृत्तिको लेकर हैं और मन स्वभावतः जड़ है । अतः जब वह आत्मद्वारा चैतन्य हो जाता है तभी अवस्थाओं और वृत्तियोंका अनुभव होता है] सात्त्विक, राजस और तामस जो भिन्न-भिन्न प्रकारके अभिमान हैं और ममत्व हैं ये ही बिनौले हैं । जब ये अनेक प्रकारके अहं-मम निकल गये तब शुद्ध तुरीयावस्थारूपी रुई रह गयी ।
'सहि दुख'— कपास ओटी जाय,	५	साधुका जन्म गृहस्थीमें हुआ । पहले तो उसे कुटुम्ब एवं घरका ममत्व त्याग करनेमें कष्ट, फिर गुरुकी शरण जानेपर वहाँ

* दुख सहि रा० प० ।

† अर्थान्तर—'जिससे जगत्‌के लोग वन्दना योग्य हो जाते हैं और सब सराहते हैं । जगत्‌में उनकी शोभा होती है ।' (पं०) ।

रुई धुनी जाय, उसका	सूत कसे जानेका कष्ट (जैसा पीपाजी और टोड़ेके राजाकी कथा भक्तमाल टीका क० २८३–५, २९६ से स्पष्ट है) । ज्ञानमार्ग-
रेशा-रेशा अलग	पर चले तो 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मन कहुँ टेका ॥'
किया जाय, फिर	करत कष्ट बहु पावइ कोऊ । ७ । ४५ ।', भक्तिमें भी कठिनाइयाँ हैं, 'रघुपति
काती जाय, सूत	भगति करत कठिनाई । कहत सुगम करनी
बटा जाय, पीटा	अपार जानै सोइ जेहि बनि आई । विनय० १६७ ।' वैराग्य और
जाय, बुना जाय,	त्याग करके इन्द्रिय-मन आदिके साधनोंमें कष्ट, तीर्थाटनमें
वस्त्ररूप होनेपर	वर्षा-शीत-घामका कष्ट, भिक्षामें दूसरोंके कटु वचनोंका
सूईसे छेदा जाय ।	कष्ट, परहितमें कष्ट इत्यादि दुःख सन्त सहते हैं । यथा—
काटा जाय, फाड़ा	'खलके बचन संत सह जैसे ४ । १४' 'भूर्जतरु सम संत
जाय । चीथड़ा होने-	कृपाला । परहित निति सह बिपति बिसाला ॥ ७ । १२१ ।',
पर जलाया जाय, भस्म	संत सहहिं दुख पर हित लागी । ७ । १२१ ।' दधीचिजी,
होनेपर बर्तनोंपर	शिबिजी, श्रीरन्तिदेवजी आदिकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं ।
रगड़ा जाय, सड़ा-	देखिये उन्होंने परहितके लिये कितना कष्ट उठाया ।
कर पाँव बनाया जाय ।	
इत्यादि दुःख सहती है ।	

१ कपासको ओटकर रुई लेना,	साधुपक्षमें क्रमसे १ 'असार छोड़ना, सार ग्रहण करना, सबारसे वैराग्य',
२ धुनकना,	२ इन्द्रियोंका दमन,
३ कातना,	३ शम अर्थात् वासनाका त्याग,
४ बैनना,	४ उपराम (साधनसहित सब कर्मोंका त्याग, विषयोंसे भागना, स्त्री देख जीमें ग्लानि होना उपरामके लक्षण हैं)
५ बीनना	५ समाधान (मनको एकाग्र कर ब्रह्ममें लगाना),
६ वस्त्र धोना और	६ मुमुक्षुता,
७ शुद्ध स्वच्छ वस्त्र	७ शुद्ध अमल ज्ञान है । (वं०)]

'परछिद्र दुरावा'—६ (क) खलोंके अपकार सहकर भी संत उनके साथ उपकार ही करते हैं । (क) पर (शत्रु) रूपी सुईके यथा—'काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध किये हुए छेदको अपना बसाई ॥ ७ । ३७ ।' (ख) परछिद्र=दूसरोंके दोष । दूसरेमें जो अवगुण हैं वे ही 'छिद्र' हैं, उनको ढाँक देते हैं जिनसे वे फिर

धागारूप तन ढकर	देख न पड़ें । ज्ञान वा उत्तम शिक्षारूपी वस्त्र देकर अवगुणको
ढकना है । (ख)	ढक देते हैं । यथा—'गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा । ४ । ७ ।'
छिद्र=गोपनीय इन्द्रियाँ,	वा, पर=विराट । परछिद्र=विराटकी । अधगो=नरक । यथा—
लज्जाकी जगह । वस्त्र	'उदर उदधि अधगो जातना । लं० १५ ।' अर्थात् दूसरोंको
देकर लज्जाको ढकती है	नरकसे बचाते हैं । वा, (ग) इन्द्रियोंका विषयासक्त होना

ही 'छिद्र' है । यथा—'इंद्रीद्वार झरोखा नाना । ... आवत देखहिं बिषय बयारी । ७ । ११८ ।' जो विषयासक्त हैं उनको ज्ञान और भक्तिरूपी वस्त्र पहना देते हैं । विषयरूप लज्जा, गुप्त बातें वा पापोंको ढाँक देते हैं यथा—'पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यान्निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति । ...' (भर्तृहरिनीतिशतक ७३) ।

नोट—१ (क) 'सहि दुख ' अर्थात् दोनों (कपास और साधु) अपने ऊपर दुःख सहकर भी परोपकार करते हैं। कपास वस्त्र और अपने सूतसे परछिद्र ढकता है और संत अपना तन, धन, ज्ञान, भक्ति आदि वस्त्र देकर दूसरेके अवगुणोंको ढकते हैं। अर्थात् संत दीन हीन मलीन बुद्धि पुरुषोंका सदा कल्याण करते रहते हैं दुःख सहकर भी उनको सुधारते हैं। यथा—'महद्विचरणं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्। निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥' अर्थात् महान् पुरुषोंका परिभ्रमण दीन हीन गृहस्थ-पुरुषोंके कल्याणके लिये होता है। अतः आपका दर्शन व्यर्थ नहीं हो सकता। पुनश्च यथा—'यः स्नातोऽसितधिया साधुसङ्गतिगङ्गया। किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः॥' (योगवाशिष्ठ) अर्थात् जिस अस्वच्छ (मलिन) बुद्धिवाले पुरुषने भी साधुसङ्गरूपी गङ्गामें स्नान कर लिया, उसे दान, तीर्थ, तप और यज्ञादि करनेका क्या प्रयोजन? अर्थात् सन्तसङ्गसे ये सब प्राप्त हो जाते हैं। (ख) 'बंदनीय जेहि जग ' अर्थात् बिना अपने किसी स्वार्थके स्वयं दुःख सहकर भी परोपकार करते हैं इसीसे दोनोंकी प्रशंसा जगत्‌में हो रही है। यही वन्दनीय होना है। यथा—'श्लाघ्यं कार्पासफलं यस्य गुणैरावृण्वन्ति पिहितानि।' (शार्ङ्गधर। सु० र० भा० ५। १८५)। अर्थात् कपासका फल इसलिये प्रशंसनीय है कि वह अपने गुणों (तन्तुओं, तागा) से दूसरोंके छिद्र ढका करता है। कपास कैसा कैसा कष्ट उठाता है। यह भी किसी कविने यों लिखा है। यथा—'निष्पेषोऽस्थिचयस्य दुःसहतरः प्राप्तस्तुलारोहणम्। ग्राम्यस्त्रीनखचुम्बनव्यतिकरस्तन्त्रीप्रहारव्यथा। मातङ्गोक्षितमण्डवारिकणिका पानं च कूर्चाहतिः। कार्पासेन परार्थसाधनविधौ किं किं न चाङ्गीकृतम्॥' अर्थात् कपास अपनी अस्थिसमूहको कुटवाता है, तुलापर चढ़ाया जाता है, ग्रामीण स्त्रियोंद्वारा नखोंसे उधेड़ा जाता है, फिर धुनियेद्वारा धुनका जाता है, फिर नीच जुलाहोंके हाथका माँड उसे पीना पड़ता है और कूँचियोंद्वारा ताड़ित होता है। अब स्वयं देख लीजिये कि परोपकारके लिये उसने कौन-कौन कष्ट नहीं सहे। (ग) 'वन्दनीय' यथा—'काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥ ताते सुर सीसन्ह चढ़त जगबल्लभ श्रीखंड। ७। ३७।', 'परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥ १। ८४।' (घ) साधुचरितमें विशेषता यह है कि कपास तो इन्द्रियोंकी लज्जा ढाँककर लोकमें मर्यादा बढ़ाती है। और साधु निज गुण देकर परछिद्र दुराकर उसकी परलोकमें मर्यादा बढ़ाते हैं। श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि कपासने जगत्‌में यश पाया और सन्तसे जगत्‌ने यश पाया अर्थात् यद्यपि असार है। मिथ्या है तथापि 'संसार' (जिसमें बड़ा सार हो) यह नाम पड़ा।

नोट—२ साधुका जीवन और उनके कर्म परोपकारके लिये ही होते हैं यथा—'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥ ७। १२५।', 'नेहाथवामुत्र च कश्चनार्थ ऋते परानुग्रहमात्मशीलम्। भा० १। १९। २३।' अर्थात् आपका इहलोक-परलोकमें स्वभावतः परोपकारके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। अतः यह शङ्का होती है कि 'तब उनका उद्धार कैसे होता है?' इसका समाधान यह है कि सन्तोंके सब काम निःस्वार्थ निष्काम भावसे कर्तव्य समझकर एवं भगवदर्पण होते हैं, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌के ही लिये तथा समस्त जीवोंमें प्रभुको ही अनन्यभावसे देखते हुए वे सब जीवके हितसाधनमें लगे रहते हैं। 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'। प्रभुके बताये हुए इस अनन्य भावसे जन-जनार्दनकी सेवा करते हैं। अतः वे तो सदा प्रभुको प्राप्त ही हैं और शरीरान्तपर भी भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। यथा—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। (गीता १२। ४) अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवोंके हितमें रत हैं वे मुझे प्राप्त होते हैं। पुनश्च, 'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥' (गीता १२)। अर्थात् जो सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझे अनन्य ध्यानयोगसे मेरे परायण होकर मेरी उपासना करते हैं। ऐसे मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंको मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ। पुनः यथा—'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ११॥ ५५॥' अर्थात् जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ कर्तव्य कर्मोंको करता है, मुझमें परायण है, मेरा भक्त है और आसक्तिरहित है तथा किसीसे उसको वैर नहीं है, वह मुझको प्राप्त होता है।

मुद मंगल मय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥ ७॥

शब्दार्थ—मुद=मानसी आनन्द। १ (३) 'मङ्गल मोद' देखिये। पुन, मङ्गल=प्रसिद्ध उत्सव जैसे—भगवान्‌के जन्म-विवाह आदि, कीर्तन आदि एवं इनसे जो सुख होता है। (वै०) जगम=चलता-फिरता। =चलनेवाला। मय=प्रचुर। तीरथराजू (तीर्थराज)=प्रयाग।

अर्थ—सन्तसमाज मुदमङ्गलमय है, जो जगत्‌में चलता-फिरता प्रयागराज है॥ ७॥

नोट—१ (क) 'मुदमङ्गलमय' हैं अर्थात् आनन्द-मङ्गलसे परिपूर्ण है। भक्ति और ज्ञानसम्बन्धी आनन्दसे परिपूर्ण होनेसे 'मुदमय' और भक्ति सम्बन्धी उत्सव आदि प्रचुर रूपसे करनेसे 'मगलमय' कहा।

(ख) पूर्व 'साधु' को कहा, अब सन्तसमाजको कहते हैं। 'साधु' वे हैं जो साधन कर रहे हैं और सन्त वे हैं जिनका साधन पूर्ण हो गया, जो पहुँचे हुए हैं, भगवान्‌को प्राप्त हैं। (वै० रा० प०)। विशेष २ (४) में देखिये। 'जगम तीरथराजू' का भाव कि प्रयाग एक ही स्थानपर स्थित वा अचल है, जब वहाँ कोई जाय तब शुद्ध हो और सन्त चर तीर्थराज है, जो जाकर सबका कल्याण करते हैं। 'जगम' विशेषण देकर सन्त-समाजरूपी प्रयाग-में विशेषता दिखायी है।

(ग) सन्त तीर्थस्वरूप हैं यथा—'भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वय विभो। भा० १। १३। १०।' श्री युधिष्ठिरजी श्रीविदुरजीसे कहते हैं कि आप जैसे महात्मा स्वय तीर्थस्वरूप हैं। यदि कहो कि वे स्वय तीर्थस्वरूप हैं तो फिर वे तीर्थोंमें क्यों जाते हैं। तो उत्तर यह है कि पापियोंके ससर्गसे तीर्थोंमें जो मलिनता आ जाती है वह सन्तोंके पदस्पर्शसे दूर होती है। यथा—'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता। भा०। १। १३। १०।' अर्थात् अपने अन्तःकरणमें स्थित हृषीकेशद्वारा तीर्थको भी पवित्र करते हैं। पुनश्च यथा—'प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वय हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः॥' (भा० १। १९। ८ परीक्षित्‌वाक्य)। अर्थात् सन्त लोग प्राय तीर्थयात्राके बहाने उन तीर्थ-स्थानोंको स्वय पवित्र किया करते हैं।

यहाँसे सन्तसमाज और प्रयागका साङ्गरूपक कहते हैं।

> **रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥ ८॥**
> **बिधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदनि बरनी॥ ९॥**
> **हरिहर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥१०॥**
> **बटु बिस्वास अचल निज धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा॥११॥**

शब्दार्थ—सुरसरि=देवनदी=गङ्गा। धारा, बहाव=प्रवाह। सरसइ=सरस्वती। ब्रह्म विचार प्रचार=ब्रह्म विद्याका प्रचार=ब्रह्मनिरूपण। (गौड़जी) वा, ब्रह्म जो सदा स्वतन्त्र, एकरस, अमल, प्रकाशमय, अन्तरात्मा अन्तर्यामीरूपसे स्थित है उसका विचार अर्थात् ज्ञान 'ब्रह्म विचार' है। उस ब्रह्मज्ञानका प्रचार 'ब्रह्मविद्या' है। (वै०)। प्रचारा (प्रचारा)=निरन्तर व्यवहार। (श० सा०)। =कथन; यथा—'लागे करन ब्रह्म उपदेसा। ७। १११।' (प० रामकुमारजी) श्रीजानकीशरणजी इसका अर्थ 'प्रचार करनेवाली बुद्धि' लिखते हैं। विधि=वेदोंमें जिन कर्मोंके करनेकी आज्ञा है=ग्रहणयोग्य कर्म। पूर्वमीमासामें नियोगका नाम 'विधि' है। अर्थात् जो वाक्य किसी इष्ट फलकी प्राप्तिका उपाय बताकर उसे करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करे वही 'विधि' है। यह दो प्रकारका है, प्रधान और अङ्ग। निषेध=वह कर्म जिनके त्यागकी आज्ञा है, त्यागयोग्य कर्म। कलिमलहरनी=कलिके पापोंका नाश करनेवाली। करमकथा= कर्मकाण्ड। रबिनन्दनि=सूर्यकी पुत्री=यमुना। यह नदी हिमालयके यमुनोत्तरी स्थानसे निकलकर प्रयागमें गङ्गाजीसे मिली है। पुराणानुसार यह यमकी बहिन यमी है जो सूर्यके वीर्यसे सज्ञाके गर्भसे उत्पन्न हुई थी और जो सज्ञाको

---

१ साज—१७२१, १७६२। साज समाज=सामग्री। =ठाटबाट। तीर्थराजका साज-समाज उसके मन्त्री, कोश, सेना सिपाही आदि हैं। यथा—'सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। सेन सकल तीरथ बर बीरा। सगम सिंहासनु सुठि सोहा। २। १०५।' सतसमाजमें शुभ कर्म हैं। अथवा शख, घटा, घड़ी, झडी आदि साज हैं (रा० प्र०)। अथवा, तीरथराज **'सुकर्मा समाज' हैं** ऐसा अर्थ करें। साज=ठाटबाट, सेना आदि। समाज=समुदाय, समूह।

सूर्यद्वारा मिले हुए शापके कारण पीछेमें नदीरूप हो गयी थी। यमने कार्त्तिक शुक्ला २ को अपनी बहिनके यहाँ भोजन किया और उसके प्रसादमें यह वरदान दिया कि जो इस दिन तुम्हारे जलमें स्नान करेगा वह यमदण्डसे मुक्त हो जायगा। इसीको भैयादूज कहते हैं। उस दिन बहिनके यहाँ भोजन करना और उसको कुछ देना मङ्गलकारण और आयुवर्धक माना जाता है। हरिहर=भगवान् और शङ्करजी।=भगवत् और भागवत। शङ्करजी परम भागवत हैं। यथा—'वैष्णवानां यथा शम्भुः।' (श्रीमद्भागवत (१२। १२। १६) । बिराजति=सुशोभित है, विशेष शोभित है। बेनी (वेणी)=त्रिवेणी= गङ्गा, यमुना और सरस्वतीका सङ्गम। बट=बरगदका वृक्ष। अक्षयवट जो प्रयागमें है, इसका नाश प्रलयमें भी नहीं होता-ऐसा पुराणोंमें कहा गया है। प्रयागमें किलेमें अब एक ठूँठ-सा है। निज धर्म=अपना (साधु) धर्म।=वेदसम्मत धर्म।=अपने गुरुका अपनेको उपदेश किया हुआ धर्म। अर्थात् गुरुके उपदेशसे किसी एक निष्ठाको ग्रहणकर जो कर्म करना चाहिये वह 'निज धर्म' है। यथा—'ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहे श्रुति सज्जन॥' ७। ४९।' 'जप तप नियम जोग निज धर्मा। ७। ४९।' सुकर्मा=सुन्दर (शुभ) कर्म। यथा—'श्रुतिसंभव नाना सुभ कर्मा। ७। ४९।' समाज=परिकर, परिषद्।

अर्थ—जहाँ (उस संतसमाजरूपी प्रयागमें) श्रीरामभक्ति गङ्गाजीकी धारा है। ब्रह्मविचारका कथन सरस्वतीजी हैं॥ ८॥ विधिनिषेधमें पूर्ण कलिके पापोंको हरनेवाली कर्म कथा श्रीयमुनाजी हैं॥ ९॥ भगवान् और शङ्करजीकी कथा त्रिवेणीरूपसे सुशोभित है* (जो) सुनते ही सम्पूर्ण आनन्द और मङ्गलोंको देनेवाली है॥ १०॥ 'निज धर्म' में अटल विश्वास अक्षयवट है। और शुभकर्म ही तीर्थराज प्रयागका समाज है॥ ११॥

नोट—१ गङ्गा और रामभक्तिसे ही साङ्गरूपकका आरम्भकर दोनोंकी श्रेष्ठता दिखायी। प्रयागमें गङ्गाजी प्रधान हैं और संतसमाजमें श्रीरामभक्ति ही प्रधान है यह दरसानेके लिये इनको आदिमें रखा। प्रयागमें गङ्गा, सरस्वती, यमुना, त्रिवेणी, अक्षयवट और परिकर हैं, संतसमाजमें ये क्या हैं, यह यहाँ बताते हैं। रूपकके भाव नीचे मिलानसे स्पष्ट हो जायँगे।

टिप्पणी—१ 'रामभक्ति जहँ सुरसरिधारा' इति। (क) 'जहँ' का भाव यह है कि अन्यत्र रामभक्ति नहीं है, संतसमाजहीमें है। (ख) 'धारा' कहकर जनाया कि यहाँ श्रीरामभक्तिका प्रवाह है, भक्तिका ही विशेषरूपसे कथन होता है। पुनः, 'धारा' शब्द देकर यह भी सूचित किया कि जैसे धारा गङ्गाजीकी ही कहलाती है चाहे जितनी नदियाँ और नद उसमें मिलें, वैसे ही कर्म और ज्ञान उपासनामें मिलनेसे उपासना (भक्ति) कहलाते हैं। यथा—'जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥ १। ४०।' 'सुरसरि धार नाम मंदाकिनि। २। १३२।' [गङ्गा, यमुना सरस्वती तीनोंमें गङ्गाकी धारा ही प्रबल है, वैसे ही संतसमाजमें श्रीरामभक्ति ही प्रबल है। सङ्गम होनेपर फिर 'गङ्गा' नाम ही हो गया। वैसे ही कर्मकथा और ब्रह्मविचारका प्रचार श्रीरामभक्तिके प्रवाहमें मिलनेपर अपना नाम खो बैठे, श्रीरामभक्तिका अङ्ग वा रूप हो गये]

तीर्थराज प्रयाग और संतसमाजका मिलान

१ प्रयागमें गङ्गाजी हैं, संतसमाजमें श्रीरामभक्ति है। दोनोंमें समानता यह है कि—(१) दोनों सर्वतीर्थमयी हैं। यथा—'सर्वतीर्थमयी गङ्गा' 'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥ नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ भूतदया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी॥ ७। १२६।' 'तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥'

* अर्थान्तर—२ 'रामभक्ति, कर्मकथा और ज्ञान' रूपी त्रिवेणी हरिहर कथासे शोभित होती है'। (पं० रामकुमारजी)। ३ 'हरिहरकथारूपी भूमिमें गङ्गा, यमुना और सरस्वतीरूपी भक्ति आदि त्रिवेणीका सङ्गम हुआ अर्थात् जो एक साथ इन तीनोंमें स्नान करना चाहता है वह संतसमाजमें हरिहरकथाको श्रवण करे, क्योंकि यहाँ हरिहरकथाके बहाने भक्ति आदि तीनोंका वर्णन होता है।' (मा० म०, मा० त० वि०) ये अर्थ लोगोंने इस शङ्कासे किये हैं कि 'हरि' और 'हर' तो दो ही है, त्रिवेणीमें तो तीन चाहिये? ४ जहाँ हरिहरकथारूप विराजत (प्रत्यक्ष) वेणी है। (नगेपरमहंसजी)।

७ । ४६ ।' (२) दोनोंकी उत्पत्ति भगवान्‌के चरणोंसे हुई। गङ्गाजी भगवान्‌के दक्षिण चरणसे निकलीं। यथा—'जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी। १ । २११ ।' 'मकरंदु जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि' १ । ३२४ ।' 'विष्णुपदसरोजजासि' (विनय० १७) 'धर्मद्रव तरपा बीज वैकुण्ठचरणच्युतम्' (प० पु० स्वर्ग० ३१ । ७५) । और भक्ति भी भगवच्चरणके ध्यानसे उपजती है, इस तरह दोनोंका उत्पत्तिस्थान एक ही है। (३) दोनों ऊँच, नीच, मध्यम सभीको पावन करते हैं और अपना स्वरूप बना लेते हैं। यथा—'कर्मनासजल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई ॥' 'स्वपच सबर खस जमन जड पाँवर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात ॥ २ । १९४ ।' 'पाई न केहिं गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना। ७ । १३० ।' 'धारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ ॥ ७ । २१७ ।' अर्थात् भक्तमें भी वही गुण आ जाता है जो भक्तिमें है (४) दोनों एक स्थलमें प्राप्त हैं, दोनोंने समान आदर पाया है। गङ्गाजी शिवजीके शिरपर विराजती हैं और भक्ति उनके हृदयमें विराजती है। यथा—'देवापगा मस्तके' (अ० म० श्लोक० १) 'संकर हृदय भगति भूतल' (गीतावली ७ । १५) । (५) गङ्गा उज्ज्वल। यथा—'सोभित ससि धवल धार' (विनय० १७), 'आज विबुधापगा आपु पावन परम मौलि मालेव सोभा बिचित्र' (विनय० ११) । भक्तिका भी सत्त्वगुणमय शुद्ध स्वरूप है। यथा—'अबिरलभगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। ७ । ८४ ।' (६) प्रयागमें गङ्गाजीका प्रवाह अधिक प्रबल है वैसे ही सन्तसमाजमें श्रीरामभक्तिका प्रवाह अधिक है (७) गङ्गाजल बिगडता नहीं वैसे ही भक्ति भी क्रिया नष्ट होनेपर भी निर्मल रहती है। (वि० टी०) ।

२ प्रयागमें सरस्वती, वैसे ही सन्तसमाजमें ब्रह्मविचारका प्रचार। दोनोंमें समानता यह है कि—(क) दोनोंका उत्पत्तिस्थान एक ही है। सरस्वतीजी ब्रह्माकी कन्या हैं जो देवताओंकी रक्षाके लिये एवं गङ्गाके शापसे नदीरूप हुईं। (म० श्लोक १ देखिये। ब्रह्मविद्या भी प्रथम ब्रह्माजीने अपने बड़े पुत्र अथर्वासे कही। यथा—'ब्रह्मा देवाना प्रथम सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ-पुत्राय प्राह ॥' (मुण्डकोपनिषद् १ । १) । (ख) गङ्गा-यमुनाके मध्यमें सरस्वती गुप्त रहती हैं वैसे ही कर्मकाण्ड, और भक्तिके बीचमें ब्रह्मविचारका स्थान गुप्त है। यथा—'गङ्गा च यमुना चैव मध्ये गुप्ता सरस्वती। तदग्रभागो नि-सरति सा वेणी यत्र शोभते ॥' इति प्रयागमाहात्म्ये। तथा—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुति। (तैत्ति० २ । ४ । २ । ९ । ब्रह्मोप०, प० रामकुमार) । सरस्वतीका रंग श्वेत है और ज्ञान भी प्रकाशरूप है (यह समता पंजाबीजीने दी है। पर सरस्वतीका वर्ण लाल कहा गया है, यथा गीतावल्याम् 'स्याम बरन पद पीठ अरुन तल लसति बिसद नख श्रेनी। जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी ॥ ७ । १५) ।

नोट—'सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा' इति। (क) ब्रह्मविचार-प्रचारको सरस्वती कहा, क्योंकि जैसे प्रयागमें सरस्वती गुप्त हैं वैसे ही सन्तसमाजमें ब्रह्मविद्याका प्रचार गुप्त है। गुप्त कहनेका भाव यह है कि सन्तसमाजमें 'ब्रह्मविद्याका प्रचार है, परन्तु सन्तसमाजके बाहर नहीं है, भीतर ही गुप्तरूपसे उसका प्रचार है। कारण कि सन्तसमाज ही उसका अधिकारी है, उससे बाहरका इसका अधिकारी नहीं है। श्रीरामभक्तिका अधिकारी सारा विश्व है। जैसे गङ्गाजलके सहारे यमुना और सरस्वतीके जलका पान सबको सुलभ है वैसे ही भक्तिके सहारे ब्रह्मविद्या भी सबको सुलभ है।' (प्रो० गौड़जी) । (ख) बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि गङ्गा और रामभक्तिसे अनेकोंका उपकार होता है, यमुना और कर्मकाण्डसे थोड़े लोगोंका उपकार होता है, पर ज्ञानरूपी सरस्वतीसे तो घुणाक्षर न्याय ही किसीकी भलाई होती है। ये भाव प्रकट करनेके लिये रामभक्तिको सुरसरिधारा और ब्रह्मविचारको सरस्वती कहा। (रा० प्र०) (ग) बै० भू० जीका मत है कि 'प्रचारा' शब्द देकर सन्तसमाज प्रयागसे यह विशेषता दिखाते हैं कि वहाँ प्रयागमें तो सरस्वती प्रकट नहीं है पर यहाँ सन्तसमाजमें 'ब्रह्मविचार' का प्रचार है, ब्रह्मविचाररूपी सरस्वती प्रकट है, अर्थात् वहाँ भगवद्गुणकथनोपकथनमें ब्रह्मनिरूपण सर्वप्रथम होता है। यथा—'ब्रह्मनिरूपन धर्मबिधि बरनहिं । १ । ४४ ।'

३ प्रयागमें यमुनाजी हैं, सन्तसमाजमें कर्मकथा है। नदी प्रवाहरूपा है और कथा भी प्रवाहरूपा है। इसलिये

कथाको नदीका रूपक कहा। दोनोंमें समानता यह है कि (क) दोनोंका वर्ण श्याम है। यमुना श्याम है। यथा—'सविधि सितासित नीर नहाने। देखत स्यामल धवल हलोरे॥ २। २०४।' कर्ममें स्थल, काल, वस्तु, देह आदि दस या अधिक प्रकारकी शुद्धियोंकी आवश्यकता होती है। अशुद्धियाँ ही कालापन हैं। अथवा, कर्मोंमें जो कुछ न-कुछ अहंकार रहता ही है वही कालापन है। (ख) यमुनाजी सूर्यकी कन्या हैं। यथा—'कालिन्दी सूर्यतनया इत्यमरे' (१। १०। ३२), 'चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई॥ २। ११२।' और कर्मोंका अधिकार अधिकतर सूर्योदयसे ही होता है। यथा—'यस्योदये नेह जगत्प्रबुध्यते प्रवर्तते चाखिलकर्मसिद्धये। ब्रह्मेन्द्रनारायणरुद्रवन्दित स न: सदा यच्छतु मङ्गल रवि' ॥' इति भविष्योत्तरपुराणे। (पं० रामकुमारजी)। अर्थात् जिनके उदयसे जगत् जागता है और अखिल कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और जो ब्रह्मा, इन्द्र, नारायण तथा रुद्रसे वन्दित हैं, वे सूर्य सदा हमारा मङ्गल करें। दोनों कलिमल हरनी हैं। यथा—'जमुना कलिमल हरनि सुहाई। ६। ११९।' 'दूरस्थेनापि यमुना ध्याता हन्ति मन कृतम्। वाचिक कीर्तिता हन्ति स्नाता कायकृत क्षयम्॥' (पद्मपुराणे)। अर्थात् दूरसे ही यमुनाजीका ध्यान करनेसे मनके पाप, नामस्मरणसे वाचिक पाप और स्नानसे शारीरिक पाप दूर होते हैं। 'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्' इति श्रुति'। अर्थात् नित्य और नैमित्तिक कर्मोंसे पापका क्षय करता हुआ (मुक्त हो जाता है)। गीतामें भगवान् भी कहते हैं, 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय।' अर्थात् इस प्रकार जनकादि भी कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। (गीता ३। २०)। (४) (त्रिपाठीजी टीकाकार लिखते हैं कि) कृष्णजीने बहुत-से शुभकर्म यमुनातटपर ही किये हैं जैसे अग्निभक्षण, कालीनागनाथन, गोपियोंको उपदेश आदि। इसीसे यमुनाजीसे मिलान कर्मकथासे करना अति उत्तम है।

४ प्रयागमें त्रिवेणी हैं, सन्तसमाजमें हरिहर-कथाएँ हैं। दोनोंमें समानता यह है कि—(क) गङ्गा, यमुना और सरस्वती जहाँ मिलती है उस सङ्गमको त्रिवेणी कहते हैं। इसी तरह श्रीरामभक्ति, कर्मकथा और ब्रह्मविचारका प्रचार इन तीनोंका हरिहरकथामें सङ्गम होता है। भाव यह है कि जैसे गङ्गा, यमुना और सरस्वती इन तीनोंके सङ्गमका इन तीनोंसे पृथक् एक 'वेणी' या 'त्रिवेणी' नाम पड़ा, वैसे ही यहाँ भक्ति, कर्म और ज्ञान इन तीनोंके सङ्गमका नाम तीनोंसे पृथक् 'हरिहरकथा' नाम कविने दिया है। जैसे त्रिवेणीमें तीनोंका स्नान एक ही स्थलपर प्राप्त है, अन्यत्र नहीं, वैसे ही भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनोंका श्रवणरूपी स्नान हरिहर-कथामें ही प्राप्त है, अन्यत्र नहीं। (२) दोनों मुदमङ्गलकी देनेवाली हैं। यथा—'एहि बिधि आइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी॥ २। १०६।', 'कल्यानकाज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीं। १। १०३।', 'मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥ ७। १२९।' श्रवणमात्रसे आनन्द-मङ्गल देनेवाली होना यह विशेषता है।

नोट—यहाँ पंजाबीजी, करुणासिंधुजी तथा बैजनाथजीने हरिहरकथाको वेणी कहनेमें शङ्का की है और अपने अपने ढंगसे उत्तर दिये हैं। करुणासिंधुजीने जो उत्तर लिखा है प्रायः उसीको बढ़ाकर बैजनाथजीने रक्खा है। 'सरस्वती और यमुनाका गङ्गामें सङ्गम होना वेणी है, वैसे ही यहाँ ज्ञान और कर्मका भक्तिमें सङ्गम होना कहना चाहिये था। हरिहर-कथाको वेणी कहनेमें पूर्व प्रसंग कैसे आवे?' (बै०)। उत्तर—(क) हरिहरकथामें जहाँ कर्म, ज्ञान, भक्ति मिलकर एक हुए हैं वह वेणी है। वह कहाँ है? याज्ञवल्क्यजीने प्रथम शिवचरित कहा। उसमें सतीके मोहवश सीतारूप धारण करनेपर सतीमें श्रीजानकी-भाव ग्रहण करना 'विधि' है, सतीतनसे प्रीतिका त्याग 'निषेध' है, यह विधिनिषेधमय कर्मकथा 'यमुना' है। 'हरि इच्छा भावी बलवाना', 'राम कीन्ह चाहहिं सो होई' इत्यादि विचारोंको धारण करनेसे शान्ति होना यह ब्रह्मविचार है। श्रीजानकीजीमें स्वामिनीभाव भक्ति है। इस तरह तीनोंका सङ्गम है। (करु०)। (ख) भरद्वाज याज्ञवल्क्य सवाद कर्ममय है, उनके अन्तर्गत उमा-शम्भु-संवाद ज्ञानमय है और इनका श्रीरामचरितरूपी भक्ति गङ्गामें सङ्गम हुआ। सती मोह, पार्वतीविवाह कर्मकथा है, उमा शिव संवादमें ब्रह्मका वर्णन 'आदि अंत कोउ जासु न पावा। ''बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥ महिमा जासु जाइ नहिं बरनी। १। ११८।' यह ज्ञान है ''और 'जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति

भगवान ॥ १ । ११८ ।' यह भक्ति गङ्गामें उनका सङ्गम है। इस प्रकार हरिहरकथा तीनोंका सङ्गम 'त्रिवेणी' है। (वै०) । (ग) प० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'हरि' से सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिये। सगुणसे भक्तिरूप गङ्गा, निर्गुणसे गुप्त ब्रह्मविचार सरस्वती, 'हर' से महादेव और उनके यमसदृश गणोंकी कथा यमुना है। इनके सङ्गमसे त्रिवेणी सोहती है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। ऐसी व्याख्या न करनेसे पहली चौपाई 'रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा। ' इत्यादिमें असङ्गति होती है। (घ) पंजाबीजी 'विराज' से 'पक्षिराज भुशुण्डीजी, एवं 'विराजति' से हंसपर शोभित ब्रह्माजी' ऐसा अर्थ करके शङ्काका समाधान करते हैं जो बहुत क्लिष्ट कल्पना है। प० रामकुमारजी और प० शिवलालपाठकजीके अर्थ पूर्व अर्थकी पाद टिप्पणीमें दिये गये हैं। (ङ) प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'हरिहर' कहनेका भाव यह है कि इनमें लोग कुतर्क करते हैं। यथा—'हरिहरपद रति मति न कुतरकी। '

५ प्रयागराजमें अक्षयवट है, सन्तसमाजमें 'निजधर्ममें अटल विश्वास'। समानता यह है कि (क) अक्षयवटका प्रलयमें भी नाश नहीं, इससे उनका नाम 'अक्षय' है, मार्कण्डेयजीने प्रलयमें इसीके पत्तेपर 'मुकुन्द' भगवान्‌के दर्शन पाये थे। और कितना ही विघ्न एवं कष्ट क्यों न हो सन्तका विश्वास अचल बना रहता है। यथा—'आपन जानि न त्यागिहहि मोहि रघुबीर भरोस। २ । १८३ ।' 'कोटि बिघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग। ६ । ३३ ।' गीतामें भी यही उपदेश है कि अपने धर्ममें मरना भला है। यथा—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। ३ । ३५ ।' (ख) वट और विश्वास दोनों शङ्कररूप हैं। यथा—'प्राकृतहूँ बट बूट बसत पुरारि हैं। क० ७ । १४० ।', 'भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' (मं० श्लोक २) (ग) प्रलयमें अक्षयवटपर भगवान् रहते हैं, वैसे ही विश्वासमें श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, यथा—'प्रिय सनेह बड़ बाढ़त जोहा। ता पर राम पेम सिसु सोहा ॥ चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु ॥' (२ । २६८), 'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ॥ ७ । ९० ।' पुनश्च यथा—'यत्र चैकार्णवे जाते नष्टे स्थावरजङ्गमे। सर्वत्र जलसम्पूर्णे वटे बालवपुर्हरिः ॥ इति पाद्मे प्रयागमाहात्म्ये।' तथा—'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारणम् ॥' एवं च 'न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे। न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥ इति विष्णुपुराणे।' (प० रामकुमारजी) अर्थात् प्रलयकालमें स्थावरजङ्गमके नष्ट हो जानेपर जिस वटपर बालरूप हरि सोते हैं। वर्णाश्रमपर चलनेवाला पुरुष ही भगवान्‌का आराधन कर सकता है, उनको प्रसन्न करनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जो अपने वर्ण-धर्मसे विचलित नहीं होता, शत्रु-मित्रको एक-सा मानता है, किसीका कुछ हरण नहीं करता, न किसीको दुःख देता है और शुद्ध हृदय है वही हरिभक्त है। पुनश्च यथा—'स चाक्षयवटः ख्यातः कल्पान्तेऽपि च दृश्यते। शेते विष्णुर्यस्य पत्रे अतोऽयमव्ययः स्मृतः ॥ (पद्मपु० उत्तरखण्ड अ० २४ श्लोक ८)। अर्थात् वह प्रसिद्ध अक्षयवट कल्पान्तमें भी देख पड़ता है कि जिसके पत्तेपर भगवान् शयन करते हैं। इसीसे वह अव्यय (अक्षय) है।

प्रयागमें तीर्थराज समाज है। यथा—'त्रिवेणीं माधवं सोमं भरद्वाजं च वासुकिम्। वन्दे अक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम् ॥ (वि० टी०) । इनमेंसे त्रिवेणी और अक्षयवटको कह आये। शेष परिकर यहाँ 'तीर्थराज समाज' है। ये प्रयागके गौण देवता हैं। सत समाजमें शुभकर्मोंका यथायोग्य आचरण राजसमाज है। (रा० प्र०) । अथवा, समाज-भरके जो स्वाभाविक शास्त्रोक्त शुभ कर्म (शुद्ध भगवत् कर्म) हैं, वे राजसमाज हैं (करु०) । अथवा, भगवत्पूजा माधव हैं, नामस्मरण सोमेश्वर हैं, सद्वार्ता भरद्वाज हैं, एकादशी आदि व्रत वासुकि हैं, कथा कीर्तन आदि शेषजी हैं। (वै०) इत्यादि 'सुकर्म' हैं, यहाँ सिद्धावस्थाके कर्मोंको समाज कहा है। (वै०)

नोट—यहाँ लोग यह शङ्का उठाते हैं कि वेदशास्त्रोंमें कर्म, ज्ञान, उपासना क्रमसे कहे गये हैं, यहाँ ग्रन्थकारने व्यतिक्रम क्यों किया? इसका समाधान यों किया जाता है कि—(१) यहाँ सन्त समाजका रूपक प्रयागसे बाँधा गया है न कि वेदशास्त्रोंसे। प्रयागराजमें तीनों नदियोंके प्रवाहके अनुसार रूपक बाँधा गया है। वहाँ गङ्गाजी प्रधान, यहाँ 'भक्ति'

प्रधान, इत्यादि। (२) सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि पहले भक्ति, फिर ज्ञान तब कर्म लिखनेका कारण यह है कि पहले कर्मकाण्डसे शरीरको शुद्ध करना चाहिये, क्योंकि कर्मकाण्डमें जो दान, धर्म, तपादि कहे हैं उनका यही काम है कि शरीरको शुद्ध करें जिससे मनुष्योंकी अव्याहत गति हो जाती है। मनुष्य कर्मकाण्डद्वारा इस लोकमें सुख भोगकर स्वर्ग पाता है पर जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब वह पुनः मर्त्यलोकमें गिराया जाता है। जन्म-मरणप्रवाह नहीं छूटता। अतएव कर्मकाण्डसे बढकर भक्ति है। रहा ज्ञान, उसकी दशा यह है कि बिना पदार्थ-ज्ञानके मुक्ति नहीं। इस ग्रन्थमें तो परमार्थभूत श्रीमद्रामचन्द्रजी निरूपण किये गये हैं, उनकी प्राप्ति बिना भक्तिके नहीं होती, क्योंकि वे भक्तवत्सल हैं और ज्ञानका फल यही है कि उनके चरणोंमें भक्ति हो। यथा—'धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना।' से 'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला' तक (३। १६)। अतः भक्ति ज्ञानकाण्डसे बढकर है इसीसे उसका उल्लेख पहले हुआ।

नोट—'कर्म कथा' को यमुना और 'सुकर्म' को तीर्थराजका समाज कहा। इसमें 'पुनरुक्ति' नहीं है। यमुनाजी कर्मशास्त्र हैं जिसमें कर्मोंका वर्णन है कि कौन कर्म-धर्म करने योग्य हैं और कौन नहीं, और शुभ कर्मोंका यथायोग्य आचरण ही राजसमाज है। (रा० प्र०)। (२) सू० प्र० मिश्र—(क) 'सुकर्मा' का अर्थ यह है कि दैवी सम्पदारूप जो शुभ कर्म हैं उनका एकत्र होना यही समाज है। तीर्थका अर्थ यही है कि जहाँ बड़े लोग बैठकर ईश्वरका भजन करें वह स्थान उन्हींके नामसे कहा जाता है।' (ख) ग्रन्थकारने प्रथम बिस्वास पद रक्खा तब अचल। कारण यह कि बिना विश्वासके अचल हो ही नहीं सकता, अचलताका कारण विश्वास है। (मा० पत्रिका)

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥ १२॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥ १३॥

शब्दार्थ—सेवत=सेवा वा सेवन करनेसे, सेवन करते ही। कलेसा=(क्लेश)=दुःख, संकट। पातञ्जलयोगसूत्रमें क्लेश पाँच प्रकारके कहे गये हैं। 'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' अर्थात् अविद्या (मोह, अज्ञान), अस्मिता (मैं हूँ, ऐसा अहङ्कार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युका भय)। अकथ=अकथ्य, जो कहा न जा सके। अलौकिक=लोकसे परे, जिसकी समानताकी कोई वस्तु इस लोकमें नहीं। देइ=देता है। सद्य=तुरत, शीघ्र।

अर्थ—(सन्तसमाज प्रयाग) सभीको, सब दिन और सभी ठौर प्राप्त होता है। आदरपूर्वक सेवन करनेसे क्लेशोंको दूर करनेवाला है॥ १२॥ (यह) तीर्थराज अलौकिक है। (इसकी महिमा) अकथनीय है। इसका प्रभाव प्रसिद्ध है कि यह तुरत फल देता है॥ १३॥

नोट—(१) अब संतसमाजमें प्रयागसे अधिक गुण दिखलाते हैं। यहाँ 'अधिक अभेद रूपक' है, क्योंकि उपमानसे उपमेयमें कुछ अधिक गुण दिखलाकर एकरूपता स्थापित की गयी है।

सन्तसमाज	प्रयाग
१ जङ्गम है अर्थात् ये सब देशोंमें सदा विचरते रहते हैं।	स्थावर है अर्थात् एक ही जगह स्थित है।
२ 'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा' अर्थात् (१) ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, इत्यादि कोई भी क्यों न हो, सबको सुलभ। पुनः, (२) इसका माहात्म्य सब दिन एक-सा रहता है। पुनः, (३) सत्सङ्ग हर जगह प्राप्त हो जाता है। यथा—'भरत दरस देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भाग। जनु सिंघलबासिन्ह भयउ बिधिबस सुलभ प्रयाग॥ २। २२३।'	(१) सबको सुलभ नहीं, जिसका शरीर नीरोग हो, रुपया पास हो, जिससे वहाँ पहुँच सके, इत्यादि ही लोगोंको सुलभ है। (२) इसका विशेष माहात्म्य केवल माघमें है जब मकर राशिपर सूर्य होते हैं।
३ इसकी महिमा और गुण अकथनीय हैं। यथा—'बिधि हरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी' (बा० ३), 'सुनु मुनि साधुनके गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥ ३। ४६।'	इसका माहात्म्य वेद-पुराणोंमें कहा गया है। यथा—'बन्दी बेद पुरानगन कहहिं बिमल गुनग्राम। अ० १०५।' अर्थात् महिमा कथ्य है।

४ जैसा इनका कथन है, भाव है, कर्म, निष्ठा, विश्वास इत्यादि है वैसा कोई कहकर बता नहीं सकता और न आँखसे देखा जा सके।

इसके सब अङ्ग देख पड़ते हैं।

५ इसकी समताका कोई तीर्थ, देवता आदि लोकमें नहीं है। सन्तसमाजके सेवन करनेवाले सन्तस्वरूप हो जाते हैं। यह फल सबपर प्रकट है। वाल्मीकिजी, प्रह्लादजी, अजामिल इत्यादि उदाहरण हैं।

लोकमें इसके समान ही नहीं, किंतु इससे बढ़कर पञ्चप्रयाग हैं। अर्थात् देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग और विष्णुप्रयाग। हृषीकेशमें भी त्रिवेणी हैं, गालव मुनिको सूर्य भगवानके वरदानसे यहाँ त्रिवेणी स्नान हो गया था, उसका माहात्म्य विशेष है।

६ सन्तसमाजके सादर सेवनसे चारों फल इसी तनमें शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं और जीतेजी मोक्ष मिलता है। अतः इसका प्रभाव प्रकट है। सत्सङ्गसे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, यही 'अछत तन' मोक्ष मिलना है। तुरत फल इस प्रकार कि सत्सङ्गमें महात्माओंका उपदेश सुनते ही मोह अज्ञान मिट जाता है।

इसमें भी चारों फल प्राप्त होते हैं। यथा—'चार पदारथ भरा भँडारू'। अ० १०५।', पर कालान्तरमें अर्थात् मरनेपर ही मोक्ष मिलता है, इसीसे इसका प्रभाव प्रकट नहीं है।

नोट—२ 'देइ सद्य फल' से यह भी जाना जाता है कि और सब तीर्थ तो विधिपूर्वक सेवनसे कामिक ही फल देते हैं पर सन्तसमाजका यह प्रभाव प्रकट है कि चाहे कामिक हो या न हो पर वही फल देता है जिससे लोक परलोक दोनों बनें। (सू० प्र० मिश्र)

नोट—३ 'सेवत सादर समन कलेसा' इति। (क) अविद्या आदि पञ्च क्लेशोंके दूर करनेके लिये योगशास्त्रका आरम्भ है। परन्तु यह सब क्लेश अनायास ही दूर हो जाते हैं, यदि सन्तसमाजका सादर सेवन किया जाय। (ख) 'सादर' से श्रद्धापूर्वक स्नान करना कहा। यथा—'अश्रद्दधानः पुरुषः पापोपहतचेतनः। न प्राप्नोति परं स्थानं प्रयागं देवरक्षितम्॥' (मत्स्यपुराण) अर्थात् जिनकी बुद्धि पापोंसे मलिन हो गयी है, ऐसे श्रद्धाहीन पुरुष देवोंद्वारा रक्षित परम श्रेष्ठ स्थान प्रयागकी प्राप्ति नहीं कर सकते। स्कन्दपुराण ब्राह्मखण्डान्तर्गत ब्रह्मोत्तरखण्ड अ० १७ में श्रद्धाके सम्बन्धमें कहा है कि 'श्रद्धा सर्वधर्मस्य चातीव हितकारिणी। श्रद्धयैव नृणां सिद्धिर्जायते लोकयोर्द्वयोः॥ ३॥ श्रद्धया भजतः पुंसः शिलापि फलदायिनी। मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या गुरुर्भवति सिद्धिदः॥ ४॥ श्रद्धया पठितो मन्त्रस्त्वबद्धोऽपि फलप्रदः। श्रद्धया पूजितो देवो नीचस्यापि फलप्रदः॥ ५॥' अर्थात् सब धर्मोंके लिये श्रद्धा ही अत्यन्त हितकारक है। श्रद्धाहीसे लोग इहलोक और परलोक प्राप्त करते हैं। ३। श्रद्धासे मनुष्य पत्थरकी भी पूजा करे तो वह भी फलप्रद होता है। मूर्खकी भी यदि कोई श्रद्धासे सेवा करे तो वह भी सिद्धिदायक गुरुतुल्य होते हैं। ४। मन्त्र अर्थरहित भी हो तो भी श्रद्धापूर्वक जपनेसे वह फलप्रद होता है और नीच भी यदि श्रद्धासे देवताका पूजन करे तो वह फलदायक होता है। पुनः अध्याय १७ में कहा है कि मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, ओषधि और गुरुमें जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा उसका फल मिलता है। यथा—'मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी॥ ८॥' (स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तरखण्ड)।

अतएव तीर्थादिका 'सादर' सेवन करना कहा। 'सादर' से उद्धरणोंका सब आशय जना दिया। अश्रद्धा वा अनादरपूर्वक सेवनसे फल व्यर्थ हो जाता है, इसीसे कविने सर्वत्र 'सादर' शब्द ऐसे प्रसङ्गोंमें दिया है। यथा—'सादर मज्जन पान किये तें। मिटहिं पाप परिताप हिये तें॥ १। ४३।', 'सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी। १। ४४।' 'सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥ १। ३८।', 'सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर। ७। ६२।' इत्यादि। (ग) 'जगम', 'सबहिं', 'सब दिन', 'सेवत', 'अकथ', 'अलौकिक' और 'सद्य' शब्द सन्तसमाजकी विशेषता दिखाते हैं।

नोट—४ इन चौपाइयों (६ से १३ तक) से मिलते हुए निम्न श्लोक पं० रामकुमारजीने अपने संस्कृत खर्रेमें दिये हैं। यथा—'यत्र श्रीरामभक्तिर्लसति सुरसरिद्भारती ब्रह्मज्ञानम्। कालिन्दी कर्मगाथा हरिहरचरितं राजते यत्र वेणी॥ विश्वास स्वीयधर्मेऽचल इव सुवटो यत्र शेते मुकुन्द। सेव्य सर्वैः सदासौ सपदि सुफलदः सत्समाज प्रयागः॥' अर्थात् जहाँ श्रीरामभक्तिरूपी गङ्गा शोभित होती हैं तथा ब्रह्मज्ञानरूपी सरस्वती और कर्मकथारूपी यमुना स्थित हैं, जहाँ हरिहरचरितरूपी त्रिवेणी और जिसपर मुकुन्द भगवान् शयन करते हैं ऐसा स्वधर्ममें विश्वासरूपी सुन्दर वट विराजते है ऐसा तत्काल फलप्रद सत्समाजरूपी प्रयाग सबसे सदा सेव्य है।

दो०—सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधुसमाज प्रयाग॥ २॥

शब्दार्थ—जन=प्राणी, लोग, भक्त। मुदित=प्रसन्न, आनन्दित। मज्जहिं=स्नान करते हैं, नहाते हैं। लहहिं=लाभ वा प्राप्त करते हैं। फल=शुभ कर्मोंके परिणाम जो संख्यामें चार माने जाते हैं और जिनके नाम अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हैं। अछत ('अछना' का कृदन्तरूप जो क्रि० वि० के रूपमें प्रयुक्त होता है। सं० अस० प्रा० अच्छ=होना। मराठीमें 'असते'=रहते हुए। 'स' और 'छ' का अदल बदल हो जाता है। जैसे 'अप्सरा' से 'अपछरा' इत्यादि रीतिसे 'असते' से 'अछत' हुआ हो)=रहते हुए, जीतेजी। यथा—'तुम्हहि अछत को बरनै पारा १। २७४।' साधुसमाज=सन्तसमाज। यहाँ 'साधु' शब्द देकर इसे 'सन्त' का पर्याय जनाया।

अर्थ—१ जो लोग (या भक्त जन) साधुसमाजप्रयाग (के उपर्युक्त माहात्म्य) को आनन्दपूर्वक सुनकर समझते हैं और प्रसन्न मनसे अत्यन्त अनुरागसे इसमें स्नान करते हैं, वे जीते-जी इसी शरीरमें चारों फल प्राप्त कर लेते हैं॥ २॥

टिप्पणी—'सुनि समुझहिं…' इति। यथा—'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥ १। ४१।' 'कासी बिधि बसि तनु तजइ, हठि तनु तजइ प्रयाग। तुलसी जो फल सो सुलभ रामनाम अनुराग॥' (दोहावली)।

नोट—(१) इस दोहेमें सन्तसमाजप्रयागके स्नानकी तीन सीढ़ियाँ लिखते हैं। 'सुनना' यही किनारे पहुँचना है, 'समझना' धारामें हल जाना है और जो समझनेसे आनन्द अनुराग होता है यही डुबकी (गोता) लगाना है। इस विधानसे सन्तसमाजप्रयागके स्नानसे इसी तनमें चारों फल मिलते हैं। (पाँड़ेजी)। पुनः, (२) इस दोहेमें श्रवण, मनन और अभ्यास अथवा यों कहे कि दर्शन, स्पर्श और स्नान (समागम) ये तीन बातें आवश्यक बतायी हैं। यथा—'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए।' (विनय० १३६), 'मुख देखत पातक हरैं, परसत करम बिलाहिं। बचन सुनत मन मोह गत पूरब भाग मिलाहिं॥' (वैराग्य सं० २४)। 'सुनि' से सन्तवचन श्रवण करना, 'समुझहिं' से मनन करना और 'मज्जहिं' से निदिध्यासन नित्य-निरन्तर अभ्यास कहा गया। बैजनाथजी लिखते हैं कि सिवाय सत्सगके और कुछ न सुहाना अति अनुरागसे मज्जन करना है। करुणासिंधुजीका मत है कि 'मुदितमन' से निदिध्यासन और अति अनुरागसे (मज्जहिं अर्थात्) साक्षात् हो।' सम्भवतः आशय यह है कि इन्द्रियद्वारा जो मन बाहर हो रहा है उसका थिर होकर अन्तर्मुख हो जाना अति अनुरागपूर्वक मज्जन है। (रा० प०)। (३) 'अछत तनु' कहकर जनाया कि प्रयाग चारों फल शरीर रहते नहीं देता। यथा—'दर्शनात्स्पर्शनात्स्नानाद्गङ्गा-यमुनसंगमे। निष्पापो जायते मर्त्यः सेवनात्स्मरणादपि॥' (पं० रामकुमार सं० खर्रा)।

दूसरा अन्वय—'साधुसमाजप्रयागको जे जन मुदित मनसे सुनि समुझहिं ते अति अनुराग ते मज्जहिं (तथा) 'अछत तन चारि फल लहहिं।'

अर्थ—२ सन्तसमाजरूपी प्रयागके त्रिविधवचन मुदित मनसे जो जन सुनते और समझते हैं, वे ही बड़े अनुरागसे इसमें स्नान करते हैं और शरीरके रहते ही चारों फल प्राप्त करते हैं॥ २॥ (गौड़जी, रा० प्र०)।

नोट—यहाँ 'प्रयाग' से त्रिवेणी लक्षित है। हरिहरकथा=त्रिवेणी। इस अर्थके अनुसार सन्तसमाजमें 'हरिहरकथा' को सुनकर समझना ही त्रिवेणीका स्नान है। पंजाबीजीका मत है कि सुनकर समझने अर्थात् श्रवण-मनन करनेसे जो प्रसन्नता होती है वही प्रेमसहित मज्जन है।

> मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥ १॥
> सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई॥ २॥
> बालमीक नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥ ३॥

शब्दार्थ—पेखिय (सं० प्रेक्षण)=दिखायी देता है, देख लीजिये, देख पड़ता है। ततकाल=उसी समय। काक=कौवा। पिक=कोयल। बकउ=बक+उ=बगुला भी। मराल=हंस। जनि=मत, नहीं। आचरज=आश्चर्य, अचम्भा। गोई=छिपी हुई, गुप्त। घटजोनी (घटयोनि)=कुम्भज, घड़ेसे जो उत्पन्न हुए, अगस्त्यजी। मुखनि=मुखोंसे। होनी=उत्पत्ति और फिर क्यासे क्या हो गये। जीवनका वृत्तान्त।

अर्थ—(सन्तसमाज प्रयागमें) स्नानका फल तत्काल देख पड़ता है (कि) कौवे कोकिल और बगुले भी हंस हो जाते हैं॥ १॥ यह सुनकर कोई आश्चर्य न करे। सत्सङ्गतिका प्रभाव छिपा नहीं है॥ २॥ श्रीवाल्मीकिजी, श्रीनारदजी और श्रीअगस्त्यजीने अपने-अपने मुखोंसे अपना-अपना वृत्तान्त कहा है॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'मज्जन फल पेखिय ततकाला' इति। (क) ऊपर दोहेमें 'लहहिं चारि फल अछत तनु' अर्थात् शरीरके रहते जीतेजी चारों फलोंकी प्राप्ति कही। इस कथनसे फलके मिलनेमें कुछ विलम्ब पाया गया, न जाने कितनी बड़ी आयु हो और उसमें न जाने कब मिले? इस सन्देहके निवारणार्थ यहाँ 'ततकाला' पद दिया। अर्थात् सत्संगका फल तुरत मिलता है। पुनः, (ख) 'ततकाला' से यह भी जनाया कि प्रयाग 'तत्काल' फल नहीं देता, मरनेपर ही (मोक्ष) देता है। (ग) 'ततकाला' देहलीदीपक है, 'मज्जन फल पेखिय' और 'काक होहिं पिक बकउ मराला' दोनोंके साथ है। मज्जनका फल तत्काल देख पड़ता है और तत्काल ही काक पिक हो जाते हैं, बगुला हंस हो जाता है (घ) यहाँ 'अन्योक्ति अलङ्कार' है। काक पिकके द्वारा दूसरोंको कहते हैं।

२ 'काक होहिं पिक बकउ मराला' इति। (क) काक और बक कुत्सित पक्षी हैं। यथा—'जहँ-तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल। २। २८१।', 'तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥ १। ३८।', 'जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।' (विनय १८५)। पिक और हंस उत्तम पक्षी हैं। [काक चाण्डाल, हिंसक, कठोर बोलनेवाला, मलिनभक्षी, छली और शङ्कित-हृदय होता है। काकसे काकसमान कुजाति, हिंसक, मलिनभक्षी, कटुकठोरवादी, छली, अविश्वासी इत्यादि मनुष्य अभिप्रेत हैं। यथा—'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥ २। ३०२।', 'होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा। ? । ५।' 'सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सबही ते डरही। ७। ११२।', 'मूढ मंदमति कारन कागा' (३। १) काकके विपरीत कोकिल सुन्दर रसालादिका खानेवाला, मङ्गल (शुभ) जाति और मधुरभाषी इत्यादि होता है। काक पिक हो जाते हैं अर्थात् काकसमान जो हिंसक, कटुवादी, कुजाति, छली, मलिन इत्यादि दुर्गुणोंसे युक्त हैं वे पिकसमान सुजाति, उत्तम वस्तुओं (भगवत-प्रसाद आदि) का सेवन करनेवाले, स्वच्छ शुद्ध हृदयवाले, विश्वासी एवं गुरु, सन्त और भगवान् तथा उनके वाक्योंपर विश्वास करनेवाले, मधुरभाषी (भगवत-कीर्तन, श्रीरामनामयशके गान करनेवाले एवं मिष्ट) प्रिय और सत्य बोलनेवाले हो जाते हैं। इसी तरह बगुला हिंसक, विषयी, दम्भी (जलाशयके तटपर आँख मूँदा हुआ सा बैठा देख पड़ता है पर मछलीके आते ही तुरत उसको हड़प कर जाता है) होता है। हंस विवेकी होता है। वह सार दूधको ग्रहण कर लेता है और असार जलको अलग करके छोड़ देता है] 'बकउ मराला होहिं' अर्थात जो दम्भी कपटी और विषयी हैं, वे कपट, दम्भ आदि छोड़कर हंससमान विवेकी और सुहृद हो जाते हैं। यथा—'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार। १। ६।' (ख) बाल-

और अन्तर शुद्धि दिखानेके लिये काक और बक दो ही दृष्टान्त दिये। बाहरकी शुद्धि दिखानेके लिये काक-पिककी उपमा दी और अन्तरशुद्धिके लिये बक-हंसकी। 'काक होहिं पिक' अर्थात् सन्तोंका जैसा ऊपरका व्यवहार देखनेमें आता है, वैसा वे भी करने लगते हैं। मधुरभाषी हो जाते हैं। (प्रथम मिष्ट वाक्य बोलने लगते हैं यह सन्तोंके बाह्यव्यवहारका ग्रहण दिखाया। फिर अन्तरसे भी निर्मल हो जाते हैं, यह 'बकउ मराला' कहकर बताया।) 'बकउ मराला' अर्थात् विवेकी हो जाते हैं [विशेष भाव (क) में ऊपर दिये गये हैं]। सत्सगमें प्रथम तो सन्तोंका-सा बाह्य व्यवहार होने लगता है, फिर अन्तःकरण भी शुद्ध हो जाता है। [भाव यह है कि सन्तसमाज प्रयागमें स्नान करनेमें केवल चारों फलों (अर्थ-धर्मादि) की ही प्राप्ति नहीं होती, किंतु साथ-ही-साथ स्नान करनेवालोंके हृदयोंमें अनेक सद्गुण भी प्राप्त हो जाते हैं, रूप वही बना रहता है]। वा, (ग) विषयी कामी ही बक, काक हैं। यथा—'अति खल जे विषयी बक कागा। १। ३८।' अतः काक, बककी उपमा देकर अत्यन्त विषयी दुष्टोंका भी सुधरना कहा।

नोट—१ 'बकउ मराला' इति। प० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि 'बकमें लगे उकारसे अद्भुत रस प्रगटात। दभी हिंसक कुटिलहु ज्ञानी हस लखात॥' तथा च काक पिकका सम्बन्ध भी है, क्योंकि काक ही कोयलको पोसता है। (कोयल अपना अण्डा कौवेके घोसलेमें रख देती है, कौवा उसे अपना जानकर सेता है, वहीं उसमेंसे बच्चा निकलता है)। यहाँ काकमें केवल क्रूरभाषिताका दूषण निकालकर पिककी मधुरभाषितासे सम्बन्ध मिलाया है। बक और हसमें बड़ा अन्तर है। दोनोंका बोल, चाल, चरण चञ्चुका रग और निवास तथा भोजन एक दूसरेसे भिन्न हैं। कविने इनके केवल अन्तरगभावका मिलान किया है, बाहरी आकृति आदिका नहीं। बकमें अत्यन्त मलिनता आदि अनेक दोष देख 'बक' शब्दमें 'उ' लगाकर उसके दोषोंको सूचित कर हसके सद्गुणोंसे सम्बन्धित किया है। यहाँ उकार आश्चर्यका द्योतक है कि न होने योग्य बात हो गयी।'

२ सन्तसमाजमें आनेपर भी जब वही पूर्व शरीर बना रहता है तब कौवेसे कोयल होना कैसे माना जाय? उत्तर यह है कि कौवा और कोकिलकी आकृति एक सी होती है। कौवेमें कोयलकी वाणी आ जाय तो वह कोयल कहा जाता है। अतः शरीर दूसरा होनेका कोई काम नहीं। इसी तरह जब बगुलेमें हसका गुण आ जाता है तब वह हस कहा जाता है, दोनोंकी शक्ल भी एक-सी होती है। वैसे ही मनुष्य जब मायाबद्ध रहता है तब कौवेके समान कठोर वाणी बोलता है, सन्त समाजमें आनेपर वही कोकिलकी बोली बोलने लगता है, उसमें दया गुण आ जाता है और हिंसक अवगुण चला जाता है। उस समय वह काकसे पिक और बकसे हस हो जाता है। (नगेपरमहसजी)।

३ 'यहाँ प्रथम उल्लास अलङ्कार' है। यथा—'और वस्तुके गुनन ते और होत बलवान।' 'अनुगुन' अलङ्कार नहीं है, क्योंकि 'अनुगुण' का लक्षण है, 'अपने पूर्व गुणका दूसरेके सगसे और अधिक बढना'। '१ (१-२) 'मनि मानिक ' देखिये। और 'तद्गुण' भी नहीं है, क्योंकि इसमें 'गुण' का अर्थ केवल रग है और उल्लास और अवज्ञामें 'गुण' का अर्थ 'धर्म' अथवा 'दोष' का विरोधी भाव है। (अलङ्कार म०)।

टिप्पणी—३ 'सुनि आचरज करै जनि कोई' इति। (क) कौवे कोयल हो जाते हैं और बगुले हस। यह सुनकर आश्चर्य हुआ ही चाहे। क्योंकि स्वभाव अमिट है। यथा—'मिटइ न मलिन सुभाउ अभगू। १। ७।', 'सदृश चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि ' (गीता ३। ३३) अर्थात् सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अपने स्वभावसे परवश हुए कर्म करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। नीतिवेत्ताओंने इस बातको तर्कवितर्क करके खूब दृढ किया है। यथा—'काक पद्मवने रतिं न कुरुते हंसो न कूपोदके। मूर्खः पण्डितसङ्गमे न रमते दासो न सिंहासने॥ कुस्त्री सज्जनसङ्गमे न रमते नीचं जनं सेवते। या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते॥' (सु० र० भा० स्वभाव-वर्णन श्लोक २१)। अर्थात् कौवा कमलवनमें नहीं रमता, हस कूपोदकमें नहीं रमते, मूर्ख पण्डितोंके सग नहीं रमते और न दास सिंहासनपर। कुत्सित स्त्रियाँ सज्जनसंगमें न रमणकर नीच पुरुषोंका ही सेवन करती हैं। क्योंकि जिसकी जो प्रकृति होती है वह उसे कदापि नहीं छोड़ता। अतः सन्देह हुआ कि जब स्वभाव अमिट है तो कविने बहुत बढ़ाकर कहा होगा, वस्तुतः ऐसा है नहीं। इस

सन्देह और आश्चर्यके निवारणार्थ कहते हैं कि 'सुनि आचरज करै जनि कोई।' 'प्राप्तौ सत्या निषेध ।' जब किसी प्रसङ्गकी प्राप्ति होती है तभी उसका निषेध किया जाता है। यहाँ कोई आश्चर्य कर सकते हैं, इसीसे उसका निषेध किया गया है। (ख) 'सतसङ्गति महिमा नहिं गोई' इति। यहाँसे सत्सङ्गकी महिमा कहते हैं। भाव यह है कि जो बात अनहोनी है (जैसे काकका पिक, बकका हंस। स्वभावका बदल जाना) वह भी सत्सङ्गतिसे हो जाती है। इसीको दृढ करनेके लिये कहते हैं 'महिमा नहिं गोई', महिमा छिपी नहीं है, प्रसिद्ध है। महिमा प्रसिद्ध है, इसीसे जो महात्मा जगत्प्रसिद्ध हैं, उन्हींका क्रमसे उदाहरण देते हैं। वाल्मीकिजीको प्रथम कहा, क्योंकि 'काक होहिं पिक' और 'बकउ मराला' को क्रमसे घटाते हैं। वाल्मीकिजी कागसे पिक हुए, यथा—'कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥' (वाल्मीकीयके सङ्गृहीत मङ्गलाचरणसे)। कठोरभाषी व्याधा आदि दुर्गुणयुक्त थे सो मधुरभाषी, ब्रह्माके पुत्र और ब्रह्मर्षि हो गये। नारदजी और अगस्त्यजी बकसे मराल हो गये। (ग) इनको महात्मा होनेका उदाहरण देकर, आगे उनको पदार्थकी प्राप्ति होनेका उदाहरण देते हैं।

४ 'बाल्मीक नारद घटजोनी। निजनिज मुखनि ' इति। (क) यहाँ तीन दृष्टान्त और वह भी बड़े-बड़े महात्माओंके दिये गये। यही तीन दृष्टान्त दिये, क्योंकि ये तीनों महात्मा प्रामाणिक हैं। सारा जगत् इनको जानता और इनके वाक्यको प्रमाण मानता है, इससे ये प्रमाण पुष्ट हुए। (ख) 'निज निज मुखनि' से सूचित किया कि दूसरा कहता तो चाहे कोई सन्देह भी करता परन्तु अपने-अपने मुखसे कहा हुआ अवश्य प्रमाण माना जायगा। (ग) कब, किससे और कहाँ इन महात्माओंने अपने-अपने जीवन-वृत्तान्त कहे? महर्षि वाल्मीकिजीने श्रीरामचन्द्रजीसे अपना वृत्तान्त कहा था, जब वे वनवासके समय आपके आश्रमपर पधारे थे। यह बात अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६ में लिखी हुई है। श्रीरामनामके प्रभावके सम्बन्धमें यह कथा कही गयी है। आपके नामके प्रभावसे ही मैं ब्रह्मर्षि हुआ यह कहकर उन्होंने अपनी कथा कही है।

श्रीनारदजीने व्यासजीसे अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहा। श्रीमद्भागवत स्कन्ध १ अध्याय ४—६ मे यह कथा है कि जब व्यासजीने इस विचारसे कि स्त्री, शूद्र, अन्त्यज वेदत्रयीके पढने सुननेके अधिकारी नहीं हैं और कलिमें अल्पबुद्धि लोग होंगे जो उन्हें समझ भी न सकेंगे, वेदोंका साराश भारत-उपाख्यान रचा, सत्रह पुराण रच डाले, इतना परोपकार करनेपर भी जब उनका चित्त शान्त न हुआ तब वे चिन्तामें निमग्न हो गये, मन ही-मन चिन्तन करने लगे कि 'इतनेपर भी मेरा जीवात्मा अपने स्वरूपको अप्राप्त-सा जान पड़ता है। क्या मैंने अधिकतर भागवत धर्मोंका निरूपण नहीं किया? '। इसी समय नारदजी इनके पास पहुँच गये। कुशल प्रश्न करते हुए अन्तमें कहने लगे कि ऐसा जान पड़ता है कि आप अकृतार्थकी भाँति सोचमें मग्न हैं सो क्यों? व्यासजीने अपना दुःख कहकर प्रार्थना की कि चित्तको सुखी करनेवाला जो कार्य मुझे करना शेष है वह आप मुझे बताइये। नारदजीने उन्हें हरियशकथनका उपदेश दिया और यह कहते हुए कि कवियोंने भक्तिपूर्वक हरिगुणगान करना ही सर्वधर्मोंका एकमात्र परम फल कहा है, अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहने लगे। शिवजी सत्सङ्गके लिये अगस्त्यजीके पास जाया ही करते थे। यथा—'एक बार त्रेतायुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं ॥ १। ४८।' श्रीसनकादि ऋषियोंका भी उनके सत्सङ्गके लिये जाना पाया जाता है। यथा—'तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ग्यानी ॥ ७। ३२।' श्रीरामजीका वनवासके समय उनके यहाँ जाना अरण्यकाण्डमें कहा गया है। राजगद्दीपर बैठनेके समय अगस्त्यजीका श्रीरामजीके पास आना और श्रीरामजीके प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीहनुमान्जी, मेघनाद आदिके चरितका कहना वाल्मीकीयमें पाया जाता है। राजगद्दीके पश्चात् भी श्रीरामजीका महर्षि अगस्त्यजीके यहाँ जाना वाल्मीकीयमें एवं पद्मपुराण आदिमें है। जब महर्षिने उन्हें एक आभूषण भेंट किया और उसका सब वृत्तान्त कहा, इन्हीं प्रसङ्गों या अवसरोंपर अगस्त्यजीने सम्भवतः श्रीशिवजी श्रीसनकादिजी या श्रीरामजीसे अपनी 'होनी' का वृत्तान्त कहा होगा।

नोट—५ प० शिवलाल पाठकका मत यह है कि यहाँ 'वाल्मीकि और नारदके लिये काक-पिक और बक-मरालसे रूपक दिया है, परन्तु अगस्त्यजीके लिये कोई रूपक नहीं है, अतः 'घटजोनी' शब्दका अर्थ नीच

योनि है। अर्थात् घटयोनिज (नीच योनिसे उत्पन्न) वाल्मीकि और नारद सत्सङ्गसे सुधरे हैं ऐसा अर्थ इस चौपाईका है।'—(मानस अभिप्राय-दीपक)। उसी परम्पराके महादेवदत्तजीका भी यही मत है। यथा—'बाल्मीकि नारद युगल जाके युगल प्रमान। काक कोयली हंस वक घट जू इन कहँ जान॥' बैजनाथजी लिखते हैं कि बगुले दो प्रकारके होते हैं, एक सफेद दूसरे मैले। इसी प्रकार विषयी भी दो प्रकारके होते हैं, एक विषयासक्त, दूसरे भीतरसे विषयासक्त परंतु सत्यासत्य विवेक होनेसे ऊपरसे मैली क्रिया नहीं करते। इसलिये बकके दो दृष्टान्त दिये गये।

यह जरूरी नहीं है कि जितने कर्म कहे जायँ उतने ही उदाहरण भी दिये जायँ। कभी कई कर्मोंके लिये कवि एक ही दृष्टान्त पर्याप्त समझते हैं, कभी अधिक महत्त्व दिखानेके लिये एक ही धर्मके कई दृष्टान्त देते हैं। यथा—'लखि सुबेष जग बचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥ उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥ १। ७।' 'कियेहुँ कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥ १। ७।', 'सत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल बिष बारुनी। १। १४।', इत्यादिमें। प्रथम साधारण बात कह दी गयी कि 'काक होहिं पिक बकउ मराला' और फिर इसीको अधिक पुष्ट करनेके लिये 'बाल्मीक नारद घटजोनी' उदाहरण विशेष रूपसे दिये गये, इतना ही नहीं वरन् फिर आगे कहते हैं कि 'जलचर थलचर नभचर नाना'। अर्थात् ये सब सत्सङ्गकी महिमाहीके उदाहरण हैं, नाम कहाँतक गिनाये जायँ।

'घटजोनी' शब्द गोस्वामीजीने अ० २३२ (२) में भी अगस्त्यजीहीके लिये प्रयुक्त किया है। यथा—'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी।' अन्य अर्थमें कहीं नहीं आया है। पंजाबीजी, करुणासिंधुजी, बैजनाथजी, बाबा जानकीदासजी, बाबा हरिहरप्रसादजी एवं प्रायः सभी आधुनिक टीकाकारोंने 'घटयोनी' से श्रीअगस्त्यजीका ही अर्थ लिया है।

श्रीजानकीशरण नेहलताजीने पं० शिवलालपाठकजीके अर्थपर जो उपर्युक्त विचार मानसपीयूष प्रथम संस्करणमें प्रकट किये गये थे उनका खण्डन इस प्रकार किया है—'इसपर मेरा निजी सिद्धान्त है कि एक धर्मके हजारों दृष्टान्त आते हैं। परंतु 'बाल्मीक नारद घटजोनी' इस चौपाईमें सारे उदाहरणोंके घटानेसे नहीं बनेगा। इस प्रसङ्गमें दोके उदाहरणसे क्रमालङ्कार होता है और अर्थ भी सरल प्रकारसे लगता है। शब्दोंकी खींच-खाँच नहीं करनी पड़ती। अगस्त्यजीका अर्थ नहीं करनेसे कुछ बिगड़ता नहीं है। घटजोनीका अर्थ अगस्त्यजीका एक स्थलपर आया है—'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी॥' अब इस प्रमाणसे 'घटयोनी' का अर्थ दूसरा करना मना है। इसपर मैं सहमत नहीं हूँ।…मानसमें हरि शब्दका अर्थ सैकड़ों स्थलोंपर विष्णु भगवान् है और किष्किन्धाकाण्डमें 'कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा' में 'हरि' का अर्थ वानर कैसे किया जाता है? मानसभरमें एक ही स्थानपर वानरका अर्थ लगता है। पुनि 'हरि हित सहित राम जब जोहे' में 'हरि' का अर्थ 'घोड़ा' यह भी एक ही स्थानपर है। इसी प्रकार 'घटयोनी' का अर्थ एक स्थानपर अगस्त्यजीका लगानेपर दूसरे स्थानमें उसीका अर्थ (नीच योनि) अलग्न नहीं है।…वाल्मीकि और नारदजीके इतिहाससे स्पष्ट है कि दोनों पापाचरण करते हुए सत्सङ्गद्वारा महात्मा बन गये, परंतु अगस्त्यजीके इतिहाससे यह बात प्रकट नहीं होती।…अगस्त्यजीका कौन भ्रष्टाचरण प्रसिद्ध था जिससे सुधरना माना जाय। जैसे वसिष्ठजीका सत्सङ्ग अगस्त्यजीको हुआ, उसी प्रकार अगस्त्यजीका सत्सङ्ग वसिष्ठजीको हुआ तो वसिष्ठजीका सुधरना भी कहा जा सकता है। अगस्त्यजीकी उत्पत्ति वरुणतेजसे हुई। जन्म भी उत्तम और पश्चात् आचरणका भ्रष्ट होना भी वर्णित नहीं। इससे उपर्युक्त दोनों (वाल्मीकि, नारद) हीके सुधरनेकी संगति ठीक बैठती है।'

नोट—६ शब्दसागरमें लिखा है कि 'घट' शब्द विशेषण होकर 'बढ़' के साथ ही अधिकतर होता है। अकेले इसका क्रियावत् प्रयोग 'घटकर' ही होता है, जैसे वह कपड़ा इससे कुछ घटकर है। (श० सा०)। 'घट' इस अर्थमें हिंदी शब्द ही है, संस्कृत नहीं 'घटयोनि' 'घटयोनिज' समास इस अर्थमें बन नहीं सकता। घटज, कुम्भज,

घटसम्भव और घटयोनी श्रीअगस्त्यजीके ये नाम ग्रन्थकारने स्वयं अपने सभी ग्रन्थोंमें प्रयुक्त किये हैं। वाल्मीकिजी नीच योनिमें उत्पन्न नहीं हुए। वे प्रचेता ऋषि अथवा वाल्मीकिजीके पुत्र थे। नारदजी दासीपुत्रमात्र थे दुराचारी वा 'पापाचरण' वाले न थे जैसा भागवतसे स्पष्ट है। श्रीवसिष्ठजी पूर्वसे ही बड़े महात्मा थे और ब्रह्माजीके पुत्र ही थे। निमिके शापोद्धारके लिये ब्रह्माने उन्हें अयोनिज होनेका उपाय बताया था। अगस्त्यजी पूर्व क्या थे किसी टीकाकारने भी इसपर प्रकाश नहीं डाला है। हमने जो खोज अबतक की है वह आगे दी गयी है। ग्रन्थकार आगे यह भी कहते हैं कि 'जलचर थलचर नभचर' में जहाँ भी जो बड़ा महात्मा हुआ वह सत्सगसे ही। इससे भी अगस्त्यजी भी यदि सत्सगसे बड़े हों तो आश्चर्य क्या?

☞ इस दीनका कोई हठ नहीं है। दोनों विचार लिखे हैं जिसको जो भावे वह ले सकेगा।

श्रीकविजी लिखते हैं कि वाल्मीकिजी बिलसे, नारदजी दासीसे और अगस्त्यजी घड़ेसे उत्पन्न हैं। इनकी उत्पत्तिके योग्य एक भी कारण पर्याप्त न होना 'चतुर्थ विभावना अलङ्कार' है।

महर्षि वाल्मीकिजी—अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६ (श्लोक ६४ से ८८ तक) में लिखा है कि वाल्मीकिजीने अपना वृत्तान्त रामचन्द्रजीसे यों कहा था कि हे 'रघुनन्दन! मैं पूर्वकालमें किरातोंमें बालपनेसे पलकर युवा हुआ, केवल जन्ममात्रसे तो मैं विप्रपुत्र हूँ, शूद्रोंके आचारमें सदा रत रहा। शूद्रा स्त्रीमें मेरे बहुत-से पुत्र हुए। तदनन्तर चोरोंका सग होनेसे मैं भी चोर हुआ। नित्य ही धनुष-बाण लिये जीवोंका घात करता था। एक समय एक भारी वनमें मैंने सात तेजस्वी मुनियोंको आते देखा तो उनके पीछे 'खड़े रहो, खड़े रहो' कहता हुआ धाया, मुनियोंने मुझे देखकर पूछा कि 'हे द्विजाधम! तू क्यों दौड़ा आता है?' मैंने कहा कि मेरे पुत्र, स्त्री, आदि बहुत हैं, वे भूखे हैं। इसलिये आपके वस्त्रादिक लेने आ रहा हूँ। वे विकल न हुए, किंतु प्रसन्न मनमे बोले कि तू घर जाकर सबसे एक-एक करके पूछ कि जो पाप तूने बटोरा है इसको वे भी बटावेंगे कि नहीं? मैंने ऐसा ही किया, हरएकने यही उत्तर दिया कि हम तुम्हारे पापके भागी नहीं, वह पाप तो सब तुझको ही लगेगा। हम तो उससे प्राप्त हुए फलको ही भोगनेवाले हैं।— 'पापं तवैव तत्सर्वं वयं तु फलभागिनः॥ ७४॥' ऐसे वचन सुन मेरे मनमें निर्वेद उपजा, अर्थात् खेद और ग्लानि हुई। उससे लोकसे वैराग्य हुआ और मैं फिर मुनियोंके पास गया। उनके दर्शनसे निश्चय करके मेरा अन्तःकरण शुद्ध हुआ। मैं दण्डाकार उनके पैरोंपर गिर पड़ा और दीन वचन बोला कि 'हे मुनिश्रेष्ठ! मैं नरकरूप समुद्रमें आ पड़ा हूँ। मेरी रक्षा कीजिये।' मुनि बोले 'उठ उठ, तेरा कल्याण हो। सज्जनोंका मिलना तुझको सफल हुआ। हम तुझे उपदेश देंगे जिससे तू मोक्ष पावेगा'। मुनि परस्पर विचार करने लगे कि यह अधम है तो क्या, अब शरणमें आया है, रक्षा करनी उचित है। और फिर मुझे 'मरा' 'मरा' जपनेका उपदेश दिया और कहा कि एकाग्र मनसे इसी ठौर स्थित रहकर जपो, जबतक फिर हम लौट न आवें। यथा—'इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा ८०॥' (अर्थात् हे राम! ऐसा विचारकर उन्होंने आपके नामाक्षरोंको उलटा करके मुझसे कहा कि तू इसी स्थानपर रहकर एकाग्रचित्तसे सदा, 'मरा मरा' जपा कर।) मैंने वैसा ही किया, नाममें तदाकार हो गया, देहसुध भूल गयी, दीमकने मिट्टीका ढेर देहपर लगा दिया, जिससे वह बाँबी हो गयी। हजार युग बीतनेपर वे ऋषि फिर आये और कहा कि बाँबीसे निकल। मैं वचन सुनते ही निकल आया। उस समय मुनि बोले कि तू 'वाल्मीकि' नामक मुनीश्वर है, क्योंकि तेरा यह जन्म वल्मीकसे हुआ है। रघुनन्दन! उसीके प्रभावसे मैं ऐसा हुआ कि श्रीसीता-अनुज-सहित साक्षात् घर बैठे आपके दर्शन हुए।" विशेष दोहा १४ 'बदौं मुनिपद' ' में देखिये।

देवर्षि श्रीनारदजी—इन्होंने अपनी कथा व्यासजीसे इस प्रकार कही है कि 'मैं पूर्वजन्ममें वेदवादी ब्राह्मणोंकी एक दासीका पुत्र था। चातुर्मास्यमें एक जगह रहनेवाले कुछ योगी वहाँ आकर ठहरे। मैं बाल्यावस्थाहीमें उनकी सेवामें लगा दिया गया। बालपनेसे ही मैं चञ्चलतासे रहित, जितेन्द्रिय, खेलकूदसे दूर रहनेवाला, आज्ञाकारी, मितभाषी और सेवापरायण था। उन ब्रह्मर्षियोंने मुझपर कृपा करके एक बार अपना उच्छिष्ट सीथ प्रसादी खानेको दिया— 'उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः। सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः॥' (भा० १। ५। २५), जिसके पानेसे मेरा

सम्पूर्ण पाप नष्ट और चित्त शुद्ध हो गया तथा भगवद्धर्ममें रुचि उत्पन्न हो गयी। मैं नित्यप्रति भगवत्कथा सुनने लगा जिससे मनोहर कीर्तिवाले भगवान्‌में मेरी रुचि और बुद्धि निश्चल हो गयी तथा रजोगुण और तमोगुणको नष्ट करनेवाली भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। जब वे मुनीश्वर वहाँसे जाने लगे तब उन्होंने मुझे अनुरागी, विनीत, निष्पाप, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय और अनुयायी जानकर उस गुह्यतम ज्ञानका उपदेश किया जो साक्षात् भगवान्‌का ही कहा हुआ है। 'ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम्। ५। ३०।' जिससे मैंने भगवान्‌की मायाका प्रभाव समझा और जिस ज्ञानके प्राप्त होनेपर मनुष्य भगवान्‌के धामको प्राप्त होता है। (५। २३-३१)।

ज्ञानोपदेश करनेवाले भिक्षुओंके चले जानेपर मैं माताके स्नेहबन्धनके निवृत्त होनेकी प्रतीक्षा करता हुआ ब्राह्मणपरिवारमें ही रहा, क्योंकि मेरी अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी। एक दिन माताको सर्पने डस लिया और वह मर गयी। इसे भगवान्‌का अनुग्रह समझकर मैं उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। अन्तमें एक बड़े घोर भयङ्कर वनमें पहुँचकर नदीके कुण्डमें स्नान पानकर थकावट मिटायी। फिर एक पीपलके तले बैठकर जैसा सुना था उसी प्रकार परमात्माका ध्यान मन-ही-मन करने लगा। जब अत्यन्त उत्कण्ठावश मेरे नेत्रोंसे आँसू बहने लगे तब हृदयमें श्रीहरिका प्रादुर्भाव हुआ—'औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः। भा० १। ६। १७।' थोड़ी ही देरमें वह स्वरूप अदृश्य हो गया। बहुत प्रयत्न करनेपर भी जब वह दर्शन फिर न हुआ तब मुझे व्याकुल देख आकाशवाणी हुई कि 'तुम्हारा अनुराग बढ़ानेके लिये तुमको एक बार यह रूप दिखला दिया गया। इस जन्ममें अब तुम मुझे नहीं देख सकते। इस निन्द्य शरीरको छोड़कर तुम मेरे निज जन होगे, तुम्हारी बुद्धि कभी नष्ट न होगी। तत्पश्चात् मैं भगवान्‌के नाम, लीला आदिका कीर्तन, स्मरण करता कालकी प्रतीक्षा करता हुआ पृथिवीतलपर विचरने लगा। काल पाकर शरीर छूट गया। कल्पान्त होनेपर ब्रह्माजीके श्वासद्वारा मैं उनके हृदयमें प्रविष्ट हुआ। फिर सृष्टि होनेपर मरीचि आदिके साथ मैं भी ब्रह्माजीका मानस पुत्र हुआ। भगवान्‌की कृपासे मेरी अव्याहत गति है। भगवान्‌की दी हुई वीणाको बजाकर हरिगुण गाता हुआ सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता हूँ। चरित गाते समय भगवान्‌का बराबर दर्शन होता है। यह मेरे जन्म-कर्म आदिका रहस्य है (भा० १। ५। ६)।

महर्षि श्रीअगस्त्यजी—किसी प्राचीन समयमें इन्द्रने वायु और अग्निदेवको दैत्योंका नाश करनेकी आज्ञा दी। आज्ञानुसार इन्होंने बहुत-से दैत्योंको भस्म कर डाला, कुछ जाकर समुद्रमें छिप रहे। तब इन्होंने उनको अशक्त समझकर उन दैत्योंकी उपेक्षा की। वे दैत्य दिनमें समुद्रमें छिपे रहते और रात्रिमें निकलकर देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्यादिका नाश किया करते थे। तब इन्द्रने फिर अग्नि और वायुको आज्ञा दी कि समुद्रको शोषण कर लो। ऐसा करनेमें करोड़ों जीवोंका नाश देख, इस आज्ञाको अनुचित जानकर उन्होंने समुद्रका शोषण करना स्वीकार न किया। इन्द्रने कहा कि देवता धर्म-अधर्मके भागी नहीं होते, वे वही करते हैं जिससे जीवोंका कल्याण हो, तुम्हीं दोनों ज्ञान छाँटते हो, अतः तुम दोनों एक मनुष्यका रूप धारणकर पृथ्वीपर धर्मार्थ शास्त्ररहित योनिमें जन्म लेकर मुनियोंकी वृत्ति धारण करते हुए जाकर रहो और जबतक तुम वहाँ चुल्लूमें समुद्रको न पीकर सुखा लोगे तबतक तुम्हें मर्त्यलोकमें ही रहना पड़ेगा। इन्द्रका शाप होते ही उनका पतन हुआ और उन्होंने मर्त्यलोकमें आकर जन्म लिया।

उन्हीं दिनोंकी बात है कि उर्वशी मित्रके यहाँ जा रही थी, वे उसको उस दिनके लिये वरण कर चुके थे, रास्तेमें उसे जाते हुए देख उसके रूपपर आसक्त हो वरुणने उसको अपने यहाँ बुलाया तब उसने कहा कि मैं मित्रको वचन दे चुकी हूँ। वरुणने कहा कि वरण शरीरका हुआ है तुम मन मेरेमें लगा दो और शरीरसे वहाँ जाना। उसने वैसा ही किया। मित्रको यह पता लगनेपर उन्होंने उर्वशीको शाप दिया कि तुम आज ही मर्त्यलोकमें जाकर पुरुरवाकी स्त्री हो जाओ। मित्रने अपना तेज एक घटमें रख दिया और वरुणने भी उसी घटमें अपना तेज रखा। एक समय निमिराजा जब स्त्रियोंके साथ जूआ खेल रहे थे, श्रीवसिष्ठजी उनके यहाँ गये। जूएमें आसक्त राजाने गुरुका आदर-सत्कार नहीं किया। इससे श्रीवसिष्ठजीने उनको देहरहित होनेका शाप दिया। पता लगनेपर राजाने उनको भी वैसा ही शाप दिया। दोनों शरीररहित होकर ब्रह्माजीके पास गये। उनकी आज्ञानुसार राजा निमिको लोगोंकी पलकोंपर निवास मिल

और वसिष्ठजीने उपर्युक्त मित्रावरुणके तेजवाले घटसे आकर जन्म लिया। इधर वायुसहित अग्निदेव भी उसी घटसे वसिष्ठजीके पश्चात्, चतुर्बाहु, अक्षमाला-कमण्डलधारी अगस्त्यरूपसे उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् उन्होंने स्त्री-सहित वानप्रस्थविधानसे मलयपर्वतपर जाकर बड़ी दुष्कर तपस्या की। इस दुष्कर तपस्याके पश्चात् उन्होंने समुद्रको पान कर लिया तब ब्रह्मादिने आकर इनको वरदान दिया। (पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० २२, श्लोक ३-४८)

इस कथासे ये बातें ध्वनित होती हैं कि—(१) अग्नि और वायु इन्द्रकी आज्ञामें रहनेवाले सामान्य देवता थे। (२) शापसे मनुष्य हुए। (३) 'मलयस्यैकदेशे तु वैखानसविधानतः। सभार्यः सवृतो विप्रैस्तपश्चक्रे सुदुष्करम्॥ ४०॥' इस श्लोकसे जान पड़ता है कि जिन ब्राह्मणोंके साथ वे तपश्चर्या करने गये। वे अवश्य उच्च कोटिके महर्षि होंगे और उन्हींके सत्सङ्गद्वारा वे तपश्चर्यामें तत्पर होकर ऐसे समर्थ महर्षि हुए कि इन्द्रादिको उनसे आ-आकर अनेक प्रसङ्गोंके आनेपर सहायताकी प्रार्थना करनी पड़ी। शङ्करजी-ऐसे ईश्वर उनके सत्सङ्गको जाते थे। एक वेश्यापर आसक्त होनेपर उसके नामसे जो तेज पात हुआ उसमें उत्पत्ति हुई। धर्मार्थशास्त्ररहित योनिसे जिनकी उत्पत्ति हुई, शापद्वारा जो'मर्त्यलोकमें उत्पन्न हुए वे ही कैसे परम तेजस्वी और देवताओं तथा ऋषियोंसे पूज्य हुए? यह सत्सङ्गका प्रभाव है।

कोई-कोई महात्मा अगस्त्यजीके पूर्वजन्मकी कथा इस प्रकार कहते हैं कि किसी समय सप्तर्षियोंके यज्ञमें अग्निदेव साक्षात् प्रकट हुए तब ऋषियोंकी स्त्रियोंको देख वे काममोहित हो गये। अनुचित समझकर उन्होंने अपने मनको बहुत रोका पर वह वशमें न हुआ। तब वे वनमें चले गये और वहाँ जानेपर मूर्च्छित हो गये। जब सप्तर्षियोंको यह बात मालूम हुई तब उन्होंने अग्निदेवको शाप दिया कि जाकर मर्त्यलोकमें मनुष्य-योनिको प्राप्त हो। वही कुम्भसे अगस्त्यरूपसे प्रकट हुए। परंतु बहुत खोज करनेपर भी यह कथा हमको अबतक नहीं मिली। केवल इस ढंगकी एक कथा कार्तिकेयजन्मप्रसङ्गमें महाभारत वनपर्व अ० २२४—२२६ और स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्डान्तर्गत कौमारखण्ड अ० २९ में मिलती है। परंतु अग्निको शापका दिया जाना और तदनुसार अगस्त्यरूपसे जन्म होनेकी कथा इन प्रसङ्गोंमें नहीं मिलती।

वाल्मीकीयरामायण उत्तरकाण्डमें श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे यह कथा यों कही है कि 'राजा निमिके शापसे वसिष्ठजी देहरहित हुए तब उन्होंने ब्रह्माजीसे जाकर प्रार्थना की कि देहहीनकी संसारी क्रिया नष्ट हो जाती है। 'बिनु तनु वेद भजन नहिं बरना'। हमको देह दीजिये। तब ब्रह्माजीने आज्ञा दी कि मित्रावरुणसे जो तेज जायमान है उसमें जाकर तुम निवेश करो, तुम अयोनि रहोगे। वसिष्ठजीने ऐसा ही किया। एक समयकी बात है कि उर्वशी षोडश शृङ्गार किये हुए मित्रके आश्रमको जा रही थी। वरुण उसे देखकर कामातुर हुए और उससे भोगकी इच्छा प्रकट की। वह बोली कि मैं मित्रसे प्रथम ही स्वीकृत हो चुकी हूँ। वरुण कामातुर हो बोले कि हम अपना तेज इस देवताओंसे निर्मित कुम्भमें तुम्हारे नामसे स्थापित करते हैं, यह सुन उर्वशी प्रसन्न हो बोली कि ऐसा ही हो, हमारा हृदय और भाव आपमें रहेगा और यह शरीर मित्रहीका रहेगा। वरुणने अपने अग्निसमान तेजवाले रेतको कुम्भमें स्थापित किया। इस कुम्भसे पहले अगस्त्यजी उत्पन्न हुए फिर वसिष्ठजी।' कुम्भमें वसिष्ठजीका सत्सङ्ग अगस्त्यजीको हुआ। वह घट कहाँ और कैसे निर्माण हुआ उसकी कथा यह है कि मित्रावरुणने एक बार यज्ञ किया जिसमें अनेकों देवता-ऋषि-मुनि, सिद्ध एकत्रित हुए थे, सबने मिलकर घट स्थापित किया और उस घटमें अपनी-अपनी शक्तियाँ, तेज या प्रताप स्थापित किया था।

नोट—४ 'बालमीक नारद घटजोनी' इति। 'घटजोनी' का अर्थ 'महर्षि अगस्त्यजी' करके ऊपर अगस्त्यजीकी कथा यत्किंचित् जो अबतक मालूम हुई वह दी गयी। उन्होंने कथा अपनी किससे कही? इसका उल्लेख नाना पुराण निगमागममेंसे किसमें है, इसका पता मालूम नहीं है। इसी तरह भानुप्रताप आदिकी कथाओंका भी ठीक पता अभीतक नहीं मिला है।

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥ ४॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ ५॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥ ६॥

शब्दार्थ—जलचर=जलमें विचरने या रहनेवाले। थलचर=पृथ्वीपर रहनेवाले। नभचर=आकाशमें विचरनेवाले। 'नभचर' का प्रयोग इतने अर्थोंमें होता है, 'मेघे वाते ग्रहे देवे राक्षसे व्योमचारिणि। विहगमे विद्याधरेऽपि च॥ जड़ चेतन='जड़ चेतन जग जीव ' दोहा ७ में देखिये। जहान (फा०)=संसार। गति=शुभ गति, मोक्ष, परमपद। भूति=वैभव, वृद्धि, सिद्धियाँ। भलाई=कल्याण, सौभाग्य, अच्छाई, श्रेष्ठता। जानब=जानिये।

अर्थ—जलमें रहनेवाले, पृथ्वीपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले अनेक प्रकारके जड़ वा चेतन जो भी जीव संसारमें हैं॥ ४॥ (उनमेंसे) जब कभी, जिस किसी यत्नसे, जहाँ कहीं भी जिसने बुद्धि, कीर्ति, सद्‌गति, ऐश्वर्य या भलाई बड़प्पन पाया है॥ ५॥ वह सब सत्सङ्गका ही प्रभाव जानना चाहिये। लोकमें और वेदोंमें भी (इनकी प्राप्तिका) दूसरा उपाय है ही नहीं॥ ६॥

नोट—१ 'जलचर थलचर सतसंग प्रभाऊ' कहकर जनाया कि श्रीवाल्मीकिजी, नारदजी और अगस्त्यजी तो मनुष्य थे, जो उसी देहमें सत्सङ्गसे सुधर गये। पर सत्सङ्गतिकी महिमा इससे भी अधिक है। उसका प्रभाव पशु, पक्षी, एवं अन्य चेतन जीवहीपर नहीं वरंच जड़ पदार्थोंपर भी पड़ता है, वे भी सुधरते आये हैं। ब्रह्माण्डभरमें जो भी सुधरा वह सत्सङ्गसे ही सुधरा। अतएव जिसे भी मति, कीर्ति आदिकी चाह हो उसके लिये इनकी प्राप्तिका एकमात्र सुलभ साधन यही है।

टिप्पणी—१ 'जलचर थलचर···' इति। (क) सृष्टिके आदिमें प्रथम जल है, तब थल, फिर नभ, जड़ और चेतन। उसी क्रमसे यहाँ लिखा गया। (ख) 'जे जड़ चेतन···' अर्थात् ये ही तीन नहीं, वरंच जहानभर, जो बना सत्सङ्गसे बना। (यहाँ जड़ चेतन 'जलचर थलचर नभचर' तीनोंके विशेषण हैं।)

नोट—२ जल, थल और नभमें रहनेवाले जड़, चेतन जिन्होंने 'मति, कीर्ति··' पायी वे अनेक हैं। कुछके नाम उदाहरणार्थ यहाँ लिखे जाते हैं।

(क) जलचरमें—(१) जड़ जैसे मैनाकपर्वत। इसे इन्द्रके भयसे बचानेके लिये पवनदेवने समुद्रमें लाकर छिपा दिया था, सो पूर्व पवनदेवके सङ्गसे और समुद्रके सङ्गसे उसे 'सुमति' उपजी कि पवनसुत श्रीहनुमान्‌जीको विश्राम दे।

(२) चेतन जैसे मकरी, ग्राह, राघवमत्स्य और सेतुबन्धन होनेपर समुद्रके समस्त जलचरोंको सुमति उपजी। मकरीको श्रीहनुमान्‌जीके स्पर्श एवं दर्शनसे सुमति उपजी तब उसने कालनेमिका कपट बता दिया। 'मुनि न होइ यह निसिचर घोरा'। जिससे उसे लोकमें भलाई मिली। और दिव्यरूप धर वह देवलोकको गयी, यह सद्‌गति मिली। 'ग्राह' को गजेन्द्रके सङ्गसे सुमति उपजी कि इसका पैर पकड़नेसे मेरा उद्धार हो जायगा और सद्‌गति मिली तथा गजेन्द्रके साथ-साथ उसका भी नाम विख्यात हुआ। राघवमत्स्यको, मंजूषामें कौशल्याजीको देख, सुमति उपजी कि इसके पुत्रसे श्रीरामजीका अवतार होगा जिससे रावणादिका नाश होकर जीवोंको सुख होगा, जिससे उसने उन्हें कोशलराजको दे दिया। सेतुके ढिग श्रीरामलक्ष्मणजीका दर्शन पानेसे जलचर आपसका वैर भूल गये और सेनाको पार उतारनेको पुल-सरीखा बन गये। यथा—'देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥···प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे।·। अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं। ६। ४।'

(ख) थलचरमें—(१) जड़ जैसे वृक्ष, वन, पर्वत, तृण आदि। श्रीरामजीका दर्शन पा सुमति उपजी और वे श्रीरामजी तथा उनके भक्तोंके लिये उपकारमें तत्पर हुए तथा उनके सङ्गसे उन्होंने कीर्त्ति पायी। 'सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥ ६। ५।' 'मंगलरूप भयउ बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते। ४। १३।', 'धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउँ तुम्ह धारा। २। १३६।', 'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू।' 'चित्रकूट जस गावहिं तेते॥ बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥ २। १३७।' गुरु अगस्त्यजीके सङ्गका यह फल विंध्याचलको मिला। 'परसि चरनरज अचर सुखारी। भये परम पद के अधिकारी॥ २। १३९।'

(२) चेतन, जैसे शबरी, कोल, किरात, भील, पशु, वानर, विभीषण, शुक आदि। शबरीजीको मतङ्गऋषिके सङ्गसे श्रीरामदर्शनकी लालसा, पम्पासरको शुद्ध करनेकी कीर्ति और श्रीरामजीके दर्शन तथा योगियोंकी दुर्लभ गति एवं प्रेमपहुनाईका यश मिला। कोल, किरात, भील वनवासी जीव श्रीरामजीके सङ्गसे हिंसा व्यापार छोड़ प्रेम करने लगे। यथा—'करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा। २। १३८।', 'धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भए तुम्हहि निहारी। २। १३६। सुग्रीवजीको श्रीहनुमान्‌जीके सङ्गसे श्रीरामजीके सहायक, सखा, पञ्चम भ्राता इत्यादि होनेकी कीर्ति और सद्‌गति मिली। समस्त वानर, भालुओंको अविचल यश और सद्‌गति मिली। विभीषण और शुक-सारन निशाचरवंशोद्भव भक्तोंकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। सभीको कीर्ति, सद्‌गति और सुमति मिली।

(ग) नभचरमें—(१) जड़, जैसे मेघ, वायु आदि। इन्होंने भक्तराज श्रीभरतजीका दर्शनरूपी सङ्ग पाया। यथा—'किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात। तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥ २। २१६। (२) चेतन, जैसे सम्पातीको चन्द्रमा ऋषिके सङ्गसे सुमति उपजी। यथा—'मुनि एक नाम चन्द्रमा ओही।'' बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा। देहजनित अभिमान छुड़ावा।'' तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता॥'' । ४। २८।' जिससे उसने वानरोंका उत्साह बढ़ाया, आशीर्वादसे सहायता की, श्रीरामजीके दर्शन, कीर्ति और सद्‌गति पायी। यथा—'रामकाज धरि करहु उपाई। ४। २९।', 'बचन सहाइ करबि मैं पैहहु खोजहु जाहि। ४। २७। इसी तरह भुशुण्डिजीको विप्र और लोमशके सङ्गसे सब कुछ मिला।

नोट—३ 'जड़ चेतन' को 'जलचर, थलचर, नभचर' के विशेषण मानकर उपर्युक्त भाव एवं उदाहरण दिये गये। मु० रोशनलालका मत है कि जलचर, थलचर, नभचर, जड़ और चेतन ये पाँच हैं, उसी तरह मति, कीरति, गति, भूति और भलाई भी पाँच हैं। अतः इन चौपाइयोंकी एकवाक्यता है। क्रमसे एकके साथ एकको लेकर पहली अर्धाली 'जलचर'' का अन्वय अगलीके साथ करनेसे यह अर्थ होता है कि जलचरने मति, थलचरने कीर्त्ति, नभचरने गति, जड़ने भूति और चेतनने भलाई पायी।' राघवमत्स्यको सुमति उपजी, गजेन्द्रको कीर्ति मिली। उसका गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र प्रसिद्ध है, जटायुको सद्‌गति मिली, जड़ अहल्या अपने पतिकी विभूतिको प्राप्त हुई और श्रीसुग्रीव, श्रीहनुमान्‌जी आदि वानरोंको इतनी भलाई प्राप्त हुई कि भगवान्‌ने अपनेको उनका ऋणी माना। इस तरह यथासंख्य क्रमालङ्कार है। [गजेन्द्र पूर्व जन्ममें इन्द्रद्युम्न नामक राजा था। अगस्त्यजीके शापसे गजेन्द्र हुआ, हरिके दर्शन-स्पर्शसे उनका अज्ञान दूर हुआ और मुक्ति पायी 'भगवत्स्पर्शविमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्।' (भा० ८। ४) जटायु पूर्व दशरथ महाराजका सखा था। शनिग्रहके युद्धमें जटायुजीने श्रीदशरथमहाराजकी सहायता की थी। पूर्व सङ्गके प्रभावसे तथा श्रीसीतारामजीके दर्शन-सङ्गके प्रभावसे उसमें श्रीसीताजीकी रक्षा करनेकी बुद्धि हुई और अपूर्व अलौकिक गति पायी।] किसीने इसपर यह दोहा कहा है 'जलचर थलचर ग्राह गज, नभचर कहे जटायु। जड़ मुनि तिय चेतन कही एक विभीषण राउ॥'

टिप्पणी—२ ऊपर यह दिखा आये कि सबोंने 'मति, कीर्ति, गति, भूति, भलाई' सत्सङ्गसे पायी। मति, कीर्ति, गतिका क्रम भी साभिप्राय है। सत्सङ्गमें विवेककी प्राप्ति मुख्य है। यथा—'बिनु सतसंग बिबेक न होई' यही बात आगे कहते हैं। विवेक बुद्धिमें होता है। इसीसे प्रथम 'मति' का होना कहा, पीछे कीर्तिका और तब गतिका होना कहा।

३—इस चौपाईका जोड़ सुन्दरकाण्डमें है। यथा—'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना। सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चउथि के चंद कि नाईं। ५। ३८।' दोनों जगह एक ही पाँच वस्तुओंका वर्णन हुआ है।

'जलचर थलचर' से 'जहाना' तक।	जो चाहइ।
मति, कीरति, गति, भूति, भलाई।	सुमति, सुजस, सुभगति, सुख, कल्यान।

उपर्युक्त मिलानसे स्पष्ट है कि वहाँ 'जो चाहइ' जो कहा है, उसीको यहाँ 'जलचर जहाना' कहा है और जो वहाँ सुयश, सुमति आदि कहा है वही यहाँ मति, कीर्ति आदि कहा है। भूति=सुख। भलाई=

कल्याण। 'जो चाहइ' से सूचित करते हैं कि प्रत्येक जीवको ये पाँचों पदार्थ सत्सङ्गसे प्राप्त हो सकते हैं। यह बात इस काण्डमें सन्तसङ्गके प्रसङ्गमें दिखायी। और, कामी रावणके प्रसङ्गमें इन्हीं पाँचोंका 'पर नारि लिलार' के सङ्गसे नष्ट होना दिखाया है। कामी पुरुषकी मति, कीर्ति आदि सबका नाश होता है। मतिका नाश, यथा—'बुधि बल सील सत्य सब मीना। बसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥ ३। ४४।', कीर्तिका नाश, यथा—'अकलकता कि कामी लहई। १। २। ६७।', 'कामी पुनि कि रहहिं अकलका। ७। ११२।', गतिका नाश, यथा—'सुभगति पाव कि पर त्रिय गामी। ७। ११२।', भूतिका नाश यथा—'धरम सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमदा॥ ३। ४४।', भलाईका नाश, यथा—'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि। ३। ४४।' साराश यह कि सुमति कीर्ति आदिका कुसङ्गसे नष्ट होना कहकर उन्हींका सुसङ्गसे प्राप्त होना सूचित किया है।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥ ७॥
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥ ८॥

अर्थ—बिना सत्सङ्गके विवेक नहीं होता, और वह (सत्सङ्ग) श्रीरामजीकी कृपाके बिना सहजमे प्राप्त नहीं होता॥ ७॥ सत्सङ्गति आनन्द-मङ्गलकी जड़ है। उसकी सिद्धि (प्राप्ति) फल है [वा, वही (सत्सङ्गति ही) सिद्धि-रूप फल है (मा० प्र०)]* और सब साधन फूल हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) यदि कोई कहे कि 'जब सत्सङ्गसे 'मति, कीर्ति आदि सब मिलती हैं तो सत्सङ्ग क्यों नहीं करते?' तो उसका उत्तर देते हैं कि 'रामकृपा०'। अर्थात् श्रीरामकृपा ही सत्सङ्गका साधन है, नहीं तो सभी कर लें। यथा—'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधुसंगति पाइये' (विनय १३६), 'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहि संता' (सु० ७), 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। रामकृपा करि चितवहिं जेही॥ ७। ६९।', 'सतसगति दुरलभ संसारा।' 'निज जन जानि राम मोहिं संत समागम दीन' (उ० १२३) (रा० प्र०)।

२ पहले कहा कि 'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा' २ (१२), अब कहते हैं कि 'रामकृपा बिनु सुलभ न सोई'। प्रथम कहा कि 'मति कीरति' सब सत्सङ्गसे होते हैं, अन्य उपायसे नहीं, और अब कहते हैं कि ये सब ज्ञानसे भी होते हैं। भाव यह है कि रामकृपासे सत्सङ्ग, सत्सङ्गसे विवेक और विवेकसे गति है। यथा—'बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावइ कोई।

नोट—१ यदि कोई कहे कि मोक्षके लिये तो वेदोंमें विवेकका होना आवश्यक कहा है, तो उसपर ग्रन्थकार कहते हैं कि मोक्षका कारण जो विवेक है, वह सत्सङ्ग बिना नहीं हो सकता। 'रामकृपा बिनु' का भाव यह कि भगवत्कृपा बिना सज्जनोंके वाक्योंमें रुचि और विश्वास नहीं होता। (पं०) भाव यह कि 'नाना साधनोंके और फल मिलते हैं, सत्सङ्गति लाभ केवल राम-अनुग्रहहीके अधीन है।'

अलङ्कार—सत्सङ्ग कारण, विवेक कार्य और फिर सत्सङ्ग कार्य और रामकृपा उसका कारण कहा गया। अत' 'द्वितीय कारण माला अलङ्कार' हुआ। यथा—'कारजको कारण जु सो कारज ह्वै जाय। कारणमाला ताहिको कहैं सकल कविराय॥ (अ० म०)।

नोट—जब 'सिद्धि' का अर्थ 'प्राप्ति' लेते हैं तब 'सोइ फल सिधि फूला' का भाव यह है कि 'मुदमगल रूपी वृक्षमे जब जप तप, विप्रपदपूजा आदि अनेक साधनरूपी फूल लगते हैं तब सत्सङ्ग-प्राप्तिरूपी फल मिलता है।' अर्थात् जन्म पाकर यदि सत्सङ्ग न मिला तो जन्म व्यर्थ गया। इसीसे ग्रन्थकारने सिद्धिको फल कहा और साधनको फूल। (पं०, सू० प्र० मिश्र)।

* अर्थान्तर—३ 'वही सत्सङ्गति सब सिद्धिका फल है' (नगे परमहंसजी)। ४ 'वही सिद्धि फल है' (अर्थात् सिद्ध अवस्थाका सत्सङ्ग फलरूप है। वै० वीरकवि। मा० म०)। ५ (यावत् भगवत्सम्बन्धी) सिद्धियाँ (हैं) वही फल हैं। (बाबा हरिदासजी)।

मानस और विनयमें गोस्वामीजीने 'सत्सङ्ग' शब्दसे क्या भाव सूचित किया है, यह उनके उद्धरणोंसे ही जाना जा सकता है। अतएव कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। (क) वे विनयमें प्रार्थना करते हैं 'देहि सतसंग निज अंग श्रीरंग भवभंगकारन सरनसोकहारी। जे तु भवदंघ्रिपल्लवसमाश्रित सदा भक्तिरत विगत संसय मुरारी॥ ५७॥' इसके अन्तमें कहते हैं 'यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्मबस भ्रमत जग जोनि संकट अनेकं। तत्र त्वद्भक्ति सज्जन-समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकं॥ सत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति विमल कह दास तुलसी॥' इससे 'सत्सङ्ग' का अर्थ 'सन्तों-सज्जनोंका संग वा समागम' स्वयं कविने कर दिया है।

(ख)—विनय १३६ में कहते हैं 'बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तव मिलैं द्रवैं जब सोई॥ जब द्रवै दीनदयाल राघव साधुसंगति पाइए। जेहि दरसपरस समागमादिक पापरासि नसाइए॥ जिन्ह के मिले सुखदुख समान अमानतादिक गुन भए॥ यहाँ भी 'सत्सङ्ग' से सन्तोंका संग, उनका दर्शन, स्पर्श और समागम ही बताया।

(ग)—मानसमें श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन और स्पर्श आदि होनेपर लङ्किनीने कहा है 'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥' इसके पश्चात् उत्तरकाण्डमें जब श्रीसनकादिजी भगवान् श्रीरामजीके दर्शनार्थ उपवनमें आये हैं, उस समय भगवान् कहते हैं 'आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा। बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होइ भवभंगा॥ सतसंग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।' दर्शनमात्रको ही 'सत्सङ्ग' कहा है, आगे चलकर गरुड़जीको मोह होनेपर जब उन्हें नारदजी ब्रह्माजीके और उन्होंने शङ्करजीके पास भेजा तब श्रीशिवजी कहते हैं—'मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही। कवनि भाँति समुझावौं तोही॥ तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिय सतसंगा। सुनिय तहाँ हरिकथा सुहाई। बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग॥ यहाँ 'सत्सङ्ग' का अर्थ सन्तोंका साथ, उनके साथ रहकर हरिकथा आदि श्रवण करना। गरुड़जीको देवर्षि नारद-जैसे सन्तका तथा ब्रह्माजी और शङ्करजीका दर्शन हुआ, पर दर्शनमात्रसे क्लेश न गया। हाँ, इन्होंने मार्ग बताया और उससे मोह छूट गया। भुशुण्डिजीके आश्रमके दर्शनसे मोह दूर हो गया। बहुत कालके समागमके अन्तमें भुशुण्डिजी कहते हैं—'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा। पूछेहु रामकथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि॥ सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा। आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि मोहि प्रभु संत समागम दीन्ह॥' इसमें श्रीरामकथा आदिकी चर्चा सन्तमिलन होनेपर होनेको 'सत्सङ्गति' कहा है क्योंकि संवादके अन्तमें 'आजु' और 'सन्तसमागम' शब्द कहे गये हैं। यहाँ गरुड़जीका समागम सन्तसमागम कहा गया। और गरुड़जी भुशुण्डिजीको सन्त कहते हैं। गरुड़जीके चले जानेके बाद श्रीशिवजी कहते हैं 'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन॥' अर्थात् सन्तमिलन और उनके दर्शन, कथा, वार्ता आदिका उनसे श्रवण इत्यादि, 'समागम' है। यही अर्थ श्रीयाज्ञवल्क्यजीके शब्दोंसे सिद्ध होता है। वे श्रीशिवचरितकथनके पश्चात् कहते हैं, 'सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे॥' स्मरण रहे कि सन्त जिनका दर्शनमात्र सत्सङ्ग कहा गया है, वे श्रीहनुमान्‌जी, श्रीभुशुण्डिजी-सरीखे सन्त हैं, जिनमें वे लक्षण हैं जो मानसमें कहे गये हैं। सन्त-भगवन्तमें भेद नहीं है। सन्त बिना भगवत्-कृपाके नहीं मिलते और भगवान् बिना सन्तकृपाके नहीं मिलते।

☞ सत्सङ्गकी सिद्धावस्थाका फल भी सत्सङ्ग है, इसीलिये तो भक्त सदा सन्तसमागम चाहते हैं। यथा—'यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्मबस भ्रमत जग जोनि संकटमनेक। तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेक॥' (विनय० ५७), 'बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥' (७। १४)।

टिप्पणी—३ इस प्रसङ्गमें 'मुदमङ्गल' पद तीन बार दिया गया। है यथा—'मुदमंगलमय संत समाजू' ७ (२), 'सुनत सकल मुदमंगल देनी। २। १०।' और 'सतसंगति मुदमंगलमूला। ३। ८।' ऐसा करके सन्तोंके सम्बन्धमें तीन बातें सूचित की हैं। सन्त मुदमङ्गलके स्वरूप हैं। सुननेवालेको मङ्गलमोद देते हैं और सन्तका सङ्ग मुद-मङ्गलका मूलक अर्थात् उत्पन्न करनेवाला है।

नोट—२ बाबा जानकीदासजी 'बिनु सतसंग विवेक न होई' का अर्थ यह करते हैं कि, 'बिना सत्सङ्ग (उपर्युक्त बातका) विवेक नहीं होता।' अर्थात् जो ऊपर कहा है कि मति, कीर्ति आदि पाँचों सत्सङ्गके प्रभावसे मिलते हैं यह ज्ञान (इसका जानना) भी सत्सङ्गसे ही होता है। अर्थात् सत्सङ्गका प्रभाव सत्सङ्गसे ही जाना जाता है।

नोट—३ 'सतसंगत मुद मंगल मूला' इति (क) 'मूल' कहनेका भाव यह है कि सत्सङ्ग जड़ है, मुदमङ्गल वृक्ष है। जैसे बिना जड़के वृक्ष नहीं रह सकता, वैसे ही बिना सत्सङ्गके मुदमङ्गल नहीं रह सकते। वृक्षमें फूल और फल होते हैं। यहाँ सब साधन फूल हैं और साधनोंसे जो सत्सङ्ग प्राप्त हुआ वही फल है। (ख) यहाँ मूल और फल दोनोंको एक ही बताकर दिखाया कि मूल और फलका सम्बन्ध है। यही जड़ है और यही फल है। देखिये, परिपक्व फल (बीज) पृथ्वीमें बोया जाता है। तब वह जड़रूपमें परिणत होता है। उसीसे फिर वृक्ष, फूल और फल होते हैं। फल जब परिपक्व हो जाता है तब वही बीज होता है। (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ सत्सङ्गको दो कार्योंका मूल कहा। एक तो विवेकका, दूसरे मुदमङ्गलका। 'मूला' शब्दसे 'विवेक' और 'मुदमङ्गल' दोनोंको वृक्षरूप बताया। विवेकरूपी वृक्षके सर्वाङ्ग ये हैं। सिद्ध अवस्थाका सत्सङ्ग फलरूप है जो भूमिमें बोये जानेसे मूल होकर सब वृक्ष हो जाता है। यहाँ 'सुमति' भूमि है। सत्सङ्ग उपदेश बीज मूल अङ्कुर है। शम, दम दोनों दल हैं। श्रद्धा फुनगी है। उपराम, तितिक्षा बढ़ना है। समाधान हरियाली है। विवेक वृक्ष है, वैराग्य उसकी सेवा (शाखा?) है। मुमुक्षुता फूल है, ज्ञान फल है, सत्सङ्ग बीज है।

नोट—४ (क) ग्रन्थमें सत्सङ्गके दो साधन बताये गये हैं। एक तो यहाँ 'रामकृपा' बताया गया। अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है, जैसा टिप्पणी १ में लिखा गया है। दूसरा साधन उत्तरकाण्डमें विप्रपदपूजासे उत्पन्न पुण्यपुञ्ज। यथा—'पुण्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥ पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥ ७-४५।' (ख) 'सतसंगत मुदमंगलमूला।…' सब साधनोंको फूल कहा है। 'सब' से जनाया कि साधन अनेक हैं जैसे फूल अनेक। बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि जप, तप आदि सब साधन फूल हैं। फूलसे फल होता है। परिपक्व फल ही पुनः बीज होता है। अतः 'सोइ फल सिधि' कहा। (ग) किसी-किसीका कहना है कि 'रामकृपा' का सम्बन्ध 'विवेक' वाले सत्सङ्गसे है अर्थात् रामकृपा जिसका साधन है उस सत्सङ्गका कार्य विवेक है और अन्य (पुण्यपुञ्ज आदि) साधनोंसे जो सत्सङ्ग होता है उसका कार्य मुदमङ्गल है। कोई इसीको इस प्रकार कहते हैं कि सत्सङ्ग दो प्रकारका है, एक कृपासाध्य दूसरा साधनसाध्य। कृपासाध्यका सदसद्विवेक फल है और साधनसाध्यका मुदमङ्गल फल है।

इसपर शङ्का होती है कि क्या श्रीरामकृपा बिना केवल साधनसे सत्सङ्गकी प्राप्ति हो सकती है? यदि हो सकती है तो फिर मनुष्यको श्रीरामकृपाकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अतः यही कहना होता है कि विप्रपदपूजाद्वारा जो सत्सङ्ग प्राप्त होता है उसके लिये भी कृपा आवश्यक है। श्रीरामकृपा स्वतन्त्र ही बिना साधन कराये भी सत्सङ्ग दे सकती है, जैसे विभीषणजीको। और चाहे साधन कराके दे, पर सत्सङ्ग प्राप्त करानेवाली रामकृपा ही है। दूसरा प्रश्न यह होता है कि 'क्या साधनद्वारा जो सत्सङ्ग होगा उससे सदसद्विवेक न होगा?' मेरी समझमें गोस्वामीजीका तात्पर्य यह नहीं है कि एक सत्सङ्गसे विवेक होगा, दूसरेसे नहीं। तीसरी शङ्का यह होती है कि क्या रामकृपासे विवेक ही होगा, मुदमङ्गल न होगा?

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस[1] कुधात सुहाई॥ ९॥
बिधिबस सुजन कुसंगत परहीं। फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं॥ १०॥

शब्दार्थ—सठ (शठ)=मूर्ख, जड़बुद्धिवाले, लुच्चे। पारस=एक पत्थर जिसके विषयमें प्रसिद्ध है कि यदि लोहा उसमें छुलाया जाय तो सोना हो जाता है। परस (स्पर्श)=छूना। कुधात (कुधातु)=बुरी धातु।=लोहा। सुहाई=सुहावनी, अच्छी वा शोभित हो जाती है। बिधि=दैव। बिधिबस=दैवयोगसे। फनि (फणि)=सर्प। अनुसरना=पीछे वा साथ-साथ चलना, अनुकूल आचरण करना; (के) अनुसार चलना; बरतना, अनुसरण करना।

१. परसि—छ०, १७०४। परस—१६६१, १७२१, १७६२।

अर्थ—शठ लोग सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं (जैसे) पारसके स्पर्शसे लोहा शोभित हो जाता है। (सुन्दर सोना बन जाता है) ॥ ९ ॥ दैवयोगसे (यदि कभी) सज्जन कुसंगतिमें पड़ जाते हैं (तो वे वहाँ भी) साँपके मणिके समान अपने गुणोंका ही अनुसरण करते हैं ॥ १० ॥

नोट—१ 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई'' इति। (क) 'सत्संगको सिद्ध फल कहा। अब उसका प्रमाण देते हैं कि साधनहीन केवल संगमात्रसे सिद्धता होती है।' (वै०)। (ख) 'सुधरहिं' का भाव यह है कि उनकी महिमा बढ़ जाती है। इस लोकमें शोभा होती है और परलोकमें गति मिलती है। (प०)। (ग) 'पारस परस' इति। चाँदी, सोना, ताँबा, पीतल, लोहा आदि सब 'धातु' हैं। इनमें लोहा सबसे कुत्सित और सोना उत्तम समझा जाता है। इसीलिये शठको कुधातुकी उपमा दी। भाव यह है कि जैसे पारसके स्पर्शमात्रसे निकृष्ट धातु उत्तम धातु हो जाती है, वैसे ही सत्सङ्गकी प्राप्तिमात्रसे, सत्सङ्गके प्रारम्भ होते ही शठ सुधरकर सुन्दर हो जाते हैं। सत्सङ्ग पूरा होनेपर तो वह पारस ही हो जाता है, दूसरोंको सोना बना देता है। जैसे पारस लोहेको सोना बनाता है, वैसे ही सन्त शठको सज्जन बना देते हैं। (घ) 'सुहाई' से जनाया कि रूप सुन्दर हो जाता है और मूल्य भी बहुत बढ़ जाता है। इसी तरह शठका आचरण सुन्दर हो जाता है और उसका सर्वत्र मान होने लगता है। वह पवित्र हो जाता है।

स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तरखण्ड अ० १५ में इस विषयपर बहुत सुन्दर लिखा है। यथा—'यथा चिन्तामणिं स्पृष्ट्वा लोहं कांचनतां व्रजेत्। यथा जम्बूनदीं प्राप्य मृत्तिका स्वर्णतां व्रजेत् ॥ १२ ॥ यथा मानसमभ्येत्य वायसा यान्ति हंसताम्। यथामृतं सकृत्पीत्वा नरो देवत्वमाप्नुयात् ॥ १३ ॥ तथैव हि महात्मानो दर्शनादिभि·· । सद्य पुनन्त्यघोपेतान्सत्सङ्गो दुर्लभो ह्यत ॥ १४ ॥' अर्थात् जैसे चिन्तामणिके स्पर्शसे लोहा और जम्बूनदीमें पड़नेसे मिट्टी सोना हो जाती है, जैसे मानसरोवरमें रहनेसे कौवा हंस हो जाता है और एक बार अमृत पीनेसे मनुष्य देवत्वको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही महात्मा दर्शन-स्पर्शन आदिसे पापियोंको तत्काल पवित्र कर देते हैं। अत सत्सङ्ग दुर्लभ है। ये श्लोक इस प्रसङ्गकी जोड़के हैं। यह सभी भाव चौपाईमें हैं।

२ 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई' यह उपमेयवाक्य है और 'पारस परस कुधातु सुहाई' उपमानवाक्य है। बिना वाचकपदके दोनों वाक्योंमें बिम्ब प्रतिबिम्ब-भाव झलकता है। अत यहाँ 'दृष्टान्त अलङ्कार' है। मा० मा० कारका मत है कि यहाँ 'अनुगुण' अलङ्कार है। वे भाषाभूषणका प्रमाण देते हैं। 'अनुगुण संगति तें जबै पूरण गुण सरसात। मुक्तमाल हिय हास्य तें अधिक सेत है जात ॥' पर औरोंके मतसे यहाँ 'अनुगुण' नहीं है क्योंकि अनुगुणका लक्षण है 'अपने पूर्व गुणका दूसरेके संसर्ग और अधिक बढ़ना'। यहाँ 'उल्लास' है क्योंकि और वस्तु पारस (सन्तसंग) के गुणसे और वस्तु कुधातु (शठ) गुणवान् हुई है। संसर्गसम्बन्धसे यहाँ सत्संगतिका गुण दूसरेमें वर्णन किया गया है। (अ० मं० । वीरकवि)

३ सन्त और पारसमें तो बहुत अन्तर है। यथा—'पारस सन्तहु महँ बहु अन्तर जान। वह लोहा सोना करै यह कर आप समान ॥' तो फिर पारसकी उपमा क्यों दी गयी? यह शङ्का उठाकर उसका उत्तर महानुभावोंने यह दिया है कि यहाँ भाव यह है कि (१) जो शठ नहीं है, उनको तो अपने समान कर लेते हैं और शठको अति नीचसे अति उत्तम बना देते हैं। (२) सत्सङ्गमें किंचित् भी कपट हुआ तो सुधार न होगा, जैसे लोहे और पारसके बीचमें महीन कागज या कपड़ा भी हुआ तो सोना न होगा। यही भाव वैराग्य-सन्दीपिनी दोहा १८ में दर्शित किया गया है। यथा—'निज संगी निज सम करत, दुर्जन को सुख दून। मलयाचल है सन्त जन तुलसी दोष विहून'। (३) अभी 'मज्जन फल पेखिय ततकाला' का प्रसंग चल रहा है, इसीसे पारस लोहेका दृष्टान्त दिया, क्योंकि पारसके स्पर्शमात्रसे लोहा स्वर्ण हो जाता है।

४ शठ सन्तका संग पाकर सुधर जाते हैं यह सुनकर सन्देह हो सकता है कि इसी प्रकार सज्जन कुसंग पाकर बिगड़ जाते होंगे। यथा—'संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ। ७। ३३।' इसपर कहते हैं 'बिधि बस।'

टिप्पणी—१ 'विधिबस सुजन··' इति। (क) 'विधि बस' का भाव यह है कि सज्जन अपने वशभर तो कुसगतिमें पड़ते ही नहीं, परतु प्रारब्ध प्रबल है। यदि शठके यहाँ उनका अवतार हुआ या उनसे सम्बन्ध हो गया, जैसे मणिकी उत्पत्ति सर्पके यहाँ हुई, इस तरह यदि वे कुसगमें भी पड जाते हैं। (ख) 'परहीं' से सूचित किया कि जन्मभर भी पडे रह जाते हैं, जैसे मणि सर्पमें जीवनपर्यन्त रहती है, तो भी वे नहीं बिगड़ते। जैसे, श्रीप्रह्लादजी और श्रीविभीषणजी। पुन इससे यह भी जनाया कि यद्यपि विधिवशसे उनकी सगतिमें पड़ते हैं तथापि उनकी सगति नहीं करते। (ग) **'फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं'** इति। भाव यह कि मणि सर्पके मस्तकमें रहती है और विष भी। पर मणिमें विषका मारक गुण नही आने पाता। सर्पका ससर्ग पाकर भी मणि उसके विषको ग्रहण नहीं करती। प्रत्युत मणि विषको मारती है। वैसे ही सन्त यदि दुष्टोंके बीचमें पड़ जाते हैं तो भी दुष्टोंकी दुष्टता उनमे नहीं आने पाती, दुष्टोंके सगका प्रभाव उनपर नही पड़ता। [पुन, जैसे मणि अपने सहज गुण प्रकाशको नहीं छोडती वैसे ही सज्जन दुष्टोंके साथ रहनेपर भी दुष्टोंको प्रकाश ही देते हैं। पुन मणि अपना अमृतत्वगुण नहीं छोडती, सर्पके विषको वह मारती है। वैसे ही जिनपर दुष्टोंका प्रभाव पड़ गया उनको वे सज्जन सुधार देते हैं।] (घ) पारस और लोहेका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि दूसरोंको बना देते है जैसे पारस लोहेको स्पर्श करते ही स्वर्ण बना देता है। और मणिका दृष्टान्त देकर जनाया कि आप नहीं बिगड़ते। यथा—'अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥ २। १८४।' (ङ) कुसगका दोष न ग्रहणकर अपने ही गुणोंका अनुकरण करना 'अतद्गुण' अलङ्कार है। यथा—'रहे आन के सगहू गुन न आन को होय।' (वीरकवि)

बिधि हरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥ ११॥
सो मो[1] सन कहि जात न कैसे। साकबनिक मनिगुनगन[2] जैसे॥ १२॥

शब्दार्थ—कवि=काव्य करनेवाला। विधि-हरि-हर आदिके साहचर्यमे यहाँ 'कवि' से उशना शुक्राचार्य आदि अभिप्रेत हैं। यथा—'कवीनामुशना कविः'। गीता १०। ३७।' 'कवि' का अर्थ 'शुक्राचार्य' कोशोंमें भी मिलता है। बैजनाथजी 'कवि' से 'अनन्त आदि' का अर्थ करते हैं। कोविद=पण्डित, विद्वान्, जैसे बृहस्पति आदि। बानी (वाणी)—सरस्वती।=वाक्शक्ति। कैसे=किस प्रकार, किस तरह। साक (शाक)=साग, भाजी, तरकारी, पत्ती, फूल, फल आदि जो पकाकर खाये जाते हैं सब 'शाक' कहलाते हैं। 'शाकाख्य पत्रपुष्पादि इत्यमर'।=काँचकी पोत। (विश्वकोशे। बै०, मा० प्र०)। बनिक (वणिक्=बनिया, व्यापार करनेवाला। साकबनिक=साग-भाजीका बेचनेवाला कुँजड़ा।=पोत बेचनेवाला।

अर्थ—श्रीब्रह्मा-विष्णु-महेश (त्रिदेव), (शुक्राचार्य आदि) कवि, (देवगुरु बृहस्पति आदि) विद्वान् पण्डितोंकी वाणी (भी)* साधुमहिमा कहनेमें सकुचा गयी॥ ११॥ वह (साधुमहिमा) मुझसे किस प्रकार नहीं कही जाती, जैसे साग-भाजी बेचनेवाले कुँजड़े या पोतके बेचनेवालेसे मणिके गुणसमूह नहीं कहे जा सकते॥ १२॥

---

१ मोहि सन—रा० प०, १७०४।

२ गन गुन—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० राम। गुन गन—१६६१ (गन गुन पहले था। गुनके '‿' पर हरताल लगाकर 'गुन गन' पाठ बनाया गया है।), मा० प्र०।

* 'सकुचानी' स्त्रीलिंग है, इसीसे ऐसा अर्थ किया जाता है। पुन यो भी अर्थ हो सकता है कि 'विधिहरिहर, कवि कोविद और सरस्वतीजी साधुमहिमा कहनेमें सकुचा गयीं'। यहाँ 'बानी' अन्तिम शब्द है इसीलिये इसके अनुसार स्त्रीलिंग क्रिया भी दी गयी। पुन, तीसरी प्रकार इस तरह भी भावार्थ निकलता है कि विधिहरिहर कवि कोविदवाणी (सब मिलकर भी) साधुमहिमा कहनेमें सकुचाते है। सब मिलकर भी सन्तोंका महत्त्व नहीं कह सकते। महारामायणमें शिवजीका वाक्य है कि 'अहं विधाता गरुडध्वजश्च रामस्य बाले समुपासकानाम्। गुणाननन्तान् कथितुं न शक्तास्सर्वेषु भूतेष्वपि पावनास्ते॥' इसीके अनुसार यहाँ भाव है कि सन्तोंके गुण अनन्त हैं, उन्हें सारे जीव एव ब्रह्मादि ईश्वर कोटिवाले सब मिलकर भी नहीं कह सकते।

नोट—'बिधि हरि''सकुचानी' इति। (१) पं० सूर्यप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि 'सकुचानी' का रहस्य पं० परमेश्वरीदत्त व्यासजीने यों कहा था कि किसी दिन स्वर्गमें देवताओंकी एक सभा हुई और उसमें सब देवता इकट्ठे हुए, तब साधु-महिमा कहनेकी बरणी ब्रह्माको हुई। कहते-कहते बहुत दिन बीत गये तब तो सरस्वती उदास हो बोलीं 'मेरे पति कबतक कहते रहेंगे अब यह बरणी महादेवजीको देनी चाहिये क्योंकि ये पाँच मुखवाले हैं।' फिर तो महादेवजी प्रसन्न हो कहने लगे। निदान देवताओंने देखा कि बहुत दिन हो गये और अन्त न हुआ तब तो कार्त्तिकेयजीको बरणी दी गयी। इन्होंने बहुत कुछ कहा और अन्त न हुआ तब तो पार्वतीजी बोल उठीं, देखो देवता बड़े स्वार्थी होते हैं, मेरा बालक कबतक कहता रहेगा, बहुत दिन बीत गये, अब नहीं कहेगा। तब तो देवताओंने मिलकर वह बरणी शेषनागको दी। क्योंकि इनको सहस्र मुख और दो सहस्र जिह्वा हैं। ये बहुत जल्द साधुमहिमा कह लेंगे। इनको भी कहते-कहते कई कल्प बीत गये तब तो ये हार मानकर लाचार हो पाताललोकमें जा माथा झुकाकर बैठ गये, सो उसी लज्जाके कारण आजतक बैठे ही हैं। प्रमाण 'सहस्रास्य: शेष: प्रभुरपि ह्रिया क्षितितलमगात्' (स्कन्दपुराण)। सो ग्रन्थकारने 'सकुचानी' पद लिखा तो क्या ?'

(२) क्यों सकुचती है ? इसके सम्बन्धमें अनेक समाधान किये जाते हैं—(क) 'सकुच इससे कि इतने बड़े बड़ोंकी वाणी होकर भी न कह सके, आश्चर्य ही तो है'। (पं० रा० कु०)। (ख) भगवद्भक्त ही सच्चे साधु हैं। भगवद्भक्तके अधीन सेवकके सदृश विष्णु रहते हैं''। इसलिये जिस साधुकी सेवा स्वयं विष्णु करते हैं उसकी महिमा कौन कह सकता है' ? (द्विवेदीजी) (ग) ब्रह्माजी रजोगुणके वश हो सृष्टिरचनाकी चिन्तामें, शिवजी तमोगुणवश संहारकी चिन्तामें और हरि सतोगुणके वश खलोंके नाश और भक्तोंकी रक्षामें मग्न रहते हैं, सन्त-महिमाकी ओर ध्यान देने तथा कहनेका अवकाश नहीं है। (मा० म०)। (घ) त्रिदेव त्रैगुणाभिमानमें, कवि मानवश उपमानमें, कोविद क्रिया-कर्म-कर्मोंके फेरमें पड़े हैं, इससे उनकी वाणी शुद्ध नहीं फिर सन्तोंके विमल गुण कैसे कह सके ? गोस्वामीजीने वैराग्यसन्दीपनीमें भी कहा है कि 'क्यों बरनैं मुख एक तुलसी महिमा संतकी। जिन्हके बिमल बिबेक सेष महेस न कहि सकत ॥ ३४ ॥'

यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है, क्योंकि विधिहरिहर इत्यादि योग्य वक्ताओंको अयोग्य ठहराकर अतिशय बड़ाई कर रहे हैं। 'सो मो सन कहि जात'' जैसे' में 'उदाहरण अलंकार' है, क्योंकि पहले साधारण बात कहकर उसकी विशेष बातसे समता वाचकपदद्वारा दिखायी गयी है।

नोट—१ 'साकबनिक मनि गुनगन जैसे' इति। भाव यह कि ईश्वरकोटिवाले सन्तरूपी मणिके जौहरी हैं, जब ऐसे बड़े बड़े जौहरी ही इस रत्नके परखनेमें अशक्तिमान् हैं तो उनकी महिमा कुँजड़ा वा पोत बेचनेवाला कैसे कह सकेगा ? गोस्वामीजी अपनी समता कुँजड़ेसे देते हैं।

२ पं० सूर्यप्रसादमिश्र लिखते हैं कि 'गोसाइंजी अपना अभिमान दूर करते हैं।'' अहंकार पापका मूल है और अमङ्गलकारी है अतएव ग्रन्थकारने उसका त्याग किया। इससे सिद्ध होता है कि ये सब कुछ करेंगे।' साकबनिकपद देनेसे यह भी जाना जाता है कि जैसे जवाहिरका चाहनेवाला शाकके बाजारमें जाकर पूछे कि आज-कल जवाहिरका भाव क्या है, तो उसको जवाहिरका भाव शाकबाजारसे कभी न मालूम होगा। उसको तभी मालूम होगा जब वह जौहरी बाजारमें जायगा।''गोसाईंजीने अपनेको साधु-समाजके सामने तुच्छ और अत्यन्त दीन दिखाया है।'''

दो०—बंदौं संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ[1]।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ॥

१ कोइ—१६६१ (पं० शिवलालपाठक)। अन्य सबोंमें 'कोउ' है।

संत सरलचित जगतहित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल बिनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—समानचित=सबके लिये एकही-सा चित्त है जिनका, शत्रुमित्र सबको चित्तमें समान माननेवाले। यथा—'सत्रु न काहू करि गनै मित्र गनइ नहि काहि। तुलसी यह गति संतकी बोलैं समता माहि ॥ (वै० स० १३)।=राग द्वेषरहित। हित=मित्र। अनहित=शत्रु। अजलि=दोनो हाथोंकी हथेली एक ओर जोड़नेसे 'अजलि' कही जाती है।=अँजुरी। गत=(में) प्राप्त। सुभ=शुभ और सुगधित। सुमन=फूल। सम=बराबर। कर=हाथ। कर=करता है। सरल=सीधा-सादा, निश्छल। यथा—'सरल सुभाउ छुअत छल नाही'। रति=प्रीति, प्रेम।

अर्थ—मैं सन्तोंको प्रणाम करता हूँ जिनका चित्त समान है (अर्थात् जिनके चित्तमें समता भाव है), जिनका न कोई मित्र है न शत्रु। जैसे अञ्जलिमे प्राप्त सुन्दर (सुगन्धित) फूल दोनों हाथोंको बराबर सुगन्धित करता है। (वैसे ही सन्त मित्र और शत्रु दोनोंमें ही समानभाव रखकर दोनोंका भला करते हैं।)* सन्त सरलचित्त और जगत्के हितकारी होते हैं ऐसा (उनका) स्वभाव और स्नेहको जानकर मैं विनय करता हूँ।† मेरी बालविनय सुनकर कृपा करके मुझ बालकको श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम दीजिये ॥ ३ ॥

नोट—१ 'सन्त समान चित…' इति। 'समान चित' में गीतामें कहे हुए 'समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥ मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो. ॥ २५ ॥ अ० १४।' इस श्लोकके सब भाव हैं। अर्थात् जो निरन्तर अपनी आत्मामें स्थित रहकर दुःख-सुखको समान समझता है, मिट्टी, पत्थर और सुवर्णको समान समझता है, प्रिय और अप्रियको एक-सा मानता है और अपनी निन्दा एव स्तुतिमें समान भाव रखता है। मान और अपमानमें सम है एव मित्र और शत्रुके पक्षमें भी सम है। ये सब भाव 'समान चित' में हैं 'समानचित' और 'जगतहित' कहकर भगवान्की पराभक्तिको प्राप्त सन्तोंकी वन्दना सूचित की। यथा—'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्। गीता १८-५४।'

---

* दूसरा अर्थ—'और जो अञ्जलिमें प्राप्त सुन्दर फूलकी तरह (दाहिने बाएँ) दोनों (हाथों) को बराबर सुगन्धित करते हैं।' (मा० पीयूष प्रथम सस्करण)।

तीसरा अर्थ—(श्रीजानकीशरणजी प० शिवलालपाठकजीका परम्परागत एक अर्थ यह लिखते हैं) 'जिनके चित्तमें 'समान' अर्थात् प्रवेश किया है हित, (अनहित नहिं कोउ) उनकी दृष्टिमें उनका कोई अनहित अर्थात् शत्रु नहीं।' इस तरह दोहेके पूर्वार्धका अन्वय 'चितमें हित समान' ऐसा किया गया जान पड़ता है। 'समान' को क्रिया माना है। पाठक विचार कर लें। गोस्वामीजीने यह अर्थ पढाया हो इसमें सन्देह होता है।

† १ 'जानि सुभाउ सनेह' का अर्थ लोगोंने यो किया है—(क) 'ऐसा अपना स्वभाव जानकर मेरे उरमें प्रभुपदमे प्रीति विचारकर' (वै०)। (ख) 'मेरा दीन स्वभाव और भगवान्के यशमें प्रेम जानकर' (प०)। (ग) 'और परोपकारमें स्नेह रखते हैं, उनका ऐसा स्वभाव जानकर। (वीरकवि)। (घ) 'उस (सरल चित जगत्हितकारी) स्वभावसे स्नेह करके' (बाबा हरिदासजी)। (ङ) 'ऐसा परोपकारी स्वभाव जानकर मैं स्नेहसे वंदना करता हूँ'। (प० रामकुमारजी) यह अर्थ भी ठीक बैठता है।

२ बाबा जानकीदासजीके मतानुसार 'बदौं' शब्द जो इन दोनों दोहोंके आदिमें आया है। वह दोनों दोहोंके साथ है। अर्थ करते समय दोनोंके साथ लगा लेना चाहिये। 'बदौं सत समान चित…', 'बदौं सत सरलचित…'। उत्तरार्धमें 'बालबिनय सुनि' होनेसे हमने 'विनय करता हूँ' शब्द 'बालविनय' में ध्वनित समझकर अर्थ किया है जैसे कि वीरकविजीने किया है। बिना 'बदौं' और 'विनय करता हूँ' के भी अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं।

अर्थ—२ 'हे सरलचित्त जगत्-हित सन्तो! मेरे (अथवा, अपने) स्वभाव और स्नेहको समझकर मुझ बालककी बालविनय सुनकर कृपा करके श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम दीजिये।'

२ (क) पूर्वार्धमें 'सन्त समान चित · कोउ' कहकर उत्तरार्धमें उदाहरण देते हैं। शत्रुमित्रमें समान व्यवहार करना कहा, यह 'चतुर्थ तुल्ययोगिता अलङ्कार' है। उत्तरार्ध अञ्जलिगत मे उदाहरण अलङ्कार है। दोनोंमें अङ्गाङ्गीभाव है। पूर्वार्धमें जो कहा उसीको उत्तरार्धमें 'सम सुगध कर दोउ' कहकर दिखाया। शत्रु-मित्र-उदासीन सभीका कल्याण करते हैं।

(ख) मिलान कीजिये, 'अञ्जलिस्थानि पुष्पाणि वासयन्ति करद्वयम्। अहो सुमनसां प्रीतिर्वामदक्षिणयोः समा॥' इति प्रसङ्गरत्नावल्याम्। (सुभा० र० भा० सज्जनप्रशंसा ३) अर्थ दोहेके उत्तरार्धसे मिलता है।

(ग) 'अंजलिगत ' इति। भाव यह कि जैसे एक हाथसे फूल तोड़कर दूसरे हाथमें रक्खा जाता है, तो जिस हाथसे तोड़ा गया वह शत्रु और जिसमें ग्रहण किया गया वह मित्र हुआ। फूल शत्रुमित्रका विचार न करके दोनों हाथों-को बराबर सुगन्धित करता है, एकको कम दूसरेको अधिक ऐसा नहीं। ऐसा ही स्वभाव सन्तका है। यथा—'काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई। ७। ३७।' वे अपना गुण अपकार करनेवालेको भी देते हैं जैसे चन्दन काटनेवाले कुल्हाड़ेको भी सुगन्ध दे देता है।

(घ) 'कर' श्लिष्ट है। देहलीदीपकन्यायसे 'सुगन्ध' और 'दोउ' दोनोंके साथ है। अन्वय 'सम सुगध कर दोउ' =दोउ कर (को) सम सुगन्ध कर।=दोनों हाथोंको समान सुगन्धित करता है।

टिप्पणी—१ (क) पहले सतसमाजकी वन्दना की थी—'सुजन समाज सकल गुन खानी। करौं प्रनाम करम मन बानी। २। ४।'; अब यहाँ 'सत' की वन्दना करते हैं—'बंदौं संत समानचित '। (ख) सन्तवन्दना प्रकरण यहाँ सम्पुट हुआ। 'सुजनसमाज ' २ (४) उपक्रम है और 'बंदौं सत समानचित ' 'सत सरल चित···' उपसहार है।

२ 'सत सरल चित जगतहित ' इति। (क) प्रथम 'सरलचित जगतहित' विशेषण देकर तब 'जानि सुभाउ सनेहु' लिखनेका तात्पर्य यह है कि सत स्वभावसे सरलचित हैं, सरलचित होनेसे सबपर निश्छल स्नेह रखते हैं, रागद्वेष-रहित हैं। ('हित अनहित नहिं कोउ') इसीसे जगन्मात्रके हितैषी है। पुन॰, (ख) ये विशेषण सहेतुक हैं, साभिप्राय हैं, सरलचित हैं अर्थात् निश्छल हैं और सबपर प्रेम करते है। यथा—'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं। १। २३७।', 'नाथ सुहृद सुठि सरलचित सील सनेह निधान। सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिअ आपु समान। २। २२७।', इसलिये हमारे दोष न देखिये। 'जगतहित' हैं, अत मेरा भी हित कीजिये। जैसे आपका चित्त निर्विकार है, मेरा चित्त भी वैसा ही कर दीजिये। जैसे आपमें श्रीरामपदरति (पराभक्ति) है वैसी ही प्रीति, भक्ति मुझको दीजिये। (ग) ['बाल बिनय' का भाव यह है कि मैं बच्चा हूँ, आप मेरे माता-पिता हैं। मेरे वचन बालकके तोतले वचनके समान हैं। जैसे माता-पिता बच्चेके तोतले वचनोंको प्रसन्न मनसे सुनते हैं और उसका आशय समझ लेते हैं, जो कुछ वह माँगता है वह उसे देते हैं। वैसे ही मेरी टूटी-फूटी देशीभाषामें जो यह वन्दना है उसकी अटपट वाणीपर ध्यान न दीजिये, अपनी ओरसे कृपा करके श्रीरामपदप्रीति दीजिये। पुनः, भाव कि बालकोंकी सामान्य बातपर सबका छोह रहता है, यदि विनयमय ठहरे तो कहना ही क्या? (सू० प्र० मिश्र)। पुन॰, भाव कि बालकका वचन सबको प्रिय लगता है, चाहे वह किसी अवस्थामें क्यों न हो और चाहे वह मानने लायक हो वा न हो, उसका प्रभाव तो दूसरेपर पड़ता ही है। (सू० प्र० मिश्र)। (घ) 'करि कृपा' का भाव कि मैं इस योग्य नहीं हूँ, आप अपनी ओरसे कृपा करके दीजिये। बिना आपकी कृपाके श्रीरामपदरति नहीं मिल सकती। यथा—'सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु सत न काहू पाई॥ ७। १२०।' (ङ) 'रामचरनरति देहु' कहकर जनाया कि आप लोग श्रीरामपदरतिके मालिक या खजाञ्ची हैं, बिना आपके वह किसीको मिल नहीं सकती।]

३ उत्तरकाण्ड दोहा १२१ में जो 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाय खगराया॥ (१४)।' यह कहा है, उसे यहाँ 'सुजनसमाजवन्दनाप्रकरणमें' चरितार्थ (घटित) कर दिखाया है। 'हरिहरकथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी' में वचन, 'संत समान चित' 'संत सरल चित' में मन और 'जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा' में कायासे परोपकार दर्शाया।

संतसमाज एवं संतवन्दना प्रकरण समाप्त हुआ ।

खल-वन्दना-प्रकरण

बहुरि बंदि खलगन सतिभाएँ । जे बिनु काज दाहिनेहु[1] बाएँ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—बहुरि=(सन्तवन्दनाके पश्चात्) अब, इसके उपरान्त, पीछे, अनन्तर । खलगन=खल समाज, दुष्ट-समूह । सतिभाएँ (सतभाव) सच्चे भावसे, सद्भावसे, कपट-छल बनावट या आक्षेपसे नहीं, सन्तस्वभावसे ।=उचित रीतिसे (सू० प्र० मिश्र) । काज=प्रयोजन, मतलब, अर्थ, उद्देश्य । बिनु काज=बिना प्रयोजनके, व्यर्थ ही, अकारण ही । अर्थात् ऐसा करनेसे उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, कुछ भला नहीं होता तो भी । दाहिना=अनुकूल, जो हित-में प्रवृत्त है, हितैषी । बाएँ=प्रतिकूल, शत्रु ।

अर्थ—(सन्तवन्दनाके अनन्तर) अब मैं सद्भावसे खलगणकी वन्दना करता हूँ, जो बिना प्रयोजन ही जो अपने हितैषी हैं उनके भी प्रतिकूल हो जाते हैं ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ (क) गोस्वामीजीने पहले सन्तसमाजकी वन्दना की, फिर सन्तकी । यथा—'सुजन समाज सकल गुनखानी । करौं प्रनाम' ' 'बंदौं संत समानचित' । वही क्रम उन्होंने खल-वन्दनामें रक्खा है । पहले 'खलगण' की वन्दना करते हैं, आगे 'खल' की करेंगे । अर्थात् प्रथम समष्टिवन्दना करके फिर व्यष्टिवन्दना करते हैं । (ख) खलोंकी वन्दनासे गोस्वामीजीकी साधुता दर्शित होती है, सन्त समानचित्त हैं, यह वे अपने इस कर्तव्यसे दिखा रहे हैं । सन्त समानचित्त हैं, उनका न तो कोई हित है न अनहित, अत उन्होंने सन्तोंकी वन्दना की और खलोंकी भी की । सन्तोंकी सद्भावसे वन्दना की । यथा—'करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी । २ । ४ ।' वैसे ही खलोंकी 'सतिभाएँ' वन्दना करते हैं । पुन , [सन्तवन्दनाके पश्चात् खलवन्दनाका भाव यह कि भगवद्भक्तोंको दुष्टोंसे द्वेष न रखना चाहिये । यथा—'हित मन हित रति राम सन, रिपु सन बैर बिहाय । उदासीन सब़ार सन, तुलसी सहज सुभाय ॥' (सतसई) । (मा० म०)] । अथवा खलके विपर्ययमें साधुके लक्षण देख पड़ते हैं । इसलिये खलवन्दना की ।

नोट—१ 'खलोंकी वन्दना किस अभिप्रायसे की गयी ?' इस प्रश्नको लेकर टीकाकारोंने अनेक भाव लिखे हैं, जिनमेंसे कुछ ये हैं—(क) ये न हों तो सन्तोंका महत्त्व ही न प्रकट हो । यथा—'जिते प्रतिकूल मैं तो मानों अनुकूल, याते संतनप्रभावमणि कोठरीकी ताली है ।' (भक्तिरसबोधिनीटीका कवित्त ३६५) । (ख) खल-परिहासके डरसे साधु साधुता बनाये रखते हैं । (ग) काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि 'जगत्को तीरथ तारैं जलथल प्रभाव, सो सुनिहुं किए आदर ए पाव तीनि चलन को । तीरथको साधू तारैं रामभगतिके प्रभाव लोक वेद संमत जे धरे चाल चलनको ॥ सर्वस अपनी बिगारि सिर धरि जमदूत मार, सब प्रकार खल धोवैं साधुन के मलन को । महाव्रतधारी बिनु हेतु उपकारी ए, ऐसी जिय जानि प्रणाम किये खलन को ॥'

गोस्वामीजीने इस सम्भवित शङ्काका उत्तर स्वयं ही आगे दिया है कि, 'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा । उभय अपार उदधि अवगाहा ॥ तेहि तें कछु गुन दोष बखाने । संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥ ६ (१–२) ।' अर्थात् गुण-अवगुणका वर्णन लोकशिक्षात्मक है । सन्तवन्दनाके बहाने सन्तोंके गुण दिखाकर व्याजसे परलोकमार्ग दर्शित किया है और अब खलवन्दनाके व्याजसे उनके सङ्गको भवसागरमें डूबनेका मार्ग बताया । सन्तगुण बताये जिसमें लोग इनका सङ्ग करें । खलोंके लक्षण भी बताये जिसमें लोग इन्हें पहचानकर इनसे बचें, अलग रहें । खलोंकी पहिचान बहुत कठिन है, यदि उनके लक्षण न लिखे जाते तो उनका त्याग असम्भव था ।

नोट—२ 'बहुरि बंदि' इति । 'बंदि' अपूर्ण क्रिया है । इसका अर्थ है 'वंदना करके' । यथा—'बंदि बंदि पग सिय सबही के । आसिरबचन लहे प्रिय जी के ॥ २ । २४३ ।', 'प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई । चले । २ । ३१८ ।',

---

[1] दाहिने—(रा० प्र०) । दाहिनहु—१७०४ । दाहिनेहु—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा० । १६६१ में 'हु' पर हरतालका भास-सा है पर लख नहीं पड़ता ।

'फिरे बंदि पग आसिष पाई । २ । ३१९ ।', 'मन महुँ चरन बंदि सुख माना । ३ । २८ ।', 'बंदि चरन बोली कर जोरी । १ । २३५ ।', 'सतानंदपद बंदि प्रभु बैठे गुर पहिं जाइ । १ । २३९ ।', इत्यादि । अपूर्ण क्रिया देनेका भाव यह है कि अभी 'खलगण' की समष्टि वन्दना करके आगे खलकी वन्दना करेंगे । इस अपूर्ण क्रियाकी पूर्ति 'बन्दौं खल जस सेष सरोषा । ४ । ८ ।' पर होती है । बीचमें 'जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ' से लेकर 'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं ॥' तक 'खलगण' के विशेषण दिये गये हैं । अर्थात् जिनमें ऐसे गुण हैं उनकी सद्भावसे वन्दना करके फिर खलकी वन्दना करेंगे । अपूर्ण क्रिया माननेसे प्रथम चरणका अर्थ होता है कि, अब सद्भावसे खलगणकी वन्दना करके कि 'जो' ' । (यह अर्थ प्रथम संस्करणमें दिया गया था ।) परंतु समस्त टीकाकारोंने यहाँ 'बंदि' का अर्थ 'वन्दना करता हूँ' लिखा है । अतः हमने भी इस संस्करणमें वही अर्थ दिया है । किसी-किसी महानुभावका मत है कि अभी सन्तवन्दना समाप्त नहीं हुई है, आगे फिर वन्दना करेंगे । यथा—'बंदउँ संत असज्जन चरना' । ५ (३), इसीसे यहाँ अपूर्ण क्रिया दी गयी ।

३—'खल गन सतिभाएँ' इति । (क) 'खल' शब्दकी व्युत्पत्ति सुभाषितरत्नभाण्डागारमें यों बतायी है—'विशिखव्यालयोरन्त्यवर्णाभ्यां यो हि निर्मितः । परस्य हरति प्राणान्नैतच्चित्रं कुलोचितम् ॥ (दुर्जननिन्दा श्लोक ३) ।' अर्थात् विशिख और व्यालके अन्तिम अक्षरों (ख, ल) से जो शब्द बना है वह यदि दूसरोंके प्राणोंको हरण करता है तो आश्चर्य ही क्या ? कुलके योग्य ही तो करता है । बाण और सर्प दोनों ही प्राण हर लेते हैं । कारणसे कार्य कठिन होता ही है । अतः खल विशिख और व्यालसे भी अधिक हुआ ही चाहे । (ख) 'सतिभाएँ' सच्चे भावसे । अर्थात् जैसे सन्तोंकी वन्दना मन, कर्म, वचनसे की थी, वैसे ही खलोंकी वन्दना सद्भावसे करता हूँ । यदि इनकी वन्दनामें 'सतिभाएँ' न कहते तो निन्दा और कुभाव सूचित होता । जिस उत्साहसे सन्तोंके गुण कहे, उसी उत्साहसे खलोंके गुण और स्वरूप कहेंगे, न्यूनाधिक नहीं । (पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'सतिभाएँ' कहनेका अभिप्राय यह है कि मेरी बातोंसे वे अवश्य बुरा मानेंगे तथापि भीतर उनकी आत्मा यही कहेगी कि तुलसी सच कहता है । इससे 'सत्ये नास्ति भयं क्वचित्' इस वाक्यको दृढ़ प्रमाण कर ग्रन्थकार खल-वन्दनामें प्रवृत्त हुए ।) विशेष दोहा ४ में 'बिनती करइ सप्रीति' में देखिये ।

४ 'बिनु काज'=व्यर्थ ही । अर्थात् ऐसा करनेसे उनको कोई लाभ नहीं होता, उनका कोई काम नहीं निकलता ।

५ 'दाहिनेहु बाएँ' इति । जो अपने हितैषी हैं, अपने अनुकूल हैं, अपने साथ भलाई ही करते हैं, उनके भी ये प्रतिकूल हो जाते हैं, उनके साथ भी बुराई ही करते हैं ।

यही अर्थ पं० रामकुमारजी और प्रो० रामदास गौड़जी करते हैं और यही सबसे उत्तम जँचता है । इसी अर्थमें खलोंका गौरव है । जहाँ संत आप दुःख सहकर बुराई करनेवालोंसे भी भलाई करते हैं, वहाँ खल बिना प्रयोजन ही अपने हितुओंके साथ भी बुराई करते हैं । यथा—'बैर अकारन सब काहू सों । जो कर हित अनहित ताहू सों ॥ ७ । ३१ ।' वामके साथ तो प्रायः सभी वाम होते हैं, पर ये दाहिनेके साथ भी वाम होते हैं । यथा—'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी । ७ । १२१ ।'

'दाहिनेहु बाएँ' के अन्य भाव ये कहे गये हैं कि—(१) दाहिने भी बाएँ भी वा दाहिने-बायें । अर्थात् कभी इस पक्षमें कभी उस पक्षमें, कभी इस पक्षसे उस पक्षमें और उस पक्षसे इस पक्षमें, यों इधर-उधर आना-जाना खलोंका स्वभाव जगत्-प्रसिद्ध है । (द्विवेदीजी)' ग्रन्थकार खलोंका स्वभाव दिखाते हैं । जगत्का तो स्वभाव है कि लोग अपनी गरजसे भले-बुरे होते हैं, पर खल तो बिना कामहीके भले-बुरे बने रहते हैं । (२) दाहिने अर्थात् पहिले अनुकूल होते हुए भी फिर बायें अर्थात् प्रतिकूल हो जाते हैं । (३) 'दाहिने बायें' मुहावरा है । अर्थात् जबरदस्ती किसीके काममें कूद पड़ते हैं । (पर इन अर्थोंमें कोई गौरव नहीं दीखता) । (४) पाण्डेजी कहते हैं कि 'बिनु काज' भलाई करनेवाले और बुराई करनेवाले दोनोंसे सम्बन्धित हैं । वे 'सतिभाएँ' को 'खलगन' का विशेषण मानकर अर्थ करते हैं कि 'जिनकी सत्य भावना है बिना प्रयोजन भलाई करनेवालोंसे बुराई करते हैं' । (५) (पंजाबीजी लिखते हैं कि) यदि ये मार्गमें चले जाते हों और उधरसे कोई पुरुष किसी कार्यकी सिद्धिके लिये आ रहा है और उसको दाहिने देकर चलनेसे

उसका मङ्गल होगा और इनका कुछ बिगड़ता नहीं, तो भी उसको दाहिना न देकर उसके बायें हो जाते हैं। (६) 'परमार्थ-मार्ग त्यागकर दाहिने-बायें चलते हैं। दाहिने यह कि कदाचित् कोई उत्तम कार्य किया तो अभिमानसे नामके लिये अथवा किसी अन्य स्वार्थसिद्धिके लिये जिसमें परमार्थ किंचित् छू भी न जाय और 'बायें' का भाव तो आगे प्रसिद्ध है।' (बै०)। (७) दाहिनेहु बाएँ=भले-बुरे काम करनेमें लगे रहते हैं अर्थात् अनेक भले काम भी केवल दिखावटी और बनावटी होते हैं। (वि० टी०)।

परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरप बिपाद बसेरे॥ २॥

शब्दार्थ—पर=पराये, दूसरेके। हित=भलाई। केरे=का। उजरे=(उजड़े)=नष्ट, बरबाद या वीरान होनेसे, किसी भी प्राणीके न रह जानेसे। बसेरे=घर बस जानेसे। आबाद होनेसे। बिपाद=दुःख, शोक।

अर्थ—पराये हितकी हानि ही जिनका लाभ है। (दूसरेके) उजड़नेमें जिनको हर्ष और बसनेमें दुःख होता है॥२॥

नोट—१ भाव यह है कि (१) दूसरेका नुकसान होनेसे उनको चाहे कुछ न मिले, पर वे इसीमें सुख मानते हैं कि दूसरेका भला किसी तरह न होने पावे। दूसरेकी हानि देखनेसे उनको जो सुख होता है, उसे वे परम लाभ ही होनेके सुखके बराबर समझते हैं। (२) 'उजरे हरप' अर्थात् जैसे किसीके घर आग लगी, सब सम्पत्ति घरबार जल गया, उसका तहस-नहस हो गया इत्यादि विपत्तिका आना, उसके बने-बनाये खेलका बिगड़ जाना, सुनकर उनको आनन्द प्राप्त होता है। यथा—'जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जगनृपती॥ उ० ४०।' (३) 'बिपाद बसेरे' अर्थात् बसा हुआ देखकर दुःख होता है। भाव यह कि किसीका फूला-फला घर देखा तो उनको दुःख होता है। यथा—'काहू की जो सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥ उ० ४०।', 'खलन्ह हृदय अतिताप बिसेपी। जरहिं सदा परसंपति देखी॥ उ० ३९।'

२—बैजनाथजी एवं बाबा हरिहरप्रसादजी 'उजरे हरप बिसाद बसेरे' का दूसरा अर्थ यह करते हैं कि इसीसे उनके हृदयका 'हर्ष उजड़ गया और विषादने यहाँ बसेरा लिया है।' पंजाबीजी यह भाव लिखते हैं कि 'लोगोंके हृदयरूपी पुरको भगवत्-विमुख देख प्रसन्न होते हैं और हरिपरायण देखकर शोक करते हैं'।

३ अलंकार—'प्रथम असङ्गति'। कार्य और कारण न्यारे-न्यारे ठौर हैं, हानि किसीकी कहीं हुई, यह कारण और उससे भला दूसरेका, यह कार्य।

४ सज्जन परहितमें अपना हित मानकर हर्षित होते हैं और परायी हानिमें हानि मानते हैं। यथा—'परदुख दुख सुख सुख देखे पर। ७। ३८।' 'परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता। ७। १२५।' साधारण लोग अपने लाभमें लाभ और अपनी हानिमें हानि मानते हैं। और, खल इन दोनोंके विपरीत परहितहानिको ही लाभ मानते हैं, कैसे भी दूसरेका हित नष्ट हो, बस इसीमें उनको हर्ष होता है।

५ एक खर्रेमें पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि हानि, लाभ, हर्ष और विषाद—ये चार बातें व्यवहारमें सार हैं। खलके साथ वे चारों बातें कहीं। 'परहितहानि' को दो आवृत्ति अर्थमें पढ़नेसे अर्थ होगा कि 'परहित' हानि (है) 'परहितहानि' लाभ (है)। अर्थात् पराया हित होना जिनकी हानि है और पराये हितकी हानि जिनका लाभ है। इस तरह इस चरणमें हानि और लाभ दो बातें कही गयीं। दूसरेमें दो स्पष्ट है।

टिप्पणी—१ यहाँ दिखाया कि खलोंका लोक बिगड़ा और आगे 'हरिहर जस राकेस राहु से।…' में इनका परलोक बिगड़ना सूचित करके बताते हैं कि इनका लोक और परलोक दोनों बिगड़ता है। भगवान् और भक्तसे विरोधका यही फल है।

नोट—६ सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने ये विशेषण देकर यह सिद्ध किया है कि खलस्वभाव अव्यवस्थित है। अर्थात् उनके वचन और कर्मका कुछ विश्वास न करना चाहिये। इनके समान कोई नीच नहीं है। भर्तृहरिजी नीतिशतकमें कहते हैं, 'एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः

स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥ ७५ ॥' अर्थात् जो अपना स्वार्थ त्यागकर दूसरोंका कार्य सम्पादन करते हैं वे सत्पुरुष हैं। जो अपने अर्थमें विरोध न पड़नेपर दूसरोंके कार्यमें उद्यम करते हैं वे सामान्य पुरुष हैं। जो अपने हितके लिये दूसरेका काम बिगाड़ते हैं वे राक्षस हैं। परन्तु जो बिना प्रयोजन पराये हितकी हानि करते हैं, उनको क्या नाम दिया जाय यह हम नहीं जानते। इन्हीं अन्तिमको गोस्वामीजीने 'खल' कहा है।

हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—जस (यश)=गुणगान, कथा। राकेश=(राका=पूर्णिमा+ईश=स्वामी)=पूर्णचन्द्र। अकाज= कामका बिगाड़ना। से=समान।

अर्थ—हरिहरयशरूपी पूर्णचन्द्र (को ग्रसने) के लिये राहुके समान हैं। पराया काम बिगाड़नेमें सहस्रबाहुके समान योधा हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'हरिहरजस' इति। हरि और हर दोनोंका यश जब कहें तब यशकी पूर्णता होती है, अतएव दोनोंका यश पूर्णचन्द्र है। जैसे गोस्वामीजीने शिवचरित कहा और रामचरित भी। औरोंके यश तारागण हैं, हरिहरयश राकेश हैं। (ख) [हरिहरयशको पूर्णचन्द्र कहनेका कारण यह है कि चन्द्रका धर्म कथामें है। दोनों आह्लादके करनेवाले हैं। चन्द्र शब्द 'चदि आह्लादने' धातुसे बना है, उसका अर्थ है 'चदयति अमृतरसेन सर्वां भुवं क्लिन्नां करोति वा आह्लादयति इति चन्द्रः'। अर्थात् जो जगत्-मात्रको अपनी अमृतमय किरणोंसे आह्लादित करता है, उसका नाम 'चन्द्र' है। इसी प्रकार कथा भी जगत्मात्रका ज्ञानामृतसम्प्रदानसे उपकार करती है। (सू० प्र० मिश्र)]

नोट—१ 'राकेस राहु से' इति। (क) पूर्णचन्द्रसे राहुका सहज वैर है। राहु उसीको ग्रसता है। अन्य तिथियों-के चन्द्रमाको नहीं ग्रसता। यथा—'वक्र चन्द्रमहि ग्रसै न राहू। १। २८१।' इसी प्रकार खलोंका हरिहरयशसे वैर है। यथा—'करहिं मोहबस द्रोह परावा। संतसंग हरिकथा न भावा ॥ ७। ४०।' यदि कोई भोले-भाले पण्डित कथा कहते हैं तो ये जाकर अटपट प्रश्न करके वा तर्क-कुतर्क करके कथामें विघ्न डालते हैं, यही ग्रहणका लगना है। कथा बन्द हो गयी, तो समझो कि पूर्ण वा सर्वग्रास हो गया। जैसे पूर्णचन्द्रको कुछ कालके लिये राहु छिपा देता है, उसी प्रकार किसी समाजमें खल लोग भी हरिहरयशको छिपा देते हैं। (मु० द्विवेदीजी)। (ख) जैसे राहु हर पूर्णिमा-को नहीं ग्रसता सन्धि पाकर ग्रसता है। यथा—'ग्रसै राहु निज संधिहि पाई' (१। २३८)। वैसे ही खल मौका पाकर विघ्न डालते हैं। यदि कोई पण्डित टेढ़े हुए जो वक्रोक्तिसे कथा कहते हैं, तो वे वहाँ नहीं बोलते। (ग) खल कथासे वैर मानते हैं; क्योंकि कथामें उनकी निन्दा है। राहु चन्द्रसे वैर मानता है क्योंकि समुद्रमन्थनसे अमृत निकलनेपर जब भगवान्‌ने मोहिनीरूप धारणकर अपने सौन्दर्य और कुटिल भ्रुकुटिकटाक्षों एवं मनोहर वाणीसे दैत्योंको मोहित कर लिया और असुरोंने उन्हें ही अमृतका घड़ा अमृत बाँटनेके लिये दे दिया और वे देवताओंको ही अमृत पिलाने लगे थे तब राहुने यह देख कि यह स्त्री तो सब अमृत देवताओंको ही पिलाये देती है, देवताओंका वेष धारणकर देवसमाजमें घुसकर अमृत पी लिया, उस समय चन्द्रमा और सूर्यने इशारेसे मोहिनीरूप भगवान्‌को यह बात बता दी। यथा—'देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देव-संसदि। प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः' ॥ भा० ८। ९। २४।' भगवान्‌ने अमृत पान करते समय ही चक्रसे उसका सिर काट लिया। अमृतका संसर्ग न होनेके कारण उसका धड़ प्राणहीन होकर गिर पड़ा, किन्तु सिर अमर हो गया। तब ब्रह्माजीने उसे भी एक 'ग्रह' बना दिया। पूर्व वैरके कारण वह चन्द्रमा और सूर्यपर अब भी पूर्णिमा, अमावास्यामें आक्रमण किया करता है। यथा—'यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः। २६।' अमृत राहुके कण्ठके नीचे न उतर पाया था, इसीसे सिरमात्र अमर हुआ। राहु हिरण्यकशिपुकी लड़की सिंहिकाका पुत्र था।

'सहसबाहु' इति। इसके अन्य नाम सहस्रार्जुन, अर्जुन, कार्तवीर्य और हैहय भी हैं। यह राजा कृतवीर्यका पुत्र था, जिसकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी (जो नर्मदातटपर दक्षिणमें थी—) अनूपदेशकी यह राजधानी थी। कोई

मण्डलाको माहिष्मती बताते हैं, पर पुराणोंसे इसका नर्मदातटपर होना पाया जाता है।) यह पहले बहुत धार्मिक एवं पवित्र विचारवाला था। कृतवीर्यके मरनेपर जब इसको मन्त्रियों आदिने राज्यपर बिठाना चाहा तब इसने उत्तर दिया कि 'राज्य भविष्यमें नरकमें ले जाता है। जिस उद्देश्यसे प्रजासे कर लिया जाता है, यदि उसका पालन न किया जा सके तो राज्य लेना व्यर्थ है। व्यापारी वाणिज्यके लिये यात्रा कर सकें, लुटेरोंद्वारा लूटे न जायँ, प्रजाकी रक्षा हो, चोर आदि उनकी सम्पत्ति न लें, इत्यादिके लिये ही कर लिया जाता है। यदि राजा कर लेकर रक्षा नहीं कर सकता तो इसका पाप राजाको होता है। यदि राजा वैश्योंसे आयका अधिकांश भाग ले ले तो वह चोरका कर्म करता है, उसके इष्ट और पूर्त कर्मोंका नाश होता है। इसलिये जबतक मैं तपस्या करके पृथ्वीके पालनकी शक्ति न प्राप्त कर लूँ जिससे अपने उत्तरदायित्वका पूर्ण निर्वाह कर सकूँ और पापका भागी न हूँ तबतक मैं राज्य ग्रहण नहीं कर सकता।' यह सुनकर महर्षि गर्गने उससे कहा कि राज्यका यथावत् पालन करनेके लिये यदि तुम ऐसा करना चाहते हो तो दत्तात्रेय भगवान् जो सह्यपर्वतकी गुफामें रहते हैं उनकी आराधना करो। (मार्कण्डेयपुराण अ० १८)। गर्गमुनिकी आज्ञानुसार सहस्रार्जुन श्रीदत्तात्रेयजीके आश्रमपर जाकर उनकी आराधना करने लगा। उनके पैर दबाता, उनके लिये माला, चन्दन, सुगन्ध, जल, फल आदि सामग्री प्रस्तुत करता, भोजनके साधन जुटाता और जूठन साफ करता था। उसने दस हजार वर्षोंतक दुष्कर तपस्या करके दत्तात्रेयजीकी आराधना की। पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० १२ में लिखा है कि पुरुषोत्तम दत्तात्रेयजीने उसे चार वरदान दिये।—(१) पहले तो राजाने अपने लिये एक हजार भुजाएँ माँगीं (२) दूसरे, यह माँगा कि 'मेरे राज्यमें लोगोंको अधर्मकी बात सोचते हुए भी मुझसे भय हो और वे अधर्मके मार्गसे हट जायँ।' (३) तीसरे यह कि 'मैं युद्धमें पृथ्वीको जीतकर धर्मपूर्वक बलका संग्रह करूँ।' (४) चौथे वरके रूपमें उसने यह माँगा कि 'संग्राममें लड़ते-लड़ते मैं अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ वीरके हाथसे मारा जाऊँ।' (पुलस्त्यवाक्य भीष्म प्रति)। और मार्कण्डेयपुराणमें दस वरदानोंका पाना लिखा है। (१) ऐश्वर्यशक्ति जिससे प्रजाका पालन करे और पापका भागी न हो। (२) दूसरेके मनकी बात जान ले। (३) युद्धमें कोई सामना न कर सके। (४) युद्धके समय हजार भुजाएँ प्राप्त हो जायँ। (५) पर्वत, आकाश, जल, पृथिवी और पातालमें अव्याहतगति हो। (६) वध अधिक श्रेष्ठके हाथसे हो। (७) कुमार्गमें प्रवृत्ति होनेपर सन्मार्गका उपदेश प्राप्त हो। (८) श्रेष्ठ अतिथिकी प्राप्ति। (९) निरन्तर दानसे धन न घटे। (१०) स्मरणमात्रसे राष्ट्रमें धनका अभाव दूर हो जाय। भक्ति बनी रहे। यथा—'यदि देव प्रसन्नस्त्वं तत्प्रयच्छर्द्धिमुत्तमाम्॥ १४॥ यथा प्रजां पालयेय न चाधर्ममवाप्नुयाम्। परानुस्मरणज्ञानम-प्रतिद्वन्द्वतां रणे॥ १५॥ सहस्रमाप्तुमिच्छामि बाहूनां लघुता गुणम्। असङ्गा गतयः सन्तु शैलाकाशाम्बुभूमिषु॥ १६॥ पातालेषु च सर्वेषु वधश्चाप्यधिकान्नरात्। तथाऽमार्गप्रवृत्तस्य सन्तु सन्मार्गदेशिकाः॥ १७॥ सन्तु मेऽतिथयः श्लाघ्या वित्तदानैस्तथाक्षयम्। अनष्टद्रव्यता राष्ट्रे ममानुस्मरणेन च। त्वयि भक्तिश्च देवास्तु नित्यमव्यभिचारिणी॥ १८॥' (मार्क० पु० अ० १८)।

महाभारत वनपर्वमें लिखा है कि महर्षि दत्तात्रेयजीकी कृपासे उसे एक सोनेका विमान मिला था। पृथ्वीके सभी प्राणियोंपर उसका प्रभुत्व था। उसके रथकी गतिको कोई भी रोक नहीं सकता था। यथा—'दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा। ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते॥ १२॥ अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः। (अ० ११५) वह महान् तेजस्वी राजा था। अश्वमेध यज्ञमें उसने बाहुबलसे जीती हुई सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणोंको दे दी। एक बार अग्निदेवने उससे भिक्षा माँगी और उसने अपनी सहस्र भुजाओंके पराक्रमके भरोसे भिक्षा दी। उसके बाणोंके अग्र भागसे प्रकट होकर अग्निने अनेकों ग्रामों, देशों, नगरों, गोशालाओंको भस्म कर दिया। उन्होंने महात्मा आपव (वसिष्ठ)* मुनिके आश्रमको भी जला दिया जिससे मुनिने उसको शाप दिया कि तेरी भुजाओंको परशुराम काट डालेंगे। अर्जुनने शापपर ध्यान न दिया। (महाभारत शान्तिपर्व अ० ४९ श्लोक ३५-४५। पद्मपु० सृष्टि० अ० १२)। आश्वमेधिक-

* ये वरुणके पुत्र थे। पीछे ये वसिष्ठ नामसे विख्यात हुए। (ब्रह्मपुराण ययातिवंश-वर्णनमें।) संभव है कि वरुणके तेजसे घटसे उत्पन्न होनेपर वसिष्ठजीका ही नाम हुआ हो।

पर्वके ब्राह्मण-ब्राह्मणी-उपाख्यानमें कार्तवीर्य और समुद्रका संवाद है। एक दिन कार्तवीर्य समुद्रके किनारे विचरता हुआ बलके घमण्डमें आकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षासे उसने समुद्रको ढक दिया। तब समुद्रने प्रकट होकर प्रार्थना की 'बाणवर्षा न कीजिये, इससे मेरे अंदर रहनेवाले प्राणियोंकी हत्या हो रही है। उन्हें अभय दीजिये और जो आपकी आज्ञा हो उसका मैं पालन करूँ।' उसने कहा कि 'मेरे समान धनुर्धर योद्धा वीर जो मेरा मुकाबला कर सके यदि कोई हो तो उसका पता बता दो।' समुद्रने तब उससे जमदग्निऋषिके आश्रमपर जानेको कहा और कहा कि उसका पुत्र परशुराम तुम्हारा अच्छी तरह सत्कार कर सकता है। (अ० २९)।

यज्ञोंमें देवता इसे प्रत्यक्ष दर्शन देते थे। वर्षाकालमें यह समुद्रका वेगतक रोक देता था। एक बार यह पाँच बाणोंसे ही अभिमानी रावणको उसकी सेनासहित मूर्च्छित करके बाँध ले गया था। इच्छा करते ही इसके हजार भुजाएँ प्रकट हो जाती थीं (पद्मपुराण सृष्टिखण्ड)। युद्ध करते समय हजार भुजाएँ हो जाती थीं जिनमें बहुत बल होता था पर जो बहुत हलकी होती थीं, जिससे शरीरपर भार न पड़ता था (मार्कण्डेयपुराण)। हरिवंशपुराणमें भी इसकी कथा है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि उसके सदा दो भुज रहते थे पर जब वह लड़ता था तब उसे हजार भुजाएँ हो जाती थीं। यथा—'तस्य बाहुसहस्रं तु युध्यतः किल भारत। योगाद्योगेश्वरस्यैव प्रादुर्भवति मायया॥' (अ० ३३ श्लोक १४)। पीछे यह बहुत उद्दण्ड हो गया। रथ और वरके प्रभावसे वीर देवता, यक्ष और ऋषि सभीको कुचलने लगा। सभी प्राणी उसके द्वारा पीडित होने लगे। उसके पुत्र भी बली, घमण्डी और क्रूर थे। शापवश वे ही अपने पिताके वधके कारण हुए। (महाभारत वन० ११५। १४, १५, शान्तिपर्व अ० ४९)। यह तन्त्रशास्त्रका आचार्य माना जाता है। पचासी हजार वर्ष इसने राज्य किया। परशुरामजीके हाथों मारा गया। शेष कथाएँ परशुरामगर्वहरण और अङ्गद-रावण तथा हनुमान्-रावण-संवादमें दी गयी हैं। यहाँ उनका प्रयोजन नहीं है।

इसकी प्रशंसा ब्रह्मपुराणमें भी इस प्रकार वर्णित है। यज्ञ, दान, तपस्या, पराक्रम और शास्त्रज्ञानमें कोई राजा इसकी स्थितिको नहीं पहुँच सकता था। वह योगी था; इसलिये सातों द्वीपोंमें ढाल, तलवार, धनुष, बाण और रथ लिये सदा चारों ओर विचरता दिखायी देता था। वर्षाकालमें समुद्रमें क्रीड़ा करते समय अपनी भुजाओंसे रोककर उसकी जल-राशिके वेगको पीछेकी ओर लौटा देता था। वे जब अपनी सहस्रों भुजाओंको जलपर पटकते थे उस समय पाताल-निवासी महादैत्य निश्चेष्ट हो जाते थे। ब्रह्मवैवर्तपुराणके गणेशखण्ड अ० २३—२७ में भी इसकी कथा है।

नोट—२ उपर्युक्त कार्तवीर्यचरितसे मिलान करनेपर 'पर अकाज भट सहसबाहुसे' के ये भाव निकलते हैं कि—

(क) इनके दो ही भुजाएँ हैं पर उनसे दूसरोंको हानि पहुँचानेमें इतना परिश्रम करते हैं मानो हजार भुजाओंसे काम कर रहे हैं। (ख) सहस्रबाहु प्रजाके घर, उसके मनमें पर-अकाजका विचार उठते ही जा खड़ा होता था, प्रजा काँप उठती थी, वैसे ही ये ज्यों ही किसीका काम बनते सुनते हैं, वहाँ जा खड़े होते हैं जिससे उसे विघ्नका भय हो जाता है। (ग) उसने हजार भुजाओंसे दुष्टता की, जमदग्नि मुनिकी गऊ छीनी और ये दूसरेकी वस्तु हरने एवं काम बिगाड़नेमें वैसी ही बहादुरी करते हैं। (घ) सहस्रबाहु 'परअकाज' अर्थात् शत्रुको हानि पहुँचानेमें भट था और ये 'पर' अर्थात् दूसरेके कार्यमें हानि पहुँचानेमें भट। लड़ाईमें कार्तवीर्यके सहस्र भुजाएँ हो जाती थीं और पर अकाज करनेमें इनकी भुजाओंमें बड़ा ही बल आ जाता है। (मा० प०)। (ङ) सहस्रबाहु बल पाकर देवता, ऋषि, मुनि आदिको भी पीड़ित करने लगा था, वैसे ही खल बल ऐश्वर्य पाकर उदासीन और मित्रोंका भी अहित करते हैं। (च) उसने कपिला गौ न देनेपर जमदग्निऋषिको मार डाला, वैसे ही खल परायी वस्तु सीधे न मिलनेपर वस्तुके मालिकको मार ही डालते हैं। इत्यादि।

नोट—३ यहाँ उपमेय एक ही है 'खल', पर उसके लिये अनेक उपमान कहे जा रहे हैं। पृथक्-पृथक् धर्मोंके लिये पृथक्-पृथक् उपमा दी गयी है। अतएव यहाँसे 'उदय केतु सम' तक भिन्नधर्ममालोपमा अलङ्कार है। २० (८) देखिये। इनके धर्म शब्दोंके भावोंके साथ लिखे गये हैं।

इन चौपाइयोंसे मिलता हुआ श्लोक प्रसङ्गरत्नावलीमें यह है, 'परवादे दशवदनः पररन्ध्रनिरीक्षणे सहस्राक्षः। सद्वृत्तवित्तहरणे बाहुसहस्रार्जुनो नीचः॥' (सु० र० भा० में 'सहस्रार्जुन पिशुन' पाठ है। दुर्जनप्रशंसा १२९)।

अर्थात् परनिन्दा करनेमें रावणके तुल्य दशमुखवाले, परछिद्रनिरीक्षणमें इन्द्रके समान सहस्र आँखोंवाले, सदाचारियोंकी सम्पत्ति हरण करनेमें नीच सहस्रार्जुनके समान हजार बाहुवाले हैं।

जे पर दोष लखहिं सहसाखी। पर हित घृत जिन्ह के मन माखी॥ ४॥

शब्दार्थ—लखना (सं० लक्ष)=लक्षण देखकर समझ लेना, ताड़ना, यथा—'लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंड। १। २५९।', 'लखइ न रानि निकट दुख कैसे। २। २२।', 'लखन लखेउ भा अनरथ आजू। २। ७६।', 'लखन लखेउ प्रभु हृदय खभारू। २। २२७।'=देखना। सहसाखी—टिप्पणी एवं नोटमें दिया गया है। घृत=घी। माखी (सं० मक्षिका)=मक्खी।

अर्थ—जो पराये दोषोंको 'सहसाखी' देखते हैं। जिनके मन पराये हितरूपी घीमें मक्खी (की तरह जा पड़ते) हैं॥ ४॥

नोट—१ 'जे पर दोष लखहिं' इति। 'परदोष लखहिं' कहकर जनाया कि पराये छिपे हुए दोषोंको जो राई-सरसोंसमान छोटे हैं उनको भी ढूँढ निकालते हैं और अपने दोषोंको, चाहे वे पर्वतसमान बड़े क्यों न हों नहीं देखते।

२ 'लखहिं सहसाखी' इति। (क) यहाँ 'सहसाखी' के चार प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं। (१) सहस आँखी=हजार नेत्रोंसे। (२) सह साखी=साक्षीसहित, गवाहको साथ ले जाकर। (३) सहसा आखी=एक दमसे आँखसे। (४) सहस आखी।

(१) पं० रामकुमारजी, पंजाबीजी, सुधाकरद्विवेदीजी आदि कई महानुभावोंने प्रथम अर्थ लिया है। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि खलोंके हजार नेत्र नहीं हैं, परन्तु वे परदोषोंमें बहुत (सूक्ष्म) दृष्टि रखते हैं इसीसे सहस नेत्रोंसमान कहा। दो ही नेत्रोंसे हजार नेत्रोंका-सा काम करते हैं। इसीके विपरीत 'सहस नयन' होनेपर भी भरतजीके भावको न लखनेसे इन्द्रको बिना लोचनका कहा है। यथा—'बचन सुनत सुरगुरु मुसुकाने। सहस नयन बिनु लोचन जाने॥' इस अर्थमें बैजनाथजी आदि कुछ टीकाकार पुनरुक्ति दोष बताते हैं क्योंकि आगे अर्धाली ११ में 'सहस नयन पर दोष निहारा' में फिर 'सहस नयन' आया है। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि इसमें पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि वहाँ परदोषको 'निहारना' कहा है। 'निहारना' प्रत्यक्ष वस्तुके देखनेको कहते हैं। यथा—'भरि लोचन छबि लेहु निहारी। १। २४६।', 'जो न मोह यह रूप निहारी। १। २२१।', 'प्रभु सनमुख कछु कहन न पारहिं। पुनि पुनि चरन सरोज निहारहिं। ७। १७।' वहाँ 'निहारा' कहकर जनाया है कि परदोष खलोंको अत्यन्त प्रिय लगता है अतः वे हजार नेत्रोंसे उसे देखते हैं। और, 'लखना' छिपी हुई वस्तुको देख लेनेको कहते हैं। 'हजार नेत्रोंसे परदोषको लखते हैं' कहकर जनाया कि कोई उनसे छिपाना चाहे तो छिपा नहीं सकता, ये उसे ढूँढ निकालते हैं। पुनः यहाँ 'खलगण' (खलसमाज) का लक्षण कहते हैं कि ये 'परदोष लखहिं सहसाखी' और वहाँ खलका लक्षण कह रहे हैं। यथा—'बंदउँ खल जस सेष सरोषा।'' सहस नयन पर दोष निहारा।' यहाँ खलगणका प्रसङ्ग है। अलग-अलग दो प्रसङ्ग होनेसे पुनरुक्ति नहीं है। दो हैं, इसलिये दो कहे।

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि 'सूक्ष्मदर्शक यन्त्रोंसे स्पष्ट है कि मक्खियोंको हजारों आँखें होती हैं। वे प्राणियोंके व्रणमलोंको हजारों आँखोंसे देखकर तुरत उनपर टूट पड़ती हैं और उस मलके साथ अपना कृमिमय मल और मिला देती हैं जिससे प्राणीको और भी कष्ट भोगना पड़ता है। खललोग भी ठीक इसी प्रकार बड़े चावसे दूसरोंके दोष देखते हैं।' इस तरह 'माखी' के सम्बन्धसे 'सहस आँखी' कहा गया।

दूसरा दोष यह कहा जाता है कि 'सहस आखी' पाठ माननेसे 'आ' पर अपनी ओरसे अनुस्वार लगाना पड़ता है। बिना अनुस्वार 'आखी' का अर्थ नेत्र नहीं होता। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि 'माखी' के जोड़के लिये यहाँ 'आखी' लिखा गया। फिर कोशमें 'आखना' का अर्थ 'देखना' मिलता है।

(२) 'सह साखी' पाठमें पुनरुक्ति आदिका प्रश्न ही नहीं उठता। 'सह साखी' का भाव यह है कि स्वयं

देखते हैं और दूसरोंको साथ ले जाकर दिखाते हैं कि गवाह रहना। इसका कारण यह है कि दुष्ट होनेके कारण इनका कोई विश्वास नहीं करेगा। अतः साक्षी भी साथ ले जाते हैं।

(३) 'सहसा आखी'। इस पाठका भावार्थ यह है कि 'सहसा' (एकदमसे, एकाएक) आँख डालकर (वा, आखी=देखकर) लख लेते हैं अर्थात् बहुत शीघ्र देख लेते हैं। एवं बिना दोष निर्णय किये हुए ही दोषदृष्टि करते हैं। (वि० टी०, रा० प०)।

(४) सहसा आखी=हँसते हुए (आँखसे) देखते हैं।

मेरी समझमें 'सहसाखी' शब्द देकर ग्रन्थकारने उपर्युक्त सभी भाव एक साथ सूचित किये हैं। खल पराये दोषोंको इस प्रकार लख लेते हैं कि मानो उनके हजारों नेत्र हैं कि उनसे कोई भी छिद्र बच नहीं सकता। इतना ही नहीं वरन् वे शीघ्र ही दोषको ढूँढ़ निकालते हैं और दूसरोंको भी दिखाते हैं और हँसी भी उड़ाते हैं। एक दोषको वे हजारगुणा करके देखते हैं। 'लखहिं' से जनाया कि उनकी इतनी तेज सूक्ष्मदृष्टि है कि जो दोष अभी मनमें ही गुप्त है उनको भी ढूँढ़ निकालते हैं।

टिप्पणी—इस प्रकरणमें 'परदोष' के सम्बन्धमें चार बातें दिखायी हैं। (क) परदोष लखते हैं। (ख) परदोष कहते हैं। यथा—'सहस बदन बरनै परदोषा॥ ८॥' (ग) परदोष सुनते हैं। यथा—'पर अघ सुनइ सहस दस काना॥ ९॥' (घ) परदोष निहारते हैं। 'सहस नयन परदोष निहारा॥ ११॥' खलोंके ये लक्षण बनाकर भलोंको उपदेश देते हैं कि इन चारों दोषोंसे बचे रहें।

नोट—३ 'परहित घृत जिन्ह के मन माखी' इति। (क) ग्रन्थकारने 'हित' को 'घृत' की उपमा दी, सो बहुत ही ठीक है, क्योंकि 'घी' से बढ़कर कोई वस्तु शरीरके लिये उपकारक नहीं है।··श्रुति भी कहती है—'घृतमायु'। अन्यत्र भी कहा है, 'आयुर्वै घृतं भवति'। घृत परम उपकारक है। आयुका वर्द्धक है। और मनुष्यको आयुसे बढ़कर प्रिय वस्तु नहीं। (सू० प्र० मिश्र)। (ख) भाव यह है कि जैसे घीमें मक्खी गिरती है तो उसके पैर, पङ्ख सब सन जाते हैं, उसका अङ्ग-भङ्ग हो जाता है। घीको कोई खराब (अपवित्र) नहीं समझता, मक्खीको लोग निकाल फेंकते हैं। वैसे ही खलोंके मन पराया हित बिगाड़नेमें नित्य लगे रहते हैं। जो हितकी हानि न हुई तो उनका परिश्रम व्यर्थ हुआ, मनोरथ चूर-चूर पड़नेसे मनको दुःख हुआ, उदासी छा गयी, यही अङ्ग-भङ्ग होना है, लोग उलटे इन्हींको दोष देने लगते हैं। अथवा, घी मक्खीका नाशक है, उसके लिये विष है, उसमें गिरते ही वह मर जाती है, पर हजारों आँखें होते हुए भी वह अपने नाशपर ध्यान नहीं देती, उसे बिगाड़नेके लिये उसमें कूद पड़ती है और प्राण दे देती है। वैसे ही खल लोग दूसरेका हितरूपी घृत बिगाड़नेके लिये आग-पानी कुछ नहीं समझते, उसके बने-बनाये कामको बिगाड़नेके लिये प्राण भी दे देते हैं। (द्विवेदीजी, सू० प्र० मिश्र)। अथवा, पर हित (परोपकार) के समान कोई धर्म नहीं है। यथा—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। ७। ४१।' और घी भी परमोपकारक है अतः परहितको घृत कहा। जैसे मक्खीके लिये घी विष है, वैसे ही परोपकार करना उनके मनरूपी मक्खीके लिये विष है, यदि कहीं किसीका उपकार हो गया तो उनके मनको मरणतुल्य दुःख हो जाता है।

यहाँ खलोंको मक्खी नहीं कहा, उनके मनको मक्खी कहा है। अतः भाव यही होता है कि उनका मन सदा परहित-के बिगाड़नेमें मक्खीकी तरह लगा रहता है।

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥ ५॥

शब्दार्थ—तेज=प्रचण्डता, ताप। कृसानु (कृशानु)=अग्नि। रोष=क्रोध। महिषेस=यमराज।=महिषासुर। यथा—'महामोह महिषेसु बिसाला'। १। ४७। अघ=पाप। धनी=धनवान, धनाढ्य, मालदार। धनेसा (धनेश)=धनके स्वामी, कुबेर। ये विश्रवा मुनिके पुत्र और रावणके सौतेले भाई थे। ब्रह्माजीने इन्हें देवता बनाकर उत्तर दिशाका अधिकारी बना दिया था। संसारभरके धनके स्वामी इन्द्रकी नवनिधियोंके भण्डारी और श्रीशिवजीके मित्र कहे जाते हैं। पूर्व जन्ममें ये ही गुणनिधि द्विज थे।

अर्थ—जो तेजमें अग्नि और क्रोधमे महिषेशके समान हैं, पाप और अवगुणरूपी धनमे कुबेरके समान धनी हैं ॥ ५ ॥

नोट—१ (क) 'तेज कृसानु' इति। तेजसे यहाँ बल, वैभव आदिकी प्रचण्डतासे तात्पर्य है। अर्थात् बल, वैभव आदि पाकर जो उनसे दूसरोंको जलानेवाला प्रचण्ड ताप है वह अग्निके समान है। अग्निका तेज बड़ा प्रचण्ड होता है, वह सभी कुछ जला डालनेको समर्थ है। यथा—'काह न पावकु जारि सक। २।४७।' खलोंके तेजको अग्नि कहनेका भाव यह है कि (१) जैसे आग स्वयं तप्त है और दूसरोंको भी अपनी आँचसे तप्त कर देती है, वैसे ही यदि इनके वैभव और बल हुआ तो ये उसे दूसरेके जलाने, सन्तप्त करनेके ही काममें लाते हैं। (२) जैसे अग्नि अपने तेजसे संताप पहुँचाते, जलाते वा उजाड़ते हैं, किसीको नहीं छोड़ते। (३) बात-बातमें जैसे अग्नि (घी, ईंधन, पवन, कपूर, गुग्गुल, राल आदिकी आहुतियाँ पा-पाकर) अधिक प्रचण्ड होती है और शुभाशुभ सभी वस्तुओंको भस्म करनेमें उद्यत हो जाती है, वैसे ही खल भी ज्यों-ज्यों अधिक बल और वैभव पाता है, त्यों-त्यों वह अपनी तेजी (प्रचण्डता) को अग्निके समान बढ़ाता है। (४) जैसे अग्नि स्वयं तप्त है, वैसे ही खल भी सदा अपने क्रोधसे जला करते हैं, सदा लाल मुख रहते हैं।

(ख) 'रोष महिषेसा' इति। 'महिषेश' के दो अर्थ होते हैं। महिषेश=महिष+ईश=भैंसेका देवता=वह देवता जिसका वाहन भैंसा है=यमराज जिनको धर्मराज भी कहते हैं। ये विश्वकर्माकी कन्या संज्ञाद्वारा सूर्यके पुत्र हैं। ये दक्षिण दिशाके स्वामी और मृत्युके देवता हैं। इनके लोकका नाम यमलोक है। मृत्युके समय इनके ही दूत शरीरसे प्राण निकालनेके लिये आते हैं। मनुष्यकी आत्माको लेकर वे यमराजके पास जाते हैं। वहाँ श्रीचित्रगुप्तजी महाराज उसके शुभाशुभ कर्मोंका लेखा पढ़ सुनाते हैं जिनपर धर्मपूर्वक विचारकर वे उस प्राणीको स्वर्ग वा नरक आदिमें भेजते हैं। स्मृतियोंमें चौदह यम कहे गये हैं। यम, धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत, काल, सर्वभूतक्षय, उदुम्बर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र और चित्रगुप्त। इनका वाहन महिष (भैंसा) है और दण्ड तथा पाश इनके आयुध हैं। पाशसे प्राणीको बाँधते हैं और पापी प्राणियोंको दण्ड से-दण्ड दिया जाता है। पापियोंपर ये अत्यन्त क्रोध करते हैं। यमराज अर्थसे 'रोष महिषेसा' का भाव यह होता है कि जैसे यमराज पापी प्राणीका प्राण हरकर क्रोध करके उसको दण्ड देते हैं वैसे ही खल क्रोध करके दूसरोंके प्राण ही नहीं लेते, किंतु मरनेपर भी उसका पीछा नहीं छोड़ते। पुनः, जैसे क्रोधमें भरे हुए यमराजको देखकर भला कौन जीवित रह सकता है। यथा—'कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन।' (मार्कण्डेयपु० महिषासुरवध अ० ४१३) वैसे ही खलोंके रोषसे दूसरोंके प्राण ही हरण हो जाते हैं।

'महिषेश' का दूसरा अर्थ महिषासुर है। यह रम्भ नामक दैत्यका पुत्र था, (भा० ६।१८।१६ में इसे हिरण्यकशिपुके अनुह्लादनामक पुत्र कहा है)। इसकी आकृति भैंसेकी-सी थी अथवा यह भयङ्कर भैंसेका रूप धारण करता था इससे महिषासुर नाम पड़ा। इसकी माँका नाम महिषी था। इसने हेमगिरिपर कठिन तपस्या करके ब्रह्माजीसे वह वर पाया था कि स्त्री छोड़ किसी पुरुषसे इसका वध न हो सके। वर पाकर इसने इन्द्रादि सभी दिग्पालोंको जीतकर उनके लोक और अधिकार छीन लिये तथा स्वयं सबका अधिष्ठाता बन बैठा। क्रोधावेशमें यह कैसा भयङ्कर हो जाता था यह देवीसे युद्धके समयके वृत्तान्तसे कुछ प्रकट हो जायगा। अतः हम संक्षेपसे यहाँ उसका वर्णन करते हैं। अपनी सेनाका संहार देख इसने भैंसेका रूप धारण कर देवीके गणोंको त्रास देना आरम्भ किया। 'माहिषेण स्वरूपेण त्रासयामास तान् गणान्।' (मार्कण्डेयपु० महिषासुरवध अ० ३।२१)। कितनेहीको थूथुनोंसे, कितनोंको खुरोंसे, किन्हींको सींगोंसे या पूँछसे, किन्हींको सिंहनादसे अथवा निःश्वास-वायुके झोंकेसे मारकर धराशायी कर दिया। क्रोधमें भरकर धरतीको खुरोंसे खोदने लगा और अपने सींगोंसे ऊँचे-ऊँचे पर्वतोंको उठाकर फेंकता और गरजता था। उसके वेगसे चक्कर देनेके कारण पृथ्वी क्षुब्ध हो फटने लगी। उसकी पूँछसे टकराकर समुद्र पृथ्वीको डुबाने लगा, श्वासकी प्रचण्ड वायुके वेगसे उड़े हुए सैकड़ों पर्वत आकाशसे गिरने लगे। भैंसासे तुरन्त सिंह, सिंहसे खड्गधारी पुरुष, इसी तरह कभी गजराज, कभी पुनः भैंसारूप धारण कर अपने बल और पराक्रमके मदसे उन्मत्त हुआ वह

चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको व्याकुल करने लगा। कालिका देवीने उसको मारा। देवता इसके क्रोधसे काँपते थे।

रोष महिषासुरके समान है। भाव यह कि अपने बल और पराक्रम एवं वैभवके मदसे उन्मत्त होकर वे सभी प्राणियोंको अनेक यत्न कर-करके पीड़ित किया करते हैं। अथवा, अपनी तेजीको आग-मशीला बढ़ाकर, बात-बातमें अपने रोषको प्रचण्ड कर-करके महिषासुरकी तरह लाल-लाल आँखें करके हाँफने लगते हैं। (सु० गङ्गाद्विवेदीजी)।

नोट—२ 'अघ अवगुन धन धनी धनेसा' इति। भाव यह कि—(क) कुबेरके समान ये हजार भुजाओंसे अघ-अवगुनरूपी धन बटोरते हैं'। अर्थात् जैसे कुबेरके धनकी गणना नहीं, वैसे ही इनके पापों और अवगुणोंका अन्त नहीं। यथा—'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥ १। ६।' इसी कारण उनको अघ अवगुणका धनी कहा। (प० रामकुमारजी)। (ख) कुबेरके भण्डारसे चाहे जितना धन निकलता जाय वह खाली नहीं होता, सर्वदा भरा रहता है। इसी प्रकार खलके हृदयसे अनेक पाप, दुर्गुण प्रत्यूह नूतन प्रकट होते जाते हैं, परंतु तो भी हृदय उनसे भरा ही रहता है। (सु० द्विवेदीजी)। (ग) (वैजनाथजी लिखते हैं कि) महाकुलक्षणी पुरुषमें अट्ठाईस अवगुण होते हैं। यथा—'काम क्रोध युत त्रिया हत दुर्वादी अतिलोभ। लपट लज्जाहीन गनि विद्याहीन अशोभ॥ आलस अति निद्रा बहुत दुष्ट दया करि हीन। सूम दरिद्री जानिए रागी सदा मलीन॥ देत कुपात्रहि दान पुनि मरण ज्ञान दृढ़ नाहिं। भोगी सर्व न सम्पुरइ कछु शास्त्रन के माहिं॥ अति अहार प्रिय जानिए अहंकारयुत देखु। महा अलक्षण पुरुषमें ये अट्ठाइस लेखु॥' इन सब अवगुणोंके होनेसे अवगुणका धनी कहा।

३ 'तेज कृसानु, रोष महिषेस' 'अघ अवगुन धन धनी'—'कुबेर'। यहाँ उपमानके गुण उपमेयमें स्थापित करनेसे 'द्वितीय निदर्शना' अलङ्कार है। 'अघअवगुण धनधनी' में रूपक भी है।

उदय केत सम हित सब ही के। कुंभकरन सम सोवत नीके॥ ६॥

शब्दार्थ—केत (केतु)=एक प्रकारका तारा जिसके साथ एक प्रकाशकी पूँछ दिखायी देती है। इसे पुच्छल तारा, बढ़नी, झाड़ आदि भी कहते हैं। इस तरहके अनेक तारे हैं, इनकी संख्या अनिश्चित है। 'केतुपुच्छमें स्वयं प्रकाश नहीं होता। यह स्वच्छ, पारदर्शी और वायुमय होता है जिसमें सूर्यके सान्निध्यसे प्रकाश आ जाता है। यह अपने उदयकालहीमें या उदयके पन्द्रह दिन पीछे शुभ या अशुभ फल देता है। कुम्भकरन (कुम्भकर्ण)=रावणका मँझला भाई। नीके=अच्छा।

अर्थ—सभीके हितमें ये केतुके समान उदय हो जाते हैं। [या, इनका उदय (=बढ़ती, वृद्धि या उन्नति) सभीके हितके लिये केतुके समान है] कुम्भकर्णके समान इनका सोते ही रहना अच्छा है॥ ६॥

नोट—१ 'उदय केतु सम' इति। (क) केतु नामक तारागणोंमेंसे अनेक शुभ भी हैं। यथा—'धूमाकारा शिखा यस्य कृत्तिकायां समाश्रिता। दृश्यते रश्मिकेतुः स्यात् सप्ताहानि शुभप्रदः॥' (मयूरचित्रे)। कोई-कोई ऐसे हैं कि वे जिस नक्षत्रपर उदय होते हैं उसके देशका नाश करते हैं, अन्यका नहीं। यथा—'अश्विन्यामश्मक हन्ति याम्ये केतु किरातकान। वह्नौ कलिङ्गनृपतीन रोहिण्यां शूरसेनकान्॥' इसके अनुसार भाव यह होगा कि खलोंकी बढ़ती होती है तो सभी अपने हितकी हानि समझकर डर जाते हैं। चाहे वे किसीका हित भी करें तो भी उनसे सब डरते ही हैं। (वै०)। (ख) यदि 'केतु' से केवल उस अधम ग्रहका अर्थ लें जिसका उदय संसारको दुःख देनेवाला होता है, जो अशुभ ही होता है। यथा—'दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥ ७। १२१।' तो भाव यह होगा कि जहाँ किसीका हित होते हुए देखते हैं वहाँ केतुके समान जा प्रकट होते हैं। केतु जहाँ प्रकट होता है, वहाँके राजा प्रजाकी हानि होती है। वैसे ही इनके पहुँचनेसे उसके हितकी हानि हो जाती है। ये इसीलिये पहुँचते हैं कि उसके हितका नाश हो या, इनके प्रकट होनेसे उसे हानिका भय होता है। (प० रामकुमारजी)। अथवा, (ग) (कोष्ठकान्तर्गत अर्थके अनुसार) भाव यह है कि यदि इनका उदय हुआ अर्थात् भाग्यवश इनको कुछ ऐश्वर्य, बल या अधिकार मिल गया तो सभीके हितमें बाधा पड़ने लगती है, जैसे केतुके उदयसे संसारको अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं।

२ इस चरणके और अर्थ ये किये जाते हैं। (क) सभीके लिये इनका उदय (वृद्धि) केतुके समान-(हानिकारक) है। (यहाँ 'हित'=लिये)। (ख) उनका उदय केतुकी तरह सभीका समान (एक-सा) हित करनेवाला है। (यह व्यङ्ग है। इसमें ध्वनि यह है कि ये सभीका अहित करते हैं।) (ग) उनका उदय केतुके सदृश सबका अहित करता है। [कोई-कोई पण्डित 'सम हित' को स + अहित (=सदृश अहित) मानकर ऐसा अर्थ करते हैं।]

३ **'कुभकरन सम सोवत नीके'** इति। (क) कुम्भकर्ण तपस्या करके चाहता था कि यह वर प्राप्त करूँ कि छ महीना जागूँ तब केवल एक दिन सोऊँ। जब ब्रह्माजी इसके पास आये तो इसे देखकर विस्मित हो गये और सोचने लगे कि **'जौं एहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि ससारू॥'** तब उन्होंने **'सारद प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नींद मास षट केरी॥'** (१। १७७) जगत्की रक्षाके लिये उन्होंने उसकी मति फेर दी जिससे उसने छ. महीने नींद हो चुकनेपर एक दिनका जागरण माँगा, नहीं तो ससार चौपट हो जाता। (ख) भाव यह है कि जब इनकी बढती जगत्के लिये केतुके समान अहितकारी है तब इनका सोते ही रहना अच्छा है। इनका ऐश्वर्यहीन, दरिद्र, दुखी, शोचग्रस्त तो दबे पड़े रहना इत्यादि 'सोते रहना' है। क्योंकि तब जगत् इनके उपद्रवसे बचा रहेगा। इनके मरमिटनेसे जगत्का भला है। जैसे कुम्भकर्णके जागनेसे ससारके चौपट होनेकी सम्भावना थी वैसे ही इनके उदयसे ससारके अकल्याणकी सम्भावना है। अत ये सोते ही रहें। पुन, (ग) पूरी अर्धालीका अन्वय इस प्रकार करें।—(उनका) उदय केतु सम (है) सबहीका हित (उनके) कुम्भकर्णसमान नीके (भली-भाँति) सोते ही रहनेमें है।' भाव यह है कि जैसे केतुके अस्त होनेहीसे वा उदय न होनेहीसे ससारकी भलाई है और कुम्भकर्णकी गहरी दीर्घकालकी नींदसे ही ससार सुखी रहता था, वैसे ही इनका मरे मिटे रहना, कभी वृद्धि न होना, सदा आपत्तिरूपी गहरी नींदमें पड़े रहना ही जगत्के लिये हितकर है। पुन, (घ) बाबा हरीदासजी अर्थ करते हैं कि 'कुम्भकर्णके समान ये नीके पदार्थसे अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदिसे सोते रहते हैं अर्थात् उन्हें भूले रहते हैं। **'सोवत नीके'** कहकर यह भी जनाया कि जीवहिंसा, परपीड़ामें आसक्त रहना उनका जागना है।' (शिला)।

पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं॥ ७॥

शब्दार्थ—परिहरना = छोड देना, त्याग देना। हिम उपल=बर्फका पत्थर, ओले। कृषी (कृषि)=खेती, फसल। दलि=दलकर, नाश करके। गरना=गलना, घुल जाना।

अर्थ—वे दूसरेका काम बिगाडनेके लिये अपना शरीरतक छोड़ देते हैं, जैसे ओले खेतीका नाश करके (आप भी) गल जाते हैं॥ ७॥

नोट—१ सन्त दूसरेके 'काज' के लिये, पर अकाजकी रक्षामे, शरीरतक छोड़ देते हैं, जैसे गृध्रराज जटायुने। उसीके विपरीत खल पर 'अकाज' के लिये तन त्याग देते हैं जैसे कालनेमि और मारीचने किया। २ इस अर्धालीके जोड़की अर्धाली उत्तरकाण्डमें यह है। **'परसपदा बिनासि नसाही। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं॥'** (१२१। १९)। ३ **'पर अकाज'** पहले भी कहा है। यथा—**'पर अकाज भट सहस बाहुसे।'** अर्थात् प्रथम बताया कि पराया काज बिगाड़नेके लिये सहस्रबाहुके समान पुरुषार्थ करते हैं। जब उतने पुरुषार्थसे भी अकाज न हुआ तब क्या करते हैं यह यहाँ बताते हैं कि **'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं।'** अर्थात् उसके लिये शरीरतककी परवा नहीं करते, तन त्यागकर अकाज करते हैं। 'पराई बदशगूनीके लिये नाक कटाना' मुहावरा है। अपनी नाक कटे तो कटे, पर दूसरेको अपशकुन अवश्य हो। वही भाव यहाँ है। ४ **'जिमि हिम उपल …'** इति। यहाँ प्रथम साधारण बात कहकर फिर विशेषसे समता देनेसे 'उदाहरण अलङ्कार' है। ५ **'परिहरहीं'** और **'गरहीं'** बहुवचन हैं, क्योंकि ये सब लक्षण 'खलगण' के कहे गये हैं। एक-दो ओलोंसे खेतीका नाश नहीं हो सकता, जब बहुत-से ओले गिरते हैं तभी खेतीका नाश होता है। वैसे ही बहुत-से खल मिलकर पर-अकाज करते हैं। ६ मानसपत्रिकाकार **'हिम उपल'** को दो शब्द मानते हैं। हिम=पाला। उपल= पत्थर=ओला। अर्थात् 'जैसे हिम और उपल दोनों एक-सा नहीं रहते, थोड़े ही काल बाद नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही खलोंका नाश तो होगा ही, पर खेद इतना ही है कि ये औरोंको बरबाद कर देते हैं। यथा—**'आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥'** ७। १००।'

बंदौं खल जस सेष सरोसा। सहस बदन बरनइ परदोसा॥ ८॥
पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहसदस काना॥ ९॥

शब्दार्थ—जस=जैसा, समान, तुल्य। बदन=मुख। बरनइ=वर्णन करता है। पुनि (पुन)=फिर, तत्पश्चात्। प्रनवौं=प्रणाम करता हूँ। काना (कान)=सुननेवाली इन्द्रिय। यहाँ 'सरोषा', 'सहस बदन' 'परदोष' 'परअघ' शब्द श्लिष्टपद हैं। अर्थात् इनके दो दो अर्थ हैं, एक अर्थ खलपक्षका और दूसरा अर्थ साधारण दूसरे पक्षका है। जो निम्न चार्ट (नक्शा) से स्पष्ट हो जायगा।

शब्द	खलपक्षका अर्थ	साधारण दूसरे पक्षका अर्थ
सरोषा	=सूरता वा जोशसहित। =क्रोधपूर्वक, रोषसहित। =हर्षपूर्वक। यथा, 'सजेस देउँ आजु सहरोषा १। २०८।', 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। ३। ४३।'	=सहरोषा=सहर्ष=प्रसन्नतापूर्वक। अथवा, (यदि 'सरोषा' को शेषका विशेषण मानें तो) प्रलयकालीन क्रोधयुक्त। (प्रलयके समय शेषजी रोष करते हैं)।
सहस बदन	स हास्य (हँसते, प्रसन्न) मुखसे। वा, हजार मुखोंसे।	हजार मुखोंसे
परदोष	पराये दोषोंको। पर=दूसरेका।	दोषोंसे परे (दूर वा अलग) भगवान् (का यश)
पर अघ	पराये पापोंको	अघसे परे अर्थात् अनघ, निष्पाप भगवान् (का यश)

शेषजी, पृथुजी—इनकी कथाएँ आगे टिप्पणीमें दी गयी हैं।

अर्थ—मैं खलोंको शेषजीके समान (मानकर) प्रणाम करता हूँ, जो हजार मुखोंसे 'सरोष' 'परदोष' का वर्णन करते हैं॥ ८॥ फिर उनको राजा पृथुके समान (जानकर) पुनः प्रणाम करता हूँ, जो दस हजार कानोंसे 'पर अघ' को सुनते हैं॥ ९॥

नोट १—सन्तगणकी वन्दना करके अब खलकी वन्दना करते हैं। सन्तसमाजको तीर्थराजकी उपमा दी थी, वैसे ही यहाँ खलको त्रैलोक्यके बड़े-बड़े राजाओंकी उपमा देकर वन्दना करते हैं, अर्थात् 'खल राजा' की वन्दना करते हैं। यहाँतक खलगणके गुण कहे, अब खलराजाओंके गुण कहते हैं।

२—'जस सेष सरोषा।…' इति। (क) शेषजीके हजार मुख और दो हजार जिह्वाएँ हैं, जिनसे वे नित्य निरन्तर प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक भगवान्के गुण-गान करते हैं। खलोंके एक ही मुख है, एक ही जीभ है, पर वे एक ही जिह्वासे दो हजार जिह्वाओं और एक ही मुखसे एक हजार मुखोंके समान जोश, उत्साह और हर्षपूर्वक पराये दोषोंको नित्य निरन्तर कहते रहते हैं। (इस भावार्थमें 'सहरोषा' का एक ही अर्थ दोनों पक्षोंमें लिया गया है। इस तरह यहाँ 'पूर्णोपमा' अलङ्कार है।) तात्पर्य कि पर-दोषवर्णन करनेमें वे कभी थकते नहीं। पुनः, (ख) 'जस सेष सरोषा'=जो प्रलयकालीन शेषके समान रोषयुक्त हैं (उनकी मैं वन्दना करता हूँ।)=क्रोधमें भरे हुए शेषके समान। भाव यह कि शेषजी सरोष नहीं हैं पर वे सदा रोषयुक्त ही रहते हैं। (वीरकवि)। पुनः, (ग) शेषजी हर्षपूर्वक हरियश हजार मुखोंसे गाते हैं और खल क्रोधपूर्वक पराये दोषोंको कहते हैं। पुनः, (घ) 'खल जस' ऐसी पदयोजनासे अर्थ होगा कि 'कुपित शेषनाग सदृश खलोंके यशकी वन्दना करता हूँ।' (सु० द्विवेदी), यहाँ 'जस'=यश। पंजाबीजीने भी 'यश' अर्थ किया है। पुनः, (ङ) शेष हजार मुखसे हरियश करते हैं और खल हँसते हुए मुखसे पराये दोषोंको वर्णन करते हैं। (सु० द्विवेदीजी) जब 'सरोषा' को शेषका विशेषण मानेंगे तब दूसरे चरणका अर्थ इस प्रकार पृथक् होगा। (च) 'बरनइ परदोषा' का ध्वनित भाव यह है कि अपने दोषोंपर कभी भी दृष्टि नहीं डालते। कारण कि ऐसोंको अपना दोष सूझता ही नहीं। इसके विपरीत

जो अपने दोष देखा करते हैं, अपने दोषोंको कहते हैं उन्हें सदा दूसरोंमें गुण ही देख पड़ते हैं। अपना दोष कह डालनेसे उसका पाप भी यदि जाता नहीं रहता तो भी घट तो जाता ही है और क्षमा भी कर दिया जाता है, इसीसे कहा है, 'तुलसी अपने राम से कह सुनाउ निज दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष ॥'

३—'सहसबदन बरनइ परदोषा।' 'शेषजी' इति। कद्रूसे कश्यपजीके हजार नागपुत्र हुए। विनताको दासी बनानेके लिये कद्रूने अपने पुत्रोंको आज्ञा दी कि तुम शीघ्र काले बाल बनकर सूर्यके घोड़ेकी पूँछ ढक लो। जिन पुत्रोंने आज्ञा नहीं मानी, उनको उसने शाप दे दिया कि जनमेजयके यज्ञमें भस्म कर दिये जाओगे। तब शेषनागने अन्य सर्पोंका साथ छोड़कर कठिन तपस्या प्रारम्भ की। ब्रह्माजीके आनेपर उन्होंने माँगा कि मेरी बुद्धि धर्म, तपस्या और शान्तिमें संलग्न रहे। ब्रह्माजीने कहा कि मेरी आज्ञासे तुम प्रजाके हितके लिये इस पृथ्वीको इस तरह धारण करो कि यह अचल हो जाय। तुम्हारी बुद्धि सदा धर्ममें अटल बनी रहे। शेषजीने ब्रह्माजीकी आज्ञाका पालन किया (महाभारत आदिपर्व अ० ३६)। भगवान्‌की शय्या बनने और निरन्तर उनका गुण-गान करनेका उल्लेख इस प्रसङ्गमें नहीं है। श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अ० ७ में इनका निरन्तर गुणगान करना पाया जाता है यथा—'नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥ ४१ ॥' अर्थात् उन महापराक्रमी पुराण-पुरुषकी मायाके प्रभावका अन्त तो मैं (ब्रह्मा) और तुम्हारे अग्रज सनकादि भी नहीं जानते, फिर औरोंका तो कहना ही क्या? दशसहस्र-फणवाले आदिदेव शेषजी भी उनका गुणगान करते हुए अभीतक उनका पार नहीं पा सके। (ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा है)।

४ श्रीपृथुजी—जब राजा वेन प्रजामें अधर्मका प्रचार करने लगा और महर्षियोंके समझानेपर न माना तब ऋषियोंने भगवान्‌की निन्दा करनेवाले उस दुष्टको अपने हुंकारमात्रसे (अथवा महाभारत शान्तिपर्वके अनुसार अभिमन्त्रित कुशाओंसे) मार डाला फिर अराजकतासे रक्षा करनेके लिये उन्होंने प्रथम उसकी बायीं जङ्घाको मथा जिससे 'निषाद' की उत्पत्ति हुई। उसके जन्मसे वेनके पाप दूर हो गये। तब उन्होंने वेनके हाथोंका मन्थन किया जिससे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा उत्पन्न हुआ। दाहिनेसे पृथुकी और बायेंसे अर्चिकी उत्पत्ति हुई। पृथुजीके दक्षिण हस्तमें विष्णुभगवान्‌की हस्तरेखाएँ और चरणोंमें कमलका चिह्न देखकर महर्षियोंने जान लिया कि ये विष्णुके अंशावतार हैं, क्योंकि जिसके हाथमें अन्य रेखाओंसे बिना मिला हुआ चक्रका चिह्न होता है वह भगवान्‌का अंश हुआ करता है। अर्चि लक्ष्मीजीका अवतार हैं। (भा० ४। १५। १–१०)। श्रीपृथुजीके शरीरपर दिव्य कवच सुशोभित था, कमरमें तलवार, कंधेपर अजगव नामक धनुष तथा बाण थे। वे वेद-वेदाङ्गोंके ज्ञाता और धनुर्विद्यामें पारंगत थे। प्रकट होनेपर उन्होंने ऋषियोंसे कहा, 'मुझे धर्म और अर्थका निर्णय करनेवाली सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त है। इसके द्वारा मुझे क्या करना चाहिये, यह ठीक-ठीक बताइये।' देवताओं और महर्षियोंने कहा 'जिस कार्यमें तुम्हें धर्मकी स्थिति जान पड़े उसीको निःशङ्क होकर करो। प्रिय-अप्रियकी परवा न करके सब जीवोंके प्रति समान भाव रक्खो। काम-क्रोध लोभ-मानको दूरसे नमस्कार करो। सर्वदा धर्मपर दृष्टि रक्खो और जो धर्मसे विचलित होता दिखायी पड़े उसे अपने बाहुबलसे दमन करो। श्रीशुक्राचार्यजी उनके पुरोहित बने, वालखिल्योंने मन्त्रीका काम सँभाला। इन्द्र, देवगण, भगवान् विष्णु, प्रजापति, ऋषि, ब्राह्मण और आङ्गिरस तथा देवताओंके साथ ब्रह्माजी (सब) ने मिलकर पृथुजीका राज्याभिषेक किया। कुबेर, इन्द्र, पवन, ब्रह्मा आदि सभीने उन्हें दिव्य-दिव्य भेंटें दीं जिनका वर्णन भा० ४। १५। १४–२० में है। उनके राज्यमें बुढ़ापा, दुष्काल, आधि-व्याधि तथा सर्प, चोर या आपसमें एक-दूसरेसे किसी प्रकारका भय नहीं था। पृथ्वी बिना जोते हुए अन्न देती थी। उन्होंने पृथ्वीसे सहस्र प्रकारके धान्य दुहे थे। उन्होंने लोकमें धर्मकी वृद्धि और सारी प्रजाका मनोरञ्जन किया था, इसीसे वे 'राजा' नामसे प्रसिद्ध हुए। ब्राह्मणोंका क्षतिसे त्राण करनेके कारण वे 'क्षत्रिय' हुए तथा उन्होंने धर्मानुसार पृथ्वीको प्रथित (पालित) किया इससे मेदिनीका नाम 'पृथ्वी' हुआ। (महाभारत शान्तिपर्व, ब्रह्मपुराण, भा० ४। १४-१५)। श्रीपृथुजीके पूर्व भूमण्डलपर पुर-ग्रामादिकी कल्पना नहीं थी। 'प्राक्पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना। भा० ४। १८। ३२।' उन्होंने पृथ्वीको समतल कर पुर, नगर, दुर्ग आदिकी योजनाकर सारी प्रजाको यथा-योग्य बसाया।

पूर्ववाहिनी सरस्वतीतटपर ब्रह्मावर्तक्षेत्रमें श्रीपृथुमहाराजने सौ अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ग्रहण की। निन्नानबे यज्ञ पूरे होनेपर अन्तिम यज्ञमें इन्द्रने विघ्न किये। अनेक रूप धारण कर-करके उसने घोड़ा चुराया। कई बार ऐसा करनेपर पृथुने इन्द्रको भस्म करनेका निश्चय किया। ज्यों ही उसके भस्म करनेके लिये स्रुवा लेकर वे आहुति देनेको हुए, ब्रह्माजीने आकर उनको रोक दिया। उनकी आज्ञासे राजाने अनुष्ठान निन्नानबे ही यज्ञोंसे समाप्त कर दिया, इन्द्रसे मित्रता कर ली। अवभृथस्नानसे निवृत्त होनेपर भाग पानेवाले वरदायक देवताओंने इच्छित वरदान दिये। तदनन्तर भगवान् विष्णु इन्द्रसहित वहाँ आये और उनके गुण और शीलपर प्रसन्नता प्रकट करके उनसे वर माँगनेको कहा। (भा० ४। २०। १६)। उन्होंने माँगा, 'न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः। महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः। भा०। ४। २०। २४।' अर्थात् हे नाथ! जहाँ महान् पुरुषोंके हृदयसे उनके मुखद्वारा बाहर निकला हुआ आपके चरणकमलका (कीर्तिरूप) मकरन्द नहीं है, उस पदको मैं कभी नहीं प्राप्त करना चाहता। बस, मेरा वर तो यही है कि (अपने सुयशसुधाका पान करानेके लिये) आप मुझे दस सहस्र कान दें।

५ 'पृथुराज समाना ' इति। श्रीपृथुमहाराज दो कानोंसे भगवद्‌यश दस हजार कानोंके बराबर सुनते हैं। वैसे ही खल पराये पापोंको दस चावसे और ऐसे ध्यान लगाकर सुनते हैं मानो इनके कानोंमें दस हजार कानोंकी शक्ति है।

सु० द्विवेदीजीका मत है कि खलपक्षमें 'सहस दस काना' में 'कान' का अर्थ है 'कानि', 'ग्लानिसे'। अर्थात् दूसरोंके पापोंके ऊपर दुःख भाव दिखलानेके लिये हजारों ग्लानि सुनते हैं और भीतर बड़ा ही सुननेका चाव है।'

बहुरि सक्र सम बिनवौं तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥ १०॥
बचन बज्र जेहि सदा पिआरा। सहस नयन पर दोष निहारा॥ ११॥

शब्दार्थ—सक्र=इन्द्र। बिनवौं=विनय वा प्रार्थना करता हूँ। तेही=उसको। संतत=सदा। सुरानीक=सुरा+नीक=मदिरा अच्छी लगती है।=अच्छी मदिरा। (ये अर्थ खलपक्षमें हैं)। सुरानीक=सुर+अनीक=देवताओंकी सेना (इन्द्रके पक्षमें)। वा सुरा=सोम। हित=प्यारी।=कल्याणकारक। बज्र=इन्द्रका शस्त्र। 'परदोष' भी श्लिष्ट शब्द है। दोषसे परे=भगवान्। पर दोष=दूसरेके दोष।

अर्थ—फिर इन्द्रके समान (मानकर) इनकी विनय करता हूँ, जिनको 'सुरानीक' सदा प्रिय और हितकर है॥ १०॥ जिन्हें वचनरूपी वज्र सदा प्रिय लगता है और जो हजार नेत्रोंसे 'परदोष' को देखते हैं॥ ११॥

नोट—१ 'सक्र सम ' सुरानीक हित जेही' इति। (क) इन्द्रको देवताओंकी सेना प्रिय और खलोंको अच्छी तेज मदिरा प्रिय है। इन्द्र सोम पान करते हैं, खल मद्य पीते हैं। सु० प्र० मिश्रजी खलपक्षमें 'सुरानीक हित' का अर्थ 'मदिराकी रुचि हित है' करते हैं और पं० रामकुमारजी 'मदिरा नीक (अर्थात् प्रिय) लगती है और हित (अर्थात् गुण) है' ऐसा अर्थ करते हैं। 'सुरा' मदिरा, गाँजा, भाँग, अफीम इत्यादि सब प्रकारके अमलों (नशाओं) की संज्ञा है। देवता जो 'सोम' पीते हैं उसे भी 'सुरा' कहते हैं। दुष्टोंको मदिरा प्रिय होनेका कारण भी है। वे परद्रोहमें तत्पर भी रहते हैं, इससे वे कभी निश्चिन्त नहीं रह सकते। यथा—'परद्रोही कि होइ निसंका। ७। ११२।' वैद्यकमें शोक और चिन्ताकी ओषधि-अमल (मदिरा आदि) बतायी गयी है। डाक्टर भी बहुत कष्टमें रोगी को ब्राडी नामकी मदिरा देते हैं। ये मदिरा पान करके नशेमें पड़े रहते हैं। अतएव हितकर कहा। (ख) मा० मा० कार 'नीक' को 'हित' का विशेषण मानते हैं। वे कहते हैं कि खलोंको मदिरा प्रिय है, यह खास लक्षण खलोंका नहीं है, कितने ही लोग मद्य नहीं पीते तथापि परनिन्दा आदि खलोंके अवगुण उनमें रहते हैं। अर्थ—'जिसे नीक हित सुरा समान है। भाव यह है कि समुद्रमन्थनसमय सुरतरु, ऐरावत आदिको इन्द्रने ले लिया, जब मदिरा निकली तब उसको ग्रहण न किया, क्योंकि देवताओं और ब्राह्मणोंके लिये वह अग्राह्य है। यथा—'बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति। जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥ २। १४४।'; इसी प्रकार खलोंको 'नीक हित' अर्थात् उत्तम परहित अग्राह्य है। इस अर्थमें 'हित' का अर्थ 'परहित' लिया गया है, अथवा, 'नीक हित' का अर्थ 'पर हित' लिया गया जान पड़ता है, क्योंकि 'अपने हित' से 'परहित' को उत्तम कह

सकते हैं। (ग) बाबा हरिदासजी 'सुरानीक' का खलपक्षमें 'मद्यकी अनीक (सेना) अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सरादि' ऐसा अर्थ करते हैं।

२ 'बचन बज्र' इति। (क) इन्द्रको वज्र प्रिय है और इनको वज्रसमान दूसरोंका हृदय विदीर्ण करनेवाले, मर्म देनेवाले कठोर वचन प्रिय हैं। पुनः भाव कि खल वचनसे ही वज्र-सा घात करते हैं। वज्रसे पर्वत टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, इनके वचन धैर्यवानोंको भी दहला देते हैं, कलेजा फाड़ देते हैं। (ख) 'सदा पिआरा' का भाव कि इन्द्र तो वज्र सदा धारण नहीं किये रहते, पर ये वचनरूपी वज्र सदा धारण किये रहते हैं, क्षणभर भी नहीं त्यागते। (प० रा० कु०)। (ग) 'सहस नयन परदोष निहारा' इति। इन्द्रने श्रीरामविवाहके समय हजारों नेत्रोंसे 'परदोष' (दोषोंसे परे) श्रीरामचन्द्रजीके दूलहरूपका दर्शन किया और अपनेको धन्य माना। यथा—'रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना॥ देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥ १। ३१७।', वैसे ही खल पराया दोष देखनेमें दो ही नेत्रासे हजारों नेत्रोंका काम लेते हैं और आनन्दित होते हैं कि हमारी तरह कोई दूसरा परछिद्र नहीं देख सकता। परदोष देखनेमें अत्यन्त आनन्द प्राप्त करते हैं।

३ यहाँतक खलको तीन बड़े-बड़े राजाओं (नागराज शेषजी, पृथुराजजी और इन्द्र) के समान कहा। शेषजीसे पाताल, पृथुराजसे भूतल और इन्द्रसे स्वर्ग अर्थात् तीनों लोकोंके अधिष्ठाताओंकी समता देकर यहाँ वन्दना की गयी। बड़ोंकी समता देकर वन्दना की, क्योंकि बड़े लोग अपने गुणोंसे बड़े हैं और खल अपने अवगुणोंसे। (प० रा० कु०)।

४ खलमें तीन प्रकारके दोष पाये, वही यहाँ दिखाये। इनका कहना, सुनना और देखना तीनों दोषमयी है। यथा—'बरनइ परदोषा', 'बचन बज्र सदा पिआरा', 'पर अघ सुनइ,' 'परदोष निहारा'। ये तीनों खलमें एक ही ठौर मिलते हैं पर तीनों लोकोंमें इन तीनों बातोंकी समताके लिये कोई एक ही प्राणी न मिला, एक-एक लोकमें खलोंके एक एक कर्मकी एक ही एक उपमा मिली, अतएव तीन कर्मोंके लिये तीन दृष्टान्त दिये। पुनः इन तीनकी उपमा दी, क्योंकि ये तीनों वन्दनीय हैं, खल यह पढ़ या सुनकर प्रसन्न होंगे कि हमें तीनों लोकोंके बड़े बड़े राजाओंकी उपमा दी गयी है।

दो०—उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं[1] खल रीति।
जानि[2] पानि जुग जोरि जन बिनती करइ[3] सप्रीति॥ ४॥

शब्दार्थ—उदासीन=जो विरोधी पक्षोंमेंसे किसीकी ओर न हो, जो किसीके लेने-देनेमें न हो, जिसका न कोई शत्रु है न मित्र। अरि=शत्रु। मीत=मित्र। रीति=स्वभाव, परिपाटी। पानि (पाणि)=हाथ। जन=दास।

अर्थ—उदासीन (हो), शत्रु (हो अथवा), मित्र (हो, इन तीनों) का भला सुनकर जलते हैं, (यह) खलका स्वभाव (है, ऐसा) जानकर दोनों हाथ जोड़कर यह जन प्रेमपूर्वक उनसे विनय करता है॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'उदासीन अरि मीत हित···' इति। (क) पूर्व बता आये कि ''परहितहानि' को लाभ समझते हैं। यथा—'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे।' अब बताते हैं कि 'परहित' होनेमें उनको जलन होती है। (ख) 'सुनत' से जनाया कि 'सुन' भर लें कि किसीका भला हुआ तो जल उठते हैं, भला हुआ हो या न हुआ हो, देख लें कि भला हुआ है, तब तो न जानें क्या हो जाय! (ग) 'उदासीन अरि मीत' कहनेका भाव कि शत्रुका हित देखकर तो प्रायः संसारमें सभीको जलन होती है, पर मित्रका भला सुनकर तो सबको प्रसन्नता होती है। परंतु उदासीन

१ जरत—१६६१। 'त' का 'हिं' दूसरी स्याहीसे बनाया गया है। अन्य सबोंमें 'जरहिं' पाठ है। २ जानि—१७२१, १७६२, छ० को० रा०। जानु—१६६१ ('नु' का 'नि' बनानेकी चेष्टा की गयी है। स्याही वैसी ही है।), रा० प्र०, वै० प०। ३ करउँ—ना० प्र० सभा। करइ—प्रायः सर्वत्र। 'जन' के साथ 'करइ' उत्तम और ठीक है।

और मित्रका भी भला सुनकर जलना हो, यह खलहीका स्वभाव है। सतोंका स्वभाव इसके प्रतिकूल है। सन्त सबका हित सुनकर प्रसन्न होते हैं और शत्रुतकका दुःख सुनकर दुखी होते हैं। यथा—'परदुख दुख सुख सुख देखे पर। ७। ३८।' (ख) 'जरहिं' अर्थात् उनके हृदयमें सन्ताप हो जाता है, दाह समा जाती है। यथा—'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा परसंपति देखी॥ ७। ३९।'

"जानि पानि जुग जोरि जन" इति

पाठान्तर—'जानु पानि जुग जोरि जन' पर विचार काशिराजकी छपी प्रतिमें 'जानु' और भागवतदास, रामायणीजी, प० रामवल्लभाशरणजी आदिका पाठ 'जानि' है। 'जानु' का घुटना अर्थ गृहीत है। परंतु यह सङ्गत नहीं जान पड़ता, क्योंकि सनातन आर्यमर्यादा साष्टाङ्गप्रणिपात या बद्धाञ्जलि होनेका ही है, बद्धजानु होनेका नहीं और न कहीं किसी पौर्वात्य काव्यमें उसका वर्णन ही है। हाँ, बद्धजानु होकर बैठनेकी एक शिष्ट मुद्रा है, वीरासनका एक आधुनिक भेद-मात्र है, जो अनार्य यवनादि बादशाहोंमें अधिक प्रचलित था। क्षत्रियोंकी सभामें अब भी उसी आसनसे प्रायः बैठते हैं। अतः यह एक आसनविशेष मात्र है। परंतु विनय प्रसङ्गमें सिवा साष्टाङ्ग प्रणिपात करने या बद्धपाणि होनेके और कोई वर्णन नहीं मिलता। यदि 'जानि' का 'जानु' पाठान्तर भी माना जाय तो भी उसका अर्थ 'जानना' धातुके ही किसी रूप भेदमें ग्रहण करना उचित है। घुटनापरक 'जानु' का अर्थ बड़ा भद्दा हो जाता है 'जानने' धातुमें 'जानु' का विधि क्रियात्मक अर्थ करना अच्छा होगा। अर्थात् 'शत्रु मित्र उदासीन इनके कल्याण-साधनको देखकर दुःखित और संतप्त होते हैं, ऐसा खलोंका स्वभाव जानिये।' अतः इस प्रकारकी प्रकृतिके आवरणमें क्रीड़ा करनेवाले (राममय) प्राणियोंको भी अनुरागपूर्वक मैं नमस्कार करता हूँ, उनके निकट भी सस्नेह और सच्ची नम्रता प्रकट करता हूँ। परंतु 'जानि' पाठ ही अधिक सङ्गत और स्वाभाविक है। यह शब्द और अर्थ, दोनों ही भावोंसे श्रेष्ठ है। क्योंकि एक तो 'पानि' से 'जानि' का अनुप्रास ठीक बैठ जाता है, दूसरे अर्थमें स्वाभाविक है (ऐसा खलस्वभाव जानकर)। अतः हमको भी 'जानि' ही पाठ अभिप्रेत है।

प० सुधाकर द्विवेदी, प० रामकुमार और प० सूर्यप्रसाद मिश्रने भी यही पाठ उत्तम माना है। पं० सूर्यप्रसाद 'जानु पानि जुग जोरि' का अर्थ 'घुटना टेककर और हाथ जोड़कर' करते हुए लिखते हैं कि 'घुटना टेकनेका भाव यह है कि हम लाचार होकर प्रणाम करते हैं अर्थात् वही घुटना टेकता है जिसका कुछ भी किया नहीं हो सकता और हाथ भी वही जोड़ता है जिसका पुरुषार्थ नहीं चलता है। यह भाव बैजनाथजीकी टीका या रामायणपरिचर्यासे लिया गया है।

ग्रियर्सनसाहबने जो ताम्रपत्रवाला गोस्वामीजीका चित्र ना० प्र० सभाको दिया था और जो प० रामेश्वरभट्टकी विनायकी टीका एवं श्रीरूपकलाजीकी भक्तमालटीकामें भी है, उसमें गोस्वामीजीको 'दोजानू' (घुटना जोड़े) बैठे हुए दिखाया गया है। वह चित्र बहुत छोटी अवस्थाका है। यदि उसे ठीक मानें तो 'जानु' पाठ भी ठीक हो सकता है यद्यपि किसी भी ग्रन्थमें इस प्रकारका प्रणाम सिवाय यहाँके नहीं देखा जाता।

नोट—१ 'जन बिनती करइ ' इति। (क) 'जन' का भाव कि दास तो सबको प्रिय होता है। यथा—'सब कें प्रिय सेवक यह नीती। ७। १६।' अतः दास जानकर प्रेम रक्खेंगे। अथवा, मैं श्रीरामजीका अनन्य दास हूँ और अनन्यका लक्षण ही है कि वह जगन्मात्रको प्रभुका रूप और अपनेको सबका सेवक मानते हैं। अतः उसी भावसे विनती करता हूँ। (ख) 'सप्रीति' इति। भाव यह कि अन्ति कर्तापर प्रीति नहीं होती, परंतु मैं प्रीतिसहित विनय करता हूँ। 'सप्रीति' विनतीका कारण 'जरहिं एक रीति जानि' में कह दिया है। अर्थात् यह तो खलोंका स्वभाव ही है, यह जानता हूँ। स्वभाव अमिट है। वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते तो मैं अपना (सन्त) स्वभाव क्यों छोड़ूँ? पुनः 'सप्रीति' में वही भाव है जो पूर्व 'बहुरि बंदि खलगन सतिभाएँ' (१) के 'सतिभाएँ' का है। वहाँ देखिये। पुनः, (ग) इस जगतमें अनेक रूपोंमें चित्र विचित्र स्वभाव विशिष्ट होकर वह जगदीश्वर रम रहा है। कविवर गोस्वामीजी उन्हीं विविध रूप रामभावसे उसे देखकर सद्भावसे प्रणाम करते हैं। यही सिद्ध कवियोंकी भावना है। वे चराचरमें उसी आदि

जरहिं खल रीति', 'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे', 'परहित घृत जिन्हके मन माखी' 'उदय केतु सम हित सबहीके।'

सन्त मन वचन कर्मसे परोपकार करते हैं। यथा, 'संत सरल चित जगत हित', 'हरिहर कथा बिराजति बेनी' 'सहि दुख परछिद्र दुरावा'

६ खल मन वचन कर्मसे अपकार करते हैं। यथा, 'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं'। 'पर हित घृत जिन्हके मन माखी' 'बचन बज्र जेहि सदा पियारा' 'जे परदोष लखहिं सहसाखी'

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा॥ १॥
बायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ[1] कि कागा॥ २॥

शब्दार्थ—दिसि (सं०)=ओरसे, तरफसे। निहोरा=विनती, प्रार्थना। तिन्ह=वे। ओर=तरफ। लाउब=लावेंगे, लगावेंगे। भोरा=भोलापन, भिचाई, भूल। न लाउब भोरा=भोलापन न लावेंगे, अपना स्वभाव न छोडेंगे, चूकेंगे नहीं, धोखा न होने देंगे। बायस=कौआ। पलिअहिं=पालिये, पाला जाय। यथा—'ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं' (२। १२१) मे रखिअहिं=रखिये, रख लिया जाय। निरामिष=बिना मासका, मासत्यागी, जो मास न खाय। आमिष=मास। कागा (काक) कौवा। कि=क्या।

अर्थ—मैंने अपनी ओरसे विनती की है। वे अपनी ओरसे न चूकेंगे, (अर्थात् अपना स्वभाव न भूलेंगे या छोड़ेंगे)॥ १॥ कौवेको बड़े ही अनुरागसे पालिये, (तो भी) क्या कौवे कभी भी निरामिष हो सकते हैं (अर्थात् मास खाना छोड सकते है)? (कदापि नहीं)॥ २॥

नोट—१ 'मैं अपनी दिसि कीन्ह...' इति। खलोंके गुण सुनकर यह शङ्का होती है कि 'जब वे किसीका भला नहीं देख सकते तो क्या वे ग्रन्थमें दोष लगानेसे चूकेंगे? कदापि नहीं। तो फिर उनकी विनती करना व्यर्थ हुआ'। इस शङ्काकी निवृत्ति इन चौपाइयोंमें की है। ग्रन्थकार कहते हैं कि मैंने इसलिये विनय नहीं की कि वे मुझे छोड़ दें, क्योंकि मैं खूब समझता हूँ, मुझे विश्वास है कि स्वभाव अमिट है, वे अपना स्वभाव कदापि नहीं छोड़ेंगे जैसे कौवे अपना स्वभाव नहीं छोडते। भाव यह है कि जब वे अपने स्वभावसे नहीं चूकते, तो हम भी सन्तस्वभावसे क्यों चूकें? उनका धर्म है निन्दा करना, हमारा धर्म है निहोरा करना। वे अपना धर्म करते हैं, हम अपना। [नोट—'होहिं निरामिष कबहुँ कि' में काकुद्वारा वक्रोक्ति अलङ्कार है अर्थात् कभी नहीं।]

२ इस चौपाईमें 'बायस' और 'कागा' में पुनरुक्तिके विचारसे किसी-किसी टीकाकारने 'पायस' पाठ कर दिया है। परन्तु शुद्ध एवम् प्रामाणिक पाठ 'बायस' ही है। यही पाठ प्राचीन प्रतियोंमें मिलता है। यदि पुनरुक्ति दोष होता भी है तो इससे क्या बिगड़ा? ऋषिरूप महाकविका वह आर्ष प्रयोग है। अतएव क्षम्य और उपेक्षणीय है। फिर पुनरुक्तिके सम्बन्धमें भी मतभेद है। गौड़जी कहते हैं कि 'यदि 'कागा' शब्द न होता, तो "होहिं निरामिष' के लिये उसी पूर्वोक्त 'बायस' को विवक्षित कर्ता मानना पड़ता, परंतु 'कागा' दे देनेसे विवक्षाकी आवश्यकता नहीं रह जाती। पुनरुक्ति दोष तब होता जब 'निरामिष होहिं' क्रियाकी आवश्यकता 'बायस' से ही पूर्ण हो जाती और भिन्न-भिन्न वाक्य न होते'। प० सूर्यप्रसादमिश्र लिखते हैं कि 'जो रामायण परिचर्यामें लिखा है कि 'बायस कागामें क्रियाभेदसे पुनरुक्ति नहीं है', यह बात ठीक नहीं क्योंकि किसी आचार्यने ऐसा प्रयोग नहीं किया है। यहाँ तो बायस और काग लिखा है, एक ही शब्द दो बार लिखा गया है। उसका यह कारण

1 कबहिं—१७२१, १७६२, छ०। कबहुँ—१६६१, १७०४, को० रा०।

है कि उसके स्वभावके अमिट होनेकी दृढताके लिये दो बार आया है और नियम भी है कि जब किसी शब्दकी विशेषता दिखलाना हो तब उसको दो बार भी कह सकते हैं। अथवा, यह द्विरुक्ति आनन्दकी है। जैसे ग्रन्थकार खलका विलक्षण स्वभाव देखकर आनन्दित हो गये, अतएव उनके मुखसे दो बार काग शब्द निकल गया'। सुधाकर द्विवेदीजी पुनरुक्तिकी निवृत्ति यों करते हैं कि 'कागा' सम्बोधन है। अर्थात् हे काग=काग पालनेवाले। (कागमें लक्षणा करना, काकसे काकयुक्त पुरुष, 'कुन्ता प्रविशन्ति' के ऐसा ग्रहण करना)"। इस तरहसे दोषका शमन भी कई प्रकारसे किया जा सकता है। वह तो 'सदूषणापि निर्दोषा.' है। किसी-किसी महात्माने 'का गा' इस तरह 'कागा' शब्दको तोड़कर पुनरुक्ति मिटानेका यत्न किया है और कोई कहते हैं कि 'कागा' बड़ा काला कौवेका नाम है जिसके परने कुछ ललाई होती है।

३ इस चौपाईसे मिलता हुआ श्लोक प्रश्नरत्नावलीमें यह है, 'न विना परवादेन रमते दुर्जनो जन । काक' सर्वरसान्भुङ्क्ते विना मेध्य न तृप्यति ।' अर्थात् बिना दूसरेकी निन्दा किये दुर्जनको सतोष नहीं होता, कौवा सब प्रकारके रस खाता है फिर भी बिना विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुके खाये सतुष्ट नहीं होता। यह व्यासजीका वाक्य है।

४ शङ्का—वायस तो अनेक अवगुणोंका स्थान है। यदि सुसगमे ये अवगुण जाते रहे, एक मास खाना ही न छूटा तो क्या चिन्ता ?

समाधान—बात यह है कि मासभक्षण सब अवगुणोंका मूल है, यह छूट जाय तो सभी छूट जायँ। जब यही न छूटा तब और क्या गया ? कुछ भी तो नहीं। अतएव गोस्वामीजीने प्रथम मासका ही त्यागना सिद्धान्त किया। (बाबा हरिदासजी)।

खल-वन्दना प्रकरण समाप्त हुआ।

संत-असंत वंदना (सुसंग-कुसंग-गुण-दोष) प्रकरण

॥ बंदौं संत असज्जन[1] चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥ ३ ॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख[2] दारुन देहीं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—असज्जन=जो सज्जन नहीं है, दुर्जन, खल, असन्त। दुखप्रद=दुःख देनेवाले। उभय=दोनों। बीच= अन्तर, भेद। कछु=कुछ। बरना=वर्णन किया गया, कहा गया है। बिछुरत (बिछुड़त)=बिछोह या वियोग होते ही, सङ्ग छूटते ही। हरि लेहीं=हर लेते हैं। दारुन (दारुण)=कठिन।

अर्थ—(अब मैं) सन्त और असन्त (दोनों) के चरणोंकी वन्दना करता हूँ। दोनों दुःख देनेवाले हैं (परन्तु उनमें) कुछ अन्तर कहा गया है ॥ ३ ॥ (सन्त) बिछुड़ते ही प्राण हर लेते हैं और दूसरे (असन्त) मिलते ही कठिन दुःख देते हैं ॥ ४ ॥

नोट—१ 'बंदौं सत असज्जन चरना' इति। यहाँ सभी महानुभावोंने यह प्रश्न उठाकर कि 'सन्त और खल दोनोंकी वन्दना कर चुके, अब पुनः दोनोंको मिलाकर वन्दना करनेमें क्या भाव है ?' इसका उत्तर भी कई प्रकारसे दिया है। कुछ महानुभावोंका मत है कि पृथक्-पृथक् वन्दनासे यह सन्देह हुआ कि इन दोनोंकी जाति उत्पत्ति, प्रणाली, देश इत्यादि भी पृथक् होंगे। इसके निवारणार्थ एक साथ वन्दना करके सूचित किया है कि जाति आदि एक ही हैं, इनकी पहिचान लक्षणोंसे ही हो सकती है, कुल-जाति इत्यादिसे नहीं। साहित्यके विज्ञ यों कहेंगे कि प्रथम सन्त असन्तके गुण अवगुण अलग कह दिये, अब दोनोंका भेद कहते हैं इससे दोनोंको एक साथ मिलाकर कहा।

यह चमत्कारिक वर्णन है। एक ही बातके वर्णन करनेकी अनेक शैलियाँ हैं, उनमेंसे यह भी काव्यमें एक शैली है।

---

[1] असतन—१७०४ (परतु रा० प० में 'असज्जन' पाठ है, 'असतन' पाठान्तर कहा है), को० रा०। असज्जन—प्राय अन्य सबोंमें, [2] दुख दारुन—१६६१, प० दारुन दुख—प्राय. औरोंमें।

जैसे विष और अमृत सजीविनी और विषौषधिको प्रकृति उत्पन्न करती है वैसे ही खल और साधुको भी। वे जन्म और सम्बन्धसे ही वैसे अशुभ और शुभ गुणोंसे विशिष्ट होते हैं। अतः उनके गुणोंका दिग्दर्शन कराना महाकविका कर्तव्य है और यह महाकाव्यका एक गुण है। यथा—'क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम्' (साहित्यदर्पणे)।

द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'भले बुरेका समानरूपसे वर्णन करना यह एक प्रकारका काव्य है। गोसाईंजीने यहाँपर काव्य किया है कि दोनों दुःख देनेवाले हैं, भेद इतना ही है कि एक वियोगसे, दूसरा संयोगसे दुःख देता है। साधु अपने समागमसे भगवच्चरितामृत पान कराता है। इसलिये उसके वियोगसे सुधापान न मिलनेसे प्राणीका प्राण जाने लगता है, जैसे श्रीरामके वियोगसे अवधवासियोंका, श्रीकृष्णके वियोगसे गोपियोंका इत्यादि। खलके मिलते ही उसके वचन-विषसे प्राणीका प्राण जाने लगता है, जैसे यतिस्वरूप रावणके मिलते ही श्रीसीताजीका, ताड़का, सुबाहु आदिके संयोगसे विश्वामित्रादिका इत्यादि।'

प० सूर्यप्रसाद लिखते हैं कि बड़ोंके साथ खलोंकी वन्दनाका यही कारण जाना जाता है कि इनपर गोसाईंजीकी अत्यन्त दया हुई। उन्होंने यह सोचा कि यदि मैं उनकी वन्दना सज्जनके साथ करूँगा तो कदाचित् सज्जन हो जायँ और इनका अवगुण तो सज्जनोंमें नहीं आवेगा। यथा—'सत्सङ्गात् प्रभवति साधुता खलानां साधूनां न हि खलसङ्गमात् खलत्वम्। आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते मृद्गन्धं न हि कुसुमानि धारयन्ति॥' (सु० र० भा० प्रकरण २ सत्प्रशंसा) अर्थात् दुष्टोंको साधुके सङ्गसे साधुता आ जाती है पर साधु दुष्टके सङ्गसे दुष्ट नहीं होते। जैसे फूलके सङ्गसे मिट्टी सुगन्धित हो जाती है पर मिट्टीकी गन्ध फूलमें नहीं आती। (श्लोक २७)।

नोट—२ 'दुखप्रद उभय बीच कछु बरना·····' इति। (क) 'दुखप्रद उभय' अर्थात् दोनों दुःखदायी हैं, यह कहकर पहले दोनोंको एक सदृश सूचित किया। फिर कहा कि कुछ भेद है। 'उन्मीलित अलङ्कार' है।' यथा—'उन्मीलित सादृश्यमें भेद फुरै तब मान'। (ख) 'दुखप्रद उभय' कथनसे पहले तो सन्तकी निन्दा सूचित हुई, परंतु फिर जब कहा कि 'बिछुरत प्रान हरि लेहीं' अर्थात् इनके वियोगसे या तो प्राण ही चल देते हैं या प्राणान्त कष्ट होता है, तब इनकी स्तुति हुई कि ये ऐसे हैं कि इनका सङ्ग सदा बना रहे, कभी साथ न छूटे। यथा—'कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना॥ ५। २७। (श्रीहनुमान्‌जीसे श्रीसीताजीने वियोग होते समय यह वचन कहे हैं।) इस प्रकार इस पदमें निन्दाके मिष स्तुति हुई अतः यहाँ 'व्यंग्य' भी इसी तरह पहले 'दुखप्रद उभय' से खलोंकी बड़ाई हुई कि इनमें संतका सा गुण है, इसीसे संतके साथ मिलाकर इनकी वन्दना की गयी, परंतु फिर जब कहा कि वे 'मिलत एक दारुन दुख देहीं' मिलते ही दारुण दुःख देते हैं, तब इनकी निन्दा सूचित हुई कि ये बड़े ही दुष्ट होते हैं अतः इनका दर्शन कभी न हो, यही अच्छा है। इस प्रकार यहाँ स्तुतिके बहाने निन्दा की गयी। रामायणमें श्रीरामजीके वियोगसे श्रीदशरथमहाराजके, महाभारतमें श्रीकृष्ण वियोगसे कुन्तीजीके और संतके वियोगसे एक राजाके प्राण गये। दुष्ट यतिवेषधारी रावणके मिलते ही श्रीजानकीजीको दारुण दुःख हुआ। इत्यादि उदाहरण प्रसिद्ध ही हैं। (ग) 'बिछुरत' और 'मिलत' दो विरुद्ध क्रियाओंसे एक ही कार्य 'दुखप्रद' सिद्ध हुआ। अतः यहाँ 'द्वितीय व्याघात' अलङ्कार है। यथा—'एकै कारन साधिबो करिकै क्रिया बिरुद्ध।' दुखप्रद दोनों हैं, पर एकका वियोग दुःखप्रद और दूसरेका संयोग दुःखप्रद है, यह भेद है।

टिप्पणी—कई प्रकारसे साधु और असाधुके गुण और दोष दिखाते हैं। (१) साधुका मिलना गुण है और बिछुड़ना दोष। इससे इनका वियोग कभी न हो, सदा इनका सत्सङ्ग रहे। खलका मिलना दोष है, उनके बिछुड़नेमें सुख है। इनसे सदा वियोग रहे, कभी इनका सङ्ग न हो। इसीसे मिलना और बिछुड़ना पृथक्-पृथक् जनाया। (२) गुण पृथक्-पृथक् हैं। यथा—'जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं।' (३) करतूति पृथक् है यथा—'भल अनभल निज निज करतूती।' संतकी करतूति सुयशमय है, असतकी अपयशमय।

उपजहिं एक संग जग* माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं॥ ५॥

---

* जल—किसी-किसी छपी पुस्तकमें है।

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू॥ ६॥

शब्दार्थ—उपजहिं=उत्पन्न होते हैं। माहीं=मे। जलज=कमल। जोंक=* जलौका।=जलमें रहनेवाले कृमि-विशेष। (मा० प०)। बिलगाहीं=अलग होते हैं, भिन्न स्वभावके होते हैं। सुधा=अमृत। जनक=पैदा करनेवाला, पिता, उत्पत्तिस्थान। जलधि=समुद्र। अगाध=गहरा, अथाह।

अर्थ—दोनों जगत्मे एक साथ उत्पन्न होते है, जैसे कमल और जोंक, (परतु) गुण जुदा-जुदा होते हैं † ॥ ५॥ साधु अमृत और असाधु वारुणीके समान हैं, दोनोका उत्पत्तिस्थान एक जगत्रूपी अगाध समुद्र ही है॥ ६॥

नोट—१ 'उपजहिं एक सग' इति। दु खप्रदत्वमे समानता कहकर उसमें किञ्चित् भेद भी कहा। अब, उत्पत्तिस्थान तथा रहनेका स्थान भी एक ही है तो भी, गुण पृथक्-पृथक् होते हैं यह बताते हैं। सन्त और असन्त दोनों जगत्में ही होते हैं और एक ही घरमे भी होते है (जैसे प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु, विभीषण और रावण, कौरव और पाण्डव आदि)। पर गुण भिन्न-भिन्न होते हे, गुणोंसे ही वे देखे जाते हैं। आगे इसीके उदाहरण है।

टिप्पणी—१ (क) जलज जड़ है, जोंक चेतन है। तात्पर्य यह है कि कमल जलसे उत्पन्न है तो भी जलको नहीं जानता और न जलमें लिप्त होता है, वैसे ही सन्त हैं। जगत्मे रहते हुए भी जगत्का विकार उनमें नहीं आने पाता। यथा—'जे बिरचि निर्लेप उपाए। पदुमपत्र जिमि जग जलजाए॥ २। ३१७।' खल जोंक है। जलको जानते है और जलहीमें लिप्त रहते हैं। अर्थात् जैसे जोंक पानीमें डूबती-उतराती है, वैसे ही खल ससारके विषय भोगहीमें डूबे दु ख-सुख भोगते हैं। पुन, (ख) जलज सुखदाता है, जोंक दु खदाता। कमलको सूँघनेसे रक्तकी वृद्धि होती है, आह्लाद होता है। जोंक रुधिर खींचती है और उसे देखनेसे डर लगता है। इसी तरह सतदर्शनमे क्षमादयादि गुणोंकी वृद्धि और आनन्द होता है। खलका दर्शन खून सोख लेता है, उनको देखनेसे ही डर लगता है।' इनके ससर्गसे क्षमादि गुण घटते हैं। [पुन, (ग) जलज अपने गुणोंमे देवताओंके सिरपर चढता और जोंक अपने रक्तपान करनेके स्वभावसे फोड़ेके दुष्ट रक्तको ही पीती है। इसी तरह सत अपने गुणोसे सबसे सम्मान पाते हैं और खल रागद्वेषादि दूषित विषय भोगते हैं। (मा० प०)। पुन, (घ) कमल खानेसे दुष्टरक्तको शुद्ध करता है। जोंक घावकर पीड़ा देकर दुष्ट रक्तको पीकर बाहर खींच लेती है। साधु अनेक कथावार्तासे शरीरमे क्षमा आदि गुण उत्पन्न करता है। खल अपने वाक्वज्रसे मारकर प्राणीके क्षमा आदि गुणोंकी परीक्षा करता है इस प्राणीमें कहाँतक क्षमा है। इस तरह साधु तो क्षमा सिखाता है अर्थात् क्षमाशिक्षक है और खल क्षमापरीक्षक। यही दोनोंमे भेद हुआ। (प० सु० द्विवेदीजी)। पुन, (ङ) कमल सूँघनेसे शीतलत्व देता है, उसके बीज (कमलगट्टा, मखाना) खानेसे रुधिरकी वृद्धि होती है; जोंक रुधिरको खींचकर पी जाती है। वैसे ही सन्त त्रयताप छुड़ाते, मधुर वचनो एव हरिनामयशद्वारा सुख देते हैं और असत अपने वचनोसे रुधिर ही सुखा देते हैं। (वै०)

दोहावलीमें खलोंको जोंकसे भी अधिक बुरा कहा गया है। यथा—'जोक सूधि मन कुटिल गति, खल बिपरीत बिचारु। अनहित सोनित सोख सो, सो हित सोखनिहारु॥ ४००।' अर्थात् जोंककी गति टेढी है, मन नहीं

---

* यह प्रसिद्ध कीड़ा बिलकुल थैलीके आकारका होता है, पानीमें रहता है और जीवोके शरीरमे चपककर उनका दूषित रक्त चूस लेता है। फोड़ा फु सी आदिके दूषित रक्तको निकालनेके लिये इसे शरीरमे चिपका देते हैं। जब यह खूब खून पी लेती है तब उसे खूब उँगलियोंसे कसकर दुह लेते हैं जिससे सारा खून गुदाके मार्गसे निकल जाता है। साधारण जोंक डेढ़ इच लम्बी होती है। (श० सा०)।

† अर्थान्तर—२ कमल और जोंकके समान अपने-अपने गुणोंको दिखलाते (मा० मा०)। [सरयूपारके देशमे 'बिलगाना' शब्द 'दिखायी देना' अर्थमें बोला जाता है। पर क्रि० स० 'दिखलाना' अर्थ हमको नहीं मालूम कहाँका है।] ३—अपने-अपने गुणोसे अलग हो गये हैं। (मा० प्र०)। बिलगाना=अलग होना। यथा—'निजनिज सेन सहित बिलगाने। १। ९३।' पुनः, बिलगाना=अलग करना। यथा—'गनि गुन दोष बेद बिलगाये' (१। ६)।

और खलोंके तो मन, वचन, कर्म सभी कुटिल हैं, जोंक तो दूषित रक्त पीती है और असन्त तो अच्छे रक्तको सुखा देते हैं।]

नोट—सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि यहाँ 'जलज' (की उपमा) देनेका भाव यह है कि इस संसारके पहले 'जलज' ही (भगवान्की नाभिसे) उत्पन्न हुआ, फिर उसीसे सृष्टि चली है। दूसरे यह कि सृष्टिके पूर्व जल ही था और कुछ नहीं, इसलिये जलज नाम कहा।'

टिप्पणी—२ 'सुधा सुरा सम साधु असाधू।' इति। (क) यह दूसरा दृष्टान्त इस बातका है कि एक पिताने पैदा होनेवालोंमें भी यह जरूरी नहीं है कि एकसे ही गुण हों। पहले (जलज जोंकके) दृष्टान्तसे एक ही स्थान (देश) में उत्पत्ति होना कहकर भेद बताया था। अमृत और वारुणी दोनों क्षीरसमुद्रसे निकले थे जब देवासुरने मिलकर उसे मथा था। अत: अगाध समुद्रको इन दोनोंका पिता कहा। साधु और असाधु दोनों संसारमें होते हैं। अत: जगत्को इनका पिता कहा। [(ख) जैसे 'सुधा' और 'सुरभि' एक ही अक्षर। 'ध' और 'र' का भेद है, वैसे ही 'साधु' और 'असाधु' में अकारमात्रका भेद है। (मा० प०)। (ग) सुधापानसे अमरत्व और सुरापानसे उन्मादत्वकी प्राप्ति होती है, वैसे ही साधुसे भगवद्भक्ति एवं भगवत्-प्राप्ति और असाधुसे नरककी प्राप्ति होती है। (घ) सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि यहाँ 'अगाध' का अर्थ 'दुर्बोध' है। अतएव अमृत और मद्य भी दुर्बोध धारणावाले प्रकटे। अगाधका अन्वय 'जग' और 'जलधि' दोनोंमें है।]

टिप्पणी—३ सन्त और असन्तका उत्पत्तिस्थान जगत् कहा। यथा—'उपजहिं एक संग जग माहीं।' तथा 'जनक एक जग जलधि अगाधू।' और, सुधा एवं सुराका भी उत्पत्तिस्थान 'जलधि' कहा। पर 'जलज' और 'जोंक' का उत्पत्ति-स्थान न कहा। कारण यह है कि कमल और जोंकके उत्पत्तिस्थानका कोई नियम नहीं है। कमल तालाब और नदीमें भी होता है। जोंक तालाब, नदी और गड्ढेमें भी होती है। (नोट—समुद्री जोंक भी होती है जो दो-ढाई फुट लम्बी होती है।) इसीसे इनका स्थान नियत न किया गया। 'जलज' शब्द देकर 'जल' का नियम किया, (अर्थात् इनकी उत्पत्ति जलमें है।) 'सुधा' और 'सुरा' के उत्पत्तिस्थानका नियम है। ये समुद्रसे निकले, इसलिये इनके स्थानको नियम किया। 'साधु' 'असाधु' के उत्पत्तिस्थानका नियम जगत् है, जाति नहीं। अत: दोनों अर्धालियोंमें 'जग' ही लिखते हैं।

भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥ ७॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमलसरि ब्याधू॥ ८॥

शब्दार्थ—भल=भला, अच्छा। अनभल=बुरा। करतूती=कर्तव्यता, कर्तृत्व, करनी, कर्म, गुण। लहत=लभन्ते=पाते हैं। सुजस=सुन्दर यश, नेकनामी, कीर्ति। अपलोक=अपयश, अपकीर्ति, बुरा नाम वा यश, बदनामी। बिभूति (विभूति)=सम्पत्ति=ऐश्वर्य। सुधाकर=अमृत किरणवाला=चन्द्रमा। गरल=विष, जहर। अनल=अग्नि, आग। कलिमलसरि=कर्मनाशा नदी। ब्याधू (व्याध)=दुष्ट, खल।

अर्थ—भले और बुरे (दोनों) अपनी-अपनी करनीसे (करनीके अनुकूल) सुयश और अपयशकी विभूति पाते हैं* ॥ ७॥ साधु अमृत, चन्द्रमा और गङ्गाजीके समान हैं। खल विष, अग्नि और कर्मनाशाके समान हैं॥ ८॥

* (१) मानसपत्रिकामें यों अर्थ किया है—'अपनी-अपनी करनीसे लोग भले और बुरे होते हैं और सुयश, अपकीर्ति और ऐश्वर्यको पाते हैं।' (२) द्विवेदीजी—'अपने-अपने कर्महीसे लोग भले और बुरे गिने जाते हैं। शास्त्रमें भी लिखा है कि 'जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा द्विज उच्यते। (३) सू० प्र० मिश्र—('किवा' सुधा सुधाकरका अन्वय ऊपरकी चौपाईसे' तो यह अर्थ होगा।—'अमृत, चन्द्र, गङ्गा, और साधु चारों अपनी करनीसे पूजे जाते हैं। विष, अग्नि, कर्मनाशा नदी और व्याधा ये चारों अपनी-अपनी करनीसे बुरे गिने जाते हैं।' (४) बाबा हरिदासजी अर्धाली ८ का अन्वय अर्धाली ९ के साथ करते हैं।

टिप्पणी—कमल और अमृत अपने गुणोंके कारण सराहे जाते है, जोंक और मद्य अपने अवगुणोंके कारण अपयशके भागी होते है, यद्यपि वे दोनों एक ही जगह होते है। यह कहकर उनकी करनी भी बताते है कि कैसी है, जिससे वे यश अपयश पाते है।

(२) 'विभूति' पदसे जनाया कि भारी सुयश-अपयशको प्राप्त होते है; क्योंकि भारी करतूति करते है, सामान्य नहीं। सुयश विभूति स्वर्गको प्राप्त करती है, अपयश-विभूति यमलोकको प्राप्त करती है। यहाँ 'प्रथम सम अलङ्कार' है।

(३) 'सुधा सुरा सम साधु असाधू' ५ (६) मे उत्पत्ति कही थी और यहाँ 'सुधा सुधाकर ''' मे करनी वा गुण-अवगुण कहे है।

(४) यहाँ तीन दृष्टान्त देकर दिखाया कि—(क) इन तीनोंके वचन, मन और कर्म कैसे है। सुधासम वचन है, सुरसरिसम तन है, सुधाकर सम शीतल स्वभाव है, यह मनका धर्म है। सुरसरि सम तन है, स्पर्शहीसे पापका नाश करते है। यथा—'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये।' (विनय १३६)। इसी तरह खलका वचन गरल सम, स्वभाव अग्निसम और तन कर्मनाशासम है कि स्पर्शमात्रमे धर्मका नाश करते हैं। अथवा, (ख) सन्त मृत्यु हरें, ताप हरें, पाप हरें। खल मृत्यु करें, ताप करें, पाप करें। अथवा (ग) 'दरस परस समागम' ये तीनो दिखाये। समागममे सुधासम वचन, दर्शन चन्द्रसम तापहारी और स्पर्श गङ्गासम पापहारी।

नोट—१ (क) सुधा, सुधाकर आदिके अन्य धर्म—(१) सुधाके धर्म स्वाद, सन्तोष, अमरत्व। सन्तमे श्रीहरिनामरूपलीला सुधा है जिसे पाकर सब साधनोंमे वे तृप्त हो जाते है। यथा—'तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्। येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥' (वि० ४६)। (२) चन्द्रमामे शीतल प्रकाश, सन्तमे सौजन्य, सौशील्य, कोमल वचन, दयामय हृदय। चन्द्रमा शरदातप और सन्त त्रिताप हरते है। पुन यथा—'सीतल बानी संतकी ससिहूके अनुमान। तुलसी कोटि तपन हरे जो कोउ धारै कान॥' (वै० स० १६)। (३) 'सुरसरि' के धर्म २ (८–११) मे देखिये। दोनो अपना सा (स्वरूप) कर देते हैं। (४) विष और खल दूसरेके नाशमें लगे रहते है। (५) 'अनल' के धर्म ४ (५) मे देखिये। (६) कर्मनाशामे स्नानसे शुभ कर्मोंका नाश, खल सङ्गका भी वही फल। (ख) कुछ महानुभावोंका मत है कि गङ्गा, सुधा और सुधाकर तीनोंका सम्बन्ध समुद्रसे है, इसीसे तीनोंको एक साथ कहा।

गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहिं भाव नीक तेहिं सोई॥ ९॥

दो०—भलो भलाइहि पै लहै लहै निचाइहिं नीचु।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु॥ ५॥

शब्दार्थ—भाव=रुचता है, प्रिय है, भाता है। भलो=भला, साधु, सज्जन। भलाइहि=भलाईहीको। पै=निश्चय करके।=परंतु, पर। यथा—'तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥ २। १८३।' =से। लहै=पाता है, प्राप्त करता या होता है।=ग्रहण करता है। (प० रा० कु०)।=शोभा पाते, सराहना पाते है। (मुहावरा है।) (गौड़जी)। सराहिअ=सराहा जाता है, प्रशंसा की जाती है। अमरता=अमरत्व गुण, अमर करनेका धर्म।

अर्थ—गुण-अवगुण सभी कोई जानता है, जिसको जो भाता है, रुचता है उसको वही अच्छा लगता है॥ ९॥ पर भले भलाई ही और नीच नीचता ही 'लहते' हैं। अमृतकी अमरता सराही जाती है और विषका मार डालना ही सराहा जाता है॥ ५॥

नोट—१ 'गुन अवगुन जानत सब···' इति। (क) पूर्व जो कहा कि साधु और खल अपनी-अपनी करनीसे सुयश या अपयश पाते हैं, साधुकी करनी सुधा आदि और असाधुकी करनी गरल आदिकी-सी है। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि खल जानते नहीं होंगे कि क्या गुण है और क्या अवगुण, न यह जानते होंगे कि पापका फल नरक होता है क्योंकि वे तो पापमें युक्त (आसक्त) हैं। उसपर ग्रन्थकार कहते हैं कि बात ऐसी नहीं है, गुण-अवगुण सभी जानते हैं और वे भी जानते हैं पर 'जो जेहि भाव···'। (मा० प्र०, सू० प्र० मिश्र)। (ख) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ जो कहा कि गुण अवगुण सब जानते हैं, वे गुण-अवगुण 'सुधा ' कलिमलसरि' के हैं। अर्थात् सुधा, सुधाकर और सुरसरिके गुण और गरल, अनल और कर्मनाशाके अवगुण सभी लोग जानते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि इन सबोंके गुणोंका ब्योरा हमने नहीं लिखा क्योंकि सब जानते हैं। बाबा हरिदासजीका मत है कि 'सुधाकी अमरता, चन्द्रमाकी शीतलता, गङ्गाजीकी पुनीतता और साधुकी सुकृति, इन चारोंके ये गुण तथा गरलका मारना, अग्निका जलाना, कर्मनाशाका शुभ कर्मोंका नाश करना और व्याधाके पाप, इन चारोंके अवगुण इति गुण-अवगुण सब जानते हैं।' इनके मतानुसार पिछली अर्धालीका अन्वय इसके साथ है। भाईजी श्रीपोद्दारजीने भी ऐसा ही अन्वय किया है।

नोट—२ 'जो जेहि भाव' इति। अर्थात् जिस ओर जिसके चित्तकी वृत्ति लगी हुई है उसको वही भाता है, किसीसे उसका निवारण होना कठिन है। (पंजाबीजी)। यही आशय श्रीपार्वतीजीके वचनोंमें है। 'महादेव अवगुनभवन विष्नु सकल गुनधाम। जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥' १। ८०।' पुन, यथा—'जो जो जेहि रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि' (दोहावली ३७१)। द्विवेदीजी लिखते हैं कि अनिसङ्ग हो जानेसे चाहे उसमें दोष हो परंतु वही अच्छा जान पड़ने लगता है। रामायणपरिचर्याकार लिखते हैं कि स्वभाव प्रारब्धके प्रतापसे होता है इसलिये बिना गुण दोष विचारे ही लोगोंका प्रियत्व वस्तुओंसे हो जाता है।

३ 'भलो भलाइहि···' इति। 'लहै' के उपर्युक्त अर्थोंसे इसके ये अर्थ होते हैं—(क) 'भले भलाईहीको ग्रहण किये हैं, नीच निचाईको ग्रहण किये हैं। सुधाकी प्रशंसा अमरता है, गरलकी मीच है'। (पं० रा० कु०)। (ख) पर भले भलाईहीको पाते हैं और नीच नीचता ही पाते हैं। (मा० प्र०, रा० प्र०) अर्थात् भले भला कर्म करते हैं तब सब उनके भलाईकी प्रशंसा करते हैं, यही भलाईका पाना है। इसी तरह नीचताके कर्म करनेसे उनको नीच कहते हैं, यही नीचता पाना है। (ग) भले भलाईहीसे प्रशंसा पाते हैं और नीच निचाईसे शोभा पाते हैं।

भाव तीनों अर्थोंका एक ही है, केवल अन्वय और शब्दोंके पूरे-पूरे अर्थोंकी बात है। भाव यह है कि भलेकी प्रशंसा जब होगी तब भला ही काम करनेकी होती है और नीचकी बड़ाई नीचताहीमें होती है। इस तरह भलेको यश और बुरेको अपयश प्राप्त होता है। जैसे अमृतकी प्रशंसा अमरत्व गुणहीकी होती है और विषकी प्रशंसा जब होगी तब उसके मारक (मृत्युकारक) गुणहीकी होगी, यदि विषसे मृत्यु न हुई तो उसकी बुराई होगी कि असल न था। पाण्डेजी लिखते हैं कि 'गुन अवगुन ··नीचु' का भाव यह है कि सन्त और खल दोनों जानते हैं, इस तरह निकाईमें भी दोनों बराबर हुए, अपने-अपने भावानुसार। अपने-अपने कर्ममें दोनों भलाई पाते हैं, इस तरह भी दोनों बराबर हैं।

नोट—४ 'सुधा सराहिअ ' इति। 'सुधा' के कहते ही 'सुधा' 'सुधाकर, सुरसरि' तीनोंका ग्रहण हुआ और गरल कहते ही 'गरल, अनल, कलिमलसरि' तीनोंका ग्रहण हुआ। दोनोंका केवल प्रथम शब्द यहाँ देकर और सब भी सूचित किये। यहाँतक गुण और दोष निरूपण किये गये। (पं० रामकुमारजी)

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा ॥ १ ॥
तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अगुन (अगुण)=अवगुण, दोष, बुरे गुण। गाहा=गाथा, कथा। यथा—'करन चहउँ रघुपति गुन गाहा' (१।७)। उदधि (उद=जल। अधि=अधिष्ठान)=समुद्र। अपार=जिसका कोई पार न पा सके। अवगाहा (सं० अगाध)=अथाह, बहुत गहिरा। यथा—'लघु मति मोरि चरित अवगाहा' (१।८), 'नारि चरित जलनिधि अवगाहू' (२।२७)। तें=से। यथा—'को जग मंद मलिनमति मो तें' (१।२८), 'राम कीन्ह आपन जबहीं तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें।' (२।१९६)। बखाने=कहे। संग्रह=ग्रहण करनेकी क्रिया, ग्रहण, स्वीकार। त्याग=छोड़ना।

अर्थ—खलोंके पापों और अवगुणोंकी कथा और साधुके गुणोंकी कथा (ये) दोनों अपार और अथाह समुद्र हैं॥ १॥ इसीसे (मैंने) कुछ गुण और दोष वर्णन किये (क्योंकि) बिना पहचाने इनका संग्रह या त्याग नहीं हो सकता॥ २॥

नोट—१ 'अपार उदधि अवगाहा' इति। 'अपार' और 'अवगाह' का भाव यह कि कोई यह कहनेको समर्थ नहीं कि इनमें इतने ही गुण या अवगुण हैं। उनकी थाह और पार नहीं मिल सकता, इसीसे 'कछु' बखानना कहा। सन्तशरणदासजी लिखते हैं कि 'अपार' का भाव यह है कि उनके विस्तार और गम्भीरताईका प्रमाण नहीं। खलोंके अघ अवगुण और साधुके गुणरूपी उदधिका एक ही धर्म 'अपार अवगाह' कथन 'प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार' है।

पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि शिष्य एक प्रकारका आत्मज (पुत्र) है। 'आत्मनो जायतेऽस्मादात्मज', इस व्युत्पत्तिसे पुत्र अपनी ही आत्मा है। खलके शिष्य, प्रशिष्य तथा साधुके शिष्य, प्रशिष्य इत्यादिक कहे जायँगे। उनके अवगुण और गुण ऊपरकी उक्तिसे खल और साधुहीके अगुण और गुण हैं। इसलिये इत्यादिक शिष्य-प्रशिष्योंके अगुण और गुण लेनेसे दोनों समुद्रके ऐसे अपार और अथाह हैं।

२ 'तेहि ते कछु गुन दोष बखाने' इति। (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'परदोषकथन' तो खलका काम है, तब गोस्वामीजीने साधु होकर पर-अवगुण क्यों कहे?' और उत्तर देते हैं कि उन्होंने उदाहरण तो कोई दिये नहीं। अर्थात् किसीका रूप या नाम लेकर अवगुण नहीं कहे कि अमुक व्यक्तिमें ये अवगुण हैं। खलका क्या लक्षण है, उन्होंने केवल इतना ही कहा है। अतः यह परदोष कथन नहीं है। और लक्षण कहनेका प्रयोजन स्वयं बताते हैं कि 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'।

(ख) ऊपर कह आये हैं कि 'गुन अवगुन जानत सब कोई' तो फिर इनके पहिचाननेके लिये इनको क्यों कहा? इस प्रश्नको लेकर उसका उत्तर पं० रामकुमारजी यह देते हैं कि 'पहिचाननेके लिये सन्त-असन्तके गुण दोष कहे हैं और जो गुण अवगुण सब जानते हैं वे तो जलज, जोंक, सुधा, सुधाकर इत्यादिके हैं, यह भेद है।

(ग) यदि कोई शङ्का करे कि 'श्रीरामचरित आप लिखने बैठे, आपको सन्त और खलके गुण या अवगुण गिनानेसे क्या प्रयोजन?' तो उसकी यहाँ निवृत्ति करते हैं कि हमने अपने जाननेके लिये लिखा। इनके स्मरण रखनेसे जिनमें गुण देखेंगे उनका साथ करेंगे। इस प्रकार सन्तका सङ्ग होनेसे चरित्रमें सहायता मिलेगी और जिनमें अवगुण होंगे उनसे दूर रहेंगे। (मा० प्र०)। पुनः, गुण ही-गुण लिखते तो अवगुणका बोध न होता। (नोट—गुण, अवगुणका वर्णन शिक्षात्मक है।)

(घ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि सन्तके गुण पढ़कर लोग उन्हें ग्रहण तो करेंगे, पर असन्तोंके लक्षण न जाननेसे सदा भय है कि उनके दोषोंको भी न ग्रहण कर लें, जैसे कि परदोष कथन 'वा श्रवण बहुतेरे सज्जनोंमें भी देखनेमें होता है। साधुवेष एवं वैष्णवों और प्रतिष्ठित भक्तोंमें भी द्वेष, परहित हानिमें तत्परता इत्यादि दोष आज भी प्रकट देखनेमें आते हैं। यहाँ गुण-अवगुण-कथन यह उल्लेख ठीक वैद्यका-सा है जो रोगीको ओषधि देते समय पथ्यके साथ कुपथ्य भी बता देता है जिसमें उससे बचा रहे।

३ सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि ग्रन्थकारने यहाँतक खल और सज्जनके 'प्रत्येक इन्द्रियके काम और जो-जो

वाले शरीरमें होनी चाहिये उन सभीको पूर्णरीतिसे दिखलाया है। यहाँ उनका क्रम उल्लेख किया जाता है। खलस्वरूप, 'खल अघ अगुन साधु गुनगाहा।' श्रवण इन्द्रिय, 'पर अघ सुनइ सहसदस काना।' चक्षुरिन्द्रिय, 'सहस नयन परदोष निहारा।' रसनेन्द्रिय, मदिरा आदि। मन, 'जे बिनु काज दाहिनेहु बाये।' बुद्धि, 'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे'॥ हाथ, 'पर अकाज भट सहसबाहु से।' पाद, 'हरिहर जस राकेस राहु से।' वाक्, 'सहस बदन बरनइ परदोषा।' वचन, विष। दर्शन, अग्नि। स्पर्श, कर्मनाशा। कर्तव्य, 'जे परदोष लखहिं सहसाखी' तेज, 'तेज कृसानु रोष महिषेसा।' उदय, 'उदयकेतु सम हित सबही के' (उपप्लवाय लोकाना धूम्रकेतुरिवोत्थित।) अस्त, 'कुंभकरन सम सोवत नीके।' दिनकृत्य, 'अनहित सबहीके।' रात्रिकृत्य, 'जे परदोष लखहिं सहसाखी।' सयोगफल, 'मिलत एक दारुन दुख देहीं।' उत्पत्ति, 'उपजहिं एक सग जगमाहीं।' धन-सम्पत्ति, 'अघ अवगुन धन धनी धनेसा।' प्रिय, 'बचन बज्र जेहि सदा पिआरा।' स्वभाव, 'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।' नाश, 'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं' इत्यादि।

४ 'स्वर्गवासी वन्दनपाठकजी—ग्रन्थकारने खलवन्दनामें तीन असुरोंका, तीन राजाओंका और तीन देवताओंका दृष्टान्त दिया है। और सहस्रनयन, सहस्रमुख और सहस्रभुजका दृष्टान्त तीनों लोकवासियोंमेंसे एक-एक दिया है। असुरोंका—राहु, केतु और कुम्भकर्ण। राजाओंका—सहस्रबाहु, पृथुराज और कुबेर। देवताओं-का—अग्नि, यम और इन्द्र। स्वर्गवासी सहस्रनयन इन्द्र, भूतलवासी सहस्रबाहु और पातालवासी सहस्रमुख शेष।' (मा० प०)।

५ पं० रामकुमारजी—यहाँतक साधु-असाधुके द्वारा कुछ गुण-दोष बखाने, अब (आगे) विधि प्रपञ्चके द्वारा कहते हैं।

भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये॥ ३॥
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥ ४॥

शब्दार्थ—भलेउ=भले भी। पोच=बुरे। बिधि=विधाता, परमात्मा। उपजाना।=उत्पन्न या पैदा करना। गनि=गणना करके, गिना कर, विचारकर। बिलगाना=५ (५) देखिये। इतिहास=वह पुस्तक जिसमें बीती हुई प्रसिद्ध घटनाओं और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंका वर्णन हो और उसके साथ-साथ धर्म, भक्ति, ज्ञान और कर्मकाण्डके गूढ़ रहस्य भी जिसमें हों, इत्यादि। जैसे महाभारत और वाल्मीकीय। विधि प्रपञ्च=सृष्टि, ससार। सानना=दो वस्तुओंको आपसमें मिलाना। सयुक्त करना।

अर्थ—भले भी और बुरे भी सभी ब्रह्माजीने उत्पन्न किये। (पर) गुण और दोषको विचारकर वेदोंने उनको अलग कर दिया है॥ ३॥ वेद, इतिहास और पुराण कहते है कि ब्रह्माकी सृष्टि गुण और अवगुण-संयुक्त है॥ ४॥

नोट—१ 'भलेउ पोच· '। इति। (क) सग्रह-त्याग-निमित्त हमने गुणदोष वर्णन किये, यह कहकर अब बताते हैं कि वेदोंने भी यही किया है। (मा० प्र०)। अथवा, यदि कोई कहे कि किसीके गुणदोष न कहना, यह धर्म-शास्त्रकी आज्ञा है तब आपने कैसे कहा? तो उसका उत्तर देते हैं कि हमने जो गुण-दोष कहे, वे वेदके कहे हुए हैं। (प० रामकुमारजी)। वा, साधु-असाधुके जो गुण-अवगुण हमने कहे हैं, वे हमने विधिप्रपञ्चमें पाये है। कुछ हमने ही नहीं कहे किंतु यह परम्परा वेदोंकी चलायी हुई है। (मा० प्र०) (ख) ब्रह्माजी पूर्व कल्पवत् सृष्टि रचते हैं। नित्य और अनित्य जितना भी यह चराचर जगत् है सबको ब्रह्माजीने उत्पन्न किया, उन उत्पन्न हुए प्राणियोंमेंसे जिन्होंने पूर्व कल्पमें जैसे कर्म किये थे वे पुनः जन्म लेकर वैसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न ऋतुओंके बारम्बार आनेपर उनके विभिन्न प्रकारके चिह्न पहलेके समान ही प्रकट होते हैं, उसी प्रकार सृष्टिके आरम्भमें सारे पदार्थ पूर्व कल्पके समान ही दृष्टिगोचर होते हैं। सृष्टिके लिये इच्छुक तथा सृष्टिकी शक्तिसे युक्त ब्रह्माजी कल्पके आदिमें बराबर ऐसी ही सृष्टि किया करते हैं। (पद्मपु० सृष्टिखण्ड अ० ३)। यथा—'यथर्तावृतुलिंगानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि

तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ १२३ ॥ करोत्येवंविधां सृष्टिं कल्पादौ स पुनः पुनः । सिसृक्षुश्शक्तियुक्तोऽसौ सृज्यशक्तिप्रचोदितः ॥ १२४ ॥

२—'गनि गुन दोष बेद बिलगाये' इति । (क) भले और बुरे दोनों ही सृष्टिमें हैं तब कोई कैसे जाने कि कौन भला है, कौन बुरा । अतएव वेदोंने गुण और दोष अलग-अलग बता दिये । (ख) 'गनि' का भाव कि गणना कर दी कि इतने गुण हैं और इतने दोष हैं । (वै०) (ग) 'बेद बिलगाये' इति । 'बिलगाये' से पाया जाता है कि गुण दोष मिलाकर रचना की गयी है । वेद शब्द 'विद ज्ञाने' धातुसे बनता है । उसका विग्रह यह है, 'विदन्ति अनेन धर्मम्' इति वेद । अर्थात् जिसके द्वारा लोग धर्मको जानते हैं । विहित कर्म करने और निषिद्ध कर्म न करनेको ही साधारणतः धर्म कहा जाता है । इसके लिये गुण और दोषोंका ज्ञान आवश्यक है । वह वेदोंने किया है ।

३—'कहहिं बेद इतिहास ' । (क) 'प्रपञ्च' नाम इसलिये पड़ा कि यह जगत् पाञ्चभौतिक है अर्थात् पञ्च तत्त्वोंका ही उत्तरोत्तर अनेक भेदोंसे विस्तार है । (ख) 'गुन अवगुन साना' इति । गुण-अवगुणसंयुक्त है । दोनों एक ही साथ मिले हुए हैं । मिले हुए तीन प्रकारके होते हैं । एक तो साधारण गुण-अवगुण । वह यह कि 'एकमें गुण है और दूसरेमें अवगुण, पर दोनों एक साथ रहते हैं । जैसे खट्टी वस्तु और मीठी वस्तु । दूसरे मुख्य गुण-अवगुण वह वह है जो एक साथ नहीं रहते । जैसे प्रकाश और अन्धकार, सूर्य और रात्रि । और तीसरे, कारण गुण अवगुण । यह एकहीमें सने रहते हैं । जैसे एक ही व्यक्ति वा वस्तु जिसमें प्रकट रूपसे गुण ही गुण है, उसमें ही कारण पाकर कुछ अवगुण भी होता है और जिसमें अवगुण ही है उसमें कारण पाकर कुछ गुण भी होते हैं । जैसे दूध, दही गुणदायक है पर ज्वरादि कारण पाकर कुपथ्य है । कलि अवगुणमय है पर उसमें एक गुण है कि शीघ्र मुक्ति भी इसीमें केवल हरियशनामकीर्तनसे सुलभ है । विष्ठा आदि अवगुण, पर खेतीके लिये गुण है । (वै०) (ग) 'साने' और बेदके 'बिलगाये' का स्वरूप आगे दिखाते हैं ।

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती । साधु असाधु सुजाति कुजाती ॥ ५ ॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू । अमिअ सुजीवनु[1] माहुरु मीचू ॥ ६ ॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा । लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ॥ ७ ॥
कासी मग सुरसरि क्रमनासा[2] । मरु मारव[3] महिदेव गवासा ॥ ८ ॥
सरग नरक अनुराग बिरागा । निगमागम[4] गुन दोष बिभागा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—सुजाति=अच्छी जाति, कुलीन । कुजाति=नीच जाति, खोटी जाति । दानव=दक्षकी कन्या 'दनु' के पुत्र कश्यपजीसे ।=दैत्य, असुर । अमिअ=अमृत । सुजीवनु=सुन्दर जीवन । माहुरु=विष । मीचु=मृत्यु । लच्छि=सम्पत्ति=लक्ष्मी । यथा—'एहि बिधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता सुखमूल ॥ (१ । २४७)' । रंक=दरिद्र । अवनीस (अवनी+ईश)=पृथ्वीका स्वामी, राजा । महिदेव=ब्राह्मण । गवासा=गऊको खानेवाला=कसाई । म्लेच्छ । सरग=स्वर्ग । बिभागा=भाग (हिस्से) पृथक्-पृथक् कर दिये ।

अर्थ—दुःख-सुख, पाप-पुण्य, दिन रात, साधु-असाधु, उत्तम जाति, नीच जाति ॥ ५ ॥ दानव-देवता, ऊँच-नीच (बड़े-छोटे उत्तम लघु), अमृत, सुन्दर जीवन और विष मृत्यु ॥ ६ ॥ माया, ब्रह्म, जीव और जगदीश,

१ सुजीवनु—प्रायः औरोंमें । सुजीवन—१६६१ ।

२ क्रमनासा—को० राम । कर्मनासा—१७६२ । कबिनासा—१६६१, १७२१, छ०, भा०, दा०, १७०४ । १६६१ में 'कबिनासा' मूल पाठ रहा है परंतु 'क' का 'क्र' बनाया गया है और 'बि' पर किंचित् हरताल है । हाशियेपर 'प' है । लेखकके हाथका सम्भव है । अयोध्याजीके महात्माओंकी पुस्तकोंमें 'कबिनासा' है । अतः हमने भी वही रक्खा है । विशेष पाठान्तरपर विशेष विचारमें देखिये । ३ मालव—छ०, को० रा०, १७२१, १६७२ । मारव—१६६१, १७०४ । ४, निगमागम—१६६१, निगम अगम—१७०४ ।

लक्ष्मी-दारिद्र्य, रंक राजा ॥ ७ ॥ काशी, मगध, गङ्गा, कर्मनाशा, मारवाड़, मालवा, ब्राह्मण, कसाई ॥ ८ ॥ स्वर्ग, नरक, अनुराग, वैराग्य (ये गुण-अवगुण विशिष्ट पदार्थ ब्रह्मसृष्टिमें पाये जाते हैं।) वेद-शास्त्रोंने गुण-दोषोंका विभाग कर दिया है ॥ ९ ॥

नोट—१ ऊपर कहा कि विधिप्रपञ्च गुण और अवगुणमिश्रित है। अब उसके कुछ उदाहरण देते हैं। दुःख, पाप, रात्रि, असाधु, कुजाति आदि अवगुण और सुख, पुण्य, दिन, साधु, सुजाति आदि गुण हैं जो द्वन्द्व सृष्टिमें पाये जाते हैं।

२—'अमिअ सुजीवनु माहुर मीचू' इति। प्रायः अन्य पुस्तकोंमें 'सजीवन' पाठ है। पर उसका अर्थ 'सम्यक् प्रकार जीवन' (रा० प्र०), 'जीवन' (पं०, मा० प०) ऐसा कुछ महानुभावोंने किया है। यहाँ अमृतकी जोड़में विष ('माहुर') और 'सुजीवन' की जोड़में 'मीचु' कहा गया है। 'सुन्दर जीवन' ही मृत्युकी जोड़में ठीक है। इसलिये यही पाठ उत्तम है और प्राचीनतम तो है ही। इस चरणके जोड़का चरण अयोध्याकाण्डमें यह है 'जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिअ अमरपद माहुरु मीचू ॥ २। २९८।' इसके अनुसार 'सुजीवन' का अर्थ 'अमरपद' ले सकते हैं।

टिप्पणी—१ 'माया ब्रह्म जीव जगदीसा' इति। यहाँ 'माया' से त्रिगुणात्मिका माया जानिये जो तीनों गुणोंको परस्पर मिश्रित करके जीवको मोहमें फँसाती है। (करु०)। गोस्वामीजीने 'माया' का स्वरूप बाल, अरण्य और उत्तरकाण्डमें दिखलाया है। साथ ही-साथ ब्रह्म और जीवके भी स्वरूप जनाये हैं। यथा—'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ॥ गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥ ३। १५।' 'माया ईस न आपु कहुँ जानि कहिअ सो जीव। बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव ॥ ३। १५।' जीव अज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ, जीव मायाके वश, ब्रह्म मायाका प्रेरक। म० श्लो० ६ देखिये। श्रीरामजी ब्रह्म हैं। यथा—'राम ब्रह्म परमारथरूपा। २। ९३।', 'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना ॥ १। ११६।', 'राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। १। १२०।'

२—यहाँ 'ब्रह्म' और 'जगदीश' दो शब्द आये हैं, इसलिये 'जगदीश' से त्रिदेवको सूचित किया है। त्रिदेव गुणाभिमानी हैं, परन्तु गुणोंके वश नहीं हैं, सब कर्मोंसे रहित हैं और जीवोंको उनके कर्मोंके अनुसार फल देते हैं। अथवा, जगदीश=लोकपाल।=इन्द्रियोंके देवता (मा० प०)। अथवा, ब्रह्मनिवारण-रूप और जगदीश ईश्वर सदा स्वतन्त्र। (रा० प्र०) जीव विवश्य (परतन्त्र, पराधीन) है और जगदीश ईश्वर नियामक (स्वतन्त्र) है।

नोट—३ कुछ महानुभाव ऊपरकी अर्धाली 'भलेउ पोच सब बिधि उपजाये।' ६ (३) के साथ इस गणनाको लेकर शंका करते हैं कि 'क्या 'माया ब्रह्म जीव जगदीसा' ब्रह्माके उपजाये हैं? यदि नहीं हैं तो उनको यहाँ क्या गिनाया?' इसका उत्तर महात्मा यों देते हैं कि—(१) यहाँ गोस्वामीजीने दो भूमिकाएँ दी हैं, एक भले-बुरेके उपजानेकी और दूसरी गुण-अवगुण सने होनेकी। यह गणना ६ (४) 'कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना' के साथ है। अर्थात् यहाँ कवि केवल यह गिना रहे हैं कि विधिप्रपंचमें क्या-क्या गुण, अवगुण मिले पाये जाते हैं। सबका उपजाना नहीं कहा है। माया तो वह है कि 'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं'। जीव ईश्वरका अंश है और ब्रह्म श्रीरामजी हैं कि 'उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना ॥' फिर भला इनको ब्रह्माके 'उपजाये' कैसे कह सकते हैं? (मा० प्र०)। अथवा, (२) 'जो ब्रह्माके उपजाये हैं, उन्हें विधिप्रपंचमें गिनो और जो विधिप्रपंचमें नहीं हैं, उन्हें प्रपंचमें न गिनो। यथा—'हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई' १। २३७ (१) में केवल श्रीरामजीके सराहनेका और 'सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु। लखन भरत रिपुदमन सुनि भा कुबरी उर सालु' (अ० १३ में) केवल 'कुसल रामु महिपालु' से दुःख होनेका अर्थ गृहीत है। तथा—'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ म० श्लो० १।' में 'कर्त्तारौ' शब्द वाणी और विनायक दोके विचारसे दिया गया। यद्यपि दोनों इन सबोंके कर्त्ता नहीं हैं। अर्थ करते समय किस-किसके कर्त्ता कौन हैं, यह पाठकको स्वयं विचारकर अर्थ करना होता है। वैसे ही यहाँ

भी बचाकर अर्थ करना चाहिये। (प० रामकुमार)। अथवा, (३) यहाँ द्वन्द्वकी संख्याके निमित्त इनको भी गिनाया। (पंजाबी)। अथवा, (४) जो सुननेमें आवे वह सब प्रपंच है, शब्द सुननेमें आता है। ब्रह्म, माया, जीव शब्द इस प्रपंचहीमें कहे जाते हैं, इतना ही अंश लेकर इनको कहा। (रा० प्र०)। अथवा, (५) ब्रह्मका गुण सर्वव्यापकता है। यदि जगत् न हो तो ब्रह्मकी व्यापकता कैसे कही जा सकती है और फिर कहेगा कौन? अतः ब्रह्मका व्यापकत्व गुण लेकर यहाँ इनको गिनाकर सूचित किया कि विश्वके उत्पन्न होते ही ये भी साथ आ गये। (मा० प०, रा० प्र०)। वा०, (६) जगदीश=लोकपाल। शरीर पाञ्चभौतिकमें माया है। इसी मायिक शरीरमें ब्रह्म, जीव और लोकपाल सने हैं, इस प्रकारसे कि नेत्रमें सूर्य, श्रवणमें दिशा, नासिकामें अश्विनीकुमार, मुखमें वरुण, हाथमें इन्द्र, मनमें चन्द्रमा इत्यादि सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर एक-एक देवताका वास है और जीवको कर्मानुसार यह शरीर भोगके लिये मिला, ब्रह्म भी अन्तर्यामीरूपसे इसमें है। यथा—'अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। मनुज बास चर **अचरमय रूप राम भगवान'** (पाण्डेजी)। अथवा, (७) विधि प्रपंच=दृश्यमान जगत्। यहाँ 'ब्रह्म' पर विशेषरूपसे कविका लक्ष्य नहीं है। यह दृश्यमान जगत् गुण-अवगुणसे सना है। इसमें माया और ब्रह्म दोनों एक साथ सने हैं। जीव और जगदीश दोनों एक साथ सने हैं। यह सारी रचना प्रकृति पुरुषमय होनेसे द्वन्द्वप्रधान है। (गौड़जी)। अथवा, (८) 'ग्रन्थकारने एक-एकका विरोधी कहा है। जैसे, दुःखका विरोधी सुख, पापका विरोधी पुण्य, इत्यादि। आगे छठी चौपाईके उत्तरार्ध और सातवींके पूर्वार्धमें दो-दोके विरोधी हैं जैसे अमृत और सजीवन (जीवनके साथ) अर्थात् अमृत और जीवन इसके क्रमसे विरोधी माहुर और मृत्यु। माया और ब्रह्म इनके क्रमसे विरोधी जीव और 'जगदीश'। (सुधाकर द्विवेदीजी) [माया और ब्रह्म तथा जीव और जगदीशकी जो जोड़ी बनायी है, इसमें किसको भला और किसको बुरा समझा जाय, यह समझमें नहीं आता, क्योंकि प्रत्येकमें एक-एक तो अच्छा ही है। पहलेमें ब्रह्म, दूसरेमें जगदीश?] (९) (नोट)—विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तके अनुसार प्रलयकालमें भी यह सारा जगत् (चित्, अचित् और ब्रह्म) सूक्ष्म अवस्थामें अव्यक्त दशामें था। ब्रह्मकी इच्छासे यह सारा जगत् स्थूलरूपमें अनुभवमें आने लगा। इसीको सृष्टिका उत्पन्न होना कहते हैं। ब्रह्म, जीव और माया—ये तीनों तो प्रथम सृष्टिके पूर्वावस्थामें भी थे और सृष्टि होनेपर स्थूलरूपमें साथ ही हैं। तीनों नित्य हैं, तीनों सत्य हैं। जगत् (माया) भी सदासे है और जीव एवं ब्रह्म भी सदासे हैं। ब्रह्माको सृष्टिरचयिता कहा जाता है, यह केवल इसलिये कि प्रभुकी इच्छासे उनके द्वारा सूक्ष्म जगत् स्थूलरूपमें परिणत होकर अनुभवमें आता है। ब्रह्म और जीव यद्यपि जगतकी तरह परिणामवाले नहीं हैं, तथापि देह आदिके बिना उनका भी अनुभव नहीं हो सकता। जीव और ब्रह्म भी स्थूल जगत्के द्वारा ही अनुभवमें आते हैं, औपचारिक कर्तृत्व ब्रह्माका कह सकते हैं। वस्तुतः ब्रह्ममें सूक्ष्म-स्थूल भेद कोई भी नहीं है। वह तो एक रस सर्वव्यापक है, परंतु व्याप्य जगत् और जीवके सूक्ष्म और स्थूल रूपके कारण ब्रह्मके भी सूक्ष्म और स्थूल दो रूप कहे जाते हैं। वैसे ही यहाँ भी सृष्टिमें उनकी गणना की गयी। इस तरह यह शङ्का ही उपस्थित नहीं हो सकती। अथवा, (१०) गुण-अवगुण दो तरहके हैं। १ कारण, २ कार्य। माया, ब्रह्म, जीव और जगदीश कारण गुण-अवगुण हैं। ब्रह्म आप ही चार लीलारूप धारण किये है। इन चारोंके जो कार्य गुण-अवगुण हैं उनके कर्ता विधि हैं। अर्थात् मायाका कार्य स्वर्ग, नरक, मृत्युलोककी प्राप्ति, ब्रह्मका कार्य सबको चेतन करना, जीवका कार्य हर्ष, शोक इत्यादि, जगदीशका कार्य उत्पत्ति, पालन, संहार है। ब्रह्माका प्रपंच कार्यरूप गुण अवगुणमय है, उसमें ब्रह्मसे चारों रूप उसकी इच्छासे कारणरूप गुण-अवगुणमय हैं। (करु०)। परब्रह्मके चार स्वरूप ये हैं—१ ब्रह्मरूप सबका साक्षी, ईश्वररूप प्रदाता। ३ जीवरूप भोक्ता। माया इच्छाभूत। ४ भोग्य (करु०)। (११) ब्रह्मादि देवताओंकी प्रार्थनासे उनकी रची सृष्टिमें माधुर्य स्वरूपसे अपना ऐश्वर्य छिपाये हुए परब्रह्म प्रकट हुए। (१।४८, १।१९१) इस भावको लेकर उपजाये कहे जा सकते हैं। (रा० प्र०)। (१२) वे० भू०, रा० कु० दा०—'**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च**।' इस वैदिक श्रुतिके अनुसार माया, ब्रह्म और जीव तो किसीके बनाये नहीं हैं, तीनों नित्य हैं। और 'विधि' भी अपने ही बनाये नहीं हैं, भगवान्के बनाये हैं। सृष्टिक्रम बताते हुए शास्त्र कहता है कि '**अण्डमण्ड-कारणानि च चतुर्मुखं च स्वयमेव सृजति अण्डान्तर्गतवस्तूनि चेतनान्तर्यामी सन् सृजति**।' अर्थात् प्रकृतिसे

महत्तत्त्वाहङ्कार पंचतत्त्व, पञ्च विषय और एकादश सूक्ष्मेन्द्रिय, और चतुर्मुख ब्रह्माके शरीरकी रचना स्वयं ब्रह्म करता है। ब्रह्माण्डान्तर्गत अन्य वस्तु जैसे दुःख-सुख आदि (माया, ब्रह्म, जीव, जगदीशको छोड़कर) बत्तीस जो यहाँ गिनाये गये हैं इन्हें ब्रह्मादि चेतनोंके अन्तर्यामी होकर अर्थात् इन्हींको निमित्त बनाकर रचना करता है जिससे वे तत्तद्रचित कहे जाते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि यहाँ वर्णित दुःख-सुखादि बत्तीस विधिने बनाये हैं और माया, ब्रह्म, जीव और जगदीश (ब्रह्मा) ये चारों इन्हींमें सने हैं। सनी हुई वस्तु मध्यमें रहती है, इसीसे इनको सोलह-सोलहके बीचमें रखखा है। (१३) बैजनाथजी लिखते हैं कि पूर्व लिखा गया कि गुण अवगुण जो सने हुए हैं वे तीन प्रकारके हैं। उन तीनोंके यहाँ बारह बारह उदाहरण देते हैं। (क) पाप पुण्य, सुजाति-कुजाति, अमृत-विष, जीव-जगदीश, काशी-मग और महिदेव-गवासा इन बारहमें 'साधारण गुण' कहे। (ख) दुःख-सुख, साधु-असाधु, ऊँच-नीच, माया-ब्रह्म, रंक-अवनीश, सुरसरि-कर्मनाशा ये मुख्य गुण-अवगुण सनेके उदाहरण हैं। (ग) दिनमें प्रकाश गुण और घामादि अवगुण, रात्रिमें अन्धकार अवगुण और शीतलतादि गुण, दानवमें उपद्रव अवगुण और वीरता, उदारता आदि गुण, देवताओंमें शान्ति गुण और स्वार्थपरायणता अवगुण। जीवित रहना गुण और दुःखभोग अवगुण, मृत्युसे मर जाना अवगुण पर अयशी, दुःखी, अतिवृद्ध, मुक्तिभागी आदिके लिये मृत्यु गुण। संपत्ति-समयमें भोजनवस्त्रादि भोगसुख गुण और अभिमानादि अवगुण, दरिद्रतामें दुःखभोगादि अवगुण और अमानता, दीनता गुण। मारवाड़में दुर्भिक्ष अवगुण और कभी-कभी तथा किसी-किसी वस्तुका सुख भी मालवामें सदा सुभिक्ष गुण और कभी किसी वस्तुका दुर्भिक्ष भी स्वर्गमें सुख-भोग गुण और सुकृत व्यापारका न होना अवगुण, नरकमें दुःखभोग अवगुण पर सविवेकके कारण जीवमें विकार नहीं रहता, चैतन्यता रहती है यह गुण, ये कारण गुण-अवगुण सनेके उदाहरण हैं। (बैजनाथजी अनुराग-विरागको गुण अवगुणमें नहीं गिनते। वे अर्थ करते हैं कि 'गुणोंमें अनुराग चाहिये और अवगुणोंसे वैराग्य होना चाहिये।') ये गुण-अवगुण कैसे जाने जायँ? उसपर कहते हैं 'निगमागम गुन दोष बिभागा।'

नोट—४ 'कासी मग सुरसरि क्रमनासा' इति। काशी मुक्ति देती है। यथा—'आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं॥' १। ४६।', 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' इति श्रुतिः। 'मग'—मगह मगहर और मगध इसीके नाम हैं। त्रिशंकुके रथकी छाया जिस भूमिपर पड़ती है उस देशका नाम मगह (मगध) है जो दक्षिण बिहारका प्राचीन नाम है। यह छियानबे कोस पूर्व-पश्चिम और चौसठ कोस उत्तर-दक्षिण है। कहते हैं कि यहाँ मरनेसे सद्गति नहीं होती, यह गुरुद्रोहका फल है। त्रिशंकुकी कथा 'कर्मनाशा' में देखिये। सुरसरि स्वयं पावन हैं और त्रैलोक्यको पावन करनेवाली हैं तथा मुक्ति देनेवाली हैं, भगवान्के दक्षिण अँगूठेसे इनकी उत्पत्ति होती है। कर्मनाशा (कर्मनाशा) अपवित्र है, स्नान करनेवालेके सुकृतोंकी नाशक है और गुरुद्रोही, चाण्डाल त्रिशंकुके शरीरके पसीने और मुखके लारसे इसकी उत्पत्ति है। यह नरकमें डालनेवाली है।

'कर्मनासा' इति। इस नदीका सम्बन्ध राजा त्रिशंकुसे है। इसने चाहा था कि यज्ञ करके इसी शरीरसहित स्वर्ग-को जाय। उसने गुरु वसिष्ठजीसे अपनी कामना प्रकटकर यज्ञ करानेकी प्रार्थना की। उन्होंने समझाया कि सशरीर स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तब वह वसिष्ठजीके पुत्रोंके पास गया और उनसे यज्ञ करानेकी प्रार्थना की। वे बोले कि जब पिताजीने 'नहीं' कर दिया तब हम ऐसा यज्ञ कैसे करा सकते हैं। इसपर राजाने कहा कि हम दूसरा गुरु कर लेंगे। यह सुनकर पुत्रोंने शाप दिया कि चाण्डाल हो जा। तदनुसार राजा चाण्डाल हो गया। फिर वह विश्वामित्रजीकी शरणमें गया और हाथ जोड़कर उनसे अपनी अभिलाषा प्रकट की। उन्होंने यज्ञ कराया पर देवताओंने हविर्भाग न लिया। तब वे केवल अपनी तपस्याके बलसे उसको सशरीर स्वर्ग भेजने लगे, यह देखकर इन्द्रने उसे मर्त्यलोककी ओर ढकेल दिया जिससे वह उलटा (सिर नीचे, पैर ऊपर) त्राहि-त्राहि करता हुआ नीचे गिरा। विश्वामित्रने अपने तपोबलसे उसे आकाशमें ही रोककर दक्षिणकी ओर दूसरे ही स्वर्गकी रचना आरम्भ कर दी। देवताओंकी प्रार्थनापर विश्वामित्रजीने सप्तर्षि और नक्षत्र जो बनाये थे उतने ही रहने दिये और कहा कि त्रिशंकु जहाँ है वहीं रहेगा। (वाल्मी० १। ५७)।

उसके शरीरसे जो पसीना और मुखसे लार गिरा वही कर्मनाशा नदी हुई। कोई कहते हैं कि यह रावणके मूत्रसे निकली है। पर कुछ लोगोंका मत है कि प्राचीन कालमें कर्मनिष्ठ आर्य ब्राह्मण इस नदीको पार करके कीकट (मगध) और बङ्ग देशमें नहीं जाते थे, इसीसे यह अपवित्र मानी जाती है। यह शाहाबाद जिलेके कैमोर पहाड़से निकलकर चौसाके पास गङ्गाजीमें मिली है।

'कबिनासा' 'क्रमनासा' पाठपर विचार। दोनों पाठ 'कर्मनाशा' हीके बोधक हैं। कभी कभी कविजन अपने अधिकृत वृत्त या छन्दमें बैठाने और खपानेके लिये किसी नाम या शब्दके अक्षरांश सङ्कोच करके उसका लघुरूप दे देते हैं। उससे भी उसके उसी बृहत् और पूर्ण रूपका बोध होता है और उसी मूलार्थका ग्रहण किया जाता है। क्योंकि ऐसा न्याय है 'नामैकदेशे नामग्रहणम्।' पुरातन कविलोग प्रायः इस न्यायका अनुसरण करते थे। प्रसिद्ध टीकाकार श्रीमल्लिनाथसूरिने 'किरातार्जुनीय' के 'कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रम। तवाभिधानाद् व्यथते नतानन सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥' इस श्लोकके 'तवाभिधानात' की टीका करते हुए 'तव' का उरग पक्षमें इस प्रकार अर्थ किया है। (नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणमिति न्यायात।) तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी तयोरभिधान यस्मिन्पदे तस्मात। अर्थात् 'तव' के 'त' अक्षरसे तार्क्ष्य और 'व' से वासुकि नामक नागराजका ग्रहण हुआ। इसी प्रकार 'कबिनासा' के 'क' अक्षरसे कर्म माना जायगा। कर्मका ही लघु या सांकेतिक रूप 'क' है और उसका अर्थ भी कर्त्ता, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मपरक है जो कर्मके अधिष्ठातृ देव हैं। फिर 'क' सूर्यको भी कहते है। जो कर्मका सञ्चालक है 'मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः कं शिरोऽम्बुनो' इत्यमर। (व्यासजी, प० श्रीहनुमानप्रसाद त्रिपाठी)

गौड़जी—कबिनासा (क=आनन्द, बिनासा=नाशक)=स्वर्गके आनन्दको बिनाश करनेवाली नदी। 'नाक' शब्दका भी इसी प्रकार (न+अ+क=नाकम्) अर्थ करते हैं। 'कबिनासा=कर्मनाशा नदी जो सत्कर्मोंका ही नाश करती है।

'क्रमनासा' से 'कबिनासा' पाठ अच्छा है क्योंकि 'कर्म' शब्दमें सत् और असत् दोनोंका ही समावेश है। परन्तु यहाँ केवल सत्कर्म ही अभिप्रेत है। इस तरह कर्मनाशामें अतिव्याप्ति दोष है। कबिनासामें अतिव्याप्ति नहीं है। हाँ, अप्रसिद्धि कह सकते है।

नोट—आदिमें लिखा है कि 'कहहि वेद इतिहास पुराना। बिधिप्रपंच गुन अवगुन साना॥' और अन्तमें लिखते है कि 'निगम अगम गुन दोष बिभागा।' इससे यह जनाया कि गुण-अवगुण सानेका स्वरूप और उन (गुण-अवगुण) के विभागका स्वरूप दोनो वेदपुराणोंमें दिखाये गये है। (प० रामकुमार)।

दो०—जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं[1] पय परिहरि बारि बिकार॥ ६॥

शब्दार्थ—बिस्व=ससार। करतार (कर्त्तार)=ब्रह्मा, परमेश्वर। पय=दूध। वारि=जल। बिकार=दोष। गहना=ग्रहण करना, लेना।

अर्थ—इस जड़चेतन और गुणदोषमय विश्वको ब्रह्माने रचा है। सन्तरूपी हस दोषरूपी जलको छोड़कर गुणरूपी दूधको ग्रहण करते हैं॥ ६॥

नोट—यहाँ गुण-दोष और जड़ चेतनको ब्रह्माका बनाया नहीं कहा।

टिप्पणी—१ (क) अब 'विधिप्रपच गुन अवगुन साना' का स्वरूप दिखाते है कि दूध-पानीकी नाईं मिला है। पहले साना कहकर यहाँ विभाग किया कि दूध और पानी मिला है, सन्तने दूध-पानीके

१ ग्रहहिं १७२१, १७६२, छ०, १७०४ (श० ना०), परतु रा० प० मे 'गहहिं' है। १६६१ मे 'ग्रहहिं' था पर हरताल देकर 'गहहिं' बनाया है।

स्वरूपको अलग कर दिया। (ख) सन्तको हंसकी उपमा देनेका भाव यह है कि जैसे दूधमें जल मिला हो तो पहचाननेवाले बता देंगे कि इसमें कितना जल है और कितना दूध, इसी तरह वेद-शास्त्र बताते हैं कि प्रत्येक वस्तुमें क्या गुण है और क्या दोष। परंतु जैसे दूधमेंसे जल निकालकर दूध-दूध हंस पी लेता है, ऐसा विवेक हंसको छोड़कर और किसीमें नहीं है, वैसे ही दोषको छोड़कर केवल गुण सबमेंसे निकालकर ग्रहण कर लेना, यह केवल सन्तहीका काम है, दूसरेमें यह सामर्थ्य नहीं। यथा—'सगुन खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥ भरतु हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥ गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उँजियारी॥ (अ० २३२) ☞ इससे विदित होता है कि कर्त्तारसे अधिक उपकार वेदोंने किया है और उनसे अधिक उपकार सन्त करते हैं। (ग) सन्त-असन्तके गुणदोष संग्रह त्यागहीके अर्थ बताते हैं। इनके द्वारा सबको प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि इन्होंने गुण-दोषको अलग-अलग कर दिये हैं।

सुधाकर द्विवेदीजी—इस दोहेसे ग्रन्थकारने यह सूचित किया है कि इस संसारमें जो दोषोंसे बचा रहे, गुणोंहीको ग्रहण करे, वही सन्त है। इस प्रकारसे यह दोहा सन्तका लक्षणरूप है।

अलङ्कार—सन्तमें हंसका आरोप किया गया इसलिये गुणमें दूध और विकारमें जलका आरोप हुआ। यहाँ परम्परितरूपक है।

अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता॥ १॥

शब्दार्थ—राता = रत होता है, लगता है। अनुरक्त होता है।

अर्थ—जब विधाता ऐसा (हंसका-सा) विवेक दें, तभी दोषको छोड़कर गुणहीमें मन रत (अनुरक्त) होता है॥ १॥

टिप्पणी—१ 'यहाँ विवेकप्राप्तिके दो कारण लिखे, एक सत्सङ्ग, दूसरा विधि। क्योंकि जगत् विधाताका बनाया है। यथा—'भलेउ पोच सब बिधि उपजाये।' सो जब वे ही विवेक दें कि हमने ऐसा बनाया है, यह दोष है, यह गुण है, तब विवेक होवे। पुनः, सन्त विधिके बनाये हुए गुणको ग्रहण किये हैं, दोषको त्यागे हैं। अतः इनके सत्सङ्गसे विवेक हो सकता है।' २ 'वेदका बताया हुआ न समझ पड़ा, तब कहा कि 'अस बिबेक जब देइ बिधाता।', क्योंकि जो वेदके बतानेसे विवेक होता तो विधाताके देनेका कौन काम था?' ३ 'प्रथम सन्तोंके गुण-दोष निरूपण किये, फिर विधि-प्रपञ्चद्वारा सन्त-असन्तके गुण-दोष कहे, अब तीसरा प्रकार लिखते हैं'।

काल सुभाउ करम बरिआईं। भलेउ[1] प्रकृति बस चुकइ भलाईं॥ २॥
सो सुधारि हरिजन[2] जिमि लेहीं। दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं॥ ३॥
खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू॥ ४॥

शब्दार्थ—बरिआईं = बलात्, जबर्दस्ती, जबरई। अभंगू = न भंग होनेवाला, अमिट, दृढ़, अनाशवान्। प्रकृति = माया। दलि = नाश करके।

---

१ पाठान्तर—'भलउ'—(व्यासजी)। २ 'हरितन'—यह पाठ दो एक प्राचीन प्रतियोंमें मिलता है। काशिराजकी रामायण परिचर्या और सन्त उन्मनी टीकामें भी यही पाठ है। 'जिमि' का 'जैसा' अर्थ है, यह अर्थ लेनेसे आगे-पीछेकी चौपाइयोंसे सम्बन्ध मिलाते हुए शब्दार्थ और अन्वय करनेमें जो अड़चनें पड़ रही हैं ये 'हरितन' पाठमें नहीं बाधा डालतीं। 'हरिजन' पाठमें आगे-पीछेकी चौपाइयाँ ठीक ठीक नहीं लगतीं इसमें श्रीद्विवेदीजी भी सहमत हैं। 'हरितन' पाठ लेकर सन्त श्रीगुरुसहायलालजीने कई प्रकारसे अर्थ किया है। रामायण-परिचर्यामें अर्थ यों किया है कि 'सो साधुओंकी चूक हरि आप सुधार लेते हैं। जैसे कोई, राहमें चलते पाँव ऊँचा नीचा पड़नेसे गिर पड़े तो उसीका आत्मा 'तनुको झाड़-पोंछ धोय' लेता है, औषधियोंसे चोटको भी सँवारता है और फिर यह दशा नहीं आने देता, अपनी चूकको उपदेश मान लेता है'। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'यहाँ तनकी उपमा देकर साधुओंको हरिका तन जनाया, ताते (इसलिये) हरिकी प्रीति साधुमें विग्रहवत् ठहराया' मा० त० वि० 'तन = अल्प (तनु, काये कृशे चाल्पे विरलेऽपि च वाच्यवत्)। जैसे अल्प ही चूक हो तद्वत् हरि उसे सुधार लेते हैं।'

अर्थ—(१) कालके स्वभावसे, कर्मकी प्रबलतासे मायाके वश होकर भले भी भलाईसे चूक जाते हैं ॥ २ ॥ उस चूकको जैसे हरिजन सुधार लेते हैं और दुःख-दोषको दलकर निर्मल यश देते हैं (वैसे ही) खल भी सुसङ्ग पाकर भलाई करते हैं। (खलतासे चूक जाते हैं। परन्तु) उनका मलिन स्वभाव अभङ्ग है, मिटता नहीं।* (प० रामकुमार, मानस-पत्रिका) ॥ ३-४ ॥

अर्थ—(२) काल, स्वभाव और कर्मकी प्रबलतासे मायाके वश भला भी भलाईसे चूक जाता है ॥ २ ॥ उस चूकको भगवद्भक्त सुधार लेते हैं, दुःख दोषको मिटाकर निर्मल यश देते हैं जैसे खल भी सत्सग पाकर भलाई करने लगते हैं (परन्तु) उनका मलिन स्वभाव, जो अमिट है, नहीं छूटता ॥ ३-४ ॥ (मानस-परिचारिका)।†

नोट—इन चौपाइयोंमें यह दिखाया है कि जो भले हैं उनके अन्तःकरणमें भलाई बनी हुई है, इसीसे यदि वे काल-कर्मादिकी प्रबलतासे कभी कुमार्गमें पड़ गये तो भी जैसे ही सन्तोंका सङ्ग उन्हें मिला, वे सुधर जाते हैं। खल स्वाभाविक

---

* प० रामकुमारजी 'जिमि' पद 'सो सुधारि हरिजन' के साथ लेकर 'तिमि' पद आगेकी चौपाईमें लगाते हैं और यों अर्थ करते हैं कि 'तैसे ही खलको खल सुधार लेते हैं, भलाईसे निवृत्त करके मलिन कर्ममें प्रवृत्त करते हैं। सत्सङ्गजनित धर्म और यशको नाश करके अधर्म और अपयशको प्राप्त करते हैं क्योंकि खलका मलिन स्वभाव अभङ्ग है, मिटता नहीं, सत्सङ्ग पाकर भी न मिटा। जैसे सन्तोंका निर्मल अभङ्ग स्वभाव कुसगसे न मिटा। साधुके सङ्गसे अधर्म धर्मसम होता है, असाधुके सङ्गसे धर्म अधर्मसम होता है।'

इस प्रकार इस अर्थमें अपनी ओरसे बहुतसे शब्द जो कोष्ठकमें दिये जाते हैं, बढ़ाकर अन्वय ठीक हो सकता है। '(जब) भले भलाईसे काल स्वभावादिके वश हो जाते हैं (तब) जैसे हरिजन (वैसे ही खल खलको सुधार लेते हैं, जब वे) खल सत्सग पाकर (अपनी खलतासे चूककर) भलाई करने लगते हैं क्योंकि उनका स्वभाव'।' सुधाकर द्विवेदीजी इस अड़चनको बचानेके लिये 'सो सुधारि' इस अर्द्धालीका अर्थ यों करते हैं 'परन्तु महात्मा लोग अच्छे लोगोंके दोषोंको सुधारकर, जिमि लेहीं (=जें लेते हैं) अर्थात् उस सन्तको शुद्धकर उसके दोषोंको खा लेते हैं (खा डालते हैं)।' और लिखते हैं कि 'ऐसा अर्थ करनेसे चौपाइयोंकी सङ्गति हो जाती है'। (मा० प०)

† मा० प्र०—'यहाँ अर्थ अवरेवसे किया गया है, 'जिमि' वाचक पद आगेकी चौपाईके साथ है। 'जिमि' को 'हरिजन' के साथ लगानेमें कोई उपमेय ठीक नहीं जान पड़ता।'

नोट—अर्थ (१) में 'कालके स्वभाव और कर्मकी प्रबलता' ऐसा अर्थ किया गया है और अर्थ (२) में काल, स्वभाव और कर्म तीनोंको पृथक् पृथक् मानकर अर्थ किया गया है।

'कालके स्वभावसे' और 'कर्मकी प्रबलतासे' इन दोनोंका भाव एक-ही-सा जान पड़ता है इससे काल और स्वभाव दोनोंको अलग-अलग लेनेसे एक बात और बढ़ जाती है और गोस्वामीजीने अन्यत्र इनको अलग अलग लिखा भी है। यथा—'कालके, करमके, सुभाउके करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये'। (बाहुक), पुनः, यथा—'काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत' (विनय १३०)।

'समय (काल), लिखनेका कारण यह है कि समय अत्यन्त प्रबल होता है। यथा—'समय एव करोति बलाबलम्'। यह एक ही है जो मनुष्यको कमजोर और जोरावर बनाता है। 'काल: जयति भूतानि कालः सहरते प्रजाः। कालः स्वप्ने च जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः'॥ अर्थात् काल सब जीवोंको जीत लेता है, प्रजाका सहार करता है। वह स्वप्नमें भी जागता रहता है अतः कालका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। समयको कोई दवा नहीं सकता। समय जबरदस्त होता है। एवं स्वभाव भी अमिट होता है। 'स्वभावो यादृशो यस्य न जहाति कदाचन'। बिहारीने भी लिखा है कि 'कोटि जतन कीजै तऊ प्रकृतिहि परै न बीच। नल बल जल ऊँचो चढ़ै अन्त नीचको नीच ॥' एवं प्रारब्ध भी 'प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति'। श्रुतिमें भी लिखा है 'प्रारब्धकर्मणा भोगादेव क्षयः'। एवं प्रारब्ध भी बलवान् होता है। ये तीनों आपसमें एक दूसरेसे चढ़े-बढ़े हैं'। (सू० मिश्र)।

ही मलिन होते हैं। यदि दैवयोगसे उनको सत्सङ्ग प्राप्त हुआ तो वे सुमार्गपर चलने लगते हैं, परंतु ज्यों ही उन्हें कुसङ्ग मिला वे भलाई छोड़ अपने पूर्व स्वभावको ग्रहण कर लेते हैं।

नोट— २ 'काल सुभाउ करम बरिआईं।··' इति। गोस्वामीजीने अन्य स्थानोंपर भी ऐसा ही कहा है। यथा— 'काल करम गुन सुभाव सबके सीस तपत'। (वि० १३०), 'काल बिलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि। रबिहि राहु राजहिं प्रजा बुध ब्यवहरहिं बिचारि॥' (दोहावली ५०४)। और इनसे बचनेकी युक्ति भी श्रीरामचरितमानसहीमें बता दी है कि 'काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥ नट कृत कपट बिकट खगराया। नट सेवकहि न ब्यापइ माया॥' 'हरि माया कृत दोष गुन, बिनु हरि भजन न जाहिं। भजिय राम सब काम तजि अस बिचारि मन माहिं॥ ७। १०४।' यहाँ प्रायः लोग यह शङ्का किया करते हैं कि बड़े बड़े ज्ञानी ध्यानी हरिभक्त सन्त भी काल कर्मके कठिन भोगोंको भोगते हुए देख पड़ते हैं और ग्रन्थकारने स्वयं ही कहा है कि 'काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत' तो ये दोनों तो परस्पर विरोधी बातें हैं, इनसे संगति कैसे हो?

इस विषयमें 'नहिं ब्यापहिं' पदपर विचार करनेसे यह विवाद रह ही नहीं जाता। सन्त, हरिभक्त, ज्ञानी, ध्यानी सभी अवश्य प्रारब्ध भोग करते हैं। यह शरीर ही प्रारब्धका स्थूल रूप है, ऐसा भी कहा जा सकता है और शरीर प्रारब्ध कर्मोंके भोग करनेके लिये ही मिलता है, पर उनको दुःखका उतना भान नहीं होता, सूलीका साधारण काँटा हो जाता है। क्योंकि उनका मन तो नित्य निरन्तर भगवान्‌में अनुरक्त रहता है। 'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥' (अ० २७५) जो विषय-भोगमें प्रवृत्त रहते हैं, उनको दुःख-सुख पूर्ण रीतिसे व्यापता है, हरिचरणरत सन्तोंको दुःखके अनुभव करनेका अवसर ही कहाँ? इसीसे उनपर काल-कर्मादिका प्रभाव नहीं जान पड़ता। जैसा कहा है, 'ज्ञानी काटै ज्ञानसे मूरख काटै रोय।' यही तो अन्तर साधारण जीवों, भगवद्भक्तों और ज्ञानियोंमें है। काल, कर्मपर विशेष पिछली पादटिप्पणीमें आ गया है।

अर्थ—(३) सो (उस चूकको वा उनको) हरि (भगवान्) जनकी नाईं (तरह) सुधार लेते हैं और उनको, दुःखदोष दूर करके, निर्मल यश प्राप्त करा देते हैं। (रा० प्र०)।*

टिप्पणी—१ (क) अब धर्मके द्वारा सन्त-असन्तके गुण-दोष दिखाते हैं। 'कालके स्वभावसे कर्मकी बरिआईसे' यह अर्थ ठीक है, क्योंकि साधुका स्वभाव समीचीन है, उसके वशमें भलाईसे कैसे चूकें?† सत्सङ्ग

निकृष्ट कालमें शुभ कार्य भी करो तो सिद्ध नहीं होता। देखिये, राजा परीक्षित्‌पर कलियुगका प्रभाव पड़ ही तो गया, उसने राजाकी मति फेर ही तो दी, जिससे राजा भलाईसे चूक गये और मुनिके गलेमें साँप डाल दिया। पुनः, दुर्भिक्ष आदि आपत्तिमें कितने ही अपने धर्मको तिलाञ्जलि दे देते हैं।

कर्म तीन प्रकारके होते हैं। सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पूर्व जन्मोंमेंसे कुछ कर्म प्रारब्धरूप होकर इस शरीरमें भोगनेको मिलते हैं। कर्मकी प्रबलतासे राजा नृगको दत्त-गौके पुनर्दानसे गिरगिट होना पड़ा। 'प्रकृति' (अर्थात् माया) के वश सतीजी भलाईसे चूकीं कि पतिसे झूठ बोलीं। यथा—'बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूँठ कहावा'। (१। ५६)।

* इस अर्थमें 'हरि जन जिमि' ऐसा अन्वय किया गया। पुन, ऐसा भी अन्वय सन्त उन्मनी टीकाकारने किया है—'हरि जन (चूक) जिमि सुधारि लेहीं तद्वत् दुखदोष दलि सो (उसे) बिमल यश देहीं', अर्थात् हरि जनकी चूक जैसे सुधार लेते हैं, वैसे ही उसके दुःख-दोषको दलकर उसे विमल यश देते हैं। भगवान् अपने दासोंकी चूक सुधारते आये हैं, वैसे ही अब भी सुधारते हैं। मिलान कीजिये, 'रहति न प्रभु चित चूक किये की', 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ जन अवगुन प्रभु मान न काऊ, 'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती'। इत्यादि।

† सू० मिश्रजी और मयङ्ककारने 'काल' धर्म स्वभाव ऐसा ही अर्थ किया है। इनका मत टिप्पणी (ख) से मिलता है कि 'भलेउ' और 'हरिजन' में भेद है। भले कर्म, स्वभाव, कालके वश चूकते हैं पर रामभक्त कदापि नहीं चूकते, वे दूसरोंकी चूकको सुधारते हैं।

पाकर खल भलाई करते हैं, इससे यह न समझना कि कुसङ्ग पाकर साधु चूकते होंगे। साधु कुसङ्ग पाकर नहीं चूकते, वे तो 'फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं' (१। ३)। इसीलिये कालस्वभावकर्ममायाके वश भलेका चूकना कहा, न कि साधुका। अथवा, (ग) जो सन्त हंसरूपी हैं वे कालादिके वश कभी नहीं चूकते। यथा—'कोटि बिघ्न ते संतकर मन जिमि नीति न त्याग। ६। ३३।' जैसे हंस दूध ही ग्रहण करते हैं, पानी नहीं, वैसे ही जिन्होंने हंसका-सा विवेक विधातासे नहीं पाया है, वे कालादिकी बरिआईसे चूकते हैं और उनको हंसरूपी सन्त सुधारते हैं। तात्पर्य यह है कि सामान्य सन्त चूकते हैं, विशेष सन्त सुधारते हैं।

नोट—१ यहाँ सुधारनेमें 'हरिजन' शब्द है और पूर्व 'चूकने' में 'भलेउ' शब्द है। शब्दोंके भेदसे सूचित करते हैं कि 'भले' वे हैं कि जिनको विधातासे हंसका सा विवेक मिला है पर जो 'हरिजन' नहीं हैं वे चूक जाते हैं, क्योंकि उनके कर्मानुसार विधाताने विवेक दिया जो कालादिकी प्रबलतासे जाता रहा। 'हरिजन' इन भले जनोंको सुधार लेते हैं और स्वयं नहीं चूकते, क्योंकि ये तो सदा भगवानके आश्रयमें रहते हैं, इनको सदा भगवान्‌का बल है तब भला 'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू।' २ 'चुकइ भलाई' से ध्वनित होता है कि भलाईसे चूकते हैं पर मन सात्त्विक ही बना रहता है। (बाबा हरिदास)। ३ मिटै न इति। यहाँ दिखाया कि सन्त और खल दोनोंका ही स्वभाव अटल है। कुसङ्ग पाकर भी सन्तका स्वभाव निर्मल ही रहता है और सुसङ्ग पाकर भी खलका स्वभाव मलिन ही रहता है। ४ पं० सूर्यप्रसाद मिश्र—'इस लेखसे ग्रन्थकारने यह भी सिद्धान्त किया कि साधुका लक्षण धर्ममय और असाधुका लक्षण अधर्ममय ठीक नहीं है। अब ग्रन्थकार अगली चौपाई (सो सुधारि) से यह दिखलाते हैं कि ऊपरकी बातें (काल सुभाउ) तो ठीक हैं पर भक्तोंके लिये नहीं, क्यों भक्तोंकी चूक तो आप-ही-आप महाराज सुधार लेते हैं और पापीको प्रायश्चित्त कराके उसके दुःखको नाशकर निर्मल यश प्राप्त कर देते हैं।'

टिप्पणी—२ (क) 'सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं' इति। भाव यह है कि सन्तोंका यह सहज स्वभाव है, इसीसे वे सुधार लेते हैं। यथा—'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी ॥ ७। १२५।' 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया ॥' ७। १२१ ॥' राजा परीक्षितकी चूक हरिजन शुकदेवजीने सुधार दी और सतीकी चूक शिवजीने। (ख) 'दुख दोष' इति। बुरा कर्म दोष है, दोषका फल दुःख है। यथा—'करहिं पाप पावहिं दुखहिं भवरुज सोक बियोग', 'नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महाभव भीरा' (७।४१)। मनमें चूक होनेका दुःख हुआ, और चूक ही दोष है, इन दोनोंको मिटा देते हैं।।(नोट—मिश्रजी कहते हैं कि प्रसङ्गानुकूल 'दुःख-दोष'से पाप और पापजनित दुःखका तात्पर्य नहीं हो सकता। 'दुःख-दोष' एक शब्द मानना ही ठीक होगा।) (ग) 'बिमल जस देहीं' इति। अर्थात् उनको संसारमें निर्मल यश प्राप्त करा देते हैं। सुयशका भाजन बना देते हैं, सभी उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। यश धर्मका फल है, अतः यह भी भाव निकलता है कि भगवद्भक्त या भगवत्-कृपासे अधर्म भी धर्मका फल देता है। [पुनः, कुछ लोगोंके मतानुसार 'बिमल जस' से 'निर्मल भगवद्यश' का तात्पर्य है; जैसे परीक्षित्‌जी, सतीजी और काकभुशुण्डिजीको मिला।] (घ) 'अभगू' से सूचित किया कि अनेक जन्मोंसे ऐसा स्वभाव पड़ता चला आया है, इसीसे अमिट है।

नोट—५—यहाँ यह शङ्का प्रायः सभीने की है कि पूर्व कहा है कि, 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई' और यहाँ कहते हैं कि 'मिटइ न मलिन सुभाउ अभगू' इसमें पूर्वापर विरोध सा दीखता है? और इसका समाधान भी अनेक प्रकारसे किया गया है—(१) यहाँ 'खल' का स्वभाव कहा गया है और पहले 'शठ' का। यही 'शठ' और 'खल' में भेद दिखाया। खल और शठके लक्षण दोहावलीमें यों कहे हैं। 'जो पै मूढ़ उपदेस के होते जोग जहान। क्यों न सुयोधन बोधि कै आये स्याम सुजान ॥ ४८३ ॥ फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषइ जलद। मूरुख हृदय न चेत जो गुरु मिलै बिरंचि सिव ॥ ४८४ ॥ जानि बूझि जो अनीति रत जागत रहइ जो सोइ। उपदेसिबो जगाइबो तुलसी उचित न होइ ॥ सठ सहि साँसति पति लहत सुजन कलेस न काय। गढ़ि गुढ़ि पाहन पूजिये गडकि सिला सुभाय ॥ ३६२ ॥। (२) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि सामान्य खल सत्सङ्गसे सुधरते हैं, उन्हींको 'शठ' कहा था,

और यहाँ विशेष खलको कहा है कि जिनका मलिन स्वभाव सत्सङ्गसे भी नहीं मिटता। (३) यदि 'शठ' और 'खल' को एक ही माने तो उत्तर यह होगा कि सुधरना तो दोनों ठौर कहा है, 'सठ सुधरहिं' और 'खलउ करहिं भल' पूर्वके किञ्चित् संस्कारको वृहत् कर देना सत्सङ्गहीका काम है। जिनकी कूर बुद्धि है वे नाना धर्म-कर्म-ज्ञान ईश्वर-चिन्तनमें प्रवृत्त हो जाते हैं पर रजोगुण वा तमोगुणसंसृष्ट स्वभाव नहीं जाता, क्योंकि प्रकृति जो पड़ गयी सो पड़ गयी। 'चोर चोरीसे गया न कि हेरा फेरीसे' यह लोकोक्ति है।' पुन जहाँ 'मूरुख हृदय न चेत' कहा है, वह खपुष्प इव दृष्टान्त है'। (सन्तउन्मनीटीका)। (४) श्रीजानकीशरणजीका मत है कि 'सठ सुधरहिं सतसगति पाई' में शठका सुधरना पारसके स्पर्शमें लोहेके सुधारनेके समान कहकर कविने शठका सुधरकर बाहर-भीतरसे पूरा सन्त हो जाना बताया है, न कि केवल 'नाना धर्म कर्म ज्ञान ईश्वरचिन्तनमें प्रवृत्त होना' और भीतरसे रजोगुण-तमोगुणसंसृष्ट स्वभाव बना रहना। खल और शठमें भेद है। ग्रन्थभरमें 'खल' की जगह 'शठ' कहीं नहीं है। हाँ, दुष्ट अवश्य है। यथा—'दुष्ट उदय जग आरति हेतू'। खलको असन्त और असज्जन भी लिखा है। यथा—'सुनहु असंतन केर स्वभाऊ', 'बन्दौं सत असज्जन चरना।' (५) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि पारसके स्पर्शसे लोहा सोना तो हुआ पर स्वभावकी कड़ाई न गयी। जैसे नीमकी लकड़ी मलयप्रसङ्गसे महकी, चन्दन हो गयी, पर उसकी कड़वाहट न गयी। वैसे ही खल सुधर जाते हैं स्वभाव नहीं मिटता। (रा० प्र०)।

> लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥ ५॥
> उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥ ६॥
> कियहु कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥ ७॥

शब्दार्थ—लखि=देखकर। (सुबेष) सुबेष=सुन्दर वेष, सुन्दर बाना। बंचक=ठगनेवाले वा छल करनेवाले, ठग, कपटी। जेऊ=जो भी। प्रताप=प्रभाव, महिमा, महत्त्व। पूजिअहिं=पूजे जाते हैं, पुजते हैं। तेऊ=वे भी, उन्हें भी, उघरहिं=खुल जाते हैं; कलई खुल जाती है। निबाहू=निर्वाह, गुजर। कियहु=करनेपर भी। सनमानू=सम्मान, आदर, इज्जत।

अर्थ—जो ठग ही हैं (पर सुन्दर वेष धारण किये हैं) उनका भी सुन्दर वेष देखकर, वेषके प्रतापसे जगत् उनको भी पूजता है* ॥ ५ ॥ (परतु) अन्तमें वे खुल जाते हैं, अर्थात् उनका कपट खुल जाता है, फिर निर्वाह नहीं होता (अर्थात् फिर उनकी नहीं चलती) जैसे कालनेमि, रावण और राहुका† ॥ ६ ॥ बुरा वेष बना लेनेपर भी साधुका सम्मान होता है, जैसे संसारमें जाम्बवान् और हनुमान्‌जीका हुआ ॥ ७ ॥

---

* 'जग बंचक जेऊ' के दो प्रकारसे और अर्थ हो सकते हैं।—'जगत्‌में जो भी ठग हैं' जो जगत्‌को ठगनेवाले हैं अर्थात् जगत्‌को ठगनेके लिये ऊपरसे साधुवेष धारण कर लिया है पर उसमें प्रतीति नहीं है', पुन, 'जग' 'पूजिअहिं' के साथ भी आता है। 'बंचक' यथा—'बंचक भगत कहाइ रामके। किंकर कंचन कोह कामके' (१। १२), 'बिरंचि हरिभगतिको बेष बर टाटिका कपट दल, हरित पल्लवनि छावों' (विनय २०८)।

करुणासिंधुजी लिखते हैं कि यहाँ वेषका प्रताप सूचित करते हैं। अत उपासनाकी रीतिसे इनका अर्थ यों होगा कि 'उघरहिं अंत न होइ निबाहू' अर्थात् सुवेषके प्रतापसे उनका अन्त उघरता नहीं है, उनका निर्वाह हो जाता है, जैसे कालनेमि, रावण और राहुका हुआ। कालनेमिका अन्तमें निर्वाह हुआ। यथा 'राम राम कहि छाँडेसि प्राना'। रावणका निर्वाह। यथा 'गरजेउ मरत घोररव भारी। कहाँ 'राम। और राहुका, यथा 'कुटिल संग सरलहिं भए हरि हर करहिं निबाह। ग्रह गनती गन चतुर बिधि किए उदर बिनु राहु' इति दोहावल्याम्। राहुकी गिनती नवग्रहोंमें देवताओंके साथ होने लगी। थोड़ी ही देरके लिये देवताओंके बीचमें देवता बनकर बैठ जानेका यह फल हुआ कि वह नवग्रहोंमें पूजा जाता है। थोड़ी देर सुन्दर वेष धारण करनेका यह फल हुआ तो सदा सुवेष धारण किये रहनेसे क्यों न निर्वाह होगा?

† 'कालनेमि' १। २७ (८) देखिये। 'रावण' यह यतिके वेषसे पञ्चवटीमें गया। सीताजीने उसके वेषके प्रतापसे 'गुसाईं' सम्बोधन किया, उसके दुष्ट वचन सुनकर भी इसको दुष्ट न कहकर 'दुष्टकी नाईं' कहा। (लं० ३५, आ० २८)। 'राहू' ४—(३) देखिये।

टिप्पणी—(१) 'कर्मका व्यतिक्रम कहकर अब वेषके व्यतिक्रमका हाल कहते हैं कि साधु-उगसे कुवेषका सम्मान है और असाधुके सगसे सुवेषका भी अनादर है। 'जग वंचक' बड़ा पापी है। यथा—'वंचक बिरंचि वेष जगु छलहीं' (अ० १६८)। ऐसा पापी भी सुवेषके प्रतापसे पूजा जाता है। परंतु खलता उघरनेपर अन्तमें निर्वाह नहीं होता, क्योंकि इनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वेष ही है। यथा—'वचन वेष से जो बनै सो बिगरइ परिनाम। तुलसी मनसे जो बनै बनी बनाई राम ॥ १५४ ॥' इति दोहावल्याम्। इसीका उदाहरण आगे देते हैं। (२) 'असतके सुवेषको प्रथम और सन्तके कुवेषको पीछे कहनेका भाव यह कि यह अन्ततक निबह जाता है, वह नहीं निभता।' (३) 'कालनेमि जिमि रावन राहू' इति। भाव यह कि ये तीनों मारे गये, ऐसे ही वञ्चक भी मारे जाते हैं। वेष-प्रतापसे पूजे गये, खलतासे मारे गये। तीनोंने ठगाई की थी। यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है। (४) 'लखि सुवेष' से सूचित किया कि जो खल सत्सङ्ग पाकर भलाई करते हैं फिर बिगड़कर मलिन कर्म करते हैं, वे ही सुवेष बनाकर जगत्‌को ठगते हैं। (५) साधुके कुवेष करनेका भाव यह है कि कुवेषसे कुशल है। यथा—'कह नृप जे बिज्ञान निधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना ॥ सदा रहहिं अपनपो दुराएँ। सब बिधि कुसल कुवेष बनाएँ ॥ १६१ ॥' कुवेष बनाये हुएको कोई पूजता नहीं, पूजनेसे हानि है। यथा—'लोकमान्यता अनलसम कर तप कानन दाहु' (१६१)। सन्त पूजनेके डरसे कुवेष धारण करते हैं, खल पुजानेके लिये सुवेष बनाते हैं।

हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुँ बेद बिदित सब काहू ॥ ८ ॥
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहि मिलइ नीच जल संगा ॥ ९ ॥
साधु असाधु सदन सुकसारी। सुमिरहिं रामु देहिं गनि गारी ॥१०॥
धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई ॥११॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवन दाता ॥१२॥

शब्दार्थ—लाहू=लाभ। बिदित=प्रकट, जाहिर, मालूम। काहू=किसीको। गगन=आकाश। रज=धूरि, धूल। पवन=वायु, हवा। प्रसंग=सम्बन्ध, लगाव, साथ। कीचहि=कीचड़में। सदन=घर। सुक=(शुक) तोता। सारी=सारिका, मैना। गनि=गिनगिनकर अर्थात् बुरीसे बुरी, और बहुत अधिक। गारी=गाली। धूम=धुआँ। कारिख=(कालिख)=कालिमा, करिखा। मसि=स्याही। अनिल=वायु। संघाता=मेल, संगठनसे, साथसे। यथा—'ब्रह्मजीव इव सहज सँघाती'। जलद=मेघ। जीवन=प्राण, जल।

अर्थ—कुसंगसे हानि और सुसंगसे लाभ होता है, यह बात लोकमें भी और वेदोंमें सभीको विदित है ॥ ८ ॥ पवनके संगसे धूल आकाशपर चढ़ती है और नीचे (जानेवाले) जलके संगसे कीचड़में मिल जाती है ॥ ९ ॥ साधुके घरके तोते-मैने राम-राम सुमिरते हैं और असाधुके घरके गिन-गिनकर गालियाँ देते हैं ॥ १० ॥ धुआँ कुसंगसे कालिख कहलाता है वही (सुसंग पाकर) सुन्दर स्याही होता है तब उससे पुराण लिखे जाते हैं ॥ ११ ॥ वही (धुआँ) जल, अग्नि और पवनके संगसे मेघ होकर जगत्‌को जीवनदाता होता है ॥ १२ ॥

नोट—१ 'हानि कुसंग सुसंगति लाहू' इति। यथा—'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई ॥ २। २४।', 'केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा ॥ १। १०।', 'बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग ॥ ४। १५।', 'हीयते हि मतिस्तात हीनैस्सह समागमात्। समैस्तु समतां याति विशिष्टैस्तु विशिष्टताम् ॥' (पं० रामकुमारके संस्कृत खर्रेसे)।

टिप्पणी—१ 'गगन चढ़इ रज·····' इति। (क) अब कुसङ्ग सुसङ्गसे हानि-लाभ दिखाते हैं। (ख) 'गगन चढ़इ·····'। यथा—'रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद प्रहार नित सहई ॥ मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई ॥ ७। १०६।' वही रज जो पवनके सङ्गसे ऊर्ध्वगामी हो आकाशको जाती है, राजाओंके मस्तकपर जा विराजती है, नीच (नीचेको जानेवाले) जलके सङ्गसे कीचमें मिलती है। (आकाशगामीके

सङ्गका फल यह मिला और निम्नगामीके सङ्गका यह फल मिला। कीचड़में मिलनेसे अब सबके पदप्रहार सहती है।) अब यदि पवन उसे उड़ाना चाहे तो नहीं उड़ा सकता। तात्पर्य यह कि जो कुसङ्गसे अत्यन्त मूर्ख हो गये हैं, वे सत्सङ्गके अधिकारी नहीं रह जाते। यथा—'फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषइ जलद। मूरुख हृदय न चेत, जो गुर मिलहिं बिरंचि सम॥ ६। १६॥' जब वह उपदेश ही न मानेगा तब ऊर्ध्वगति ही कैसे होगी? सत्सङ्ग ऐसे नीचको इतने ऊँचेपर पहुँचा देता है और कुसङ्ग इतने ऊँचेसे गिराकर पतित करता है। (ग) [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि रजमें 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच विकार हैं।' जलमें 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पवनमें 'शब्द, स्पर्श' दो ही विकार हैं। सन्त पवनके समान हैं, जो रूप, रस और गन्ध विकारोंको जीते हुए हैं, केवल जगत्‌का स्पर्शमात्र किये हुए हैं और शब्द सुनते हैं। विषयी रजरूप हैं जो शब्दादि पाँचों विषय-विकारोंमें लिप्त हैं। ये सन्तसङ्ग पाकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं और जलरूपी विमुख जीव, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रसमें आसक्त हैं, उनका सङ्ग पाकर चौरासी लक्षयोनिरूप कीचड़में फँस जाते हैं। यथा—'**संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ**' (७। ३३)।]

नोट—२ कुछ महानुभावोंने शङ्का की है कि 'जल तो जगत्‌का आधार है, 'नीच' कैसे कहा? इसका एक उत्तर तो यही है कि दृष्टान्त एकदेशी है, जलकी नीचेकी गतिहीको यहाँ लिया है। गङ्गा आदिको इसी कारण निम्नगा कहा है, अर्थात् नीचेको जानेवाली है, वही अर्थ 'नीच' का यहाँ भी गृहीत है। इसी प्रकार '**बिस्व सुखद खल कमल तुषारू**'। [बा० १६ (५)] में 'कमल' को खलकी उपमा दी गयी है। कोई-कोई इस शङ्काके निवारणार्थ 'नीच' को 'कीच' वा 'रज' का विशेषण मानकर अर्थ करते हैं। वा, '**मिलइ नीच**' (नीचे कीचड़में जा मिलती है) ऐसा अन्वय करते हैं।

सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि 'नीच' विशेषण देनेका भाव यह है कि जो जिसके सामने नीच होता है, वह उसको नीच ही समझता है।…'यद्यपि जल मनुष्यमात्रका जीवन है तथापि धूलिके लिये नीच ही है।'

टिप्पणी—२ '**साधु असाधु सदन सुक सारी।**' इति। (क) साधुके घरके तोता-मैना साधुके सङ्गसे श्रीराम-नाम रटते हैं। इससे उनके लोक-परलोक दोनों बनते हैं। लोकमें लोग उनकी प्रशंसा करते हैं। और श्रीरामनाम-स्मरणसे वे परमधाम पाते हैं। इसी तरह असाधुके घरके तोते-मैने असाधुका सङ्ग होनेसे लोकमें अपयश पाते हैं। इस लोकमें लोग उनकी निन्दा करते हैं यह तो उनका लोक बिगड़ा और गाली देनेसे उनका परलोक भी बिगड़ा। (ख) साधुसङ्गसे शुकसारिकाका श्रीरामनामस्मरण करना 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है और असाधुके सङ्गदोषसे गाली देना 'द्वितीय उल्लास' है। दोहा ३ (६) में देखिये। यथासंख्य अलङ्कार भी है।

नोट—३ अर्धाली १० '**साधु असाधु**…' के भावके श्लोक ये हैं। '**कान्तारभूमिरुहमौलिनिवासशीला** प्रायः **पलायनपरा जनवीक्षणेन। कूजन्ति तेऽपि हि शुका खलु रामनाम सङ्गस्वभावविपरीतविधौ निदानम्॥', 'गवासनानां स शृणोति वाक्यमहं हि राजन् वचनं मुनीनाम्। न चास्य दोषो न च मे गुणो वा संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति॥**' अर्थात् जंगलमें वृक्षोंके शिखरोंपर बैठनेवाले शुक पक्षी भी जो मनुष्यको देखकर भागनेवाले होते हैं वे भी मनुष्योंकी सङ्गति पाकर रामनाम रटने लगते हैं। सङ्गतिसे स्वभावका परिवर्तन होता ही है। (सु० र० भा० प्रकरण २ सत्सङ्गति-प्रशंसा श्लोक ३१)। वह तो कसाइयोंका वचन सुनता रहा है और मैं मुनियोंके वचन सुनता हूँ। इसीसे हे राजन्! सारिका गालियाँ बकती हैं और मैं रामयश और रामनाम गाता हूँ। इसमें न कुछ उसका दोष है, न मेरा गुण। दोष और गुण संसर्गहीसे उत्पन्न होते हैं—(सु० र० भा० प्र० २ सत्सङ्गप्रशंसा श्लोक २३)।

२ '**देहिं गनि गारी**' इति। 'गनि' का अर्थ 'गिनना' करनेमें लोग शङ्का करते हैं कि 'इनको गिननेका विवेक कहाँ?' समाधान यह है कि यह मुहावरा है जिसका अर्थ है बराबर और बुरीसे बुरी बेहतहा (बहुत अधिक) गालियाँ देते हैं। कुछ लोग इस शङ्काके कारण इस प्रकार अर्थ करते हैं 'गाली देते हैं, 'गनि' अर्थात् विचारकर देख लो।' पर यह अर्थ खींचखाँच ही है।

५ '**धूम कुसंगति कारिख होई।**…' इति। (क) यहाँ कुसङ्ग और सुसङ्ग क्या है? लकड़ी, कण्डा, तृण,

भड़भूँजा आदिके सङ्गसे धुआँ जो घरोंमें जम जाता है वह कालिख कहलाता है, घरको काला करता है। लकड़ी, कण्डा, आदि कुसङ्ग हैं जिससे वह धुआँ 'कालिख' के नामसे कहा जाता है। तेल, बत्ती, विद्यार्थी आदिका सङ्ग सुसङ्ग है क्योंकि इनके सङ्गसे जो कालिमा बनती है, वह काजल कहलाता है, जिससे स्याही बनती है, दवातपूजामें उसका पूजन होता है और उससे पुराण लिखे जाते हैं, पुराणोंके साथ उसकी भी पूजा हो जाती है।

(ख) 'लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई' इति। यहाँ पुराणोंका ही लिखना क्यों कहा ? वेदोंका नाम क्यों न दिया ? उत्तर यह है कि पुराणोंके लिखनेका भाव यह है कि वह पूजनीय हो गया। पुराण लिखे जाते हैं, गणेशजीने सर्वप्रथम इन्हें लिखा। यह सब जानते हैं। वेदोंको इससे न कहा कि वे श्रुति कहलाते हैं। इनका लिखना सम्मानार्थ वर्जित है। इनको गुरुपरम्परासे सुनकर कण्ठ किया जाता है। भीष्मपितामहजीने महाभारत आनुशासनिक पर्वमें कहा है कि 'वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः।' अ० २३ श्लोक ७२।

६ 'सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद' इति। (क) धूमसे मेघोंका बनना हमारे पूर्वज बराबर मानते आये हैं। इसके प्रमाण भी हैं। यथा—'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ गीता ३। १४।' अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है और वह (वर्षा) यज्ञकर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। पुनश्च यथा—'धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः, (मेघदूत श्लोक ५)। अर्थात् धुआँ, तेज, जल और पवनका मेल ही मेघ है। इसी कारण मेघका 'धूमयोनि' और जलका 'जीवन' नाम पड़ा है। उत्तरकाण्डमें भी ग्रन्थकारने कहा है, 'धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥ ७। १०६।' इसपर यह शङ्का होती है कि 'धुएँसे तो विज्ञानके मतानुसार मेघ नहीं बनता। तब क्या यह कथन हमारे पूर्वजों, प्राचीनोंकी भूल नहीं है?' इसका उत्तर है—'नहीं'। तापबलसे जल, वाष्प (भाप) होकर अन्तरिक्षमें इकट्ठा होता है सही, पर कितना ही ठण्डा हो जाय, जल और उपल तबतक नहीं बन सकता, जबतक धूमकण या रजकणका संयोग न हो। ज्यों ही धूमकण या रजकण वाष्पको जमा देते हैं त्यों ही जल बन जाता है। [सं + घात = संघात = मेल वा क्रिया वा चोट वा संयोग।] अतः अनल + अनिल + जल + धूमकण, इस संघातसे जलद (जल + द) बनता है। (गौड़जी)।

लिङ्गपुराणमें भी लिखा है कि 'अतो धूमाग्निवातानां संयोगस्त्वभ्रमुच्यते॥ २९॥' धूम, अग्नि और वायुके संयोगसे मेघ बनता है, जो जलको धारण करता है। सूर्य जो जल किरणोंद्वारा खींचता है, वह सूर्यसे फिर चन्द्रमामें जाता है और वहाँसे मेघोंमें आता है। यथा—'आपः पीतास्तु सूर्येण क्रमन्ते शशिनः क्रमात्॥ ३१॥ निशाकराच्चिस्रवन्ते जीमूतान् प्रत्यप क्रमात्। वृन्दं जलमुचां चैव श्वसनेनाभिताडितम्॥ ३२॥' (लिं० पु० पूर्वार्ध अ० ५४)। धुआँ जैसा होता है वैसा ही उससे बने हुए मेघोंका फल होता है। दवाग्निका धुआँ वनके लिये हितकारी होता है। मृतधूमवाले मेघ अमङ्गलकारी होते हैं और आभिचारिक अर्थात् हिंसात्मक यज्ञका धूम प्राणियोंका नाशक होता है। यथा—'यज्ञधूमोद्भवं चापि द्विजानां हितकृत् सदा। दावाग्निधूमसम्भूतमभ्रं वनहितं स्मृतम्॥ ४०॥ मृतधूमोद्भवं त्वभ्रमशुभाय भविष्यति। अभिचाराग्निधूमोत्थं भूतनाशाय वै द्विजाः॥ ४१॥' (लिं० पु० पू० अ० ५४)। इससे भी धूमका सुसङ्ग और कुसङ्गसे शुभ और अशुभ होना सिद्ध है। लोगोंने पुराणोंकी निन्दा करके उसकी ओरसे लोगोंकी श्रद्धा हटा दी, जिसके कारण हम अनेक विज्ञानकी बातोंसे आज वञ्चित हो गये जो उनमें दी हुई हैं। विदेशी उन्हींको चुराकर जब कोई बात कहते हैं तब हम विदेशियोंकी ईजाद मानकर उनकी प्रशंसा करते हैं।

(ख) 'जग जीवनदाता' इति। जगको जीवनदाता हुआ, इस कथनका भाव यह है कि वह संसारका जीवन-दाता-स्वरूप है। स्याही होकर पुराणद्वारा पण्डितोंको जीवनदाता हुआ और मेघ होकर जगत्‌को जीवनदाता हुआ। (पं० रामकुमारजी)। मेघ पृथ्वीपर जलकी वृष्टि करते हैं, जिससे अन्न पैदा होता है और अन्नमें प्राण है, अर्थात् अन्नसे प्राणोंकी रक्षाके योग्य यह शरीर होता है और जगत्‌मात्रको इससे सुख होता है। यथा—'मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू। २। २३५।'

७ यहाँ तीन प्रकारके दृष्टान्त दिये गये। 'रज, पवन, जल,' 'शुक सारिका' और 'धुआँ'। और इनके द्वारा सुसङ्ग-कुसङ्गसे लाभ-हानि दिखायी गयी। इन प्रसगमे इन तीन दृष्टान्तोंके देनेका क्या भाव है? उत्तर—'रज, पवन और जल' जड़ है, 'शुक सारी' चेतन है जिनको भले-बुरेका ज्ञान नहीं और 'धूम' जड़रूप है और 'चेतनरूप' भी। इन दृष्टान्तोंको देकर दिखाते है कि जडपर भी जड़का, चेतनपर चेतनका और जड़चेतन सज्ञक, चेतन सज्ञक और जिनकी जड़चेतन दोनों सज्ञा है उन सबोंपर सङ्गतिका प्रभाव पड़ता है।

दो०—ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिं सुलच्छन[1] लोग॥
सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि सोषक[2] पोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह॥ ७॥

शब्दार्थ—ग्रह=जिन बिम्बोंकी आकाशमें गति है। ग्रह नव माने गये है। रवि, सोम, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। भेषज=ओषधि, दवाई। पट=वस्त्र, कपड़ा। कुजोग= (कुयोग) बुरेका सङ्ग। सुजोग=(सुयोग) अच्छेका सङ्ग। कुबस्तु=बुरे पदार्थ, बुरी चीज। सुबस्तु=भला पदार्थ, अच्छी चीज। सुलच्छन=सुलक्षण=भली प्रकार लखनेवाले, अच्छे लखनेवाले अर्थात् सुविज्ञ। पाख=पक्ष, पखवारा। १५।' १५ दिनका एक-एक पक्ष होता है। दुहुँ=दोनोंमे। प्रकाश=उजाला। पोषक=पालने, पुष्ट करनेवाला, बढानेवाला। सोषक (शोषक)=सुखाने वा घटानेवाला।

अर्थ—ग्रह, ओषधि, जल, वायु और वस्त्र (ये सब) बुरा और भला सङ्ग पाकर ससारमें बुरे और भले पदार्थ हो (कहे) जाते हैं। सुलक्षण लोग ही इसे लख (देख वा जान) सकते हैं। (शुक्ल और कृष्ण) दोनों पक्षोंमें उजाला और अँधेरा समान (बराबर) ही रहता है (परतु) ब्रह्माजीने उनके नाममे भेद कर दिया (अर्थात् एकका नाम शुक्ल और दूसरेका कृष्ण रख दिया)। एक चन्द्रमाकी वृद्धि करनेवाला और दूसरा उसको घटानेवाला है ऐसा समझकर जगत्‌मे एकको यश और दूसरेको अपयश दिया॥ ७॥

---

१ काष्ठजिह्वास्वामीजी...

१ काष्ठोरामजीकी प्रतिमे 'सुलक्खन' पाठ है। 'लखहिं' के योगसे यह पाठ अधिक अच्छा जान पड़ता है। श्रीअयोध्याजीकी भी एक प्रतिमें यही पाठ है। 'सुलखन' पदमें 'लखहिं' का अभिप्राय भरा है। सुलक्खन विशेषण है। अतएव यहाँ 'परिकर अलङ्कार' है। स० १६६१ की प्रतिमें प्रथम 'सुलप्पन' सा जान पड़ता है परतु 'प्प' पर स्याही अधिक है इससे निश्चय नहीं कि पूर्व क्या पाठ था। अनुमान यही होता है कि 'प्प' था। स्याही लगाकर हाशियेपर 'छ' बनाया है। बदला है। रा० प० मे 'सुलप्पन' पाठ है जो सम्भवत. १७०४ की पोथीका पाठ है। पजाबीजी भी 'सुलप्पन' पाठ देते है।

२ 'सोषक पोषक' पाठ १६६१ मे है। पोषक सोषक—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, को० रा०। 'सोषक पोषक' पाठ प० सुधाकर द्विवेदीने भी दिया है और मा० प्र० ने भी। प० रामकुमारजी लिखते है कि इस दोहेमें पहले प्रकाश और शशिपोषक, फिर तम सोषक कहकर पहले शुक्ल, फिर कृष्ण पक्ष सूचित किये। परतु दूसरी ठौर 'घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई। १। २३८ (१)।' में पहले कृष्ण फिर शुक्ल पक्ष लिखा है। इस व्यतिक्रमका भाव यह है कि नर्मदाजीके उत्तरार्धमें प्रथम कृष्ण पक्ष माना जाता है और दक्षिणार्द्धमें प्रथम शुक्ल पक्ष माना जाता है। श्रीमद्गोस्वामीजीने एक-एक मत दोनों जगह देकर दोनों मतोंकी रक्षा कर दी है। (प० रामकुमारजी भागवतदासजीकी पोथीसे पाठ करते थे।) उसमे 'पोषक सोषक' पाठ यहाँपर है। इसीसे उन्होंने दोनो स्थानोंके पाठका इस तरह समाधान किया है। मानसपीयूषके प्रथम और दूसरे सस्करणमे हमने 'पोषक सोषक' पाठ रक्खा था और वही अधिक अच्छा जान पड़ता है, पर १६६१ की प्रतिमें 'सोषक पोषक' है और हरताल या काट-छाँट भी नहीं है। इसलिये इस संस्करणमें यही पाठ रक्खा गया।

नोट—१ 'ग्रह' नौ हैं। यथा—'सूर्यः शौर्यमथेन्दुरुच्चपदवीं सन्मंगलं मंगलः सद्बुद्धिं च बुधो गुरुश्च गुरुतां शुक्रः सुखांश शनिः। राहुर्बाहुबलं करोतु विपुलं केतुः कुलस्योन्नतिं नित्यं प्रीतिकरा भवन्तु भवतां सर्वे प्रसन्ना ग्रहाः॥' (मानसागरी १। ५)। ग्रहोंमेंसे कितने ही स्वाभाविक ही शुभ और कितने ही अशुभ हैं, तो भी बुरे स्थानमें आ-पड़ने, क्षीण होने, अधिकांश बीतने, क्रूरग्रहके साथ पड़ने या उनकी दृष्टि पड़नेसे शुभग्रह भी बुरे हो जाते हैं और इसी प्रकार अशुभग्रह शुभग्रहोंके संयोग, शुभस्थान आदि कारणोंसे शुभ हो जाते हैं। द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'बृहस्पति जन्म और अष्टम प्राणनाशक और वही द्वितीय और नवममें आरोग्य और अनेक सुखदाता भी बुरे-भले स्थानके सङ्गसे होता है।' पुन. यथा—'ससि सर नौ दुइ छ दस गुन मुनि फल बसु हर भानु। मेषादिक क्रम ते गनहिं घात चंद्र जिय जानु॥ दोहावली ४५६।' इस दोहेका भावार्थ यह है कि मेष आदि राशियोंसे क्रमशः शशि (एक), सर (पाँच), नौ, दो, छ, दस गुन (तीन), मुनि (सात), फल (चार), बसु (आठ), हर (ग्यारह), और भानु (बारह) वें राशियोंमें स्थित चन्द्रमा घातक होता है। अर्थात् मेषराशिवालेको 'प्रथम' अर्थात् मेषका, वृषराशिवालेको उससे पञ्चम अर्थात् कन्या-राशिका, मिथुनराशिवालेको उससे नवें अर्थात् कुम्भका चन्द्र घातक होता है। इसी प्रकार और भी जान ले। मुहूर्तचिन्तामणिमें यात्राप्रकरणमें भी ऐसा ही लिखा है। यथा—'भूपञ्चाङ्कद्वयङ्गदिग्वह्निमसवेदाष्टेशार्काश्च घाताख्यचन्द्र मेषादीनां राजसेवाविवादे यात्रायुद्धाद्ये च नान्यत्र वर्ज्यः॥ २७।' चन्द्रमा पुण्य ग्रह है, परन्तु उपर्युक्त कुयोगोंमें वह कुवस्तु हो जाता है। पूर्व संस्करणोंमें हमने उदाहरणमें यह दोहा दिया था। परंतु इस समय विचारनेपर कुछ त्रुटि देख पड़ी कि इसमें एक ग्रहके केवल कुयोगका किंचित् अंश मिलता है, दूसरे मेषादि राशियाँ कोई कुवस्तु नहीं हैं कि जिनके सङ्गसे चन्द्रमा 'कुवस्तु' हो जाता है। तब वह बुरा क्यों माना गया? इसका उत्तर यही हो सकता है कि दोनों अच्छी वस्तुओंका योग (मिश्रण) जैसे घृत और मधु समान होनेपर मात्रामें मिलनेसे विष हो जाना है। वस्तुतः यहाँ ग्रह आदिका कुयोग (कुवस्तुके योग) से कुवस्तु और 'सुयोग' (अच्छी वस्तुके योग) से सुवस्तु होना कहा गया है। इसलिये दूसरा दृष्टान्त खोज करके यह दिया जाता है। बृहत् ज्योतिषसार 'जातक' प्रकरणमें लिखा है, 'द्वित्रिसंस्थाः खगा नीचा व्ययभावेऽथवा पुनः। भवन्ति धनिनः षष्ठे निधनेऽन्ते च भिक्षुकाः॥ ८१।' अर्थात् जिसके शुभ ग्रह दूसरे, तीसरे स्थानमें हों और पापग्रह बारहवेंमें हों तो वह धनवान् होता है और यदि सम्पूर्ण ग्रह छठे, आठवें और बारहवें स्थानमें पड़े तो बालक भिक्षुक होता है। कुण्डलीका दूसरा स्थान धनका और तीसरा भाईका है। अतः ये शुभ हैं। बारहवाँ स्थान इन दोनोंके सङ्गसे शुभ ही समझा जा सकता है क्योंकि धन और परिवारवालेके लिये खर्च भी साथ-साथ होना बुरा नहीं है। ग्रह इन शुभ स्थानोंमें आनेसे शुभ होते हैं। कुण्डलीका छठा, आठवाँ और बारहवाँ स्थान क्रमशः रिपु मृत्यु और व्ययका है। रिपु और मृत्यु दोनों बुरे हैं ही और इनके सङ्गसे बारहवाँ स्थान भी बुरा ही है। समस्त ग्रह इन तीनों स्थानोंके सङ्गसे बुरे हो जाते हैं।

२ भेषज—अनुपान अच्छा, समय ठीक हुआ और रोगकी ठीक पहिचान करके दवा दी गयी तो गुण करती है, नहीं तो उलटी हानिकारक हो जाती है। इसके भेदको अच्छे वैद्य ही जानते हैं। साँपके काटनेपर विष खिलानेसे प्राणोंकी रक्षा, अन्यथा विष प्राणघातक है। पूर्व संस्करणोंमें हमने यह भाव लिखा था और कुछ टीकाकारोंने उसे अपनी टीकाओंमें उतारा भी है। परंतु 'भेषज' के 'कुयोग सुयोग' की ठीक सङ्गति इसमें नहीं पाकर वैद्यक ग्रन्थमें खोजकर दूसरा उदाहरण दिया जाता है।

'भेषज' इति। लोहेकी भस्म शहदके साथ पथरी और मूत्रकृच्छ्र रोगके लिये परम गुणदायक है। परंतु यदि मद्य और खटाईका सेवन किया गया तो वही हानिकारक हो जाती है। यथा—'क्षयं रजः श्लक्ष्णपिष्टं मधुना सह योजितम्। अश्मरीं विनिहन्त्याशु मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम्॥ ७॥' 'मद्यमम्लरसञ्चैव त्यजेल्लोहस्य सेवकः। ५८।' (रसेन्द्र-सारसंग्रह)। शहद अच्छी चीज है। उसके सङ्गसे लोहभस्म सुवस्तु और मद्य एवं खटाई बुरी हैं, इनके सङ्गसे वही कुवस्तु हो गया।

३ 'जल' कर्मनाशामें पड़नेसे बुरा, वही गङ्गाजीमें पड़नेसे पावन। गुलाब इत्यादिके सङ्गसे सुगन्धित और नाबदान इत्यादिके सङ्गसे दुर्गन्धित। इसी प्रकार वही गङ्गाजल वारुणी (मदिरा) में पड़नेसे अपावन हो जाता है। इत्यादि।

सीपके सम्पुटमें पड़नेसे मोती, केलेमें कपूर, बाँसमें वंशलोचन, हरदीमें कचूर, गौमें गोलोचन और सर्पके मुखमें पड़नेसे विष होता है।

४ 'पवन' फुलवारी आदिमें होकर आवे सो सुगन्ध और नाबदान वा किसी सड़ी वस्तुके अवयवोंके चलनेसे दुर्गन्ध।

५ 'बसन' सन्त विरक्त महात्माओंकी गुदड़ीका और देवी-देवतापर चढ़ा हुआ शुभ, मुर्देके कफनका अशुभ। महात्माओंके मृतक शरीरका वस्त्र भी प्रसादरूप माना जाता है। चूनरी माङ्गलिक है, पर मृतक स्त्रीके शरीरपर होनेसे वह भी अपवित्र मानी जाती है।

६ 'लखहिं सुलच्छन लोग' का भाव यह है कि ज्योतिषी, वैद्य और सुजान (जानकार) ही इनके भेदको जान सकते हैं। सबको इनके भेद नहीं जान पड़ते। (प० रामकुमार)। सुलच्छन=विद्या, विचार आदि सुन्दर लक्षणयुक्त लोग।

७ 'सम प्रकास तम पाख दुहुँ' इति। (क) द्विवेदीजी—दोनों पक्षोंमें पन्द्रह-पन्द्रह तिथि और चन्द्रमाकी कलाएँ बराबर हैं, परन्तु शुक्लपक्ष क्रम-क्रमसे कलाको बढ़ाता और कृष्णपक्ष घटाता है। इसलिये ब्रह्माने शुक्लको यश और कृष्णको अपयश दिया, अर्थात् मङ्गलकार्योंमें शुक्ल शुभ और कृष्ण अशुभ माना गया। (ख) सू० प्र० मिश्र—दोनों पक्षोंमें भेद नहीं है, परन्तु ब्रह्माने नाम-भेद कर दिया है। शुक्लपक्ष चन्द्रको बढ़ाता और कृष्णपक्ष उसे घटाता है, ऐसा समझकर उनके कर्म अनुसार यश और अपयश अर्थात् कृष्णको काला और शुक्लको श्वेत कर दिया है। बढ़ाने-घटानेका भाव यह है कि धर्मादिका बढ़ाना यश और उसका घटाना अपयश है। (ग) एकको शुक्ल या उजियारी और दूसरेको कृष्ण या अँधेरी कहनेसे ही एक भला और दूसरा बुरा जान पड़ता है। जगत्‌में लोग कृष्णपक्षको शुभ कार्योंमें नहीं लाते, शुक्लको लाते हैं।

मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृतिकी टीका) में वारप्रवृत्तिके सम्बन्धमें कश्यपजीका यह वचन प्रमाणमें दिया गया है—'उदिते तु यदा सूर्ये नारीणां दृश्यते रजः। जननं वा विपत्तिर्वा यस्याहस्तस्य शर्वरी॥' 'अर्धरात्रावधिः कालः सूतकादौ विधीयते। रात्रिं कुर्यात्त्रिभागां तु द्वौ भागौ पूर्व एव तु॥ उत्तरांशः प्रभातेन युज्यते ऋतुसूतके।' 'रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके। पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदयते रविः॥' याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रायश्चित्ताध्याय अशौच प्रकरणके बीसवें श्लोकपर ये वचन टीकामें उद्धृत किये गये हैं। अर्थ यह है कि सूर्यके उदय होनेपर स्त्रियोंका रजोदर्शन या किसीका जन्म या मृत्यु हो तो उसके सूतकमें अर्द्धरात्रिपर्यन्त वही दिन लिया जायगा जिसमें सूर्य उदय हुआ हो। अथवा, रात्रिके तीन भाग करके पहले दो भाग पूर्व दिनमें और तीसरा भाग अगले दिनमें समझना चाहिये। अथवा, सूर्योदयके पहले यदि उपर्युक्त प्रसङ्ग आ जायँ तो पूर्व दिन ही समझा जाय। इसपर मिताक्षराकारका कथन है कि ये सब पक्ष देशाचारानुसार मानने चाहिये। निर्णयसिंधु और धर्मसिंधुने मिताक्षराके प्रमाणपर यही बात लिखी है। उपर्युक्त तीन पक्षोंमेंसे सूर्यसिद्धान्त प्रथम पक्षको ही मानता है। यथा—'वारप्रवृत्तिः प्राग्देशे क्षपार्धेऽभ्यधिके भवेत्। तद्देशान्तरनाडीभिः पश्चादूने विनिर्दिशेत्॥ ६६॥' (सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकार) यह मत प्राचीनतम ज्योतिष सिद्धान्तका है। इस श्लोकमें लंकापुरके पूर्व और पश्चिम देशोंमें वारप्रवृत्ति किस प्रकार होती है, यह बताया गया है। उससे यह सिद्ध होता है कि लंकापुरमें ठीक बारह बजे रात्रिमें वारप्रवृत्ति होती है और वही वारप्रवृत्ति सब देशमें मानी जाती है। सिद्धान्तकौमुदीमें 'कालोपसर्जने च तुल्यम्। १। २। ५७।' इस सूत्रपर लिखा है कि बीती हुई रातके पिछले अर्धके सहित और आगामी रातके पूर्वार्धसे युक्त जो दिन होता है, उसे 'अद्यतन' (आजका दिन) कहते हैं। यथा—'अतीताया रात्रेः पश्चार्द्धेनागामिन्याः पूर्वार्द्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः।' इससे भी आधी रातसे दिनका प्रारम्भ माना जाता है।

वैष्णवोंमें कुछ साम्प्रदायिक दशमी ४५ दण्डसे बढ़ जानेपर एकादशीको विद्धा मानते हैं। अर्धरात्रिमें ही वारप्रवृत्ति मानकर ही ऐसा होता है। अर्धरात्रिसे दिनका प्रारम्भ माननेसे दोनों पक्षोंमें उजाला और अन्धेरा स्पष्ट ही बराबर

देख पड़ता है। कृष्णपक्षमें अमावस्याकी पूरी रात अँधेरी होती है। आधी इसमेंसे कृष्णपक्षमें आ गयी और आधी शुक्लपक्षमें गयी। इसी तरह शुक्लपक्षमें पूर्णिमाकी रातभर प्रकाश रहता है, उसमेंका पूर्वार्ध शुक्लमें गिना जायगा और उत्तरार्ध कृष्णमें। शेष सब तिथियोंका हिसाब सीधा है।

८—'पाइ कुजोग सुजोग' इति। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा है। यथा—'विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः। स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥ भा० ४। ३। १७।' अर्थात् विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल—ये छः सत्पुरुषोंके गुण हैं, किंतु ये ही नीच पुरुषमें अवगुण हो जाते हैं।

टिप्पणी—पूर्व कहा था कि सन्त-असन्त यश-अपयश पाते हैं। यथा—'भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥ १५॥ (७)। फिर कुसङ्ग और सुसङ्गसे क्रमशः हानि और लाभ यहाँतक दिखाते आये। अर्थात् साधु और असाधुके सङ्गसे गुणदोष 'गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा।' ॥ ७॥ (८) से लेकर यहाँतक कहा।

साधु असाधु वन्दना प्रकरण समाप्त

कार्पण्ययुक्त वन्दना प्रकरण

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।
बंदौं सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदौं किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्ब॥ ७॥

शब्दार्थ—जड़, चेतन—नोटमें दिया गया है। जत=जितना। सकल=सब। दनुज=दनु (कश्यपजीकी एक स्त्री) की सन्तान। पर यहाँ दैत्य, असुरमात्र अभिप्रेत है। खग=आकाशमें चलनेवाले=पक्षी। नाग=कद्रू (कश्यपजीकी एक स्त्री) के पुत्र। जैसे शेषनाग, वासुकी आदि॥ ६१॥ (१) और पृष्ठ १३६ देखो। प्रेत, पितर (पितृ)=मरण और शवदाहके अनन्तर मृत व्यक्तिको आतिवाहिक शरीर मिलता है। उसके पुत्रादि उसके निमित्त जो दशगात्रका पिण्ड-दान करते हैं उन दश पिण्डोंसे क्रमशः उसके शरीरके दश अङ्ग गठित होकर उसको एक नया शरीर प्राप्त होता है। इस देहमें उसकी 'प्रेत' संज्ञा होती है। षोडश श्राद्ध और सपिण्डनके द्वारा क्रमशः उसका यह शरीर भी छूट जाता है और वह एक नया भोग-देह प्राप्तकर अपने बाप, दादा, परदादा आदिके साथ पितृलोकका निवासी बनता है, अथवा कर्मसंस्कारानुसार स्वर्ग-नरक आदिमें सुख-दुःखादि भोगता है। इसी अवस्थामें उसको 'पितृ' कहते हैं। पुनः, पितृ=एक प्रकारके देवता जो सब जीवोंके आदिपूर्वज माने गये हैं। गन्धर्व-किन्नरादि देवयोनि हैं। यथा—'विद्याधराप्सरो यक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥' इत्यमरकोषे (१। १। ११)। नाग भी देवयोनिके प्राणी हैं जो भोगावतीमें रहते हैं। गन्धर्व=ये ब्रह्माजीकी कान्तिसे उत्पन्न हुए। पुराणानुसार ये स्वर्गमें रहते हैं। इनका स्थान गुह्यलोक और विद्याधर लोकके मध्यमें कहा जाता है। शब्दसागरमें लिखा है कि इनके ग्यारह गण माने गये हैं। अभ्राज्य, अन्धारि, बभारि, शूर्यवर्च्चा, कृधु, हस्त, सुहस्त, स्वन्, मूर्धन्वा, विश्वावसु, कृशानु। ये गानविद्यामें प्रवीण होते हैं। किन्नर=इनका मुख घोड़ेके समान होता है। ये सङ्गीतमें अत्यन्त कुशल होते हैं। ये लोग पुलस्त्यजीके वंशज माने जाते हैं। (श० सा०)। गन्धर्व इनमें अधिक रूपवान् होते हैं। रजनिचर=निशाचर, राक्षस। सर्ब=सब।

अर्थ—संसारमें जड़ अथवा चेतन जितने भी जीव हैं सबको श्रीराममय जानकर मैं उन सबोंके चरण-कमलोंकी सदा, दोनों हाथ जोड़कर, वन्दना करता हूँ। देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, पक्षी, प्रेत, पितर, गन्धर्व, किन्नर और निशाचर मैं (आप) सबोंको प्रणाम करता हूँ। अब सब मुझपर कृपा करें॥ ७॥

नोट—१ (क) पिछले दोहे 'सम प्रकास तम।' तक साधु-असाधुकी वन्दना की। अब जो इनसे पृथक् हैं, उनकी वन्दना करते हैं (पं० रामकुमारजी)। (ख) श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'अघ भेषज जल जम जपजम कीन्ह॥' से यही सिद्ध हुआ कि सब पदार्थ समान परब्रह्म राममय हैं, किसीमें भेद नहीं, केवल सङ्गके वशसे उनमें भेद हो गये हैं। इसलिये संसारमें जितने जड़ जीव और चेतन जीव हैं सबको राममय जानकर वन्दना करना उचित ही है। ग्रन्थकारकी यह युक्ति बहुत ही सुन्दर है। जब सब राममय ही हैं तब देव-दनुजादिकी वन्दना भी उचित ही है।

२—'जड़ चेतन जग जीव जत' इति। 'जड़ चेतन जीव' के विषयमें कुछ लोगोंने साधारण अर्थके अतिरिक्त और अर्थ लगाये हैं—(क) सिद्ध, साधक और विषयी तीन प्रकारके जीव कहे गये हैं। उनमेंसे सिद्ध मुक्त एवं नित्य हैं और साधक (मुमुक्षु) तथा विषयी बद्ध हैं क्योंकि इनका ज्ञान सकुचित और विकसित होता रहता है। बद्धोंमें दो श्रेणी मानी गयी हैं। बुभुक्षु (जिनका धर्मभूत ज्ञान सकुचित रहनेके कारण जिन्हें भोगकी कामना बनी रहती है।) और मुमुक्षु (जिनका धर्मभूत ज्ञान विकसित हो गया है और जो मोक्षकी इच्छा करते हैं।) बुभुक्षु ही जड़ जीव हैं। यथा—'हम जड़ जीव जीवगन घाती।'' सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ॥ २। २५१।' और मुमुक्षु एवं सिद्ध चेतन जीव हैं। तीनों लोकमें रहते हैं इसीसे आगे 'देव दनुज ' आदिसे समस्त भुवनवासियोंकी चर्चा कर देते हैं। बुभुक्षु अधिक हैं। इसीसे 'जड़' को प्रथम कहा। (वे० भू० रा० कु० दा०)। (ख) काष्ठजिह्वस्वामीजीका मत है कि जड़ और चेतन दोनोंसे जीव विलक्षण है। अर्थात् जीव न जड़ है न चेतन ही। इसीसे पृथक्-पृथक् कहा। जड़=अविद्या। चेतन=परमात्मा। जीव इन दोनोंमें पृथक् है। (रा० प०)। जीव=अज्ञ। (सू० मिश्र)। (ग) जड़=अज्ञानी। चेतन=ज्ञानी। अथवा, जड़=माया। चेतन=ब्रह्माज्ञा। ये दोनों मिलकर जगत् हुआ। (वै०)। (घ) जड=श्वासारहित। चेतन=श्वाससहित। (मा० प्र०)।

इस दोहेसे मिलते हुए श्लोक महारामायण और भागवतमें ये हैं, 'भूमौ जले नभसि देवनरासुरेषु भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु। पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु रामरूपं रामस्य ते भुवितले समुपासकाश्च॥' (४१। ८)। 'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥' (भा० ११। २। ४१) अर्थात् हे देवी! जो लोग पृथ्वी, जल, आकाश, देवता, मनुष्य, असुर, चर, अचर सभी जीवोंमें शुद्ध मनसे श्रीरामरूप ही देखते हैं, पृथ्वीमें वे ही श्रीरामजीके उत्तम उपासक हैं। (महारामायण)। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि नदियाँ और समुद्र जो कुछ भी है वह सब भगवान्का शरीर ही है। अतः सबको अनन्य भावसे प्रणाम करे। (मा०)।

उपर्युक्त श्लोकों और आगेकी चौपाई 'आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥' से यह सिद्ध होता है कि वृक्ष-पाषाणादि समस्त जड़ पदार्थ भी जीवयोनि हैं। ये जीवकी भोगयोनियाँ हैं। जीव इन सबोंमें अपने लिङ्गशरीर (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन, अहङ्कार) सहित रहता है। मोक्षके सिवा लिङ्गशरीरसे जीवका वियोग कभी नहीं होता। इसीसे प्रायः 'जीव' शब्दसे लिङ्गदेहसहित जीवका ग्रहण होता है। वृक्षपाषाण आदि योनियोंमें यद्यपि सब इन्द्रियाँ वर्तमान हैं। फिर भी स्थूल शरीर अनुकूल न होनेसे उनके कार्य सर्वसाधारणके दृष्टिगोचर नहीं होते। इसीसे 'जड़' शब्दसे उनका ग्रहण करना उचित जान पड़ता है। प्रायः रक्तमांस आदिसे बने हुए जो शरीर हैं उनमें प्रविष्ट जीवको 'चेतन' शब्दसे ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि इनमें शरीर अनुकूल होनेसे चेतनताका व्यवहार देखनेमें आता है। अथवा, यद्यपि सब जीव चेतन हैं तो भी 'चेतन' विशेषण देनेका यह भाव भी हो सकता है कि जो धर्म अर्थात् पुण्य, पाप आदिका विशेष ज्ञान रखते हैं जैसे कि मनुष्य, वे चेतनमें लिये जायँ और इनसे इतर अन्य जीव 'जड़' में लिये जायँ।

३—'राममय' के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि सारे जगत्—चर-अचर सबमें श्रीरामजी व्याप्त हैं। जैसे गर्म जलमें उष्णता, तप्त लोहेमें अग्नि, बिजलीके तारमें बिजली, पुष्पमें सुगन्ध, दूधमें घृत। इस अर्थमें

स्वेदजं दशमशक यूकामक्षिकमत्कुणम्। ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत् किंचिदीदृशम् ॥ ४५ ॥ उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः। ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगा ॥ ४६ ॥ अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः। पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥ गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः। बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥' अर्थात् जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज ये चार योनियाँ हैं। मृगादि पशु, दोनो ओर दाँतवाले व्याल, राक्षस, पिशाच और मनुष्यादि 'जरायुज' है, क्योंकि ये जरायु (झिल्ली) से निकलते है ॥ ४३ ॥ पक्षी, सर्प, घड़ियाल, मत्स्य और कछुवे 'अण्डज' हे, क्योंकि ये अण्डेसे पैदा होते हैं। इनमे जलचर और थलचर दोनों प्रकारके जीव होते हैं। ४४। डाँस, मच्छर, जुँए (चीलर), मक्खी, खटमल आदि जो पसीना और गर्मीसे उत्पन्न होते हैं, वे 'स्वेदज' है। बीजसे अथवा शाखासे उत्पन्न होनेवाले स्थावर 'उद्भिज' कहलाते है जैसे कि वृक्षादि। फल पक जानेपर जिनका नाश हो जाता है और जिनमे बहुत फूल और फल होते हैं उनको ओषधि कहते हैं। जिनमे फूल नहीं होता, केवल फल होता है उनको वनस्पति कहते हैं। जो फूलने और फलनेपर भी बने ही रहते हैं उनकी वृक्ष संज्ञा है। मूलसे ही जिनमे लताएँ पैदा होती है और जिनमे शाखा नहीं होती वे 'गुच्छ' हैं। एक मूलसे ही जहाँ बहुतसे पौधे उत्पन्न होते है उन्हे 'गुल्म' कहते है। इसी प्रकारसे नाना प्रकारकी तृणजाति और प्रतान, वल्लि आदि सब उद्भिज्जमे है।

२ 'लाख चौरासी जाति' इति। जीव कर्मवश चौरासी लक्ष योनियामेसे किसी-न-किसी योनिमे जन्म लेता है। मनुष्य चार खानियांमेसे जरायुज खानिमे है। पर चौरासीलक्ष योनियोंमे है या नहीं इसमे मतभेद है। कोई तो इनको चौरासीसे बाहर मानते हैं अर्थात् कहते हैं कि चौरासीसे छुटकारा मिलनेपर नर-शरीर मिलता है। यह बात उत्तरकाण्डके 'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी ॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥ कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥ ७। ४४ ॥' इन श्रीवचनामृतसे भी पुष्टि होती है। इसमे स्पष्ट कहा है कि परमात्मा इन योनियोसे छुड़ाकर 'नरदेह' देता है जो 'भव बारिधि कहँ बेरो' 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा' है। इसे 'पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥ सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। ७। ४३।' अर्थात् नरतन पाकर बुरे कर्म किये तो फिर चौरासी भोगना पड़ेगा। प्राय ज्ञानजन्य मुक्ति तो (सत्पुरियोंको छोड़कर) बिना मनुष्य शरीरके कदापि होती ही नहीं। यथा—'चतुर्विधं शरीराणि धृत्वा मुक्त्वा सहस्रशः। सुकृतान्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥' (ज्ञानसारे)। अर्थात् चार प्रकारके हजारों शरीरोंको धारण करके और छोड़कर बड़े भाग्यसे जब वह मनुष्य होता है, तब यदि वह ज्ञान प्राप्त करे तो उसको मोक्ष होता है।

करुणासिंधुजी और बैजनाथजीने प्रमाणमे धर्मशास्त्रका यह श्लोक दिया है। 'स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नव लक्षकम्। * कृमेश्च रुद्रलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः। त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः। ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत ॥' अर्थात् बीस लक्ष स्थावर, नौ लाख जलचर, ग्यारह लाख कृमि, दश लक्ष पक्षि, तीस लाख पशु और चार लक्ष वानर योनियाँ हे। तत्पश्चात् मनुष्य होकर सत्कर्म करे। पञ्चाङ्गमे प्राय इसी प्रकारका एक श्लोक मिलता है। यथा—'जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशति। कृमयो रुद्रलक्षाणि पक्षिणो दशलक्षकाः। त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानवाः ॥' इस श्लोकसे मनुष्यका भी चौरासी लक्ष योनियोमे ही होना पाया जाता है।

सीय राममय सब जग जानी

(१) 'जड़ चेतन जग जीव जत' की वन्दना 'राममय' मानकर कर चुके, फिर यहाँ 'सीयराममय' मानकर वन्दना की, बीचमे व्यष्टिवन्दना की। प० रामकुमारजी लिखते है कि 'वेदान्त-मतसे जगत्को ब्रह्ममय

* 'कृमेश्च' यह पाठ करु०, बै०, तथा पं० ज्वालाप्रसादने दिया है परंतु यह पाठ अशुद्ध है। शुद्धपाठ 'कृमयो' है। इसीसे हमने अर्थ शुद्ध दिया है।

मानकर वन्दना की गयी। जीववादीके मतानुसार केवल जीवकी वन्दना 'देव दनुज नर ' में की। और साख्यमतानुसार जगत्की, प्रकृति पुरुषमय मानकर, तीसरी बार वन्दना की गयी। इस तरह तीनों मतोंके अनुसार जगत्को (ब्रह्ममय, जीवमय, प्रकृतिपुरुषमय) मानकर वन्दना की गयी।

(२) सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'पहले गोसाईंजीने हम सब जीवोंके अज्ञानके कारण पृथक् पृथक् नाम लेकर (यथा—'देव पितर गधर्व' आदि) कहा। अब ऊपरकी चौपाईसे यह दिखलाते हैं जो वेदान्त शास्त्रका सिद्धान्त है, तथापि फिर इस कथनसे ग्रन्थकार हमलोगोंको ज्ञानी बनाकर कर्मच्युत नहीं किया चाहते और न उन देवताओंका खण्डन किया चाहते हैं, पर यह दिखलाते हैं कि 'सीयराममय' तभी मनुष्य जान सकता है जब कि हमपर उन देवताओंकी कृपा हो, इसलिये अगली चौपाईको लिखा। शङ्का—देवताओं आदिसे प्रार्थना करनेका क्या कारण है? उत्तर—जीव ज्यों ही माताके गर्भके बाहर होता है उसी समय वह देव, पितृ और ऋषिका ऋणी हो जाता है और बिना उनके ऋणके अदा किये मोक्षका अधिकारी नहीं होने पाता है।' प्रार्थना करते हैं कि अपने कर्जकी वजहसे विघ्न न डालो।'

(३) मा० प्र० कार लिखते हैं कि उत्तम भक्तोंका लक्षण है कि वे जगत्को अपने इष्टमय देखते हैं। यथा—'उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध' ॥ (उ० ११२), 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'। 'राममय' कहनेसे पाया गया कि श्रीरामजी इष्ट हैं, इसने बीचमें व्यष्टि वन्दना करके फिर सबको 'सीयराममय' कहकर जनाया कि हमारे इष्टदेव श्रीसीतारामजी हैं। (मा० प्र०)।

(४) बैजनाथजीका मत है कि 'राममय' से ऐश्वर्य-स्वरूपकी वन्दना की, जो जगत्का प्रकाशक है। यथा—'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'। और, यहाँ 'सीयराममय' कहकर दर्शाया कि मेरे मनमें तो माधुर्यरूप बसा है, मुझे सब 'सियाराममय' ही दिखायी देते हैं। यथा—'लगे रहत मेरे नयननह आगे रामलषन अरु सीता' (गीतावली)।

(५) 'राममय' और फिर 'सीयराममय' कहकर दोनोंको अभेद बताया।

(६) 'सीयराममय सब जग' कहकर जनाया कि जड़-चेतनात्मक जगत् भी है और उसमें श्रीसीतारामजी व्याप्त हैं। यह विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त है। अद्वैतसिद्धान्तमें वस्तुतः जगत् मिथ्या है, पर व्यवहारमें, अनुभवमें आता है इसलिये उसीको लक्ष्य करके 'सब जग' कहा गया।

'सब जगकी तो दोहेमें वन्दना कर ही चुके, यहाँ 'सीयराममय' कहकर वन्दना क्यों की?' इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जड़ और चेतन सबमें लिङ्गभेदसे स्त्री-पुरुष प्रायः दोनों होते हैं और व्यवहारमें पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको न्यून समझा जाता है। अतः प्रणाम करनेमें सम्भव है कि कदाचित् कोई पुरुषोंको ही प्रणाम माने। इसलिये उसके निराकरणके लिये 'सीयराममय' शब्द देकर सूचित किया कि मैं स्त्री-पुरुष दोनोंको समान मानकर सबकी वन्दना समान भावसे करता हूँ। यही भाव अध्यात्मरामायणके 'लोके स्त्रीवाचकं यावत्तत्सर्वं जानकी शुभा। पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं हि राघव ॥ २। १। १९। तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किञ्चन। २०।' इन श्लोकोंसे सिद्ध होता है। देवर्षि नारदजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि तीनों लोकोंमें आप दोनोंके सिवा और कुछ नहीं है। स्त्रीवाचक जितने पदार्थ हैं वे सब श्रीजानकीजीके रूप हैं और पुरुषवाचक जो कुछ भी है वे सब श्रीरामजी आपके ही रूप हैं। इस तरह 'सीयराममय जगत्' मानकर वन्दना की। अथवा, प्रत्येक वस्तुको श्रीसीताराममय मानकर वन्दना की।

पद्मपुराण उत्तरखण्डमें भी ऐसा ही कहा है। यथा—'स्त्रीलिङ्गेषु त्रिलोकेषु यत्तत्सर्वं हि जानकी। पुन्नाम लाञ्छितं यत्तु तत्सर्वं हि भवान् प्रभो ॥ अ० २४३ श्लोक ३६।' अर्थ वही है।

नोट—३ बैजनाथजी लिखते हैं कि जगत्को 'राममय' वा 'सीयराममय' देखना यह दशा प्रेमकी सतृत नामक बारहवीं दशा है। यथा—'साधन शून्य लिये शरणागत नैन रँगे अनुराग नसा है। पावक व्योम जलानल भूतल बाहर भीतर रूप बसा है ॥ चितव नाहमें बुद्धिसई मधु ज्यों मखियां मन जाइ फँसा है। बैजनाथ सदा रस एकहि या बिधि सो सतृत दशा है ॥' इससे सिद्ध होता है कि गोस्वामीजी इस प्रेमपरादशातक पहुँच चुके थे।

टिप्पणी—१ 'जोरि जुग पानी' इति। जब राममय मानकर वन्दना की तब दोनों हाथ जोड़े थे; इसीसे जब 'सीताराममय' मानकर वन्दना की, तब पुनः हाथ जोड़े जिसमें श्रीरामजानकीजीकी भक्तिमें न्यूनाधिक्य न पाया जावे।

२ शङ्का—'ब्रह्म, जीव, प्रकृतिपुरुष' वाले तीनों मतोंको लेकर, अथवा ऐश्वर्य, माधुर्य वा अपनी उपासनाके कारण एक बारसे अधिक वन्दना करनी थी तो एकके पीछे दूसरेको कह सकते थे, बीचमें 'आकर' का क्या प्रयोजन था?

समाधान—(क) प्रथम राममय जानकर वन्दना की, फिर 'जीवो ब्रह्मैव केवलम्' जीववादीमतसे जीवमय ब्रह्मकी वन्दना की। श्रीसीताराममय वन्दना करनेके लिये यह चौपाई बीचकी लिखी। जब केवल पुरुषकी वन्दना की, तब जीवोंका उत्पत्तिस्थान या जाति न कही, क्योंकि केवल ब्रह्ममें जगत्की उत्पत्ति नहीं है। जब प्रकृति-पुरुष दोनों कहा, तब जीवोंकी जाति, उत्पत्ति-स्थान इत्यादि भी वर्णन किये, क्योंकि प्रकृति-पुरुषमें जगत्की उत्पत्ति है। श्रीसीतारामजीसे जगत्की उत्पत्ति है। इसीसे सीताराममय जगत् है। (प० रामकुमार)। (ख) जीवकी जाति प्रकृतिमय दृश्य पदार्थरूप होनेसे है और ब्रह्ममय स्थूलदृष्टिका अदृश्यरूप होनेसे है। (मा० त० वि०)। (ग) दोहेके पीछे 'आकर चारि…' देकर सूचित किया कि जीवकी संख्या इतनी ही नहीं है जितनी 'देवदनुज…' में गिनायी गयी, किंतु बहुत है और वह सभी 'सीताराममय' है।

जानि कृपाकर[1] किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू॥ ३॥

शब्दार्थ—कृपाकर = कृपा + आकर = कृपाकी खानि = (कृपा + कर) = कृपा करनेवाले। किंकर = दास, सेवक। छोह = कृपा।

अर्थ—मुझे भी कृपाके आकर श्रीरामचन्द्रजीका दास जानकर आप सब मिलकर छल छोड़कर कृपा करें॥ ३॥*

टिप्पणी—१ (क) 'कृपाकर' का भाव यह है कि श्रीरामजीकी कृपा सब जीवोंपर है। आप सबको भी मैं सियाराममय मानता हूँ, इससे आपकी कृपा भी जीवपर होनी चाहिये। मैं श्रीरामजीका किंकर हूँ, आप सियाराममय हैं, इससे मुझ किंकरपर आप सब कृपा करें। पुनः, 'सब जीवोंपर रामजीकी कृपा है। यह उपकार मानकर मुझपर कृपा करो कि हमारे ऊपर रामजीकी कृपा है, हम रामजीके किंकरपर कृपा करें।' इससे श्रीसीतारामजी आपपर विशेष प्रसन्न होंगे।

(ख) सब जगत्को सियाराममय मानकर वन्दना की और अपनेमें किंकर-भाव रखा, यह गोस्वामीजीकी अनन्यता है। यथा—'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥ ४। ३।' आगे अपनेको सन्तोंका बालक कहा है। यथा—'सुनिहहिं बाल बचन मन लाई', 'बाल बिनय सुनि करि कृपा…' 'कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल। बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि मोपर होहु कृपाल॥ १। १४॥'

(ग) 'सब मिलि' इति। भाव यह कि—(१) मेरी मति बहुत बिगड़ी है जैसा बारम्बार कहा है, जबतक आप सबके सब मिलकर कृपा न करेंगे तबतक न सुधरेगी। पुनः (२) जैसे मैंने सबको मिला दिया सबको ही 'सीयराममय' जाना, वैसे ही आप सब मिलकर अर्थात् सीतारामरूप होकर कृपा करें। श्रीरामजीमें छल नहीं है, वैसे ही आप सब हो जायँ।

---

[1] आधुनिक किसी-किसी प्रतिमें 'करि' पाठ है।

* पं० रामकुमारजी 'करि' पाठ लेकर अर्थ करते हैं कि मुझे किंकर जानकर कृपा करके छोह करो।' कुछ लोगोंने 'कृपा' और 'कर' दो पद मानकर अर्थ किया है परंतु ऐसा करनेसे पूर्वापर पदोंके साथ ठीक-ठीक योजना नहीं होती। द्विवेदीजी इसे जीवोंका सम्बोधन मानते हुए अर्थ करते हैं, 'हे कृपा करनेवाले वा कृपाके आकर सब प्राणी! मुझे भी अपना सेवक समझ…'

(घ) 'छाड़ि छल' इति। संसार स्वार्थमें रत है। यथा—'स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं। ७। ४७।', 'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥ ४। १२।' स्वारथ ही छल है। यथा—'स्वारथ छल फल चारि बिहाई। २। ३०१।' गोस्वामीजी कहते हैं कि स्वार्थकी इच्छा मुझसे न कीजिये।

प्रो० गौड़जी—गोसाईंजी सबकी वन्दना करते हैं, जिनमें खल भी हैं और खलोंका स्वभाव ही छल-कपट है, और यहाँ अपनी गरज है कि वे छोह करें ही, छलके साथ अपना काम न चलेगा। इसीलिये प्रार्थना है कि छल छोड़कर छोह करो। अगर 'सब (खल और सन्त) मिलि'-वाली बात न होती तो छाड़ि छलकी शर्त अनावश्यक होती।

रा० प०—'देव पितृ आदि अपना-अपना भाग पानेके लिये रामपरायण नहीं होने देते। वे परमगति और मोक्षके अनिच्छुक होते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि हमारे वंशजोंके ज्ञानी, भक्त और मुक्त हो जानेसे हमें पिण्डदान बलिभाग न मिलेगा। वे नहीं जानते कि यदि यह जीव रामपरायण हो जाय तो उनकी तृप्ति भली-भाँति हो जायगी' [भा० ११। ५ में स्पष्ट कहा है कि जो समस्त कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान् मुकुन्दकी शरणमें जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण कुटुम्बी अथवा पितृगण किसीका भी दास अथवा ऋणी नहीं रहता। यथा—'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥ ४१॥'] इसीसे वे विघ्न करते हैं जैसे जरत्कारु ऋषिके पितृने किया था। गोस्वामीजी कहते हैं कि स्वार्थके हेतु छल न करो। किंतु यश प्राप्त करनेके लिये छोह करो।

मा० प्र०—छल दोनों ओर लगता है। अर्थात् मेरे छलपर ध्यान न दो। वह छल यह है कि ऊपरसे रामजीका बनता हूँ और किंकर तो कामादिका हूँ। दूसरे, आपमें जो आपसका वैर है उसके कारण हमसे वैर न मानिये। (कि यह तो अमुक देवकी वन्दना करता है जो हमारा वैरी है।) मैं तो सबको एकरूप मानता हूँ।

बैजनाथजी—जीवने अपना नित्यरूप भूलकर नैमित्यरूपमें अपनपौ मान लिया है, इसीने वह मान, बड़ाई, देह सुख आदिके लिये सदा स्वार्थमें रत रहनेसे छली स्वभावका हो गया। इसीसे देवादि भक्तिमें विघ्न करते हैं। परन्तु जो सच्चे भक्त हैं वे विघ्नोंके सिरपर पैर रखकर चले जाते हैं और जो सकामिक हैं वे देवताओंके फल देनेमें भूल जाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि मेरे कोई वासना नहीं है, इसीसे मैं आपको देवादिरूप नहीं मानता हूँ। मैं तो सबको 'सीयराममय' मानकर प्रणाम करता हूँ। अतएव छल छोड़कर अपने नित्यरूपका किंकर मानकर मुझपर कृपा करो।

निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करौं सब पाहीं॥ ४॥
करन चहौं रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥ ५॥

शब्दार्थ—पाहीं=पास, से। यथा—'रामु कहा सबु कौसिक पाहीं। १। २३७।'

अर्थ—मुझे अपने बुद्धिबलका भरोसा नहीं है, इसीसे मैं सबसे विनती करता हूँ॥ ४॥ मैं श्रीरघुनाथजीके गुणोंकी कथा करना (कहना) चाहता हूँ। पर मेरी बुद्धि थोड़ी है और श्रीरामचरित अथाह है॥ ५॥

नोट—१ 'निज बुधि बल' इति। बैजनाथजी लिखते हैं कि काव्यके तीन कारण हैं। शक्ति (देवकृपा), व्युत्पत्ति (जो विद्या पढ़नेसे आये) और अभ्यास, (जो स्वयं परिश्रम करनेसे कुछ दिनमें काव्यकी शक्ति उत्पन्न कर देता है।) यहाँ 'निज बुधि बल' से निज अभ्यास, बुद्धिसहित विद्या और बल अर्थात् शक्ति तीनोंका भरोसा नहीं है यह बताया। सबसे विनय करते हैं जिसमें सब थोड़ा-थोड़ा दे दें तो बहुत हो जायगा।

२ (क) 'लघु मति मोरि' इति। यथा—'मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामनः॥ ३॥ अथवा, 'कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे

गमि' ॥ ४ ॥ (रघुवंश सर्ग १)। अर्थात् मैं मन्द हूँ और कवियोंका-सा यश चाहता हूँ, इससे मेरी उसी प्रकार हँसी होगी जैसे कोई बौना (नाटा) पुरुष ऊँचे स्थानपर स्थित फलको हाथ उठाकर मोहवश उसके लेनेकी इच्छा करनेसे हँसी पाता है। अथवा, पूर्वऋषियोंने इस वंशके वर्णनमें कुछ ग्रन्थ रचे हैं, उन्हींके आधारपर मेरा भी उसमें प्रवेश हो सकता है जैसे छिदे हुए मणियोंमें सूत्रकी गति होती है। (ख) 'अवगाहा' शब्दसे जनाया कि रघुपति गुण समुद्रवत् हैं। कालिदासजीने भी ऐसा ही कहा है। यथा—'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥' (रघुवंश १।२)। अर्थात् कहाँ तो सूर्यवंश और कहाँ मेरी अल्प बुद्धि। (इसपर भी मैं उसका वर्णन करना चाहता हूँ, यह मेरा कार्य ऐसा है जैसा) कोई मोहवश छोटी डोंगीसे दुस्तर सागर पार करना चाहे। (ग) 'लघु मति मोरि चरित अवगाहा। ··उपाऊ' यह उपमेय वाक्य है। 'मन मति रंक मनोरथ राऊ' यह उपमान वाक्य है। जैसे दरिद्रके राज्यका मनोरथ असम्भव है वैसे ही मुझ अल्पबुद्धिके लिये श्रीरामचरितवर्णन असम्भव है। इस प्रकार दोनों वाक्योंमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव 'दृष्टान्त अलंकार' है। (वीरकविजी)। 'चहिअ अमिअ जग जुरै न छाछी' लोकोक्ति है।

सूझ न एकौ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥ ६॥
मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरै न छाछी॥ ७॥

शब्दार्थ—सूझना=दिखायी देना, ध्यानमें आना। अंग उपाऊ=नोटमें देखिये। राऊ=राजा। आछी=अच्छी, उत्तम। जुरना (जुड़ना)=मिलना, मयस्सर होना। छाछी=मथा हुआ दही जिसमेंसे मक्खन निकाल लिया गया हो।=वह मट्ठा जो घी या मक्खन तपानेपर नीचे बैठ जाता है। (श० सा०)।=मट्ठेको दूसरे बरतनमें उँडेलकर मट्ठेवाले बरतनको धोनेसे जो धोवन निकलता है। (पाँड़ेजी)।=कच्चे दूधका मट्ठा। (अज्ञात)।

अर्थ—काव्यके एक भी अङ्ग और उपाय नहीं सूझते। मन और बुद्धि दरिद्र हैं और मनोरथ राजा है॥ ६॥ बुद्धि (तो) अत्यन्त नीची है और चाह (इच्छा, अभिलाषा) ऊँची और अच्छी है। (जैसी कहावत है कि 'माँगे अमृत मिलै न छाँछ') अमृतकी तो चाह है और संसारमें कहीं जुड़ता छाँछ भी नहीं॥ ७॥

नोट—१ 'अंग' इति। प्रधानरूपसे काव्यके अङ्ग ये हैं। रस, गुण, दोष, रीति और अलंकार। दोष वस्तुतः काव्यका अङ्ग नहीं है परन्तु बिना दोषोंके जानके उत्तम काव्यका निर्माण नहीं हो सकता, अतएव उसको भी एक अङ्ग कहा गया है। कवियोंने इन अङ्गोंको रूपकमें कहा है जिससे यह ज्ञात होता है कि कौन-से अङ्ग प्रधान हैं, कौन गौण है और कौन त्याज्य है। यथा—'शब्दार्थौ वपुरस्य काव्यपुरुषस्यात्मा रसादिः स्मृतः। शूरत्वादिनिभा गुणाः सुविदिता दोषाश्च काणादिवत्॥ उत्तमसादिवदस्य्यलङ्कृति च यो यद्रस्य संस्थानवत्। रीतीनां निचयस्त्विदं कविजनैर्जेयं यशो लिप्सुभि॥' (विशेष दोहा १० (७-१० नोट १ में देखिये।)

२ 'उपाऊ' इति। उपाय अर्थात् कारण। कौन-कौन सामग्री हमारे पास होनेसे हम काव्य कर सकते हैं। उन्हीं सामग्री या साधनको 'उपाय' कारण या हेतु कहते हैं। काव्यप्रकाशमें वे यों कहे गये हैं। (क) शक्ति (ख) लोकवृत्त, शास्त्र और काव्यादिके अवलोकनसे प्राप्त निपुणता। (ग) काव्यज्ञोंके द्वारा शिक्षाके साथ अभ्यास। ये तीनों मिलकर काव्यकी उत्पत्तिमें 'हेतु' होते हैं। यथा—'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥' (काव्यप्रकाश १।३)। कवित्वके बीजरूप संस्कारको 'शक्ति' कहते हैं, जिसके न होनेसे कोई काव्य नहीं बना सकता। यदि कोई बिना उस संस्कारके बनावे तो वह हास्यास्पद होता है। काव्यप्रकाशका मत है कि ये तीनों (शक्ति, निपुणता और अभ्यास) मिलकर ही काव्यके हेतु होते हैं, एक-एक स्वतन्त्र नहीं। पण्डितराज जगन्नाथजीका मत है कि काव्यका हेतु एकमात्र 'प्रतिभा' है। वे 'प्रतिभा' का अर्थ यह कहते हैं, 'काव्य घटनाके अनुकूल शब्द और अर्थकी

उपस्थिति'। प्रतिभाके हेतु दो बताते हैं। एक देवता अथवा महापुरुष आदिका प्रसादजन्य पुण्यविशेष, दूसरा विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य करनेका अभ्यास ('रसगङ्गाधर' के प्रथम आनन्दके काव्य कारण प्रसङ्गमें उनके वाक्य हैं)। (प० रूपनारायण)।

३ अन्य लोगोंने ये अर्थ दिये हैं अङ्ग उपाय=(१) काव्यके अङ्ग और उनके साधन जिससे वे अङ्ग प्राप्त हों। (मानसपरिचर्या)=(२) अङ्ग और उनके साधनके उपाय। (सू० मिश्र)।=(३) एक भी पक्षका उपाय, किसी तरहकी तदबीर। (गौड़जी)। (४) हे मित्र वा अङ्गमें एक भी उपाय। (मा० पत्रिका)।

टिप्पणी—१ (क) मनोरथको राजा कहा, क्योंकि श्रीरघुनाथजीके गुणगानका मनोरथ है। मन मतिको रङ्क कहा, क्योंकि ये रामयशमें प्रवेश नहीं कर पाते और न एक भी उपाय इनको सूझता है। रघुपतिगुण-कथनमें तो सब अङ्ग सूझने चाहिये। (ख) मन और मति दोनोंको रङ्क कहा है। इनको राजा करनेके लिये आगे तीर्थमें स्नान करावेंगे, मतिको मानसमें, यथा—'अस मानस मानस चष चाही। भइ कबिबुद्धि बिमल अवगाही॥ बा० ३९।' और मनको सरयूमें स्नान कराया, यथा—'मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ। १। ४३।' दोनोंको इस प्रकार निर्मल करके तब कथा कहेंगे। (ग) 'मति अति नीचि' इति। रघुनाथजीके चरित्र वर्णनेकी योग्यता नहीं है, इसीसे बारम्बार मतिकी लघुता कहते हैं, 'अति नीचि' है अर्थात् विषयमें आसक्त है। यथा—'कहँ मति मोरि निरत ससारा', 'क्व चाल्पविषया मति' इसीसे नीच कहा। रामयश कथनकी रुचि है, इसीसे रुचिको ऊँची और अच्छी कहा रामचरित-कथनरूपी अमृत चाहते हैं। विषय सुखरूपी छाछ नहीं चुहता। (घ) 'जग' का भाव यह कि जगत्के पदार्थ छाँछ हैं। नोट—'छाँछी' से सासारिक चर्चा, व्यवहारकी बातें, प्राकृत राजाओं-रईसोंके चरित्र-गान इत्यादिका ग्रहण है। इन बातोंका तो बोध है ही नहीं, फिर भला अप्राकृत और शास्त्रीय बातोंको क्या लिखूँगा?) मनको चाहिये कि अपने लक्ष्यमें प्रवृत्त हो, बुद्धि उसे विचारे और विचारी हुई वस्तुको ग्रहण करे, सो दोनों इसमें नहीं।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥ ८॥
जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥ ९॥
हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर दूषन भूषन धारी॥१०॥

शब्दार्थ—ढिठाई=धृष्टता, गुस्ताखी, अनुचित साहस। (तोतली)=बच्चोंकी-सी अस्पष्ट वाणी या बोली। =अस्पष्ट, जो ठीक समझमें न आ सके। कूर (क्रूर)=निर्दयी, कड़े स्वभावके, जिसका किया कुछ न हो सके, दुष्ट, दुर्बुद्धि। यथा—'कूप खनत मंदिर जरत आए धारि बबूर। बवहिं नवहि निज काज सिर कुमति सिरोमनि कूर॥' (दोहावली ४८७)। कुटिल=टेढ़े, कपटी। यथा—'आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥ ४। ७।' कुबिचारी=बुरे विचार या समझवाले। दूषन (दूषण)=दोष, बुराई। भूषन (भूषण)=गहना, जेवर।

अर्थ—सज्जन मेरी ढिठाईको क्षमा करेंगे। मुझ बालकके वचन (वा, मेरे बालवचन) मन लगाकर सुनेंगे॥ ८॥ जैसे बालक जब तोतले वचन बोलता है तो उनके माता-पिता प्रसन्न मनसे सुनते हैं॥ ९॥ क्रूर कुटिल और बुरे विचारवाले, जो पराये दोषोंको भूषणरूपसे धारण करनेवाले हैं, वे ही हँसेंगे॥ १०॥

नोट—१ (क) 'छमिहहिं सज्जन' इति। यहाँ श्रीजानकीदासजी यह शङ्का उठाकर कि 'प्रार्थना तो देव-दनुज इत्यादिसे की कि हमपर कृपा कीजिये, तो उन्हींसे ढिठाई भी क्षमा करानी चाहिये थी। ऐसा न करके कहते हैं कि 'छमिहहि सज्जन मोरि ढिठाई' यह कैसा?' इसका समाधान भी यों करते हैं कि देव-दनुज आदिकी प्रार्थना करते हुए जब यह कहा कि 'सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू'। तब उनकी ओरसे सम्भव है कि यह कहा जाय कि 'तुम कथा तो सज्जनोंके लिये कहना चाहते हो। यथा—'साधु समाज

भनिति सनमानू' ॥ १ ॥ 'तो कृपा भी उन्हींसे चाहो' । इस बातका उत्तर गोस्वामीजी यहाँ दे रहे हैं कि सज्जन तो कृपा करेंगे ही, यह तो उनका स्वभाव ही है। परतु आप भी कृपया यह आशीर्वाद दें। श्रीभरतजीने भी ऐसा ही श्रीवसिष्ठजीकी सभामें कहा था। यथा—'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी ॥ तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहि कृपा बिसेखी ॥ सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥ अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥ तुम्ह पै पांच मोर भल मानी ॥ आयसु आसिष देहु सुबानी ॥ जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी। आवहि बहुरि राम रजधानी ॥ जद्यपि जनम कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस ॥ २। १८३।' भाव यह कि मुझे सज्जनोंकी ओरसे पूरा भरोसा है, आप सब कृपा करें। यहाँ प्रश्नलुप्ता उत्तर है।

(ख) 'सुनिहहिं बाल बचन·· तोतरि बाता' इति। यहाँ 'बाल बचन' कहकर फिर 'तोतरि बाता' कहा। इस प्रकार दोनोंको पर्यायवाची शब्द बनाये। 'तोतरी' अर्थात् टूटी-फूटी, अस्पष्ट और अशुद्ध जिसमे अक्षरका भी स्पष्ट उच्चारण नहीं होता। भाव यह है कि जैसे बालकको लड्डूकी चाह हुई तो वह अड्डू-अड्डू कहता है। माता-पिता इन तोतले वचनोंको सुनकर प्रसन्न होते हैं, उसका आशय ध्यान देकर सुनकर समझ लेते हैं और उसे लड्डू दे देते हैं। यहाँ भदेस वाणी (भनित भदेस) को मन लगाकर सुनना और प्रसन्न होना लड्डूका देना है। यथा—'बेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन ॥ २। १३६।'

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'जगत् मात्रके प्राणियोंको सीताराम समान जानकर प्रणाम किया, इसलिये सब तुलसीदासजीके माता-पिता हुए। इसलिये बालककी अटपटी बात सुनकर सब प्रसन्न होंगे। यह ग्रन्थकारकी आशा ठीक है, उसमे भी जो पुत्राघ्नी सर्पिणीके ऐसे अपने पुत्रहीके खानेवाले हैं, उन क्रूर कुटिल कुविचारियोंका हँसना ठीक है।

पंजाबीजी कहते हैं कि 'सुनिहहिं बाल बचन' पर यह प्रश्न होता है कि मूर्खोंके वाक्य कोई मन लगाकर कैसे सुनेगा ? इसीपर कहते हैं कि 'जौं बालक कह · ।'

प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'जौं बालक' कहकर आपने सज्जनोंसे पुत्र और माता-पिताका नाता जोड़ा। खलोंसे कुछ नाता नहीं है। यथा—'खल परिहरिय स्वान की नाईं। ७। १०६।'

नोट—'हँसिहहिं कूर' इति। (क) यहाँ हँसनेवाले चार प्रकारके गिनाये, आगे दोहेमें इन चारोंका विवरण करेंगे। (ख) इस कथनमे यह सन्देह हुआ कि जो हँसेंगे उनकी कविता अवश्य उत्तम होती होगी, उसपर आगे कहते हैं कि यह बात नहीं है 'निजकबित्त'। (ग) 'जे पर दूषन भूषन धारी' इति। भाव यह कि अपनेमें कोई गुण है नहीं जिससे भूषित होते। इसलिये दूसरेके दोषोंको ढूँढकर दिखाना, यही धारणा ग्रहण की है। दूसरोंका खण्डन करना, उनपर कटाक्ष करना, यही उनका भूषण है, इसीको उन्होंने पहिन रखा है। आज भी न जाने कितने स्वयं तो इतनी समझ नहीं रखते कि गोस्वामीजीके गूढ़ भावोंको, उनके उद्देश्यको समझें, उलटे-पलटे कटाक्ष करते हैं, जिसमें वे भी अच्छे साहित्यज्ञ वा आलोचक समझे जावें। यह तात्पर्य 'कुबिचारी' शब्दका है। 'कूर' से स्वभाव कहा, 'कुटिल' से बुद्धि निकृष्ट बतायी और 'कुबिचारी' से विचार खोटे बताये। मिलान कीजिये। 'त सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥' (रघुवंश १। १०), 'मक्षिका व्रणमिच्छन्ति दोषमिच्छन्ति दुर्जनाः। भ्रमराः पुष्पमिच्छन्ति गुणमिच्छन्ति साधवः ॥' 'गुणगणगुम्फितकाव्ये मृगयति दोषं खलो न गुणजातम्। मणिमयमन्दिरमध्ये पश्यति हि पिपीलिका छिद्रम् ॥' इति शतदूषणम्। (संस्कृत श्लोकोंसे)। अर्थात् गुण दोषके जाननेवाले महात्मा लोग ही इस प्रबन्धके श्रोता होनेके योग्य हैं। जैसे सोना दागी (खोटा) है या शुद्ध (खरा) यह अग्निमे परीक्षासे ही जाना जाता है। (रघुवंश)। मक्खियाँ घावकी ही इच्छा करती हैं, दुर्जन दोष (खोज पाने) की ही इच्छा करते हैं, भौंरे फूलको और साधु गुणको ढूँढनेकी इच्छा करते हैं। गुणगणयुक्त काव्यमें दुष्ट दोष ही देखता है न कि गुण, जैसे मणिखचित भूमिमें भी च्यूँटी छेद ही ढूँढती है। (शतदूषणी)। उत्तररामचरितमे भी कहा है कि

यथा—'क्षीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जन । १ । ५ । अर्थात् स्त्रियोंकी साधुताके विषयमें जैसे लोग प्रायः दुर्जन ही होते हैं, उसी तरह वाणी (कविता) के भी साधुताके विषयमें लोगोंकी दोषदृष्टि ही रहती है। यही 'परदूषण भूषणधारी' का भाव है।

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका ॥११॥
जे पर भनिति[1] सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं ॥१२॥

शब्दार्थ—सरस=रसीली जिसमें काव्यके नवों रस और अलङ्कारादि हों।=अच्छी। अथवा=वा, या, चाहे। फीका=नीरस। भनित (भणित)=कही हुई बात, वाणी, कविता। बर=श्रेष्ठ।

अर्थ—अपनी बनायी हुई कविता किसको अच्छी नहीं लगती (अर्थात् सभीको अपनी कविता अच्छी लगती है) चाहे वह रसीली हो चाहे अत्यन्त फीकी? ॥ ११ ॥ जो दूसरेकी कविता सुनकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ लोग संसारमें बहुत नहीं हैं ॥ १२ ॥

नोट—१ (क) 'निज कवित्त केहि' इति। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'क्रूर कुटिल, कुविचारवाले हँसेंगे। इसपर यदि कोई कहे कि और लोग भले ही आपकी कविताकी प्रशंसा न करें पर आप तो श्रेष्ठ समझते हैं। उसपर कहते हैं 'निज कवित्त केहि लाग न नीका।' इस तरह वे इस अर्धालीको गोस्वामीजीमें लगाते हैं पर अगली अर्धालीसे यह भाव सङ्गत नहीं है। पं० रामकुमारजी एवं बाबा जानकीदासजीका ही कथन विशेष सङ्गत है कि वे लोग हँसते हैं तो उनकी कविता तो अच्छी होगी ही तभी तो वे दूसरोंकी कवितापर हँसते हैं, उसीपर कहते हैं कि यह बात नहीं है। (ख) अपना कवित्त सभीको प्रिय एवं उत्तम लगता है। जैसे अपनी बनायी रसोई अपनेको प्रिय लगती है। अपना दोष किसीको नहीं सूझता, वह दोषको भी गुण कहता और समझता है। यथा—'तुलसी अपनो आचरन भलो न लागत कासु। तेहि न बसात जो खात नित लहसुनहू को बासु॥' (दोहावली ३५५)। अपने दहीको खट्टा होनेपर भी कोई उसे खट्टा नहीं कहता, सभी अच्छा (मीठा) कहते हैं यह लोकरीति है। इसी प्रकार हँसनेवालेकी कविता नीरस एवं दोषोंसे भरी भी होती है तो भी वे उसको उत्तम ही समझते हैं, उसपर प्रसन्न होते हैं, तो इसमें आश्चर्य क्या? पर दूसरेकी कविता उत्तम भी हो तो भी वे कभी उसे सुनकर प्रसन्न न होंगे। २—यहाँ दो असमान वाक्योंकी समता 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है। ३—'ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं' इति। 'बर' ने जनाया कि दूसरोंकी वाणीपर जो प्रसन्न होते हैं वे 'श्रेष्ठ' हैं। इन्हींको आगे 'सज्जन' कहा है। ऐसे लोग कम हैं। यह कहकर जनाया कि अपने कवित्त-हीपर प्रसन्न होनेवाले बहुत हैं। आगे इसीकी उपमा देते हैं।

जग बहु नर सर[2] सरि सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई ॥१३॥

---

१ भनिति—१७२१, १७६२, छ०। भनित—१६६१, रा० प० (काशिराज)।

२ सरि सर—१७२१, १७६२। सर सरि—१६६१, १७०४, छ०। १६६१ में पहले 'सुरसरि' था परन्तु 'ु' पर हरताल है और 'स' स्पष्ट है। इसमें सन्देह नहीं है। ना० प्र० सभाकी प्रतिमें 'सुरसरि' पाठ है। अयोध्याजीके मानसविज्ञोंकी छपायी हुई प्रतियोंमें एवं अनेकों अन्य प्राचीन प्रतियोंमें 'सर सरि' वा 'सरि सर' पाठ मिलता है। सुधाकर द्विवेदीजीका भी यही पाठ है। 'सरि' में 'सुरसरि' भी आ जाती है और 'क्रूर कुटिल कुविचारियों' के लिये 'सुरसरि' का उदाहरण देनेमें जो सन्तोंको सङ्कोच होता है वह भी सर सरि पाठमें नहीं रहता। पुनः गोस्वामीजी यहाँ कह रहे हैं कि ऐसे मनुष्य बहुत हैं, इसी प्रकार तालाब और नदियाँ भी बहुत हैं। दो बातोंके लिये दो दृष्टान्त क्रमसे दिये गये हैं 'निज कवित्त' का दृष्टान्त 'जग बहु नर सर सरि' है और 'जे पर भनित सुनत हरषाहीं' का दृष्टान्त 'सज्जन सकुन सिंधु' है। यथासंख्य अलङ्कार है।

सज्जन सकृत' सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़ै जोई॥ १४॥

शब्दार्थ—सर=तालाब। सरि=नदी। बाढ़ि (बाढ)=बढती, वृद्धि, उन्नति। यथा—'सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी। ६। ९८।' =नदी या जलाशयके जलका बहुत तेजीसे और बहुत अधिक मानमें बढना। सकृत=एक। सिंधु=समुद्र। पूर=पूरा, पूर्ण। बिधु=चन्द्रमा।

अर्थ—हे भाई! संसारमें तालावों और नदियोंके समान मनुष्य बहुत हैं जो (इतर) जल पाकर अपनी ही बाढसे बढते हैं॥ १३॥ समुद्र-सा (तो) कोई ही एक सज्जन होता है जो चन्द्रमाको पूर्ण देखकर (अर्थात् दूसरेकी उन्नति देखकर) बढता है॥ १४॥

टिप्पणी—१ 'जग बहु नर सर सरि सम ''' इति। (क) नदी और तालाब थोड़े पानीसे उतरा उठते हैं, समुद्र बहुत भी जल पाकर नहीं बढता। वैसे ही खल थोड़ी ही विद्या पाकर उन्मत्त हो जाते हैं, सज्जन समुद्र-सम विद्यासे पूर्ण हैं, तो भी उन्मत्त नहीं होते। (यह भाव 'बाढ' का अर्थ 'मर्यादा' लेकर कहा गया है।) (ख) नदी बढकर उपद्रव करती है, तालाब अपनी मर्यादाको तोड़ डालते हैं। [वैसे ही नीच लोग भी कुछ विद्या और धन पाकर अपने कुलकी मर्यादा छोडकर सबको तुच्छ मानने लगते हैं। 'अधनेन धनं प्राप्तं तृणवन्मन्यते जगत्'। यह नीच स्वभाव है। (सू० मिश्र)] (ग) जो अपनी बाढसे बढते हैं (जैसे नदी, तालाब) उनकी बाढ़ अल्पकाल रहती है (अर्थात् वे वर्षाके पीछे फिर घट जाते हैं), जो परायी बाढ देखकर बढते हैं (जैसे समुद्र), उनकी बाढ प्रति पूर्णिमाको बारहों मास रहती है।

२ 'निज बाढ़ि बढ़हिं' इति। भाव यह है कि तालाब अपनेमें जलकी बाढ अर्थात् अधिकता पाकर उछलने लगते हैं, वैसे ही थोड़ी विद्या-वैभववाले इतराने लगते हैं, अपनी वृद्धि देख हर्षसे फूले नहीं समाते, दूसरेकी वृद्धिसे उनको हर्ष नहीं होता। यथा—'छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरेहुँ धन खल इतराई॥ ४। १४।'

३ 'सज्जन सकृत सिंधु सम कोई। '' इति। (क) समुद्र सदा पूर्ण रहता है। अपनेमें बहुत नदियोंका जल नित्य पाकर भी नहीं उछलता। पर जब चन्द्रमा पूर्णिमाको पूर्ण बढ़ा दिखायी देता है तब वह उछलने लगता है। समुद्रमें ज्वारभाटा होना ही हर्ष है। यथा—'राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान। बढ़ेउ कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥' (उ० ३), 'सोभत लखि बिधु बढत जनु बारिधि बीचि बिलासु' (अ० ७)। इसी तरह सज्जन दूसरोंकी पूरी बढती देख प्रसन्न होते हैं।

[(ख) द्विवेदीजी 'सज्जन सकृत सिंधु' का भाव यह लिखते हैं कि सज्जन विरला ही समुद्र-सा होता है जो पूर्णचन्द्रमें इसका सम्पूर्ण कलङ्क देखकर भी उसका ध्यान न कर उसके अमृतमय किरणोंको देखते ही नीच जड (जल) का सङ्ग होनेपर भी आह्लादित होता है, इसी प्रकार सन्त दोषका ध्यान न कर थोड़े गुणको भी देखकर आह्लादित होता

१ सुकृत—प० शिवलालपाठक, को० रा०, दे०। परंतु प० शिवलालपाठककी परंपरावाले श्रीजानकीशरणजीने 'सकृत' पाठ दिया है। सकृत—१६६१, १७०४, छ०। 'सकृत' पाठ लेकर 'सज्जन सुकृत सिंधु' का दो प्रकारसे पदच्छेद किया जाता है। 'सज्जन सुकृत सिंधु-सम' और 'सज्जन सुकृत सिंधु-सम'। अर्थात् किसीने 'सुकृत' को 'सिंधु' का और किसीने 'सज्जन' का विशेषण माना है। सुकृतसिंधु=पुण्य समुद्र। सज्जन सुकृत=सुकृती। सज्जन। 'सुकृत' का अर्थ 'एक बार' है। यथा—'सकृत् सहैकवारे' इत्यमरकोशे। अर्थात् साथ, सङ्ग तथा एक बार। परंतु गोस्वामीजी कहीं-कहीं उसका 'एक' और 'कोई' अर्थमें प्रयोग करते हैं। जैसे 'जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल' (अ० २८१) तथा 'सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई' (७। ५४)। इस प्रकार यहाँ भी 'सकृत' पाठ है और उसका 'एक' अर्थ गृहीत है। और 'सुकृत' पाठ मानने-में भी अच्छा अर्थ बन जाता है, क्योंकि कवि इस समय सज्जनोंके गुणगानमें प्रवृत्त हैं, अत. उनके प्रति उनकी आस्था होना स्वाभाविक है और इसलिये विशेषणात्मक 'सुकृत सिंधु' पाठ भी संगत प्रतीत होता है। पर अधिकांश रामायणियोंका मत 'सकृत' ही के पक्षमें है। काशिराज, सुधाकर द्विवेदीजी और वन्दनपाठकजीका भी यही पाठ है।

है, प्रशंसा ही करता है। भर्तृहरिजीने कहा है, 'परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्त सन्ति सन्त. कियन्त ॥' (नीतिशतक ७९)।' अर्थात् (सज्जन विरले ही हैं) जो दूसरोंके परमाणु बराबर गुणोंको पर्वतके समान बढ़ाकर अपने हृदयको प्रफुल्लित करते हैं]

४ (क) 'जग बहु' का भाव कि जैसे ससारमें तालाब और नदियाँ अगणित हैं, वैसे ही अपनी बढ़तीसे प्रसन्न होनेवाले अथवा थोड़ी विद्यासे भी इतरानेवाले लोग ससारमें बहुत हैं। 'सर' 'सरि' से भी अधिक हैं तथा 'सर' शब्द छोटा है अत इसे प्रथम रक्खा। पुन भाव कि [(ख) जैसे तालाब और नदी यदि ऊपरका जल न पावें तो नहीं बढ़ते, क्योंकि पूर्ण नहीं हैं वैसे ही सर और सरितके समान बहुतेरे लोग ऐसे ही हैं जो इधर-उधरसे दो-चार बातें सीखकर वक्ता बन जाते हैं, दूसरोंके काव्यकी या ग्रन्थके भावोंकी चोरी करके स्वय कवि या पण्डित और लेखक बनकर फूले फूले फिरते हैं कि हमारी बराबरीका कौन है, क्योंकि वे अपूर्ण हैं। ऐसे लोग दूसरोंकी कीर्ति देख जलते हैं, जिनकी चोरी करें उन्हींको दूषण देकर अपनी वाणीकी प्रशसा करते हैं। सज्जन स्वय परिपूर्ण हैं और दूसरेकी भनित सुनकर आह्लादित होते हैं। (मा० प्र०)। पुन, (ग) बहुतसे नर तालाबके समान हैं और बहुतसे नदीके समान हैं। तालाब वर्षाका जल पाकर बढ़ते हैं, उनमें स्वय अपनेसे बढ़नेकी शक्ति नहीं है, वैसे ही जिनमें विद्या और शक्ति नहीं है, केवल अभ्यास है, वे औरोंकी वाणीको काट छाँटकर अपने नामसे बनाकर प्रसिद्ध होते हैं। ऐसे लोग 'सर' के समान हैं। नदियाँ जिनका मूल स्थान हिमालय आदि पर्वत है वे अपनी बाढ़से बढ़ती हैं। ज्येष्ठमासमें बर्फके गलनेपर वे अपने आप अपनी बाढ़से बढ़ जाती हैं, वैसे ही जो विद्या और शक्ति भी पाये हुए हैं वे अपनी उक्तिसे काव्य बनाकर देशोंमें प्रसिद्ध हुए, ये नदीके समान हैं। समुद्र न अपनेसे बढ़े और न वर्षाजल पाकर बढ़े। वह पूर्णचन्द्रको देखकर बढ़ता है। वैसे ही सज्जन न तो अपना काव्य दिखाकर अपनी प्रसिद्धि चाहें और न किसीके काव्यादिको काट-छाँटकर अपना नाम धरकर प्रसिद्ध होनेकी चाह करें। वे तो श्रीरामयशरूप पूर्णचन्द्रको देखकर ही आह्लादित हो बढ़ते हैं अर्थात् जिस ग्रन्थमें सुन्दर श्रीरामयशका वर्णन देखते हैं, अपनी विद्या और शक्तिसे उसपर तिलक करके उसके द्वारा लोकमें प्रसिद्ध होते हैं। जैसे श्रीमद्भागवतपर श्रीश्रीधरस्वामी, वाल्मीकीयपर प० शिवलालपाठक आदि। (वै०)]

नोट—१ 'भाई' इति। यह प्यारका सम्बोधन सबके लिये है। अपने मनको भी इससे सम्बोधन किया है। यथा—'जो नहाइ चह एहि सर भाई। १। ३९।', 'करहि बिचारु करौं का भाई' १। ५२ (४) यथा—'तरु पल्लव महँ रहा लुकाई।' ५। ९ (१) देखिये।

२ बाबा हरिदासजी 'देखि पूर बिधु' का भाव यह लिखते हैं कि गोस्वामीजी 'कबि कोबिद मानस मंजु मराल' से विनय करते हैं कि मेरी कविता ऐसी हो जैसे पूर्णचन्द्र। (अर्थात् वे अपने काव्यको पूर्णचन्द्र कह रहे हैं।) जैसे पूर्णचन्द्र तापहारक, प्रकाशक और अमियरूप होता है, वैसे ही मेरे काव्यचन्द्रमें श्रीरामसुयश अमृत है, उससे मोहनिशामें सोते हुए ईश्वरविमुख, मृतकरूप, त्रयतापयुक्त, भवरोगपीड़ित जीव पठन, श्रवण, मनन करके सर्वबाधारहित हो जायँगे।

३ गोस्वामीजीने सज्जनोंको माता-पिता और अपनेको पुत्र माना है जैसा 'सुनिहहिं बाल बचन' 'जौं बालक कह' में बता आये हैं। माता-पिता बालकके तोतले वचनपर प्रसन्न होते हैं। इस सम्बन्धसे समुद्र और पूर्णचन्द्रका उदाहरण बहुत उपयुक्त हुआ है। चन्द्रमाकी उत्पत्ति समुद्रसे हुई है, अत समुद्र माता-पिता है और चन्द्र पुत्र। जैसे वह अपने पुत्रको पूर्ण देख प्रसन्न होता है, वैसे ही सज्जन मेरे काव्यको सुनकर, देखकर प्रसन्न होंगे यह ध्वनित है।

दो०—भाग छोट अभिलाषु बड़ करउँ एक बिस्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब[१] खल करिहहिं उपहास ॥ ८ ॥

१—१६६१, १७०४, मानस-परिचर्या, प० शिवलालपाठक, ना० प्र० सभा, मानस पत्रिकाका पाठ 'सब' है। १७२१, १७६२, छ० में 'जन' है।

शब्दार्थ—भाग=भाग्य। अभिलाष=इच्छा। उपहास=हँसी।

अर्थ—मेरा भाग तो छोटा है और इच्छा बड़ी है (पर) मुझे एक विश्वास है कि इसे सुनकर सब सज्जन सुख पावेंगे और खलगण हँसी उड़ावेंगे* ॥ ८ ॥

पं० रामकुमारजी—(क) पहले कहा कि मति रङ्क है, मनोरथ राजा है। मन-मतिके अनुकूल मनोरथ नहीं है, तो क्योंकर पूरा हो? मन-मति अच्छे न सही, यदि भाग्य ही अच्छा हो तो भी अभिलाषा पूरी हो जाती है, सो भी नहीं है। भाग्य छोटा है अर्थात् भाग्यके अनुसार अभिलाषा नहीं है। (ख) 'एक विश्वास' का भाव यह है कि भाग्यका भरोसा नहीं है और न बुद्धिहीका। यथा—'निज बुधि बल भरोस मोहिं नाहीं।' एक विश्वास सन्तोंके सुख पानेका है।

द्विवेदीजी—एक विश्वास है कि सज्जन रामचरित्रके कारण प्रसन्न होंगे और खल हँसी करेंगे पर इससे उनको भी सुख ही होगा, क्योंकि सुखके बिना उपहास नहीं उत्पन्न होता। भास्कराचार्यजीने भी सिद्धान्तशिरोमणिमे लिखा है कि 'तुष्यन्तु सुजना बुद्ध्वा विशेषान् मदुदीरितान्। अबोधेन हसन्तो मां तोषमेष्यन्ति दुर्जना॥ ८॥'

श्रीजानकीदासजी—'भाग छोट' अर्थात् प्राकृत कवियोंमे बैठने योग्य। 'अभिलाष बड़' अर्थात् व्यास, वाल्मीकि इत्यादिके बराबर बैठनेकी। भाव यह कि चाह तो है कि मेरी कविता व्यासादिके समान प्रामाणिक मानी जावे पर ऐसी योग्यता है नहीं।

बैजनाथजी—भाग छोटा है अर्थात् श्रीरामयशगायकोंमे मेरा हिस्सा छोटा है। तात्पर्य यह कि एक तो कलिका कवि, दूसरे बुद्धिविद्याशक्तिहीन, उसपर भी यह भाषाका काव्य। सब दोष-ही-दोष है तब इसका आदर कौन करेगा? अभिलाषा=भविष्यकी वस्तुका पूर्व ही मनोरथ करना।

बाबा हरिदासजी—भाग छोटा है अर्थात् पूर्वजन्मोंका सञ्चित पुण्य नहीं है। अभिलाषा रामयशगानकी है, सो बिना पूर्वके सुकृतके हो नहीं सकता। पर मेरी अभिलाषा सुन सज्जन सुखी होंगे, मुझपर कृपा करेंगे और उनकी कृपा अघटितघटनापटीयसी है अतः वह अभिलाषा पूर्ण हो जायगी। खल परिहास करेंगे कि अरे! यह तो अपने मुँह ही कहता है कि मेरे अघ सुन नरकने भी नाक सिकोड़ी, तब भला यह कैसे रामयश गा सकता है? यह तो हमारा सजातीय है।

नोट—१ (क) 'सम प्रकास तम पाख दुहुँ....' इस दोहेतक कुसङ्ग-सुसङ्गसे हानि लाभ दिखाया। 'जड़ चेतन जग जीव जत...' से 'सीयराममय सब जग जानी...' तक वन्दना की। 'जानि कृपाकर किंकर मोहू' से 'मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी' तक अपना मनोरथ कहकर विनय की। 'छमिहहिं सज्जन' से 'पैहहिं सुख सुनि' तक साधु-असाधुके निकट अपनी कविताका आदर-अनादर कहा।

(ख) सज्जनोंके सुननेके ५ हेतु लिखे हैं। (१) सज्जन मेरे माता-पिता हैं, मैं उनका बालक हूँ। वे मेरी तोतरी बात सुनेंगे। यथा—'छमिहहिं सज्जन मोरि...' (२) बड़े दूसरेकी वृद्धि देखकर प्रसन्न होते हैं। 'सज्जन सुकृत सिंधु' "। (३) श्रीरामभक्तिमे भूषित जानकर सुनेंगे। 'रामभगति भूषित जिय जानी।'। (४) श्रीरामनामयश-अङ्कित जानकर सुनेंगे। 'सब गुनरहित कुकबिकृत बानी।...' और (५) श्रीरामयश जानकर सुनेंगे। 'प्रभु सुजस संगति भनित भलि होइहि सुजन मनभावनी।' इसी प्रकार खलोंके न सुननेके ५ हेतु कहे हैं। यथा—'हँसिहहिं कूर १, कुटिल २, कुबिचारी ३, जे परदूषन-भूषनधारी ४ 'जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई ५।'

खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥ १॥

शब्दार्थ—परिहास=उपहास, हँसी। हित=भला, कल्याण। कलकण्ठ=मधुर कण्ठवाली कोकिल, कोयल। कठोर=कड़ा।

* कालिदासजीने भी ऐसा ही कहा है, 'मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्' यहाँ 'आत्मतुष्टि प्रमाण' अलङ्कार है।

अर्थ—खलोंके हँसनेसे मेरा हित होगा। (क्योंकि) कौवे कोकिलको कठोर कहते ही हैं ॥ १ ॥

नोट—१ 'होइ हित मोरा' इति। कैसे हित होगा? इस तरह कि—(क) सुननेवाले कहेंगे कि देखिये तो यह दुष्ट कौवा कोकिलको कठोर कहता है, वैसे ही मेरे भणितको जब खल हँसेंगे और कहेंगे कि यह तो प्राकृत वाणी है तब सज्जन कहेंगे, देखिये तो यह कैसी दिव्य वाणी है, इसे ये दुष्ट प्राकृत कहते हैं। सज्जनोंके मुखसे बड़ाईका होना ही हित है। (मा० प्र०)। (ख) खलोंकी बातको कोई प्रमाण नहीं मानता। वे सच्चा ही दूषण लगावेंगे तो भी सब उसे झूठा ही समझेंगे। इस तरह उनके मुखसे जो दूषण भी निकलेंगे वे भी भूषण हो जायेंगे। यह हित होगा। (वै०)। (ग) लोक और परलोक दोनोंमे हित होगा। खल निन्दा करेंगे तब सज्जन उनकी बातको झूठी करेंगे। सज्जनोंका वाक्य प्रमाण है। अत यह लोकहित होगा। और परलोकमे हित यह होगा कि निन्दा करनेसे वे मेरे पापोंके भागी होंगे। खलोंके कथनको लोग ऐसा ही समझेंगे जैसे कौवे कोयलको कठोर कहें वैसे ही इनका हाल है। (पं०)। (घ) गुप्त पापोंको प्रकट कर देनेसे उनका नाश हो जाता है अतएव परिहासद्वारा मेरे अवगुणकथनसे मेरा लाभ होगा। कोयल कौवेके अण्डे गिराकर उसकी जगह अपने अण्डे रख देता है, कौवे उन्हें सेता है। काक कोयलकी निन्दा करता है तो कोयलका पाप (अण्डा आदि गिरानेका) मिट जाता है और उसकी बोली सबको प्रिय लगती है। (बाबा हरिदासजी)। महत्पुरुषोंकी एव सद्ग्रन्थोंकी निन्दा करने और सुननेवालोंमे उसका पाप बँट जाता है, यह हित होगा। (ङ) काक और कोकिलकी बोली सुनकर सभी पहचान लेते है। सज्जन कविताको सुनकर सुख पावेंगे और खल उसीको सुनकर हँसेंगे, इससे मेरी प्रतिष्ठा और भी बढ़ेगी। यदि सज्जन दुःख पाते और खल आदर करते तो कविता निन्दित होती। खल जिसपर हँसे वह सन्त समझा जाता है और जिसकी वे प्रशंसा करें वह खलका सम्बन्धी वा सजातीय अर्थात् नीच समझा जाता है। यही हित होगा। (रा० प्र०)।

२ 'खल परिहास' दोष है। कवि उसमे गुण मानकर उसकी इच्छा कर रहा है। यहाँ 'अनुज्ञा अलंकार' है।

३ 'काक कहहिं कल कठ कठोरा' इति। (क) भाव यह है कि जैसे कौवेके निन्दा करनेसे कोई कोकिलको बुरा नहीं कहता, वैसे ही खलोंके हँसनेसे सज्जन इस रामचरितयुक्त कविताकी कदापि निन्दा न करेंगे। पुन, (ख) आशय यह है कि रूपमें तो कौवा और कोकिल दोनों एक-से ही हैं। पर बोलीसे जाना जाता है कि यह काक है और यह कोकिल। 'काक कृष्ण' पिक कृष्ण' को भेद पिककाकयो। प्राप्ते वसन्तसमये काक काक पिक पिकः।' एव जिसकी खल निन्दा करें वह सज्जन है'। (मा० पत्रिका)।

हँसहिं बक गादुर[1] चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही ॥ २ ॥

शब्दार्थ—गादुर=चमगादड़। चातक=पपीहा। मलिन=मनके मैले।

अर्थ—बगुला हसको और चमगादड़ पपीहेको हँसते है (वैसे ही) मलिन स्वभाववाले दुष्ट लोग निर्मल वाणीपर हँसते हैं ॥ २ ॥

नोट—यहाँतक दो अर्धालियोंमे खल-परिहाससे अपना हित दिखाया।

पाठान्तर—श्रावणकुञ्जकी प्रतिमे 'गादुर' का 'दादुर' बनाया गया है। भागवतदासजीका भी 'गादुर' पाठ है। काशीराजकी प्रतिमें भी 'गादुर' है। रामायणीजी और व्यासजी 'गादुर' पाठको शुद्ध और उत्तम मानते हैं। वन्दन पाठकजी सुधाकरद्विवेदीजी और पं० रामकुमारजीने भी यही पाठ लिया है। वे कहते हैं कि दादुर जलचर है, चातक नभचर। दोनों ही मेघके स्नेही हैं, पर नभचरपर जलचरका हँसना कैसे बने? नभचरको नभचर हँसेगा, सजातीयका सजातीयको हँसना ठीक है। दादुर और चातक दोनों पक्षी है और दोनोंके गुणधर्म एक दूसरेके विरुद्ध हैं।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ तीनों दृष्टान्त पक्षियोंके दिये गये, क्योंकि वे पक्षपात करते है, ये सब पक्षपाती है। यथा—'सठ सपच्छ तव हृदय बिसाला ...'।

---

१. दादुर—१६६१ मे 'गादुर' था, 'ग' के ऊपर 'द' बनाया है। गादुर—१७०४, १७२१, १७६२, छ०।

पं० सच्चिदानन्दजी शर्मा, काशी—'गादुर' और 'दादुर' इन दोनों पाठोंमें कौन-सा अधिक उपयुक्त और ग्राह्य है, इस सम्बन्धमें हमारा विचार 'गादुर' के पक्षमें है। इसके कारण ये हैं। प्रथम तो यह प्रसङ्ग वाणीका है और कवि-लोग पक्षियोंमें ही प्राय गानकी उत्प्रेक्षा करते हैं। दादुरकी गणना पक्षिकोटिमें होती भी नहीं। दूसरे, कविने 'क्रूर' 'कुटिल' तथा 'कुविचारी' विशेषण क्रमसे दिये हैं। ये तीनों इसी क्रमसे काक, बक और गादुरमें चरितार्थ होते हैं। काककी क्रूरता और बककी कुटिलता लोकमें प्रसिद्ध है। रहा गादुर, सो स्वमलभोजी है। तीसरे, काकका कोकिलसे, बकका हससे और गादुरका चातकसे वर्णसाम्य भी है। इसी भाँति आकारगत सादृश्यका भी उल्लेख अप्रासङ्गिक नहीं होगा। चातक और गादुरके सादृश्यकी चतुर्थ बात यह है कि ये दोनों आकाशमें ही वास करते हैं। वृक्षपर उलटे टँगे रहना एक प्रकारसे शून्यवास ही है। इस प्रकार हेतुचतुष्टयसे गादुर पाठकी समीचीनता सप्रमाण सिद्ध है। पुन, सीधा बैठनेमें असमर्थ होनेसे पिपासाशान्तिके लिये वर्षा-जलके अधीन रहना गादुरके बारेमें भी असम्भव नहीं, यह भी चातकके साथ पञ्चम सादृश्य है।

[*नोट*—चमगादड़के कुछ लक्षण ये हैं। यह भूमिपर अपने पैरोंसे चल नहीं सकता, या तो हवामें उड़ता रहता है या किसी पेड़की डालमें चिपटा रहता है। यद्यपि यह जन्तु हवामें बहुत ऊपरतक उड़ता है पर उसमें पक्षियोंके लक्षण नहीं हैं। इसकी बनावट चूहेकी-सी होती है, इसे कान होते हैं और यह अण्डा नहीं देता, बच्चा देता है। दिनके प्रकाशमें यह बाहर नहीं निकलता, किसी अँधेरे स्थानमें पैर ऊपर और सिर नीचे करके औंधा लटका रहता है]

'दादुर' के पक्षमें कह सकते हैं कि यह और चातक दोनों मेघ और वर्षा ऋतुकी प्रतीक्षा करते हैं और दोनों जलकी धारणा रखते हैं। परंतु इनमेंसे पहला सामान्य जलसे संतुष्ट है, उसको जलकी स्वच्छता और मलिनताका विचार नहीं है। और दूसरा (चातक) एक विशिष्ट प्रकारके उत्तम जलका व्रत रखता है और उसमें उसकी दृढ़ धारणा और अनन्यता है।

प० महावीरप्रसाद मालवीय लिखते हैं कि 'प्रसङ्गानुसार मेढक और चातककी समता यथार्थ प्रतीत होती है, क्योंकि वे दोनों मेघोंसे प्रेम रखनेवाले और वर्षाके आकाङ्क्षी होते हैं। उनमें अन्तर यह है कि मेढक जलमात्रमें विहार करता हुआ सभी बादलोंसे प्रेम रखता है, किंतु पपीहा स्वातीके बादल और जलसे प्रसन्न होता है। मेढक इसलिये हँसता है कि मेरे समान सब जलोंमें यह विहार नहीं करता, स्वातीके पीछे टेक पकड़कर नाहक प्राण गँवाता है। यह दृष्टान्तका भाव है। पर इस गम्भीरताको 'गादुर' नहीं पहुँच सकता है।

श्रीजानकीशरणजी मालवीयजीसे सहमत होते हुए कहते हैं कि गादुरको पक्षी भी कहना ठीक नहीं है।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'दादुर' और चातक दोनों मेघके स्नेही हैं तब हँसना कैसे बने? साहूकार चोरको और चोर साहूकारको हँसे तब बने (उचित हो)। और चौपाईमें ऐसा ही पाठ अर्थ है कि 'हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही'। खलके स्थानपर गादुर है जो मलिन है और 'बिमल बतकही' के स्थानपर 'चातक' है।

नोट—१ 'हँसहि बक ' इति। भाव यह है कि—(क) जैसे बकुला और चमगादड़ (वा, मेढक) की निन्दासे हंस और चातक जगत्‌में अयोग्य नहीं कहे जाते, वैसे ही मलिनोंकी निन्दासे निर्मल वाणी अयोग्य नहीं कही जाती। अच्छे लोगोंमें इनकी प्रशंसा ही होती है। (द्विवेदीजी)। (ख) यहाँ दृष्टान्त देकर दिखाया कि खल वचन, कर्म और मन तीनोंकी निन्दा करते हैं। काक कोकिलके 'वचन' को कठोर कहता है, बगुला हंसके क्षीर-नीर-विवरण-विवेकको हँसता है कि इनका यह 'कर्म अच्छा नहीं है' और गादुर चातककी टेकको हँसता है कि इसका 'मन' अच्छा नहीं है। टेक मनका धर्म है। (प० रामकुमारजी)।

पं० रामकुमारजी—१ (क) 'बिमल बतकही' पदका भाव यह है कि 'बतकही' विमल (निर्मल, निर्दोष) है तो भी ये दूषण देते हैं।

(ख) 'विमल बतकही' इति । 'बतकही' का अर्थ वाणी है । वाणीका प्रयोग धर्म-सम्बन्धहीमें करना चाहिये । इसी तरह 'बतकही' शब्द श्रीरामचरितमानसमें सात ठौर गोस्वामीजीने दिया है और सातों स्थानोंपर धर्म-सम्बन्धी वार्ताके साथ इसका प्रयोग किया है ।

इस ग्रन्थमें सप्त सोपान हैं और सात ही बार यह पद आया है, इस प्रकार प्रति सोपान एक बार हुआ । प्रथम सोपानमें दो बार आया, इससे दूसरे सोपानमें नहीं दिया गया । अरण्यकाण्डका प्रसङ्ग उत्तरकाण्ड सातवें सोपानमें दिया गया । पञ्चम सोपानमें नहीं आया, षष्ठ सोपानमें दो बार आया है । यथा—(१) 'हसहि बक गादुर चातकही । हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही ॥' (२) 'करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लुभान । १ । २३१ ।' (३) 'दसकधर मारीच बतकही ।' ७ । ६६ । (यह प्रसङ्ग अरण्यकाण्डका है) (४) 'एहि बिधि होत बतकही आए बानरजूथ' । ४ । २१ । (५) 'तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि । समुझत सुखद सुनत भयमोचनि' । ६ । १६ ।' (६) 'काज हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥' ६ । १७ । (७) 'निज निज गृह गए आयसु पाई । बरनत प्रभु बतकही सुहाई ॥ ७ । ४७ ।' सातों ठौर परमार्थसम्बन्धमें यह शब्द देकर उपदेश देते हैं कि वार्ता जब करो परमार्थ-सम्बन्धी करो, क्योंकि वही वाणी विमल है, उसी वाक्यकी सफलता है और सब वार्ता व्यर्थ है ।

☞ जैसे इन सातों प्रसङ्गोंमें परमार्थ वा धर्मनीतिका ही जोरदार सम्बन्ध होनेसे 'बतकही' शब्दका प्रयोग हुआ है, वैसे ही जहाँ ज्ञान और भक्तिका जोरदार सम्बन्ध होता है वहाँ उसको 'सवाद' कहा है ।

२ पूर्व कहा था कि 'हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी । जे पर दूषन भूषन धारी ॥' अब यहाँ उन चारोंका विवरण करते हैं । काक क्रूर है, बक कुटिल है, गादुर कुविचारी है और मलिन खल परदूषण-भूषण धारी हैं ।

कबित रसिक न रामपद नेहू । तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू ॥ ३ ॥
भाषा भनित भोरि मति मोरी[1] । हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी ॥ ४ ॥
प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी । तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी ॥ ५ ॥
हरि हर पद रति मति न कुतरकी । तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की ॥ ६ ॥
रामभगति भूषित जिअ जानी । सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी ॥ ७ ॥

अर्थ—जो कविताके रसिक है (परतु जिनका) श्रीरामचरणमें प्रेम नहीं है, उनको यह हास्यरस होकर सुख देगी ॥ ३ ॥ (एक तो) भाषाका काव्य (उसपर भी) मेरी बुद्धि भोली* (इससे) हँसनेके योग्य ही है, हँसनेमें उनको दोष नहीं ॥ ४ ॥ जिनकी प्रभुके चरणोंमें प्रीति नहीं है और न जिनकी समझ ही अच्छी है, उनको यह कथा सुननेमें फीकी लगेगी ॥ ५ ॥ जिनकी हरिहरचरणकमलोंमें प्रीति है और बुद्धि कुतर्क करनेवाली नहीं है, उनको श्रीरघुनाथ-जीकी कथा मीठी लगेगी ॥ ६ ॥ श्रीरामभक्तिसे भूषित है, ऐसा हृदयसे जानकर सज्जन इसे सुन्दर वाणीसे सराह-सराह कर सुनेंगे ॥ ७ ॥

नोट—१ इन चौपाइयोंसे कविके लेखका आशय यह है कि सभी प्रकारके श्रोताओंको इस ग्रन्थसे कुछ-न-कुछ पात्रतानुसार, मनोरञ्जन और सुखकी सामग्री अवश्य मिलेगी । पहले खल परिहाससे अपना हित कहकर अब तीन अर्धालियोंमें हँसनेवालोंका हित दिखाते हैं ।

---

१ पाठान्तर—'मोरी मति भोरी' (मा० प्र०, रा० प०, मा० प०) ।

* इस अर्धालीका भाव यह है कि मेरी कवितामें काव्यरस एक भी नहीं है और वे कविताके रसिक हैं, इस कारण वे देखकर हँसेंगे । इससे इसमें हास्यरस सिद्ध होगा । काव्यमें नौ रस होते हैं । उनमेंसे उन्हें एक भी न सूझेगा । (प० रा० कु०, पाँड़ेजी) । इस अर्थमें यह शङ्का करते हैं कि इस ग्रन्थमें तो सब रस हैं । कवित्तरसिकोंको तो इसमें सभी रस मिलेंगे, तो फिर 'हास्यरस' क्योंकर होगा ? इसलिये यहाँ देहली-दीपकन्यायसे 'न' का अन्वय 'कवित रसिक' और 'राम पद नेहू' दोनोंमें करके यों अर्थ करते हैं कि 'जो न तो कविताके रसिक हैं और न जिनका श्रीरामपदमें प्रेम ही है ।'

२ 'हँसिबे जोग' इति। कवितरसिक हास्यरससे सुख पावें। इससे हास्यरसको पुष्ट करते हैं कि हँसने योग्य है। 'भाषा भनिति' का भाव यह है कि संस्कृत कविताके अभिमानी पण्डित लोग इस भाषा भणितिको क्यों पसंद करेंगे, उनका हँसना उचित ही है।

श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि भगवद्यश चाहे भाषा हो, चाहे संस्कृत, उसको हँसनेसे दोष तो होता ही है। पर, गोस्वामीजी 'हँसे नहिं खोरी' कहकर अपनी साधुतासे उन्हें भी निर्दोष करते हैं।

३ 'प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी' इति। भाव यह है कि प्रभुपदमें प्रीति नहीं है, इसलिये उनको भक्तिके रसका सुख न मिला और समझ अच्छी नहीं है, इससे कविताका रस न मिला। अतएव फीकी है। 'समझ अच्छी नहीं' अर्थात् कुतर्कको प्राप्त है। [बैजनाथजीने दो अर्थ और दिये हैं। (क) श्रीरामपदमें प्रीति नहीं, पर काव्याङ्गोंकी समझ अच्छी है अर्थात् जो रजोगुणी चतुर हैं उनको फीकी लगेगी। अथवा, (ख) प्रभुपदप्रीतिमें (क्या लाभ है इस विषयमें) जिनकी समझ अच्छी नहीं है अर्थात् हरिविमुखोंको फीकी लगेगी। (वै०, रा० प्र०)]

४ 'हरिहरपद रति मति न कुतरकी···' इति। (क) हरि=विष्णु भगवान्। हर=शिवजी। करुणासिंधुजी, पाण्डेजी, हरिहरप्रसादजी इत्यादि कहते हैं कि 'मति न कुतरकी' हरिहरके साथ है। अर्थात् हरि और हरमें जिनकी बुद्धि कुतर्कको नहीं प्राप्त है, जो दोनोंमें अभेद देखते हैं* भेदबुद्धि नहीं रखते, उनको यह कथा मधुर लगेगी। इससे ग्रन्थकारका यह आशय जाना जाता है कि जिस मनुष्यका प्रेम हरिहरपदमें अभेद और कुतर्करहित हो, उसीकी प्रीति श्रीरामचन्द्रजीके चरणों तथा उनकी कथामें होगी क्योंकि श्रीरामजीको दोनों बराबर प्रिय हैं। (रा० प्र०)

(ख) 'मति न कुतरकी' और 'हरिहरपदरति' को पृथक्-पृथक् दो बातें माननेसे उपर्युक्त भाव तो आ जाता ही है, साथ-ही साथ चरितमें भी संदेह, मोह इत्यादिका भाव सम्मिलित रहता है। 'कुतर्क'—अवतार है तो 'खोजत कि अज्ञ इव नारी', 'सर्व निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम' इत्यादि कुतर्क हैं। यथा—'अस विचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल। उ० ९०।'

(ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'हरि हर पद रति···' से जनाया कि यह स्मार्तों वा पञ्चदेवोपासकोंको मधुर लगेगी; क्योंकि इसमें गणेशजीकी वन्दना, सूर्यवंशकी प्रशंसा, भवानी श्रोता, शिवजी वक्ता और भगवान्‌का यश ये सभी हैं। अथवा, जो शैव हरिसे अनादादि तर्क नहीं करते वे इसे शिवचरित जानेंगे, क्योंकि प्रथम तो शिवचरित ही है और फिर शिव-पार्वती-संवाद ही तो अन्ततक है और जो वैष्णव शिवमें तर्क नहीं करते अर्थात् शिवजीको श्रीरामजीका भक्त जान भेद-भाव नहीं रखते, उनको स्वाभाविक ही मधुर लगेगी।

(घ) कथा मधुर लगेगी, क्योंकि भक्ति मधुर है। यथा—'कथा सुधा मथि काढहिं भगति मधुरता जाहि। ७। १२०।' 'प्रभुपद प्रीति···' और 'हरिहरपद···' दोनों अर्द्धालियोंका मिलान कीजिये।

१ प्रभुपद प्रीति न २ न सामुझि नीकी ३ लागिहि फीकी

१ हरिहरपद रति २ मति न कुतरकी ३ मधुर (लागिहि)

टिप्पणी—१ 'रामभगति भूषित जिय जानी···' इति। सन्त कवितविवेकसे भूषित जानकर नहीं सुनते। इनके हृदयमें भक्ति और हरिहरपदमें रति है, अत: जो कविता श्रीरामभक्तिसे भूषित होती है, उसीको सुनते हैं। 'सराहि सुबानी' का भाव यह कि सज्जन सुनते जायँगे और सराहते भी जायँगे कि ओहो! क्या अच्छी सुन्दर वाणी है, क्योंकि रामभक्तिसे भूषित है। (प० रामकुमारजी)। ('रामभक्ति भूषित'। यथा—

---

* हरि-हरमें भेद वर्जित कैसे? इस तरह कि 'हरि' और 'हर' दोनोंका अक्षरार्थ एक ही है। दूसरे दोनों स्वरूपोंमें आभूषण और आयुधोंके भाव भी एक ही हैं। हरिकी गदा और शिवकी विभूति दोनों पृथ्वी-तत्त्व, हरिका पद्म और हरकी गङ्गा दोनों जल-तत्त्व। इसी प्रकार सुदर्शन और भालनेत्र अग्नि-तत्त्व, पाञ्चजन्य और सर्प वायु तत्त्व, नन्दक और डमरू आकाश-तत्त्व। भाव कि दोनों पञ्चतत्त्वोंके मालिक हैं। (रा० प०)। २ हरिहरपदमें कुतर्करहित प्रीति।

शयनरचना (सेजकी रचना करना), १२ उदकवाद्य (जलतरङ्ग बाजा बजाना), १३ उदकघात (हाथ या पिचकारीमे जलक्रीड़ा करना), १४ अद्भुतदर्शनवेदिता (बहुरूपियाका काम करना), १५ माल्यग्रन्थन-कल्प (माला गूँथना), १६ शेखरापीडयोजन (मस्तकके भूषणोंकी योजना करना), १७ नेपथ्ययोग (नाटकके पात्रोंका वेष सजना), १८ कर्णपत्रभङ्ग (कर्णभूषण विधान), १९ गन्धयुक्ति (अतर आदि सुगन्धद्रव्योंकी युक्ति), २० भूषणकी योजना, २१ इन्द्रजाल, २२ कौचुमारयोग (कुरूपको सुरूप बनानेकी क्रिया जानना), २३ हस्तलाघव (पटा, बाना आदिमें फुर्ती), २४ चित्रशाकापूपविकारक्रिया (चित्र-विचित्र भोजनके पदार्थ बनाना), २५ पानकरसरागासवयोजन (पीनेके पदार्थ रस आदिका बनाना), २६ सूचीवापकर्म (सुईकी कारीगरी, सीना, काढना आदि), २७ सूत्रक्रीड़ा (धागेके सहारे खिलौनोंका खेल करना जैसे चरखी आदिका नचाना), २८ वीणाडमरूवाद्य, २९ प्रहेलिकाप्रतिमाला (पहेली बूझना, अन्त्याक्षरीमे वैतबाजी करना), ३० दुर्वाचकयोग (कठिन शब्दोंका अर्थ लगाना), ३१ पुस्तकवाचन, ३२ नाटिकाख्यायिकादर्शन (लीला या नाटक दिखाना), ३३ काव्यसमस्यापूरण, ३४ पट्टिकावेत्र बाणविकल्प (नेवाड़, बेत या मूँज आदिकी अनेक रचनाएँ करना), ३५ तर्ककर्म (तर्क करके काम करना), ३६ तक्षण, (लकड़ी, पत्थर आदिको गढ़कर बेल-बूटे-मूर्ति आदि बनानेका काम), ३७ वास्तुविद्या (सब वस्तुओंका ज्ञान), ३८ रूप्य-रत्न-परीक्षा (चाँदी सोना रत्नकी परीक्षा), ३९ धातुवाद (धातुओंके शोधनेका ज्ञान), ४० मणिरागज्ञान (रत्नोंके रंगोंको जानना), ४१ आकरज्ञान (खानोंका ज्ञान), ४२ वृक्षायुर्वेद (वृक्षोंके स्वरूप, आयु आदिका जानना), ४३ मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि (मेढ़ों, मुर्गों और तीतरोंकी लड़ाईका विधान), ४४ शुकसारिकाप्रलापन, ४५ उत्सादन (मालिश करना अङ्गको दबाना आदि), ४६ केशमार्जनकौशल, ४७ अक्षरमुष्टिकाकथन (करपल्लवी अर्थात् हस्तमुद्राद्वारा बातें कर लेना), ४८ म्लेच्छितकविकल्प (जिस काव्यमे शब्द तो साधारण होते हैं पर अर्थ निकलना कठिन है ऐसे क्लिष्टकाव्यको समझ लेना), ४९ देशभाषाज्ञान (सब देशोंकी भाषा जानना), ५० पुष्पशकटिका-निमित्त ज्ञान (दैवी लक्षणोंसे शुभाशुभका ज्ञान), ५१ यन्त्रमातृका (कठपुतली नचाना), ५२ धारणमातृका (धारणशक्ति और वचनप्रवीणता), ५३ असवाच्यसपाठ्य मानसी काव्यक्रिया (जो कहने और पढ़नेमें कठिन हो ऐसा काव्य मनन करना), ५४ छलितकयोग (छल या ऐयारीका काम करना), ५५ अभिधानकोश-च्छन्दोज्ञान (कोश और छन्दोंका ज्ञान), ५६ क्रियाविकल्प (प्रसिद्ध उपायके बिना दूसरे उपायसे किसी कार्यको सिद्ध करना), ५७ ललित-विकल्प, ५८ वस्त्रगोपन (वस्त्रोंकी रक्षाकी विद्या जानना), ५९ द्यूतविशेष (घुड़दौड़ आदि खेलोंकी बाजीमे निपुणता), ६० आकर्षक्रीड़ा (पाँसा आदि फेंकनेका ज्ञान), ६१ बालक्रीडनक (लड़कोंको खिलाना, खिलौने बनाना), ६२ वैनायिकी विद्याज्ञान (विजय करनेकी विद्या), ६३ वैजयिकविद्याज्ञान (विजय करनेकी विद्याका ज्ञान), ६४ वैतालिकीविद्याज्ञान (वेताल-प्रेतादिकी सिद्धिकी विद्याका ज्ञान)।

बाबा हरीदासजीका मत है कि यहाँ 'कला' से सूर्यादि देवताओंकी कलाएँ या उपर्युक्त चौंसठ कलाएँ अथवा नटकी कलाएँ अभिप्रेत नहीं हैं वरच 'काल' का अर्थ 'करतब' (कर्तव्य) है। यथा—'सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत। १। ८६।', 'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी। १। १२६।' (हमारी समझमें भी यहाँ 'कला' से 'काव्यकौशल' ही अभिप्रेत है, चौंसठ कलाका यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। 'गीतवाद्यमे निपुणता' अर्थ ले सकते हैं क्योंकि कविको इनका प्रयोजन है। टीकाकारोंने यहाँ चौसठ कलाएँ मानी है, अत: हमने प्रामाणिक ग्रन्थोंसे खोजकर लिखा है।)

४ 'सब बिद्या' इति। विद्याएँ प्राय चौदह मानी जाती हैं। यथा—'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता। वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश॥ ३॥' (याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात प्रकरण १)। अर्थात् ब्रह्म आदि अठारह पुराण, तर्कविद्यारूप न्याय, मीमासा (वेदवाक्यका विचार), धर्मशास्त्र (मनुस्मृति आदि), वेदके छ अङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द) और चारो वेद—ये मिलकर १४ विद्याएँ हैं।

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना ॥ ९ ॥

अर्थ—अक्षर, अर्थ, अनेक प्रकारके अलङ्कार, (और उनमे) अनेक प्रकारकी छन्द-रचनाएँ ॥ ९ ॥

नोट—१ 'आखर अरथ ' इति। (क) काव्यरचनामे किन-किन बातोंकी आवश्यकता होती है यह यहाँ कहते हैं। 'आखर' का अर्थ अक्षर है। अर्थात् ऐसे अक्षरोंका प्रयोग करना चाहिये जिनसे कुछ अर्थ निकलें, क्योंकि अर्थ शब्दवाच्य होते है। शब्दका अर्थसे वाचक-वाच्य-सम्बन्ध रहता है। इसलिये इसीके आगे अर्थ पद लिखा है। 'अलकृति' से अलङ्कारका ग्रहण है, क्योंकि शब्दार्थमे अलङ्कार होता है। अलङ्कार वह विषय है कि जो शब्दार्थकी शोभा बढानेवाले रसादिक हैं, उनकी शोभा बढावे। जैसे मनुष्यकी शोभा सुन्दर आभूषणोसे होती है, एव शब्दार्थकी शोभा अलङ्कारसे होती है यथा—साहित्यदर्पणे, 'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा. शोभातिशायिन रसादीनुपकुर्वन्तो-ऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥' शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार-भेदसे प्रथम दो भेद, फिर इन्हीं दोनोंसे अनेक भेद हुए हैं (किसी-किसीने अलङ्कार १०८ माने है और फिर इन्ही १०८ के बहुतसे भेद बताये हैं)। अत 'अलंकृत नाना' कहा। 'छन्द' से गायत्री-अनुष्टुपादि छन्दोंका ग्रहण है। इनका वर्णन पिङ्गलमें है। 'प्रबन्ध' शब्दका अर्थ वाक्य-विस्तार है। अर्थात् 'वाक्योंसे महाकाव्यादिकोंको बनाना' है। [छन्द ९२२७४६२ है (केवल मात्रा-प्रस्तारमें), और इससे कुछ अधिक वर्ण प्रस्तारमें हैं (करु०)।] (सू० प्र० मिश्र)। म० श्लोक० १ मे 'वर्णाना' 'अर्थसघानां' और 'छन्दसाम्' भी देखिये'

(ख) बैजनाथजी लिखते है कि वर्णोंमे सत्रह वर्ण (ङ, ज, झ, ट, ठ, ढ, ण, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, ष) अशुभ हैं। ये दग्धाक्षर कहलाते हैं। कवित्तमें इनको देनेसे अशुभ फल प्राप्त होता है, ऐसा रुद्रयामलमे कहा है। पुन, वर्णमैत्री, जैसे कि कवर्ग, अ और ह कण्ठसे, चवर्ग, इ, य और श तालुसे, टवर्ग, ऋ, र, ष, मूर्द्धासे; तवर्ग, ल, ल, स, दन्तसे और पवर्ग, और उ ओष्ठसे उच्चारण होते हैं। इनमे भी ऊर्ध्ववर्गवर्ण नीचे वर्णसे मित्रता रखते है, पर नीचेवाले वर्ग ऊपरवालोंसे नहीं मिलते। इत्यादि विचार 'आखर' शब्दसे जनाया। अर्थ तीन प्रकारका है। वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। वाचक=जो सुनते ही जाना जाय। लक्षक=मुख्य अर्थ छोड़कर जो लक्षित अर्थ कहे। व्यञ्जक=जो शब्दार्थसे अधिक अर्थ दे। वाचक चार प्रकारका है। जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। लक्षक दो प्रकारका है। रूढ़ि और लक्षणा-प्रयोजनवती। व्यञ्जकके भेद—अविधामूल। [फिर इन सबोंके भी अनेक भेद है। काव्यके ग्रन्थों-में मिलेंगे। बैजनाथजीकी टीकामें भी है।]

(ग) श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीका मत है कि 'आखर' से अक्षरोंके पैदा होनेकी युक्ति, 'अर्थ' से 'अर्थ कैसे शब्दोंमें आये'। 'शब्दब्रह्म शाब्दिक शिक्षादि श्रीभगवान् नारद पाणिन्यादि मनसे माने, जैसे अकार कण्ठसे निकला तद्रूप और भी ऐसे ही अपने स्थानवत् अर्थ कैसे शब्दोंमें आये, श्रीभगवान् गौतम और कणादने जैसे षोडशपदार्थ षट्पदार्थ लिखे।' (रा० प०, रा० प० प०। ठीक समझमें नहीं आया अतः वही शब्द उतार दिये हैं)।

(घ) 'अलंकृति नाना। छंद····' इति अलकृति और छन्दके साथ 'नाना···' और आगे 'भाव भेद रसभेद' के साथ 'अपारा' कहा। कारण कि अलङ्कारोंमें, सीमाबद्ध होते हुए भी मतभेद है। अलङ्कारनिर्णायकोंमें भरतमुनिके नाट्य शास्त्रसे प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन्होंने उपमा, दीपक, रूपक और यमक यही चार अलङ्कार माने हैं। इनके पश्चात् काव्यालङ्कारमें रुद्रटने तिहत्तर, काव्यालङ्कार सूत्रवृत्तिमें एकतीस, सरस्वती कण्ठाभरणमें भोजराजने शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कारके २४-२४ भेद मानकर बहत्तर, काव्यप्रकाशमे मम्मटने सरसठ, काव्यादर्शमें दण्डीने अड़तीस, वाग्भट्टने उन्तालिस, चन्द्रालोकमे पीयूषवर्षी जयदेवने एक सौ चार, साहित्यदर्पणमे विश्वनाथने चौरासी, अलङ्कार-शेखरमे केशवमिश्रने बाईस और कविप्रियाके केशवदासने केवल सामान्य और विशिष्ट दो भेद मानकर दोनोंके क्रमश तैंतालिस और छत्तीस उपभेद मानकर कुल अस्सी भेद माने हैं। उपर्युक्त ग्यारह अलङ्कारााचार्योंमेसे दोनों केशव-गोस्वामी-

जीके समकालीन हैं। अबतक लोग एकमत नहीं है। अतः गोस्वामीजीने 'नाना' आदि विशेषणोंसे सब मतोंकी रक्षा की। (वे० भू० रा० कु० दा०)

(ट) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'नागसूत्रमें छ्यानवे करोड़ जाति छन्दोकी कही है और तैंतीस करोड़ प्रबन्धके भेद हैं। बत्तीस मात्रा तथा बत्तीस अक्षरके आगे जो मात्रा और अक्षर बढ़ता जाय, उसको दण्डक कहते है। प्रबन्ध इसीका नाम है। पुन, बहुत छन्दोंको एक जगह करना और बहुत अर्थको थोड़े अक्षरोंमे रक्खे, इसको भी प्रबन्ध कहते है।'

भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥ १०॥

अर्थ—भावों और रसोंके अपार (अगणित) भेद, और अनेक प्रकारके दोष और गुण काव्यके होते हैं॥ १०॥

नोट—१ (क) 'भावभेद' इति। रसके दूसरे उल्लसित एवं चमत्कृत विकास तथा परिणामको 'भाव' कहते हैं। भाव=मनके तरङ्ग। अमरकोशमें कहा है 'विकारो मानसो भाव। १। ७। २१।' रसके अनुकूल मनमे जो विकार उत्पन्न होते हैं उनको 'भाव' कहते हैं। यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥ १। २३०॥' मे ध्वनि सुननेसे शृङ्गार-रसके अनुकूल विकार उपजा। भाव चार हैं।

भाव

विभाव =भावके कारण। जिसके सहारे मनोविकार वृद्धि-लाभ करते हैं, उस कारण-को विभाव कहते हैं।

- **आलम्बन** =जिसके आधारमें या जिस-के प्रति आश्रय या पात्रके हृदयमें विकार उत्पन्न हों। जैसे नायकके लिये नायिका यह रसका अवलम्ब है।
- **उद्दीपन** =जिससे आलम्बनके प्रति स्थित भाव उद्दीप्त या उत्तेजित हों। जैसे चाँदनी, निर्जन वन, वसन्त ऋतु, मारू बाजे। जिनके देखने-सुननेसे रस प्रकट हो।

अनुभाव =मनोविकारकी उत्पत्तिके अनन्तर वे गुण और क्रियाएँ जिनसे रसका बोध हो=चित्तके भावको प्रकाश करनेवाली कटाक्ष, रोमाञ्च आदि चेष्टाएँ। अनुभाव चार हैं। सात्त्विक (आठ प्रकारकी है। स्तंभ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वर-भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय)। २ कायिक। ३ मानसिक (=मनकी अवस्था प्रकट करना) ४ अहार्य=रूप बदलकर अभिनयद्वारा भाव प्रदर्शित करना।

स्थायी =वे भाव जो वासनात्मक होते हैं, चित्तमें चिरकाल-तक स्थित रहते हैं। ये विभावादिके योगसे परि-पुष्ट होकर रसरूप होते हैं। ये सजातीय या विजातीय भावोंके योगसे नष्ट नहीं होते, वरंच उनको अपनेमे लीन कर लेते हैं—ये नौ माने गये हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद।

संचारी =जो रसको विशेष रूपसे पुष्टकर जलकी तरङ्गकी तरह उनमें संचरण करते है। ये रसकी सिद्धि-तक नहीं ठहरते। ये तैंतीस माने गये हैं। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, मति, विषाद, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, गर्व, आमर्ष, स्मृति, हर्ष, उत्सुकता, अवहित्था, दीनता, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता, चपलता और वितर्क।

(ख) 'रस भेद' इति। विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंकी सहायतासे जब स्थायी भाव उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हो मनुष्यके मनमें अनिर्वचनीय आनन्दको उपजाता है तब उसे 'रस' कहते हैं। वे नव हैं, सो यों कि (१) रतिसे शृङ्गार, (२) हाससे हास्य, (३) शोकसे करुण, (४) क्रोधसे रौद्र, (५) उत्साहसे वीर, (६) भयसे भयानक, (७) जुगुप्सासे बीभत्स, (८) विस्मयसे अद्भुत और (९) निर्वेदसे शान्त रस होते हैं। (वि० टी० से उद्धृत)

नव रसोंका कोष्ठक (वि० टी०)

संख्या	रस	स्थायी भाव	आलम्बन विभाव	उद्दीपन विभाव	अनुभव	संचारी भाव	उदाहरण
१	शृङ्गार	रति	नायक-नायिका	सखा, सखी, वन, बाग विहार	मुसकाना, हाव-भाव आदि	उन्मादिक	सीतहि पहिरावे प्रभु सादर
२	हास्य	हास	विचित्र आकृति-वेश आदि	कूदना, ताली देना आदि	अनोखी रीतिसे हँसना	हर्ष-चपलता आदि	बर अनुहार बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥
३	करुण	शोक	प्रियका वियोग	प्यारेके गुण, श्रवण, उसकी वस्तुओंका दर्शन आदि	रोना, विलाप करना, मस्तक आदि ताड़ना, अश्रुपात	मोह, चिन्ता, जड़ता, अपस्मार आदि	पति सिर देखत मंदोदरी। मूर्छित बिकल धरनि खसि परी॥
४	रौद्र	क्रोध	शत्रु	शत्रुकी वार्त्ता वा उसके वचन आदि	भौंहें चढ़ाना, ओंठ चबाना, दाँत पीसना आदि	गर्व-चपलता-मोह आदि	माखे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपुट फरकत नयन रिसौंहें॥
५	वीर	उत्साह	रिपुका विभव	मारूबाजा, सैन्यका कोलाहल	सेनाका अनुधावन, हथियारोंका उठाना	गर्व असूया	सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला॥
६	भयानक	भय	भयानक दर्शन	घोर कर्म	कँपना, गात्र-संकोच आदि	वैवर्ण्य गद्‌गद आदि	हाहाकार करत सुर भागे।
७	बीभत्स	जुगुप्सा ग्लानि	रक्त-मांस आदि	रक्तमांस कृमि पीव आदि दर्शन	नाक मूँदना, मुख परिवर्तन और थूकना आदि	मोह-मूर्च्छा, असूया	धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
८	अद्भुत	विस्मय आश्चर्य	आश्चर्यके पदार्थ, वार्त्ता	अलौकिक गुणोंकी महिमा	रोमाञ्च, कम्प गदगद वाणीका रुकना	वितर्क-मोह-निर्वेद	जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥
९	शान्त	निर्वेद [शम]	सत्संगति, गुरुसेवा	पवित्र आश्रम-तीर्थ-स्थान आदि	रोमाञ्च आदि	मति, धृति-हर्षभूत दया	द्वादस अच्छर मंत्र बर जपहिं सहित अनुराग। बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग।

२ 'कवित दोष गुन बिबिध …' इति । (क) उपर्युक्त भावभेद, रसभेद आदि सब कवितामें होते हैं। यदि ये सब कवितामें रहें तो 'उत्तम काव्य' कहा जाता है और यही काव्यके 'गुण' हैं। यदि इनमेंसे कुछ न रहें तो वही 'दोष' कहलाता है। 'गुण' तीन प्रकारके हैं। (१) माधुर्य—जिसके सुननेसे मन द्रवीभूत हो। यथा—'नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥ २ । ६३ ।' (२) ओज—जिसकी रचनासे मन उत्तेजित हो। प्रत्येक वर्गके दूसरे और चौथे वर्ण, टवर्ग जिसमें हों। यथा—'कटकटहिं जंबुक …'। (३) प्रसाद—जहाँ शीघ्र अर्थ जान लें, अक्षर रुचिकर हों। यथा—'ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार। केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहिं संसार ॥ ७ । ७० ।' (ख) 'दोष' इति। पीयूषवर्षी जयदेवजीने अपने 'चन्द्रालोक' में लिखा है कि काव्यके दोष मैं तीन प्रकारके हैं, जिनके अनेक भेद हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरणमें लिखा है कि जो काव्य निर्दोष, गुणोंसे युक्त, अलङ्कारोंसे अलंकृत और रसान्वित होता है ऐसे काव्यसे कवि कीर्ति और आनन्दको प्राप्त होता है। यथा—'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति । १ । २ ।' दोष तीन प्रकारके हैं। पददोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष। इन तीनोंके सोलह भेद हैं। इन दोषोंको काव्यमें वर्जित करना चाहिये। यथा—'दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश। हेयाः काव्ये कविभिस्तैर्यांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे । १ । ३ ।'

'दोष' इति। १ असाधु (शब्दशास्त्रके विरुद्ध), २ अप्रयुक्त (कवि जिसका प्रयोग नहीं करते), ३ कष्ट (कर्णकटु), ४ अनर्थक (पादपूर्तिके लिये तु, हि, च, स्म, ह, वै आदिका प्रयोग), ५ अन्यार्थक (रूढिसे च्युत), ६ अपुष्टार्थ (तुच्छ अर्थवाला), ७ असमर्थ (असंगत), ८ अप्रतीत (एक शास्त्रमें ही प्रसिद्ध), ९ क्लिष्ट, १० गूढ, ११ नेयार्थ (रूढि और प्रयोजनके बिना लक्षणावृत्तिसे बोध्य), १२ संदिग्ध, १३ विपरीत, १४ अप्रयोजक (जिनका प्रयोजन कुछ नहीं हो), १५ देश्य (जो व्युत्पत्तिसे सिद्ध नहीं हैं, केवल व्यवहारमें प्रयुक्त होते हैं) और १६ ग्राम्य (अश्लील, असभ्य और घृणावाले)। ये पदके दोष हैं। यथा—'असाधु चाप्रयुक्तं च कष्टं चानर्थकं च यत्। अन्यार्थकमपुष्टार्थमसमर्थं तथैव च ॥ ४ ॥ अप्रतीतमथ क्लिष्टं गूढं नेयार्थमेव च। संदिग्धं च विरुद्धं च प्रोक्तं यच्चाप्रयोजकम् ॥ ५ ॥ देश्यं ग्राम्यमिति स्पष्टा दोषाः स्युः पदसंश्रयाः ॥ ६ ॥ (परिच्छेद १)

इसी तरह वाक्यदोष ये हैं। १ शब्दहीन (अपशब्दोंका प्रयोग), २ क्रमभ्रष्ट (जिसमें शब्द या अर्थके क्रमका भङ्ग हुआ हो), ३ विसन्धि (सन्धिसे रहित), ४ पुनरुक्तिमत्, ५ व्याकीर्ण (विभक्तियोंकी असंगति), ६ वाक्यसंकीर्ण (अन्य वाक्योंसे मिश्रित), ७ अपद (छः प्रकारके जो पद हैं उनका अयुक्त सम्मिश्रण), ८ वाक्यगर्भित (जिसमें गर्भित आशय भी प्रकट कर दिया जाता है), ९ भिन्नलिंग (जिसमें उपमान और उपमेय भिन्न लिंगके हों), १० भिन्नवचन (उपमान, उपमेय भिन्न-भिन्न वचनके हों), ११ न्यूनोपम (उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा न्यूनता), १२ अधिकोपम (उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा अधिकता), १३ भग्नछन्द (छन्दोभङ्ग), १४ भग्नयति (अयुक्त स्थानपर विराम होना), १५ अशरीर (जिसमें क्रिया न हो) और १६ अरीतिमत् (रीतिविरुद्ध)। यथा—'शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसन्धि पुनरुक्तिमत्। व्याकीर्णं वाक्यसंकीर्णमपदं वाक्यगर्भितम् ॥ १८ ॥ द्वे भिन्नलिंगवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमे। भग्नच्छन्दोयती च द्वे अशरीरमरीतिमत् ॥ १९ ॥ वाक्यस्यैते महादोषाः षोडशैव प्रकीर्तिताः ।' वाक्यार्थ दोष ये हैं। १ अपार्थ (पूरे वाक्यका कोई तात्पर्य न निकलना), २ व्यर्थ (जिनका तात्पर्य पूर्व आ गया है), ३ एकार्थ (जो अर्थ पूर्व आ चुका वही फिर आना), ४ ससंशय (संदिग्ध), ५ अपक्रम (क्रमरहित वर्णन), ६ खिन्न (वर्णनीय विषयके यथोचित निर्वाह करनेमें असमर्थ), ७ अतिमात्र (असम्भव बातका कथन), ८ परुष (कठोर), ९ विरस, १० हीनोपम (उपमाकी लघुता), ११ अधिकोपम (बहुत बड़ी उपमा दे देना), १२ असदृशोपम (जिसमें उपमामें सादृश्य नहीं है), १३ अप्रसिद्धोपम, १४ निरलङ्कार, १५ अश्लील और १६ विरुद्ध। यथा—'अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्। खिन्नं चैवातिमात्रं च परुषं विरसं तथा ॥ ४४ ॥ हीनोपमं भवेच्चान्यदधिकोपममेव च। असदृशोपमं चान्यदप्रसिद्धोपमं तथा ॥ ४५ ॥ निरलङ्कारमश्लीलं विरुद्धमिति षोडश। उक्ता वाक्यार्थजा दोषाः …' ॥ ४६ ॥ (परिच्छेद १)

'गुण' इति। उसी ग्रन्थमें कहा है कि अलङ्कारयुक्त काव्य भी यदि गुणरहित हो तो सुनने योग्य नहीं होता। गुण तीन प्रकारके हैं। बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। शब्दगुणको 'बाह्य', अर्थके आश्रित गुणको 'आभ्यन्तर' और दोष होनेपर भी जो कारणवश गुण मान लिये जाते हैं उनको 'वैशेषिक' कहते हैं। शब्दगुण चौबीस हैं। १ श्लेष, २ प्रसाद, ३ समता, ४ माधुर्य, ५ सुकुमारता, ६ अर्थव्यक्ति, ६ कान्ति, ८ उदारत्व, ९ उदात्तता, १० ओज, ११ और्जित्य, १२ प्रेय, १३ सुशब्दता, १४ समाधि, १५ सौक्ष्म्य, १६ गाम्भीर्य, १७ विस्तर, १८ सक्षेप, १९, संमितत्व, २० भाविक, २१ गति, २२ रीति, २३ उक्ति और २४ प्रौढ। ये ही वाक्यके गुण हैं और ये ही वाक्यार्थके भी गुण हैं। परतु वाक्यार्थ-गुणोंकी व्याख्या भिन्न है। यथा, 'श्लेष प्रसाद. समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता ॥६३॥ ओजस्तथान्यदौर्जित्य प्रेयानथ सुशब्दता। तद्वत्समाधि सौक्ष्म्य च गाम्भीर्यमथ विस्तर ॥ ६४ ॥ सक्षेप. संमितत्व च भाविकत्व गतिस्तथा। रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषा लक्ष्यलक्षणे ॥ ६५ ॥

काव्यालङ्कारसूत्रकर्ता श्रीवामनजी दस गुण मानते हैं। यथा—'ओज प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्यो-दारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणा ।' (अधिकरण ३, अ० १, सूत्र ४)। भट्टभामह माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण मानते हैं। उनके पश्चात् मम्मटाचार्यादिने उन्हींका अनुकरण किया है। यथा—'माधुर्योज प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश। ८। ८९।' (काव्यप्रकाश)।

इन सबोंका सग्रह सरस्वतीतीर्थजीने एक श्लोकमें कर दिया है। यथा—'राजा भोजो गुणानाह विंशतिश्चतुरश्चयान्। वामनो दशतान्वाग्मी भट्टस्त्रीनेव भामह' ॥' अर्थात् राजा भोज २४, वामन १० और भामह ३ ही गुण कहते हैं। (प० रूपनारायणजी)।

कबित बिबेक एक नहि मोरें। सत्य कहौं लिखि कागद[1] कोरें ॥ ११ ॥

अर्थ—(इनमेंसे) काव्यसम्बन्धी एक भी ज्ञान मुझे नहीं है (यह) मैं कोरे कागजपर लिखकर सत्य कहता हूँ॥११॥*

नोट—१ (क) यहाँ गोस्वामीजी अपना कार्पण्य (लघुता, दीनता) दर्शित करते हैं। वे सब गुणोंमें पूर्ण होते हुए भी ऐसा कह रहे हैं। विनम्रताकी इससे हद है। यह दीनता कार्पण्यशरणागतिका लक्षण है, जैसे श्रीहनुमान्‌जीने शपथ की थी कि 'तापर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥ ४। ३।' (ख) 'लिखि कागद कोरें' इति। सफेद कागजपर स्याही लगाना यह एक प्रकारकी शपथ है। ऐसा कहकर कहनेवाला अपने हृदयकी निष्कपटता दर्शित करता है (वि० टी०)।

---

१ कागर—१७२१, १७६२, छ०। शम्भुनारायण चौबेजी लिखते है। १७०४ में भी 'कागर' है। (परतु रा० प० में 'कागद' पाठ ही मूलमें है)। कागद—१६६१ में 'कागर' था। 'र' पर हताल देकर हाशियेपर 'द' बनाया है। यह 'द' उतना ही बड़ा और वैसा ही है जैसा 'गादुर' को 'दादुर' बनाते समय बनाया गया है। कोदोरामने भी यही पाठ दिया है। मा० प्र० और ना० प्र० ने 'कागज' पाठ दिया है। 'कागद' शब्दका प्रयोग प्रान्तिक है, कागजके अर्थमें बोला जाता है। 'कागर' गुजरातकी बोली है। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त हुआ है। कागजके अर्थमें सूरदासजीने भी इसका प्रयोग किया है। यथा—'तुम्हरे देश कागर मसि खूटी। भूख प्यास अरु नींद गई सब हरिके बिना बिरह तन टूटी ॥'

* अर्थान्तर—(२) (श्रीरघुनाथजीको छोड़कर) अन्यकी कविताका विवेक मुझे नहीं है। यहाँ एक=अन्य (रा० प्र०)। (३) श्रीरघुनाथचरित बनाने योग्य विवेक एक भी नहीं है। यथा—'कहँ रघुपतिके चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत ससारा' (रा० प्र०)। (४) 'कबित बिबेक एक नहीं है, अनेक है। पर मुझे उनकी वासना नहीं है, केवल रामचरितमें वासना है।' (रा० प्र०)। (५) 'सत्य जो श्रीसीतारामजी उनका यश कोरे कागजपर लिखता हूँ।' (रा० प्र०)। (६) श्रीरामजीके स्वरूपका विवेक मुझे नहीं है। (प०)। (७) 'काव्यके नायक श्रीरामजीके गुणगणोंका पूर्ण ज्ञाता होना' कविताका यह एक विवेक मुझे नहीं है। (८) कविताके अङ्गोंपर मेरी दृष्टि नहीं है। (मा० म०)। (९) एक भी कवित्त-विवेक ऐसा नहीं है जो इसमेंसे मोड़े (फेरे या लौटाये) गये हों अर्थात् सभी इसमें हैं। मोरे=मोड़े गये=विमुख। (किसीने ऐसा अर्थ किया है.)।

२—'कवित विवेक एक नहिं' 'सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे' इति। यहाँ महानुभावोंने यह शङ्का उठाकर कि 'यह काव्य तो सर्वाङ्गपूर्ण है। यह शपथ कैसी?' उसका समाधान अनेक प्रकारसे किया है। (१) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। (तैत्ति० २। ४, ९), 'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥ १। ३४१।' मन-वाणीसे अगोचरके चरित-वर्णनका दुःसाहस करनेवाला सर्वोत्तम बलवान् और कविपूर्ण सत्यतापूर्वक ही यह कहता है कि मुझमें कवित्व वा शब्दचित्र खींचनेका रत्तीभर भी विवेक नहीं है। साधारणतया संसारके लिये तो गोसाईंजी अप्रतिम विद्वान् हैं यह बात बेणीमाधवजी लिखित मूल गुसाईंचरितसे पूर्णतया सिद्ध है। परन्तु 'कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥', 'महिमा तासु कहइ किमि तुलसी।' मति गति बाल बचन की नाईं' मुनि मति तीर ठाढ़ि अबला सी। गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥' इत्यादि जो श्रीभरतजीकी भक्ति और महिमाके सम्बन्धमें सरस्वती एवं वसिष्ठजीकी मतिकी दशा दिखायी गयी है, वही अकथनीय दशा हमारे प्रगाढ विद्वान् महाकविकी श्रीरामचरितकी अगाधतापर दृष्टि जाते ही होने लगी। मनुष्यकी विद्वत्ता भी कोई विद्वत्ता उनके मुकाबले है 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी'। इसीलिये विषय वा वस्तुका जब अपनी वर्णनाशक्तिसे मुकाबला करता है तब कविको लाचार होकर इस सत्यको शपथपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि 'कवित विवेक एक नहिं मोरे।'

(२) इस काव्यके अलौकिक गुणोंको देखकर वस्तुतः यही कहना पड़ता है कि यह अमानुषी कविता है। किसी अदृष्ट शक्तिकी सहायतासे लिखी हुई है। 'केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।' (पा० गी० ५७)। गोस्वामीजीके सम्बन्धमें और उनकी ओरसे पाण्डवगीताका यह वचन अक्षरशः चरितार्थ है। वे कहते हैं कि मैं केवल लिखभर रहा हूँ।

(३) गुणकी कार्पण्यता दिखाकर कविका भाव अपनी नम्रता व्यञ्जित करनेका है। यहाँ प्रसिद्ध काव्य ज्ञानका निषेध करना 'प्रतिषेध अलङ्कार' है। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि यह दीनता है। दीनतामें लघुता भूषण है, दूषण नहीं। पुनः 'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी' इससे कवि हो गये, नहीं तो 'रामचरितमानस कवि तुलसी' न हो सकते थे। उसके योग्य तुलसी न थे। पुनः, कविताका विवेक तीन प्रकारका है। सत्य, शोभा (वा, सादृश्य) और झूठ। सो इनमेंसे दो तो हैं, एक 'झूठ' नहीं है, यह सत्य कहता हूँ।

(४) पंजाबीजी—'आगे मानसरूपकमें तो कहते हैं कि 'धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥' तब यहाँ कैसे कहा कि 'कवित विवेक एक नहिं मोरे'? उत्तर—यथार्थतः तो यह गोस्वामीजीकी अति नम्रता है। फिर भी उनकी प्रशंसाके निमित्त यह अर्थ कर सकते हैं कि 'मेरी केवल कविता ही है, श्रीरामजीके स्वरूपका विवेक मुझे नहीं है।'

(५) बैजनाथजी—गोस्वामीजी कहते हैं कि काव्यके अङ्गोंपर मेरी दृष्टि नहीं है, श्रीरामतत्त्वपर मेरी दृष्टि है। यथा—'एहि महँ रघुपति नाम उदारा'। यह सत्य कहता हूँ। भाव कि रामतत्त्व दिव्य दृष्टिसे देख पड़ता है और काव्याङ्ग प्राकृत दृष्टिकी बात है। इससे स्वाभाविक ही इधर दृष्टि नहीं है।

(६) वे० भू० रा० कु० दास—काव्यसम्बन्धी चार विवेक प्रधान हैं। (क) नायकके विषयमें पूर्ण जानकारी। (ख) नायक धीरोदात्त, सर्वथा निर्दोष तथा सर्वगुणगणविभूषित हो। (ग) कविता काव्यके सर्वगुणों वा लक्षणोंसे पूर्ण हो। (घ) कवि शक्ति एवं उन सब बातोंसे पूर्ण हो जो कविके लिये अपेक्षित हैं। नारदकृत 'संगीत मकरंद' में कविके लिये सत्रह गुण आवश्यक कहे गये हैं। यथा—'शुचिर्दक्ष शान्त सुजनविनत सुन्दरतर कलावेदी विद्वानविमृदुपदः काव्यचतुर। रसज्ञ दैवज्ञः सरसहृदय सत्कुलभव: शुभाकारश्छन्दो गुणगणविवेकी स च कविः॥' यहाँ 'गुणगणविवेकी' से काव्यके गुणोंसे तात्पर्य नहीं है, क्योंकि काव्यचतुर पहले पादमें ही कहा है। प्रत्युत 'काव्यनायकके गुणगणोंका पूर्ण ज्ञाता' होनेसे तात्पर्य है। गोस्वामीजी यहाँ दैन्यता नहीं दिखा रहे हैं बल्कि सच-सच कह रहे हैं कि कविताका यही एक विवेक मेरे नहीं है। अर्थात् मानसकाव्यनायक श्रीरामजीको मैं पूर्णरूपसे नहीं जानता॥ काव्यके अन्य तीन विवेक हैं और 'संगीत-मकरंद' में कथित अन्य सोलह गुण भी हैं।

(७) प० रामकुमारजी—गोस्वामीजी यथार्थ कह रहे हैं। वे सत्य ही नहीं जानते थे। यदि कवित-विवेक होता तो ऐसी कविता न बनती। यह देवप्रसादसे बनी है। प्रमाण यथा—'जदपि कवित रस एकौ नाहीं। रामप्रताप प्रगट एहि माहीं ॥ १ । १० ।' पुन श्रीरामजी और श्रीशिवाशिवका प्रसाद है। जब लिखने बैठे तब सरस्वतीजीका आदिहीमें स्मरण किया। वे आयीं और उनके साथ काव्यके अङ्ग भी आ गये। 'सुमिरत सारद आवत धाई। होहिं कबित मुकुता मनि चारू ॥' रघुनाथजीके प्रसादसे वाणी भूपित हुई। ३६ (१) देखिये।

(८) मा० म०, मा० प्र०—भाव यह है कि मुझे मुख्यतर रामयश कहना है, काव्यका विचार गौण है। जहाँ काव्यके विचारवश यशकथनमें बाधा होगी, वहाँ काव्यका विचार न करूँगा। इस ग्रन्थके लिखनेमें कविताके दोष गुणका कुछ भी विचार मेरे हृदयमें नहीं है, चाहे आवें चाहे न आवें, मेरा काव्य तो रामयशसे ही भूषित होगा। तब काव्यके अङ्ग कैसे आ गये? इस तरह कि सरस्वतीजीके स्वामी श्रीरामजी हैं अत जब श्रीरामयश लिखने बैठे तब सरस्वतीजी आ गयीं और उनके साथ सब अङ्ग भी आ गये। (मा० प्र०)।

(९) बैजनाथजी लिखते हैं कि अपने मुँह अपनी बड़ाई करना दूषण है। अपनी बड़ाई करनेवाला लघुत्वको प्राप्त होता है। अत यहाँ यह चतुरता गोसाईंजीने की कि काव्यके सर्वाङ्ग प्रथम गिना आये, फिर अन्तमें कह दिया कि हममें एक भी काव्यगुण नहीं है। यह वेदप्रामाणिक प्रार्थना है। प्रथम षोडशोपचार पूजन कर अन्तमें अपराधनिवारणार्थ प्रार्थना की जाती है, वैसे ही यहाँ जानिये।

दो०—भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक ॥ ९ ॥

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥ १ ॥
मंगल भवन अमंगलहारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी ॥ २ ॥

अर्थ—मेरी कविता सब गुणोंसे रहित है (पर उसमें) एक गुण है जो जगत्भरमें प्रसिद्ध है। उसे विचारकर सुन्दर बुद्धिवाले, जिनके निर्मल विवेक है, इसे सुनेंगे ॥ ९ ॥ इसमें अत्यन्त पावन, वेदपुराणोंका सार, मङ्गलभवन और अमङ्गलोंका नाश करनेवाला श्रीरघुनाथजीका उदार नाम है जिसे पार्वतीजीसहित श्रीशिवजी जपते हैं ॥ १-२ ॥

नोट—१ (क) '**भनिति मोरि सब गुन रहित**' इति। जिस बातकी शपथ की, उसीको फिर पुष्ट कर रहे हैं कि मेरी कविता समस्त काव्यगुणोंसे रहित है। (मा० प्र०)। (ख) 'गुन एक' इति। एक=एक।=प्रधान, अनुपम, अद्वितीय। 'गुण एक' अर्थात् एक ही गुण है और सब गुणोंसे रहित है। यह गुण अद्वितीय है, अन्य समस्त गुण इसकी समानताको नहीं पहुँच सकते। (प० रा० कु०)। (ग) 'विश्वविदित' इति। देहलीदीपकन्यायसे यह दोनों ओर लगता है। कविता सर्वगुणरहित है, यह सब ससार जानता है और जो एक गुण है वह भी विश्वविदित है। (रा० प्र०)। पुन 'ससार जानता है' कहा क्योंकि जगत्में जीते जी और मरणकालमें भी राम राम कहने-कहलानेकी प्रथा देखी जाती है, काशीमें इसीसे मुक्ति दी जाती है। (रा० प्र०)। पुन, 'विश्वविदित' यथा—'रामनाम भुवि ख्यातम्। रा० पू० ता० १ । ३ ।' अर्थात् श्रीरामनाम पृथ्वीपर विख्यात है। पुन, विश्वविदित इससे भी कि शतकोटिरामायण जब तीनों लोकोंमें बाँटा गया तब श्रीशिवजीने 'राम' इन्हीं दो अक्षरोंको सबका सार समझकर स्वय ले लिया था।

टिप्पणी—१ 'विस्वबिदित ' अर्थात् अद्वितीय है, इसकी समताका कोई नहीं है, इसे सब जानते हैं। श्रीरामनामका प्रताप ऐसा है कि सर्वगुणरहित कविताको सबसे श्रेष्ठ बनाता है, सो रामनाम कवितागुणसे भिन्न है। विश्वविदित है, इसीसे कवितामें भी विश्वविदित गुण आ गया और वह विश्वभरमें विदित हुई।

२ 'सो बिचारि ' इति। भाव यह कि इस गुणके विचारने और कथा सुननेमें बड़ी बुद्धि चाहिये

और यह भी निर्मल विमल विवेक हृदयके नेत्र हैं। यथा—'उघरहि विमल विलोचन ही के'। जिनको इन आँखोंसे देख पड़े और सुन्दर बुद्धिसे समझ पड़े वे सुनेंगे।

'सुमति जिन्हके विमल विवेक' इति। लौकिक गुण समझनेके लिये मति और विवेक आवश्यक हैं और दिव्य गुणोंके समझनेके लिये सुमति और विवेक चाहिये। इसीसे 'सु' और 'विमल' पद दिये।

नोट—२ द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'सुमति' होनेपर भी 'विमल विवेक' न होनेसे पण्डित लोग भी षड्दर्शनके हेर-फेरमें नास्तिक हो जाते हैं, सभी बातोंका खण्डन-मण्डन करते हैं, वितण्डावादहीमें सब आयु समाप्त कर देते हैं। इसलिये 'विमल विवेक' होनेहीसे 'सुमति' को रामचरितमें प्रीति होती है तब उसे सर्वत्र रामरसहीसे आनन्द होता है।

३ 'सुमति' से जनाया कि जो कुमति हैं, दुर्बुद्धि हैं, जिनके हृदयके नेत्र फूटे हैं, अर्थात् जो मोहान्ध हैं, उनको नहीं सूझेगा अत वे न सुनेंगे। (वै०)। पुन भाव कि जिनको विमल विवेक है वे कविताके दोषोंपर दृष्टि न देकर उस एक गुणके कारण इसे गुणयुक्त समझेंगे। (रा० प्र०) यहाँ निषेधाक्षेप अलंकार है।

४ 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा' इति। (क) वह विश्वविदित गुण क्या है, यह इस अर्धालीसे बताया है। इसमें श्रीरामनाम है। मानसमें प्राय सभी चौपाइयाँ 'रकार मकार' से भूषित हैं। (ख) नाम है तो उससे किसीका क्या? उसपर कहते हैं कि वह नाम 'उदार' है। 'उदार' यथा—'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यवचसा हरे.॥' (भगवद्गुणदर्पणे। वै०) अर्थात् पात्र, अपात्र, देश और कालका कुछ भी विचार न करके निःस्वार्थभावसे याचकमात्रको वाञ्छितसे भी अधिक देनेवाला है। महान् दाता। श्रीरामनामकी उदारता ग्रन्थमें ठौर-ठौर और बालकाण्ड दोहा १८ से २७ तक भलीभाँति प्रदर्शित की गयी है। यथा—'राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पापपुंज समुहाहीं॥ उलटा नाम जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना। स्वपच सबर खस जमन जड पॉवर कोल किरात। रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥ नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बडाई॥ २। १९४-१९५।', 'पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना। गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना॥ आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥ ७। १३०।' इत्यादि। पुन, 'रघुपति नाम उदारा' का भाव यह भी है कि श्रीरघुनाथजीके तो अनन्त नाम हैं, परंतु श्रीनारदजीने श्रीरामजीसे यह वर माँग लिया है कि 'राम' नाम सब नामोंसे 'उदार' होवे। यथा—'जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका। (आ० ४२)। वही रामनाम इसमें है। यथा—'रामनाम जस अंकित जानी।' (प० रामकुमार)। और भी भाव ये हैं—'रघुपति नाम' से केवल 'राम' नहीं, वरन् अनेक अभिप्राय सूचित किये हैं। 'रघु' का बड़ा नाम, रघुकुलका बड़ा नाम और रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीका बड़ा नाम, रूप, लीला और धाम इत्यादि इन सबका द्योतक है। यथा—'मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं'। 'आयसु दीन्हि न राम उदारा।' इत्यादि। (वै०) पुन उदार इसमें भी कि जो भक्ति-मुक्ति अनेक जन्मोंके योग, तप, व्रत, दान, ज्ञान आदि समस्त साधनाके करनेपर भी दुर्लभ है वह इस कलिकालमें यह नाम दे देता है। (शीलावृत्त)। पुन. पूर्व म० श्लोक ७ में बताया गया है कि अर्थपञ्चकमें 'उपाय स्वरूप' भी एक अर्थ है। यहाँ 'उदार' कहकर जनाया कि श्रीरामनाम समस्त उपायोंमें सर्वश्रेष्ठ है और यह नाना-पुराणनिगमागम सम्मत है; जैसा आगे कहते हैं। (वे० भू० रा० कु० दा०)। पुन, ब्राह्मणसे चाण्डालतकको समान भावसे पालन करने और मुक्त करनेसे 'उदार' कहा। उदारका यही लक्षण है। यथा—'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।' (सु० द्विवेदी)।

टिप्पणी—८ 'अति पावन' का भाव यह है कि—(क) सब नाम पावन हैं, यह अति पावन है। (ख) पावन करनेवालोंको भी पावन करनेवाला है। यथा—'तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघपूग नसावन॥'

(उ० ९२) । (ग) सब पवित्रोंसे पवित्र है। यथा—'कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानाम्' (श्रीहनुमन्नाटक), 'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्' । (विष्णुस० नाम० १०) ।

नोट—'पुराणश्रुतिसार' कहा, क्योंकि वेदमें सर्वत्र अग्नि, सूर्य और ओषधिनायक चन्द्रहीकी प्राय महिमा वर्णित है। 'राम' अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका बीज है, इसलिये अवश्य वेद-पुराणोंका सार है। यथा—"अपि तु पठितवेदः सर्वशास्त्रकृतो वा विधिनियमयुतो वा स्नातको वाऽऽहिताग्निः । अपि तु सकलतीर्थस्नानको वा परो वा हृदि यदि न हि राम सर्वमेतद् वृथा स्यात् ॥' अर्थात् वेद पढा हो, उनके अनुकूल कर्म करता हो, यदि उसके हृदयमें रामनामका अनुभव न हुआ तो वे सब व्यर्थ है। (सु० द्विवेदीजी)। बाबा हरीदासजी कहते हैं कि 'पुराणश्रुतिसार' का भाव यह है कि जो पुराण और श्रुति रामनामरहित हैं उसको असार जानो। 'सार' का विशेष भाव दोहा १९ (२) 'वेद प्रान सो' मे देखिये।

टिप्पणी—५ 'मंगल भवन अमंगलहारी ·' इति। पूर्वार्द्धमें 'मंगल भवन अमंगलहारी' कहकर उत्तरार्द्धमें उसीका उदाहरण 'उमासहित जेहि जपत पुरारी' देनेका भाव यह है कि शिवजी अमङ्गलवेष धारण किये हुए भी मङ्गलराशि हैं, सो इसी नामके प्रभावसे। यथा—'नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगलरासी ॥ १। २६।' अतएव इन्हींका उदाहरण दिया। [पुन, 'मंगल भवन' कहकर 'अमंगलहारी' कहने का भाव कि [illegible] पावन सब पुण्य क्षीण हो जाते है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति'। यह बात यहाँ नहीं है। श्रीरामनाम उस अमङ्गलको पास भी नहीं आने देते। रामनामका यह प्रभाव जानकर श्रीशिवजी जपते हैं। 'जपत पुरारी' से जनाया कि अमङ्गल त्रिपुरको श्रीरामनाम-जपके बलसे ही नाश किया और लोककल्याणहेतु वे इसे जपते रहते हैं। (बाबा हरीदास) ।

६ 'उमा सहित जेहि जपत पुरारी' इति। रामनामका जप यज्ञ है। यज्ञ सहधर्मिणीसहित किया जाता है। इसलिये आद्याशक्ति सर्वेश्वरी अर्द्धाङ्गिनीसहित जपते हैं। पुन, दोनों मिलकर एक अङ्ग है। यदि केवल शिवजीको लिखते तो आधा शरीर रहता और केवल 'उमा' लिखते तो भी पूर्ण शरीर न होता। 'तनु अरध भवानी' प्रसिद्ध है। अत 'उमा सहित' कहा। (सु० द्विवेदी)। इसमें अर्धनारीश्वररूपसे भी जपना कहा।

नोट—५ इन चौपाइयोंमें श्रीरामनामकी श्रेष्ठता तीन प्रकारसे दिखायी गयी। १ 'अति पावन पुरान श्रुति सारा', २ 'मंगल भवन अमंगलहारी' और ३ 'उमा सहित जेहि जपत पुरारी'। पहले बताया कि यह सहज ही परमपावन है और पावनोंको भी पावन करनेवाला है और इसके प्रभावसे विषयी जीव भी पवित्र हो जाते हैं। दूसरेसे मुमुक्षुको मोक्षकी प्राप्ति इसीसे दिखायी और तीसरेसे बताया कि मुक्त और ईश्वरोंका भी यह सर्वस्व है। ऐसा 'उदार' यह नाम है। पुन, अन्तमें 'उमा सहित जेहि जपत' पद देकर सूचित किया कि पूर्वोक्त सब गुणोंको समझकर श्रीशिवपार्वतीजी जपते हैं।

६ श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, धाम—चारों नित्य सच्चिदानन्दविग्रह हैं। यथा—'रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥' (वसिष्ठसंहिता), इसीसे गोस्वामीजीने चारोंको मङ्गल, पावन और उदार भी कहा है।

चतुष्टय	मंगल	पावन	उदार
नाम	मंगल भवन अमंगलहारी।	अति पावन पुरान श्रुतिसारा।	एहि महँ रघुपति नाम उदारा।
	उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥	सुमिरि पवनसुत पावन नामू।	
रूप	मंगल भवन अमंगलहारी।	परसत पद पावन सोक नसावन	ताहि देहु गति राम उदारा।
	द्रवउ सो दसरथ अजिरबिहारी ॥	मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन।	सुनहु उदार परम रघुनायक।
लीला	मंगलकरनि कलिमलहरनि	जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं।	बालचरित पुनि कहहु उदारा।
	तुलसी कथा रघुनाथ की।	जल पावन रावन नाग महा।	मैं आउब देखन चरित उदार।

धाम	सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी।	पावन पुरी रुचिर यह देसा।	मंदिर मनि समूह जनु तारा।
	मम धामदा पुरी सुखरासी।	बंदौं अवधपुरी अतिपावनि।	नृपगृह कलस सो इन्दु उदारा।

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥ ३॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥ ४॥

शब्दार्थ—बिचित्र=विलक्षण, काव्यके सर्वाङ्गोंसे पूर्ण। कृत=की या बनायी हुई। बिधुबदनी=चन्द्रमुखी, बड़ी सुन्दर। सँवारी=श्रृङ्गार किये हुए, सम्मर्जिता। बसन=वस्त्र, कपड़ा। बर=सुन्दर, श्रेष्ठ।

अर्थ—अनूठी कविता हो और जो अच्छे कविकी (भी) बनायी (क्यों न) हो, वह भी बिना रामनामके नहीं सोहती॥ ३॥ (जैसे) चन्द्रमुखी श्रेष्ठ स्त्री सब प्रकारसे सजी हुई भी बिना वस्त्रके नहीं सोहती॥ ४॥

नोट—१ सुन्दरकाण्ड दोहा २३ में इसके जोड़की चौपाइयाँ हैं। यथा—'राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥ बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥'

टिप्पणी—१ 'बिधु बदनी सब भाँति सँवारी।' इति। 'बिधु बदनी' कहकर 'सुकबिकृत' का अर्थ खोला है। वह स्वरूपसे सुन्दर है, उसपर भी 'सब भाँति सँवारी' और 'सब भूषणोंसे भूषित' है, तो भी बिना वस्त्रके अशोभित है। यथा—'बादि बसन बिनु भूषन भारू।' (२। १७८)।

दोनोंका मिलान

१ बिधुबदनी	१ भनिति
२ सब भाँति सँवारी	२ बिचित्र (=काव्यगुणयुक्त)
३ सोह न बसन बिना बर नारी।	३ रामनाम बिनु सोह न सोऊ।
४ बसन	४ रामनाम
५ नारी बर अर्थात् अच्छे कुलकी	५ कविता, सुकबिकृत .

[*नोट*—'सुकबिकृत' और 'बरनारी' से जनाया कि सुकविकी वाणी सर्व काव्याङ्गोंसे पूर्ण होनेसे अवश्य देखने योग्य होती है, उसी तरह सुन्दर नख-शिखसे बनी ठनी स्त्री देखने योग्य होती है, तथापि यदि वह कविता रामनामहीन हो और यह स्त्री नंगी हो तो दोनों अशोभित हैं और उनका दर्शन पाप है। असज्जन ही उन्हें देखते हैं, सज्जन नहीं।] 'बर' से सुशीला, मधुरवचनी आदि भी जनाये।

२ 'सोह न बसन बिना।' इति। अर्थात् जैसे शास्त्रमें नंगी स्त्रीको देखना वर्जित और पाप कहा गया है। यथा—कूर्मपुराणे, 'न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषो वा कदाचन'। वैसे ही रामनामहीन कविताके देखने-कहने-सुननेसे भी पाप लगता है। [*नोट*—यह लेख शिक्षात्मक भी है। इस विषयमें 'रामचन्द्रिका' में श्रीहनुमान्‌जी और रावणका संवाद पढ़ने योग्य है।

लंकाधिराज रावणके प्रश्न	श्रीहनुमान्‌जीके उत्तर
रे कपि कौन तू?	अक्षको घातक, दूत बली रघुनन्दनजूको
को रघुनन्दन रे?	त्रिशिराखरदूषण दूषण भूषण भूको
सागर कैसे तर्यो?	जस गोपद
काज कहा?	सियचोरहि देखो
कैसे बँधेउ?	जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो]

नोट—२ इन अर्धालियोंसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित। तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्षया। तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि। नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥ भा० १।५।१०-११।'

अर्थात् जिस वाणीमे चाहे वह विचित्र पदविन्यासवाली ही क्यों न हो, जगत्को पवित्र करनेवाला श्रीहरिका यश किसी अशमें भी नहीं गाया जाता, उसे काकतीर्थ ही माना जाता है। उसमें कमनीय धाममे रहनेवाले मनस्वी हंस कभी रमण नहीं करते ॥ १० ॥ इसके विपरीत वह वाक्यविन्यास मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला होता है जिसके कि प्रत्येक श्लोकमे, भले ही उसकी रचना शिथिल भी हो, भगवान् अनन्तके सुयशसूचक नाम रहते हैं, क्योंकि साधु लोग उन्हींका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं ॥ ११ ॥ तथा च, 'न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः ॥ ५० । भा० १२ । १२।' इसका अर्थ वही है जो उपर्युक्त श्लोक १० का है। पुनश्च 'शरच्चन्द्रवक्त्रा लसत्पद्मनेत्रा स्वलंकारयुक्तापि वासो-विमुक्ता। सुरूपापि योषिन्न वै शोभमाना हरेर्नामहीना सुवाणी तथैव। इति सत्सङ्गविलासे।' अर्थात् शरद्चन्द्रवदनी, शरत्-कमल नयनी उत्तम अलंकारोंसे युक्त और रूपसम्पन्न स्त्री जैसे वस्त्रहीन होनेसे नहीं शोभित होती वैसे ही भगवन्नाम-रहित सुन्दर वाणी शोभित नहीं होती।

३ 'सब भाँति सँवारी' अर्थात् वस्त्र छोड़ शेष पंद्रहों शृङ्गार किये हों। इसके संयोगसे 'विचित्र' का अर्थ हुआ 'काव्यके समस्त गुणोंसे अलङ्कृत'। यहाँ 'भनिति बिचित्र रामनाम बिनु सोह न' उपमेय वाक्य है और सब 'भाँति सँवारी बिधु बदनी बर नारी बसन बिना सोह न' उपमान वाक्य है। 'सोह न' दोनोंका धर्म है। यह धर्म पृथक्-पृथक् शब्दों 'भनिति बिनु रामनाम' 'नारी बसन बिना' द्वारा कहा गया। अत यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है।

सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी ॥ ५ ॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही ॥ ६ ॥

अर्थ—सब गुणोंसे रहित और फिर बुरे कविकी बनायी (पर रामनामयशअङ्कित) वाणीको रामनाम और यशकी छाप लगी हुई जानकर ॥ ५ ॥ पण्डित (बुद्धिमान्) लोग उसीको आदरपूर्वक कहते और सुनते हैं। (क्योंकि) सन्त मधुकरके समान गुणहीको ग्रहण करनेवाले हैं ॥ ६ ॥

नोट— १ 'रामनाम जस अङ्कित' का अन्वय दीपदेहरीन्यायसे दोनों ओर लगता है। 'वाणी रामनामयशअङ्कित' है और 'रामनाम यश अङ्कित' जानकर सन्त सुनते हैं। 'अङ्कित' अर्थात् युक्त, भूषित, चिह्नित, मुद्रित, मुहर या छाप पड़ी हुई। यथा—'नामनरेश प्रताप प्रबल जग जुग जुग चलत चामको।' (विनय० ९९)। २ 'गुन' अर्थात् काव्यके समस्त गुण। सू० प्र० मिश्रके मतानुसार यहाँके केवल ओज प्रसाद और माधुर्य गुणोंसे तात्पर्य है। इन गुणोंसे अथवा व्यङ्ग्य, ध्वनि आदिसे रहित कविता।

२ 'रामनाम जस अङ्कित' का भाव यह है कि जैसे राजाका कोई चिह्न या अङ्क (जैसे वर्तमान राजके रुपये, पैसे, मोहर, कागजी रुपये इत्यादिपर राजाका चेहरा होता है।) चाँदी, सोना, कागज, पीतल, ताँबा, गिलट इत्यादिपर होनेसे उसका मान होता है और बिना 'अङ्क' वाला कितना ही अच्छा हो, उसको उस राज्यमें कोई नहीं ग्रहण करता। ठीक वैसे ही 'श्रीरामनामयश' की छाप जिस वाणीपर होती है उसीका सतोंमें आदर होता है। जैसे कागजके नोटका।

टिप्पणी—१ 'सादर कहहिं सुनहिं' इति। संत आदरसे कहते सुनते हैं। आशय यह है कि संत रामनाम-यशरहित कविताका आदर नहीं करते और रामनामयशयुक्त कविताका आदर करते हैं। पुन, यह भी ध्वनि है कि 'बुध' आदर करते हैं, अबुध नहीं (अर्थात् ये निरादर करते हैं)। संतोंको गुणग्राही कहकर असतोंको अवगुणग्राही सूचित किया। पूर्वार्धमें 'बुध' और उत्तरार्धमें 'संत' शब्द देकर दोनोंको पर्याय शब्द सूचित किया। इस तरह 'बुध'=पण्डित, संत, सज्जन। रामनामयशके प्रभावसे कुकविकी वाणीका आदरणीय होना 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है।

२ 'मधुकर सरिस संत गुनग्राही' इति। 'रामनामयशयुक्त कविताको पुष्पसम कहा। जैसे फूल देखने और ग्रहण करनेके योग्य है, वैसे ही रामनामयशयुक्त कविता देखने योग्य है।' भौंरा सुगन्धित फूलोंका रस लेता है, चाहे वे फूल तालाब, नदी, वन, वाटिका और बागमें हों चाहे मैली जगह हों, चाहे साफ-सुथरी जगहपर। उसको फूलोंके रंग, रूप या जातिका विचार नहीं। उसे तो गन्ध और रससे ही काम है। वैसे ही सज्जनोंको श्रीरामनाम-यशसे काम है जहाँ भी मिले, चाहे वरी कवितामें हो, चाहे भलीमें, चाहे कुकविकृत कवितामें हो, चाहे सुकविकृतमें, चाहे ब्राह्मण कविकी, चाहे ग्वाल, जुलाहे, चाण्डाल आदिकी हो। काव्यकी विचित्रतापर उनका ध्यान कदापि नहीं रहता। जैसे भौंरा काँटा, पत्ती आदिको छोड़ केवल पुष्परसको ग्रहण करता है वैसे ही सज्जन यतिभंग और पुनरुक्ति तथा ग्रामीण भाषापर दृष्टि नहीं डालकर केवल श्रीरामयशरूप रस ग्रहण करते हैं। वृद्ध चाणक्यमें भी ऐसा ही कहा है। यथा—'षट्पद पुष्पमध्यस्थं यथासारं समुद्धरेत्। तथा हि सर्वशास्त्रेभ्य सारं गृह्णाति बुद्धिमान्॥' अर्थात् जैसे भौंरा पुष्पके मध्यसे सार ले लेता है वैसे ही बुद्धिमान् सर्वशास्त्रोंमेंसे सार ले लेते हैं। यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

नोट—३ मानस-पत्रिकामें 'मधुकर' का एक अर्थ 'मधुमक्खी' भी किया है। मधुमक्खी मलमेंसे भी शहद ही निकाल लेती है। वैसे ही सन्त बुरे पदार्थोंमें भी मधुसदृश श्रीरामयशको ही ढूँढकर लेते हैं। (४) यहाँतक 'गुन एक' अर्थात् श्रीरामनामका महत्त्व कहा। 'सब गुन रहित', 'गुन एक', 'सो बिचारि सुनिहहिं सुजन' उपक्रम है और 'सब गुन रहित' 'संत गुनग्राही' उपसंहार है। श्री 'राम' नाम षट्कुलसम्पन्न है। दोहा १९ (२) देखिये। अब छः अर्धालियोंमें महत्त्व कहा गया।

४ पूर्व कविताको 'विचित्र' और काव्य करनेवालेको 'सुकवि' कहा था। अर्थात् कार्य और कारण दोनोंको सुन्दर कहा। और यहाँ कविताको 'गुणरहित' और उसके कर्ताको 'कुकवि' कहते हैं। अर्थात् कार्य और कारण दोनोंको बुरा कहा। पहलेमें कार्य-कारणके सुन्दर होते हुए भी कविताको अशोभित बताया। यथा—'रामनाम हीन तुलसी न काहू कामको'। और दूसरीको कार्यकारण बुरे होनेपर भी सुशोभित दिखाया। इसकी शोभा रामनाम-यशसे हुई।

> जदपि कबित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं॥ ७॥
> सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा॥ ८॥
> धूमौ तजै सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगंध बसाई॥ ९॥
> भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी॥ १०॥

शब्दार्थ—जदपि=यद्यपि। बड़प्पन=बड़ाई, गौरव। करुआई=कड़वापन। अगर=एक सुगन्धित लकड़ीका नाम है। प्रसंग=साथ। बसाई=बसाकर, बास देता है। भदेस=ग्राम्य, गँवारी, भद्दी।

अर्थ—यद्यपि इस (मेरी कविता) में काव्यरस एक भी नहीं है, तथापि इसमें श्रीरामजीका प्रताप प्रत्यक्ष है॥ ७॥ यही भरोसा मेरे मनमें आया है कि भलेके संगसे किसने बड़ाई नहीं पायी? अर्थात् सभीने पायी है॥ ८॥ धुआँ भी अगरके संगसे सुगन्धसे सुवासित होकर अपना स्वाभाविक कड़वापन छोड़ देता है॥ ९॥* वाणी तो भद्देसी है, पर इसमें जगत्का कल्याण करनेवाली रामकथा अच्छी वस्तु वर्णन की गयी है॥ १०॥

नोट—१ 'जदपि कबित रस एकौ ' इति। (क) साहित्यदर्पणमें काव्यपुरुषके अङ्ग इस प्रकार बताये गये हैं। 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्च आत्मा, गुणा शौर्यादिवत्। दोषा काणत्वादिवत्। रीतयोऽवयवसंस्थान-विशेषवत्। अलंकारा कटककुण्डलादिवत्। इति।' (सा० द० परिच्छेद १) अर्थात् काव्यके शब्द स्थूल शरीर,

---

* वा यों अर्थ करें कि धूआँ अगरके संगसे अपना स्वाभाविक कड़वापन छोड़ देता है और सुगन्धसे वासित हो जाता है।

अर्थ सूक्ष्मशरीर, रसादि आत्मा, गुण शौर्य आदिवत्, दोष काना, लूला, लँगड़ा, अङ्गहीनवत्, रीति सुडौल अङ्गवत् और अलङ्कार भूषण है। रसात्मक वाक्यको ही काव्य कहते हैं। 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' 'दोषा तस्यापकर्षका उत्कर्षहेतव. प्रोक्ता गुणालकाररीतय ।' (साहित्यदर्पण १ । ३) दोष उसकी हानि करनेवाले है और गुण अलकार ही उसका गुण करनेवाले है। उपर्युक्त उद्धरणोंमे सिद्ध हुआ कि काव्यका आत्मा 'रस' है। यदि 'रस' न रहे तो गुण अलकार आदि व्यर्थ हैं। इसी विचारसे गोस्वामीजीने यहाँ आत्मा (रस) का ही ग्रहण किया है अर्थात् यह कहा है कि इसमें 'रस' नहीं, इसलिये शब्दादि सब मृतक-सरीखे है। (प० रूपनारायणजी)।

(ख) वैजनाथजीका मत है कि 'माधुर्यादि गुण, उपनागरिका आदि वृत्ति, लाटा, यमक आदि शब्द, लक्ष्यादि अर्थ, शृङ्गारादि नवो रस, उपमादि अलङ्कार इत्यादि कवितके 'रस' हैं। यथा—'उपमा कालिदासस्य' '। (वै०)।

(ग) यहाँतक श्रीरामनाम (तथा श्रीरामनामद्वारा कविता) की शोभा कही, अब श्रीराम-प्रताप (तथा उसके द्वारा कविता) की शोभा कहते हैं। 'राम प्रताप प्रगट एहि माहीं' अर्थात् इसमे प्रताप प्रकट है और अन्य कविताओंमे प्रकट नहीं है, किंतु गुप्त है। इसमें श्रीरामप्रतापका वर्णन है, अत श्रीरामप्रतापसे कविताने भी बड़ाई पायी। (प० रामकुमारजी)।

(घ) बाबा हरिहरप्रसादजी और सू० मिश्रजी लिखते हैं कि रामप्रतापका अर्थ 'दुष्टनिग्रह' और 'अनुग्रह' दोनों हैं। दुष्टनिग्रह ऐसे है कि इसके पढनेसे दुष्ट लोग दुष्टता छोड़ देंगे। अनुग्रह इस तौरपर है कि कविने रामनामका माहात्म्य दुष्टोंको भी सरल करके दिखलाया, क्योंकि दुष्ट तो उसके अधिकारी नहीं होते। पलाशका पत्ता भी पानके साथ राजाके हाथमें जाता है।

(ङ) 'प्रताप' का अर्थ वैजनाथजी यह लिखते हैं—'कीर्ति स्तुति दान ते भुजबल ते यश थाप। कीरति यश सुनि सब डरैं कहिये ताहि प्रताप ॥'

(च) 'रामप्रताप प्रगट एहि माहीं' इति। यथा—'जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥ १ । २९२ ।', 'खैंचि धनुष सायक संधाना' से 'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई' तक (आ० १-२), 'बान प्रताप जान मारीचा' (६ । ३५ से ३७ तक), 'श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान' (लं० ३), 'समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा ॥' (लं० ३३) से 'तासु दूत पन कहु किमि टरई' (लं० ३४) तक, 'जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥' (उ० ३० से ३१) इत्यादि। यह तो हुआ 'एहि माहीं' अर्थात् ग्रन्थमें रामप्रतापका प्रकट कथन। उसके सगसे ग्रन्थमें भी सर्वफलप्रदत्व प्रताप आ गया। यह भी इसी ग्रन्थमे प्रकट किया गया है। यथा—'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहि सुनिहहिं समुझि सचेता ॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमगल भागी ॥ १ । १५ ।', 'मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा ॥ ७ । १२९ ।' 'रघुबस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ॥ ७ । १३० ।' इत्यादि। श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम सभीका प्रताप इसमें वर्णित है, जिससे 'लोक लाहु परलोक निबाहू' होगा।

टिप्पणी—१ 'सोइ भरोस मोरे मन आवा।' इति। 'सोइ' अर्थात् उसी श्रीरामप्रतापका। इस चौपाईमें धूम और अगरका उदाहरण दिया है। अगर रामयश है, धुआँ कविता है। धुएँमें कोई गुण नहीं है। परतु अगरके प्रसगसे वह देवताओंके ग्रहण करने योग्य हो जाता है। यह भलाई धुएँको मिली। इसी प्रकार कविता गुणरहित है पर श्रीरघुनाथजीके प्रतापसे यह कविता निकली है और श्रीरामप्रताप ही इसमें वर्णित है जैसे अगरसे धुआँ निकला और अगर धुएँमे है। इसलिये यह कविता भी सन्तोंके ग्रहण करने योग्य है। रामप्रतापसे इसे यह बड़ाई मिली। यहाँ 'तद्गुण अलङ्कार' है। 'केहि न सुसंग ' से सम्बन्ध लेनेसे 'विकस्वर अलकार' भी यहाँ है।

नोट—२ 'अगरु प्रसंग' तक प्रतापका वर्णन किया गया, 'भनिति भदेस' से 'जो सरित पावन पाथ की' तक कथाके गुण और तत्पश्चात् रामयशके गुण 'प्रभु सुजस संगति' से 'गिरा ग्राम्य सियराम जस' तक कहे गये हैं।

छं०—मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की॥ १० (क)॥

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीकी कथा मङ्गल करनेवाली और कलिके दोषोंको हरनेवाली है। (मेरी) कविता (रूपिणी) नदीकी चाल टेढ़ी है जैसी पवित्र जलवाली नदीकी होती है॥ १० (क)॥

नोट—१ यहाँ प्रथम 'सरित' शब्द कविताके साथ संयुक्त कविताका रूपक है, अतः वह स्वतन्त्र और वास्तविक 'सरित' पद नहीं रहा। दूसरा स्वतन्त्र है।

२ 'सरित पावन पाथ की' इति। पाथ=जल। सरित=नदी। पवित्र जलकी नदी। यहाँ नदीका नाम न लेकर 'सरित पावन पाथ की' पद देकर सरयू, गङ्गा, मन्दाकिनी, यमुना, नर्मदा आदि सभी पवित्र नदियोंको सूचित किया है। रामकथा पवित्र नदियोंके तुल्य है। ☞ पूज्य कवि प्रायः पुण्यकथा या कविताकी उपमा पावन नदियोंसे देते हैं। यथा—'चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥ सरजू नाम सुमंगल मूला' (३९), 'पावन गंगतरंग माल से' (३२), 'पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा'॥ (११२), 'रामकथा मंदाकिनी' (१।३१), 'जमगन मुँह मसि जग जमुना सी' (१।३१), 'मित्र प्रिय मेकलसैल सुता सी' (१।३१)। वाणीका स्थूल द्रवरूप माना गया है। प्रसिद्ध सरस्वती नदी इसका उदाहरण है। तीव्र प्रवचनकी उपमा धाराप्रवाहसे देते ही हैं। अतः आवश्यकतानुसार जहाँ-तहाँ पुण्यतोया नदियोंकी उपमा देना सार्थक है।

'सरित पावन पाथ की' और 'कविता सरित' का मिलान।

नदी प्रवाहरूपा	१ कथा प्रवाहरूपा, अतः इसे सरयू-गङ्गादि कहा।
पवित्र जलकी नदी टेढ़ी।	२ कविताकी गति कूर (भदेस) है।
इसमें पावन जल वस्तु है।	३ इसमें अति पावन रामकथा वस्तु है।
पावन जलके सम्बन्धसे नदी पापोंका नाश करके मोक्ष देती है।	४ कथाके सम्बन्धसे कविता कलिमलहारिणी और मङ्गलकारिणी होगी।
जलके आगे नदीका टेढ़ापन कोई नहीं देखता।	५ रामकथाके आगे कविताके भद्देपनपर कोई दृष्टि न डालेगा।

☞ मिलान कीजिये, 'वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि। वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा॥' (भा० १०।१।१६)। अर्थात् जैसे भगवान्का चरणोदक (गङ्गा) सबको पवित्र करता है वैसे ही भगवान्की कथाका प्रश्न भी तीनों प्रकारके स्त्री-पुरुषोंको पवित्र करता है। अर्थात् वक्ता, श्रोता और प्रश्नकर्ताको पावन करता है।

३ (क) मु० रोशनलाल—कविता नदीकी गति टेढ़ी है जैसे पावन जलवाली गङ्गाकी गति है। क्योंकि यह कथा अयोध्यासे प्रारम्भ होकर मिथिला गयी, फिर अयोध्या आयी, वहाँसे फिर चित्रकूट, फिर केकय देश, फिर अयोध्या, फिर चित्रकूट इत्यादिसे लङ्का और वहाँसे पुनः अयोध्या लौटी। इतनी टेढ़ायी गङ्गाजीमें भी नहीं है।

(ख) सू० मिश्र—कूरका अर्थ कुटिल है। कुटिल कहनेका भाव यह है कि नदियाँ सदा टेढ़ी ही चलती हैं 'नद्यः कुटिलगामिन्यः'। अतः कविता भी टेढ़ी होनी चाहिये। कविता-पक्षमें टेढ़ेका अर्थ गम्भीराशय है, बिना इसके कविताकी शोभा नहीं। जैसे नदी पथिकके स्नान करने, जल पीने और उसके संयोगकी वायुके स्पर्शसे श्रम,

पाप आदि हरती है उसी तरह मेरी कविता भी पथिक भक्तको पढने सुननेमे पवित्र करेगी। पजाबीजी और रा० प्र० का मत है कि कविता-पक्षमे 'दूषण' ही क्रूरता है। (प०, रा० प्र०)।

(ग) द्विवेदीजी—रामका माहात्म्य होनेमे यह कथा मङ्गल करनेवाली और कलिमल हरनेवाली है, यह पिछली चौपाईकी व्याख्यासे स्पष्ट है। ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि यद्यपि मेरी कविताकी गति टेढ़ी है तथापि यह बड़े उच्चस्थान कैलाससे महादेवके अनुग्रहसे निकली है जैसे कि गङ्गा आदि नदियाँ जिनमे ब्रह्मद्रवरूप पवित्र जल भरा है, उसी प्रकार इसमें भी साक्षात् ब्रह्मरूप रघुनाथकथामृत भरा है।

४ इस छन्दका नाम 'हरिगीतिका' है। इसके प्रत्येक चरणमे १६, १२ के विरामसे २८ मात्राएँ होती है, अन्तमें लघु गुरु होता है। यदि पाँचवीं, बारहवीं और उन्नीसवीं मात्राएँ लघु हो तो धाराप्रवाह सुन्दर रहता है।

५ श्रीजानकीदासजी लिखते है कि यदि कोई कहे कि श्रीरघुनाथजीकी कथा मङ्गलकारी तो है परन्तु जब सुन्दर काव्यमें हो, न कि कुकाव्यमे। इसके उत्तरमे चार दृष्टान्त देते है। पहले दृष्टान्तसे यह पुष्ट किया कि पावनके सगसे टेढ़ा भी पावन हो जाता है। अत कुकाव्य रामयशके सगसे सत्काव्य हो जायगा। यहाँ दृष्टान्तमे एक देश टेढे-सीधेका मिला। दूसरे दृष्टान्त 'भव अग भूति मसान की' मे सुहावन, असुहावन, पावन, अपावन ये दो देश मिले, तीसरेमें उत्तम-मध्यमका देश मिला और चौथेमे गुणद-अगुणदका देश मिलनेपर पात्र अङ्ग जो चाहते थे पूर्ण हो गये। (मा० प्र०)।

छं०—प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥ १० (ख)॥

अर्थ—श्रीरामजीके सुन्दर यशके सङ्गसे मेरी कविता भली हो जायगी और सज्जनोंके मनको भावेगी। जैसे भव (=शिवजी) के अङ्गमें श्मशानकी (अपवित्र) विभूति भी (लगनेसे) स्मरण करने ही सुहावनी और पवित्र करनेवाली होती है॥ १० (ख)॥*

नोट—भाव यह है कि मेरी कविता मसानकी राखकी तरह अपवित्र है, श्रीरामयशरूपी शिव-अङ्गका सङ्ग पाकर भली जान पड़ेगी और सबके मनको भावेगी।

'सुमिरत' पद देकर सूचित किया कि इसका पाठ, इसकी चौपाइयोंका स्मरण सिद्धिका दाता है।

टिप्पणी—१ यहाँ सुयशको भव-अङ्गकी और भणितिको श्मशानके भस्मकी उपमा दी। 'सुजन मन भावनी' और 'भलि होइहि' दो बाते कहीं, उसीकी जोड़मे 'सुहावनी' और 'पावनी' दो बातें कहीं। 'सुमिरत' के जोड़का पद 'कहत सुनत' लुप्त है, उसे ऊपरसे लगा लेना चाहिये।

२ परमेश्वरके एक गुणसे युक्त हो तो भी कविता शोभित होती है, और मेरी कविता तो अनेक गुणोंसे युक्त है। (१) रामभक्तिसे भूषित है। यथा—'रामभगति भूषित जिय जानी,' (२) रामनाममे युक्त है। यथा—'एहि महँ रघुपति नाम उदारा', (३) रामप्रतापसे युक्त है। यथा—'राम प्रताप प्रगट एहि माहीं।', (४) रामकथासे युक्त है। यथा—'भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मगल करनी॥' (५) रामयशसे युक्त है। यथा—'प्रभु सुजस सगति भनिति भलि'।

३ कविता देखने लायक नहीं है, इससे कविताका कहना-सुनना नहीं लिखा।

४ 'भलि होइहि' अर्थात् अच्छी होगी और 'सुजन मन भावनी' अर्थात् दूसरेको भी अच्छी लगेगी। इन्हीं दोनो बातोंको उपमामें कहते हैं। 'पावनी' आप होती है और 'सुहावनी' दूसरोंको होती है।

* मानस-पत्रिकामे इसका अर्थ यह दिया है—"(क्योंकि महादेवके देहकी श्मशानकी भी राखको लोग स्मरण करते हैं और वह शोभायमान और पवित्र कही जाती है।"

५ 'प्रभु सुजस ···' उपमेय वाक्य है। 'भव अंग ···' उपमान वाक्य है। वाचक पदके बिना बिम्बप्रतिबिम्बका भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है।

६ [मिलानका श्लोक, यथा—'तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्। तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥ (भा० १२। १२। ४९)]

दो०—प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ बंदिअ मलय प्रसंग ॥ १० (क) ॥

शब्दार्थ—दारु=काष्ठ, लकड़ी। विचार=ध्यान, ख्याल।

अर्थ—श्रीरामयशके संगसे मेरी कविता सभीको अत्यन्त प्रिय लगेगी, जैसे मलयागिरिके प्रसंगसे सभी काष्ठ वन्दनीय हो जाते हैं, फिर क्या कोई लकड़ीका विचार करता है? ॥ १० (क) ॥

नोट—१ मलयागिरिपर नीम, बबूल इत्यादि भी जो वृक्ष हैं उनमें भी मलयागिरिके असली चन्दनके वृक्षकी सुगन्ध वायुद्वारा लगनेसे ही चन्दनकी-सी सुगन्ध आ जाती है। उन वृक्षोंका आकार भी ज्यों-का-त्यों बना रहता है और वे चन्दन-के शुभ गुणसे विभूषित भी हो जाते हैं। लोग इन वृक्षोंकी लकड़ीको चन्दन मानकर माथेपर लगाते हैं, और देवपूजनके काममें लाते हैं। कोई सुगन्धके सामने फिर यह नहीं सोचता कि यह तो नीम या कङ्कोल आदिकी लकड़ी है। भर्तृहरि नीतिशतक श्लोक ८० में जैसा कहा है कि 'किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव। मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥' गोस्वामीजी कहते हैं कि इसी तरह मेरी कविताकी भाषा नीम, बबूल आदिके समान है। रामयश मलयगिरि है, उसका संग पाकर मेरी कविताका भी चन्दनके सदृश आदर होगा। 'चन्दनं वन्द्यते नित्यम्।'

दो०—स्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य[1] सियरामजस गावहिं सुनहिं सुजान ॥ १० (ख) ॥

अर्थ—काली गऊका दूध बहुत उज्ज्वल और गुणकारी है (इसलिये) सब पीते हैं। इसी तरह गँवारू भाषामें श्रीसीतारामजीका (सुन्दर) यश होनेपर भी सुजान लोग उसे गाते और सुनते हैं तथा गावें और सुनेंगे ॥ १० (ख) ॥

नोट—१ '······सियरामजस' इति। यशका रंग श्वेत है। उसमें भी श्रीसीतारामजीका यश परमोज्ज्वल और अतिशय विशद है। अतः उसके लिये विश्व कविने चारों दृष्टान्त उज्ज्वल स्वच्छ वस्तुओंके ही दिये। यथा—गङ्गाजल, शिवजीका शरीर, मलयाचल और दूध।

टिप्पणी—१ (क) सज्जनके ग्रहण करनेमें **'रामनाम-अंकित'** कहा। (ख) बड़ाई पानेमें रामप्रताप कहा। (ग) दूसरेके मङ्गल करनेमें और कलिमल हरनेमें सरयूगङ्गादिके समान कहा। (घ) अपना स्वरूप अच्छा होनेमें और पवित्र होनेमें 'भव अंग' पर लगी हुई मसानकी विभूति-सम कहा। (ङ) सबको प्रिय लगनेमें मलयदारुसम कहा। (च) ग्राम्यभाषाका सबके ग्रहण करनेमें श्याम गऊके दूधका दृष्टान्त दिया।

२ दूधकी उपमा रामयशकी है। रामयश 'अति विशद' है, इसलिये दूधको 'अति विशद' कहा। सब गायोंके दूधसे काली गऊका दूध अधिक उज्ज्वल और गुणद होता है। बलको बढ़ाता है, वातका नाशक है। 'गवां गोषु कृष्णा गौर्बहुक्षीरा', 'कृष्णाया गोर्भवं दुग्धं वातहारि गुणाधिकम्' इति वैद्यकरहस्ये। [सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि कपिलाका दुग्ध कफ, पित्त और वातवर्धक होता है, इसीलिये इसके रखनेका ब्राह्मण छोड़ और किसीको अधिकार नहीं

---

१ ग्राम्य—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, १६६१ (ग्राम्यके 'य' पर हरताल लगाया गया है)। पाठान्तर-ग्राम।

है। 'त्रीन् हन्ति कपिलापयः'। मिलान कीजिये—'वेदाक्षरविचारेण ब्राह्मणीगमनेन च। कपिलाक्षीरपानेन शूद्रो याति विनाशताम् ॥' 'श्याम' से यह भी सूचित किया कि कपिला गऊके दूध और सेवनका अधिकार सबको नहीं है, दूध सभीका उज्ज्वल है। (रा० प०) | इसी तरह सब भाषाओंमें अर्थ एक ही होता है, परंतु देशी भाषामें अधिक गुण यह है कि थोड़े ही परिश्रमसे यह भाषा पढने, लिखने, समझनेमें आ जाती है और सबको इसके पाठका अधिकार है। एवं इस मेरी गँवारी भाषासे उत्पन्न अत्यन्त अमृतरूप उज्ज्वल दुग्ध-सदृश रामकथाको सब कोई पान कर सकता है; पर कपिला-सदृश संस्कृत भाषा केवल ब्राह्मणोंहीके यहाँ रहती है, उससे उत्पन्न रामकथामृत और लोगोंको दुर्लभ है।]

नोट—२ चार दृष्टान्त देनेका भाव—(क) गोस्वामीजी जो रूपक 'राम सुजस सगति' का बाँधना चाहते थे उसके सम्पूर्ण अंग किसी एक वस्तुमें न मिले तब एक-एक करके दृष्टान्त देते गये। चौथे दृष्टान्तपर रूपक पूरा हुआ, तब समाप्ति की। (ख) श्रीरामयशके संगसे मेरी कविता मङ्गलकारिणी, कलिमलहारिणी, भली और सुजन मनोहारिणी, सुन्दर और पवित्र, आदरणीय और अत्यन्त विशद हो जायेगी। (ग) बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि प्रथम पावनी नदियोंकी उपमा देकर दिखाया कि नदीकी टेढ़ी चाल होनेपर भी जल पावन ही बना रहता है और अपना गुण नहीं छोड़ता, इसी तरह मेरी कविता भद्दी है पर उसमें रामकथा है वह मंगल करेगी ही और पाप हरेगी ही। दूसरे दृष्टान्तसे अपावन वस्तुका शिवअङ्गसङ्गसे पावन और सुहावन होना मिला। तीसरेमें मलयगिरिके सम्बन्धसे नीमादिकका भी चन्दन-सम वन्दनीय होना अङ्ग मिला। चौथेसे यह अङ्ग मिला कि काली है पर दूध इसका विशेष उज्ज्वल और गुणद है, इससे सब पान करते हैं (मा० प्र०)।

३ गऊके दृष्टान्तपर रूपक समाप्त करनेका भाव यह है कि गऊ देश-देश विचरती है और कामधेनु चारों फलकी देनेवाली है। उसका दूध, दही, घृत, मूत्र और गोबरका रस पञ्चगव्यमें पड़ता है जो कल्याणकारी है। वैसे ही यह कविता देश-देशान्तरमें प्रसिद्ध होगी, पूजनीया होगी और चारों फलोंकी देनेवाली होगी। यथा—'रामकथा कलि कामद गाई', 'रामचरन रति जो चहइ अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान', 'रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ॥ उ० १३०।

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥ १ ॥

शब्दार्थ—मणि=बहुमूल्य रत्न जैसे हीरा, पन्ना आदि। माणिक्य=लाल। माणिक्यके तीन भेद हैं। पद्मराग, कुरुविन्दु और सौगन्धिक। कमलके रंगका पद्मराग, टेसूके रंगका लाल कुरुविन्द और गाढ़ रक्तवर्ण सा सौगन्धिक। हीरेको छोड़ यह और सबसे कड़ा होता है। मुकुता (मुक्ता)=मोती। मोतीकी उत्पत्तिके स्थान गज, घन, वराह, शंख, मत्स्य, सीप, सर्प, बाँस और शेष हैं, पर यह विशेषतः सीपमें होती हैं औरोंमें कहीं-कहीं। यथा—'करीन्द्रजीमूतवराहशंखमत्स्या हि शुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि ॥" (मल्लिनाथ सूरि।)

अर्थ—मणि, माणिक्य और मुक्ताकी छबि जैसी है, वैसी सर्प, पर्वत और हाथीके मस्तकमें शोभित नहीं होती। (अर्थात् उनसे पृथक् ही होनेपर इनका वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है और ये सुशोभित होते हैं।)।

टिप्पणी—१ (क) ऊपर दसवें दोहेतक अपनी कवितामें गुण-दोष दिखाये कि ये गुण समझकर सज्जन ग्रहण करेंगे। जो कहो कि 'कोई न ग्रहण करे तो क्या हानि है, तुम तो गाते ही हो" उसपर यह चौपाई कही। (ख) मणि, माणिक्य, मुक्ता क्रमसे उत्तम, मध्यम, निकृष्ट हैं, इसी तरह कविता भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकारकी है। अर्थात् ध्वनि, व्यंग और जो इन दोनोंमें न आवे। (ग) यथासंख्य अलङ्कारसे मणि सर्पमें, माणिक्य गिरिमें और मुक्ता गजके मस्तकपर होना सूचित किया।'

नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥ २ ॥

अर्थ—(ये ही) सब राजाके मुकुट (वा, राजा, राजाका मुकुट) और नवयौवना स्त्रीके शरीरको पाकर ही (सम्बन्धसे) अधिक शोभाको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

नोट—१ कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि 'कविने मणि, माणिक्य और मुक्ता ये तीन रत्न कहे और उनके तीन उत्पत्तिस्थान बताये। इसी तरह उनके सुशोभित होनेके तीन स्थलोंका भी वर्णन करना चाहिये था। गोस्वामीजीने 'नृपकिरीट' और 'तरुणीतन' ये दो ही क्यों कहे?' परंतु यह व्यर्थकी शङ्का है। उन तीन रत्नोंके वर्णन करनेसे यह जरूरी नहीं है कि उनकी शोभाके तीन ही ठौर भी बताये जायँ। भूषणों और अङ्गोंमें उनकी शोभा होती है सो कहा। दोनों दो बातें हैं। फिर भी इस शङ्काके समाधानके लिये 'नृप किरीट' का अर्थ राजा और राजाका मुकुट कर सकते हैं। मणिकी शोभा राजाके गलेमें, माणिक्यकी किरीटमें (नग जड़नेपर) और गजमुक्ताकी स्त्रीके गलेमें। इस प्रकार शोभाके तीन स्थान हुए।

२—(क) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि नृप (=नरोंका पालनकर्ता) को प्रजापालनमें मणि काम देती है। 'हरइ गरल दुख दारिद दहई'। पातालमें सूर्यका काम मणिसे लेते हैं। (ख) नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि यहाँ शब्दकी समता मणि, माणिक्य, मुक्तासे दी है। सो यहाँ कवितामें जो भक्तिका वर्णन है वही मणि है। यथा—'रामभगति मनि उर बस जाके। ७। १२०।' ज्ञानका वर्णन हीरा है और कर्मप्रसङ्गका वर्णन मुक्ता है। अतः भक्ति, ज्ञान और कर्मसंयुक्त काव्य ही सन्तसमाजमें अधिक शोभा पाता है। क्योंकि इन्हीं तीनोंका निरूपण सन्तसमाजमें हुआ करता है। यथा—'ब्रह्मनिरूपन धर्मबिधि बरनहिं तत्त्वबिभाग। कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ग्यान बिराग ॥ १। ४४।' (ग) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'भक्ति हरिसे, ज्ञान हरसे और कर्म ब्रह्मासे प्रकट हुए, परंतु इनकी शोभा इन तीनोंके पास नहीं होती। भक्ति-मणि सुमति स्त्रीको पाकर, ज्ञानरूपी माणिक्य ज्ञानी और कर्मरूपी मुक्ता कर्मकाण्डीका विचाररूपी राजाका मुकुटमणि पाकर शोभते हैं।" (घ) पं० रामकुमारजीके पुराने खर्रेमें यह भाव लिखा है कि 'ज्ञानी नृप है, उनका ज्ञान किरीट है और उनकी भक्ति तरुणी है।' पर साफ खर्रेमें यह भाव नहीं रक्खा गया।

३—पं० रामकुमारजी 'नृप किरीट' और 'तरुनी तन' का यह भाव कहते हैं कि 'गजमुक्तासम सुकविकी वाणी है जो 'नृप किरीट' और 'तरुणी तन' पाकर शोभा पाती है। अभिप्राय यह है कि कैसा भी सुन्दर कवि हो यदि वह रामचरित न कहे और राजाओंके चरित्र नायिका-भेद आदि अनेक बातें कहे, तो उस काव्यको नृप अर्थात् रजोगुणी और तरुणी अर्थात् तमोगुणी ग्रहण करते हैं, सतोगुणी नहीं ग्रहण करते और ऐसे काव्यको सुनकर सरस्वती सिर पीटती हैं। यथा—'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई ॥ रामचरितसर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये ॥ कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ॥ १। ११ ॥ (नोट—१ परंतु अगली चौपाईसे स्पष्ट है कि काव्यकी एक देशमें उत्पत्ति और दूसरे देशमें शोभा पाना ही केवल यहाँ दिखा रहे हैं। २ 'अधिकाई' से जनाया कि शोभा तो वहाँ भी थी पर यहाँ अधिक हो जाती है)।

अलंकार—एक वस्तुका क्रमशः बहुत स्थानोंमें आश्रय लेना वर्णन किया गया है। अतएव यहाँ 'प्रथम पर्याय' है। प्रथम स्थान 'अहि गिरि गज' कहकर फिर नृपकिरीट और तरुणीतन दूसरा स्थान कहा गया। इस अर्धालीमें 'कहहिं सकल सोभा अधिकाई' पदसे 'अनुगुन अलंकार' हुआ। यथा—'पहिलेको गुण आपनो बढ़े आन के संग। ताको अनुगुन कहत जे जानत कविता अंग ॥

तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं ॥ ३ ॥

अर्थ—१ सज्जन कहते हैं कि उसी तरह सुकविकी कविता और जगह रची जाती है और दूसरी जगह शोभाको प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

अर्थ—२ उसी तरह सुन्दर कवियोंकी कविताको बुधजन कहते हैं अर्थात् गाते हैं। उपजी तो और ठौर, शोभा पाई और ठौर। [नोट—पर इस अर्थमें यह आपत्ति है कि अपण्डित भी तो कहते हैं। (दीनजी)]

मिलान कीजिये—'कवि' करोति काव्यानि बुध' संचेत्ति तद्रसान्। तरु प्रसूते पुष्पाणि मरुद्वहति सौरभम् ॥' (सस्कृतखर्रा)।

नोट—१ (क) 'तैसेहि' इति। अर्थात् जैसे मणिकी सर्पमे, माणिक्यकी पर्वतसे और मुक्ताकी गजसे उत्पत्ति तो होती है परन्तु इनकी शोभा नृपके मुकुट या युवतीके तनमे होती है, वैसे ही कविताकी उत्पत्ति कविसे और उसकी शोभा बुधसमाजमें होती है। यहाँ सुकवि 'अहि गिरि गज' हैं, कविता 'मणि, माणिक्य, मुक्ता' है और बुधसमाज 'नृपकिरीट तरुणीतन' है। (ख) कौन कविता मणि है, कौन माणिक्य और कौन मुक्ता? यह प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं कि भक्ति-युक्त कविता मणि है, ज्ञानविषयक काव्य माणिक्य है और कर्मसम्बन्धी कविता मुक्ता है। इसी प्रकार शोभा पानेके स्थान 'नृपकिरीट तरुणीतन' क्रमसे सन्त, पण्डित और बुद्धिमान् है। पिछली चौपाईमें भी कुछ लोगोंके भाव लिखे गये हैं। भाव यह है कि मणि, माणिक्य, मुक्ता प्रत्येक एक-एक स्थानपर शोभा पाते हैं, पर मेरी कवितामें तीनों मिश्रित हैं, अतएव इसकी शोभा भक्त, ज्ञानी, कर्मकाण्डी, सन्त, पण्डित, बुद्धिमान् सभीमें होगी, यह जनाया। (मा० मा०, खर्रा)। (ग) 'लहत छवि लहहीं' इति। भाव कि जब अन्यत्र गयी, अन्य पण्डितोंके हाथ लगी, तब उन्होंने उसपर अनेक विचित्र भावसमन्वित तिलक कर दिया, अनेक प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाण दिये। जैसे मणि, माणिक्य आदि नृपकिरीटादिमें एक तो सुवर्णकान्तिकी सहायतासे दूसरे सुन्दर शरीरके सगसे अधिक शोभाको प्राप्त होते हैं, वैसे ही कविता बुधसमाजमें भावोंकी सहायता और प्रमाणोंसे पुष्ट होनेसे अधिक शोभाको प्राप्त होती है। जैसे ब्रह्मसूत्रपर आचार्योंने भाष्य करके उनकी शोभा बढ़ायी। (वै०)। (घ) कविताको मणि आदिकी उपमा दी गयी। अब आगे बताते हैं कि मणिमुक्तारूप कविता 'कब और कैसे' बने? सरस्वतीकी कृपासे बनते हैं और सरस्वतीकी कृपा तभी होती है जब रामयश गाया जावे। (करु०, मा० प्र०)।

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥ ४॥
रामचरितसर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें॥ ५॥

अर्थ—कविके सुमिरते ही सरस्वती भक्तिके कारण ब्रह्मलोकको छोड़कर दौड़ी आती हैं॥ ४॥ उनके तत्काल दौड़े आनेका वह श्रम बिना रामचरितरूपी तालाबमें नहलाये करोड़ों उपाय करनेसे भी नहीं जाता॥ ५॥

नोट—१ 'आवति धाई' इति। क्योंकि वह श्रीरामकी उपासिका है। यथा—'कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहि जाई॥ ३१८।', 'लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहैं। १। ३२७।', 'देखि मनोहर चारिउ जोरी'। एकटक रही रूप अनुरागी॥ १। ३४९।', इत्यादि। म० श्लो० १ मे देखिये। दूसरा भाव यह है कि रामयशगानभक्ति ऐसी अलभ्य वस्तु है कि शारदा ब्रह्मलोक-ऐसी आनन्दकी जगह भी छोड़ देती हैं।

पुन, विधिभवन=नाभिकमल। सबकी नाभिकमलमें ब्रह्माका वास है। अतः नाभिकमल ब्रह्मभवन हुआ। वहाँ उनका नाम 'परावाणी' है। वह सरस्वती परावाणी स्थानको छोड़कर हृदयमें पश्यन्ती वाणी हो, कण्ठमे मध्यमा हो, जिह्वामें वैखरी वाणी हो शब्दरूप होकर आ बैठती है। परा, पश्यन्ती मध्यमा सब स्थानोंको छोड़कर जिह्वापर आ जाना ही 'धाइ आवना' है। (रा० प०)

महामहोपाध्याय प० श्रीनागेशभट्टजीने 'परम लघुमजूषा' नामक ग्रन्थमे 'स्फोटविचार प्रकरण' में वाणीके स्थान और उनका वर्णन विस्तारसे दिया है। हम उसीसे यहाँ कुछ लिखते है। वाणी चार प्रकारकी है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। मूलाधारस्थ पवनसे सस्कारीभूत शब्दब्रह्मरूप स्पन्दशून्य बिन्दुरूप मूलाधारमें स्थित वाणीको 'परावाणी' कहते हैं। [उपस्थके दो अङ्गुल नीचे और गुदाद्वारके दो अङ्गुल ऊपर मध्यभागमें एक अङ्गुल स्थानको मूलाधार कहा जाता है। कुण्डली भी इसी मूलाधारमें स्थित रहती है।] वही परावाणी जब उस पवनके साथ नाभिकमलतक आती है और वहाँ कुछ स्पष्ट (अभिव्यक्त) होनेपर मनका विषय होती है, तब उसको 'पश्यन्ती' कहते हैं। ये दोनो वाणियाँ योगियोंको समाधि निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानका विषय होती हैं, सर्वसाधारणको इनका ज्ञान नहीं होता। वही वाणी

हृदयतक जब पवनके साथ आती है और कुछ अधिक स्पष्ट होती है परंतु श्रोत्रके द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, केवल जपादिमें बुद्धिके द्वारा जाननेयोग्य होती है तब उसको 'मध्यमा' कहते हैं। यह वैखरीकी अपेक्षा सूक्ष्म है। वही जब फिर मुखतक आती है तब उस वायुके द्वारा प्रथम मूर्द्धासे ताड़ित होकर फिर कण्ठ, तालु, दन्त आदि स्थानोंमें अभिव्यक्तपर श्रोत्रसे ग्राह्य होनेपर वही 'वैखरी' कही जाती है। इसके प्रमाणमें उन्होंने यह श्लोक दिया है। यथा—'परावाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ति नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥' हमलोग जो बोलते हैं उसमें मध्यमा और वैखरी दोनों मिली रहती हैं।। कान ढकनेपर जो ध्वनि सुननेमें आती है वही मध्यमा वाणी है।

इस प्रमाणके अनुसार वाणीके स्थानोंमें मतभेद देख पड़ता है। श्रीकाष्ठजिह्वास्वामी भी बड़े भारी विद्वान् और सिद्ध महात्मा थे। सम्भव है कि उन्होंने कहीं वैसा प्रमाण पाया हो जैसा ऊपर (रा० प०) में दिया है।

२ 'विधि' पदमें श्लेष है। विधि ऐसे पति, विधि ऐसा लोक और विधि ऐसे भवनको त्याग देती है। अपना पातिव्रत्य त्याग देती है, मन्दगमन विधानको त्याग देती है और रामयशगान करनेवालेके पास आ प्राप्त होती है। अतः रामयश ही गाना चाहिये। ये सब भाव इसमें हैं। (खर्रा)

३ 'सुमिरत सारद आवति' इति। इस कथनसे जान पड़ता है कि मङ्गलाचरण करते ही वह यह समझकर दौड़ पड़ती है कि मुझसे श्रीरामयश-गान करानेके लिये मेरा स्मरण इसने किया है, इससे प्राकृत मनुष्यका गुणगान करना हेतु जानकर पीछे पछताना कहते हैं। ('भगति हेतु' का अर्थ वैजनाथजी लिखते हैं कि 'श्रीरामभक्तिभूषित काव्य बनानेके लिये' है)।

४ हरिभक्त जो कोई विद्या पढ़े नहीं होते, भजनके प्रतापसे पदके पद कह डालते हैं। वाल्मीकिजीके मुखमें आप-ही-आप श्लोक प्रथम निकला था। केवल अनुभवसे स्वतः उद्गारद्वारा कविता रचना यही 'वाणीका दौड़ आना' है।

५ श्रमके दूर करनेको स्नान कराना कहा। कोई दूरसे थका आवे तो उसके चरण जलसे धोनेसे थकावट साधारण ही दूर हो जाती है, इसलिये स्नान कराना कहा। (प० रा० कु०)। रामचरितसरमें श्रीसीताराम-सुयशसुधासलिलमें स्नान कराना सरस्वतीजीसे श्रीसीतारामसुयश अपनी जिह्वाद्वारा कहलाना है। ब्रह्मभवनको छोड़कर कविकी जिह्वापर आनेमें जो श्रम हुआ वह इस श्रीरामगुणगानसे मिट जाता है, अन्यथा नहीं। मिलान कीजिये, प्रसन्नराघवनाटके, 'झटिति जगतीमागच्छन्त्या पितामहविष्टपान्महति पथि यो देव्या वाच श्रम समजायत। अपि कथमसौ मुञ्चेदेन न चेदवगाहते रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिकाम्॥ (प्रसन्नराघव १। ११)। अर्थात् ब्रह्मलोकसे पृथ्वीपर वेगपूर्वक आनेसे इस बड़े मार्गमें जो सरस्वतीको श्रम हो गया है वह श्रीरघुपतिगुणग्रामके प्रेमपूर्वक कथनरूपी अमृतकुण्डमें बिना स्नान किये कैसे छूट सकता है?

कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी॥ ६॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति[1] पछिताना॥ ७॥

शब्दार्थ—प्राकृत=साधारण।=संसारी=जो मायाके वश हैं।

अर्थ—ऐसा हृदयमें विचारकर कवि कोविद कलिके पापोंका हरनेवाला हरि यश गाते हैं॥ ६॥ साधारण वा संसारी मनुष्योंका गुण गानेसे वाणी अपना सिर पीट-पीटकर पछताने लगती है (कि किस कमबख्तके बुलानेसे मैं आ गयी)॥ ७॥

नोट—'सिर धुनि' इति। मानो शाप देती है कि जैसे मेरा आना व्यर्थ हुआ वैसे ही तेरी कविता निष्फल हो, उसका सम्मान न हो, जैसे तूने मुझे नीचोंके कथनमें लगाया वैसे ही तुम भी नीच गति पावोगे (पंजाबीजी, वै०)। करुणा-

१ लगति—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, को० रा०। लगत—१६६१। लागि—ना० प्र०, गौड़जी। लाग—रा० प्र०।

सिंधुजी लिखते हैं कि 'शारदाका सम्बन्ध श्रीरामजीसे है। जब उनका सम्बन्ध कोई नीचसे करायेगा, अर्थात् उनका उपयोग किसी अदिव्यपात्रके विषयमें करेगा, तो उनको अवश्य दुःख होगा।' काष्ठजिह्वास्वामीजी कहते हैं कि 'संसारी जीवोंमें ईश्वरत्व माने बिना तो स्तुति बन ही नहीं सकती, मिथ्या स्तुति जानकर सरस्वती पछताती है।' (रा० प०)। श्रीरामजी गिरापति हैं। यथा—'ब्रह्म बरदेस बागीस ब्यापक बिमल बिपुल बलवान निर्बान स्वामी।' (विनय ५४), 'बेद बिख्यात बरदेस बामन बिरज बिमल बागीस बैकुंठस्वामी।' (विनय ५५) 'बरद बनजाभ बागीस बिस्वात्मा बिरज बैकुंठ मंदिर बिहारी।' (विनय ५६) 'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी। १। १०४।' इसीलिये वह मङ्गल स्मरण करते ही अपने स्वामीका यश गान करने आती है, पर यहाँ आनेपर कविने उनको परपतिकी सेवामें लगाया। प्राकृत पुरुषोंका यश गान कराना परपति-सेवामें लगाना है। अतः वह पछताने लगती है कि मैं इस कम्बख्तके यहाँ क्यों आयी, किसके पाले पड़ गयी? द्विवेदीजी लिखते हैं कि कवितामें प्रायः अत्युक्ति और झूठी बातें भरी रहती हैं। इसलिये नरकाव्य करनेमें झूठी बातोंके कारण सरस्वती पछताने लगती हैं, क्योंकि नरकाव्यमें मुखकी उपमा चन्द्रसे, स्तनकी उपमा स्वर्णकलशसे दी जाती है, जो सब मिथ्या ही हैं। इसीपर भर्तृहरिने लिखा है कि 'मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्'। इत्यादि। भगवान् सर्वव्यापक, सर्वगुणमय हैं। इसलिये उनके वर्णनमें सभी बातें सत्य होनेहीसे सरस्वती प्रसन्न होती हैं और अपने परिश्रमको सुफल मानती है।...। सू० मिश्रजी लिखते हैं कि सरस्वती यह देखती है कि स्तुति करनेवाला दीन हो बार-बार स्तुति किये चला जाता है, हर्षका लेश भी नहीं रहता है, प्रतिष्ठा भी चली जाती है, तब सरस्वती पछताने लगती है। लिखा है, 'याचना माननाशाय', 'मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके॥' (रा० प्र०)। बैजनाथजी लिखते हैं कि प्राकृत कविका सारा दिन जो इस तरह आशा, दीनता, निरादर, अमानता और दुःखमें बीतता है, यह सरस्वतीकी अप्रसन्नताका फल है।

☞ मिलान कीजिये, 'हरेर्जन्मकर्माभिधानानि श्रोतुं तदा शारदा भर्तृलोकादुपेत्य। जनानां हृदब्जे स्थिता चेन्न वक्ति शिरो धुन्वती सैव तूष्णीं करोति॥' (सत्सङ्गविलास। संस्कृत खर्रा) अर्थात् भगवान्के जन्म, कर्म और नामादि सुननेके लिये सरस्वती अपने पतिके लोकसे लोगोंके हृदयकमलमें आकर स्थित होती हैं। यदि वह कवि जन्म-कर्मादिका गुणगान न करे तो वह माथा ठोंककर उदास हो जाती है।

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति[1] सारदा कहहिं सुजाना॥ ८॥
जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥ ९॥

शब्दार्थ—सीप=शङ्ख या घोंघे आदिकी जातिका एक जलजन्तु जो कड़े आवरणके भीतर बंद रहता है और तालाब, झील, समुद्र आदिमें पाया जाता है। मोती समुद्री सीपमें ही होता है। स्वाती=यह एक नक्षत्र है।

अर्थ—सुजान लोग कहते हैं कि हृदय समुद्र, बुद्धि सीप और स्वाती सरस्वतीके समान हैं॥ ८॥ जो (शारदारूपी स्वाती) श्रेष्ठ विचाररूपी उत्तम जलकी वर्षा करे तो कवितारूपी सुन्दर मुक्तामणि (उत्पन्न) होते हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ 'हृदय सिंधु' इति। (क) 'समान' का अन्वय सबमें है। हृदय सिंधु-सम गम्भीर हो, मति सीपके समान कवितारूपिणी मुक्ता उत्पन्न करनेवाली हो। स्वातीको शारदाके समान कहते हैं। 'सिन्धुमें सीप है, हृदयमें मति है, सीप स्वातीके जलको ग्रहण करती है, वैसे ही मति विचारको ग्रहण करती है।' (ख) 'सरस्वतीके दो रूप हैं। एक मूर्त्तिमती सरस्वती, दूसरी वाणीरूप। कथा सुननेको मूर्त्तिमती सरस्वती ब्रह्मलोकसे आती है, जैसे श्रीहनुमान्‌जी आते हैं, और विचार देनेको वाणीरूपसे हृदयमें है। यहाँ दोनों रूप कहे।'

[1] स्वाती सारद—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०, १७०४। स्वाति सारदा—१६६१।

नोट—यहाँ साङ्गरूपक और उपमाका सन्देह सङ्कर है। 'जौं बरषै बर बारि बिचारू।''''' में रूपक और सम्भावनाकी संसृष्टि है।

नोट—१ 'जौं बरषै बर बारि ''' इति। भाव कि—(क) स्वाति-जल हर जगह नहीं बरसता, इसके बरसनेमें संदेह रहता है। यथा—'कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी' (कि० १६)। इसी तरह सरस्वतीजी सब कवियोंकी बुद्धिमें श्रेष्ठ विचाररूपी जल नहीं बरसाती। पुनः, समुद्रमें अनेक जीव और अनेक सीप हैं, परंतु स्वाती सीपहीपर और वह भी सब सीपियोंपर नहीं कृपा करती है। वैसे ही जगत्‌में अनेक कवि हैं। सरस्वतीकी कृपा जब-तब किसी ही किसीपर होती है। इसलिये संदिग्ध 'जौं' पद दिया। (ख) स्वातीके जलसे अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसीलिये जलको श्रेष्ठ कहा। 'बर' शब्द 'बारि' और 'बिचार' दोनोंके साथ है। इसी तरह 'चारु' पद 'कबित' और 'मुकुतामनि' दोनोंके साथ है। (ग) बैजनाथजीका मत है कि यहाँ मनादि मेघ हैं, 'बर विचार' जल है। भाव यह कि मनका तर्क, चित्तका स्मरण, अभिमानका दृढ़ निश्चय इत्यादि 'बर विचार' रूप जल बरसा अर्थात् सब एकत्र होकर बुद्धिरूपी सीपमें विचार जल आकर थिर होनेपर निश्चय हुआ। फिर वैखरीद्वारा प्रकट हो सुन्दर कवितारूप मुक्तामणि होते हैं। (घ) विनायकीटीकाकार इन अर्धालियोंका भाव यह लिखते हैं कि गम्भीर बुद्धिवाले हृदयमें श्रेष्ठ मतिके कारण उत्तम वाणी प्रकट होकर शुद्ध विचार कवितारूपमें प्रकाशित होवे तो यह कविता बहुत ही सुन्दर सुहावनी होगी।

नोट—मति (बुद्धि) को सीपहीकी उपमा देनेका कारण यह है कि स्वाति-बिन्दु केवल सीपहीमें नहीं पड़ता, वरंच और भी बहुत वस्तुओंमें पड़ता है जिसमें पड़नेसे अन्य-अन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यथा—'सीप गए मोती भयो, कदली भयो कपूर। अहिगणके मुख विष भयो, संगतिको फल सूर॥' इसी तरह हाथीके कानमें पड़नेसे मुक्ता होती है, गऊमें पड़नेसे गोरोचन और बाँसमें पड़नेसे बंसलोचन होता है। परंतु सीपके मुखमें पड़नेसे जैसा मोती होता है ऐसा अनमोल पदार्थ स्वातिजलसे और कहीं नहीं होता। गम्भीर हृदयवाले सुकविकी मतिको सीप सम कहा, क्योंकि इससे श्रीरामयशयुक्त सुन्दर कविता निकलेगी। यदि कुकविकी बुद्धिमें शारदा-स्वाती बरसे, तो वह प्राकृत मनुष्योंका गुण-गान करता है।

दो०—जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥ ११॥

शब्दार्थ—जुगुति=युक्ति=कौशल (तरकीब)।

अर्थ—(उन कवितारूपी मुक्तामणियोंको) युक्तिसे बेधकर फिर श्रीरामचरितरूपी सुन्दर तागेमें पोहा जावे, (तो उस मालाको) सज्जन अपने निर्मल हृदयमें पहिनते (धारण करते) हैं जिससे अत्यन्त अनुरागरूपी शोभा (को प्राप्त होते हैं)॥ ११॥

नोट—१ 'हृदय सिंधु मति सीप समाना' से यहाँतक 'साङ्गरूपकालङ्कार' है। यह रूपक निम्नलिखित मिलानसे भलीभाँति समझमें आ जायगा। 'पहिरहिं ''अनुराग' में तुल्यप्रधानगुणीभूतव्यंग्य है।

उपमेय		उपमान
हृदय	१	सिंधु
मति (बुद्धि)	२	सीप
शारदा	३	स्वाती नक्षत्र (के मेघ)
सरस्वतीकी अनिश्चित अवतारणा	४	स्वातीकी क्वचित् वर्षा
वर विचार	५	बर बारि
कविता	६	मुक्तामणि

बारीक युक्तिसे कविताकी शोभा	७	बारीक छिद्रसे मोतीकी शोभा
युक्ति	८	सुई, सूक्ष्म वा बरमा, सरॉग
कवितामें युक्तिसे रामचरितरूपी श्रेष्ठ तागका अवकाश करना।	९	मोतीमें सुईसे वेध कर छिद्र करना।
रामचरितका कविताके भीतर (वर्णन रूप) प्रवेश करना।	१०	डोरेका मोतीके भीतर पोहना।

☞ सब पदोंकी योजना रामचरितहीमे करना 'पोहना' है।

रामचरित	११	तागा
रामचरितयुक्त कविता	१२	मोतीकी माला
हृदयमें धारण करना	१३	हृदयपर पहिनना
सज्जन	१४	लक्ष्मीवान्
अनुरागातिशय	१५	शोभा

२ इस ग्रन्थमें युक्ति सरॉग है, रामचरित तागा है और एक सवादके अन्तर्गत दूसरा सवाद होना छिद्र है। अर्थात् गोस्वामीजी और सज्जन सवादके अन्तर्गत याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-सवाद है, तदन्तर्गत शिव पार्वती-सवाद है, जिसके अन्तर्गत भुशुण्डि-गरुड-सवाद है।

प० रामकुमारजी—१ (क) 'प्रथम प्राकृतजनोंके गुणोंसे युक्त कविताकी अशोभा कही जिसे सुनकर सरस्वतीको दुःख हुआ। अब रामचरितयुक्त कविताकी शोभा कही जिसके धारण करनेसे सज्जनकी शोभा हुई।

(ख) प्रथम कविताको गजमुक्तासम कहा। यथा—'मनि मानिक मुकुता छवि जैसी।''', अब उसे सिंधु-मुक्तासम कहते हैं। यथा—'हृदय सिंधु मति सीप समाना'। रामचरितहीन कविता गजमुक्ता सम है तो भी शोभा नहीं पाती; जब नृप या युवती स्त्री धारण करे तब शोभा पाती है और रामचरितयुक्त कविता जलमुक्ता-सम है जो इतनी सुन्दर है कि सज्जनको शोभित कर देती है। इसी भावको लेकर पहले मणिमाणिक्य मुक्ताको नृपके मुकुट और तरुणीके तनसे शोभा पाना कहा था। यथा—'लहहिं सकल सोभा अधिकाई'। और यहाँ मुक्ताहारसे सज्जनकी शोभा कही।

श्रीजानकीदासजी—यहाँ अन्योन्यालकार है। मोतीकी शोभा राजाओंके यहाँ होती है और राजाके अङ्गकी शोभा मोतीसे होती है। इसी तरह रामचरितयुक्त कविता सतसमाजमें शोभित है और संतसमाजकी शोभा उस कवितासे है। रामचरितयुक्त कविता या पदके गाने या मनन करनेसे हृदय प्रफुल्लित होगा, कण्ठ गद्‌गद होगा, यही अनुराग है जिससे सज्जनकी शोभा होगी। 'नृपकिरीट तरुनी तन' ही यहाँ सज्जन-समाज है।

नोट—३ 'पहिरहिं सज्जन सोभा अति अनुराग' इति। (क) अर्थात् अनुराग ही शोभा है। भाव यह है कि रामचरित सुनकर यदि अनुराग न हुआ तो उस प्राणीकी शोभा नहीं है। 'अति अनुराग' 'अति शोभा' है। अर्थात् जैसा ही अधिक अनुराग होगा, वैसा ही अधिक शोभा होगी। पुन, भाव यह कि जो 'बिमल उर' नहीं हैं वे इसे नहीं पहिनते। 'अति अनुराग' का भाव यह है कि अनुराग तो प्रथमसे था ही, पर इसके धारण करनेसे 'अति अनुराग' उत्पन्न होता है। पुनः, जो 'बिमल उर' नहीं हैं उनको अनुराग और इनको अति अनुराग होता है। (ख) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यहाँ 'बर ताग' का भाव यह है कि और मालाओंके तागे टूट जाते है, यह तागा नहीं टूटता। मोतियोंकी माला राजाओंको प्राप्त है, वैसे ही यह 'बिमल उर' वाले सज्जनोंको प्राप्त है।

४—(क) मणि मोतीके सम्बन्धमें 'जुगुति' (युक्ति) से 'चतुराई' का तात्पर्य है, क्योंकि मोती वेधनेमें बड़ी चतुरता चाहिये, नहीं तो मोतीके फूट जानेका डर है। मुक्ता सरॉगसे वेधी जाती है। टीकाकार महात्माओंके मतानुसार यहाँ युक्ति सरॉग है। (ख) कविताके सम्बन्धमें युक्ति यह है कि शब्दोंको इस चतुरतासे रक्खे कि कहनेवालेका गुप्त

आशय भलीभाँति प्रकट हो जाय और सुननेवालेके हृदयमें चुभ जाय। (ग) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि गोस्वामीजी-का काव्य युक्ति अर्थात् चातुर्यतासे भरा पड़ा है। प्रथम युक्ति वन्दनाहीसे देखिये। वन्दना व्याजमात्र है। इसमें सबके अन्तमें युगल सरकार श्रीसीतारामजीकी वन्दना लिखकर दोनोंकी प्राप्तिका साधन बताया। फिर नामवन्दना करके नामको नामीसे बड़ा बताया। मानसके रूपकमें भी चातुरी विचारने योग्य है। गोस्वामीजीकी युक्ति द्वितीय सोपानमें और भी सराहनीय है। श्रीभरतजीकी भक्ति शुद्ध शरणागति है। वे प्रेमपराके रूप ही हैं, आदर्श हैं। काण्डभरमें भरतजीकी महिमा, रीति और भक्ति भरी है। यह गोस्वामीजीका स्वतन्त्र सिद्धान्त है।

५—मिलान कीजिये, 'चेत शुक्तिकया निपीय शतश शास्त्रामृतानि क्रमाद्वान्तैरक्षरमूर्त्तिभि सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिता.। उन्मीलत्कमनीयनायकगुणग्रामोपसवलगणप्रौढाहंकृतयो लुठन्ति सुहृदा कण्ठेषु हारस्रज ॥' (अनर्घराघवनाटके १ । ५) 'सीताप्रीत्यै सुप्रीत्या विशदगुणगणैर्गुम्फिता गीर्वधूभिर्गद्यै पद्यैरनेकैरतिशयरुचिरैर्मौक्तिकै राजिता च। शृङ्गाराद्यै रसैना रघुपतिचरणप्रीतिदा भक्तिभाजां सीताशृङ्गारचम्पू स्रगिव सुहृदये भाति मे सज्जनानाम् ॥' (श्रीसीताशृङ्गारचम्पू)। अर्थात् बुद्धिरूपी सीपीने शास्त्ररूपी जल पीकर सैकड़ों अक्षररूपी मोतियाँ जो क्रमसे उगली हैं उन मोतियोंके द्वारा कवियोंने मालाएँ गुही हैं। प्रसिद्ध सुन्दर नायकके गुणसमूहके कथनसे जिनको बहुत अभिमान हो गया है ऐसी वे सुन्दर (कवितारूपी) मालाएँ सज्जनोंके हृदयरूपी कण्ठमें ही विराजती हैं। (अनर्घ रा० ना० १ । ५)। पुन , वाणीरूपी स्त्रियोंने श्रीजानकीजीकी प्रसन्नताके लिये अपने प्रेमसे गद्यपद्यरूपी अत्यन्त सुन्दर मोतियोंसे सुशोभित और शृङ्गारादि रसोंसे युक्त तथा विशद गुणगणरूपी स्त्रियोंद्वारा गुही हुई श्रीरामपदप्रीति देनेवाली यह मेरी सीताशृङ्गारचम्पू मालाकी नाईं भक्त जनोंके हृदयमें विराजती है। (श्रीसीताशृङ्गारचम्पू)।

जे जनमे कलिकाल कराला। करतब बायस बेष मराला ॥ १ ॥
चलत कुपंथ बेदमग छाँड़े। कपट कलेवर कलिमल भाँड़े ॥ २ ॥
बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—कराल=कठिन, भयानक। करतब (कर्त्तव्य)=काम, करतूत, करनी। कुपथ=कुमार्ग, बुरी राहपर। मग=मार्ग, रास्ता। कलेवर=शरीर, देह। भाँड़ा (स० भाण्ड)=बरतन, पात्र। बंचक=ठगनेवाला, धूर्त, पाखडी। यथा 'लखि सुबेष जग बंचक जेऊ।' किंकर=दास। कंचन=सोना। कोह=क्रोध।

अर्थ—जिनका जन्म कठिन कलिकालमें हुआ है, जिनकी करनी कौवेके समान है और भेष हसका-सा ॥ १ ॥ जो वेद (के बताये हुए) मार्गको छोड़कर कुमार्गमें चलते हैं, जिनका कपटहीका शरीर है, जो कलियुगके पापोंके पात्र हैं ॥ २ ॥ ठग हैं, श्रीरामजीके तो भक्त कहलाते हैं, परतु हैं दास लोभ, क्रोध और कामके ॥ ३ ॥

नोट—१ रामचरितयुक्त कवितामालासे सज्जनकी शोभा कही। उसपर यह प्रश्न होता है कि क्या आपकी कविता ऐसी बनी है? इसका उत्तर अब देते हैं कि यह तो मैंने सत्कवियोंके काव्यके लिये कहा है और मेरी दशा तो यह है कि 'जे जनमे ⋯' इत्यादि।

नोट—२ (क) 'जे जनमे कलिकाल कराला' इति। कलि सब युगोंसे कठिन और भयकर युग है जैसा उ० ९७ से १०१ तकमें कहा है। 'सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी ॥ बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी ॥ द्विज श्रुति बंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन ॥ 'निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलियुग सोइ ग्यानी सो बिरागी' ॥ पुन', 'कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना' ॥ २६ ॥ (ख) 'जे जनमे कलिकाल' का भाव यह है कि कलिकालमें पैदा हुए हैं, इसलिये कलिके धर्मको ग्रहण किये हैं जो आगे कहते हैं। 'जे जनमे कलिकाल कराला' कहकर फिर 'करतब बायस' इत्यादि कलिके भक्तिविरोधी धर्म कहनेका भाव यह है कि कलिमें ऐसे अधर्मियोंका जन्म होता है। यथा—'ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक बृन्द बहु होइहहिं कलिजुग माहिं ॥ ७ । ४० ।'

यहाँ यह अर्थ नहीं है कि जो भी कलिकालमें जन्म लेते हैं वे सभी ऐसे होते हैं। सृष्टिमें दैवी और आसुरी दोनों सम्पत्तिके लोग सदा जन्म लेते रहते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि कलिकालमें आसुरी सम्पत्तिकी विशेष वृद्धि होती है। 'कलिकालमें जो इस तरहके लोग जनमे हैं' यह आशय है। पुन (ग) भाव यह कि एक तो कलिमें जन्म हुआ, यही बुरा और फिर उसपर भी वेष हसका किये हैं और कर्तव्य कौवेका सा है इत्यादि। (करु०)। (घ) 'करतब बायस' अर्थात् छली, मलिन, अविश्वासी और पक्षपाती हैं। यथा—'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥ २। ३०२।', 'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला॥ ७। ११२।' पुन (ङ) पापका रूप काला है, कौआ भी काला है। ये सब पाप करते हैं, अत 'बायस' सम कहा। (च) 'बेष मराला' इति। वेष शुक्ल है, उज्ज्वल है और हसका रग भी शुक्ल है।

३ 'कलियुगमें पैदा होनेवालोंकी करनी काकवत् होती है पर इसी कलिमें तो अगणित सन्त भक्त हो चुके हैं और हैं, तब उपर्युक्त कथनसे विरोध पड़ता है' यह शङ्का उठाकर लोगोंने युक्तिसे उसका समाधान किया है। 'जे जनमें'= जे जन में=जिस मनुष्यमें (कराल कलिकालने निवास किया है उसका सम्बन्ध)। (वै०)। इत्यादि और भी समाधान किये है। पर दासकी समझमें यह शङ्का मूलके शब्दसे उठ ही नहीं सकती। कवि यह नहीं कहता कि जो भी जन्मे हैं वे सब 'करतब बायस ' हैं, किंतु जो कलिमें 'करतब बायस ' काम के' ऐसे लोग जन्मे हैं 'तिन्ह महँ प्रथम '। 'करतब बायस काम के' यह सब 'जे' का विशेषण है 'जे' का सम्बन्ध आगे 'तिन्ह' से है। जो कलिकालमें पैदा हुए हैं पर जिनके आचरण ऐसे नहीं हैं, उनकी गणना यहाँ नहीं है। 'कलिकाल' शब्द देकर जनाया है कि सत और युगमें भी होते हैं पर कलिके ऐसे किसीमे नहीं होते है।

४ (क) 'चलहि कुपथ बेद मग छाड़े' इति। यथा—'दभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किये बहु पंथ।' (७। ९७)। दभियोंके प्रकट किये हुए पथ ही 'कुपथ' हैं। (ख) 'कपट कलेवर' का भाव यह है कि कपटरूप है, उनका शरीर क्या है मानो कपट ही रूप धारण करके आ गया है। कलियुग कपटी है। यथा—'कालनेमि कलि कपट निधानू' (२७), इसीसे जो कलियुगमें जनमे उनको कपटरूप कहा। (ग) 'कलिमल भाँड़े' इति। भाव यह है कि जैसे पात्रमें जल आदि वस्तु रक्खी जाती है वैसे ही इनमें पाप भरे हुए हैं।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कपट और कलिमल दोनोंको अलग-अलग कहा। यथा—'करतब बायस बेष मराला'। यह कपट है। और 'चलत कुपथ बेद मग छाँड़े'। यह कलिमल है। अब आगे चौपाई 'कपट कलेवर कलिमल भाँड़े' में दोनोंको एकत्रित कर दिया है। (ख) 'बचक भगत' के साथ 'कहाइ' पद दिया और कचनादिके साथ 'किंकर' पद दिया, क्योंकि ये रामजीके कहाते भर हैं, उनके किंकर है नहीं, किंकर तो लोभ, क्रोध और कामके हैं। जैसे हैं वैसा ही लिखा। कोह कामके साहचर्यसे कचन 'लोभ' का वाचक है। द्रव्य ठगनेको वेष बनाया, इसलिये लोभको पहले कहा। काम, क्रोध, लोभके किंकर होना भी कलिका प्रपच है। यथा—'सांची कहौं कलिकाल कराल मैं ढारो बिगारो तिहारो कहा है। काम को कोह को लोभ को मोह को मोहि सो आनि प्रपंच रहा है॥ क० उ० १०१।'

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। 'धींग धरम ध्वज' धंधक धोरी॥ ४॥

शब्दार्थ—रेख=गिनती। यथा—'रामभगत महँ जासु न रेखा'। धींग=धिक=धिक=धिक्कार, लानत, निन्दित, धिक्कार योग्य। धरमध्वज=जो धर्मकी ध्वजा (झडा) खड़ा करके अपना स्वार्थ साधे, धार्मिकोंका सा वेष और ढग बनाकर पुजानेवाला, पाखडी। धर्मका झडा। धोरी=बोझा ढोनेवाला।=धुरेको धारण करनेवाला। यथा—'फेरति मनहिं

१ धिग। २ धधक—१७२१, १७६२ छ०, भा० दा०, प० शिवलालपाठक। १६६१ में 'धींग' है और 'धमक' के रकारपर हरताल दिया है। १७०४ मे 'धींग' 'धधरच' कहा जाता है पर ना० प्र० मे 'धींग' 'धरच' है। श० सा० में 'धींग' शब्द नहीं है, 'धींग' शब्द है जिसके अर्थ 'हट्टाकट्टा मनुष्य, 'कुमार्गी' 'पापी' 'बुरा' इत्यादि दिये हैं। यथा—'अपनायो तुलसी सो धींग धमधूसरो।' मानसाङ्कमे 'धींगाधींगी करनेवाला' अर्थ किया है। यदि इसे 'धींग' मान ले तो ये सब अर्थ लग सकते हैं।

मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी ॥ अ० २३४।'=बैल। यथा—'समरथ धोरी कंध धरि रथ ले और निबाहि। मारग माहिं न मेलिए पीछहि बिरद लजाहिं ॥' (दादू)। =प्रधान, मुख्य, अगुआ (रा० प०)। यथा—'कुअँर कुअँरि सब मंगल मूरति नृप दोउ धरम धुरंधर धोरी' (गी०)।=वह बैल जो गाड़ीमें ढोने। बैलोंके आगे लगाना है जब बोझ अधिक होता है। धधक=धंधा। जैसे 'मन क्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक ॥ अ० १०।' और 'कीन्हेहु बिरोध तेहि देवक'। मे देवक=देवका। वैसे ही धधक=धंधेका। (प० रा० कु०)। यह शब्द तिरस्कारके भावमें 'खोटे या निकम्मे धंधे' के भावमें प्रयुक्त हुआ है। (गौड़जी)। मिथिलाकी ओर इसे 'धन्धरक' कहते हैं।

अर्थ—संसारमें ऐसे लोगोंमें सबसे पहले मेरी गिनती है। जो धिक्कारयोग्य धर्मकी ध्वजा है और खोटे धन्धोंकी गाड़ीको खींच ले जानेवाले धोरी है ॥ ४ ॥*

नोट—१ (क) 'तिन्ह महँ प्रथम रेख' इति। अर्थात् जबसे कलियुग शुरू हुआ तबसे आजतक जिनका जन्म हुआ और जिनके धर्म कर्म पहले तीन चौपाइयोंमें कह आये हैं उन सबोंमें मुझसे अधिक पापी कोई नहीं है। 'जग' कहनेका भाव यह है कि जगत् भरमें जितने अधम हैं, उन सबोंमें प्रथम मेरी रेखा है। पुनः भाव कि 'सत्ययुगमें दैत्य दानव, त्रेतामें राक्षस खल और द्वापरमें दुर्योधन आदि जो खल थे, उनको नहीं कहते। जो कलियुगमें जन्मे उनमेंसे अपनेको अधिक कहा। क्योंकि कलिके खल तीनोंसे अधिक हैं' (प० रा० कु०) (ख) धींग धरमध्वज=(१) धिक्कार-योग्य जो पाखण्डियोंका धर्म है उसकी ध्वजा। (रा० प्र०) (२) उन पाखण्डियोंमें भी जो धृग अर्थात् अति नीच है। (करु०, रा० प्र०)। (३) धर्मध्वजी लोगो वा धर्मध्वज बननेको धिक्कार है। (रा० प्र०) (४) 'ऐसे धर्म-धन्धपी धन्धेवाले लोगोंको धिक्कार है'।

२ 'धींग धरमध्वज धंधक धोरी' इति। (क) पाखण्डियोंका धिक्कार योग्य (=निन्दित) जो कर्म धर्म है उसकी ध्वजाका धन्धारूपी बोझ ढोने या लादनेवाला हूँ। भाव यह है कि मेरा धन्धा यही है कि धिक्कार योग्य धर्मका झंडा फहराता रहा हूँ। ध्वजा या झंडेसे दूसरे लोग पहचान लेते हैं कि उस देशमें किसका राज्य या दखल है, उस जगह अग्रगण्य कौन है? इसी तरह मैं निन्दित कर्म करनेवालोंमें अग्रगण्य हूँ। भाव यह कि 'जो अपनेको धर्मकी ध्वजा दिखाते हैं पर लगे हैं दुनियाँके धन्धेमें। (लाला भगवानदीनजी)। (ख) पाण्डेजी यह अर्थ करते हैं कि 'जगमें' दो प्रसङ्गके पुरुष हैं। एक धृक, दूसरे धर्मध्वज। जो धर्मकी ध्वजा दिखाकर ठगते हैं उनमें मैं बीर हूँ या धुरी हूँ, जिसके आधारपर सब ठगनेवाले चलते हैं'। (ग) बाबा हरीदासजी यों अर्थ करते हैं—'मुझे धिक्कार है। मैं धर्मध्वजी हूँ। अर्थात जो धर्म ईश्वरप्राप्ति एवं परलोकके साधक हैं, उनमें मैं उदरभरण-हेतु नाना यत्न वेष बनाकर ऊपरसे करता हूँ और भीतर मन अहर्निशि धन्धे (जगत् प्रपञ्च) मे रहता है। जगत् प्रपञ्चका मैं धोरी हूँ। अतः मुझको धिक्कार है।'

३—(क) सुधाकर द्विवेदीजी—'धर्मध्वज उने कहते हैं जो अभिमानसे अपने धर्मकी स्तुति कर धर्मकी पताका उड़ाते फिरते हैं कि मैंने यह धर्म किया, वह धर्म किया, इत्यादि। 'धधक धोरी' वे है जो थोड़े कामको बहुत बनाते है।' (ख) ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी कहते हैं कि 'धर्मध्वज, धधक, धोरी' तीनों सज्ञा पद हैं और 'धिक्' का अन्वय तीनोंमें है। 'धरमध्वज' हीकी तरह 'धधक' और 'धोरी' का भी प्रयोग है। पुराने समयमें 'पाखण्डी, दम्भी और आडम्बरी' के भावमें इनका प्रयोग होता था। (ग) प० शिवलालपाठकजी लिखते हैं, 'धींग धरम धधक कथन, ध्वज

---

* अर्थान्तर—(१) ऐसे पाखण्डके धन्धेका बोझ ढोनेवालोंको धिक्कार है। (बाबू श्या० सु० दा०। (२) तिरस्कृत धर्मोंमें लदी हुई गाड़ीका धोरी हूँ। (मा० मा०)। (३) व्यर्थ धन्धेमें बैलके समान लगा हूँ। (करु०)। (४) जो धींगाधींगी करनेवाले, धर्मध्वजी (धर्मकी झूठी ध्वजा फहरानेवाले, दम्भी) और कपटके धन्धोंका बोझ ढोनेवाले हैं, संसारके ऐसे लोगोंमें सबसे पहले मेरी गिनती है। (मानसाङ्क)।

थोरी यहि हेतु। चाचरि निज मुख लाइ रज, परमुख कारिख देतु॥' अर्थात्, गोस्वामीजीने अपनेको वृक वर्मसे पृथक् शकटका धोरी कहा। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे होलीमें पहले अपने मुखमें धूल लगानेसे दूसरेके मुखको कालिख लगाते बनता है वैसे ही ग्रन्थकारने यह नीचानुसंधानवश अपनी निन्दा-कथनपर खलोंकी निन्दासे अपनेको बचाया। यदि खल लोग इस मानसकी इतनेपर भी निन्दा करें तो मानो स्वयं अपने हाथसे अपने मुखमें स्याही लगाते हैं। (अ० दीपक)

नोट—यहाँ केवल रामभक्तहीको क्यों 'वंचक' में गिनाया? उत्तर—रामभक्त सबसे श्रेष्ठ हैं। यथा—'नरमहन्त महँ सुनहु पुरारी।' सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया॥ ७। ५४।' 'रामादन्यं परं श्रेयो नास्तीति जगतां प्रभुः॥ तस्माद्रामस्य ये भक्तास्ते नमस्याः शुभार्थिभिः।' इति शिवसंहितायाम् (१।८३, ८४)' ऊँचा होकर पाप करना महान् अधमता है। जैसे सुखेतमें बीज बोनेसे वह अवश्य उत्पन्न होगा, वैसे ही एक पाप भी करनेसे लाखों पाप बढ़ेंगे। उत्तम लोगोंको ऐसा कदापि न करना चाहिये, इसीसे इन्हींको गिनाया। (वै०)

जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥ ५॥

तातें मैं अति अलप बखाने। थोरे[1] महँ जानिहहिं सयाने॥ ६॥

अर्थ—जो मैं अपने सब अवगुणोंको कहूँ तो कथा बढ़ जायगी, पार न पाऊँगा॥ ५॥ इसीसे मैंने बहुत ही थोड़े कहे, चतुर लोग थोड़ेहीमें जान लेंगे॥ ६॥

नोट—१ (क) 'पार नहिं लहऊँ' का भाव यह है कि अपार हैं। यथा—'मैं अपराधसिंधु।' (वि० ११७) 'जद्यपि मम अवगुन अपार' (वि० ११८), 'तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं। जो जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर अनिहैं'। (वि० ९५) यदि लिखकर अवगुणोंकी संख्या पूरी होनेकी आशा होती तो चाहे लिख भी डालता। (ख) प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'अल्प बखाननेके दो हेतु कहे हैं। एक तो कथा बढ़नेका डर, दूसरे यह कि जो सयाने हैं वे थोड़ेहीमें जान लेंगे, बहुत कहनेका क्या प्रयोजन है? 'स्थालीपुलाकन्यायेन'। (ग) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि इसमें यह ध्वनि है कि जो चतुर हैं, वे समझ जायेंगे कि महत्पुरुष अपना कार्पण्य ही कहा करते हैं। कार्पण्य भी षट्शरणागतिमेंसे है। और जो मूर्ख हैं, वे अवगुणसिंधु ही समझेंगे। वे इस बातको न समझ सकेंगे। (मा० प्र०)।

समुझि बिबिधि बिधि[2] बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी॥ ७॥

एतेहु पर करिहहिं जे[3] असंका। मोहि तें अधिक ते जड़ मति रंका॥ ८॥

अर्थ—मेरी अनेक प्रकारकी विनतियोंको समझकर कोई भी कथा सुनकर दोष न देगा॥ ७॥ इतनेपर भी जो शङ्का करेंगे वे मुझसे भी अधिक मूर्ख और बुद्धिहीन हैं॥ ८॥

टिप्पणी १—'समुझि' का भाव यह है कि बिना कहे नहीं जानते थे, अब विविध विधिकी विनती सुनकर कथा सुनकर कोई दोष न देगा, यह समझकर कि ये तो अपने दोष अपने ही मुखसे कह रहे हैं। 'एतेहु' अर्थात् इतनी विनती करनेपर भी शङ्का करेंगे, अर्थात् दोष देंगे। मति रंका=मतिके दरिद्र या कंगाल।

नोट—बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यदि कोई अभिमानसहित कोई बात कहता है तो उसपर सबको 'माष' होता है, चाहे वह बात कैसी ही उत्तम क्यों न हो और अमान होकर एक साधारण मध्यम बात भी कहता है तो सुननेवाले प्रसन्न होते हैं, सामान्य लोग भी बुराई नहीं करते। अतएव मेरी बनायी हुई श्रीरामकथा सुनकर कोई दोष न देंगे,

१—थोरेहि—१७२१, १७६२, छ०। थोरे १६६१ १७०३ को० रा०।

२—बिनती अब—१७२१, १७६२, छ०। बिधि बिनती—१६६१, १७०४। ३-जे सका—रा० प०, को० रा०। जे असका—१६६१, १७२१, १७६२। ते असका—१७०४ (शं० ना० चौ०); परंतु रा० प० में 'जे सका' है। ४—१६६१, में यहाँ 'जे' है। असका=आशङ्का=शङ्का=अनिष्टकी भावना। यहाँ 'खोरी' के सम्बन्धसे दोष निकालनेकी भावना।

श्रीरामचरित तो उत्तम ही है पर मेरी अमानता भी उत्तम मानेंगे। 'मोहि ते अधिक' का भाव कि मैं तो अपने ही मुखसे अपनेको जड़ कह रहा हूँ और इनको सब संसार बुरा कहेगा।

नोट—दो असम वाक्योंमें 'जे' 'ते' द्वारा समता दिखाना 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप रामगुन गावौं॥ ९॥

अर्थ—मैं न तो कवि ही हूँ और न चतुर कहलाता हूँ। (वा किसीसे अपनेको चतुर कहलवाता हूँ)। अपनी बुद्धिके अनुकूल श्रीरामजीके गुण गाता हूँ॥ ९॥

नोट—१ भाव यह है कि जो कवि हो, चतुर हो, उसकी कविताको दोष दे तो अनुचित न होगा। 'जड़मति रंक' की कविताको दोष देना जड़ता है। यहाँतक अपने दोष कहे। (प० रा० कु०)। २ ऊपर कहा था कि मणिमुक्तारूपी कविताके मालाको सज्जन धारण करते हैं। तत्पश्चात् यहाँतक अपना कार्पण्य दर्शित किया। भला मेरी ऐसी सामर्थ्य कहाँ कि ऐसी कविता बना सकूँ! मैंने तो जैसे-तैसे रामगुण गाया है। इसपर यह प्रश्न होता है कि 'यदि ऐसा है तो विनती करनेकी क्या आवश्यकता थी?' उसका उत्तर आगे देते हैं।

३—कवि=काव्यादि वर्णन करनेवाला। चतुर=व्याकरण आदि विद्याओंमें प्रवीण। (वै०)

कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥ १०॥
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥ ११॥

शब्दार्थ—निरत=आसक्त। लेखा=गिनती। मारुत=पवन, वायु, हवा। मेरु=सुमेरु पर्वत। तूल=रूई।

अर्थ—कहाँ तो श्रीरघुनाथजीके अपार चरित और कहाँ मेरी संसार (के विषयों) में आसक्त बुद्धि! ॥ १०॥ जिस हवासे सुमेरु आदि पर्वत उड़ जाते हैं, (उसके सामने भला) कहिये तो, रूई किस गिनतीमें है!॥ ११॥

नोट—१ इस चौपाईमें दो बार 'कहँ' शब्द आया है। 'कहँ' का मूल 'क्व' है। यह सत्कृतका नियम है कि जहाँ 'क्व' शब्दका प्रयोग दो बार हुआ हो, वहाँ अर्थमें इतनी विशेषता होती है कि जिसके साथ आया है उससे बहुत अन्तर जाना जाता है। 'द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः'। एवं इस चौपाईमें दो बार 'कहँ' शब्द आया है, इससे ग्रन्थकारने यह दिखलाया कि रामचरित और मेरी बुद्धिमें बहुत अन्तर है। कहाँ यह, कहाँ वह!

२ इन चौपाइयोंमें प्रथम 'विषमालंकार' है, क्योंकि अनमिल वस्तुओं या घटनाओंके वर्णनमें ही 'विषमालंकार' होता है। यथा—'कहाँ बात यह कहँ वहै, यों जहँ करत बखान। तहाँ विषमभूषन कहत, भूषन सुकवि सुजान॥' (भूषण ग्रन्थावली)। श्रीरसविजी लिखते हैं कि यहाँ 'जेहि मारुत''' में काव्यार्थापत्ति है। अर्थात् वह तो उड़ी-उड़ायी ही है। यह अर्थ अपनेसे ही निकल पड़ता है। यद्यपि काव्यमें नहीं कहा गया।

टिप्पणी—१ अब यहाँसे मनकी कादरता और धैर्य कहेंगे। 'जेहि मारुत गिरि' का तात्पर्य यह है कि सुमेरुकी गुरुता नहीं रह जाती, वह हलका हो जाता है, तब रूई तो हलकी ही है। शारदा, शेष, महेशादि बड़े-बड़े वक्ता सुमेरु हैं, रामचरित मारुत है, सब नेति नेति कहकर रामचरित गाते हैं, यही आगे कहते हैं। अपनी बुद्धि और अपनेको तूलसम कहा।

नोट—३ कालिदासजीने भी ऐसा ही 'रघुवंश' काव्यमें कहा है। देखिये, 'लघु मति मोरि''' दोहा ८ (५-७)। चरित अपार, यथा—'रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कबि कौने लह्यो। वा० ३६१।'

समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥ १२॥

दो०—सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥ १२॥

शब्दार्थ—कदराई=कादर हो जाता है, डरता है, हिचकता, कलुषाता या सकुचाता है। नेति=न इति, इतना ही नहीं है। इति=निदर्शन, प्रकाशक, इन्तहा, समाप्ति। आगम, निगम=म० श्लो० ६ देखो।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी ऐसी असीम प्रभुता (वा, प्रभुताको अमित) समझकर कथा रचनेमें मेरा मन बहुत ही डरता है ॥ १२ ॥ श्रीसरस्वतीजी, शेषजी, ब्रह्माजी, शास्त्र, वेद और पुराण जिसके गुणोंको 'नेति नेति' कहते हुए सदा गाया करते हैं ॥ १२ ॥

नोट—१ 'समुझत अमित राम प्रभुताई' इति। (क) यथा—'वेदान्तवेद्यं कविमीशितारमनादिमध्यान्तमचिन्त्यमाद्यम्। अगोचरं निर्मलमेकरूपं नमामि रामं तमसः परस्तात्॥' इति सनत्कुमारसंहितायाम् (वै०)। (ख) 'राम प्रभुताई' इति। यथा—'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥ निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥' ' (उ० ९१ से ९२ तक)। पुन, 'सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई।' उ० ७४ (१)। पुन, 'जासु पानि धाए मोहि धरना'' ' उ० ७९ (६) से 'देखि चरित यह सो प्रभुताई'। ८३ (१) तक, इत्यादि।

प० रामकुमारजी—१ 'सारद'' गान' नेति नेति इति नहीं है ऐसा कहकर गुणगान करते हैं। भाव यह है कि इन्हें गुणगानसे प्रयोजन है, इति लगानेसे प्रयोजन नहीं है। ऐसे वक्ता हैं और निरन्तर गुणगान करते हैं, तो भी इति नहीं लगती, रामचरित ऐसा अपार है।

२ शारदाको प्रथम कहा, क्योंकि कहनेमें शारदा मुख्य हैं। सबकी जिह्वापर बैठकर शारदा ही कहती हैं, कथनशक्ति शारदाहीकी है।

३ इस दोहेमें शारदा शेषादि सात नाम गिनाये गये हैं। सात नाम यहाँ देनेका क्या प्रयोजन है। चौपाईमें वक्ताओंको पर्वतकी उपमा दी थी। यथा—'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं'। उसीका यहाँतक निर्वाह किया है। मुख्य प्रधान पर्वत गोस्वामीजीने सात गिनाये हैं। 'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुर बासू॥ सैल हिमालय आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिं ते ते॥ बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥ अ० १३८।' इसलिये सात प्रधान वक्ताओंके नाम दिये।

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी इस प्रभुताको सब जानते हैं तो भी कहे बिना किसीसे न रहा गया॥ १॥

नोट—१ (क) 'सोई' अर्थात् प्रभुता जो पहले कह आये कि बड़े बड़ोंकी बुद्धि भी वहाँ थक जाती है, जिससे मेरा मन सकुचाता है। (ख) यहाँ 'तीसरी विभावना' है तो भी, तदपि, तथापि इसके वाचक हैं। 'प्रतिबन्धकके होत हू काज होत जेहि ठौर'।

२ सू० प्र० मिश्र—'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई' से लेकर 'सपनेहु साँचेहु मोहि पर'' ' तक ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि भजन-प्रभावके बिना हरिचरित्र वर्णन नहीं हो सकता। ईश्वर एक है और वह अन्तर्यामी भी है, भक्तोंके लिये अवतार धारण करता है और जिस तरहसे भक्तोंने महाराजका गुण वर्णन किया है उन बातोंको मनमें रखकर भगवत्-माहात्म्य दिखलाते हैं।

३ 'तदपि कहे बिनु' ' इति। भाव कि जैसे उपर्युक्त अपारता देखकर भी कोई रुका नहीं वैसे ही मैं भी भरसक कहूँगा।

तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥ २॥

शब्दार्थ—प्रभाव=महिमा, प्रताप, प्रादुर्भाव। राखना=बताना।

अर्थ—इसमें वेदोंने यह कारण रक्खा (बताया) है कि भजनका प्रभाव बहुत तरहसे कहा गया है॥ २॥

नोट—१ 'अस कारन राखा' यह पुराना मुहावरा है अर्थात् यह कारण कहते हैं, कारण यह बतलाते हैं। अथवा, अन्वय इस प्रकार भी कर सकते हैं, 'तहाँ अस कारण राखा कि वेद भजन-प्रभाव बहु भाँति भाषा है।' अर्थात्

इसमें यह कारण रक्खा है कि वेदोंने भजनका प्रभाव बहुत तरहसे कहा है। अर्थात् बहुत तरहसे पुष्ट करके दरसाया है (और यहाँतक भजनका प्रभाव कहा है कि 'एक अनीह अरूप अनामा।' ')।

२ श्री पं० सुधाकर द्विवेदीजी इस अर्धालीका यह अर्थ लिखते हैं कि 'तिस कहनेमें भी वेदने ऐसा कारण रक्खा है कि कहनेका अन्त नहीं, इसलिये भजनहीके प्रभावको अच्छी तरह कहा है।'

३ पं० रामकुमारजी—'तहाँ' अर्थात् प्रभुकी प्रभुता कहनेमें भाव यह है कि भजनका प्रभाव समझकर कवि लोग रामचरित्र कहते हैं कि यह भजन है, इनका प्रभाव बहुत भाँतिका है, सो प्रभाव आगे दिखाते हैं। यथा—'एक अनीह अरूप अनामा।' इत्यादि विशेषणयुक्त ब्रह्म भक्तोंके हेतु देह धरते हैं और नाना चरित करते हैं। यह भजनका प्रभाव है।

'भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा' इति।

श्रीमद्गोस्वामीजीकी कविता नैसर्गिक है। कविके हृदयमें श्रीरामचरित गान करनेकी उत्कट इच्छा है, यह बात ग्रन्थके आदिसे बराबर पदपदपर झलक रही है। प्रथमहीसे वे चरित्र जाननेवालोंकी सहेतुक वन्दना करते चले आ रहे हैं। 'कबि न होउँ नहि चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥ १२ (९)। कहकर यशगान करनेको उत्सुक होते हैं। यहाँसे अब कविके हृदयका दिग्दर्शन करते चलिये। देखिये, कैसे-कैसे विचार उनके हृदयमें उठते बैठते हैं, कैसे-कैसे असमञ्जसमें हमारे भक्त कवि पड़ रहे हैं और फिर कैसे उसमेंसे उबरते हैं।

कविके हृदयमें रामगुणगानकी उमङ्ग उठते ही यह विचार स्फुरित हो आता है कि रघुपतिके चरित अपार हैं, मेरी बुद्धि विषयासक्त है। मैं क्योंकर गुणगान करूँ? बड़े-बड़े विमल मतिवाले शारदा, शेष, महेशादि, यहाँतक कि वेद भी कह ही नहीं सके, फिर भला मेरी क्या मजाल!

यह विचार आते ही जी कदरा जाता है और कविकी हिम्मत टूट जाती है। ठीक नाटककी तरह कोई अदृश्य हाथ आकर उन्हें उभारा देता है। 'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन', 'तस कहिहउँ हिय हरिके प्रेरे॥ १। ३१।' और कवि यह सोचने लगते हैं कि ये लोग तो चरितका पार पा न सके, 'नेति नेति' कहते हैं, तो आखिर कथन ही क्यों करते हैं? इसका उत्तर उन्हें हृदयहीमें मिलता है कि वे पार पानेके लिये यशका कथन नहीं करते हैं। बुद्धि कारण ढूँढ़ने चलती है तो वेदोंको भगवानका वाक्य और सबसे प्रामाणिक समझकर उन्हींमें बुद्धि निवेश करती है। देखते हैं कि वेदोंने भजनका प्रभाव बहुत तरहसे पुष्ट करके दर्शाया है और यहाँतक भजनका प्रभाव कहा कि जो 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥ ब्यापक बिस्वरूप भगवाना' है, वही भक्तोंकी भक्तिके प्रभावसे नर-शरीर धारण करके अनेक चरित करता है। ऐसा प्रभाव भक्तिका है। यह कारण वेदोंमें उनको मिला कि जिसको सोच समझकर सभी भक्ति भजन) करते हैं। श्रीरामयश-गान करना यह भी भजन है, ऐसा विचारकर निरन्तर रामयश गाते रहते हैं और अपनी वाणीको सुफल करते हैं। कहा भी है कि 'जो नहि करइ रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥ बा० ११३।'

यह समाधान मनमें आता है। इससे पूर्वका सङ्कोच दूर होता है, मनमें बल आ जाता है और कवि कथा कहनेपर तत्पर हो जाते हैं।

इस दिग्दर्शनके होनेसे 'तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥' के 'भजन प्रभाव' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि श्रीरामजीकी प्रभुता अमित है, यह समझकर श्रीगोसाईंजीका मन कदराने लगा तब वे विचारने लगे कि देखें तो कि 'कोई कवि यश गाकर पार हुए या नहीं?' 'और जो पार हुए, एवं जो नहीं पार हुए, उन्होंने फिर गाया कि नहीं'? यह विचारकर प्रथम उन्होंने देवकवियोंमें देखा। शारदा-शेषादि देव-कवि हैं। ये सब 'नेति नेति' कहते हैं। फिर भी गान करते हैं और इनको कोई दोष नहीं लगता। इनमें देखकर फिर मनुष्य

कवियोंमें देखने लगे तो देखते हैं कि 'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥' तत्पश्चात् सोचा कि वेद जगद्गुरु हैं, देखूँ वे क्या आज्ञा देते हैं। देखा तो यह कारण उनमें धरा हुआ मिला कि भजनका प्रभाव बहुत भारी है। कोई किसी भी विधिसे श्रीरामयश गान करे, चाहे साङ्गोपाङ्ग छंद न बने, तो भी वह काव्य दोषरहित है और उससे भारी सुकृतकी वृद्धि होती है। यह भजनका प्रभाव वेदोंने बहुत भाँतिसे भाषण किया है। श्रीरामगुणगानरूपी भजनका अनूठा प्रभाव अनेक प्रकारसे वेदों, शास्त्रों आदिमें वर्णित है। कितना ही थोड़ा क्यों न हो भवपार करनेको पर्याप्त है। वेदाज्ञा मिलनेपर प्रभुकी रीति देखते हैं कि उनका यश न गाते बने तो रुष्ट तो नहीं होते। तो देखा कि 'जेहि जनपर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥' तब सन्तोष हुआ।

'भजन प्रभाव' पदका प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है। यथा—'कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं॥ जासु त्रास डर कहुँ डर होई। 'भजन प्रभाव' देखावत सोई॥' भक्तिका प्रभाव बहुत ठौर श्रीरामचरितमानसमें मिलेगा। यथा—'व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप। 'भगत हेतु' नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥ १। २०५।' 'व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥ १। १९८।' बालकाण्डहीमें मनुशतरूपा-प्रकरण दोहा १४४ में भी वेदोंका कथन लगभग ऐसा ही कहा गया है। यथा—'अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥ ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥'

इनसे भी यही सिद्ध होता है कि 'भजन प्रभाव भाँति बहु भाषा' से अगली चौपाइयोंमें जो कहा है उसीसे तात्पर्य है। 'भाषा'=कहा।* 'सो केवल भगतन्ह हित लागी' आगे देकर सूचित किया कि भजनसे 'भक्ति' ही का मतलब है।

सू० मिश्र—'यदि कोई कहे कि सब लोगोंको प्रेम क्यों हुआ? इसके ऊपर ग्रन्थकार लिखते हैं—'तहाँ बेद अस कारन राखा।' रुचिकी विचित्रताके कारण अनेक प्रकारसे कहा। 'रुचीनां वैचित्र्यादित्यादि।' अतएव सब देशके सब जातिके भक्त लोग अपनी-अपनी टूटी-फूटी वाणी या कवितामें सब लोगोंने भगवान्‌के गुण गान किये, कर रहे हैं और करेंगे। भक्तिका स्वरूप नवधा भक्ति करके लिखा है इसमें जिसको जो प्रिय हो वह उसीके सहारे भव पार हो जाय।'

---

* श्रीकरुणासिन्धुजी, श्रीजानकीदासजी इत्यादि कई महानुभाव 'प्रभाव' का अर्थ 'भाव' करते हुए इस चौपाईका अर्थ यों करते हैं कि 'वेदोंने इसका कारण यह दिया है कि भजनका प्रभाव बहुत भाँति है, बहुत रीति शोभित है और अनेक भाव हैं और अनेक वाणीसे है'। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजा, दास्य, सख्य, शृङ्गार इत्यादि भाव, आत्मनिवेदन, वेद, पुराण स्तोत्रपाठ, जप, ध्यान, प्रेम, यज्ञादिक भगवदर्पण करना ये सब भजन हैं। ('भाषा' का अर्थ ये दोनों महात्मा 'वाणी' करते हैं अर्थात् भजन बहुत भाषाओंसे हो सकता है। इसी तरह मैं अपनी वाणीमें भजन करता हूँ)।

बैजनाथजी लिखते हैं कि—'भजन करनेका प्रभाव बहुत भाँतिका है। अर्थात् जीव अनेक भाव मानते हैं। जैसे कि शेष शेषी, पिता-पुत्र, पुत्र-पिता, पत्नी-पति, जीव-ब्रह्म, सेवक-स्वामी, अंग-अंगी, नियम्य-नियामक, शरीर-शरीरी, धर्म-धर्मी, दीन-दीनदयाल, रक्ष्य रक्षक, सखा-सखी आदि अनेक भाव हैं, जिनसे भक्त भगवान्‌का भजन करता है। पुनः, ब्रह्मके अनेक नाम, रूप और मन्त्र माने गये हैं। यावत् नाम हैं सब उसी ब्रह्मके हैं। कोई आदि ज्योति, कोई निराकार ब्रह्म, कोई बीज, कोई प्रणव, कोई सोऽहं इस प्रकार भजता है। कोई मानसी सेवा, कोई तीर्थव्रतयज्ञादि करके प्रभुको समर्पण करता है, कोई आत्मतत्त्व विचारता है, कोई साधु-सेवा, कोई गुरुसेवा और कोई सर्वभूतात्मा मानकर सेवा करता है। इत्यादि अनेक भजनके भाव हैं'। श्रीरामजीका स्वभाव सुरतरुके समान है, जिस तरहसे भी जो उनके सामने जाता है वे उसके मनोरथको पूरा करते हैं। यथा—'देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥ २। २६७।' प्रभुने भी कहा है 'सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ। ७। ८७।' इत्यादि विचारकर सब निश्चिन्त हो भजन करते हैं।

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ३॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥ ४॥

अर्थ—जो परमात्मा एक, इच्छा एवं चेष्टारहित, अभिव्यक्त रूपरहित, अभिव्यक्त नामरहित (एवं जाति गुण-क्रिया-यदृच्छा आदि प्राकृत नामोंसे रहित), अजन्मा, सच्चिदानन्दस्वरूप, सबसे परे धामवाला एवं श्रेष्ठ तेज या प्रभाव-वाला सर्वचराचरमें व्याप्त, सारा विश्व जिसका रूप है एवं विराट् रूप और जो समस्त ऐश्वर्योंसे सम्पन्न है, उन्हीं भगवान्-ने (दिव्य) देह धारण करके अनेक चरित किये हैं॥ ३-४॥

नोट—१ इन चौपाइयोंमें जो ब्रह्मका वर्णन किया गया है, उसमें दो भाग हो सकते हैं। एक निषेधमुख, दूसरा विधिमुख। 'अनीह, अरूप, अनाम और अज' यह निषेधमुख वर्णन है और 'एक, सच्चिदानन्द, परधाम, व्यापक, विश्वरूप, भगवान्' यह विधिमुख वर्णन है। अद्वैतसिद्धान्तमें ब्रह्मको नामरूपरहित निर्गुण और अनिर्वचनीय कहा गया है। अतः निषेधमुख वाक्योंको तो ठीक-ठीक लगाया जाता है परंतु विधिमुख वाक्योंके अर्थ करनेमें कठिनता पड़ती है, क्योंकि इन वाक्योंका यथाश्रुत अर्थ करनेसे ब्रह्मकी निर्गुणता तथा अनिर्वचनीयता नष्ट हो जाती है। इसलिये विधिमुख वाक्योंको अद्वैतसिद्धान्तमें निषेधात्मक ढंगसे लगाया जाता है। जैसे कि (१) एक=द्वि इत्यादि संख्यासे रहित। अर्थात् जिसके सिवा संसारमें दूसरा कोई नहीं है। (२) सत्=असद्भिन्न। चित्=अचिद्भिन्न। आनन्द=दुःखरहित। (३) परधाम और भगवान् ये दो विशेषण विशेषोपाधि ब्रह्ममें (अर्थात् जिसको अद्वैतवादी सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते है, उसीको लक्षित करके वे) लगाते हैं। (४) व्यापक और विश्वरूप ये दो विशेषण उस मतके अनुसार व्यावहारिक सत्ता लेकर कहे गये हैं। उपनिषदोंमें भी जब इस प्रकारका वर्णन आता है, तब वहाँ भी इसी प्रकार श्रुतियोंमें बाध्यबाधक भाव, लक्षणा आदि किसी प्रकारसे उनको लगाना पड़ता है। परंतु विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमें ब्रह्मको दिव्य गुणोंसे युक्त तथा व्यक्त और अव्यक्त दो रूपवाला माननेसे उपर्युक्त विशेषणोंको ठीक-ठीक लगानेमें कठिनता नहीं पड़ती।

(१) 'एक' इति। (क) 'द्वितीयस्य सजातीयराहित्यादेकमुच्यते' अर्थात् सरकारी महिमाके तुल्य दूसरा नहीं होनेसे चेतनाचेतनमें अकेले विचरनेसे 'एक' नाम है। श्रुति भी कहती है, 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।' (श्वे० ६।८)। मानसमें भी कहा है, 'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ३। ६।' पुनः, (ख) 'एक एव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एकः।' अर्थात् अकेले ही सर्वत्र होनेसे 'एक' नाम है। पुनः, (ग) चेतनाचेतनविशिष्ट एक ब्रह्म होनेसे 'एक' वा 'अद्वितीय' है। जैसे प्रभाविशिष्ट एक सूर्य, पुत्रपौत्रादियुक्त एक सम्राट्, फेनतरंगादियुक्त एक समुद्र इत्यादि। (घ) समान वा अधिक दूसरा न होनेसे 'एक' कहा।

(२) 'अनीह' इति। (क) अन्+ईहा=इच्छा या चेष्टारहित। दृश्यमान चेष्टारहित (रा० प्र०)। (ख) कभी प्रसन्न, कभी उदासीन वा अप्रसन्न, कभी हर्षित, कभी शोकातुर, बाल्य, कौमार, पौगंड, कैशोर, युवा, वृद्ध आदि चेष्टाओंरहित सदा एकरस। (वै०)। (ग) अनुपम। (प०)। एक और अनीह है तो भी देह धारण करता है यह अगली अर्धालीमें कहते हैं। इसमें भाव यह है कि सूर्यादि देवगण जगन्नियन्ताके डरसे अपने-अपने व्यापारमें नित्य लगे रहते हैं। यथा—'भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। तैत्ति० वल्ली २। ८।' अर्थात् परमात्माके डरसे वायु चलता है, सूर्य भ्रमण करता है, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु दौड़ते रहते हैं। भागवतमें भी कहा है, 'मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्। वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥ भा० ३। २५। ४२।' (कपिल भगवान् देवहूतिजीसे कहते हैं। अर्थ वही है जो श्रुतिका है)। अथवा, शापादिके कारण भी देवता शरीर धारण करते हैं। परंतु परमात्माके अवतारमें ऐसे कोई कारण नहीं होते, क्योंकि न तो कोई इनसे बड़ा है जिसके डरसे इन्हें देह धरना पड़े और न कोई इनके बराबरका है। यह सूचित करनेके लिये 'एक' कहा। अच्छा शापादिसे न सही, अपने ही स्वार्थसाधनके लिये देहधारी होते होंगे? ऐसा भी नहीं है, क्योंकि वे तो पूर्णकाम हैं, उनको कोई इच्छा ही क्यों होगी? यह जनानेके लिये 'अनीह' कहा गया।

(३) 'अरूप अनामा' इति। (क) स्मरण रहे कि, 'एक, अनीह, अरूप, अनामा' आदि सब विशेषण अव्यक्तावस्थाके हैं। 'तेहि धरि देह' से पहलेके ये विशेषण हैं। अरूप है, अनाम है अर्थात् उस समय जिसका रूप या नाम व्यक्त नहीं है। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'यहाँ तो केवल 'अरूप' 'अनाम' शब्द आये हैं तब अव्यक्त विशेषण देकर इनका सङ्कुचित अर्थ क्यों किया जाता है?' तो उत्तर यह है कि ऐसा अर्थ करनेका कारण यह है कि श्रुतियोंमें अन्यत्र ब्रह्मके नाम और रूपका विशद वर्णन मिलता है। यथा—'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' (श्वे० ३। १४)। 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके' (श्वे० ३। १६) और शास्त्रका सिद्धान्त यह है कि असत् वस्तुका कभी अनुभव नहीं होता और सद्वस्तुका कभी अभाव नहीं होता। यथा—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' (गीता)। इस सिद्धान्तानुसार अनुभूत और श्रुतिकथित नामरूपका अभाव नहीं होता। अतः यहाँ 'अव्यक्त नामरूपरहित' ऐसा अर्थ किया गया। टीकाकारोंने इनके अर्थ ये किये हैं—(ख) अरूप=दृश्यमान रूप-रहित। (रा० प्र०)।=पञ्चतत्त्वोंसे बने हुए प्राकृत रूपरहित, देही-देहविभागरहित, चिदानन्द दिव्य देहवाला। (वै०)। (ग) अनाम=रूपके प्रकट होनेपर उसका नामकरण संस्कार होता है। नाम चार प्रकारके होते हैं। जातिनाम। जैसे रघुवीर। गुणनाम। जैसे श्याम। क्रियानाम। जैसे खरारी और यदृच्छानाम। जैसे प्राणनाथ, स्वामी, भैया आदि। ये सब सादर हैं। इन जातिगुणक्रियायदृच्छाके अनुसार जिसका नाम नहीं। राशि, लग्न, योग, नक्षत्र, मुहूर्त एवं सर्व-क्रियाकालसे रहित जिसका नाम है। अथवा, जिसके नामकी मिति नहीं होनेसे 'अनाम' कहा। (करु०)।=किसीका धरा हुआ नाम नहीं होनेसे 'अनाम' कहा। (रा० प्र०)।=रामनाम अक्षरातीत है। अर्थात् रेफ और अनुस्वार केवल नाद बिन्दुमात्र है अतः अनाम कहा। (वै०)=सर्व जीवोंके हृदयोंमें अधिपतिरूपसे बसते हुए भी उन शरीरोंका नामी न होनेसे 'अनाम' कहा।

(४) 'अज' इति। (क) जिसका जन्म समझमें नहीं आता। अथवा, 'स्तम्भजातत्वादितरवन्नजातत्वाच्च स्मृतः।' अर्थात् भक्त प्रह्लादके लिये खम्भसे प्रकट होनेसे तथा इतर जीवोंके-जैसा पैदा न होनेसे 'अज' नाम कहा है। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्य)। (ख) जिसका जन्म कभी नहीं होता। अर्थात् जीवोंका जन्ममरण उनके कर्मानुसार चौरासी लक्ष योनियोंमेंसे किसीमें एवं जो जीवोंकी उत्पत्तिकी चार खानें कही गयी हैं उनमेंसे किसीमें बीज-क्षेत्रादि कारणोंसे अथवा जिस किसी प्रकारसे जीवोंका जन्म होता है वैसा इनका नहीं होता, ये सर्वत्र व्याप्त हैं, केवल प्रकट हो जाते हैं। यथा—'बिस्वबास प्रगटे भगवाना'। 'भए प्रगट कृपाला। १। १९२।' (वै०)। (ग) जन्मरहित हैं। प्रादुर्भावमात्र स्वीकार करनेसे 'अजन्मा' कहा। (रा० प्र०)। पुनः (घ) यदि कोई कहे कि कश्यप, अदिति, वसुदेवजी और श्रीदशरथजीके यहाँ तो जन्म लिया है तो इसका उत्तर है कि प्रभुने जन्म नहीं लिया, वे प्रकट हुए हैं। यह नियम है कि जो जहाँ प्रकट होता है वह उसीके नामसे कहा जाता है। जैसे हैमवती गङ्गा, भागीरथी। गङ्गा तो भगवच्चरणसे निकली हैं पर प्रकट तो हिमपर्वतसे हुई। अतएव 'हैमवती' नामसे कही जाती हैं। एवं भूलोकमें भगीरथ ले आये तब 'भागीरथी' कहलायीं। जह्नु राजर्षिसे प्रकटीं तब 'जाह्नवी' नाम पड़ा। पाणिनिऋषिने भी लिखा है 'यतश्च प्रभवः' और प्रकटका अर्थ यही है कि वस्तु पहलेसे थी वही प्रकट होती है, यह नहीं कि नहीं थी अब जनमी है, अतएव व्यासादिकोंने 'प्रादुर्बभूव ह' लिखा है। इसीलिये अजन्मा लिखा है। अतएव विशेषण लिखा है 'न जायते इति अजः।'

(५) 'सच्चिदानन्द' इति। (क) सत्=सत्तागुणवाला। सत्ता=अस्तित्व, स्थित रहना। सत्ता वह गुण है कि जिसके पास वह हो उसके विषयमें 'है' ऐसा कहा जाता है। अर्थात् जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंमें बना रहता है। जिसका कभी नाश नहीं होता, उसको 'सत्' कहते हैं। चित्=चैतन्य गुणवाला। चैतन्य=चेतना=ज्ञान। ज्ञान वह गुण है कि जिसके द्वारा भला-बुरा आदि जाना जाता है, वह गुण जिसके पास हो उसे 'चेतन' कहते हैं और जिसके पास वह न हो उसको 'जड़' कहते हैं। अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यकालमें जहाँ जो कुछ हो गया, हो रहा है और होगा, उस सबको यथार्थरूपसे सदा जानते हैं तथा कोई भी विषय जिनको अज्ञात नहीं है उनको 'चित्' कहते हैं। आनन्द=आनन्द गुणवाला। आनन्द=सुख। आनन्द वह गुण है जिसको सब चाहते है, जिसकी प्राप्तिके लिये सभी यत्न कर रहे हैं। जिसके अनुकूल पदार्थ प्रिय तथा जिसके प्रतिकूल पदार्थ अप्रिय होते हैं। अर्थात् जो तीनों कालोंमें

अपरिमिति तथा अविनाशी आनन्दसे परिपूर्ण है तथा दुःख या दुःखद क्लेश जिनके पास कभी नहीं आते उनको 'आनन्द' कहते है। संसारमें सब कोई चाहता है कि हम सदा बने रहें, हमारा कभी नाश न हो, हम सब बातें जान लें, कोई बात बिना जाने न रहे, हम सदा पूर्ण सुखी रहें, कोई दुःख या कष्ट हमें न हो, अतः सबको चाहिये कि वह श्रीरामजीके आश्रित होवे, क्योंकि इन सब गुणोंका खजाना उन्हींके पास है इत्यादि। सब भाव 'सच्चिदानन्द' मे सूचित होते हैं। पुनः। (ख) अव्यय पुरुषकी जो पाँच कलाएँ (आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्) हैं, उनमें आनन्द प्रसिद्ध है। विज्ञान चित् है। मन-प्राण वाक्‌की समष्टि सत् है। सत् चित् आनन्दकी समष्टि ही 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' है। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी)। (ग) असत् पदार्थरहित केवल सत् पदार्थ सर्वकाल एकरस, सदा एकरस चैतन्य, जिसकी चेतनतासे जड़ माया जगत्मात्र चैतन्य है और सबको साक्षीभूत है, जो सबकी गति जानता है और जिसकी गति कोई नहीं जानता। यथा—'सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥' सबको चैतन्य करता है और स्वयं केवल चैतन्यरूप है। पुनः हर्षशोकरहित सदा एकरस अखण्ड आनन्दरूप है। (वै०)

(६) 'परधामा' इति। (क) परधाम=दिव्य धामवाले। यथा—'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।' (ऋग्वेद सं० १। २। ७)। (ख) धाम=तेज, प्रभाव। परधाम=सबसे श्रेष्ठ तेज वा प्रभाववाला। (ग) परधाम= जिसका धाम सबसे परे है। (वै०, रा० प्र०)

(७) 'व्यापक' इति। (क) अद्वैती मायिकजगत्‌में अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी व्याप्तिको लक्षित करके यह विशेषण लगाते हैं। परंतु द्वैती कहते हैं कि व्यापक शब्द सापेक्ष है। अर्थात् व्याप्यके बिना व्यापकता बनती नहीं। अतः जगत्‌को व्याप्य (सत्‌रूपसे) मानना आवश्यक है। उनका कथन है कि जैसे बालूमें शक्कर मिलायी जाय तो बालूके प्रत्येक कणके चारों ओर शक्कर ही रहती है उसी प्रकार अचित्‌के परमाणु और अणुरूप जीवोंके चारों तरफ ब्रह्म ही व्याप्त रहता है, परमाणु या जीवाणुके भीतर ब्रह्मका प्रवेश नहीं होता, क्योंकि उन (द्वैती) के मतमें पाँच भेद हैं। ब्रह्मजीव भेद, ब्रह्मजड़ भेद, जीवजड़ भेद, जीव जीवभेद और जड़ जड़ भेद। प्रत्येकमें परस्पर भेद है। परंतु इस प्रकारकी (शक्करबालूवत्) व्यापकतामें ब्रह्म परिच्छिन्न हो जाता है, क्योंकि अनन्त परमाणु तथा जीवाणुमें उसका प्रवेश न होनेसे उतना स्थान ब्रह्मसे रहित है। अतएव विशिष्टाद्वैती इस व्यापकताको नहीं स्वीकार करते। वे परमाणु और जीवाणुमें भी ब्रह्मकी व्याप्ति मानते हैं। इनका कथन है कि जैसे नेत्र शीशेमें प्रवेश करता है (क्योंकि प्रवेश न करता तो उसे दूसरी ओरकी वस्तु कैसे दिखायी पड़ती ?), वैसे ही ब्रह्म भी परमाणु और जीवाणुमें प्रवेश करता है। ऐसा माननेसे उसकी ठीक-ठीक व्यापकता सिद्ध होती है। और, 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनः अन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।' यह श्रुति भी यथार्थ संगत हो जाती है। यथा—'अणोरणीयान्' (कठोप० १। २। २०) इस श्रुतिका भी स्वारस्य आ जाता है। इस श्रुतिका तात्पर्य यह है कि बड़ी वस्तुमें छोटी वस्तुका प्रवेश हो सकता है, छोटी वस्तुमें बड़ीका प्रवेश नहीं होता, अतः अणुसे भी अणु कहनेका कारण यह है कि परमाणुमें भी ब्रह्मका प्रवेश माना जा सके।

(८) 'विश्वरूप' इति। (क) जैसे देहमें जीवका निवास होनेसे जीव देहके नामसे पुकारा जाता है और यह देह जीवका शरीर कहा जाता है यद्यपि जीव न देह है और न देहका नाम उसका नाम है, वह तो चेतन, अमल, सहजसुखराशि है। इसी तरह सारे विश्वमें ब्रह्मके व्याप्त होनेसे सारा विश्व ब्रह्मकी सत्तासे भासित होनेसे यह सारा विश्व भगवान्‌का देह वा रूप और भगवान्‌को 'विश्वरूप' कहा गया। यथा—'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो-ऽन्तरो यः सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्। बृहदारण्यक० ३। ७। १५।' अथवा, (ख) विराट्‌रूप होनेसे विश्वरूप कहा। अथवा (ग) ब्रह्मके अङ्ग-अङ्गमें लोककी कल्पना करनेसे विश्वरूप कहा है। यथा—'विस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वासु। लोककल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥ ६। १४। पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा॥ भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला। जासु घ्रान अस्विनी-कुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥ श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥ अधर

लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥ आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥ रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥ उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कलपना॥ अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥ ६। १५।' अथवा, (घ) 'विश्वत रूपं यस्य स विश्वरूप।' अर्थात् जिसका रूप सब ओर है वह 'विश्वरूप' है। यथा—श्रुतिः, 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। ऋग्वेद सं०।' पुनश्च यथा गीतायाम् 'सर्वत पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३। १३।' अथवा, (ङ) 'विश्वस्य रूपं यस्मात्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार विश्वका रूप जिससे (लोगोंके अनुभवमे आता) है वह 'विश्वरूप' है। प्रलयकालमे विश्व अव्यक्त था। वह परमात्माकी इच्छासे स्थूलरूपमे होनेसे सबके अनुभवमे आ रहा है। इसीसे परमात्माको विश्वरूप कहा। विशेष मं० श्लो० ६ मे देखिये। अथवा, (च) 'विश्वेन रूपयते इति विश्वरूप।' विश्वद्वारा जो जाना जाता है, वह 'विश्वरूप' है। अर्थात् जैसे कि जीवाणु वायुमण्डलमें सर्वत्र फैले हुए हैं परतु उनका सर्वसाधारणको ज्ञान नहीं होता, वे ही जब प्रारब्धानुसार स्थूल देहधारी होते है तब उस देहकी चेष्टादिके द्वारा उनके चेतनत्वका ज्ञान हो जाता है। वैसे ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी यदि यह स्थूल विश्व न होता तो हम उनका ज्ञान न हो सकता, विश्वद्वारा ही उनका ज्ञान अनुमानादिद्वारा होता है इसीसे उनको 'विश्वरूप' कहा गया।

(९) 'भगवाना' इति। विष्णुपुराणमे 'भगवान्' का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है। यथा—'यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्देश्यमरूप च पाणिपादाद्यसयुतम्॥ ६६॥ विभु सर्वगतं नित्य भूतयोनिरकारणम्। व्याप्यव्याप्तं यत सर्वं यद्वै पश्यन्ति सूरय॥ ६६॥ तद्ब्रह्म तत्पर धाम तद्ध्येय मोक्षकाङ्क्षिभि। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्म तद्विष्णो परमं पदम्॥ ६८॥ तदेव भगवद्वाच्य स्वरूप परमात्मन। वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मन॥ ६९॥' (अश ६ अ० ५) अर्थात् अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप (देवमनुष्यादिरूपरहित), (मायिक) हस्तपादादिरहित, विभु (नियन्ता), व्यापक, नित्य, सर्वभूतकी जिनसे उत्पत्ति हुई, स्वय अकारण, व्याप्यमें जो व्याप्त है, जिनका बुद्धिमान् लोग ध्यान करते हैं, वह ब्रह्म, वह परधाम, मुमुक्षुका ध्येय, श्रुतिने जिसका वर्णन किया है, सूक्ष्म और विष्णुका परम पद यह परमात्माका स्वरूप 'भगवत्' शब्दसे वाच्य है और उस अनादि अक्षय आत्माका 'भगवत्' शब्द वाचक है।

यह स्वरूप बताकर उसकी व्याख्या की गयी है। (१) 'भगवत्' के भ, ग, व, अक्षरोके सांकेतिक अर्थ इस प्रकार है। भ=सम्भर्ता (प्रकृतिको कार्य योग्य बनानेवाले)।=भर्ता (स्वामी या पोषक)। ग=नेता (रक्षक), गमयिता (सहर्ता) और स्रष्टा। व=जो सबमें वास करता है और जिसमें सब भूत वास करते है। यथा—'सम्भर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वित। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने॥ ७३॥ 'वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्यय.॥ ७५॥' (वि० पु० ६। ५)। उपर्युक्त गुणोसे सम्पन्न होनेसे 'भगवान्' नाम है। इस व्याख्यासे यह सिद्ध किया कि ससारका उपादानकारण, निमित्तकारण तथा उत्पत्ति-स्थिति-लयके करनेवाले और अन्तर्यामी यह सब 'भगवान्' हैं। (२) भगवान्=भग अस्यास्ति' इति भगवान्। भग=सम्यक् ऐश्वर्य, सम्यक् वीर्य, सम्यक् यश, सम्यक् श्री, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् वैराग्य ये छओ मिलकर 'भग' कहलाते है। ऐश्वर्य आदि सम्पूर्णरीत्या जिनके पास हो उसे भगवान् कहते हैं। यथा—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रिय। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णा भग इतीरणा॥ ७४।' (३) भगवान्=जो जीवोंकी उत्पत्ति, नाश, आगमन, गमन, विद्या और अविद्याको जानते है। यथा—'उत्पत्तिं प्रलय चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्या च स वाच्यो भगवानिति॥ ७८।' (वि० पु० ६। ५)

महारामायण और निरुक्तिमे भगवान् शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है—(१) 'ऐश्वर्येण च धर्मेण यशसा च श्रियैव च। वैराग्यमोक्षषट्कोणै संजातो भगवान् हरि॥' (महा० रा० अ० ४८ श्लो० ३६)। अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष (ज्ञान) इन छओके सहित जिन्होंने अवतार लिया है, वह 'भगवान्' हैं। (२)

'पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यं षड्भिः पूर्णो हि रामस्तु भगवान् स्वयम्॥' (महारामायणे। करु० की टीकासे)। अर्थात् भरणपोषण करनेवाला, शरणागतको शरण देनेवाला, सर्वव्यापक और करुणापूर्ण इन छओंसे पूर्ण भगवान् श्रीराम हैं। (३) 'सर्वहेयप्रत्यनीककल्याणगुणवत्तया। ४३३। पूज्यात्पूज्यतमो योऽसौ भगवानिति शब्द्यते॥' (निरुक्ति। विष्णुसहस्रनामकी श्लोकबद्धटीका)। अर्थात् त्याज्य मायिक गुणदोषोंके विरोधी, कल्याणगुणोंसे युक्त तथा सम्पूर्ण पूज्योंसे भी पूज्यतम होनेसे 'भगवान्' नाम है। (प० अखिलेश्वरदासजी)।

नोट—२ 'तेहि धरि देह चरित कृत नाना' इति। अर्थात् (क) उपासकोंके लिये देहकी कल्पना कर लेते हैं। यथा—'निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार। १। १९२।', 'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥ रा० पू० ता० १। ७।' अर्थात् जो चिन्मय अद्वितीय, निष्कल और अशरीरी है वह ब्रह्म उपासकोंके कार्यके लिये रूपकी कल्पना कर लेता है। (ख) भाव यह कि जैसे मनुष्य कहते करते हैं, वैसे ही भगवान् नरशरीर धारण करके नरनाट्य करते हैं। और उन्हींकी तरह बाल्यादि अवस्थाएँ धारण करते हैं। ब्रह्म अवतार लेता है, इसके प्रमाणमें 'अवतारमीमांसा', 'अवतारसिद्धि' आदि अनेक पुस्तकें मिलती हैं। दो एक प्रमाण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। (१) 'एषो ह देवऽप्रदिशो नु सर्वाऽपूर्वो ह जातुऽसऽउ गर्भेऽअन्तः॥ सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जना स्तिष्ठति सुर्वतो मुख॥४॥' (यजुर्वेदसंहिता अ० ३२, कण्डिका ४, मन्त्र १)। अर्थात् हे मनुष्यो! यह देव परमात्मा जो सब दिशा-विदिशाओंमें व्याप्त है, पूर्व समयमें गर्भके भीतर प्रकट हुआ। जो कि सबको पैदा करनेवाला था और जो सब ओर मुखवाला हो रहा है। (२) 'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तर जायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिम्परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानि विश्वा॥' (यजु० ३१। १९) अर्थात् सम्पूर्ण जगत् तदात्मक हैं। आशय यह है कि सर्वत्र परमात्मा स्थित है। वह सबमें व्याप्त होकर अजन्मा होकर भी अनेक रूप धारण करता है। (कण्डिका १९ मन्त्र १)। गीतामें भी कहा है, 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥४। ८।'

३ बैजनाथजी लिखते हैं कि भगवद्गुणदर्पणमें कहा है कि एक बार महारानीजीने श्रीरामजीसे कहा कि आपका 'सौलभ्य गुण' छिपा हुआ है, आप सुलभ होकर सबको प्राप्त हूजिये। तब भगवान् अन्तर्यामी रूपसे सबके हृदयमें बसे। महारानीजीने कहा कि यह रूप तो सबको सुलभ नहीं है, केवल तत्त्वदर्शियोंको प्राप्त होगा। तब प्रभु चतुर्व्यूह सङ्कर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्नरूपसे प्रकट हुए। तब महारानीजीने कहा कि यह रूप केवल योगियोंको प्राप्त होगा, सबको नहीं। तब प्रभु जगन्नाथ, रङ्गनाथ और स्वयं शालग्रामादि अनेक रूपोंसे प्रकट हुए। महारानीने कहा कि ये रूप तो सुकृती लोगोंको प्राप्त हैं, अन्यको नहीं। तब प्रभुने मत्स्यादि अवतार ग्रहण किये। इसमें भी सुलभता न मानी क्योंकि एक तो ये थोड़े ही काल रहे और फिर उनकी कीर्ति भी मनोहर नहीं। तब प्रभु स्वयं प्रकृतिमण्डलमें प्रकट हो बहुत काल रहे और अनेक विचित्र चरित किये जिन्हें गाकर, सुनकर इत्यादि रीतिसे संसारका उद्धार हुआ। यहाँ व्यापकसे वह अन्तर्यामीरूप, विश्वरूपसे जगन्नाथादिरूप, भगवान्से चतुर्व्यूहरूप, 'धरि देह' से मत्स्यवराहादि 'विभव' रूप और 'चरित कृत नाना' से नरदेहधारी रूप कहे गये।

४ यहाँ दस विशेषण देकर सूचित करते हैं कि जो इन दसों विशेषणोंसे युक्त है, वही परमात्मा है और वही भक्तोंके लिये देह धारणकर अनेक चरित्र किया करते हैं। पुनः, भाव कि चारों वेद और छओं शास्त्र उन्हींका प्रतिपादन करते हैं। यदि 'भगवान्' को विशेषण न मानें तो नौ विशेषण होंगे। नौ विशेषण देनेका भाव यह होगा कि संख्याकी इति नौ (९) ही से है, अतः नौ विशेषण देकर संख्यातीत वा असंख्य विशेषणोंसे युक्त जनाया। श्रीरामजीके गुण, कर्म, नाम और चरितसे भी अनन्त हैं। यथा—'राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी॥' 'रामचरित सत कोटि अपारा। ७। ५२।' और यदि 'सत् चित् आनन्द' को तीन मानें तो बारह विशेषण होंगे। बारहका भाव यह हो सकता है कि जिस ब्रह्मने पूर्ण बारह कलाओंवाले सूर्यके वंशमें अवतार लिया वह यही है।

५ इन चौपाइयोंमें जो भाव गोस्वामीजीने दरसाया है, ठीक वही भाव विष्णुपुराणके षष्ठ अंश अध्याय पाँचमें विस्तारसे कहा गया है जिसमेंसे बहुत कुछ ऊपर 'भगवान्' शब्दपर लिखे हुए विवरणमें आ चुका है। जैसे चौपाईमें अव्यक्त रूपका वर्णन करके 'भगवाना' शब्द अन्तमें दिया और तब उनका देह धारण करना कहा है, वैसे ही वहाँ प्रथम अव्यक्त-रूपका (यत्तदव्यक्तमजर ···) वर्णन करके अन्तमें उसीका वाचक 'भगवान्' शब्द बताया और फिर उस शब्दकी व्याख्या करके अन्तमें उन्हींका देह धरना कहा है। यथा—'समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः। इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेषजगद्धितो य ॥ ८४। अर्थात् जिन्होंने अपनी शक्तिके लेशमात्रसे भूतमात्रको आवृत किया है तथा अपनी इच्छासे जो अभिमत देह धारण करते हैं ऐसे समस्त कल्याणगुणोंवाले भगवान् (श्रीरामजी) अशेष जगत्का हित करते हैं। (प० अखिलेश्वरदासजी)।

सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥ ५ ॥

अर्थ—सो (देह धारण करके चरित्र करना) भक्तके ही हितके लिये है (क्योंकि) वे परम दयालु हैं और शरणागतपर उनका प्रेम है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—'सो केवल भगतन हित लागी।···' इति। (क) 'केवल' का भाव यह है कि अवतार होनेमें हेतु कुछ भी नहीं है। भक्तोंहीके हितके लिये अवतार होता है, यथा—'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा ॥ अ० २६५', 'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे ॥ सु० ४८।', 'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जगजाल ॥', 'राम सगुन भए भगत प्रेम बस। २। २१९।', 'अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी। १। ५१।', 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। ७। ७२।', 'भगत प्रेम बस सगुन सो होई। १। ११६।', 'भगत हेतु लीला बहु करहीं। ७। ७५।', इत्यादि। (ख) भक्तोंका हित क्या है? 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं ॥ बा० १२२।', यह हित हुआ। पुन, जो उपकार करते हैं उसे आगे लिखते हैं। (ग) 'परम कृपाल' पदसे अवतारका हेतु कहा कि कृपा करके ही अवतार लेते हैं। यथा—'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला। १। १९२।', 'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥ तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥ बा० १२१।', 'गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तन धारी ॥ ५। ३९।', 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं ॥ १। १२२।', 'मुख्य तस्य हि कारुण्यम्' (शाण्डिल्यसूत्र ४९)। पुन 'परम कृपाल' का भाव कि अन्य स्वामी वा देव 'कृपाल' होते हैं और ये 'परम कृपाल' हैं। श्रीरामजीके सम्बन्धमें 'कृपा' का भाव यह है कि एकमात्र हम ही भूतमात्रकी रक्षाको समर्थ हैं। यथा भगवद्गुणदर्पणे, 'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसन्धान कृपा सा पारमेश्वरी ॥' (वै०)। (घ) 'प्रनत अनुरागी' इति। अर्थात् भक्तके प्रेममें मर्यादाका विचार नहीं रह जाता। जो एक है उसका बहुत रूप धारण करना, जो ईहा अर्थात् व्यापाररहित है उसका व्यापार करना, जो अरूप है, अनाम है और अज है उसका रूप, नाम और जन्म ग्रहण करना, जो सच्चिदानन्द है उसका हर्षविस्मयमें पड़ना, जो परधामवासी है उसका नरधाम (मर्त्यलोक) में आना, जो सर्वव्यापी है, विभुरूप है और षडैश्वर्यसम्पन्न है उसका सूक्ष्म जीवरूप भासित करना, छोटी-सी देह धारण करना और माधुर्यमें विलाप आदि करना ये सब बातें उस परम समर्थ प्रभुमें न्यूनता लाती हैं। इसीसे इसका समाधान इस अर्धालीमें किया है कि वह प्रभु परम कृपाल और प्रनत अनुरागी है। वह अपने भक्तोंके लिये यह न्यूनता भी ग्रहण करता है। श्रीप्रियादासजी 'भक्तिरस बोधिनी टीका' में 'भगवान्' शब्दकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं, 'वही भगवत संतप्रीति को विचार करे धरे दूरि ईशताहु पांडुन सों करी है।' वही भाव यहाँ दरसाया है। (शीलावृत्त)। सन्तो भक्तोंके अनुरागमें मर्यादा छोड़ देते हैं। मत्स्य, कच्छ, नृसिंह, वाराह, वामनादि देह धारण कर लेते हैं। (ङ) साक्षात् दर्शन क्यों नहीं देते? अवतार क्यों धारण करते हैं? उत्तर—जैसे सूर्यको कोई स्वयं नहीं देख सकता पर यदि उनका प्रतिबिम्ब जलमें पड़े तो सब कोई अनायास देख सकते हैं वैसे ही भगवान्को कोई देख नहीं सकता, वे दुष्प्रेक्ष्य हैं। अवतार प्रतिबिम्बके समान है। सबको

आनन्दके साथ दर्शन मिल जाय इसलिये अवतार ग्रहण करते हैं। (रा० प्र०, सू० प्र० मिश्र)। (प्रतिबिम्बके समान होना वैष्णवसिद्धान्तानुकूल नहीं है। अद्वैत सिद्धान्तमें विम्बागत प्रतिबिम्बको ईश्वर कहते हैं। और वैष्णव सिद्धान्तमें स्वयं ब्रह्म भक्तवश प्रकट हो जाता है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि ब्रह्म अपने अनन्तकोटि सूर्यवत् प्रकाशको छिपाये रखते हैं)।

खर्रा—इस प्रकरणमें गोस्वामीजीने प्रथम लोकपरम्परा दिखायी। यथा—'तदपि कहे बिनु रहा न कोई'। फिर 'भजन प्रभाव भाँति बहु भाषा' से वेदके अनुकूल दिखाया। और 'तेहि धरि देह चरित कृत नाना।' १३ (४) कहकर आचरणसे श्रीरघुनाथजीको अङ्गीकार है यह दिखाया। तथा—'परम कृपाल प्रनत अनुरागी' से अपना निर्वाह दिखाया कि मेरी कविताका आदर करेंगे एवं अपने और रघुनाथजीमें प्रणत और प्रणतपालका नाता दृढ़ किया।

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥ ६॥

अर्थ—जिसकी अपने दासपर अत्यन्त ममता और कृपा है और जिसने कृपा करके (फिर) क्रोध नहीं किया॥ ६॥

नोट—१ यह चौपाई और अगली 'परम कृपाल प्रनत अनुरागी' के विशेषण हैं। दूसरेका दुःख देख स्वयं दुखी हो जाना 'करुणा' है।

२ (क) 'ममता' और 'अनुराग' (जो ऊपर 'प्रनत अनुरागी' में कह आये हैं) का एक ही अर्थ है। इसी तरह 'छोह' और 'कृपा' का (जो ऊपर 'कृपालु' कह आये हैं) एक अर्थ है। पूर्व 'परम' विशेषण दिया, इसीसे यहाँ 'अति' विशेषण दिया। (ख) 'अति' का भाव यह है कि जीव ज्यों ही आपकी शरण आता है, आप उसके सब अपराध भूल जाते हैं। श्रीमुखवचन हैं कि 'कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥' जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाईं॥ सु० ४४।', 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्‌व्रतं मम॥ इति वाल्मीकीय-रामायणे ६। १८। ३३।'

३ ऊपर कहा कि प्रणतपर अनुराग करते हैं। इसपर यदि यह संदेह कोई करे कि 'फिर क्रोध भी करते होंगे, क्योंकि जहाँ राग है, वहाँ द्वेष भी है?' तो इसका निवारण इस चौपाईमें करते हैं। भाव यह कि जिस जनपर ममता और छोह है, उसपर क्रोध नहीं करते। यथा—'साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष, सपनेहुँ राम न उर धरेउ।' (दोहावली ४७)। पुनः 'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी॥ बा० २८।' इत्यादि। वाल्मीकीयमें भी यही कहा है कि 'न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥' (वाल्मी० २। १। ११), 'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥ (वाल्मी० ६। १८। ३)।

४ इस चौपाईमें प्रभुको 'जितक्रोध' और 'पूर्ण समर्थ स्वामी' दर्शित किया है। जो पूर्ण नहीं होते, वे ही अपराध-पर क्रोधित होते हैं। यथा—'भली भाँति पहिचाने जाने साहिब जहाँ लौं जग, जूड़े होत थोरेही थोरेही गरम।' रीझि रीझि दिए बर खीझि खीझि घाले घर, आपने निवाजे की न काहू के सरम' (वि० २४९)। 'कहा बिभीषन लै मिल्यो कहा बिगार्‌यो बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहि सब दिन आए पालि' ॥ दोहावली १५८।'

गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥ ७॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी खोई हुई वस्तुको दिलानेवाले, गरीबनिवाज (दीनोंपर कृपा करनेवाले), सरल स्वभाव, सबल, सर्वसमर्थ स्वामी और रघुकुलके राजा हैं॥ ७॥

---

१ तेहि—को० रा०, रा० प्र०। जेहिं—१६६१, १७०४ (शं० ना० चौ०। परंतु रा० प० में 'तेहि' है), १७२१, १७६२, छ०। करु०, प०, प० रा० व० श० जीने 'तेहि' पाठ दिया है।

नोट—१ (क) 'गई बहोरि' इति। अर्थात् (१) गयी (=खोई) हुई वस्तुको फिरसे ज्यों-की त्यों प्राप्त कर देनेवाले। यथा, (क) दशरथमहाराजका कुल ही जाता था। यथा—'भइ गलानि मोरे सुत नाहीं। १। १९८।', उनके कुलकी रक्षा की। विश्वामित्रजीका यज्ञ मारीचादिके कारण बंद हो गया था, सो आपने मुनिको निर्भय किया। 'देखत जग्य निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं' ॥ १। २०६।', 'निरभय जग्य करहु तुम्ह जाई ॥ मारि असुर द्विज निरभय कारी। १। २०९।', 'कौसिक गरत तुषार ज्यों लखि तेज तिया को' (वि०)। (ख) अहल्याका पातिव्रत्य नष्ट हुआ। उसका रूप उसको फिर दिया, पाषाणसे स्त्री किया और उसे फिर पतिसे मिलाया। 'गौतम नारि साप बस उपल देह धरि धीर। मुनि श्राप जो दीन्हा एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी। जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पतिलोक अनंद भरी ॥ १। २११।', 'चरनकमलरज परसि अहिल्या निज पतिलोक पठाई। गी० १। ५०।', (ग) गौतम ऋषिकी बिछुड़ी हुई स्त्री दिलायी। 'रामके प्रसाद गुरु गौतम खसम भये, रावरेहु सतानंद पूत भये मायके। गी० १। ६५।' (घ) श्रीजनक प्रतिज्ञा गयी रही, उनका प्रण रक्खा। यथा—'तजहु आस निज निज गृह जाहू। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई ॥ १। २५२।', 'कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं। १। २६१। 'जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। १। २६३।' (ङ) सुग्रीवजीको फिर राज्य दिया। 'सो सुग्रीव कीन्ह कपि राऊ'। (च) देवताओंकी सम्पत्ति सब रावणने छीन ली थी, सो उनको दिलायी। यथा—'आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कैकै दिए सरखतु है। क० ६। ५८।', 'दससुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना है। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं ॥ गी० ७। १३।'

(२) महानुभावोंने कुछ और भी भाव ये लिखे हैं। (क) योगभ्रष्ट होनेपर आपकी शरण जिसने ली आपने उसे फिर योगमें आरूढ़ कर दिया। पुन· जिसका मायाके आवरणके कारण विषयासक्त होनेसे स्वरूपका ज्ञान जाता रहता है, उसे फिर प्राप्त करनेवाले हैं। (करु०)। पुन सम्पूर्ण अवस्था व्यतीत होनेपर भी जब अन्तिम समय आ जाता है, तब भी शरण होते ही जन्मका फल प्राप्त कर देते हैं। यथा—'तरेउ गजेन्द्र जाके एक नाउँ', 'बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अब ही आज। होहु रामको राम जपु तुलसी तजि कुसमाज ॥', 'गई बहोर ओर निरवाहक साजक बिगरे काज के। सबरी सुखद गीध गति दायक समन सोक कपिराज के ॥' (गी०)।

नोट—२ (क) गरीबनिवाजके उदाहरण। यथा—'अकारन को हितू और कौन है , 'बिरद गरीब निवाज कौनको भौंह जासु जन जोहैं। वि० २३०।', 'बालि बली बलिसाहि दलि सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपालु को बिरद गरीब निवाज ॥ दोहावली १५८।', 'राम गरीबनिवाज हैं मैं गहो न गरीबी। तुलसी प्रभु निज ओर ते बनि परै सो कीबी ॥' (विनय)। अयोध्याकाण्ड भर इसके उदाहरणोंसे भरा हुआ है। गरीबी, मिसकीनता और दीनता एक ही हैं, पर्याय हैं। दीनता यह होनी चाहिये कि मुझसे नीच कोई नहीं है, तृण (घास) वत् हो जाय, पैरसे कुचले जानेपर जो उफ भी नहीं करती। जिस दशामें फिर दूसरा भाव ही न समा सके, सदा उसी रङ्गमें रँगा रहे। श्रीदेवतीर्थस्वामीजी 'दीनताकी व्याख्या यों करते हैं, 'पति पद सुरति लगी सियजू की आन भाव न समाई। उनको सुरति आन की कैसे होइ न बात कहाई ॥ सखी दीनता यह देवलमें क्षणक रहे जो आई। तौ चटपटी परै सियजू को इहई नेक उपाई ॥' (ख) कोई ऐसा लिखते हैं कि मायाके कारण जो सब धन ऐश्वर्यहीन हो गये उन गरीबोंको ऐश्वर्य देनेवाले होनेसे 'गरीबनिवाज' कहा।

३ 'सरल' के उदाहरण यथा—'सिसु सब राम प्रेम बस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने ॥ निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई ॥ १। २२५।' 'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं ॥ १। २२७।', 'बेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन ॥ अ० १३६।', 'सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह। आ० ९।', 'सरल सील साहिब सदा सीतापति सरिस न कोइ।' (विनय)। निषाद और शबरीके प्रसग इसी गुणको सूचित करते हैं।

४ 'सबल' इति। रामायणभर इसका दृष्टान्त है। सबल ऐसे कि 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥ ६। २२।' पुन, सबल ऐसे कि शङ्करजीके भी ध्यानमें नहीं आते। (पाण्डेजी)।

५ 'साहिब' इति। यथा—'हरि तजि और भजिये काहि। नाहिन कोउ राम सों ममता प्रनत पर जाहि॥ कनककसिपु बिरंचि को जन कर्म मन अरु बात। सुतहि दुखवत विधि न बरजेउ कालके घर जात॥ संभु सेवक जान जग बहु बार दिये दस सीस॥ करत रामविरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस॥' और 'देवन्हकी कहा कहौं स्वारथहिके मीत॥ कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गये सभीत। वि० २१६।', 'जे सुर सिद्ध मुनीस योगविद वेद पुरान बखाने। पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने॥ वि० २३६।' दोहा २८ (४) में भी देखिये। (वि० २४९, २५०, १९१, कवितावली और १३ (६) नोट ४ देखिये।

६ 'रघुराजू' इति। ऐसे कुलमें अवतीर्ण हुए कि जिसमें लोकप्रसिद्ध उदार, शरणपालादि राजा हुए और आपका राज्य कैसा हुआ कि 'त्रेता भइ सतजुग की करनी।', 'राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥ बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥···काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं। २१··· अति प्रबल दस दिसा बिभागा। उ० १९ से २३ तक।' पुन ७। ३१ देखिये। इससे दिखाया कि इनकी शरण लेनेसे जीव अभय हो जाते हैं।

'सरल सबल साहिब रघुराजू' इति।

ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी—सरल भी हैं और साथ ही सबल भी और पुनः वे रघुकुलके महाराज हैं। सरलके साथ सबल इसलिये कहा कि सबलताहीमें 'सरलता' और 'शक्ति' हीमें क्षमाकी शोभा होती है और यह न समझा जावे कि ये शक्तिहीन थे, अतएव दीन (या सरल) थे। यथा—'शक्तानां भूषणं क्षमा।' रघुवंशियोंमें ज्ञानमें मौन और शक्तिमें क्षमा, दानमें अमानता, धर्मे ही सबलतामें सरलता ये गुण स्वभावसे सिद्ध हैं। यथा—'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः। गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव॥' (रघुवंश १। २२) सो उन रघुवंशियोंमें और उस रघुकुलमें श्रीरामचन्द्रजी सर्वश्रेष्ठ अतएव पुरुषोत्तम हैं। 'बडी साहिबीमें नाथ बडे सावधान हौ। क० ७। १२६।' 'साहिब' के साथ 'रघुराज' पद देनेका यह भी भाव है कि वे साहिब अथवा ईश्वर होते हुए रघुराज हैं और रघुराज होते हुए भी ईश्वर हैं। अर्थात् उनका चरित और महत्त्व ऐश्वर्य माधुर्यमय है।

प० रामकुमारजी—अवतार लेकर भक्तोंका जो हित करते हैं सो कहते हैं। मन, वाणी और चरितसे 'सरल' हैं। भक्तोंके लिये बडे-बडे बलवान् राक्षसोंको मारते हैं, अतः 'सबल' हैं तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं,· अतः 'साहिब' कहा। 'रघुकुलके राजा' हैं, धर्मकी रक्षा करते हैं।

छः विशेषण देनेका भाव

१ सन्त श्रीगुरुसहायलालजी—(क) 'गई बहोरि··' से सात अवतार सूचित किये हैं। यथा—'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥ लं० १०९।' अथवा, (ख) सब अवतार सूचित किये। (१) 'गई बहोरि' से 'मीन' कमठ, शूकर अवतार सूचित किये। शङ्खासुर वेदको चुराकर समुद्रमें ले गया था, सो मत्स्यरूपसे ले आये। दुर्वासाके शापसे लक्ष्मी समुद्रमें डूब गयी थीं। क्षीरसागर मथनेके लिये गरुडपर मन्दराचल लाये। देवताओंके सँभाले जब न सँभला तो कमठरूपसे मन्दराचलको पीठपर धारण किया। हिरण्याक्ष पृथ्वीको पाताल ले गया तब शूकररूप हो पृथ्वीका उद्धार किया। (२) 'गरीबनिवाजू' से नृसिंह अवतार सूचित किया जिसमें प्रह्लादजीकी हर तरहसे रक्षा की, 'खम्भेमेंसे निकले'। (३) 'सरल' से वामन अवतार सूचित किया। क्योंकि प्रभुता तजकर विप्ररूप धर भीख माँगी। एवं बुद्धरूप जनाया जो दयागुणोंके हेतु वेदनिन्दक कहलाये। (इसीसे कहीं-कहीं बुद्धको अवतारमें नहीं गिना है) (४) 'सबल' से परसुराम अवतार कि जिन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया, इत्यादि जितने अवतार हैं उन सबके साहिब हैं। (५) 'सबल साहिब रघुराजू'—ऐसे सबल परशुराम उनके भी स्वामी श्रीरामजी हैं कि जिनकी स्तुति परशुरामजी

ने की। अवतारका परास्त होना इसीमे है। इस प्रकार आपको अवतारोंका अवतारी सूचित किया। यथा—'एतेषामवताराणामवतारी रघूत्तम'। हनुमत्संहितायाम्।

२ सुदर्शनसंहितामे लिखा है कि 'राघवस्य गुणो दिव्यो महाविष्णु' स्वरूपवान्। वासुदेवो घनीभूतस्तनुतेज सदाशिवः ॥ १ ॥ मत्स्यश्च रामहृदय योगरूपी जनार्दन। कूर्मश्चाधारशक्तिश्च वाराहो भुजयोर्बलम् ॥ २ ॥ नारसिंहो महाकोपो वामन कटिमेखला। भार्गवो जङ्घयोर्जातो बलरामश्च पृष्ठत ॥३॥ बौद्धस्तु करुणा साक्षात् कल्किश्चित्तस्य हर्षतः। कृष्णः श्रृङ्गाररूपश्च वृन्दावनविभूषण ॥ ४ ॥ एते चांशकला सर्वे रामो ब्रह्म सनातन. ॥ ५ ॥ अर्थात् श्रीराघवके जो दिव्य गुण हैं, वही विष्णु हैं, उनका कल्याणकारी घनीभूत तेज वासुदेव हैं, योगरूपी जनार्दन श्रीरामजीका हृदय मत्स्य हैं, आधारशक्ति कूर्म बाहुबल वाराह, महाक्रोध नृसिंह, कटिमेखला वामन, जङ्घा परशुराम, पृष्ठभाग बलराम, बौद्ध साक्षात् श्रीरामजीकी करुणा, चित्तका हर्ष कल्कि और श्रीकृष्ण वृन्दावनविहारी श्रीरामजीके श्रृङ्गारस्वरूप हैं। इस प्रकार ये सब श्रीरामजीके अंश हैं और श्रीराम अंशी स्वयं भगवान् हैं। सम्भवत इसीके आधारपर मानसमयककारने लिखा है, "परसुराम क्षति मवल हैं, साहिब मन पर राम। हिय अधार भुज कोप कटि जंघ अंश सुखधाम॥' अर्थात् उपर्युक्त छओं अवतार क्रमश हृदय, आधारशक्ति, भुजा, कोप, कटि और जङ्घाके अंशोंसे हुए हैं। अत. श्रीरामजी सबके स्वामी वा अवतारी हैं।

३ रा० प्र०—यहाँ छः विशेषण दिये हैं। ये प्रतिकाण्डकी कथाके लिये क्रमसे एक एक विशेषण हैं। उत्तरकाण्ड खिल भाग जानकर छोड़ दिया है। या, छठे विशेषण 'रघुराज' से लङ्का और उत्तरकाण्डोंकी कथाका संग्रह किया। 'गई बहोर, गरीब निवाजू' हैं—विश्वामित्र, अहल्या तथा जनकराजके बाधित और विनष्ट होते हुए ध्येय और प्रणको लौटाया एव शबरी, निषाद आदिपर कृपा की। सरलता शबरी आदिके यहाँ जानेमें, सबलता ताल्वेय और खरदूषणादिके वधमे, साहबी विभीषणकी रक्षामे, रघुराज रिपुसहित राज्यमें। (प्रतिकाण्डके लिये क्रमश एक एक विशेषण माननेसे एक काण्डकी कथाके लिये विशेषणकी कमी होती है। इसकी पूर्ति 'साहब' को सुन्दर एव लङ्का दोनों काण्डोंकी कथा दर्शित करनेवाला विशेषण माननेसे हो सकती है। विनयमें कही हुई 'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी' श्रीहनुमान्जीके चरित तथा हनुमद्रावणसंवादमे भलीभाँति दर्शित की गयी है और लङ्काकाण्डमे भी मन्दोदरी, अङ्गद, माल्यवान् कुम्भकर्णादिद्वारा तथा त्रैलोक्यविजयी रावणके वधसे सिद्ध ही है। मा० प्र० कार 'साहिब' से अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लङ्का चार काण्ड लेते हैं। किष्किन्धामें सुग्रीवकी साहिबी सजी, सुन्दरमें विभीषणको लङ्केश कहा और तिलक कर दिया तथा लङ्कामें राज्यपर बिठा दिया।

बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—पुनीत = पवित्र। सुफल = जो मुखमे निकले वह सत्य हो यही वाणीकी सफलता है। श्रीरामयशगुण कितना ही कोई बढ़ाकर कहे, वह थोड़ा ही है। इसलिये रामगुणगानमें जो कुछ कहा जायगा सब सत्य ही होगा। इससे वाणी सफल होती है। (मा० प्र०) = कृतार्थ।

अर्थ—ऐसा जानकर (कि गुणातीत प्रभु भक्तहित देह धारण करके चरित करते हैं जिसे गाकर भक्त भव पार होते हैं और वे प्रभु परमकृपालु, प्रणत अनुरागी और गई-बहोरादि हैं।) बुद्धिमान् पण्डित हरियश वर्णन करते हैं और अपनी वाणीको पवित्र और सुफल करते हैं ॥ ८ ॥

नोट—'करहिं पुनीत' उपक्रम है, 'निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कहेउ' (३६१) मे इसका उपसंहार है। इस चौपाईका चरितार्थ बालकाण्डके अन्तमें है। यथा—'तेहि ते मैं कछु कथा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी॥ निज गिरा पावनि करन कारन, राम जस तुलसी कहेउ। ३६१।'

नोट—रामयश वर्णन करनेका यहाँ दूसरा कारण बतलाया। प्रथम कारण 'तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा।' १३ (२) मे कह आये।

तेहि बल मैं रघुपति गुनगाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा ॥ ९ ॥

अर्थ—उसीके बलसे मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें शीश नवाकर (उन्हीं) रघुकुलके स्वामीके गुणोंकी कथा कहूँगा ॥ ९ ॥

टिप्पणी—१ 'तेहि बल' इति । जिस बलसे बुध वर्णन करते हैं, उसी बलसे मैं भी वर्णन करता हूँ। अर्थात् भजन जानकर अथवा बुध ऐसा जानकर वर्णन करते हैं और इनको देखकर वर्णन करना उचित ही है, शारदा-शेषादिका आश्रय लेकर बुध वर्णन करते हैं और बुधका आश्रय लेकर मैं वर्णन करता हूँ।

२ उस बलसे 'मैं रघुपति गुनगान करूँगा', यहाँ इतना कहकर आगे 'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई' से 'एहि प्रकार बल मनहि दिखाई' तक बलका वर्णन है। [पुन', 'तेहि बल'='भजन बल' से। (रा० प्र०) वा, श्रीरामचन्द्रजीको 'गई बहोरि गरीबनेवाज' जानकर उनके बलपर। (करुणासिंधुजी)। 'बल' का अर्थ 'भरोसा, चिर्ता, विश्वास' है। यथा—'जौं अंतहु अस करतब रहेऊ। मॉंगु मॉगु तुम्ह केहि बल कहेऊ ॥ २ । ३५ ।', 'कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गालु करब केहि कर बलु पाई ॥ २ । १४ ।', 'मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे ॥ १ । ३४२ ।]

३ 'कहिहउँ' अर्थात् आगे कहूँगा, अभी नहीं कहता, अभी तो वन्दना करता हूँ। आगे जब कहूँगा तब रामपदमें माथा नवाकर कहूँगा। यथा—'अब रघुपति पदपंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिवर्ज कर मिलन सुभग संबाद ॥ १ । ४३ ।'

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम[1] मोहि भाई ॥१०॥

अर्थ—मुनियोंने पहले हरियश गाया है। भाई, उसी मार्गपर चलना मुझे सुगम जान पड़ता है ॥ १० ॥

नोट—१ 'मुनिन्ह' इति। (क) मुनिन्ह बहुवचनसे निश्चित हुआ कि पूर्व भी मुनियोंने श्रीरामयश गाया है। (ख) 'तेहि मगु' इति। भाव कि जो राह वे निकाल गये, उसी राहपर हम भी चलेंगे। यह नहीं कहते कि जो उन्होंने कहा वही हम भी कहेंगे। वह मग क्या है? 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई', 'निज निज मति मुनि हरिगुन गावहि। ७ । ९१ ।', 'एहि भॉंति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं। प्रभु भावगाहक अतिकृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं। ७ । ९२ ।' यही मार्ग हम भी ग्रहण करेंगे। पुन किसीने बाल, किसीने पौगण्ड या विवाह, किसीने वन या रण और किसीने राजगद्दी इत्यादि प्रसग लेकर जो जिसको भाया उसीको विस्तारसे जहाँतक उसकी बुद्धि जिस प्रसंगमें चली कहा, वैसे ही हम भी जैसी कुछ प्रभुकी कृपा-अनुकम्पासे बुद्धिमें अनुभव होगा कहेंगे। (ग) सुगमता आगे दोहेमें दृष्टान्तद्वारा कहते हैं।

२ 'मोहि भाई'। इसका अर्थ बैजनाथजीने 'मुझे रुचता है, भाता है' किया है। 'भाई' विचार करनेमें मनके सम्बोधनके लिये बोलनेकी रीति है, वस्तुत इसका कोई अर्थ यहाँ नहीं है। विशेष ८ (१३) 'जथा बहु नर सर सरि सम भाई।' में देखिये।

दो०—अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—सेतु=पुल। बर=बड़ी, श्रेष्ठ। पिपीलिका=चींटी (वा, च्यूँटी)। सरित=नदी। श्रम=परिश्रम, थकावट।

अर्थ—जो बड़ी दुस्तर नदियाँ हैं, यदि राजा उनमें पुल बँधा देते हैं, तो बहुत ही छोटी से-छोटी चींटियाँ भी बिना परिश्रमके पार चली जाती हैं ॥ १३ ॥

नोट—१ 'रघुपति कथा' उपमेय है और वह स्त्रीलिङ्ग है, इसलिये स्त्रीलिङ्ग शब्द श्रेष्ठ नदी (सरित बर) से उसकी उपमा दी। प० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ 'समुद्र' न कहकर 'सरित बर' ही कहनेका कारण यह है कि

१ सुलभ—१७२१, १७६१, छ०। सुगम—१६६१, १७०४, को० रा०।

'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई' (जो ऊपर कह आये हैं उस) के 'कीरति' के साथ समुद्रका समानाधिकरण नहीं है।' रघुपति चरित अपार है। यथा—'कहँ रघुपतिके चरित अपारा'। इसीसे 'अपार सरित' की उपमा दी। प० शिवलाल-पाठकजी इस दोहेका भाव यह लिखते हैं कि 'सरित नदी वर पर जलधि। अँग सियवर यश जान॥ मन पिपीलिका तोष लगि, कहे सेतु निर्मान'। (मा० अ० २७)। और मा० म० में लिखते हैं—'मरुच सिंह चप रामयश लरसुघ दुदजल अत।' अर्थात् सरितबर (=समुद्र) रूपी रामयशपर पुल बाँधना सर्वथा असम्भव है, परंतु यहाँ मनके सन्तोषके लिये सेतु बाँधना कहा है। पुन पूर्व जो 'गई बहोर' में सात अवतार कहे थे, उनका यश क्रमसे सातों समुद्र है। ल (लवण), र (इक्षुरस), सु (सुरा), घ (घृत), दु (दुग्ध), द (दधि) और जल (मीठे जलका) ये सात समुद्र हैं जो क्रमशः एकसे दूसरा दूना होता गया है। पुल बाँधना तो सभीपर असम्भव है, उसपर भी जो अन्तिम सबसे बड़ा मिष्ट जलधि है वह तो अत्यन्त अपार है। उसपर तो मनसे भी सेतु बन्धन करना महान् असम्भव है। परंतु मनके सन्तोषके लिये कहते हैं कि वाल्मीकि, व्यास आदिने आखिर उसे गाया ही है और उसपर 'इति श्री' लिखी ही है वैसे ही मैं कहूँगा। 'इति श्री' लगाना ही पुल बाँध देना है।

२—यहाँ वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे-तैसे आदि वाचक पद लुप्त हैं। 'अति अपार सरितबर' रामयश है, नृप 'वाल्मीकि व्यासादि हैं, सेतु उनके रचे ग्रन्थ और पिपीलिका गोसाईंजी हैं।

एहि प्रकार बल मनहि देखाई। करिहौं रघुपति कथा सुहाई॥ १॥

अर्थ—इस प्रकार मनको, बल दिखाकर श्रीरघुनाथजीकी सुन्दर शुभ कथा कहूँगा॥ १॥

टिप्पणी—१ ऊपर पहले यह कह आये हैं कि 'तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा'। १३ (९) और यहाँ कहते है कि 'एहि प्रकार बल मनहिं देखाई। करिहौं रघुपति कथा सुहाई।' प्रथम 'कहिहउँ' कहा, अब 'करिहौं' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम गोस्वामीजीने यह कहा था कि 'बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहि पुनीत सुफल निज बानी॥' जब उनका वर्णन कहा, तब अपने लिये भी वर्णन करना लिखा, अत 'कहिहउँ' पद दिया। पुन, जब मुनियोंका सेतु बाँधना कहा, यथा—'तेहि मगु चलत सुगम मोहि भाई॥ अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं।' तब आपने भी कहा कि दूसरोंके लिये मैं भी ऐसा ही करूँगा। यह बात 'करिहौं' पद देकर सूचित की है।

२ प्रथम गोस्वामीजीने 'तेहि बल' कहा और यहाँ 'एहि प्रकार' कहते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँ दो प्रकरण हैं। पहले मन कदराता था, कथा कहनेमें प्रवृत्त ही नहीं होता था। जब बल दिखाया तब प्रवृत्त हुआ। यह प्रकरण 'समुझत अमित रामप्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥ १२। १२।' से लेकर 'तेहि बल मैं रघुपतिगुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा॥ १३। ९।' तक है। मनका कदराना दूर हुआ, बुद्धि कथा कहनेको तैयार हुई, परंतु पार होनेमें संशय रहा। दूसरे प्रकरणका यहाँ प्रारम्भ हुआ। पार जानेके लिये अब बल दिखाते हैं कि 'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मगु चलत सुगम मोहि भाई॥ अति अपार जे सरित बर।' यह दूसरा प्रकरण 'एहि प्रकार बल मनहि देखाई।' पर समाप्त हुआ। पुनः, मुनियोंको श्रीरामकी अमित प्रभुताई कहनी कठिन है। जितनी मुनि कहते हैं, उतनी हमसे कही जाना दुष्कर था। श्रीरामजीकी प्रभुता समझकर मन कदराता था, उसे इस प्रकार बल दिखाया कि मुनियोंने यथाशक्ति उसे कहा तो हम भी यथाशक्ति कहेंगे उतना न सही।

नोट—'सुहाई' से कई अभिप्राय निकलते हैं। कथा सुन्दर है, सबको 'सुहाई' अर्थात् प्रिय लगेगी। यथा—'प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति रामजस संग', और जैसी हमको सुहावेगी, भावेगी, वैसी कहेंगे, अर्थात् जैसे किसीने बालचरित, किसीने विवाह इत्यादि अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कहा वैसे ही हमें जो रुचेगा हम उस प्रसङ्गको विस्तारसे कहेंगे।

निज नीचानुसंधानसहित वन्दनाका प्रकरण समाप्त हुआ।

कवि-वन्दना-प्रकरण

व्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरिसुजस बखाना॥ २॥
चरन कमल बंदौं तिन्ह केरे। पुरवहु सकल मनोरथ मेरे॥ ३॥

अर्थ—व्यास आदि अनेक बड़े बड़े कवि जिन्होंने बड़े आदरपूर्वक हरिसुयश कहा है॥ २॥ उन सबोंके चरण-कमलोंको प्रणाम करता हूँ। (वे) सब मेरे मनोरथको पूरा करें॥ ३॥

नोट—१ व्यासजीका नाम दिया, वह भी आदिमें, क्योंकि व्यासजी २४ अवतारोंमेंसे एक अवतार माने गये हैं। आप ऐसे समर्थ थे कि अपने शिष्य संजयको यह सिद्धि आपने ही दी कि वह राजा धृतराष्ट्रके पास बैठे हुए महाभारत युद्ध देखता रहा और राजाको क्षण क्षणका हाल वहीं बैठे-बैठे बताता रहा। पुन. काव्यरचनामें आप ऐसे निपुण हुए कि १८ पुराण रच डाले। पुन, आपने वेदोंके विभाग किये हैं। अत सबसे प्रधान समझकर इनको प्रथम कहा। आप शुकदेवजीके पिता और सत्यवतीके पुत्र वसिष्ठजीके प्रपौत्र हैं। गोस्वामीजी चाहते हैं कि आप ऐसी ही कृपा हमपर करें कि हमें भी श्रीरामचरित सूझने लगे और हम उसे छन्दोबद्ध कर सकें। पुन 'व्यास आदि' पद देकर यह भी सूचित किया कि इनसे लेकर इनके पूर्व जितने बड़े-बड़े कवि द्वापर, त्रेता और सतयुगमें हुए उन सबकी वन्दना करते हैं। द्विवेदीजी कहते हैं कि 'आदिकवि' को एक पद कर देनेसे इस रामायणके प्रबन्धमें प्रधान श्रेष्ठ वाल्मीकिजीका भाव भी आ जाता है। और बैजनाथजीका मत है कि यहाँ व्यास, आदिकवि वाल्मीकि और बड़े-बड़े कवि नारद, अगस्त्य, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि जो बहुत-से हुए, उन सबोंकी वन्दना है। परंतु वाल्मीकिजीकी वन्दना आगे एक दोहेमें स्वतन्त्ररूपसे की गयी है जिसका कारण स्पष्ट है कि उन्होंने केवल रामचरित्र ही गान किया है और कुछ नहीं और इन व्यासादि महर्षियोंने श्रीहरिचरित्र तो सादर अवश्य गाया है, पर उन्होंने देव, दैत्य, नर, नागादिके भी चरित्र-वर्णन किये हैं, केवल भगवच्चरित्र ही नहीं। (वै० भू०)। पुंगव=श्रेष्ठ, बड़े-बड़े।

२—'सकल' पद 'व्यास आदि' और 'मनोरथ' दोनोंके साथ ले सकते हैं। इसे दीपदेहली न्याय कहते हैं। 'सकल मनोरथ' क्या हैं? सुन्दर मति हो, सुन्दर कविता बने और कविताका साधुसमाजमें आदर-सम्मान हो।

३—'सादर बरने' इति। प्रेम उत्साह, सावधानतासे चित्त लगाकर कहना ही आदरसे कहना है। 'सादर' पद देकर बतलाते हैं कि हरियश आदरपूर्वक वर्णन करना चाहिये। यथा—'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ १। १५।', 'रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह। बा० १११।' इत्यादि। पुनः 'सादर'=आदरके सहित। 'सादर' कहनेका अभिप्राय यह है कि कविने अपने नायक और उनके चरित आदिका श्रद्धापूर्वक वर्णन किया है, वह उसका प्रिय विषय है। यह भी जनाया कि औरोंके चरित सामान्यत. वर्णन किये हैं, पर भगवच्चरित्र आदरसहित कहे हैं।

टिप्पणी—पूर्व ऐसा कह आये हैं कि 'मुनि न्ह प्रथम हरि कीरति गाई।' अब उन्हीं व्यास आदि मुनियोंकी वन्दना करते हैं जो कवि भी हैं। पहले रामरूप मानकर वन्दना की थी, अब रामचरितके नाते वन्दना करते हैं।

कलि के कबिन्ह करौं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा॥ ४॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने॥ ५॥
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवौं सबहिं[१] कपट सब[२] त्यागें॥ ६॥

शब्दार्थ—परनाम=प्रणाम। गुनग्राम=गुणोंका समूह, यश।

अर्थ—कलियुगके (उन) सब कवियोंको (भी मैं) प्रणाम करता हूँ जिन्होंने श्रीरघुनाथजीके गुणसमूहोंका वर्णन

---

१ सबनि—१७२१, १७६२, छ० भा० दा०। सबहि—१६६१, रा० प्र०, १७०४। २ छल—१७२१, १७६२, छ०, रा० प०, मा० प्र०। सब—१६६१, १७०४, (श० ना०), को० रा०।

किया है ॥ ४ ॥ जो बड़े चतुर 'प्राकृत' कवि हैं जिन्होंने भाषामें हरिचरित कहा है ॥ ५ ॥ और जो (ऐसे कवि) हो गये हैं, मौजूद हैं या आगे होंगे उन सबोंको सब कपट छोड़कर मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥

कवियोंकी वन्दना

ग्रन्थकारने दोहा १४ की दूसरी अर्द्धालीमें प्रथम व्यास आदि अनेक श्रेष्ठ कवियोंकी वन्दना की। फिर कलियुगके कवियोंकी वन्दना चौथी अर्धालीमें की, तत्पश्चात् भूत, भविष्य, वर्तमानके भाषाके कवियोंकी वन्दना की।

व्यासादिकोंको 'कवि पुंगव' कहा, इसलिये उनकी वन्दनामें 'चरन कमल बंदौं' पद दिया, जो विशेष सम्मानका द्योतक है। औरोंके लिये केवल 'प्रनवौं' पद दिया है। व्यवहारकी शोभा इसीमें है कि जो जैसा हो, उसका वैसा ही सम्मान किया जावे।

उक्त तीनों स्थानोंमें हरियश वर्णन करना सबके साथ लिखा है। यथा—'जिन्ह सादर हरि सुयस बखाना', 'जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा', 'भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने'। ये विशेषण तीनों जगह देकर यह सूचित करते हैं कि हम उन्हीं कवियोंकी वन्दना कर रहे हैं जिन्होंने 'हरिचरित' वर्णन किया है, जिन्होंने हरिचरित नहीं कहा, वे चाहे संस्कृतके कवि हों चाहे भाषाके, हम उनकी वन्दना नहीं कर रहे हैं।

यहाँ तीन प्रकारके कवियोंकी वन्दना की। व्यास आदि बड़े-बड़े कवि जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापरमें हुए, उनकी वन्दना प्रथम की। फिर कलिके कवियोंकी दो शाखाएँ कीं। १४ (४) में 'भाषा' पद न देकर सूचित किया कि कलियुगमें जो संस्कृतके कवि कालिदास, भवभूति आदि हुए हैं उनकी वन्दना करते हैं और अन्तमें भाषाके कवियोंकी वन्दना की।

प० रामकुमारजी कहते हैं कि तीसरी शैलीमें भाषाके कवियोंको 'प्राकृत कवि' कहकर सूचित किया कि व्यास आदि अप्राकृत कवि हैं।

प्राकृत=साधारण, लौकिक (अर्थात् प्राकृतिक) गुणोंसे विशिष्ट। यथा—'यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ।' जिनका साधारण व्यवसाय यह है कि स्थूल प्रकृति विशिष्ट अदिव्य नायकोंका वर्णन करते हैं।

प्रोफे० दीनजी—'जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा ' इति संस्कृतमें करनेवालोंने कलियुगका विचार न किया कि संस्कृत कौन समझेगा और इन्होंने समयानुसार भाषामें किया, इसलिये 'परम सयाने' विशेषण इनको दिया गया। 'प्राकृत ' अर्थात् कलियुगमें जिन कवियोंने 'प्राकृत' भाषामें रामचरित बखाना और जिन्होंने भाषामें बखाना। दो तरहके कवि। 'परम सयाने' दीपदेहली है।

द्विवेदीजी—'प्राकृत कवि' ऐसा पद डालनेसे प्राकृतभाषाके कवि अर्थात् बौद्धमतके भी कवि जो हरिचरित्रानुरागी हैं उन्हें जना दिया।

☞'प्राकृत' इति। इस शब्दके दो अर्थ लिये गये हैं। इसलिये यह भी बताना आवश्यक है कि 'प्राकृत' भाषा कौन भाषा है। ईसवी सन्‌से तीन सौ वर्ष पूर्व अर्थात् आजसे दो हजार तीन सौ वर्ष पूर्व भाषा प्राकृत रूपमें आ चुकी थी। पूर्वी प्राकृत 'पाली' भाषाके नामसे प्रसिद्ध हुई। संस्कृतके विकृत और वर्तमान हिन्दीकी प्रारम्भिक अवस्थाका नाम 'प्राकृत' था। चन्द बरदाईके पहले सर्वथा तथा सोलहवीं शताब्दीके आस पासतक प्राकृतमें कविता होती थी। जैन ग्रन्थ तथा अनेक बौद्ध ग्रन्थ भी प्राकृतहीमें हैं। वर्तमान हिन्दी अर्थात् सूरसेनी (व्रजभाषा), अवधी और मागधी आदिका सम्मिश्रण ही 'भाषा' है। भाषाका लक्षण बताया गया है कि 'संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनं च मागधम्। पारसीकमपभ्रंशं भाषाया लक्षणानि षट्॥' अर्थात् इन छओंसे मिली हुई जबानका नाम 'भाषा' है। (वै० भू०)।

नोट—२ भए=हुए। अर्थात् हमारे पहले जो हो गये हैं, जैसे चन्द कवि (जो भाषाके आदि कवि हुए जिनका 'पृथ्वीराज रासो' प्रसिद्ध ग्रन्थ है), और गङ्ग आदि। 'अहहिं'=आजकल हमारे समयमें मौजूद हैं, वर्तमान। जैसे, सूरदासजी। होइहहिं=आगे होंगे, भविष्यके।

३ 'कपट सब त्यागें' इति। (क) गोस्वामीजीने इन कवियोंको 'कपट त्याग' कर प्रणाम करना लिखा। मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि ये भाषाके कवि आपके सजातीय हुए, इससे उनको कपट-छल त्यागकर प्रणाम करते हैं। (पाण्डेजी)। प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'संस्कृत कवियोंके साथ छल-कपट करनेकी प्राप्ति नहीं, इसलिये उनसे कपट छल त्याग करना न कहा। भाषा कवियोंके साथ छल कपट होना सम्भव है। क्योंकि ये भी भाषाके कवि हैं, अत इनसे सफाई की।' (ख) यहाँ 'कपट' क्या है? प० रामकुमारजी कहते हैं कि ऊपरसे प्रणाम करना और भीतरसे बराबरीका अभिमान रखना कि ये भाषाके कवि हैं और हम भी तो भाषाके कवि हैं यही कपट है। छलसे प्रणाम नहीं करते कि मेरी कविताकी निन्दा न करें, बल्कि सद्भावसे प्रसन्न होनेके लिये प्रणाम करते हैं। आगे होनेवाले कवियोंको प्रणाम किया, इससे लोग यह अनुमान न करें कि छोटेको प्रणाम क्यों किया, अतएव ऐसा कहा कि छोटाई-बड़ाई या ऊँच-नीचका भेद न रखकर वन्दना करता हूँ। (वीरकवि)।

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥ ७॥
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बालकबि करहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—प्रबन्ध=रचना, काव्य। बादि=व्यर्थ, बेकार। बाल=बालककी-सी बुद्धिवाले, तुच्छबुद्धि, मूर्ख।

अर्थ—आप सब प्रसन्न होकर वरदान दीजिये कि साधुसमाजमें कविताका आदर हो॥ ७॥ (क्योंकि) जिस कविताका आदर साधु नहीं करते उसका परिश्रम ही व्यर्थ है, मूर्ख कवि (व्यर्थ ही उसमें परिश्रम) करते हैं॥ ८॥

नोट—१ सू० मिश्र—अपने ग्रन्थकी साधु-समाजमें आदरकी प्रार्थना है। इससे यह न समझना चाहिये कि गोसाईंजी काव्यके यशको चाहते हैं। उनका आशय तो यह है कि रामचरित्र वर्णन करनेवालोंके भीतर भेदका नाम भी नहीं रहता, यथा—'सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके॥' अतएव गोसाईंजीने उनकी प्रार्थना की कि जो तत्त्वकी बात हो और उन लोगोंको प्रिय हो वे मुझपर कृपा करके उसका वर देवें।

२ साधु समाजमें सम्मान हो यह वर माँगा। अब बताते हैं कि कविता कैसी होनी चाहिये कि जिसका साधु सम्मान करते हैं।

३ दो असम वाक्योंमें 'जो' 'सो' द्वारा समता दर्शाना 'प्रथम निदर्शना' है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ¹ हित होई॥ ९॥

शब्दार्थ—कीरति=कीर्ति, यश जो दान, पुण्य आदि शुभ कर्मोंसे हो जैसे बाग लगाना, धर्मशाला, पाठशाला, बावली बनवाना, तालाब या कुँआ खुदवाना इत्यादि। हित=हितकर। भूति=ऐश्वर्य, जैसे अधिकार, पदवी, उहदा पाना, धनवान् होना। भली=अच्छी।

अर्थ—कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य वही अच्छे हैं जो गङ्गाजीकी तरह सबको हितकर हों॥ ९॥

नोट—'सुरसरि सब कहँ हित होई' इति। राजा भगीरथने जन्मभर कष्ट उठाकर तपस्या की तब गङ्गाजीको पृथ्वीपर ला सके, जिससे उनके 'पुरुषा' सगरके ६०००० पुत्र जो कपिल भगवान्के शापसे भस्म हो गये थे, तरे और आजतक सारे जगत्का कल्याण उनके कारण हो रहा है। उनके परिश्रमसे पृथ्वीका भी हित हुआ। यथा—'धन्य सो देस जहाँ सुरसरी'। गङ्गाजी ऊँच-नीच, ज्ञानी-अज्ञानी, स्त्री-पुरुष आदि सबका बराबर हित करती हैं। 'सुरसरि सम' कहनेका भाव यह है कि कीर्ति भी ऐसी हो जिससे दूसरेका भला हो। यदि ऐसे किसी कामसे नाम प्रसिद्ध हुआ कि जिससे जगत्को कोई लाभ न हो तो वह सराहने योग्य नहीं। जैसे खुशामद करते-करते रायसाहब इत्यादि कहलाये अथवा प्रजाका गला घोटने या काटनेके कारण कोई पदवी मिल जाय। इसी तरह कविता पवित्र हो (अर्थात् रामयशयुक्त हो) और सबके

---

१ कहीं-कहीं 'कर' पाठ आधुनिक प्रतियोंमें है।

लिये उपयोगिनी हो, जैसे गङ्गाजल सभीके काम आता है। (पं० रा० कु०)। 'कविता' सरल हो, सबकी समझमें आने लायक हो, व्यर्थ किसीकी प्रशंसाके लिये न कही गयी हो, वरन्, 'निज सन्देह मोह भ्रम हरनी' होते हुए 'मङ्गल जनरञ्जनी। और 'भव सरिता तरनी' सम हो, सदुपदेशोंसे परिपूर्ण हो। जो ऐश्वर्य मिले तो उससे दूसरोंका उपकार ही करे, धन हो तो दान और अन्य धर्मोंके कामोंमें लगावे। क्योंकि 'सो धन धन्य प्रथम गति जाकी'। धनकी तीन गतियाँ कही गयी हैं। दान, भोग और नाश। सू० मिश्र कहते हैं कि 'कीर्ति, भणिति, भूतिकी समता गङ्गाजीसे देनेका कारण यह है कि तीनों गङ्गाके समान हैं। कीर्त्तिका स्वरूप स्वर्गद्वार है और अकीर्तिका नरकद्वार। यथा— 'कीर्त्तिस्वर्गफलान्याहुरासंसार विपश्चित । अकीर्ति तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम् ॥' अर्थात् पण्डित लोग कहते हैं कि कीर्त्ति स्वर्गदायक और अकीर्ति जहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं है ऐसे नरककी देनेवाली है। अतएव सबकी चाह कीर्त्तिकी ओर रहती है। वाणी उसका नाम है जिसके कथनमात्रसे प्राणिमात्रका पाप दूर हो जाय। 'तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो ' इति भागवते प्रथमस्कन्धे (५ । ११)। भूतिका अर्थ धन है। 'धनाद्धि धर्मं प्रभवति' 'साधनस्य भवेद्धर्म', इत्यादि। पुन, 'सुरसरि सम ' का भाव कि वेदादिका अधिकार सब वर्णोंको नहीं, प्रयागादि क्षेत्र एक देशमें स्थित हैं, सबको सुलभ नहीं, इत्यादि और गङ्गाजी, गङ्गोत्तरीसे लेकर गङ्गासागरतक कीटपतंग, पशुपक्षी, चींटीसे लेकर गजराजादि तक, चाण्डाल, कोढी, अन्त्यज, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, रङ्क-राजा, देव यक्ष, राक्षस आदि—सभीका हित करती हैं। इसी तरह संस्कृत भाषा सब नहीं जानते, इने-गिनेहीका हित उससे होता है और भाषा सभी जानते हैं उसमें जो श्रीरामयश गाया जाय तो उससे सबका हित होगा। यह अभिप्राय इसमें गर्भित है।

नोट—१ (क) यहाँ 'सुरसरि सम हित' कहा। आगे १५ (१-२) में वह 'हित' कहते हैं। 'मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अविवेका ॥' (ख) तीन उपमेयोंका एक ही धर्म 'सब कहँ हित' कहना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलङ्कार' है। (ग) आगे भाषाकाव्यका अनुमोदन करते हैं।

राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अँदेसा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—असमञ्जस=दुविधा, पसोपेश, सन्देह, सोच-विचार। यथा—'असमंजस अस हृदय बिचारी। बढ़त सोच ', 'बना आइ असमंजस आजू।' अयुक्त। अँदेसा (अंदेशा)=यह फारसी शब्द है जिसका अर्थ चिन्ता, फिक्र है। सुकीरति=सुन्दर उत्तम कीर्त्ति, निर्मल यश।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी कीर्ति (तो) सुन्दर है और मेरी वाणी भद्देसी है। यह असामञ्जस्य है, यह असङ्गति है, इसकी मुझे चिन्ता है ॥ १० ॥

नोट——१ 'असमंजस अस मोहि अँदेसा' इति। पं० रामकुमारजी—अगली चौपाईमें अपनी वाणीको टाट और रामयशको रेशम कहते हैं, जैसे रेशमी कपडेपर टाट (अर्थात् सनकी) बखिया (सीवनि) भद्देस है, वैसे ही भदेस वाणीमें सुन्दर यश कहना अच्छा नहीं लगेगा, यही असमंजस आ पड़ा है कि करें या न करें और इसीसे चिन्ता है।

२ करुणासिन्धुजी—श्रीरामजीकी कीर्त्तिके योग्य मेरी वाणी नहीं है, इसमें असमंजस और चिन्ता है कि यदि सन्त इसे ग्रहण न करें तो न कहना ही भला है परंतु बिना कहे भी मन नहीं मानता है।

३ पुन, अंदेशा इसलिये है कि मेरी वाणीके कारण श्रीरामयशमें धब्बा न लगे। जैसा कहा है कि 'तुलसी गुरु लघुता लहत, लघु संगति परिनाम। देवी देव पुकारियत, नीच नारि नर नाम ॥' (दोहावली ३६०)।

तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे। सिअनि सुहावनि टाट पटोरे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सिअनि=सीवन, सिलाई, बखिया। पटोरे (पटोल)=रेशमी वस्त्र। मोरे=मुझे, मुझको।

अर्थ—(परंतु) आपकी कृपासे यह बात भी मुझे सुलभ हो सकती है (कि वह मेरी भणित समुचित और सुभग हो जाय) जैसे रेशमकी सिलायीसे टाट भी सुशोभित होता है ॥ ११ ॥*

* अर्थान्तर—१ रेशमकी सिलाई टाटपर भी सुहावनी लगती है। (मानसाङ्क ना० प्र०)। २ टाटकी हो या रेशमकी हो, सिलाई अच्छी होनेपर सुहावनी लगती ही है। (वीरकवि)। भाव

नोट—१ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते है कि इस मेरी वाणीके माहात्म्यसे मुझे लोग अभिमानी न समझें इसलिये 'राम सुकीरति' इत्यादि दो चौपाइयोंसे अपनी वाणीको अधम ठहराया और उसे टाटके ऐसा बनाया। पण्डित, राजा और बाबूलोग सनके टाटको अधम समझकर उसपर नहीं बैठते, लेकिन साधारण लोगोंके लिये तो टाट ही प्रधान है। जहाँ दस भाई इकट्ठे होते है उसकी प्रशंसा 'वहाँ टाट पड़ा है' इस शब्दसे करते है, दिवालिया हो जानेसे कहते हैं कि उसका टाट उलट गया है। इस टाटमें रामचरित वर तागकी सीवन है इसलिये अच्छे लोग भी देखकर ललचैंगे, यह ग्रन्थकारकी उत्प्रेक्षा है।

२ मिश्रजी—इस चौपाईसे ग्रन्थकार अपने मनको दृढ करते हैं कि सत्संगतिसे क्या-क्या नहीं हो सकता है। यद्यपि मेरी वाणी रामगुण वर्णन करनेके लायक नहीं, तथापि आपकी कृपासे हो जायगी।

३ यहाँ 'वाचक लुप्तोपमा अलंकार' है। 'जैसे' और 'तैसे' शब्द लुप्त हैं जैसे रेशमकी सीवनसे टाट शोभित है उसी तरह श्रीरामचरितके योगसे मेरी वाणी भी सुहावनि लगेगी। (मा० प्र०)।

४ 'सुलभ' का भाव यह है कि भदेस वाणीसे रामयश कहना फबता नहीं, सो तुम्हारी कृपासे मुझे सुलभ है। (प० रा० कु०)

'सिअनि सुहावनि टाट पटोरे।' इति।

१ प० रामकुमारजी—रेशममें टाटकी सीवन भदेस है, सो भी सुहावनी हो जावेगी। अर्थात् वाणीकी भदेसता मिट जावेगी।

२ मा० प्र०—मेरी भदेस वाणीमें श्रीरामकीर्ति शोभित होगी जैसे टाटपर रेशमकी सिलाई शोभित होती है।

३ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि अब कुछ व्यङ्गसे लाड़ जनाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि हमारी वाणी श्रीरामकीर्तिके योग्य तो नहीं है, परन्तु आपकी कृपासे योग्यता भी सुलभ (सहज ही प्राप्त) हो जावेगी। क्योंकि सुन्दर रेशमके तागेसे अगर टाट अच्छी तरह सिया जावे (भाव यह है कि टाटपर रेशमकी बखिया अगर अच्छी की जावे) तो उससे टाटकी भी शोभा हो जाती है। इसी तरह टाटरूपी वाणीको श्रीरामयश-वरतागसे मैं सीता हूँ। आप कृपा करें तो वह भी अच्छी लगेगी। श्रीरामयश रेशम उसमें भी चमकेगा।

४ श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि—यहाँ काकोक्ति अलंकार है। सनसे पाटाम्बर सिला हुआ क्या अच्छा लगेगा? नहीं*। भाव यह है कि सनसे पाटाम्बर सियें तो देखनेवालोंको तो अच्छा कदापि नहीं लगेगा, वे हँसी उड़ावेंगे, परन्तु पहिननेवाले उसे अङ्गीकार कर लें तो निर्वाह हो जाता है, सीनेवालेका परिश्रम भी सफल हो जाता है। इसी तरह मेरी वाणीको आप अपनावेंगे तो वह भी सुहावेगी। पुनः वाल्मीकि, व्यास आदिकी संस्कृत कविताको रेशम और भाषा कविताको टाट सम कहा है। जिन्हें 'सीत' रूपी प्रीति व्यापी है उन्हें टाट भी अच्छा लगेगा। (प०, रा० प०)।

वैजनाथजी—यदि कहो कि प्रभुकी कीर्ति तो उत्तम ही है और भाषा सबको सुलभ है तब उसके बनानेमें क्या असमञ्जस करते हो, तो उसपर कहते हैं कि नहीं। चाहे संस्कृत हो चाहे भाषा, काव्यकी बनावट सबमें अच्छी लगती है। जैसे चाहे रेशमी वस्त्र हो चाहे टाट हो, यदि सिलाई अच्छी बने तो वह टाटमें भी अच्छी लगेगी और रेशममें भी। वही सीवनरूप सुन्दर काव्य करने योग्य नहीं हूँ वह भी आपकी कृपासे सुलभ है। क्या सुलभ है, यह आगे कहते हैं।

वे० भू० रा० कु० दा०—पूर्व जिन-जिन बातोंका निर्देश कर चुके हैं कि मेरी कविताका साधुसमाजमें सम्मान हो, पण्डित लोग आदर करें और गङ्गासमान सबको हितकर हो, भदेस होनेसे मेरी कवितामें अपने गुणोंसे उपर्युक्त बातोंको

* पहले जो बात कही है पीछे काकोक्तिसे उसके पुष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जब कोई अटपट बात कही जाती है तभी उसको काकोक्तिसे पुष्ट किया जाता है। यहाँ वैसी कोई बात नहीं है। (प्रोफे० दीनजी)।

प्राप्त करनेकी स्वय शक्ति नहीं है। आपकी कृपासे 'सोउ' वह सब भी मेरी कविताको सुगमतासे प्राप्त हो जायेगी जिसकी कि मुझे आशा नहीं है क्योंकि 'सो न होइ बिनु बिमल मति '।

नोट—५ 'सुलभ सोउ मोरे' इति। गोस्वामीजी यहाँ कहते हैं कि 'सुलभ सोउ मोरे'। कौन-सी वस्तु सुलभ है? जिस वस्तुका सौलभ्य वे चाहते हैं वह उपर्युक्त चौपाईमें होनी चाहिये, परन्तु उसमें उसका निर्देश नहीं मिलता है। तो 'सोउ' का प्रयोग किसके लिये किया है? इसका उत्तर यह है कि असमञ्जसके विरुद्ध-गुण-धर्मवाली बातका वे सौलभ्य चाहते हैं और उस भावका शब्द 'सामञ्जस्य' या 'सुसगति' होगा। अत. उसका अध्याहार किया गया। इससे यह ज्ञात हुआ कि 'सोउ' का प्रयोग 'सुसगति' के लिये किया गया है। और उसीका उनकी कृपासे होना मानते हैं। 'राम सुकीरति भनिति भदेसा।' इस चौपाईमें पहिले 'राम सुकीरति' को कहा है, फिर अपनी भणितिको 'भदेसा' कहा है, इसी क्रमसे यथासख्यालकारके अनुसार 'सिअनि सुहावनि टाट पटोरे' के शब्दोंको भी होना चाहिये। अत' 'राम सुकीरति' का उपमान 'पटोरे सिअनि' और 'भनिति भदेसा' का 'टाट' होना चाहिये। इससे इसका यही अर्थ हुआ कि 'रेशमकी सीवनसे टाट सुशोभित होगा।'

***करहु अनुग्रह अस जिय जानी। बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी॥ १२॥**

शब्दार्थ—अनुहरइ=उसके अनुसार, योग्य, तुल्य वा सदृश हो, प्राप्त करे।

अर्थ—जीमें ऐसा जानकर कृपा कीजिये। निर्मल यशके योग्य सुन्दर वाणी हो जावे। [वा, वाणी विमल यशको प्राप्त करे। (मा० प०)]

'बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी' इति। भाव यह कि यदि आपके जीमें यह बात आवे कि देखो तो कैसा अनाड़ी है कि सुन्दर रेशम टाटमें सीता है तो मुझे अपना जानकर मुझपर कृपा करके पाटके लायक वस्त्र दीजिये। अर्थात् श्रीराम-यशके लायक मेरी वाणी कर दीजिये। (करुणासिंधुजी)

प० रामकुमारजी—'ऐसा जीमें जानकर अनुग्रह करो कि रेशममें टाटकी सीवन है सो मेरी वाणी सुन्दर होकर विमल यशमें अनुहरे अर्थात् रेशम सम हो जावे। रेशममें रेशमकी सीवन अनुहरित है।'

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥ १४ (क)॥
सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मतिबल अतिथोरि।
करहु कृपा हरिजस कहउँ[1] पुनि पुनि करउँ निहोरि॥ १४ (ख)॥

शब्दार्थ—सहज बयर=स्वाभाविक वैर, जैसे चूहे-बिल्लीका, नेवले-साँपका, गौ-व्याघ्रका इत्यादि। यह वैर बिना किसी कार्य कारणके होता है और किसी प्रकार भी जीतेजी नहीं छूट सकता। दूसरा कृत्रिम वैर है जो किसी कारणसे होता है और उस कारणके दूर हो जाने वा मान लेनेसे छूट जा सकता है, पर सहज वैर बराबर बना रहता है, कदापि नहीं छूटता। 'सरल कबित'। 'सरल' कविता वह है जिसमें प्रसाद गुण हो, और प्रसाद गुण वह है जिसके आश्रयसे सुनते-सुनते कविता समझमें आ जावे। कीरति बिमल='निर्मल कीर्ति'। यथा—'बरनउँ रघुबर बिसद जस' (२९), 'राम सुकीरति' (१४), 'जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जस' (१४)। बखान=बड़ाईसहित वर्णन, प्रशसा। यथा—'मंदाकिनि कर करहिं बखाना'।

* १६६१ में यह अर्धाली थी पर उसपर फीका हरताल है। काशिराजकी छपायी हुई प्रति एव छक्कनलालजी, भागवतदासजी, बाबा रघुनाथदास और अयोध्याजीके महात्माओंकी प्रतियोंमें यह अर्द्धाली पायी जाती है। अत हमने भी लिया है।

१. कहौं निहोरि—१७२१, १७६२, छ०। करउँ निहोर—१६६१, १७०४, गौड़जी, को० रा०।

अर्थ—जो कविता सरल हो और जिसमें निर्मल चरितका वर्णन हो उसीको सुजान आदर देते हैं और उसको सुनकर शत्रु भी सहज वैर छोड़कर सराहते हैं अर्थात् सरलता और निर्मल यश उसमें हों तो सुजान और वैरी दोनों आदर करते हैं।* सो (ऐसी कविता) विना निर्मल बुद्धिके नहीं हो सकती और बुद्धिका बल मेरे बहुत ही थोड़ा है। आपसे बारम्बार विनती करता हूँ कि आप कृपा करें जिससे मैं हरियश कह सकूँ (अथवा मुझे हरियश कहना है अतएव आपकी कृपा चाहिये ॥ १४ ॥

टिप्पणी—१ 'सरल कवित कीरति·····' इति। (क) कवित्त कठिन हो तो सुजान आदर नहीं करते और उसमे रामजीकी विमल कीर्ति न हो तो भी आदर नहीं करते। अर्थात् कविताहीमें सरलता और निर्मल कीर्ति दोनों होने चाहिये। यथा—'भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥' 'रामनाम जस अंकित जानी॥ सादर कहहिं सुनहि बुध ताही॥' इत्यादि। (ख) 'जो सुनि करहिं बखान' का भाव यह है कि प्रथम तो शत्रु सुनते ही नहीं और यदि सुने भी तो 'बखान' नहीं करते, सुनकर चुप रहते हैं। पर वे भी 'दिव्य कविता' को वैर भुलाकर सुनते और कहते हैं।

नोट—१ सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि नीति तो यही है कि सहज वैर, जैसे बिल्ली-चूहेका, न्योले-सर्पका, सिंह-हाथीका, तो जीतेजी कदापि नहीं जाता, पर गोस्वामीजीका कथन है कि उत्तम काव्य सहज वैरको भी हटा देता है, उसीमें यह शक्ति है कि स्वाभाविक स्वभावको हटाकर अपूर्व अविरोधी गुणको करता है। ऐसे काव्यके बनानेकी शक्ति मुझमें नहीं है। इसलिये आपलोगोंसे विमल मतिकी प्रार्थना करता हूँ, क्योंकि बिना इसके सरल कविता नहीं बन सकती जिसकी सहज वैरी भी प्रशंसा करें। द्विवेदीजी लिखते हैं कि नैषधकार श्रीहर्षकी कविता सुनकर उनके पिताके शत्रु कान्यकुब्जेश्वरके दरबारके प्रधान पण्डितने भी हार मानकर प्रशंसा की और अपने स्थानपर श्रीहर्षको नियुक्त कर दिया; इसीपर श्रीहर्षने नैषधके अन्तमें लिखा है कि 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्' (सर्ग २२)। २ 'पुनि पुनि'=बारम्बार कवि ऐसी प्रार्थना करते हैं। यथा—'होहु प्रसन्न देहु बरदानू', 'करहु अनुग्रह अस जिय जानी', 'करउ कृपा हरिजस कहउँ।'

३ प्राय रामचरितमानसके प्रेमी इसपर विचार किया करते हैं कि गोस्वामीजीके इस ग्रन्थका आदर देश-देशान्तरमें हो रहा है, इसका क्या कारण है? कोई आपकी दीनता ही इसका कारण कहते हैं। कोई और-और कारण बताते हैं। हमारी समझमें एक कारण इस दोहेसे ध्वनित होता है। सरलस्वभाव कवि, वैसे ही सरल उनकी

---

* 'जो कविता सरल हो और यश निर्मल हो उसीका आदर सज्जन करते हैं तथा उसीको सुनकर स्वाभाविक वैरी भी अपने वैरको छोड़कर उसका वर्णन करने लगते हैं'। विनायकी टीकाकार यह अर्थ करते हैं और लिखते हैं कि 'सरल कविताकी सराहना भाषाके विरोधी भी करने लगते हैं।' 'और विमलकीर्ति जैसे अर्जुनके पराक्रमके सामने उनके शत्रु महारथी कर्णकी प्रशंसा श्रीकृष्णजीने की थी।' परंतु यहाँ ऐसा अर्थ करनेसे कवितामें केवल एक ही गुणकी जरूरत टीकाकार जताते हैं कि वह सरल हो। क्या इतनेहीसे सज्जन उसका आदर करेंगे? कदापि नहीं। और न ग्रन्थकारहीका यह आशय है, वे तो बारम्बार कहते हैं कि कैसी-ही अनूठी कविता क्यों न हो यदि वह हरियशसे युक्त नहीं है तो बुद्धिमान् उसका आदर न करेंगे। इससे जो अर्थ पूर्व आचार्योंने किया है वही ठीक है, यह अर्थ सङ्गत नहीं। यदि यह कहा जाय कि पहले भी तो 'कीर्ति' और 'कविता' को अलग-अलग कह आये हैं। यथा—'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥', तो जरा ध्यान देनेसे दोनों प्रसंगोंमें भेद जान पड़ेगा। देखिये, जब 'कीरति' 'भनिति' 'भूति' को अलग-अलग कहा तब यही कहा कि वह ही कीर्ति, भणित अच्छी है जो हितकर हो, इनका सज्जनोंसे आदर किया जाना नहीं कहा। पुन' 'बिमल जस' श्रीहरियशहीके लिये गोस्वामीजी अभी ही ऊपर कह आये हैं।

करु०, प० रा० प्र०, मा० प्र० के अनुसार हमने ऊपर अर्थ दिया है। परंतु 'सोई' और 'जो' का सम्बन्ध होता है उसके अनुसार अर्थ होगा—'कवित सरल और विमलयशयुक्त हो जिसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर छोड़कर सराहते हैं, उसीका आदर सज्जन करते हैं।' बैजनाथजीने यह अर्थ दिया भी है। इसके अनुसार कविताका सज्जनोंमें आदर होनेके लिये तीन गुण चाहिये।

कविता, वह भी विमलयशमें अङ्कित, फिर क्यों न सर्वत्र आदरणीय हो! अवतारवादके कट्टर विरोधी, सगुण ब्रह्मके न माननेवाले, वैष्णव सिद्धान्तके कट्टर शत्रु, इत्यादि पन्थाई एवं अन्य अन्य मतावलम्बी लोग एवं भाषाके कट्टर विरोधी भी इधर बराबर किसी-न-किसी रूपमें श्रीरामचरितमानसकी प्रशंसा करते देखे जा रहे हैं।

कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल।
बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि मोपर होहु कृपाल॥ १४ (ग)॥

शब्दार्थ—कवि=काव्यके सर्वाङ्गोंको जानने और निर्दोष सर्व गुणोंसे विभूषित काव्यमें श्रीहरियश गानेवाला तथा सूक्ष्म दृष्टिवाला ही 'कवि' है। कोविद=पण्डित। काव्याङ्गादि जाननेवाले, व्याकरण और भाषाओंके पण्डित भाष्यकार आदि 'कोविद' हैं। मानस=मानससरोवर। सुरुचि=सुन्दर इच्छा वा अभिलाषा।

अर्थ—कवि और कोविद जो रामचरितमानसरूपी निर्मल मानससरोवरके सुन्दर हंस हैं वे मुझ बालककी विनती सुनकर और सुन्दर रुचिको जानकर मुझपर कृपा करें॥ १४ (ग)॥

नोट—१ (क) मंजु=मंजु मानस, मंजु मराल (दीपदेहरी न्यायसे)। सुन्दर हंस कहनेका भाव यह है कि जैसे हंस मानसरोवर छोड़ कहीं नहीं जाते, क्योंकि वे ही उसके गुणोंको भलीभाँति जानते हैं, वैसे ही आप रामचरितहीके श्रवण, मनन, कीर्तनमें अपना समय बिताते हैं। यथा—'सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।' कवीश्वरकपीश्वरौ' (मं० श्लो०)। आप भूलकर भी और काव्य न करते, न गाते, न सुनते और न देखते हैं। (ख) वे० भू० रा० कु० दा० जी कहते हैं कि इस ग्रन्थमें तीन प्रकारके हंसोंका उल्लेख पाया जाता है। हंस, राजहंस और कलहंस। क्षीरनीरविवरणविवेकमात्र जिनको है उनको 'हंस' कहा है। यथा—'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार। १। ६। अस बिबेक जब देइ बिधाता।' 'सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥ २। २३२॥' राजहंसमें चालकी प्रधानता है। यथा—'सखी संग लै कुँअरि तब चलि जनु राजमराल।' (१। १३४)। कलहंस वे हैं जिनमें सुन्दर बोलीकी प्रधानता है। यथा—'कल हंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा। १। ८६।', 'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा' (३। ४०)। यहाँ मरालके साथ 'मंजु' विशेषण देकर भगवच्चरित्रके कवि-कोविदोंको तीनों गुणोंसे सम्पन्न सूचित किया, इसीलिये इनके सम्बन्धसे अपने बारेमें तीन क्रियाएँ 'सुनि', 'लखि', 'होहु कृपाल' दी गयीं, जो सम्भवतः हंस, कलहंस और राजहंसके गुणोंका द्योतक है। (ग) पं० सुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि मानसमंजु मरालसे महादेवजीका ग्रहण करना चाहिये। जिस कर्ममें जो प्रधान रहता है उस कर्मके आरम्भमें लोग पहले उसीका ध्यान करते हैं, जैसे लड़नेके समय महावीरजीका। उसी प्रकार आगे वाल्मीकिजीका स्मरण है। (घ) गोस्वामीजीने श्रीभरतजीके प्रसंगमें 'मंजुमराली' की उपमा दी है। यथा—'हिय सुमिरि सारदा सुहाई। मानस ते मुख पंकज आई॥ बिमल बिबेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥ २। २९७।' इसके अनुसार निर्मल विवेक और धर्मनीतिशाली होनेसे 'मंजु मराल' का रूपक दिया जाना सम्भव है। वे मानसके ही सुन्दर कमलवनमें विचरा करते हैं। यथा—'सुरसर सुभग बनज बनचारी' (२। ६०)। उसी समानताके लिये यहाँ 'मराल' की उपमा दी। पुनः, हंस प्राकृत मानससरमें विचरते हैं और ये कवि कोविद अप्राकृत श्रीरघुबर चरित मानस सरमें विचरते हैं—इससे इनको 'मंजु मराल' कहा। वा, और अवतारोंके चरित गानेवाले 'मराल' और रघुबरचरितमानसमें विहार करनेवाले होनेसे 'मंजु मराल' कहा। (ङ) लखि—'मनकी बात भाँप लेना' ही लखना कहलाता है। यथा—'लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंड' (१। २५९), 'लखन लखेउ प्रभु हृदय खँभारू।' (२। २२७)।

टिप्पणी—पं० रामकुमारजी—१ 'बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि' कृपा करनेको कहते हैं। इसका भाव यह है कि मुझमें एक यही बात है जिससे आप मेरे ऊपर कृपा कर सकते हैं; और वह यह है कि मैं आपका बालक हूँ और

मेरे मनमें सुन्दर चाह है। इसे छोड़ आपके कृपा करनेके लायक मुझमे और कुछ नहीं है। २ 'बालक' कहनेका भाव यह है कि आप रामचरितमानसके हंस हैं, मैं आपका बालक हूँ, मुझे भी रामचरितमानसका आनन्द दीजिये। ३ गोस्वामीजीने सन्तोंसे पुत्र-पिताका नाता रक्खा है। यथा—'बाल बिनय सुनि करि कृपा' 'बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि ····।'

कवि-वन्दनाप्रकरण समाप्त हुआ।

समष्टिवन्दना

बंदौ मुनिपदकंज रामायन जेहिं निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु दोषरहित दूषन सहित ॥ १४ (घ) ॥

शब्दार्थ—निरमयेउ=निर्माण किया, रचा, बनाया, उत्पन्न किया। सखर (स+खर)=खर (राक्षस) सहित, अर्थात् खरकी कथा इसमें है। दूषन (दूषण) खर राक्षसका भाई। अरण्यकाण्डमें दोनोंकी कथा है।

अर्थ—मैं (वाल्मीकि) मुनिके चरणकमलकी वन्दना करता हूँ, जिन्होंने रामायण बनायी, जो 'खर' सहित होनेपर भी अत्यन्त कोमल और सुन्दर है, और दूषण (राक्षस) सहित होनेपर भी दोषरहित है ॥ १४ ॥

नोट—१ करुणासिंधुजी लिखते हैं कि यहाँ गोस्वामीजी वाल्मीकिजीकी 'स्वरूपाभिनिवेश वन्दना' करते हैं जिससे मुनिवाक्य श्रीमद्रामायणस्वरूप हृदयमें प्रवेश करे। नमस्कार करते समय स्वरूप, प्रताप, ऐश्वर्य, सेवा जब मनमें समा जाते हैं तो उस नमस्कारको 'स्वरूपाभिनिवेश वन्दना' कहते हैं।

२ 'सखर' और 'दूषणसहित' ये दोनों पद श्लिष्ट हैं। पहलेका एक अर्थ कठोरता और कर्कशतायुक्त होता है और दूसरा अर्थ 'खर नामक राक्षसके सहित' है। दूसरेका एक अर्थ 'दोषसहित' और दूसरा 'दूषण' नामक राक्षसके प्रसङ्ग समेत होता है। अतः यहाँ श्लेषालङ्कार है। इनके योगसे उक्तिमें चमत्कार आ गया है। भाव यह है कि इस रामायणमें कठोरता कर्कशता नहीं है। कठोरताके नामसे 'खर' राक्षसका नाम ही मिलेगा और दोषरहित है, दोषके नामसे इसमें 'दूषण' राक्षसका नाम ही मिलेगा। पुनः सखर होते हुए भी सुकोमल है और दोषरहित होते हुए भी दूषणसहित है इस वर्णनमें 'विरोधाभास अलङ्कार' है।

३ इस सोरठेको शेखर कविके 'नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा। सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला ॥" इस श्लोकका अनुवाद कह सकते हैं। गोस्वामीजीने उत्तरकाण्डमे भी लगभग इसी प्रकार कहा है। यथा—'दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्यसमाज। जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज ॥ ७। २२।' इस प्रकार विचार करनेसे यहाँ 'परिसंख्यालङ्कार' भी है।

'सखर सुकोमल ··· सहित' इति। इस उत्तरार्धके अर्थ टीकाकारोंने अनेक प्रकारसे लिखे हैं। कुछ ये हैं—

(१) 'यह रामायण सखर अर्थात् सत्यताके सहित है (खर=सत्य। यथा—'कर्म उपासन ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो'), कोमलतासहित है, स्वच्छताके सहित है और दोष-दूषण रहित है। ('रहित' शब्द दीपदेहलीन्यायसे दोनोंमें है)। काव्यमें दोष-दूषण अर्थात् रोचक, भयानक वचन भी हुआ करते हैं सो इसमे नहीं हैं, इससे 'खर' (यथार्थ) वचन हैं।' खरदूषणसे राक्षसका अर्थ करनेमें दोष उपस्थित होता है। यदि ग्रन्थकारको राक्षसोंकी कथाका सम्बन्ध लेकर ही वन्दना करना अभिप्रेत होता तो रावण-कुम्भकर्णका ही नाम लिखते। यह 'भाव-दोष' कहलाता है। (संत परमहंसजी)।

(२) यह रामायण कैसी है? उत्तरार्द्ध सोरठेमे कहते हैं कि वह कठोरतासहित है। (क्योंकि इसमे अधर्मियोंको दण्ड देना पाया जाता है), कोमलतायुक्त है (क्योंकि इसमें विप्र, सुर, सन्त, शरणागत आदिपर नेह, दया, करुणा करना पाया जाता है), मञ्जु है (क्योंकि उसमें श्रीरामनाम-रूप-लीलाधामका वर्णन है जिसके कथन-श्रवणसे हृदय निर्मल

हो जाता है), दोषरहित है (क्योंकि अन्य ग्रन्थका अशुद्ध पाठ करना दोष है और इसके पाठमे अशुद्धताका दोष नहीं लगता), दूषण भी इसमें हितकारी ही है, क्योंकि अर्थ न करते बनना दूषण है सो दूषण भी इसमें नहीं लगता, पाठ और अर्थ बने या न बने इससे कल्याण ही होता है क्योंकि इसके एक-एक अक्षरहीके उच्चारणसे महापातक नाश होता है। प्रमाण, यथा—'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥' (रुद्रयामल अयोध्या-माहात्म्य १। १९)

(३) 'सखर' (अर्थात् कठोर स्वभाववालों) को कोमल और निर्मल करती है, जो दूषणयुक्त हैं उनको भी दोषरहित करती है।

(४) 'मुनिपद' सखर अर्थात् तीक्ष्णसहित है (क्योंकि उपासकोंके पाप नाश करते हैं), सुकोमल हैं क्योंकि भक्तोंके हृदयको द्रवीभूत करते हैं, मंजु (उज्ज्वल) हैं (क्योंकि अहतारूपी मलको निवृत्त करते हैं), दोषरहित हैं। तपादि करके स्वयं निर्मल हुए और दर्शन करनेवालोंको भी दोषरहित करते हैं और दूषण अर्थात् पादुकासहित हैं। पुनः वह रामायण कैसी है? सखर है अर्थात् उसमें युद्धादि तीक्ष्ण प्रसङ्ग है। उसके पदोंकी रचना कोमल है, मंजु अर्थात् मनोहर है, दोषरहित अर्थात् काव्यके दोष उसमें नहीं है। अथवा सखर है अर्थात् श्रीरामजीका सखारस इसमें वर्णित है। सुग्रीव, गुह और विभीषणसे सखाभाव वर्णित है। कोमल, मंजु और दोषरहित तीनों विशेषण सखाभावमें लगेंगे। कोमल सुग्रीवके सम्बन्धमे कहा, क्योंकि उनके दुःख सुनकर हृदय द्रवीभूत हो गया, अपना दुःख भूल गया। गुहकी मित्रताके सम्बन्धमें 'मंजु' कहा क्योंकि उसको कुलसमेत मनोहर अर्थात् पावन कर दिया। दोषरहित दूषणसहित विभीषणके सम्बन्धसे कहा। शत्रुका भ्राता और राक्षस-कुलमें जन्म दूषण है, उन्हें दोषरहित किया। (प०)।

(५) भक्तिके जो पाँच रस हैं उनसे युक्त है। 'सख रस कोमल मंजु' अर्थात् उसमें सख्यरस है, कोमल रस अर्थात् वात्सल्य रस है, मंजु अर्थात् शृङ्गाररस है, दोषरहित रस है अर्थात् शान्तरस है, दूषणसहित (अर्थात् दास्य) रस है। दास्यको दूषणसहित कहा, क्योंकि पूर्ण दास्यरस तब हो जब स्वामी जिस राहमें पदसे चले, सेवक उस राहमें सिरके बल चले, सो ऐसा होनेको नहीं। यथा—'सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब ते सेवक धरम कठोरा॥' (मा० प्र०)।

(६) मुनिपदकंज सखर अर्थात् बड़े उदार दाता हैं, स्मरण करनेमे कामप्रद हैं, मंजु हैं अर्थात् ध्यानियोंके चित्तके मलको हरते हैं, सुकोमल हैं, दोषरहित अर्थात् निष्कण्टक हैं। कमल कण्टकयुक्त है इसीसे दूषणसहित कहा। (बाबा हरिदास)।

(७) वे० भू० रा० कु० दा०—मेरी समझमें तो यहाँ खर और दूषण राक्षसोंका अभिप्राय नहीं है। ये तो सभी रामायणोंमें हैं तब वाल्मीकीयमें विशेषता ही क्या रह गयी? यहाँ कविताकी वृत्तियोंसे अभिप्राय है। कवितामें प्रधान तीन वृत्तियाँ हैं। उपनागरिका या वैदर्भी, परुषा या गौड़ी और कोमला या पाञ्चाली। यहाँ उपनागरिका या वैदर्भी वृत्तिके लिये ही श्लोकमें 'रम्या' और सोरठेमें 'मंजु' पद आया है। रम्या या मंजु होनेसे ही वैदर्भी वृत्तिके लिये ही कहा गया है कि 'धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।' परुषा या गौड़ीके लिये तो परुषका पर्यायवाची ही 'खर' शब्द है और कोमलता वृत्तिके लिये 'कोमल' शब्द है। निष्कर्ष यह कि मुनिकृत रामायण प्रधान वृत्तित्रयसे परिपूर्ण है। कवितामें अनेक दोष आ सकते हैं। पीयूषवर्षी जयदेवने 'चन्द्रालोक' में लगभग चालीस दोष लिखे हैं। मुनिकृत रामायण उन दोषोंसे सर्वथा रहित है। झूठ बोलना या लिखना दोष है और सत्य बोलना या लिखना दोष नहीं है परंतु अप्रिय सत्य दोष तो नहीं किंतु दूषण अवश्य है। इसीसे मनुने कहा है, 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।' और मानसमें भी कहा है, 'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।' वाल्मीकिजीने कई जगह अप्रिय सत्य कहा है। जैसे लक्ष्मणजीका पिताके लिये कठोर वचन बोलना और श्रीरामजीका श्रीसीताजीको दुर्वाद कहना, सीताजीका लक्ष्मणजीको मर्म वचन कहना इत्यादि। गोस्वामीजीने इन अप्रिय सत्योंको स्पष्ट न कहकर अपने काव्यको अदूषण बना दिया। अर्थात् 'लखन कहेउ कछु बचन कठोरा', 'मरम बचन जब सीता बोला', 'तेहि कारन करुना निधि

कहे कछुक दुर्वाद' कहकर उस सत्यका निर्वाह कर दिया, परंतु अप्रियतारूप दूषण न आने दिया। इसीलिये तो मुनिकी रामायणको 'मञ्जु' और अपनी भाषा रामायणको 'अति मञ्जुलमातनोति' कहा है। (प्रेमसदेशसे)।

नोट—४ 'बंदौं मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ' इति। (क) वाल्मीकिजी मुनि भी थे और आदिकवि भी। ये श्रीरामचन्द्रजीके समयमें भी थे और इन्होंने श्रीरामजीका उत्तरचरित पहलेहीसे रच रक्खा था। उसीके अनुसार श्रीरामजीने सब चरित किये। इन्होंने शतकोटिरामचरित छोड़ और कोई ग्रन्थ रचा ही नहीं। कहीं इनको भृगुवंशमें उत्पन्न प्रचेताका वंशज कहा है। (श० सा०)।

स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड वैशाखमास माहात्म्यमें श्रीरामायणके रचयिता वाल्मीकिकी कथा इस प्रकार है कि ये पूर्व-जन्ममें व्याधा थे। इनको महर्षि शङ्खने दया करके वैशाखमाहात्म्य बताकर उपदेश किया कि तुम श्रीरामनामका निरन्तर जप करो और आजीवन वैशाखमासके जो धर्म हैं उनको आचरण करो, इससे वल्मीक ऋषिके कुलमें तुम्हारा जन्म होगा और तुम वाल्मीकि नामसे प्रसिद्ध होगे। यथा—'तस्माद् रामेति तन्नाम जप व्याध निरन्तरम्। धर्मानेतान् कुरु व्याध यावज्ञामरणान्तिकम्॥ अ० २१। ५५। ततस्ते भविता जन्म वल्मीकस्य ऋषेः कुले। वाल्मीकिरिति नाम्ना च भूमौ ख्यातिमवाप्स्यसि॥ ५६।' उपदेश पाकर व्याधाने वैसा ही किया। एक बार कृणु नामके ऋषि बाह्य व्यापारवर्जित दुश्चर तपमें निरत हो गये। बहुत समय बीत जानेपर उनके शरीरपर दीमककी बाँबी जम गयी इससे उनका नाम वल्मीक पड़ गया। इन वल्मीकऋषिके वीर्यद्वारा एक नटीके गर्भसे उस व्याधाका पुनर्जन्म हुआ। इससे उसका नाम वाल्मीकि हुआ, जिन्होंने रामचरित गान किया।

दूसरी कथा 'बाल्मीक नारद घटजोनी।' ३ (३) में पूर्व लिखी गयी है।

५ 'मुनि' तो अनेकों हो गये हैं जिन्होंने रामायणें रचीं, तब यहाँ मुनिसे वाल्मीकिहीको क्यों लेते हो? उत्तर यह है कि (क) अन्य मुनियोंने पुराण, संहिता आदिके साथमें रामायण भी कहा है, रामायणगान गौण है जो प्रसङ्ग पाकर कथन किया गया है और वाल्मीकिजीने रामायण ही गान किया, अन्य काव्य नहीं। (ख) 'निरमयेउ' शब्द भी 'वाल्मीकि' को ही सूचित करता है, क्योंकि 'आदिकाव्य' रामायणका यही है, इन्हींने प्रथम-प्रथम काव्यमें रचना की। (ग) यहाँ भी गोस्वामीजीके शब्द रखनेकी चतुरता दृष्टिगोचर हो रही है। 'रामायण' शब्द देकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वाल्मीकिजीकी ही वन्दना वे कर रहे हैं। श्रीमद्रामायण शब्द केवल वाल्मीकीयरामायणके लिये प्रयुक्त किया जाता है, अन्यके लिये नहीं, अतः यहाँ उन्हींकी वन्दना है।

(६) रामायणमें तो रावण, कुम्भकर्ण मुख्य हैं, उनका नाम न देकर 'खर', 'दूषण' का क्यों दिया? इस शङ्काका समाधान एक तो अर्थहीसे हो जाता है कि कविको 'खरता' (कठोरता) और 'दोष' के नामके पर्याय ये ही दो शब्द मिले, रावण और कुम्भकर्ण शब्दोंमें यह अलङ्कार ही नहीं बनता और न वे काव्यके अङ्गोंमें आये हैं। और भी इसका समाधान महात्मा यों करते हैं कि रावण-युद्ध और उसका वध होनेमें मुख्य कारण शूर्पणखा हुई। खरदूषणादि रावणकी तरफसे जनस्थानमें शूर्पणखासहित रहते थे। ये दोनों रावणके समान बलवान् थे, जैसा रावणने स्वयं कहा है—'खर दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारै बिनु भगवंता॥ आ० २३।' वाल्मीकीयमें जैसा पराक्रम इन्होंने दिखलाया वह भी इस बातका साक्षी है। रावणके वैर और युद्धका श्रीगणेश इन्हींसे हुआ। इस कारण इनका नाम दिया है। पुनः, गोस्वामीजीकी यह वन्दना तो शेखर एवं महारामायणकी वन्दनाके अनुसार है। जो विशेषण वहाँ थे, वही यहाँ दिये गये।

बंदौं चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥ १४ (ङ)॥

शब्दार्थ—बारिधि=समुद्र। बोहित=जहाज, नाव, बेड़ा। यहाँ समुद्रके लिये 'जहाज' अर्थ ठीक है। खेद=क्लेश, परिश्रम।

अर्थ—मैं चारों वेदोंकी वन्दना करता हूँ जो संसार-समुद्रके लिये जहाजके समान हैं। जिन्हें रघुनाथजीका निर्मल यश वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता ॥ १४ ॥

नोट—१ भाव यह है कि श्रीरामचरित वेदोंका प्रिय विषय है, इसलिये वे उसे उत्साहपूर्वक गान करते हैं।

टिप्पणी—१ पहले व्यासजी, फिर क्रमसे वाल्मीकिजी, वेदों और ब्रह्माजीकी वन्दना करना भी भावसे खाली नहीं है। व्यासजी भगवान्‌के अवतार है। वाल्मीकिजी प्रचेताऋषिके पुत्र हैं इसलिये व्यासजीकी वन्दना इनसे पहले की। वाल्मीकिजीके पीछे वेदोंकी वन्दना की, क्योंकि इनके मुखसे वेद रामायणरूप होकर निकले। यथा—'स्वयम्भू कामधेनुश्च स्तनाश्च चतुरानना.। वेददुग्धामल शुक्लं रामायणरसोद्भवम् ॥ .इति स्कन्दे। [वेद प्रथम-प्रथम भगवान्‌ने ब्रह्माजीके हृदयमें प्रकट किया था। यथा—'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' (भा० १।१।१), 'यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वम्, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेता० उ० ६।१८) अर्थात् सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न कर उनके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है।] वाल्मीकिजी और ब्रह्माजीके बीचमें वेदोंकी वन्दना की, क्योंकि ब्रह्माजीके मुखसे वेद निकले और उनके मुखसे रामायण। ब्रह्माजीके पहले वाल्मीकिजीकी वन्दना करनेका हेतु यह है कि यहाँ रामायणहीका वर्णन है, इसलिये रामायणके आचार्यको प्रथम स्थान देना उचित ही था। ब्रह्माजीकी वन्दना करके अन्य देवताओंकी वन्दना करते हैं। (बैजनाथजी लिखते है कि रामायणका कर्ता जान वाल्मीकिजीकी और उसका पूर्वरूप जान वेदोंकी वन्दना की। और वेदोंका आचार्य जान ब्रह्माकी वन्दना की)।

नोट—२ सन्त श्रीगुरुसहायलालजीका मत है कि 'बोहित' से वे जहाज समझने चाहिये जो युद्ध समय प्रायः जलके भीतर-ही-भीतर चलते हैं। वेदरूपी जहाज भवसागरके जलके भीतर रहकर मोह दलका नाश भीतर-ही-भीतर कर डालते है।

३—'बरनत रघुबर बिसद जस' इति। यहाँ प्रायः यह शङ्का की जाती है कि 'वेदोंमें रघुनाथजीका यशवर्णन तो पाया नहीं जाता फिर गोस्वामीजीने यह कैसे लिखा?' समाधान'—गोस्वामीजी वैष्णव थे, श्रीरामभक्त थे। अवतारके स्वीकारहीसे भक्ति शुरू होती है। जिसको कोई कोई लोग निराकार, निर्गुण इत्यादि ब्रह्म कहते है उसीको हमारे परमाचार्य श्रीमद्‌गोस्वामीजी साकार, सगुण इत्यादि कहते है। और यह मत श्रुतियों, पुराणों, संहिताओं इत्यादिमें प्रतिपादित भी है। श्रीमद्भगवद्‌गीताके माननेवालोंको भी यह बात माननी ही पड़ती है। गोस्वामीजीने श्रीरामचरित-मानसमें ठौर-ठौर इसी बातको दृढ किया है, अवतारहीकी शङ्का तो 'रामचरितमानस' का मुख्य कारण बीजस्वरूप है। 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा। ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ॥ १। १३।' पुनः 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥', 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥', 'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना ॥ पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ। रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ ॥ ११६ ॥', 'आदि अंत को जासु न पावा। मति अनुमान निगम जस गावा ॥ बिनु पद चलै सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना ॥ आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥ तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ॥ अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥ जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगत हित, कोसलपति भगवान ॥ ११८ ॥', 'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद ॥ १९८ ॥', 'सुख संदोह मोहपर ज्ञान गिरा गोतीत। दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत ॥ १९९ ॥' इत्यादि।

जब यह बात श्रीमद्भगवद्‌गीता इत्यादिसे भी सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा अवतीर्ण होते हैं और रघुकुलमें श्रीचक्रवर्ती दशरथमहाराजको उन्होंने पुत्ररूपसे सुख दिया और 'राम' 'रघुबर' कहलाये तो फिर क्या 'परब्रह्म परमात्मा-का गुणगान' और 'रघुबर बिशद यश गान' में कुछ भेद हुआ? दोनों एक ही तो हैं। सगुणोपासक परमात्मा

शब्द न कहकर अपने इष्टदेवहीके नामसे उसका स्मरण किया करते हैं। वेदोंका रामायणरूपमें प्रकट होनेका प्रमाण ऊपर आ ही चुका है। दूसरा प्रमाण श्रीवाल्मीकीय रामायणके श्रीलवकुशजी कृत मङ्गलाचरणमें यह है। 'वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥' फिर वेदका जो संकुचित अर्थ शङ्काकर्ताके दिमागमें है वह अर्थ वेदका नहीं है। पूर्व 'नानापुराणनिगमागम' म० श्लो० ७ में 'वेद' से क्या-क्या अभिप्रेत है वह कुछ विस्तारसे लिखा गया है। वहाँ देखिये। वेदोंके शिरोभाग उपनिषद् हैं, उनमें तो स्पष्ट ही रघुवरयश भरा है।

पुनः वेद तो अनन्त हैं। वह इतने ही तो हैं नहीं, जितने आज हमको प्राप्त हैं। जैसे रामायण न जाने कितनी हैं, पता नहीं और जो महारामायण, आदिरामायण इत्यादि भी हैं, वे भी पूरी-पूरी उपलब्ध नहीं। देखिये, यवनोंने छः मासतक बराबर काश्मीरका पुस्तकालय दिन-रात जलाकर उसीसे अपने फौजकी रसोई की। क्या ऐसा अमूल्य पुस्तकोंका खजाना संसारमें कहीं भी हो सकता है?

टिप्पणी—२ 'बरनत रघुबर बिसद जस' से सूचित किया कि चारों वेद रामयश ही कहते हैं। यथा—'ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं' (उ० वेदस्तुति)। इसलिये 'बोहित सरिस' हैं, रामायणके प्रतापसे सबको पार करते हैं।

३—'जिन्हहि न सपनेहु खेद' इति। तात्पर्य यह है कि औरोंको रामचरित जाननेमें खेद है और वेद तो भगवान्‌की वाणी है इसलिये इनको जाननेमें कुछ सन्देह नहीं है।

करुणासिंधुजी—श्रीरामजीका विशद यश वर्णन करते हैं, यही कारण है कि उनको स्वप्नमें भी खेद नहीं होता, जागनेकी तो कहना ही क्या। (रा० प्र०)।

विनायकी टीका—वेद रामायणरूपसे अवतीर्ण हुए हैं। इसीसे गोस्वामीजी लिखते हैं कि उनको लेशमात्र क्लेश नहीं होता।

बैजनाथजी—रामयशमें सदा उत्साह है अतः श्रम नहीं होता।

नोट—पाण्डेजीका मत है कि ये विशेषण सहेतुक हैं। गोस्वामीजी चाहते हैं कि मुझे भी रामचरित वर्णन करनेमें खेद न हो।

मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि इसका भाव यह है कि रामचरितके परमतत्त्वको वेदकी युक्ति, अनुभव, सिद्धान्तप्रमाणोंसे लेकर वर्णन कीजिये तो किञ्चित् खेद जरामरण इत्यादिका न रहे।

नोट—वेद परमात्माके ज्ञानके स्वरूप ही हैं, वे भगवान्‌के ऐश्वर्यचरितभूत हैं, स्वतः यश ही हैं। उनका भगवद्यश वर्णन सहज सिद्ध है।

बंदौं बिधि पद रेनु भवसागर जेहिं कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल बिष बारुनी॥ १४ (च)॥

अर्थ—मैं ब्रह्माजीके चरणरजकी वन्दना करता हूँ, जिन्होंने भवसागर बनाया है, जहाँ (जिस संसाररूपी समुद्रसे) सन्तरूपी अमृत चन्द्रमा और कामधेनु निकले और खलरूपी विष वारुणी प्रकट हुए॥ १४॥*

टिप्पणी—१ (क) 'पद रेनु' की वन्दनाका भाव यह है कि ब्रह्माजीने भवसागर बनाया और भवसागरका सेतु ब्राह्मण पदरेणु है। यथा—'अपारसंसारसमुद्रसेतवः पुनन्तु मां ब्राह्मणपादपांसवः।' (प० पु० अ० २५५। ५७) (ख) 'प्रगटे' देहलीदीपक है। सन्तसुधाससिधेनु प्रगटे तथा खलविषवारुणी प्रगटे।

नोट—१ संसारको समुद्र कहा। समुद्रसे भली-बुरी दोनों तरहकी वस्तुएँ निकलीं। उसी तरह संसारमें संत और खल दोनों उत्पन्न हुए।

---

* अर्थ—२ जिसने संत, अमृत, चन्द्रमा, कामधेनु (ये प्रशस्त) और खल, विष और वारुणी (ये बुरे) प्रकट हुए। (रा० प्र०)।

२—(क) ससारसमुद्रमें अमृत, चन्द्रमा और कामधेनु सदृश सन्त है। अमृत जीवनस्वरूप और अमरत्वदायक है, वैसे ही सन्त सच्चिदानन्दस्वरूप और जीवन्मुक्त है। उनके मन, कर्म, वचन अमृतके समान सुन्दर और मधुर है, उनके वचनको अमृत कहा ही जाता है। 'सुधामूचूर्वाच'। चन्द्रमाकी तरह शीतल और उज्ज्वलचरित है। उसी तरह कामधेनुके समान वे उपकारक और सरलप्रकृति हैं। पुन (ख) इन तीनों उपमानोंमें शुभ्रता, सुन्दरता, मधुरता और परोपकारता है। उसी तरह सन्तोका स्वरूप और चरित सब प्रकारसे मञ्जु और सुखद है। पुन (ग)—नारदसूत्रमे भक्तिको 'परम प्रेमरूपा' 'अमृतस्वरूपा' कहा गया है। 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति।' (भक्ति-सूत्र २)। इस भक्तिको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है। फिर उसे किसी पदार्थकी चाह नहीं रह जाती। सन्तको सुधास्वरूप कहनेमे यह तात्पर्य है कि जीवोंको भक्ति प्रदान कर उनको भी अमरत्व देते है। भुशुण्डिजीने कहा ही है—'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहगबर॥ ७। ७९।' पुन, (घ) (बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि) सन्तको अमृत, चन्द्रमा और धेनुकी उपमा देकर जनाया कि सन्त तीन प्रकारके है, कोई तो सुधारूप है, जैसे जड़भरत आदि जिन्होंने रहूगणको विज्ञान देकर अमर कर दिया और ससाररूपी रोग छुड़ाकर उनको नीरोग किया। कोई शशिरूप तापहारी और प्रकाशकारी हैं, अपने वचनकिरणसे अमृत बरसाते है। जैसे श्रीशुकदेवजी जिन्होंने वचनोंद्वारा भगवद्यशामृत पिलाकर परीक्षित् महाराजको (सर्पभयरूपी) तापसे रहित कर ज्ञानका प्रकाश दिया कि हम देह नहीं है, हम अमर हैं। और कोई कामधेनुरूप हैं, याचक शुभाशुभ जो कुछ भी माँगे वही बिना विचारे देनेवाले हैं। जैसे भृगुमुनि आदि जिनने सगरकी रानीको साठ हजार पुत्रका वर दिये, यह न सोचे कि रजोगुणी लोग अनीति करेंगे, दूसरे यह न विचारा कि ऐसा वर विधिसृष्टिके विरुद्ध है (ङ) धेनु सम कहकर पूज्य भी जनाया।

३ (क) सन्तोंके उल्टे 'खल' हैं जो उपर्युक्त उपमानोके विरुद्धगुणधर्मविशिष्ट विष और मद्यके समान हैं। जैसे विष मारक और नाशकारक होता है, वैसे ही ये जगत्का अहित करनेवाले होते हैं और जिस प्रकार मद्यमे मोह और मद होता है, वैसे ही इनमे भी घोर अज्ञान और मोहोन्माद होता है। (ख)—(बाबा हरीदासजी कहते हैं कि) खल, विष और वारुणीके समान हैं। जैसे राजा वेन विषरूप था, जिसने प्रजाको ईश्वर विमुख कर मारा और शिशुपाल वारुणीरूप है क्योंकि श्रीरुक्मिणीजीके विवाहमें श्रीकृष्णजीका प्रभाव जान गया था तब भी युधिष्ठिरजीके यज्ञमे उसने अनेक दुर्वचन कहे। (ग) 'सुधा, शशि, विष और वारुणी' पर विशेष दोहा ५ (८) भी देखिये।

वैजनाथजी—'भवसागर संतसुधा ·' इति। ससारको सागर कहा। सागरमें अगाध जल, तरगें, जलजन्तु और चौदह रत्न है। यहाँ वे क्या है? भवसागरमे आशा अगाधता, मनोरथ जल, तृष्णा तरङ्ग, कामादि जलजन्तु और शब्दादि विषयोंका ग्रहण उसमे डूब जाना। वहाँ चौदह रत्न निकले थे, यहाँ सन्त उत्तम रत्न है, जैसे कि उपासक तो अमृत है, ज्ञानी चन्द्रमा है, कर्मकाण्डी कामधेनु है और खल नष्टरत्न है (जैसे-विमुख विष है, विषयी मदिरा है)। इसी तरह धर्मी ऐरावत, चतुर पण्डित उच्चैःश्रवा, सुकवि अप्सरा, दानी कल्पवृक्ष, दयावान् धन्वन्तरि, ध्रुवादि शख, साकावाले राजा मणि, मत पत्नी, आचार्य धनुष और पतिव्रता लक्ष्मी है।

ब्रह्माजीकी वन्दना

विनायकी टीकाकार यहाँ यह शङ्का उठाते है कि 'ब्रह्माजीकी स्तुति बहुधा ग्रन्थोंमें नहीं मिलती, यहाँपर गोस्वामीजीने क्यों की? और उन्होंने उसका समाधान यो किया है कि 'इसका कारण तुलसीदासजी स्पष्ट करते है कि इस सृष्टिके कर्ता तो ब्रह्मदेव ही है, इसके सिवा अध्यात्मरामायणमे स्वत· शिवजी ब्रह्मदेवके माहात्म्यका वर्णन करते है।'

यह वन्दना ग्रन्थका मङ्गलाचरण नहीं है जिसमे कि ब्रह्माके नमस्कारकी परिपाटी नहीं है। अस्तु! अन्यान्य देवताओंके साथ उनकी वन्दना भी की गयी। यह कविकी शिष्टता और उदारता है! सर्वथा ऐसा

नहीं है कि ब्रह्माजीकी स्तुति नहीं ही की जाय। क्योंकि जब और देवताओंकी की जाय, तो उनकी क्यों न की जाय? मङ्गलाचरणमें न सही, लेकिन साधारणतः उनकी वन्दना करनेमें क्या हानि? वह तो अच्छा ही है। और पूर्वके कवियोंने भी उनको नमस्कार किया है। उनकी वन्दनाके श्लोक पाये जाते हैं। यथा—'तं वन्दे पद्मसद्मानमुपवीतच्छटाछलात्। गङ्गास्रोतस्त्रयेणैव यः सर्वैव निषेव्यते ॥ १ ॥ कृतकान्तकेलिकुतुकश्रीगीतश्वासैकनिद्राणः। घोरितवित्तितालिरतो नाभिसरोजे विधिर्जयति ॥ २ ॥'

ऊपरके श्लोकोंके देखनेसे मालूम होता है कि ये मङ्गलात्मक हैं। अतः ग्रन्थके आरम्भमें सर्वथा उनका नमस्कार वर्जित है, यह बात निरर्थक हुई। सन्त उन्मनीटीकाकार महात्मा भविष्यपुराण पूर्वार्द्ध अ० १६ का प्रमाण देकर लिखते हैं कि 'सबसे प्रथम ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उन्होंने देवता, दैत्य, मनुष्य, पर्वत, नदी इत्यादि पैदा किये, इसीसे ये सब देवताओंके पिता और जीवोंके पितामह कहलाये। सदा भक्तिपूर्वक इनकी पूजा करनी चाहिये।' इसी सम्मतिसे यह वन्दना की गयी। पुनः, वे लिखते हैं कि नारदशाप कर्मकाण्डकी रीतिमें है, न कि योगियोंके ध्यानमें इनकी स्तुति न सही, पर प्रणाम करना सब ठौर मिलता है।

नोट—ब्रह्माजीकी पूजा एवं प्रतिष्ठाके सम्बन्धमें स्कन्दपुराणमें यह प्रमाण मिलता है—'अथ न जातु पद्मभूश्छलन्मनोदुरात्मवान् ॥ १० ॥ अशासि पञ्चवक्त्रता यतोपहासितो ह्यहम्। पुनरस्य पुत्रिकारतिर्मयेन शिक्षितोऽभवत् ॥ ११ ॥ तृतीय एष मातुरप्यहो कथं नु सह्यते। तदस्य तु प्रतिष्ठया क्वचिन्न भूयतां विधेः ॥ १२ ॥ स्क० पु० माहेश्वरखण्ड अरुणाचल माहात्म्य उत्तरार्ध अ० १५।' ब्रह्माजीके झूठ बोलनेपर कि 'हम पता ले आये। हमने शिवजीके मस्तकपर केतकीका पुष्प चढ़ा हुआ देखा', शिवजीको क्रोध आ गया और वे बोले कि यह ब्रह्मा नहीं है, किन्तु मनका छली और दुष्टात्मा है। इसने एक बार पञ्चमुख होनेके कारण मेरा उपहास किया था, (कि हम भी पञ्चवक्त्र हैं, क्या शिवजीसे कम हैं?)। फिर इसने एक बार अपनी कन्यापर कुदृष्टि डाली, तब मैंने इसको शिक्षा दी परंतु अब यह तीसरा अपराध है। यह कैसे सहा जाय? अतः अबसे इसकी कहीं प्रतिष्ठा (अर्थात् मान, प्रतिष्ठा एवं स्थापनाद्वारा पूजन) न हो। और इसीके केदारखण्ड अ० ६ श्लोक ६४ में लगभग इसी तरहका शाप है कि तुम्हारी पूजा अबसे न होगी।

पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २५५ में लिखा है कि तीनों देवताओंमें कौन श्रेष्ठ है इसकी परीक्षाके लिये जब भृगुजी ब्रह्माजीके पास गये तो उनको दण्डवत् प्रणामकर हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गये। पर ब्रह्माजीने प्रत्युत्थान अथवा प्रिय वाक्यसे उनका आदर न किया, किंतु रजोगुणयुक्त होनेसे ब्रह्माजी देखी-अनदेखी सी करके बैठे रहे। इसपर भृगुजीको क्रोध आ गया और उन्होंने शाप दिया कि 'तुमने मेरा इस प्रकार अनादर किया है इसलिये तुम भी सर्वलोकोंसे अपूज्य हो जाओ।' यथा—'रजसा महतोद्रिक्तो यस्मान्मामवमन्यसे। तस्मात्त्वं सर्वलोकानामपूज्यस्त्वं समाप्नुहि ॥ ४८ ॥'

तीनों उपर्युक्त उद्धरणोंमें कहीं भी प्रणाम या वन्दनाका निषेध नहीं है, अतएव शङ्का ही निर्मूल है।

दो०—विबुध बिप्र बुध ग्रह चरन बंदि कहौं कर जोरि।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल मंजु मनोरथ मोरि ॥ १४ ॥

अर्थ—देवता, ब्राह्मण, पण्डित, ग्रह सबके चरणोंकी वन्दना करके मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि आप सब प्रसन्न होकर मेरे सुन्दर सब मनोरथोंको पूरा करें ॥ १४ ॥

नोट—१ 'मनोरथ मोरि'—मनोरथ पुँल्लिङ्ग है इसके साथ 'मोर' पद होना चाहिये था। यहाँ अनुप्रासके विचारसे 'मोर' की जगह 'मोरि' कहा। अर्थात् ऊपर आधे दोहेके अन्तमें 'जोरि' पद है उसीकी जोड़में यहाँ 'मोरि' ही ठीक बैठा है। अथवा, कवि इसका प्रयोग दोनों लिङ्गोंमें करते हैं। यथा—'मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ॥ २। २९।', 'तेहि तें परेउ मनोरथु छूछे। २। ३२।' रा० प० कार लिखते हैं कि पुँल्लिङ्ग बड़े अर्थको जनाता है और स्त्रीलिङ्ग छोटेको। जैसे 'गगरा' बड़ेके लिये और 'गगरी' छोटेके लिये बना

है। वैसे ही यहाँ स्त्रीलिङ्गका पद देकर जनाते हैं कि व्यासादिसे बड़ी चाह थी, अत यहाँ पुँल्लिङ्ग पद दिया था। यथा—'पुरवहु सकल मनोरथ मोरे।' (१ । १४)।

नोट—२ यहाँतक प्रथम चतुर्दशी (अर्थात् प्रथम चौदह दोहो) में चौदहो भुवनोंके रहनेवाले जीवोंकी श्रीसीता-राममयरूपसे वन्दना की गयी। (शुकदेवलालजी)।

वैजनाथजी—'सागरको देवताओ और दैत्योंने मथा था। भवसागरको मथनेवाले नवग्रह हैं (ये कुण्डली मुहूर्तादिद्वारा सबके गुण-अवगुण लोकमें प्रकट कर देते हैं) जिनमे राहु और केतु दैत्य प्रसिद्ध हैं। 'बुध' मध्यमग्रह चन्द्रमा सहित, 'विप्र' बृहस्पति और शुक्र 'विबुध' रवि, मगल और शनि। अथवा, वेदाभ्यासी विप्र 'विबुध' हैं और जो विशेष वेदाभ्यासी नहीं हैं वे 'बुध' यह दैत्य हैं।' (इस तरह वैजनाथजीने इन दोहेको पूर्वके साथ सम्बन्धित मानकर मुख्य अर्थ ये ही दिये हैं, परन्तु मेरी समझमे यह पृथक् वन्दना है)।

पुनि बंदौं सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता॥ १॥
मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥ २॥

अर्थ—अब मैं शारदा और गङ्गाजीकी वन्दना करता हूँ। दोनोंके चरित पवित्र और मनोहर हैं॥ १॥ एकमें स्नान करने और जल पीनेसे पाप दूर होते हैं, और दूसरी (शारदा हरियश) कहने सुननेसे अज्ञान हर लेती है॥ २॥

नोट—१ (क) प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'ग्रन्थकारने प्रथम ब्रह्मादिकी, फिर ब्रह्मादि देवोंकी वन्दना की। अब ब्रह्माकी शक्ति शारदा और शिवशक्ति गङ्गाकी वन्दना करते हैं। गङ्गाको भवभामिनी कहा है। यथा—'देहि रघुबीर पद प्रीति निर्भर मातु दास तुलसी त्रासहरनि भवभामिनी' इति विनये (पद १८)। (ख) शारदाके पीछे गङ्गाकी और गङ्गाके पीछे शिवजीकी वन्दना करनेमे शारदाकी प्रधानता हुई, परतु चरित कहनेम प्रथम गङ्गाका चरित कहा, यथा—'मज्जन पान पाप हर।', पीछे शारदाका। यथा—'कहत सुनत'। इससे गङ्गाकी प्रधानता हुई। इस तरह दोनोंकी प्रधानता रक्खी।

२ (प० रामकुमारजी खर्रेमे लिखते हैं कि) भणितको पूर्व सुरसरिसम कह आये। यथा—'सुरसरि सम सब कहँ हित होई। १। १४।' इससे यहाँ दोनोंका समान हित दिखानेके लिये दोनोंकी एक साथ वन्दना की। यहाँ 'क्रम विपर्यय अलङ्कार' है। और द्विवेदीजी कहते है कि 'उत्तम ग्रन्थके लिये शरीर और वाणी दोनोंकी शुद्धता जरूरी है, अत दोनोंकी वन्दना की।

शारदा और गङ्गा दोनों भगवान्‌की पूर्व किसी कल्पमें स्त्रियाँ थीं। यथा—'लक्ष्मी. सरस्वती गङ्गा तिस्रो भार्या हरेरपि। ब्रह्म वै० पु० २। ६। १७। फिर जब सरस्वती ब्रह्माजीकी कन्या हुई तब गङ्गाजी उनकी सखी हुई। दोनोंमें बड़ा प्रेम था। इसीसे जब सरस्वती देवहितके लिये नदीरूप हुई, तब गङ्गा भी नदीरूप हो गयीं। सरस्वती गङ्गाके प्रेमसे पूर्ववाहिनी और गङ्गा उनके प्रेमसे उत्तरवाहिनी हुई। गङ्गाने तीन धारा रूप हो त्रैलोक्यका हित किया। सरस्वतीने वडवानलको समुद्रमें डालकर देवादिका हित और मर्त्यलोकमें मनुष्योंके पाप हरकर उनका हित किया। इत्यादि दोनोंमे घनिष्ठ सम्बन्ध है। (मा० स०)। शारदा और गङ्गा दोनोंमें बहुत कुछ समानता और सजातीयता है, क्योंकि गङ्गाकी तरह सरस्वतीका भी एक द्रवरूप है। (रा० कु०)।

३ कुछ महानुभावोंका मत है कि पहले मगलाचरणमें सरस्वतीजीकी वन्दना कर चुके, अब दुबारा वन्दना है, इसलिये 'पुनि' पद दिया। पहले सरस्वतीरूपकी वन्दना थी, अब शारदाकी वाणी प्रवाहिणी रूपसे वन्दना है। और कोई कहते हैं कि भाषाकाव्यमे यह पहली बार वन्दना है, 'श्लोकोंका कथन तो सूक्ष्मरूपसे सप्तकाण्डोंकी कथाका वर्णन है, इसलिये उसको वन्दनामें नहीं गिनना चाहिये। अत कोई शका नहीं उठती।

वैजनाथजी—'पुनीत मनोहर चरिता' इति। 'चरित' अर्थात् उनका धाम, नाम, रूप और गुण पवित्र और मनोहर है। शारदाके धाम तुरीया, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीके स्थान नाभि, हृदय, कण्ठ, मुख और सभी पवित्र

हैं। गङ्गाके धाम हरिपद, ब्रह्मकमण्डलु, शिवशीश, पृथ्वीमें अनेक तीर्थ सब पवित्र हैं। शारदा नाममें भगण और सुरसरिमें नगण दोनों पवित्र गण हैं। नाम और रूपका माहात्म्य तो सब पुराणोंमें प्रसिद्ध ही है।

नोट—४ 'कहत सुनत' में वक्ता और श्रोता दोनोंके अज्ञानका हरना कहा। कहना सुनना मज्जन है। यथा—'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। १। ४१।' सुनना पान करना है। यथा—'श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर। ७। ५२।'

गुर पितु मातु महेस भवानी। प्रनवौं दीनबंधु दिन दानी॥ ३॥

अर्थ—मैं महेश-पार्वतीजीको प्रणाम करता हूँ, जो मेरे गुरु और माता-पिता हैं, दीनबन्धु हैं और नित्य (दीनों को) दान देनेवाले हैं॥ ३॥

पं० रामकुमारजी—१ (क) ब्रह्माकी वन्दना शिववन्दनासे पहले की, क्योंकि ब्रह्मा पितामह हैं, शिवजी उनकी भृकुटीसे हुए हैं। (ख) 'गुर पितु मातु' का भाव कि उपदेश करनेको गुरु हैं। यथा—'सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित हित उपदेस को महेस मानो गुरु कै' इति बाहुके। 'मातु पिता' सम हितकर्ता हैं। दीनकी सहायता करनेमें बन्धु हैं, यथा—'होहिं कुठायँ सुबंधु सुहाए'। दीनके लिये दानी हैं, अर्थात् पालनकर्ता हैं। छन्दहेतु दीनको 'दिन' कहा—'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न कारयेत्'। सबके गुरु माता-पिता हैं—'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। १। १११।', 'जगत मातु पितु संभु भवानी। १। १०३।'

नोट—१ (क) गुरु और माता-पिता कहनेका भाव यह है कि भगवान् शंकर जगद्गुरु हैं और उसके (जगत्के) माता-पिता भी हैं। कल्पभेदसे जगत्की उत्पत्ति भी उनके द्वारा होती है। महर्षि कालिदासने भी कहा है—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (रघुवंश)।' वाल्मीकिजीने भी जगत्की सृष्टि और लयका कर्त्ता उनको माना है। यथा—'जगतः सृष्ट्यन्तकर्त्तारौ।' (सर्ग)। (ख) मूलगोसाईंचरितसे स्पष्ट है कि श्रीभवानीजी उनको दूध पिला जाया करती थीं। प्रकट होनेपर श्रीशिवजीने उनके पालन-पोषणका प्रबन्ध कर दिया। यथा—'बालकदसा निहारि गौरि माई जगजननि। द्विज तिय रूप सँवारि नितहि पवा जावहि असन॥ ३॥ सिव जानि प्रिया ब्रत हेतु हियो। जन लौकिक सुलभ उपाय कियो।' अतएव वस्तुतः वे ही माता-पिता हैं। सांसारिक माता-पिताने तो उन्हें त्याग ही दिया था, यथा—'तनुज तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ। विनय २७५।' परलोककी रक्षा श्रीनरहर्यानन्दजीके द्वारा करने और रामचरितमानस देनेसे 'गुरु' कहा। म० श्लोक ३ भी देखिये।

२ (क) 'दीनबन्धु' का भाव कि जो सब ऐश्वर्यहीन हैं, उनके सहायक हैं। यथा—'सकृत न देखि दीन कर जोरे। निरखि निहाल निमिष महँ कीन्हे।' (विनय ६)। 'दीनबन्धु' कहकर शिवजीसे दीन और दीनबन्धुका भी नाता जोड़ा। (ख) दिनदाना=प्रति दिन दान देनेवाले। यथा—'दानी बड़ो दिन देत दये बिनु बेद बड़ाई भानी' (वि० ५), 'दीनदयाल दिबोई भावत' (वि० ४)। प्रतिदिन काशीमें मुक्तिदान करते हैं। पुनः, दिन=दीन अर्थात् दीनको दान देनेवाले। 'दिन दानी' से अत्यन्त उदार और अपना (तुलसीदासका) नित्य सार सँभार पालन-पोषणका कर्ता जनाया। पाण्डेजीका मत है कि गुरु होके 'दीनबन्धु' हैं, माता-पिता होकर 'दिन दानी' हैं, अर्थात् पोषण करनेवाले हैं।

सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥ ४॥

शब्दार्थ—निरुपधि=निःस्वार्थ, निश्छल। पी=पिय, पति। हित=भला करनेवाले।

अर्थ—श्रीसीतापति रामचन्द्रजीके सेवक, स्वामि, सखा हैं, सब तरहसे (मुझ) तुलसीदासके सदा निश्छल हित-कारी हैं (अर्थात् भक्तोंके अपराधसे भी उनकी हितकारितामें कभी बाधा नहीं पहुँचती)॥ ४॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी 'सब बिधि' का भाव यह लिखते हैं कि शिवजीका गुरु, पिता, माता, दाता और सीतापतिके सेवक स्वामी सखा रूपसे हितकारी होना सूचित किया है। पुनः, तुलसीहीके हितकर्ता नहीं हैं, सब जगत्के

हितैषी हैं, पर तुलसीके सब विधिसे हितैषी हैं और जगत्‌के तो एक ही विधिसे हैं सो आगे कहते हैं। यथा—'कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा।'

२ 'सेवक स्वामि सखा सिय पी के' इति। सेवक, स्वामी और सखा होनेके प्रबन्ध श्रीरामचरितमानसमें बहुत जगह हैं। सेवक हैं। यथा—'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नाएउ माथ॥' (१। ११६।'), 'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥' (१। ११९), 'नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं। सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥' (१। ७७), 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा॥' (२। ५१)। स्वामी यथा—'तव मज्जन करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥ १। १०३।' 'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। ६। २।' और सखा यथा—'संकरप्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥ ६। २।' 'संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥ ६। २।'

श्रीरामचन्द्रजीने जब सेतुबन्धनके समय शिवलिङ्गकी स्थापना की तब उनका नाम 'रामेश्वर' रक्खा। इस पदमें सेवक, स्वामी और सखा तीनोंका अभिप्राय आता है। ऐसा नाम रखनेसे भी तीनों भाव दर्शित होते हैं। इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका है जो 'रामस्तत्पुरुषं वक्ति बहुव्रीहिं महेश्वरः। ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ब्रह्माद्याः कर्मधारयम्॥' इस श्लोकको लेकर कही जाती है।

जिस समय सेतुबन्ध हुआ था उस समय ब्रह्मा, शिव आदि देवता और बड़े-बड़े ऋषि उपस्थित थे। स्थापना होनेपर नामकरण होनेके पश्चात् परस्पर 'रामेश्वर' शब्दके अर्थपर विचार होने लगा। सबसे पहले श्रीरामचन्द्रजीने इसका अर्थ कहा कि इसमें तत्पुरुष समास है। अर्थात् इसका अर्थ 'रामस्य ईश्वरः' है। उसपर शिवजी बोले कि भगवन्! यह बहुव्रीहि समास है। अर्थात् इसका अर्थ 'रामः ईश्वरो यस्यासौ रामेश्वरः' इस भाँति है। तब ब्रह्मादिक देवता हाथ जोड़कर बोले कि महाराज! इसमें कर्मधारय समास है। अर्थात् 'रामश्चासौ ईश्वरश्च' वा 'यो रामः स ईश्वरः' जो राम वही ईश्वर ऐसा अर्थ है। इस आख्यायिकासे तीनों भाव स्पष्ट हैं। बहुव्रीहि समाससे शिवजीका सेवक भाव स्पष्ट है। तत्पुरुषसे स्वामीभाव और कर्मधारयसे सख्यभाव पाया जाता है।

प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'शिवजी सदा सेवक रहते हैं, इसलिये 'सेवक' पद प्रथम दिया है। पुनः काष्ठजिह्वास्वामीजीका मत है कि 'भक्तिपक्षमें स्वामीसे सब नाते बन सकते हैं। इसीसे शिवजीको 'सेवकस्वामि सखा' कहा। अथवा, हनुमान्‌रूपसे सेवक हैं, रामेश्वररूपसे स्वामी और सुग्रीवरूपसे सखा हैं। राजाओंमें 'त्रिलोचनका अंश रहता है जिससे कोई राजाओंकी ओर ताक नहीं सकता।' (मा० प०)।

☞प्रायः सभी टीकाकारोंने यही भाव दिये हैं। केवल पंजाबीजीने इनसे पृथक् यह भाव लिखा है कि शङ्करजी श्रीरघुनाथजी परात्पर भगवान्‌के सदा सेवक हैं, विष्णुके स्वामी हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों समान हैं, इससे सखा भी हैं।

☞इस ग्रन्थमें विष्णुभगवान्, क्षीरशायी विष्णु (श्रीमन्नारायण) और परात्पर ब्रह्म राम इन तीनके अवतार वर्णन किये गये हैं। प्रथम दो इस ब्रह्माण्डके भीतर एकपादविभूतिमें ही रहते हैं, जहाँ ऋषियों-मुनियों आदिका जाना और लौटना पाया जाता है। परात्पर ब्रह्म एकपादविभूतिसे परे हैं। यहाँ 'सेवक, स्वामि, सखा' जिस क्रमसे कहा है उसी क्रमसे इनके उदाहरण ग्रन्थमें आते हैं। 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।·· सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥ १। ५१।' यह अवतार ब्रह्मका है। यथा—'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी॥ जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥ जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा॥ १। १४१।' इनका अवतार शापवश नहीं होता, ये अपनी इच्छासे भक्तोंके प्रेमके वशीभूत हो अवतार लेते हैं। इन्हींके विषयमें कहा है—'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नाएउ माथ।' शिवजी इन श्रीरामजीके सदा सेवक हैं और भी प्रमाण ये हैं—'बेसु बिलोकि संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥ प्रगटे राम कृतग्य कृपाला। १। ७६।' इन्हींको शङ्करजीने

कहा है—'नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥ तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी॥ १। ७७।'

विष्णुके स्वामी हैं, इसका प्रमाण उपर्युक्त उद्धरणोंसे पश्चात् इसी ग्रन्थमें आता है। यथा—'सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपानिकेता॥ पृथक पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा॥ बोले कृपासिंधु बृषकेतू। कहहु अमर आए केहि हेतू॥ १। ८८।' इसमें स्वामीभाव स्पष्ट झलकता है। इन विष्णुके अवतार 'राम' का स्वामी कहा गया।

नारदजीने जिनको शाप दिया उनके सखा हैं। यह 'जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा॥ कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे॥ १। १३८।' ये क्षीरशायी विष्णु हैं, इन्हींके पास नारदजी गये थे, इन्होंने नारदके हृदयमें गर्वका अङ्कुर देख उसके नष्ट करनेका उपाय रचा था और इन्हींके शापवश अवतार लिया था। यहाँ अवतार भी सखा शङ्करके गणोंके उद्धारके निमित्त था। यथा—'क्षीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा॥ १। १२८।' 'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। १। १२९।', 'भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ। धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ॥ १। १३९।' इस कल्पके अवतार श्रीरामजीके सखा हैं।

उपर्युक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि वे ब्रह्म रामके सदा सेवक ही हैं, सखा या स्वामी कभी नहीं। नरनाट्यमें प्रभु अपने शील-स्वभावसे यदि कभी स्वामी, सखा, भाई कहते भी हैं, तो भी वे यह प्रतिष्ठा देते ही डर जाते हैं, अपनी भक्तिमें सदा सावधान रहते हैं। यथा—'राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ, जान्यो हर हनुमान लखन भरत। जिन्हके हिये सुथल रामप्रेम सुरतरु, लसत सरल सुख फूलत फरत॥ आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ पाइ पति ते सनेह सावधान रहत डरत। साहिब सेवक रीति प्रीति परिमिति नीति, नेमको निबाह एक टेक न टरत॥' (विनय २५१)।

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा॥ ५॥
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू॥ ६॥

शब्दार्थ—जाल=समूह। सिरिजा=रचा। अनमिल=(अन=नहीं+मिल=मिलना) बेमेल। अर्थात् जिसमें अक्षरोंकी मैत्री नहीं मिलती। प्रभाउ=प्रभाव, असर। प्रताप=प्रभाव, महत्त्व, तेज।

अर्थ—कलियुगको देखकर संसारके हितके लिये जिन शिवपार्वतीजीने शाबरमन्त्रसमूह रच दिये॥ ५॥ जिनमें अक्षर बेजोड़ (पड़े) हैं, जिनका न तो कोई ठीक अर्थ ही है और न जप ही अथवा जिनका कोई अर्थ नहीं जप ही प्रधान है। शिवजीके प्रतापसे उनका प्रभाव प्रकट है॥ ६॥

नोट—१ 'कलि बिलोकि' इति। (क) कलि अर्थात् कलियुगका प्रभाव देखकर कि पुरश्चरण पूजा-विधि किसीसे न बनेगी, कलिके प्रभावसे योग, यज्ञ, जप, तप, ज्ञान, वैराग्य सब नष्ट हुए जा रहे हैं। कर्म-धर्म कुछ भी नहीं रह जायगा। यथा—'कलि न बिराग जोग जाग तप त्याग रे' (विनय ६७) 'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे' (विनय ६६), 'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। रामनाम अवलंबन एकू। १। २७।' 'एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥ ७। १३०।' (ख) शाबरमन्त्र सत्ययुग, द्वापर, त्रेतामें नहीं था, कलिके प्रारम्भमें हुआ है। कलिमें जीवोंको अनेक प्रकारके क्लेश होते हैं। उनके निवृत्त्यर्थ शाबरमन्त्र बनाये गये। दूसरी चौपाईमें शाबरमन्त्रका रूपक कहा है। (प० रा० कु०)। (ग) मयङ्ककार लिखते हैं कि 'सर्पादिक विषहरण कलि, साँबर रचे तुरत। सो उमेश कलि सब दहन मानस ग्रन्थ विरचन्त॥' जिसका भाव यह है कि जब वैदिक, तान्त्रिक मन्त्र कील दिये गये तब शिवजीने शाबर-मन्त्र जीवोंके उपकारार्थ रचा था। अपर मन्त्रोंके कीलित हो जानेसे शाबरमन्त्र ही फलदायक रह गये। सर्पादिके विष उतारने और नाश करनेवाले शाबरमन्त्रोंको जिन्होंने

रचा उन्होंने इस मानसका निर्माण किया। (घ) कलियुगमें जीवोंके दुःख निवारण करनेके लिये शिवपार्वतीजी भील रूपसे प्रकट हुए। शिवजीने भील भाषामें शाबरमन्त्र समूह-का-समूह रच दिया जो पार्वतीजीकी आज्ञासे गणेशजी लिखते गये। यह ग्रन्थ 'सिद्ध शाबरमन्त्र' कहलाता है। 'सबर' भीलको कहते हैं। भीलभाषामें भील रूपसे प्रकट हुआ, इसीसे ऐसा नाम पड़ा। वास्तवमें यहाँ गोस्वामीजी भगवान् शङ्करकी अपने ऊपर कृपालुता और अनुकूलता दिखाते हैं। इसीलिये उन्होंने उनकी सहज दयावृत्तिघटित चरित (शाबरमन्त्रजाल सृष्टि) का उल्लेख किया है। जैसे भगवान् शङ्करकी कृपाविभूतिसे शाबरमन्त्र सिद्ध है। वैसे ही श्रीरामचरितमानस भी उन्हींका प्रसादस्वरूप होनेसे वैसा ही प्रभाव रखता है।

१—'अनमिल आखर अरथ न जापू।' इति। इसका अन्वय कई प्रकारसे किया जाता है।

(क) 'आखर अर्थ अनमिल (है), न जापू'। अर्थात् अक्षर जो कह रहा है, वह अर्थ नहीं है। इससे पाया गया कि शाबर मन्त्र अर्थ रहित नहीं है, परंतु अर्थ अक्षरोंसे मिलान नहीं खाता। (प० रा० कु०), 'न जापू' का भाव यह है कि अन्य मन्त्रोंमें जापकी विधि होती है। कोई एक लक्ष, कोई एक सहस्र, कोई एक शत और कोई इक्कीस इत्यादि बार जपे जाते हैं, तब फल देते हैं, शाबरमन्त्रमें जापका विधान कोई नहीं है। एक ही बारके जपसे कार्य सिद्ध हो जाता है। (मा० प्र०)। परंतु तान्त्रिक कहते हैं कि कुछ साधारण सा विधान और जप करना होता है, विशेष जाप और विशेष विधान नहीं है।

(ख) "अनमिल' 'आखर' अर्थ न, जापू प्रगट प्रभाउ'" (रा० प्र०)। अर्थात् अक्षर बेमेल हैं (अर्थात् तुक नहीं मिलता), अर्थका सम्बन्ध नहीं बैठता, केवल जपनेसे फल प्राप्त हो जाता है, इसका प्रभाव प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।

(ग) 'आखर अनमिल, न अर्थ (है) न जाप' अर्थात् अक्षर बेजोड़ हैं, न तो अर्थ ही लगता है और न कोई जपका ही विशेष विधान है। अक्षर अनमिल हैं अर्थात् सन्धि, विभक्ति, समास आदिका कोई नियम नहीं है। वर्णमैत्री, शब्दोंकी गम्भीरता, तुकान्तादि कोई भाषाओंके नियम नहीं हैं। पदोंके विचारनेसे कोई ठीक अर्थ भी नहीं निकलता और पुरश्चरणादि कुछ जाप करनेको नहीं। (वै०, पा०)।

२— 'प्रगट प्रभाउ' इति। भाव यह कि मन्त्रमें अक्षर यदि गड़बड़ हों या उसका अर्थ कुछ न हो अथवा उसका पुरश्चरण विधानपूर्वक न हो, अथवा उसका जप नियमानुसार न हो, इन चारोंमेंसे यदि कोई भी एक बात ठीक न हुई तो मन्त्र फलप्रद नहीं होता। परंतु शाबरमन्त्रमें ये चारों बातें न होती हुई भी यह मन्त्र श्रीमहेशजीके प्रतापसे फलप्रद होते ही हैं। प्रभाव प्रकट है। अर्थात् तत्क्षण फुरता है। यह न तो अक्षरका ही प्रभाव है न अर्थहीका। केवल महेशके प्रतापका प्रभाव है।

कुछ शाबरमन्त्र ये हैं—(क) 'बद खकारी गलसुआ तथेला रोगोंको झाड़नेका—गौरा जाई अजनी सुत जाये हनुमत। बद खकारी गलसुआ तथैला ये चारो भसमत ॥ १ ॥ कालीकंकाली कहाँ चली कैलाश पर्वतको चली कैलाश पर्वत पै जाय कै कहा करैगी, निहानी बसूली गढ़ावैगी निहानी बसूली गढ़ाकर कहा करैगी। बद्द कों कखारो कों गलसूए कों तथेले कों तीनोंको काटैगी कपटैगी करैगी विचार देखू तेरी शक्ति गुरुकी भक्ति फुरो मन्त्र ईश्वर उवाच' ॥ २ ॥ (भट्टजीकी टीकासे)। (ख) दृष्टिनिवारण मन्त्र। यथा—'ओं नमो नपकटा त्रिपकटा मेद मजा बद फोड़ा फुनसी आदीठ डुमल दुखनोरत्यावरी घन वाम चौंसठि योगनी बावन वीर छप्पन भैरव रक्षा करैं जो आइ।' (ग) दन्तपीड़ाका मन्त्र। यथा—'ॐ नमो आदेश गुरुको वनमे ब्याई अजनी जिन जाया हनुमत, फूनी फुन्सी गूमनी ये तीनो भस्मत।' (घ) अँगुली पकनेपर बलायका मन्त्र। यथा—'धोबीकी गदहिया कल्यानकुमारी दोहाई लोना चमारी का'। (ङ) बरें काटनेका मन्त्र। यथा—'अरे ततैया तैं मोर भैया विषकी घुडी खोल विषकी घुडी न खुलै तो डारो दगन तोरि दुहाई लोना चमारी की' (वै०)।

सो उमेस मोहि पर अनुकूला। करिहिं कथा मुद मंगल मूला ॥ ७ ॥

सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित चाऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—अनुकूल=प्रसन्न। सिवा=पार्वतीजी। पसाऊ=प्रसाद, प्रसन्नता। चाऊ (चाव)=उत्साह, आह्लाद। यथा—'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥ ७। ६४।'

अर्थ—वे उमापति मुझपर प्रसन्न हैं (अत वे) भाषाकाव्यकी कथाको मुद-मङ्गल-मूलक (उत्पन्न करनेवाला) करेंगे॥ ७॥ श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजी (दोनो) को स्मरण करके और उनकी प्रसन्नता पाकर चित्तोत्साहपूर्वक श्रीरामचरित वर्णन करता हूँ॥ ८॥

पाठान्तरपर विचार—सं० १६६१ की प्रतिमे 'सो उमेस' पाठ है। किसीने 'मे' का 'महे' बनानेकी चेष्टा की है। १७०४ मे भी रा० ना० चौबेजी यही पाठ बताते हैं; परतु० रा० प्र० मे 'सोउ महेस' पाठ छपा है। पण्डित शिवलालपाठकजीका भी 'मो उमेस' पाठ है और कोदोरामजीका भी। 'सोउ महेस' पाठ वन्दनपाठकजी और प० रा० व० श० जीकी छपी पुस्तकोमे है। 'होउ महेस' पाठ १७२१, १७६२, भा० दा० में है। लाला भगवानदीनजीका मत है कि 'होउ महेस' पाठ उत्तम है, क्योंकि प्रणाम करनेपर वरदान माँगना ही उचित है और अपना अभीष्ट भी कह देना चाहिये। यही बात इस पाठमे है, पूर्वके 'चिह्न' मे 'सोउ' स्वय ही लक्षित हो जाता है, क्रियाका स्पष्ट कर देना अधिक अच्छा है। काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि जिन श्रीमहेशजीका प्रताप शाबरमन्त्रमे प्रकट देखा जाता है वे मुझपर अनुकूल हैं अत जैसे 'अनमिल आखर अरथ न जापू' वाले शाबरमन्त्रोंमे उनके प्रतापका प्रभाव है, वैसे ही मेरी यह 'भदेस भाषा भणित' भी 'आखर अरथ अलंकृत नाना' आदिसे रहित होते हुए भी उनके प्रतापसे मुदमङ्गलदाता होगी। यही बात इस प्रसगके अन्तमेके 'सपनेहु साँचेहु मोहि पर जौं हरगौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥ १५॥' इन शब्दोंसे भी पुष्ट होती है। उन्हे पूर्ण विश्वास है, वे शिवजीकी आज्ञासे ही भाषामें कथा कह रहे हैं। यथा—'प्रगटे सिव सग भवानि लिये। मुनि आठहु अग प्रनाम किये॥ सिव भाषेउ भाषामे काव्य रचो। सुरबानिके पीछे न तात पचो॥ सब कर हित होइ सोई करिये। मम पुन्य प्रसाद सो काव्य कला। होइहै सम साम रिचा सफला॥' (मूल गुसाईंचरित)। अतएव वे प्रसन्न होवे यह प्रार्थना नहीं है क्योंकि उनकी प्रसन्नता है ही, यह विश्वास है। इस तरह 'सो उमेस' पाठ यथार्थ ही है और प्राचीनतम है।

२—'करिहि कथा' इति। १७२१, १७६२ मे 'करहु' पाठ है। छ०, भा० दा०, को० रा० में 'करउँ' है। १७०४ मे 'करिहि' और १६६१ एव प० शिवलालपाठकजीकी पोथियोंमे 'करिहिं' पाठ है।

लाला भगवानदीनजी 'करउँ' को उत्तम मानते है। वे कहते है कि कविका आशय है कि आप प्रसन्न हो तो मैं करूँ। आज्ञा चाहते हैं। इतना कहकर उनको अनुभव होता है कि उनकी कृपा और प्रसन्नता हुई तब कहते है कि 'बरनउँ ··'। 'करिहिं' अर्थात् वे इस कथाको मुदमङ्गलमूलक बनावेगे या बनावें। इस पाठ और अर्थमे यह सदेह होता है कि कथा तो 'मुदमङ्गलमूल' है ही, किसीके करनेसे वह 'मुदमङ्गलमूल' थोड़े ही होगी, जैसा कह आये हैं—'मगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। गति कूर कविता सरित की··॥ १। १०।' सम्भवत इसी सदेहसे प्राचीनतम पाठ आगे लोगोने नहीं रक्खा। श्रीजानकीशरणजीका मत है 'करिहिं' पाठ उत्तम है। विचार करनेपर सदेह नहीं होता, क्योंकि आगे कवि स्वय कहते हैं कि 'भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती' एव 'सपनेहु साँचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ। ·।' इस प्रसङ्गभरमे कवि शिव-कृपाका ही प्रभाव अपने काव्यमे कह रहे है। उनका आशय यही है कि कथा तो मुदमङ्गल-मूल है ही, परतु भदेस भाषामें होनेके कारण उसका श्रुतिकी ऋचाओके समान अथवा सस्कृत भाषाकी रामायणके सदृश प्रभाव होगा या नहीं यह जीमे डर था, वह भी जाता रहा, यह सूचित करते हुए कहते है कि करिहिं कथा '। अर्थात् मुझे विश्वास है कि इस भाषाकाव्यका वैसा ही आदर होगा। यहाँ 'कथा' से 'भाषा भणित' की कथा अभिप्रेत है।

नोट—१ 'करिहिं कथा मुद मगलमूला' इति। भाव यह है कि जैसे 'अनमिल आखर··' वाले शाबरमन्त्र सिद्ध हैं, वैसे ही भाषाका रामचरितमानस भी उनकी कृपासे सिद्ध हो गया है। यह भी जनाया कि इसके प्रयोगोंका

सम्पुट देकर केवल पाठ करनेसे मनोरथकी सिद्धि होती है। पुन॰ भाव कि शाबरमन्त्रोंमें तो 'अनमिल आखर अरथ न जापू' है और मेरे इस भाषाकाव्यमे कम से-कम अक्षर और अर्थ 'अनमिल नहीं हैं, वर्णमैत्री' आदि भी है। अतः जब शाबर मन्त्रोंमें उन्होंने इतना प्रभाव दे दिया तब इस भाषा-भणितको तो अवश्य ही मुदमङ्गलोत्पादक करेंगे ही, इसमें सदेह नही। (बै॰, रा॰ प्र॰)

२—'सुमिरि सिवा सिव ' ' इति। (क) कथाको मुदमङ्गलमूल करनेमें 'उमेस' (उमाके 'ईश') नाम दिया क्योंकि उमाके कहनेसे शिवजीने शाबरमन्त्र रचा। जैसा 'कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा' से ध्वनित है और उमाके ही कहनेसे शिवजीने गोस्वामीजीपर बाल्यपनेसे ही कृपा की थी। जगहितके लिये कथाको मुदमङ्गल कर देंगे। जग-हितके सम्बन्धसे उमाका सम्बन्ध दिया। यहाँ 'शिवा और शिव' नाम दिया। दोनों कल्याणरूप हैं, कल्याण करें इसलिये स्मरण किया। (ख) 'पाइ पसाऊ' इति। स्मरण करते ही दोनोंकी प्रसन्नताका साक्षात् अनुभव हृदयमें हुआ। विश्वास तो था, अब अनुभव भी कर रहे हैं। अत चित्तमें उत्साह हुआ। प॰ रामकुमारजीका मत है कि गोस्वामीजीने अनुकूल होनेकी प्रार्थना की। श्रीमहादेवजी अनुकूल हुए। तब कहते हैं कि शिवाशिवका प्रसाद पाकर वर्णन करता हूँ। प्रसाद पानेसे चित्तमें चाव हुआ, अर्थात् रामचरित वर्णन करनेके लिये चित्तमे हर्ष हुआ। (ग) पूर्व मन कादर हो रहा था, वह श्रीशिवाशिवकृपासे उत्साहित हुआ।

भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती। ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥ ९॥

शब्दार्थ—बिभाती=विशेष शोभित है। ससि=शशि=चन्द्रमा। सुराती=सुन्दर रात, शुक्लपक्षकी रात। *यथा*—'तुलसी बिलसत नखत निसि सरद सुधाकर साथ' (दो॰ १९०)

अर्थ—मेरी वाणी श्रीशिवजीकी कृपासे (ऐसी) सुशोभित है, मानो शशिसमाज (अर्थात् तारागणोंसे युक्त चन्द्रमा) से मिलकर (उनके साथसे) सुन्दर रात्रि सुशोभित हो॥ ९॥

नोट—१ 'ससिसमाज मिलि मनहुँ सुराती' इति। (क) शशिसमाजसे सूचित किया कि जैसे रात चन्द्रमा, रोहिणी, बुध और सम्पूर्ण तारागणके उदयसे शोभित होती है, वैसे ही मेरी कविता श्रीशिव-पार्वतीजीकी कृपाको पाकर शोभाको प्राप्त होगी। भाषा कविताको रात्रिकी उपमा दी, क्योंकि रात अन्धकार आदि दोषोंसे भरी है, वैसे ही मेरी कविता दोषोंसे भरी है। यहाँ 'शिवकृपा' और 'शशिसमाज' तथा 'भणिति' और 'रात्रि' परस्पर उपमेय उपमान हैं। कविताकी शोभाका कथन उत्प्रेक्षाका विषय है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। (ख) प॰ रामकुमारजी 'ससि-समाज मिलि' का भाव यह कहते हैं कि शिवकृपा चन्द्रमा है, पार्वतीकी कृपा रोहिणी, गणेशकी कृपा बुध, सम्पूर्ण गणोंकी कृपा तारागण है। इन सबोंकी कृपा मिलाकर 'ससि समाज' हुई। और बैजनाथजीका मत है कि शिवकृपा शशि है, अन्य देवगण नक्षत्र हैं, सवादरूपी चाँदनी फैली हुई है। (ग) यहाँ शरद्-चन्द्र और शरद्-रात्रि अभिप्रेत हैं। पूर्णचन्द्र और तारागणका योग होनेसे रात्रिको 'सुराती' कहा। रात्रिमे प्रकाश नहीं है वह तो अन्धकारमय है, शशिसमाजका सङ्ग पाकर ही वह प्रकाशित होती है। इसी तरह मेरी कवितामें कुछ प्रकाश नही है, शिवकृपासे प्रकाशित होगी।

गोस्वामीजीने जो शाबरमन्त्रका रूपक बाँधा है वह १५वें दोहेतक चला गया है। जैसे शाबरमन्त्रमें शिवजीके प्रतापका प्रभाव है, वैसे ही आप सूचित करते हैं कि मेरी कवितामे शिवकृपाका प्रभाव है। शिवाशिवका प्रसाद पाकर वर्णन करता हूँ। आपके इस कथनका कि शिवकृपासे मेरी कविता शोभा पावेगी, यह तात्पर्य है कि 'कथन-शक्ति' और कविताकी शोभा दोनों शिवजीहीकी कृपासे हैं।

जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ १०॥
होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥ ११॥

अर्थ—जो इस कथाको प्रेमसहित सावधानतापूर्वक समझकर कहे-सुनेंगे, वे श्रीरामचन्द्रजीके चरणानुरागी हो जावेंगे। कलिके पापोंसे रहित और सुन्दर मङ्गल-कल्याणके भागी (अधिकारी) होंगे॥ १०-११॥

नोट—१ (क) 'समुझि सचेता' इति। 'समुझि' का अर्थ प्रायः सब टीकाकारोंने भविष्यत्कालिक 'समझेंगे' किया है। परंतु 'समुझि' का वास्तविक अर्थ 'समझकर' है। उसी तरह जैसे, 'कहि' का कहकर, 'सहि' का सहकर, और 'देइ लेइ' का दे-लेकर है। अस्तु, उपर्युक्त चौपाईका अर्थ हुआ, जो सावधानतापूर्वक समझकर (अर्थात् विचारकर) इसे कहें और सुनेंगे वे कल्याणफल (ऐहिक-पारलौकिक सुखसौभाग्य) के भागी होंगे। 'सचेता' का अर्थ 'चेतना और सावधानतासहित', 'सचेत होकर' है। दूसरा अर्थ 'सचेत' का अच्छे चित्त-वाले भी होता है। परंतु उपर्युक्त अर्थ ही साधारणतः ग्राह्य है। किसी-किसी टीकाकारने उसका अर्थ भी भविष्यत्कालिक 'सचेत होंगे' किया है, परंच यह वास्तविक और स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। शुद्ध अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया है।

२ (क) 'जे' पद देकर सूचित करते हैं कि इस कथाके कहने-सुननेका अधिकार सबको है, चाहे कोई किसी भी वर्ण और आश्रमका हो। (ख) 'कहिहहिं सुनिहहिं' के दोनों अर्थ होते हैं—'कहेंगे और सुनेंगे' अर्थात् कहेंगे भी, और सुनेंगे भी, दोनों साधन करेंगे। और दूसरा अर्थ है 'कहेंगे और सुनेंगे' अर्थात् दोनोंमें कोई भी कार्य करेंगे। यही अर्थ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। (ग) सनेह समेता=प्रेमसहित। कहने सुननेकी इच्छा बढ़ती ही जाय, प्रेमकी यह भी एक पहचान है। सचेता=चित्त लगाकर, सावधानीसे।

३ 'होइहहिं रामचरन'' ' इति। श्रीमद्गोस्वामीजी यहाँ इस ग्रन्थके वक्ता, श्रोता और मनन करनेवालोंको आशीर्वाद देते हैं। कहने, सुनने, समझनेके तीन फल कहे हैं। जो फल यहाँ कहे हैं वही और भी अनेक ठौरपर गोस्वामीजीने स्वयं कहे या और वक्ताओंके मुखसे कहलाये हैं। यथा—'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ॥ ७। १३०।', 'रामचरनरति जो चहै अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करौ श्रवन पुट पान ॥' (उ० १२८) 'सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान', 'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं ॥ ७। १५।' ये फल क्रमशः प्राप्त होते हैं, इसीलिये क्रमसे तीन फल कहे हैं। रामचरणमें अनुराग होनेसे कलिमल नाश होता है। यथा—'रामचरन अनुराग नीर बिनु कलिमल नास न पावै' इति विनये। कलिमलके नाश होनेपर मुक्ति होती है। यथा—'मुक्ति जनम महि जानि ग्यान खानि अघहानिकर' (कि० मं०), अर्थात् ज्ञान होनेपर पाप दूर होते हैं, उससे फिर मुक्ति होती है।

जैसे यहाँ वक्ता-श्रोता आदिको आशीर्वाद दिया गया है, वैसे ही मानस प्रकरणमें रामचरितसे विमुख रहनेवालोंको शाप दिया गया है। यथा—'जिन्ह एहि बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए ॥ तृषित निरखि रबिकर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी' ॥ (१। ४३)।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि जीव तीन प्रकारके हैं। मुक्त, मुमुक्षु और विषयी। तीन फल कहकर सूचित करते हैं कि कथाका फल इन तीनोंको प्राप्त है। यथा—'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई'। ७। १५।' विमुक्त रामानुरागी होते हैं, विरक्त सुमङ्गलभागी और विषयी कलिमलरहित होते हैं। दूसरा भाव इसका वे यह लिखते हैं कि इनसे यह जनाया है कि कर्म, ज्ञान, उपासना तीनों काण्डके फलकी प्राप्ति कथाके श्रवण कथन और मननसे हो सकती है। 'कलिमल रहित' होना कर्मका फल है यथा—'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयी' इति श्रुतिः, 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई'। 'सुमंगल भागी' से ज्ञानकाण्ड सूचित किया, क्योंकि सुमङ्गल और मोक्ष पर्यायवाची शब्द हैं, यथा—'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भवपासा ॥' यह ज्ञानका फल है। 'रामचरन अनुरागी' से उपासनाकाण्ड दिखाया, यथा—'प्रनत कलपतरु करुनापुंजा। उपजइ प्रीति रामपद कंजा ॥' यह उपासनाका फल है।

दो०—सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ ॥ १५ ॥

अर्थ—जो मुझपर श्रीशिव-पार्वतीजीकी स्वप्नमें भी सचमुच प्रसन्नता है, तो भाषाकविताका प्रभाव जो मैंने कहा है वह सब सच हो ॥ १५ ॥

नोट—१ सपनेहुँ=स्वप्नमें भी। यह एक मुहावरा है। इसका भाव 'किसी प्रकार भी,' 'किसी दशामें भी,' होता है। इस तरह कवि कहते हैं कि स्वप्नमें भी अर्थात् किसी प्रकार भी हर-गौरीकी अनुकूलता यदि सचमुच प्राप्त है। पुन, 'सपनेहुँ साँचेहु' का भाव कि प्रथम स्वप्नमें आपकी प्रसन्नता प्रकट हुई, फिर प्रत्यक्ष जाग्रत् अवस्थामें भी हुई। यथा—'अठवें दिन सभु दिये सपना। निज बोलीमें काव्य करो अपना॥ उचटी निंदिया उठि बैठु मुनि। उर गूँजि रह्यो सपनेकी धुनी॥ प्रगटे सिव संग भवानि लिये' इत्यादि (मूल गुसाईंचरित)। म० श्लो० ७ और पिछली अर्धाली ७-८ में विशेष लिखा जा चुका है। शङ्करजीने प्रकट होकर कहा है कि यह भाषाकाव्य हमारे पुण्य-प्रसादसे सामवेदकी ऋचाओंके समान फलप्रद होगा। इस तरह यह पद घटनामूलक है। जो आशीर्वाद उमा-शिवने स्वप्नमें और प्रकट होकर दिया था, उसीका उल्लेख कविने यहाँ किया है।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम शिव-पार्वतीजीका प्रसाद पा चुके हैं, यथा—'सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ', अब उसी प्रसादको 'सँभारते' हैं अर्थात् पुष्ट करते हैं कि जो मुझपर दोनोंकी प्रसन्नता हो तो जो हमने इस भाषा-काव्यका प्रभाव कहा है कि 'होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥' यह सब सत्य हो। (ख) शाबरमन्त्रमें 'फुर' शब्द रहता है इसीसे आपने भी 'फुर' ही पद दिया, क्योंकि अपनी कविताको शाबरमन्त्रके अनमिल अक्षर आदिकी उपमा दे चुके हैं। उसी बातको यहाँ भी निबाहा है। जैसे शाबरमन्त्रमें प्रभाव है। यथा—'प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू', वैसे ही यहाँ भाषा भणितिमें प्रभाव है। यथा—'जो कहेउँ सब भाषा-भनिति प्रभाउ'। (प० रा० कु०)।

यहाँ समष्टि वन्दना बाहरकी चिदचिद् विभूतिकी समाप्ति हुई।

श्रीअवध-सरयू-पुरवासि-परिकररूपवन्दना-प्रकरण

बंदौं अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि॥ १॥

शब्दार्थ—कलुष=पाप, मैल, दोष। नसावनि=नाश करनेवाली।

अर्थ—१ मैं अति पवित्र और कलियुगके पापोंको नाश करनेवाली श्रीअयोध्यापुरी और श्रीसरयू नदीको प्रणाम करता हूँ॥ १॥

अर्थ—२ मैं बड़ी पवित्र अयोध्यापुरीकी, जहाँ कलिके पापोंका नाश करनेवाली सरयू नदी है, वन्दना करता हूँ॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीशिवकृपासे श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, इसलिये शिव वन्दना करके तब राम परिकरकी वन्दना की। अथवा, रामपरिकरमें शिव आदि हैं, इसलिये पहले शिवकी फिर अन्य परिकरोंकी वन्दना की। अवधपुरीकी वन्दना करके अवधवासियोंकी वन्दना करते हैं। (ख) अवधपुरी अति पावनी है, इसलिये 'कलिकलुष नसावनि' कहा। यथा—'देखत पुरी अखिल अघ भागा। वन उपवन वापिका तड़ागा॥' (७। २९) और सरयूजी 'कलिकलुष नसावनि' हैं, अत वे भी अति पावनी हैं। यथा—'जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरयू पावनि॥' (७। ४)। तात्पर्य यह है कि दोनों 'अति पावनि' और 'कलिकलुष नसावनि' हैं। दोनोंकी एक ही चौपाईमें वन्दना की है, पृथक्-पृथक् वन्दना भी नहीं है। क्योंकि सरयूजी श्रीअयोध्याजीका अङ्ग हैं। पुन 'अवधपुरी' कहकर थलकी और 'सरयूसरि' कहकर जलकी अर्थात् जल थल दोनोंकी वन्दना की।

नोट—१ (क) महर्षि वाल्मीकिजीने श्रीअयोध्यासरयूका वर्णन बालकाण्डमें एक ही श्लोकमें किया है, वैसे ही गोस्वामीजीने एक ही अर्धालीमें दोनोंको कहा है। यथा—'कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम्॥ ८॥ ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः। तस्मात्सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते॥ ९॥ सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता।' (१। २४) अर्थात् विश्वामित्रजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि यह नदी ब्रह्माके मनसे रचे हुए मानस-सरसे निकली है।

सरसे निकलनेके कारण सरयू नाम हुआ। (ख) श्रीअयोध्यासरयूका सम्बन्ध भी है। श्रीसरयूजी श्रीअयोध्याजीके लिये ही आयी हैं। इसीसे उन्होंने आगे अपना नाम रहनेकी पर्वा न की। गङ्गाके मिलनेपर अपना नाम छोड़ दिया। दोहा ४० अर्धाली १ देखिये। अतः दोनोंको साथ साथ एक ही अर्धालीमें रक्खा गया। आदिमें 'वहाँ' और अन्तमें 'कलि कलुष नसावनि' को देकर जनाया कि ये दोनो पद 'अवधपुरी' और 'सरयू' दोनोंके साथ है। 'अति पावनि' देहलीदीपक है।

२ 'अति पावनि' इति। इसका भाव निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है। स्कन्दपुराण वैष्णवखण्ड २ अयोध्यामाहात्म्य अ० १२ मे अयोध्यामाहात्म्य अ० १० मे श्रीअयोध्याजी और श्रीसरयूजीका माहात्म्य इस प्रकार कहा है—'मन्वन्तरसहस्रैस्तु काशीवासेषु यत्फलम्। तत्फल समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते ॥ २७ ॥ मथुरायां कल्पमेकं वसते मानवो यदि। तत्फल समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते ॥ २६ ॥ षष्टिवर्षसहस्राणि भागिरथ्यवगाहजम्। तत्फलं निमिषार्द्धेन कलौ दाशरथी पुरीम् ॥ ३२।' अर्थात् हजार मन्वन्तरतक काशीवास करनेका जो फल है वह श्रीसरयूजीके दर्शनमात्रसे प्राप्त हो जाता है। मथुरापुरीमें एक कल्पतक वास करनेका फल सरयूदर्शनमात्रसे प्राप्त हो जाता है। साठ हजार वर्षतक गङ्गाजीमें स्नान करनेका जो फल है वह इस कलिकालमे श्रीरामजीकी पुरी श्रीअयोध्यामे आधे पलभरमे प्राप्त हो जाता है। और, अ० १ में कहा है कि श्रीअयोध्यापुरी पृथ्वीको स्पर्श नहीं करती, वह विष्णुके चक्रपर बसी हुई है। यथा—'विष्णोराद्या पुरी चेयं क्षितिं न स्पर्शति द्विज। विष्णो सुदर्शने चक्रे स्थिता पुण्यकरी स्थितौ ॥ १ । ६२।' प्रायः ये सब श्लोक रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्य अ० ३ श्लोक ७०, ७३, ७७ और १। ६४ मे ज्यों-की-त्यों हैं। फिर श्रीवचनामृत भी है—'जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा ॥ ७ । ४।' और अवधपुरीको वैकुण्ठसे भी अधिक प्रिय कहा है। तो क्या बिना कोई विशेषताके ?

महानुभावोंने 'अति पावनि' के अनेक भाव कहे हैं—(क) सात पुरियाँ मोक्षकी देनेवाली हैं। यथा—'अयोध्या मथुरा माया काशी कान्ची अवन्तिका। द्वारावती तथा ज्ञेया सप्तपुर्यश्च मोक्षदा ॥' (रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्य ३० । ५४)। ये सातों पुरियाँ विष्णु भगवान्‌के अङ्गमे हैं, इन सबोंमे श्रीअयोध्यापुरी अग्रगण्य है। शरीरके अङ्गोंमे मस्तक सबसे ऊँचा होता है और सबका राजा कहलाता है। विष्णु भगवान्‌के अङ्गमें श्रीअयोध्यापुरीका स्थान मस्तक है। यथा—रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्ये २। ५८—'विष्णोः पादमवन्तिकां गुणवतीं मध्ये च काञ्चीपुरीं नाभिं द्वारवतीं वदन्ति हृदये मायापुरीं योगिनः। ग्रीवामूलमुदाहरन्ति मथुरां नासां च वाराणसीम् एतद्ब्रह्मपदं वदन्ति मुनयोऽयोध्या पुरीं मस्तकम् ॥' पुनश्च यथा—'कल्पकोटिसहस्राणां काशीवासस्य यत्फलम्। तत्फल क्षणमात्रेण कलौ दाशरथी पुरीम् ॥' सब पावनी हैं और यह अति पावनी है। पुनः (ख) गोलोकादि पावन हैं, क्योंकि इसके अशांशसे हैं। यह अंशी है, इसलिये 'अति पावनि' है। प्रमाण वसिष्ठसंहितायाम्, 'अयोध्या नगरी नित्या सच्चिदानन्दरूपिणी। यदंशांशेन गोलोकवैकुण्ठाद्या प्रतिष्ठिता।' (सन्तउन्मनीटीका)। (ग) पावनको भी पावन करनेवाली। (घ) श्रीसीतारामजीका निवास और विहारस्थल होनेसे 'अति पावनि' है। तीर्थराज प्रयाग कहीं नहीं जाते, पर श्रीरामनवमीको वे भी श्रीअवध आते हैं। यथा—'तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं'। इसके प्रियत्वके विषयमे श्रीमुखवचन है कि 'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना ॥ अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ॥' फिर भला वह 'अति पावनि' क्यों न हो। (ङ) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि जो पदार्थ राजस-तामस-गुणरहित है और केवल सात्त्विक गुणयुक्त है, वह 'पावन' कहा जाता है। और जो काल, कर्म, गुण, स्वभाव सबसे रहित हो वह 'अति पावन' है। (च) द्विवेदीजी—'न योध्या कैश्चिदिति अयोध्या' अर्थात् चढ़ाई कर जिस पुरीको कोई जीत न सके वह अयोध्या है, इसीका अपभ्रंश अवध है, ऐसी बहुतोंकी सम्मति है। 'न वध कैश्चिदिति अवधः' अर्थात् किसीसे जो नष्ट न हो वह 'अवध'। इस व्युत्पत्तिसे 'अवध' यह नाम भी संस्कृत होता है।

तुलसीदासको तो यह 'अवध' नाम ऐसा पसंद है कि रामायणभरमें उन्होंने यही नाम रक्खा है। 'अयोध्या' यह नाम कहीं नहीं रक्खा, केवल एक स्थानपर आया है। यथा—'दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगरु बिराग बिसरावहिं॥ ७। २७।' श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीने 'रामसुधा' ग्रन्थके चौथे पदमे 'अयोध्या' की व्याख्या यों की है। 'अवधकी महिमा अपरम्पार, गावत हैं श्रुति चार। विस्मित अचल समाधिनसे 'जो ध्याई' बारम्बार। ताते नाम अयोध्या गायो यह ऋग वेद पुकार॥ रजधानी परबल कंचनमय अष्टचक्र नवद्वार। ताते नाम अयोध्या पावन अस यजु करत विचार॥ 'अकार यकार उकार देवत्रय ध्याई' जो लखि सार। ताते नाम अयोध्या ऐसे साम करत निरधार॥ जगमग कोश जहाँ अपराजित महादेव आगार॥ ताते नाम 'अयोध्या ऐसी कहत अथर्व उदार॥' (रा० प०)। रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्यमे शिवजी कहते हैं—'श्रूयतां महिमा तस्या मनो दत्त्वा च पार्वति। अकारो वासुदेव स्याद्यकारस्ते प्रजापति॥ उकारो रुद्ररूपस्तु तां ध्यायन्ति मुनीश्वराः। सर्वोपपातकैर्युक्तैर्ब्रह्महत्यादिपातकैः॥ ६२॥ न योध्या सर्वतो यस्मात्तामयोध्यां ततो विदुः। विष्णोराद्या पुरी चेयं क्षितिं न स्पृशति प्रिय॥ ६३॥ विष्णो सुदर्शने चक्रे स्थिता पुण्याकरा सदा।' अर्थात् हे पार्वती! मन लगाकर अयोध्याजीकी महिमा सुनो। 'अ' वासुदेव है। 'य' ब्रह्मा और 'उ' रुद्ररूप है ऐसा मुनीश्वर उनका ध्यान करते हैं। सब पातक और उपपातक मिलकर भी उससे युद्ध नहीं कर सकते, इसीलिये उसको अयोध्या कहते हैं। विष्णुकी यह आद्यपुरी चक्रपर स्थित है, पृथ्वीका स्पर्श नहीं करती (१। ६१-६४)।

नोट—४ 'कलि कलुष नसावनि' इति। कलियुगके ही पापोंका क्षय करनेवाली क्यों कहा, पापी तो और युगोंमें भी होते आते हैं? उत्तर यह है कि यहाँ गोस्वामीजीने और युगोंका नाम इससे न दिया कि औरोंमें सतोगुण रजोगुण अधिक और तमोगुण कम होता है। पाप तमोगुणहीका स्वरूप है। कलियुगमें तमोगुणकी अधिकता होती है, सत्त्व और रज तो नाममात्र रह जाते हैं, जैसा उत्तरकाण्डमें कहा है—'नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राममाया के प्रेरे॥ सुद्ध सत्त्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥ सत्त्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥ बहु रज स्वल्प सत्त्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥ तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥ १०४॥', पुनः श्रीमुखवचन है कि 'ऐसे अधम मनुज खल कृतयुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥ ७। ४०।' पुनः, 'कलि केवल मलमूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥ १। २७।' जब ऐसे कलिके कलुषको नाश करनेकी शक्ति है तो अल्प पाप बिचारे किस गिनतीमे होंगे!

प्रनवौं पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥ २॥

अर्थ—फिर मैं श्रीअयोध्याजीके नर और नारियोंको प्रणाम करता हूँ, जिनपर प्रभु (श्रीरामचन्द्रजी) की ममता थोड़ी नहीं है अर्थात् बहुत है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) पुर-नर-नारियोंकी वन्दना की, क्योंकि उनपर प्रभुकी ममता बहुत है, वे पुण्यपुञ्ज हैं। यथा—'हम सब पुन्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥ २। २७४।' (ख) 'ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी'। यह चौपाईके अन्तमें दिया है। इससे इसको ऊपरकी चौपाईमें भी लगा लेना चाहिये। दूसरी चौपाईके अन्तमें इसे देकर बताते हैं कि 'अवध' में ममता है और अवधपुरीके नारि-नरमें भी ममता है। दोनोंपर ममत्व जनानेके लिये ही 'पुर' का सम्बन्ध दिया गया। पुरमें वास करनेके सम्बन्धसे प्रियत्व जनाया है। यथा—'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।... अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥ अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥ ७। ४।' (ग) अवधवासियोंको जगन्नाथरूप कहा है। यथा—'अयोध्या च परं ब्रह्म सरयू सगुणः पुमान्। तन्निवासी जगन्नाथः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥' (रुद्रयामल अ० मा० २। ६७)। अर्थात् अयोध्याजी परब्रह्म है और सरयूजी सगुण ब्रह्म है। अयोध्यावासी जगन्नाथरूप हैं, हम सत्य-सत्य कहते हैं।

सिय निंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—निंदक=निन्दा करनेवाले। ओघ=समूह। बिसोक=शोकरहित। बनाइ=बनाकर। करके।=पूर्णतया, पूरी तरहसे।=अच्छी तरहसे।

अर्थ—१ (उन्होंने) श्रीसीताजीकी निन्दा करनेवाले (अपने पुरीमें ही रहनेवाले धोबी अथवा पुरवासियों) के पापसमूहका नाश किया और अपने विशोक लोकमें आदरसहित उनको वास दिया ॥ ३ ॥

अर्थ—२ श्रीसीताजीके निन्दकके पापसमूहको नाशकर उनको शोकरहित करके अपने लोकमें बसाया।

अर्थ—३ सियनिन्दक पापसमूहको नाशकर विशोक लोक बनाकर उसमें उनको बसाया। (यहाँ 'विशोक' लोक=सातानिक पुर)।

अर्थ—४ सियनिन्दक धोबी आदिके पापोंका नाश किया और अपने पुरमें उन्हें शोकरहित करके बसाये रखा। (यहाँ 'लोक' का अर्थ 'पुर' किया है)।

नोट—१ अर्थ ३ से 'ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी' का महत्त्व घट जाता है। दूसरे 'मम धामदा पुरी सुखरासी' इस श्रीमुखवचनामृतकी और 'अवध तजे तन नहिं संसारा' इस वाक्यकी महिमा जाती रहती है। ये वाक्य अर्थवादमात्र ही रह जायँगे।

नोट—२ पूर्व जो कहा है कि 'जिन्हपर प्रभुकी ममता कुछ थोड़ी नहीं है', अब यहाँ उसी ममत्त्वका स्वरूप दिखाते हैं। 'सिय निंदक' पुर-नर-नारि हैं, जिनकी वन्दना ऊपर की। वाल्मीकीयरामायण तथा अध्यात्मरामायणमें यह कथा दी है, और गीतावलीसे भी पुरवासियोंहीका निन्दा करना पुष्ट होता है। गीतावली उत्तरकाण्ड पद २७ में कहा है कि 'चरचा चरनि सों चरची जान मनि रघुराइ। दूत मुख सुनि लोक धुनि घर घरनि बूझी आइ ॥' ममता यह दिखायी कि प्राणप्यारी श्रीसीताजीका परित्याग सहन किया, निन्दकको दण्ड न दिया, किंतु अयोध्यामें उसको बसाये रखा और निन्दाके शोकसे भी रहित कर दिया। ऐसा सहनशील प्रभु और कौन होगा? ऐसा लोकमर्यादाका रक्षक कौन होगा? प्रजाको प्राणसे भी अधिक माननेवाला कौन होगा? उनको अपनी प्रजाके लिये कैसा मोह है! वे यह नहीं सह सकते कि प्रजा दुराचारिणी हो जाय। 'मर्यादापुरुषोत्तम' पदवी इन्हींको मिली है, फिर भला वे कब सह सकेंगे कि उनकी प्रजा 'मनुष्यत्व' और 'धर्मनीति' मर्यादासे गिर जाय? यद्यपि कलंक सर्वथा झूठा है, यद्यपि उसके साक्षी देवता मौजूद हैं, पर इस समय यदि प्रजाका समाधान देवता भी आकर कर देते, तो भी प्रजाके जीसे उसका अङ्कुर न जाता। मन, कर्म, वचन तीनोंसे उनको सदाचारी बननेका सर्वोत्तम उपाय यही हो सकता था, अन्य नहीं। पातिव्रत्यधर्मकी मर्यादा नष्ट न होने पावे, राज्य और राजाके आचरणपर धब्बा न लगाया जा सके, इत्यादि विचार राजा रामचन्द्रजीके हृदयमें सर्वोपरि विराजमान थे। तभी तो उनके दस हजार वर्षसे भी अधिक राज्यके समयमें अकालका नाम भी न सुना गया, न्याय श्वानादिके साथ भी बर्ता गया। सोचिये तो आजकलके राजा और प्रजाकी दशा! क्या किसी रानीके चरित्रपर कलङ्क लगानेवाला जीता रह सकता था? क्या आजकलके न्याय और न्यायालय हमें सत्यधर्मसे च्युत नहीं करते? इत्यादि। विनयके 'बालिस बासी अवधके बूझिये न खाको। ते पाँवर पहुँचे वहाँ जहँ मुनि मन थाको ॥' (पद १५२) से भी अनेक पुरवासियोंका निन्दा करना पाया जाता है।

अध्यात्मरामायणमें उत्तरकाण्डके चौथे सर्गमें लिखा है कि 'दशवर्षसहस्राणि मायामानुषविग्रह। चकार राज्यं विधिवल्लोकवन्द्यपदाम्बुजः ॥ २१ ॥ देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते। कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम् ॥ ४१ ॥ त्यजामि त्वां वने लोकवादाद् भीत इवापरः ॥ ४२ ॥' अर्थात् मायामानुषरूपधारी श्रीरामजीने जिनके चरणकमलोंकी वन्दना त्रैलोक्य करता है, विधिपूर्वक दस हजार वर्ष राज्य किया। २१। तत्पश्चात् एक दिन महारानीजीने उनसे कहा कि देवता मुझसे बार-बार कहते हैं कि आप वैकुण्ठ चलें तो श्रीरामजी भी वैकुण्ठ आ जायँगे, इत्यादि। श्रीरामजीने कहा कि मैं सब जानता हूँ। इसके लिये तुम्हें उपाय बताता हूँ। मैं तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले लोकापवादके मिषसे तुम्हें, लोकापवादसे डरनेवाले अन्य पुरुषोंके समान वनमें त्याग दूँगा। इत्यादि।' आपसमें

यह सलाह हो जानेपर श्रीरामजीने अपने दूत विजयसे पूछा कि मेरे, सीताके, मेरी माताके, भाइयोंके अथवा कैकेयीजीके विषयमें पुरवासी क्या कहते हैं तब उसने कहा कि 'सर्वे वदन्ति ते।·· किन्तु हत्वा दशग्रीवं सीतामाहृत्य राघव। अमर्षं पृष्ठत. कृत्वा स्व वेश्म प्रत्यपादयत॥ ५०॥ अस्माकमपि दुष्कर्म योषितां मर्षणं भवेत्। यादृग भवति वै राजा तादृश्यो नियतं प्रजा ॥ ५२॥' अर्थात् सभी कहते हैं कि उन्होंने रावणको मारकर सीताजीको बिना किसी प्रकारका संदेह किये ही अपने साथ लाकर रख लिया। अब हमें अपनी स्त्रियोंके दुश्चरित सहने पड़ेंगे, क्योंकि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी होती है।

प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकारों करुणासिंधुजी, काष्ठजिह्वास्वामीजी, पंजाबीजी आदि और पं० रामकुमारजीने मुख्य अर्थ यही दिया है। कुछ लोग 'सियनिंदक मतिमंद प्रजारज निज नय नगर बसाई' विनयके इस पद १६५ के उद्धरणके बलपर 'सियनिंदक' से 'धोबी' का अर्थ ग्रहण करते हैं। लगभग दस हजार वर्ष राज्य कर चुकनेके पीछे प्रभुकी इच्छासे नगरमें कुछ काना-फूसी श्रीजानकीजीके बारेमें होने लगी। यह चर्चा सर्वत्र गुप्तरूपसे प्रारम्भ हुई, प्रकटरूपसे एक धोबीका निन्दा करना पाया जाता है। यह धोबी कौन था? इसके प्रसङ्गमें यह कथा है कि वह पूर्वजन्ममें शुक था। यह शुक अपनी शुकीके साथ क्रीड़ा कर रहा था। श्रीजानकीजीका उस समय बाल्यपन था। आपने दोनोंको अलग-अलग पिंजरेमें कर दिया। शुकने वियोगमें आपको शाप दिया कि जैसे तुमने हमको शुकीसे छुड़ाया, वैसे ही तुम्हारा भी विछोह तुम्हारे पतिसे होगा।

वैजनाथजी लिखते हैं कि 'अवधवासी सब कृतार्थरूप हैं। यथा—'उमा अवधवासी नर नारि कृतारथरूप। ७। ४७।', तब उन्होंने ऐसे कठोर वचन कैसे कहे? और फिर श्रीरघुनाथजीने यह भागवतापराध कैसे क्षमा कर दिया?' इसका समाधान यह है कि—(क) उनका कोई अपराध नहीं है। बालकृष्णदास स्वामी 'सिद्धान्ततत्त्वदीपिकाकार' लिखते हैं—'तिहि जो कह्यो राम हौं नाहीं। इती शक्ति कहँ है मो माहीं॥ जिहि आवत रावण हैं जान्यो। राखहु छाया सियहि बखान्यो॥ लै निज प्रिया अग्नि महँ राख्या। जननी जानि तेहि सुखभिलाषी॥ छाया हरणहारहू मारचो। यों जग महँ निज यश विस्तारयो॥ तिहि ममता अब हौं क्यों करों। या करि जग अपयश ते डरों। सियहू रूपशील गुण करि के। सब विधि अतुल पतिव्रत धरिकैं। अपनो पिय अस बस तेहि कीनो। निशि दिन रहै तासु रस भीनो॥ तिहि सम तू न हौं न बस तेरे॥ यो नहिं तुहि राखों निज नेरे॥' इस प्रकार उसने श्रीजानकीजीके गुण गाकर अपनी स्त्रीको शिक्षा दी। उसके अन्तःकरणमें तो कोई विकार न था, परंतु ऊपरसे सुननेमें लोगोंको अनैसी (बुरी) लगी। प्रभु तो हृदयकी लेते हैं। यथा—'कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की॥' पुनः (ख) वाल्मीकिजी सीताजीको पुत्रीरूपसे भजते थे। उनकी आशा पूर्ण करनेके लिये यह चरित किया। पुनः, (ग) अपने वीरोंको अभिमान हो गया था कि रावण-ऐसेको हम लोगोंने जीता, उन सबोंका अभिमान अपने पुत्रोंद्वारा नाश करानेके लिये लीला की। पुनः, (घ) पिताकी शेष आयुका भोग करना है, उस समय सीताजीको साथ रखनेसे धर्ममें बट्टा लगता। अतः रजकद्वारा यह त्यागका चरित किया। इसमें रजकका दोष क्या?

नोट—३ 'सियनिंदक अघ ओघ नसाए' इति। भाव यह कि साधारण किसीकी भी निन्दा करना पाप है। यथा, 'पर निंदा सम अघ न गरीसा' (७। १२१)। श्रीसीताजी तो 'आदिशक्ति' ब्रह्मस्वरूपा हैं कि 'जासु कृपाकटाक्ष सुर चाहत चितव न सोइ' और 'जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ १। १४८।' इनकी निन्दा करना तो पापका समूह ही बटोरना है। इसलिये 'अघ ओघ' कहा।

४ कोई-कोई लोग (जो भगवद्भक्त नहीं हैं) सीतात्यागके कारण श्रीरामचन्द्रजीपर दोष आरोपण करते हैं। साधारण दृष्टिसे उसका उत्तर यह है कि भगवान्के छः ऐश्वर्योंमेंसे एक 'वैराग्य' भी है। अर्थात् कामिनीकाञ्चनका त्याग। 'काञ्चन' अर्थात् राज्यवैभवका त्याग जिस प्रकार हँसते-हँसते भगवान्ने वनगमनके समय किया था—'नवगयद रघुबरमनि राज अलान समान। ··उर अनंद अधिकान', उसी तरह अनासक्त भावसे विशुद्धचरिता, पतिव्रता, निज भार्याका त्याग भी भगवान्ने मिथ्यापवादके कारण किया। और महापतित रजकके दोष

पर तनिक भी ध्यान न देते हुए उसे परधाममें आश्रय दिया, उसपर जरा भी रोष नहीं प्रकट किया। इस प्रकार रागरोषरहित मानसका परिचय दिया। इसी तरह लोकमतका आदर करके उन्होंने परमोत्कृष्ट नैतिक भावकी प्रतिष्ठा की, एवं इसी मिषसे वात्सल्यरस-रसिक महर्षि वाल्मीकिकी पुरातन इच्छाकी पूर्ति की। विशेष ७। २४ (७) 'दुइ सुत सुंदर सीता जाये' में भी देखिये। कुछ पूर्व नोटमें भी उत्तर आ गया है।

नोट—५ 'लोक बिसोक बनाइ बसाये' इति। पुरवासियों (अथवा धोबी) के 'अघओघ' का नाश करके फिर क्या किया? उसको कौन धाम मिला? इसपर महानुभाव अनेक भाव कहते हैं और ये सब भाव 'लोक बिसोक' से ही निकाले हैं—(क) विनयपत्रिकाके 'तिर्यनिदक मतिमंद प्रजारज निज नय नगर बसाई' के आधारपर प० रामकुमारजी यह भाव कहते हैं कि श्रीसीताजीकी निन्दा करनेसे दिव्य लोककी प्राप्ति नाश हो गयी थी, इसलिये दूसरा 'बिशोक लोक' जहाँ गिरनेका शोक नहीं है अर्थात् (अव्ययलोक) बनाकर उसमें उसको बसाया। यही विनयपत्रिकावाला 'नया नगर' है। (ये 'नय' का अर्थ 'नया' करते हैं। 'नय' का अर्थ 'लोकोत्तर नीतिसे' भी टीकाकारोंने किया है)। (ख) करुणासिन्धुजी एवं रा० प० का मत है कि श्रीअयोध्या विरजानदीके पार अयोध्याके दक्षिणद्वारपर (सातानिक) है जिसकी 'वन' संज्ञा है, (जैसे वृन्दा-वन, काशी, आनन्दवन, अयोध्या-प्रमोदवन और प्रयाग-बदरीवन) जो अयोध्याहीमें है, वहाँ बसाया। भार्गवपुराण और सदाशिवसंहिताका प्रमाण भी दिया है। यथा—'त्रिपाद्भूतिर्वैकुण्ठे विरजाया परे तटे। या देवाना पुरायोध्या ह्यमृते तां वृता पुरीम्॥ १॥ साकेतदक्षिणद्वारे हनुमान्नामवत्सल। यत्र सातानिक नाम वन दिव्यं हरे प्रियम्॥ २॥' यह भाव 'अर्थ ३' के अनुसार है।

६—कुछ महानुभाव 'बिशोक' को 'लोक' का विशेषण न मानकर उसे 'बनाइ' के साथ लेकर यों अर्थ करते हैं कि 'बिशोक बनाकर अपने लोकमें बसाया' अर्थात् शक्ति होते हुए भी क्षमा की और श्रीअयोध्याजीमें ही आदरपूर्वक बसाये रक्खा। अथवा, उनको शोकरहित करके तब अपने साथ अपने लोकको ले गये। निन्दारूपी पापके कारण शोक या चिन्ता थी कि हमारी गति कैसे होगी? हम तो नरकमें पड़ेंगे इत्यादि। विनायकी टीकाकारजी 'बिशोक बनाइ' का भाव यह लिखते हैं कि श्रीसीताजीके पातिव्रत्यपर संदेह था, इसीसे उनके जीमें इनकी तरफसे शोक था। इस संदेह और शोकको श्रीवाल्मीकिजी तथा श्रीसीताजीको श्रीरामजीने सबके सामने बुलाकर सत्य शपथ दिलाकर मिटाया, जैसा सर्ग ७ उत्तरकाण्ड अध्यात्मरामायणमें कहा है। यथा—'भगवन्त महात्मान वाल्मीकिं मुनिसत्तमम्। आनयध्व मुनिवर ससीत देवसमितम्॥ अस्यास्तु पार्षदो मध्ये प्रत्यय जनकात्मजा। करोतु शपथ सर्वे जानन्तु गत-कल्मषाम्॥ १७—१८॥' इत्यादि। अर्थात् 'श्रीरामजीने कहा कि देवतुल्य मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीवाल्मीकिजीको सीताजीके सहित लाओ। इस सभामें जानकीजी सबको विश्वास करानेके लिये शपथ करें, जिससे सब लोग सीताजीको निष्कलङ्क जान जायँ।' दोनों सभामें आये। पहले महर्षि वाल्मीकिजीने शपथ खायी, फिर श्रीजानकीजीने। करुणा-सिंधुजी एवं पजाबीजी 'बनाइ' का अर्थ 'अपना स्वरूप बनाकर' भी करते हैं। इस अर्थमें 'बनाइ' 'बसाए' का क्रिया विशेषण होगा।

ये भाव अर्थ २ और ४ के अनुसार हैं।

बंदौं कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माँची॥ ४॥
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुसारू॥ ५॥

शब्दार्थ—प्राची = पूरब। माँची = फैली। तुसार = पाला।

अर्थ—मैं कौसल्यारूपी पूर्व दिशाको प्रणाम करता हूँ जिसकी कीर्त्ति सब जगत्‌में फैली है॥ ४॥ जहाँ संसारको सुख देनेवाले और खलरूपी कमलको पालारूपी श्रीरघुनाथजी सुन्दर चन्द्रमारूप प्रकट हुए॥ ५॥

नोट—(१) यहाँ श्रीकौसल्याअम्बाको पूरब दिशा, श्रीरामचन्द्रजीको चन्द्रमा और दुष्टोंको कमल कहा है पूरा रूपक नीचेके मिलानसे समझमें आ जायगा।

श्रीकौशल्याजी	पूरब दिशा
१ कौशल्याजीकी कीर्त्ति जगत्‌में फैली, यही प्रकाश है।	चन्द्रोदयके पहले प्रकाश पूरबमें होता है।
२ यहाँ श्रीरामजी प्रकट हुए।	प्रकाशके पीछे चन्द्रमा निकलता है।

चन्द्रमामे विकार भी होता है, इसलिये रघुपतिको 'ससिचारू' की उपमा दी। चन्द्रमाका जन्म होता है। यथा—'जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक। १। २३७।' श्रीरामजी अजन्मा हैं। 'प्राची' पदके सम्बन्धसे 'चारू' से पूर्णचन्द्रका अर्थ होता है। पूर्व दिशामें वही उदय होता है।

३ कौशल्याजीके यहाँ इनका प्रकट होना कहा। अर्थात् गर्भसे नहीं हुए। यथा—'होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे', 'भए प्रगट कृपाला' इत्यादि।	चन्द्रमाका जन्म पूरबमे नहीं होता, वहाँ वह प्रकट भर होता है।
४ रामचन्द्रजीका प्रादुर्भाव भी संसारके सुखका हेतु हुआ।	चन्द्रमाके निकलनेसे संसारको सुख होता है।
५ यहाँ खलोंका वध होता है।	चन्द्रमासे कमल झुलस जाता है।

आश्चर्यरामायणमें इनके जोड़के श्लोक ये कहे जाते हैं 'श्रीकोशलेन्द्रदयिता राममाता यशस्विनी। प्राच्या सा वन्दनीया मे कीर्त्तिर्यस्यास्तु विश्रुता ॥ १ ॥ रामचन्द्रमसं चारु प्रादुर्भूतं सनातनम्। खलाब्जं हिमवद् भाति साधूनां सुखदायकम् ॥ २ ॥ कौशल्यायै नमस्यामि यथा पूर्वा दिगुत्तमा। प्रादुर्भावो बभौ राम. शीतांशुः सर्वसौख्यदः ॥ ३ ॥'

नोट—२ 'कौसल्या दिसि प्राची' इति। द्वितीयाका चन्द्रमा मांगलिक है, इसकी सब वन्दना करते है, परंतु यह चन्द्रमा कलाहीन होता है, पश्चिममें उदय होता है और दूसरेके आश्रित है। पूरब दिशा कहकर पूर्णिमाका चन्द्रमा सूचित किया जो अपनी पूर्ण षोडश कलाओंसे उदय होता है, इसी तरह श्रीकौशल्याजीके यहाँ श्रीरामजी पूर्णकलाके अवतार हुए। इसी प्रकार श्रीकृष्णजीका जन्म श्रीमद्भागवतमें देवकीरूपिणी प्राची दिशासे कहा गया है। यथा—'देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णु. सर्वगुहाशयः। आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥ भा० १० । ३ । ८।' अर्थात् जैसे पूर्वदिशामे पूर्णचन्द्र प्रकट होता है उसी प्रकार देवरूपिणी देवकीजीकी कोखसे सर्वान्तर्यामी विष्णु प्रकट हुए।

गोस्वामीजी यहाँ 'रघुपति ससि' का प्रकट होना कहकर जनाते हैं कि जिनका 'रघुनाथ' नाम है वे अवतरे हैं। विष्णुनामधारी भगवान् रघुपति होकर नहीं अवतरे। वे पूर्वसे ही रघुपति हैं। इसी प्रकार वाल्मीकीयमे 'कौशल्या जनयेद्रामम्' शब्द हैं। अर्थात् श्रीरामजी अवतरे, न कि विष्णु। नामकरणके पूर्व ही जिनका नाम 'राम' था, उनका अवतार सूचित किया।

३ 'खल कमल तुसारू' इति। (क) कमलको यहाँ खलकी उपमा दी। यह 'विपर्यय अलंकार' है। चन्द्रमाके योगसे कमलको खल कहा। (मा० प्र०) ? अथवा, कमलमें खलत्व यह है कि जिस जलसे उसकी उत्पत्ति होती है उसीसे वह विमुख रहता है, वैसे ही खल प्रभुसे उत्पन्न होते हुए भी उनसे विमुख रहते हैं।' (रा० प्र०, वै०)। (ख) 'विश्व सुखद' इति। संसारमे तो संत और खल दोनो हैं, खलोंको तो सुख नहीं होता फिर 'विश्व सुखद' कहनेका क्या भाव है ? उत्तर—अधिक लोगोंको सुख होता है, इसलिये 'बिस्व-सुखद' कहा।

टिप्पणी—१ (क) 'आदिमें कौसल्याजीकी वन्दना की, अन्तमे राजा दशरथजीकी। आदि अन्तका सङ्ग है। सब रानियोको सङ्ग कहा और आगे-पीछेका सब कायदा रक्खा।' (ख) कौसल्याजीकी अकेले वन्दना की, इसीसे फिर कहा कि सब रानियोंकी दशरथसहित वन्दना करता हूँ। तात्पर्य यह है कि (१) कौसल्याजी सुकृत और कीर्त्तिमें राजा और सब रानियोंसे अधिक हैं। श्रीरामजी इनसे प्रकट हुए। इसीसे कौसल्याजीकी प्रथम वन्दना की। और पृथक् किसी-को समतामें न रक्खा। अथवा, (२) यहाँ प्रथम जो वन्दना की गयी यह मनुपत्नी श्रीशतरूपा कौसल्याजीकी वन्दना है और आगे दोहेमें 'बंदौं अवधभुआल' यह मनु दशरथकी वन्दना है। मनु-प्रसङ्गमे 'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब

तुम्हार सुत' जो प्रभुने कहा था, उसीका 'अवधभुआल' शब्द दोहा १६ में देकर जना दिया कि यह वन्दना उन्हीं मनु-दशरथकी है। परात्पर ब्रह्म रामके माताकी वन्दना यहाँ की और दोहेमें उन्हींके पिताकी। इसके आगे जो 'दसरथ राउ सहित सब रानी' की वन्दना है, वह कश्यप-अदितिके अवतार श्रीदशरथ-कौशल्या आदिकी है। इसका प्रमाण आकाशवाणीके 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥ ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा॥ १। १८७।' यही 'दशरथ' नाम देकर 'दसरथ राउ सहित सब रानी' में कश्यप-दशरथ आदिकी वन्दना की। (३) मनु और शतरूपाको वरदान पृथक्-पृथक् दिया गया था। यथा—'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत' यह वरदान मनुजीको दिया। उससे पृथक् श्रीशतरूपाजीकी रुचि पूछकर 'देबि माँगु बरु जो रुचि तोरे।' तब उनको वर दिया। 'जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥' अतएव दोनोंकी वन्दना पृथक्-पृथक् की गयी। जैसे वरमें 'होइहहुँ प्रगट निकेत तुम्हारे' कहा और प्रादुर्भावके समय 'भए प्रगट कृपाला' कहा है, वैसे ही यहाँ 'प्रगटे जहँ' कहा गया। अथवा, (४) श्रीरामजीमें जो कौसल्याजीका भाव है वह सबसे पृथक् है, इससे इनको सबसे पृथक् कहा। अथवा, (५) सब रानियोंसे बड़ी होनेसे प्रथम कहा और पितासे माताका गौरव अधिक है, इसलिये प्रथम इनकी वन्दना की, तब दशरथ महाराजकी। वा,

(६) श्रीरामचन्द्रजीने शतरूपारूपमें ही आपको माता मान लिया और उसी शरीरमें आपको माता कहकर सम्बोधन किया था। यथा—'मातु बिबेक अलौकिक तोरे' इत्यादि। (१। १५०)। इसलिये कौसल्या माताकी वन्दना प्रथम की। पुन, 'यह सनातन परिपाटी है कि पहले शक्तिकी वन्दना करते हैं' इसीका निर्वाह कविने किया है। अर्थात् पहले बड़ी अम्मा कौसल्याजीकी वन्दना की फिर महाराज दशरथकी।

दसरथ राउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी॥ ६॥
करौं प्रनाम करम मन बानी। करहु कृपा सुत सेवक जानी॥ ७॥

अर्थ—राजा दशरथजीको सब रानियोंसहित पुण्य और सुन्दर मङ्गलोंकी मूर्ति मानकर मैं कर्म-मन-वचनसे प्रणाम करता हूँ। (आप सब) अपने सुतका सेवक जानकर मुझपर कृपा करें॥ ६-७॥

नोट—१ (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सब रानियाँ और राजा सुकृतमें बराबर हैं। राजाने सुकृत किये, इसलिये रामजीके पिता हुए। रानियोंने सुकृत किये, इसलिये रामजीकी माता हुईं। इसीसे एक साथ वन्दना है। सुकृतसे सुमङ्गल होते हैं, ये दोनोंकी मूर्ति हैं।' वसिष्ठजीने भी ऐसा ही कहा है यथा—'पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई।'' 'तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥ सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भएउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके॥ तुम्ह कहुँ सर्ब काल कल्याना।' (१। २९४)। (ख) 'सब रानी' इति। स्मरण रहे कि श्रीमद्गोस्वामीजीके मतानुसार राजा दशरथजीके ७०० रानियाँ थीं, जैसा कि गीतावलीमें बालकाण्डके अन्तिम पदमें उन्होंने कहा है। यथा—'पालागन दुलहियन्ह सिखावति सरिस सासु सत साता। देहिं असीस ते बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता॥ १०८।' परंतु मानसकाव्य आदर्शकाव्य रचा गया है, इसी कारण इसमें आदर्श चरितोंका वर्णन है। केवल तीन ही रानियोंके नाम और उन्हींकी चर्चा इसमें की गयी है। तीन स्त्रियोंका होना भी आदर्श नहीं है, तथापि इसके बिना कथानक पूरा नहीं हो सकता था। (ग) 'सुत सेवक जानी' इति। पुत्रका सेवक अति प्रिय होता ही है। माता-पिता सुतका टहलुआ जानकर अधिक कृपा करते हैं। मैं भी सुतसेवक हूँ, इसलिये मुझपर भी अधिक कृपा कीजिये। (रा० प्र०)

जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता॥ ८॥

शब्दार्थ—अवधि=सीमा, हद, मर्यादा। बिरचि=अच्छी तरह रचकर।

अर्थ—जिनको रचकर ब्रह्माने भी बड़ाई पायी (और जो) श्रीरामचन्द्रजीके माता-पिता (होनेसे) महिमाकी सीमा हैं॥ ८॥

नोट—१ (क) भाव यह है कि राजा और रानियाँ परात्पर परब्रह्म श्रीरामचन्द्रजीके माता-पिता हुए, फिर भला उनसे बढ़कर महिमा और किसकी हो सकती है? ऐसी महिमाकी जो सीमा हैं उनको किसने उत्पन्न किया? ब्रह्माजीने इनको बनाया है। यही ब्रह्माको बड़प्पन मिला। इसीसे ब्रह्माजी बड़े कहलाये। (ख) करुणासिन्धुजी 'महिमा अवधि' को श्रीरामचन्द्रजीका विशेषण मानकर अर्थ करते हैं। अर्थात् जो श्रीरामचन्द्रजी महिमाकी अवधि हैं, दशरथ महाराज और रानियाँ उनके पिता-माता हैं। ये माता-पिता ब्रह्माके बनाये हैं। इसलिये ब्रह्माजी धन्य हैं। यह बड़ाई मिली। ब्रह्माजीके पुत्र मनु-शतरूपा हैं, वे ही दशरथ-कौशल्या हुए। (करु०)

सो०—बंदौं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥ १६॥

अर्थ—मैं श्रीअवधके राजाकी वन्दना करता हूँ जिनका श्रीरामजीके चरणोंमें (ऐसा) सच्चा प्रेम था (कि) दीनदयालु भगवान्‌के बिछुड़ते ही अपने प्यारे शरीरको उन्होंने तिनकेके समान त्याग दिया।

नोट—१ 'सत्य प्रेम जेहि राम पद' इति। श्रीमद्‌गोस्वामीजी यहाँ बताते हैं कि श्रीरघुनाथजीमें सच्चा प्रेम क्या है? सच्चा प्रेम वही है कि जब वियोगमें हृदयमें विरहाग्नि ऐसी प्रज्वलित हो कि जीवनपर आ बने, उससे मरण अथवा मरणासन्न दशा प्राप्त हो जाय। यदि ऐसा न हुआ तो फिर 'सच्चा प्रेम' कहना व्यर्थ है। देखिये श्रीगोस्वामीजी दोहावलीमें कहते हैं कि सच्चा प्रेम तो 'मीन' का है, क्योंकि 'जल' से बिछुड़ते ही उसके प्राण निकल जाते हैं। यथा—'मकर उरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥ १३८॥' अर्थात् मगर, सर्प, मेढक, कछुए सबहीका जलमें घर है और सबहीका जीवन जल है, परन्तु सच्चा स्नेह जलसे एक मछलीका ही है जो जलसे बाहर रह ही नहीं सकती, तुरत मर जाती है। इसी तरह संसारमें प्रायः सभी कहते हैं कि 'प्रभो! आप हमारे जीवन हैं, प्राणप्यारे हैं।' पर कितने मनुष्य ऐसे हैं जिनका यह वचन हार्दिक होता है? जो वे कहते हैं उसे सत्य कर दिखाते हैं? और भी देखिये, जब अवधवासियोंको बिछोह हुआ तब वे अपने प्रेमको धिक्कारते थे, कहते थे कि हमारा प्रेम झूठा है। यथा—'निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥ २। ८६।'

नोट—१ यह उपदेश है कि सच्चे प्रेमी यदि बनना चाहते हो तो ऐसा ही प्रेम कीजिये।

२ 'अवध भुआल' इति। मनुजीको जब श्रीरामजीने दर्शन दिया था तब मनुजीने यही वर माँगा कि 'चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ। १। १४९।' प्रभुने एवमस्तु कहा और बोले कि 'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥' उसी समय शतरूपाजीने भी यही वर पाया। यथा—'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥ १। १५०।' जब दोनोंको मनमाँगा वर मिल चुका तब 'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अवर एक बिनती प्रभु मोरी॥ सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥ मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥ अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥' प्रभुने तब यह कहा था कि 'होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत'' ''पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। १। १५१।'

इस कारणसे पहले रानियोंसहित वन्दना करते हुए प्रथम वरके अनुसार केवल 'रामजीके माता-पिता' कहा। दूसरी बार दूसरे वरके अनुसार दुबारा वन्दनामें प्रभुके श्रीमुखवचन 'अवध भुआल' देकर उसीके साथ 'मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना' का सत्य होना दिखाया। दशरथजीका यह प्रेम अनूठा था और ऐसा वरदान भी केवल आपहीने माँगकर पाया था, इसलिये आपकी वन्दना पृथक् भी की। प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'अवध भुआल' कहकर सूचित किया कि सब सुखको प्राप्त हैं, यथा—'अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई। २। ३२४।', 'नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे। लोकप करहिं प्रीति रुख राखे॥ २। २।' ऐसे भी सुखकी इच्छा न की, रामजीके बिना ऐसा

भी शरीर (जिसमें ये सुख प्राप्त थे) त्याग दिया। द्विवेदीजीका मत है कि अयोध्याके अनेक राजा हुए। उनका निराकरण करनेके लिये सत्य प्रेम इत्यादि विशेषण दिये हैं। इनसे दृढ़ रूपसे दशरथका बोध कराया। (विशेष पूर्व १६ (५) 'वहीं कौसल्या ' ' में देखिये)। यहाँ 'प्रथम पर्यायोक्ति अलकार' है।

३ मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'दशरथके नेहको देखकर कि रामविरहमें शरीर त्याग दिया। सब कवियोंके हृदयमें यह (भ्रम) हो गया, क्योंकि काव्यमतानुसार विरहसे मरना अयोग्य है और विरहकी दस दशाओंमेंसे अन्तिम दशा मूर्छा है, मृत्यु नहीं है, परन्तु दशरथजीने शरीर छोड़कर प्रेमको प्रधान सिद्ध किया। एव प्रकार गोसाईंजीने काव्यका अनुकरण नहीं किया है, राम प्रेमरसवश कार्य किया, चाहे काव्यरीतिके अनुकूल या प्रतिकूल हो।" (परतु प्रेमके ३३ व्यभिचारियोंमें एक मृत्यु भी है। भक्तिसुधास्वाद पृष्ठ १८ देखिये)। प० शिवलालजी पाठकके मतानुसार यह दोहा उनके भावको जो 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' का उन्होंने कहा है, पुष्ट करता है। देखिये। ९ (११)।

टिप्पणी—'रामपद' इति। दशरथजीका श्रीरामजीमें वात्सल्यभाव था। इस भावमें चरणारविन्दका ध्यान नहीं होता, परतु यहाँ 'रामपद' में सत्य प्रेम होना कहा है। इसका कारण यह है कि आपने यह वर माँगा था कि 'सुत विषइक तव पद रति होऊ।' वरदानके अनुसार यहाँ ग्रन्थकारने कहा।

नोट—४ 'बिछुरत दीनदयाल इति। (४) 'दीनदयाल' पद दिया, क्योंकि मनुरूपमें तपके समय आपको दीन देखकर बड़ी दया की थी। (पाँडेजी, रा० प्र०)। पुन, (ख) बिछुड़नेका हेतु दीनदयालुता है। दीनोंपर दया करके बिछुड़े थे। राक्षसोंके कारण सुर, सन्त—सब दु खसे दीन हो रहे थे, उनको मारकर इनका दु ख हरनेके लिये श्रीरामजीने पिताका वियोग स्वीकार किया। ऐसा दीनोंपर दयालु कौन होगा ? इसलिये 'दीनदयाल' कहा। (प० रा० कु०)। 'रामजीके बिछुड़ते ही शरीर त्याग दिया। इससे यह पाया जाता है कि राजा उनको देखकर जीते थे। यथा—'जीवन मोर दरस आधीना। २। ३३।' यहाँ 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना' ये वचन सिद्ध हुए।

५ 'प्रिय तन' इति। (क) तनको प्रिय कहा क्योंकि इसी तनमें परब्रह्म श्रीरामजी आपके पुत्र हुए। भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा है कि 'एहि तन रामभगति मैं पाई। तातें मोहि ममता अधिकाई॥ जेहि तें कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥ ७। ९७।', 'रामभगति एहि तन उर जामी। तातें मोहि परम प्रिय स्वामी॥ ७। ९६।' और दशरथमहाराजके तो श्रीरामजी पुत्र ही हुए, फिर यह 'तन' 'प्रिय' क्यों न हो ? पुन, (ख) अपनी देह सभीको प्रिय होती है, जैसा श्रीदशरथमहाराजने स्वय विश्वामित्रजीसे कहा है। यथा—'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं। १। २०८।' श्रीहनुमान्‌जीने भी रावणसे ऐसा ही कहा है—'सब के देह परम प्रिय स्वामी। ५। २२।' इसलिये तनको 'प्रिय' कहा।

६ 'तृन इव' कहनेका भाव यह है कि—(क) तिनका फेंक देनेमें किसीको मोह नहीं होता, उसी तरह आपने साधारण ही शरीर त्याग दिया। जैसा कहा है 'सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपनु मोर निबाहा'। अ० १५५।' (ख) तिनका आगमें जलता है। यहाँ रामविरह अग्नि है। यथा—'बिरह अगिनि तन तूल' (५। ३१)। इसलिये रामविरहमें तृन इव तन त्यागना कहा। पुन, (ग) तृण किसीको प्रिय नहीं होता, तन सबको प्रिय होता है। रामजीके सम्बन्धसे तन 'प्रिय' है और रामजीके बिछुड़नेसे यह शरीर 'तृणके समान' है। यथा—'राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥ ७। ९६।' 'उत्प्रेक्षा करनेमें तृण ही उपमान है, त्याग ग्रहण उत्प्रेक्षणीय हैं', (अज्ञात)।

७ यहाँ लोग शङ्का करने लगते हैं कि 'बिछुड़ते ही तो तनका त्याग नहीं हुआ फिर यहाँ 'बिछुरत' कैसे कहा ?' श्रीरामजीके पयान-समयसे लेकर सुमन्त्रजीके लौटनेतक जो दशा राजाकी वर्णित है, उसका पूरा प्रसङ्ग पढ़नेसे यह शङ्का स्वय ही निर्मूल जान पड़ेगी।

श्रीदशरथजीने सुमन्त्रजीको रामचन्द्रजीके साथ भेजा था। यथा—'लै रथु सग सखा तुम्ह जाहू॥', "रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गयें दिन चारि॥" 'फिरइ त होइ प्रान अवलबा'॥ 'नाहित मोर मरनु परिनामा॥' २। ८१। ८२।

इन वचनोंसे विदित होता है कि इनको विश्वास था कि सुमन्त्रजी उनको लौटा लायेंगे। ऐसा भरोसा होते हुए भी वे 'मणि बिनु फणि' के तुल्य जिये, जबतक सुमन्त्रजी नहीं लौटे। यथा—"जाइ सुमंत्र दीख कस राजा।" बूड़त कछु अधार जनु पाई'—(अ० १४८। १४९)। जब सुमन्त्रने आकर हाल कहा तब 'परेउ धरनि उर दारुन दाहू।' "प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥ राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम। तनु परिहरि रघुबर बिरह०। १५३-१५५॥'

पुनः, दूसरा प्रश्न वे लोग फिर यह करते हैं कि 'जब विश्वामित्रजीके साथ श्रीरामजी गये थे तब भी तो बिछुड़न हुआ, तब शरीर क्यों न त्यागा?' उत्तर यह है कि—(क) राजाने विश्वामित्रमें अपना पितृत्व धर्म (अर्थात् श्रीरामजीके प्रति वात्सल्यभावको) स्थापित कर दिया था। यथा—'मेरे प्राननाथ सुत दोऊ। तुम मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥ २०८।' जब मुनिको अपनी जगह पिता कर दिया तो फिर तन कैसे त्याग कर सकते थे? तो भी वर माँगा था कि 'मनि बिनु फनि' सा मेरा जीवन हो, वह दशा हो गयी थी। जैसे 'मनि गए फनि जिए ब्याकुल बेहाल रे।' वही दशा राजाकी जनकपुर पहुँचनेपर दर्शायी है। यथा—'मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे। १। ३०८। पुनः (ख) इस वियोगमें इस कारण इनका शरीर नहीं छूटा कि यह क्षणिक था, उन्हें पूर्ण विश्वास था कि वे शीघ्र यज्ञरक्षा करके लौटेंगे, जैसा विश्वामित्रजीके वचनोंसे सिद्ध है—'बूझिए बामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने॥ २॥ रिपु रन दलि मख राखि कुसल अति अलप दिननि घर ऐहैं' (गीतावली १। ४८)। उसमें जटिल तापसिकता नहीं थी। दूसरे, भगवान्‌के दो अंशरूप श्रीभरत-शत्रुघ्नजी यहाँ विद्यमान थे। सम्पूर्णतः श्रीरामजी अर्थात् तीनों अंशरूप अनुजोंसहित उनका वियोग होता तो मृत्युकी अवश्य अनिवार्य सम्भावना थी। भगवान्‌के तीनों भाई अंशरूप हैं, इसका उन्होंने पूर्वमें निर्देश किया है—"अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥' (ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी)। दूसरे वियोगमें एक भी अंश श्रीअवधमें उपस्थित न था, अथवा, (ग) वरदानमें दो प्रकारकी दशाएँ माँगी थीं, सो पहली दशा पहले वियोगमें और दूसरी दशा दूसरे वियोगमें प्रकट हुई।

प्रनवौं परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥ १॥

शब्दार्थ—परिजन=परिवारवाले, कुटुम्बी, वे लोग जो अपने भरण-पोषणके लिये किसी एक विशिष्ट कुटुम्बी व्यक्तिपर अवलम्बित हों जैसे स्त्री, पुत्र, सेवक आदि। गूढ=गुप्त, गम्भीर, बड़ा गहरा।

अर्थ—परिवारसहित राजा जनकजीकी वन्दना करता हूँ, जिनका श्रीरामजीके चरणोंमें गूढ स्नेह था॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीजनकमहाराजकी सब प्रजा ब्रह्मज्ञानी है, इसलिये 'परिजनसहित' कहा। (ख) 'गूढ़ सनेहू' इति। ऊपर दोहेमें दशरथमहाराजकी वन्दना करते हुए कहा था कि ' 'सत्य प्रेम जेहि रामपद। बिछुरत दीनदयालु प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥' और यहाँ श्रीजनकमहाराजका भी 'रामपद' में स्नेह होना कहा। परंतु यहाँ 'गूढ' विशेषण दिया है। गूढ कहकर सूचित करते हैं कि श्रीदशरथमहाराजका प्रेम प्रकट भी था और इनका गुप्त ही था इसीसे आपने शरीर नहीं छोड़ा।

नोट—१ 'बिदेहू' इति। महाराज निमिजी इक्ष्वाकुमहाराजके पुत्र थे। इन्होंने एक हजार वर्षका यज्ञ करनेकी इच्छा की और श्रीवसिष्ठजीको होता वर लिया। वसिष्ठजीने कहा कि इन्द्रने हमें पाँच सौ वर्षके यज्ञके लिये पहले ही निमन्त्रण दे दिया है, उसको पूरा कराके तब तुम्हारा यज्ञ करावेंगे। यह सुनकर राजा चुप हो गये। 'मौनं सम्मति' समझकर वसिष्ठजी चले गये। राजाने गौतमजीको बुलाकर यज्ञ आरम्भ कर दिया। इन्द्रका यज्ञ कराके वसिष्ठजी लौटे और निमि महाराजके यहाँ आये। यहाँ देखा कि यज्ञ हो रहा है। राजा उस समय वहाँ नहीं थे, महलमें सो रहे थे। वसिष्ठजीने शाप दिया कि यह राजा देहरहित हो जाय—'अयं विदेहो भविष्यति' राजा सोकर उठे तो उनको यह समाचार मिलनेपर उन्होंने भी वसिष्ठजीको शाप दिया कि हम सो रहे थे, हमको जगाया भी नहीं और न कुछ बातचीत की, बिना जाने शाप दे दिया, अतएव उनका भी देह न रहे। यह शाप देकर उन्होंने देह त्याग दिया। यथा—'यस्मान्मामनभिभाष्याज्ञानत एव शयानस्य शापोत्सर्गमसौ दुष्टगुरुश्चकार तस्मात्तस्यापि देहः पतिष्यतीति शापं दत्त्वा

देहमत्यजत् ।' (विष्णुपु० अंश ४ अ० ५ । १०)। महर्षि गौतम आदिने राजाके शरीरको तेल आदिमें रखकर यज्ञकी समाप्तितक सुरक्षित रक्खा। यज्ञ-समाप्तिपर जब देवता अपना भाग ग्रहण करनेके लिये आये तब ऋत्विजोंने उनसे कहा कि यजमानको वर दीजिये। देवताओंके पूछनेपर कि क्या वर चाहते हो, निमिने सूक्ष्मशरीरद्वारा कहा कि देह धारण करनेसे उससे वियोग होनेमें बहुत कष्ट होता है इसलिये देह नहीं चाहता, समस्त लोगोंके लोचनोंपर हमारा वास हो। देवताओंने यही वर दिया। तमीसे लोगोंकी पलकें गिरने लगीं।

महाराज निमिके कोई सन्तान न थी। इसलिये मुनियोंने उनके शरीरको मथा जिससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके जनन होनेसे 'जनक' नाम हुआ, विदेहका लड़का होनेसे वैदेह और मथनसे पैदा होनेसे 'मिथि' नाम प्रसिद्ध हुआ। यथा—'जननाज्जनकसंज्ञां चावाप ॥ २२ ॥ अभूद्विदेहोऽस्य पितेति वैदेहः मथनान्मिथिरिति ॥ २३ ॥' (विष्णु पु० ४ अ० ५)। राजा निमिको लेकर श्रीसीरध्वजजीतक बाईस राजा इस पीढ़ीमें हुए। इस वंशके सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आये हैं। सभी विदेह और जनक कहलाते हैं। इनकी कथाएँ ब्राह्मणों, उपनिषदों, महाभारत आदि पुराणोंमें भरी पड़ी हैं। श्रीरामजीके समयमें श्रीसीरध्वज महाराज मिथिलाके राजा थे।

शंका—अभी तो अवधवासियोंकी वन्दना समाप्त नहीं हुई थी, बीचहीमें श्रीविदेहजीकी वन्दना कैसे करने लगे ?

समाधान—(क) विचारिये तो श्रीविदेहजी महाराज श्रीदशरथ महाराजकी समताके पाये जाते हैं। दोनोंमें 'गूढ़ प्रेम' था। श्रीजनकजीका प्रेम श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन होते ही प्रकट हो गया और दशरथ महाराजका प्रेम वियोग होनेपर ससारभरको प्रकट हो गया। पुन दोनोंमें एकही-सा ऐश्वर्य और माधुर्य था। यथा— 'सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू ॥ बा० ३२० ।', 'जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धरे देही ॥ बा० ३१० ।' मनु शतरूपाजीको अखण्ड परात्पर परब्रह्मके दर्शन हुए, उसे विचारनेसे स्पष्ट है कि परब्रह्मका युगल स्वरूप है जो मिलकर एक ही है, अभेद है, अभिन्न है। इनमेंसे एक स्वरूपसे चक्रवर्ती दशरथ महाराजके यहाँ प्रभु प्रकट हुए और दूसरेसे श्रीजनक महाराजके यहाँ। इससे भी समता हुई। पुन श्रीदशरथजी पिता हैं और जनक महाराज श्वशुर। पिता और श्वशुरका दर्जा बराबरीका है ही। (ख) प० रामकुमारजी कहते हैं कि श्रीजनकजीको राम-परिकर समझकर अवधवासियोंके बीचमें उनकी वन्दना की। और कोई ऐसा उचित स्थान आपकी वन्दनाका न था।

नोट—कोई-कोई महानुभाव 'जाहि' से 'परिजन' और 'विदेहू' दोनोंका अर्थ करते हैं। परतु 'जाहि' एक वचन है।

जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥ २ ॥

अर्थ—(जिसे उन्होंने) योग और भोगमें छिपा रक्खा था (परन्तु) श्रीरामचन्द्रजीके देखते ही (उन्होंने) उसे प्रकट कर दिया (वा, वह खुल गया) ॥ २ ॥

नोट—१ 'जोग भोग ....' इति। योगपूर्वक भोगमें अनासक्त होते हुए सदैव जिस अनिर्वचनीय तत्त्वका वे अनुभव करते थे और जिस आनन्दको प्राप्त होते थे, भगवान् दशरथकुमार श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनसे वही दशा उनकी हुई। इसी प्रकार उस राजर्षि महायोगेश्वरने एक सुन्दर राजकुमारको देखते ही जब उस अनिर्वचनीय आनन्दकी उपेक्षा की, तब उसकी वृत्ति चौंकी, उसको एकाएक विस्मय हुआ कि मेरी वृत्ति उस कौमार छविमें क्यों तन्मयी हो रही है। इससे यह सन्देह होता है कि ये नररूपधारी वही परब्रह्म तो नहीं है। इससे उन्होंने महर्षि विश्वामित्रजीसे पूछा कि 'सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥' 'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ॥' 'सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँद दाता ॥ इत्यादि। (बा० २१६-२१७)।

पुन, दूसरा भाव यह है कि बड़े-बड़े योगेश्वर आपको ब्रह्मज्ञानी योगेश्वर ही समझते रहे और जो इतने दूरदर्शी न थे वे तो यही समझते रहे कि आप राज्य-ऐश्वर्यहीमें पूर्ण आसक्त हैं। आपके प्रेमका पता भी किसीको न था। कोई योगी समझता था और कोई भोगी। श्रीरामदर्शन होते ही ब्रह्मसुख अर्थात् योग जाता रहा, बस छिपा हुआ प्रेम सबको देख पड़ा। मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'एक बेद गुण अद्ध लखु नैन श्रुती गुण अंत। भुज दइ मता विदेह के लखिये सुगम संत॥' अर्थात् विदेहजीका प्रेम श्रीरामजीके परतम स्वरूपहीमें था। वह प्रेमरूपी मणि डब्बेमें रक्खा था, योग और भोग जिस सपुटके ऊपर और नीचेके दोनों भाग थे। जबतक डब्बा न खुले मणिका हाल कोई क्या जाने? यहाँ ब्रह्मसुखका त्याग ही मानो ऊपरके ढक्कनका खुल जाना है।

प० सूर्यप्रसाद- मिश्र यह शङ्का उठाकर कि 'विदेहका अर्थ जीवन्मुक्त है, जीवन्मुक्त होनेपर पुन: रामचरणमें अनुराग कैसा? मतलब छोड़ मूढ़की भी प्रवृत्ति किसी काममें नहीं होती, विदेह होनेपर भी राजाका रामचरणमें प्रेम कैसा?' इसका उत्तर देते हैं कि विदेह होनेपर भी फलानुसन्धानरहित प्रेमलक्षणाभक्ति भक्तोंकी अपने स्वामीमें होती है, क्योंकि प्रभुमें ऐसा गुण ही है, वह कहा नहीं जा सकता, भक्त ही जानते हैं। इसीलिये श्रीजनकजीका प्रेम श्रीरघुनाथजीके चरणमें था। यथा—'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ (श्रीमद्भागवत १।७।१०)

श्रीद्विवेदीजी लिखते हैं कि विदेह जीवन्मुक्त थे। उन्होंने अपने ज्ञानसे सञ्चित और प्रारब्धकर्म दोनोंको भस्म कर डाला था, केवल प्रारब्धकर्मसे अपनी इच्छासे शरीर रक्खे थे, इसीसे विदेह कहलाते थे। मुक्ति चार प्रकारकी है। उसमें जनकजीने सामीप्यमुक्तिको पसंद किया। श्रीरामसमीपमें वासकर उनमें सदा स्नेह रखना यही सामीप्य मुक्ति है।

☞ इस गम्भीर विषयपर श्रीमुखवचन हैं कि 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सह रोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥ प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥ मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥ ३। ४३।' यही कारण है कि श्रीसनकादि नारद आदिने जीवन्मुक्त ज्ञानी होनेपर भी भक्तिहीका वर माँगा है। यथा—'परमानद कृपायतन मन परिपूरन काम। प्रेमभगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम॥ ७। ३४।'

नोट—२ श्रीबैजनाथजीका मत है कि विदेहजीमें जो गूढ़ प्रेम था वह 'योग' में गुप्त रहा और परिजनोंका प्रेम 'भोग' में गुप्त था। दोनोंका प्रेम श्रीरामजीका दर्शन होते ही प्रकट हो गया। श्रीजनक महाराजका प्रेम प्रकट हुआ। यथा—'प्रेम मगन मन जानि नृपु करि बिबेक धरि धीर। बोले मुनिपद नाइ सिरु गद्‌गद गिरा गँभीर॥ १। २१५।' 'गद्‌गद गिरा' प्रेमका लक्षण है। परिजनोंका स्नेह, यथा—'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥ १। २१५।' 'जुबती भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥ १। २२०।', 'धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥ १। २२०।' इत्यादि। (परंतु उनका पाठ है, 'जिन्हहि रामपद गूढ़ सनेहू' और प्राचीन पाठ है 'जाहि राम पद गूढ़ सनेहू'। उन्होंने 'पुरजन' पाठ दिया है)।

३ 'महाराज दशरथजीकी, उनकी रानियोंकी श्रीअवधसरयूकी और श्रीअवधपुरवासियोंकी वन्दना की गयी, परंतु श्रीजनकजीकी वन्दना केवल परिजनोंके सहित की गयी। न तो मिथिलाकी, न कमलाविमलाकी और न मिथिलापुर-नरनारियोंकी ही वन्दना की, यह क्यों?' इस प्रकारकी शङ्का उठाकर मा० मा० कार उसका समाधान यह करते हैं कि ग्रन्थकारने जो बहुत प्रकारकी वन्दना की है, वह केवल वन्दना ही नहीं है, उसमें वन्दनाके व्याजसे जीवोंके कल्याणका सुदृढ तथा सुगम मार्ग दिखलाया है। राजाधिराज सर्वेश्वर श्रीरामजीके सन्निकट पहुँचनेका मार्ग बताया है। सनत्कुमारसंहिता आदिमें जो दिव्य अयोध्यापुरीमें राजाधिराज श्रीरघुनाथजीका दरबार वर्णन किया गया है,

उसमें महाराज दशरथ, कौसल्यादि माताएँ और सभी पुरजन हैं, तथा श्रीजनकमहाराज भी अपने परिजनोंसहित उपस्थित हैं, परंतु महारानी सुनयनाजी एवं मिथिलापुर नर-नारियाँ उसमें नहीं हैं। अतएव उनकी वन्दना भी यहाँ नहीं की गयी। पुन: यह ध्यान अयोध्यान्तर्गत है, इससे कमला आदि नदियाँ यहाँ न होनेसे उनकी वन्दना नहीं की गयी।

प्रनवौं प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥ ३॥

अर्थ—पहले श्रीभरतजीके चरणोंको प्रणाम करता हूँ जिनका नियम और व्रत वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ३॥

नोट—१ 'प्रनवौं प्रथम' इति। इतनी वन्दनाएँ कर चुकनेपर भी यहाँ 'प्रनवौं प्रथम' कहा। प्रथम पद देनेके भाव ये कहे जाते हैं। (१) भाइयोंमें प्रथम इनकी वन्दना करते हैं, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीके भाइयोंमें ये सबसे बड़े हैं। (२) 'गोस्वामीजी अब वन्दनाकी कोटि बदलते हैं। अभीतक श्रीरामजानकीके पुरवासियों और उनके माता पिताकी वन्दना की, अब भाइयोंकी वन्दना करते हैं। इसलिये 'प्रथम' पद दिया। (प० रा० कु०)। अथवा, (३) प्रथम श्रीदशरथजी और जनकमहाराजकी वन्दना उनको प्रेमी कहकर की, सो व्यवहारमें इन्हें बड़े समझकर प्रथम इनकी वन्दना की थी। अब प्रेमियोंमें प्रथम भरतकी वन्दना करते हैं, क्योंकि इनसे बढ़कर कोई प्रेमी नहीं है, यथा—'प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥ अ० २३८।', 'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥ २। २०८।', 'भरतहिं कहहिं सराहि सराही। रामप्रेम मूरति तनु आही॥ अ० १८३।', 'जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेम मगन मुनिगन मिथिलेसू॥ २। ३०३।', 'भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल। अ० २१९।' (प० रा० कु०, रा० प्र०)। अथवा, (४) 'भरतहि जानि राम परिछाहीं' के भावसे 'प्रथम' पद दिया गया। (मा० त० वि०)। अथवा, (५) गोस्वामीजीने भाइयोंमें इनकी वन्दना प्रथम इस विचारसे की कि श्रीरामजीकी प्राप्ति करानेमें आप मुख्य थे। यथा—'कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।' २। ३२६।' (वन्दनपाठकजी)। अथवा, (६) इस भावसे प्रथम वन्दना की कि ये श्रीरामजीको सब भाइयोंसे अधिक प्रिय हैं, यथा—'अगम सनेहु भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को॥ २। २४१।', 'तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं। २। २०५।', 'भयउ न भुवन भरत सम भाई। २। २५९।' 'जग जपु राम राम जपु जेही। २। २१८।' इत्यादि। अथवा, (७) और लोगोंको जितना प्रेम रामचरणमें है, उससे सौगुना प्रेम इनका राम-पादुकामें था, इसीसे लोग इन्हें भक्तशिरोमणि कहते हैं। अत: 'प्रथम' कहा (सु० द्विवेदीजी) अथवा, (८) ऊपर सबकी मूर्तिकी वन्दना की, अब यहाँसे चरणकी वन्दना चली। इसमें प्रथम भरतजीके पदकी वन्दना की।

चरण-वन्दना

पहले जिन-जिनकी वन्दना की है प्राय: उनके चरणोंको लक्ष्य नहीं किया है, पर अबसे (अर्थात् 'प्रनवौं प्रथम भरत के चरना' इस चौपाईसे) वे अपने वन्द्यके पदोंको लक्ष्य करके वन्दना करते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँसे वे श्रीरामचन्द्रजीके विशिष्ट अंग रूप अनुजोंकी वन्दना आरम्भ करते हैं जो भगवान्‌के अभिन्न अङ्ग होनेसे ब्रह्मकोटिकी आत्माएँ हैं। भगवान्‌के चरण परम पूज्य और आराध्य हैं। भगवत्-पद, विष्णुपदकी पूजा प्रशस्त है। अत: उनके अन्य स्वरूपोंके भी चरण पूज्य होंगे। 'पद' या 'पाद' संस्कृत और भाषा साहित्यमें एक बहुत पवित्र और पूज्य शब्द माना जाता है। 'पद' का अर्थ 'स्वरूप' और 'तत्त्व' भी है। जैसे 'भगवत्पदकी प्राप्ति', इनका अर्थ हुआ—'भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति', 'ब्रह्मत्वकी प्राप्ति।' भगवत्-पाद, त्रिपाद, परमपद, रामपद इत्यादि ऐसे ही शब्द हैं। अस्तु, यह शब्द भगवत्-सम्बन्धमें विशेष रूपसे व्यवहरित होता है। अत: पद या चरणका उल्लेख करके वन्दना करना भी स्वरूपहीकी वन्दना करना है। गुरुजनोंके चरण पूज्य हैं। उनके चरणोंकी वन्दना करना लोकमें भी प्रशस्त है। अत: सर्वश्रेष्ठ जगद्गुरु भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना की जाती है। १७ (५) भी देखिये।

नोट—२ 'जासु नेम ब्रत जाइ न बरना' इति। 'नेम ब्रत' यथा—'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। नित

नत्र राम प्रेम पन पीना।'''सम दम सजम नियम उपासा। ''लखन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तन तप कसहीं।' सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं।' मुनि मन अगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को' (अ० ३२४ से ३२६ तक), 'तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।'' बीते अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर॥ लं० ११५।', 'बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृसगात। राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात'॥ (उ० १), 'जब तें चित्रकूट ते आये। नंदिग्राम खनि अवनि डासि कुस परनकुटी करि छाये॥ १॥ अजिन बसन फल असन जटा धरे रहत अवधि चित दीन्हें। प्रभुपद प्रेम नेमव्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हे॥ २॥ सिंहासन पर पूजि पादुका बारहिं बार जोहारे। प्रभु अनुराग माँगि आयसु पुरजन सब काज सँवारे॥ ३॥ तुलसी ज्यों ज्यों घटत तेज तन त्यों त्यों प्रीत सवाई (अधिकाई)। भये न हैं न होहिगे कबहूँ भुवन भरत से भाई॥ ४॥' (गी० ७९) 'जाके प्रिय न राम बैदेही तज्यो पिता प्रह्लाद'' भरत महतारी' (विनय०)।

३—'जाइ न बरना इति।' यथा—'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गमु नाहीं॥ अ० ३२५।', 'मोहि भावत कहि आवत नहिं भरतजू की रहनि।' (गीतावली २। ८१) इत्यादि।

राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥ ४॥

शब्दार्थ—पंकज=कमल। लुबुध (लुब्ध)=लुभाया हुआ। मधुप=भौंरा।

अर्थ—जिसका मन श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें भौंरेकी तरह लुब्ध है, (उनका) पास नहीं छोड़ता॥ ४॥

टिप्पणी—आपका नेम और प्रेम दोनों दिखाया है। नेम और व्रत तनसे करते हैं, और मन रामचरणमें लगाये हैं। नेमव्रतके पीछे रामपदमें प्रेम करते हैं, क्योंकि रामपदप्रेम नेमव्रत आदि सबका फल है। यथा—'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धरम कहत श्रुति सज्जन॥ आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥ तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥' (इति वशिष्ठोक्ति ७। ४९)।

नोट—'लुबुध मधुप इव''' इति। कमल और भ्रमरका सान्निध्य है, कभी वियोग होता ही नहीं, जहाँ कमल वहाँ भ्रमर। भौंरा दिनभर कमलका रस पीता रहता है। उसमें इतना आसक्त हो जाता है कि सायंकालमें जब कमल सम्पुटित होता है तब वह उसीके भीतर बंद हो जाता है, उससे बाहर निकलनेकी इच्छा ही नहीं करता, क्योंकि वह रसासक्तिमें विवश रहता है। इसी तरह श्रीभरतजी श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंके अनन्य और अकृत्रिम प्रेमी हैं। यथा—'परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे॥ साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥ २। २८९।'

बंदौं लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता॥ ५॥

शब्दार्थ—जलजाता (जल+जाता)=कमल। सुभग=सुन्दर।

अर्थ—मैं श्रीलक्ष्मणजीके चरणकमलोंको प्रणाम करता हूँ, जो शीतल, सुन्दर और भक्तोंको सुख देनेवाले हैं॥ ५॥

नोट—१ करुणासिन्धुजी तथा रामायणपरिचर्याकार 'सीतल' आदिको पदका विशेषण मानते हैं और प० रामकुमारजी इनको लक्ष्मणजीके विशेषण मानते हैं। गोस्वामीजीकी प्रायः यह शैली है कि वे पदकी वन्दना करते हैं और विशेषण उस व्यक्तिके देते हैं जिनके चरणकी वन्दना वे करते हैं। यथा—'बंदउँ गुरुपदकंज कृपासिंधु नर रूप हरि। महामोह तमपुंज जासु बचन रबिकर निकर॥ (मं० सो० ५) 'बंदउँ मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयउ। सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित॥' (१। १४), 'बंदउँ बिधि पद रेनु भवसागर जेहि कीन्ह जहँ। संत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल बिष बारुनी॥' (१। १४) इत्यादि। वन्द्यसे उनके पदोंको अभिन्न मानकर

कविने विशेषणोंकी कल्पना की है। भगवान्के चरणोंमें ही वन्दना की जाती है। उसीमें लगनेसे लोग बड़भागी कहलाते हैं। (२११ छंद देखिये) । भक्ति इन्हींसे प्रारम्भ और इन्हींपर समाप्त होती है। अतः चरणोंहीकी वन्दना की जाती है। सेवकस्वामिभाव इसीसे जान पड़ता है। विशेष देखिये १७ (२) ।

२—'सीतल सुभग भगत सुख दाता' इति। भाव यह है कि (क) शीतल स्वभाव है, सुन्दर गौर शरीर है। यथा—'सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे ॥ २ । ११७ ।' अथवा, (ख) शीतल और सुन्दर स्वभाव है, दर्शनसे भक्तोंको सुख देते हैं। पुनः भाव कि (ग) चरणके शरण होते ही त्रिताप दूर होते हैं और परमानन्द प्राप्त होता है। (करु०) । पुनः, (घ) श्रीलक्ष्मणजी रामचन्द्रजीके यशको भक्तोंके सामने प्रकाश करनेवाले हैं जिससे भक्तोंका हृदय शीतल हो जाता है और भक्तोंको बहुत ही सुख प्राप्त होता है, इसलिये शीतल और भगतसुखदाता विशेषण बहुत ही रोचक है। (सु० द्विवेदीजी) अथवा, (ङ) शीतलका भाव यह कि महाप्रलयमें सारे जगत्के संहारमें जो परिश्रम भगवान्को पड़ता है वह तभी जाता है जब भगवान् शेषशय्यापर सोते हैं। जब अंशमें इतनी शीतलता है तो अंशी जो लक्ष्मणजी हैं उनका क्या कहना है। (रा० प्र०) ।

रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयेउ जस जाका ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पताका=झंडा, बाँस आदिके एक सिरेपर पहनाया हुआ तिकोना या चौकोना कपड़ा जिसपर प्रायः कोई-न-कोई चिह्न रहता है। दंड=दण्डा (जिसमें पताका फहराती है।)

अर्थ—श्रीरघुनाथजीकी कीर्तिरूपी विमल पताकामें जिनका यश दण्डेके समान हुआ ॥ ६ ॥

नोट—१ (क) श्रीरघुनाथजीकी कीर्तिको पताका और लक्ष्मणजीके यशको दण्ड कहा। भाव यह कि पताका और दण्डा दोनों साथ ही रहते हैं, इसी तरह श्रीरघुनाथजीकी कीर्तिके साथ ही श्रीलक्ष्मणजीका यश भी है। उदाहरणमें विश्वामित्रजीके यज्ञकी रक्षा ही ले लीजिये। मारीचादिसे लड़ाई हुई, तो सुबाहुको श्रीरामचन्द्रजीने मारा और लक्ष्मणजीने सेनाको। यथा—'बिनु फर बान राम तेहि मारा। सतजोजन गा सागर पारा ॥ पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटकु सँघारा ॥ १ । २१० ।' पुनः, रावणवधकी कीर्तिके साथ मेघनादवधका यश इत्यादि। पुनः, (ख) सन्तसिंहजी कहते हैं कि 'जब वस्त्र और बाँस एकत्र हों तभी ध्वजा बनती है, वैसे ही जब रामचन्द्रजीके साथ लक्ष्मणजीके चरित्र मिलते हैं, तभी रामायण होती है। (ग) लक्ष्मणजीकी कीर्ति आधाररूप है अतः उसे दण्ड कहा। क्योंकि दण्डके आधारपर पताका फहराती है, दण्ड न हो तो पताका नहीं फहरा सकती। यदि लक्ष्मणजीके चरित निकाल डालें, तो रामायणमें कुछ रह ही नहीं जाता। इसीसे लक्ष्मणजीने कभी साथ नहीं छोड़ा। जो काम कोई और भाई न कर सके वह इन्होंने किया। परशुरामसंवादमें परास्तकी, तथा मेघनादके वध और सीतात्यागमें जो कीर्ति मिली वह सब इन्हींकी सहायतासे मिली। पुनः (घ) दण्ड और पताकाकी उपमाएँ देकर यह सूचित किया कि आप यशको प्राप्त हुए और स्वामीके यशकी उन्नति करनेवाले हैं। (प० रा० कु०) । (ङ) पताका दण्डमें लगाकर जबतक खड़ी न की जाय तबतक वह दूरतक नहीं देखी जा सकती। इसलिये श्रीरामकी पताकाका दण्डा लक्ष्मणका यश हुआ। श्रीराम बिना अभिमानके नीचे सिर किये हुए विश्वामित्रकी आज्ञासे धनुष तोड़नेके लिये चले, उस समय लक्ष्मणका दिग्गजों इत्यादि-से सावधान होनेके लिये ललकार कर कहना मानो दण्डेमें लगाकर रामप्रताप-पताकाको खड़ाकर सबको दिखा देना है। (द्विवेदीजी) । पुनः, (च) 'नागपाशसे रघुपतिकीर्त्ति पताका गिर गयी थी, लक्ष्मणजीने मेघनादको मारकर अपने यशदण्डसे उसको फिर ऊँचा कर दिया'। (पाण्डेजी) । ☞ स्मरण रहे कि जहाँ कहीं श्रीरामजीकी कीर्त्तिमें बट्टा लगनेकी बातका वर्णन हुआ, वहीं आपने उस कीर्त्तिको अपने द्वारा उन्नत कर दिया। जैसे धनुष-यज्ञमें श्रीजनकजीके 'बीर बिहीन मही मैं जानी' इन वचनोंपर जब आपको कोप हुआ तब श्रीजनकजी सकुचा गये। परशुरामजीने जब जनकजीसे 'देखि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं ' और फिर श्रीरामजीसे 'सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा ॥ (१ । २७०, २७१), इत्यादि कटुवचन कहे, तो लक्ष्मणजी न सह सके और भगवान्का अपमान करनेवाले परशुरामका मस्तक नीचा कर ही तो दिया! अरण्यमें शूर्पणखाकी नाक काटना, सुन्दरमें शुकसारनके हाथ पत्रिका

रावणको भेजना और लङ्कामें मेघनादवध आदि सब श्रीरघुनाथजीकी कीर्तिपताकाको अपने यशदण्डपर फहरानेके उदाहरण हैं। पुन', (छ) पताका दूरसे दिखायी देती है, पर डण्डा तभी दिखायी पड़ता है जब पास जावे, इसी तरह श्रीरामयश ख्यात है, परतु लक्ष्मणयश विचारनेपर ही जान पड़ता है। पताकाका रूपक रावणवधसे और 'दण्ड' का रूपक मेघनाद-वधसे है। (रा० प्र०)। (ज) बैजनाथजी लिखते हैं कि कीर्ति स्तुति और दानसे होती है। उसमें करुणारसका अधिकार होता है जिसमें सौशील्यता और उदारता आदि गुण होना आवश्यक है। यश कीर्तिको उन्नत करता है, इसमें वीररसका अधिकार है और शौर्य-वीर्यादि गुण होते हैं। श्रीलक्ष्मणजीमें शुद्ध वीररस सदा परिपूर्ण है, जो प्रभु-श्रीरामजीके करुणरसका सहायक है। यथा—'अनुज निसाचर कटक सँवारा।' 'चितवत नृपन्ह सकोप', 'बोले परसुधरहिं अपमाने' इत्यादि।

२ यहाँ इस चौपाईमें शब्द-योजनाकी विशेषता यह है कि 'कीर्ति' से 'पताका' का रूपक दिया है और ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्गके हैं। ऐसे ही 'यश' जो पुँल्लिङ्ग है उसका रूपक 'दण्डसे' दिया है जो पुँल्लिङ्ग है।

३ इस चौपाईका भाव लिखते हुए विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'अवतारका मुख्य हेतु रावणादिका वध था। इसीकी सहायता करनेमें लक्ष्मणजीने विशेष उद्योग किया था, तथा १२ वर्षतक नींद-नारि-भोजनका त्यागकर मेघनाद-सरीखे बड़े पराक्रमीका स्वत वध साधनकर अगणित राक्षसोंको भी मारा था। [यथा—'नासावन्यैर्निहन्यते। यस्तु द्वादशवर्षाणि निद्राहारविवर्जित ॥ अ० रा० ६। ८। ६४।'] जिस परात्पर परब्रह्मके अवतारकी कथा गोस्वामीजी कह रहे हैं उसमें उन्होंने न तो यही कहीं कहा है कि भोजन-शयन किया और न यही कहा कि नहीं किया बल्कि भरद्वाजजीके आश्रममें उनके दिये हुए फलोंके खानेका उल्लेख है। एक रामायणमें किसी कल्पकी कथामें यह भी वर्णन है कि लङ्कामें श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणकुमारको सोते हुए महिरावण उठा ले गया। अस्तु भिन्न-भिन्न कल्पकी भिन्न-भिन्न कथाएँ हैं। और यों तो शुद्ध तापसिक जीवन वनमें वे निर्वाह ही करते थे। इस प्रकारका सयम रखना उनके लिये कोई विचित्र बात नहीं। गीतावलीमें श्रीशबरीजीके यहाँ श्रीलक्ष्मणजीका फल खाना स्पष्ट कहा है।

सेष सहस्र सीस जग कारन। जो[1] अवतरेउ भूमि भय टारन ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सीस=शीश=सिर। कारण=हेतु=उत्पन्न करनेवाले। टारन=टालनेवाले व हटानेवाले।

अर्थ—हजार सिरवाले शेषजी और जगत्के कारण, जिन्होंने पृथ्वीका भय दूर करनेके लिये अवतार लिया ॥ ७ ॥

नोट—१ इस अर्धालीके अर्थ कई प्रकारसे किये गये हैं। आधुनिक टीकाकारोंने प्राय· यह अर्थ किया है—'हजार सिरवाले और जगत्के कारण शेष जो पृथ्वीका भय मिटानेके लिये अवतरे हैं।' इस अर्थके अनुसार लक्ष्मणजी शेषावतार हुए। बैजनाथजी लिखते हैं कि सहस्रशीशवाले शेषजी और जगत्कारण विष्णु और 'सो' अर्थात् द्विभुज गौरवर्ण श्रीलक्ष्मण-जी जिन्हें पिछली चौपाईमें कह आये हैं, ये तीनों मिलकर एकरूप हो भूमिभय टालनेके लिये अवतरे हैं।' लक्ष्मण अशसे प्रभुकी सेवामें रहे, विष्णुरूपसे युद्ध करते रहे और शेषरूपसे प्रभुके शयन-समय पहरा देते, निषादादिको उपदेश, पञ्चवटीमें प्रश्न इत्यादि किये। परम धामयात्रा-समय तीनों रूप प्रकट हुए। शेषरूप सरयूमें प्रवेशकर पातालको गया। विष्णुरूप विमानपर चढ़कर वैकुण्ठको गया और नित्य द्विभुजलक्ष्मणरूप प्रभुके साथ पर धामको गया।

इस ग्रन्थमें चार कल्पोंकी कथा कही गयी है। जो ब्रह्मका अवतार मनुशतरूपाके लिये हुआ उसमें लक्ष्मणजी नित्य हैं और शेषादिके कारण हैं। जहाँ विष्णुका अवतार है वहाँ लक्ष्मणजी शेष हैं। ग्रन्थमें सब कथाएँ मिश्रित हैं, पर मुख्य कथा मनुशतरूपावाले अवतारकी है। हमने जो अर्थ दिया है वह करुणासिंधुजी, बाबा हरिहरप्रसादजी आदिके मतानुसार

[1] १६६१ में 'जो' था, उसका 'सो' बनाया है, स्याही और लिखावट एक ही कलमकी है। अन्य सब पोथियोंमें 'जो' है। बैजनाथजीने भी 'सो' पाठ दिया है। 'सो' अगली अर्धालीमें आया है अतः हमने यहाँ 'जो' रक्खा।

है। उनका कहना है कि यहाँ लक्ष्मणजीके शेषजी और जगत् दोनोंका कारण कहा है। 'जो हजार सिरवाले शेषनाग हैं और जगत्के कारण हैं।' ऐसा अर्थ करनेसे निम्न चौपाइयोंका समानाधिकरण कैसे होगा? (क) 'दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥ रामु चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥' १। २६०। लक्ष्मणजी यहाँ अहि (=शेषजी) को आज्ञा दे रहे हैं। बराबरवालेको आज्ञा नहीं दी जाती। कारण अपने कार्यको स्वामी सेवकको आज्ञा देगा। (ख) 'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रज कनी। तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुवन धनी॥ ६। ८३।' शेषजी हजार सिरपर जगत्को धारण किये हैं और यहाँ 'एक सिर जिमि रजकनी' कहा है। पुनः (ग) श्रीरामचन्द्रजीका मुखवचन है कि 'तुम्ह कृतांत भच्छक सुरत्राता'। ६। ५३।' 'जय अनंत जय जगदाधारा'। ६। ७६। 'सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर नर अग जग जाही॥ ६। ५४।' इत्यादि। ऐसा विचारकर श्रीकरुणासिंधुजी महाराज लिखते हैं कि 'लक्ष्मणजीको शेषावतार कहनेसे आपमें अनित्यताका आरोपण होता है। लक्ष्मणस्वरूप नित्य है। सतीजी जब श्रीरामजीकी परीक्षा लेने गयीं तब अनेक श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी देखे पर आकृति सब स्वरूपोंकी एक ही देखी। यथा—'सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भईं सभीता॥' (१। ५५)। तीनों स्वरूप अखण्ड एकरस देखे। उपर्युक्त कारणोंसे लक्ष्मणजी शेषजीके कारण या शेषी हैं।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि वसिष्ठसंहितामें श्रीदशरथजी महाराज, उनकी रानियों और सब पुत्रों तथा पुरी, पुरवासियों और श्रीसरयूजी आदिकी वन्दना जो देवताओंने की है, उनमें श्रीलक्ष्मणजीकी स्तुति इन शब्दोंमें है—'जयानन्त धराधार शेषकारण विग्रह। कोटि कन्दर्प दर्पघ्न सच्चिदानंदरूपक॥' अर्थात् आपकी जय हो रही है, आप अनन्त हैं, ब्रह्माण्ड धारण करनेवाले शेषके कारण विग्रह हैं, करोड़ों कामदेवोंके अभिमानको चूर्ण करनेवाले हैं और सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। यह प्रमाण भी हमारे दिये हुए अर्थको पुष्ट करता है।

वे० भू० पं० रा० कु० दासजी कहते हैं कि नारदपञ्चरात्रमें लक्ष्मणजीको शेषशायी क्षीराब्धीश श्रीमन्नारायण कहा है। यथा—'वैकुण्ठेशस्तु भरतः क्षीराब्धीशस्तु लक्ष्मणः। शत्रुघ्नस्तु स्वयं भूमा रामसेवार्थमागतः॥'; अतः 'शेष सहस्रसीस जगकारन' का अर्थ जो दिया गया वही ठीक है। यदि यहाँ लक्ष्मणजीको केवल जगत्का कारण मानते हुए शेषका अवतार मान लिया जाय तो कुछ ऐसे प्रबल विरोध आ खड़े होंगे कि जिनका यथार्थ समन्वयपूर्वक परिहार करना कठिन ही नहीं, किंतु असम्भव हो जायगा। जैसे एक तो यह कि कहीं श्रुतियों, स्मृतियोंमें शेषका स्वतन्त्ररूपेण जगत्का कारण होना नहीं पाया जाता है और श्रीमन्नारायणको जगत्का कारण कहनेवाली बहुत-सी श्रुतियाँ-स्मृतियाँ हैं। दूसरे, जो जिसका कारण होता है वह उसका शासन कर सकता है, कार्य अपने कारणपर शासन नहीं कर सकता है। वैसे ही अवतार अपने अवतारीपर शासन नहीं कर सकता, अवतारी अवतारपर कर सकता है और करता भी है। जैसे कि अष्टभुजी भूमा नारायणने श्रीकृष्ण और अर्जुनको आज्ञा दी कि 'इह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे' (भा० १०। ८९। ५९) और श्रीकृष्ण एवं अर्जुनने वहाँ जानेपर 'ववन्द आत्मानम्' (भा० १०। ८९। ५८), तथा लौटते समय भी 'ओमित्यानम्य भूमानम्' (भा० १०। ८९। ६१), प्रणाम किया था। लक्ष्मणजीको शेष माननेके विरुद्ध वर्णन मानसमें ही मिलता है (जो ऊपर (क) (ख) (ग) में आ चुका है)। शेष नित्य जीव है और लक्ष्मणजी नाना त्रिदेवोंके कारण हैं। ('उपजहिं जासु अंस ते नाना। १। १४४। ६।' देखिये)।

२ जहाँ श्रीअयोध्यावासियोंसहित परधामगमन प्रभुका रामायणोंमें वर्णित है, वहाँ लक्ष्मणजीके तीन स्वरूप कहे गये हैं। एक शेषस्वरूप, दूसरा चतुर्भुज स्वरूप और तीसरा द्विभुज किशोर धनुषबाणधारी श्रीलक्ष्मणस्वरूप जिससे वे सदा रामचन्द्रजीकी सेवामें रहते हैं। ब्रह्मरामायणमें इसका प्रमाण है। यथा—'रामनैवोदितो वीरो लक्ष्मणो विदुषांत्वक। सहस्रशीर्षा भगवान् शेषरूपी रसाश्रय॥ १॥ एकेन सरयूमध्ये प्रविवेश कृपानिधिः। रूपत्रय महद्रूपं लोकानां हितकाम्यया॥ २॥ रामानुजश्चतुर्बाहुर्विष्णुः सर्वगतागतः। ऐन्द्रं रथं समारुह्य वैकुण्ठमगमद्विभुः॥ ३॥ यानस्थो रघुनन्दन परपुरीं प्रेम्णागमद् भ्रातृभिर्लोकानां दिवि स्थिता मणिमयीं नित्यैकलीलापदाम्। सौमित्रिश्च तदाक्लेन प्रथमं रामाज्ञया वर्तते। तेनैव क्रमकेन बन्धुमिलितो रामेण साकं गतः॥ ४॥' अर्थात् श्रीरामजीके साथ-साथ श्रीलक्ष्मणजीने

लोकोंके हितार्थ सुन्दर वेषवाले तीन रूप धारण किये। एक स्वरूपसे तो वे श्रीसरयूजीमें प्रविष्ट हुए। यह सहस्रशीश शेष रूप था। दूसरे स्वरूपसे इन्द्रके लाये हुए विमानपर चढ़कर वे वैकुण्ठको गये। यह चतुर्भुज विष्णुरूप था जो सर्व भूतोंके हृदयमें वास करते हैं। और तीसरे द्विभुज लक्ष्मणरूपसे वे श्रीरामजीके साथ विमानपर बैठकर सर्वलोकोंकी सिरमौर, मणिमयी, नित्यकी स्थान साकेतपुरीको गये। यथा—'श्रीमद्राम पर धाम भरतेन महात्मना। लक्ष्मणेन सम भ्राता शत्रुघ्नेन तथा ययौ॥ ५॥' अर्थात् श्रीराम, भरत और शत्रुघ्नजीके साथ महात्मा लक्ष्मणजी परधामको गये। सु० द्विवेदीजीका मत है कि अनन्योपासक अपने उपास्यदेवको अवतारी मानते हैं और उसीके सब अवतार मानते हैं। जयदेवने भी कृष्णको अवतारी मान उनके स्थानमें 'हलकलयते' इस वाक्यसे बलरामको अवतार माना है। उसी प्रकार गोसाईंजीने भी रामको अवतारी मान उनके स्थानमें लक्ष्मणको अवतार माना है। सू० मिश्रजी लिखते हैं कि 'मेरी समझमें शेषके दोनों विशेषण हैं, 'सहस्रशीश और जगकारण' न कि दोनों जुदे हैं। 'सहस्रास्य शेष प्रभुरपि द्विया वितिनलक्ष्मणात्'। जगत्के उत्पादक, पालक और संहारक हैं। विष्णुपुराणमें ब्रह्माजीके वचन इस विषयमें हैं। लक्ष्मणजी शेष भी हैं और जगत्के कारण भी हैं।

३ 'जग कारन' कहकर जनाया कि आप श्रीरामजीसे अभिन्न हैं। यथा—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा। १। २१६।' यह बात पायसके विभागसे भी पुष्ट होती है। श्रीकौसल्याजीने हविभाग सुमित्राजीको दिया, उससे लक्ष्मणजी हुए जो सदा रघुनाथजीके साथ ही रहे। भगवान्के वचन हैं कि 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥ १। १५२।' और लक्ष्मणजीकी वन्दनामें भी 'सीतल सुभग भगत सुखदाता' ये शब्द हैं। इस तरह अभिन्नता दरसायी है। विशेष १। १८७ (२। ५) देखिये।

सदा सो सानुकूल रह मो पर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर॥ ८॥

अर्थ—वे कृपासिन्धु श्रीसुमित्राजीके पुत्र और गुणोंकी खानि (श्रीलक्ष्मणजी) मुझपर सदा अनुकूल रहें॥ ८॥

नोट—१ (क) 'सेष सहस्र 'कृपासिंधु सौमित्रि⋯' इति। 'कृपासिंधु' कहकर सूचित किया कि कृपा, दया अनुकम्पाहीसे अवतार लिया। 'भूमिभयटारन' कहकर अवतारका हेतु बताया और 'सेष सहस्र⋯' से पूर्व रूप कहा। (प० रामकुमारजी)। (ख) 'सौमित्रि' अर्थात् सुमित्रानन्दन कहकर जनाया कि आप उनके पुत्र हैं कि जो उपासनाशक्ति है और अनेक गुणोंसे परिपूर्ण है, और जिन्होंने अपने पुत्रको लोकसुख छुड़ाकर भक्तिमें आरूढ़ किया। यथा—'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥ जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥ गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥ रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥ पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं रामके नाते॥ 'सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥'⋯'तुलसी प्रभुहिं सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीरपद नित नित नई॥ २। ७५।' (वै०)। (ग) गुनाकर=समस्त शुभ एवं दिव्य गुणोंकी खानि। यथा—'लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार। १। १९७।' श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं, इसीसे इनकी उपासना सर्वत्र श्रीसीतारामजीके साथ होती है। ये सदा साथ रहते हैं। श्रीसीतारामजीका इनपर अतिशय वात्सल्य है। इसीसे इनकी अनुकूलता चाहते हैं।

नोट—२ लक्ष्मणजीकी वन्दना चार अर्धालियोंमें की, औरोंकी दो या एकमें की है, इसका हेतु यह है कि—(क) गोस्वामीजीकी सिफारिश करनेमें आप मुख्य हैं। यथा—'मारुति मन रुचि भरतकी लखि लखन कही है। कलिकालहु नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है।' (विनय० २७९)। इसीसे अपना सहायक जान उनकी सेवा-शुश्रूषा विशेष की है। नामकरणसंस्कार भी और भ्राताओंका एक-ही एक चौपाईमें कहा और आपका पूरा एक दोहेमें कहा। (ख) ये श्रीरामजीका वियोग सह ही नहीं सकते। यथा—'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥ १। १९८।', 'समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥

कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥ कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीन दीन जनु जल ते काढ़े॥ अ० ७०।'

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥ ९॥

शब्दार्थ—अनुगामी=पीछे चलनेवाला, आज्ञाकारी, सेवक। सूर=वीर।

अर्थ—श्रीशत्रुघ्नजीके चरणकमलोंको नमस्कार करता हूँ, जो बड़े वीर, सुशील और श्रीभरतजीके अनुगामी हैं॥ ९॥

नोट—१ (क) 'रिपुसूदन' इति। श्रीशत्रुघ्नजीके स्मरण वा प्रणाममात्रसे शत्रुका नाश होता है। यथा—'जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥ १। १९७।', 'जयति सर्वांगसुंदर सुमित्रा-सुवन। भुवनविख्यात भरतानुगामी। वर्मचर्मासिधनुबान तूनीरधर सत्रुसंकटसमन यत्प्रनामी॥' (विनय० ४०)। शत्रुका नाशक वही हो सकता है जो शूरवीर हो। अत 'रिपुसूदन' कहकर 'सूर' आदि विशेषण दिये। (ख) 'सूर' इति। इनकी वीरता परम दुर्जय लवणासुरके संग्राम और वधमें प्रकट हुई। (आपने उसका वध करके वहाँ मथुरापुरी बसायी)। यथा—'जयति सत्रु करि केसरी सत्रुघन तमतुहिन हर किरनकेतू। ... जयति लवनाम्बुनिधि कुम्भसम्भव महादनुज दुर्जन दवन दुरित हारी॥ ३।' (विनय० ४०)। वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्डमें लवणासुरवधकी कथा विस्तारसे है। पुन. रामाश्वमेधयज्ञमें आपने महादेवजीसे युद्ध किया, यह भी वीरताका एक उदाहरण है। यज्ञपशु-रक्षक आप ही थे, उसकी रक्षामें आपको बहुतोंसे युद्ध करना पड़ा था। पद्मपुराण पातालखण्डमें यह कथाएँ हैं।

टिप्पणी—'सूर सुसील ...' इति। शूरकी शोभा शील है और शीलकी प्राप्ति 'बुध सेवकाई' से है। यथा—'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई' (७। ९०)। अत 'सूर' कहकर 'सुशील' कहा, फिर भरतजीकी सेवकाई कही। 'भरत अनुगामी', यथा—'भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥' (बा० १९८)

महाबीर बिनवौं हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना॥ १०॥

अर्थ—मैं महाबलवान् श्रीहनुमान्‌जीकी विनती करता हूँ, जिनका यश स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने वर्णन किया है॥ १०॥

नोट—१ 'महाबीर'—वीरता सुन्दरकाण्ड और लङ्काकाण्डभरमें ठौर-ठौर है। यथा—'पुनि पठयो तेहि अच्छकुमारा। ताहि निपाति महाधुनि गरजा॥' (सु० १८)। मेघनादके मुकाबिलेमें पश्चिम द्वारपर ये नियुक्त किये गये थे, कुम्भकर्ण रावण भी इनके घूँसेको याद करते थे। (लङ्काकाण्ड दोहा ४२, ४३, ५० और ६४ में इनका प्रसंग है, देख लीजिये)। आपका बल, वीरता देखकर विधिहरिहर आदि भी चौंक उठे। इन्होंने तथा भीष्मपितामह-द्रोणाचार्यने भी इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यथा—'बल कैं धों बीररस धीरज कै साहस कै तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो॥ ४॥' 'कहौ द्रोन भीषम समीरसुत महावीर, बीररस बारिनिधि जाको बल जल भो॥ ५॥' 'पंचमुख छमुख भृगु मुख्य भट असुरसुर सर्व सरि समर समरत्थ सूरो॥ ६॥' इति हनुमानबाहुकग्रन्थे। आपकी वीरता श्रीरामाश्वमेधयज्ञमें देखनेमें आती है। महादेवजी भी परास्त हो गये थे।

२ 'हनुमान'—यह प्रधान नाम है। जन्म होनेपर माता आपके लिये फल लेने गयीं, इतनेमें सूर्योदय होने लगा। बालरविको देखकर आप समझे कि यह लाल फल है। बस, तुरत आप उसीको लेनेको लपके। उस दिन सूर्यग्रहण उस अवसरपर होनेको था। राहुने आपको सूर्यपर लपकते देख डरकर इन्द्रसे जाकर शिकायत की कि आज मेरा भक्ष्य आपने क्या किसी दूसरेको दे दिया? क्या कारण है? इन्द्र आश्चर्यमें पड़ गये, आकर देखा तो विस्मित होकर उन्होंने वज्रका प्रहार आपपर किया, जो वज्र अमोघ है और जिसके प्रहारसे किसीका जीता बचना बिलकुल असम्भव ही है, सो उसके आघातसे महावीर श्रीमारुतनन्दनजीका कुछ न बिगड़ा, केवल हनु जरा-सा दब-सा गया और कुछ देरके लिये मूर्छा आ गयी। कहाँ श्रीहनुमान्‌जी नवजात शिशु और कहाँ इन्द्रका कठिन कठोर वज्र! इसीसे ऐसे बलवान् और महादृढ हनुके कारण श्रीहनुमान् नाम पड़ा। विशेष किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डोंमें देखिये।

३ 'राम जासु जस आपु बखाना' इति। वाल्मीकीय उत्तरकाण्ड सर्ग ३५ में श्रीरघुनाथजीने महर्षि अगस्त्यजीसे श्रीहनुमान्‌जीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। पाठकगण उसे वहाँ पढ़ लें। लक्ष्मणजीसे भी कहा है कि काल, इन्द्र, विष्णु और कुबेरके भी जो काम नहीं सुने गये वह भी काम श्रीहनुमान्‌जीने युद्धमें कर दिखाये। यथा—'न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च। कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः॥ वाल्मी० ७। ३५। ८।' मानसमें भी कहा है। यथा—'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥ प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥ लोचन नीर पुलक अति गाता। सु० ३२।', 'गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥ (उ० ५०), 'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना' (कि० ३)।

दो०—प्रनवौं पवन कुमार खल बन पावक ग्यानघन*।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर-चाप-धर॥ १७॥

शब्दार्थ—पवनकुमार=वायुदेवके पुत्र श्रीहनुमान्‌जी। पावक=अग्नि। घन=मेघ, बादल।=समूह, घना, ठसाठस, ठोस।=दृढ़। यथा—'घनो मेघे मूर्त्तिगुणे त्रिषु मूर्त्ते निरन्तरे दृढ़मरे। ३। २। १२०।' 'त्रिषु सान्द्रदृढे च' इति मेदिनी। ज्ञानघन=ज्ञानके मेघ अर्थात् ज्ञानरूपी जलकी वर्षा करनेवाले।=ज्ञानके समूह।=सघन, ठोस वा दृढ़ ज्ञानवाले। आगार=घर। सरचापधर=धनुष बाण धारण करनेवाले।

अर्थ—दुष्टोंरूपी वनके लिये अग्निरूप, सघन दृढ़ ज्ञानवाले, पवनदेवके पुत्र श्रीहनुमान्‌जीको मैं प्रणाम करता हूँ कि जिसके हृदयरूपी घरमें धनुषबाणधारी श्रीरामचन्द्रजी निवास करते हैं॥ १७॥

नोट—१ श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना ऊपर चौपाईमें कर चुके हैं, यहाँ फिर दुबारा वन्दनाका क्या प्रयोजन है?' इस शङ्काका समाधान अनेक प्रकारसे किया जाता है—(क) चौपाईमें 'महावीर' एवं 'हनुमान' नामसे वन्दना की और यहाँ 'पवनकुमार' नामसे। तीन नामोंसे वन्दना करनेका भाव किसीने यों कहा है, 'महावीर हनुमान कहि, पुनि कह पवनकुमार। देव इष्ट अरु भक्त लखि, वन्देउ कवि त्रयवार॥' महावीर नामसे इष्टकी वन्दना की, क्योंकि इष्ट समर्थ होना चाहिये, सो आप 'महावीर' हैं ही। 'पवनकुमार' से देवरूपकी वन्दना की, क्योंकि पवन देवता हैं। दूसरे, जैसे पवन सर्वत्र व्याप्त है, वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी रक्षाके लिये सर्वत्र प्राप्त हैं। यथा—'सेवक हित संतत निकट।' (बाहुक)। हनुमान् नामसे भक्तरूपकी वन्दना की। 'हनुमान्' होनेपर ही तो आप समस्त देवताओंकी आशिषाओंकी खान और समस्त अस्त्र-शस्त्रोंसे अवध्य हुए जिससे श्रीरामसेवा करके रघुकुलमात्रको उन्होंने ऋणी बना दिया। (ख) चौपाईमें पहले भाइयोंके साथ वन्दना की, क्योंकि आप सदा भाइयोंके साथ रहते हैं। यथा—'भ्रातन्ह सहित रामु एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा॥ ७। ३२।' 'हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक सुखदाता॥ ७। ५०।' भाइयोंके साथ हनुमान्‌जीकी वन्दना करनेका भाव यह भी है कि श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमान्‌जी रामभक्ति रामस्वभावगुणशीलमहिमाप्रभावके 'जानकार' (जानकार, ज्ञाता) हैं। यथा—'जानी है संकर हनुमान लखन भरत रामभगति। कहत सुगम करत अगम सुनत मीठि लगति॥' (गी० २। ८२), 'राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लखन भरत॥' (विनय० २५१)। और सुग्रीव आदिके साथ वन्दना करके जनाया कि आप भी पापोंके नाशक हैं। (प० रामकुमारजी)। पुनः, (ग) श्रीरामचन्द्रजीका भाइयोंसे भी अधिक श्रीहनुमान्‌जीपर प्रेम है। यथा—''तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना। ४। ३।', 'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे। ७। ८।', 'संग परमप्रिय पवनकुमारा' (७। ३२)। इसलिये दुबारा वन्दना की। पुनः, (घ) गोस्वामीजीपर हनुमान्‌जीकी निराली कृपा है। यथा—'तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निनारी। विनय० ३४।' इसलिये गोस्वामीजीने ग्रन्थमें आदिसे अन्ततक कई बार इनकी वन्दना की और इनकी

* ग्यानघर—१७२१, १७६२, छ०। ज्ञानघन—१६६१, १७०४, को० रा०। यह सोरठा है। इसमें आवश्यक नहीं है कि अन्तमें तुक मिले।

प्रशंसा भी बारम्बार की है। यथा—'सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ। वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥ मं० श्लो० ४।', 'महावीर बिनवौं हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना॥ १।१७।१०।', 'प्रनवौं पवनकुमार ' (यहाँ), 'अतुलितबलधामं' वातजातं नमामि॥ ५ मं० श्लोक ३।', 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।५।३२।' 'हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥ गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बारबार प्रभु निज मुख गाई॥ ७।५०।' श्रीरामजीका दर्शन भी आपहीकी कृपासे हुआ, श्रीरामचरितमानसको प्रकाशित करनेके लिये हनुमान्‌जीने ही उनको श्रीअवधधाममें भेजा पग-पगपर आपने गोस्वामीजीकी रक्षा और सहायता की। अतएव आपकी बारम्बार वन्दना एवं प्रशंसा उचित ही है। पुनः, (ग) पंजाबीजीका मत है कि बार बार गुरुजनोंकी वन्दना विशेष फलदायक है, अतः पुनः वन्दना की। (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जी तीन रूपसे श्रीरामजीकी सेवामें तत्पर रहते हैं—एक तो वीररूपसे जिससे युद्ध करते हैं, शत्रुओंका संहार करते हैं। दूसरे, श्रीचारुशीला (सखी) रूपसे जिसका यहाँ प्रयोजन नहीं। तीसरे, दासरूपसे। वीररूपकी वन्दना पूर्व की, अब दासरूपकी वन्दना करते हैं। [अर्चाविग्रहरूपमें आपके तीन रूप देखनेमें आते हैं। 'वीररूप', 'दासरूप' (हाथ जोड़े हुए) और मारुतिप्रसन्नरूप (आशीर्वाद देते हुए)।]

☞ यह तो हुआ दो या अधिक बार वन्दनाका हेतु। श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना श्रीभरतादि भ्राताओंके पीछे और अन्य वानरोंके पहले करना भी साभिप्राय है। आप सब भाइयोंके सेवक हैं, अतः सब भाइयोंके पीछे आपकी वन्दना की गयी। और, आपकी उपासना, आपका प्रेम और आपकी श्रीरामसेवा समस्त वानरोंसे बढ़ी-चढ़ी हुई है, यथा—'सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत। ताको लिये नाम राम सबको सुढर ढरत॥' (विनय १३४)। अतएव इस श्रीरघुनाथजीके प्रेम और सेवाके नातेसे सब वानरोंसे पहले आपकी वन्दना की गयी। (पं० रामकुमारजी)। देखिये, राज्याभिषेक हो जानेपर श्रीसुग्रीवादि सब विदा कर दिये, परंतु श्रीहनुमान्‌जी प्रभुकी सेवामें ही रहे, इनकी विदाई नहीं हुई। यथा—'हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ। ७।१७।' 'पुन्यपुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥ ७।१९।', शीतल अमराईमें भी आप भगवान् रामके साथ ही हैं और वहाँ भी सेवामें तत्पर हैं। यथा—'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥ ७।५०।'

नोट—२ प्रायः लोग यह शंका करते हैं कि 'सुग्रीव वानरराज हैं और हनुमान्‌जी उनके मन्त्री हैं, इसलिये पहले राजाकी वन्दना करनी चाहिये थी?' इसका उत्तर एक तो ऊपर आ ही गया। दूसरे तनिक विचारसे स्पष्ट हो जायगा कि वन्दनाका क्रम क्या है, तब फिर यह शङ्का ही न रह जायगी। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीकी प्राप्ति प्रथम श्रीहनुमान्‌जीको हुई। फिर सुग्रीवको, तत्पश्चात् जाम्बवान्‌जीको। इसीके अनुसार वन्दना क्रमसे एकके पीछे दूसरेकी की गयी।

३—'प्रनवौं पवनकुमार' इति। 'पवनकुमार' नामसे वन्दनाके भाव कुछ ऊपर आ गये। और भी भाव ये हैं—(क) 'पवनकुमार' से जनाया कि ये सदा कुमार अवस्थामें प्रभुकी सेवामें रहते हैं। उस कुमाररूपकी यहाँ वन्दना करते हैं। (वै०)। (ख) पवनकुमार पवनरूप ही हैं। यथा—'आत्मा वै जायते पुत्रः'। पुनः, पवनकुमार अग्निरूप भी हैं, क्योंकि पवनसे अग्निकी उत्पत्ति है। खलको वन और इनको अग्नि कह रहे हैं, इसीसे 'पवनकुमार' नामसे वन्दना की, क्योंकि पावक और पवन मिलकर वनको शीघ्र जलाकर भस्म कर देते हैं। (पं० रामकुमारजी)।

४—दोहेके सब विशेषण 'खलवन पावक' 'ज्ञानघन' 'जासु हृदय आगार बसहिं राम' इत्यादि हेतुगर्भित हैं—(क) पवनसे अग्निकी उत्पत्ति है इसलिये 'पवनकुमार' कहकर फिर खलवनके लिये आपको अग्नि कहा। दावानलसे जो मेघ बनते हैं वे विशेष कल्याणदायक हैं। इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जी ज्ञानरूपी परम कल्याणके देनेके लिये 'घनरूप' हैं। भाव यह है कि जब खलोंका नाश हुआ तब भगवत्-जनोंको स्वतः श्रीरामतत्त्वका ज्ञान उत्पन्न होने लगा। (मा० त० वि०)। पुनः (ख) काम-क्रोधादि विषय ही खल हैं। यथा—'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम बिश्राम हारी। (विनय० ५८), 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं' (७।१२०)।

श्रीहनुमान्‌जी विषयकी प्रवृत्तिको पवन और अग्निके समान नाश करते हैं। यथा—'प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजनतनय, विषयवनदहनमिव धूमकेतू' (विनय० ५८) (प० रामकुमारजी)। (ग) ज्ञानघन होनेके कारण कहते हैं कि शरचाप धारण किये हुए (धनुर्धर) श्रीरामचन्द्रजी सदैव हृदयमें बसे रहते हैं, आपको प्रभुका दर्शन निरन्तर होता रहता है और प्रभुका श्रीमुखवचन है कि 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा।' (३।३६)। तब आपका ऐसा प्रभाव क्यों न हो? (मा० त० वि०)। पुनः, (घ) 'खलवनपावक ज्ञानघन' 'जासु हृदय···' से सूचित किया कि आपका हृदय शुद्ध एवं निर्मल है। आपने कामादिरूपी खलवनको (जो हृदयमें बसते हैं) अपने प्रचुर ज्ञानसे भस्म कर दिया। विकाररहित विशुद्ध हृदय हो जानेसे श्रीधनुर्धारी रामचन्द्रजी आपके हृदय भवनमें बसते हैं, मलग्रसित हृदयमें नहीं बसते। यथा—'हरि निर्मल मलग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत॥' (विनय० १८५)। (बैजनाथजी)। पुनः (ङ) 'ज्ञानघन' से समझा जाता कि आप केवल ज्ञानी हैं, इस सन्देहके निवारणार्थ 'जासु हृदय···' कहा। अर्थात् आप परम भागवत भी हैं। बिना रामप्रेमके ज्ञानकी शोभा नहीं होती। वह ज्ञान ज्ञान नहीं जिसमें श्रीरामप्रेमकी प्रधानता न हो। यथा—'सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥' (२।२७७), 'जोग कुजोग ग्यान अग्यानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥' (२।२९१)। अतः ज्ञानघन कहकर 'जासु···' कहा।

टिप्पणी—१ तीन विशेषण देकर जनाया कि—(क) जगत्‌में तीन प्रकारके जीव हैं। विषयी, साधक (मुमुक्षु) और सिद्ध। यथा—'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥' (२।२७७) सो आप इन तीनोंके सेवने योग्य हैं। 'खलबनपावक' कहकर विषयी लोगोंके सेवन करने योग्य जनाया। क्योंकि विषयी कामादिमें रत रहते हैं, आप उनकी विषयप्रवृत्तिका नाशकर उनको सुख देते हैं। (अथवा विषयी वे हैं जो सकाम भक्ति करनेवाले हैं। उनकी कामनाएँ पूर्ण करते हैं)। 'ज्ञानघन' कहकर साधक (मुमुक्षु) के सेवने योग्य जनाया, क्योंकि मुमुक्षुको ज्ञान चाहिये, सो आप ज्ञानके समूह एवं ज्ञानरूपी जलकी वर्षा करनेको मेघरूप हैं। 'जासु हृदय ··· धर' से उपासकोंके सेवन करने योग्य जनाया। श्रीरामजी परम स्वतन्त्र हैं। यथा—'परम स्वतंत्र न सिरपर कोई' (१।१३७) 'निज तंत्र नित रघुकुलमनी' (१।५१)। पर वे भी श्रीहनुमान्‌जीके वशमें हैं, यथा—'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥ १।२६।', 'रिनियाँ राजा रामसे धनिक भए हनुमानु।' (दोहावली १११), 'दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ।' (विनय० १००)। सिद्ध आपकी सेवा करेंगे तो आप श्रीरामजीको उनके भी वश कर देंगे। यथा—'सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि सानुकूल सूलपानि···' 'सानुग सगौरि सानुकूल सूलपानि ताहि लोकपाल सकल लखन रामजानकी।' (बाहुक)। अथवा, (ख) 'खलबन पावक' से आपके कर्म, 'ज्ञानघन' से विज्ञानी होना और 'जासु ··· धर' से आपकी उपासना सूचित की। समस्त कर्मोंका फल ज्ञान है और ज्ञानका फल श्रीरामपदप्रेम है। यथा—'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गीता ४।३३), 'जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥ सब कर फल रघुपतिपद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥' (७।९५)। अतः इसी क्रमसे कहे। कर्म-ज्ञान-उपासना तीनोंसे परिपूर्ण जनाया।

नोट—५ 'बसहिं राम' इति। 'राम' शब्द अन्तर्यामीमें भी लगाया जा सकता है, इसीसे 'सरचापधर' कहकर सूचित किया कि आप द्विभुज, श्यामसुन्दर, धनुष्बाणधारी श्रीसाकेतविहारीजीके उपासक हैं। (रा० प्र०)

ज्ञानीमें साम्यभावका आशय

सिद्धावस्था और व्यवहार

श्रीमहाराज हरिहरप्रसादजी यहाँ यह शङ्का उठाते हैं कि 'ज्ञानघन' है तो 'खलबनपावक' कैसे? अर्थात् ये दोनों बातें परस्परविरोधी हैं। ज्ञानमें तो सब प्राणीमात्रमें समता भाव हो जाता है। यथा—'ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥' और इसका समाधान स्वयं यों करते हैं कि जब देहमें फोड़ा-फुन्सी ज्वरादि कोई रोग हो जाता है तो दवाईसे रोग दूर किया जाता है। रोगके नाशसे सुख होता है। ज्ञानी जगत्‌को विराट्‌रूप देखते हैं। विराटके अङ्गमें

रावण राजरोग है। श्रीहनुमान्‌जी वैद्य हैं। यथा—'रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर दिन दिन बिकल सकल सुख रांक सो। नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि, होत न बिसोक औत पावै न मनाक सो॥ रामकी रजाइ ते रसायनी समीर सूनु, उतरि पयोधिपार सोधि सरवांक सो। जातुधान बुटपुटपाक लंक जातरूप, रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो॥ (क० सु० २५)।' मानो खलोंका नाश करके विराट्‌को सुखी किया।

इस विषयमें गीताका मत श्रीबालगङ्गाधर तिलकके गीता-रहस्यके 'सिद्धावस्था और व्यवहार' प्रकरण (समग्र) तथा 'भक्तिमार्ग' प्रकरण पृष्ठ (४३४-४३५) में पढ़ने योग्य है। उसमेंसे कुछ यहाँ दिया जाता है—'समता शब्द ही दो व्यक्तियोंसे सम्बद्ध अर्थात् सापेक्ष है। अतएव आततायी पुरुषको मार डालनेसे जैसे अहिंसा-धर्ममें बट्टा नहीं लगता है, वैसे ही दुष्टोंका उचित शासन कर देनेसे साधुओंकी आत्मौपम्य बुद्धि या निर्वैरतामें भी कुछ न्यूनता नहीं होती। बल्कि दुष्टोंके अन्यायका प्रतिकार कर दूसरोंको बचा लेनेका श्रेय अवश्य मिल जाता है। जिस परमेश्वरकी अपेक्षा किसीकी बुद्धि अधिक सम नहीं है जब वह परमेश्वर भी साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करनेके लिये समय-समयपर अवतार लेकर लोकसंग्रह किया करता है (गी० ४ श्लो० ७ और ८) तब और पुरुषोंकी बात ही क्या है। यह कहना भ्रमपूर्ण है कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' रूपी बुद्धि हो जानेसे अथवा फलाशा छोड़ देनेसे पात्रता-अपात्रताका अथवा योग्यता-अयोग्यताका भेद भी मिट जाना चाहिये। गीताका सिद्धान्त यह है कि फलकी आशामें ममत्वबुद्धि प्रधान होती है और उसे छोड़े बिना पाप पुण्यसे छुटकारा नहीं मिलता। किंतु यदि किसी सिद्ध पुरुषको अपना स्वार्थ साधनेकी आवश्यकता न हो, तथापि यदि वह किसी अयोग्य आदमीको कोई ऐसी वस्तु ले लेने दे कि जो उसके योग्य नहीं है तो उस सिद्ध पुरुषको अयोग्य आदमियोंकी सहायता करनेका, तथा योग्य साधुओं एवं समाजकी भी हानि करनेका पाप लगे बिना न रहेगा। कुबेरसे टक्कर लेनेवाला करोड़पति साहूकार यदि बाजारमें तरकारी-भाजी लेने जावे तो जिस प्रकार वह हरी धनियाकी गड्डीकी कीमत लाख रुपये नहीं दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्थामें पहुँचा हुआ पुरुष किसी भी कार्यका योग्य तारतम्य भूल नहीं जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है, पर 'समता' का यह अर्थ नहीं है कि गायका चारा मनुष्यको और मनुष्यका भोजन गायको खिला दे।

साधु पुरुषोंकी साम्यबुद्धिके वर्णनमें ज्ञानेश्वर महाराजने इन्हें पृथ्वीकी उपमा दी है। उस पृथ्वीका दूसरा नाम 'सर्वसहा' है। किंतु यह 'सर्वसहा' भी यदि कोई इसे लात मारे, तो मारनेवालेके पैरके तलवेमें उतने ही जोरका धक्का देकर अपनी समता बुद्धि व्यक्त कर देती है। इससे भलीभाँति समझा जा सकता है कि मनमें वैर न रहनेपर भी (अर्थात् निर्वैर) प्रतिकार कैसे किया जाता है।

अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त है कि जब बुद्धि साम्यावस्थामें पहुँच जावे तब वह मनुष्य अपनी इच्छासे किसीका भी नुकसान नहीं करता, उससे यदि किसीका नुकसान हो ही जाय तो समझना चाहिये कि वह उसीके कर्मका फल है। इसमें स्थितप्रज्ञका कोई दोष नहीं।

प्रतिकारका कर्म निर्वैरत्व और परमेश्वरार्पणबुद्धिसे करनेपर कर्ताको कोई भी दोष या पाप तो लगता ही नहीं, उलटा प्रतिकारका काम हो चुकनेपर जिन दुष्टोंका प्रतिकार किया गया है उन्हींका आत्मौपम्य दृष्टिसे कल्याण मनानेकी बुद्धि भी नष्ट नहीं होती। एक उदाहरण लीजिये। दुष्ट कर्म करनेके कारण रावणको, निर्वैर और निष्पाप रामचन्द्र (जी) ने मार तो डाला, पर उसकी उत्तर क्रिया करनेमें जब विभीषण हिचकने लगे तब रामचन्द्रजीने उसको समझाया कि '(रावणके मनका) वैर मौतके साथ ही गया। हमारा (दुष्टोंके नाश करनेका) काम हो चुका। अब यह जैसा तेरा (भाई) है, वैसा ही मेरा भी है। इसलिये इसका अग्निसंस्कार कर' (वाल्मी० ६। १०९। ३५)। भगवान्‌ने जिन दुष्टोंका संहार किया उन्हींको फिर दयालु होकर सद्‌गति दे डाली। उनका रहस्य भी यही है।

नोट—६ 'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर' इति। इससे यह सूचित किया कि बाहरके दुष्ट तो आपका कुछ कर ही नहीं सकते। उनके लिये तो आप स्वयं समर्थ अग्निके समान हैं। पर अन्तःकरणके शत्रु बड़े ही बली हैं। यथा—'बड़े अलेखी लखि परैं परिहरे न जाहीं।' (विनय० १४७), 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।

मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ ॥ ३ । ३८ ।', बिना धनुर्धारी प्रभुके हृदयमें बसे हुए इनका नाश नहीं हो सकता। यथा, 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा ॥ ५ । ४७ ।' इसलिये शरचापधारी प्रभुको सदा अपने हृदयसदनमें बसाये रहते हैं। ज्ञानी इसी विचारसे निरन्तर श्रीरामजीका भजन करते हैं। भगवान्ने नारदजीसे कहा भी है, 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी ॥ · मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी ॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥ यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं ॥ ३ । ४३ ।' पुन, 'सरचापधर' से प्रभुका भक्तवात्सल्य दर्शाया है कि भक्तकी रक्षामें किंचित् भी विलम्ब नहीं सह सकते, इसीलिये सदा धनुषबाण लिये रहते हैं। प्रपन्नजीसे 'सरचापधर' का एक भाव यह भी सुना है कि हनुमान्जीका हृदय श्रीरामजीका विश्रामस्थान है। यहाँपर आकर प्रभु आपके भरोसे निश्चिन्त हो जाते हैं। यथा—'तुलसिदास हनुमान भरोसे सुख पौढ़े रघुराई', क्योंकि आप तो 'राम काज करिबेको आतुर' ही रहते हैं, इसलिये यहाँ आकर सर-चाप धर देते हैं।

प्रश्न—'तो क्या कभी ऐसा अवसर पड़ा कि इन दुष्टाने आपको घेरा हो और श्रीरामजीने रक्षा की हो?' इसका उत्तर है कि हाँ। जब श्रीहनुमान्जी द्रोणाचल पर्वतको लिये हुए अवधपुरीकी ओरसे निकले थे, तब उनको अभिमानने आ घेरा था। 'तात गहरु होइहि तोहि जाता। काजु नसाइहि होत प्रभाता ॥ चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता ॥ ६ । ५९ ।' श्रीभरतजीके इन वचनोंको सुनकर श्रीहनुमान्जीको अभिमान आ गया था। यथा—'सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना ॥' तब प्रभुने उनकी तुरत रक्षा की। यथा—'राम प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी ॥ ··'। प्रभु हृदयमें विराजमान थे ही, तुरत उन्होंने अभिमानको दूर करनेवाला निज प्रभाव उनको स्मरण करा दिया जो वे जानते ही थे। यथा—'ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। तब प्रभाव बड़वानलहिं जारि सकइ खलु तूल ॥ ५ । ३३ ।' प्रभावका स्मरण होते ही अभिमान जाता रहा, यही रक्षा करना है।

कपिपति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जे कीस समाजा ॥ १ ॥
बंदौं सब के चरन सुहाए। अधम सरीर राम जिन्ह पाए ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पति=स्वामी, राजा। सुहाए=सुन्दर।

अर्थ—वानरोंके राजा (सुग्रीवजी), रीछोंके राजा (श्रीजाम्बवान्जी), राक्षसोंके राजा (श्रीविभीषणजी) और श्रीअङ्गदजी आदि जितना वानरोंका समाज (सेना) है ॥ १ ॥ जिन्होंने अधम (पशु) शरीरमें ही श्रीरामजीको पा लिया (प्राप्त कर लिया), मैं उन सबोंके सुन्दर चरणोंकी वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

नोट—१ (क) 'राजा' शब्द रीछ और निशाचर दोनोंके साथ है। जाम्बवान्जी ऋक्षराज हैं। यथा—'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना' 'जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा।' (५ । ३०, ५ । २९)। यहाँ सुग्रीव, जाम्बवान् आदि भक्तोंकी ही वन्दना है। अतः उनके साहचर्यसे यहाँ 'निशाचरराज' से विभीषणजी ही अभिप्रेत हैं। (ख) 'अंगदादि ·· समाजा' से अठारह पद्म यूथपतियों और उनके यूथों आदिको सूचित किया। तथा इनके अतिरिक्त इनके परिवार आदिमें भी जिनको भगवत्प्राप्ति हुई वे सब भी आ गये। (ग) 'सुहाये' विशेषण देकर सूचित किया कि जो मनुष्य-शरीर सुरदुर्लभ है और जो 'साधनधाम मोच्छ कर द्वारा' कहा गया है उसमें भी भगवत्प्राप्ति कठिन है और इन्होंने तो पशु, वानर, रीछ और राक्षसी देहमें भगवत्प्राप्ति कर ली, तब ये क्यों न प्रशंसनीय हों? देखिये ब्रह्माजीने भी इनकी प्रशंसा की है। यथा—'कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए ॥ धिग जीवन देव सरीर हरे। ६ । ११० ।' इसीसे इनके चरणोंको 'सुहाये' कहा और इनकी वन्दना श्रीरामचन्द्रजीके भाइयों, उपासकों और मुनियोंके बीचमें की। पुन (प्रोफे० श्रीलाला भगवानदीनजीके मतानुसार) 'सुहाये' इससे कहा कि इन्होंने चरणद्वारा ही दौड़-धूप करके अधम शरीरसे ही श्रीरामकृपा

सम्पादन की है, श्रीसीताजीकी खोजमें बहुत दौड़े हैं। जिस अङ्गद्वारा श्रीरामसेवा हो सके, वही सुहावन है अन्य असुहावन हैं। पुनः श्रीरामजीने भुशुण्डिजीसे कहा है, 'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥ ७। ८६।' ये सब वानर आदि भगवान‌को अति प्रिय हैं। यथा—'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे ॥ मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे ॥ ७। ८।' 'तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई ॥ ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे ॥ अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही ॥ सब मम प्रिय नहि तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥ ७। १६।' अतएव 'सुहाये' विशेषण उपयुक्त ही है। नहीं तो प्रशंसा-सम्मान भी कोई क्यों न हो वह प्रशंसा योग्य नहीं हो सकता। यथा—'भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ॥ ७। ८६।', 'रामबिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही ॥ ७। ९६।'

२ 'अधम सरीर राम जिन्ह पाये' इति। (क) 'अधम सरीर' इति। पृथ्वी, जल, तेज पवन और आकाश इन पञ्चभूतोंसे बना हुआ होनेसे शरीरको अधम कहा जाता है। यथा—'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा ॥ ४। ११।' श्रीरामजीने तारासे ये वचन कहे हैं। इसके अनुसार पाञ्चभौतिक सभी शरीर 'अधम' हुए। उसपर भी वानर, रीछ और राक्षस शरीर अधिक अधम हैं। इसीका लक्ष्य लेकर तो श्रीहनुमानजीने अपना कार्पण्य दरसाया है। यथा—'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ॥ अस मैं अधम सखा सुनु...। ५। ७।' पुनः 'असुभ होइ जिन्ह के सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी।' (वि० १६६) एवं 'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी ॥ ४। २१। इसमें अधम कहा और राक्षस-शरीर तो सर्वत तामसी ही होता है। (ख) 'अधम सरीर' 'पाये' कहनेका भाव कि जीतेजी इस पापोंमें आसक्त पाञ्चभौतिक शरीरमें ही प्रभुकी साक्षात् प्राप्ति कर ली, दिव्य रूप पानेपर नहीं, न शरीर छूटनेपर परधाममें और न ध्यानादिद्वारा प्राप्त की, किंतु इस स्थूल शरीरसे ही पा लिया। इस कथनसे यह भी जनाया कि अधम शरीर श्रीरामप्राप्तिका कारण प्रायः नहीं होता, पर इन शरीरोंसे रामप्राप्तिरूपी कार्य उत्पन्न हुआ है। अत- यहाँ 'चतुर्थ विभावना' अलंकार है 'किसी घटनाके कारण कोई विरुद्ध कल्पना की जाय तो उसे 'विभावना' अलंकार कहते हैं। 'चतुर्थ विभावना' का लक्षण यह है कि 'जाको कारण जो नहीं उपजत ताते कौन।' (अ० म०)। (ग) 'अधम शरीर' से प्राप्ति कहकर यह भी सूचित किया कि श्रीरामजीकी सेवासे अधमता जाती रहती है और सब लोग उनका आदर सम्मान भी करने लगते हैं। यथा—'जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान। रुद्रदेह तजि नेह बस बानर भे हनुमान ॥' (दोहावली १४२), 'बेदबिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ तुम्हारी ॥' (विनय० १६६), 'कियहु कुबेसु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू ॥ १। ७।' (घ) 'पाये' में यह भी भाव है कि शिवजीको भी जो ध्यानमें अगम हैं, वही प्रभु इनको साक्षात् आकर मिले।

३ यहाँ केवल पाँच नाम दिये। श्रीहनुमानजी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीअङ्गदजी। शेष सबको 'आदि' में कहा। पाँचके नाम कहकर वन्दना करनेमें अभिप्राय यह है कि ये पाँचों प्रातःस्मरणीय कहे गये हैं। यथा—रामरहस्यग्रन्थे, 'श्रीरामं च हनूमन्तं सुग्रीवं च विभीषणम्। अङ्गदं जाम्बवन्तं च स्मृत्वा पापैः प्रमुच्यते ॥' (प० रामकुमारजी)। इसलिये, श्रीरामजीकी सेवाका यह फल है कि वही अधम जिनका प्रातःस्मरण अशुभ समझा जाता था वे ही प्रातःस्मरणीय हो गये, श्रीरामजीके साथ ही उनका स्मरण भी होने लगा। इतना ही नहीं वे 'तरन-तारन' हो गये। यथा—'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं ॥ ६। १०५।' यह श्रीमुखवचन है।

रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते ॥ ३ ॥

बंदौं पद सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—उपासक=(उप+आसक) = समीप बैठनेवाला, सेवा, पूजा या आराधना करने-

वाला, भक्त जेते=जितने। समेते=समेत, सहित। सरोज=कमल। मृग=पशु, हिरन, सूकर, बंदर आदि। सभी पशुओंकी 'मृग' संज्ञा है। यथा—'चलेउ बराह मरुतगति भाजी।' 'प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा। १। १५७।', 'साखामृग कै बड़ि मनुसाई। ५। ३३।', 'पशवोऽपि मृगाः' इत्यमरे। (३। ३। २०)। बिनु काम=बिना किसी कामनाके, स्वार्थरहित, निष्काम। चेरे=गुलाम, मोल लिये हुए दास।

अर्थ—पक्षी, पशु, देवता, मनुष्य और असुरोंसमेत जितने भी श्रीरामजीके चरणोंके उपासक हैं॥ ३॥ मैं उन सबके चरणोंको प्रणाम करता हूँ जो श्रीरामजीके निष्काम सेवक हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ वन्दनाका क्रम—(क) उपासनाका फल श्रीरामजीकी प्राप्ति है। श्रीसुग्रीवजी आदिको श्रीरामप्राप्ति हो चुकी, वे नित्य परिकरोंमें सम्मिलित हो चुके, इससे वे उपासकोंमें श्रेष्ठ हैं। इसीलिये श्रीसुग्रीवादिके पीछे अब रघुपति-चरणोपासकोंकी वन्दना की गयी। (ख) यहाँसे वन्दनाकी कोटि बदल रहे हैं। ऊपर 'बंदउँ प्रथम भरतके चरना' से लेकर 'बंदउँ सबके चरन सुहाये।' तक एकसे एक लघु कहते गये। अर्थात् श्रीभरतजीसे छोटे लक्ष्मणजी, इनसे छोटे शत्रुघ्नजी, तब उनसे छोटे श्रीहनुमान्‌जी आदि क्रमसे कहे गये। अब 'रघुपति चरन उपासक जेते' से 'बंदउँ नाम राम रघुबर को' तक एक-से-एक बड़ा कहते हैं। उपासकोंसे ज्ञानी भक्त बड़े, उनसे श्रीजानकीजी बड़ी, फिर श्रीरामजी और इनसे भी बड़ा इनका नाम है। (ग) शंका—"पूर्व एक बार सुर-नर-असुरकी वन्दना कर चुके हैं। यथा—'देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब। बंदौं किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥ १। ७।' अब यहाँ फिर दुबारा वन्दना क्यों की गयी?" इसका उत्तर यह है कि पहले उनकी वन्दना जीवकोटिमें की गयी थी और अब उपासककोटिमें मानकर उनकी वन्दना करते हैं। [अथवा, पहले सबकी वन्दना थी, अब उनमेंसे जितने 'रघुपतिचरण उपासक' हैं केवल उन्हींकी वन्दना है। (प० श्रीरामवल्लभाशरणजी)] (घ) यहाँ श्रीरामोपासकोंकी समष्टि (यकजाई, एकत्रित) वन्दना है। 'नर खग मृगसे' मर्त्य (भू) लोक, 'सुर' से स्वर्गलोक और असुरसे पाताललोकके, इस तरह तीनों लोकोंके उपासक सूचित किये हैं।

नोट—१ 'खग मृग सुर नर असुर समेते' इति। (क) प० शिवलाल पाठकजीके मतानुसार यहाँ 'खग मृग' से चित्रकूटके 'बिहँग मृग' का ग्रहण होगा जिनके विषयमें कहा है—'चित्रकूटके बिहँग मृग बेलि बिटप तृन जाति। पुन्यपुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिनराति॥ २। १३८॥ 'नयनवंत रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम फल होहिं बिसोकी॥', पर यहाँ 'रघुपति चरन उपासक' जो खगादिका विशेषण है वह विचारने योग्य है। जितने भी खगमृगादि 'रघुपति राम' के उपासक हैं उन्हींकी यहाँ वन्दना है। 'खग' से श्रीकाकभुशुण्डिजी, श्रीगरुड़जी, श्रीजटायुजी आदि पक्षी उपासक लिये जा सकते हैं। 'मृग' से बैजनाथजी एवं हरिहरप्रसादजी वानर-भालुको लेते हैं और लाला भगवानदीनजी 'मारीच' को लेते हैं। 'सुर' से दीनजी 'इन्द्रावतारी बाली' को और बैजनाथजी अग्नि और इन्द्र आदिको लेते हैं। 'सुर' से बृहस्पति-जीको भी ले सकते हैं। इन्होंने इन्द्रादि देवताओंको बारंबार उपदेश दिया है, श्रीभरतजीकी भक्ति और श्रीरामजीके गुण और स्वभावका स्मरण कराया है। 'नर' से अनेक नरतनधारी भक्त मनु-शतरूपा आदि, अवधवासी, मिथिलावासी, चित्रकूटादिवासी, कोल भील, निषाद आदि कह दिये। 'असुर' से प्रह्लाद, बलि, वृत्रासुर आदि लिये जा सकते हैं। दीनजीके मतानुसार 'असुर' से 'खरदूषणादि' चौदह हजार सेनाकी ओर लक्ष्य करके गोस्वामीजीने यह बात लिखी है।'

२ लाला भगवानदीनजी—'खगमृगके चरणोंको 'सरोज' कहना कहाँतक ठीक है?' ठीक है, क्योंकि जो भी जीव, चाहे वह पशु पक्षी कोई भी क्यों न हो, श्रीरामजीकी अकाम भक्ति करेगा वह रामाकार हो जायगा। श्रीरामजीका लोक और सारूप्य मुक्ति पायेगा। रामरूप हो जानेसे उसके भी चरण श्रीरामचरणसमान हो जायँगे। अतः 'सरोज' विशेषण उपयुक्त ही है।

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥ ५॥
प्रनवौं सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥ ६॥

शब्दार्थ—विज्ञान=वह अवस्था जिसमें आत्मवृत्ति परमात्मामें लीन हो जाती है, सबमें समता भाव हो जाता है, तीनों गुणों, तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीयावस्था आ जाती है, जीव परमानन्दमें मग्न रहता है, जीवन्मुक्त ब्रह्मलीन रहता है, सारा जगत् ब्रह्ममय दिखायी देता है। बिसारद (बिशारद)=प्रवीण, चतुर। जन=दास।

अर्थ—श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमारजी और श्रीनारदमुनि आदि भक्त जो मुनियोंमें श्रेष्ठ और विज्ञानमें प्रवीण हैं ॥ ५ ॥ उन सबोंको मैं पृथ्वीपर सिर रखकर प्रणाम करता हूँ। हे मुनीश्वरो ! आप सब मुझे अपना दास जानकर मुझपर कृपा कीजिये ॥ ६ ॥

नोट—१ 'भगत', 'मुनिबर' और बिग्यान 'बिसारद' ये 'शुक-सनकादि-नारदमुनि प्रभृति' सबके विशेषण हैं। 'भगत' विशेषण देकर इनको 'सोऽहमस्मि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदिवाले रूखे विज्ञानियोंसे पृथक् किया।

२ श्री 'शुकदेवजी' इति। ये भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीके पुत्र हैं। पूर्वजन्ममें ये शुक पक्षी थे। भगवान् शङ्करने जब परम गोप्य अमरकथा श्रीपार्वतीजीसे कही तब इन्होंने उसे सुनी जिससे ये अमर हो गये। ये जन्मते ही सीधे वनको चल दिये, माता-पिताकी ओर इन्होंने देखा भी नहीं। वर्णाश्रमचिह्नोंसे रहित, आत्मलाभसे सन्तुष्ट, दिगम्बर अवधूतवेष, सुकुमार अङ्गोंवाले आजानबाहु, तेजस्वी, अव्यक्तगति, निरन्तर वनमें रहनेवाले और सदा षोडशवर्षके श्यामल परम सुन्दर यौवन अवस्थामें रहनेवाले परम निरपेक्ष थे। ऐसे विशुद्ध विज्ञानी आत्माराम होनेपर भी ये परम भक्त थे। श्रीमद्भागवतके 'अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥ भा० ३ । २ । २३ ।' इस श्लोकको वनमें अगस्त्यजीके शिष्योंको गाते सुनकर उनके मन और मति हर गये। तब पता लगनेपर कि श्रीव्यासजीने ऐसा ही बहुत सा भगवद्यश रचा है वे पिताके पास आये और उनसे भागवत पढ़ी। यही फिर उन्होंने श्रीपरीक्षित् महाराजको उनके अन्त समय सुनायी थी। ज्ञानकी दीक्षाके लिये व्यासजी और देवगुरुने इनको श्रीजनकमहाराजके पास भेजा था। 'रम्भाशुकसंवाद' से ज्ञात होता है कि रम्भाने आपको कितनी ही युक्तियोंसे रिझाना और आपका तप भङ्ग करना चाहा था, परंतु उसके सभी प्रयत्न निष्फल हुए। दोनोंका संवाद देखने योग्य है। आप सबको भगवन्मय और भगवद्रूप ही देखते थे, सदा भगवद्रूपामृतमें छके उसीमें मग्न रहते थे। देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि आदि सब आपको देखकर आसनोंसे उठ खड़े होते थे, आप ऐसे परम तेजस्वी थे। यथा—'प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः' (भा० १ । १९ । २८)।

३ 'श्रीसनकादिकों' इति। ये भगवान्के चौबीस अवतारोंमेंसे एक हैं। विविध लोकोंकी रचना करनेके लिये जब ब्रह्माजीने घोर तप किया तब उनके तपसे प्रसन्न हो 'सन' शब्दसे युक्त नामोंवाले चार तपस्वियोंके रूपमें भगवान् ब्रह्माजीके प्रथम मानसपुत्र होकर प्रकट हुए। श्रीसनक, श्रीसनन्दन, श्रीसनातन और श्रीसनत्कुमार इनके नाम हैं। इन्होंने पूर्व कल्पके प्रलयकालमें नष्ट हुए आत्मतत्त्वका ऐसा सुन्दर उपदेश दिया कि उसे सुनते ही मुनियोंने अपने हृदयमें उस तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया। यद्यपि ये मरीचि आदि मानसपुत्रोंके भी पूर्वज हैं, तो भी ये पाँच छ वर्षके बालकोंके समान ही देख पड़ते हैं। यथा—'दैगत बालक बहु कालीना', 'पञ्चषड्-ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ।' (भा० ७ । १ । ३६)। ये सदा दिगम्बर वेषमें (नङ्गे) रहते हैं। सम्पूर्ण लोकोंकी आसक्तिको त्यागकर आकाशमार्गसे समस्त लोकोंमें स्वच्छन्द रूपसे विचरा करते हैं। इन सबोंको स्वतः विज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी। वे मात्सर्य आदि दोषोंसे रहित और वीतराग थे। इसीसे उनके मनमें पुत्रोत्पन्न करने, सृष्टि रचनेकी इच्छा न हुई।

४ 'जे मुनिबर बिग्यान बिसारद' इति। आत्मतत्त्वका ज्ञान इन्हींसे और सब मुनियोंको प्राप्त हुआ और सब मुनि इनको अपनेसे बड़ा जानते-मानते हैं। अतः 'मुनिबर' और 'बिग्यान बिशारद' कहा। 'बिग्यान बिशारद' कहकर इनको 'ज्ञानी भक्त' सूचित किया।

५ श्रीसनकादि तो सृष्टिके आदिमें सबसे प्रथम ब्रह्माजीके मानसपुत्र हुए तब शुकदेवजीको उनके पहले लिखनेका क्या कारण है ? इसका उत्तर यह है कि—(क) जब कई व्यक्तियोंकी वन्दना एक साथ ही करनी है तब कोई-न-कोई

तो पहले अवश्य ही रहेगा, सबमें ऐसी ही शङ्का की जा सकेगी, वैसे ही यहाँ भी जानिये। (ख) काव्यमें छन्द जहाँ जैसा ठीक बैठे वैसी ही शब्दोंकी स्थिति रक्खी जाती है। (ग) प्रायः यह नियम है कि छोटा शब्द प्रथम रक्खा जाता है तब बड़ा। 'शुक' छोटा है। अतः इसे प्रथम रक्खा। अथवा, (घ) यद्यपि श्रीसनकादिजी ब्रह्माजीके प्रथम मानसपुत्र हैं, सनातन हैं, आदि वैराग्यवान् हैं, वैराग्यके जहाँ बीजमन्त्र दिये हैं वहाँ इनका नाम प्रथम है, क्योंकि ब्रह्माजीने इन्हें जैसे ही सृष्टिरचना करनेकी आज्ञा दी, इन्होंने उनसे प्रश्न कर उन्हें निरुत्तर कर उनकी आज्ञा न मान वनकी राह ली। तथापि श्रीशुकदेवजी तो गर्भसे निकलते ही वनको चलते हुए। ये तो ऐसे वैराग्यवान् और विज्ञानी थे कि जब व्यासजी आपके मोहमें रोते हुए पीछे चले तो आपने वनके वृक्षोंमें प्रवेशकर वृक्षोंसे ही कहलाया कि 'शुकोऽहम्।' अतः विशेष विज्ञानी और वैराग्यवान् होनेसे इनको प्रथम कहा। पुनः, (ङ) श्रीसनकादि मायाके भयसे पाँच वर्षके बालककी अवस्थामें रहते हैं। यथा—'चतुरः कुमारान् वृद्धान् दशार्द्धवयसो विदितात्मतत्त्वान्।' (भा० ३। १५। ३०)। तो भी इनपर मायाका प्रभाव पड़ा कि इन्होंने परम सात्त्विक वैकुण्ठलोकमें भी जाकर जय-विजयको शाप दे दिया। और श्रीशुकदेवजी तो जन्मसे ही सोलह वर्षकी यौवनावस्थामें रहते हैं। यथा—'तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद' (भा० १। १९। २६), तो भी उनमें मायाका कोई विकार नहीं आया। पुनः, (च) बड़प्पन विज्ञान, तेज और भगवदनुरागसे होता है, कालीनतासे नहीं। वसिष्ठजी, विश्वामित्रजी, अगस्त्यजी और अनेक देवर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि आदि परीक्षित्‌जीके अन्त समय उपस्थित थे, सभीने परमहंस शुकदेवजीके आते ही अपने-अपने आसनोंसे उठकर उनका सम्मान किया था।

टिप्पणी—१ 'प्रनवौं सबहि धरनि धरि सीसा।'' इति। (क) ज्ञानी भक्त प्रभुको अधिक प्रिय हैं। यथा—'ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पिआरा। १। २२।' ये सब ज्ञानी भक्त हैं। इसीलिये इनको विशेषभावसे, अर्थात् पृथ्वीपर सिर धरकर, प्रणाम किया है। (ख) 'जन जानि' इति। अर्थात् मैं आपको प्रभुका दास समझकर आपके चरणोंकी वन्दना करता हूँ। मैं प्रभुके दासोंका दास हूँ अतएव आपका भी दास हूँ ऐसा समझकर आप मुझपर कृपा करें। पुनः, आप बड़े-बड़े मुनीश्वर हैं। बड़े छोटोंपर कृपा करते ही हैं। यथा—'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं' (१। १६७)। अतएव आप मुझपर कृपा करें।

२ यहाँतक छः अर्धालियोंमें गोस्वामीजीने कर्म, उपासना और ज्ञान, वन्दनाकी ये तीन कोटियाँ दीं। श्रीसुग्रीव आदिने अधम शरीरसे श्रीरामजीकी प्राप्ति की, यह कर्मका फल है। इस फलसे श्रीरामजी मिले। इस तरह 'कपिपति रीछ निसाचर राजा।' में कर्मकोटिकी वन्दना है। 'रघुपतिचरन उपासक जेते।' में उपासना कोटिकी और यहाँ 'सुक सनकादि'' में ज्ञान कोटिकी वन्दना है।

३ गोस्वामीजीने वानरोंके पीछे रामोपासक मुनियोंकी वन्दना करके तब श्रीसीतारामजीकी वन्दना की है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि बन्दरोंके पीछे श्रीसीतारामजीकी वन्दना अयोग्य थी और मुनियोंके पीछे योग्य है, नहीं तो ज्ञानी भक्तोंकी वन्दना खग-मृग उपासकोंके पहले करते। अथवा, अधम शरीरवाले भक्तोंकी वन्दना करके अब उत्तम शरीरवाले भक्तोंकी वन्दना करते हैं।

नोट—प० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि 'ऊपर नित्य परिकरोंकी और आगे श्रीसीतारामजीकी वन्दना है। बीचमें इन मुनियोंकी दो अर्द्धालियोंमें वन्दना है, यह तो वाल्मीकि आदिके साथ होनी चाहिये थी, पर ऐसा करनेमें एक रहस्य है और वह है ग्रन्थके तात्पर्य निर्णयकी विधि जो उपक्रम उपसंहार आदि छः लिङ्गोंके द्वारा होता है। इस रामायणका उपक्रम इसी चौपाईसे है, क्योंकि श्रीसीतारामजीकी वन्दना अब प्रारम्भ होगी, जो ग्रन्थके प्रतिपाद्य हैं। उपक्रममें पूर्व ही यह 'सुक सनकादि' की चौपाई वन्दनाक्रमसे भिन्न रक्खी गयी है। ऐसे ही इस ग्रन्थके उपसंहारपर जहाँ गरुड़जीके सातों प्रश्न पूरे हुए, वहाँ भी 'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार बिसारद॥ सबकर मत खगनायक एहा। करिय रामपदपंकज नेहा॥' (उ० दो० १२२) है। बस, वहींसे मानसके चारों घाटोंका विसर्जन प्रारम्भ हुआ। वहाँपर भी ये मुनि एवं इनके विशेषण हैं, केवल 'सिव अज' दो नाम और जोड़

दिये गये हैं और यह चौपाई यहाँ भी इसी प्रकार प्रसङ्गसे अलग सी है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ निवृत्तिपरक है, अतः प्रवृत्तिकी ओरसे माया विरोध करेगी, तब पचायत होगी (इस पचायतका वर्णन 'सत पच चौपाई मनोहर · ·' पर होगा), इसलिये अपने निवृत्तिपक्षके दो सतपच इन शुक-सनकादिका यहाँ वरण किया कि आप लोग मुझे अपना जन जानकर कृपा करें अर्थात् इस जनने यहाँ आवें और ग्रन्थमें शोभित हों, क्योंकि ये लोग महान् विरक्त एव विवेकी हैं, प्रतिपक्षीके पक्षपाती नहीं हैं। तीसरे सतपच श्रीनारदजी हैं, इनका वर्णन मध्यस्थ (सरपच) रूपसे किया गया है, क्योंकि ये उभय पक्षोंके मान्य हैं · ·'

इन उपर्युक्त उद्धरणमें प० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'इस रामायणका उपक्रम इसी चौपाईसे है।' हमे इसपर विचार करना है। पण्डितजीने अपने उपोद्घातमें तात्पर्यनिर्णयके प्रतिपादनमें अपने 'मानस-सिद्धान्त-विवरण' ग्रन्थका हवाला दिया (निर्देश किया) है। मा० सि० वि० में उन्होंने उपोद्घातमें उपक्रमोपसहार लिखा है और उसी ग्रन्थमें आगे पाँचवे अध्यायमें तात्पर्यनिर्णयप्रकरणमें भी उपक्रम-उपसहारका विस्तृत वर्णन किया है। उनमें उपोद्घातमें जो उपक्रम-प्रकरण है उसमें उन्होंने 'यत्पादप्लव तितीर्षावता' को उपक्रम बताया है और तात्पर्य निर्णयमें 'गन्माराम · ·अस' को उपक्रम बताया है तथा उपसहार भी यथा क्रमश 'श्रीमद्राम · · तुलसी' और 'श्रीमद्रामचरित्र मानसा' कहा है। मा० सि० वि० में दिये हुए दोनों स्थानोंके उपक्रमके विषयमें और जो कुछ भी लिखा है उनके सम्बन्धमें हमें इस समय कहनेका प्रसङ्ग न होनेसे, कुछ नहीं लिखना है। उसमेंसे हमें केवल इतना ही दिखाना है कि उन्होंने उपक्रम वस्तुत किस जगह माना है। मा० सि० वि० का ही मत 'सिद्धान्ततिलक' के उपोद्घातमें निर्दिष्ट किया गया है। तब यहाँ जो उपक्रमोपसहारके स्थान दूसरे ही बताये जा रहे हैं यह बात कुछ समझमें नहीं आती।

इस ग्रन्थमें बालकाण्डमें तीन वक्ताओंके द्वारा कथाका उपक्रम किया गया। जहाँ उपक्रम किया है वहाँ 'कहउँ', 'करउँ', 'बरनउँ', आदि शब्द कथाके साथ आते हैं और गोस्वामीजीने तो कई बार प्रारम्भसे लेकर दोहा ४३ तक कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की है पर कथाका प्रधान उपक्रम तो ४३ वाँ दोहा ही समझा जाता है। वहाँतक वन्दना, कुछ उपक्रमका अङ्ग और कुछ मानसरूपक आदि प्रासगिक विषय ही हैं। इस स्थलपर 'कहउँ' या 'करउँ' ऐसा भी कहीं होता तो कदाचित् उपक्रमकी कल्पना की जा सकती थी। इसी प्रकार अन्तमें 'सिव अज सुक · ·' इस चौपाईपर न तो उपसहार है और न वह चौपाई असङ्गत ही है। क्योंकि यहाँ मानसरोवरकी ओपधिका वर्णन करते हुए अपने कथनको बड़े-बड़े महात्माओंकी सम्मति बताते हैं। उपसहार तो इसको कई अर्धालियोंके पश्चात् 'कहेउ नाथ हरिचरित अनूपा' से प्रारम्भ होता है। पञ्चायतके सम्बन्धमें उत्तरकाण्डमें ही लिखा जायगा। यहाँ केवल इतना कहना है कि 'पचायती' प्रसङ्ग नहीं कहा जा सकता।

> जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥ ७ ॥
> ता के जुग पद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—अतिसय=अत्यन्त, बेहद। अतिसय प्रिय=प्रियतमा। मनावौं=मनाता हूँ। किसी कार्यके हो जानेके लिये वन्दना, स्तुति या प्रार्थना करना 'मनाना' कहलाता है, यथा—'मनही मन मनाव अकुलानी। होउ प्रसन्न महेस भवानी। १। २५७।', 'हृदय मनाव भोरु जनि होई। रामहि जाइ कहै जनि कोई ॥ २। २७।' करुनानिधान (करुणा-निधान)=करुणाका सागर या खजाना=करुणासे परिपूर्ण हृदयवाला। म० सो० ४ देखिये।

अर्थ—श्रीजनकमहाराजकी पुत्री, जगत्की माता, करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजीकी (जो) अतिशय प्रिया श्रीजानकीजी (हैं) ॥ ७ ॥ उनके दोनों चरणकमलोंको मैं मनाता हूँ, जिनकी कृपासे मैं निर्मल बुद्धि पाऊँ ॥ ८ ॥

नोट—१ 'जनकसुता जगजननि · ·' इति। इतने विशेषण देकर अम्बा श्रीजानकीजीकी वन्दना करनेके भाव—(क) उत्तमता या श्रेष्ठता चार प्रकारसे देखी जाती है। अर्थात् जन्मस्थान, सग, स्वभाव और तनसे। 'जनकसुता' से जन्मस्थान, 'जगजननि' से स्वभाव और तन, तथा 'अतिसय प्रिय करुनानिधान' से सङ्गकी श्रेष्ठता दिखायी। (प०

रामकुमार)। श्रीजनकमहाराजकी श्रेष्ठता तो प्रसिद्ध ही है कि जिनके पास बड़े-बड़े विज्ञानी मुनि परमहंस ज्ञानकी दीक्षाके लिये आते थे। यथा—'जासु ज्ञानरबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥ २। २७७।', 'ज्ञाननिधान सुजान सुचि धरमधीर नरपाल।' (२। २९१ वशिष्ठवाक्य)। साधारण माताएँ किस प्रेमसे बच्चोंका पालन-पोषण करती हैं और जो जगत्‌मात्रकी माता है, अर्थात् जो ब्रह्मादि देवताओं, ऋषियों, मुनियों आदि श्रेष्ठ गुरुजनों-की जननी है, उसके दयालु-स्वभाव और अतुलित छविका वर्णन कौन कर सकता है? 'जगजननि' यथा—'आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला। जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥ १। १४८।', 'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥ जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत। ७। २४।', करुणानिधान श्रीरामजीका सतत संग। इससे बढ़कर उत्तम संग और किसका हो सकता है कि जो अखिल ब्रह्माण्डोंका एकमात्र स्वामी है, और 'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।' उनका प्रेम आपपर कैसा है यह उन्हींके वचनोंमें सुनिये और समझिये। 'तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥ सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥ ५। १५।' वा, (ख) इन विशेषणोंसे माता-पिताके कुल, पतिके कुल और पतिकी श्रेष्ठता दिखायी। अयोध्याकाण्डमें श्रीनिषादराजने तथा श्रीभरतजीने भी इसी प्रकार आपकी श्रेष्ठता कही है। यथा—'पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥ रामचंद्र पति सो बैदेही।' (२। ९१ निषादवाक्य), 'पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोगु जोगु जग जेही॥ ससुर भानुकुल भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावति पालू॥ प्राननाथ रघुनाथ गोसाईं। जो बड़ होत सो राम बड़ाई॥ पतिदेवता सुतीयमनि सीय…' ॥ २। २९९।' (ग) सत्योपाख्यान तथा अद्भुत रामायणसे एवं उन बहुत-से प्रमाणोंसे जो 'सीता' शब्दपर म० श्लो० ५ में दिये गये हैं, स्पष्ट है कि श्रीजानकीजीकी उत्पत्ति हल चलानेपर पृथ्वीसे हुई, श्रीजनकजीसे उनकी उत्पत्ति नहीं हुई। अतएव 'जनकसुता' शब्दसे जनाया कि श्रीजनकजीके हेतु आपने सुता-सम्बन्ध स्वीकार किया, उनकी 'दृष्टिमें सुताभावको सिद्ध किया' और वस्तुतः हैं तो वे जगत्‌मात्रकी माता। जगत्‌का पालन-पोषण करती हैं तो भी कभी श्रीसाकेत-बिहारीजीसे पृथक् नहीं होतीं, साकेत नित्य निकुञ्जमें महारासेश्वरी ही बनी रहीं। (सन्त श्रीगुरुसहायलालजी। मा० त० वि०)। (घ) 'जनकसुता' से उदारता, 'जगजननि' से ग्रन्थकारने अपना सम्बन्ध और 'अतिसय ' से अतिशय करुणायुक्ता जनाया। (रा० प्र०)। (ङ) 'जनकसुता' से माधुर्य 'जगजननि' से ऐश्वर्य और 'अतिसय ' से पतिव्रताशिरोमणि जनाया। (च) 'जनकसुता' 'जगजननि' और 'अतिसय ' में अतिव्याप्ति है। अर्थात् इन शब्दों-को पृथक्-पृथक् लेनेसे और भी ऐसे हैं जिनमें ये विशेषण घटित होते हैं। जनक संज्ञा मिथिलाके सब राजवंशियोंकी है। इस प्रकार श्रीउर्मिलाजी, श्रीमाण्डवीजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी तथा श्रीसीताजी चारों 'जनकसुता' हैं। अतएव इस शब्दसे शंका होती कि न जाने किसकी वन्दना करते हैं। इससे 'जगजननि' कहा। पर जगजननी भी और हैं। यथा—'जगतजननि दामिनि दुति गाता। १। २३५।' 'अतिसय प्रिय · ' भी और हैं। यथा—'नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥ ३। ३६।' जब इन तीनोंको साथ लेंगे तब श्रीसीताजीको छोड़ और कोई नहीं समझा जा सकता। 'जानकी' नाम देकर अन्य बहिनोंसे इनको पृथक् किया। (छ) बैजनाथजी एवं हरिहरप्रसादजी 'जगजननि जानकी' का अर्थ ऐसा भी करते हैं, 'जगत्‌की जननी एवं जान (जीवों) की जननी।' इस प्रकार श्रीरघुनाथजीसे अभेद सूचित किया, क्योंकि रघुनाथजी भी 'प्रान प्रान के जीवन जी के' हैं। अर्थात् आह्लादिनी आदिशक्ति। पंजाबीजी 'जनकसुता' और 'जानकी' में पुनरुक्ति समझकर 'जानकी' का अर्थ 'ज्ञान की' (जननी) करते हैं। (ज) 'जनकसुता' आदिसे क्रमशः श्रीउर्मिलाजी, श्रीमाण्डवीजी, श्रीश्रुतिकीर्तिजी और श्रीसीताजीकी वन्दना की है। (मा० म०)। विशेष अन्तिम नोटमें देखिये। ['जनकसुता' 'जगजननि', 'अतिसय प्रिय करुनानिधानकी' ये श्रीजानकीके विशेषण हैं, अतः जनकसुता और जानकीमें पुनरुक्ति नहीं है। ☞स्मरण रहे कि विशिष्टवाचक (अर्थात् जिनमें विशेष गुणधर्म कहा गया हो उन) पदोंका, उसी अर्थका बोधक विशेषण साथ रहनेपर, सामान्य विशेष्य ही अर्थ समझा जाता है। यथा—'विशिष्टवाचकानां पदानां सति पृथग्विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यमात्रपरत्वम्' (मुक्तावली दिनकरी टीकासे)। यहाँ 'जनकसुता' और 'जानकी' का अर्थ एक 'जनकपुत्री'

होनेसे 'जानकी' विशेष्यका अर्थ 'जनककी लड़की' नहीं किया जायगा, किंतु 'जानकी नामवाली' ऐसा अर्थ होगा। 'जानकी' नाम है। अतः पुनरुक्ति नहीं है।]

नोट—२ वे० भू० पं० रा० कु० दासजी—श्रीरामजीने तो जनरक्षणमें वेदकी मर्यादाको भी एक तरफ रख दिया। निजधामयात्राके समय परम आनन्दोल्लासके साथ समस्त परिजन-पुरजन ही नहीं वरन् कीटपतङ्गादिकको साथ ले जाना अन्य किस अवतारमें हुआ? परंतु वास्तवमें देखा जाय तो कृपालुता और वात्सल्यमें श्रीरामजी माता श्रीजानकीजीसे पीछे पड़ जाते हैं। श्रीजानकीजीके द्वारा जीवोंपर होनेवाले उपकार अपरिमित और अनन्त हैं, तभी गोस्वामीजी आपको 'जगजननि' कहते हैं। आप कृपालुताकी तो मूर्ति ही हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि पिताके हृदयमें पुत्रके प्रति हितकरत्व गुणकी विशेषता रहती है और माताके हृदयमें प्रियकरत्व गुणकी। पिता पुत्रके हितार्थ दण्डकी व्यवस्था करता है। परंतु माता तो सर्वदा पुत्रके प्रिय कर्ममें ही लगी रहती है, उसके हृदयमें सदा प्रियकरत्व गुण ही उज्जीवित होता रहता है। जब कभी पिता सन्तानको शिक्षणके लिये दण्ड देना चाहता है तब पुत्र यदि छिपा चाहे तो माता उसे अपने अञ्चलमें छिपा लेती है और फिर नाना युक्तियोंसे पतिको समझा-बुझा अपराध क्षमा कराकर पुत्रको दण्डसे बचा लेती है। इसी प्रकार अनेकों अपराध करनेवाले जीवोंका भविष्य उज्ज्वल करनेकी इच्छासे दण्डित करनेके लिये जब अपने ऐश्वर्यका स्मरण करके भगवान् यह निर्णय करते हैं कि 'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥' (गीता १६। १९। अर्थात् उन क्रूर दुष्ट द्वेषियोंको मैं संसारकी आसुरी योनियोंमें डाल देता हूँ') उस समय उक्त अपराधी जीवोंमेंसे माताके अञ्चलमें छिपनेकी इच्छा रखनेवाले पुत्र (शरणागत जीव) की रक्षाके लिये आप भगवान्से प्रार्थना करती हैं। परंतु जब भगवान् ऐसा उत्तर दे देते हैं कि 'न क्षमामि कदाचन' मैं कदापि नहीं क्षमा करूँगा तब वात्सल्यवाली मीठे-मीठे शब्दोंमें उनकी सिफारिश करती हैं। कहती हैं कि यदि आप इस जीवपर शरणागत होनेपर कृपा न करेंगे और दण्ड ही देंगे तो आपके क्षमा, दया आदि दिव्य गुणोंपर पानी फिरते कितनी देर लगेगी? अतः इसपर कृपा करनेमें ही आपके दिव्यगुणोंकी रक्षा है। इस प्रकार दिव्य गुणोंका स्मरण कराकर और भगवान्को माधुर्यकी ओर आकर्षित तथा जीवमात्रको निष्पाप बनाकर एवं अन्य भी उपायोंद्वारा जीवको दण्डसे बचा लेती हैं और उसे दिव्य आनन्दका भोक्ता बना देती हैं। इसी तत्त्वको श्रीगुणरत्नकोशकारने अपनी सजीव भाषामें इस तरह वर्णन किया है 'पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जने, हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित्कलुषधीः। किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितैरुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥' यह तो हुआ आपके अहर्निश जीवोंके कल्याण करते रहनेके 'जगज्जननीत्व' कर्मका दिग्दर्शनमात्र। श्रीजगज्जननीजीके इस शरणागतरक्षकत्वका क्रियात्मक प्रौढ़ रूपमें उदाहरण श्रीजनकसुता जानकीरूप ही पाया जाता है, अन्य रूपोंमें नहीं। देखिये, जयन्त 'सीता चरन चोंच हति भागा।' फिर भगवान्के पूछनेपर कि 'कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना' आपने इस विचारसे न बताया कि उसको दण्ड मिलेगा। शरण आनेपर भी वह प्रभुके आगे जब गिरा तब पैर उसके प्रभुकी ओर पड़े। इससे पहले ही कि प्रभु उसकी बेअदबी (अशिष्टता) को देखें उसके प्राण बचानेके लिये 'तस्य प्राणपरीप्सया' स्वयं उसके सिरको उठाकर प्रभुके चरणोंपर डालकर उसकी सिफारिश की कि यह शरणमें आया है इसकी रक्षा कीजिये। यथा—'तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी। प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्॥ त्राहि त्राहीति भर्तारमुवाच दयया विभुम्॥ तमुत्थाप्य करेणाथ कृपापीयूष-सागरः। ररक्ष रामो गुणवान् वायसं दययैक्षत॥' पुनः जैसे कुएँमें बच्चेके गिरनेपर माता उसे निकालनेके लिये स्वयं कूद पड़ती है उसी तरह जगज्जननीने देवाङ्गनाओंसहित देवताओंको रावणबंदीगृहमें पड़े देख उनको निकालनेके लिये स्वयं भी बन्दिनी होना स्वीकार किया और जबतक रावणका नाश कराकर उनको छुड़ा न दिया तबतक (हनुमान्जी-के साथ भी) लौटना स्वीकार न किया (वाल्मीकीयसे स्पष्ट है)। जिन राक्षसियोंने आपको रावणवधके समयतक अपार सताया उनकी भी (बिना उनके शरणमें आये स्वयं) हनुमान्जीसे रक्षा की। इसमें तो आपकी कृपा श्रीराम-जीसे बढ़कर कही गयी है। श्रीगुणरत्नकोशकारने क्या खूब कहा है। 'मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता। काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः। सा नः सान्द्रमहागस

सुखयतु शान्तिस्तवाकस्मिकी ॥' [सुन्दरकाण्ड और विनयपीयूषमें विस्तृत लेख दिया जा चुका है।] जगज्जननित्वका उदाहरण और कहाँ मिल सकता है ?

नोट—३ 'अतिसय प्रिय करुनानिधान की' इति। प्रोफेसर दीनजी लिखते हैं कि 'सत्सङ्गमें सतोंसे सुना है कि श्रीजानकीजी श्रीरामजीको 'करुणानिधान' नामसे ही सम्बोधन किया करती थीं, जैसे अब भी स्त्रियाँ अपने पतिको किसी खास नामसे पुकारती हैं। इसका प्रमाण सुन्दरकाण्डमें मिलता है। श्रीहनुमान्‌जी अनेक प्रकारसे अपना रामदूत होना प्रमाणित करते हैं, पर सीताजी विश्वास नहीं करतीं। श्रीरामजीके बतलानेके अनुसार जब हनुमान्‌जी कहते हैं कि 'सत्य सपथ करुनानिधानकी', तब वे झट उनपर विश्वास करके उन्हें रामदूत मान लेती हैं। आगे महात्मालोग जानें। श्रीरूपकलाजी भी यही कहते थे।

४ 'युगपद' मनानेका एक भाव यह है कि—(क) जैसे बालक माँके दोनों पैर पकड़कर अड़ जाता है, माँको टलने नहीं देता, वैसे ही मैं अड़ा हूँ जिससे मुझे निर्मल मति मिले। यथा—'हौं माचल लेइ छाँडिहौं जेहि लागि अर्‍यो हौं' (विनय० २६७)। पुन (ख) प्रोफे० दीनजीका मत है कि 'पद मनावों' कहनेसे ही काम चल जाता। 'जुग पद' कहनेका विशेष भाव यह है कि श्रीरामजीका पूर्ण ऐश्वर्य और माधुर्य जतानेकी अधिकारिणी श्रीजानकीजी ही हैं। यह ऐश्वर्य और माधुर्य श्रीरामजीके ४८ चरणचिह्नोंके ध्यानसे जाना जा सकता है। वही ४८ चिह्न श्रीजानकीजीके चरणोंमें भी है। माताके चरणदर्शनका मौका बालकको अधिक मिलता है। अत गोस्वामीजी माताजीके युगचरण मनाकर ही अपनी बुद्धि निर्मल करके श्रीरामजीका पूर्ण प्रभाव जाननेकी इच्छा करते है। अत 'युग पद' कहा। बिना दोनों पदोंके ध्यानके पूर्ण ऐश्वर्यका ज्ञान न हो सकेगा, अत—'युग' शब्द रखना यहाँ अत्यन्त आवश्यक था।

५ 'जासु कृपा निर्मल मति पावौं' इति। इससे जनाया कि जिन-जिनकी अबतक वन्दना करते आये वे श्रीरामजीके चरितके विशेष मर्मज्ञ नहीं है और श्रीरामवल्लभाजी रहस्यकी विशेष मर्मज्ञा हैं, क्योंकि वस्तुत तत्त्वत श्रीराम-जानकी दोनों एक ही हैं, दो नहीं, जैसा आगे कहते है अत इनसे 'निर्मल बुद्धि' माँगते है। पुन, श्रीरामचरित विशद है, अतः उनका कथन बिना निर्मल मतिके हो नहीं सकता। यथा—'सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति बल अति थोरि। १। १४।' औरोंसे भी मति माँगी, परतु मिली नहीं, अत अब इनसे माँगते है। इससे वह बुद्धि मिल भी गयी, इसीसे अब चरित प्रारम्भ करेंगे।

६ 'बन्दे चारिउ भाइ, अन्त राम केहि हेतु भज ? भगिनी चारि न गाइ, जो गाए तो अन्त किम् ?' प० घनश्याम त्रिवेदीजी यह शङ्काएँ करके स्वय ही यह उत्तर देते हैं—(१) श्रीसीतारामार्चामें पहले सब परिवारकी पूजा होती है। इसीके अनुसार यहाँ भी वन्दना की गयी है। इनके पीछे केवल नामवन्दना है जिसका भाव यह है कि और सबके पूजनका फल श्रीसीतारामजीकी प्राप्ति है जिसका फल श्रीसीतारामनाममें प्रेम होना है। पुन, (२) श्रीसीतारामजीको एक साथ रखना आवश्यक था। यदि सब भाइयोंको साथ रखते तो इन दोनोंका साथ छूट जाता। पुन, (३) लोकरीति भी यही है कि राजाके पास एका-एकी कोई नहीं पहुँचता, पहले औरोंका वसीला उठाना पड़ता है। अतएव इनकी वन्दना अन्तमें की गयी।

दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि—(१) लोकरीतिमें बड़ेके सामने बहूका नाम नहीं लेते हैं। इसीसे तीन बहिनोंके नाम प्रकटरूपसे नहीं दिये। (२) सकेतसे 'जनकसुता' 'जगजननी' 'जानकी' और 'अतिसय प्रिय करुनानिधान की' ये चार विशेषण देकर चारों बहिनों अर्थात् क्रमसे श्रीउर्मिलाजी, श्रीमाण्डवीजी, श्रीश्रुतिकीर्तिजी और श्रीसीताजीकी वन्दना सूचित कर दी। मा० अ० दीपकमें अन्तिम भाव इन शब्दोंमें दिया हुआ है—'जनकसुता जगजननि महँ जानकि लालक राम। यह संदर्भ विचार बिनु लहत न मन सुख धाम ॥ ३० ॥' श्रीभरतजीके सम्बन्धमें कहा है कि 'बिस्वभरन पोषन कर जोई' इसी भावको लेकर 'जगजननि' से श्रीमाण्डवीजीको लेते हैं। मयङ्ककार कहते हैं कि मिथिलाराजवंशियोंकी 'जनक' सज्ञा है और 'जानकी' का अर्थ भी है जनक-

पुत्री। भरतजीका व्याह माण्डवीजीसे हुआ और शत्रुघ्नजीका श्रुतिकीर्तिजीसे अतः जगजननिसे जब माण्डवीजीका ग्रहण हुआ तो 'जानकी' से श्रीश्रुतिकीर्तिजीका ग्रहण हुआ। जनक (शीरध्वज) राजा बड़े भाई हैं और श्रीउर्मिलाजी उनकी पुत्री हैं, अत 'जनकसुता' से राजा जनककी पुत्री उर्मिलाजीका ग्रहण हुआ।

नोट—मेरी समझमें यहाँ केवल श्रीसीताजीकी वन्दना है। बहनोंकी वन्दना क्लिष्ट कल्पना है। 'ताके' एकवचन है न कि बहुवचन। 'जासु' भी एकवचन है।

प्रथम संस्करणके मेरे इस नोटपर श्रीजानकीशरणजीने मानसमार्तण्डमें लिखा है कि "परतु क्या जहाँ उस आनन्दमय महोत्सव, जहाँ सब नर तथा नारि उपस्थित हैं, तहाँ ये तीनों बहुएँ न हों, यह परमाश्चर्य अवश्य है। हाँ! परदेके अदर विराजमान हैं। तहाँ गोस्वामीजी इन तीनों देवियोंको प्रणाम करनेमें चूकें ! इसी कारण श्रीसीतामहारानीकी वन्दनामें सकेतसे चार विशेषण देकर चारोंकी वन्दना सूचित कर दिये हैं। केवल एकवचन और बहुवचनके झगड़ेमें पड़कर भावपर ध्यान नहीं देना भावुकतासे बाहर है। मानसमें एक नहीं, अनेक स्थानोंमें व्याकरण आदिकी गलतियाँ हैं जिनको यह कहकर समाधान कर दिया है कि 'आर्षकाव्यमें इसका दोष नहीं देखा जाता। यहाँ क्यों नहीं उसी प्रकारका समाधान मानकर परमोत्तम सिद्धान्त तथा रहस्यपूरित भावको जानकर प्रसन्न होते ? ..."

नोट—यही शका मानसमणि ३ आलोक ३ में एक जिज्ञासुने की थी। उसका उत्तर वेदान्तभूषणजीने दिया है। वह हम यहाँ उद्धृत करते हैं। 'श्रीगोस्वामीजीने वैसे तो समष्टिरूपसे एव वर्गीकरण करके भी सभी चराचरमात्रकी वन्दना मानसमें की है, परन्तु अलग-अलग नाम लेकर तो उन्हीं व्यक्तियोंकी वन्दना की है जिन्होंने श्रीरामजीके चरित्रोंमें कुछ भी, किसी तरहका भी भाग लिया है। व्यास, शुक, सनकादि नारदादि किंवा विधि, विनायक, हर, गौरी, सरस्वती आदि श्रीरामचरित्रके पात्र ही हैं, उनके बिना तो रामचरित्र ही अधूरा रह जाता है। और श्रीमाण्डवी, उर्मिला तथा श्रुतिकीर्तिजी-का किसी प्रकारका भी सहयोग श्रीरामचरित्रमें नहीं है। केवल श्रीरामचरित्रके विशेष-विशेष पात्र भरतादिके साथ विवाह होनेके कारण विवाहके समय उनका नाम एक बार मानसमें आ गया है (यही क्या कम है ?)। गोस्वामीजीकी ही लेखनीसे लिखा गया है कि 'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें ॥' अत श्रीरामजीकी लीलामें कुछ भी सहयोग न होनेसे गोस्वामीजीने उनका नाम लेकर स्वतन्त्र रूपसे उनकी वन्दना नहीं की। इस तथ्यका विचार किये बिना ही पण्डितम्मन्य लोग गोस्वामीजीपर तथा अन्य श्रीरामचरित्रके कवियोंपर श्रीउर्मिलादिकी उपेक्षाका दोष लगाया करते हैं।

कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि 'श्रीशत्रुघ्नजीकी वन्दना उनका नाम लेकर क्यों की, जब उनका मानसभरमें बोलना तक नहीं लिखा है'' ठीक है, परम सुशील श्रीशत्रुघ्नजीका बोलना श्रीरामचरितमानसभरमें नहीं लिखा है, परन्तु 'जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भयउ उछाहा ॥' के अतिरिक्त रामचरित्रमें रामसेवामें आपका पूर्ण सहयोग रहा है। देखिये, जब पता चला कि 'रामराज्य बाधक भइ मूढ़ मथरा चेरि' तब उसे देखते ही आपने दण्ड देना शुरू किया—'हुमकि लात तकि कूबर मारा', 'लगे घसीटन धरि धरि झोंटी'। चित्रकूटके मार्गमें भरतजीने 'भाइहि सौंपि मातु सेवकाई'। स्वय श्रीरामजीने ही चित्रकूटमें 'सिय समीप राखे रिपुदवनू'। फिर श्रीसीतारामजीके सिंहासनारूढ होनेपर श्रीशत्रुघ्नजी व्यजन लिये सेवामें प्रस्तुत थे और सतत काल 'सेवहिं सानुकूल सब भाई'। अत श्रीशत्रुघ्नजीका सहयोग श्रीरामचरितमें पूर्णरूपेण है। इसीलिये उनका नाम लेकर स्वतन्त्र वन्दना की है। हाँ, वह सहयोग सर्वत्र मौनरूपसे ही है, बोलते हुए नहीं है। इसीसे एक ही पक्तिमें इनकी वन्दना है।

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक ॥ ९ ॥
राजिवनयन धरें धनु सायक। भगत बिपतिभंजन सुखदायक ॥१०॥

अर्थ—अब मैं फिर मन-वचन-कर्मसे कमलनयन, धनुषबाणधारी, भक्तोंके दुःखके नाशक और सुखके देनेवाले श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जो सब योग्य हैं, सर्वसमर्थ हैं ॥ ९-१० ॥

नोट—१ 'पुनि मन बचन कर्म' इति। (क) 'पुनि' अर्थात् श्रीजानकीजीकी वन्दनाके पश्चात् अब। अथवा, एक बार पूर्व मङ्गलाचरणमें वन्दना कर चुके हैं—'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।' अब फिर करता हूँ। (ख) मन-वचन-कर्म तीनोंसे वन्दना करना यह कि मनसे रूपका ध्यान, वचनसे नाम-यश-कीर्तन और कर्म (तन) से, सेवा, पूजा, दण्डवत्-प्रणाम, परिक्रमा आदि करते हुए इस तरह तीनोंको प्रभुमें लगाये हुए। चरणोंका ध्यान, चिह्नोंका चिन्तन, उसका महत्त्व गाते हुए, हाथोंसे मानसी सेवा करते हुए।

२ 'सब लायक' इति। अर्थात् (क) सब मनोरथों और अर्थ-धर्मादि समस्त पदार्थों और फलोंके देनेवाले हैं। यथा—'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे। १। १४६।' 'करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं। १। ३२४।' (ख) इनके स्मरणसे मन निर्मल हो जाता है, जीव परमपदको भी प्राप्त होता है। यथा—'जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं।', 'जे परसि मुनिबनिता लही गति रही जो पातकमई। १। ३२४।', 'परसि चरनरज अचर सुखारी। भए परमपद के अधिकारी। २। १३६।' (ग) दीन गरीब केवट-कोल भील आदिसे लेकर विधि-हरि-हर ऐसे समर्थोंके भी सेवने योग्य हैं। यथा—'जासु चरन अज सिव अनुरागी। ७। १०६।', 'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बंदित पद रेनू॥ सेवत सुलभ सकल सुखदायक। १। १४६।', 'बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन। २। १३६।' (घ) सर्वसमर्थ हैं, आपके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। यथा—'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें। ३। ४२।', 'मोरे नहिं अदेय कछु तोही। १। १४९।' (ङ) सकल योग्यताके आधारभूत हैं, श्रीगणेशादि समस्त देवोंकी योग्यताके सम्पादक हैं (रा० प्र०)।

३ 'राजिवनयन धरें धनु सायक।...' इति। (क) प्रोफे० लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि इसमें 'राजिव' शब्द बड़ा मजा दे रहा है। कमलवाची अन्य शब्द रखनेसे वह मजा न रहता। 'राजीव' लाल कमलको कहते हैं। भक्तकी विपत्ति भजन करते समय जब धनु-सायकसे काम लिया जायगा तब आरक्त नेत्र ही शोभाप्रद होंगे। वीरता, उदारताके समय लाल नेत्र और शृङ्गारमें नीलोपम नेत्र तथा शान्तरसमें पुण्डरीकाक्ष कहना साहित्यकी शोभा है। 'राजिवनयन' का प्रयोग प्रायः ऐसे ही स्थानोंमें किया गया है जहाँ दुखियोंके दुःखनिवारणका प्रसङ्ग है। यथा—'राजीवबिलोचन भवभय मोचन पाहि पाहि सरनहि आई॥ १। २११।', 'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिवनयना। ५। ३२।', 'अब सुनहु दीनदयाल। राजीव नयन बिसाल। ६। ११२।' इत्यादि। (ख) कमलमें कोमलता, शीतलता, सुगन्ध आदि गुण होते हैं, वैसे ही श्रीरामनयनकमलमें उसी क्रमसे दयालुता, शान्त (क्रोध न होना), सुशीलता (शरणागतके पापोंपर दृष्टि न डालना) इत्यादि श्रेष्ठ गुण हैं। (ग) बैजनाथजी कहते हैं कि 'राजीव' से तेजोमय, कोटिसूर्य प्रकाशयुक्त और जगपालक गुण सूचित किये हैं। (घ) 'धरें धनुसायक' इति। भगवान् श्रीरामका ध्यान सदैव धनुर्बाणयुक्त ही करनेका आदेश है। यथा—"अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यगे। स्मरेत्कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनं शुभम्॥ १०॥ तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं नानारत्नैश्च वेष्टितम्। स्मरेन्मध्ये दाशरथिं...। कौशल्यानन्दनं रामं धनुर्बाणधरं हरिम्॥ २१॥ एवं सञ्चिन्तयेत्...॥ २२॥' (श्रीरामस्तवराजस्तोत्र), 'ध्यायेत्कल्पतरोर्मूले॥ १०॥ कौसल्यातनयं रामं धनुर्बाणधरं हरिम्॥ २२॥... ध्यायेदाजानुबाहुं धृतशरधनुषं बद्धपद्मासनस्थम्॥ ३१॥' (आ० रा० राज्यकाण्ड-सर्ग १)। इससे जनाया कि श्रीरामजी भक्तोंकी रक्षामें इतने सावधान रहते हैं कि हरदम धनुर्बाण लिये रहते हैं जिसमें रक्षाके समय शस्त्रास्त्र ढूँढना न पड़े जिससे विलम्ब हो। श्रीअग्रस्वामीने इसी भावसे लिखा है कि 'धनुष बाण धारे रहैं, सदा भगत के काज। अग्रसु एते जानियत राम गरीब निवाज॥ १॥ धनुष बाण धारे लखत दीनहि होत उछाह। टेढ़े सूधे सबनि को है हरि नाथ निबाह॥ २॥' अर्थात् सरल एवं कुटिल सभी जीवोंका निर्वाह प्रभुकी शरणमें हो जाता है। (वै० भू०)। (ङ) 'भगत बिपति भंजन सुखदायक' इति। विपत्तिके नाश होनेपर सुख होता है, अतः विपति-भंजन कहकर सुखदायक कहा। अथवा, आर्त्त भक्तोंकी विपत्ति हरते हैं और साधक तथा ज्ञानी भक्तोंको सुख देते हैं, अर्थात् उनके हृदयमें आनन्द भर देते हैं (वै०)।

दो०—गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीतारामपद जिन्हहि परमप्रिय खिन्न ॥ १८ ॥

अर्थ—मैं श्रीसीतारामजीके चरणोंकी वन्दना करता हूँ जो वाणी और उसके अर्थ तथा जल और उसकी लहरके समान कहनेमें भिन्न हैं (पर वस्तुतः) भिन्न नहीं हैं और जिन्हें दीन अत्यन्त प्रिय हैं ॥ १८ ॥

नोट—यहाँपर 'गिरा' से मध्यमा और वैखरी वाणीका ग्रहण है तथा अर्थसे बौद्ध (अर्थात् बुद्धिस्थ) और बाह्य अर्थोंका ग्रहण है। इन दोनोंका परस्पर वाचक-वाच्य-सम्बन्ध है। जिस शब्दसे जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह शब्द उस पदार्थका वाचक कहा जाता है। तथा जिस अर्थका ज्ञान होता है, वह वाच्य कहा जाता है। यथा, घटसे घड़ेका (अर्थात् मिट्टी, ताँबा, पीतल आदिका बना हुआ होता है जिसमें जल आदि भरते हैं उस पदार्थका) ज्ञान होता है। अतः 'घट' शब्द वाचक है और घड़ा (व्यक्ति) वाच्य है। इस वाणी और अर्थमें भेदाभेद माना जाता है। शब्द और अर्थमें भेद मानकर 'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगसूत्र १। २७) अर्थात् ईश्वरवाचक प्रणव (ओंकार) है। 'रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द-विग्रहम् ॥' (वसिष्ठसंहिता) अर्थात् श्रीरामजीका नाम, रूप, लीला और धाम नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह हैं इत्यादि व्यवहार शास्त्रोंमें किया गया है। यहाँपर ईश्वर (अर्थ) का वाचक ओंकार (शब्द) कहा गया है, इससे ईश्वर और ओंकार शब्दोंमें भेद स्पष्ट है। ऐसे ही दूसरे उदाहरणमें श्रीरामजी और उनके नाममें भी भेद स्पष्ट है।

एवं शब्दार्थमें अभेद मानकर ही 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्' (गीता ८। १३) अर्थात् ओम् इस एकाक्षर ब्रह्मको कहते हुए, तथा 'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः' अर्थात् राम (इत्याकारक) जो द्व्यक्षर नाम है वह परशुरामजीका मान भंग करनेवाला है, इत्यादि व्यवहार शास्त्रोंमें किया गया है। यहाँपर (उपर्युक्त प्रथम उदाहरण 'ओमित्येकाक्षर' में) (शब्द) और ब्रह्म (अर्थ) में अभेद माना गया है, क्योंकि ब्रह्मरूप अर्थका उच्चारण नहीं होता, परंतु यहाँ ब्रह्मका उच्चारण कहा गया है। अतः दोनोंमें अभेद सिद्ध हुआ। इसी प्रकार (उपर्युक्त दूसरे उदाहरणमें) परशुरामजीका मान भंग करनेवाले श्रीरामजी हैं, न कि उनका नाम, परंतु दोनोंमें अभेद मानकर ही नामको परशुरामजीका मान भंग करनेवाला कहा गया है। लोकमें भी शब्दार्थका तादात्म्य मानकर ही—'श्लोकमश्रौषीत् अर्थं शृणोतु इति अर्थं वदति' अर्थात् इसने श्लोक सुना, अब यह अर्थको सुने, अतः अर्थको कहता है—इत्यादि वाक्योंके प्रयोग किये जाते हैं। यहाँपर अर्थको सुनने और कहनेका प्रतिपादन किया गया है, परंतु सुनना और कहना शब्दका ही होता है, न कि अर्थका। अतः कहना पड़ता है कि शब्द और अर्थमें अभेद मानकर ही लोकमें ऐसा व्यवहार प्रचलित है। इन पूर्वोक्त प्रमाणोंसे शब्द और अर्थमें अभेद अर्थात् तादात्म्य सिद्ध होता है।

अब यह शंका होती है कि "यदि शब्द और अर्थमें तादात्म्य है तो 'मधु' शब्दके उच्चारणसे मुखमें माधुर्यास्वाद तथा अग्नि शब्दके उच्चारणसे मुखमें दाह क्यों नहीं होता?" उसका एक उत्तर यह है कि 'तादात्म्य' शब्दका अर्थ 'भेदसहिष्णु अभेद' होता है (जिसको गोस्वामीजीने 'कहियत भिन्न न भिन्न' शब्दसे कहा है), क्योंकि तादात्म्यकी परिभाषा 'तदभिन्नत्वे सति तद्भिन्नत्वेन प्रतीयमानत्वं तादात्म्यम्' की गयी है। अर्थात् उससे अभिन्न होते

१ देखियत—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। कहियत—१६६१, १७०४। श्रीनंगेपरमहंसजी 'देखिअत' पाठको शुद्ध मानते हैं। वे कहते हैं कि "रूप देखनेमें आता है न कि कहनेमें। नेत्रका विषय रूप है, बुद्धिका विषय विचार है। नेत्र तो रूप करके भिन्न देखता है किंतु बुद्धि उसको विचारशक्तिसे एक करती है। इसलिये देखनेमें भिन्न है।…'कहना' वाणीका विषय है। वाणी बुद्धिके अधीन है। जो बुद्धि विचारसे निश्चय करेगी वही वाणी कहेगी।…जब बुद्धिने भिन्न नहीं किया, तब वाणी भिन्न कैसे कह सकती है।"

हुए भिन्न प्रतीत होना तादात्म्य है। अतः 'तादात्म्य' और 'भेदाभेद' एक तरहसे पर्याय कहे जाते हैं। एवं शब्द और अर्थमें भेद होनेसे मधु और अग्नि शब्दोंके उच्चारणसे मुखमें माधुर्यास्वाद और दाह नहीं होती। वस्तुतः बुद्धिसत्तासमाविष्ट जो बौद्ध अर्थ है, वही शब्दोंका मुख्य वाच्य है। बौद्ध अर्थमें दाहादि शक्ति नहीं होती है। अतः माधुर्यास्वाद और दाहादि नहीं होते। इसको लघुमंजूषामें नागेशभट्टने भी कहा है। यथा—'पूर्वं शब्दस्योऽर्थोऽपि बुद्धिसत्तासमाविष्ट एव, न तु बाह्यसत्ताविष्ट। घट इत्यत एव सत्तावगमेन घटोऽस्तीति प्रयोगे गतार्थत्वादस्तीति प्रयोगानापत्ते। सत्तयाविरोधात् घटो नास्तीत्यस्यानापत्तेश्च। मम तु बुद्धिमतो बाह्यसत्त तदभावबोधनाय अस्ति, नास्तीति प्रयोग। एवं बौद्धपदार्थसत्ता आवश्यकी। तत्र बौद्धे अर्थे न दाहादिशक्तिरिति। जिस प्रकार मल्ल्यमादिसे अभिव्यक्त बुद्धिमें प्रतिमा समान ही शब्द (स्फोट) वाचक कहलाता है, उसी प्रकार बौद्ध ही अर्थ 'वाच्य' होता है।* अर्थात् बाह्यसत्तायुक्त जो घटादि हम लोगोंके दृष्टिगोचर होता है वह मुख्य वाच्य नहीं है। इसमें युक्ति यह है कि यदि बाह्यसत्तायुक्त घट ही वाच्य कहा जाय तो 'घटोऽस्ति' ऐसा जो प्रयोग बोला जाता है, उसमें 'अस्ति' शब्दका प्रयोग नहीं होना चाहिये, क्योंकि 'घट' इस (इतना कहने) से ही बाह्यसत्तायुक्त घटका बोध हो गया। किं च अब घटो नास्ति ऐसा प्रयोग भी प्रामाणिक नहीं होगा, क्योंकि घट शब्दसे बाह्यसत्तायुक्तका और 'नास्ति' से सत्ताभावका बोध, परस्पर विरुद्ध होनेके कारण नहीं होगा। बौद्धार्थको जो वाच्य मानते हैं, उनके मतमें यह दोष नहीं होता, क्योंकि बुद्धिमें भासमान घटकी सत्ता रहनेपर भी बाह्यसत्ताका अभाव बोधन करनेके लिये 'नास्ति' शब्दका प्रयोग और बाह्यसत्ता बतलानेके लिये 'अस्ति' शब्दका प्रयोग भी प्रामाणिक है। इससे बौद्धपदार्थका वाच्यत्व स्वीकार करना आवश्यक है। बौद्ध पदार्थमें दाहादिशक्ति नहीं है। अतः शब्द और अर्थमें अभेद स्वीकार करनेपर भी अग्नि शब्द उच्चारण करनेसे न तो मुखमें दाहरूप आपत्ति होगी और न तो मधु शब्दसे माधुर्यास्वाद होगा। अतः गिरा और अर्थमें अभेद सिद्ध हुआ जिसका दृष्टान्त गोस्वामीजी देते हैं। भाव यह है कि 'गिरा' और 'अर्थ' अभिन्न होनेपर भी जैसे भिन्न मालूम पड़ते हैं, उसी तरह 'सीता' और 'राम' दोनों एक ही अभिन्न ब्रह्म-तत्त्व हैं तथापि भिन्न मालूम पड़ते हैं। गिरा और अर्थका दृष्टान्त दार्शनिक विचारसे गम्भीर होनेके कारण जल और वीचिके सरल दृष्टान्तसे भी श्रीसीताजी और श्रीरामजीको अभिन्न ब्रह्मतत्त्व प्रतिपादन किया। (दार्शनिक सार्वभौमजीके प्रवचनके आधारपर)।

प० रामकुमारजीने इस दोहेके भावपर प्रकाश डालनेवाले दो श्लोक ये दिये हैं—'तत्त्वतो मन्त्रतो वापि रूपतो गुणतोऽपि वा। न पृथक्भावना यस्य स ज्ञेयो भावुकोत्तम॥ १॥ काव्यप्रकरणस्यादौ मध्येऽन्ते कविभिः क्रमात्। तत्स्वरूपाङ्गमाहात्म्यकथनं क्रियते पृथक्॥ २॥' अर्थात् शक्ति और शक्तिमान्के प्रति तत्त्वसे, मन्त्रसे, गुणसे और रूपसे जिसकी भावना भिन्न-भिन्न नहीं (अभिन्नरूपसे ही) होती है, वही श्रेष्ठ भावुक है॥ १॥ काव्य प्रकरणके आदि, मध्य और अन्तमें कविलोग नायक और नायिकाके स्वरूप, अङ्ग (शक्ति) और माहात्म्यको क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं॥ २॥ (इनको स्मरण रखनेसे आगेकी बहुत-सी शंकाएँ स्वयं हल हो जायँगी)।

☞ पिछली चौपाइयोंमें श्रीजानकीजीके और श्रीरामजीके चरण-कमलोंकी वन्दना पृथक्-पृथक् की। अब दोनोंके पदकी एक साथ अभिन्नभावसे वन्दना करते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी यहाँ 'सीताराम' यह जो पद है इनकी वन्दना मानते हैं। वे कहते हैं कि चरणोंकी वन्दना ऊपर कर चुके, अब नामकी एकता यहाँ दिखाते हैं।

नोट—१ श्रीसीतारामजीकी वन्दना ऊपर चौपाइयोंमें पृथक्-पृथक् की थी। अब एक साथ करते हैं। इसके कारण ये कहे जाते हैं कि—(क) ये दोनों देखने (कहने) में भिन्न हैं, अर्थात् पृथक्-पृथक् दो हैं; इसलिये भिन्न-भिन्न (पृथक्-पृथक्) वन्दना की थी। और, विचारनेसे दोनों वास्तवमें दो नहीं हैं एक ही हैं, अभिन्न हैं, इस

* जैसे कुम्हारके मनमें प्रथम घटका आकार आता है तब इन्द्रियोंके व्यापार (उद्योग) के द्वारा मिट्टीके आश्रयसे वह घट प्रकट (जैसा) होता है और वही हृदयस्थ घट वैखरी वाणीके आश्रयसे मुखके द्वारा 'घट' ऐसा नाम होकर प्रकट होता है। अतः लोकमें यह कहा जाता है कि मनुष्यके बोलनेसे और व्यवहारसे उसके हृदयका पता लगता है। तात्पर्य यह है कि 'घट' नाम और 'घट' पदार्थ बाहर व्यवहारमें दो मालूम पड़नेपर भी भीतर एक ही है।

लिये अब एकमें वन्दना की। (प० रामकुमार)। (ख) श्रीमद्गोस्वामीजी आगे 'नामकी वन्दना करेंगे, तब वहाँ 'बदउँ नाम राम…' ऐसा कहेंगे। उससे कदाचित् कोई यह शंका करे कि 'सीता' ब्रह्मका नाम नहीं है, वा, 'सीता' माया है, इसीसे उनका नाम छोड़ दिया गया', इसी कारणसे प्रथम ही यहाँ दोनों नामोंकी एकता दिखायी है। ऐक्यका प्रमाण यथा—'श्रीसीतारामनाम्नस्तु सदैक्यं नास्ति संशयः। इति ज्ञात्वा जपेद्यस्तु स धन्यो भाविनां वरः॥' (ब्रह्मरामायणे)। दोनोंमें अभेद है और दोनों ही ब्रह्मके नित्य अखण्ड स्वरूप हैं। जैसा श्रीमनुशतरूपा-प्रकरण दोहा १४३—१४८ से विदित है। वहाँ मनुशतरूपाजीके 'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥ १। १४४।', और भक्तवत्सल प्रभुने उनकी यह अभिलाषा जान और उनकी प्रार्थना सुनकर कि 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' उनको दर्शन दिया। 'श्रीसीताराम' युगल रूपसे दर्शन देकर जनाया कि हमारा अखण्ड ब्रह्मस्वरूप यही है। बृहद्विष्णुपुराणमें इसका प्रमाण भी है। यथा—'द्वौ च नित्यं द्विधारूपं तत्त्वतो नित्यमेकता। राममन्त्रस्थिता सीता सीतामन्त्रे रघूत्तमः॥ यद्वा शब्दात्मको रामो सीता शब्दार्थरूपिणी। यद्वा वाणी भवेत् सीता रामः शब्दार्थरूपवान्॥' पुनश्च अद्भुतरामायणे यथा—'रामः सीता जानकी रामचन्द्रो नाह्यो भेदस्त्वेतयोरस्ति कश्चित्। सन्तो बुद्ध्वा तत्त्वमेतद्विबुध्वा पारं जाताः संसृतेर्मृत्युवक्त्रात्॥' (प० रा० कु०)। (ग) अगली चौपाईमें कोई यह न समझे कि गोस्वामीजी केवल रामोपासक हैं, क्योंकि यदि (श्रीसीताराम) युगलरूपके उपासक होते तो 'बंदउँ सीता राम नाम' या ऐसे ही कुछ युगलनामसूचक शब्द लिखते। इसलिये भी यहाँ दोनाम एकता दिखायी। (मा० प्र०)। (घ) श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि ऊपर रूपकी वन्दना है और नीचे नामकी वन्दना है, बीचमें यह दोहा देकर 'ग्रन्थकारने श्रीसीतारामजी महाराजकी और श्रीसीतारामजीके नामकी ऐक्यता की है। दोनों रूपों और दोनों नामोंकी ऐक्यताके लिये दो उपमाएँ दी हैं। नामकी ऐक्यता गिरा-अर्थकी उपमासे और रूपकी एकता जलवीचिकी उपमासे की है।'

नोट—२ अब यह प्रश्न होता है कि 'एकता तो एक ही दृष्टान्तसे हो गयी तब दो दृष्टान्त क्यों दिये?' और इसका उत्तर यों दिया जाता है कि—(१) 'गिरा-अर्थ' से गिरा कारण और अर्थ कार्य सूक्ष्म रीतिसे समझा जा सकता है, इससे सम्भव है कि कोई यह सिद्ध करे कि 'श्रीसीताजी' कारण और 'श्रीरामजी' कार्य हैं। इसी तरहसे 'जल बीचि' से जल कारण और बीचि कार्य कहा जा सकता है। दो दृष्टान्त इसलिये दिये कि यदि कोई श्रीसीताजीको कारण कहे तो उसका उत्तर होगा कि 'जल बीचि' की उपमासे तो रामजी कारण सिद्ध होते हैं क्योंकि गिरा स्त्रीलिङ्ग है और अर्थ पुँल्लिङ्ग और 'जल बीचि' में जल पुँल्लिङ्ग (जल नपुंसकलिङ्ग है पर भाषामें दो ही लिङ्ग होते हैं इसलिये पुँल्लिङ्ग कहा जाता है।) और 'बीचि' स्त्रीलिङ्ग है। और यदि कोई 'श्रीरामजी' को कारण कहे तो उसको 'गिरा अर्थ' से निरुत्तर कर सकेंगे। इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक स्पष्ट हो जावेगा कि इनमें कारण कार्यका भेद नहीं है। (मा० प्र०)। (२) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि ब्रह्मके दो रूप हैं। एक सगुण, दूसरा निर्गुण। गिराअर्थवाला दृष्टान्त निर्गुणका है, क्योंकि यह देखनेकी वस्तु नहीं है। वाणी केवल सुननेसे कर्णसुखद होती है और अर्थ मनमें आनेपर सुख देता है, इससे भिन्न हुआ, पर वास्तवमें दोनों अभिन्न हैं, क्योंकि वाणीमें अर्थ साथ ही रहता है। जैसे गिराके अभ्यन्तर अर्थ है, पर प्रकट होता है, वक्ता श्रोताके एकत्र होनेपर, वैसे ही श्रीसीताजीमें श्रीरामजी सनातनसे हैं, पर प्रकट होते हैं प्रेमियोंकी काङ्क्षा होनेपर। श्रीकिशोरीजीके हृदयमें प्रकट होकर प्रेमियोंको सुख देते हैं। यह दिव्य धामकी लीला नित्य ही त्रिगुणसे परे निर्गुण है जो देखनेका विषय नहीं है, ज्ञानद्वारा समझा जाता है। 'जलवीचि' का दृष्टान्त सगुणरूपका है। जबतक वीची प्रकट नहीं होती, तबतक जलका रूप पृथक् देखनेमें आता है। वायुवश तरङ्ग उठनेपर उसका भी रूप पृथक् देखनेमें आता है। उसी प्रकार प्रेमियोंके प्रेमरूपी वायुका टकर जलवत् सगुणब्रह्म श्रीरामजीमें लगनेसे किशोरीजी प्रकट होती हैं तब दोनोंके रूप भिन्न देखनेमें आते हैं, वस्तुतः जलवीचिवत् दोनों अभिन्न हैं। यह भाव बैजनाथजीके आधारपर है। बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रकृति-पुरुष एक ही हैं। जैसे वाणीमें अर्थ गुप्त, वैसे ही प्रकृतिमें अगुणरूप गुप्त। लोकोद्धारहेतु सगुणरूपसे दोनों प्रकट हुए, जलवीचिसम देखनेमें आते हैं। (३) पृथक्-पृथक् वन्दनासे यह शंका होती कि 'जैसे भरतादि भ्राता श्रीरामजीके अंश हैं, वैसे ही श्रीसीताजी

भी अंश हैं', इस सन्देहके निवारणार्थ गिरा अर्थ और जलवीचिकी उपमा देकर दोनोंको एक ही जनाया। भरतादि भ्राताओं और श्रीरामजीमे (यद्यपि तत्त्व एक ही है तथापि) अंश-अंशी-भेद है, किंतु श्रीसीतारामजीमें अंश-अंशी-भेद नहीं है, दोनों एक ही ब्रह्म हैं। ब्रह्मका स्वरूप युगल है और ब्रह्म तो एक ही है। ब्रह्म पतिपत्नी युगल-स्वरूप अपनी इच्छासे धारण किये हुए है। यथा—'स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतामिति बृहदारण्यके श्रुतिः' (१।४।३)।

(४) श्रीनगे परमहंसजी कहते है कि—(क) 'शब्दसे अर्थ निकलनेपर शब्द और अर्थ दो देख पड़ते हैं, अत भिन्न हैं और दोनों एक ही तत्त्वके बोधक होनेसे अभिन्न हैं। वैसे ही रामनाम और सीता नाम कारणकार्य होनेसे देखनेमें भिन्न और एक ही तत्त्व होनेसे अभिन्न हैं। गिराअर्थकी उपमा दोनों नामोंके लिये है। क्योकि 'गिराअर्थ' आखर (वाणी) का विषय है और नाम भी आखरका विषय है। (प्रमाण) 'आखर मधुर मनोहर दोऊ'। जैसे शब्दमें अर्थ (का) लय रहता है वैसे ही राम-नाममें सीतानाम (का) लय है, क्योंकि कारणमें कार्य लय रहता है।' इस तरह रामनाम सीतानामको 'गिरा अर्थ' की उपमासे लय करके ग्रन्थकारने एक नाम अर्थात् रामनामकी वन्दना प्रारम्भ की। (ख) 'रूपकी एकता तो केवल एक उपमा जल बीचिसे हो जाती है।' ऐक्यमे क्या बाकी रह जाता है जिसके लिये टीकाकारोंने 'गिरा अर्थ' की भी उपमा मिलाकर ऐक्य किया है। यदि रूपके ऐक्यमे दोनो उपमाएँ लगा दी जायँगी तो नामका ऐक्य कैसे होगा? क्योंकि नाम और रूप दो विषय है और दोनोंकी वन्दना पृथक्-पृथक् लिखी है तब ऐक्य भी पृथक्-पृथक् होगा। परमहंसजीकी इस शङ्काके सम्बन्धमें यह समाधान किया जाता है कि दोनो रूपोंकी एकता अभिन्नता स्थापित हो जानेपर नामकी तत्त्वत अभिन्नता स्वत ही हो जायगी, उसके लिये फिर उपमाओंकी आवश्यकता ही नही रह जाती। उपर्युक्त बृहद्विष्णुपुराणके 'द्वौ च··' इस उद्धरणसे भी इस कथनकी पुष्टि होती है, क्योंकि उसमें भी रूपकी एकता कहते हुए दोनोके मन्त्रों और नामोंकी एकता कही गयी है।

५ नगे परमहंसजीका मत है कि श्रीरामजी कारण हैं और श्रीसीताजी कार्य हैं। प्रमाणमें वे ये चौपाइयाँ देते हैं—'तनु तजि छाँह रहति किमि छेकी। प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंद तजि जाई॥' और कहते है कि तन कारण है, छाया कार्य है। श्रीरामजी शरीर, सूर्य और चन्द्ररूप है और श्रीसीताजी छाया, प्रभा और चन्द्रिकारूपा हैं। इससे श्रीरामजी कारण हुए और सीताजी कार्य। अन्य लोगोंके मतानुसार इस दोहेमें कारण-कार्यका निराकरण किया है।

प० श्रीकान्तशरणजी इसके उत्तरमें कहते हैं—'उपमाके धर्मसे ही कविताका प्रयोजन रहता है। जैसे 'कमलके समान कोमल चरण' मे कोमल धर्म है, अत कोमलता ही दिखानेका प्रयोजन है, कमलके रंग-रूप-रस आदि चाहे मिलें अथवा न मिलें। वैसे ही 'प्रभा जाइ कहँ ··' मे प्रभा, चन्द्रिका और श्रीसीताजी तथा भानु, चन्द्र और श्रीरामजी क्रमश· उपमान-उपमेय हैं। 'जाइ कहँ · बिहाई', 'कहँ ··तजि जाई' ये दोनों धर्म हैं, वाचक पद लुप्त है। अत· उपमा-द्वारा कविका प्रयोजन, केवल श्रीजानकीजीका अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध दिखानामात्र है कि प्रभा और चन्द्रिका जैसे सूर्य तथा चन्द्रसे पृथक् होकर नहीं रह सकतीं, वैसे ही मैं आपके बिना नहीं रह सकती। ऐसे ही 'तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी' में 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' ही दिखानेका प्रयोजन है। अतः उपर्युक्त 'गिरा अर्थ' मे लिङ्ग-विरोध करके श्रीरामजीहीको कारण सिद्ध करना अयोग्य है। जहाँ लिङ्गके अनुकूल उपमानका अर्थ असङ्गत होता है, वहाँ लिङ्ग-विरोध किया जाता है। यहाँ श्रीजानकीजीको कार्य कहनेमें अनित्यता होगी, जो भारी दोष है।'

☞ इस उत्तरमे उपमा और उपमेयकी जो बात कही है वह यथार्थ है, परतु आगे जो उन्होंने दोनोके सम्बन्धसे 'पृथक् सिद्ध' सम्बन्ध कहा है वह बात समझमें नहीं आती। 'अपृथक् सिद्ध' सम्बन्धका प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ दो पदार्थ स्वरूपत भिन्न होनेपर भी एक दूसरेसे पृथक् नहीं हो सकते। जैसे ब्रह्म और जीवमें अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध कहा जा सकता है। ब्रह्म और जीव इन दोनोंमें वस्तुत· भेद है, परंतु ये एक दूसरेसे कभी अलग नहीं होते। इसी

तरह इनका ज्ञान इनसे पृथक् होनेपर भी इनसे अलग नहीं होता। अतः इनमें अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध कहा जाता है। नैयायिक जिसको 'समवाय सम्बन्ध' कहते हैं, वेदान्ती उसको भी 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' कहते हैं। जैसे मिट्टी और मिट्टीका घड़ा। इस दृष्टान्तमें कारण-कार्य सम्बन्ध है और प्रथम दो दृष्टान्तोंमें स्वरूपतः स्पष्ट भेद है। अतः श्रीसीताजी और श्रीरामजीमें 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' लगानेसे कार्य कारण-भाव या स्वरूपतः भेद ही सिद्ध होगा। 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' न कहकर उसका समाधान इस प्रकार हो सकता है—

श्रीहनुमानगढ़ीके श्रीजानकीदासजीका मत है कि इस दोहेके पूर्वार्द्धके अर्थ चार प्रकारसे हो सकते हैं—(क) गिराअर्थ और जलबीचिके समान कहनेमें भिन्न हैं, वस्तुतः भिन्न नहीं है।

(ख) गिराअर्थ और जलबीचिके समान कहनेमें 'भिन्न न' (अभिन्न) पर वस्तुतः भिन्न है।

(ग) गिराअर्थ और जलबीचिके समान कहनेमें भिन्न भी और नहीं भिन्न भी।

(घ) गिरा अर्थ और जलबीचिके समान भिन्न-भिन्न (जो) नहीं कहे जा सकते।

अर्थ (क) में अभेद प्रधान है और भेद व्यावहारिक है। यह अद्वैती आदिका मत है। अर्थ (ख) में भेद प्रधान है। यह वैयाकरणादिका मत है। अर्थ (ग) में भेद और अभेद दोनों ही प्रधान है। यह गौड़िया सम्प्रदायका मत है। अर्थ (घ) में अभेद प्रधान और भेद लीलार्थ है। यह मत गोस्वामीजीका है। यद्यपि प्रथम अर्थसे ही गोस्वामीजीका मत सिद्ध हो जाता है तथापि उपमानके भेद सिद्ध करनेके जितने प्रकार शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं उनमेंसे एक भी प्रकार गोस्वामीजीके सिद्धान्तानुकूल नहीं है।

भेदाभेद उपमान और उपमेय दोनोंमें है, पर उपमानमें जिस विचारसे भेद सिद्ध होता है वह विचार यहाँके विचार-से अलग है। इन उपमानोंका केवल इतना ही अंश उपमेयमें लिया गया है कि अभेद होते हुए भी दोनों भिन्न हैं। 'भिन्न किस प्रकारसे हैं?' इसका प्रतिपादन दोनों जगह पृथक्-पृथक् है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि 'वहाँके (उपमानके) भेदाभेद प्रतिपादन करनेवाले विचार यहाँ क्यों न लिये जायँ?' तो उत्तर यह है कि वहाँके विचारोंमें बहुत मतभेद है। कोई व्यावहारिकता और पारमार्थिकता लेकर अपना पक्ष प्रतिपादन करते हैं तो कोई कार्य कारण भाव लेकर, इत्यादि। यदि उनमें एक मत होता तो सब अंश लिया जाता। इसलिये इस दोहेका अर्थ करनेमें लोग अपने-अपने सिद्धान्तानुसार भेदाभेदका प्रतिपादन कर सकते हैं। परंतु गोस्वामीजीका सिद्धान्त यह है—'एकं तत्त्व द्विधा भिन्नम्' अर्थात् एक ही महातत्त्व लीलाके लिये दो हुआ है। श्रीरामकृष्णादिवत्। श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों एक तत्त्व हैं पर नाम, रूप, लीला और धामसे दोनों भिन्न हैं। इस मतकी पुष्टि मानसके 'एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥ नाहिं त मोर मरनु परिनामा। २। ८२।' महाराज दशरथजी-के इन वाक्योंमें होती है। फिर आगे भी कहा है, 'जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया॥ नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जियब जिमि जल बिनु मीना॥ २। ९६।' इन वचनोंसे स्पष्ट है कि श्रीरामजी और श्रीसीताजी दोनों एक ही हैं। नहीं तो दशरथमहाराजका जीवन तो श्रीरामदर्शनाधीन था, यथा—'जीवनु मोर राम बिनु नाहीं', 'जीवनु रामदरस आधीना। २। ३३।' 'नृप कि जिइहि बिनु राम। २। ४९।' उन्होंने यही वर माँगा था। यथा—'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥ अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥ १। १५१।' तब श्रीसीताजीके दर्शनसे वे कैसे जीवित रह सकते थे, यदि दोनों एक न होते?

अब विचार करना है 'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥' 'तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी।' (२। ९७) इत्यादिपर। इसका समाधान यह हो सकता है कि जैसे श्रीरामजी और श्रीसीताजीका नित्य संयोग होनेपर भी (जैसा सतीमोह प्रसङ्गसे स्पष्ट है) श्रीरामजीका वियोग विरह-विलाप, वनमें सीताजीको खोजना, सर्वज्ञ होते हुए भी वानरोंद्वारा खोज कराना, श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर प्रलाप करना, इत्यादि सब केवल नरनाट्य है वैसे ही श्रीसीताजीके ये वाक्य भी केवल नरनाट्य है, लीलार्थ हैं। अर्थात् जैसे कोई प्राकृत पतिव्रता ऐसे प्रसङ्गोंमें कहती,

वैसा उन्होंने भी कहा। अतएव उपर्युक्त 'प्रभा जाइ' इत्यादि वाक्योंमें दोनोंमें किसी प्रकारका भेद मानना उचित नहीं जान पड़ता।

६ एक दृष्टान्तमें स्त्रीलिङ्ग पहले, दूसरेमें पुँल्लिङ्ग पहले देकर सूचित किया कि चाहे सीताराम कहो, चाहे रामसीता, कोई भेद इनमें स्त्री-पुरुषका भी नहीं है। यथा—'राम. सीता जानकी रामचन्द्रो नित्याखण्डो ये च पश्यन्ति धीराः।' (अथर्व०)

७ एक ही ब्रह्म स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनों है। यथा—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' 'सीताराम' में सीता गिरा स्त्रीलिङ्ग, फिर 'सीताराम' को 'जलबीचि-सम' कह सीताको पुँल्लिङ्गकी उपमा दी, इसी प्रकार 'राम' पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों है। पुनः जैसे 'बानी' से अर्थका बोध और अर्थसे बानीकी रचना होती है, जल तरङ्गसे पानीका बोध होता है, जल-पानी एक ही वस्तु है, ऐसे ही 'राम' से 'सीता', 'सीता' से 'राम' का बोध होता है। पुनः, जैसे जलबीचि, गिरा अर्थका सम्बन्ध सनातनसे है वैसे ही श्रीसीतारामजी सनातनसे एक हैं। चरणसे वाणी है नाभिसे अर्थ भी और उसमें जल है नाभीसे लहर भी है।

नोट—३ मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'गिरा अर्थ' और 'जलबीचि सम' कहनेका यह भाव है कि 'जगत्पिता श्रीरामचन्द्रजी और जगज्जननी श्रीजानकीजीमें परस्पर परम प्रीति है। अर्थात् अभेद है। अतः प्रथम गिराके रूपक देकर श्रीजानकीजीसे मति और गिरा माँगी और अर्थसे श्रीरामजीका रूपक देकर उस गिरामें अनेक अर्थ माँगा। जल सरिस्वरूपी जल हृदयरूपी जलधिमें पूर्ण है। उस जलधिसे अनेक अर्थतरङ्गें उठती हैं जिनमें किञ्चित् भी भेद नहीं है, परस्पर अभेद शोभित हो रहा है।'

नोट—४ 'कहियत भिन्न न भिन्न' इति। (क) जैसे सूर्य और सूर्यका प्रकाश, चन्द्रमा और चाँदनी इत्यादि कथनमात्रको दो भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। यथा—'रवि आतप भिन्न न भिन्न जथा। ६। ११०।' 'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥ २। ९७।' तथा नाम, रूप, वस्त्र, भूषणादि देख यह कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी पुरुष हैं, श्याम स्वरूप हैं, किरीट, मुकुट आदि धारण किये हैं और श्रीसीताजी स्त्रीस्वरूपा गौराङ्गिनी हैं, चन्द्रिकादिक धारण किये हैं इत्यादिरूपसे कहने मात्र दोनों न्यारे हैं; परन्तु तत्त्वरूपसे दोनों एक ही हैं।* (ख) प्रोफेसर दीनजी लिखते हैं कि मेरी सम्मति यहाँ रूपसे भिन्न है।

* 'सीता' 'राम' का तत्त्वरूपसे एक होना यों सिद्ध होता है कि (१) वेदमें 'तत्त्वमसि' महावाक्य है, जिसमें 'तत्' 'त्वम्' 'असि' पद क्रमसे ब्रह्म, जीव, मायाके वाचक हैं। प्रमाणम् यथा—'ब्रह्मेति तत्पदं विद्धि त्वं पदं जीव निर्मल। ईश्वरोऽसि पदं प्रोक्तं ततो माया प्रवर्तते॥' (महारा० ५२। ५५)। यह 'तत्त्वमसि' 'राम' और 'सीता' दोनों नामोंसे सिद्ध होता है। 'र' से 'तत्' दीर्घाकारसे 'त्वम्' पद और 'म' से 'असि' पद सिद्ध होता है। प्रमाणम्, यथा—'रकारस्तत्पदो ज्ञेयस्त्वं पदाकार उच्यते। मकारोऽसि पदं त्वं च तत् त्वं असि सुलोचने॥' (महारामायणे ५२। ५४)। वही 'सीता' पदसे इस प्रकार सिद्ध होता है कि 'सीता' नाम तीन बार कंकणाकार लिखें तब चित्रकाव्य होता है, जिस अक्षरसे चाहें उठा सकते हैं। इस रीतिसे सीताका 'तासी' हो गया, जहाँ 'त' से 'तत्' पद, 'आ' से 'त्वं' पद और 'सी' से 'असि' पद सिद्ध होता है। प्रमाणम्, यथा—'लिखितं त्रिविधं सीता कङ्कणाकृतिरूपिणम्। चित्रकाव्यं भवेत्तत्र जानन्ति कविपण्डिताः॥ तकारं तत्पदं विद्धि त्वं पदाकार उच्यते। दीर्घेना च असि प्रोक्तं तत्त्व असि महामुने॥' (महासुन्दरीतन्त्रे)। (२) 'राम' से 'सीता' और 'सीता' से 'राम' हो जाता है। व्याकरणकी रीतिसे रेफ विसर्ग होकर सकार हो जाता है और 'म' अनुस्वार होकर तकार बन जाता है। इस तरह 'राम' का 'सीता' हुआ। पुनः सकार विसर्ग होकर रेफ और तकार अनुस्वार होकर 'म' हुआ। इस तरह 'सीता' का 'राम' हो गया। यों भी दोनों नामोंका तत्त्व एक है (मा० प्र०)। मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि 'रकार वा सकारका विसर्ग और मकारका अनुस्वार इस प्रकार होता है 'ससजुषो रुः'। सकाररेफयो-विसर्जनीयादेशो भवत्यवसाने खरे पदान्ते च धातो पदान्ते न तु खरे॥ १॥ 'मो अनुस्वारः'। मकारस्यानुस्वारो भवति खरे परे पदान्ते च। एवं 'तन्निवारण' शब्दमें तकारका नकार होना॥ २॥ ऐक्यभावसे नकारका तकार होना एवं भाषान्तरमें अ, आ का इ, ई वा उ, ऊ होना पाते हैं। यथा—'तरिपा तारिपी'। तथा, आकारका 'ई' होना 'ईकार का 'आ' होना, द्विरूपकोषमें सिद्ध होता है। तो अब शब्दरूप निर्भिन्न तत्त्व ठहरा।'

कुछ लोग इसे 'सीताराम' का विशेषण मानते हैं, पर मैं इसे पदका विशेषण मानता हूँ। यहाँ भेद इसीमें भरा है, लिखा नहीं जाता, अकथ है। (ग) 'सीतारामपद' ने भी भिन्नता होते हुए भी अभेदता सूचित की है। इस प्रकार कि जो २४ चिह्न श्रीसीताजीके दक्षिण पदारविन्दमें हैं वे ही श्रीरामचन्द्रजीके वाम पदमें हैं और जो उनके वाम पदमें हैं वे उनके दक्षिण पदमें हैं। यथा—'यानि सर्वाणि रामस्य पादे तिष्ठन्ति वामके। यानि चिह्नानि जानक्या दक्षिणे चरणे स्थिता॥ यानि चिह्नानि रामस्य चरणे दक्षिणे स्थिता। तानि सर्वाणि जानक्या पादे तिष्ठन्ति वामके॥' (महारामायणे)। (घ) श्रीनङ्गविहारीस्वामी 'सीतारामपद' का यह भाव कहते हैं कि 'रामोपासक' पुरुषके, सीता-उपासक प्रकृतिके और श्रीसीतारामोपासक अखण्ड ब्रह्मके उपासक हैं। क्योंकि जैसे ब्रह्म न स्त्री है न पुरुष, किंतु अनिर्वचनीय है, वैसे ही 'सीताराम' के मिलनेसे यह मूर्ति न स्त्री है न पुरुष, किंतु अकथ स्वरूप है। इस प्रकार सगुणमें निर्गुण सुख भी सुलभ हुआ जानिये, 'नाम रूप दिय निर्गुन रूप, जो दोउनको जानि सके। जोई देव सोई है जैसो यह रहस्य को जानि सके॥' (मा० पु० प०)

नोट—५ जब 'सीताराम' अभिन्न हैं और श्रीरामनामकी वन्दनासे श्रीसीतानामकी वन्दना हो गयी। इसी तरह यदि श्रीसीतानाममें श्रीरामनामकी वन्दना हो जाती है तो 'सीता' नामकी ही वन्दना क्यों नहीं की? समाधान यह किया जाता है कि—(क) श्रीरामावतार प्रथम हुआ। वसिष्ठजीने नामकरण किया। इस तरह रघुवर 'राम' का प्राकट्य प्रथम हुआ। श्रीसीताजीका प्रादुर्भाव कुछ काल बाद पीछे हुआ। इस तरह माधुर्यमें पहले 'राम' रूप और नाम देखने सुननेमें आये तब 'सीता' रूप और नाम। कवि वन्दना 'रघुबर राम नाम' की कर रहे हैं इसलिये शङ्काकी बात नहीं रह जाती। यदि श्रीसीताजी प्रथम प्रकट हुई होतीं, तो सीता नामसे वन्दना उचित होती। (ख) दोनों नामोंमें परिपूर्णता, समानता, अभिमान सन्निधान होनेसे भी पतिकी वन्दना स्वयंकिवन्दना समझी जाती है। (ग) उच्चारणकी सुगमता भी रामनाममें है। रामनाम निर्गुण-सगुण दोनोंका बोधक है। (घ) योगियोंको भी 'राम' नाम ही सुगम होता है। (ङ) महात्माओंकी प्रसन्नता भी इसी नामके प्रचारसे होगी। वे स्वयं भी जीवको उसीका उपदेश करती हैं।

नोट—६ 'परम प्रिय खिन्न' इति। 'खिन्न' (क्षीण)=दीन, दुःखी, आर्त। यहाँ अन्न-वस्त्रादिसे हीन गरीब नहीं हैं, किंतु नाना साधन लगाकर थकित हो निर्बलमात्र करके दीनतापूर्वक जो प्रभुकी शरण हैं और जिन्हें प्रभुको छोड़ और किसी साधनका आशा-भरोसा नहीं रह गया है वे ही दीन हैं। दीन, यथा—'करमठ कठमलिया कहै ज्ञानी ज्ञान बिहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाइगो राम दुआरे दीन'॥ (दो० ९९)। दीन परमप्रिय हैं, यथा—'यह दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई। (वि० १६५), 'तुलसी दीनपर एक राम ही की प्रीति'। (वि० २१६), 'मोहि दसकंध सो न दूसरो विभीषण सो बूझि परी रावरे की प्रेम पराधीनता' (क० उ०)। पुनः, 'परम प्रिय खिन्न' कहकर सूचित किया है कि—(क) प्रिय तो सभी हैं; परन्तु जो दीनतापूर्वक शरणमें आते हैं वे परम प्रिय हैं। (वैजनाथजी)। (ख) जब आर्तजन भी परम प्रिय हैं तो ज्ञानी आदि भक्तोंका तो कहना ही क्या!
(मा० त० वि०)

श्रीसीतारामधामरूपपरिकर-वन्दना-प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।
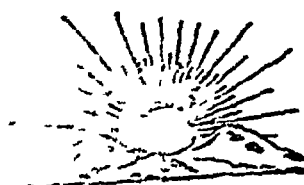
श्रीरामनामवन्दना-प्रकरण

वंदौं नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कृशानु=अग्नि। भानु=सूर्य। हिमकर=चन्द्रमा।

अर्थ—मैं रघुवरके 'राम' नामकी वन्दना करता हूँ जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका कारण है ॥ १ ॥

नोट—श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम नित्य सच्चिदानन्द विग्रह चतुष्टयमेंसे चरित गान करनेके लिये धाम और रूपकी वन्दना कर चुके अब नामकी वन्दना करते हैं। वन्दनामें ही रामनामका अर्थ, महिमा, गुण आदि कहकर नामका स्मरणकर चरित कहेंगे। यथा—'सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा' ॥ १। २८।

२ बैजनाथजीका मत है कि रामनामका अर्थ आगे कहना है, परंतु नामार्थ-कथनका सामर्थ्य वेदोंमें भी नहीं है ऐसा शिवजीका वचन है। यथा—'वेदा सर्वे तथा शास्त्रे मुनयो निर्जरर्षभा'। नाम्न प्रभावमत्युग्रं ते न जानन्ति सुव्रते ॥ ईषद्वदामि नामार्थं देवि तस्यानुकम्पया ॥ महारामायणे। ५२। ३। ४।' शिवजी श्रीराम (रूप) की कृपासे कुछ कहते हैं। उनको रूपकी दया प्राप्त है पर हम-ऐसोंको वह कहाँ प्राप्त? नामकी दया नीच-ऊँच सबको सुलभ है, इसलिये गोस्वामीजी नामकी ही वन्दना करके, नामके दयाबलसे रामनामका अर्थ कहते हैं, अतः 'बंदौं नाम' कहा।

३ 'बंदौं नाम राम ··' इति। (क) 'नाम राम' यही पाठ १६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० राम आदिकी पोथियोंमें है। करुणासिंधुजी, बाबा हरिहरप्रसाद, प० रामवल्लभाशरणजी, रामायणी श्रीरामबालकदासजी आदि इसीको शुद्ध मानते हैं। कुछ छपी हुई पुस्तकोंमें 'रामनाम' पाठ है। पर किस प्राचीन पोथीसे यह पाठ लिया गया है, इसका पता नहीं। प्राचीनतम पाठ 'नाम राम' है। श्रीमद्गोस्वामीजीने इसमे यह विलक्षणता रक्खी है कि यह रामनामवन्दना प्रकरण है और इसमें आगे चलकर वे 'रामनाम' को 'ब्रह्म राम' अर्थात् नामीसे बड़ा कहेंगे; इस विचारसे आदिमें ही 'नाम' शब्द प्रथम देकर नामको नामीसे बड़ा कहनेका बीज यहीं बो दिया है। (श्री १०८ रामशरणजी, मौनीबाबा, रामघाट)। ना० प्र० सभाका पाठ 'राम-नाम' है। (ख) 'नाम राम रघुबर को' इति। किस नामकी वन्दना करते हैं? 'राम' नामकी। पर 'राम' शब्दमें तो अतिव्याप्ति है। यह न जान पड़ा कि किस 'राम' के नामकी वन्दना है। 'राम' से रमणाद्राम, परशुराम, रघुकुलमें अवतीर्ण 'राम', यदुकुलवाले बलराम और किसी-किसीके मतसे शालग्रामका भी बोध होता है। मेदिनीकोशमे भी कई राम कहे गये हैं। यथा—'रामा योषा हिंगुलिन्योः क्लीबं वास्तु ककुष्ठयो। ना राघवे च वरुणे रैणुकेये हलायुधे। मेदिनी।' पद्मपुराण उत्तरखण्ड २२९। ४० में भी तीन राम 'राम' शब्दसे ही कहे गये है। यथा—'मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहश्च वामनः। रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश ॥ ४१ ॥ ज्योतिष, पिंगल और अन्य स्थलोंमें जहाँ संख्याका दिग्दर्शन किया जाता है वहाँ 'राम' से 'तीन' का अर्थ व्यवहारमें आता है। यद्यपि कोशमे 'राम' शब्द अनेक व्यक्तियोका बोधक कहा गया है तथापि 'राम' शब्द तीन ही व्यक्तियोंके साथ विशेष प्रसिद्ध होनेसे लोग उसकी संख्या तीन मानते हैं। मानस और भागवतमे भी तीनका प्रमाण है। परशुराम और बलरामको भी 'राम' कहा गया है। यथा—'बार बार मुनि बिप्र बर कहा राम सन राम। १। २८२।' इसमें प्रथम 'राम' रघुवर रामका और दूसरा 'राम' परशुरामका बोधक है। इसीसे तो परशुरामजीने कहा भी है कि 'करु परितोष मोर संग्रामा। नाहिं त छाँड़ कहाउब रामा ॥ १। २८१।' पुनः यथा भागवते, 'रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥ भा० १०। ३९। १३ (गोपियोने सुना कि अक्रूर राम और कृष्णको मथुरा ले जानेके लिये व्रजमें आये है), 'तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥ भा० १०। ३९। ४१।' (जलमे जप करते-करते अक्रूरने राम-कृष्ण दोनों भाइयोंको वहीं अपने पास देखा) इत्यादि जहाँ 'राम' शब्द 'बलराम'

जीके लिये आये है। अन्तर्यामीरूपसे जो सबमें रमते हैं वे भी 'राम' कहलाते हैं। कबीरपंथी, सत्यनामी आदि कहते है कि उनका 'राम' सबसे न्यारा है, वह दशरथका बेटा नहीं है। शालग्राममें भी श्रीरामजीके स्वरूप होते है जो कुछ विशिष्ट चिह्नोंसे पहचाने जाते है। अतएव 'रघुबर' विशेषण देकर श्रीदशरथात्मज रघुकुलभूषण श्रीरामजीके 'राम' नामकी वन्दना सूचित की और इनको इन सबोंसे पृथक् किया (ग) मयककारका मत है कि रघुबर=रघु (जीव)+बर (पति)=जीवोंके पति। अर्थात् मुझ जीवके (एवं चराचरमात्रके जीवोंके) पति (स्वामी) जो श्रीरामजी है (यथा—'ब्रह्म तू हौं जीव हौ तू ठाकुर हौं चेरो' इति विनये) उनके 'राम' नामकी वन्दना करता हूँ। (घ) 'राम' से ऐश्वर्य और 'रघुबर' से माधुर्य जताकर दोनोको एक बनाया। बैजनाथजी लिखते है कि 'परब्रह्म' श्रीरामचन्द्रजीने अपना ऐश्वर्य त्यागकर 'रघुबर' रूप हो अपना सौलभ्य गुण दिखाया। इससे 'रामरघुबर कहकर वन्दना की।' (ङ) श्रीभरद्वाजमुनिके प्रश्नसे गोस्वामीजीने श्रीरामचरित प्रारम्भ किया है। उन्होंने तथा श्रीपार्वतीजीने यह प्रश्न किया है कि 'ये राम कौन है? यथा—'राम नाम कर अमित प्रभावा। एक राम अवधेस कुमारा।' प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि। १। ४६।' 'राम सो अवध नृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥ १। १०८।' श्रीगोस्वामीजीने इसका उत्तर और अपना मत 'रघुबर' शब्दसे सूचित कर दिया है।

गौड़जी—'बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥' रामनाम रघुबरको। रामनामकी वन्दना आरम्भ करनेमें विशेषतया 'रघुबर' का नाम क्यों कहते है? 'राम' नाम तो अनादि है। रामावतार होनेके अनेक युग पहले प्रह्लाद और ध्रुवने इसी नामको जपकर सिद्धि पायी। शङ्कर भगवान् अनादिकालसे यही नाम जपते आये हैं। वसिष्ठजीने तो दशरथके पुत्रोंके पुराने नाम रख दिये। राम तो भार्गव जामदग्नेयका भी नाम था। यहाँ जिस रामनामकी वन्दना करते हैं वह कौन-सा नाम है? परशुधरका नाम तो हो नहीं सकता। प्रह्लाद, ध्रुव आदि-द्वारा जपे गये नामकी वन्दना अवश्य है, जैसा कि आगे चलकर कहा है—'नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥ ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥' परन्तु वह रामनाम तो परात्पर परतम ब्रह्मका है और वही ध्रुव, प्रह्लादने जपा है। तो यहाँ 'रघुबर को' रामनाम कहकर मानसकार यह दिखाना चाहते हैं कि रघुबरके रामनाम और परात्पर परतमके रामनाममें कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही है।

अभी तो वह शङ्का कि 'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि' उठी ही नहीं है, फिर यहाँ 'रघुबर' शब्दकी विशिष्टताका क्या प्रयोजन है? इसी प्रश्नके उत्तरमें मानसकी रचनाका रहस्य छिपा हुआ है। मानस तो त्रिकालके लिये कल्याणकारी है फिर मानसकारको उसके अपने ही कालमें प्रकट करनेका भी कोई विशेष प्रयोजन था? इस प्रश्नका उत्तर मानसकारकी परिस्थितिका इतिहास देता है। मानसकारने अठहत्तर वर्षकी अवस्थामें मानसका लिखना आरम्भ किया। इस अठहत्तर वर्षकी अवधिमें उसने क्या-क्या देखा? मुसलमानोंके लोदी पठानोंकी पराजय, बाबरकी विजय, हुमायूँका भागना, शेरशाहसूर और उसके वंशजोंका विभव और पराभव, फिर अकबरका राज्य, उसकी विजय, उसका दीर्घकालीन शासन। जौनपुरकी मुसलमानी सल्तनतका पतन। एक मुसलमानी राजवंशका विनाश और दूसरेका उत्थान। तीन सौ बरसोंसे जड़ जमाये हुए मुसल्मानी मत और संस्कृतिका प्रचार। मुसलमानोंके प्रभावसे हिंदूधर्मकी विचलित दशा और उसकी रक्षाके लिये अनेक सम्प्रदायोंका खड़ा होना। मुसल्मानका भक्तिवाद विलक्षण था। वह देवताओंका पूजक न था और अव्यक्तकी उपासना करता था, निराकार सगुण ब्रह्मको मानता था। वह देवताओंका पूजक न था और न भगवान्का अवतार मानता था। हिंदू अपने धर्मका प्रचारक न था परंतु मुसलमान प्रचारके पीछे हाथ धोकर पड़ा था। उसका सीधा-सादा धर्म था परतु उसके समर्थनमें बल और वैभव दोनों थे, तलवार और दौलत दोनों थीं। उससे हिंदूजनताकी रक्षा करनेके लिये अनेक पन्थसम्प्रदाय आदि चल पड़े। वैष्णवसम्प्रदायोंने अवतारवाद, सगुणवाद, मूर्तिपूजा आदिपर प्रतिक्रियात्मक जोर दिया और मुसल्मानोंसे अलग ही रहनेका प्रयत्न किया। कबीर और नानकके निर्गुणवादमें मुसल्मानोंको मिलानेकी कोशिश की गयी। अवतारवाद, मूर्तिपूजा, वर्णाश्रमधर्म और साकार ब्रह्मका कहीं-कहीं खण्डन किया गया और कहीं इन बातोंका निश्चित अपकर्ष दिखाया गया। कबीरपन्थकी यह मुख्य बातें थीं।

गोस्वामीजीको कम-से-कम कबीरपन्थके मन्तव्योंके साथ अधिक सङ्घर्ष हुआ होगा, क्योंकि इस पन्थका उद्गम भी काशी ही नगरी थी। कबीरने परतम परात्पर ब्रह्मका नाम 'राम' माना और उसके जपका उपदेश करते रहे, परन्तु 'रघुबर' का नाम उसे नहीं मानते थे। यह बात गोस्वामीजीको अवश्य खली होगी। उनकी साखी है, 'दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंकाके राव सताया॥' जिस परमात्माका नाम राम है वह दशरथके घर कभी नहीं जन्मा। ☞ रामचरितमानसमें रामनामकी वन्दनामें इसीका खण्डन आरम्भसे है। 'रघुबर' के रामनामकी वन्दना करते हुए परात्परके रामनामसे उसकी एकता दिखायी है और रामावतारसे उसकी महिमाकी तुलना की है।

नोट—१ परमेश्वरके तो अनन्त नाम हैं, उनमेंसे श्रीरामनामकी ही वन्दनाका क्या हेतु है? उत्तर—(क) प्रभुके अनन्त नाम हैं पर 'राम' नाम सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। यथा—'परमेश्वरनामानि सन्त्यनेकानि पार्वति। परन्तु रामनामेदं सर्वेषामुत्तमं मतम्॥ महारामायणे ५०। १५॥', 'अनन्ता भगवन्मन्त्रा नानेन तु समा कृता। श्रियो रमणसामर्थ्यात् सौन्दर्यगुणसागरात्॥ श्रीराम इति नामेदं तस्य विष्णोः प्रकीर्त्तितम्। रमणातिशययुक्तत्वाद्राम इत्यभिधीयते॥' (हारीतस्मृतौ चतुर्थोऽध्यायः)। अर्थात् परमेश्वरके अनेक नाम हैं परन्तु रामनाम सर्वोत्तम है। पुनः भगवान्‌के अनन्त मन्त्र हैं पर वे सब इस 'राम' नामके तुल्य नहीं हैं। श्रीजीके रमणका सामर्थ्य तथा सौन्दर्यगुणसागर होनेसे श्रीराम यह प्रसिद्ध नाम है। सबको नित्य आनन्द देते हैं इसीलिये उनको 'राम' कहा जाता है। पुनः, पद्मपुराणमें शिवजीका वाक्य है कि 'राम' यह नाम विष्णुके सहस्रों नामके तुल्य है, समस्त वेदों और समस्त मन्त्रोंके जपने कोटि गुणा पुण्यका लाभ श्रीरामनामके जपसे होता है। यथा—'जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति। तस्मात्कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते॥ (पद्मपुराणे)।' पुनः जिस तरह 'श्रीमन्नारायणके पर्यायवाची 'विष्णु' के अनेक सहस्र नामोंके तुल्य या उनसे अधिक श्रीरामनामका होना पाया जाता है, उसी तरह श्रीरामनामके बराबर या अधिक श्रीमन्नारायणादिका माहात्म्य किसी श्रुति या स्मृतिमें नहीं पाया जाता। (बाबा श्रीहरिदासाचार्यजी)। पुनश्च 'श्रीरामनाम नमो ह्येतत् तारकं ब्रह्मनामकम्। नाम्नां विष्णोः सहस्राणां तुल्यमेव महामतु॥' (हारीत), 'रामरामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने॥'' (प० पु० उ० २५४। २२)।

(ख) जितने अन्य मन्त्र हैं, वे सब देवताओंके प्रकाशसे प्रकाशित हैं। जैसे गायत्रीमें सूर्यका प्रकाश है, शाबरमन्त्रमें श्रीशिवजीका और इसी भाँति किसीमें अग्निका, किसीमें चन्द्रमाका प्रकाश है। परन्तु श्रीरामनाम स्वतः प्रकाशित है और सूर्य, अग्नि, चन्द्र आदि सभी देवताओंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित किये हुए है। यथा—'सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई। १। ११७।' (प० रामकुमारजी), 'स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते।' (रा० पू० ता० २। १), 'रेफारूढा मूर्त्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च' (रा० ता० २। ३), 'रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे' (जाबालो० १)। इन श्रुतियोंमें 'राम' नामको स्वयम्भू (अपने आप प्रकट होनेवाले, किसी दूसरेसे जायमान नहीं), ज्योतिर्मय, प्रणव आदि अनन्तरूप धारण करनेवाला अर्थात् प्रणवादिका कारण और रेफके आश्रित सम्पूर्ण भगवद्रूपों एवं श्री, भू और लीलादि भगवच्छक्तियोंका होना कहकर सम्पूर्ण मन्त्रोंका प्रकाशक और रुद्रद्वारा उपदिष्ट होना कहा गया है।

(ग) श्रीरामनाम सब नामोंके आत्मा और प्रकाशक हैं। यथा—'नारायणादि नामानि कीर्तितानि बहून्यपि। आत्मा तेषां च सर्वेषां रामनामप्रकाशकः॥' (महारामायण ५२। ४०)। आत्माकी वन्दना करनेसे सारे शरीरको प्रणाम हो चुका। मयङ्ककार लिखते हैं कि ऐसा करनेसे सबको शीघ्र सन्तुष्ट किया।

(घ) श्रीरामनाममें जो रेफ, रेफका अकार, दीर्घाकार, हल मकार और मकारका अकार—ये पञ्च पदार्थ हैं इनके बिना एक भी मन्त्र, ऋचा वा सूत्र नहीं बनते हैं। (मा० प्र०)। वेदोंमें व्याकरणोंमें जितने भी वर्ण, स्वर, शब्द हैं वे सब 'राम' नामसे ही उत्पन्न होते हैं। यथा—'वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णाः स्वराः स्मृताः। रामनाम्नैव ते सर्वे जाता नैवात्र संशयः॥' (महारामायणे ५२। ६७)

(ङ) श्रीरामनामके अतिरिक्त जितने भी नाम परमेश्वरके हैं वे सब गुणक्रियात्मक हैं। अर्थात् वे सब गुण दर्शित करनेवाले नाम हैं। जैसे कि—(१) 'व्यापकोऽपि हि यो नित्य सर्वस्मिन्च चराचरे। विषप्रवेशने धातोर्विष्णुरित्यभिधीयते ॥९०॥ (महारा० ५२)। इस प्रमाणके अनुसार सम्पूर्ण चराचरमें नित्य ही व्यापक होनेसे 'विष्णु' नाम है। 'विष प्रवेशने' धातुसे 'स्नु' प्रत्यय लगानेसे विष्णु शब्द निष्पन्न होता है। पुन, (२) नरपदवाच्य परब्रह्मसे प्रथम जल उत्पन्न किया इससे उसका नाम 'नार' हुआ। फिर 'नार' में 'अयन' बनाकर रहनेसे उसी परमेश्वरका नाम 'नारायण' (जलमें है स्थान जिसका) हुआ। 'नृ नये' धातुसे नर शब्द निष्पन्न होता है। जीवोंके शुभाशुभ कर्मानुसार भोगका यथार्थ न्याय करनेसे परमात्माका नाम 'नर' है। यथा—'नरतीति नर प्रोक्त परमात्मा सनातन' (मनु०), 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव। अयन तस्य तास्य हि तेन नारायण. स्मृत ॥ मनु० १। १० ॥' 'नारास्त्वप्सु गृह यस्य तेन नारायण स्मृत ॥' (महारा० ५२। ८८), 'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधा। तस्य तान्ययन पूर्व तेन नारायण स्मृत ॥' (महाभारत)। यही बात श्रीमन्नारायणावतार भगवान् श्रीकृष्णजीने स्वीकार की है। यथा—'सृष्टा नार तोयमन्तःस्थितोऽहं तेन मे नाम नारायण।' (महाभारत), पुनश्च 'महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्व पूर्वमजीजन।' (वाल्मी० ७। १०४। ४), यह ब्रह्माजीका वाक्य है। वे कहते हैं कि महार्णवमें शयन करते समय आप (श्रीरामजी) ने मुझको उत्पन्न किया। अथवा, 'जीवनाराश्रयो योऽस्ति तेन नारायणोऽपि च ॥', (महारा० ५२। ८८) इस प्रमाणानुसार 'नार'=जीव, अयन=आश्रय। जीवसमूहका आश्रय अर्थात् अन्तर्यामीरूपसे धारण होनेसे 'नारायण' नाम है। पुन, (३) 'कृषिर्भूवाचकश्चैव णश्च निर्वृत्तिवाचक। तयोरैक्य महाविष्णे कृष्ण इत्यभिधीयते।' (महारा० ५२। ९१) इस प्रमाणानुसार 'कृष' अवयव भूवाचक अर्थात् सत्ताबोधक है और 'ण' अवयव निर्वृत्तिवाचक है अर्थात् आनन्दबोधक है। ये दोनों अवयव एक होनेपर उनसे कृष्ण शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् सत्तासम्पादक होनेसे कृष्ण नाम है। पुन, (४) 'सर्वे वसन्ति वै यस्मिन्सर्वस्मिन् वसतेऽपि वा। तमाहुर्वासुदेवञ्च योगिनस्तत्त्वदर्शिन ॥' (महारा० ८९) इसके अनुसार सम्पूर्ण विश्वका निवास परमेश्वरमें होनेसे अथवा सम्पूर्ण विश्वमें वास होनेसे तत्त्वदर्शी योगी उनको 'वासुदेव' कहते हैं। पुन, (५) 'कथ्यते स हरिर्नित्य भक्ताना क्लेशनाशन' (महारा० ५२। ९२) के अनुसार भक्तोंके क्लेश हरण करनेसे 'हरि' नाम है। पुन, (६) 'वायुवद्गगने पूर्णो जगतो हि प्रवर्तते। सर्वे पूर्ण निराकारं निर्गुणं ब्रह्म उच्यते।' (महारा० ५२। ९३)। इस प्रमाणसे पूरे आकाशमें जैसे वायु वैसे ही सम्पूर्ण जगत्में वर्त्तते हुए भी सर्वपूर्ण, निराकार और निर्गुण (अर्थात् प्रकृतिके गुणोंसे अलग) होनेसे 'ब्रह्म' नाम है। पुन, (७) 'भरणं पोषण चैव विश्वम्भर इति स्मृत' अर्थात् विश्वका भरण पोषण करनेसे 'विश्वम्भर' नाम है। (महारा० ५२। ९२)। पुन, (८) 'यस्यानन्तानि रूपाणि यस्य चान्त न विद्यते। श्रुतयो यं न जानन्ति सोऽप्यनन्तोऽभिधीयते ॥ ४६ ॥' के प्रमाणसे प्रभुके रूप, गुणादि अनन्त होनेसे, उनका अन्त किसीके न पा सकनेसे, श्रुति भी उनको साङ्गोपाङ्ग नहीं जान सकती इत्यादि कारणोंसे 'अनन्त' नाम है। पुन, (९) 'यो विराजत्तनुर्नित्य विश्वरूपमथोच्यते।' (महारा० ५२। ९५) अर्थात् विराट् विश्व उनका शरीर होनेसे 'विश्वरूप' कहे जाते हैं। (१०) इसी प्रकार चौंसठों कलाएँ उनमें स्थिर होनेसे 'कलानिधि' नाम है। इत्यादि। सब नाम गुणार्थक हैं।

महारामायणमें शिवजी कहते हैं कि समस्त नामोंके वर्ण रामनाममय हैं अर्थात् रामशब्दजन्य हैं, अतएव रमु क्रीडा जनक 'राम' शब्द सब नामोंके ईश्वर हैं। यथा—'रामनाममया सर्वे नामवर्णा प्रकीर्त्तिता। अतएव रमु क्रीडा नामस्वीश प्रवर्तते ॥ ५२। १०२।'

☞ भगवान्‌के सभी नाम सच्चिदानन्दरूप हैं। तथापि 'राम' नाममें और अन्य नामोंसे कुछ विशेषता है। वह यह कि श्रीरामनामके तीनों पदों 'र, अ, म' से सच्चिदानन्दका अभिप्राय स्पष्ट झलकता है। श्रीरामनाममें सच्चिदानन्दका अर्थ सम्यक् ही लोकता नहीं है, अन्य नामोंमें यथार्थत 'सच्चिदानन्द' का अर्थ घटित नहीं होता। किसीमें 'सत्' और आनन्द' मुख्य हैं, चित् गौण है, किसीमें 'सत् चित्' मुख्य हैं, आनन्द गौण है और किसीमें चित् आनन्द मुख्य है, सत् गौण है। प्रमाण—'सच्चिदानन्दरूपैश्च त्रिभिरेभि पृथक्-पृथक् ॥ १७ ॥ वर्तते रामनामेदं सत्यं दृष्ट्वा महेश्वरि ॥

नामान्येतान्यनेकानि मया प्रोक्तानि पार्वति ॥ ९८ ॥ कस्मिंश्चिन्मुख्य आनन्द सत्य च गौणमुच्यते। कस्मिंश्चित् चित्सतौ मुख्यो गौण चानन्दमुच्यते ॥ ९९ ॥ (महारामायणे ५२) । श्रीरामनामके तीन पदोमे सत् चित् आनन्द तीनोंके अर्थका प्रमाण। यथा—'चिद्वाचको रकार स्यात्सद्वाच्योऽकार उच्यते। मकारानन्दवाची स्यात्सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥' (महारामायणे), अर्थात् रकार चित्का, अकार सत्का और मकार आनन्दका वाचक है, इस प्रकार 'राम' यह नाम सच्चिदानन्दमय है ॥ (५२ । ५३) नाम-नामीका तादात्म्य होनेसे रा० पू० ता० उप० की श्रुति, 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ पर ब्रह्माभिधीयते ॥ १ । ६ ॥' भी प्रमाण है, क्योंकि 'राम' पदका अर्थ ही यह श्रुति है।

(च) अन्तकालमे कोई शब्द जिसके अन्तमें 'राम' हो, उच्चारण करनेसे तुरन्त मुक्ति होनेके प्रमाण अनेक मिलते हैं। 'हराम', 'चराम', 'तराम' आदि कहकर लोग मुक्त हुए। इस प्रकारके नामाभासमात्रके प्रतापसे मुक्ति भगवान्‌के अन्य किसी नाममें नहीं सुनी जाती। 'नारायण' नामसे अजामिल यमदूतके बन्धनसे छूट गये, ज्ञानोदय हो गया, उसके पश्चात् तप आदिमें प्रवृत्त होनेपर उसकी मुक्ति हुई।

(छ) 'राम' नामका एक एक अक्षर भी कोई-कोई जपते हैं। उसके एक-एक अक्षरका भारी महत्त्व है। रम्, रम्, राम-राम आदि तो व्याकरणसे शुद्ध ही हैं, इनके जपनेकी कौन कहे उलटे नामकी महिमा 'मरा-मरा' जपनेके महत्त्वसे वाल्मीकिजी ब्रह्म-समान हो गये। ऐसा उदाहरण किसी अन्य भगवन्नाममें सुना नहीं जाता। किसी अन्य नामके समस्त वर्णोंकी पृथक्-पृथक् ऐसी महिमा नहीं गायी गयी है जैसी श्रीरामनामके प्रत्येक वर्ण ही नहीं बल्कि प्रत्येक कला और निर्वर्ण अक्षरोंकी।

(ज) प्रणव ॐ वेदोंका तत्त्व कहा गया है परतु अथर्वशिरस्‌की 'य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते··· स प्रणवानामयुत जप भवति' (उ० ३ । ७) यह श्रुति कहती है कि जिस ब्राह्मणने अथर्वशिरस् उपनिषद्‌का अध्ययन किया, वह दस हजार प्रणव जप चुका। इस श्रुतिके अनुसार प्रणवका महत्त्व अथर्वशिरस्‌से न्यून है। परतु राममन्त्रके लिये ऐसा न्यूनत्वद्योतक कोई वाक्य किसी श्रुतिम नहीं मिलता। अपितु 'य एव मन्त्रराज श्रीरामचन्द्रषडक्षरं नित्यमधीते ।··· तेनेतिहासपुराणाना रुद्राणा शतसहस्राणि जप्तानि सफलानि भवन्ति · प्रणवानामयुतकोटिजप्ता भवन्ति ॥' (रा० उ० ता०) । अर्थात् जो कोई श्रीराम षडक्षर मन्त्रराजका नित्य जप करता है वह करोड़ों बार इतिहास, पुराण और रुद्रपरक (अथर्वशिरस्) उपनिषदोंका अध्ययन कर चुका 'वह दस हजार करोड़ प्रणवका जप कर चुका। इस श्रुतिमे स्पष्टरूपसे राममन्त्रकी सर्वोत्कृष्टता बतायी गयी है।

(झ) प्रणवमे शूद्रोंका अधिकार न होनेसे प्रणव उन सबोंको अलभ्य है। प्रणव उन्हे कृतार्थ नहीं कर सकता। अत· इतने अशमें प्रणवकी उत्कृष्टताका व्यर्थ होना सबको स्वीकार करना पड़ेगा। और प्रणवका कारणभूत रामनाम काशीमे मरनेवाले जन्तुमात्रको मोक्ष देता है। अत प्राणीमात्रका इसम अधिकार होनेसे यह सौलभ्यगुणमें भी सर्वश्रेष्ठ है।

(ञ) श्रीवसिष्ठजीने यह कहते हुए भी कि इनके अनेक नाम हैं फिर भी 'राम' ही नाम विचारकर रक्खा। यथा—'करि पूजा भूपति अस भाषा। धरिय नाम जो मुनि गुनि राखा ॥ इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा ॥ १ । १९७ ।' इससे निस्सन्देह निश्चय है कि प्रभुके सब नामोंमे यही श्रेष्ठ नाम है। नारदजी, शिवजी इत्यादि मुनियों और देवताओंका भी यही सिद्धान्त है। यथा—'जद्यपि प्रभुके नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका ॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका। 'राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम। अपर नाम उडुगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम ॥' (आ० ४२)। महारामायणमे शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि जैसे देवताओंमे इन्द्र, मनुष्योंमे राजा, अखिल लोकोंके मध्य गोलोक, समस्त नदियोंमें श्रीसरयूजी, कविवृन्दोंमें अनन्त, भक्तोंमे श्रीहनुमान्‌जी, शक्तियोंमें श्रीजानकीजी, अवतारोंमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजी, पर्वतोंमें सुमेरु, जलाशयोंमें सागर, गौओंमे कामधेनु,

धनुर्धारियोंमें कामदेव, पक्षियोंमें गरुड़, तीर्थोंमें पुष्कर, धर्मोंमें अहिंसा, साधुत्वप्रतिपादनमें दया, क्षमावालोंमें पृथ्वी, मणियोंमें कौस्तुभ, धनुषोंमें शार्ङ्ग, खड्गोंमें नन्दक, ज्ञानोंमें ब्रह्मज्ञान, भक्तिमें प्रेमाभक्ति, मन्त्रसमूहमें प्रणव, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, सप्तपुरियोंमें अयोध्यापुरी, वेदविहित कर्मोंमें भगवत्सम्बन्धी कर्म, स्वरसञ्ज्ञक वर्णोंमें अकार श्रेष्ठ है, वैसे ही भगवान्‌के समस्त नामोंमें श्रीरामनाम परम श्रेष्ठ है—'निर्जराणां यथा शक्रो नराणां भूपतिर्यथा।' से 'किमत्र बहुनोक्तेन सम्यग्भगवत प्रिये। नाम्नामेव च सर्वेषां रामनाम परं महत्॥' (५२। ७७ से ८५ तक)। देवर्षि नारदजीने श्रीरामनामके सर्वश्रेष्ठ होनेका वरदान ही माँग लिया, अतएव सर्वश्रेष्ठ जानकर इसीकी वन्दना की।

(ड) यही नाम श्रीमहादेवजी एवं श्रीहनुमानजीका सर्वस्व और जीवन है, ब्रह्मादिक देवताओंकी कौन कहे श्रीनारायणादि अवतार भी इस नामको जपते हैं, श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनजीसे श्रीरामनामके महत्त्वको विस्तारसे वर्णन करते हुए यही कहा है कि इस श्रीरामनाम जापकके फलको नहीं कह सकते, हम उनको भजते और प्रणाम करते हैं। यथा—'रामस्मरणमात्रेण प्राणान्मुञ्चन्ति ये नराः। फलं तेषां न पश्यामि भजामि तांश्च पार्थिव॥', 'गायन्ति रामनामानि सततं ये जना भुवि। नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यः पुनः पुनः'। इत्यादि वचन कहकर अर्जुनजीको श्रीरामनाम जपनेका उपदेश दिया और पुनः यह भी कहा कि हम भी 'राम' नाम जपते हैं। यथा—'तस्मान्नामानि कौन्तेय भजस्व दृढचेतसा। रामनामसमन्यायुक्तान्ते मे प्रियतमा सदा॥', 'राम नाम सदा प्रेम्णा संस्मरामि जगद्गुरुम्। क्षणं न विस्मृतिं याति सत्यं सत्यं वचो मम॥' (आदिपुराणे। श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाश' से उद्धृत)। श्रीकृष्ण भगवान्‌के श्रीमुखवचनसे भी और अधिक प्रमाण श्रीरामनामके सर्वोपरि होनेका क्या हो सकता है? श्रीरामचन्द्रजीका भी वचनामृत इस नामके महत्त्वपर है। यथा—'मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥' (उ० ४६)। वक्ता 'राम' हैं।

(ढ) सौलभ्य, उदारता, दयालुतादि गुण जैसे इस नामके स्वरूपमें प्रकट हुए वैसे किसी और अवतारमें नहीं हुए। यथा—'हरिहु और अवतार आपने राखी बेद बड़ाई' (विनय० १६३)।

(त) और अवतार जिस कारणसे हुए वह कार्य करके शीघ्र ही लुप्त हो गये पर 'राम' रूपमें कार्य करके फिर भी हजारों वर्ष पृथ्वीपर रहकर प्रभुने जगत्‌को कृतार्थ किया, चक्रवर्ती महाराजा होकर सबकी मर्यादा रखते हुए जगत्‌का पालन किया।

(द) दाशरथी श्रीरामजी ही ग्रन्थकारके उपास्यदेव हैं, अतः श्रीरामनामकी वन्दना स्वाभाविक ही उन्होंने की और उनका दृढ़ विश्वास है कि यही नाम सर्वश्रेष्ठ है।

(ण) आगे नौ दोहोंमें सब रामनामकी विशेषता ही है।

☞ यह नामवन्दना-प्रकरण है। इसमें राम नामकी महिमा नौ दोहोंमें गायी गयी है। जब किसीकी श्रेष्ठता दर्शानी होती है तो अवश्य प्रसङ्गवश कुछ दूसरोंकी न्यूनता कथनमें आ ही जाती है। पर वह किसी बुरे भावसे नहीं होती। भगवान्‌के सभी नाम, सभी रूप सच्चिदानन्दरूप हैं, सभी चित्तके प्रकाशक हैं, सभी श्रेष्ठ हैं। अतः न्यूनाधिक्य वर्णनसे अन्य नामोंके उपासक मनमें कोई द्वेषभाव न समझें।

नोट—श्रीरामनामवन्दनाप्रकरण यहाँसे उठाकर कविने प्रथम तो नामकी वन्दना की। अब आगे नौ दोहोंमें नामके स्वरूप, अङ्ग और फल कहेंगे। इसलिये इस प्रथम दोहेमें सूक्ष्म रीतिसे इन तीनोंको कहकर फिर आठ दोहोंमें इन्हींको विस्तारपूर्वक कहेंगे। 'हेतु कृसानु ··' यह नामका स्वरूप है।

'हेतुकृसानु भानु हिमकर को' इति। 'हेतु'के प्रधान दो अर्थ हैं, कारण (आदिकारण) और बीज। यथा—'हेतुर्ना कारणं बीजं निदानं त्वादिकारणम्' अमरकोश (१।४।२८)। मानसपरिचारिकाकारके मतानुसार भूतकारण और बीज कारण, विशेषकारण और सामान्य कारण, ये कारणके भेद हैं। कारणके दो भेद निमित्त और उपादान भी हैं। जैसे, कुम्हार निमित्त है और मिट्टीके बरतनोंका उपादान कारण मिट्टी है, क्योंकि मिट्टी स्वयं कार्यरूपमें परिणत

हो जाती है। इनके अतिरिक्त साधारण वा सहाय कारण भी कोई कोई मानते हैं जैसे कुम्हारका चाक, डण्डा, जल आदि।

श्रीरामनामको अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका हेतु कहकर यह जनाया है कि इन तीनोंका कारण श्रीरामनाम है और ये तीनों कार्य हैं।

प्रथम चरण (पूर्वार्ध) में श्रीरामनामकी वन्दना करके उत्तरार्धमें इस महामन्त्रका अर्थ करते हैं। 'हेतु कृसानु भानु ' ' इत्यादि 'राम' नामका अर्थ वा गुण है। श्रीरामनामको कृशानु आदिका हेतु कहकर जनाया कि—(क) अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा ये तीनों तेजस्वी हैं। ससारमें परम ज्योतिमान् ये ही तीन हैं। इनके हेतु श्रीरामनाम हैं अर्थात् श्रीरामनामके तेजसे ही ये तीनों तेजस्वी हुए। नामके एक एक अक्षरसे इन्होंने तेज पाया है, । सम्पूर्ण नामका तेज किसीमें नहीं है। (प० रामकुमारजी)। श्रुतियोंने कहा है। 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः। (छा० ३। १३। ७) अर्थात् लोकपरलोक उभय विभूतिमें जो कुछ भी ज्योति है (कहीं भी जो कोई ज्योतिष्मान् है) उन सबकी ज्योतिके कारण श्रीरामजी हैं। इसी तरह इस चौपाईमें इनका हेतु कहकर श्रीरामनामको परब्रह्म कहा। (वे० भू० रा० कु०)

(ख) कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। 'राम' नामसे इनकी उत्पत्ति है। *यथा*—'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥' (यजुर्वेदे पुरुषसूक्ते), 'नयन दिवाकर कच घनमाला। ' आनन अनल ॥ अहकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। ६। १५।' (प० रामकुमारजी)

नोट—नाम-नामीमें अभेद वा तत्त्वकारणके ये प्रमाण दिये गये हैं।

(ग) बीजकारण कहनेका भाव यह है कि 'राम' नामके तीन अक्षर (र, अ, म) क्रमशः इन तीनोंके बीजाक्षर हैं। 'र' अग्निबीज है, 'अ' भानुबीज है और 'म' चन्द्रबीज है। यथा—'रकारोऽनलबीजं स्याद्ये सर्वे बाडवादय। कृत्वा मनोमल सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम् ॥ अकारो भानुबीज स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकम्। नाशयत्येव सद्दीप्त्या याऽविद्या हृदये तम ॥ मकारश्चन्द्रबीजश्च पीयूषपरिपूर्णकम्। त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च ॥' (महारामायणे ५२। ६२, ६३, ६४) अर्थात् 'र' अग्निबीज है। जैसे अग्नि शुभाशुभ वस्तुओंको जलाकर भस्म कर देता है और कुछ वस्तुओंका मल तथा दोष जलाकर उनको शुद्ध बना देता है, वैसे ही 'र' के उच्चारणसे भी दो कार्य यहाँ कहे, एक यह कि उसके उच्चारणसे शुभाशुभ कर्म नष्ट होते हैं जिसका फल स्वर्ग-नरकका अभाव है, दूसरे यह कि मनके मल विषयवासनाओंका नाश हो जाता है, स्वस्वरूप झलक पड़ता है। यहाँ कार्यसे कारणमें विशेषता दिखायी। अग्निसे जो कार्य नहीं हो सकता वह भी उसके बीजसे हो जाता है। 'अ' भानुबीज है, वेदशास्त्रोंका प्रकाशक है। जैसे सूर्य अन्धकारको दूर करता है, वैसे ही 'अ' से हृदयमें मोह आदि जो अविद्यातम है, उसका नाश (होकर ज्ञानका प्रकाश) होता है। 'म' चन्द्रबीज है, अमृतसे परिपूर्ण है। जैसे चन्द्रमा शरदातपको हरता है, शीतल करता है वैसे ही 'म' से (भक्ति उत्पन्न होती है जिससे) त्रिताप दूर होते है, हृदयमें शीतलतारूपी तृप्ति प्राप्त होती है। जो गुण इस श्लोकमें कहे गये हैं उनसे यह साराश निकलता है कि 'र', 'अ', 'म' क्रमशः वैराग्य, ज्ञान और भक्तिके उत्पादक हैं। प्रमाण यथा—'रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम् ॥' (महारामायणे)। इस प्रकार इस चौपाईका तात्पर्य यह है कि मनोमल तथा शुभाशुभ कर्मोंका भस्म होना, वैराग्य, वेदशास्त्रादिमें प्रवेश, अज्ञान-नाश, ज्ञान-प्राप्ति, भक्ति तथा त्रितापशान्ति इत्यादि सब श्रीरामनामसे ही प्राप्त हो जाते है। अत इन सब वस्तुओंकी चाह रखनेवालोंको श्रीरामनामका जप करना चाहिये। श्रीमद्गोस्वामीजीने 'राम' नाममें अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाकी क्रियाओं और गुणोंका लक्ष्य इस ग्रन्थमें भी दिया है। अग्निका गुण, यथा—'जासु नाम पावक अघ तूला' (२। २४८)। सूर्यका गुण, यथा—'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा' (१। ११६)। चन्द्रमाका गुण, यथा—'राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम। (३। ४२)।' (रा० प्र०, पां०, मा० प्र०, बै०, करु०)

(घ) अग्निका प्रकाश दोनों सध्याओंमें; सूर्यका प्रकाश दिनमें और चन्द्रमाका प्रकाश रात्रिमें होता है (एक-

एक अक्षरके प्रतापसे) और रामनामका प्रकाश सदा रहता है। यह भाव तीनों बीजोंसे बताया। (रा० प०)। ऊपर (ग), (घ) से यह निष्कर्ष निकला कि 'राम' नामके एक-एक अक्षर भी इन तीनोंसे विशेष हैं, तब पूरे 'राम' नामकी महिमा क्या कही जाय? पुनः ये तीनों केवल लौकिक सुख देते हैं और 'राम' नामके वर्ण इहलोक और परलोक दोनों बना देते हैं। वैराग्य, ज्ञान और भक्ति देनेकी शक्ति कार्यमें नहीं है।

(ङ) प० श्रीकान्तशरणजीने 'हेतु कृसानु ' पर एक भाव यह लिखा है कि "श्रीरामनाम अग्नि आदि तीनोंका कारण है, मूल है और जिह्वापर इन्हीं तीनोंका निवास भी है। यथा—'जिह्वामूले स्थितो देव सर्वतेजोमयोऽनल। तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठित ॥' (योगी याज्ञवल्क्य)। अतः जिह्वासे इन तीनों वर्णात्मक श्रीरामनामके जपनेसे अपने-अपने मूलकी प्रकाश प्राप्तिसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाद्वारा होनेवाले उपयुक्त वैराग्य, ज्ञान और भक्तिका पूर्ण विकास होता है तब वैराग्यद्वारा अन्तःकरणशुद्धिमें कर्मदोष, ज्ञानद्वारा गुणातीत होनेसे गुणदोष और भक्तिद्वारा कालदोष निवृत्त होता है।"

रेखाङ्कित अंशपर यह शङ्का होती है कि 'क्या सामान्य अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाके द्वारा वैराग्य, ज्ञान और भक्ति उत्पन्न होती है?' जिस प्रमाण 'रकारहेतुर्वैराग्य ' के आधारपर यह कहा जा रहा है उसके अनुसार तो 'र, अ, म' ही वैराग्यादिके उत्पादक हैं, न कि अग्नि आदि। यदि अग्नि आदि वैराग्यादिके कारण नहीं हैं, तब और जो कुछ इसके आधारपर लिखा गया, वह सब विचारणीय ही है। हाँ! योगी याज्ञवल्क्यके वचनके आधारपर एक भाव यह हो सकता है कि जिह्वापर जब कि इन देवताओंकी स्थिति है तब अन्य नामोंकी अपेक्षा ये तीनों देवता अपने बीजरूप इस नामके उच्चारणमें अवश्य ही सहायक होंगे। योगी याज्ञवल्क्य नामकी दो-तीन पुस्तकें हमारे देखनेमें आयीं। उनमें यह श्लोक नहीं है।

(च) 'राम नामको बीजकारण कहनेपर यह शंका हो सकती है कि 'जैसे बीज वृक्षको उत्पन्न करके वृक्षमें लीन हो जाता है, मृगाङ्की पुटी आदि ताँबेको सोना करके उसीमें लीन हो जाती है, मिट्टी घट बनाकर तद्रूप हो जाती है। बीजकी अलग सत्ता नहीं रह जाती, वह कार्यमें लीन हो जाता है। इसी तरह 'र', 'अ', 'म' कृशानु आदिको उत्पन्न करके उसीमें लीन हो गये, तब 'राम' नामकी वन्दना कैसे होगी, उसकी तो अलग सत्ता ही नहीं रह गयी? वन्दना तो अब होनी चाहिये 'कृशानु, भानु हिमकर,' की?' तो इसका समाधान यह है कि कारण भी दो प्रकारका है, एक विशेष, दूसरा सामान्य। कारण कार्यमें लीन हो जाता है, जैसे बीज वृक्षको उत्पन्न कर उसीमें लीन हो जाता है इत्यादि। विशेष कारण अनेक कार्य उत्पन्न करके भी अपने कार्योंसे सर्वथा अलग एवं पूर्ण ज्यों-का-त्यों बना रहता है, जैसे पारस अनेकों लोहोंको सोना बनाकर फिर भी ज्यों-का-त्यों बना रहता है, माता-पिता अनेकों संतानें उत्पन्न कर उनसे सर्वथा पृथक् रहते हैं इत्यादि। इसी प्रकार श्रीरामनाम विशेष कारण है, अनेकों अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदिकी क्या, अनन्त ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न करके भी स्वयं ज्यों-के-त्यों पूर्ण एवं सर्वथा अलग बने रहते हैं। (करुणासिन्धुजी, मा० प्र०)। अथवा कारणके दो भेद हैं—निमित्त कारण और उपादान कारण। श्रीरामनाम निमित्त कारण है। जैसे कुम्हार मृत्तिकाके अनेक पात्र बनाकर उनसे अलग रहता है, उसकी सत्ता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, वैसे ही श्रीरामनामको समझिये।

(छ) मूलकारण कहनेका भाव यह है कि 'राम' नामके अक्षर 'र', अ, म' जो कृशानु आदिके बीज अक्षर हैं यदि उनमेंसे निकाल डाले जायँ तो वे निरर्थक हो जायँगे। अर्थात् कृशानुमेंसे 'रकार' जो बीजरूपसे उसके भीतर है, भानुमेंसे 'अकार' और हिमकरमेंसे 'मकार' निकाल लें तो 'कशानु', 'भनु' और 'हिकर' रह जाते हैं। भाव यह कि जैसे र, अ, म के बिना कृशानु आदिका शुद्धोच्चारण नहीं हो सकता वैसे ही 'र' के बिना अग्निमें दाहकशक्ति, 'अ' बिना भानुमें प्रकाशकी शक्ति और 'म' बिना हिमकरमें त्रितापहरणकी शक्ति नहीं रह जाती। तीनोंमें यह शक्ति रामनामसे ही है। (मा० प्र०, रा० प्र०, पा०, रा० बा० दा०)।*

---

* मा० प्र० कारने 'हेतु' का एक अर्थ 'प्रिय' भी लेकर उत्तरार्धका अर्थ यह किया है कि 'हिमकर' (=जो हिम अर्थात् जाड़ाको करे=अगहन पौष मास) को अग्नि और सूर्य बहुत प्रिय है वैसे ही अह—ममरूप अगहन-पौषमें जड़तारूपी जाड़ा लग रहा है उसमें रामनामरूपी कृशानु भानु जड़ता हरण करता है अतः प्रिय है।

नोट—२ श्रीरामनामको सबसे परम तेजस्वी, परम हितकारी आदि इन तीनों वस्तुओंका कारण कहकर 'नाम' की शक्ति और महत्त्वका किञ्चित् परिचय दिया है। कार्यके द्वारा कारणका गुण दिखाया है। तीनों कार्योंका बल कैसा है सो सुनिये। अग्निका बल, यथा—'काह न पावकु जारि सक। २। ४७।' सूर्यका बल, यथा—'उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा। १। २३९।' चन्द्रमाका बल, यथा—'सरदातप निसि ससि अपहरई। ४। १७।' पुनः, अग्नि आदि तीनों जगत्‌का पोषण करते हैं। अग्नि भोजनको पकाता, जठराग्नि भोजन पचाकर शरीरको पुष्ट करता, शीतसे बचाता, यज्ञादिद्वारा देवोंका पालन करता है, इत्यादि। सूर्य तमनिवारणद्वारा संसारकी रक्षा, कर्मकाण्डमात्रकी रक्षा, जलशोषण एवं मेघद्वारा संसारको जल देकर अन्न, औषध आदि उपजाकर प्राणीमात्रका पोषण करता है, अनेक रोगोंका नाश करता है, इत्यादि। चन्द्रमा अमितमय किरणोंसे ओषधियाँ आदिको पुष्ट और कामके योग्य बनाता है, शरदातप हरता है, इत्यादि। सूर्य और चन्द्रके बिना जगत्‌का पोषण असम्भव है। यथा—'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन। १। २०।' अस्तु। जब कार्यमें ऐसे गुण हैं कि बिना उनके सृष्टिमें जीवन असम्भव है तब तो फिर कारणका प्रताप न जाने कितना होगा!

३ इनका कारण कहकर रामनामको सूर्यसे अनन्तगुणा तेजस्वी, चन्द्रमासे अनन्तगुणा अमृतवर्षी एवं तापहारक और अग्निसमान सबको अत्यन्त सुलभ जनाया। पुनः यह भी सूचित किया कि कृशानु आदि तीनोंका बल, तीनोंकी उपासना एक साथ ही केवल रामनामकी उपासनासे पूरी हो जाती है। रामनामोच्चारणसे ही इन सबोंकी सेवापूजाका फल प्राप्त हो जाता है। अतः इसीमें लग जाना उचित है।

४ बाबा जानकीदासजी यह प्रश्न उठाकर कि 'रामनामका इतना बड़ा विशेषण देकर वन्दना करनेमें क्या हेतु है?' उसका उत्तर यह देते हैं कि—(क) गोस्वामीजी तुरत शुद्धि चाहते हैं पर तुरत शुद्धि न तो ज्ञान, वैराग्य, योगसे और न भक्तिसे हो सकती है और बिना शुद्धि श्रीरामचरित गान करना असम्भव है। तब उन्होंने विचार किया कि रामनामके कार्य अग्नि आदिमें जब इतने गुण हैं तब स्वयं रामनाममें न जाने कितना गुण और महत्त्व होगा। रामनाम हमारे शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर हमारे मन और मतिको रामचरित गाने योग्य तुरत बना देगा। यह सोचकर उन्होंने 'राम' नामकी इन विशेषणोंद्वारा वन्दना की। इसपर यह शंका होती है कि 'यह काम तो 'र' से ही हो जाता है, 'अ', 'म' की वन्दनाका प्रयोजन ही क्या रह गया?' समाधान यह है कि अग्निमें थोड़ा प्रकाश होता है। 'र' से शुभाशुभ कर्म भस्म हुए, स्वस्वरूप, परस्वरूप झलक पड़ा, उसे भले ही ध्यान किया करे पर रामचरित बिना पूर्ण प्रकाशके नहीं सूझ पड़ता। भानुबीज 'अ' से अविद्यारूपी रात्रि हटेगी तब वेदशास्त्रका यथार्थ तत्त्व देख पड़ेगा तब रामचरित (जो श्रुतिसिद्धान्तका निचोड़ है)। अग्नि और वैराग्यकी एक क्रिया है। 'र' वैराग्यका कारण है। सूर्य और ज्ञानकी एक क्रिया है। 'अ' ज्ञानका कारण है। जैसे अग्नि और सूर्यमें उष्णता है वैसे ही वैराग्य और ज्ञानमें 'अहंता' रूपी उष्णता है। अहंकार रहेगा तब चरित कैसे सूझेगा? अहंकारको भक्ति शान्त कर देती है। चन्द्र और भक्तिका एक सा कर्म है। 'म' भक्तिका कारण है। अतः 'र, अ, म' तीनोंकी वन्दना की। इसपर पुनः शंका होती है कि चन्द्रमाके प्रकाशमें तो सूर्यका अभाव है वैसे ही 'म' के उदयमें 'अ' का अभाव होगा? नहीं, दृष्टान्तका एक देश ही लिया जायगा। पुनः, जैसे चन्द्रमणिको अग्नि वा सूर्यके सामने रखनेसे प्रकाश तो वैसा ही बना रहता है पर उष्णता हरण हो जाती है। वैसे ही 'र, अ, म' कारण और वैराग्य, ज्ञान, भक्ति एक साथ बने रहते हैं। अथवा, (ख), यद्यपि 'रकार' की ही वन्दनासे शुभाशुभ कर्म भस्म हो गये तथापि रामभक्त पूरा नाम ही जपते हैं जिससे पराभक्तिको प्राप्त कर सामीप्य पाते हैं। प्रमाण यथा—'रकारो योगिनां ध्येयो गच्छन्ति परमं पदम्। अकारो ज्ञानिनां ध्येयस्ते सर्वे मोक्षरूपिण। पूर्णनाम मुदा दासा ध्यायन्त्यचलमानसा। प्राप्नुवन्ति परां भक्तिं श्रीरामस्य समीपकम्॥ (महारामायणे ५२। ६९-७०)।

बिधिहरिहरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुननिधान सो॥ २॥

शब्दार्थ—अगुन (अगुण)=मायिक गुणोंसे रहित ।=सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणोंसे परे । अनूपम उपमारहित, जिसकी कोई उपमा है ही नहीं । गुननिधान=भक्तवात्सल्य, कृपा, शरणागतपालकत्व, करुणा, कारणरहित कृपालुता आदि दिव्य गुणोंके खजाना वा समुद्र । सो=वह ।=सदृश, समान ।

नोट—इस अर्धालीके अर्थ कई प्रकारसे होते हैं ।

अर्थ— १ वह (श्रीरामनाम) विधिहरिहरमय हैं, वेदोंके प्राण है, मायिक गुणोंसे परे, उपमारहित और दिव्य गुणोंके निधान हैं ॥ २ ॥

अर्थ—२ 'वह श्रीरामनाम विधिहरिहरमय वेदके भी प्राण हैं ।' (श्रीरूपकलाजी)

अर्थ—३ 'श्रीरामनाम वेदप्राण (ओंकार) के समान ही विधिहरिहरमय हैं और तीनों गुणोंसे परे, (अर्थात् मायासे परे) है और अनुपम गुणोंके खजाना हैं ।' (लाला भगवानदीनजी) ।

अर्थ—४ श्रीरामनाम विधिहरिहरमय है, वेदप्राण (प्रणव) के समान हैं·· (प० रामकुमारजी) ।

अर्थ—५ (उत्तरार्धका अर्थ प शिवलालपाठकजी यह करते हैं) 'अगुण (ब्रह्म), अनुपम (जीव) और गुणनिधान (माया) तद्रूप है ।'

नोट—'विधि हरिहरमय' इति । 'मय तद्धितका एक प्रत्यय है जो तद्रूप, विकार और प्राचुर्य अर्थमें शब्दोंके साथ लगाया जाता है । उदाहरण—(१) तद्रूप— 'सियाराममय सब जग जानी' । (२) विकार—'अमिय मूरिमय चूरन चारु' । (३) प्राचुर्य— 'मुदमंगलमय संत समाजू ।' (श० सा०)

श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामनामके सम्बन्धमें 'मय' पद दोहावलीमें भी दिया है । यथा—'जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास । रामनाम सब धरममय जानत तुलसीदास ॥ (दोहा २९) इस दोहेको 'मय' के अर्थके लिये प्रमाण मानकर 'विधिहरिहरमय' का आशय यह होता है कि—(१) श्रीरामनाम ही मानो विधिहरिहररूप है कि जिनसे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, श्रीरामनामहीसे त्रिदेवमें यह शक्तियाँ हैं (जैसे बीज बिना पृथ्वीके वृक्ष, अन्न इत्यादि उत्पन्न नहीं कर सकता) । प्रमाण यथा—'रामनामप्रभावेण स्वयम्भू सृजते जगत् । बिभर्ति सकलं विष्णु शिव संहरते पुन' (महारामसंहितायाम्) । (२) जैसे आकाशमें अगणित तारागण स्थित हैं,, कितने हैं कोई जान नहीं सकता, वैसे ही रामनाममें अगणित ब्रह्माण्ड एवं अगणित ब्रह्माविष्णुशिव स्थित हैं, श्रीरामनामके अंशहीसे सब उत्पन्न होते हैं मानो श्रीरामनाम इन सबोंसे परिपूर्ण हैं यथा—'रामनामांशतो याता ब्रह्माण्डा कोटि कोटिश.। (पद्मपुराणे) । 'राम' नामके केवल 'र' से त्रिदेवकी उत्पत्ति है । यथा—'रकाराज्जायते ब्रह्मा रकाराज्जायते हरि' । रकाराज्जायते शम्भू रकारात्सर्वशक्तय ॥ (इति पुलहसंहितायाम्) । 'अबला बिलोकहिं पुरुषमय जगु पुरुष सब अबलामयम् । १ । ८५ ।' मे भी 'मय' इसी (अर्थात् परिपूर्णके) भावमें आया है । प० रामकुमारजी लिखते है कि 'रामनाम ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिपालनसंहारके लिये ब्रह्माविष्णुमहेशको उत्पन्न करते है । इस प्रकार नामहीसे समस्त ब्रह्माण्डके व्यवहार होते हैं ।' (३) जैसे रामनाम जपनेसे सब धर्म और धर्मफल प्राप्त होते है, वैसे ही विधिहरिहरकी सेवासे जो फल प्राप्त होते हैं, वे केवल श्रीरामनामहीके जपमें प्राप्त हो जाते हैं और त्रिदेव भी स्वयं जापकके पास आ प्राप्त होते हैं, जैसे श्रीमनुशतरूपाजीने नामसुमिरनहीसे तप प्रारम्भ किया, तो त्रिदेव बारबार उनके पास आये कि वर माँगो । पुन, (४) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'मय' दो प्रकारका होता है, एक तादात्मक, दूसरा बाहुल्यमय, (जिसे 'मानस परिचारिका' में प्रचुरात्मक कहा है) । गुण और स्वरूपकी जब एकता होती है तब उसे तदात्मक कहते हैं । जैसे, सेना मनुष्यमय है, गाँव घरमय है, पट सूत्रमय है, लवण क्षारमय है, घट मृत्तिकामय है, कण्ठा स्वर्णमय है, इत्यादि । जब गुण और स्वरूप भिन्न होते हैं तब बाहुल्यमय वा प्रचुरात्मक कहते हैं जैसे मणि द्रव्य अन्न गजवाजिवस्त्रादिमय है । यथा—'बसन बसन पशु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे' (विनय० १२४) । अर्थात् मणि बहुमूल्य होनेके कारण उसमे द्रव्य अन्नादिक प्राप्त हो सकते है मानो ये सब वस्तुएँ मणिमें स्थित है, पण्डित विद्यामय, सन्त दिव्यगुणमय इत्यादि । जब

विधिहरिहर गुणोंसे परे शुद्धरूप है तब श्रीरामनाम विधिहरिहरतदात्मकमय है, और जब गुणोंको धारण करके सृष्टि रचते हैं तब प्रचुरात्मकमय है। 'रामनाम' में अनेक ब्रह्माण्ड हैं, प्रति ब्रह्माण्डसे विधिहरिहर है। इसलिये मणिद्रव्यादिमयके अनुसार श्रीरामनामको 'विधिहरिहर' बाहुल्यमय कहा। (५) पं० रामकुमारजी 'विधिहरिहरमय' के भावपर यह श्लोक देते हैं—'रुद्रोऽग्निरुच्यते रेफो विष्णु सोमो म उच्यते। तयोर्मध्ये गतो ब्रह्मा आकारो रविरुच्यते॥ १॥ रश्च रामेऽनिले वह्नौ रश्च रुद्रे प्रकीर्तित.' आकारस्तु पितामहो मश्च विष्णौ प्रकीर्तित. । इत्येकाक्षर ॥ २॥' अर्थात् रुद्र और अग्नि रेफसे, विष्णु और सोम मकारसे और ब्रह्मा तथा सूर्य मध्यके आकारसे उत्पन्न होते हैं ॥ १॥ रकारसे राम, पवन, अग्नि और रुद्रका ग्रहण होता है। आकारसे पितामह (ब्रह्मा) और मकारसे विष्णुका ग्रहण होता है।

नोट—१ त्रिदेव त्रिगुणसे उत्पन्न है और तीनों गुण धारण किये हैं। रामनाम विधिहरिहरमय है। इससे यह शङ्का होती है कि 'रामनाम' भी त्रिगुणमय है। इसीलिये उत्तरार्धमें कहते हैं कि ये अगुण हैं, सबके कारण होते हुए भी सबसे पृथक् हैं, तीनों गुणोंसे परे हैं। (पं० रा० कु०)

'वेदप्रान सों' इति। (१) प्राण=सार, तत्त्व, आत्मा। श्रीरामनाम वेदके सार, तत्त्व, आत्मा हैं। यथा—'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा। १। १०।' 'धरे नाम गुरु हृदय बिचारी। बेद तत्व नृप तव सुत चारी। १। १९८।' 'त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोङ्कार. परात्पर', 'सहस्रशृंगो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभ' 'संस्कारास्त्वभवन्वेदा नैतदस्ति त्वया विना'। (वाल्मीकीययुद्धकाण्डे सर्ग ११९ श्लोक १८, १६, २५। चतुर्वेदीके संस्करणमें यह सर्ग १२० है)।

(२) करुणासिंधुजी 'रामनाम' को 'वेदप्राण' कहनेका भाव यह कहते हैं कि 'जैसे शरीरमें प्राण न रहनेसे शरीर बेकार हो जाता है, वैसे ही वेदकी कोई ऋचा, सूत्र, मन्त्रादिकी स्थिति बिना रामनामके पञ्चपदार्थ (रेफ, रेफका आकार, दीर्घाकार, हल् मकार, मकारका अकार) के हो ही नहीं सकती; क्योंकि सब स्वर वर्णादि श्रीरामनामहीसे उत्पन्न हुए हैं, यथा—'वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णा· स्वरा स्मृता.। रामनाम्नैव ते सर्वे जाता नैवात्र संशय॥' (महारामायणे)

(३) पुन यों भी कहते हैं कि प्रणव (ओम्) वेदका प्राण है और ओम् श्रीरामनामके अन्तर्गत सिद्ध होता है। यथा—'रामनाम्न समुत्पन्न प्रणवो मोक्षदायकः। रूपं तत्त्वमसेश्चासौ वेदतत्त्वाधिकारिण.॥ अतएव रामनाम वेदके प्राण हुए। श्रीरामतापिनीकी 'जीवत्वेनेदमो यस्य' इति श्रुतिमें प्रणवकी उत्पत्ति वह्निबीजसे स्पष्टत· पायी जाती है। जैसे अग्निसे तपाये हुए पत्थरसे लोहेकी उत्पत्ति होती है वैसे ही वह्निबीजद्वारा व्याहृतियों (भूर्भुव· स्व) से प्रणवका आविष्कार होनेसे प्रणव इनका कार्य सिद्ध हो गया। (रा० ता० भाष्य)

नोट—२ 'श्रीरामनाम' षट् पदार्थ (र, रकारका अकार, आ, म्, मकारका अकार नाद) युक्त हैं, इनसे व्याकरणकी रीतिसे प्रणव सिद्ध होता है, संस्कृत व्याकरणके जाननेवाले प्रमाणसे समझ सकते हैं। प्रमाण यथा 'रामनाम महाविद्या षड्भिर्वस्तुभिरावृतम्। ब्रह्मजीवमहानादैस्त्रिभिरत्यद्भवामि ते॥ २६॥ स्वरेण बिन्दुना चैव दिव्यया मायया च। पृथक्त्वेन विभागेन साम्प्रत शृणु पार्वति॥ ३०॥ परब्रह्ममयो रेफो जीवोकारश्च मस्य च। रस्याकारो महानादो राया दीर्घ स्वरात्मिका॥ ३१॥ मकारो व्यञ्जनं बिंदुः हेतुः प्रणवमाययो। अर्द्धभागादुकार स्यादकारान्नादरूपिण ॥ ३२॥ रकारो गुरुराकारस्तथा वर्णविपर्यय। मकारं व्यञ्जन चैव प्रणवञ्चाभिधीयते॥ ३३॥ मस्या सर्वाणित मत्वा प्रणवे नादरूपधृक्। अन्तर्भूतो भवेद्रेफ प्रणवे सिद्धिरूपिणी॥ ३४॥ (महारामायणे श्रीशिववाक्यम्)

वे० भू०—वैयाकरणिक नियमसे 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ' अर्थात् आगम, विपर्यय (निर्देश), विकार और नाश (लोप) ये चार क्रियाएँ वर्णोंकी होती हैं। महर्षि पाणिनिने इसीलिये 'उणादयो बहुलम्। ३। ३। १।' सूत्र लिखा है। इससे 'संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च तत. परे। कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु।' अर्थात् नामोंमें अनुकूल धातु, उसके आगेके प्रत्यय आदि और उसके आगम

लोप आदि कार्यके अनुरूप किये जाते हैं। कणादिका यह शास्त्र है। इन नियमोंके कारण 'राम' शब्दसे 'ओम्' की निष्पत्तिके लिये जब 'राम' शब्दका वर्णच्छेद किया जायगा तो उसकी स्थिति होगी र् अ अ म अ। इसके वर्ण विपर्यय कर देनेसे अ अर् अ म् यह स्थिति होगी। 'अतो रोरप्लुतादप्लुते ६। १। ११३)।' इस सूत्रसे 'र्' का 'उ' विकार होगा। और 'अकः सवर्णे दीर्घः ६। १। १०१।' इस सूत्रसे 'उकार' के प्रथमके दोनों 'अकार' का दीर्घ 'आ' होकर 'आद्गुणः ६। १। ८७।' इस सूत्रसे 'आ' और 'उ' दोनोंका विकार 'ओ' होकर 'एङः पदान्तादति ६। १। १०९।' सूत्रसे अवशिष्ट 'अ' का पूर्वरूप नाश होकर 'ओम्' निष्पन्न होगा। स्मरण रहे कि जिस प्रकार वैयाकरण शास्त्रके द्वारा 'राम' से 'ओम्' उत्पन्न होता है उस तरह 'ओम्' से 'राम' बननेकी कोई भी विधि वैयाकरण नहीं प्रकट करता।

पं० शिवलाल पाठकजी कहते हैं कि प्रणव रामनामकी पंचकलाके संयोगसे बना है क्योंकि प्रणवमें तारक, दण्डक, कुण्डल, अर्द्धचन्द्र और बिन्दु—ये पाँच कलाएँ हैं और 'राम' में रेफ भी है। यथा—'बड़ईं श्री दोऊ वरण तुलसी जीवनमूर। लसे रसे एक एक के तार तार दोउ पूर॥ रवि भासा जो मतल से सो त्रयतारक राज। तुलसी दक्षिण दण्ड हैं बायें कुण्डल भ्राज॥ अर्ध चन्द्र ताके परे अमीकुण्ड पर पार। सप्त सूत्र भर ब्रह्म ए तुलसी जीवनसार॥' इति श्रीरामनामकलाकोषमणिमयूख। (मा० म०),

प० श्रीकान्तशरणजी 'राम' से 'ओम्' की सिद्धिके प्रकार यह देते हैं, —(१) 'जैसे 'राम' इस पदमें 'र्, अ, अ, म्, अ' ये पाँच अक्षर हैं, उनमें वर्णविपर्यय करनेपर 'अ, र, अ, म, अ' होता है, उसमें 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (पा० ६। १। ११३), इस सूत्रसे 'र' का 'उ' हुआ और आद्गुणः' (पा० ६। १। ८७) सूत्रसे 'अ उ' के स्थानमें 'ओ' हुआ, और 'एङः पदान्तादति' (पा० ६। १। १०९) से द्वितीय 'अ' का पूर्व रूप और अन्तिम 'अ' का पृषोदरादित्वसे वर्णनाश होकर 'ओम्' बनता है।

(२) अथवा 'राम' शब्दकी प्रकृतिभूत 'रम्' धातुमें वर्णविपर्यय मानकर पूर्वोक्त 'अतो रो॰' से 'र' से 'उत्व' और उपर्युक्त 'आद्गुणः' से 'ओत्व' करनेपर 'ओम्' बनता है।'

उपर्युक्त दूसरे प्रकार (अर्थात् रम धातुसे ओम्की उत्पत्ति सिद्धि करने) में लाघव-सा जान पड़ता है। परंतु यह किस प्रमाणके आधारपर लिखा गया है, यह नहीं बताया गया। महारामायणमें एवं श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाशमें 'राम' नामसे प्रणवकी उत्पत्तिके प्रमाण पाये जाते हैं। इन्हीं प्रमाणोंके आधारपर (ऊपर दिये हुए चार प्रकारोंमेंसे) प्रथम, तृतीय और चतुर्थ प्रकारसे उनकी सिद्धि दिखायी गयी। इस प्रमाणसे रम् धातुसे प्रणवकी सिद्धि मानना उचित नहीं है। वैयाकरणोंसे धातुके विषयमें यह मालूम हुआ है कि केवल धातु (जबतक उससे 'तिङादि' कोई प्रत्यय नहीं किया जाता) का व्यवहार कभी नहीं होता। क्योंकि यद्यपि रम् क्रीडायाम् ऐसा लिखा है तथापि जबतक उससे कोई प्रत्यय नहीं किया जाता तबतक उसका कोई अर्थ नहीं होता। अतः ऐसे वर्णसमुदायसे सार्थक प्रणवकी उत्पत्ति मानना कहाँतक उचित होगा? हाँ! यदि कोई प्रमाण मिले तो माननीय होगा।

वे० भू० प० रामकुमारदासजीके प्रकारसे प० श्रीकान्तशरणजीके प्रकारमें कुछ भेद देखकर मुझे इन सूत्रों आदिको व्याकरणाचार्योंसे समझनेकी आवश्यकता हुई। पण्डितोंके द्वारा जो मैं समझा हूँ वह यहाँ लिखता हूँ। (क) 'एङः पदान्तादति' सूत्र वहाँ लागू होता है जहाँ पदान्तमें 'ए' या 'ओ' होते हैं। प्रथम प्रकारमें केवल एक 'अ' और 'र' का परिवर्तन हुआ है। यद्यपि दो 'अ' के परिवर्तनकी अपेक्षा इसमें लाघव-सा जान पड़ता है परंतु आगे 'र' का 'उ' और गुणसे 'ओ' हो जानेपर यहाँ 'एङः पदान्तादति' लगाया गया है, परंतु 'ओ' पदान्त न होनेसे यह सूत्र यहाँ नहीं लग सकता। अतः इससे 'ओम्' की सिद्धि नहीं होती। अतः तीसरा प्रकार इससे कुछ ठीक जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ दो 'अ' 'र' के प्रथम परिवर्तित किये गये हैं, अतः वहाँ 'एङः पदान्तादति' की आवश्यकता नहीं पड़ी। (ख) 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' सूत्रमें दोनों प्रकारोंमें 'र' व 'र्' का 'उ' किया गया है परंतु यह सूत्र यहाँ नहीं लगता। जहाँ 'ससजुषो रुः' आदि सूत्रोंसे 'रु' आदेश (अक्षर परिवर्तन) होता है उसी 'रु' के 'र' का 'उ' होता है। यहाँका 'र' या 'र्' 'रु'—का नहीं है वह तो रम् धातुका है। अतः यह सूत्र यहाँ नहीं लगता।

प० श्रीकान्तशरणजीके प्रथम प्रकारमें एक बड़ी भारी त्रुटि यह भी है कि उसमे 'राम' नामके खण्डोंमें प्रथम खण्ड 'र' अर्थात् अकारयुक्त रेफ है और उसीका विपर्यय और उत्व किया गया है। परतु उत्व तो केवल रेफका होता है।

नोट—३ (क) महारामायणके उपर्युक्त प्रमाणके अनुसार श्रीरामनामकी छ कलाएँ ये हैं। र् अ आ म् अ नाद। प्रणवकी सिद्धि करनेमे इसके अनुसार ही पाँचों खण्ड लेना प्रामाणिक होगा। यद्यपि 'राम' नाममें पूर्वाचार्योंने पॉच या छ कलाएँ मानी हैं तथापि 'राम' से 'ओम्' की सिद्धि करते समय यह आवश्यक नहीं है कि उसके सब खण्ड अलग-अलग किये जायँ। जितने वर्ण देखनेमें आते है (र्, अ, म्,) इतने खण्डोसे ही हमारा काम चल जाता है, अत उतने ही खण्ड करना उचित है। ऐसा करनेसे 'र' और 'आ' का परिवर्तन, 'र्' का 'उ', फिर 'आ' 'उ' का 'ओ' और अन्तिम 'अ' का लोप होनेसे 'ओम्' सिद्ध होता है। 'आद्गुण.' 'अकः सवर्णे दीर्घ.' ये दो सूत्र छोड़कर अन्य प्राय सब काम (वर्ण-परिवर्तन, 'उ', अन्तिम आ का लोप आदि) 'पृषोदरादित्व' से कर लेना चाहिये। यथा—'रकारार्थो ,राम. सगुणपरमैश्वर्यजलधिर्मकारार्थो जीवस्सकलविधिकैंकर्यनिपुण। तयोर्मध्याकारो युगलमथसम्बन्धमनयोरनन्याहँ ब्रूते त्रिनिगमरूपोऽयमतुलः॥ इति श्रीराममन्त्रार्थे।' इसमे 'राम' नामकी तीन ही कलाओ 'र्, आ, म्' को लेकर मन्त्रार्थ किया गया है। और प्रमाण नोट २ मे आ चुके है। (ख) 'पृषोदरादित्व' इति। पाणिनिजीका एक सूत्र है 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ६। ३। १०९।' पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि स्यु। अर्थात् पृषोदर आदि शब्द जैसे शिष्ट लोगोंने कहे है वैसे ही वे ठीक है। तात्पर्य कि जो शब्द जिस अर्थमें प्रसिद्ध है उससे वही अर्थ सिद्ध होगा। इस सिद्धान्तको ध्यानमे रखकर पाणिनिके धातु-सूत्र आदि यथासम्भव काममें लाकर जहाँ न बनता हो वहाँ अपनी ओरसे वर्ण-परिवर्तन, अन्य वर्ण-ग्रहण, लोप आदि जो आवश्यक हो, कर लें। यथा—'पृषत् उदर'=पृषोदर, वारिवाहक=बलाहक, हिंस धातुसे सिंह इत्यादि। (ग) श्रीरामनाममे छ कलाएँ महारामायणके उपर्युक्त श्लोकोंमें बतायी गयी है। और प्रणवमे भी छ कलाएँ श्रीरामतापनीयोपनिषद् उत्तरार्ध द्वितीय कण्डिका मन्त्र ३ में बतायी गयी हैं। इस तरह कलाओंकी सख्या भी समान है। परतु उपर्युक्त श्रीरामनामसे प्रणवकी सिद्धिके प्रकारोंमे केवल पॉच, चार अथवा तीन ही कलाएँ दिखायी गयी है। ऐसी अवस्थामे यह शका हो सकती है कि 'दोनोकी कलाओंमें वैषम्य होनेसे उनके अर्थोंमें त्रुटि होनेकी सम्भावना है।' इसका समाधान यह हो सकता है कि प्रणवकी सिद्धिके लिये श्री 'राम' नामके जो खण्ड दिखाये गये हैं, उनमेसे किसी-किसी खण्डमे यथासम्भव दूसरी कलाका प्रवेश समझना चाहिये। और जिस कलाका लोप दिखाया गया है यद्यपि वह सुननेमें नहीं आती है तथापि अर्थ करते समय उसका भी अर्थ किया जायगा। इस तरह कला और अर्थमें दोनोंमें समानता होती है। दूसरा समाधान यह है कि महर्षियोंने प्रणवकी भी एकसे लेकर अनेक कलाएँ मानी हैं। श्रीमत्स्वामिहंसस्वरूपनिर्मित 'मन्त्र-प्रभाकर' (मुजफ्फरपुर त्रिकुटीविलासयन्त्रालयमे मुद्रित) में लिखा है कि वाष्कल्य ऋषिके अनुयायी एकमात्रा, साल्व और काश्यके मतावलम्बी दो मात्रा, देवर्षि नारदके ढाई मात्रा, मौण्डल और माण्डूक्य आदिके तीन मात्रा और कोई साढ़े तीन, पराशरादि चार, भगवान् वशिष्ठ साढ़े चार मात्रा मानते हैं इत्यादि। इस प्रकार जहाँ जितनी मात्राएँ 'ओम्' की लेंगे वहाँ उतनी ही 'राम' नामकी लेंगे। इस तरह भी शका नहीं रहती।

नोट—४ प० रामकुमारजी 'सो' का अर्थ 'सम' करते हुए लिखते हैं कि रामनाम प्रणव सम है, ओम् के तीन अक्षरोंसे तीन देवता हैं और रामनामसे भी। दोनों ब्रह्मरूप हैं। यथा 'ओमित्यक्षर ब्रह्म', 'तारकं ब्रह्म सज्ञकं' प्रणवसे त्रिदेवकी उत्पत्तिका प्रमाण, यथा—'अकारः प्रणवे सत्त्वमुकारश्च रजोगुण.। तमो हलमकारः स्यात्त्रयोऽहंकारसुद्भव॥' (महारामायणे)।

५ रामनामको 'अनुपम' कह रहे हैं और पूर्वार्धमें कहा है कि 'बेद प्रान' (प्रणव) सम है। यह परस्पर विरोध है। जब एक समता हो गयी तो उपमारहित कैसे कह सकते हैं? लाला भगवानदीनजी इसके उत्तरमे कहते हैं कि इस

अर्धालीका ठीक अर्थ 'अर्थ ३,' है जो ऊपर दिया गया है। वे कहते हैं कि साहित्य-रीतिसे इस अर्धालीमें उपमालङ्कार है। प्रथम चरणमें पूर्णोपमा है जिसमें 'राम' उपमेय, 'वेदप्रान' (ओऽम्) उपमान, 'सो' वाचक, और 'विधिहरिहरमय' धर्म है। 'अनूपम' शब्द 'राम' शब्दका विशेषण नहीं है, वरंच गुणनिधानमे आये हुए 'गुण' शब्दका विशेषण है। इस प्रकार भी उपर्युक्त शङ्का निर्मूल हो जाती है। (प्रोफे० दीनजी)

दोहावलीकी भूमिकामें प्रोफे० दीनजी लिखते है कि 'बदउँ नाम राम' से 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' तककी चौपाइयोंमें 'रामनाम' के श्रेष्ठतम होनेके प्रमाण उपस्थित किये है। इस उद्धरणकी पहली चौपाई ('बदउँ' से 'गुणनिधान सो' तक) दार्शनिक छानबीनसे ओत-प्रोत है। 'राम' शब्दकी बहुत ही ऊँची श्रेष्ठता है। हमारे वेदोंमें 'ॐ' ही ईश्वरका नाम और रूप जो कहिये सो माना गया है और इसी ॐ में समस्त ससारकी सृष्टि प्रच्छन्न है, अर्थात् 'ॐ' शब्दपर यदि गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाय तो इसीके विस्तार और खण्ड आदिसे ससारकी समस्त वस्तुओंका प्रादुर्भाव हुआ है। सभी इसके रूपान्तर मात्र हैं। यही 'ॐ' 'राम' का या 'राम' 'ॐ' का विपर्ययमात्र है, अन्य कुछ भी नहीं (पर, 'राम' 'ओम्' का विपर्ययमात्र है, इसमें सन्देह है। श्रीहरिदासाचार्यजीका भाष्य एवं वे० भू० प० रा० कु० जीका लेख देखिये।) इसी विपर्ययकी सिद्धिके अनन्तर और सभी बातें स्वय सङ्गत और अर्थानुकूल हो जायँगी। 'ॐ' को दूसरे प्रकार 'ओम्' रूपमें लिखते हैं। यह रूप उक्त 'ॐ' का अक्षरीकृत रूप ही है। दूसरा कुछ नहीं। अब यह दर्शाना चाहिये कि 'ओम्' और 'राम' एक ही हैं, तभी 'वेदप्राण' लिखना सार्थक होगा। सन्धिके नियमानुसार 'ओम्' का 'ओ' 'अ' के विसर्गका रूप परिवर्तनमात्र है। इस विसर्गके दो रूप होते हैं, एक तो यह किसी अक्षरकी सन्निधिसे 'ो' हो जाता है और दूसरे 'र्' होता है। यदि विसर्गका रूपान्तर 'ो' न करके 'र' किया जाय तो 'अर्म्' ही 'ओम्' का दूसरा रूप हुआ। अब इन अक्षरोंके विपर्ययसे राम स्वत बन जायगा। अर्म् को यदि 'र् अ म्' ढगसे रखें और 'र्', 'म्' व्यञ्जनोंको स्वरान्त मानें तो 'राम' बन जाता है*। हमारे विचारसे उक्त चौपाइयोंमें 'बेद प्रान सो' का यही भाव है। जब 'राम' 'ॐ' का रूपान्तर मात्र है तो फिर वह विधिहरिहरमय भी है। वेदमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी उत्पत्ति 'ॐ' से ही मानी गयी है और दार्शनिक इन्हें ब्रह्मका औपाधिक नाम ही मानते है अर्थात् ब्रह्म ही सृष्टि करते समय ब्रह्मा, पालन करते समय विष्णु और सहार करते समय शिव नामसे विहित होता है। सुतरां ब्रह्मके नामोंमें 'राम' एक मुख्य नाम हुआ।

इस शकाका समाधान प० रामकुमारजी यों करते हैं कि—(क) समता एकदेशीय है, वह एक देश यह है कि दोनों त्रिदेवमय हैं। सब देशोंमें प्रणव रामनामके समान नहीं है क्योंकि रामनाम भगवान्के दिव्य गुणोंके निधान सम हैं। पुन, (ख) इस तरह भी कह सकते हैं कि त्रिदेवके उत्पन्न करनेके लिये गुणनिधान है और स्वय अगुण हैं। (प० रामकुमार)। वेदप्राणका अर्थ प्रणव न लेनेसे यह शका ही नहीं रह जाती। प्राण=जीवन, सर्वस्व। सो=वह।

६ 'अगुन अनूपम गुननिधान सो' इति। (क) अगुण और अनूपम कहकर जनाया कि सब नामोंमें यह परम उत्तमोत्तम है। (अर्धाली १ में सर्वश्रेष्ठता दिखा आये हैं)। 'गुणनिधान' कहकर जनाया कि इसमें अनन्त दिव्य गुण हैं।

---

* इसी प्रकार 'राम' से भी 'ॐ' सिद्ध होता है। 'राम' और 'ॐ' का परस्पर विपर्यय इस प्रकार है। (लाला भगवानदीनजीके मतसे)

राम=र् अ म	ॐ=ओं
अ र् म	अ ो म्
अ · म	अ · म
अ ो म्	अ र् म
ओं	र अ म
ॐ	राम

यह ज्ञान, विज्ञान और प्रेमापरा भक्ति आदिका रूप ही है। यथा—'विज्ञानस्थो रकारः स्यादकारो ज्ञानरूपक.। मकार परमा भक्ती रमु क्रीडोच्यते तत ॥' इति। महारामायणे। (५२। ५२)। (ख) मानस-अभिप्राय-दीपककार लिखते हैं कि 'अनल भानु ससि ब्रह्म हरि, हर ओंकार समेत। ब्रह्म जीव माया मनहि भिन्न भिन्न सिख देत ॥ ३२।' अर्थात् इस चौपाईमें श्रीरामनामको अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, त्रिदेव, प्रणव, ब्रह्म, जीव, माया इन दशोंका कारण या तद्रूप कहा है। इसका कारण यह है कि इन दशोंका उपकार मनपर है। ये दशों मनको शिक्षा देते रहते हैं। अग्नि आदि पालन पोषणमें सहायक, त्रिदेव उत्पत्ति, पालन और संहारद्वारा जीवोंका कल्याण करते, प्रणव वेदको सत्तावान् करके सृष्टिका रक्षक, निर्गुण ब्रह्म जीवके साथ रहकर इन्द्रिय आदि सबको सचेत करता और विद्या माया भक्ति मुक्तिके मार्गपर लगाती है। इनका उपकार मनपर है। श्रीरामनामकी उपासना करनेसे इन दशोंके उपकारका बदला चुक जायगा। यह शिक्षा 'कारण' कहकर दे रहे हैं।

७ कोई कोई यह शंका करते हैं कि 'विधिहरिहर' तो सृष्टिके कर्त्ता हैं, इनको पहले कहना चाहिये था, सो न करके अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाको पहले कहा, यह क्यों? समाधान यह है कि आग, सूर्य, चन्द्रमाके गुण, स्वरूप और प्रभाव सब कोई प्रत्यक्ष देखते हैं, इनसे उनका हेतु कहनेसे श्रीरामनामका प्रताप शीघ्र समझमें आ जायेगा। विधिहरिहर दिखायी नहीं देते और यद्यपि ये ही जगत्के उत्पत्ति पालन संहारकर्ता हैं तथापि इन्हें इन सबका कर्ता न कहकर लोग माता-पिताको पैदा व पालन करनेवाला, और रोगको मृत्युका कारण कहते हैं। जैसे सूक्ष्म रीतिसे विधिहरिहर उत्पन्न, पालन, संहार करते हैं वैसे ही गुप्त रीतिसे ये नामके अङ्ग हैं, अतएव पीछे कहा।

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू ॥ ३ ॥

अर्थ—रामनाम महामन्त्र है जिसे श्रीशिवजी जपते हैं और जिसका उपदेश काशीमें मुक्तिका कारण है ॥ ३ ॥

नोट—१ इस चौपाईमें ग्रन्थकारने स्पष्ट बता दिया है कि—(क) 'राम नाम ही महामन्त्र है। इसके प्रमाण बहुत हैं। यथा—'यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षिसत्तम। जपस्व तन्महामन्त्रं रामनाम रसायनम् ॥' (शुकपुराणे), 'सप्तकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः। एक एव परो मन्त्रः श्रीरामेत्यक्षरद्वयम् ॥' (सारस्वततन्त्रे श्रीशिवोवाच), 'बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस।' (वि० १०८), 'अंशांशे रामनाम्नश्च त्रयः सिद्धा भवन्ति हि। बीजमोंकारसोऽहं च सूत्रमुक्तिमिति श्रुतिः ॥', 'इत्याद्यो महामन्त्रा वर्तन्ते सप्तकोटयः। आत्मा तेषां च सर्वेषां रामनामप्रकाशकः ॥' (महारामायण ५२। ३९) अर्थात् प्रणव आदि सात करोड़ महामन्त्रोंके स्वरूप श्रीरामनामहीसे प्रकाशित होते हैं। श्रीरामनामका महामन्त्र होना इससे भी सिद्ध है कि ये महा अपावनको भी पावन करते हैं और स्वयं पावन बने रहते हैं, शुद्ध, अशुद्ध, खाते-पीते, चलते-फिरते, शौचादिक्रिया करते समय भी यहाँतक कि शव (मुर्दे) को कन्धेपर लिये हुए भी उच्चारण करनेसे मङ्गलकारी ही होते हैं। इसमें किसी विधिकी आवश्यकता नहीं। 'भाय कुभाय अनख आलसहू', उलटा-पलटा-सीधा यहाँतक कि अनजानमें भी उच्चारण स्वार्थपरमार्थदा देनेवाला है। अन्य मन्त्रोंमें जापकी विधि है, अनेक प्रकारके अनुष्ठान करनेपर भी वे फलें या न फलें, परंतु रामनाम दीक्षा बिना भी ग्रहणमात्रसे फल देता है, अन्य मन्त्रोंके अशुद्ध जापसे लाभके बदले हानि पहुँचती है। (ख) इसीको शिवजी जपते हैं। यथा—'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती ॥ १। १०८।', 'उमा सहित जेहि जपत पुरारी। १। १०।', 'श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।' (कि० मं० २)। इत्यादि। (ग) श्रीशिवजी रामनामहीको जीवोंके कल्याणार्थ उपदेश करते हैं। (देखिये नोट ५)

२—रामनामका माहात्म्य कहनेमें प्रथम महेशजीहीको साक्षी देते हैं। माहात्म्यका वर्णन इन्हींसे प्रारम्भ किया, क्योंकि—(क) शिवजी उपासकोंमें शिरोमणि हैं, इनके समान नामका प्रभाव दूसरा नहीं जानता। यथा—'नाम प्रभाव जान सिव नीको', 'महिमा रामनाम की जान महेस' (बरवै०)। (ख) वैष्णवोंमें ये अग्रगण्य हैं। यथा—'वैष्णवानां

यथा शम्भु' (भा० १२ । १२ । १६) । (प० रामकुमारजी) । (ग) जो इनका सिद्धान्त होगा वह सर्वोपरि माना जायगा (करु०)

३—'महेसू' इति । महेश नाम देकर यह प्रमाणित करते हैं कि ये देवताओंके स्वामी हैं, महान् समर्थ हैं। जब ये महेश ही उस नामको जपते हैं, तो अवश्य ही महामन्त्र होगा, क्योंकि बड़े लोग बड़ी ही वस्तुका आश्रय लेते हैं।

४—इस चौपाईमें दो बातें दिखायी हैं, एक यह कि सर्व-समर्थ महेशजी स्वयं जपते हैं और दूसरे यह कि दूसरोंको उपदेश भी देते हैं।

५—'कासी मुकुति हेतु उपदेसू' इति । मरते समय श्रीरामनामहीका उपदेश जीवोंको करते हैं, तब मुक्ति होती है। यथा—'कासी मरत जंतु अवलोकी । जासु नाम बल करउँ बिसोकी ॥ १ । ११९ ।' 'देत परमपद कासी करि उपदेस' (बरवै ५३), 'बेदहू पुरान कही लोकहूँ बिलोकिअत, रामनाम ही सों रीझें सकल भलाई है। कासीहूँ मरत उपदेसत महेसु सोई, साधना अनेक चितई न चित लाई है' (क० ७ । ७४), 'जासु नाम बल संकर कासी । देत सबहि सम गति अबिनासी ॥ ४ । १० ।' 'अहं भवन्नामगुणैः कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या । मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम ॥' (अ० रा० यु० १५ । ६२)', 'पेय पेयं श्रवणपुटके रामनामाभिरामं ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम् । जल्पञ्जल्पन् प्रकृतिविकृतौ प्राणिनां कर्णमूले वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशीनिवासी ॥' (स्कन्द पु० काशीखण्ड) अर्थात्, मैं आपके नामके गुणोंसे कृतार्थ होकर काशीमें भवानी-सहित रहता हूँ और मरणासन्न प्राणियोंकी मुक्तिके लिये उनके कानमें आपका मन्त्र 'राम' नाम उपदेश करता हूँ। (अ० रा०), तारक ब्रह्मरूप (श्रीरामजी) का मनमें ध्यान करो, सुन्दर श्रीरामनामको कानरूपी दोनेद्वारा बारबार पियो और प्राणियोंके अन्तकाल समय उनके कानमें सुन्दर रामनामको सुनाइये । काशीकी गली-गलीमें कोई काशीनिवासी (श्रीशिवजी) ऐसा करता हुआ विचरता है। (काशीखण्ड) । पुनश्च यथा—'रामनाम्ना शिवः काश्यां भूत्वा पूतः शिवः स्वयम् । स निस्तारयते जीवराशीन्काशीश्वरस्सदा ॥' (शिवसंहिता २ । १४) अर्थात् रामनामसे काशीश्वर शिवजी स्वयं पवित्र होकर नित्य अनन्त जीवोंको तारते हैं। पुनः यथा—'द्व्यक्षरे याचमानाय मह्यं शेषे ददौ हरिः । उपदिशाम्यहं काश्यां तेऽन्तकाले नृणां श्रुतौ ॥ १५ ॥ रामेति तारकं मन्त्रं तमेव विद्धि पार्वति ॥ १६ ॥ (आ० रा० यात्राखण्ड सर्ग २) । अर्थात् बाँटमें जो दो अक्षर बचे थे वह मैंने भगवान्‌से माँग लिये, वही 'राम' यह तारक मन्त्र मैं जीवोंके अन्तकाल समय उनको उपदेश करता हूँ।

६ *अर्थ*—१ 'काशीमें सब जीवोंके मुक्ति उपदेश हेतु (लिये) शिवजी जिस महामन्त्रको सदा जपते हैं।', (बाबा हरीदासजी) ।

मुक्तिका उपदेश देनेके लिये स्वयं सदा उसे जपनेका तात्पर्य यह है कि यदि स्वयं रामनाम न ग्रहण करें तो उनका उपदेश (जिस जीवको यह नाम उपदेश किया जा रहा है उसको) कुछ भी काम नहीं कर सकता । जैसा ही जो नामरसिक नामजापक होगा, वैसा ही उसका उपदेश लगेगा और वैसा ही नामप्रतापसे काम चलेगा । पद्मनाभजी, नामदेवजी और गोस्वामीजीकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। (बाबा हरीदासजी) ।

७—२ 'प्रथम सम अन्वय' है।

८—श्रीरामतापिनीउपनिषद्‌में श्रीरामतारक षडक्षर मन्त्रका कानमें उपदेश करना कहा गया है। यथा—'क्षेत्रेऽस्मिंस्तव देवेश यत्र कुत्रापि वा मृताः । कृमिकीटादयोऽप्याशु मुक्ताः सन्तु न चान्यथा ॥ ४ ॥ अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये । अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु ॥ ५ ॥ त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम् । जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते ॥ ७ ॥ मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम् । उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥ ८ ॥ (रा० उ० ता०) । अर्थात् हे महादेव ! तुम्हारे इस क्षेत्रमें कृमिकीटादि कहीं भी यदि मृत्यु पावेंगे वे मुक्त हो जावेंगे । आपके इस काशीपुरीमें लोगोंकी मुक्तिके लिये हम प्रतिमाओंमें प्रतिष्ठित रहेंगे। तुमसे या ब्रह्माजीसे जो षडक्षरमन्त्र प्राप्त करते हैं वे मुझको प्राप्त होते हैं। जो मर रहा है उसके दक्षिण कानमें हमारा मन्त्र उपदेश करनेसे

उसकी मुक्ति हो जायगी। और, गोस्वामीजी यहाँ तथा और भी अनेक स्थलोंपर 'राम' नामका उपदेश करना चाहते हैं। तथा अध्यात्मरा०, आनन्दरा०, काशीखण्ड और शिवसंहिता आदिमें भी रामनामका ही उपदेश करना कहा गया है। (नोट ५ देखिये)। इन दोनोंका समन्वय कुछ महात्मा इस प्रकार करते हैं कि षडक्षर श्रीरामनामके बीज और श्री 'राम' नाममें अभेद है। उसपर कुछ महात्माओंका मत है कि मन्त्र अथवा बीजका जो अर्थ बताया जाता है उसका और रामनामके जो अर्थ बताये जाते हैं, उनका मेल नहीं होता, अतएव समन्वय इस प्रकार ठीक होगा कि षडक्षरमन्त्र-का मूलतत्त्व श्री 'राम' नाम है, इसलिये श्रीरामतापिनीयोपनिषद्वाक्य और गोस्वामीजीके तथा अध्यात्मादि रामायणोंके वाक्योंमें विरोध नहीं है। मन्त्र और नाममें अभेद है, इसकी पुष्टि मत्स्यपुराणके 'सर्वेषां राममन्त्राणां श्रेष्ठ श्रीतारकं परम्। षडक्षर मनुस्तावत्तथा युग्माक्षर वरम्॥' (श्रीसीतारामनाम प्र० प्र० ६९। अर्थात् समस्त राममन्त्रोंमें षडक्षर तथा दोनों अक्षर तारक हैं, अतः अत्यन्त श्रेष्ठ हैं) इस श्लोकसे भी होती है। मन्त्र और नाम दोनोंको 'तारक' कहा जाता है। मन्त्र तो तारक प्रसिद्ध ही है। नाम तारक है, यह श्रीरामस्तवराजमें स्पष्ट कहा है। यथा—'श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्। ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदो विदुः॥ ५॥ अर्थात् श्रीराम (नाम) परम जाप्य है, तारक है और ब्रह्मसंज्ञक है तथा ब्रह्महत्यादि पापोंका नाशक है, वेदोंके ज्ञाता इसे जानते हैं। सम्भवतः षडक्षर और नाममें अभेद मानकर ही अन्यत्र उपनिषद् और पुराणोंमें केवल 'तारक' शब्दका ही प्रयोग किया गया, षडक्षर अथवा युग्माक्षरका उल्लेख नहीं किया गया। यथा—'अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे।' (जाबालो० १), 'यत्र साक्षान्महादेवो देहान्ते स्वयमीश्वरः। व्याचष्टे तारकं ब्रह्म तत्रैव ह्यविमुक्तके॥' (पद्म० पु० स्वर्गखण्ड ३३। ४७), 'भगवानन्तकालेऽत्र तारकस्योपदेशतः। अविमुक्ते स्थितान् जन्तून्मोचयेन्नात्र संशयः॥' (स्कन्द पु० काशीखण्ड ५। २८)।

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥ ४॥

अर्थ—जिस (श्रीरामनाम) की महिमा श्रीगणेशजी जानते हैं। श्रीरामनामहीके प्रभावसे (वे सब देवताओंसे) पहले पूजे जाते हैं॥ ४॥

श्रीगणेशजीकी कथा

पुराणान्तर्गत ऐसी कथा है कि—(१) शिवजीने गणेशजीको प्रथमपूज्य करना चाहा, तब स्वामिकार्त्तिक-जीने उज्र किया कि हम बड़े भाई हैं, यह अधिकार हमको मिलना चाहिये। श्रीशिवजीने दोनोंको ब्रह्माजीके पास न्याय कराने भेजा। [पुनः यों भी कहते हैं कि—(२) एक बार ब्रह्माजीने सब देवताओंसे पूछा कि तुममेंसे प्रथम पूज्य होनेका अधिकारी कौन है? तब सब ही अपने-अपनेको प्रथम पूजने योग्य कहने लगे। आपसमें वादविवाद बढ़ते देख] ब्रह्माजी बोले कि जो तीनों लोकोंकी परिक्रमा सबसे पहले करके हमारे पास आवेगा वही प्रथम पूज्य होगा। स्वामिकार्तिकजी मोरपर अथवा सब देवता अपने-अपने वाहनोंपर परिक्रमा करने चले। गणेशजीका वाहन मूसा है। इससे ये सबसे पीछे रह जानेसे बहुत ही उदास हुए। उसी समय प्रभुकी कृपासे नारदजीने मार्गहीमें मिलकर उन्हें उपदेश किया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड 'श्रीरामनाम' के अन्तर्गत है। तुम 'राम' नामहीको पृथ्वीपर लिखकर नामहीकी परिक्रमा करके ब्रह्माजीके पास चले जाओ। इन्होंने ऐसा ही किया। अन्य सब देवता जहाँ-तहाँ जाते, वहाँ ही अपने आगे मूसाके पैरोंके चिह्न पाते थे। इस प्रकार गणेशजी श्रीरामनामके प्रभावसे प्रथम पूज्य हुए।

कथा (१) शैवतन्त्रमें कही जाती है और कथा (२) पद्मपुराणमें।

प्रथम दो संस्करणोंमें हमने यह कथा दी थी और टीकाकारोंने इसे टीकाओंमें लिया भी है। परन्तु हमें पद्मपुराण-में यह कथा अभीतक नहीं मिली।

श्रीगणेशजीने गणेशपुराणमें श्रीरामनामके कीर्तनसे अपना प्रथम पूज्य होना कहा है और यह भी कहा है कि उस 'राम' नामका प्रभाव आज भी मेरे हृदयमें विराजमान एवं प्रकाशित है। उसमें जगदीश्वरका इनको रामनामकी महिमाका

उपदेश करना कहा है। प्रमाण—'रामनाम परं ध्येयं ज्ञेयं पेयमहर्निशम्। सदा वै सद्भिरित्युक्तं पूर्वं मां जगदीश्वरैः॥ अहं पूज्यो भवल्लोके श्रीमद्रामानुकीर्तनात्॥' (सी० रा० नाम प्र० प्र०), 'त्वदादि सर्वदेवानां पूज्योऽसि मुनिसत्तम। रामनामप्रभा दिव्या राजते मे हृदिस्थले॥' (वै०)

पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें श्रीगणेशजीके प्रथम पूज्य होनेकी एक दूसरी कथा (जो व्यासजीने सजयजीसे कही है) यह है कि श्रीपार्वतीजीने पूर्वकालमें भगवान् शङ्करजीके सयोगसे स्कन्द और गणेश नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया। उन दोनोंको देखकर देवताओंकी पार्वतीजीपर बड़ी श्रद्धा हुई और उन्होंने अमृतसे तैयार किया हुआ एक दिव्य मोदक पार्वतीजीके हाथमें दिया। मोदक देखकर दोनों बालक उसे मातासे माँगने लगे। तब पार्वतीजी विस्मित होकर पुत्रोंसे बोलीं—"मैं पहले इसके गुणोंका वर्णन करती हूँ, तुम दोनों सावधान होकर सुनो। इस मोदकके सूँघनेमात्रसे अमरत्व प्राप्त होता है और जो इसे सूँघता वा खाता है वह सम्पूर्ण शास्त्रोंका मर्मज्ञ, सब तन्त्रोंमें प्रवीण, लेखक, चित्रकार, विद्वान्, ज्ञान-विज्ञानके तत्त्वको जाननेवाला और सर्वज्ञ होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पुत्रो! तुममेंसे जो धर्माचरणके द्वारा श्रेष्ठता प्राप्त करके आयेगा, उसीको मैं यह मोदक दूँगी। तुम्हारे पिताकी भी यही सम्मति है।"

माताके मुखसे ऐसी बात सुनकर परम चतुर स्कन्द मयूरपर आरूढ हो तुरत ही त्रिलोकीके तीर्थोंकी यात्राके लिये चल दिये। उन्होंने मुहूर्त्तभरमें सब तीर्थोंका स्नान कर लिया। इधर लम्बोदरधारी गणेशजी स्कन्दसे भी बढ़कर बुद्धिमान् निकले। वे माता-पिताकी परिक्रमा करके बड़ी प्रसन्नताके साथ पिताजीके सम्मुख खड़े हो गये। क्योंकि माता-पिताकी परिक्रमासे सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है। यथा—'सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता। मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥ मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्। प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥ (पद्म० पु० सृष्टिखण्ड ४७। ११। १२)' फिर स्कन्द भी आकर खड़े हुए और बोले, 'मुझे मोदक दीजिये'। तब पार्वतीजी बोलीं, 'समस्त तीर्थोंमें किया हुआ स्नान, देवताओंको किया हुआ नमस्कार, सब यज्ञोंका अनुष्ठान तथा सब प्रकारके सम्पूर्ण व्रत, मन्त्र, योग और सयमका पालन ये सभी साधन माता-पिताके पूजनके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हो सकते। इसलिये यह गणेश सैकड़ों पुत्रों और सैकड़ों गणोंसे भी बढ़कर है। अतः देवताओंका बनाया हुआ यह मोदक मैं गणेशको ही अर्पण करती हूँ। माता-पिताकी भक्तिके कारण ही इसकी प्रत्येक यज्ञमें सबसे पहले पूजा होगी। महादेवजी बोले, 'इस गणेशके ही अग्रपूजनसे सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हों'।

☞ यह कथा 'पूर्वकाल' किसी कल्पान्तरकी होगी। अथवा, श्रीशिवजीने यहाँ आशीर्वाद मात्र दिया जो आगे कुछ काल बाद श्रीरामनामके सम्बन्धसे सफल हुआ।

नोट—यहाँ 'प्रत्यक्ष प्रमाण अलंकार' है, कही हुई बात सब जानते हैं।

जान आदिकबि नाम प्रतापू[1]। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू[2]॥ ५॥

अर्थ—आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामनामका प्रताप जानते हैं (क) उलटा नाम जपकर शुद्ध हो गये॥ ५॥

महर्षि वाल्मीकिजीकी कथा—आप प्रचेता ऋषिके बालक थे। बचपनहीमें भीलोंका सग हो जानेसे उन्हींमें आपका विवाह भी हुआ, ससुरालहीमें रहते थे, पूरे व्याधा हो गये, ब्राह्मणोंको भी न छोड़ते थे, जीवहत्या करते और धनवस्त्रादि छीनकर कुटुम्ब पालते। एक बार सप्तर्षि उधरसे आ निकले, उनपर भी हाथ चलाना चाहा। ऋषियोंके उपदेशसे आपकी आँखें खुलीं। तब दीनतापूर्वक उनसे आपने अपने उद्धारका उपाय पूछा, उन्होंने 'राम-राम' जपनेको कहा। पर 'राम राम' भी आपसे उच्चारण करते न बना, तब ऋषियोंने दया करके इनको

१ प्रभाऊ—१७२१, १७६२। प्रतापू—१६६१, १७०४, छ०, को० रा०। २—३ कहि उलटा नाँउ १७२१, १७६२। करि उल्टा जापू—१६६१, १७०४, छ०, को० रा०।

'मरा-मरा' जपनेका उपदेश किया। इनका विस्तृत वृत्तान्त दोहा ३ (३) और सोरठा १४ 'बंदौ मुनिपदकंज' में दिया जा चुका है।

नोट—१ 'जान नाम प्रतापू' इति। उलटा नाम जपनेका यह फल प्रत्यक्ष देखा कि व्याधासे मुनि हो गये, ब्रह्मसमान हो गये, फिर ब्रह्माजीके मानस पुत्र हुए। 'मरा-मरा' जपका यह प्रताप है, तब साक्षात् 'राम राम' जपनेका क्या फल होगा, कौन कह सकता है? अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६ में उलटे नामजपका प्रमाण है। यथा—'राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्। यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान्॥ ६४॥ अर्थात् हे राम! आपके नामके प्रभावसे ही मैं ब्रह्मर्षित्व पदवीको प्राप्त हुआ, इस नामकी महिमा कोई कैसे वर्णन कर सकता है? पुनश्च यथा—'राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा॥ ८०॥' अर्थात् सप्तर्षियोंने आपके नामाक्षरोंका उलटा करके मुझसे कहा कि तू यहीं रहकर एकाग्रचित्तसे सदा 'मरा मरा' जपा कर। ☞ स्वयं उलटा नाम जपनेका प्रताप देखा, इसीसे 'जान नाम प्रतापू' कहा।

२ 'भयउ सुद्ध करि उलटा जापू' इति। (क) मरा-मरा जपकर उसी शरीरसे व्याधासे मुनि हो गये। वाल्मीकि मुनि नाम हुआ। यथा—'उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥ १। १९४।', 'महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो।' (विनय० १५१), 'राम बिहाइ मरा जपते बिगरी सुधरी कबि कोकिल हू की।' (क० ७। ८९), जहाँ बालमीकि भए ब्याध ते मुनींद्र साधु, मरा मरा जपे सिष सुनि रिषि सात की।' (क० ७। १३८)।

नोट—३ उलटे नामके जपसे शुद्ध होना कहकर सूचित किया कि (१) जितने मन्त्र हैं यदि वे नियमानुसार शुद्ध-शुद्ध न जपे जायँ तो लाभके बदले विघ्न और हानि ही होती है। परंतु रामनाम ऐसा है कि अशुद्धका तो कहना ही क्या, उलटा भी जपनेसे लाभदायक कल्याणकारक ही होता है। (२) 'राम' नामका प्रत्येक अक्षर महत्त्वका है। (३) इनको इतनी ब्रह्महत्या और जीवहत्या लगी थी कि शुद्धि किसी प्रकार न हो सकती थी सो वे भी नामके प्रतापसे शुद्ध हो गये।

४ शंका—सप्तर्षियोंने उलटा नाम जपनेको क्यों कहा?

समाधान—(क) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि मकाररूपी जीवको प्रथम उच्चारण कराके 'रा' आह्लादिनीशक्तियुक्त परब्रह्मकी शरणमें गिरानेका भाव मनमें रखकर 'मरा-मरा' जपनेको कहा। (ख) कोई यह कहते हैं कि 'मरा-मरा' कहते-कहते 'राम-राम' निकलता ही है, यह समझकर उलटा नाम जपनेको कहा। (ग) वेदान्तभूषणजीका मत है कि 'मन्त्र देनेसे गुरु-शिष्यमें पाप-पुण्य आधो-आध बँट जाते हैं; इसीसे सप्तर्षियोंने उन्हें मन्त्र न दिया। परंतु शरणागतको त्यागना भी नहीं चाहिये, इसीसे 'मरा-मरा' जपनेका उपदेश दिया कि मन्त्र भी न हुआ और तीसरी बार वही उलटा नाम 'राम' होकर शरणागतका कल्याण भी कर दे।'

नोट—५ इस दोहे (१९) में श्रीरामनाममाहात्म्य जाननेवालोंमें श्रीशिवजीका परिवार गिनाया गया, पर सबको एक साथ न कहकर बीचहीमें महर्षि वाल्मीकिजीका नाम दिया गया है। इसका भाव महानुभाव यह कहते हैं कि (क) यहाँ तीन अर्धालियोंमें तीन प्रकारसे नाममाहात्म्य बताया है, शिवजी सादर जपते हैं। यथा—'सादर जपहु अनँग आराती। १। १०८।' गणेशजीने पृथ्वीपर ही नाम लिखकर परिक्रमा कर ली, शुद्धता-अशुद्धता आदिका विचार न किया, और वाल्मीकिजीने उलटा ही नाम जपा। साराश यह है कि आदरसे शुद्धता वा अशुद्धतासे, सीधा वा उलटा कैसे ही नाम जपो, वह सर्वसिद्धियों और कल्याणका देनेवाला है। इसलिये महत्त्वके विचारसे इन तीनोंके नाम साथ-साथ दिये गये। (ख) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि गणेशजी और वाल्मीकिजीकी प्रथम दशा एक सी थी, इसलिये गणेशजीके पीछे प्रथम इनका नाम दिया। यथा—'रामनाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ कियो न दुराउ कही आपनी करनि।' (विनय०) [आनन्दरामायण राज्यकाण्डमें श्रीगणेशजीने अपनी पूर्व दशा श्रीसनत्कुमारजीसे यों कही है कि मैं प्रथम गजरूपसे महाकाय पैदा हुआ और वृक्षोंको उखाड़-उखाड़कर मुनियोंको मारता था। इस तरह बहुतसे मुनियोंके मारे

जानेसे ब्राह्मणमें हाहाकार मच गया और ब्रह्महत्याओंसे वेष्टित होकर मैं मूर्च्छित हो गया। तब मेरी दशा देखकर मेरे पिताने श्रीरामजीका स्मरण किया। भगवान् सर्वउरवासी जगत्‌के स्वामी श्रीरामजी प्रकट हो गये और बोले—हे महादेव! तुम तो समर्थ हो ही, फिर भी क्या चाहते हो, कहो। मैं प्रसन्न हूँ। त्रैलोक्यमें भी दुर्लभ जो तुम्हारा मनोरथ होगा वह मैं तुम्हें दूँगा।' शिवजीने कहा कि यदि आपकी मुझपर दया है तो ब्रह्महत्याओंसे युक्त इस पुत्रको पापरहित कर दीजिये। भगवान्‌की कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखते ही मैं सचेत होकर उठ बैठा और दण्डवत् प्रणाम कर मैंने उनकी स्तुति की। उन्होंने कृपा करके अपने रामनामका उपदेश मुझे दिया जिसे ग्रहणकर मैं निष्पाप हो गया। (पूर्वार्ध सर्ग १ श्लोक १४—२४)] (ग) श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीके वचन दोनोंको देकर सूचित किया कि श्रीरामनाम और चरितके सम्बन्धसे वाल्मीकिजी दोनोंको गणेशजीके समान प्रिय हैं।

६ इस चौपाईमें तीन बातें कही गयी हैं। वाल्मीकिजीका 'आदि कवि' होना, वाल्मीकिजीका नामप्रताप जानना और उससे उनका शुद्ध होना। पूर्व इनका नाम तीन बार तीन प्रसङ्गोंके सम्बन्धमें आ चुका है। प्रथम बार मङ्गलाचरणमें 'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ।' दूसरी बार सत्सङ्गकी महिमाके वर्णनमें दृष्टान्तरूपमें। तीसरी बार रामायणके रचयिता होनेसे। और यहाँ उनका नाम अपने शुद्ध होने, नाम प्रताप जानने और उसीके प्रभावसे आदिकवि होनेके प्रसङ्गमें उनका नाम आया है।

वाल्मीकिजी आदि कवि कहे जाते हैं। इसके प्रमाण ये हैं। 'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा। क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ५ ॥', 'तथा च आदिकवेर्वाल्मीकेर्निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः (ध्वन्यालोक उद्योत १), 'पद्मयोनिर्वचनम्—ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि तद्ब्रूहि रामचरितम्। आद्यः कविरसि इत्युक्त्वाऽन्तर्हितः।' (उत्तर रामचरित अङ्क २)। वाल्मीकीय रामायणके प्रत्येक सर्गके अन्तमें 'इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये' ये शब्द रहते ही हैं।

इसपर शङ्का होती है कि "इनको 'आदि कवि' कैसे कहा जब कि इनके पूर्व भी छन्दोबद्ध वाणी उपलब्ध थी?' वेदमें वैदिक छन्द तो होते ही हैं परंतु ऐसे भी कुछ मन्त्र हैं कि जिनको हम अनुष्टुप् छन्दमें पढ़ सकते हैं। जैसे कि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा ...' (ऋग्वेद पुरुषसूक्त ऋचा १)। उपनिषदोंमें भी श्लोकोंका उल्लेख मिलता है। यथा—'अत्रैते श्लोका भवन्ति। अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥' (रा० उ० ता० १) इत्यादि। कम-से-कम कुछ स्मृतियाँ भी वाल्मीकिजीके पूर्व होंगी ही और स्मृतियाँ प्रायः छन्दोबद्ध हैं। फिर वाल्मीकीयसे ही कुछ वाक्योंसे भी श्लोकोंका लोकमें व्यवहार सिद्ध होता है। जैसे कि 'कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम्। एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥ ६ ॥ १२६ । २ ।' (श्रीहनुमान्‌जी कह रहे हैं कि यह जो कहावत लोकमें कही जाती है वह सत्य ही है कि यदि मनुष्य जीवित रहे तो सौ वर्षके पश्चात् भी उसे एक बार आनन्द अवश्य मिलता है। इसमें जो यह कहावत 'एति जीवन्त ... दपि' कही गयी है वह श्लोकबद्ध है), 'श्रूयन्ते हस्तिभिर्गीताः श्लोकाः पद्मवने पुरा। पाशहस्तान्नरान्दृष्ट्वा शृणुष्व गदतो मम ॥ इत्यादि।' (६ । १६ । ६ । ८)। (अर्थात् पद्मवनमें हाथियोंको भी यह श्लोक गाते हुए सुना गया। इसमें भी पूर्व श्लोकोंका व्यवहार कहा गया है)। पुनः, स्वयं वाल्मीकिजीके मुखसे व्याधाके शापरूपमें जो श्लोक निकला था उस प्रसङ्गके पश्चात् उनके यह वाक्य हैं। 'पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः। शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥ १ । २ । १८ । (अर्थात् जिनके चरणोंमें समान अक्षर हैं ऐसे चार चरणोंमें बद्ध ताल आदिमें गाने योग्य यह श्लोक शोकके कारण मेरे मुखसे निकल पड़ा है। यह श्लोक ही कहा जायगा)। इससे भी वाल्मीकीयके पूर्व श्लोकका होना सिद्ध होता है।

इसका समाधान यह है कि यद्यपि लोक और वेदोंमें इनके पहले छन्दोबद्ध वाणीका प्रचार पाया जाता है तथापि मनुष्योंके द्वारा काव्य और इतिहासकी जैसी रचना होती है, वैसी इनके पूर्व न थी। इस प्रकारकी रचना इन्हींसे प्रारम्भ हुई। इसीसे इनको 'आदिकवि' कहा जाता है।

७ उलटे जापसे शुद्ध हुए, यहाँ 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है। यथा—'और वस्तु के गुणन ते और होत गुणवान।' (अ० म०)।

सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा पिय संग भवानी॥ ६॥

अर्थ—श्रीशिवजीके ये वचन सुनकर कि एक 'राम' नाम (विष्णु) सहस्रनामके समान है, श्रीपार्वतीजी (तबसे बराबर श्रीरामनामको) अपने प्रियतम पतिके साथ सदा जपती हैं॥ ६॥

नोट—श्रीपार्वतीजीकी इस प्रसङ्गसे सम्बन्धकी कथा पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २५४ में इस प्रकार है। श्रीपार्वतीजीने श्रीवामदेवजीसे वैष्णवमन्त्रकी दीक्षा ली थी। एक बार श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे कहा कि हम कृतकृत्य हैं कि तुम ऐसी वैष्णवी भार्या हमें मिली हो। तुम अपने गुरु महर्षि वामदेवजीके पास जाकर उनसे पुराणपुरुषोत्तमकी पूजाका विधान सीखकर उनका अर्चन करो। श्रीपार्वतीजीने जाकर गुरुदेवजीसे प्रार्थना की तब वामदेवजीने श्रेष्ठमन्त्र और उसका विधान उनको बताया और विष्णुसहस्रनामका नित्य पाठ करनेको कहा। यथा—'इत्युक्तस्तु तया देव्या वामदेवो महामुनिः। तस्यै मन्त्रवरं श्रेष्ठं ददौ स विधिना गुरुः॥ ११॥ नाम्नां सहस्रविष्णोश्च प्रोक्तवान् मुनिसत्तमः।

एक समयकी बात है कि द्वादशीको शिवजी जब भोजनको बैठे तब उन्होंने पार्वतीजीको साथ भोजन करनेको बुलाया। उस समय वे विष्णुसहस्रनामका पाठ कर रही थीं, अतः उन्होंने निवेदन किया कि अभी मेरा पाठ समाप्त नहीं हुआ। तब शिवजी बोले कि तुम धन्य हो कि भगवान् पुरुषोत्तममें तुम्हारी ऐसी भक्ति है और कहा कि 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। तेन रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥ २१॥ राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने॥ २२॥ रामेत्युक्त्वा महादेवि भुङ्क्ष्व सार्धं मयाधुना॥ २३॥ (अर्थात् योगी लोग अनन्त सच्चिदानन्द परमात्मामें रमते हैं, इसीलिये 'राम' शब्दसे परब्रह्म कहा जाता है। २१। हे रामे (सुन्दरि)! मैं रामराम इस प्रकार जप करते हुए अति सुन्दर श्रीरामजीमें अत्यन्त रमता हूँ। तुम भी अपने मुखमें इस रामनामका वरण करो, क्योंकि विष्णुसहस्रनाम इस एक रामनामके तुल्य है। २२। अतः महादेवि! एक बार 'राम' ऐसा उच्चारण कर मेरे साथ आकर भोजन करो। २३।) यह सुनकर श्रीपार्वतीजीने 'राम' नाम एक बार उच्चारण कर शिवजीके साथ भोजन कर लिया। और तबसे पार्वतीजी बराबर श्रीशिवजीके साथ नाम जपा करती हैं। यथा वसिष्ठ उवाच, 'ततो रामेति नामोक्त्वा सह भुक्त्वाथ पार्वती। रामेत्युक्त्वा महादेवी शम्भुना सह संस्थिता॥ २४॥'

नोट—१ स० १६६१ की प्रतिमें पहले 'जपि जेईं' पाठ था। पद्म० पु० अ० २५४ के अनुसार यह पाठ भी सङ्गत है, क्योंकि 'राम रामेति ' यह श्लोक भोजन करनेके पूर्वहीका है, न कि पीछेका। स० १६६१ में 'जपि जेईं' पर हरताल देकर 'जपति सदा' पाठ बनाया गया है। यह पाठ भी उपर्युक्त कथासे सङ्गत है, क्योंकि उसी समयसे सदा 'राम' नाम वे जपने लगीं। इस पाठमें विशेषता है कि विष्णुसहस्रनामका पाठ तबसे छोड़ ही दिया गया और उसके बदले श्रीरामनाम ही सदा जपने लगीं। इस कथनमें नामके महत्त्वका गौरव विशेष जानकर ही गोस्वामीजीने पीछे इस पाठको रक्खा। गोस्वामीजीने यह पूर्व भी लिखा है। यथा—'मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥ १। १०। २।' 'जपि जेईं' पाठका अर्थ होगा 'पतिके साथ जाकर भोजन कर लिया'। इस पाठसे यह भाव नहीं निकलता कि तबसे फिर 'विष्णुसहस्रनामका' पाठ छोड़ दिया, श्रीरामनाम ही जपने लगीं। इस पाठमें 'जपति सदा' वाला महत्त्व नहीं है।

नोट—२ 'सिव बानी' इति। शिववाणी कहनेका भाव यह है कि यह वाणी कल्याणकारी है, ईश्वरवाणी है, मर्यादायुक्त है, इसीसे बेखटके श्रीपार्वतीजीको निश्चय हो गया। वे जानती हैं कि 'संभु गिरा पुनि मृषा न होई'। (सत्यार्थप्रकाश)

नोट—३ पद्मपुराणकी उपर्युक्त कथासे यह शङ्का भी दूर हो जाती है कि क्या पतिके रहते हुए स्त्री दूसरेको

गुरु कर सकती है?' जगद्गुरु श्रीशङ्करजीके रहते हुए भी श्रीपार्वतीजीने वैष्णवमन्त्रकी दीक्षा महर्षि वामदेवजीसे ली। श्रीनृसिंहपुराणमें श्रीनारदजीने श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे कहा है कि पतिव्रताओंको श्रीरामनाम कीर्तनका अधिकार है, इससे उनको इस लोक और परलोकका सब सुख प्राप्त हो जाता है। यथा—'पतिव्रतानां सर्वासां रामनामानुकीर्तनम्। ऐहिकामुष्मिकं सौख्य दायकं सर्व शोभते॥' (नी० ना० प्र० प्र०)

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को॥ ७॥

शब्दार्थ—हेतु=प्रेम। ही (हिय)=हृदय। ती=स्त्री।

अर्थ—उनके हृदयके प्रेमको देखकर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और पतिव्रता स्त्रियोंमें शिरोमणि अपनी स्त्री पार्वतीजीको अपना भूषण बना लिया। (अर्थात् जैसे आभूषण शरीरमें पहना जाता है, वैसे ही इनको अङ्गमें धारण करके अर्धाङ्गिनी बना लिया)॥ ७॥

☞ श्रीपार्वतीजीका पातिव्रत्य और अनन्यता उनके जन्म, तप एवं सप्तर्षिद्वारा परीक्षामें आगे ग्रन्थकारने स्वयं विस्तारसे दिखायी है।

नोट—१ 'हरषे हेतु हेरि' इति। श्रीरामनाम और अपने वचनमें प्रतीति और प्रीति देखकर हर्ष हुआ। इसमें यह भी ध्वनि है कि सतीतनमें इनके सन्देह हुआ था। यथा—'लाग न उर उपदेसु'''। १। ५१।' और अब इतनी श्रद्धा।

२ यहाँतक चौपाई ४, ५, ६, ७ में गणेशजी, वाल्मीकिजी और पार्वतीजीके द्वारा 'राम' नामका माहात्म्य यह दिखाया है कि (क) नाम जो फल देते हैं, वही उलटेसे भी देते हैं। (ख) जो फल धर्मात्माको देते हैं, वही पापीको। और (ग) जो फल पुरुषको देते हैं वही स्त्रीको भी। (प० रा० कु०)

३ प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'ईश्वर हृदयके स्नेहको देखकर प्रसन्न होते हैं। इनकी प्रसन्नता निष्फल नहीं होती, फलदायी होती है। इसलिये यहाँ फलका देना भी लिखते हैं, वह यह कि भूषण बना लिया।'

४ 'किय भूषन तिय भूषन ती को' के और अर्थ ये हैं—

अर्थ—२ 'तीयभूषण' श्रीशिवजीने अपनी स्त्री (पार्वतीजी) को भूषण बना लिया। भाव यह कि अभीतक तो शिवजी 'तीयभूषण' थे, क्योंकि स्त्रीका भूषण पति होता ही है, परंतु अब श्रीशिवजीने उनकी श्रीरामनाममें प्रीति देखकर उन्हें अपने भूषणयोग्य समझा। यहाँ 'तीयभूषण' श्रीशिवजीका एक नाम है। उसके अनुसार यह अर्थ किया जाता है।

अर्थ—३ श्रीपार्वतीजीको श्रेष्ठ स्त्रियोंका भूषण कर दिया। भाव यह कि जितनी स्त्रियाँ स्त्रियोंमें भूषणरूप थीं, उन सबोंकी शिरोमणि बना दिया। यहाँ, 'तीयभूषण'=स्त्रियोंमें श्रेष्ठ वा शिरोमणि अर्थात् पतिव्रता स्त्रियाँ। इस अर्थसे यह जनाया कि पार्वतीजी सती स्त्रियोंमें शिरोमणि इस प्रसङ्गके सम्बन्धसे हुईं, पहले न थीं। यह बात रामरक्षास्तव विधान ४ विभाग ८ में श्रीअनसूयाजीसे सतीजीकी ईर्ष्या करके पराजित होने तथा पद्मपुराणमें सवतियाडाहके कारण पद्मादेवीसे योग भ्रष्ट अतिहास्तिक करना आदि करनेकी कथाओंसे सिद्ध होता है कि श्रीरामनामजपके पूर्व तियभूषण नहीं थीं। श्रीरामनाममें प्रतीति और प्रीति होनेपर ही वे 'पतिदेवता सुतीय महँ प्रथम' रेखावाली हुईं। नृसिंहपुराणमें भी कहा है कि श्रीरामनाममें अनन्त प्रेम करनेवाली स्त्रियोंको पुत्र, सौभाग्य और पतिका प्रियत्व प्राप्त होता है। यथा—'रामनामरता नारी सुत सौभाग्यसंयुतम्। भर्तुः प्रियत्वं लभते न वैधव्यं कदाचन॥' (सी० रामनाम प्रताप-प्रकाश)

५ 'हरषे''' में 'श्रुत्यनुप्रास अलङ्कार' है, क्योंकि एक ही स्थानसे उच्चारण होनेवाले अक्षरोंसे बने हुए शब्दोंका यहाँ प्रयोग हुआ है।

६ पातिव्रत्य धर्म स्त्रियोंका सर्वश्रेष्ठ धर्म है। उसके पालनसे उनका इस लोकमें पतिप्रेम और

अन्तमें परलोककी प्राप्ति होती है। श्रीपार्वतीजी पतिव्रता तो थीं ही, परन्तु पतिका इतना विशेष प्रेम जो उनपर हुआ कि अर्धाङ्गिनी बना लिया उनके श्रीरामनाममें इतना प्रेम देखकर ही हुआ। इस वाक्यमें ग्रन्थकार स्त्रियोंको उपदेश देते हैं कि उनको श्रीरामनामका भी जप करना चाहिये।

नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥ ८॥

अर्थ—श्रीशिवजी नामका प्रभाव भलीभाँति जानते हैं (कि जिससे) हालाहल विषने उनको अमृतका फल दिया॥ ८॥

नोट—'नाम प्रभाउ जान सिव नीको' इति। 'नीको'=भलीभाँति। शिवजी सबसे अधिक इसके प्रभावको जानते हैं तभी तो 'सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि बामदेव नाम-घृत है', (विनय २५४), 'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि। १। २५।' और अहर्निशि 'सादर जपहिं अनँग आराती'। देखिये, सागर मथते समय सभी देवगण वहाँ उपस्थित थे और सभी नामके परत्व और माहात्म्यसे अभिज्ञ थे, तब औरोंने क्यों न पी लिया? कारण स्पष्ट है कि वे सब श्रीरामनामके प्रतापको 'नीकी' भाँति न जानते थे। जैमिनिपुराणमें भी इसका प्रमाण है; यथा—'रामनाम परं ब्रह्म सर्वदेवप्रपूजितम्। महेश एव जानाति नान्यो जानाति वै मुने॥' (रा० प०)। पद्मपुराणमें एक श्लोक ऐसा भी है, 'रामनामप्रभावं यत् जानाति गिरिजापतिः। तदर्द्धं गिरिजा वेत्ति तदर्द्धमितरे जनाः॥' (वे० भू०)। अर्थात् रामनामका प्रभाव जो शिवजी जानते हैं, गिरिजाजी उसका आधा जानती हैं और अन्य लोग उस आधेका भी आधा जानते हैं।

२ 'कालकूट फल दीन्ह अमीको' इति। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अध्याय ५ से ७ तकमें यह कथा दी है कि 'छठे मन्वन्तरमें नारायण भगवान् अजितनामधारी हो अपने अंशसे प्रकट हुए देवासुर संग्राममें दैत्य सेनाओंका विनाश कर रहे थे। दुर्वासा ऋषिको विष्णुभगवान्‌ने मालाप्रसाद दिया था। उन्होंने इन्द्रको ऐरावतपर सवार रणभूमिकी ओर जाते देख वह प्रसाद उनको दे दिया। इन्द्रने प्रसाद हाथीके मस्तकपर रख दिया जो उसने पैरोंके नीचे कुचल डाला। इसपर ऋषिने शाप दिया कि 'तू शीघ्र ही श्रीभ्रष्ट हो जायगा'। इसका फल तुरत उन्हें मिला। संग्राममें इन्द्रसहित तीनों लोक श्रीविहीन हुए। यज्ञादिक धर्मकर्म बंद हो गये। जब कोई उपाय न समझ पड़ा तब इन्द्रादि देवता शिवजीसहित ब्रह्माजीके पास सुमेरु शिखरपर गये। इनका हाल देख सुन ब्रह्माजी सबको लेकर क्षीरसागरपर गये और एकाग्रचित्त हो परमपुरुषकी स्तुति करने लगे और यह भी प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हमको उस मनोहर मूर्तिका शीघ्र दर्शन दीजिये, जो हमको अपनी इन्द्रियोंसे प्राप्त हो सके।' भगवान् हरिने दर्शन दिया, तब ब्रह्माजीने प्रार्थना की कि 'हमलोगोंको अपने मङ्गलका कुछ भी ज्ञान नहीं है, आप ही उपाय रचें, जिससे सबका कल्याण हो'। भगवान् बोले कि 'हे ब्रह्मा! हे शम्भु-देव! हे देवगण! वह उपाय सुनो जिससे तुम्हारा हित होगा। अपने कार्यकी सिद्धिमें कठिनाई ही देखकर अपना काम निकालनेके लिये शत्रुसे मेल कर लेना उचित होता है। जबतक तुम्हारी वृद्धिका समय न आवे तबतकके लिये तुम दैत्योंसे मेल कर लो। दोनों मिलकर अमृत निकालनेका प्रयत्न करो। क्षीरसागरमें तृण, लता, ओषधि, वनस्पति डालकर सागर मथो। मन्दराचलको मथानी और वासुकिको रस्सी बनाओ। ऐसा करनेसे तुमको अमृत मिलेगा। सागरसे पहले कालकूट निकलेगा, उससे न डरना, फिर रत्नादिक निकलेंगे इनमें लोभ न करना...'। यह उपाय बताकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

इन्द्रादि देवता राजा बलिके पास सन्धिके लिये गये। समुद्र मथकर अमृत निकालनेकी इन्द्रकी सलाह दैत्य दानव सभीको भली लगी। सहमत हो दानव, दैत्य और देवगण मिलकर मन्दराचलको उखाड़ ले चले। राहमें थक जानेसे पर्वत गिर पड़ा। उनमेंसे बहुतेरे कुचल गये। इनका उत्साह भङ्ग हुआ देख भगवान् विष्णु गरुड़पर पहुँच गये। और लीलापूर्वक एक हाथसे पर्वतको उठाकर गरुड़पर रख उन्होंने उसे क्षीरसागरमें पहुँचा दिया। वासुकिको अमृतमें भाग देनेका लालच देकर उनको रस्सी बननेको उत्साहित किया गया।...'मन्दराचल जलपर स्थित रखनेके लिये भगवान्‌ने कच्छपरूप धारण किया। जब बहुत मथनेपर भी अमृत न निकला, तब अजित भगवान्

स्वयं मथने लगे। पहले कालकूट निकला जो सब लोकोंको भस्म करने उठा, तब (भगवानकी इच्छा पा) सब मृत्युञ्जय शिवजीकी शरण गये और जाकर उन्होंने उनकी स्तुति की। भगवान् शङ्कर कृपालुने इनका दुःख देख सतीजीसे बोले कि 'प्रजापति महान् सङ्कटमें पड़े हैं, इनके प्राणोंकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। मैं इस विषको पी लूँगा जिसमें इनका कल्याण हो'। भवानीने इस इच्छाका अनुमोदन किया। (सन्त श्रीगुरुसहायलाल गौड़दत्तजीके खर्रमेंसे यह श्लोक देते हैं—'श्रीरामनामाखिलमन्त्रबीजं मम जीवनं च हृदये प्रविष्टम्। हालाहलं वा प्रलयानलं वा मृत्योर्मुखं वा विशतां कुतो भयम्॥' शिवजीने उस सर्वतोव्याप्त कालकूटको हथेलीपर रखकर पी लिया। नन्दी-पुराणमें नन्दीश्वरके वचन हैं कि 'शृणुध्वं भो गणाः सर्वे रामनाम परं बलम्। यत्प्रसादान्महादेवो हालाहल-मयीं पिबत्॥ १॥ जानाति रामनाम्नस्तु परत्वं गिरिजापतिः। ततोऽन्यो न विजानाति सत्यं सत्यं वचो मम॥ २॥'

कई टीकाकारोंने लिखा है कि 'रा' उच्चारणकर शिवजीने हालाहलविष कण्ठमें धर लिया और फिर 'म' कहकर मुख बंद कर लिया। इस टीकनको इसका प्रमाण-अभीतक नहीं मिला।

३ 'फल दीन्ह अमी को' इति। विषपानका फल मृत्यु है, पर आपको वह विष भी श्रीरामनामके प्रतापसे अमृत हो गया, यथा—'खायो कालकूट भयो अजर अमर तन। क०। ७। १५८।' इस विषकी तीक्ष्णतासे आपका कण्ठ नीला पड़ गया जिससे आपका नाम 'नीलकण्ठ' पड़ा। यहाँ 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' है। जहाँ विरोधी अपने अनुकूल हो जावे, अन्यथाकारी यथाकारी हो जावे, जैसे यहाँ मारनेवाले विषने रामनामके प्रतापसे अमृतका फल दिया, वहाँ 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' होता है। 'एकहि वस्तु जहाँ कहूँ करै सुकाज विरुद्ध। प्रथम तहाँ व्याघात कहि बरनै कवि मति शुद्ध॥' (अ० मञ्जूषा)।

टिप्पणी—५० रामकुमारजी यहाँतक ८ चौपाइयोंपर ये भाव लिखते हैं कि (१) 'बंदउँ राम नाम रघुबर को।·· अगुन अनूपम गुननिधान सो' में मन्त्रके स्वरूपकी बड़ाई की। फिर यहाँतक जापकद्वारा मन्त्रकी बड़ाई की। ऊपर शिवजीका जपना कहा। अब मन्त्रके फलकी प्राप्ति कहते हैं कि 'कालकूट फल दीन्ह अमी को'। (२) 'शिवजीको आदि अन्तमें दिया क्योंकि ये जापकोंमें आदि हैं और फलके अवधि हैं कि अविनाशी हो गये।' (३) इस दोहेमें दिखाया है कि जो पञ्चदेव सूर्य, शिव, गिरिजा (शक्ति), गणपति और हरि जगत्का उपकार करते हैं, उनका उपकार भी श्रीरामनाम करते हैं। सूर्यके प्रकाशक हैं, यह बात 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' इस चौपाईमें जनायी। इसी तरह 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' से शिवजीको अविनाशी करना, 'प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ' से गणेशजीको आदि पूज्य बनाना 'बिधि हरि हरमय' से हरिको उत्पन्न करना और 'जपति सदा पिय संग भवानी' 'तिय भूषन ती को' से भवानीके साथ उपकार सूचित किया।' 'सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा' से पार्वतीजीकी श्रद्धा और 'कालकूट फल··' से शिवजीका अटल विश्वास दिखाया। इसीसे श्रद्धा और विश्वासको साथ रखा।

५० श्रीजानकीशरणजीका मत है कि इन दोहेमें चारों प्रकारके नामके अर्चारूप कहे गये, स्वयव्यक्त, दिव्य, सिद्ध और मानुष। जैसे श्रीशिवजीके हृदयमें 'स्वयव्यक्त' रूप प्रकट हुआ, क्योंकि उन्हें स्वयं नामका ज्ञान एवं विश्वास हुआ। पार्वतीजीके हृदयमें इसी विश्वास तथा ज्ञानको महादेवजीने स्थापित किया। अतः 'दिव्य' हुआ। वाल्मीकिके हृदयमें सप्तर्षि सिद्धोंने स्थापित किया, अतः 'सिद्ध' हुआ। गणेशजीने स्वयं (अपने आप) पृथिवीपर लिखकर और नाममूर्ति निर्माणकर परिक्रमा करके फल पाया। अतः यहाँ 'मानुष्य' हुआ।'

यद्यपि यहाँ नामका प्रकरण है, न कि नामीका, तथापि गणेशजीने जो पृथ्वीपर नाम लिखा था उसको नामका अर्चाविग्रह मानकर यह कल्पना की गयी है। कल्पना सुन्दर है। पूर्वोक्त शिवजी, पार्वतीजी और वाल्मीकिजी यदि वर्णात्मक नामका ध्यान करते हों तो इनके विषयमें भी यह कल्पना ठीक हो सकती है। क्योंकि मानसिक मूर्तिका भी अर्चाविग्रहमें ग्रहण होता है। जो विग्रह देवताओंके द्वारा स्थापित किया जाय वह 'दैव', जो सिद्धोंद्वारा स्थापित किया

जाय वह 'सैद्ध' और जो मनुष्यके द्वारा स्थापित किया जाय उसे 'मानुष' कहा जाता है। श्रीगणेशजी देवता हैं इस-लिये उनके द्वारा स्थापित विग्रहको 'दैव' विग्रह कहना विशेष ठीक होगा। चारोंको लाना हो तो शिवजी सिद्ध हैं ही अत उनके द्वारा स्थापितको 'सैद्ध' और वाल्मीकिजी मनुष्य हैं अत उनका 'मानुष' मान ले सकते हैं।

पुन, श्रीपण्डितजी लिखते है कि 'इन आठ चौपाइयोंके अभ्यन्तर यह भाव दिखाया गया है कि शिवजीसे उतरकर गणेशजी नामप्रभाव जानते हैं गणेशजी और वाल्मीकिजी दोनोंने बहुत ब्रह्महत्या की थी, दोनों नामसे पवित्र हुए, एक आदिपूज्य हुए, दूसरे आदि कवि, इसलिये दोनोंको एकत्र रक्खा। आगे फिर पार्वतीजीको शिवजीके समीप लिखते हैं।'

दो०—बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास। राम नाम बर बरन जुग सावन भादव* मास ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—शालि=धान। वैद्यकके अनुसार पाँच प्रकारके धानोंमेसे यह एक प्रकारका धान है जो हेमन्तऋतुमें होता है। इसके भी अनेक भेद कहे जाते हैं। शालिधानको जड़हन और बासमती भी कहते हैं। यह प्राय जेठ मासमें बोया जाता है। फिर श्रावणमे उखाड़कर रोपा जाता है। श्रावण-भादोंकी वर्षा इसकी जान है। यह अगहनके अन्त या पौषके आरम्भमे पककर तैयार हो जाता है। यह धान बहुत बारीक और सुन्दर होता है। इसका चावल सबसे उत्तम माना जाता है।

अर्थ—श्रीरघुपति भक्ति वर्षाऋतु है, तुलसी और सुन्दर दास 'शालि' नामक धान हैं। श्रीरामनामके दोनों श्रेष्ठ वर्ण सावन-भादोंके महीने हैं ॥ १९ ॥

नोट—१ प० रामकुमारजी कहते है कि 'ऊपर चौपाइयोंमें कुछ भक्तोंको सुख देना कहा था और अब सब भक्तोंको सुख देना कहते हैं। यहाँ सुख ही जल है। यथा—'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी'।

२—यहाँ गोस्वामीजी अपनेको भी 'धान' सम कहते है। यथा—'श्यामघन सींचिए तुलसी सालि सफल सुखाव' (वि० २२१)। यह कवियोंकी उक्ति है। (श्रीरूपकलाजी)। प्राय. लोग यह अर्थ करते हैं कि 'तुलसीदासजी कहते हैं कि 'सुदास धान हैं'।

३—'तुलसी सालि सुदास' इति। जबतक सावन भादोंकी झड़ी न लगे, शालिनामक धान नहीं होता, वैसे ही श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि उत्तम दासोंका और मेरा भी आधार श्रीरामनामके दोनों अक्षर 'रा' 'म' ही हैं, इन्हींकी वृष्टि अर्थात् जिह्वासे निरन्तर जपनेसे ही अपना जीवन है। यथा—'रामनाम तुलसी को जीवन अधार रे' (वि० ६७), 'तुम्हरेई नामको भरोसो भव तरिबे को बैठे उठे जागत बागत सोये सपने' (क० उ० ७८), 'अति अनन्य जे हरिके दासा। रटहिं नाम निसिदिन प्रति स्वासा ॥' (वैराग्यसंदीपनी)। 'रामनाम छोड़ और जितनी प्रकारकी भक्तियाँ हैं वे और अन्नों (चना, गेहूँ, ज्वार इत्यादि) के समान हैं जो और महीनोंके जल अथवा सींचसे भी हो जाते हैं। शालि अन्य सब धान्योंसे उत्तम होता है, इसीसे उत्तम दासोंको ही शालि कहा, अन्यको नहीं।

प शिवलालपाठकजी कहते हैं कि 'जैसे और महीनोंकी वर्षासे कदापि धानकी उपज नहीं होती, वैसे ही भक्ति भक्तोंके दुःखको हरन नहीं कर सकती, यदि 'रामनाम' भक्तिकी आशाको पूर्ण न करे, तात्पर्य यह है कि बिना रामनामके अवलम्बके भक्ति असमर्थ है। ध्वनि यह है कि रामभक्ति होनेपर भी रामनाम ही भक्तोंको हरा-भरा रखता है।' (मानसमयङ्क)

---

* व्यासजी और रामायणीजीका पाठ 'भादौ' है।

४—वर्षाऋतुको भक्ति और युगाक्षरको श्रावण-भादों कहनेका भाव यह है कि—(क) जैसे वर्षा चतुर्मासामें श्रावण-भादों दो महीने ही विशेष हैं, वैसे ही श्रीराम भक्तिमें 'रा' 'म' ही विशेष है। तात्पर्य यह कि भक्ति बहुत भाँतिकी है, परतु उन सबोंमें रामनामका निरन्तर रटना, जपना, अभ्यास, यही सबसे उत्तम भक्ति है, जैसे सावन भादों ही वर्षाके मुख्य महीने है।

देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्वास्वामी और काशीनरेश दोनोंका मत भी यही है। रा० प० प० कार लिखते है कि वैद्यकादिमें वर्षा चार मासकी मानी गयी है। काष्ठजिह्वास्वामीजी इस दोहेका भाव यह लिखते है कि जैसे वर्षा ग्रीष्मसतापसे जले हुए जीवोंको हरे करके सुफल कर देती है, वैसे ही जब रघुपति भक्ति उत्पन्न हुई तब जीवोंके घोर सताप मिटे और जन्म सुफल हुआ, वर्षा चार मास रहती है जिसमेसे सावन-भादों दो मास सार हैं, इसी प्रकार भक्तिके साधन बहुत हैं परतु सार ये दो ही अक्षर हैं।' पुन, (ख) प्राकृतिक अवस्थाओंके अनुसार वर्षके दो-दो महीनेके छ विभागको ऋतु कहते है। ऋतु छ है। इसके अनुसार वर्षाऋतु केवल सावन-भादोंके लिये प्रयुक्त होता है। इस तरह दोहेका भाव यह होता है कि जैसे वर्षाऋतु सावन-भादो दो ही महीनेकी होती है, वैसे ही 'रा' 'म' ही का नित्य स्मरण केवल यही रघुपति-भक्ति है, इससे बाहर रघुपति-भक्ति है ही नहीं। श्रावण भादों और वर्षाऋतुमें अभेद है, वैसे ही रामनाम और रघुपति-भक्तिमें अभेद है। इन्हींपर उत्तम दासरूपी धानका आधार है।* पुन (ग) सालमें छ ऋतु होती है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हिम, शिशिर। इनमेंसे वर्षाऋतु ही सबका पोषक है, रघुपति भक्ति वर्षाऋतु है और श्रीगणेश, गौरी, शिव, सूर्य और विष्णु—इन पचदेवोंकी भक्ति अन्य पाँच ऋतुएँ है। यथा—'करि मज्जन पूजहि नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी। अ० २७३।' 'सब करि माँगहिं एक फल रामचरन रति होउ। अ० १२९।' श्रीरामभक्तिहीसे और भक्तियोंकी शोभा है, क्योंकि शिवजी, गणेशजी, पार्वतीजीका रामनाम ही जपना ऊपर कह आये है, और सूर्य और विष्णु भगवान् भी रघुपति-भक्त हैं। यथा—'दिनमनि चले करत गुन गाना। १। १९६।' 'हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे। १। ३१७।'

५—ऊपर ४ (क) मे 'वर्षारितु' का अर्थ वर्षाकाल चौमासा है, जैसा साधारण बोलीमे कहा और समझा जाता है, अन्य अर्थमे दोहार्थकी जो चोखाई या सुन्दरता है वह नहीं रह जाती, क्योंकि जब कई वस्तु हो तभी उनमे कोई प्रधान कहा जा सकता है। रघुपतिभक्तिमे 'रा' 'म' तभी मुख्य कहे जा सकते हैं जब रघुपति-भक्ति ही कई तरहकी हो, सो वह नौ प्रकारकी है ही, पुन आगे दोहा २२ मे भी 'रामभक्ति' मे नामको श्रेष्ठ माना है।

६ 'बरन जुग सावन भादों मास' का भाव यह भी कहते हैं कि जैसे सावन-भादो मेघकी झड़ी लगा देते है वैसे ही रामनामके वर्ण रामभक्तके हृदयरूपी थलपर प्रेमकी वर्षा करते हैं। सावन, भादोंकी वर्षामे धान बढता और पुष्ट होता है, वैसे ही 'श्रीराम' नामके जपनेसे भक्तिकी वृद्धि होती है।

७ पूर्व रकार, अकार, मकार तीनों अक्षरोंका माहात्म्य कहा, अब यहाँसे 'एक छत्र एक…' तक 'रकार मकार' इन दोनों अक्षरोंका माहात्म्य दूसरे प्रकारसे कहते है (प० रामकुमारजी)।

८ यहाँ 'रा' 'म' पर श्रावण भादो मास होनेका आरोप किया गया। सावन-भादों मास होनेकी सिद्धिके लिये पहले ही 'सुदास और अपनेमें धान और रघुपतिभक्तिमें वर्षाका आरोप किया गया। अतएव यहाँ 'परम्परित रूपक' हुआ।

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥ १॥

---

* वर्षाऋतु = रघुपतिभक्ति
वर्षाऋतु = श्रावण-भादो }
रघुपति-भक्ति = श्रावण भादों = 'र' 'म'
'र' 'म' = रघुपति-भक्ति।
अर्थात् रामनाम रटना ही रघुपति-भक्ति है।

शब्दार्थ—मनोहर=मन हरनेवाला, सुन्दर। विलोचन=नेत्र, दोनों नेत्र, विशेष नेत्र। जन=भक्त, दास, जापक, प्राणी। जिय=हृदय, जी=जीव, प्राण। जोऊ=जो (वर्ण ही)।=देख लो (यह गुजरात प्रान्तकी बोली है)। यह शब्द 'जोहना' का अपभ्रंश जान पड़ता है। देखनेके अर्थमें बहुत ठौर आया है। यथा—'करि केहरि बन जाइ न जोई। अ० ११२।' 'अमित बसन बिनु जाहिं न जोए। अ० ९१।' 'भरी क्रोध जल जाइ न जोई। अ० ३४।', 'समुझि मोरि करतूति कुल प्रभु महिमा जिय जोइ' (२। १९५)।

अर्थ—१ दोनों अक्षर ('रा' और 'म') मधुर और मनोहर हैं। सब वर्णोंके नेत्र हैं और जो उनके प्राण भी हैं॥ १॥ (पा०)।

नोट—१ जैसे पूर्व दोहेमें जप और माहात्म्य जानना कहा, वैसे ही यहाँ कहते हैं। (प० रामकुमारजी)।

'आखर मधुर मनोहर दोऊ' इति। (१) नामका जप जिह्वा और मनसे होता है, सो जिह्वाके लिये तो 'मधुर' और मनके लिये 'मनोहर' है। अर्थात् उच्चारणमें 'मधुर' होनेसे जिह्वाको स्वाद मिलता है और समरणमें अपनी सुन्दरतासे मनको (ये वर्ण) हर लेते हैं। (प० रामकुमारजी)।

[*नोट*—(क) 'दोऊ' पद देकर यथासंख्यका निषेध किया। अर्थात् 'एक मधुर, दूसरा मनोहर' यह अर्थ नहीं है। (ख) प्राचीन ऋषियोंने इन्हें मधुर अनुभव किया है इससे प्राचीन प्रमाण इनके मधुर होनेका पाया जाता है। यथा 'हे जिह्वे ! मधुरप्रिये सुमधुर श्रीरामनामात्मकं पीयूषं पिब प्रेमभक्तिमनसा हित्वा विवादानलम्। जन्मव्याधिकषायकामशमन रम्यातिरम्यं परं श्रीगौरीशप्रियं सदैव सुभगं सर्वेश्वरं मोक्षदम्॥' (श्रीसनत्सनातन-संहितायाम्), पुनः हे जिह्वे ! जानकीजानेर्नाममाधुर्यमण्डितम्॥' (श्रीहनुमत्संहितायाम्); पुनः यथा—'कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ (वाल्मीकिरामायण) अर्थात् हे जिह्वे ! तू मधुरप्रिय है। अत्यन्त मधुर प्रेमभक्तिपूर्वक वादविवाद छोड़कर जन्मरोग और कामादिका शमन करनेवाले, अत्यन्त रम्य, श्रीशिवपार्वतीजीके प्रिय, सबके स्वामी, सदा सुख और शुभ गतिके देनेवाले श्रीरामनामरूपी अमृतको पान कर। (श्रीसनत्सनातनसं०)। हे जिह्वे ! श्रीजानकीपतिका नाम माधुर्यसे युक्त है उसे ले। (श्रीहनुमत्‌सं०)। कवितारूपी शाखापर चढ़कर मधुर जिसके अक्षर हैं ऐसे मधुर रामनामको मधुर स्वरसे बोलनेवाले वाल्मीकिरूपी कोकिलको मैं प्रणाम करता हूँ। पुनः (ग) महाराज श्रीयुगलानन्यशरणजी 'श्रीनामकान्ति' में लिखते हैं कि 'पक्षपातकी बात नहीं निज नयननसे लखि लीजै। परखो प्रीति सजाय उभय पुनि रटत महा मधु पीजै॥ और नाम सुमिरत रसना दसबीस बारमें छीजै। युगलानन्य सुनाम राम नित रटत जीह रस भीजै॥' इसके उदाहरणस्वरूप श्रीसियानामशरण, गर्जनबाबा श्रीराघोदास, श्रीमौनीबाबा रामशरणजी, श्रीसीतारामदास सुतीक्ष्णजी, श्रीसीतारामशरणजी, श्रीरामकृष्णदासजी आदि कई महात्माओंका परिचय इस दासको हुआ जिनके जिह्वापर भी नाम सदा विराजता रहता है, इतना मधुर लगता है कि कोई कैसा ही प्रलोभन देकर भी उसे नहीं छुड़ा सकता।]

(२) 'य र ल व म' को व्याकरणमें बिल्कुल व्यञ्जन ही नहीं किंतु स्वरप्राय कहा है। व्यञ्जनोंकी अपेक्षा स्वर तो मधुर होते ही हैं। जो मधुर होता है वह मनोहर भी होता है, ये दोनों गुण एक साथ होते हैं। अतः मधुर और मनोहर कहा। (श्रीरूपकलाजी)

(३) 'र' और 'म' ये दोनों अक्षर संगीतशास्त्र और व्याकरणशास्त्रमें मधुर माने गये हैं। 'र' ऋषभ स्वरका सूचक है और 'म' मध्यम स्वरका। संगीतज्ञ इन दोनों स्वरोंको मधुर मानते हैं और मधुर होनेसे मनोहर हैं, क्योंकि मधुर रसको सारा संसार चाहता है। व्याकरण शास्त्रानुसार 'र' मूर्द्धन्य और 'म' ओष्ठ्य अक्षर हैं। मिठाईका ठीक स्वाद ओठोंहीसे मिलता है (यह अनुभवकी बात है जो चाहे अनुभव करके देख ले कि मिठाई खानेसे हलक, तालु और जिह्वामें एक प्रकारकी जलन पैदा होती है, परंतु ओठोंमें नहीं 'म' को ओष्ठ्य इसलिये माना गया कि उसका उच्चारण तबतक स्पष्ट नहीं हो सकता जबतक दोनों ओठ बिलग-बिलग न हो जायँ)।

(४) प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि—(क) 'र' और 'म' अक्षर 'मधुर' और 'मनोहर' शब्दोंमें आदि और अन्तमें आते हैं। गोस्वामीजीका भाव इन शब्दोंके रखनेसे यह जान पड़ता है कि वे 'र' और 'म' को 'माधुर्य' और 'मनोहरता' का आदि कारण और अन्तिम सीमा मानते थे। नहीं तो वे कोई अन्य शब्द भी रख सकते थे। (ख) गणित विद्यासे 'र' और 'म' की बारहखड़ियोंसे सीधे या उलटे जितने भी शब्द बन सकते हैं, उन शब्दोंमें कुछ थोड़े तो निरर्थक होते हैं और कुछ ही अमधुर और अमनोहर। जो चाहे सो बनाकर देख ले; लगभग अस्सी प्रति सैकड़ा ऐसे शब्द बनेंगे जिनके अर्थसे किसी-न-किसी प्रकारकी मधुरता और मनोहरता प्रकट होती है।

(५) दोनों मधुर हैं, क्योंकि इनसे जिह्वाको रस मिलता है। मनोहर हैं अर्थात् मनको एकाग्र करते हैं। (प०)।

(६) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि—'ह ष भ ठ ध ढ भ गम्भीर योगियोंके लायक है, 'म न य र ल ज ट ग अ मधुर हैं, माधुर्य गुणके लायक हैं। पुनः स्वर 'सा रे गा मा पा धा नी' में रकार ऋषभ स्वर, मकार मध्यम स्वर हैं। इसलिये रागके साथ गानेमें मनोहर है। भाव भेदमें मधुर, नादमें मनोहर है। पुनः मनोहर अर्थात् सुन्दर है। भाव यह कि खण्डाक्षर, दुष्टाक्षर, संयोगादि नहीं हैं, इसलिये लिखने, देखने और सुननेमें भी मनोहर है।

(७) महात्मा श्रीहरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यहाँ दोनों अक्षरोंके गुण कहते हैं। अवर्ग और स्पर्शनके पञ्चम वर्णके अक्षर उच्चारणमें मधुर हैं और वर्गोंके चतुर्थ बहुत गम्भीर हैं, तीसरे आखर भी सुहावने हैं, बाकीके रूखे हैं। इसलिये रकार-मकार मधुर कहे गये और अर्थसे दोनों मनोहर हैं।

(८) जैसे आमका ख्याल आते ही आमके मीठे स्वाद और रसहीपर ध्यान जाता है और उसके खानेको जी ललचाता है, वैसे ही श्रीरामनामके अक्षरोंका महत्त्व नामके सुमिरते ही जीमें आता है तो वे जिह्वा और मन दोनोंको मीठे या प्रिय लगने लगते हैं। प्रिय लगनेसे फिर उनको प्रेमसे सुमिरते ही बनता है और सुमिरन करनेसे मनके सब विकार दूर हो जाते हैं। अतः नामका महत्त्व विचारते हुए जप करना चाहिये।

नोट—२ 'बरन बिलोचन' इति। (क) मानस दीपककार लिखते हैं कि 'अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग इत्यादि आठों वर्गोंके वर्ण सरस्वतीके अङ्ग हैं। चरणोंके क्रमसे 'र' 'म' दोनों नेत्रके स्थानमें पड़े हैं, 'य' नासिकास्थानमें है। इस विचारसे 'बिलोचन' कहा। 'र' दाहिना नेत्र है, 'म' बायाँ। (ख) वर्णमालाके कुल अक्षरोंसे तन्त्रशास्त्रानुसार जब सरस्वतीका चित्र बनाया जाता है तो रकार मकार नेत्रके स्थानपर स्थापित किये जाते हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि यही 'र' 'म' सरस्वतीजीके नेत्र हैं। अर्थात् बिना इन दो अक्षरोंके सरस्वती अंधी हो जायगी, और अंधी होकर संसारमें बेकाम हो जायगी और संसारका सारा काम गड़बड़ हो जायगा। पद्माकर कविके वंशजोंमें अब भी वर्णोंद्वारा बनाया हुआ यह सरस्वती तन्त्र है और इसीके पूजनसे उस वंशके लोग कवि होते जाते हैं। (यह बात दीनजीसे पद्माकरजीसे मालूम हुई)। (ग) 'बर्न बिलोचन', यथा—'लोचने द्वे श्रुतीनाम्' अर्थात् ये दोनों वर्ण श्रुतियोंके नेत्र हैं। श्रुतियाँ जो यश गान कर रही हैं, वह इन्हीं दो नेत्रोंसे देखकर। पुनश्च 'उन्मीलत्पुण्यपुंजद्रुमललितदले लोचने च श्रुतीनाम्…' (महारामभुशुण्डिसंहिता)। अर्थात् उदयको प्राप्त होनेवाला जो पुण्यसमूहरूपी वृक्ष है उसके यही दो दल हैं और श्रुतियोंके नेत्र हैं।

नोट—३ 'जन जिय जोऊ' इति। इसके और अर्थ ये किये जाते हैं—

अर्थ—२ जो जनके हृदयमें रहते हैं।

अर्थ—३ 'जनके जीको देखनेवाले हैं, अर्थात् उनके हृदयको देखते रहते हैं कि इनके जीमें जो इच्छा हो उसे हम तुरत पूरी करें।

अर्थ—४ 'जो जनके हृदयके भी नेत्र हैं। भाव यह है कि जिन प्राणियोंके हृदयमें ये दोनों अक्षर नहीं हैं, वे अन्धे ही हैं, श्रीरामरूपादि नहीं देख सकते। यथा—'काई बिषय मुकुर मन लागी ॥ मुकुर मलिन अरु

नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना ॥ १। ११५।' 'ताही को सूझत सदा दसरथराजकुमार। चश्मा जाके दृगनमें लग्यो रकार मकार।' (श्री १०८ युगलानन्यशरणजी)।

अर्थ—५ पं० रामकुमारजीका मत है कि 'दोऊ' देहलीदीपक है। अर्थात् दोनों वर्ण जनके हृदयके देखनेवाले दोनों नेत्र हैं। भाव यह कि औरोंके अन्तःकरणके नेत्र ज्ञान और वैराग्य हैं। यथा—'ज्ञान बिराग नयन उरगारी। ७। १२०।', परंतु भक्तोंके अन्तःकरणके नेत्र 'रा' और 'म', ही हैं। इन्हींसे वे तीनों कालों और तीनों लोकोंकी बातें देखते है। यहाँ द्वितीय निदर्शना अलङ्कार है।

अर्थ—६ जिन हृदयके नेत्रोंसे भक्त भगवान्का स्वरूप देखते हैं, वे (नेत्र) मानो ये दोनों अक्षर ही हैं। (पं०)

अर्थ—७ हे प्राणियो! अपने जीवके नेत्रोंसे देखो। (वै०)

अर्थ—८ हे भक्तजनो! (स्वयम् अपने) हृदयमें विचार देखो। (दीनजी)

अर्थ—९ ये वर्ण नेत्र है, इनसे जीवको (आत्मस्वरूपको) देख लो।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू ॥ २ ॥

अर्थ—स्मरण करनेमें सबको सुलभ और सुख देनेवाले हैं। लोकमें लाभ, परलोकमें निर्वाह करते हैं ॥ २ ॥

नोट—१ 'स्मरण करते ही सुलभ है, ऐसा भी अर्थ किया जाता है। इसका भाव यह है कि सब मनोरथ इनमें सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। यथा—'कासी बिधि बसि तनु तजे हठि तन तजे प्रयाग। तुलसी जो फल सो सुलभ रामनाम अनुराग ॥' (दो० १४), 'पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम। सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम' (दो० ५७०), 'तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि' (बरवै०), 'सेवत सुलभ सुखद हरिहर से' (बा० ३२) पुनः, सुलभता यहाँतक कि 'धोखेहु सुमिरत पातक पुंज सिराने।' (विनय० २३६)।

२ स्मरण करनेमें 'सुलभ' है। इसका भाव यह है कि उच्चारणमें कठिन नहीं, जैसे ट ठ ड ढ ण ज्ञ क्ष छ इत्यादि कठिन हैं। इनके उच्चारणमें व्याकरणकी सहायता नहीं लेनी पड़ती। सहज ही बच्चे बूढ़े, पढ़े-अनपढ़े, सभी उच्चारण कर लेते हैं। सुलभ=सुगम, सरल, आसान, सहल। पुनः सुलभ हैं अर्थात् सबको इनके स्मरणका अधिकार है।

३ 'सुलभ सुखद' कहकर सूचित किया कि और मन्त्र एक तो स्मरणमें कठिन हैं, दूसरे सबको सुखद नहीं' अधिकारीको सुखद हैं, अनधिकारीको विघ्न करते हैं। (पं० रामकुमारजी)। पुनः भाव कि स्मरण करनेमें स्नानादिका कोई विचार या नियम नहीं है। (रा० प्र०)

४ 'सुखद सुलभ सब काहू' इति गायत्री आदि बहुत-से मन्त्र ऐसे हैं कि उनके जपका अधिकार शूद्र और अन्त्यजको और विशेषतः स्त्रियोंको नहीं है, परंतु 'रामनाम' के स्मरणका अधिकार स्त्री-पुरुष, नीच-ऊँच, महाअधम पापी कोई भी किसी ही वर्ण या आश्रमका क्यों न हो सभीको है। यथा—'नीचेहू को, ऊँचेहू को रंकहू को, रायहू को, सुलभ सुखद आपनो सो घरु है।' (विनय० २५५)।' जैसे अपने घरमें रोक-टोक नहीं और सब सुख, वैसे ही रामनामसे सबका अधिकार और उससे सबको सुख प्राप्त हो सकता है।

५ 'लोक लाहु परलोक निबाहू' इति। भाव यह है कि 'अन्य मन्त्रोंमेंसे कोई लोकमें लाभ देते हैं, परलोक नहीं बना सकते, कोई परलोक बनाते है इस लोकमें लाभ नहीं देते। परंतु रामनाम लोक और परलोक दोनों बनाते हैं, स्वार्थ-परमार्थ दोनोंके देनेवाले हैं। अर्थात् इस लोकमें रोटी, लूगा, धन, यश, सभी सुखके पदार्थोंको देनेवाले हैं, और परलोकमें प्रभुका धाम प्राप्त करा देते है। यथा—'स्वारथ साधक परमारथ दायक नामु' (वि० २५४), 'कामतरु रामनाम जोई जोई माँगि है। तुलसी स्वारथ परमारथ न खाँगि है' (वि० ७०), 'रोटी लूगा नीके राखे आगेहूके वेद भाषैं भली ह्वैहै तेरो' (वि० ७६)। (पं० रामकुमारजी)। पुनः भाव कि भगवान्के दिव्य धाममें दिव्य देहमें सदा भगवत्सेवामें नियुक्त रखते हैं।' (मानसाङ्क)। पुनः, भाव कि लोकमें सुख होनेसे अनेक शुभाशुभ कर्म भी

अवश्य ही होंगे, जिनसे स्वर्ग नरक आदि बाधाओंका भय होगा। अत 'लोक लाहु' कहकर 'परलोक निबाहू' कहा। अर्थात् ये दोनों वर्ण उस बाधाको मिटाकर अकटक शुभगति देते हैं। यथा—'श्रीराम रामेति जना ये जपन्ति च सर्वदा। तेषां मुक्तिश्च भुक्तिश्च भविष्यति न सशय ॥' (श्रीरामस्तवराज)। यहाँ 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' है। यहाँ 'र, म' का सहज स्वभाव वर्णित है।

कहत सुनत सुमिरत[1] सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सुठि=अत्यन्त, बहुत ही। यथा—'दामिनि बरन लखन सुठि नीके। अ० ११५।', 'सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। अ० १६१।', 'जौं ए मुनिपट धर जटिल सुंदर सुठि सुकुमार। अ० ११९।' 'किमि चलिहहिं मारग अगम सुठि सुकुमार सरीर। अ० १२०।', 'सुठि सुंदर संवाद बर। १। ३६।', 'भूषन बसन बेष सुठि सादे। अ० २२१।'

अर्थ—कहने, सुनने और सुमिरनेमें बहुत ही अच्छे हैं और मुझ तुलसीदासको तो श्रीराम-लक्ष्मणके समान प्यारे हैं ॥ ३ ॥

प्रश्न—कहने-सुनने-सुमिरनेमें नीके होनेका क्या भाव है?

उत्तर—(१) कहनेमें नीके यह है कि नामके अक्षरोंके शब्दसे यमदूत डरकर भाग जाते है। यथा—'भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम्। तर्जनं यमदूतानां राम रामेति गर्जनम् ॥ श्रीरामरक्षास्तोत्र।' पुन, 'जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमगल मूल नसाहीं ॥ बा० ३१५।' सुननेमें नीके, यथा—'जाकर नाम सुनत सुभ होई। बा० १९३।' सुननेसे ही कल्याण हो जाता है। स्मरण करनेमें नीके हैं। यथा—'राम (नाम) सुमिरन सब बिधि ही को राज रे। विनय० ६७।', 'सुमिरत सकल सुमगल मूला। २। २४८।'

(२) पुन कहनेमें जिह्वाको नीके हैं, क्योंकि मधुर हैं। सुननेमें कानको नीके है, क्योंकि मनोहर हैं। अर्थात् ऊपर जो बातें दो चौपाइयोंमें कही थीं उनको इस चौपाईमें एकत्र करके कहा है।

टिप्पणी—१ (क) 'प्रिय तुलसी के' कहनेका भाव यह है कि औरोंकी हम नहीं कहते, हमको श्रीराम-लक्ष्मण सम प्रिय हैं। 'रा' राम और 'म' लक्ष्मणके वाचक हैं। इसलिये 'राम लखन सम प्रिय' कहा। 'हनुमानबाहुक' में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'सुमिरे सहाय रामलखन आखर दोउ जिन्हके समूह साके जागत जहान हैं'। ☞ग्रन्थकारकी प्रीति नाम नामीमें समान है। रकार-मकार श्रीराम-लक्ष्मण सम हैं, इसीसे उनके समान प्रिय कहा। पुन, (ख) 'रामलखन सम' प्रिय कहा, क्योंकि ये सबके प्रिय हैं। यथा—'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी'। (१। २१६)। 'तुलसी' को 'रामलखन' सम प्रिय हैं, क्योंकि 'तुलसी' इन्हींके उपासक हैं, इसीसे और किसीके समान प्रिय न कहा। (ग) ग्रन्थकार यहाँ और उपासकोंको उपदेश देते हैं कि नाममें श्रीराम-लक्ष्मण-सम प्रीति करो। यथा—'बन्दउँ राम लखन बैदेही। जे तुलसी के परम सनेही' (विनय० ३६)।

पं०—कोई वर्ण, श्लोक आदि कहनेमें सुन्दर होते हैं पर अर्थ सुन्दर न होनेसे सुननेमें सुन्दर नहीं होते, कोई श्रवण-रोचक होते हैं पर शिष्टसमाजमें कथन योग्य नहीं होते (जैसे रासवार्ता), कोई (अभिचारादिके) मन्त्र सुमिरन योग्य होते हैं पर मनको मलिन करते हैं और फल भी उनका नीच होता है, पर श्रीरामनामके वर्णोंका कहना, सुनना, सुमिरना सभी अति सुन्दर है।

वैजनाथजी—यहाँ नाम और नामीका ऐक्य दिखाते हैं। भाव यह कि कोई यह न समझे कि रूपसे भिन्न नामका प्रभाव कहते हैं, अतएव कहते हैं कि हमको 'राम-लक्ष्मण' सम प्रिय हैं। श्रीजानकीरूप तो प्रभुके ही रूपमें प्रथम 'गिरा अरथ जलबीचि सम, में बोध करा आये, इससे दो ही रूपमे तीनों रूप आ गये। 'र' राम है, अकार जानकीजी है परतु दोनों वर्ण एकहीमे है। 'म' लक्ष्मणजी हैं। इसीसे मुझे अत्यन्त नीके लगते हैं। 'कहत सुनत ' से जनाया कि मुखसे कहता हूँ, कानोंसे सुनता हूँ और मनसे स्मरण करता हूँ।

---

१. समुझत—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। सुमिरत—१६६१, १७०४।

प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि शालग्राम विग्रह रूपान्तरसे श्रीराम ही है, वे तुलसीको प्रिय हैं ही। अर्थात् तुलसी और शालग्रामका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी प्रकार तुलसीके लिये 'र' 'म' हैं। यहाँ 'उपमा अलङ्कार' है।

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती॥ ४॥

अर्थ—रकार और मकारको (पृथक्-पृथक् वर्ण मानकर) वर्णन करनेमें दोनों वर्णोंकी प्रीतिमें पृथक्ता जान पड़ती है, (पर वास्तवमें ये वर्ण) स्वभावसे ही एक साथ रहते हैं, जैसे ब्रह्म और जीव॥ ४॥

टिप्पणी—वर्णोंके वर्णन करनेमें प्रीति (मित्रता मैत्री) बिलगाती है। अर्थात् 'रकार' 'मकार' (र, म) की वर्ण मैत्री नहीं मिलती। क्योंकि (क) 'र' अन्तस्थ है, 'म' स्पर्श है। (ख) 'र' यवर्ग है और 'म' पवर्ग। (ग) 'र' मूर्द्धसम्बन्धी है और 'म' ओष्ठसम्बन्धी। पुन, इनके वर्णनमें न सङ्ग है न प्रीति, पर अर्थमें सङ्ग और प्रीति दोनों हैं, रकार ब्रह्मवाचक है और मकार जीववाचक।

नोट—इस चौपाईके और भी अर्थ और भाव ये कहे जाते हैं।

(१) 'रा' 'म' के स्थान, प्रयत्न, आकार और अर्थ इत्यादि यदि पृथक्-पृथक् वर्णन करें, तो इनकी प्रीतिमें अन्तर पड़ जाता है, क्योंकि एकका उच्चारण मूर्धा और दूसरेका ओष्ठ और नासिकासे होता है, एक वैराग्यका हेतु है तो दूसरा भक्तिका, इत्यादि। परतु वस्तुत ये 'ब्रह्मजीववत' सहज ही साथी हैं। (२) 'वर्णोंका वर्णन वर्णन करनेवालेकी प्रीतिको अपनेमें विशेष लगा लेती है।' यहाँ बिलगाती=विशेष करके लगाती है। यथा—'भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती।' (बा० १५) में बिभाती=विशेष भाती। (३) मानस परिचारिका और अन्य दो एक टीकाकारोंने एक अर्थ, 'बरनत बर न प्रीति बिलगाती' ऐसा पाठ मानकर, यह किया है कि 'वर्णन करनेमें श्रेष्ठ हैं, इनकी प्रीति बिलग नहीं होती'। (४) इन अक्षरोंके वर्णन करनेमें प्रीति बिलग हो जाती (प्रकट हो जाती) है (जैसे दूधमेंसे मक्खन)। अर्थात् अक्षरोंके वर्णन करनेसे प्रेम प्रत्यक्ष सबको देख पड़ता है। (श्रीरूपकलाजी)। यहाँ बिलगाती=अलग हो जाती। यथा—'सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। बा० २७१।' (५) 'यदि इन दोनोंका वर्णन करने लगें कि रामतापिनीमें ऐसा कहा है, सदाशिव-संहिता, ब्रह्मयामल, श्रीरामानुजमन्त्रार्थ, महारामायण इत्यादिमें इनके विषयमें ऐसा कहा है तो इस भाँतिके विवरण सुनकर प्रमोद बिलग हो आता है अर्थात् जीवको फड़का देता है, सुना नहीं कि मारे आनन्दके रोमाञ्च हो आया' (मानसतत्त्वविवरण)। (६) 'र' और 'म' का अलग-अलग वर्णन करनेमें प्रीति बिलगाती है। अर्थात् बीजमन्त्रकी दृष्टिसे इनके उच्चारण, अर्थ और फलमें भिन्नता देख पड़ती है। (मानसाङ्क)। (७) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'अब नित्यनैमित्य विभूतिका हेतु कहते हैं कि जिस प्रकार नैमित्य-विभूति लीलामात्र श्रीराम, श्रीजानकी और श्रीलक्ष्मण—तीनों रूप भिन्न भी हो जाते है, उसी प्रकार रकार और मकारका अन्य वर्णोंके साथ वाणीसे वर्णन करनेमें इन ('रा, म') की प्रीति बिलग हो जाती है। 'अर्थात् छन्दादिमें रकार कहो, अकार कहो, मकार कहो सो यह नैमित्य लीलामात्रवत् है और नित्य विभूतिमें तो 'रा' 'म' सहज सँघाती हैं। यथा—श्रीरामानुजमन्त्रार्थे, 'रकारार्थो राम सगुणपरमैश्वर्यजलधिर्मकारार्थो जीव. सकलविधिकैंकर्यनिपुण। तयोर्मध्याकारो युगलमथसम्बन्धमनयोरनन्याह ब्रूते त्रिनिगमसु सारोऽयमतुल.॥' अर्थात् 'र' का अर्थ है, दिव्य गुण और परम ऐश्वर्यसे युक्त श्रीरामजी, 'म' का अर्थ है सब प्रकारके कैंकर्यमें निपुण जीव। मध्यके 'आ' का अर्थ है, मैं आपका अनन्य हूँ। यह जीवका श्रीरामजीसे सम्बन्ध बतलानेवाला है। यह तीनों वेदोंका अपूर्व सार हैं। जबतक जीव अपना स्वरूप भूला है तबतक भटकता है। जब अपना स्वरूप जान लेता है तब भक्तिद्वारा प्रभुके निकट ही है, वैसे ही 'रा' 'म' नित्य साथी हैं।' (८) 'रकारमें स्पर्श थोड़ा और मकारमें बहुत है जिससे एकमें 'ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न' है और दूसरेमें स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शका भी है। रकार भीतर मुखके, मकार बाहर मूर्धा ओष्ठस्थानसे। 'रा' नाम ब्रह्मका है और 'म' अर्थ जानका। इन दोनोंके गुण कहते ही इनकी परस्परकी प्रीति छूटी-सी दिखाती है। (रा० प०, रा० प्र०) (९) बिलगाती गोरखपुर, बस्ती और बुन्देलखण्डमें देशबोली है। वहाँ 'दिखाती, देख पड़ती' को भी 'बिलगाती' कहते हैं। इस प्रकार यह

१ इव—१७२१, १७६२, छ०। सम्—१६६१, १७०४, को० रा०।

अर्थ होगा कि वर्णोंके वर्णन (उच्चारण, जप) से ही उनकी प्रीति देख पड़ती है कि वे । (श्रीपरमहंसजी) (१०) श्रीबिन्दुब्रह्मचारीजी—'वर्णन करनेसे वर्णकी प्रीति (मैत्री) बिलग अर्थात् अलग होती है । क्योंकि ब्रह्मजीवकी तरह सहज नहीं है । रामनाममें दो वर्ण रकार और मकार हैं । रकार परमात्मतत्त्वका वाची है और मकार जीवका बोधक है । जीवतत्त्व परमात्मामें इस तरहपर मिला हुआ है और परमात्मा जीवतत्त्वमें इस तरहसे रमण करता है कि उनका सम्बन्ध अथवा लगाव तनक भी नहीं खण्डित होता । दोनोंका अभिन्न और अङ्ग-अङ्गी-भावसे अन्योन्य घनिष्ठ सम्बन्ध है । इस प्रकार कि कोई उनका खण्ड एवं विच्छेद नहीं कर सकता । वे ऐसे सर्वव्याप्त हैं कि सर्वत्र सम्पूर्ण वही हैं, उनके भेदके लिये कहीं तिलमात्र भी अवकाश ही नहीं है । उनकी अभिन्नता यहाँतक सिद्ध है कि वे दो भिन्न वस्तु ही नहीं 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' । 'तत्त्वमसि' इसीका प्रतिपादक है । इसी प्रकार जैसे जीव-ब्रह्मकी अभिन्नता सिद्ध है । श्रीरामनामके भी दोनों अक्षर एक हैं, वे परस्पर एक दूसरेसे स्वतन्त्र मिले हुए हैं । 'श्रीरामनामकलामणिकोष' में गोस्वामीजी वन्दना करते हुए कहते हैं 'बंदों श्री दोउ बरन तुलसीजीवनमूर । कहे रसे इक एक ते बार तार दोउ पूर ॥' दोनों वर्णोंके अभेदभावकी गोस्वामीजीकी यह उक्ति उनकी उपर्युक्त चौपाईके भावकी पुष्टि करती है । अस्तु, वे दोनों श्रीनामके वर्ण इतने मिले हुए हैं, उनका इतना एकाकार है कि शब्दगत होनेसे, कथनसे उनकी प्रीति अर्थात् मैत्री भङ्ग हो जाती है । इसलिये वस्तुत उनके संश्लिष्ट एवं सघनिष्ठ तत्त्वका वर्णन नहीं हो सकता, वह सर्वदा अनिर्वचनीय है । जिस तरह अङ्कुरसे, उसके विकासस्वरूप, दो दल फूटते हैं, उसी प्रकार उस अभिन्न तत्त्वसे उसके सङ्केतस्वरूप दो वर्ण प्रकट हुए और जैसे अङ्कुरमें उनका एकाकार है वैसे ही अपनी मूल अवस्थामें वे दोनों वर्ण एक (तत्त्व) हैं । वे अक्षर निरक्षर हैं, यह आर्ष सिद्धान्त है, 'निर्वर्णं रामनामेदं केवलं च स्वराश्रितम्' । इस रहस्यको यथावत् रामनामके आराधक योगिजन ही जानते हैं । (११) दोनों अक्षरोंका फल भिन्न-भिन्न कहनेसे अपनी प्रीतिमें भेद पड़ेगा, क्योंकि कुछ न्यूनता-अधिकता अवश्य कही जायगी और वे भिन्न-भिन्न होनेवाले नहीं हैं । अतएव इनके फलका भेद कथन ठीक नहीं (पं०) । (१२) वर्णन करनेमें प्रीति बिलगाती है कि दो स्वरूप हो गये, नहीं तो वे तो ब्रह्मजीवके समान सहज सँघाती हैं । (शीलावृत्त)

नोट—२ 'ब्रह्मजीव सम सहज सँघाती' इति । (१) प्रोफेसर दीनजी कहते हैं कि 'र' 'म' ब्रह्म और जीवकी तरह सहज सँघाती हैं । अर्थात् जहाँ एक है, वहाँ दूसरा भी है । बिना जीवके ब्रह्मका अस्तित्व नहीं प्रमाणित हो सकता, न बिना ब्रह्मके जीवका अस्तित्व हो सकता है । इसी तरह 'र' 'म' सहज सँघाती हैं । अर्थात् यद्यपि 'मकार' और 'रकारके' बीचमें 'ा' अक्षर आ जाता है तो भी ये दोनों उसी प्रकार एक हैं जिस प्रकार बीचके नाक होनेपर भी दोनों नेत्र एक ही अवश्य माने जाते हैं. जहाँ एक आँख जायगी वहाँ दूसरी अवश्य जायगी और तत्त्व भी 'दोनों' नेत्रोंका एक ही, जो शक्ति एकमें है वही दूसरेमें भी है, यही उनका 'सहज सँघाती' होना है । 'र' को जब हम बीजरूप 'राँ' से उच्चारण करते हैं तो 'म' स्वयं अनुस्वाररूपसे आ जाता है, यही 'सहज सँघातीपन' है । अर्थात् बिना उसके उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता ।

(२) जैसे ब्रह्म सदा जीवके साथ रहकर उसकी रक्षा किया करते हैं । यथा—'तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्हीं' से 'तू निज कर्म जाल जहँ घेरो । श्रीहरि सँग तज्यो नहिं तेरो' ॥ वि० १३६ ।', 'ब्रह्मजीव इव सहज सनेहू' । अ० २१६ ।'

(३) श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० ११ में भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है कि उद्धव ! अब मैं तुमसे एक ही धर्मीकी बद्ध और मुक्त इन विरुद्ध धर्मोंवाली दोनों स्थितियोंकी विलक्षणताका वर्णन करता हूँ । ये दोनों पक्षी (जीव और ब्रह्म) समान (नित्य, चेतन) सखा हैं और एक ही वृक्ष (शरीर) में स्वेच्छासे (जीव कर्म-फलभोगार्थ और ब्रह्म सर्वव्यापक होनेके कारण) घोंसला बनाकर रहते हैं । उनमेंसे एक (जीव) तो उसके फलों (दुःख-सुखादि कर्मफलों) को खाता (भोगता) है और दूसरा (ब्रह्म) निराहार (कर्मफलादिसे असङ्ग साक्षीमात्र) रहकर भी अपने ऐश्वर्यके कारण देदीप्यमान रहता है । तथा—'अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते । विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ ५ ॥ सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे । एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन

भूयात् ॥ ६ ॥' यह भाव 'सहज सँघाती' का है। इसी तरह 'रा' 'म' का नित्य साथ है। सेतुबन्धमें जब पत्थर एक-साथ जुटे न रहने पाते थे तब एक पत्थरपर 'रा' लिख दिया जाता था, दूसरेपर 'म' और दोनोंको सटा दिया जाता था। बस, फिर तो वे पत्थर अलग न होते थे। (आनन्दरा० सारकाण्ड सर्ग १० में श्रीरामजीने नलसे कहा है।)। पुन—

(४) भाव कि कोई सङ्ग ऐसा है कि पहले था अब छूट गया जैसे अज्ञान न जाने कबसे था अब छूट गया। इसे 'अनादि सान्त' कहेंगे। कोई सङ्ग पहले न था पीछे हुआ, जैसे ज्ञान पहले न था पीछे हुआ, इसे 'सादि अनन्त' कहेंगे। कोई सङ्ग ऐसा है कि न तो पहले ही था न अन्तमें किंतु बीचमें कुछ समयतक रहा जैसे कि पुत्र-मित्र आदिका सङ्ग। यह 'सादि सान्त' है। परतु यह 'ब्रह्म जीवका सग' तीनोमे न्यारा है, यह पहले भी था, अब भी है और सदा रहेगा। अतएव 'सहज ,सँघाती' कहा। अर्थात् इनका सङ्ग 'अनादि अनन्त' है, यह बतानेके लिये 'ब्रह्मजीव सम सहज सँघाती' कहा।

इसपर शङ्का हो सकती है कि 'जब उनका सङ्ग अनादि-अनन्त है तब यह कैसे कहा जाता है कि जीव ईश्वरको प्राप्त हुआ। यथा—'ब्रह्मविदाप्नोति पर' (तै० २।१) (ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको प्राप्त होता है), 'होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।' (४।१४)? इसका समाधान यह है कि परमात्माके व्यापक होनेसे उसके अव्यक्त रूपसे जीव कभी भी अलग नहीं हो सकता, क्योंकि इन दोनोका अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। परतु जैसे कोई मनुष्य किसी कार्यवश हाथसे अँगूठी उतार अपने गले या शरीरके किसी अङ्गमें बाँध ले और विस्मरण हो जानेसे फिर उसे सर्वत्र खोजा करे, जब किसीके बतानेसे वह उसे प्राप्त कर लेता है तब वह कहता है कि अँगूठी मिल गयी। इसी तरह जीव सहज सँघाती परमात्माको अनादि अविद्याके कारण भूल गया और परमात्माके हृदयस्थ होते हुए भी वह उसे यत्रतत्र ढूँढता फिरता है, जब परमात्मा-की कृपासे कोई सद्गुरु परमात्माका ज्ञान करा देता है, तब वह समझता है कि मुझको भगवान् प्राप्त हो गये। अर्थात् शास्त्रोंमें जो प्राप्ति कही गयी है वह ज्ञान होनेको ही कही गयी है। यहाँ 'सहज सँघाती' जो कहा गया है वह अव्यक्तरूपको लक्ष्य करके ही कहा गया है।

नर नारायन सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेषि जन त्राता॥ ५॥

अर्थ—(दोनों वर्ण) नारायणके समान सुन्दर भाई है। (यों तो वे) जगत्भरके पालनकर्त्ता हैं (पर) अपने जनके विशेष रक्षक हैं॥ ५॥

नोट—१ 'नर-नारायणका भायप कैसा था' यह बात जैमिनीय भारतकी कथासे विदित हो जायगी। जैमिनी भारतमें कहते हैं कि सहस्रकवची दैत्यने तपसे सूर्य भगवान्‌को प्रसन्न करके वर माँग लिया था कि मेरे शरीरमे हजार कवच हों, जब कोई हजार वर्ष युद्ध करे तब कहीं एक कवच टूट सके, पर कवच टूटते ही शत्रु मर जावे। उसके मारनेको नर-नारायण अवतार हुआ। एक भाई हजार वर्ष युद्ध करके मरता तब दूसरा भाई मन्त्रसे उसे जिलाकर और स्वय हजार वर्ष युद्ध करके दूसरा कवच तोड़कर मरता, तब पहला इनको जिलाता और स्वय युद्ध करता।……इस तरहसे लड़ते-लड़ते जब एक ही कवच रह गया तब दैत्य भागकर सूर्यमें लीन हो गया और तब नर-नारायण बदरी-नारायणमें जाकर तप करने लगे। वही असुर द्वापरमें कर्ण हुआ जो गर्भसे ही कवच धारण किये हुए निकला, तब नर-नारायणहीने अर्जुन श्रीकृष्ण हो उसे मारा (यह कथा सुनी हुई लिखी गयी है)।

२—'नर-नारायण' इति। धर्मकी पत्नी दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे भगवान्‌ने शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायणके रूपमें अवतार लिया। उन्होंने आत्मतत्त्वको लक्षित करनेवाला कर्मत्यागरूप कर्मका उपदेश किया। वे बदरिकाश्रममें आज भी विराजमान हैं। विनय० पद ६० में इनकी किञ्चित् कथा भी है और भा० ११।४६।१६ में कुछ कथा है। ये भगवान्‌हीके दो रूप हैं।

टिप्पणी—१ (क) निर्गुणरूपसे जगत्‌का उपकार नहीं होता, जैसा कहा है कि 'व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥ अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

२३ (६–७)'। इसीलिये यहाँ सगुणकी उपमा दी। सगुण रूपसे सबका और सब प्रकारसे उपकार होता है, इसलिये रामनामके दोनों वर्णोंका नर-नारायणरूपसे जगत्‌का पालन करना कहा। (ख) भाईपना ऐसा है कि जिह्वासे दोनों प्रकट होते हैं। इसलिये जीभ माता है, 'र' 'म' भाई हैं। यथा—'जीह जसोमति हरि हलधर से। २०। ८।'

टिप्पणी—२ 'बिसेषि जन त्राता' इति अर्थात् (क) जैसे नरनारायणने जगत्‌भरका पालन किया, पर भरतखण्डकी विशेष रक्षा करते हैं, वैसे ही ये दोनों वर्ण जगत्‌मात्रके रक्षक हैं, पर जापक जनके विशेष रक्षक हैं। जगत्‌-मात्रका पालन इसी लोकमें करते हैं और जापक जनके लोक-परलोक दोनोंकी रक्षा करते हैं। वा, (ख) ईश्वरत्वगुणसे सबका और वात्सल्यसे अपने जनका पालन करते हैं। यथा—'सब मम प्रिय सब मम उपजाये' से 'सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय' तक। (७। ८६-८७)।

नोट—३ पुन, नर-नारायण भरतखण्डके विशेष रक्षक हैं और वहाँ नारदजी उनके पुजारी हैं, वैसे ही यहाँ 'रा' 'म' भरतजीकी रीतिवाले भक्तोंरूपी भरतखण्डके विशेष रक्षक हैं, नामका स्नेह नारदरूपी पुजारी है। (वै०)। पुन, नर-नारायण सदा एकत्र रहते हैं वैसे ही 'रा' 'म' सदा एकत्र रहते हैं। विशेष पालन अर्थात् मुक्तिसुख देते हैं। (पं०)।

४ श्रीजानकीशरणजी 'जन' से 'दर्शक' का अर्थ लेते हैं। अर्थात् जो बदरिकाश्रममें जाकर दर्शन करते हैं उनके लोक परलोककी रक्षा करते हैं। 'जो जाय बदरी, सो फिर न आवे उदरी'। (मा० मा०)

भगति सुतिय कल करन बिभूषन। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन॥ ६॥

शब्दार्थ—सुतिय=सुन्दर अर्थात् सौभाग्यवती स्त्री। कल=सुन्दर। करन (कर्ण)=कान। विभूषण=विशेष भूषण। करनबिभूषन = कर्णफूल। बिधु=चन्द्रमा। पूषन=सूर्य।=पोषण करनेवाले।

अर्थ—भक्तिरूपिणी सौभाग्यवती सुन्दर स्त्रीके कानोंके भूषण (दो कर्णफूल) हैं। जगत्‌के हितके लिये निर्मल चन्द्रमा और सूर्य हैं। [अथवा, 'निर्मल चन्द्रमाके समान पोषण करनेवाले हैं'। परंतु ऊपर दो दो उपमाएँ देते आते हैं और उपमेय भी 'रा', 'म' दो हैं, अत यह अर्थ अधिक उत्तम नहीं है]॥ ६॥

श्रीसुदर्शनसिंहजी—इस चौपाई 'नर नारायन सरिस सुभ्राता।' बिधुपूषन॥' में गोस्वामीजीने उपमाओंका क्रम बदल दिया है। उन्होंने 'नर नारायन' तथा 'बिधुपूषन' में पहिले 'म' की और पीछे 'रा' की उपमाएँ दी हैं। इसका कारण है। मन्त्र अनुलोम एव प्रतिलोम दोनों विधियोंसे जप किया जाता है।* पहिले अनुलोम-विधिमें महत्त्व बतला आये हैं, अब इस चौपाईमें प्रतिलोम-विधिसे महत्त्व दर्शित करते हैं।

यह प्रतिलोम विधि 'सुलभ सुखद सब काहू' नहीं है। इतना तो स्मरण रखना ही चाहिये। यह तो 'भक्ति सुतिय कल करन बिभूषन' है। 'राम' का उलटा होता है 'मरा' और इसी प्रतिलोम मन्त्रका जप करके वाल्मीकि महर्षि हो गये हैं। लेकिन इस प्रतिलोम क्रमसे जपका वह अधिकारी है, जिसमें भक्ति हो। जिसमें अपार श्रद्धा एव परिपक्व लगन न हो वह प्रतिलोम विधिका अधिकारी नहीं। प्रतिलोम विधि महत्त्वकी दृष्टिसे बता दी है किंतु भक्तोंके लिये भी अनुलोम क्रम राम नाम ही आदरणीय है, यह अगली ही चौपाईमें गोस्वामीजी सूचित करना विस्मृत नहीं हुए हैं—'जन मन मंजु कंज मधुकर से।' भक्तोंके हृदयमें भी अनुलोम क्रमसे ही श्रीराम नाम विराजते हैं। यहाँ अनुलोम-क्रमका सूचक पद है 'कमठ सेष' और 'हरि हलधर'। लेकिन प्रतिलोम-क्रममें भी वह प्रभावपूर्ण हैं, अवश्य ही इस क्रममें वे स्वयं घोर तपस्याकी मूर्ति हो जाते हैं और कठोर तपसे ही इस क्रमद्वारा लाभ होता है यही सूचित करनेके लिये तपोमूर्ति 'नर नारायण' का स्मरण किया गया।

---

* मन्त्र अनुलोम एव प्रतिलोम विधियोंसे जप किये जाते हैं। इसमें श्रीचक्रजीका आशय सम्भवत भगवन्नाममन्त्रोंसे है क्योंकि पाणिनीय शिक्षामें कहा है कि स्वर अथवा वर्णसे हीन मन्त्र इष्टदायक न होकर बाधक ही होता है। यथा 'मन्त्रो हीन· स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्।५२।'

'म' वाचक है 'नर' का और 'रा' वाचक है 'नारायण' का। दोनों भाई हैं।'' जगके पालक हैं। संसारके कल्याणके लिये ही नर-नारायण कल्पके प्रारम्भसे तप कर रहे हैं। 'राम' भी प्रतिलोम क्रममें तपोमय हो जाता है। विश्वके कल्याणके लिये है उसका यह तपोरूप। वह विश्वको क्लेश देनेवाली रावण, हिरण्यकशिपु या भस्मासुरकी राजस-तामस तपस्याका रूप कभी भी धारण नहीं कर सकता।

सामान्य रूपसे तो वह 'जग पालक' है। सभी जड़-चेतनके लिये है उसकी शक्ति, किंतु जिस प्रकार 'नर-नारायण-की तपस्या विशेषतः साधकोंके परित्राणके लिये है, जिस प्रकार उच्चकोटिके सन्तों एवं तपस्वियोंका वे सदा ध्यान रखते हैं, उनके मार्गविघ्नोंको अपने प्रतापसे निवारित करते रहते हैं, समय-समयपर प्रकट होकर उपदेश एवं दर्शनसे मार्ग प्रदर्शन एवं प्रोत्साहन देते रहते हैं उसी प्रकार श्रीरामनामकी प्रतिलोमगा शक्ति भी विशेषतः भक्तोंके परित्राणके लिये है। जपने जब धुनी चलती है तो स्वतः अनुलोम जपमें भी प्रतिलोमगा शक्ति निहित रहती है और यही शक्ति विघ्नोंसे साधकका परित्राण करती है।

विकार उठे, कुतर्क तंग करे, या श्रद्धाके पैर डगमगाये तो आप नामकी सतत धुन प्रारम्भ कर दें। नामकी शक्ति आपको तुरंत परित्राण देगी। यह तो प्रत्येक साधकका प्रत्यक्ष अनुभव है। आप चाहें तो करके देख लें।

ये 'म' और 'रा' भक्तिके कर्णाभरण हैं। भक्तिको सुतिय कहा गया है। एक सुतियमें जितने सद्गुण सम्भव हैं, वे उसमें हैं और इसी कारण ये विलोमक्रमी रामनामके वर्ण उसको आभूषित करते हैं क्योंकि ये उस तपस्याके प्रतिरूप बिना सद्गुणोंसे परिपूर्ण भक्तिको और स्त्रीको विभूषित कर ही नहीं सकते।

सर्वप्रथम गुरुवाक्यमें अचल श्रद्धा, भगवान्‌में अविचल विश्वास तथा अहैतुक प्रेम हो तो विलोम-क्रमसे भी ये युगल वर्ण उस साधकको भूषित ही करते हैं। वह प्रथम कोटिका नैष्ठिक तितिक्षु साधक हो जाता है। क्योंकि इस विपरीत क्रममें भी ये वर्ण परस्पर नर-नारायणकी भाँति वर्ण मैत्रीयुत ही रहते हैं। जैसे जगत्‌के कल्याणके लिये चन्द्र एवं सूर्य हैं, वैसे ही ये 'म' और 'रा' भी हैं। बीजाक्षर शक्तिसे दोनों वर्ण दोनोंके स्वरूप हैं। मेरी समझमें नामवन्दनाके प्रसङ्गसे यह चौपाई ('नर नारायन' से '**बिधु पूषन**' तक) श्रीरामनामके प्रतिलोम रूप अर्थात् 'म' 'रा' के स्वरूप, तपोमय स्वरूप, प्रभाव, सम्बन्ध अधिकारी तथा कार्यको बतलानेके लिये आयी है। (मानसमणिसे)

टिप्पणी—१ (क) 'केवल कर्णभूषण ही नहीं हों किंतु पहिचाननेवाला भी चाहिये। अर्थात् यहाँ यह दिखाया है कि भक्ति करे और रामनाम जपे।' (ख) 'रामनामसे भक्तिकी शोभा है, इसलिये भक्तिको स्त्री कहा। भक्ति (महारानी) से सुन्दर कुछ नहीं, इन्हींसे तो उसपर भगवान् सानुकूल रहते हैं और वह उनको 'अति प्रिय' है। यथा—'पुनि रघुबीरहिं भगति पिआरी।''' भजनिहि सानुकूल रघुराया॥ ७। ११६।' इसलिये 'सुतिय' कहा।' (ग) आप रामनामको शिरका भूषण कहना चाहते थे परंतु शिरमें दो भूषण और कोई नहीं हैं और 'र' 'म' को दो होकी उपमा देते आये हैं। दूसरे, और बड़े लोगोंने भी इनको कर्णहीके विभूषण लिखे हैं, इसलिये आपने भी यही लिखा, नहीं तो शिरके नीचेका भूषण नामको नहीं कहना चाहते थे। (घ) 'ये वर्ण भक्तिहीके भूषण नहीं हैं किंतु विधुपूषण भी हैं। अर्थात् विश्वमात्रके भूषण हैं। (ङ) 'करन' सब इन्द्रियोंका भी नाम है। यथा—'विषय करन'', 'धर्मिन्द्रिय हृषीकश्च'।

नोट—१ (क) कर्णफूल कानमें होना सुहागका चिह्न है। कानसे उसका गिरना सुहाग भंग होनेकी सूचना देता है और कानमें उसका न पहनना विधवापन जनाता है। यथा—'मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ॥ सजल नयन कह जुग कर जोरी।' से 'प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिवात न जाइ' तक (लं० १४-१५)। इसी प्रकार भक्तिसुतियके लिये 'रा' 'म' ही कर्णफूल हैं। जिस भक्तिमें नामका यजन नहीं, वह भक्ति न तो भूषित ही है और न सौभाग्यवती ही है, किंतु विधवावत् त्याज्य है। और जैसे विधवासे संतान-प्राप्तिकी आशा नहीं, वैसे ही उस भक्तिसे किसी सुफलकी आशा नहीं (प्रोफेसर दीनजी)। (ख) कर्णविभूषणकी उपमा देनेका

कारण यह भी हो सकता है कि नाम और कर्णका सम्बन्ध है। नाम जो उच्चारण होता है उसे कान धारण करते हैं, इस सम्बन्धसे यह उदाहरण दिया। नामका सम्बन्ध मुख (जिह्वा) से भी है, परंतु जिह्वामें कोई प्राकृत भूषण धारण नहीं किया जाता, दूसरे वह संख्यामें एक है और रकार-मकार दो वर्ण हैं और कान भी दो हैं तथा दोनों कानोंमें भूषण पहने जाते हैं।

२ (क) 'विमल' शब्दसे सूचित किया कि 'र' 'म' विकाररहित हैं और सूर्य-चन्द्रमा समल हैं। सूर्य जल बरसाता और सोखता भी है, उसे राहु ग्रसता भी है। पुनः कमल सूर्यको देखकर खिलता है, सूर्य उसको भी जल न रहनेपर जला डालता है। यथा—'भानु कमलकुल पोषनिहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा॥' (अ० १७)। चन्द्रमा अपनी किरणोंसे जड़ी बूटी, अन्न आदिको पुष्ट करता है और पालारूपसे उन्हींको जला डालता है, पुनः घटता-बढ़ता है, इत्यादि विकार उसमें है। 'र' 'म' विमल गुण उत्पन्न करके उनकी सदा वृद्धि किया करते हैं। इसमें 'अधिक अभेद रूपक' है, क्योंकि 'र' 'म' में विधु और पूषणसे कुछ अधिक गुण हैं। पुनः (ख) सूर्य और चन्द्रमासे जगत्का पालन पोषण होता है। वे अन्नादिक उपजाते और जीवोंके पोषणयोग्य करते हैं। सूर्य अन्धकारको मिटाता और चन्द्रमा शरदातपको हरता है, वैसे ही 'र', 'म' जनके सुमतिभूमिथलपर विमल गुणोंकी उत्पत्ति करते, अविद्यातम मिटाकर ज्ञानरूपी प्रकाश फैलाते हैं; और त्रिताप हरकर हृदयको शीतल करते हैं। पुन, (ग) शरदपूनोके चन्द्रमामें दो गुण निर्मल प्रकाश और अमृतका स्रवना है। प्रकाशसे तपन हरते और अमृतसे अमरत्व गुण देते हैं, वैसे ही 'रा' 'म' शरदातपरूपी जन्म मरण और तापत्रयको हरते हैं और भक्तिरस स्रवते हैं। पुनः (घ) सूर्य तपकर भूमिको शुद्ध करता, जल सोखकर मेघरूपसे फिर वर्षाद्वारा जीविका प्रदान करता और प्रकाश फैलाता है जिससे सब वस्तुएँ देख पड़ती हैं। वैसे ही रकार (अग्निबीज होनेसे) शुभाशुभ कर्मोंको भस्म कर जीवकी बुद्धिको शुद्ध करके ज्ञान प्रकाश देकर परमार्थ दिखाता है। कृपा जल है। शान्ति संतोषादि अनेक चैतन्यतारूप जीविका देता है। यह उक्ति हनुमन्नाटककी है। यथा—'मुक्तिस्त्रीकर्णपूरौ मुनिहृदयवयः पक्षती तीरभूमौ (महाशम्भुसंहिता)। इसमें मुक्तिरूपी स्त्रीके कर्णफूल दोनों वर्णोंको कहा है। भाव कि रामनामहीन भक्तिकी शोभा नहीं है। 'जगपालक' से जनाया कि जो संसारमें पड़े हैं वे भी यदि रामनाम लेते हैं तो उनका भी पालन होता है। (वै०)।

स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥ ७॥

अर्थ—दोनों वर्ण सुगतिरूपी अमृतके स्वाद और संतोषके समान हैं, कच्छप भगवान् और शेषजीके समान पृथ्वीके धारण करनेवाले हैं॥ ७॥

नोट—'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के' इति। अमृतमें स्वाद और संतोष दोनों गुण हैं। पीनेसे मन प्रसन्न होता है और फिर किसी वस्तुके खाने-पीनेकी इच्छा ही नहीं रह जाती, मृत्युका भय जाता रहता है। इसी तरह 'रा' 'म' उस शुभ गतिको प्राप्त कर देते हैं जिससे मनको आह्लाद और सुख होता है और इनका स्वाद मिलनेपर अन्य साधनोंकी तृष्णा नहीं रह जाती। यथा—'रामनाम मोदक सनेह सुधा पागिहै। पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै॥ ७॥ (वि० ७०)। सुगतिका अनुभव स्वाद है (रा० प०)।

२ बाबू इन्द्रदेवनारायणसिंह इस चौपाईका भावार्थ यों लिखते हैं कि 'जैसे अमृतमें यदि कुछ स्वाद न हो और उससे तृष्णा शान्त न हो तो वह व्यर्थ है, वैसे ही रामनाम बिना मुक्ति स्वादसंतोषहीन है।' इसका भाव यह कहा जाता है कि अद्वैतवादियोंकी जो मुक्ति है, जीवका ब्रह्ममें लय होना वह स्वाद संतोषरहित है। मुक्ति होनेपर अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी शिवजी, हनुमान्‌जी, भरतजी, रसिकगण और परमधामनिवासी पार्षदसमूह श्रीरामनामको सदैव जपते हैं, यही मुक्ति स्वादसंतोषयुक्त अमृतके समान है।

३ श्रीबैजनाथजीका मत है कि 'यहाँ धर्मविपर्यय विशेष्य-विशेषण है। स्वाद अमृतसमान है और संतोष सुगतिके समान है। सुगतिकी प्राप्तिपर फिर कोई चाह नहीं रह जाती। इसी तरह 'रकार' वैराग्यरूप होनेसे संसारकी आशा छुड़ाकर जीवको शुद्ध कर देता है और 'अकार' ज्ञानरूप प्रकाश करके आत्मस्वरूप दर्शा देता है जिससे सहज ही संतोष

आ जाता है। पुन स्वाद तीन प्रकारका होता है, दिव्य (जो सदा बना रहे। जैसे जलमिले दूधमें ओषधि मिलाकर पीनेसे जन्मपर्यन्त पुष्टतारूप स्वाद बना रहता है), सूक्ष्म (जैसे मिश्री मिलाकर दूध पीनेसे एक दिनकी पुष्टता और कुछ जिह्वाका स्वाद है) और स्थूल (जैसे औटे हुए दूधमें चीनी आदि मिलाकर पीनेसे केवल स्वाद मिलता है)। अमृतमें तीनों स्वाद हैं। वैसे ही 'मकार' में अमृतरूपा भक्तिमें भगवल्लीलास्वरूप उत्साह श्रवणकीर्तनादि स्थूल स्वाद, नाम-स्मरणसे मनमें आनन्द सूक्ष्मस्वाद और भगवत्प्राप्ति दिव्य स्वाद है। यह तो परमार्थवालोंकी बात हुई। और जो स्वार्थमें लगे हैं उनकी चाहरूपी वसुधाको धारण करनेके लिये दोनों वर्ण कमठ और शेष समान हैं, धर्मसहित उनको सुखी रखते हैं।'

४ 'सुगति' का अर्थ ज्ञान और सदाचार भी कहा जाता है। इस अर्थसे भाव यह होगा कि जैसे अमृतमें स्वाद और सतोष न हो तो वह व्यर्थ है, वैसे ही ज्ञानादि होनेपर भी यदि ये दोनों वर्ण (अर्थात् रामनामस्मरण) न हों तो वे भी फीके हैं।

'कमठ सेष सम धर बसुधा के' इति

(१) पद्मपुराण उत्तरखण्डमें जहाँ चतुर्व्यूह और विभवोंका वर्णन है, उस प्रसगमें मन्दराचलका धारण करनेके लिये श्रीकच्छप अवतारका जो वर्णन है उसीमें यह लिखा है कि लक्ष्मीजीकी उत्पत्तिके पश्चात् सब देवता सर्वभगवान्के दर्शनको आये और भक्तिपूर्वक पूजनकर उनकी स्तुति की, तब भगवान्ने प्रसन्न होकर वरदान मागनेको कहा। देवताओंने वर माँगा कि शेष और दिग्गजोंकी सहायताके लिये आप पृथ्वीको धारण करें। 'एवमस्तु' कहकर भगवान्ने पृथ्वीको धारण किया। यथा—'शेषस्य दिग्गजानां च सहायार्थं महाबल। धर्तुमर्हसि देवेश स्वशक्त्या मही‌म्॥ १७॥ एवमस्त्विति हृष्टात्मा भगवाँल्लोकभावन। धारयामास धरणीं सप्तद्वीपसमावृताम्॥ १८॥ अ० २३४।' सु० र० भा० दशावतार-प्रकरणमें कच्छप भगवान् और शेषजी किस प्रकार पृथ्वी धारण करते हैं उस सम्बन्धमें यह श्लोक मिलता है। 'यो धत्ते शेषनागं तदनुवसुमती स्वर्गपातालयुक्ता युक्ता सर्वैं समुद्रैर्हिमगिरिकनकप्रस्थमुख्यैर्नगेन्द्रैः। पृष्ठे ब्रह्माण्ड-मस्यामृतघटसदृशं भाति यस्य मुरारेः पायाद्वः कूर्मदेहं प्रकटितमहिमा माधवः कामरूपी॥ २२॥' अर्थात् जिन कच्छप भगवान्की पीठपर यह सारा ब्रह्माण्ड (अर्थात् स्वर्ग, पाताल और हिमाचल तथा सुमेरु आदि पर्वतोंसे युक्त पृथ्वीसहित श्रीशेषनाग) एक अमृतघटके तुल्य सुशोभित है, वे अतुल महिमावाले कामरूपी भगवान् हमारी रक्षा करें।

(२) श्रीकच्छपभगवान् और शेषजी पृथ्वीको धारण करते हैं और 'रा' 'म' धर्मरूपी वसुधाको धारण किये हुए हैं। यथा—'मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥ २। ३०६।', 'जगत भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास। राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥' (दोहावली २९)। पुन, वसु = धन। वसुधा = जो धनको धारण करे। इसी तरह धर्ममें जो अनेक सुख हैं वे ही धन हैं, उनको नाम धारण किये हुए है। (प० रामकुमारजी)।

जन मन मंजु कंज मधुकर[1] से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥ ८॥

अर्थ—(दोनों वर्ण) भक्तके सुन्दर मनरूपी सुन्दर कमल (वा, मनरूपी सुन्दर कमल) के लिये मधुकरके समान है, जीभरूपी यशोदाजीको श्रीकृष्ण और बलरामजीके समान है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) नाममें मन और जिह्वा दो इन्द्रियाँ लगती हैं। रकार मकार जनके मनमें बसते हैं और जीभसे प्रगट होते हैं यशोदाजीकी तरहसे। पुनः, (ख) यशोदाजी प्रभुका आना नहीं जानतीं, वैसे ही मन और वाणी रामनामके अनेको नहीं जानते। यथा—'मन समेत जेहि जान न बानी।' पुन, (ग) यहाँ मनको कमल और 'रा' 'म' को भ्रमर कहनेका अभिप्राय यह है कि 'कमल भौंरेको नहीं ग्रहण कर सकता। भौंरा अपनी ओरसे आता है। वैसे ही श्रीकृष्णजी और बलदेवजी अपनी ओरसे आये, यशोदाजी नहीं जानतीं। इसी तरह जिह्वामें 'रामनाम' अपनी ओरसे आते हैं, इन्द्रियोंसे अग्राह्य हैं। इसी विचारसे यशोदाका उदाहरण दिया, अन्य माताएँ (गर्भ आदि सम्बन्धसे)

1. कज मजु—१७२१, १७६२, छ०। मजु कज—१६६१, १७०४, को० रा०।

जानती हैं, यथा—'नामचिन्तामणी रामश्चैतन्यपरविग्रह'। पूर्णःशुद्धो नित्यमुक्तो न भिन्नो नामनामिनो' ॥ अतः श्रीरामनामेदं न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः। स्फुरति स्वयमेवैतज्जिह्वादौ श्रवणे मुखे ॥' (सी० ना० प्र० प्र०, पद्म० पु०)। अर्थात् नाम चिन्तामणि शुद्ध और नित्य मुक्त चिद्विग्रह रामस्वरूप है क्योंकि नाम-नामीमें भेद नहीं है। अतः यह श्रीराम-नाम इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है। (यह परमात्माकी कृपासे ही) स्वयं ही लोगोंके मुखमें, जिह्वा और कानोंमें प्राप्त होता है। श्रुति भी यही कहती है, 'स्वयंभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते।' अर्थात् श्रीरामनाम स्वयं उत्पन्न है, ज्योति (तेज, प्रकाश) मय है, प्रणव आदि अनन्तरूपधारी है और भक्तोंके हृदय ओर जिह्वापर अपनी अनिर्हेतुकीय कृपासे ही भासित होनेवाले है। (रा० पू० ता० २।१)। (घ) 'मञ्जु' देहली दीपक है, मन और कंज दोनोंके साथ है। मनमें भक्ति होना ही उसकी सुन्दरता है। 'जन मन ··' उपसंहार है और 'जन जिय जोऊ' उपक्रम है।

नोट—१ बाबा जानकीदासजी आदि दो-एक महात्माओंने 'मधुकर' का अर्थ 'भ्रमर' लेनेमें यह शङ्काएँ की है कि—(क) रकार मकार दो वर्ण हैं, मधुकर एक ही है। दोनोंके लिये दो दृष्टान्त होने चाहिये। (ख) 'भ्रमर तो कमलको दुःख ही देता है, उसका रस खींचता, पंखुरियोंको बिथुराता है और सदा कमलपर बैठा नहीं रहता। और, 'र' 'म' तो जनको सदा आनन्द देने हैं। अतएव भ्रमरकी उपमा ठीक नहीं। (ग) कमलका स्नेही भ्रमर है, भ्रमरका कमल नहीं।'' और, इन्हीं शङ्काओंके कारण उन्होंने 'मधुकर' का अर्थ जल और सूर्यकिरण किया है।

इन शङ्काओंका समाधान एक तो यह ही हो जाता है कि यहाँ उपमाका एक देश वा अङ्ग लिया गया है। गोस्वामीजीने भक्तोंके मनको कमल और श्रीरामचन्द्रजीको भ्रमर अन्य स्थलोंमें भी कहा है। यदि ये शङ्काएँ वहाँ हो सकती हैं तो वहाँ भी हो सकती थीं, पर वहाँ इनका गुजर नहीं हुआ। प्रमाण—'सकर हृदि पुडरीक निवसत हरि चञ्चरीक, निर्व्यलीक मानस गृह सतत रहे छाई' (गीतावली उ० ३)', 'निज भक्त हृदय पाथोज भृङ्ग' ॥ (वि० ६४), 'हृदय कंज मकरंद मधुप हरि (उ० ५१)। यहाँ भ्रमर कहनेका स्पष्ट भाव यह है कि वे दोनो अक्षर भक्तोंके हृदयकमलमें निरंतर निवास करते है—'अति अनन्य जे हरि के दासा। रटहिं नाम निसि दिन प्रति स्वासा' (अ० न०)। पराग मकरन्द सुगन्धयुक्त खिले हुए कमलमें भ्रमर आसक्त रहता है, यहाँ-तक कि रातमें उसके भीतर बंद भी हो जाता है वैसे ही जापक जनके मनमे 'र' 'म' दोनों नहीं हटते—'जन जिय जोऊ'। मधुकर भी दो कहे गये हैं। 'से' बहुवचन देकर जनाया कि 'रा' 'म' दो भ्रमर है। यहाँ अर्थमें दो भ्रमर समझने चाहिये। श्री श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि "आज्ञाचक्रमें द्वै दल कमल जहाँ भ्रमर-गुफा सर्वत्र प्रसिद्ध है और हृदयकमलमें वसिष्ठजीने एक भ्रमरका सोना स्वर्ण वर्णका लिखा है।' हृदयके अदर एक स्थान है (योगशास्त्रके अनुसार) जिसे भ्रमर-गुफा कहते हैं। इस योगसे भ्रमर अर्थ और भी उत्तम और सार्थक प्रतीत होता है।

भ्रमर सदा सदा नहीं रहता यह ठीक है, पर जबतक फूलमें मकरन्द रहता है तभीतक यह वहाँ रहता है। और 'रा' 'म' जापक जनके मनमें सदा रहते हैं। यह 'रा' 'म' में विशेषता है।

तीसरी शङ्काका समाधान यों किया जा सकता है कि जब सब आशा-भरोसा छोड़कर जीव प्रभुहीका हो रहता है, तभी 'जन' कहलाता है, तब फिर आश्चर्य ही क्या कि प्रभु अपने नाम रूपादिको उसके हृदयमे बसा देते हैं। 'मञ्जु कञ्ज' कहकर मनकी विशेषता कमलसे सूचित की। कमल भ्रमरका स्नेही न सही, पर जनमत तो 'रा', 'म' का स्नेही है ही। पुनः आगे 'जीह जसोमति' कहकर जनाया कि जब ये वर्ण जिह्वाको प्रिय होते हैं तभी ये जनके मनमें बसते हैं। (नोट ३ भी देखिये)।

२ श्रीनगे परमहंसजी 'जन मन मञ्जु ' का अन्वय इस प्रकार करते है—"जन मन मधुकर राम नाम मञ्जु कंज।' अर्थात 'रा' 'म' ये दोनों दो कमल हैं, जो जनोंके मन-मधुकरको सुखदाता है। दोनोंका ध्यान करके जनमन आनन्दित रहता है।' इस अर्थकी पुष्टिमें आप लिखते हैं कि 'रा' 'म' कमल होंगे तब अपने जनोंके मन-भ्रमरको सुख देनेवाले हुए और जब रामजी भ्रमर हुगे तब सुख भोगनेवाले हुए। कमल और भ्रमरमें यही दो बातें

हैं, सुख देना और सुख भोगना। अतः सुख देनेके प्रसङ्गमें 'रा' 'म' को कमल अर्थ करना पड़ेगा और सुख भोगनेके प्रसङ्गमें 'रा' 'म' भ्रमर अर्थ किये जायँगे। नामवन्दनामें नाम महाराजका ऐश्वर्य कहा गया है, नाम-वन्दना सुख देनेका प्रसङ्ग है, अतएव रामनाम कमल ही अर्थ किये जायँगे, वे जन मनभ्रमरको सुखद हैं। पुनः वे लिखते हैं कि 'जल' और 'सूर्य' की समता अयोग्य है क्योंकि (क) जल और सूर्यकिरणसे विरोध है, सूर्य जल शोषण करते हैं और 'रा' 'म' में परस्पर प्रीति है। (ख) सूर्यकी उपमा पूर्व इसी प्रसङ्गमें आ चुकी है। पं० रामकुमारजीने यह नहीं लिखा कि 'नामपर मन और इन्द्रियाँ कैसे लगती हैं। उसको मैं लिखता हूँ कि मन तो 'रा' और 'म' का ध्यान करता है क्योंकि मन इन्द्रियका काम ही है ध्यान करना। और जिह्वाका काम है नाम रटना। इन्हीं दोनों कामोंको नामजापक करते भी हैं और इन्हीं दोके लिये दो उपमाएँ दी गयी हैं।"

३ वै० भू० जी कहते हैं कि कमलकी कर्णिकामें एक चिकना मादक पदार्थ (द्रव्य) उत्पन्न होता है जो भ्रमरके बैठने मात्रसे नष्ट हो जाता है। यदि भ्रमर न बैठे तो उस मादक द्रव्यके कारण कमलमें कीड़े उत्पन्न होकर कमलको नष्ट कर देते हैं। अतः भ्रमरका आकर बैठना कमलके लिये सुखावह है। वैसे ही 'रा' 'म' रूपी भौंरे जनके मनरूपी कमलपर बैठकर अविद्यारूपी मादकद्रव्यको नष्ट कर देते हैं। नहीं तो अविद्याके रहनेसे मानस रागादि कीड़े लगकर मनको तामसी बना विनाशके गर्तमें पात कर दें। भ्रमर मकरन्दको पान करता है और रामनाम जनके दिये हुए मानसिक पूजन-ध्यान आदिको पान करता है, यह उपमा है। यथा—'नील तामरस स्याम काम अरि। हृदय कंज मकरंद मधुप हरि॥' (७।५१)।

४ उपर्युक्त टिप्पणीमें 'मधुकर' को एक शब्द मानकर 'भ्रमर' अर्थ किया गया। दूसरा अर्थ है 'मधु + कर' = जल और सूर्य वा किरण। यथा—'मधु दुग्धे जले क्षौद्रे मिष्टे चैत्र मनोहरे', 'कर सूर्य करो हस्तो मानायो करः स्मृत। शुण्डादण्डे च किरणे नक्षत्रे करे नरे' (अनेकार्थ शब्दमाला)। इस तरह अर्थ होगा कि 'जनके मनरूपी सुन्दर कमलके लिये जल और सूर्य किरणके समान हैं। भाव यह कि जैसे कमलका पोषण जल और सूर्य दोनोंसे होता है। यदि जल न रहे तो सूर्य उसे जला डालेगा और यदि सूर्य न हुआ तो वह प्रफुल्लित नहीं होगा। रकार अग्निबीज है, मकार भानुबीज है, अतः 'रा' यहाँ रविकिरण हुआ और मकार चन्द्रबीज होनेसे जलरूप है। ये वैराग्य, ज्ञान और भक्ति देकर जनमनको सदा प्रफुल्लित रखते हैं।

५ वैजनाथजी—'जन मन मंजु कंज मधुकर से' यह हृदयमें नाम जपनेवालोंकी बात कहते हैं। नाम-जपके प्रभावसे मन निर्मल हो गया है, इसीसे उनके मनको 'मंजु' कहा। मकार जलरूप सहायक है, मनको आनन्दरूप रस देकर स्वच्छलीन रखता है। रकार रविरूप है। अनुभवरूप किरण देकर मनरूपी कंजको प्रफुल्लित रखता है।

नोट—'जीह जसोमति हरि हलधर से' इति। (१) जैसे घर सब तरहके भोगोंसे परिपूर्ण हो परन्तु एक लड़का ही न हो तो घरकी शोभा नहीं होती, घर सूना लगता है, वैसे ही मुखरूपी घरमें जिह्वारूपी माताकी गोदमें 'रा' 'म' बालक न हों तो मुखकी शोभा नहीं। पूर्ण रूपक दोहावलीके 'दंपति रस रसना दसन परिजन बदन सुगेह। तुलसी हर हित बरन सिसु संपति सहज सनेह॥ २४॥' इस दोहेसे स्पष्ट हो जाता है।

(२) यशोदाजीको 'हरि हलधर प्रिय' वैसे ही भक्तोंकी जिह्वाको 'रा' 'म' प्रिय। यशोदाजी सदा उनके लालन-पालनमें लगी रहतीं, वैसे ही जापक जन इन वर्णोंका सदा सँभार रखते हैं। टिप्पणी १ भी देखिये।

(३) जैसे यशोदाजी ब्राह्मणी भी नहीं किन्तु अहीरिन थीं, पर हरि-हलधरसे प्रेम होनेसे वे विरञ्चि आदिसे पूजित हुईं, वैसे ही यह चमड़ेकी जिह्वा अपावन है पर 'रा' 'म' से प्रेम रखनेसे पावन और प्रणमनीय हो जाती है।

(४) पूरा रूपक यह है—श्रीकृष्णजी देवकीजीके यहाँ प्रकट हुए पर गुप्त ही, और यशोदाजीके यहाँ पुत्र प्रसिद्ध कहाये। इसी तरह बलरामजी रहे तो देवकीजीके गर्भमें, पर योगमायाने खींचकर उन्हें रोहिणीके उदरमें कर दिया, वहींसे प्रकट होकर प्रसिद्ध हुए। नाममात्र वे यशोदाके कहलाये। ग्यारह वर्ष पुत्रका सुख देकर पश्चात् अपने स्थानको चले गये। उसी प्रकार परावाणीसे नामोच्चारण नाभिस्थानसे प्रकट होता है। यह नाभिस्थान मथुरा है, परावाणी

देवकी हैं, पुर गोकुल है, जिह्वा यशोदा है, 'म' श्रीकृष्ण हैं जो जिह्वाने उच्चारणमात्र पुत्र करके पाया। 'र' बलदेव, अंशस्थान रोहिणीके पुत्र प्रसिद्ध, पर नाम-मात्र जिह्वारूपी यशोदाके कहाये। जो जन ग्यारह वर्ष जिह्वासे जपे तो उसके स्वाभाविक ही नाम परावाणीसे उच्चारण होने लगे। (वै०) । बैजनाथजीके भाव लेकर किसीने यह दोहे बना दिये हैं। 'मनहिं स्वरूप बसुदेव सम कर हूँ मकार जल मेघ। रवि प्रकार प्रगटित करत रेफ तेज कर छेम ॥ परावाणि देवकी गगन बन्दीगृह सतु ग्राम। पुर गोकुल यशुमति रसन र० म० हरि बलराम ॥'

टिप्पणी—२ (क) 'नरनारायन सरिस सुभ्राता', 'राम लखन सम प्रिय', 'जन जसोमति हरि हलधर से' कहकर तीन युगोंमें हितकारी होना सूचित किया। नरनारायणरूपसे सत्ययुगमें (क्योंकि यह अवतार सत्ययुगमें हुआ), श्रीरामलक्ष्मणरूपसे त्रेतामें, श्रीकृष्णबलदाऊरूपसे द्वापरमें और कलियुगमें तो नाम छोड़ दूसरा उपाय है ही नहीं। यथा—'कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ।' या यों कहिये कि 'और सब युगोंमें सब अवतारोंके समान नामको दिखाया, अब कलिमें केवल 'रा' 'म' हैं, कोई अवतार नहीं है। ऐसे कराल कलिकालमें नाम ही कृतार्थ करते हैं। यथा—'कलि केवल मल मूल मलीना।' (ख) जो ऊपर 'बरनत बरन प्रीति बिलगाती' में कहा है कि वर्णन करनेहीसे दोनोंकी प्रीति पृथक् पड़ती है, अन्यथा नहीं, वही 'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती' और उक्त तीनों दृष्टान्त देकर दोनों वर्णोंका वर्णन करके दिखाया है कि इन चारोंके समान सहज प्रीति है। इन तीनों दृष्टान्तोंसे नामके वर्णोंका सौभ्रात्र गुण दिखाया।

नोट—६ 'राम लखन सम', 'ब्रह्म जीव इव', 'नर नारायन सरिस', 'कल करन बिभूषन', 'बिधु पूषन', 'स्वादतोष सम', 'कमठ सेष सम', 'मधुकरसे', 'हरि हलधर से', इनमें उपमान एक उपमेय 'रकार मकार' के लिये इनके पृथक्-पृथक् धर्मोंके लिये चौपाई ३ से लेकर अनेक कहे गये। अतएव यहाँ 'भिन्नधर्मोपमालङ्कार' है। इन धर्मोंको इन चौपाइयोंमें लिख चुके हैं।

दो०—एकु छत्रु एकु मुकुटमनि सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ ॥ २० ॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—देखो, श्रीरघुनाथजीके नामके दोनों वर्णोंमेंसे एक छत्ररूप (ँ) दूसरा मुकुटमणिरूप ( ) से सब अक्षरोंपर विराजते (सुशोभित होते) हैं ॥ २० ॥

नोट—१ नाम प्रकरणके पहले दोहेतक अर्थात् पूरे दोहा १९ में ग्रन्थकार रामनाम लेकर उसके स्वरूप, अङ्ग, और फल कहे, फिर बीसवें दोहेमें 'हरि हलधर से' तक नामके वर्णोंकी महिमा कही और युगाक्षरोंकी मित्रता दिखायी, अब यहाँ दोनों अक्षरोंको निर्गुण लेकर नामका महत्त्व दिखाते हैं।

२—यह दोहा महारामायणके, 'निर्वर्णगमनान्नेव केवलं च स्वराधिपम्। मुकुटच्छत्र च सर्वेषां मकारो रेफव्यञ्जनम् ॥' (५२। १०१) इस श्लोकसे मिलता है।

३—श्री० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सब पदार्थों और सब मूर्तियोंको देखनेके लिये इस प्रकरणके आदिमें प्रथम नेत्र वर्णन किया—'बरन बिलोचन जन जिय जोऊ।' इस प्रकरणको 'जिह्वा' और 'मन' से उठाकर इन्हींपर समाप्त किया है। 'रामनाम बर बरन जुग' उपक्रम है और 'रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ' उपसंहार है।

४—'एकु छत्रु एकु मुकुटमनि' इति। भाव कि—(क) छत्र और मणिजटित मुकुट जिसके सिरपर होता है वह राजा कहलाता है, वैसे ही जो भक्त इन वर्णोंको धारण करते हैं वे भक्तशिरोमणि कहलाते हैं जैसे प्रह्लादजी, शिवजी, हनुमानजी। (ख) स्वरहीन होनेसे 'र' 'म' सब वर्णोंपर विराजने लगते हैं, वैसे ही जो जन इनका अवलम्ब लेते हैं वे भी स्वरहीन (आसरहित, मृत्यु) होनेपर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं। यथा—'यन्नामसमर्थवशाद्भिरणौ नष्टस्वरौ मूर्ध्नि गतौ स्वराणाम्। तन्नामपादौ हृदि सन्निधाय देही कथं नोर्ध्वगतिं प्रयाति ॥'

---

१ विराजित—१७२१, १७६२, छ०। बिराजत—१६६१, १७०४।

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥ १॥

अर्थ—नाम और नामी (नामवाला) समझनेमें एक-से हैं। दोनोंमें परस्पर प्रीति है जैसे स्वामी-सेवकमें॥ १॥

नोट—१ 'र' 'म' वर्ण हैं, इसलिये पहले इनको और वर्णोंसे बड़ा कहा था। नामका सम्बन्ध नामीसे है, इसलिये अब नामको नामीसे बड़ा कहते हैं। नामीके दो रूप निर्गुण और सगुण हैं, इसलिये उन दोनोंसे भी नामको बड़ा कहेंगे।

२ 'सरिस' कहनेका भाव यह है कि जो गुण या धर्म नामीमें हैं वे सब नाममें भी हैं। नाम बिना रूपके और रूप बिना नामके नहीं हो सकता। देखिये २१ (२)।

३ 'प्रभु अनुगामी' की प्रीति कैसी है? यथा—'जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥ सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहिं। २। १४२।'

४ गोस्वामीजीने 'नाम' को सब प्रकारसे श्रेष्ठतर सिद्ध किया है। वे लिखते हैं कि समझनेमें 'नाम' और 'नामी' (दोनों) समान हैं और परस्पर प्रेम भी है अर्थात् 'नामवाला' 'नाम' को चाहता है, उसकी अपेक्षा रखता है और 'नाम' 'नामवाले' की अपेक्षा करता है। दोनों अन्योन्याश्रय सम्बन्धसे जकड़े हैं, किंतु फिर भी 'प्रभु' 'नाम' के अनुगामी हैं, पीछे-पीछे चलनेवाले हैं। पीछे पीछे चलनेवाला इसीलिये कहा है कि 'नाम' लेनेसे नामी (ईश्वर) आता है। इसका अनुभव कोई भी संसारमें कर सकता है। मान लीजिये किसीका 'नाम' 'मोहन' है। अब 'मोहन' नाम और 'मोहन नाम-वाला व्यक्ति' दोनों एक ही हैं। किंतु जिस समय 'मोहन' मोहन पुकारा जायगा, उस समय 'मोहन' नामधारी व्यक्तिको नामका अनुसरण करना ही पड़ेगा, वह पुकारनेवालेके पास अवश्य ही आवेगा। यद्यपि 'मोहन' नामधारीके साथ साथ 'मोहन' नाम भी रहता है (यही सादृश्य है) पर व्यक्तिके द्वारा 'नाम' इङ्गित नहीं किया जायगा, वरन् 'नाम' के द्वारा वह व्यक्ति ही इङ्गित किया जायगा। यही कारण है कि नामी (व्यक्ति) को नामका अनुगमन करनेको बाध्य होना पड़ता है, 'नाम' को नहीं। यहाँपर विषयको स्पष्ट करनेमें हमारा अभिप्रेत यही है कि आगेका प्रसङ्ग जिसमें सुगमतासे हृदयङ्गम हो सके। इन बातोंका विवेचन 'देखिअहिं नाम रूप आधीना।' में देख लीजिये। (दोहावली, भूमिका प्रोफे० लाला भगवानदीनजीकृत)।

५ बाबा जानकीदासजी कहते हैं कि 'नाम सेवक है या नामी?' यहाँ यह प्रश्न नहीं उठता। यहाँ दृष्टान्तका एक देश 'स्वामी सेवक-जैसी परस्पर प्रीति' लिया गया है, यह भाव नहीं है कि एक स्वामी है, दूसरा सेवक। सेवक स्वामीकी प्रीतिका लक्ष्य, यथा—'पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥ २। २४०।' यह सेवकका स्वामीपर प्रेम है और वैसे ही 'भरत प्रनाम करत रघुनाथा। उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥' यह भरतजीके प्रति स्वामीका प्रेम। दोनोंमें परस्पर प्रेम होता है वैसे ही नाम नामीमें परस्पर प्रेम है। श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजी कहते हैं कि नामीमें जो धर्म हैं, नाम भी उन्हीं धर्मोंको कहता है, अतः सदृश कहा। प्रभु अनुगामी नाम-मात्र कहनेमें दो हैं, वस्तुतः दोनों तुल्य हैं। जैसे राजा हुक्म देनेका मालिक है और हुक्म बिना मन्त्रियोंकी सलाहके नहीं चलता। इस तरह दोनोंकी परस्पर प्रीति है। वैजनाथजीका मत है कि नाम सेवक है और नामी स्वामी है। दोनोंकी परस्पर प्रीति यही है कि दोनों कभी भिन्न नहीं होते। सेवक इस तरह जैसे देह-देही, अङ्ग-अङ्गी, शेष-शेषी, प्रकाश-प्रकाशी तथा नाम-नामी। प्रकाश अनुगामी है, प्रकाशी (सूर्य) प्रभु है। इत्यादि।

नाम रूप दुइ[१] ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥ २॥

अर्थ—नाम और रूप यही दो ईशकी 'उपाधियाँ' हैं। दोनों अकथनीय (अनिर्वचनीय) हैं, अनादि हैं, सुन्दर समझवालोंने इस बातको साधा है॥ २॥

नोट—१ इस चौपाईके और अर्थ भी किये गये हैं।

---

१ किसी-किसी छपी पुस्तकमें 'दोउ' पाठ है।

अर्थ—२ बाबा हरिदासजी यों अर्थ करते हैं कि 'नाम-रूप दोनों समर्थ हैं और दोनों अपने समीप प्राप्त हैं [अर्थात् हमारे हृदयहीमें दोनों प्राप्त हैं, हम उनको मोहवश नहीं जानते। यथा—'परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं बाहर फिरत बिकल भयउ धायो।'' अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि बिषय बबूर बाग मन लायो॥ वि० २४४।'] पर सुन्दर समझहीसे सधते हैं।

अर्थ—३ अकथ अनादि ईशने उपाधि (धर्म चिन्ता कर्त्तव्यका विचार) विचारकर नाम और रूप दोनोंको धारण किया है। अर्थात् 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥' जो ईश है उसने नाम-रूप दोनों धारण किये हैं जिससे उनका प्रतिपालन हो।

अर्थ—४, ५ मानसमयङ्ककार 'ईश उपाधि' का भाव यह लिखते हैं कि 'अगुण और सगुण दोनों ईशोंकी प्राप्ति करा देनेवाले हैं।' और अभिप्रायदीपकमें इसके आधार यह दोहा है। 'लखब सच्चिदानन्द दोउ, रूप उपाधी नाम। जा उपाधि पोषण भरन, प्रगट करत सुखधाम॥ ३५।' इसके अनुसार अन्वय यह है, 'नाम ईश (के) दुइ रूप (अगुण, सगुण) उपाधि अर्थात् नाम ब्रह्मके निर्गुण और सगुण दोनों रूपोंकी प्राप्ति करा देनेवाला है। उत्तरार्धमें दूसरा अर्थ है। उपाधि=भरणपोषण। इसके अनुसार अर्थ है कि नामके दो रूप 'रा' 'म' हैं। ये दोनों जीवका ईश्वरके समान भरण पोषण करते हैं।' (दीपकचक्षु)।

६ श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि 'उप=समीप। आधि=स्थापन, जो अपनेमें माना जाय उसे 'उपाधि' कहते हैं। जैसे रङ्गोंकी छाया पड़नेसे दर्पणमें वे सब रंग माने जाते हैं, वैसे ही कर्मोंकी छाया पड़नेसे जीवोंमें रूप माने गये हैं। ईश्वरमें कर्मका सम्बन्ध नहीं है, इसलिये उसमें जीवके समान नाम-रूप नहीं हैं। उसमें केवल भक्तोंके भावकी छाया पड़ी है और भाव सत्यरूप अविनाशी है, इससे ईश्वरके नामरूपादि नित्य हैं ऐसी समझ आवे तब ईश्वरके नाम-रूपमें ईश्वर-हीका भाव आवे।

७ सन्त गुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'समुझत सरिस नाम अरु नामी' जो कह आये उसीका यहाँ हेतु कहते हैं। एक मात्र इस चौपाईका यह ही सकता है कि 'अकथ अनादि उपाधि ईश्वरके नाम वा रूप ये दो ही हैं, लीला और धाम नहीं हैं। ये नाम रूपके अनन्तर हैं जैसा गर्गसंहितामें गोलोककी उत्पत्ति श्रीकृष्णजीके शरीरसे होना कहा है। और लीला योगमायाद्वारा। एवं 'विष्णोःपादे अवन्तिका' इत्यादि। क्योंकि यह जो कहा है कि 'कार्योपाधिरयं जीवो कारणोपाधिरीश्वरः' तहाँ कारणरूप उपाधि यही दो हैं। (मा० त० वि०)।

अर्थ—८ ईश्वरके नामरूप दोनोंका 'झगड़ा' (कि इनमेंसे कौन बड़ा है कौन छोटा, कौन पहले हुआ कौन पीछे इत्यादि) अनादिसे है और अकथनीय है।

अर्थ—९ शब्दसागरमें 'उपाधि' के अर्थ ये भी लिखे गये हैं कि 'जिसके संयोगसे कोई वस्तु किसी विशेष रूपमें दिखायी दे। वेदान्तमें मायाके सम्बन्ध और असम्बन्धसे ब्रह्मके दो भेद माने गये हैं, सोपाधि ब्रह्म (जीव) और निरुपाधि ब्रह्म।

अर्थ—१० प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि यहाँ 'उपाधि' का अर्थ है 'विकृतरूप या, दूसरा रूप'। अतः इस अर्धालीका अर्थ यह हुआ कि 'नाम और रूप ईशहीके दूसरे रूप हैं।' अर्थात् यदि हम नामको पकड़ लें तो हमने ईशको पा लिया और रूपको पकड़ लें तो भी वही बात हो चुकी। यह बात साधन करके भलीभाँति समझो।' वे 'दुइ' की ठौर 'दोउ' पाठ शुद्ध मानते हैं। यह 'उपाधि' का अर्थ वेदान्तशास्त्रके अनुकूल बताते हैं।

नोट—२ पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'अकथ, अनादि, सुसामुझि, साधी' ये सब 'ईश' के विशेषण हैं। जैसे 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥' और 'ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥' में अकथ आदि 'ब्रह्म सरूप' और 'ब्रह्मसुख' के विशेषण हैं।

३ 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी' इति। उपाधिके कई अर्थ हैं। (क) धर्म-चिन्ता, कर्त्तव्यका विचार। (ख) उपद्रव, उत्पात। (ग) पदवी, प्रतिष्ठासूचक पद। (घ) समीप प्राप्त।

इन अर्थोंको एक-एक करके लेनेसे 'दुइ ईस उपाधी' के ये भाव निकलते हैं—(क) नामको सुमिरें या रूपका ध्यान करें, दोनोंहीसे प्रभुके चित्तमे भक्तका मनोरथ पूरा करने, दुःख हरने इत्यादिकी चिन्ता हो जाती है, क्योंकि उनको अपने 'बान' की लाज है। यथा—'जो कहावत दीनदयाल सही जेहि भार सदा अपने पनको।' (क० उ० ९), 'मम पन सरनागत भयहारी' (सु० ४३), 'कोटि विप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहि ताहू' (सु० ४४), 'सो धौं को जो नाम लाज ते नहिं राख्यो रघुबीर' (वि० १४४)। मानसतत्त्व-विवरणकार लिखते हैं कि यहाँ 'पूर्व चौपाईका हेतु कहते हैं। 'ईस' अर्थात् ईश्वर जो सृष्टिका निमित्त कारण है, कार्यको उत्पन्न करके भिन्न रहता है। ऐसे भिन्न पुरुषकी प्राप्तिकी कोई उपाधि खोजना अवश्य हुआ। अस्तु, महानुभावोंने केवल नाम और रूप यही दो पाया। दोनों सम इस कारणसे हैं कि ईशकी उपाधि अर्थात् 'धर्मचिन्ता' वा 'निज परिवार' ('उपाधिर्धर्मचिन्तायां कुटुम्बव्यापृते छले' इति मेदिनीकोशे) नाममात्र है किंवा रूपमात्र'। (ख) 'उपाधि' उपद्रवको भी कहते हैं। भाव यह कि नाम-रूपसे ईश पकड़े जाते हैं। इस प्रकार भी दोनों बराबर हैं। (प० रामकुमारजी)। (ग) जैसे पदवी पानेसे मनुष्य प्रतिष्ठित हो जाता है। उसके गुण-अधिकार इत्यादि सभी जान जाते हैं। वैसे ही ईश्वरके नामरूपहीसे उसका यथार्थ बोध होता है। बिना नामरूपके उसका ध्यान, ज्ञान, समझना, उनमें और उनके गुणोंमें विश्वास होना इत्यादि असम्भव हैं। नाम और रूपहीसे परमेश्वर जगत्‌में सुशोभित होते हैं, उनकी चर्चा घर-घर होती है, अतएव नाम और रूप मानो पदवी हैं जिससे प्राणियोंकी दृष्टिमें परमेश्वरकी प्रतिष्ठा है। (श्रीसीतारामप्रपन्न गयादत्त चौबे, जिला बलिया)। (घ) ईशके समीप (जापक जनको) प्राप्त कर देनेवाले हैं। अर्थात् प्रभुकी प्राप्तिके दोनों ही मुख्य साधन हैं। प्रमाण यथा—'**रकारो योगिनां ध्येयो गच्छन्ति परमं पदम्। अकारो ज्ञानिनां ध्येयस्ते सर्वे मोक्षरूपिणः॥ पूर्णं नाम मुदादासा ध्यायन्त्यचलमानसाः। प्राप्नुवन्ति परां भक्तिं श्रीरामस्य समीपताम्॥** महारामायणे (मा० त०)। (५२, ६९, ७०)

नोट—४ प० रामकुमारजी इस चरणपर यह श्लोक देते हैं, 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्॥' इति उपनिषदे। अर्थात् जगत्‌का जो भान होता है उसमें अस्ति (है), भाति (भासता है), प्रिय, रूप और नाम इन पाँचोंका अनुभव होता है। इसमेसे प्रथम जो तीन हैं वे ब्रह्मका रूप हैं जिसे सच्चिदानन्द कहा गया है और नाम और रूप ये मायाके हैं। (यह अद्वैत सिद्धान्तानुसार प्रतिपादन है)।

५ इन अर्थोंमें कोई-कोई शङ्का करते हैं कि 'ईशकी उपाधि' कहनेसे 'ईश' तीसरा पदार्थ ज्ञात होता है। यद्यपि यह शङ्का केवल शब्द कहनेमात्र है तथापि 'ईश' और 'उपाधी' को पृथक् करके 'ईश' का अर्थ 'समर्थ' कर लेनेसे शङ्का निवृत्त हो जाती है।

६ '**अकथ अनादि सुसामुझि साधी**' इति। (क) अकथनीय और अनादि, यथा—'**नाम जपत शंकर थके शेष न पायो पार। सब प्रकार सो अकथ है महिमा अगम अपार**' (विजयदोहावली), '**महिमा नाम रूप गुन गाथा।' निगम शेष शिव पार न पावहिं'** (उ० ९१)। (ख) सुसामुझि=अच्छी बुद्धिवालोंने। सुन्दर बुद्धिसे। भाव यह है कि उनमें भेद न मानकर इस उपदेशपर चले कि '**रामनाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार। तुलसी भीतर बाहेरहु जौं चाहसि उजियार**' पुनः '**जाना चहहि गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहि तेऊ**' ऐसा समझकर प्रेमसे रामनाम जपे तो दोनोंका बोध आप ही हो जावेगा।

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥ ३॥

अर्थ—कौन बड़ा है, कौन छोटा, (यह) कहनेमें अपराध होता है। गुणको सुनकर साधु भेद (वा, गुणोंका भेद सुनकर) समझ लेंगे॥ ३॥

टिप्पणी—१ समझनेमें सुखद हैं। यथा—'**समुझत सुखद न परत बखानी।**' इसीलिये '**सुनि गुन भेद

समुझिहहिं साधू' कहा। यहाँ कहते हैं कि बड़ा-छोटा कहनेमें अपराध होगा, इसीसे आगे कहेंगे कि 'न परत बखानी'।

नोट—इस दोहेका सम्पूर्ण विषय कठिन है। इसी कारण विषयके साथ 'समुझत' या समझसे सम्बन्ध रखनेवाले शब्द प्रसङ्गभरमें दिये हैं। यथा—'समुझत सरिस नाम अरु नामी' 'सुमासुझि साधी', 'समुझिहहिं साधू', 'समुझत सुखद।' देखिये, कहते हैं कि 'को बड़ छोट कहत अपराधू' और आगे चलकर बड़ा कह भी दिया है, 'कहउँ नाम बड़ राम ते।' यह क्या? उत्तर—(१) पण्डित रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यदि एकके गुण और दूसरेके दोष कहकर एकको बड़ा और दूसरेको छोटा करें, तो दोष है, इसीसे हम गुण दोष न कहकर दोनोंके गुण ही कहकर बड़ा छोटा कहते हैं, दोनोंके गुण सुनकर साधु समझ लेंगे, इसमें दोष नहीं। बड़ा छोटा कहनेकी प्रायः यह रीति है कि एकके गुण कहे और दूसरेके अवगुण, जैसा ग्रन्थकारने श्रीसीताजीके प्रसङ्गमें (२३७, २३८ दोहेमें) श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दसे कहलाया है। यथा— 'सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥ जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक। सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक॥ २३७॥ 'घटइ बढ़इ' इत्यादि। गोस्वामीजी कहते हैं कि हम इस रीतिसे बड़ाई-छुटाई नहीं करते।' (२) प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि यहाँ बड़ा-छोटा कहनेमें अपराध मानते हुए भी आगे बड़ा छोटा कह ही डाला। इसका कारण यह है कि रामनामपर उनका इतना विश्वास है कि उनसे रहा न गया और अपने इष्ट (रामनाम) की बड़ाई कर ही डाली और अपना विश्वास प्रकट कर दिया कि इतना बड़ा अपराध करनेपर भी रामनाममें वह शक्ति है कि अपराध क्षमा हो ही जायगा। (३) मानसदीपिकाकार लिखते हैं कि 'इस रीतिसे वास्तविक सिद्धान्त न कहकर अब, केवल भक्तोंके उपासनानुसार और कलियुगमें नामीसे नामका प्रभाव अधिक समझकर निज भावके अनुकूल सिद्धान्त कहते हैं। (४) सू० प्र० मिश्र— 'को बड़ छोट कहत अपराधू' इस आधी चौपाईतक ग्रन्थकारने शास्त्रसिद्धान्तकी बातें कहीं, आगे केवल भक्तोंके उपासनानुसार कहते हैं। 'सुनि गुन भेद' अर्थात् नामीसे नामके अधिक गुण सुनकर। (५) सु० द्विवेदीजी—'दोनोंमें समान गुण होनेसे एकको बड़ा दूसरेको छोटा कहना अपराध है। साधु लोग अपनी-अपनी रुचिसे इन दोनोंके गुणोंको सुनकर तथा विचारकर आप इन दोनोंके भेदको समझेंगे। यह कहकर ग्रन्थकारने अपनी रुचिसे नामके बड़ा होनेमें हेतु दिखलाया।'

देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥ ४॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतलगत न परहिं पहिचानें॥ ५॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेषें॥ ६॥

अर्थ—रूप नामके अधीन (आश्रित, वश) देखा जाता है। बिना नामके रूपका ज्ञान नहीं हो सकता॥ ४॥ विशेष रूपका पदार्थ भी हथेलीपर प्राप्त होनेपर भी बिना नामके नहीं पहचाना जा सकता॥ ५॥ और बिना रूपके देखे नामको सुमिरिये, तो वह रूप हृदयमें बड़े स्नेहसमेत आ जाता है॥ ६॥

नोट—१ 'देखिअहि'—श्रीरूपकलाजी कहते हैं कि इस शब्दसे भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालका बोध होता है, जैसे फारसीमें मुजारैअसे। भाव यह कि सदैव देखते आये, देखते हैं और अब भी देखेंगे। अथवा, ऊपर कहा है, कि साधु समझ लेंगे और अब कहते हैं कि वे स्वयं देख लेंगे कि रूप नामके अधीन है। देखिअहि=देखिये, देखते हैं, देखा जाता है। यथा—'नाग देखिअहिं बिटप बिसाला' (अ० २३७), 'बानर पालिअहिं अति अनुरागा' (बा० ५), 'तु रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं' (अ० १२१), में रखिअहि=रखिये, रख लें, रख लिया जाय। 'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई' में पाइअहि=पाते हैं।

नोट—२ 'रूप नाम आधीना' इति। रूप नामके अधीन है, इसका प्रमाण इसी ग्रन्थमें देख लीजिये। श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीको न पहचान सके जबतक उन्होंने अपना नाम न बताया। यदि वे रूप देखकर पहचान

गये होते तो यह प्रश्न न करते कि 'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा ॥' जब श्रीरामचन्द्रजीने नाम बताया तभी पहचाना। यथा 'कोसलेस दसरथ के जाये। नाम राम लछिमन दोउ भाई।' 'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना' (कि० २)। 'देखिये दस-पाँच मनुष्य एक ही ठौर सोते हों तो जिसका नाम लेकर पुकारोगे वही बोल उठेगा। नामहीके बेधनेसे नामीकी मृत्यु हो जाती है।' (बैजनाथजी)। कोई मनुष्य किसी ग्राम वा नगर इत्यादिको जा रहा हो, रास्ता भूल जाय तो उस ग्रामका नाम न जाननेसे उसको उसका पता लगाना असम्भव हो जाता है। बिना नाम कहे कोई किसीको कोई वस्तु समझाना चाहे तो नहीं समझा सकता। ... गुणों-सहित रूप सूक्ष्मरूपसे नाममें बसा है, नामकी प्रसन्नतामें रूप प्रसन्न होता है, अतः अधीन कहा। (वै०)। श्रीलाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी।' ... 'सावन ... विसेषें।' में गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी दार्शनिक प्रवीणता भलीभाँति दिखला दी है। इस एक चौपाईपर मनन करनेकी आवश्यकता है। वह चौपाई यह है—'देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ॥ रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतलगत न परहिं पहिचानें ॥' बिना नामके किसी भी रूपका (वस्तुका) ज्ञान ही असम्भव है। इसमें भारी अनमजल यह है कि नामके बिना रूपकी विशेषता ही नहीं जानी जा सकती, चाहे वे कितने ही समीप क्यों न हों। यह बात इस प्रकार स्पष्ट हो सकती है कि मान लीजिये आपके सामने दो भिन्न वस्तुएँ रक्खी हैं। जबतक उनका नामकरण नहीं होता, तबतक उन्हें, दूसरेको समझाना तो दूर रहा, आप स्वयं भी समझ नहीं सकते। ... आम और आँवला रखे हों और उनके नाम यदि आप नहीं जानते, केवल रूपके जानकार हैं तो 'आँवला' कहनेपर 'आम' तथा 'आम' कहनेपर आँवलाका ग्रहण आपके लिये कोई असम्भव बात नहीं। केवल दो वस्तुओंमें जब 'अनामता' से भ्रम हो जाना सम्भव है तो असंख्य वस्तुओंमें 'अनामता' से गलती होना तो सर्वथा सम्भव है। यही 'नाम' और 'रूप' का अन्तर है। बिना दोनोंके सफलीभूत होना कठिन है। किन्तु 'नाम' ... है, क्योंकि रूप नामका अनुगामी है। यथा किसी समाजमें बहुत से व्यक्ति बैठे हैं और एकका नाम बताकर बुला लानेको कहा जाय तो वह चट आ जायगा। उसी प्रकार 'नाम' द्वारा 'रूप' का ग्रहण होता है। नाम लेकर पुकारनेपर जो व्यक्ति उठेगा उस 'रूप' को भी बुलानेवाला हृदयंगम कर लेगा। किन्तु केवल 'रूप' जाननेसे इतना काम नहीं चल सकता। इस बातका प्रमाण मन्त्रशास्त्रमें प्रत्यक्ष मिलता है। इस शास्त्रके अनुसार मारण, मोहन इत्यादि प्रयोग केवल नाम लेकर द्वारा सिद्ध होते हैं और प्रभाव नामीपर पड़ता है। इसी बातको तुलसीदासजीने स्पष्ट किया है। 'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निरगुन मन ते दूर। तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूर ॥ ८ ॥' (दोहावली), 'नाम राम को ... ... कलपतरु ... कल्यान निवास। रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जिय जानि ॥' इससे भी अधिक स्पष्ट रामचरितमानसमें कहा है। यथा—'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।' इत्यादि।

३—'रूप बिसेष' इति। शब्दसागरमें 'विशेष' के अर्थ ये हैं—भेद, भिन्नता, तारतम्य, अधिकता और वैशेषिक दर्शनके अनुसार 'वह गुण जिसके कारण कोई एक पदार्थ शेष दूसरे पदार्थोंसे भिन्न समझा जाता है।' टीकाओंमें इसके अर्थ ये किये गये हैं—(क) विशेष रूपका पदार्थ जैसे कोई रत्न, हीरा, पन्ना आदि। हमने एक कथा सुनी है। वह मिला भी तो बिना उसका नाम जाने किसानहीने उसको साधारण पत्थर जानकर कसकर रामने बदले दे दिया है। जब उसका नाम जाना तब पछताये। विदेहजीने श्रीराम-लक्ष्मणको देखा, पर जबतक विश्वामित्रजीने नाम न बताया उनको न पहिचाना (पंजाबीजी)। (ख) 'रूपका विशेष ज्ञान होनेपर भी नाम जाने बिना' (करुणासिंधुजी, रा० प्र०)। (ग) 'रूपकी विशेषता' कि वह ऐसे गुणवाला है, इत्यादि। (घ) 'यद्यपि रूप विशेष है। अर्थात् जो गुण रूपमें हैं सो नाममें नहीं है। यथा वज्रोपल नाममें पत्थरका कठोरता गुण है और उसके रूपमें इतने गुण हैं कि वह अमूल्य है, पुत्रदायक है, सुखदायक है, विष और वज्रकी बाधाको हरता है, इत्यादि। इस प्रकार रूप गुणोंमें विशेष है, तो भी 'करतल गत ...' अर्थात् रूपके गुण नामहीसे प्रगट होते हैं, अन्यथा नहीं। (वै०)। (ङ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि यहाँ 'देखिअहि ...' से लेकर चार चरणोंमें एक ही बात कही है, इससे पुनरुक्तिदोष होता है। 'देखिअहि ... आधीना' से जनाया कि नामके अधीन होनेसे रूपका दर्शनमात्र होता है। 'रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना'

से जनाया कि नामकी विमुखतासे रूप किञ्चिन्मात्र भी पहचाना नहीं जाता। और 'रूप बिसेष ··' से जनाया कि नाम-का उपकार, सबलता, माहात्म्य वा प्रभाव बिना जाने जो रूप करतलगत है उसका वह दिव्य रहस्य जाना नहीं जाता। (च) 'रूप बिसेष करतलगत है पर नाम बिना' ·· (न० प०)

नोट—४ 'आवत हृदय सनेह बिसेषे' इति। इसके भी दो-तीन तरहसे अर्थ किये जाते हैं—(क) एक ऊपर लिखा गया कि 'रूप हृदयमें बड़े स्नेहसे आ जाता है।' प्रमाण *यथा*—'रूपं श्रीरामचन्द्रस्य सुलभं भवति ध्रुवम्' (मार्कण्डेयपुराण)। (ख) नाम जपनेसे हृदयमें नामीमें विशेष स्नेह आ जाता है, जिसका फल रूपदर्शन है। (श्रीरूपकलाजी)। प्रमाण यथा—'मन वच करम नामको नेमा। तब उपजै नामी पद प्रेमा'॥ (महात्मा श्री १०८ युगलानन्यशरणजी, लक्ष्मणकिला, श्रीअयोध्याजी)। पुनः, यथा—'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना' (बा० १८५), 'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥' (अ० १०)। (ग) 'विशेष स्नेहसे नामका स्मरण करनेसे बिना देखे रूप हृदयमें आ जाता है। क्योंकि देवता मन्त्रके अधीन है, यह श्रीजैमिनीय मीमांसा, तान्त्रिक आदिसे प्रसिद्ध है। यथा—'यथा नामी वाचकेन नाम्ना योऽभिमुखो भवेत्। तथा बीजात्मको मन्त्रो मन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत्॥' (रा० पू० ता० उ० ४। ३), अर्थात् जैसे वाचक नामके द्वारा नामी सम्मुख हो जाता है, उसी प्रकार बीजात्मक मन्त्र श्रीरामजीको जापकके सम्मुख कर देता है। पुनः यथा—'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब। महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब॥' (बा० २५६) 'श्रीरामनाम' महामन्त्र है। यथा—'महामंत्र जोइ जपत महेसू' इसके अधीन देवताओंके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी हैं।

५—विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'नाम लेनेसे वस्तुका अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है तभी तो व्याकरणमें नामको संज्ञा कहते हैं और संज्ञा शब्दका अर्थ अच्छी तरहसे ज्ञान करानेवाला ऐसा होता है। संज्ञाको मराठी व्याकरणमें नाम कहते हैं।'

नाम रूप गति[1] अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी॥ ७॥

अर्थ—नाम और रूप दोनोंकी गतिकी कहानी अकथनीय है, समझनेमें सुखद है, वर्णन नहीं करते बनता॥ ७॥

नोट—१ 'अकथ' का भाव यह है कि ये दोनों एक दूसरेमें ऐसे गुथे हैं कि एककी बड़ाईके साथ दूसरेकी बड़ाई झलक ही पड़ती है अर्थात् नामस्मरणसे रूप स्नेहसहित न आवे तो सेवककी स्वामीपर प्रीति ही कैसी? दूसरी ओर दृष्टि डालिये तो यह विचार होता है कि बड़ेका स्नेह छोटेपर होता है। यथा—'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं॥ (बा० १६७)। इससे नामीका भी बड़प्पन झलक उठता है। अतएव 'अकथ' कहा। विशेष २१ (३) में टिप्पणी प० रामकुमारजीकी देखिये। (मानसपरिचारिका)।

२ श्रीसुदर्शनसिंहजी—नामकी गति अवर्णनीय है। नामसे नामीका अभेद और नामके स्मरणसे हृदयमें नामीका प्रादुर्भाव, यह साधनकी वस्तु है। जिस प्रकार नामका नामीसे अभेद है और जिस प्रकार नामसे नामी आकर्षित होता है, यह नामका आश्रय लेनेसे समझमें आ जायगा और समझमें आनेसे उसमें आनन्द प्राप्त होगा। यह सुखद है, परंतु यह बात वर्णन नहीं की जा सकती। नामकी कहानी भी अकथ है। उसके द्वारा अनन्त जीवोंका उद्धार हुआ है, यह समझनेपर हृदय श्रद्धासे पूर्ण हो जायगा और श्रद्धाजन्य आनन्द उपलब्ध होगा। पर नामके चरितका वह महत्त्व तो शेष भी नहीं कह सकते। रूपकी गति एवं कथा भी अकथ है। भगवान्‌का दिव्य रूप कैसा है? कैसे हृदयमें आता है? कैसे क्षणभरमें हृदय कुछ-का-कुछ हो जाता है? यह कौन बता सकेगा? यह तो अनुभव कीजिये! समझिये। राम अनन्त हैं, इसलिये रूपके चरित भी वर्णन नहीं किये जा सकते।···इस प्रकार नाम एवं रूपमें दोनोंकी गति

---

[1] गुन—(प० रामकुमारजी, व्यासजी, रामायणीजी)। गति बहुत कहानी—(मानस-पत्रिका), अर्थात् 'इनकी गति, कथा कहने और समझने सुख देनेवाली है'। (मा० प०)। नंगे परमहंसजी 'नाम रूपकी कहानीकी गति' यह अर्थ करते हैं।

(कार्यशैली) तथा कहानी (चरित) अवर्णनीय है। वे अनुभवकी वस्तु हैं और अनुभव करनेपर उनसे आनन्द प्राप्त होता है। (मानसमणि)।

३ प० सूर्यप्रसाद मिश्र—यहाँ 'गति' के तीन अर्थ है। राह, हालत और ज्ञान। नामरूपकी राह या उनकी हालत या उनका ज्ञान ये बातें कहाँसे कही जा सकती है? समझनेमे तो सुख देनेवाली हैं, पर कही नहीं जा सकतीं। इसका कारण यह है कि प्रिय वस्तुका कहना नहीं हो सकता। क्योंकि उस वस्तुके साक्षात्कार होनेसे मन उसीके आनन्दमें डूब जाता है। फिर कहनेवाला कौन दूसरा बैठा है? यही बात श्रुतिमे लिखी है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २। २। ४)।

४ श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—'नाम और रूपकी गति उनके माहात्म्य कहने और समझनेसे सुख देनेवाली है। अर्थात् और देव अनेक पूजादिसे प्रसन्न होकर तब सुखद होते है परतु नामके स्मरण और उस नामके साथ साथ उस नामीकी स्तुति करते ही वह नामीकी गति सुखद हो जाती है इसलिये वह गति वर्णनसे बाहर है। (मानस-पत्रिका, म० १९६४)।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥ ८ ॥

अर्थ—निर्गुण (अव्यक्त) और सगुणके बीचमे नाम सुन्दर साक्षी है। (नाम) चतुर दुभाषिया (दो भाषाएँ जाननेवाले) के समान दोनोका (यथार्थ) बोध करानेवाला है ॥ ८ ॥

नोट—१ नामको 'साक्षी, प्रबोधक और दुभाषिया' कहा। क्योंकि नामका जप करनेमे निर्गुण और सगुण दोनोंहीका बोध हो जाता है। दोहा २१ देखिये। जो ब्रह्मको नामरूपरहित कहते है वे भी तो उसको किसी-न-किसी नामहीसे पुकारते और जानते है जैसे ईश्वर, परमात्मा, अलख। याज्ञवल्क्यस्मृति यथा—'परमात्मानमव्यक्त प्रधानपुरुषेश्वरम्। अनायासेन प्राप्नोति कृते तन्नामकीर्तने ॥' अर्थात् भगवन्नाम-कीर्तन करनेसे माया और जीवका स्वामी अव्यक्त परमात्मा अनायास प्राप्त हो जाता है।

२—सुसाखी=सु+साखी=सुन्दर साक्षी (गवाह)। 'सु' विशेषण इससे दिया कि एक गवाह ऐसे होते हैं कि जिधर झुकते हैं उधरहीकी-सी कहते हैं, सत्य-असत्यका विचार नहीं करते, जान बूझकर दूसरेका पक्ष नाश ही कर देते हैं और श्रीरामनामके जपनेसे दोनोकी यथार्थ व्यवस्था जानी जा सकती है। पुन गवाह वादी प्रतिवादी दोनों ओरके झगड़ेको साबित (निरूपण) करते हैं इसी तरह नाम इस बातको साबित करते और इसका यथार्थ बोध भी करा देते है कि जो अगुण है वही सगुण, और जो सगुण है वही अगुण ब्रह्म है। यथा—'सोइ सच्चिदानद घन रामा। अज बिज्ञानरूप बल धामा ॥' से 'प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥ भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥ जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव दिखावइ आपुन होइ न सोइ ॥' उ० ७२ तक। इस तरह दोनोंका मेल करा देते हैं। अत सुसाखी कहा।

नोट—३ 'चतुर दुभाषी' इति। जब एक देशका रहनेवाला दूसरे देशमें जाता है जहाँकी बोली वह नहीं जानता, तब उसे दोनों देशोंकी बोली जाननेवालेकी आवश्यकता पड़ती है, जो इसकी बात उस देशवालोंको और उनकी इसे समझा दे—इन्हींको दुभाषिया कहते हैं। 'नाम' को चतुर दुभाषिया कहा, क्योंकि—(क) देशभाषा समझा देना तो साधारण काम है और निर्गुण-सगुणका दृढ बोध कराना अति कठिन है, यह ऐसी सूक्ष्म बात है कि वेदोंको भी अगम है। (ख) दुभाषिया तो हर देशवालेको उसीकी बोलीमें समझाता है और श्रीनाम महाराज ऐसे चतुर है कि ये एक ही शब्दमें दोनोंका बोध करा देते हैं। यथा, राम=जो सबमे रमे है और सबको अपनेमे रमाये है। यथा—'रमन्ते योगिनो यस्मिन्' यह निर्गुणका बोध हुआ। पुनः राम=जो रघुकुलमे अवतीर्ण हुए सो सगुण है। मानसदीपिकाकार लिखते हैं कि 'राम' ऐसा नाम अक्षरोंके बलसे रूढ़िवृत्तिसे दशरथात्मजका बोध कराता है और योगवृत्तिसे निर्गुणका।

४ 'उभय प्रबोधक' यथा—'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥ रा० पू० ता० १।६।' इति निर्गुणप्रबोधनम्। अर्थात् जिस अनन्त, सत्य, आनन्द और चिद्रूप परब्रह्ममें योगी लोग रमते हैं वही 'राम' शब्दसे कहे जाते हैं। यह निर्गुणका प्रबोध हुआ। पुनः यथा—'चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः। स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः॥१॥ राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा। रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः॥२॥' इति श्रीरामतापिन्यामिति सगुण रामप्रबोधनम्। (रा० पू० ता०)। अर्थात् रघुवंशी नरेश दशरथमहाराजके घरमें पुत्ररूपसे महाव्यापकत्वादि गुणवाले इन चिन्मय, भक्तदुःखहारी श्रीरामनामक ब्रह्मके भक्तानुग्रहार्थ अवतीर्ण होनेपर विद्वानोंने इस लोकमें भी उस परब्रह्मका वही श्रीरामनाम ही इसलिये प्रकट किया कि मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होनेपर भी वह भक्तोंको यथेष्ट देता है और पृथ्वीपर रहते हुए भी अपने दिव्यगुणोंसे दीप्त रहता है॥१॥ जिसके द्वारा राक्षस लोग मरणको प्राप्त हुए। राक्षसका रकार और मरणका मकार मिलाकर सम्पूर्ण राक्षसोंके मारनेवालेका नाम राम प्रसिद्ध हुआ। अथवा, जो शक्ति आदिमें सबसे बढ़कर है, उसका नाम राम है। अथवा अत्यन्त सुन्दर विग्रह होनेसे पृथ्वीपर 'राम' नामसे विख्यात है। (प० रा० कु०)।

५ जिसका समझना-समझाना दोनों ही कठिन है उसका भी प्रबोध करा देते हैं।

६ श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीका मत है कि 'नामका अर्थ अगुणरूपका साक्षी है और अक्षर सगुणरूपका साक्षी है, क्योंकि रूपवालेहीका नाम रक्खे बनता है। इस तरह नाम दोनोंको बताता है और दोनोंसे अलग है। (रा० प०)।

७ मानसमयङ्ककार लिखते हैं, 'जापक रघुबर बीचमें नाम दुभाषी राज। जो जापक अगुणहिं चहे अगुण जापकहिं साज॥' अर्थात् नाम जापक और श्रीरघुनाथजीके बीचमें नाम दुभाषियाका काम करता है, रघुनाथजीके रहस्य जापकको समझाकर और जापककी दीनता प्रभुको सुनाकर उसको प्रभुकी प्राप्ति कराता है। और यदि जापकको निर्गुण ब्रह्मकी चाह हुई तो नाम उस जापकको निर्गुणकी प्राप्ति करा देता है।

८ वैजनाथजी लिखते हैं कि अगुण अन्तर्यामीरूप है, और पररूप साकेतविहारी, चतुर्व्यूह, अवतारादि विभु और अर्चा सगुणरूप हैं। नाम दोनोंका हाल यथार्थ कह सकता है। पुनः, अगुण और सगुण दो देश हैं। दोनोंकी भाषा भिन्न-भिन्न है। अगुण देशकी बोली है, सारासारका विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति (शम, दम, उपराम, तितिक्षा, समाधान और मुमुक्षुता) इत्यादि। सगुणदेशमें श्रवण, कीर्तन आदि नवधा, प्रेमा, परा भक्ति मिलते हैं। वहाँकी बोली, धर्म, शान्ति, सन्तोष, समता, सुशीलता, क्षमा, दया और कोमलता आदि। नाम दोनोंकी बोली समझाकर दोनोंसे मिला देता है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—पहले कह आये हैं कि 'नामरूप गति अकथ' और साथ ही उसे अनुभूतिका विषय भी बता आये हैं। अब यहाँ रूपके दो भेद बताकर दोनोंसे नामका अभिन्न सम्बन्ध एवं नामके द्वारा ही दोनोंके अभेदकी उपलब्धिका निरूपण किया गया। रूपके दो भेद कर दिये, निर्गुण स्वरूप और सगुण स्वरूप। समझ लेना चाहिये कि नाम और रूप 'अकथ' हैं। अतएव नामके द्वारा इन दोनोंका सामञ्जस्य भी अकथ ही है। नामकी साधनासे ही ज्ञान होता है कि वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं। तर्कके द्वारा अभेद प्रतिपादित नहीं हो सकता।

'समुझत सरिस नाम अरु नामी' से प्रारम्भ करके यहाँतक नाम और नामीका परस्पर सम्बन्ध, नामके द्वारा नामीकी उपलब्धि, नामीके दो स्वरूप निर्गुण और सगुण तथा दोनोंकी उपलब्धि एवं एकात्मता नामके द्वारा बतायी गयी। अब इसके पश्चात् नामके साधनका स्पष्टीकरण करेंगे।

नाम-वन्दनाके इस प्रसङ्गमें नामीकी इस चर्चाका क्या प्रयोजन था? नामीके चरितके वर्णनके लिये तो पूरा 'मानस' ही है। यह बात समझ लेनी चाहिये। सामान्यतः साधक नामका जप करता है और उसका ध्यान नामीपर रहता है। इस प्रकार निष्ठामें विपर्यय होनेसे उसे साध्यकी प्राप्तिमें विलम्ब होता है। विलम्ब कई बार अश्रद्धा तथा उपरतिका कारण होता है। अतः इस दोषका यहाँ निराकरण हुआ है।

यहाँ यह समझाया गया है कि नाम स्वयं साधन और साध्य दोनों है। तुम आराध्यका सगुणरूप मानो या निर्गुण, दोनोंका स्वरूप है नाम। नाम स्वयं आराध्य है। वह स्वतः प्राप्य है। अतः साधककी निष्ठा नाममें आराध्यकी होनी चाहिये। नाममें प्रेम और निष्ठा होगी तो नामी तो बिना बुलाये हृदयमें प्रत्यक्ष हो जायगा। उसके लिये इच्छा एवं अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं। नाममें ही सम्पूर्ण अनुराग होना चाहिये। (मानसमणि)।

दो०—रामनाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ[1] जौं[2] चाहसि उँजियार॥ २१॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (मुखरूपी दरवाजेकी) जीभरूपी देहलीपर श्रीरामनाम मणिदीपक रख जो तू भीतर और बाहर भी उजाला चाहता है॥ २१॥

१ बाहरौ—१७२१, १७६२, छ०। बाहरहु—१७०४। बाहेरहुँ—१६६१। २ जौं—१६६१।

* श्रीनंगे परमहंसजी 'देहरी' का अर्थ 'दीयठ' करते हुए यह अर्थ लिखते हैं कि 'जीभरूपी दीयठपर रखकर द्वारपर धरु'। उनका आग्रह है कि 'जब दीपकका रूपक कहा जाता है तब दीयठका रूपक भी कहा जाता है, क्योंकि दीयठ दीपकका आधार है। अतः आधार आधारीरूपसे दीपक दीयठका सम्बन्ध है। प्रमाण 'मनिदीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी बिद्रुम रची।', 'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ।' 'मणिदीप राजहिं··' में 'देहरी' का अर्थ सिवाय दीयठके दूसरा हो ही नहीं सकता, क्योंकि दरवाजेका प्रसङ्ग अभी तीन प्रसङ्गके बाद कहा गया है। यदि कोई महाशय हठवश 'देहली वा चौखटा' अर्थ करेंगे तो अल्पबुद्धिका विचार कहा जायगा।' दोहेके भाव ये हैं कि—(क) जैसे 'दीप-देहरी-संयोग वैसे ही नाम और जीभका संयोग'। नाम जीभपर निरन्तर बना रहे। (ख) द्वारपर धरना मुखसे रटना है, क्योंकि जब द्वार खुला रहेगा, तभी भीतर उजाला होगा। मुख रटनेपर ही खुला रहता है। (ग) जैसे दीयठ दीपकके अतिरिक्त अन्य कार्योंमें नहीं लायी जाती, वैसे ही जिह्वाको अन्य शब्दके उच्चारणमें न लाया जाय।

वै० भू० प० रा० कु० दासजी लिखते हैं कि अमरकोशमें गृहद्वारके अधोभाग (चौखट) को देहरी बताया गया है। (अमरविवेक टीकाने विस्तारसे इसपर टीका की है)। पद्माकर और ब्रजभाषाके ख्यातनामा कवियोंने भी इसी अर्थमें 'देहरी' का प्रयोग किया है। यथा 'एक पग भीतर सु एक देहरी पे धरे, एक कर कञ्ज एक कर है किवार पर।', 'देहरी थरथराइ देहरी चढ़्यो न जाइ देह री। तनक हाथ देह री लवाइ ले।' इत्यादि। 'मनिदीप राजहिं·· देहरी बिद्रुम रची' इस तुकमें मूँगेका चौखट रचा जाना कहा जा चुका, इसीसे इस छन्दके चौथे तुकमें जब फाटकका वर्णन किया गया तब चौखटका वर्णन नहीं है। अतः 'देहरी' का चौखट अर्थ ही प्रामाणिक और समीचीन है। 'दीयठ' अर्थ उपयुक्त नहीं, क्योंकि दीयठका नियम नहीं कि द्वारपर ही रहे। दूसरे, दीयठ तो जहाँ चाहे वहीं ही उठाकर रख सकते हैं और उनसे काम ले सकते हैं, परंतु उपमेयभूत जिह्वाको चाहे जहाँ रखकर काम नहीं ले सकते, वह तो मुखद्वारपर ही रहनेसे काम दे सकेगी। यहाँ शरीर घर, मुख द्वार, जिह्वा द्वारके अधोभागमें स्थित चौखट है, जो इसलिये है कि उसपर रामनामरूपी मणिदीप रक्खा जाय।

नोट—'देहरी' के 'दीयट' अर्थका प्रमाण किसी उपलब्ध कोशमें नहीं है। देहलीका सम्बन्ध घरके भीतर और बाहर दोनोंसे रहता है। देहलीपर दीपक रखनेसे भीतर और बाहर दोनोंमें प्रकाश रहता है। इसी सम्बन्धसे 'देहलीदीपक-न्याय' प्रसिद्ध है। दीपकके साथ ही 'देहरी' का नाम रखनेका उद्देश्य यह हो सकता है कि 'देहली' और दीपका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि 'देहलीदीपकन्याय' ही प्रसिद्ध हो गया और उस न्यायका प्रयोग देहली (चौखट) अर्थात् द्वारके मध्य भागपर दीपक रखनेसे जो दोनों ओर प्रकाश होता है उस भावको दर्शित करनेके लिये होता है। देहलीका अर्थ दीयठ यदि लें तो देहलीदीपकन्यायमें जो द्वार या चौखटका सम्बन्ध आ जाता है उसका द्योतक शब्द फिर यहाँ कोई नहीं मिलता। और ज्ञानदीपकप्रसंगमें भीतर-बाहरका कोई विषय नहीं है, केवल दीपक रखनेका प्रसंग है, इसलिये वहाँ दीयट ही कहा गया देहरी न कहा गया।

नोट—१ श्रीरामनामको 'मणिदीप' कहनेका भाव यह है कि—(क) साधारण दीपकमें तेल बत्ती चुकनेका भय तथा पतङ्गों और हवा इत्यादिका डर रहता है, फिर प्रकाश भी एक-सा नहीं बना रहता। नाम छोड़ अन्य साधन उस दीपकके समान हैं। उनमें धन चुकनेका डर और काम-क्रोधादिकी बाधाका भय रहता है। नाम साधन मणिदीपसम है जिसमें किसी विघ्नका भय नहीं है। विनयपद ६७ और १०५ में भी नामको मणि कहा है। यथा—'रामनाम महा-मनि', 'पायो नाम चारु चितामनि'। भक्ति-चिन्तामणिके लक्षण उ० १२० में कहे गये हैं और श्रीरामभक्तिमें नाम मुख्य है ही (वा० १९)। अतएव वे लक्षण यहाँ भी लगते हैं। लक्षण, यथा—'परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती ॥ मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥ प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥ खल कामादि निकट नहिं जाहीं।' (७ । १२०)। (ख) जैसे मणिदीप बुझता नहीं, वैसे ही श्रीरामनाम जिह्वापर बराबर चलता रहे, जिह्वा कभी नामसे खाली न रहे, यह भी सूचित किया। वा, (ग) दुभाषियारूपसे अगुण सगुणका यथार्थ स्वरूप बताते हैं और मणिरूपसे उनके दर्शन भी करा देते हैं।

नोट—२ द्विवेदीजी—देहलीपर दीपक रखनेसे भीतर और बाहर दोनों ओर उजाला हो जाता है, इसीलिये संस्कृतमें 'देहलीदीप'—न्याय प्रसिद्ध है। और दीपकी शिखापर मोहसे अनेक अधम कीट-पतङ्गादि पतित होकर प्राण दे देते हैं, इस-लिये ये सब दीप हिंसक हैं, परन्तु मणिदीपकी ऐसी शिखा है कि प्रकाश तो इतर दीपोंसे सौगुणा होता है और जीवहिंसा एक भी नहीं। यदि उस प्रकाशमें अधम पतित आदि कीटपतङ्गादिके समान पतित हों तो शरीरनाशके बिना ही सब कल्मष भस्म हो जायँ और उनका रूप भी पवित्र होकर दिव्य हो जाय। और यह दीपशिखा प्रचण्ड विघ्नरूप प्रखर वायुसे भी नहीं बुझ सकती, इसलिये सर्वश्रेष्ठ यह अनुपम मणिदीप है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

मिश्रजी—यह देह मन्दिरके समान है, उसका द्वार मुख है, जिह्वा देहली है और जिह्वा इस तरहसे भी देहली है कि नेत्र और बुद्धि दोनोंके बीचमें है। इसपर नाम रहता है। अर्थात् जैसे डब्बेके भीतर रत्न रहता है, उसी तरह बुद्धि और नेत्र दोनोंके बीच रसनापर रत्नरूपी नाम रहता है। रामनाम जपनेवालेको दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

टिप्पणी—१ गोस्वामीजीने मनसे और वचनसे भजन करनेके फल भिन्न-भिन्न दिखाये हैं। 'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेषें ॥' यह मनसे स्मरण करनेका फल है। और, 'तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर' यह जिह्वासे भजन करनेका फल दिखाया। अर्थात् मनसे भजन करनेसे भगवान् हृदयमें आते हैं। और जिह्वाद्वारा भजन करनेसे भीतर-बाहर देख पड़ता है। भीतर-बाहर उजाला हुआ तो भीतर निर्गुण, बाहर सगुण देख पड़ा। २ प्रथम कह आये कि नाम दोनों ब्रह्मको कहते हैं, अब नामजपसे दोनों ब्रह्मका प्रकट होना कहते हैं। नामके जपसे भीतर प्रकाश होता है तब निर्गुण ब्रह्मका अनुभव होता है, बाहर प्रकाश हो तब सगुण ब्रह्म देख पड़ेगा। [नोट—हृदयमें जो निर्गुण (अव्यक्त) रूप है उसका बोध होना भीतरका उजाला है, सगुणरूपका बोध होना बाहरका उजाला है। इस अर्थका प्रमाण दोहावलीमें है जिसमें यही दोहा देकर फिर ये दो दोहे दिये हैं। 'हियँ निर्गुन नयननि्ह सगुन, रसना राम सुनाम। मनहुँ पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥' (दोहा ७), 'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन तें दूरि। तुलसी सुमिरहु रामको, नाम सजीवन मूरि ॥' (दोहा ८)। 'भीतर-बाहरका उजाला क्या है और वह कैसे मिले?' यही इनमें बताया गया है जो इस अर्थसे मिलता है। दूसरे यहाँ प्रसङ्ग भी सगुण-निर्गुणका है।] ३ 'निर्गुणके बिना जाने सगुणकी उपासना करें तो मोह हो जाता है, जैसे गरुड़जी और भुशुण्डिजीको हुआ। निर्गुणको बुद्धिसे निश्चित करके सगुणमें प्रीति करना चाहिये। (निर्गुण उपदेश, यथा—'माया संभव भ्रम सकल ··।' सगुण उपदेश, यथा—'मोहि भगति प्रिय संतत।') इसी तरह सगुणको बिना जाने निर्गुणकी उपासना करे तो कष्ट ही है जैसा कहा है, 'जे असि भगति जानि परिहरहीं।···' ॥ ४ ॥ निर्गुण-सगुण दोनोंको छोड़कर केवल नाम जपनेमें यह हेतु है कि 'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन तें दूरि। तुलसी सुमिरहु रामको नाम सजीवनमूरि' ॥ ५ ॥ मणिदीप स्वतः सिद्ध है, उपाधिरहित है। इसको द्वारकी देहरीपर रक्खे तो निर्गुण ब्रह्म मकानके भीतर अन्त-करणमें देख पड़ता है जो जीभके भीतर है, और सगुण मकानके बाहर नेत्रोंके आगे देख पड़ता है। नेत्रसे सगुणका दर्शन

होता है सो जीभके बाहर है। इसलिये भीतर-बाहर कहा ॥ ६ ॥ हृदयका मोहान्धकार दूर होना, निर्गुण सगुण देख पड़ना, उजियार होना है।' [कोई-कोई महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि मोहका दूर होना भीतरका उजाला है। यथा—'अचल अविद्यातम मिटि जाई' और इन्द्रियोंका दमन होना ही बाहरका उजाला है। यथा—'खल कामादि निकट नहिं जाहीं' ॥ ७ ॥ 'जौं' का भाव यह है कि बिना रामनामके जपे हृदयमें प्रकाश नहीं हो सकता, निर्गुण सगुण ब्रह्म नहीं देख पड़ते। आगे भक्तोंके द्वारा इसका उदाहरण देते हैं।

शङ्का—आजकलके कुछ मतानुयायी कहते हैं कि 'जीह' का अर्थ यहाँ जीभ नहीं है, तब क्या है?

समाधान—श्रीगोस्वामीजीने 'जीह' शब्द बहुत जगह दिया है उससे निस्सन्देह यह स्पष्ट है कि श्रीगोस्वामीजीने 'जीह' से 'जीभ' ही बताया है। यथा—'जीह हूँ न जपेउँ नाम बकेउँ आउ बाउ मैं' (वि० २६१) यह कौन 'जीह' है जिससे अनाप-शनाप बकना कहते हैं? 'गरैगी जीह जो कहउँ और को हौं' (वि० २२९) 'कान मूँदि कर रद गहि जीहा' (अ० ४८), 'गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा (अ० १६२), 'नोचेहुँ मैं रावन भुज बीहा। जौं न उपारउँ तव दस जीहा' (ल० ३३), 'सकर साखि जो राखि कहउँ कछु तौ जरि जीह गरौ' (वि० २२६) इत्यादिमें जो जीह शब्द आया है वह इस जीभके लिये यदि नहीं है तो वह और कौन 'जीह' है जिसका गलना, दाँतोंसे दबाना, उखाड़ना, जलकर गिरना इत्यादि कहा गया है?

नाम जीह जपि जागहि जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥ १ ॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥ २ ॥

अर्थ—१ योगी जीभसे नामको जपकर जागते हैं (जिनसे) वे ब्रह्माके प्रपञ्चसे वियोग रखते हुए भी पूर्ण विरक्त हैं ॥ १ ॥ उपमारहित ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं जो अकथनीय है, निर्दोष है और जिसका न नाम है न रूप ॥ २ ॥ (प्रोफे० दीनजी)।

अर्थ—२ जो वैराग्यद्वारा ब्रह्माके प्रपञ्चसे (संसारके रमणादिकसे) वियोगी हैं (छोड़े हैं) वे योगी भी जिह्वासे नामको जपकर जागते हैं। और अनिर्वचनीय, अनामय नामरूपरहित ब्रह्मके अनुपम सुखका अनुभव करते हैं। (द्विवेदीजी, मिश्रजी)।

अर्थ—३ योगी जीभसे नामको जपकर जागते हैं (जिससे वे) वैराग्यद्वारा (अर्थात् वैराग्य प्राप्त करके) विधि-प्रपञ्चसे वियोगी उदासीन हो जाते हैं। और अनुपम, अकथ्य, अनामय (रोगरहित, निर्दोष), नामरूपरहित ब्रह्मके सुखका अनुभव करते हैं। (प० रामकुमारजी प्रभृति)।

नोट—१ प्रोफेसर दीनजी कहते हैं कि यहाँ 'वियोगी' शब्द मेरी रायमें योगीका विशेषण है अर्थात् योग साधन-समय भी कुछ वस्तुओं (वल्कल वस्त्र, कमण्डलु आदि) से निर्वाहार्थ योग (सम्बन्ध) रखते हुए भी नामको जिह्वासे जपकर ब्रह्माकृत सृष्टिसे विरति प्राप्त करके चेतनात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे राजा जनक आदि विधिप्रपञ्चसे विशेष योग रखते हुए भी पूर्ण विरक्तवान् थे। विशेषण न माननेसे 'वियोगी' और 'विरति' में पुनरुक्ति दोष हो जायगा।

टिप्पणी—१ पहले कहा कि 'रामनाम मनिदीप धरु।' यह कहकर अब मनका उत्साह बढ़ानेके लिये चार प्रकारके भक्तोंका उदाहरण देते हैं कि देख सबका आधार रामनाम ही है, सभी इसको जपते हैं, तू भी जप। देख, नामजपसे केवल अगुण-सगुणहीका ज्ञान नहीं होता, किन्तु सब पदार्थ प्राप्त होते हैं, सङ्कट दूर होते हैं, सब मनोरथ पूरे होते हैं और वैराग्य होकर ब्रह्मसुखका आनन्द प्राप्त होता है। (प० रामकुमारजी)।

नोट—२ योगी=जो आत्माका परमात्मासे योग किये रहते हैं। यथा—'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी ॥ १। २६।' पुनः, योगदर्शनमें अवस्थाके भेदसे योगी चार प्रकारके कहे गये हैं। (१) प्रथम कल्पिक, जिन्होंने अभी योगाभ्यासका केवल आरम्भ किया हो और जिनका ज्ञान अभी दृढ़ न हुआ हो। (२) मधुभूमिक, जो भूतों और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना चाहते हों। (३) प्रज्ञाज्योति

जिन्होंने इन्द्रियोंको भलीभाँति अपने वश कर लिया हो। और (४) अतिक्रान्तभावनीय, जिन्होंने सब सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों और जिनका केवल चित्त-लय बाकी रह गया हो। (श्र० सा०)।

प० रामकुमारजीके मतसे योगी=ज्ञानी, संयमी। और बैजनाथजी योगीसे 'अष्टाङ्ग योग साधन करनेवाले' ऐसा अर्थ करते हैं। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि यहाँ ज्ञानीको 'योगी' नहीं कहा। ज्ञान, योग, वैराग्य और विज्ञान चारों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यहाँ 'योगी' मुमुक्षु है, मुक्ति पानेकी इच्छासे योगद्वारा ब्रह्मसुखका अनुभव करता है, विधिप्रपञ्चसे वियोगी होकर विरागी होता है। इनमें योगके सब लक्षण यम-नियम आदि घटते हैं। आगे गूढ़ गतिके जाननेवाले ज्ञानी हैं क्योंकि उनको और कोई आकाङ्क्षा नहीं है। श्रीसुदर्शनसिंहजीका मत है कि यहाँ 'योगी' से परोक्ष ज्ञानी अभिप्रेत है। 'वह परोक्ष ज्ञान रखता है और अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) के लिये नाम-जप करता है।' (मानसमणि)। इस प्रसङ्गपर विशेष दोहा २२ में लिखा जायगा, वहाँ देखिये।

पं० रामकुमारजीका तथा प्रायः अन्य टीकाकारोंके मतानुसार यहाँ 'ज्ञानी भक्त' ही योगी है। ज्ञानी भी नाम जपते हैं। यथा—'प्रायो विवेकिन सौम्य वेदान्तार्थविवेचिका। श्रीमतो रामचन्द्रस्य नामसत्साधने रताः।' (बृहद्विष्णुपुराण)। गोस्वामीजीने आगे कहा भी है कि 'रामभगत जग चारि प्रकारा। ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा॥' ज्ञानी विशेष हैं, इसीसे यहाँ ज्ञानीहीका दृष्टान्त प्रथम देते हैं।

नोट—३ 'जागहिं जोगी' का भाव यह है कि यह संसार रात है, इसमें योगी जागते हैं। यथा—'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। २। ९३।' तथा 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। गीता २। ६९।' पुनः, यहाँ मोह रात्रि है। इस प्रकारके व्यवहार स्वप्न हैं जो मोहरूपी रात्रिमें जीव देख रहा है और सत्य मानता है। इस संसार या मोहरात्रिमें योगी नामके बलसे जागते हैं (अर्थात् संसारी सब व्यवहार और वस्तुओंसे योगीको वैराग्य रहता है)। यथा—'सपने होइ भिखारि नृप रंकु नाकपति होइ। जागें लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥ २। ९२।'

प्रश्न—'जागहिं' से पहले सोना पाया जाता है। यहाँ रात, सोना और जागना क्या है? नोट (३) में इनका उत्तर संक्षेपसे दिया जा चुका है। पुनः, देह, स्त्री, पुत्र, धन, धाम, देह सम्बन्धमात्रको अपना मानकर उसमें ममत्व करना, आसक्त होना ही सोते रहना है। यथा—'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी। वि० १४०।', 'मोह निसा सब सोवनिहारा। अ० ९३।', इन सबको नाशवान् और बाधक जानकर इनकी मोह-ममता छूटना, विषयसे वैराग्य होना 'जागना' है। यथा—'अहंकार ममता मद त्यागू।', 'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू।' 'महामोह निसि सूतत जागू। कि० ।५५।', 'जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। अ० ९३।', 'जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।' (वि०), 'विषया परनारि निसा तरुनाइ, सुपाइ परेउ अनुरागहि रे। जम के पहरू दुख रोग वियोग बिलोकतहू न बिरागहि रे॥ ममता बस तैं सब भूलि गयउ, भयो भोर महाभय भागहि रे। जरठाइ दिसा रबिकाल उयउ अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे (क० उ० ३१)।

प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'जागना' योगसिद्धिको भी कहते हैं। यथा—'गोरख जगायो जोग भगति भगायो ·' (क० ६। ८४)। इस तरहसे यह भाव निकलता है कि नामके जपसे योगी जागते हैं, उनका विराग योग जागता है अर्थात् सिद्ध होता है—'राम रामनाम मों विराग जोग जागि है।'

नोट—४ जागना कहकर 'विरति' होना और 'बिधि प्रपंच' से वियोगी होना कहा। क्योंकि ये क्रमशः जागनेके चिह्न हैं। जबतक चित्तमें प्रपञ्च रहता है तबतक ब्रह्मसुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये प्रपञ्चसे वियोग होना कहकर ब्रह्मसुखका अनुभव करना कहा।

५ बिरंचि प्रपंच=ब्रह्माके भवजालसे। प्रपञ्च=सृष्टि, सृष्टिके व्यवहार, जञ्जाल, सांसारिक सुख और व्यवहारोंका फैलाव। यथा—'जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनमु मरनु जहँ लगि जग

काल्हू। संपति बिपति करम अरु काल्हू॥ धरनि धामु धनु पुर परिवारू।' देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥' (अ० ९२)। 'वियोगी' अर्थात् 'प्रपञ्चमें अभाव हो जाता है, उससे मन हट जाता है।=उदासीन। ऐसा ही टीकाकारोंने लिखा है।'

नोट—२२ (१) के जोड़की चौपाई यह है 'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥ २। ९३।'

६ प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'अनूपा, अकथ इत्यादि ब्रह्मके विशेषण हैं। उपमा देकर उसे दिखाना चाहे तो नहीं हो सकता। पुनः उसे कहकर भी नहीं दिखा सकते। क्योंकि 'मन समेत जेहिं जान न बानी'। तो उसका वर्णन कैसे हो सके? 'अनामय' पद देकर सूचित किया कि प्रपञ्चके द्वारा भी दिखाना असम्भव है। जो कहो कि नाम-रूपद्वारा तो दिखा सकोगे तो उसपर कहते हैं कि वह (मायिक) नाम रूप-रहित है। ऐसे ब्रह्मसुखको नाम प्राप्त कर देता है।'

७ 'अकथ अनामय नाम न रूपा' इति। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'ब्रह्मसुख नाम है ही, तब 'अनाम' कैसे हुआ? 'अनाम' कहनेमें अभिप्राय यह है कि ब्रह्मसुख तो यौगिक नाम अथवा लाक्षणिक है, रूढि नहीं है। जैसे दाशरथी, रघुनन्दन आदि यौगिक हैं। रघुसिंह, काकपक्षधर लाक्षणिक हैं। ऐसा ही 'ब्रह्मसुख' को जानिये। ब्रह्मका जो सुख वह ब्रह्मसुख। 'ब्रह्म ऐसा पद छोड़के अनाम हैं, सुखेति वस्तुत नामशून्य, कौन वस्तुका नाम है सुख। अतएव अनाम है। अरूप कैसे है? जैसे देही-देह है। जब देही देहाश्रित है तब देहवत् है और जब देही देहभिन्न है, तब अरूप है। इसी प्रकार जब ब्रह्मसुख ब्रह्माश्रित है तब रूपवान् है और जब ब्रह्मसे भिन्न देखना चाहे तो रञ्चक भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतएव अरूप है।''

जाना[1] चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं[2] तेऊ॥ ३॥

अर्थ—जो गूढ़ गतिको जानना चाहते हैं, वे भी नामको जिह्वासे जपकर जान लेते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'जेऊ' और 'तेऊ' से तात्पर्य उन मनुष्योंसे है जो योगी नहीं है और ब्रह्मसुखको जानना चाहते हैं। (ख) 'गूढ़ गतियाँ' अनेक हैं। आत्मा-परमात्माकी गति, कालकर्मकी गति, ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी गति, तत्त्व, माया और गुणकी गति, इत्यादि। [विज्ञानी अखण्ड ज्ञान कैसे प्राप्त करके उसमें मग्न रहता है? वह सुख कैसा है? श्रीपार्वतीजीने यह कहकर कि 'गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं' (१। ११०), फिर प्रश्न किया है कि 'पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहि बिग्यान मगन मुनि ग्यानी॥' (१। १११)। अथवा, प्रभुके गुप्त रहस्य, जीव और परमात्माके बीचमें जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धि, अहङ्कार और माया—ये आठ आवरण हैं उनका जानना इत्यादि 'गूढ़ गति' में आ जाते हैं।] इसीसे 'गूढ़ गति' का कोई विशेष नाम नहीं दिया। अथवा, 'गूढ़ गति' से 'ब्रह्मसुखका अनुभव' ही सूचित किया। (ग) क्रियाका सम्बन्ध वस्तुके साथ होता है, नामके जपसे हृदयमें प्रकाश होता है। इसीसे गूढ़ गति जानते हैं। (घ) ये जिज्ञासु भक्त हैं। जिज्ञासु ब्रह्मकी जिज्ञासा करता है, इसीसे योगीके पीछे जिज्ञासुका उदाहरण दिया। श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि पहले ज्ञानीको कहकर अब जिज्ञासुको कहते हैं। इसको न परोक्ष ज्ञान है और न अपरोक्ष। इसको दोनोंकी चाह है। ज्ञानीको अपरोक्ष ज्ञानकी चाह थी, परोक्ष ज्ञान उसे था ही। (मानसमणि)।

साधक नाम जपहिं लय[3] लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥ ४॥

---

१ जानी—१७२१, १७६२, छ०, १७०४। जाना—१६६१ ('जानी' को हरताल देकर 'जाना' शुद्ध किया है)। को० रा०।

२ जानहु (शं० ना० चौ०)—१७०४। (परंतु रा० प० में 'जानहिं' है)। १६६१ में 'जानहु' था, हरताल देकर शुद्ध किया गया है।

३. लौ—१७२१, १७६२, छ०। लउ-को० रा०। लय—१६६१, १७०४।

शब्दार्थ—लय=तदाकार वृत्ति। चित्तकी वृत्तियोंका एक ही ओर प्रवृत्त होना। अनिमादिक अणिमा आदि सिद्धियाँ। अणिमाको आदिमें देकर यहाँ प्रधान आठ या अठारह सिद्धियाँ सूचित कीं। भा० ११। १५ में भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है कि आठ सिद्धियाँ प्रधान हैं, जो मुझे प्राप्त होनेपर योगीको मिल जाती हैं। ये मेरी स्वाभाविक सिद्धियाँ हैं। म० सोरठा १ 'जो सुमिरत सिधि होइ' में देखिये।

अर्थ—साधक लौ लगाकर नामको जपते हैं और अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं॥ ४॥

नोट—१ 'साधक' शब्द स्वभावत पारमार्थिक साधन करनेवालेमें रूढ है। वह साधक यहाँ अभिप्रेत नहीं है। उसकी निवृत्तिके लिये यहाँ 'अनिमादिक' शब्द दिया है। 'अनिमादिक' शब्द देकर उसका अर्थार्थित्व सूचित किया है। 'साधक' शब्द देनेका तात्पर्य यह है कि अनिमादिक सिद्धियाँ (जो परम्परासे अर्थप्रद होती हैं) प्राप्त करनेके लिये जप आदि साधन करना पड़ता है। गीतामें जो 'अर्थार्थी' शब्द आया है उसका अर्थ गोस्वामीजीने 'साधक' शब्द देकर खोल दिया है कि संसारी जीवोंसे खुशामदादि करके अर्थप्राप्ति चाहनेवाला यहाँ अभिप्रेत नहीं है, किंतु जो भगवदाराधनद्वारा ही अर्थकी प्राप्ति चाहता है उसीसे यहाँ तात्पर्य है।

२ (क) 'लय लायें' इति। अर्थात् उसीमें लगन, गूढ़ अनुराग, लगाये हुए, एकाग्रमनसे। ब्रह्माण्ड-पुराणमें 'लय' के सम्बन्धमें यह श्लोक मिलता है—'पाठकोटिसमा पूजा पूजाकोटिसमो जप। जपकोटि-समं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लय॥' (अज्ञात)। पूजा करोड़ों पाठके समान है, जप करोड़ पूजाके समान है, ध्यान करोड़ जपके समान है और लय करोड़ ध्यानके समान है। [प० रामकुमारजीके संस्कृत खर्रेमें यह श्लोक है; पर मेरी समझमें यहाँ 'लय' का अर्थ 'लगन' है। यथा—'मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥ ७। ११०।]' (ख) 'लय लायें' अर्थात् अपनी कामना या सिद्धियोंमें मनको लगाये हुए। श्रीव्यासजी, (श्रीरूपकलाजी)। श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि जहाँ भी कामना है वहाँ विधि है। विधिका ठीक पालन होनेपर ही कामनाकी सफलता निर्भर है। यह स्मरण रहे कि कामनाओंके विनाशकी कामना, ब्रह्मात्मैक्यकी इच्छा, स्वरूपके प्रति जिज्ञासा, भगवत्साक्षात्कारकी कामनाको कामना नहीं माना जाता। अतएव योगी तथा जिज्ञासु ये दो निष्काम भक्त हैं। उनके लिये किसी विधिका बन्धन नहीं। उन्हें 'जीह जपि' केवल नामका चाहे जिस अवस्थामें चाहे जैसे जप करनेको कहा गया। पर साधकको तो सिद्धि चाहिये। अतएव उसे विधिका पालन करना पड़ेगा। उसके लिये कहा है कि 'लय लाये' जप करना चाहिये। नामजपमें उसका मन लगा होना चाहिये और जिस सिद्धिकी कामना हो भगवान्‌के वैसे रूपमें चित्त स्थिर होना चाहिये। भा० ११। १५ में विविध सिद्धियोंके लिये ध्यान बताये गये हैं। अत यहाँ 'लय लायें' कहा। (ग) प० रामकुमारजी लिखते हैं कि ये अर्थार्थी भक्त हैं। इनका मन धनकी प्राप्तिमें अत्यन्त लगता है। ये भक्त अणिमादिक सिद्धियोंसे पाकर अर्थको सिद्ध होते हैं। पुन, (घ) किसी-किसीका यह मत है कि यद्यपि मन सिद्धियोंमें लगा है तो भी उनकी प्राप्तिके लिये एक लयसे नाम जपते हैं। (ङ) 'होहिं सिद्ध'। यथा—'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू' (बा० १११)।

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥ ५॥

अर्थ—बड़े ही आर्त (पीड़ित, दुःखित) प्राणी (भी) नाम जपते हैं तो उनके बड़े बुरे संकट (दुःख, आपत्ति) मिट जाते हैं और वे सुखी होते हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'आरत भारी' इति। (क) भाव यह कि बड़े-बड़े कठिन दुःख दूर हो जाते हैं, छोटे मोटेकी बात ही क्या? 'आर्तजनके कुसंकट ही नहीं मिटते, किन्तु वे सुखी भी होते हैं। क्योंकि प्रभु संकट मिटाकर दर्शन भी देते हैं। जैसे गजेन्द्र, प्रह्लाद, द्रौपदी आदिके संकट मिटाये और दर्शन दिया। (ख) मिलता हुआ श्लोक यह है—'आर्ता विषण्णा शिथिलाश्च भीता घोरेषु च व्याधिषु वर्तमाना। संकीर्त्य नारायणशब्दमात्रं ते मुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति॥' (पाण्डवगीता)। अर्थात् आर्त, दीन, ग्लानियुक्त, घोर व्याधियोंमें वर्तमान ऐसे लोग भी भगवन्नाम जपकर दुःखसे मुक्त और सुखी हो जाते हैं। (ग) 'भारी' पद देकर सूचित किया है कि साधारण दुःखमें तो भक्त

प्रभुको सङ्कोचमें नहीं ही डालते, जब ऐसा कोई भारी ही कष्ट आ पड़ता है कि जो प्रभु ही निवारण कर सकते हैं, अन्यथा दूर नहीं हो सकता, तभी प्रभुसे कष्ट दूर करनेके लिये कहते हैं।' इसके उदाहरणमें श्रीद्रौपदीजीहीको लीजिये। जब आप राजसभामें लायी जाने लगीं तब प्रथम तो आपने साड़ी कसकर बाँध ली थी, पुनः, दरबारमें भीष्मपितामहजी, द्रोणाचार्यजी आदि गुरुजनोंका भरोसा था। पुनः पाँचों विख्यात वीर पाण्डव पतियोंका भरोसा जीमें रहा। जब इन सब उपायोंसे निराश हुईं तभी उन्होंने भगवान्‌को कष्टनिवारणार्थ स्मरण किया। ऐसा ही गजेन्द्रका हाल है। इत्यादि।

२ (क) इन पाँच चौपाइयोंमें यह दिखाया है कि योगी (ज्ञानी), जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त—इन चारोंको अपनी मनोकामनाकी सिद्धिके लिये नामका जप आवश्यक है। इसीसे सब प्राप्त हो जाते हैं। (ख) अर्थार्थीके पीछे आर्त भक्तोंको कहा। क्योंकि द्रव्यके पीछे दुःख होता है।

नोट—१ 'जीह जपि' और 'जपहिं' इन शब्दोंका प्रयोग इन चौपाइयोंमें किया गया है। हिन्दी शब्दसागरमें 'जप' शब्दकी व्याख्या यों की गयी है—(१) किसी मन्त्र या वाक्यका बारम्बार धीरे-धीरे पाठ करना। (२) पूजा या सन्ध्या आदिमें मन्त्रका संख्यापूर्वक पाठ करना। पुराणोंमें जप तीन प्रकारका माना गया है। मानस, उपांशु और वाचिक। कोई-कोई उपांशु और मानस जपके बीच जिह्वा-जप नामका एक चौथा जप भी मानते हैं। ऐसे लोगोंका कथन है कि वाचिक जपसे दसगुना फल उपांशुमें, शतगुना फल जिह्वाजपमें और सहस्रगुना फल मानसजपमें होता है। मन-ही-मन मन्त्रका अर्थ मनन करके उसे धीरे धीरे इस प्रकार उच्चारण करना कि जिह्वा और ओठमें गति न हो, 'मानसजप' कहलाता है। जिह्वा और ओठको हिलाकर मन्त्रोंके अर्थका विचार करते हुए इस प्रकार उच्चारण करना कि कुछ सुनायी पड़े 'उपांशु जप' कहलाता है। जिह्वाजप भी उपांशुहीके अन्तर्गत माना जाता है, भेद केवल इतना ही है कि जिह्वाजपमें जिह्वा हिलती है पर ओठोंमें गति नहीं होती और न उच्चारण ही सुनायी पड़ सकता है। वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना 'वाचिक जप' कहलाता है। जप करनेमें मन्त्रकी संख्याका ध्यान रखना पड़ता है, इसलिये जपमें मालाकी भी आवश्यकता होती है।' श्रीमद्‌गोस्वामीजीने 'नामजप' के प्रसङ्गमें 'जपना, रटना, रमना, सुमिरना, कहना, घोखना, जतन करना' इन शब्दोंका प्रायः प्रयोग किया है। 'जप शब्द' बहुत ठौर साधारण ही बारम्बार कहनेके अर्थमें कहा है, और शब्दके साथ ही 'रमना' 'जीह' या अन्य पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग भी जहाँ-तहाँ किया है जिससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि वे 'जप' शब्द प्रायः जिह्वासे बारम्बार उच्चारणहीके लिये लिखते हैं। और कहीं-कहीं प्रसङ्गानुकूल मन लगाकर स्मरण या 'जिह्वाजप' करनेके अर्थमें भी लाते हैं। श्रीगोस्वामी-जीने साधनावस्थामें उच्च स्वरसे ही उच्चारणको विशेष माना है। कारण यह कि इससे सुननेवालेका भी उपकार होता है।

नोट—२ यहाँ कुछ लोग शङ्का करते हैं कि गोस्वामीजीने तो मनके कर्मको ठौर-ठौरपर प्रधान कहा है, यथा—'तुलसी मन से जो बनै बनी बनाई राम' (दोहावली), 'मन रामनाम सों सुभाय अनुरागिहै' (वि० ७०) इत्यादि। फिर यहाँ जिह्वासे जपना क्यों लिखा? इसका कारण महारामायणसे स्पष्ट हो जाता है। वह यह है कि अन्तः-करणसे जपनेसे जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है और जीभसे जपनेसे भक्ति मिलती है जिससे प्रभु शीघ्र 'द्रवते' हैं। पुनः, जापकको दूसरेकी सहायताकी जरूरत नहीं पड़ती। यथा—'अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते। तेषां न जायते भक्तिर्न च राममीपकाः॥ जिह्वयाप्यन्तरेणैव रामनाम जपन्ति ये। तेषां चैव परा भक्तिर्नित्यं रामसमीपकाः॥', 'योगिनो ज्ञानिनो भक्ताः सुकर्मनिरताश्च ये। रामनाम्नि रताः सर्वे रसुक्रीडास्तु एव वै॥' (महारामायण ५२। ७१। ७३) अर्थात् वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा किसी वाणीका अवलम्बन लेकर अन्तर्निष्ठ होकर जो नाम जपते हैं वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, किंतु उनको श्रीरामसामीप्यकारिणी पराभक्ति नहीं मिलती है। ७१। जो अन्तःकरणके अनुरागसहित जिह्वासे नाम जपते हैं उनको नित्य ही भगवत्सान्निध्यकारिणी प्रेमपराभक्ति प्राप्त होती है॥ ७२॥ योगी, ज्ञानी, भक्त तथा कर्म-काण्डी ये चारों श्रीरामनाममें रत रहते हैं। अतएव रामनामसे निष्पन्न रसु क्रीड़ा कहा जाता है। पुनः यहाँतक जो साधन बताया गया वह उनके लिये है जिन्हें कुछ भी कामना है। कामनाओंके रहते मनसे जप हो नहीं सकता, क्योंकि मन बराबर

चञ्चल रहेगा। जब समस्त कामनाहीन हो जाय तभी मानसिक जप स्वाभाविक हो सकेगा। उस अवस्थाके प्रेमी जापकोंकी चर्चा आगे दोहेमें ग्रन्थकारने की है। साधनावस्थावालोंके लिये जिह्वासे ही जप करना बताया है। इसीसे धीरे धीरे वह अवस्था प्राप्त होनेपर तब मनसे जप होगा।

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥ ६॥
चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा॥ ७॥

शब्दार्थ—सुकृती=पुण्यात्मा, भाग्यवान्, धन्य। यथा—'सुकृति पुण्यवान् धन्य इत्यमर ३। १। ३।', अनघ=पापरहित। उदार=श्रेष्ठ। अधारा=आधार, सहारा, अवलम्ब।

अर्थ—जगत्में श्रीरामभक्त चार प्रकारके हैं। चारों पुण्यात्मा, निष्पाप और उदार होते हैं॥ ६॥ चारों चतुर भक्तोंको नामहीका अवलम्ब है। इनमेंसे ज्ञानी भक्त प्रभुको अधिक प्रिय हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीमद्भगवद्गीतामें चार प्रकारके भक्त कहे गये हैं। उसीका अनुसरण करते हुए गोस्वामीजी-ने भी चार प्रकारके भक्तोंका होना कहा। (ख) यहाँ चार प्रकारके भक्त कहे और चार ही विशेषण दिये—सुकृती, अनघ, उदार और चतुर। ये चारों विशेषण प्रत्येक भक्तके हैं। क्योंकि चारोंको और किसी साधन वा देवादिका भरोसा नहीं है। अर्थकी कामना होगी तो भी अपने ही प्रभुसे माँगेंगे, संकटमें भी अपने ही प्रभुका स्मरण करेंगे, क्योंकि ऐसा न करें तो फिर विश्वास ही कहाँ। यथा—'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥ ७। ४६।',

नोट—१ चारों विशेषण प्रत्येक भक्तके हैं। इस प्रकार कि—(जो सब आशा-भरोसा छोड़कर श्रीराम-जीके हो रहे वे ही सुकृती हैं, यथा—'सो सुकृती सुचिमंत सुसंत सुजान सुसीलसिरोमनि स्वै।·· ··सत भाव सदा छल छाँड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीर को ह्वै॥', (क० उ० ३४), 'सकल सुकृतफल राम सनेहू। १। २७।' प० रामकुमारजी लिखते हैं 'सुकृती' भगवान्‌को प्राप्त होते हैं। जो दुष्कृती हैं वे प्रभुका भजन नहीं करते और न प्रभुको प्राप्त होते हैं। यथा—'न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः', (गीता ७। १५)। (२) जो भजन करते हैं वे अनघ हैं क्योंकि जो प्रभुके सम्मुख हो उनका नाम जपने लगे उसमें पाप रह ही नहीं सकता। जिनको भजन भाता ही नहीं, जो भजन नहीं करते और श्रीरामविमुख हैं वे ही 'अघी' हैं, उन्हींके लिये कहा है कि 'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥ ५। ४४।', पुनः स्मरण रहे कि पुण्यसे पाप कटते हैं पर यह नियम नहीं है कि प्रत्येक पुण्यसे प्रत्येक पाप कटे। जो जिसका बाधक होता है उसीको वह काटता है। इस नियमानुसार सुकृती भी पापयुक्त हो सकते हैं, इसीके निराकरणार्थ 'सुकृती' कहकर 'अनघ' कहा। तात्पर्य कि यह पुण्यवान् भी हैं और पापरहित भी। (३) जो उदारका साथ करता है वह भी उदार ही हो जाता है। ये भक्त श्रीरामनामको धारण किये हैं जो उदार हैं, यथा—'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन ··॥ १। १०।', इसलिये भी उदार हुए। आप पवित्र हुए और दूसरोंको नाम-भजनका उपदेश दे पवित्र करते हैं, यह उदारता है। पुनः 'उदार' शब्दका एक अर्थ है 'महान्',, यथा—'उदारो दातृमहतो' इत्यमर ३। ९१। 'महतो महीयान्' ऐसे परमात्माका आश्रय करनेवाला भी तो महान् होना चाहिये। इस भावमें तात्पर्य यह है कि तुच्छ वस्तुओंके लिये भगवान्‌का आश्रय करनेसे कोई-कोई इनको तुच्छ या छोटा कह सकते हैं, अतः कहते हैं कि ये छोटे नहीं हैं बड़े हैं। यद्यपि ज्ञानी और जिज्ञासुकी अपेक्षा ये छोटे हो सकते हैं तथापि अन्य लोगोंकी अपेक्षा बड़े ही हैं, जैसे राजा-महाराजाका टहलुआ हम सब साधारण लोगोंके लिये बड़ा है। पुनः उदार वह है जो अपना कुछ त्याग करे। इन भक्तोंने अपना क्या छोड़ा है? जीवके पास सबसे बड़ा उसका अपनापन है। उसका अहंकार, उसका अपनी शक्तिका भरोसा। नामका आश्रय लेनेवाला अपनी शक्तिके अहंकारको छोड़कर भगवान्‌के द्वारा अपना लौकिक या पारलौकिक उद्देश्य पूर्ण करनेमें लगा है। उसने अपने अहंकारको शिथिल करनेकी महती

उदारता दिखलायी है अतः वह उदार कहा गया। (श्रीचक्रजी)। पुनः, 'उदार' का एक अर्थ 'सरल' भी है, यथा—'दक्षिणे सरलोदारौ। अमर ३। १। ८।' इस अर्थके अनुसार चारों रामभक्तोंको 'सरल' अर्थात् सीधा-सादा जनाया। यह गुण भक्तों-सन्तोंमें श्रीरामजीने आवश्यक बताया है, यथा—'सरल सुभाव सबहि सन प्रीती। ३। ४६। २।', 'सीतलता सरलता मयत्री। द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री॥ ७। ३८। ६।', 'सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथालाभ संतोष सदाई॥ ७। ४६। २।' 'नवम सरल सब सन छलहीना। ३। ३६। ५।' इत्यादि। (४) जो श्रीरामजीका भजन करते हैं, वे ही चतुर हैं। यथा—'परिहरि सकल भरोस रामहिं भजहिं ते चतुर नर। आ० ६।' अतएव इन सबको चतुर कहा। यहाँ और गीतामें आर्त और अर्थार्थीको भी, सुकृती उदार और अनघ कहनेसे भगवान्की उदारता, दयालुता आदि देख पड़ती है कि किसी प्रकारसे भी जो उनके सम्मुख होता है, स्वार्थके लिये ही क्यों न हो तो भी वे उसको सुकृती आदि मान लेते हैं। यथा—'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥ गीता ९। ३०।', आर्त आदि सकाम भक्तोंको भी सुकृती, अनघ आदि कहनेका यह भी भाव हो सकता है कि कदाचित् कोई कहे कि साधारण कामनाओंके लिये उस 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' को कष्ट देना यह उचित नहीं जँचता, तो उसके निराकरणार्थ उनको 'सुकृती' कहा। पुनः, यदि कोई कहे कि 'पापीने यदि किसी कामनासे नाम जपा तो उसका फल 'कामनाकी पूर्ति' उसको मिल गया तब पाप तो उसका बना ही रहा। तब अनघ कैसे कहा?' तो इसका समाधान यह है कि जैसे कोई किसी कार्यके निमित्त अग्नि जलावे, तो उससे वह कार्य (रसोई आदि) तो होता ही है पर साथ-ही-साथ शीतका भी निवारण हो जाता है, उसी प्रकार श्रीरामनामके जपसे कामनाकी सिद्धिके साथ-साथ जापकके पाप भी नष्ट हो जाते हैं। अतः वह अनघ कहा गया।

टिप्पणी—२ ज्ञानीको विशेष प्रिय कहा। कारण कि ये एकरस रहते हैं, और भक्त प्रयोजन मात्रके लिये बड़ी प्रीति करते हैं। प्रयोजन सिद्ध होनेपर वैसी प्रीति फिर बनी नहीं रहती। ज्ञानी परमार्थमें स्थित हैं। अन्य तीन भक्त स्वार्थसहित भजन करते हैं। स्वार्थसे परमार्थ विशेष है ही। इसीलिये ज्ञानीको श्रेष्ठ कहा। 'विशेष' कहकर जनाया कि अन्य भी प्रिय हैं, पर ये उनसे अधिक प्रिय हैं।

नोट—२ मिलते हुए श्लोक ये हैं—'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः। गीता ७। १५। चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥'' अर्थात् मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभावको प्राप्त मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्मवाले मूढ मुझे नहीं भजते हैं॥ १५॥ चार प्रकारके सुकृती पुरुष मुझे भजते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी॥ १६॥ इनमेंसे मुझमें नित्य लगा हुआ और मुझमें ही अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त विशेष उत्तम है, क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अति प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय है॥ १७॥ यद्यपि ये सभी उदार हैं तथापि ज्ञानी तो मेरी आत्मा (स्वरूप) ही है। ऐसा मेरा मत है क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गति स्वरूप मुझ सर्वोत्तम प्राप्य वस्तुमें ही भली प्रकार स्थित है॥ १८॥ गीताके उपर्युक्त अठारहवें श्लोकमें ज्ञानीको भगवान्ने अपनी आत्मा कहा है और गोस्वामीजीने 'आत्मा' के बदले 'विशेष प्रिय' कहा है, इस तरह उन्होंने 'आत्मा' का भाव स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानी भक्त भगवान्को वैसा ही विशेष प्रिय है जैसे मनुष्योंको आत्मा प्रिय है। पुनः 'आत्मा' शब्द यहाँ न देकर उन्होंने अपना सिद्धान्त भी बता दिया है। 'आत्मा' शब्दसे अद्वैतमतका प्रतिपादन किया जा सकता है पर 'विशेष पियारा' शब्दसे अद्वैतमत नहीं रह जाता।

३—यहाँ गोस्वामीजीने चार प्रकारके भक्तोंमेंसे एकको ज्ञानी संज्ञा दी है। इससे यह स्वयं सिद्ध है कि जो रूखे ज्ञानी हैं और रामभक्त नहीं हैं उनका यहाँ कथन नहीं है। भक्तिहीन ज्ञानी अन्य सब साधारण प्राणियोंके समान प्रभुको

प्रिय है, भक्त सबसे अधिक प्रिय है। यथा—"भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई॥ भगतिवत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥ उ० ८६॥"

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥ ८॥

अर्थ—चारों युगों और चारों वेदोंमें 'नाम' का प्रभाव (प्रसिद्ध) है और खासकर कलियुगमें तो दूसरा उपाय है ही नहीं॥ ८॥

नोट—१ "चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ' इति। (क) सतयुग, त्रेता, द्वापर, तीन युगोंके प्रमाण क्रमसे ये हैं—"नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू। १। २६।', 'ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ। १। २६।', "जो सुनि सुमिरि भाग भाजन भइ सुकृतसील भील भामो।" (विनय २२८), "आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते। ७। १३०।' 'स्वपच सबर खस जमन जड पावँर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात। २। १९४।' कलियुगके उदाहरण तो भक्तमालमें भरे पड़े हैं। गोस्वामीजी और चाण्डालकी कथा प्रसिद्ध ही है। (ख) 'चहुँ श्रुति' इति। श्रुतियोंमें नामके प्रभावके प्रमाण ये हैं—(१) "मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरिनाममनामहे। विप्रासो जातवेदस।' (ऋग्वेद ५। ८। ३५)। (२) "स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति त होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्सम्वादयिष्ठा नाम्न्यस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नाम्न्यस्यात्मा भवतीत्यधिदैवतमथाध्यात्मम्।" (ऋग्वेदान्तर्गत कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ४। ९)। (३) "न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः।" (यजुर्वेद अ० ३२ म० ३)। (४) 'सहोवाच श्रीरामः कैवल्यमुक्तिरेकैव पारमार्थिकरूपिणी। दुराचाररतो वापि मन्नामभजनात्कपे॥ १८॥ सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्।" (यजुर्वेदान्तर्गत मुक्तिकोपनिषद् अ० १)। (५) "किमित्ते विष्णो परिचक्षि नाम प्रयद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मावर्पो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ॥" (सामवेद अ० १७ खंड १)। (६) 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तं होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्॥ ३॥ नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति॥ ४॥ स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ५॥" (छान्दोग्योपनिषद् अ० ७ खण्ड १)। (७) 'नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरोषसः। यदजः प्रथमं सम्बभूव सहतत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्॥ ३१॥" (अथर्ववेदसंहिता काण्ड १० सूक्त ७)। (८) "श्रीराम उवाच। अथ पञ्च दण्डकानि पितृघ्नो मातृघ्नो ब्रह्मघ्नो गुरुहनन कोटियतिघ्नोऽनेककृतपापो यो मम षण्णवतिकोटिनामानि जपति स तेभ्यः पापेभ्यः प्रमुच्यते। स्वयमेव सच्चिदानन्दस्वरूपो भवेन्न किम।' (अथर्ववेदान्तर्गत श्रीरामरहस्योपनिषद् अ० १)। श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाशमें कुछ प्रमाण ये और हैं—(९) अथर्वणोपनिषद् यथा—"जपात्तेनैव देवतादर्शनं करोति कलौ नान्येषां भवति॥ यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं वदेत्तेन सह संवसेत्तेन सह संभुञ्जीयात्॥' (१०) ऋग्वेदे यथा—"ॐ परब्रह्म ज्योतिर्मयं नाम उपास्य मुमुक्षुभिः।" (११) यजुर्वेद यथा—"रामनामजपादेव मुक्तिर्भवति।" (१२) सामवेदे यथा—"ॐ मित्येकाक्षरं यस्मिन्प्रतिष्ठितं तन्नामध्येयं संसृतिपारमिच्छोः।'

२—'कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ' इति। यथा—"कलौ केवलं राजते रामनाम', "हरेर्नामैव नामैव मम नामैव जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥" (पाण्डवगीता ५३) 'सोइ भवतरु कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं। ७। १०३'। १। २७ (७) भी देखिये।

यदि 'कलि बिसेषि' का अर्थ यह लें कि 'कलिमें नामका विशेष प्रभाव है' तो भाव यह होगा कि इस युगमें ध्यान, यज्ञ और पूजा है ही नहीं, कारण कि मन स्थिर नहीं रहता, वासनाओंसे सदा चञ्चल रहता है,

बनियाँ-व्यापारियोंके पाप और अधर्मकी कमाईसे यज्ञ होते हैं, वनस्पति और चर्बी गोघृतकी जगह होममें पड़ते हैं, पूजनके लिये चमड़े और रक्तसे भीगी हुई केसर मिलती है, शक्कर, घृत आदि सभी अपवित्र मिलते हैं। नाम छोड़ दूसरा उपाय है ही नहीं, मन लगे या न लगे, जीभपर नाम चलता रहे, बस इसीसे सब कुछ हो जायगा। यह विशेषता है। उत्तरकाण्डमें जो कहा है कि 'कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग। ७। १०२।'' कलियुग जोग न जग्य न ज्ञाना।'' नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।'' वही भाव यहाँ 'कलि बिसेषि' का है। अर्थात् और युगोंमें अन्य साधनोंके साथ नाम-जपसे जो फल होता था वह इस युगमें केवल नाम जपसे ही प्राप्त हो जाता है, यह विशेषता है। 'नहिं आन उपाऊ' का भाव यह है कि इस युगकी परिस्थिति जैसी है उनमें अन्य साधन हो नहीं सकते।

दो०—सकल कामनाहीन जे रामभगति रस लीन।
नामसुप्रेम[1] पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥ २२॥

शब्दार्थ—लीन=तन्मय, मग्न, डूबा हुआ, अनुरक्त। 'सुप्रेम'=सुष्ठु, सुन्दर प्रेम। पियूष, (पीयूष)=अमृत। 'ह्रद'=कुंड।=अगाध जल, यथा—'तत्रागाधजलो ह्रदः' (अमरे १। १०। २५)

अर्थ—जो सब कामनाओंसे रहित हैं, श्रीरामभक्तिरसमें लीन हैं, वे भी नामके सुन्दर प्रेमरूपी अमृतके अगाध कुण्डमें अपने मनको मछली बनाये हुए हैं॥ २२॥

नोट—१ 'कामनाहीन' कहकर सूचित किया कि ऊपर कहे हुए चारों प्रकारके भक्त कामना-युक्त हैं। यह भक्त सकल-कामना-हीन है, इसे कुछ भी चाह नहीं, यह सहज ही स्नेही है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता ७। १६ में जो यह श्लोक है 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥' इसमें चार भक्त स्पष्ट कहे हैं। श्रीमधुसूदनस्वामीजीके भाष्यके अनुसार इसमें 'च' अक्षर जो अन्तमें दिया है वह पाँचवें भक्तका बोधक है। जैसे मधुसूदनी टीकाके अनुसार श्रीगीताजीमें चार भक्त स्पष्ट कहे गये और एक गुप्तरीतिसे, वैसे ही पूज्यपाद गोस्वामीजीने चारको स्पष्ट कहा और एकको गुप्त रीतिसे, इससे हमारे पूज्य कविकी चतुरता झलक रही है।

मधुसूदनी टीका देखनेपर मालूम हुआ कि 'च' शब्दसे उन सबोंका भी ग्रहण 'ज्ञानी'—शब्दमें कर लिया गया, जो इन चारोंमें न होनेपर भी भगवान्के निष्काम भक्त हैं, जैसे कि श्रीशबरीजी, गृध्रराज श्रीजटायु, श्रीनिषादराज और गोपिकाएँ आदि। इस तरहसे 'सकल कामना हीन जे'' ये 'च' से ज्ञानियोंमें ही गिने जायँगे। यथा—'तदेते त्रय सकामा व्याख्याताः। निष्कामश्चतुर्थ इदानीमुच्यते। ज्ञानी च। ज्ञानं भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारस्तेन नित्ययुक्तो ज्ञानी। तीर्णमायो निवृत्तसर्वकाम। चकारो यस्य कस्यापि निष्कामप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः॥' अर्थात् प्रथम तीन सकाम कहे गये, अब निष्काम कहा जाता है। भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारको ज्ञान कहते हैं, उस ज्ञानसे जो नित्ययुक्त है वही ज्ञानी है। वह मायासे उत्तीर्ण हो चुका है और उसकी सब कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हैं। यहाँपर 'ज्ञानी च' में जो 'च' शब्द है वह जिस किसी निष्कामप्रेमी भक्तका ज्ञानियोंमें अन्तर्भाव करनेके लिये है। इस प्रकार भक्तोंकी संख्या गीताके भगवद्वाक्यानुसार चार ही रह जाती है और 'राम भगत जग चारि प्रकारा' तथा 'चतुर्विधा भजन्ते मां' से संगति भी हो जाती है। करुणासिंधुजीका यही मत है कि इस दोहेमें भी 'ज्ञानी भक्त' का वर्णन है।

२—श्रीरामभक्तिकी कामना कामना नहीं मानी जाती। इसके अनुसार ज्ञानी भक्त भी निष्काम भक्त हैं। परंतु इस दोहेमें उन ज्ञानी भक्तोंको कहा गया है जिनमें पूर्ण परिपक्व भक्ति है, जिन्हें भक्तिकी वृद्धि या परिपक्वताके लिये साधन नहीं करना है। ये तो श्रीरामभक्तिरसमें सदा लीन ही हैं। श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि जब कामनाएँ दूर हो जाती

---

१. प्रेम पीयूष—१७२१, १७६२, छ०, १७०४। प्रेम पीयूष—को० रा०। सुप्रेम पीयूष—१६६१। (इसमें 'प्रेम-पीयूष' था, चिह्न देकर 'सु' बढ़ाया गया है।)

है और वह श्रीरामके प्रेमरसमें डूबता है तो नामके अमृतरसका उसे स्वाद मिलता है। कामना न होनेसे उसे कहीं जाना नहीं है। फलतः वह उस नामके सरोवरमें मीन बनकर निवास करता है। उस समय मनसे स्वतः जप होता रहता है। मानसिक जपकी इस सहजावस्थाका इस दोहेमें निदर्शन किया गया है। इसी सहज जपमें नामकी साधना समाप्त होती है। अतएव नामकी साधनरूपताका वर्णन भी यहीं समाप्त हुआ है।

'नाम जीह जपि जागहिं जोगी।···रस लीन' इति।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि—"(१) ब्रह्मसुखके ज्ञानमात्रसे आनन्द होता है, क्योंकि वह स्थूल वस्तु नहीं है। (२) वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहोंसे भिन्न अणु-परिमाण हैं।·· (३) वह प्राकृत विकार क्षीण-पीनादि आमयों (रोगों) से रहित है। (४) इस आत्मसुखके समान दूसरा प्राकृत सुख नहीं है।"

यहाँपर (१) और (२) का विषय किसीके मतका अनुवाद या पूर्वपक्षके रूपमें ही कहा गया जान पड़ता है, क्योंकि सुख स्वप्रकाश है। जैसे रातमें पदार्थोंको देखनेके लिये दीपककी आवश्यकता पड़ती है, परंतु दीपकको देखनेके लिये अन्य दीपककी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ज्ञान और सुखका अनुभव करनेके लिये अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं, वे स्वप्रकाश होनेसे स्वयं अनुभवमें आते हैं। जो ब्रह्मको सुखस्वरूप ही मानते हैं (जैसे कि अद्वैती आदि) उनके मतानुसार ब्रह्म अप्रमेय होनेसे उसको अणु-परिमाण नहीं कहा जा सकता। जो सुखको गुण मानते हैं (जैसे कि नैयायिक आदि) उनके मतसे भी उसको अणु-परिमाण नहीं कह सकते, क्योंकि परिमाण गुण है और गुण गुणका आश्रित नहीं होता। जो सुखको द्रव्य मानते हैं, उनके मतमें जीव अणु होनेसे उसके सुखको अणु परिमाण कह सकते हैं। परंतु जिस परब्रह्मको आनन्दसिंधु सुखराशि कहा जाता है, उस ब्रह्मसुखको अणुपरिमाण कैसे कहा जायगा?—अतः उपर्युक्त कथन (१) और (२) को परमतका अनुवाद या पूर्वपक्ष कहा गया। नम्बर (३) में धर्मी और धर्ममें अभेद मानकर ही प्रयोग किया गया है। अर्थात् क्षीणसे क्षीणत्व तथा पीनसे पीनत्व ग्रहण करनेसे कोई आपत्ति नहीं आती। नं० (४) में यद्यपि आत्मा शब्दसे प्रायः जीवात्माका ही ग्रहण होता है, पर यहाँ आत्मसुखसे परमात्मसुख ही लक्षित है, क्योंकि यहाँ ब्रह्मसुखका ही प्रतिपादन हो रहा है।

पं० श्रीकान्तशरणजीके मतानुसार यहाँ 'योगी' शब्दसे गीतोक्त चार प्रकारके भक्तोंसे अलग 'निर्गुणमतरूपी रूक्ष ज्ञान' वाले तथा 'निष्कामकर्मयोग' वाले अथवा जिज्ञासु अभिप्रेत है। उनका मत है कि यहाँ जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त भक्तोंका वर्णन करके तब ज्ञानीको अति प्रिय कहा और तत्पश्चात् 'सकल कामना हीन जे' से उस ज्ञानीका वर्णन किया। इत्यादि।

परंतु इसमें यह शङ्का उठती है कि, "जो नाम-जपद्वारा वैराग्यपूर्वक ब्रह्मसुखका अनुभव करता है, उसको 'रूक्ष ज्ञानवाले कर्मयोगी' कहना उचित होगा?" तथा, "इनको यथा—कथञ्चित् जिज्ञासुका अङ्ग माननेसे जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त इन तीनका ही कथन करके 'राम भगत जग चारि प्रकारा' कैसे कह सकेंगे? चौथेका उल्लेख ही नहीं हुआ तब 'चारि प्रकारा' कहना कैसे सगत होगा?" (क्योंकि 'जगमें चार प्रकारके भक्त हैं ऐसा कहते ही प्रश्न उठता है कि 'चौथा कौन है?' और फिर 'ज्ञानी विशेष प्रिय है' इसको सुनते ही शङ्का होगी कि यह ज्ञानी कौन है और क्यों प्रिय है?)

आगे 'सकल कामना हीन जे' के 'जे' में 'ज्ञानी भक्तका सकेत' उन्होंने माना है। परंतु ऐसा मानना कहाँतक ठीक होगा? क्योंकि बीचमें "चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ" यह चौपाई पड़ी है, तथा 'सकल कामना हीन जे' इस दोहेमें 'ज्ञानी' का सकेत करनेवाला कोई शब्द नहीं है। हाँ, निष्काम प्रेमी भक्त आ सकता है।

इसकी अपेक्षा प्रसगकी सगति इस प्रकार लगाना ठीक होगा कि यहाँ नामका महत्त्व प्रतिपादन कविका मुख्य उद्देश्य है। साथ-ही-साथ सबको नामजपका उत्साह दिलाना है, नाममें प्रवृत्त करना है।

नामस्मरण निष्काम प्रेमी भक्तोंका तो प्राणाधार ही है, सर्वस्व है, जीवन है, परंतु अर्थार्थी और आर्त्त तथा जिज्ञासु और ज्ञानी, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंवाले, सभी लोग नामके जपसे अपना-अपना

साध्य प्राप्त करते हैं। इनमेंसे प्रथम तीन तो सकाम होनेसे अपने स्वार्थ साधनके लिये नामका जप करेंगे, इसमें कोई विशेष बात नहीं है। परंतु वैराग्यपूर्वक प्रपंचको छोड़कर नामरूपातीत उस अनिर्वचनीय ब्रह्मसुखमें निमग्न रहनेवाले ज्ञानी भी नामजपद्वारा ही उस ब्रह्मसुखका अनुभव करते आये हैं, इससे बढ़कर नामका महत्त्व क्या कहा जा सकता है?

इस प्रसंगमें शाब्दिक प्रयोग भी बड़ी चतुरतासे किया गया है। यहाँ 'योगी' शब्दसे ज्ञानयोगीका ग्रहण है, क्योंकि नाम-जप-द्वारा नामरूपातीत अकथनीय ब्रह्मसुखका अनुभव लेना यहाँ कहा गया है और यह अनुभव ज्ञानी भक्तके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता।—'योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्।' श्रीश्रीधरस्वामीजीने 'योगिनां' का अर्थ ज्ञानिनां किया है। दोहा २६ (१-२) देखिये। अतएव यहाँ ज्ञानी भक्तका ही वर्णन है।

यहाँ 'ज्ञानी' शब्द न देकर 'योगी' शब्द देनेमें अभिप्राय यह है 'योगी' से 'ज्ञानयोगी और भक्तयोगी या प्रेमयोगी' दोनोंका ग्रहण हो सके। प्रारम्भमें 'ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं' यह ज्ञानी भक्तका विशेष लक्षण दिया और बीचमें 'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा' कहकर गीताके 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इन शब्दोंका अपना अभिमत अर्थ सूचित किया और अन्तमें 'सकल कामनाहीन जे' से प्रेमयोगीके विशेष लक्षण देकर अत्यन्त प्रिय तथा इसी प्रसंगमें इनका भी ग्रहण दिखाया। श्री प० रामकुमारजीने जो लिखा है 'एकको गुन कहा' उसका तात्पर्य सम्भवतः यही है।

'योगी' के पश्चात् जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्तका वर्णन करके इन चारोंको सुकृती, अनघ और उदार आदि कहकर सर्वप्रथम कहे हुए ज्ञानीको विशेष प्रिय कहा। श्रीरामजीके नामका ही आधार लिया है, अन्य साधन या अन्य देवोंके नामका आश्रय दुःख मिटाने आदिमें भी नहीं लिया, इसीसे चारोंको चतुर कहा। 'चहूँ' शब्दसे पूर्व ही चारों भक्तोंका कथन इंगित कर दिया गया। 'नाम अधारा' यह 'चतुर' कहनेका कारण बताया। ज्ञानी होकर भी भक्ति करना यह ज्ञानियोंकी चतुरता है। जो भक्ति नहीं करते उनको गिरनेका भय रहता है। यथा—'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥ ७। १३।', 'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। ३। ४३।' यही ज्ञानियोंकी चतुरता है। चारों भक्तोंको कहकर आगे प्रमाणन करते हैं—'चहूँ जुग तिहुँ बिसोका।' 'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।' २१ (८) और आगेके 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।' २३ (१) के बीचवाले दोहे और आठ चौपाइयाँ प्रसंगसे कुछ अलग सी जान पड़ती हैं। परंतु विचार करनेसे ज्ञात होता है कि असङ्गति नहीं है, केवल अन्य विषयका साथ-ही-साथ प्रतिपादन होनेसे वह असंगत सा जान पड़ता है। पहले नामको अगुन सगुनके बीचमें साक्षीरूपसे कहा, फिर यह कहा कि भीतर सूक्ष्म सच्चिदानन्दरूपसे तथा बाहर दिव्यरूपसे अथवा सगुण विग्रहरूपसे यदि दर्शन करना चाहते हो तो नाम जपो। दृष्टान्तरूपमें ज्ञानी भक्तका निर्देश किया, क्योंकि ज्ञानी भक्त ही अव्यक्त और व्यक्त स्वरूपका अनुभव करनेवाला होता है। साथ ही अन्य भक्तोंका निर्देश करके चारोंको चतुर और उनमेंसे ज्ञानीको विशेष प्रिय कहा। उसका कारण दोहेमें बताकर इस विषयको यहाँ समाप्त किया और पूर्वोक्त अगुण-सगुणके प्रसङ्गकी जो बातें रह गयी थीं उनका कहना प्रारम्भ किया।

अथवा इन सब प्रसङ्गोंकी पृथक्-पृथक् संगति कर सकते हैं। इस प्रकार कि—'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। २१। ८।' पर एक प्रसंग समाप्त हो गया। 'रामनाम मनिदीप धरु···' यह दूसरा प्रसङ्ग है। फिर 'नाम जीह जपि जागहिं जोगी' से लेकर 'कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ' तक तीसरा प्रसङ्ग है। इस प्रसङ्गमें गीतामेंके स्पष्टरूपसे चार भक्तोंकी चर्चा करके तब चौथे प्रसंगमें 'सकल कामनाहीन···' से प्रेमी भक्तका भी नाममें ही निमग्न रहना कहा।

नोट—३ (क) यहाँ 'श्रीरामभक्तिको 'रस' और 'नाम सुप्रेम' को 'अमृतकुण्ड' कहकर श्रीरामभक्तिमें नामप्रेमको सर्वोपरि बताया। जलको और गुड़, शक्कर, ओले, सतरे आदिके रसको भी रस ही कहते हैं। इसमें स्वाद तो होता है पर संतोष नहीं होता। अमृतमें स्वाद और संतोष दोनों हैं। इसे पीकर फिर किसी पदार्थके खाने पीनेकी इच्छा ही नहीं रह जाती। २० (७) देखिये। अमृतको किसी रसके समान नहीं कह सकते। यथा—'राम मनुज कस रे

सठ बगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा॥ पसु सुर धेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा॥ लं० २६।', वैसे ही रामभक्ति रसके समान है और नामप्रेम अमृतकुण्डके। (ख) 'पियूष हृद' कहनेका भाव यह है कि अगाध जलके कुण्डमें मीन सुखी तो रहती है पर कभी-न कभी मर ही जाती हैं और नाम-जापक जन सदा अमर हैं। अतएव उनके मन-मीनके लिये अमृतकुण्ड कहा। (ग) प० शिवलाल पाठकजी इस दोहेका भाव यों कहते हैं—'रामरूप रस भक्तिको रघुवर को रस नाम। नाम प्रेम रस नाम को तहँ मन रमु नि काम॥' जिसका भाव यह है कि 'भक्तिका फल रामरूपकी प्राप्ति है और रूपसे नामकी। अतः नाम सबसे श्रेष्ठ है। उस प्रेममें कामनारहित मग्न रहना कर्तव्य है। ध्वनि यह है कि जो भक्तिवश रामपदमें लीन हैं उनको भी नाम ही आधार है।' (घ) श्री प० शिवलाल पाठकजी 'पीयूष' का अर्थ जल करते हैं क्योंकि मछलीका जीवन जल ही प्रायः सुननेमें आता है न कि अमृत। उनके मतानुसार नाम-प्रेम जल है, जिह्वा कुण्ड है, यथा—'नाम प्रेम जल जीह हृद चारु भक्तिरस राम। तजि जड़ता गुनगाथा मद्य मन सफरी करु धाम॥' (अभिप्रायदीपक)। मा० मा० कार इसका भाव यह लिखते हैं कि 'जैसे मीन जलमें रहता है परन्तु केवल जल उसका जीवन है। चारा तो और वस्तु है, वैसे ही मन-मछली रसना हृदमें नामप्रेम-जलमें मग्न रहती है और सर्व सांसारिक आकाङ्क्षारहित होकर रामभक्तिरस-चारामें लीन हो रही है।'

४—चार भक्तोंको तो 'उदार' कहा था और इस भक्तको यह विशेषण न दिया इसका कारण यह जान पड़ता है कि इनकी विशेष उत्कृष्टता और अधिक प्रिय होना इनमें अधिक श्रेष्ठ गुण दिखाकर ही सूचित कर दिया है। ज्ञानीको ब्रह्मसुख-भोगकी चाह है और प्रेमी भक्त (जिनका दोहेमें वर्णन है वे) तो भरतजी-सरीखे स्वार्थ-परमार्थ सभीपर लात मारे हुए हैं। इन्हें न तो ब्रह्मसुखकी चाह है न सिद्धियोंकी, न अर्थकी कामना और न आर्ति मिटनेकी वासना। अर्थात् ये स्वार्थ-परमार्थ दोनोंसे रहित होकर भक्ति करते हैं, नाम जपते हैं। 'स्वारथ परमारथ रहित सीताराम सनेह। तुलसी सो फल चारि को॰॥' (दोहावली) पुनः 'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह। बसहु निरंतर तासु उर सो राउर निज गेह॥ अ० १३१।' यह प्रेमीकी दशा है। इनके प्रियत्वके सम्बन्धमें श्रीमुखवचनामृत ही प्रमाण यथेष्ट है, यथा, 'ज्ञानिहु ते अति प्रिय बिज्ञानी॥ तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥ उ० ८६।' 'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ आ० ४३।'

५—अब यह प्रश्न उठाया जाता है कि 'ब्रह्मसुख तो अति दुर्लभ और अलभ्य वस्तु है फिर प्रेमी भक्त उसे क्यों नहीं भोगना चाहते ?' इसका कारण यह है कि ज्ञानीके ब्रह्मसुखको प्रेमी तुच्छ समझते हैं, उसकी ओर देखते भी नहीं। यथा—'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महुँ संतत मगन॥ सोइ सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥ उ० ८८।' पुनः, यथा—'सम गुनग्राम नामरत गत ममता मद मोह। ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥ उ० ४६।'

६—कामनाहीन होनेपर भी प्रभुके नाम और भक्तिमें लीन रहते हैं, यह इसलिये कि फिर और कामनाएँ न उठने पावें। (प० रा० कु०)। श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि श्रीरामभक्तिरसमें निमग्नता प्राप्त होनेपर भी नामकी आवश्यकता और उसके विस्मरणमें मछलीके समान व्याकुलता होनेका समाधान 'नाम सुप्रेम पियूष हृद' शब्दोंमें कविने स्पष्ट कर दिया है। नाममें यदि सुप्रेम (प्रगाढ़ प्रेम) हो तो वह अमृतकुण्ड हो जाता है, श्रीराम भक्तिरसलीन भक्तोंका जब नाममें प्रगाढ़ प्रेम हो गया तो उनको इतना आनन्द आता है कि नाम उनके लिये अमृतकुण्ड हो जाता है। अमृतका गुण है कि उससे तृप्ति कभी नहीं होती। उत्तरोत्तर सेवनेच्छा बढ़ती ही जाती है और ऐसी दशामें उससे पृथक् होनेमें तीव्र व्याकुलता होती है। विदित हो कि भगवत्सम्बन्धी कामनाएँ वे कामनाएँ नहीं हैं, जिनके छोड़नेकी आज्ञा, जन्ममृत्युसे निवृत्तिके लिये दी जाती है। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो श्रीमद्भगवद्गीता अ० १२ में यह उपदेश भगवान् न देते कि 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥ अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥'

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥ १ ॥

अर्थ—ब्रह्मके निर्गुण (अव्यक्त) और सगुण (व्यक्त) दो स्वरूप हैं। (दोनों) अकथ (अनिर्वचनीय) हैं, अगाध (अथाह) है, सनातन और उपमारहित है ॥ १ ॥

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा

वैजनाथजी ;लिखते है कि 'अन्तरात्मा, चिदानन्दमय, प्रकाशक, अमति, सद्गुणराशि' अगुण है। सगुण स्वरूपके दो भेद है—एक चित्स्वरूप, जैसे ईश्वर जीव-गुण ज्ञान। दूसरा अचित स्वरूप, जिसके दो भेद है—एक प्राकृत, दूसरा अप्राकृत। अप्राकृतके भी दो भेद हैं—एक नित्यविभूति वैकुण्ठादि, दूसरा अप्राकृत कालरूप, जैसे कि दण्ड, पल, दिन, रात, युग, कल्प आदि।' वे० भू० जी लिखते हैं कि परमात्माके पर, व्यूह, विभव और अर्चा—ये चारों रूप तो सदैव सगुण ही है। अन्तर्यामी स्वरूपके ही दो भेद हैं। गोस्वामीजीका अभिप्राय यहाँ अन्तर्यामीके ही कथनका है, क्योंकि इस अगुण-प्रकरणका उपसंहार करते हुए वे कहते हैं कि 'सब प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ॥' इन दोनों स्वरूपोंका वर्णन इसी ग्रन्थमें अन्यत्र मिलता है। यथा—'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा ॥' इसमें एकरस सबमें साक्षीरूपसे व्यापकको अगुण स्वरूप कहा जाता है, यथा—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति श्रुति।' और भक्तोंके हृदयमें अति कमनीय सच्चिदानन्दघन विग्रहसे विराजमान विग्रहको सगुण स्वरूप कहा जाता है। काष्ठमें अप्रकट अग्निवत् जो सर्वत्र व्यापक स्वरूप रहता है उसे 'अमूर्त अन्तर्यामी' कहते हैं और जो भगवान्‌स्वरूप भक्तोंके ध्यानमें आता है, भक्तोंकी रक्षाके लिये हृदय-प्रदेशमें किसी विग्रह विशेषसे स्थित रहकर भक्तका रक्षण करता रहता है वह स्वरूप 'मूर्त अन्तर्यामी' कहलाता है। जैसे 'अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः। स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥ भा० १।८।१४।' सर्वान्तर्यामी योगेश्वर हरिने अपनी कृपासे उत्तराके गर्भकी रक्षा की। उस स्वरूपका वर्णन भा० १।१२ में इस प्रकार है। गर्भके बालक (परीक्षित्‌जी) ने देखा कि एक पुरुष जिसका परिमाण केवल अंगुष्ठमात्र है, स्वरूप निर्मल है, सिरपर स्वर्णका चमचमाता हुआ मुकुट है, सुन्दर श्याम शरीरपर पीताम्बर धारण किये हैं, आजानुलम्बित चार भुजाएँ हैं, बारम्बार गदा घुमा रहा है, इत्यादि। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके तेजको नष्ट करके वह सर्वव्यापक सर्वैश्वर्यशाली धर्मरक्षक सर्वसामर्थ्यवान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये। (श्लोक ७—११)।—इसी तरह मूर्त अन्तर्यामी अपने भक्तोंकी भावनानुसार उनके हृदयमें रहते हैं। 'अंतरजामी राम सिय' मानसमें भी कहा ही है।

स्वामी श्रीराघवाचार्यजी लिखते है कि मानसके उद्धरणोंसे प्रमाणित होता है कि मानसका सिद्धान्त यह है कि परब्रह्म राम सगुण एवं निर्गुण है। उनमें सगुणरूपमें भी उसी प्रकार पारमार्थिकता है जिस प्रकार उनके निर्गुणरूपमें। इन दोनों स्वरूपोंकी रूपरेखाको हृदयङ्गम करनेके लिये श्रीयामुनाचार्यजीका श्लोक पर्याप्त होगा—'शान्तानन्तमहाविभूतिपरमं यद् ब्रह्मरूपं हरेर्मूर्तं ब्रह्म ततोऽपि यत्प्रियतरं रूपं यदत्यद्भुतम् ॥' इससे प्रकट होता है कि परब्रह्मका एक रूप शान्त अनन्त एवं महाविभूतिवाला है और दूसरा रूप जो इस रूपकी अपेक्षा अधिक प्रिय किंतु साथ ही अधिक अद्भुत है वह मूर्तरूप है। पाञ्चरात्र आगमने भगवान्‌के पञ्चरूप बताये हैं। वे हैं पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। उनमेंसे पर-रूपके ही महाविभूतिवाला रूप तथा मूर्तरूप दो भेद किये गये हैं। महाविभूतिवाला रूप शान्त है, अनन्त है और मूर्त नहीं है। शान्त अवस्थामें प्रदर्शनकी आवश्यकता न पड़नेसे गुणोंका प्रदर्शन नहीं होता। जहाँ इन गुणोंके प्रदर्शनकी आवश्यकता प्रतीत हुई, महाविभूतिवाला अमूर्तरूप मूर्तरूपमें परिणत हो जाता है। इस मूर्तरूपकी सनातन सत्तामें कभी किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती। अमूर्तरूपमें सौलभ्य, सौशील्य, कारुण्य, वात्सल्य आदि गुणोंका साक्षात्कार न होनेके कारण गोस्वामीजीने उस रूपको निर्गुण कहकर सम्बोधित किया है। मूर्तरूपमें इन गुणोंका प्रयोग मिलता है, अतः गोस्वामीजी उसे सगुण कहते है। मानस मूर्तरूप और अमूर्तकी सत्तामें किसी प्रकारका भेद नहीं मानता। 'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।' दोनों ही स्वरूप अनादि है। किंतु दोनोंकी अनुभूतिमें पर्याप्त अन्तर है।·· श्रीरामके मानसप्रोक्त सगुण एवं निर्गुण रूपमें

वस्तुत अभेद है। इसीलिये उनके निर्गुणरूपके अनुभवसे सगुणरूपका साक्षात्कार और सगुणरूपमें निर्गुणरूपका अनुभव होता है। निर्गुणरूप महाविभूतिसंयुक्त है, सगुणरूप दयाका विस्तार है। वह वाणी और मनके लिये अगम्य है, यह वाणी और मनको आकर्षित करता है। रामचरितमानस श्रीरामजीके दोनों ही रूपोंमें स्थित व्यक्तित्वके साथ साधकका नाता जोड़ देता है। मानसकी यह ऐसी विशेषता है जिसमें निर्गुणवाद और सगुणवादका सामरस्य हो जाता है।

नोट—गोस्वामीजीने 'अगुन' और 'सगुन' से ब्रह्मके 'अव्यक्त' और 'व्यक्त' ये दो स्वरूप कहे हैं जैसा हम पूर्व भी लिख चुके हैं। प्रमाण, यथा—'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहिं श्रुति गाव। मोहि भाव कोसलभूप श्रीराम सगुन सरूप॥ ६। ११२।', 'व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो। विनय० ५४। पद्मपुराण उत्तरखण्डमें भी निर्गुणको अव्यक्त और सगुणको व्यक्त कहा है, यथा—'व्यक्ताव्यक्तस्वरूपस्त्व गुणभृन्निर्गुण पर। २४२। ७४।"

नोट—१ अकथ अगाध आदि विशेषण 'अगुन सगुन' दोनोंके हैं। निर्गुणमें तो ये विशेषण प्रसिद्ध हैं ही, सगुणके प्रमाण सुनिये—(क) 'अकथ', यथा—'राम सरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धिपर। अविगत अकथ अपार'। अ० १२६।', रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। बा० १९९। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' (तै० ३। २। ४)। (ख) 'अगाध' यथा—'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनत रघुनाथा॥ प्रभु अगाध सत कोटि पताला। राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ। ७। ९१। ९२।' (ग) 'अनादि', यथा—'आदि अत कोउ जासु न पावा। 'सोइ दसरथसुत ' (११८)। (घ) 'अनूप', यथा—'अनुपम बालक देखेन्हि जाई। रूपरासि गुन कहि न सिराई॥' (१९३)' 'जय सगुन निर्गुनरूप रूप अनूप भूप सिरोमने। ७। १३।', 'निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै। ७। ९२।'

२ श्रीचक्रजी लिखते हैं कि—(क) मानस ब्रह्मके समग्र रूपको स्वीकार करता है। ब्रह्मका समग्ररूप है, उसके दोनों स्वरूपोंमें कोई भेद नहीं। दोनों एक ही तत्त्व और अभिन्न हैं। 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना' इस प्रकार सगुण साकार विग्रह भी विभु एव निर्गुण है और 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होइ मैं जाना॥' इस प्रकार निर्गुन तत्त्व भी सगुण ही है। दोनोंका भेद तो मानवके दुर्बल मानसकी कल्पना है। अत दोनोंको 'अकथ' कहा गया। मन और वाणी त्रिगुणात्मक हैं, उनका वर्णन गुणोंके आधारसे होता है तब निर्गुणका वर्णन कैसे हो? सगुण तत्त्व भी वाणीमें नहीं आता। 'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी' वाणी एव मनकी एक सीमित शक्ति है, किंतु वे गुणधाम तो अनन्त हैं। कोई लोटेमें समुद्र भरना चाहे तो कैसे भर सकता है? लोटेमें जो भरा जायगा वह समुद्रका जल भले हो, समुद्र नहीं है। उससे समुद्रकी वास्तविकताका परिचय नहीं मिलता। इसी प्रकार मन या वाणीमें भगवान्का जो दिव्यरूप एव जो गुण आता है, वह उनका गुण या रूप होनेपर भी उनके चिन्मयरूप एव अनन्त दिव्य गुणोंका तनिक भी परिचय देनेमें समर्थ नहीं। (ख) 'अनादि' कहकर जनाया कि सगुणरूप मायावच्छिन्न या कल्पनाप्रसूत नहीं है। ऐसी बात नहीं कि भक्तकी भावनाके अनुसार भगवान्ने रूप धारण कर लिया है, उस भावनासे पूर्व वह रूप था ही नहीं। भगवान्का एक सगुण स्वरूप है जो अनादि है। उसीके अनुसार मानस स्तर है और इसीलिये भक्त वह भावना कर सका है। जो रूप भगवान्का नहीं है, उसका तो मन सङ्कल्प ही नहीं कर सकता। क्योंकि मन सङ्कल्प स्वय नहीं करता, केवल मानस-स्तरोंके सङ्कल्पोंको ग्रहण करके व्यक्त करता है। जैसे रेडियो यन्त्र स्वय कुछ नहीं बोलता। वह अमुक स्तरमें पहुँचाये हुए स्तरकी ध्वनियोंको केवल व्यक्त करता है। (ग) दोनों रूप अनुपम हैं। जगत् मायाके गुणोंका परिणाम है और भगवान्के गुण अमायिक हैं। अत जगत्की कोई उपमा नहीं दी जा सकती।

३ 'अकथ' आदि कहकर जनाया कि निर्गुण और सगुण दोनों रूप प्रत्यक्ष, अनुमान एव उपमान इन तीनों प्रमाणोंसे नहीं जाने जा सकते। 'अकथ' से वाणी आदि इन्द्रियोंका निषेध करके प्रत्यक्षका अविषय, 'अगाध' से मनके द्वारा अचिन्त्य कहकर अनुमानका अविषय और 'अनादि' कहकर उनकी निर्विकल्पसत्ताका प्रतिपादन करते हुए 'अनूप' कहकर उन्हें उपमानका भी अविषय बताया गया है। उनकी सत्ता एव स्वरूपबोधमें केवल

शब्द (शास्त्र) ही प्रमाण है। इन विशेषणोंसे सूचित किया कि ऐसे प्रमाणशास्त्रीसे भी नाम बड़ा है। नामद्वारा दोनोंकी प्राप्ति हो जाती है।

४ (क) प० रामकुमारजी लिखते हैं कि ऊपर दोहेतक चार भक्तोंके द्वारा भीतर-बाहरका उजाला दिखाया। अब फिर अगुण सगुणसे उठाया। पूर्व अगुण-सगुणका प्रसङ्ग 'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।' इस चौपाईपर छोड़ दिया था, बीचमें भीतर-बाहर उजालेका उदाहरण दिया, अब पुनः अगुण-सगुणका प्रसङ्ग उठाकर नामको इनसे बड़ा कहते हैं। (ख) मानस-परिचारिकाकार लिखते हैं कि 'नाम रूप गुन अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी॥' तक नामका स्थूल स्वरूप कहकर फिर ग्रन्थकार 'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।...' से अङ्ग कहने लगे। नामके अधीन अगुण-सगुण दोनों हैं। यह स्थूल अङ्ग कहते समय आपने देखा कि आर्त, अर्थार्थी इत्यादि पाँचोंका भी नाम ही आधार है सो ये भी नामके अङ्ग हैं, इसलिये अगुन-सगुनका बीज वहाँ बोकर पाँचों भक्तोंकी नामाधार-वृत्तिका वर्णन उठाया और अब यहाँसे विस्तारपूर्वक अगुण सगुणका प्रसङ्ग फिर ले चले। (ग) यहाँसे अब चतुर्थ प्रकारसे नामकी बड़ाई दिखाते हैं। अर्थात् निर्गुण-सगुण दोनोंसे बड़ा कहकर नामका बड़प्पन दिखाते हैं।

मोरें[1] मत बड़ नाम दुहू तें। किए जेहि जुग निज बस निज बूतें॥ २॥

अर्थ—मेरी सम्मति (राय) में नाम (निर्गुण सगुण) दोनों (ब्रह्म) से बड़ा है कि जिसने दोनोंको अपने बलसे अपने वशमें कर रक्खा है॥ २॥

नोट—१ (क) 'मोरें' मत कहकर बताते हैं कि यह मेरा मत है (दूसरोंके मतसे जो चाहे हो) क्योंकि यह सामर्थ्य नामहीमें है कि उसने दोनोंको अपने अधीन कर रक्खा है। इसी बातको आगे और स्पष्ट कहते हैं—'कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की'। पुनः, (ख) 'मोरे मत' का भाव कि दोनों स्वरूपोंकी उपलब्धिमें एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र कहते हैं कि नामद्वारा दोनोंकी प्राप्ति होती है। इस तरह शास्त्रोंका फलितार्थ तो यह निकलता है कि नाम दोनोंसे बड़ा है, किंतु शास्त्र कहीं भी यह बात स्पष्ट कहते नहीं। अतएव मानसकार इसे अपनी सम्मति कहते हैं। उनका अनुरोध है, आग्रह नहीं कि आप भी इसे ऐसा ही स्वीकार कर लें—पर यह एक सम्मति है।

२ 'निज बस निज बूतें' इति। (क) 'निज बूतें' का भाव यह है कि श्रुतियोंके समान प्रार्थना करके नहीं, किंतु अपने पराक्रमसे वश कर रक्खा है। कथनका तात्पर्य यह है कि नामके बलसे भक्त भीतर-बाहर दोनों ब्रह्म (स्वरूपों) को देखते हैं। (प० रामकुमारजी)। जैसे मनु-शतरूपाने निर्गुण ब्रह्मके लिये नाम-जपसे ही तप प्रारम्भ किया। यथा—'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा' उससे निर्गुण ब्रह्म वशमें हुए, तब ब्रह्मगिरा हुई और फिर वे ही सगुणरूपसे प्रकट हुए। प० सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि जैसे 'राम' इसमें जो रा और म अक्षर हैं उनसे दशरथापत्य साकार ब्रह्मका बोध होता है, रामका जो अर्थ सर्वत्र 'रमन्ते इति रामः' है उससे निराकार ब्रह्मका भी बोध होता है। यदि नाम न होता तो साकार और निराकारको कोई जानता भी नहीं। दोनोंका बोधक केवल नाम ही है। (मानसपत्रिका)। पुनः, (ख) भाव कि जो 'अकथ अगाध अनादि अनूपा' ऐसे बलवान् ब्रह्मको वश कर रक्खे है उसमें अवश्य बहुत अधिक बल-बूता होगा। (ग) पूर्वार्द्धमें अपने मतानुसार नामको दोनोंसे बड़ा कहकर उत्तरार्द्धमें उसका (अपनी सम्मति स्थिर करनेका) कारण कहा। 'निज बूतें' से स्पष्ट कर दिया कि नाम निरपेक्ष साधन है, उसमें किसी भी दूसरे साधनकी सहायता अपेक्षित नहीं है। केवल नाम लेना ही पर्याप्त है।

३ (क) प० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'ग्रन्थकारका मत बहुत सत्य जान पड़ता है, क्योंकि जिसके वश जो हो जाय वह वशकर्त्ता बड़ा और वशीभूत छोटा कहा जाता है। नामके अधीन निर्गुण और सगुण दोनों सर्वत्र शास्त्रादिकोंमें प्रसिद्ध हैं। इसलिये स्पष्ट है कि दोनोंसे नाम बड़ा है।' (ख) पाण्डवगीतामें भृगुजीने भी ऐसा ही कहा

१ हमरे—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। मोरें—१६६१, १७०४, को० रा०।

है। यथा—'नामैव तव गोविन्द नाम त्वत्त शताधिकम्। ददात्युच्चारणान्मुक्ति भवानष्टाङ्गयोगत ॥ ५९।', अर्थात् हे गोविन्द! आपका नाम आपसे सौ गुना अधिक है। आप तो अष्टाङ्गयोगसे मुक्ति देते हैं और आपका नाम केवल स्मरणसे मुक्ति देता है।

प्रौढ़* सुजन जन जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रौढ़ सज्जन लोग मुझ दास (के मन) की जानते हैं (या जान लेंगे) (कि) मैं अपने मनकी प्रतीति, प्रीति और रुचि कह रहा हूँ ॥ ३ ॥

नोट—१ 'प्रौढ़ सुजन जन ⋯' इति। (क) बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि 'यदि कोई कहे कि क्या 'व्यास, वाल्मीकि, अगस्त्य, जैमिनि, शाण्डिल्य, गौतम, पराशर आदिसे तुम्हारा न्यारा मत है?'' तो उसपर कहते हैं कि नहीं। प्रौढ़ सुजन जन व्यासादि मुझ जनकी जानते हैं। मैं जो अपने मनकी प्रतीति, प्रीति, रुचि कह रहा हूँ वह सभी प्रवीणोंका मत है यह वह जानते हैं।' (मा० प्र०)। जो शास्त्रों एवं सज्जनोंके वाक्योंका परिष्कार्य है वही मैंने स्पष्ट कर दिया, यह वे जान लेंगे। (ख) गोस्वामीजी नामका प्रभाव जानते हैं, इसीलिये उन्होंने 'प्रतीति' पद दिया है, क्योंकि 'जाने बिनु न होइ परतीती' और, 'प्रतीति' होनेसे 'प्रीति' होती है यथा—'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। ७। ८९।' प्रतीति और प्रीतिसे रुचि बढ़ती है। (प० रामकुमारजी)

२—गोस्वामीजीने यहाँ अपनी दीनता प्रकट की है। कपिल, व्यास, जैमिनिका मत नहीं दिखलाया है। वे कहते हैं कि अच्छे लोग यह न समझें कि मैं हठ करके (या बढ़ाकर) इस बातको कहता हूँ, मैं तो अपने मनकी जो प्रतीतिसे प्रीति और प्राक्तनकर्मसे रुचि हुई है, इन्हीं कारणोंसे नामको बड़ा मानता हूँ। प्रतीतिका कारण श्रुति है—'मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम'। प्रीतिका कारण बड़ोंका उपदेश है। (मानसपत्रिका, रा० प्र०, सू० प्र० मिश्र)।

३ सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने प्रीति, प्रतीति और रुचि आगेकी चौपाइयोंमें दिखायी है। अर्थात् 'एकु दारुगत देखिय एकू।' से 'राजा राम अवध रजधानी' तक प्रतीतिका हेतु दिखाया। पुन, 'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती।' से 'अपत अजामिल गज गनिकाऊ' तक प्रीतिका हेतु दिया। और 'कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई' से 'भाय कुभाय अनख आलसहू' तक मनकी रुचि दिखायी।

---

* प्रौढ़ि सुजन जन—१७२१, १७६२, छ०, मा० दा०, रा० प०, गौड़जी। प्रौढ़ सुजन जनि—ना० प्र०, सु० द्विवेदी। प्रौढ़ सुजन जन—मा० प्र०, १६६१। १६६१ में पहले 'प्रौढ़ि सुजन जनि' था। हरताल देकर 'प्रौढ़ सुजन जन' पाठ शुद्ध किया गया है।

प्रौढ़=ढिठाई=प्रौढ़ोक्ति (अलङ्कार जो काव्यका एक अङ्ग है, जिसमें कवि अपनी बुद्धिकी चतुरतासे बातको बहुत बढ़ाकर कह डालते हैं)। सन्त उन्मनीटीकाकार मङ्गलकोषका प्रमाण देकर 'प्रौढ़ि' और 'प्रौढ़' का अर्थ यों लिखते हैं—'प्रौढ़ि =अभिमानसे बात करना। 'प्रौढ़' =चालाक, विद्वानोंकी सभाका=सभा प्रवीण। शब्दसागरमें 'प्रौढ़' का अर्थ 'ढीठ, चतुर, अच्छी तरह बढ़ा हुआ' लिखा है।

'प्रौढ़ सुजन जनि जानहिं' का अर्थ सुनाकर द्विवेदीजी यों करते हैं कि 'प्रौढ़ सुजन' शङ्कर, विशिष्टाद्वैतवादी, अद्वैतसिद्धिकर्ता मधुसूदन सरस्वती आदि हैं। वे लोग मेरे इस जनकी बात न मानें पर मैं अपने विश्वास और प्रीतिसे अपने मनकी रुचि कहता हूँ। और प० सूर्यप्रसाद मिश्र प्रौढ़का अर्थ 'जबरदस्ती, हठ' करके यह अन्वय करते हैं—सुजन जनकी (दासकी) 'प्रौढ़ जनि जानहिं'।

प० रामकुमारजी—'प्रौढ़ि सुजन जनि' का भाव यह लिखते हैं कि 'मोरें मत' कहनेसे 'प्रौढ़ि' पायी जाती है, इसीसे कहा कि सज्जन इसे 'प्रौढ़ि' न जानें, क्योंकि अपने इष्टमें प्रतीति आदि बताना प्रौढ़ता नहीं है, यथा—'प्रातौ सत्या निषेध।'

एक दारु गत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥ ४॥

उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें॥ ५॥

अर्थ—एक (अग्नि) जो लकड़ीके भीतर रहता है और दूसरा जो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, उन दोनों अग्नियोंके समान [अगुण (अव्यक्त) और सगुण (व्यक्त)] दोनों ब्रह्मका विचार है॥ ४॥ दोनों कठिन हैं, परंतु दोनों नामके अभ्याससे सुगम है, इसीसे मैंने नामको ब्रह्म (अगुण, अव्यक्त) और राम (सगुण, व्यक्त) से बड़ा कहा॥ ५॥

टिप्पणी—'एक दारुगत देखिअ एकू। ' इति। (क) पहले ब्रह्मके दो स्वरूप कहे, अब दोनोंका विवेक करते हैं कि वास्तवमें दोनो अग्नि एक ही है, भेद केवल इतना है कि एक गुप्त है, दूसरा प्रकट। ऐसे ही ब्रह्मको जानिये। (ख) 'विवेक' का भाव यह है कि एक अग्नि तो लकड़ीमें है सो प्रकट की जाती है (प्रकट करनेकी बात आगे कहते हैं) और दूसरी प्रकट है, सो प्रकट ब्रह्मकी बात भी आगे कहते हैं।

नोट—काष्ठमात्रमें अग्नि गुप्तरूपसे रहता है। वनमें बाँस आदिके परस्पर रगड़से दावाग्नि प्रकट होकर वनको जला डालता है। अरणी लकड़ीको परस्पर रगड़नेसे अग्नि यज्ञके लिये उत्पन्न की जाती है, यथा—'पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी। १। ३१। ६।' इससे सिद्ध होता है कि काष्ठमात्रके भीतर अग्नि अव्यक्तरूपसे व्याप्त है, दिखायी नहीं देता। उसी 'अव्यक्त अग्नि' को 'दारुगत पावक' कहा गया है। दूसरा अग्नि वह है जो संघर्षणसे उत्पन्न होनेपर प्रत्यक्ष देखनेमे आया अथवा प्रकटरूपसे संसारमें देखनेमें आता है और जिससे संसारका काम चलता है। जबतक वह अव्यक्तरूपसे लकड़ीमें रहा तबतक उससे संसारका कोई काम न निकल सकता था। इसी प्रकार ब्रह्मके सम्बन्धसे देह एवं चराचरमात्र काष्ठ है। इस चराचरमात्रमें जो ब्रह्म अव्यक्त अन्तर्यामीरूपसे सर्वत्र व्याप्त है वह अव्यक्त अग्नि (दारुगत पावक) के समान है और वही ब्रह्म जब पर, व्यूह, विभव आदि रूपोंसे व्यक्त होता है तब प्रकट पावकके समान है जिससे संसारका हित होता है। इससे जनाया कि तत्त्वत अव्यक्त और व्यक्त (अगुण और सगुण) दोनों एक ही है। केवल अप्रकट और प्रकट भेदसे दोनो भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं।

२—जैसे बारबार संघर्षण करनेसे काष्ठसे अग्नि प्रकट हो जाता है, यथा—'पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी। १। ३१', 'अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई॥ ७। १११।', वैसे ही इस शरीर (की जिह्वा) रूपी अरणीपर नामको उत्तरारणि करके नामोच्चारणरूप या मन्थन करनेसे हृदयस्थ ब्रह्म सगुण होकर प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे महाभागवत श्रीप्रह्लादजीके निरन्तर अभ्याससे वह खम्भमे प्रकट हो गया।

३—सगुण ब्रह्मसे जगत्‌का काम चलता है। उनके चरित्रोंको गाकर-सुनकर लोग भवपार होते हैं। यथा—'तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥ सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥ १२१-१२२।' जैसे प्रकट अग्नि किसी-किसीको जला भी डालता है, वैसे ही व्यक्त ब्रह्मद्वारा दुष्टोंका दलन भी होता है। यथा—'असुर मारि थापहिं सुरन्ह । १। १२१।'

४—'बिबेकू' इति। इस शब्दको देकर जनाया कि इस प्रकार उसको समझ सकते हैं।

५—इन चौपाइयोंसे मिलती हुई ये श्रुतियाँ श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में हैं—'वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः। स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥ १३॥ स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥ १४॥ (अध्याय १)।' अर्थात् जिस प्रकार अपने आश्रय (काष्ठ) में स्थित अग्निका रूप दिखायी नहीं देता और न उससे लिङ्ग (अव्यक्त, सूक्ष्मरूप) का ही नाश होता है और फिर ईंधनरूपी कारणके द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार अग्नि और अग्निलिङ्ग (अव्यक्त अग्नि) के समान ही इस देहमें प्रणवके द्वारा ब्रह्मका ग्रहण किया जा सकता है॥ १३॥ अपने शरीरको अरणि और प्रणवको उत्तरारणि करके ध्यानरूप मन्थनके अभ्याससे स्वप्रकाश परमात्माको छिपे हुए अग्निके समान देखे।

टिप्पणी—१ 'उभय अगम···' इति। (क) नामसे ब्रह्मके सुगम होनेकी व्याख्या आगे नहीं दी गयी है, निर्गुण-सगुणसे नाम बड़ा है—केवल इसीकी व्याख्या आगे की है। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पूर्व ही जो 'तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार' इस दोहेमे कह आये हैं उसीको विस्तारसे यहाँतक कहा है। (ख) 'जुग सुगम नाम ते' कहकर सूचित किया कि अन्य साधनोंसे अगम है, नामहीसे सुगम है। यही आशय दोहावलीके 'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवनमूरि॥ ८॥' इस दोहेमें पाया जाता है।

नोट—१ (क) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते है, कि नाम राम ब्रह्मसे भी बड़ा है यह ग्रन्थकारका कहना काष्ठाग्नि और मथर्षण दृष्टान्तद्वारा प्रामाणिक ठहरा। (ख) यहाँ दोनो वाक्योंकी समतामे 'प्रतिवस्तूपमालङ्कार' की ध्वनि है। दोनोंकी प्राप्ति दुर्गम है, परतु नामसे दोनों सुगम है, इस प्रकार नामके ब्रह्म रामसे बड़े होनेका समर्थन करना 'काव्यलिङ्ग' अलकार है। (वीरकवि)

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥ ६॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥ ७॥

अर्थ—जो ब्रह्म अन्तर्यामीरूपसे चराचरमें व्याप्त है, अद्वितीय है, अविनाशी (कभी नाश न होनेवाला) है, सत् चैतन्यघन (चिद्रूप) और आनन्दकी राशि है॥ ६॥ ऐसे सब विकारोंसे रहित प्रभुके हृदयमें रहते हुए भी ससारके सभी जीव दीन और दुखी हो रहे हैं॥ ७॥

नोट—१ (क) चौपाई ६ मे 'ब्रह्म' विशेष्य है और 'व्यापक' आदि छ विशेषण है। (ख) व्यापक, एक और 'सत् चित् आनन्द' की व्याख्या पूर्व 'एक अनीह··· १। १३। ३-४।' में हो चुकी है, वहीं देखिये। (ग) 'व्यापक एक', यथा—'एको देव सर्वभूतेषु गूढ ··सर्वभूतान्तरात्मा। श्वे० ६। ११॥', 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० भृगु० ६)। अर्थात् समस्त प्राणियोंमें स्थित एक-देव है जो सर्वव्यापक है और समस्त भूतोका अन्तरात्मा है। (श्वे०)। आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना। (तैत्ति०)।

नोट—२ 'व्यापक एक··' इति। भाव यह है कि ब्रह्मके हृदयस्थ रहनेपर जीवको दीन दुखारी नहीं होना चाहिये। इस भाव-कथनकी पुष्टिमे यहाँ छ विशेषण दिये गये हैं। इन विशेषणोंके साथ-साथ यह भी ध्वनित है कि ब्रह्म और जीवमें महदन्तर है। 'व्यापक' कहकर सूचित किया कि ब्रह्म व्यापक है और जीव व्याप्य तथा परिच्छिन्न है। व्यापकताके दृष्टान्त प्राय तिलमें तैल, दूध और दहीमें घी, लकड़ी आदिमें अग्नि, सब पदार्थोंमें आकाश आदिके दिये जाते है। यथा—'तिलेषु तैल दधनीव सर्पिराप स्रोतस्स्वरणीषु चाग्नि। एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैन तपसा योऽनुपश्यति॥ १५॥ सर्वव्यापिनमात्मान क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।' (श्वेताश्वतर० अ० १), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य'। अर्थात् जैसे तिलमें तेल, दहीमे घी, प्रवाहमे जल और अरणीमें अग्नि स्थित है, वैसे ही आत्मामें परमात्मा व्याप्त है। सत्य और तपके द्वारा जो साधक इसे जान जाता है वही उसको ग्रहण करनेमें समर्थ है। आत्मा सबमे इस प्रकार स्थित है जैसे दूधमे घी। आकाशकी तरह आत्मा सर्वगत और नित्य है। 'व्यापक' विशेषणसे बताया कि जीव प्रारब्धानुसार कहीं भी जाय तो ब्रह्मसे कभी भी पृथक् नहीं हो सकता। आगे ब्रह्मको 'सत् चित् आनन्द' कहेंगे—'सत चेतन घन आनँदरासी।' इससे कोई यह न समझे कि ब्रह्म तीन हैं। अत कहा कि वह 'एक' है। शरणपालत्व, भक्तवात्सल्य, सर्वज्ञत्व। कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तु सामर्थ्य, अकारण दयालुत्व आदि समस्त दिव्य गुणोंमें उसके समान कोई नहीं है यह भी 'एक' से जनाया। इस विशेषणका अभिप्राय है कि ऐसे गुणोंसे युक्त ब्रह्मके साथीको दुखी न होना चाहिये। आकाश व्यापक है। परतु कुछ लोग उसको नाशवान् कहते हैं, अत ब्रह्मको अविनाशी कहा। 'अविनाशी' की पुष्टिके लिये आगे 'सत्' कहा। जीव भी सत् और अविनाशी है परतु अनादि अविद्यावश वह स्वस्वरूप तथा परस्वरूपको भूल जाता है। अणु-स्वरूप होनेसे जीवका ज्ञान और आनन्द भी सकुचित है। अविद्यारहित और विभु होनेसे ब्रह्मका

ज्ञान तथा आनन्द अखण्ड और अपरिमित है, यह दिखानेके लिये 'चेतन' के साथ 'घन' और 'आनन्द' के साथ 'राशि' कहा। अत जीवका दीन-दुखी होना ठीक ही है।

अब यह शका हो सकती है कि—'सत्, चेतन, घन, आनन्दराशि' तो तीन कहे और तीनोंका अनुभव भी होता है, तब ब्रह्मको 'एक' कैसे कहा?' इसका समाधान अग्निके दृष्टान्तसे कर सकते है। अग्निमें उष्णता, ज्वाला और प्रकाश तीनों हैं पर अग्नि एक ही है।

'ब्रह्म चेतनघन है और व्यापक है। तब अचित्‌मे भी तो वह हुआ। परतु अचित्‌में रहनेसे अचित्‌को भी चेतनवत् भासमान होना चाहिये जैसे शरीरमे चेतनके होनेसे शरीर चेतन भासता है।'—इस शकाका समाधान यह है कि ब्रह्मके दो स्वरूप हैं, स्थूल और सूक्ष्म, अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त। ब्रह्म जो अन्तर्यामीरूपसे सर्वत्र स्थित है वह उसका अव्यक्त स्वरूप है। अव्यक्तस्वरूपके उपर्युक्त सब दिव्य गुण भी अव्यक्त ही रहते हैं, इसीसे अचित्‌में चेतनताका अनुभव हमें नहीं होता। यदि वह चाहे तो उसमें भी चेतनता अनुभवमें आ सकती है।

'अस प्रभु···अविकारी' इति। उपर्युक्त छ विशेषणोसे युक्त ब्रह्मको 'अविकारी' कहकर जनाया कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर षट्‌विकारोंसे रहित है और जीव 'विकारी' है। जो सर्वव्यापक है, एक अर्थात् अद्वितीय है उसको कोई कामना होगी ही नहीं, वह पूर्णकाम है। अत काम-विकार उसमें नहीं है। कामना होनेसे उसकी पूर्ति न होनेपर क्रोध होता है और पूर्ति होनेपर लोभ और अधिक होता है, यथा—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।' जब कामना ही नहीं तब क्रोध और लोभ क्योंकर होंगे? तीन विकारोंका न होना इन्हीं दो विशेषणोंसे सिद्ध हो गया। जीवमें ये दो गुण न होनेसे उसमे ये तीनों विकार आ जाते हैं। मोह-मद अज्ञानके कार्य हैं और ब्रह्म चेतनघन अर्थात् अखण्ड ज्ञानवान् है, अत उसमें ये नहीं हैं। मत्सर तब होता है जब कोई अपने समान हो या अपनेसे बड़ा हो। ब्रह्म 'एक' है, उसके समान या बड़ा कोई नहीं, अत उसमें यह विकार भी नहीं होता।

भगवान्‌का वास हृदयमें है, यथा—'एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनाना हृदये सनिविष्ट। श्वे० उ० ४। १७।' अर्थात् वह दिव्य क्रीडनशील विश्वका उत्पन्न करनेवाला परमात्मा सदा ही सभी मनुष्योंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित है। पुनश्च 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट। गीता १५। १५।', 'अन्तःप्रविष्ट शास्ता जनाना सर्वात्मा।' अर्थात् 'मैं सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ।', 'प्राणियोका शासक, सबका आत्मा अन्तरमे प्रविष्ट है।'

३—श्रीचक्रजी लिखते हैं—(क) यहाँ ब्रह्मके हृदयस्थ स्वरूप चतुर्व्यूहमेसे वासुदेवरूपका वर्णन है अद्वैतवेदान्ती इसे द्विविध चेतना कहते हैं। व्यापक तो कह ही दिया तब यहाँ 'हृदय अछत' की क्या विशेषता? मोटी बात तो यह है कि अनुभूतिका स्थान हृदय है। दीनता एव दु खका अनुभव हृदयमे मनको होता है—अत वहीं सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसत्ताको बताकर विरोध दिखलाया गया। दूसरे सर्वत्र ब्रह्मका सद्‌घन, आनन्दघन, अविनाशी, निर्विकार स्वरूप प्रकाशित नहीं है। (ख) दीन=अभावग्रस्त। दुखी=अभीष्टके नाशसे युक्त। भाव कि जीव जो चाहता है वह उसे मिलता नहीं और जो कुछ है वह नष्ट होता रहता है, इन्हीं दीनता और दु:खमे सब विकार आ जाते हैं।

४—प० रामकुमारजी इस चौपाईका भाव यह लिखते हैं—'ऐसे विशेषणोंके प्रतिकूल जीवकी दशा हो रही है। अविनाशीके रहते हुए सबका नाश हो रहा है, 'सत्' के समीप रहते हुए भी जीव 'असत्' हो रहा है, चेतनके अछत जड़ है, आनन्दराशिके रहते हुए जीव दुखी है, 'अविकारी' के होते हुए विकारयुक्त है। ऐसा अमूल्य रत्न हृदयमे है तो भी जीव दीन (दरिद्र) हो रहा है और सब पदार्थोंके होनेपर भी दुखी होनेका कारण केवल यही है कि वह ब्रह्मको नहीं जानता। 'सकल जीव' इसलिये कहा कि समस्त जीवोमें ब्रह्म है!'

५—सुधाकर द्विवेदीजी लिखते है कि 'वेदान्ती पुकारा करते हैं कि 'सोऽहम् सोऽहम्' अर्थात् ब्रह्म मैं ही हूँ, वह मेरे हृदयहीमे अक्षत निर्विकार सच्चिद्‌घनानन्दराशि बैठा है, परतु इस दन्तकथासे कुछ फल प्राप्त नहीं। कहनेवाले सब प्राणी जगत्‌में दीन और दुखी देख पड़ते हैं। यह हृदयस्थ ब्रह्म बाहर आकर उन दीन-दुखियोंकी रक्षा नहीं करता'। (ख) दीन-दुखी होनेका कारण नाममाहात्म्य न जानना है। (सू० मिश्र)।

६—'व्यापक एक अविनासी' कहकर सूचित किया कि वह बड़ा ही अद्भुत है, कहनेको तो एक है, पर चराचरमें स्थित है और जिस चराचरमें व्याप्त है उसके विनाश होनेपर भी वह ब्रह्म अविनाशी ही बना रहता है। ऐसा ब्रह्म भी नामके अधीन है।

७—ऐसे आनन्दराशि ब्रह्मके हृदयस्थ रहते भी जीव दुखी है, इस कथनमें 'विशेषोक्ति और विरोधाभास' का सन्देह सङ्कर है।

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—निरूपन (निरूपण)=प्रकाश, भलीभाँति उसका यथार्थ स्वरूप, अर्थ, माहात्म्य इत्यादि जानना, समझना और उसपर विश्वास करना, विवेचनापूर्वक निर्णय, विचार। वर्णन, कथन, कीर्त्तन। (सुधाकर द्विवेदी)। जतन=यतन, अभ्यास, उपाय, यत्न, रटना, जपना, रमना, अभ्यास करना।

अर्थ—वही ब्रह्म, नामका निरूपण करके नामके जपनेसे (वा, नामरूपी यत्नसे), ऐसे प्रकट हो जाता है जैसे रत्नसे मोल ॥ ८ ॥*

टिप्पणी—१ (क) 'ब्रह्म रत्न है। उसका जानना मोल है। बिना जाने जीव दुखी है। ब्रह्मका प्रकट होना मोलका प्रकट होना है। जैसे रत्नके भीतर मोल था, उसी तरह ब्रह्महीमें ब्रह्म प्रकट हुआ। 'जतन' जोखनेको कहते हैं। जौहरी रत्नका निरूपण बुद्धिसे करते हैं और उसको जोखते हैं, इसी प्रकार रामनामका अर्थ बुद्धिसे निरूपण करते हैं और उसे जपते हैं। जपना ही जोखना है।' अथवा, (ख) 'जैसे रत्न और मोल पृथक् नहीं, वैसे ही रामनाम और ब्रह्म पृथक् नहीं। रत्नको जौहरी निरूपण करता और जोखता है, रामनामके जौहरी साधु हैं। रत्नके भीतर मोल है, वैसे ही नामके भीतर ब्रह्म है। बिना निरूपण और जतनके मोल प्रकट नहीं होता, इसी प्रकार रामनामके निरूपण और यत्नके बिना ब्रह्म प्रकट नहीं होता। (ग) रत्न और नाममें यहाँतक सम रूपक दिखाया। आगे नाममें विशेषता यह कहेंगे कि रत्नके मोलका पार है और 'नामप्रभाव' अपार है। (घ) 'मोल रतन तें' का भाव यह है कि रत्न तो प्रथमसे ही रहा है, पर मोल प्रकट नहीं था, सो प्रकट हुआ। इसी प्रकार ब्रह्म तो हृदयमें रहा ही है, पर प्रकट नहीं था, सो प्रकट हुआ।' अथवा, (ङ) 'ब्रह्म और प्रकट होना दो बातें हैं। ब्रह्म रत्न है और प्रकट होना मोल है। इसी तरह रत्न और मोल दो बातें हैं। जैसे मोल और रत्न पृथक् नहीं, वैसे ही ब्रह्म और उसका प्रकट होना पृथक् नहीं।' अथवा (च) 'नाम-निरूपण' और 'नाम-जतन' ये ही रत्न हैं। इन्हींसे ब्रह्मरूपी मोल प्रकट होता है। नामनिरूपणसे ब्रह्म प्रकट होता है, ऐसा कहनेसे यह पाया जाता है कि नामके अर्थमें निर्गुण ब्रह्म है। बिना ब्रह्मके प्रकट हुए 'नामनिरूपण नाम-जतन' व्यर्थ जान पड़ता है, वैसे ही बिना मोलके रत्न व्यर्थ है।

नोट—'नाम निरूपन' इति। नामका रूप, अर्थ, महिमा जो नाम-प्रकरण दोहा १७ से २८ (२) तकमें कहा है और जैसा विनयपत्रिका, कवितावली, दोहावली, श्रीसीतारामनाम-प्रताप-प्रकाशादि ग्रन्थोंमें दिया है, उसे विचारना, समझना यह निरूपण है। विनयपत्रिकामें, यथा—'राम (नाम) सुमिरन सब बिधि ही को राज रे। राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे ॥ रामनाम महामनि फनि जगजाल रे। मनि लिये फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे ॥ रामनाम कामतरु देत फल चारि रे। कहत पुरान बेद पंडित पुरारि रे ॥ रामनामप्रेम परमारथ को सारु रे। रामनाम तुलसी को जीवन अधार रे ॥ ६७ ॥', 'राम राम राम जीह जौलौं तू न जपिहै। तौलौं जहाँ जैहै तहाँ तिहूँ ताप तपिहै ॥ ६८।', 'सुमिरु सनेह सों तू नाम राम राय को। संबर निसंबरी को सखा असहाय को ॥ भागु है अभागेहू को गुन गुनहीन को। गाहक गरीब को दयालु दानि दीन को ॥ कुल अकुलीन को सुन्यो है न कोउ साखिहै। पाँगुरे को हाथ पाँय, आँधरे को आँखि है ॥ माय बाप भूखे को, अधार निराधार को। सेतु भवसागर को हेतु सुख सार को ॥ पतित पावन रामनाम सो न दूसरो। सुमिरि सुभूमि भयउ तुलसी सो ऊसरो ॥ ६९।',

* दूसरा अर्थ—नामहीके यत्नसे नामनिरूपण करते-करते (नाममाहात्म्य कहते कहते) हृदयस्थ ब्रह्म प्रकट हो जाता है। जैसे रत्नकी प्रशंसा करने-करते बिक जानेपर उससे मूल्य (द्रव्य) प्रकट हो जाता है (मा० प०)।

इत्यादि, विनयमें बहुत-से पद हैं उन्हें देखिये। कवितावली यथा—'सोच सकटनि सोच सकट परत, जर जरत, प्रभाउ नाम ललित ललाम को। बूड़ियौ तरति बिगरीयो सुधरति बात, होत देखि दाहिनो सुभाउ बिधि बाम को॥ भागत अभाग अनुरागत बिराग भाग जागत आलसी तुलसीहू से निकाम को। धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति, आई मीचु मिटति जपत रामनाम को॥ क० उ० ७५।' इत्यादि।

"जिमि मोल रतन तें" इति।

(१) पं० रामकुमारजीके भाव ऊपर दिये गये। और भाव ये हैं—

(२) रत्नको यदि हम जान लें कि यह पोखराज है, हीरा है इत्यादि, तो नामके (जाननेके) कारण उसका बहुमूल्य होना प्रकट हो जाता है। ऐसे ही नामको गुरु, शास्त्रो आदिद्वारा जानकर अभ्यास करनेमें ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।

(३) रत्नमें उसका मूल्य गुप्त रहता है। यदि वह कुजड़ेके हाथ पड़ा तो वह पत्थर ही समझता है, वह उसके गुणको क्या जाने? वही जौहरीके हाथ लगा जो उसका पारखी है तो उसका यथार्थ गुण और मोल प्रकट होता है कि हजार, लाख, करोड़ कितनेका है। वैसे ही नाम रत्न है, उसके जापक ही (जो उसके स्वरूप, अर्थ और महत्त्वको जानते हैं) उसके पारखी हैं, जिनको पाकर ब्रह्मरूपी मोल नामसे प्रकट होता है।

इस दृष्टान्तसे भी नामको ब्रह्मसे बड़ा प्रामाणिक ठहराया। जैसे रत्न, मुहर, रुपयासे दूसरी वस्तु मोल लेते हैं। जिससे मोल लेते हैं वह वस्तु बड़ी मानी जाती है, रत्न ऐसे भी होते हैं कि उससे राज्यतक मोल ले लेते हैं। इसी प्रकार नामरूपी रत्नके अभ्याससे नामीका प्रकट होना ही मानो नामीको नामसे मोल लेना है। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।

(४) जैसे रत्नसे द्रव्य। अर्थात् जैसे किसी अज्ञके पास रत्न है, वह न तो उसका प्रभाव जानता है और न व्यवहार। जब किसी जौहरीद्वारा उसे बोध होगा कि यह बहुमूल्यका है तो उसकी दीनता जाती रहेगी। परंतु दुखारी बना है, क्योंकि न तो वह उससे क्षुधाकी निवृत्ति कर सकता है, न ओढ सकता है। यह 'दुःख' तभी जायगा जब वह उसका 'यत्न' भी कर लेगा। अर्थात् जब वह उस रत्नको बेचकर उसका मोल प्रकट करके उस द्रव्यसे अन्न, वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थ लेगा। वैसे ही नाम-रत्नके यथार्थ ऐश्वर्यको जाननेवाले संत सद्गुरु हैं। उनके द्वारा जब यह जीव निश्चय करके नामावलम्बी होकर श्रीरामनामका रटन-कीर्तन 'तथा तथ्य' करेगा तब वह 'हृदय अछत अन्तर्यामी व्यापक ब्रह्म भी प्रकट हो जायगा जिसका साक्षात्कार होनेसे वह मायादिकी परवशतारूप दीन-दशा तथा जन्म-मरणादि संसृति दुःखसे निवृत्त हो जायगा। यह रामनामका ऐश्वर्य है।' (श्रीनंगे परमहंसजी)।

(५) रत्नके परखनेसे अथवा रत्नका व्यापार करनेसे मोल प्रकट होता है वैसे ही रामनामका अर्थ समझना उसका परखना है और जपना व्यापार है। मोल अर्थात् द्रव्य निर्गुण ब्रह्म है सो प्रकट हो जाता है। (मा० प्र०)।

(६) हृदयरूपी पर्वत कन्दरामें श्रीराम-ब्रह्म-रत्न रहते हैं और उन ब्रह्ममें ब्रह्मसुख रहता है। नामनिरूपण-युक्त नाम जपनेसे ब्रह्मसुख प्रकट होता है। जीव रत्नी, सच्चिदानन्द रत्न, नाम जौहरी, ब्रह्मानन्द मोल है (मा० मा०)।

(७) जैसे 'मोल रतनसे' का भाव यह है कि रत्न चाहे किसी भी गुह्य स्थलमें क्यों न हो पर यदि कोई मोल लेकर जावे तो उसको प्रकट मिलता है। (पं०)

(८) ऐसे समर्थ प्रभुके हृदयमें रहते हुए भी जीव क्यों दुखी है, इसका समाधान 'नाम निरूपन···' में कहते हैं। 'नाम निरूपण'—किस नामका? भगवान्‌के तो अनन्त नाम हैं। हमारे अधिकारके अनुसार कौन-सा भगवन्नाम हमारे उपयुक्त है, यह अधिकार-निर्णय-पूर्वक प्राप्त दीक्षा और साथ ही नामके स्वरूप, माहात्म्य आदिका ज्ञान प्राप्त करके नाम जपना चाहिये। नाम-निरूपणसे दुःख-दैन्य तो चला जाता है, किंतु

आनन्दोपलब्धि नहीं होती। नामका जप करनेसे वह ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है। उसका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है, ब्रह्मतत्त्व हृदयमें व्यक्त हो जाता है, इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, मनोनाश हो जाता है और हृदयका वह वासुदेव सचमुच अन्तःकरणमें देदीप्यमान हो उठता है' निर्गुण उपासकोंके लिये इस प्रसङ्गमें अत्यन्त सुन्दर नामसाधनका निर्देश है। समस्त निर्गुण सन्तमत गुरुको परमात्मा मानते हैं और दीक्षापर उनका अत्यन्त बल है। अतः इस निर्गुण साधनामें 'नाम निरूपण' से ही दीक्षातत्त्व सूचित किया गया है। आगे सगुणोपासकके लिये दीक्षाका कहीं प्रतिबन्ध नहीं बताया है। (श्रीचक्रजी)

नोट—इस प्रसङ्गमें व्यापकादिगुणविशिष्ट ब्रह्म (अव्यक्त) के हृदयमें रहते हुए भी जीवका 'दीन दुखारी' होना तो बताया गया, परन्तु 'नाम निरूपण' पूर्वक नामजपद्वारा उसका प्रकट मात्र होना ही यहाँ कहा, जीवका सुखी होना स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा गया। तो क्या यह समझा जाय कि जीव फिर भी दुखी ही रहता है? नहीं। यहाँ प्रसङ्ग केवल नामका अपार प्रभाव दिखलानेका है, जीवके दुखी-सुखी होनेके कथनका नहीं। इसलिये सुखी होनेके विषयमें स्पष्ट उल्लेखका प्रयोजन नहीं। दूसरे यहाँ ब्रह्मके हृदयमें रहते हुए भी जीवका दुखी होना और फिर नामसाधनसे उसका प्रकट होना कहनेसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म बिना 'नामनिरूपण नाम-जतन' के अप्रकट था, वह इस साधनसे प्रकट हुआ। जैसे पूर्व अप्रकट होना केवल आशयसे जनाया वैसे ही यहाँ प्रकट होनेके कथनमात्रसे जीवका सुखी होना भी सूचित कर दिया गया है।

ब्रह्मका साक्षात् प्रकट होना, उसका हृदयमें साक्षात्कार होना एवं उसकी महिमाको जान लेना—ये सब अर्थ 'सोउ प्रगटत' के हो सकते हैं। इन तीनों प्रकारोंसे जीव सुखी होता है। प्रह्लादजीके लिये नामके साधनसे ही ब्रह्म प्रकट हुआ और वे सुखी हुए। साक्षात्कार तथा महिमाका ज्ञान होनेसे जीवके सुखी होनेका प्रमाण एक तो अनुभव ही है, दूसरे श्रुति भी प्रमाण है। यथा—"जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः। श्वेताश्व० ४। ७।", 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। श्वे० ६। १२।' अर्थात् उस परमात्माकी सेवा करनेसे जब जीव उसकी महिमाको जानता है तब उसका शोक नष्ट होता है। (४। ७) अपने हृदयमें स्थित उस परमात्माका जब साक्षात्कार कर लेते हैं, तब उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।

दो०—निरगुन तें येहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥ २३॥

अर्थ—इस प्रकार निर्गुण (ब्रह्म) से नाम बड़ा है और उसका प्रभाव अपार है। अब अपने विचारानुसार नामको राममें बड़ा कहता हूँ॥ २३॥

नोट—१ 'एहि भाँति' अर्थात् जैसा ऊपर दृष्टान्तोंद्वारा 'रूप ज्ञान नहि नाम बिहीना। २१। ४।' से लेकर 'नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें। २३। ८।' तक उनके गुणोंको बताकर सिद्ध कर दिखाया है।

२—गोस्वामीजीने पूर्व कहा था कि 'को बड छोट कहत अपराधू' तो यहाँ बड़ा कैसे कह दिया? इसके विषयमें पूर्व 'को बड छोट ...' इस चौपाईमें भी लिखा जा चुका है। और यहाँ भी कुछ लिखा जाता है।

गोस्वामीजीने इस प्रश्नका उत्तर 'एहि भाँति' इन दो शब्दोंमें स्वयं ही दे दिया है। पूर्व यह भी कहा था कि 'सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू' सो यहाँतक गुण कहकर दोनोंमें भेद बताया और कहते हैं कि इन गुणोंके भेदको समझकर हमारे मतमें जो आया सो हम कहते हैं, दूसरे जो समझें। भाव यह है कि तत्त्व-परत्वमें नाम-नामी सरिस हैं पर जो सौलभ्य आदि गुण नाममें हैं वे नामीमें नहीं हैं और नामहीसे नामी भी सुलभ हो जाता है। तत्त्व-परत्वमें, ऐश्वर्य-पराक्रममें, दिव्यगुणमें नाम-नामीमें न कोई बड़ा है न कोई छोटा, दोनों समान हैं, इनमें छोटाई-बड़ाई कहना अपराध है। उपासकोंको नाम सुलभ है, इस गुणसे वे नामको बड़ा कहते हैं।

गोस्वामीजीने यह विचार जहाँ-तहाँ अन्य स्थलोंपर भी दर्शित किया है, यथा—'प्रिय न रामनाम तें जेहि रामो। भलो ताको कठिन कलिकालहु आदि मध्य परिनामो॥ नाम ते अधिक नाम करतब जेहि किये नगर गत गामो। वि० २२८।' श्रीहनुमान्‌जीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—'राम त्वत्तोऽधिक नाम इति मे निश्चला मति.। त्वया तु तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम्' (हनुमत्संहितायाम्)। अर्थात् हे श्रीरामजी! मेरा निश्चल मत है कि आपका नाम आपसे बड़ा है। आपने तो एक अयोध्यामात्रको तारा और आपका नाम तीनों लोकोंको तारता है। अतएव गोस्वामीजीसे रहा न गया, उन्होंने कह ही डाला।

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि—ग्रन्थकारका आशय यह मालूम होता है कि उनको जो ईश्वरकी प्राप्ति हुई है वह न निर्गुणसे और न सगुणसे, किंतु केवल नामद्वारा हुई है। अतएव वे नामहीको सबसे बड़ा मानते हैं।

बाबा जानकीदासजी कहते हैं कि—(क) 'गोस्वामीजीने श्रीरामजीके दो स्वरूप दिखाये हैं। जब उन्होंने नामका स्वरूप कहा तब नाम-नामीका अभेद कहा और जब नामका अङ्ग कहने लगे तब कहते हैं कि रामसे नाम बड़ा है। श्रीरामजीके दो स्वरूप हैं—पर और अपर। श्रीमनु शतरूपाजीके लिये जो अवतार हुआ वह पर है, क्योंकि वह ज्यों का त्यों प्रादुर्भूत हुआ है। उन्हींके नामकी वन्दना स्वरूप, अङ्ग और फल कहकर की। अन्य तीन कल्पोंके अवतारकी कथा जो आगे कही है वे अपर स्वरूप हैं, क्योंकि उनमें श्रीमन्नारायण और वैकुण्ठवासी विष्णु भगवान् श्रीरामस्वरूपसे अवतरे हैं। गोस्वामीजीने सूक्ष्मरूपसे दोनों स्वरूप यहाँ दिखाये। जब उन्होंने कहा कि 'बंदौं नाम राम रघुबर को' और फिर कहा कि 'समुझत सरिस नाम अरु नामी', तब पर स्वरूप दिखाया। और जब कहा कि 'अगुन सगुन' से नाम बड़ा है तब कहते हैं—'कहउँ नाम बड़ राम तें' सगुण राम अपर स्वरूप है। यदि उन्हीं रामसे बड़ा कहें जिनकी वन्दना करते हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि इसमें दो विरोध पड़ते हैं—एक तो पूर्व नाम नामीको सरिस कहा, दूसरे अगुण-सगुणसे नामको बड़ा कहते हैं। यहाँ प्रकरण अगुण-सगुणका है, सगुण रामसे बड़ा कह रहे हैं। 'बंदौं नाम राम रघुबर' वाले 'राम' का यहाँ न प्रकरण है न प्रयोजन ही। (मा० प्र०)। (ख) क्षीरशायी आदि तथा साकेताधीश परात्पर ब्रह्म रामके अवतारोंके प्रमाण ये हैं—'ज्ञात्वा स्वपार्षदौ जातौ राक्षसौ प्रवरौ प्रिये। तदा नारायण. साक्षाद्रामरूपेण जायते॥ १॥ प्रतापी राघवसखा भ्राता च सह रावणः। राघवेण तदा साक्षात्साकेतादवतीर्यते॥ २॥', 'भार्गवोऽयं पुरा भूत्वा स्वीचक्रे नामतो विधि। विष्णुर्दाशरथिर्भूत्वा स्वीकरोत्यधुना पुनः॥ १॥ सङ्कर्षणस्ततश्चाह स्वीकरिष्यामि शाश्वतम्। एकमेव त्रिधा जातं सृष्टिस्थित्यन्तहेतवे॥ २॥' (मा० प्र०) अर्थात् अपने दो श्रेष्ठ पार्षद राक्षस हो गये हैं यह जानकर साक्षात् नारायण श्रीरामरूपसे प्रकट होते हैं॥ १॥ श्रीरामजीका सखा प्रतापी जब भाईसहित आकर रावण होता है तब साकेतलोकसे साक्षात् श्रीरामजी उनके उद्धारके लिये अवतीर्ण होते हैं॥ २॥ (शिवम०)। पूर्वकालमें विष्णुभगवान् भार्गवरूपसे प्रकट हुए थे फिर दाशरथि होकर वही (राम) नाम स्वीकार किया है॥ १॥ इसी प्रकार मैं सङ्कर्षण नामसे प्रकट होऊँगा। एक ही ब्रह्म सृष्टि-स्थिति-संहारके लिये तीन रूप हुआ है।

नोट—३ 'नाम प्रभाउ अपार'। राम नाम मन्त्रमें यह भारी प्रभाव है कि निर्गुण ब्रह्मको प्रकट करके जीवोंका कल्याण करते हैं; इसी कारण 'नाम प्रभाव अपार' कहा और निर्गुणसे नामको बड़ा कहा, क्योंकि उसीके प्रभावसे वह प्रकट होता है। वह स्वयं अपनेको व्यक्त नहीं कर पाता और न दुःख-दीनताको मिटा सके। नामने स्वयंको प्रकाशित किया, हृदयको शुद्ध किया, इन्द्रियनिग्रह किया और मनोनाश सम्पन्न किया। इसके पश्चात् ही ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्मतत्त्वकी अनुभूतिमें बाधक मल, विक्षेप आवरणके तीनों पर्दे दूर किये। (श्रीचक्रजी)

४ 'कहउँ नाम बड़ राम तें·····' इति। (क) अर्थात् इसका प्रतिपादन करूँगा कि सगुण ब्रह्म रामसे भी नाम बड़ा है। (ख) नाम और नामीमें अभेद कह आये हैं—'समुझत सरिस नाम अरु नामी' इससे नामका महत्त्वाधिक्य नहीं सिद्ध होता है। अतः गोस्वामीजी नामको रामसे बड़ा बताते हुए कहते हैं कि यह शास्त्रीय बात नहीं

है। यह वर्णन तो मेरे विचारके अनुसार है। 'नानापुराणनिगमागमसम्मतम्' की बात नहीं है, यहाँ 'क्वचिदन्यतोऽपि' की बात है (श्रीचक्रजी)।

राम भगत हित नर तनुधारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥ १॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥ २॥

शब्दार्थ—संकट=दुःख, क्लेश। सुखारी=सुखी। अनयास (अनायास)=बिना परिश्रम, सहज ही। बास=निवास स्थान, रहनेकी जगह।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी भक्तोंके लिये मनुष्य-शरीरधारी हुए और दुःख सहकर उन्होंने साधुओंको सुखी किया॥ १॥ पर, भक्त नामको प्रेमसहित जपते जपते बिना परिश्रम ही आनन्द-मङ्गलके निवासस्थान हो जाते हैं॥ २॥

नोट—१ यहाँसे ग्रन्थकार उपर्युक्त वचन 'कहउँ नाम बड राम तें' को अनेक प्रकारसे पुष्ट करते हैं। 'राम भगत हित ।२४।१।' सातों काण्डोंका बीज है। २४ (२) 'नामु सप्रेम जपत' के चरण मूल सूत्रके समान हैं जिनकी व्याख्या आगे दो दोहोंमें है।

२ 'भगत हित नर तनु धारी', यथा—'तेहि धरि देह चरित कृत नाना। सो केवल भगतन्ह हित लागी॥ १। १३।', 'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥ अ० २६५।', 'राम सगुन भए भगत प्रेम बस।', 'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥ १।५१।', 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तन भूप। ७।७२।' दोहा ११६ (२) भी देखिये।

टिप्पणी—१ 'नर तनु धारी' इति। भाव यह कि नरतन धरनेमें हीनता है। यही समझकर नारदजीने शाप दिया कि 'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। ।१।१३७।' यदि नरतन धरना उत्तम होता तो यह शाप क्यों कहलाता? श्रीरामचन्द्रजीको तन धरना पड़ा, इस कथनका भाव यह है कि 'वह तन सनातन (सदा) यहाँ नहीं रहता और नाम सनातन बना रहता है। सो वे रामजी 'तनधारी' हुए, अर्थात् अपनी प्रतिष्ठासे हीन हुए, ईश्वरसे नर कहलाये, बड़ा परिश्रम करके अनेक शत्रुओंसे लड़कर साधुओंको सुखी किया।'

नोट—३ विष्णु भगवान्, वैकुण्ठ भगवान् और क्षीरशायी श्रीमन्नारायण चतुर्भुज हैं, इनका नरतन धारण करना यह है कि चतुर्भुजरूपसे द्विभुज रामरूप धारण करते हैं। वैकुण्ठादि स्थानोंको छोड़कर पृथ्वीपर अवतीर्ण होते हैं। और साकेत-विहारी परात्पर परब्रह्म राम नित्य द्विभुज हैं। नारदपञ्चरात्र, आनन्दसंहिता, सुन्दरीतन्त्र आदिमें इसके प्रमाण हैं, यथा—'आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्त्तश्चामूर्त एव च। अमूर्तस्याश्रयो मूर्तः परमात्मा नराकृतिः॥' (पञ्चरात्र), 'स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परं च द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्॥' (आनन्दसंहिता), 'ययौ तथा महाशम्भू रामलोकमगोचरम्। तत्र गत्वा महाशम्भू राघवं नित्यविग्रहम्॥ ददर्श परमात्मानं समासीनं मया सह। सर्वशक्तिकलानाथं द्विभुजं रघुनन्दनम्॥ द्विभुजाद्राघवान्नित्यात्सर्वमेतत्प्रवर्तते।' (सुन्दरीतन्त्र) 'यो वै वसति गोलोके द्विभुजस्तु धनुर्धरः। सदानन्दमयो रामो येन विश्वमिदं ततम्॥' (सदाशिवसंहिता)। (वाल्मी० १।१।१ शिरोमणिटीकासे उद्धृत)। इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि श्रीरामजी नित्य द्विभुज नराकृति हैं। उनके 'नर-तनधारी' कहनेका भाव यह है कि साकेतसे पृथ्वीपर आविर्भाव होनेपर वे अपने चिदानन्दमय शरीरमें प्राकृत नरवत् बाल्य, युवादिक अवस्थाएँ ग्रहण करते हैं और मनुष्य सरीखे नरनाट्य चरित करते हैं। दूसरा भाव ऊपर टिप्पणीमें दिया गया है।

४ 'सहि संकट', यथा—'अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुस पात। बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बर्षा बात॥ अ० २११।',

५ यहाँ 'राम' से नाममें विशेषता जनानेके लिये ग्रन्थकारने एकके साथ 'नरतनुधारी' और 'सहि संकट' शब्दोंका और दूसरेके लिये 'अनयास' शब्दका प्रयोग किया है। भाव यह कि श्रीरामजीने अवतार लिया और बनगमन तथा दुष्टोंके दलनमें अनेक कष्ट झेले, तब त्रेतामें साधुओंको सुखी कर सके और नाम महाराज बिना

परिश्रम केवल सप्रेम उच्चारण करनेहीसे मुद-मंगलका घर ही बना देते हैं कि स्वयं आनन्द लूटें और दूसरोंको भी सुख दें, तरें और तारें।

श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि—(क) इस प्रसङ्गमें जो एक गुण रूपमें कहा है वही नाममें अनन्त कहा है, क्योंकि जो गुण रूपमें होता है वही नामद्वारा लोकमें प्रसिद्ध होता है। पुनः नामकी जो प्रशंसा होती है वह रूपमें स्थित होती है, जैसे भक्तमालमें भक्तोंके नामकी प्रशंसा सुनकर सब उनके रूपको धन्य मानते हैं। नाममें विशेषता यह है कि रूप तो एक समय प्रसिद्ध और एक स्थलमें स्थित था। जो-जो गुण उसमें स्थित हैं, अर्थात् अवतार लेकर जो श्रीरामजीने नरनाट्य करते हुए लीलामात्र दुःख सहकर लोगोंको सुखी कर अपने गुण प्रकट किये, उन्हीं गुणोंको लेकर नाम दसों दिशाओंमें चला। जैसे एक मूल (वा, बीज) से कोई बेल ज्यों-ज्यों फैलती है त्यों-त्यों उसकी शाखाएँ बढ़ते-बढ़ते अनन्त हो जाती हैं, जिससे उनके दल, फूल, फल आदिसे लोकका कल्याण होता है। इसी तरह नाम-जप-स्मरणादिसे लोकमात्रका भला है जिससे उस गुणकी अनन्त देशों, स्थलोंमें प्रशंसा होती है। यही गुणका नाममें अनन्त होना है। रूप मूल है, नाम बेल है, गुण शाखा है, गुणका सर्वत्र नामद्वारा फैलना उसका अनन्त होना है, नामका जप स्मरण आदि उस बेलके दल, फूल, फलादिका सेवन करना है। (ख)—'नाम सप्रेम जपत ' इति। पूर्व अर्धाली 'राम भगति हित ' के अन्तर्गत यावत् गुण (उदारता, वीरता आदि) हैं, वे सब नाममें हैं। नामके भीतर रूपका प्रभाव सदा रहता है, यह लोकमें प्रसिद्ध देखा जाता है, क्योंकि धर्मात्माओंका नाम लोग स्मरणकर अपने-अपने व्यापारमें लगते हैं, अधर्मीका नाम कोई नहीं लेता।

६ यहाँसे लेकर 'नाम प्रसाद सोच नहिं सपने। २५। ८।' तक 'अर्थान्तरन्यास' लक्षण' अलंकार है। क्योंकि पहले साधारण बात कहकर उसका समर्थन विशेष उदाहरणसे किया गया है। प० महावीरप्रसाद वीरकवि लिखते हैं कि 'यहाँ उपमान रामचन्द्रसे उपमेय रामनाममें अधिक गुण कहना कि रामचन्द्रजीने नर-तन धारण किया । यह व्यतिरेक अलंकार है।'

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥ ३॥

शब्दार्थ—एक = केवल, गिनतीका एक। तापस = तपस्वी (यहाँ गौतम ऋषिसे तात्पर्य है)। तापस-तिय = गौतम ऋषिकी स्त्री, अहल्या। सुधारी = शुद्ध किया, भगवद्विमुखको भगवत्सम्मुख करना, सन्मार्गपर लगाना 'सुधारना' है। तारना = उद्धार करना, सद्गति देना, भवपार करना।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने एक तपस्वी गौतमकी (वा एक तपस्विनी) स्त्रीहीको तारा और नामने करोड़ों दुष्टोंकी कुमतिको सुधारा॥ ३॥

नोट—१ अहल्याजीकी कथा दोहा २१० (१२) में देखिये। संक्षिप्त कथा यह है कि इन्द्र इसके रूप-पर मोहित था। एक दिन गौतमजीके बाहर चले जानेपर वह उनके रूपसे अहल्याके पास आया और उसके साथ रमणकर शीघ्र चलता बना। उसी समय मुनि भी आ गये। उसे अपना रूप धारण किये देख उससे पूछा कि तू कौन है और जाननेपर कि इन्द्र है, उन्होंने उसे शाप दिया। फिर आश्रममें आकर अहल्याको शाप दिया कि तू पाषाण होकर आश्रममें निवास कर। जब श्रीरामजी आकर चरणसे स्पर्श करेंगे तब तू पवित्र होकर अपना रूप पायेगी।

नोट—२ पहलेमें 'एक' और वह भी 'तपस्वी' ऋषिकी स्त्री, और दूसरेमें 'कोटि' और वह भी 'खल' (दुष्टों) की कुमतिरूपिणी स्त्री कहकर दूसरेकी विशेषता दिखायी। 'तापस-तिय' से जनाया कि तपस्वी स्त्री तो तरने योग्य ही है, उसका तारना क्या! अधमका तारना काम है। रूपकी प्राप्ति सब काल अगम है और नाम सर्वत्र सुलभ है, इसीसे यह अनन्त लोगोंका उद्धार करता है।

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'अहल्या अज्ञातसे परपुरुष-संग करनेसे दुष्ट हुई थी। यह खलोंकी कुमतिरूपी स्त्री परनिन्दादि अनेक दोषोंसे भरी हुई होती है। इसलिये एक और कोटिमें जितना अन्तर है उतना ही रामब्रह्म और

उनके नाममें अन्तर है, किंतु अहल्यामें अल्प दोष और खल-कुमतिमें अधिक दोष होनेसे कोटि-अधिक दोष-निवृत्ति करनेवाला नाम, एक—अल्पदोषयुक्त अहल्याके तारनेवाले रामसे अनन्तगुण अधिक है।'

श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि अहल्याने इन्द्रको अपना पति समझकर ही उनकी सेवा की, उसकी बुद्धिमें कोई दुर्भावना न थी। गौतमने उसे शाप दिया कि तेरी बुद्धि पत्थरके समान है। तू देवता और मनुष्यका भेद न जान सकी, तू पत्थर हो जा। देवताओंकी परछाईं नहीं पड़ती, अहल्याने इस ओर ध्यान नहीं दिया था। अहल्याका यह दोष बौद्धिक प्रमाद था, ऐसी भूलें अच्छे बुद्धिमानोंसे हो जाया करती हैं। वह पाषाण हो गयी, किंतु थी वह पवित्र। नामकी स्थिति दूसरी है। नामने जिनका उद्धार किया वे सब 'खल' थे, जान-बूझकर दुष्टता करना उनका स्वभाव था। उनकी बुद्धि 'कुमति' थी। उसमें प्रमाद नहीं था वह तो कुकर्मको ही ठीक बतानेवाली थी। [पर वाल्मीकीयके अनुसार अहल्याने जान-बूझकर यह घोर पाप किया था। यथा—'मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा-देवराजकुतूहलात्॥ १। ४८। १९।' इतना ही नहीं किंतु उसने कर्मसे अपनेको कृतार्थ माना। यथा—'अथाब्रवीत्सु-रश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना। कृतार्थास्मि' ॥ २०॥' इसीसे गोस्वामीजीने आगे 'कृत अघ भूरी' शब्द उसके लिये लिखे हैं। अ० रा० में केवल इतना लिखा है कि इन्द्रने गौतमके रूपसे उसके साथ रमण किया। अहल्याने जाना या नहीं, इस सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखा है।]

नोट—३ यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्यप्रधानगुणीभूत व्यंग्य' है (वीर कवि)

श्रीबैजनाथजी—(क) दिशाएँ दस हैं। इसीसे अब यहाँसे केवल दस गुण नामद्वारा कहेंगे। अहल्याके उद्धारसे 'उदारता' गुण प्रकट हुआ। देश-काल, पात्र-अपात्र कुछ भी न विचारकर निःस्वार्थ याचकमात्रको मनोवाञ्छित देना उदारता है। यह गुण इसी चरितमें है, क्योंकि वह तो पाषाण थी, न तो दर्शन ही कर सकती थी और न प्रणाम। औरोंके उद्धारमें दर्शन या प्रणामादि कुछ हेतु प्रथम हुए तब उनका उद्धार हुआ। और अहल्यामें वे कोई हेतु न थे, उसका उद्धार निःस्वार्थ और निर्हेतु था। यथा—'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल। १। २११।' (ख) उदारता—गुण, यथा भगवद्गुणदर्पणे—'पात्राऽपात्रविवेकेन देशकालाद्यपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यवचसा हरे॥ (अर्थ ऊपर आ गया है)।

नोट—४ यहाँसे नाम साधनाका क्रम चलता है। मनुष्यकी बुद्धि ही दूषित होती है। दुष्टता अपकर्मकी जड़ बुद्धि है। बुद्धि बुरे कर्मोंमें भलाई देखने लगती है। पाप करनेमें सुखानुभव होता है और उसीमें उन्नति जान पड़ती है। भगवन्नामके जपसे वह दुर्बुद्धि प्रथम सुधरती है। पाप-कर्मोंमें दोष दीखने लगता है। स्वभाववश अपनी दुर्बलताके कारण वे छोड़े भले ही न जा सकें, परंतु उनसे पतन दीख पड़ता है। वे अनुचित हैं, उनसे हानि होती है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। बुद्धि धोखा नहीं देती। दुष्कृत्य करके पश्चात्ताप होता है। इस प्रकार नाम जप बुद्धिको पहले विशुद्ध करता है। (श्रीचक्रजी)।

रिषि हित राम सुकेतु सुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥ ४॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा॥ ५॥

शब्दार्थ—सेन=सेना। बिबाकी=बे+बाकी=निःशेष, समाप्त। दलइ=दलना, नष्ट करता है।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने तो विश्वामित्रजीके लिये सुकेतु यक्षकी कन्या (ताड़का) को सेना और पुत्रसमेत समाप्त किया॥ ४॥ पर नाम दासोंकी दुराशाओंको दुःख-दोषसहित इस तरह नाश करता है जैसे सूर्य रात्रिका नाश (बिना श्रम सहज ही) कर डालता है॥ ५॥

नोट—१ 'रिषि हित' इति। (क) ऋषिसे श्रीविश्वामित्रजीका तात्पर्य है, क्योंकि इन्हींके लिये ताड़का आदिका वध किया गया। (ख) वीरोंके लिये स्त्रियोंका वध 'निषिद्ध' है, इसलिये 'रिषि हित' मारना कहकर सूचित किया कि मुनिकी आज्ञासे उनके हितके लिये उसे मारा। ऋषिकी रक्षा न करनेसे क्षत्रियधर्ममें बट्टा लगता। अतएव दोष नहीं है।

२ सुकेतु एक बड़ा वीर यक्ष था। इसने सतानके लिये बड़ी तपस्या करके ब्रह्माजीको प्रसन्न कर लिया। उनके वरदानसे इसके ताड़का कन्या हुई जिसके हजार हाथियोंके सदृश बल था। यह सुन्दको ब्याही थी। मारीच इनका पुत्र था। जब सुन्दको महर्षि अगस्त्यने किसी बातपर क्रुद्ध होकर शाप देकर मार डाला, तब यह अपने पुत्रोंको लेकर ऋषिको खाने दौड़ी, उसपर दोनो उनके शापसे घोर राक्षस-योनिको प्राप्त हुए। तबसे यह विश्वामित्रके आश्रममें मुनियोंको दुःख दिया करती थी। (वाल्मीकीय)। विशेष १। २०९ (५) में देखिये।

३ 'सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी' इति। श्रीरामजीने ताड़का और सुबाहुको मारा, पर मारीचको बचा दिया था, यथा—'बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥ १। २१०।' इस विचारसे दो-एक टीकाकारोंने 'बिबाकी' का भाव यह लिखा है—(क) बि=पक्षी। 'बिबाकी' पद देकर जनाया कि उड़नेवाला मारीच बाकी रह गया। (सू० मिश्र)। (ख) मारीचको विशेष रक्खा (मा० मा०) पर यह अर्थ चौपाईमें लगता नहीं। 'सुत' से 'सुबाहु' ही ले लिया जाय तो भी हर्ज नहीं। आश्रममें एक भी न रह गया। वहाँसे सबको निःशेष कर दिया।

४ 'सहित दोष दुख दास दुरासा' इति। यहाँ ताड़का उसके पुत्र और सेना क्या है। उत्तर—(क) दासकी बुरी आशाएँ, दुर्वासनाएँ, ताड़का है, जैसे ताड़का ऋषिका अनहित करती थी, वैसे ही दुराशा दासके विश्वासको जड़से उखाड़ फेंकती है। जब भक्त औरोंकी आशा करने लगा तब जान लो कि उसका विश्वास जाता रहा, और 'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।' इसी प्रकार, 'थब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची' (वि० १६३) में आशाको पिशाची कहा है। जब आशा नहीं रहती तब हृदय निर्मल रहता है, यथा—'बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥' कि० १६।' पुनः यथा—'जे लोलुप भए दास आस के ते सबही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे॥ वि० १६८।' (ख) वहाँ ताड़काके दो पुत्र मारीच और सुबाहु, यहाँ दुराशाके दो पुत्र, दोष और दुःख। दुराशासे दोष और दुःख उत्पन्न होते हैं। (ग) सेनाका लक्ष्य 'सहित' शब्दसे ध्वनित हो सकता है। सहित=स+हित=हितके सहित=हितैषी जो सेना उसके समेत। 'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि'—यही दुःख दोषकी उत्साह बढ़ानेवाली सेना है।

नोट—५ यहाँ नाममें विशेषता दिखानेके विचारसे एकमें 'ऋषिहित', 'सुकेतुसुता' और 'बिबाकी' और दूसरेमें 'दलइ जिमि रबि निसि नासा' शब्दोंका प्रयोग हुआ। भाव यह कि विश्वामित्र ऋषिकी आज्ञासे उनके हितके लिये मारा, समस्त अस्त्र-शस्त्रविद्यामें निपुण और फिर ऋषि। वे तो स्वयं मार सकते थे, ये तो केवल निमित्तमात्र हुए। पुनः ऋषिहितमें अपना भी स्वार्थ सिद्ध होना था, क्योंकि न मारते तो गुरु और पिता दोनोंकी अवज्ञा होती और जनकपुरमें विवाह क्योंकर होता? 'सुकेतुसुता' से सूचित किया कि उसका पति भी न था, वह विधवा थी (नहीं तो पतिका नाम देते)। पुनः, मारीच मारा न गया वह बच रहा था और यहाँ दोष, दुःख, दुराशा तीनोंमेंसे कोई भी शेष नहीं रह जाता, जैसे सूर्यके उदयसे रात्रिका नामोनिशान भी नहीं रह जाता। पुनः सूर्य लाखों योजन दूर होनेपर भी बिना परिश्रम अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही नाम दूरहीसे सब काम कर देता है। रामचन्द्रजीने तो निकट जानेपर इन्हें मारा, पर नाम महाराज तो इन्हें निकट ही नहीं आने देते।

श्रीचक्रजी—(क) श्रीरामद्वारा केवल उपस्थित विघ्नका नाश हुआ। आगे कोई राक्षस विघ्न न करेगा ऐसी कोई बात यहाँतक नहीं हुई। नाम जापकके धर्मकी सदाके लिये निर्विघ्न रक्षा करता है। मनुष्यके धर्ममें बाधक हैं उनके दोष, और दोष आते हैं दुःखके भयसे। दुःखसे छूटकर सुख पानेकी दुराशासे ही मनुष्य दोष करता है। (ख) पूर्व कह आये कि नामके जपसे प्रथम बुद्धि शुद्ध होती है। पर बुद्धि शुद्ध होनेपर भी उसके निर्णयके विपरीत असत्कर्म अभ्यास-लोभादि अनेक कारणोंसे हो सकते हैं। अतः यहाँ बताते हैं कि नामजपका दूसरा सार है 'दोषोंका नाश'। बुद्धिके निर्णय कार्यमें आने लगते हैं। असत्कर्म, असदाचरण, अनीति, अन्याय छूट

जाता है (ग) दोषोंके छूट जानेपर भी मनमें अभावजन्य दुःख रहता है। पदार्थोंके मिलने या नष्ट होनेपर मनमें सोच होना दोषोंका बीज है। नामजप इस दुःखको नष्ट कर देगा। इस तीसरे स्तरमें जापक प्रभुका विधान एवं प्रारब्ध समझकर सदा संतुष्ट रहता है। (घ) दुःखके पश्चात् भी दुराशा रहती है। साधक अपने साधनके फलस्वरूप अनेक कामनाएँ प्रभुसे करता है, यह भी दुराशा है। नाम इस दुराशाका नाश करता है। जापक किसी लौकिक-पारलौकिक वैभवमें सुखकी आशा नहीं करता। सुखाशा न रहनेपर उधर आकर्षण हो नहीं सकता। इस तरह नाम जापकके धर्मकी सदाके लिये रक्षा करता है।

वैजनाथजी—यहाँ 'सिधिलिन्ह · बिनाकी' प्रभुका 'वीर्य' (वीरता) गुण दिखाया है। क्योंकि अभी एक तो किशोरावस्था थी, दूसरे बालकेलिके धनुष बाण धारण किये हुए हैं, तीसरे साधारण भी युद्ध अभीतक नहीं देखा था और चौथे एकाएक विकट भटोंका सामना पड़ गया तब भी मुखपर उदासीनता न आयी, मुख प्रसन्न ही बना रहा। इत्यादि, मनमें उत्साहसे वीररसकी परिपूर्णता है। (ख) भगवद्गुणदर्पणे यथा—'वीर्यं चाक्षीणशक्तित्वं वर्द्धमानानिरंतरम। अपि सर्वदशास्वस्य रामस्याविकृतिश्च तत ॥', 'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षण। पराक्रममहावीरो धर्मवीर सदास्वत. ॥ पञ्चवीरा· समाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्याति सर्ववीरोपलक्षणा ॥' अर्थात् श्रीरामजीकी शक्ति कभी क्षीण नहीं प्राप्त नहीं हुई, सदा अक्षीण है, उनका पौरुष अत्यन्त वर्द्धमान होता है और सर्व दशाओंमें वे निर्विकार रहते हैं—इसी गुणको वीर्य कहते हैं। कोई त्यागवीर होता है, कोई दयावीर, कोई विद्यावीर, कोई पराक्रममें महावीर और कोई धर्मवीर ही होता है, पर श्रीरामजी इन पाँचों वीरताओंमें परिपूर्ण हैं। 'रघुवीर' यह कथन पाँचों वीरोंका उपलक्षण है, अर्थात् पाँचों वीरताओंसे युक्त होनेसे 'रघुवीर' कहा गया है। (ग) इस प्रसङ्गमें भी पाँचों वीरताएँ हैं—पिताकी आज्ञा, ऋषिका हित और यज्ञकी रक्षामें 'धर्मवीरता'। ऋषियोंको खर सताते थे, उनकी करुणा मिटानेके लिये 'दयावीरता'। युद्धमें प्रसन्नतासे 'युद्धवीरता। माता-पिताके त्यागमें भी प्रसन्न बने रहनेमें 'त्यागवीरता'। एक ही बाणसे सुबाहुको जला दिया इत्यादिमें 'बाण विद्या-वीरता'। ये रूपमें प्रकट हुईं। यही सब गुण नामद्वारा सप्रारम्भ विस्तृत हुए। (घ) 'दलइ नाम जिमि रबि · ' से तेज गुण दिखाया। शौर्य, वीर्य और तेज ये 'प्रताप' के ही अङ्ग हैं।

नोट—१ 'प्रथम ताड़का-वध है दूसरे उसमें ऋषिका हित भी है, उसको पहले न कहकर यहाँ प्रथम अहल्योद्धार कहा गया, यह क्रम भङ्ग क्यों?' यह शङ्का उठाकर उसका समाधान यों किया गया है कि—(क) प्रभुका सर्वोत्तम गुण 'उदारता' एवं 'कारण-रहित कृपालुता' है जो अहल्याके उद्धारमें पूर्ण रीतिसे चरितार्थ हुआ, औरोंके उद्धारमें कुछ-न-कुछ स्वार्थ भी लक्षित हो सकता है। पुन (ख) इससे श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य और ब्रह्मत्व भी प्रकट होता है, यथा—'मुनि कुम्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं ॥' बा० २२३।', 'परसि जासु पदपंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी ॥' पुन, यह ब्रह्माजीकी कन्या, गौतम महर्षिकी पत्नी और पञ्चकन्याओंमेंसे है।* अतएव सब प्रकार माङ्गलिक जान उसको प्रथम कहा। पुन., (ग) यहाँ प्रकरणके विचारसे क्रमभङ्ग नहीं है। यह नामरूपका प्रकरण है, रामयशका नहीं। अत प्रधानता नामचरित्रकी है, रामचरित्र तो एक प्रकार दृष्टान्तमात्र है। यदि दुराशाके नाशके पीछे कुमतिका सुधरना कहते तो क्रम उलटा हो जाता, क्योंकि बिना कुमतिका सुधार हुए दुराशाका नाश असम्भव है। यहाँ वही क्रम रक्खा गया है जो भवनाशका है। अर्थात् इसमें प्रथम कुमतिका सुधार होता है तब दुराशा एवं दुःखदोषका नाश होता है और तभी भवभय छूटता है। कुमतिके

---

* ☞ अहल्यादिको लोग पञ्चकन्या कहते हैं। वे प्रातःस्मरणीय तो हैं ही। शुद्ध श्लोक यह है—'अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मन्दोदरी तथा। पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्।' अर्थात् अहल्या द्रौपदी आदि यह पञ्चक मनुष्य नित्य स्मरण करे, यह महापातकका नाशक है। 'पञ्चकं ना' का अपभ्रंश होकर पञ्चकन्या हो गया। बस इसीका लोगोंमें व्यवहार हो गया। आह्निक सूत्रावलि प्रथम भागकृत्य पुण्यश्लोक जनस्तुति ८२। आचारमयूखसे उद्धृत। ऋग्वेदीय ब्रह्मकर्म समुच्चय आह्निक आचार-प्रकरण, प्रातःस्मरण श्लोक ६। इन दोनोंमें कुन्तीकी जगह 'सीता' शब्द है। शेष श्लोक इन दोनोंमें ऐसा ही है। (सम्भव है कि 'कुन्ती' का नाम 'सीता' भी हो।)

रहते दुराशा आदि तो बढ़ते ही जाते हैं जिससे भवभय छूट ही नहीं सकता। श्रीरामनामके प्रतापसे कुमति, दुराशा आदिका क्रमशः नाश होता है। आगे भवनाश कहते ही हैं। दोहा २८ (८) टिप्पणी देखिये। पुनः, (घ) प्रभुने अवतार लेकर प्रथम उदारता गुण ही प्रकट किया कि जीवमात्रको भवसागरसे पार कर दें, तब वेदोंने आकर प्रार्थना की कि मर्यादा न तोड़िये, जो कोई किंचित् भी भक्ति करे उसीका उद्धार कीजिये, तब प्रभुने प्रतिज्ञा की कि जो तन-मनसे रूपके दर्शनमात्र या नामका उच्चारणमात्र करे उसका उद्धार कर देंगे। ऐसा भगवद्गुणदर्पणमें कहा है। निर्हेतु उद्धार अहल्याहीका है—यह उदारता गुण इसीमें प्रकट हुआ। इसलिये इसीको प्रथम रक्खा। (बैजनाथजी)।

भंजेउ राम आपु भवचापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू॥ ६॥

शब्दार्थ—भंजना=तोड़ना। आप=स्वयं, अपनेहीसे। भव=शिवजी। चाप=धनुष। भव=संसार, जन्ममरण, आवागमन।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं ही 'भव' (शिवजी) का धनुष तोड़ा और नामका प्रताप आप ही 'भव'-भयको नाश कर देनेवाला है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) भव-चाप श्रीरामजीसे ही टूटा, वैसे ही भव-भयका नाश श्रीरामनाम ही करते हैं, अन्य कोई नहीं कर सकता। 'भव-चाप' से भव-भय अधिक है। (ख) यहाँ नाममें यह विशेषता दिखायी कि श्रीरामजीको जनकपुर स्वयं जाना पड़ा तब धनुष टूटा, ऐसा नहीं हुआ कि उनकी दृष्टि पड़नेसे ही वह टूट जाता, और यहाँ 'नाम' महाराजका प्रताप ही सब काम कर देता है। पुनः, भव-भय अति दुस्तर है, नाम उसे नाश ही कर डालता है जैसा प्रह्लादजीने कहा—'रामनाम जपतां कुतो भयम्।' क० उ० ७० में भी नामके प्रतापको प्रभुसे बड़ा कहा है, यथा—'प्रभुहू तें प्रबल प्रताप प्रभु नाम को।' [(ग) 'भव' शब्द ध्यान देने योग्य है। शङ्करजीने इस धनुषसे त्रिपुरका विनाश किया था। यह दण्ड एवं भयका प्रतीक है। 'भवभय'—शङ्करजीके और भी भयदायक आयुध हैं जिनमें त्रिशूल मुख्य है। श्रीरामजीने एक धनुष तोड़ा पर उनके त्रिशूल आदि अन्य भयप्रद आयुध बने ही रहे। और नामका प्रताप 'भवभय' को नष्ट कर देता है, आयुध रहें तो रहा करें, किंतु वे भयप्रद नहीं होते। शङ्करजी प्रलयके अधिष्ठाता हैं और नामजापकोंके परमादर्श परम गुरु हैं। नामजापकोंकी उनके द्वारा रक्षा होती है, अतः मृत्यु या प्रलय आदिका भय जिसके वे अधिष्ठाता हैं नामके प्रभावसे ही नष्ट हो जाता है। (श्रीचक्रजी)]

नोट—१ द्विवेदीजी 'भवभय भंजन' का भाव यों लिखते हैं कि 'नामका प्रताप संसार भरके शापके भयको भंजन करता है। वा, नामप्रताप साक्षात् भव (महादेव) हीके भयको भंजन करता है। कथा प्रसिद्ध है कि विष पीनेके समय विषसे मर न जायँ इस भयसे महादेवजीने रामनाम स्मरण कर तब विषको पिया, इस बातको गोस्वामीजी पूर्व दोहा १९ (८) 'नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥' में लिख आये हैं।

बैजनाथजी—(क) भवचाप तोड़नेमें 'आप' कहा। भाव यह कि अस्त्र शस्त्र विद्यादि किसी उपायसे नहीं तोड़ा, किंतु अपने करकमलसे तोड़ डाला और उसमें किञ्चित् परिश्रम न हुआ। इसमें श्रीरामजीका 'बल' गुण प्रकट हुआ, यथा—'तब भुजबल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥ १। २३९।', 'संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहु बलु। १। २६१।' 'बल' गुणका यही लक्षण है, यथा—भगवद्गुणदर्पणे—'व्यायामस्य गुर्व्यां तु खेदाभावो बल गुण।', (ख) यहाँ श्रीरामजीमें एक स्थानपर 'बल' दिखाया, वही गुण नामने अनन्त स्थलोंमें दिखाया। (ग) 'भवभयभंजन' यह नामका प्रताप है, नामके प्रतापसे भवभय-भंजन सदा होता ही रहता है। उसका कारण यह है कि शौर्य-वीर्य-बल-तेज-उदारतादि गुणोंकी क्रिया जो रूपसे प्रकट हुई, वही नामके साथ लोकोंमें फैल गयी। वही यश वा कीर्ति है। कीर्तिको सुनकर जो शत्रुके हृदयमें ताप होता है और संसार स्वाभाविक ही डरने लगता है, उसीको 'प्रताप' कहते हैं। यथा—'जाको कीरति सुयश सुनि होत शत्रु उर ताप। जग डरात सब आपही कहिते ताहि प्रताप॥' रूपके गुण नामके संगमें 'प्रताप' कहलाते हैं।

श्रीचक्रजी—नामके द्वारा क्रमशः बुद्धिशोधन, दोष-नाश, दुःख परिहार, दुराशा क्षय कह आये। यह उसके प्रतापसे भवभयका नाश कहा। त्रिशूल, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप एवं मृत्यु, प्रलय, विनाश—ये नाम-जापकको भयभीत नहीं करते। भव (संसार)—में ऐसा कोई भय नहीं रह जाता जो उसे डरा सके। सम्पूर्ण जगत् उस दयामय, मङ्गलधाम, प्रभुकी क्रीडा है। प्रत्येक कार्य प्रत्येक परिस्थिति उसी करुणा-सागरके सुकुमार करोंकी कृति है।·· माता हँसे या बड़ा सा मुख फैलावे, बच्चेके लिये तो दोनों क्रीड़ाएँ उसे हँसानेका ही कारण है।

भव-भयको भव चापसे तुलनामें लाकर गोस्वामीजीने यहाँ अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। भगवान् शंकर वही हैं, परंतु भक्तोंके लिये वे शिव, कल्याणधाम, कुन्द-इन्दु दर-गौर सुन्दर हैं और दुष्टोंके लिये, संसाररत जीवोंके लिये प्रलयङ्कर, महारुद्र, महाकाल हैं। इसी प्रकार संसार भी वही है, किंतु साधारण प्राणियोंके लिये उसमें विनाश ही विनाश है। दुःख-ही-दुःख है। अत्यन्त भयप्रद है संसार, परंतु नाम-जापकके लिये तो सबका भय नष्ट हो जाता है। भव भयप्रद नहीं रहता। वह तो उसके करुणामय प्रभुकी परम मञ्जुल क्रीड़ा है और है भी उसीको प्रसन्न करनेके लिये। ज्यों-का-त्यों रहता हुआ भी यह संसार उसके लिये आनन्ददायी, पवित्र आह्लादमय हो जाता है।

नोट—२ 'प्रताप' का भाव यह है कि नामका आभास-मात्र आवागमनको छुड़ा देता है। जैसे यवनने 'हराम' शब्द कहा परंतु उसमें 'राम' शब्द होनेसे वह तर गया, अजामिलने अपने पुत्र 'नारायण' को पुकारा, न कि भगवान्‌को इत्यादि नामके प्रमाण हैं। (देखिये क० उ० ७६)।

३—यहाँ क्रमसे धनुषभंगके पश्चात् दण्डकारण्यकी कथाका रूपक गोस्वामीजीने दिया है। अयोध्याकाण्ड समग्र छोड़ दिया, उसमेंसे कोई प्रसङ्ग न लिया। इसका कारण पं० रामकुमारजी यह लिखते हैं कि 'मुनियोंकी रीति है कि प्रायः यह काण्ड छोड़ देते हैं, अथवा, इस काण्डको श्रीभरतजीका चरित्र समझकर छोड़ा। अथवा, इस काण्डमें कोई दृष्टान्त न मिला इससे छोड़ा। जैसा कि रावण-मारीच-संवाद और रावण-हनुमान् संवाद इत्यादिमें मारीच और श्रीहनुमानजी आदिने किया है। यथा—'जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड। खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड ॥ ३। २५।', 'खग जो त्रिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता ॥ हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृपदल-मद गंजा ॥ खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली ॥ ५। २१।', मन्दोदरीजीने बालकाण्डके पश्चात् अरण्यकाण्डकी कथा कही है, यथा—'पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अगजगनाथ अतुल बल जानहु ॥', 'बान प्रताप जान मारीचा।'··'भंजि धनुष जानकी बिबाही। तब संग्राम जितेहु किन ताही ॥ सुरपति सुत जानै बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा ॥ सूपनखा कै गति तुम्ह देखी ६। ३६।', इत्यादि।

पं० शिवलाल पाठकजी इसका कारण यह कहते हैं कि—'इन कथाओंका रूपक नाममें नहीं है। अतएव इन प्रसङ्गोंको छोड़कर दण्डकारण्यके पवित्र होनेकी कथा कही, क्योंकि नाम भक्तोंकी रसनापर स्थित हो भव नाश करता है और मनको पवित्र करता है। (मानसमयङ्क)।' अथवा, पद्मपुराण श्रीरामाश्वमेध-प्रसंगमें कहा है 'षट् काण्डानि सुरम्याणि यत्र रामायणेऽनघ। बालमारण्यकं चान्यत्किष्किन्धा सुन्दरं तथा। युद्धमुत्तरमन्यच्च षडेतानि महामते। (पाताल ६६। १६४)। अर्थात् वाल्मीकीय रामायणमें अत्यन्त सुन्दर छः काण्ड हैं—बाल, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध और उत्तर। इससे यह भाव निकलता है कि अयोध्याकाण्ड करुणरसपूर्ण होनेसे 'सुरम्य' न मानकर उसका उल्लेख नहीं किया गया (पं० रा० कु०)।

बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि बालकाण्डका विवाहादि शेष चरित धनुर्भंगके अन्तर्गत है, यथा—'टूटतही धनु भयो बिबाहू।' और समस्त अयोध्याकाण्ड और आधा अरण्यकाण्ड 'दंडकवनपावनतान्तर्गत' है। अथवा, यहाँ काण्डक्रम नहीं है, नामका अधिक प्रताप वर्णन ही अभीष्ट है। अयोध्याकाण्ड माधुर्यचरित्रसे परिपूर्ण है, इसमें ऐश्वर्य नहीं है और यहाँ प्रसंग प्रतापका है, अतः जहाँ-जहाँ प्रतापके प्रसंग हैं, वहाँसे लिये गये।

दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किय पावन॥ ७॥

अर्थ—प्रभु (श्रीरामजी) ने दण्डकवनको सुहावना (हरा-भरा) कर दिया। और नामने अमित (अनन्त) प्राणियोंके मनको पवित्र कर दिया॥ ७॥

नोट—१ 'दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन' इति। 'सुहावन' अर्थात् (क) हरा-भरा जो देखनेमें अच्छा लगे। भाव यह कि निशाचरोंके वहाँ रहनेसे और फल-फूल न होनेसे वह भयावन था, सो शोभायमान हो गया। यथा—'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥ गिरि बन नदी ताल छबि छाये। दिन दिन प्रति अति होत सुहाये॥ ३। १४।' (ख) पुनीत, पवित्र, यथा—'दंडक बन पुनीत प्रभु करहू। ३। १३।' 'दंडक पुहुमि पायँ परसि पुनीत भई उकठे बिटप लागे फूलन फरन। वि० २५७।'

श्रीवैजनाथजी—दण्डकवनको सुहावना कर देना, यह निःस्वार्थ जीवोंका पालन करना 'दया' गुण है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—'दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम्।' पुनश्च, 'प्रतिकूलानुकूलोदासीनसर्वचेतनाचेतन वस्तुविषयस्वरूपसत्तोपलम्भनरूपदालनानुगुणव्यापारविशेषो हि भगवतो दया' अर्थात् दयावानोंकी उस दयाको दया कहा जायगा जिसमें स्वार्थका लेश भी न हो। रूपमें जो यह दयालुता प्रगट हुई, उसी गुणको नामने लोकमें फैला दिया। उस दयाकी प्यासमें अनेक लोग दयालु प्रभुका नाम स्मरण करने लगे और पवित्र हो गये। इसीसे अमित जनोंके मनका नामद्वारा पावन होना कहा।

नोट—२ दण्डकवन एक है और जनमनरूपी वन 'अमित'—यह विशेषता है।

३—श्रीजानकीशरणजीका मत है कि जैसे इक्ष्वाकु-पुत्र दण्ड शुक्राचार्यजीके शापसे दण्डकवन हो गया, उसी प्रकार जन इक्ष्वाकुका मन दण्ड है, वेदोकी अवज्ञा करके कुत्सित मार्गमें उसने गमन किया है, इससे वेदरूपी शुक्राचार्य शापसे दण्डके सदृश भ्रष्ट हो रहा है। ऐसे अनेकोंको नामने पवित्र किया। (मा० मा०)। ['दण्ड' ही दण्डकवन हो गया इसका प्रमाण कोई नहीं लिखा कि किस आधारपर ऐसा कहा है। (मा० सं०)]

४ 'दंडक बन' इति। श्रीइक्ष्वाकुमहाराजका कनिष्ठ पुत्र दण्ड था। इसका राज्य विन्ध्याचल और नीलगिरिके बीचमें था। यहाँके सब वृक्ष झुलस गये थे, प्रजा नष्ट हो गयी और निशिचर रहने लगे। इसके दो कारण कहे जाते हैं—(१) एक तो गोस्वामीजीने अरण्यकाण्डमें **'मुनिवर शाप'** कहा है, यथा—'**उग्र साप मुनिवर कर हरहू।**' कथा यह है कि एक समय बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा। ऋषियोंको अन्न-जलकी बड़ी चिन्ता हुई। सब भयभीत होकर गौतमऋषिके आश्रमपर जाकर ठहरे। जब सुसमय हुआ तब उन्होंने अपने-अपने आश्रमोंको जाना चाहा, पर गौतम महर्षिने जाने न दिया, वरच वहीं निवास करनेको कहा। तब उन सबोंने सम्मति करके एक मायाकी गऊ रचकर मुनिके खेतमें खड़ी कर दी। मुनिके आते ही बोले कि गऊ खेत चरे जाती है। इन्होंने जैसे ही हाँकनेको हाथ उठाया वह मायाकी गऊ गिरकर मर गयी, तब वे सब आपको गो-हत्या लगा चलते हुए। मुनिने ध्यान करके देखा तो सब चरित जान गये और यह शाप दिया कि तुम जहाँ जाना चाहते हो, वह देश नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। आपका आश्रम नर्मदा नदी अमरकण्टकके जिस कुण्डसे निकली है वहाँपर था। आपने अपने तपोबलसे यह कुण्ड निर्माण किया था। [इस कथाका मूल अभी हमको नहीं मिला है।]

(२) दूसरी कथा यह है—पूर्वकालके सत्ययुगमें वैवस्वत मनु हुए। वे अपने पुत्र इक्ष्वाकुको राज्यपर बिठाकर और उपदेश देकर, कि 'तुम दण्डके समुचित प्रयोगके लिये सदा सचेष्ट रहना। दण्डका अकारण प्रयोग न करना।' ब्रह्मलोकको पधारे। इक्ष्वाकुने बहुत-से पुत्र उत्पन्न किये। उनमें जो सबसे कनिष्ठ (छोटा) था, वह गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ था। वह शूरवीर और विद्वान् था और प्रजाका आदर करनेके कारण सबके विशेष गौरवका पात्र हो गया था। इक्ष्वाकुमहाराजने उसका नाम 'दण्ड' रक्खा और विन्ध्याचलके दो शिखरोंके बीचमें उसके रहनेके लिये एक नगर दे दिया जिसका नाम मधुमत्त था। धर्मात्मा दण्डने बहुत वर्षोंतक वहाँका अकण्टक राज्य किया। तदनन्तर एक समय जब चैत्रकी मनोरम छटा चारों ओर छहरा रही थी राजा दण्ड भार्गव मुनिके रमणीय आश्रम-

के पास गया तो वहाँ एक परम सुन्दरी कन्याको देखकर वह कामपीड़ित हो गया। पूछनेसे ज्ञात हुआ कि वह भार्गववंशोद्भव श्रीशुक्राचार्यजीकी ज्येष्ठ कन्या 'अरजा' है। उसने कहा कि मेरे पिता आपके गुरु हैं, इस कारण धर्मके नाते मैं आपकी बहिन हूँ। इसलिये आपको मुझसे ऐसी बातें न करनी चाहिये। मेरे पिता बड़े क्रोधी और भयंकर हैं, आपको शापसे भस्म कर सकते हैं। अतः आप उनके पास जायँ और धर्मानुकूल बर्तावके द्वारा उनसे मेरे लिये याचना करें। नहीं तो इसके विपरीत आचरण करनेसे आपपर महान् घोर दुःख पड़ेगा। राजाने उसकी एक न मानी और उसपर बलात्कार किया। यह अत्यन्त कठोरतापूर्ण महाभयानक अपराध करके दण्ड तुरत अपने नगरको चला गया और अरजा दीन-भावसे रोती हुई पिताके पास आयी। श्रीशुक्राचार्यजी स्नान करके आश्रमपर जो आये तो अपनी कन्याकी दयनीय दशा देख उनको बड़ा रोष हुआ। ब्रह्मवादी, तेजस्वी देवर्षि शुक्राचार्यजीने शिष्योंको सुनाते हुए यह शाप दिया—'धर्मके विपरीत आचरण करनेवाले अदूरदर्शी दण्डके ऊपर प्रज्वलित अग्निशिखाके समान भयंकर विपत्ति आ रही है, तुम सब लोग देखना। वह खोटी बुद्धिवाला पापी राजा अपने देश, भृत्य, सेना और वाहनसहित नष्ट हो जायगा। उसका राज्य सौ योजन लम्बा-चौड़ा है। उस समूचे राज्यमें इन्द्र धूलकी बड़ी भारी वर्षा करेंगे। उस राज्यमें रहनेवाले स्थावर, जङ्गम जितने भी प्राणी हैं, उन सबोंका उस धूलकी वर्षासे शीघ्र ही नाश हो जायगा। जहाँतक दण्डका राज्य है वहाँतकके उपवनों और आश्रमोंमें अकस्मात् सात राततक जलती हुई रेतकी वर्षा होती रहेगी।'—'वक्ष्यते पांसुवर्षेण महता पाकशासनः।' वाल्मी० ७। ८१। ८। यह कहकर शिष्योंको आज्ञा दी कि तुम आश्रममें रहनेवाले सब लोगोंको राज्यकी सीमासे बाहर ले जाओ। आज्ञा पाते ही सब आश्रमवासी तुरत वहाँसे हट गये। तदनन्तर शुक्राचार्यजी अरजासे बोले कि—यह चार कोसके विस्तारका सुन्दर शोभासम्पन्न सरोवर है। तू सात्त्विक जीवन व्यतीत करती हुई सौ वर्षतक यहीं रह। जो पशु-पक्षी तेरे साथ रहेंगे वे नष्ट न होंगे।—यह कहकर शुक्राचार्यजी दूसरे आश्रमको पधारे। उनके कथनानुसार एक सप्ताहके भीतर दण्डका सारा राज्य जलकर भस्मसात् हो गया। तबसे वह विशाल वन 'दण्डकारण्य' कहलाता है। यह कथा पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें महर्षि अगस्त्यजीने श्रीरामजीसे कही जब वे शम्बूकका वध करके विप्रबालकको जिलाकर उनके आश्रमपर गये थे। (अ० ३९)। और, वाल्मीकीय ७ सर्ग ७९, ८० और ८१ में भी है। इसके अनुसार चौपाईका भाव यह है कि प्रभुने एक दण्डकवनको, जो सौ योजन लम्बा था और दण्डके एक पापसे अपवित्र और भयावन हो गया था स्वयं जाकर हरा-भरा और पवित्र किया किंतु श्रीनाम महाराजने तो असंख्यों जनोंके मनोंको, जिनके विस्तारका ठिकाना नहीं और जो असंख्यों जन्मोंके संस्कारवश महाभयावन और अपवित्र हैं, पावन कर दिया। 'पावन' में 'सुहावन' से विशेषता है। 'पावन' कहकर जनाया कि उनके मनके जन्म-जन्मान्तरके संचित अशुभ संस्कारोंका नाश करके उनको पवित्र कर देता है और दूसरोंको पवित्र करनेकी शक्ति भी दे देता है।

निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥ ८॥

दो०—सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुनगाथ॥ २४॥

शब्दार्थ—निकर=समूह, दल, झुंड। दले=दलित किया, नाश किया। कलुष=पाप। उधारे=उद्धार वा भवपार किया। =सद्गति। अमित=असंख्य, अगणित। निकंदन=नाश करनेवाला।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने निशाचरोंके समूहको मारा और नाम तो कलिके समस्त पापोंको जड़से उखाड़ डालनेवाला (नाशक) है॥ ८॥ श्रीरघुनाथजीने तो शबरी, गृध्रराज (जटायु) ऐसे अच्छे-अच्छे सेवकोंको सद्गति दी, (पर) नामने अनेकों दुष्टोंका उद्धार किया, वेदोंमें उनके गुणोंकी कथा प्रसिद्ध है॥ २४॥

नोट—१ नामका बड़प्पन एकमें 'निकर' और 'निशाचर' (पाप करनेवाले। अर्थात् कार्यको), 'दले',

'सवरी गीध' (दो) और वह भी 'सुसेवक' और दूसरेमें 'सकल' और 'कलिकलुष' (पापहीको, कारणहीको), 'निकंदन' 'अमित' और 'खल' शब्दोंको देकर दिखाया गया। अर्थात् निशाचरोंमें कुछ न-कुछ बच ही रहे और यहाँ 'पाप' रह ही न गया। 'दले' शब्द जनाता है कि राक्षसकुलका सर्वविनाश नहीं किया। जो बचे उन्होंने विभीषणको राजा मान लिया। 'निकंदन' में निःशेषका भाव है। नाम निःशेष कर डालता है फिर कलुषित भावों-के आनेका अवकाश ही नहीं रह जाता। कलिके कलुष अर्थात् राजसी भावोंके कारणको। कारण ही न रह गया तो कार्य हो ही कैसे? शबरी और गृध्रराज उत्तम सेवक थे। उनको गति दी तो क्या? दुष्टोंको सद्गति देना वस्तुतः सद्गति देना है।

नोट—२ 'निसिचर निकर दले रघुनंदन' इति। (क) दण्डकवनको सुहावन-पावन करने और श्रीशबरी एवं गृध्रराजके प्रसङ्गके बीचमें 'निसिचर ···' कहनेसे यहाँ खर-दूषण-त्रिशिरा और उनकी अजय अपार चौदह हजार निशाचरों-की सेना अभिप्रेत है। यह युद्ध पञ्चवटीपर हुआ, जहाँ श्रीरामजी दण्डकवनमें रहते थे। खरदूषण रावणके भाई हैं जो शूर्पणखाके साथ जनस्थानमें रावणकी ओरसे रहते थे। इनकी कथा अरण्यकाण्डमें आयी है। (ख) 'नाम सकल कलि कलुष निकंदन' इति। काष्ठजिह्वा स्वामीजी इसका रूपक इस प्रकार लिखते हैं—'भाई पचवटी के रन में बड़ो रग समुझन में। चाह सूपनखा सदा सुहागिनि खेलि रही मन बन में॥ रूपनवाम ताके धरि काटे नाक कान एक छन में। भाई०॥ खर है क्रोध, लोभ है दूषन, काम बसै त्रिसिरन में। कामै क्रोध लोभ मिलि डरमें तीनौं एकै तन में। भाई०॥' अर्थात् चाह (तृष्णा) शूर्पणखा है, क्रोध खर राक्षस है, लोभ दूषण राक्षस है और काम त्रिशिरा राक्षस है। ये सब इसी शरीरमें देख पड़ते हैं।

श्रीवैजनाथजी—निशाचर समूहका नाश क्षणभरमें कर डालना 'शौर्य गुण' है। यथा—भगवद्गुणदर्पणे—'सर्वसाक्षीतिराहित्य युद्धोत्साहश्च कीर्त्यते। शूरे शौर्यमिदं चोक्तं राज्ञां स्वर्ग्ययशस्करम्॥ रामचन्द्रो न शक्य स्यात् रक्षितु सुरसत्तमैः। ब्रह्मरुद्रेन्द्रसंघैश्च त्रैलोक्यप्रभुभिस्त्रिभिः॥' अर्थात् नर, नाग, सुर, असुर आदि तीनों लोकोंके वीर एकत्र होकर युद्धके लिये आवें तो भी किञ्चित् भय न करें, बड़े उत्साहसे युद्ध करें और क्षण भरमें सबका नाश कर दें, यही 'शौर्य' गुण है। जिसको वे मारना चाहें उसे ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि त्रैलोक्यके वीर नहीं बचा सकते। यथा—'जौं रन हमहिं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥ १। २८४।', 'सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥ २। १८९।', 'रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥ ३। १९।', 'करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान। ३। २०।', 'खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा॥ ३। २२।', खरदूषणादिके प्रसङ्गमें शौर्यगुणके सब अङ्ग स्पष्ट हैं। प्रभुने यह शौर्यगुण एक स्थलमें जो प्रकट किया, वही प्रताप नामके साथ लोकोंमें फैला, जिसमें पापरूपी खलोंसे भयातुर हो प्रतापी प्रभुका नाम लोग जपने लगे, जिससे अगणित लोगोंके सब प्रकारके पाप जड़मूलसे नाशको प्राप्त हो गये।

नोट—३ 'सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि' इति। (क) श्रीशबरीजी श्रीमतङ्ग-ऋषिकी चेली थीं, उनके प्रेमका क्या कहना! श्रीरामजी स्वयं उसे दृढभक्तिका प्रमाणपत्र दे रहे हैं, यथा—'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें। ३। ३६। ७।' गीतावली और भक्तमालमें उनकी प्रेम कहानी खूब वर्णन की गयी है और उनके बेरोंकी प्रशंसा तो प्रभुने श्रीअवध-मिथिलामें भी की थी, यथा—'घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥ वि० १६४।' वाल्मीकिजीने श्रीशबरीजीके लिये 'महात्मा' विशेषण दिया है। अरण्यकाण्डमें इसकी कथा विस्तारसे दी गयी है। ३। ३४-३६ में देखिये। इसीसे उनको 'सुसेवक' कहा। (ख) 'गीध' इति यहाँ प्रसङ्गसे गृध्रराज श्रीजटायु ही अभिप्रेत हैं। ये दशरथजीके सखा थे, ऐसा उन्होंने (वाल्मीकीयमें) श्रीरामजीसे कहा है। इसीसे श्रीरामजी उनको पिता-समान मानते थे। ये ऐसे परहितनिरत थे कि इन्होंने श्रीसीताजीकी रक्षामें अपने प्राण ही दे दिये। अरण्यकाण्ड दोहा २९ से ३२ तक इनकी कथा है। विशेष विस्तारसे वहाँ लिखा गया है। गीतावलीमें इनकी सुन्दर कथा है और इनकी मनोहर मृत्युकी प्रशंसा गोस्वामीजीने दोहावलीमें दोहा २२२ से २२७ तक छः दोहोंमें की है। पक्षी और आमिषभोगी होते हुए भी इन्होंने सेवासे कैसी सुन्दर गति पायी। इसीसे 'सुसेवक'

टिप्पणी—१ इस दोहेका जोड़ 'नाम कोटि खल कुमति सुधारी' से मिलाया है। नामने खलोंकी बुद्धि सुधारी। जब बुद्धि सुधरती है तभी उद्धार होता है, सो यहाँ उनका उद्धार कहा। श्रीरामचरितमें जो क्रम है वही श्रीनामचरित्रका है—

श्रीराम चरित्र	श्रीनाम चरित्र
१-श्रीकौशल्याजीसे श्रीरामचन्द्रजीकी आविर्भावना	भक्तकी जिह्वापर नामका आविर्भाव।
२-श्रीरामचन्द्रजीने ताड़का-सुबाहु आदिका वध किया इत्यादि।	नाम दोष-दुःख-सहित दुराशाका नाश करके तब भवका नाश करते हैं। दुराशाके रहते भवका नाश नहीं होता इत्यादि।

नोट—८ यहाँ श्रीशबरीजीको प्रथम कहा और श्रीजटायुजीको पीछे, यद्यपि लीलाक्रममें पहले जटायुजीको गति दी गयी तब श्रीशबरीजीको। इसका एक कारण तो पूर्व लिखा ही जा चुका। पंजाबीजी और पं० रामकुमारजीका मत है कि यह व्यतिक्रम छन्दहेतु किया गया। 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्'। अर्थ करने समय आगे-पीछे ठीक करके अर्थ करना चाहिये। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि श्रीरामजी शबरीजीमें माता-भाव और जटायुजीमें पिता-भाव मानते थे। यथा—'राम सबरी पितु मातु ज्यों, माने दपि को मितु मीत।' विनय १९? । माताका गौरव पितासे अधिक है, यह पूर्व १८ (१०) में भी दिखाया गया है। अतः शबरीको प्रथम कहा।

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सबु कोऊ॥ १॥
नाम गरीब अनेक नेवाजे। लोक बेद बर बिरिद बिराजे॥ २॥

शब्दार्थ—नेवाजे (फारसी शब्द है)=कृपा की। बिरिद=बाना, पदवी, यश। बिराजे=विराजमान हैं, प्रसिद्ध हैं, चमचमा रहे हैं।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणजी दोनोंको शरणमें रक्खा (यह) सब कोई (सभी) जानते हैं॥ १॥ पर, रामनामने अनेक गरीबोंपर कृपा की, (यह नामका) श्रेष्ठ यश लोक और वेद दोनोंमें विशेषरूपसे चमचमा रहा है॥ २॥

नोट—१ यहाँ नामकी विशेषता एकमें 'सुकंठ बिभीषन', 'दोऊ', 'जान सब कोऊ' और दूसरेमें 'गरीब', 'अनेक', 'लोक बेद०' शब्दोंको देकर दिखायी है। 'जान सब कोऊ', में व्यङ्ग यह है कि अपने स्वार्थके निमित्त उनको शरण दिया। एकने वानरी सेनासे और दूसरेने रावणका भेद देकर सहायता की, यह सब जानते हैं। पर गज, अजामिल, गणिका, ध्रुव, प्रह्लाद आदिका उद्धार नामहीसे हुआ कि जो उसका कुछ भी बदला नहीं दे सकते थे। सुग्रीव-विभीषण दोनों राजा (बड़े आदमी) हैं, अतएव उन्हें सभी पूछना चाहेंगे और यहाँ 'गरीब' जिनको और कोई न पूछे वे तारे गये।

२ 'बर बिरद बिराजे' इति। अर्थात् वेदोंने नामकी महिमा इन्हींके कारण गायी है। वेद कहते हैं कि नाम गरीबनिवाज हैं और लोकमें प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि नाम जापक सुखी है। 'बर' कहकर जनाया कि महिमा श्रेष्ठ है। (पं० रामकुमारजी)

श्रीबैजनाथजी—(क) सुग्रीव और विभीषण दोनों अपने-अपने भाइयोंसे अपमानित होनेसे दीन होकर शरणमें आये थे, यथा—'हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी। ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ भुआला॥ इहाँ सापबस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं॥ ४। ६।' 'बालित्रास ब्याकुल दिन राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती॥ सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ॥ ४। १२।' श्रीहनुमान्‌जीने 'श्रीरामजीसे सुग्रीवको दीन जानकर शरणमें लेनेको कहा है, यथा—'नाथ सैल पर कपिपति रहई। दीन जानि तेहि अभय करीजे। ४। ४।' विभीषण भी दीन थे, यथा—'दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। ५। ४५।' 'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं॥ ५। ४४।' 'रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ

दीन्हेउ राजु अखंड ॥ ५ । ४९ ।', 'रघुबस बिभूषन दूषनहा । कृत भूप बिभीषन दीन रहा ॥ ६ । ११० ।', (ख) ऐसे दीन सुग्रीव और विभीषणजीको राजा बनाया, नित्य पार्षद बना लिया और प्रातःस्मरणीय कर दिया । यह 'करुणा' गुण है, यथा भगवद्गुणदर्पणे—"आश्रितार्त्याग्निना हेम्नो रचितुर्द्रवणे द्रव. । अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद् द्रवत् ॥ कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्तिनिवारणम् । इति या दुःखदुःखित्वमार्तानां रक्षणे त्वरा ॥ परदुःखानुसंधानाद्विह्वली-भवनं विभो । कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्तानां भीतिवारक ॥' अर्थात् जैसे अग्निसे सोना गलता है वैसे ही आश्रितोंके दुःखसे रक्षक भगवान् द्रवित होते हैं । अत्यन्त मृदुचित्त होनेसे नेत्रोंसे भक्तोंका दुःख देख अश्रुपात होने लगता है, और आश्रितके दुःख निवारणार्थ क्या करूँ और कब कर डालूँ—इस विचारसे दुःखित आश्रितोंके रक्षणकी जो त्वरा है तथा परदुःखके चिन्तनसे विह्वल हो जाना यह सब भगवान्का 'कारुण्य' गुण है जो भक्तोंके भयको निवारण करता है ।

नोट—३ श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणजी दोनों अत्यन्त दीन (आर्त) थे । सुग्रीवने अपना दुःख स्वयं श्रीरामजीसे कहा ही है और विभीषणजीने श्रीहनुमानजीसे कहा है, यथा—'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी । जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी ॥ तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा । करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा ॥ ५ । ७ ।' फिर रावणने उन्हें लात मारकर निकाल दिया । जिस अपमानने उनको बड़ी ग्लानि हुई जिससे वे शरणमें आये—'तुलसी हुसुकि हिय हन्यो लात, भले तात चल्यो सुरतरु ताकि तजि घोर घामै ।' गीतावली ५ । २५ ।' 'भरत गलानि जानि सनमानि सिख देति ', 'जात गलानिन्हि गरयो', (गीतावली ५ । २६, २७), 'कृपासिंधु सनमानि जानि जन दीन लियो अपनाइ कै' (२८) । सुग्रीवका दुःख सुनकर प्रभुको इतना दुःख हुआ कि तुरत बालिवधकी प्रतिज्ञा कर दी, यथा—'सुनि सेवक दुख दीनदयाला । फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला ॥ सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान । ४ । ६ ।' विभीषणको तुरत तिलक करके उनकी ग्लानि दूर की ।

'गरीब' का अर्थ—'सुग्रीव-विभीषणके प्रसङ्गसे दीन, आर्त, दुःखसे व्याकुल, जिसका कोई रक्षक नहीं है ।' प्रभुका 'करुणा' गुण नामद्वारा अनन्त हुआ, उसने अनेकों ऐसे दीन आर्तजनोंका दुःख नाश कर उनको सुखी किया ।

४ सुग्रीव और विभीषण दोनों सर्वथा अनुपयोगी शरणागत न थे । फिर विभीषणजीने तो शरण आनेसे पूर्व ही हनुमानजीको पता बताकर उनकी सहायता की थी, और रावणकी सभामें भी 'नीति बिरोध न मारिय दूता' कहकर उनकी रक्षा की थी । अतएव उनको शरणमें लेना औदार्यका आदर्श नहीं कहा जा सकता । नामने गरीबोंका उद्धार किया । गरीब अर्थात् सम्पत्ति, बुद्धि, वर्ण, तप, जप, धर्म, प्रेम या साधन, इस प्रकारका कोई धन जिनके पास न था, जो किसी उपयोगमें नहीं आ सकते थे । 'लोक बेदबर बिरिद बिराजे' का भाव कि यह बात प्रख्यात एवं निर्विवाद है, अतः इसके लिये उदाहरणकी आवश्यकता नहीं ।

यहाँ नामका व्यापक महत्त्व प्रतिपादित किया गया । पूर्व जो कह आये कि नामने अमित खलोंका उद्धार किया उसीको स्पष्ट करते हैं कि उनके उद्धारमें केवल एक बात है । जहाँ दैन्यका अनुभव हुआ, हृदयमेंसे जहाँ अपना गर्व गया बस एक बार नाम लेते ही कल्याण हो जाता है । जबतक शरीर, बुद्धि, धन, उच्च वर्ण, तप, त्याग, धर्माचरण यज्ञ, ज्ञान प्रभृति साधनोंका भरोसा है, बस, तभीतक मायाका आवरण भी है । जो अपनेको सम्पूर्ण असहाय दीन समझकर नाम लेता है, नाम उसका उद्धार कर देता है । फिर वहाँ खल या सत्पुरुषका भेद नहीं रह जाता (श्रीचक्रजी) ।

राम भालु कपि कटकु बटोरा । सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा ॥ ३ ॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं । करहु बिचारु सुजन मन माहीं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—कटक=सेना । बटोरा=इकट्ठा किया । श्रम=परिश्रम । माहीं=में ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने (तो) रीछ और बन्दरोंकी सेना इकट्ठी की, पुल (बाँधने) के लिये कुछ थोड़ा परिश्रम नहीं उठाया, अर्थात् बहुत परिश्रम करना पड़ा ॥ ३ ॥ (पर) नाम लेते ही भवसागर सूख ही जाते हैं । सज्जनो ! मनमें सोच-विचार कीजिये (कि कौन बड़ा है) ॥ ४ ॥

नोट—१ यहाँ नाममें यह विशेषता दिखायी कि वहाँ तो 'भालु कपिकी सेना' और 'स्वयं श्रीरामचन्द्रजी' और यहाँ केवल 'नाम', वहाँ 'बटोरनेमें समय और परिश्रम' यहाँ नाम 'लेते ही', वहाँ 'पृथ्वीके एक लघु प्रदेशपर रहनेवाला समुद्र' यहाँ 'भवसिंधु' जो सृष्टिमात्र भरमें है, वहाँ पुल बाँधनेके लिये परिश्रम, उपवास इत्यादि और फिर भी समुद्र ज्यों-का-त्यों बना ही रहा क्योंकि वह सेतु पीछे टूट भी गया और यहाँ भवसिंधु सूख ही गये—स्मरण मात्रसे, वहाँ एक समुद्र यहाँ सब। वहाँ प्रयास यहाँ सेतु बनानेका प्रयास नहीं।

२ 'बटोरा' शब्द यहाँ कैसा उत्तम पड़ा है। इधर-उधर बिखरी फैली, बिखरी हुई वस्तुओंको समेटकर एकत्र करनेको 'बटोरना' कहते हैं, और यहाँ कपिदल चारों दिशाओंमें जहाँ-तहाँ था, वह नामोंसे दूतोंद्वारा एकत्र किया था। बटोरनेमें समय लगता है, वैसे ही कपिदलके इकट्ठा करनेमें भी समय लगा।

३ 'श्रम कीन्ह न थोरा', यथा, 'विनय न मानत जलधि जड गये तीनि दिन बीति'। ५। ५७।' श्रीरामचन्द्रजी-को सिंधुतटपर 'माँगत पथ' में तीन उपवास हुए यह बात कवितरामायणमें स्पष्ट कही गयी है, यथा—'तीसरे उपास बनवास सिंधु पास सो समाज महाराजजूको एक दिन दान भो' (सु० ३२)। कपि-भालु-दलका परिश्रम तो सब जानते ही हैं कि हिमालय तकसे पर्वतोंको ला-लाकर समुद्रमें पुल बाँधा। इतनेपर भी वह सेतु सेना पार उतारनेके लिये अपर्याप्त हो गया, कितने ही जलचरोंपर चढ़-चढ़कर गये इत्यादि।

टिप्पणी—१ (क) भवसिंधुका कारण 'शुभाशुभ कर्म' है। सो रकारके उच्चारणमें कर्म भस्म हो जाते हैं। पुन, भवसिंधुका कारण 'अविद्या' है। यह अविद्या अकारके उच्चारणमें नाश होती है। पुन भवसिंधु तापसे भरा है, वह ताप मकारसे नाश हो जाता है॥ १९॥ (१) 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' में देखिये। (ख) 'सुखाहीं' का भाव यह कि फिर भवसिंधु नहीं होता। 'सुखाहीं' बहुवचन क्रिया देकर सूचित किया कि जैसे इस जगत्में मुख्य समुद्र सात हैं वैसे ही भवसिंधु भी सात हैं। बहुवचन देकर जनाया कि वे सब सूख जाते हैं। परमेश्वरके मिलनेमें सात विक्षेप या आवरण हैं, वे ही सात समुद्र हैं। वे सात समुद्र ये हैं—'मानसिक, कायिक और वाचिक कर्म, अविद्या, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप।'

नोट—४ (क) प० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि अविद्यात्मक कर्मका परिणाम देह है, उसे ही सागर भी कहा है, यथा—'कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर विपुल अवगाह दुस्तर अपार। वि० ५८।', यह देह सप्त धातुओंसे निर्मित है, यथा—'सातँ सप्त धातुनिर्मित तनु करिय विचार। वि० २०३।', जायमान ऋषिभीतः सप्तवध्रि कृताञ्जलि। भा० ३। ३१।' [भा० ३। ३१। ११ में यह श्लोक है। परतु पाठ 'नाथमान ऋषिर्भीत.' है। अर्थ यह है—'उस समय सात धातुओंसे युक्त शरीरमें अभिमान करनेवाला वह जीव अति भयभीत होकर याचना करता हुआ' (गीताप्रेस सस्करण)] इस प्रकार भी सप्तसागर आ जाते हैं। देहाभिमानको सोखना भवसिंधुका सोखना है।

(ख) सातकी सख्या इस प्रकार भी पूरी कर सकते हैं—पच कोश (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय), अहकार और अविद्या। पुन, यदि हम समुद्र चार मानें, क्योंकि वे हमारे दृष्टिगोचर होते हैं और कालिदासजीने चार समुद्र मानकर ही रघुवंशमें लिखा है—'पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्। २। ३।' तो भी बहुवचन ही रहता है और उस समय स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण—ये चारों शरीर ही चार भवसमुद्र हैं। नामके जपसे पञ्चकोषादि एव स्थूल-सूक्ष्मादि शरीररूपी भवसिंधुओंका सूखना यह है कि ये पुनर्जन्मादि कारण नहीं रह जाते, केवल प्रारब्धक्षयतक आपातत (ऊपर-ऊपर, देखनेमात्रके) लोक-व्यवहारोपयोगी भर बने रहते हैं। अथवा सात या चारकी सख्या न लेकर भी बहुवचनकी सार्थकता इस प्रकार दिखायी जा सकती ... का अर्थ 'जन्म-मरण' होना है और जीवका न जाने कितना सचित कर्म है जिनको भोगनेके लिये न जाने ... पड़े। प्रत्येक बारका जन्म-मरण एक समुद्र है। अत बहुवचन 'सुखाहीं' दिया। (ग) सू० मिश्र जी ... से बताया कि भवसागरका एकदम अभाव नहीं हो जाता, किन्तु उसका नाम भर ... कुछ नहीं रहता।

वैजनाथजी—'राम भालु कपि ··' इसमें प्रभुका 'चातुर्य गुण' प्रकट हुआ कि सबकी बोली (भाषा) और सर्वकला विद्यामें प्रवीण हैं तभी तो देश-देशके रीछ-वानरोंकी भाषा समझते हैं, उनसे वार्तालाप करते हैं और अगाध समुद्रमें बलके ऊपर चार सौ कोसतक पत्थरोंको तेराकर पुल बाँध दिया। ऐसा दुष्कर दुःसाध्य कार्य केवल अपनी बुद्धिसे किया—यही चातुर्य गुण है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—'केवलया स्वबुद्ध्यैव प्रयासार्थविदू। दुःसाध्यकर्मकारित्वं चातुर्यं चतुरा विदुः॥ साधकाश्चापि सिद्धाना चतुराणा च राघव।' कौशाना भाषया राम कौशेषु व्यपदेशिक॥ ऋक्षराक्षसपक्षीषु तेषा गीर्भिस्तथैव स॥' यही गुण नामद्वारा अनन्तरूप हो लोकोंमें प्रसिद्ध हुआ, ऐसे दुःसाध्य कार्य सुन भवसिंधुसे भयभीत पामर प्राणियोंको शरणमें आनेका उत्साह हुआ और वे नाम जपकर पार हो गये।

नोट—५ 'करहु बिचार सुजन मन माहीं।' इति। (क) भाव यह कि हम बढ़ाकर नहीं कह रहे हैं, आप स्वयं सुजान हैं, अतः आप बिना परिश्रम विचारकर स्वयं देख लीजिये कि नाम बड़ा है कि नहीं। (ख) पूर्व जो कहा है कि 'सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू।' उसीको यहाँ पुनः कहते हैं कि सज्जनो! मनमें विचार करो। अर्थात् इस प्रसङ्गमें जो विदग्ध शब्दोंमें वचन-चातुरी है उसे शब्दार्थ ही समझकर बोध न कर लो किन्तु इसके भीतर जो गुण वर्णन है उसका कारण मनमें विचारो। तात्पर्य यह कि जो गुण रूपसे एक बार प्रकट हुआ वही नामद्वारा अनन्त हो गया, उनका स्मरणमात्र करनेसे अनेकोंका भला हो रहा है। जैसे किसी पण्डितने अपने तन्त्र-मन्त्र विद्याद्वारा किसी चोरका नाम प्रसिद्ध कर उसे पकड़ा दिया तो पण्डितका नाम लोकमें प्रसिद्ध हो फैल गया। जहाँ चोरी हुई और उस पण्डितका नाम लोगोंने लिया तहाँ ही चोर डरकर वस्तु डाल देता है। रूपके ही गुणका प्रभाव नाममें है। (वैजनाथजी)

श्रीसुदर्शनसिंहजी—'करहु बिचार सुजन'। यहाँ सज्जनोंको विचार करनेको कहा जा रहा है। जो सज्जन नहीं हैं उनके हृदयमें तो भगवल्लीलारहस्य विचार करनेपर भी नहीं आ सकता, किंतु सज्जन विचार करें तो जान सकते हैं। भाव यह है कि आप सज्जन हैं, परमार्थमें आपकी रुचि है, अतः आपको विचार करके यह देख लेना चाहिये कि नामके समान महामहिम और कोई साधन नहीं है। अतः खलोंकी रुचि तो नाममें भले ही न हो पर आपकी रुचि तो नाममें होनी ही चाहिये। सज्जनोंको तो एकमात्र नामका ही आश्रय लेना चाहिये।

राम सकुल* रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा॥ ५॥
राजा राम अवध रजधानी। गावत† गुन सुर मुनि बर बानी॥ ६॥
सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥ ७॥
फिरत सनेह मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥ ८॥

शब्दार्थ—सकुल=कुल वा परिवारसहित। रन=लड़ाई। पुर=नगर। पगु (पग)=पैर। धारा=धरा। पगु धारा=प्रवेश किया, गये, पधारे।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने रावणको परिवार-सहित रणमें मारा। (तब) श्रीसीताजीसहित अपने नगरमें प्रवेश किया॥ ५॥ श्रीराम राजा हुए, अवध उनकी राजधानी हुई। देवता और मुनिश्रेष्ठ श्रेष्ठ वाणीसे उनके गुण गाते हैं॥ ६॥ पर, सेवक नामका प्रेमसे स्मरणमात्र करते हुए बिना परिश्रम बड़े भारी बलवान् मोहदलको जीतकर प्रेममें मग्न स्वच्छन्द अपने सुखसे विचरते हैं। नामके प्रसाद (कृपा) से उनको स्वप्नमें भी सोच नहीं होता॥ ७-८॥

नोट—१ इन चौपाइयोंका स्पष्ट भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजीको अपनी सेनासहित श्रीसीताजीके लिये रावणसे संग्राम करना पड़ा। रावणको जीतनेमें उनको बड़ा परिश्रम पड़ा, तब कहीं वे श्रीसीतासहित अपने पुर गये और राज्यलक्ष्मीसे सुसम्पन्न हुए। इतने प्रकाण्ड प्रयासके बाद वे सुखी हुए। और उनके सेवकने

* सकल कुल—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सकुल रन—१६६१, १७०४, को० रा०। † गावत सुर मुनिवर बर—छ०, भा० दा०। गावत गुन, सुर, मुनि बर—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२।

महामहिमामय रामनामका सप्रेम स्मरण करके बिना परिश्रम ही मोहरूपी रावणको दलसहित जीत लिया और स्वतन्त्र (विमुक्त) स्वराट् होकर स्वानन्दरूपी पुरको प्राप्त हुआ। 'सनेह मगन' अर्थात् नामके स्नेहमें मग्न। 'सुख अपने'=निजानन्द। 'मोह-दल' को जीतनेसे निजानन्दकी प्राप्ति हुई, अर्थात् जीव सम्राट् हुआ।

२ (क) नामकी विशेषता दिखानेके लिये 'रावन' के साथ कोई विशेषण न दिया और 'मोहदल' के साथ 'प्रबल' विशेषण रक्खा। ऐसा करके यह भी जनाया कि रावणसे मोहदल अधिक बलवान् है। रावण तो बहुतोंसे हार चुका था, यथा—'बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ बाँधि सिसुन्ह हयसाला॥' इत्यादि (लं० २४), और स्वयं मोहके वश था। (ख) यहाँ मोह रावण है और मोहकी सेना—'काम क्रोध-लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। ३। ४३।' रावणका सारा परिवार मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि है। यथा—'देव मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम बिश्रामहारी। लोभ अतिकाय मतसर महोदर दुष्ट क्रोध पापिष्ट बिबुधान्तकारी॥ ४॥ द्वेष दुर्मुख दंभ खर अकंपन कपट दर्प-मनुजाद मद सूलपानी। अमित बल परम दुर्जय निसाचर चमू सहित षड्वर्ग गो जातुधानी॥ ५॥' विनय ५८। (ग) वह रावण मोहरूपी रावणसे कम बली था। वह अपनेको, अपनी सेनाको और लंकाराज्यको बचानेके लिये गढ़से बाहर निकल निकलकर स्वयं लड़ता था, पर मोह रावण तो अपने दलके सहित निरन्तर जीवके हृदयरूपी लंकामें निर्भय निवास करता है, वह भी नामके सप्रेम स्मरण करनेसे सामने आनेकी ताब नहीं लाता, लड़ना तो कोसों दूर रहा। वह तो नामके स्मरणमात्रसे हृदयरूपी लंकाको छोड़कर भाग ही जाता है।

टिप्पणी—१ (क) 'गावत गुन सुर मुनि' इति। भाव यह कि जब मर्कट सहाय साधुओंको सुखी किया तब सुर मुनिने सुन्दर वाणीसे यश गाया। यहाँ सुर-मुनिहीको कहा, क्योंकि सुर रावणके बन्दीखानेसे छूटे और मुनियोंका भय मिटा। सुर-मुनिके यश-गानका लक्ष्य उत्तरकाण्डमें है, यथा—'रिपु रन जीति सुजसु सुर गावत। सीता अनुज सहित प्रभु आवत॥ ७। २।' (ख) 'बर बानी' का भाव कि सुर और मुनि असत्य नहीं बोलते, इसीसे उनकी वाणी श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह कि जैसा चरित्र हुआ है, यथार्थ वैसा ही गुण गाते हैं। अथवा श्रीरामचन्द्रजीके गुण श्रेष्ठ हैं, सुर मुनि इन गुणोंको गाते हैं इसीसे उनकी वाणीको श्रेष्ठ कहा। (ग) [इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि जबतक रावण जीवित रहा, तबतक श्रीरामजीके गुणोंको सुर-मुनि नहीं गाने पाये, उसके मरनेके पीछे इनकी प्रतिष्ठा हुई। (मिश्रजी)। जिस समय रणमें श्रीरामजीका दल विचलित होता था तब नागपाश और शक्ति लगने इत्यादि अवसरोंपर सुर-मुनि हाहाकार मचाते थे। वे न समझते थे कि यह नर-नाट्य है। इसीसे जब प्रभु जीते तब परत्व जानकर उनके परत्वका गान करनेवाले हुए। (मा० त० वि०)। 'बरबानी' स्वयं वेद हैं। इन्होंने भी रूप धारणकर परत्व वर्णन किया ही है (मा० त० वि०)]

बैजनाथजी (क) 'राम सकुल ... धारा।' के अन्तर्गत बहुत से गुण हैं। वरके प्रतापसे त्रैलोक्यविजयी तो रावण स्वयं था और उसके परिवारमें कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि भी वर पाये हुए अजित महाबली थे—इससे इनसे युद्ध करनेमें स्थिरता, धैर्य, शौर्य, वीर्य (वीरता), तेज और बल आदि गुण प्रकट हुए और बाहुबलके कारण यश हुआ। दूसरे, लोकपालोंको निर्भय किया, पृथ्वीका भार उतारा और सन्तों, मुनियोंको अभय किया। यह कृपा, दया गुण है। तीसरे, विभीषणको अचल किया—इसमें अनुकम्पा, उदारता गुण है। चौथे, श्रीजानकीजीसहित श्रीअवधमें आना और विभवसहित राज्यसिंहासनासीन होना—यह भाग्यशालीनता गुण है। ये गुण नामद्वारा अनन्त हो लोकमें प्रसिद्ध हुए। (ख) 'राजा राम ...' इति। इसमें पूर्व जितने गुण सूक्ष्मरीतिसे कहे गये वे सब तो हैं ही और उनके अन्तर्गत सौन्दर्य, लावण्य आदि अनेक और भी गुण हैं, जिनका बोध केवल नामसे ही नहीं होता। रूप और चरितके ध्यानकी भी आवश्यकता होती है।

नोट—३ 'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती' इति। श्रीरामजीके सम्बन्धमें रावणादिका मारना कहा, मारना तमोगुणी क्रिया है। और यहाँ 'सुमिरत' पद दिया जो सात्त्विक क्रिया है। पुन. 'सप्रीति' पद देकर सूचित किया

कि मोहदलके मारनेमें क्रोध नहीं करना पड़ता और रावण तथा उसके कुलके वधमें रोष करना पड़ा है, यथा— 'हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। तब प्रभु कोपि कारमुक लीन्हा॥ सर निवारि रिपु के सिर काटे। ६। ९२।', 'राम कृपा करि सूत उठावा। तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा॥ भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे। कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे। ६। ९०। 'भयउ रोषु रन रावनु मारा। १। ४६।' (भरद्वाजवाक्य), 'तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा। धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा॥ ६। ७०।' (कुम्भकर्णवध प्रसंग) 'निर्वानदायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी। ३। १६।'

श्रीबैजनाथजीका मत है कि—(क) यहाँ 'सेवक'=सेवा (अर्थात् षोडशोपचार पूजा श्रीशालग्रामजी वा श्रीस्वरूप वा चित्रादिमें, अथवा मानसी परिचर्या) करनेवाले। सप्रीति प्रेमपूर्वक, अर्थात् इन्द्रियोंके विषय मनमें मिल जायँ, मन-चित्त-अहंकारकी वासना बुद्धिमें लीन हो जाय और बुद्धि शुद्ध अनुकूल होकर प्रभुके गुणोंका स्मरण करती हुई लाखों प्रकारकी अभिलाषाएँ करती रहे। यथा भगवद्गुणदर्पणे—'अत्यन्तभोग्यताबुद्धिरानुकूल्यादिशालिनी। अपरिपूर्णरूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा॥' प्रीतिके आठ अङ्ग ये हैं—प्रणय (मैं तुम्हारा हूँ, तुम हमारे हो), आसक्ति, लगन, लाग, अनुराग (चित्त प्रेमरंगमें सदा रँगा रहे), प्रेम (रोमाञ्च, गद्गद कण्ठ आदि चिह्नोंसे सदा शरीर पूर्ण रहे), नेह (मिलनि, बोलनि, हँसनिमें प्रसन्नता) और प्रीति (शोभासहित व्यवहार)। भाव यह कि ऐसे जो सेवक हैं वे प्रेममें भरे हुए प्रभुके स्थिरता, शौर्य, वीर्य आदि उपर्युक्त गुणोंको स्मरण करते हुए नाम जपते हुए प्रबल मोहदलको अनायास जीत लेते हैं। (ख) 'प्रबल' कहनेका भाव यह है कि विवेकादिके मारनेके ये नहीं हैं, इनके सामने विवेकादि भाग जाते हैं यथा—'भागेउ बिबेक सहाय सहित ··'। १। ४८।' 'मुनि बिग्यानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ। ३। ३८।'

नोट—४ 'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती।' ' यह उपसंहार है। 'नामु सप्रेम जपत अनयासा। २४। २।' इसका उपक्रम है। 'फिरत सनेह मगन सुख अपने ·' उपसंहार है और 'भगत होहिं मुद मंगल बासा। २४। २।' उपक्रम है। सगुण राम और श्रीरामनामकी तुलनाके इस अन्तिम प्रसंगमें नाम-साधनके उच्च एवं आदर्श स्वरूपका वर्णन करके उसका परम फल दिखलाते हैं। जिस उच्च साधन (नाम सप्रेम · मंगल बासा) से यह प्रसंग प्रारम्भ हुआ था, उसी स्थितिमें उसका पर्यवसान भी किया गया। वहाँ 'सप्रेम' और 'भगत' यहाँ 'सप्रीती', और 'सेवक', वहाँ 'मुद मंगल बासा' और यहाँ 'फिरत सनेह मगन सुख अपने'। पर्यवसानके समय यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'सप्रेम जप' करनेवालेका मोह एवं समस्त मोह-परिवार नष्ट होता है और वह 'अपने सुख' आत्मानन्दमें मग्न होकर विचरण करता है। उसका मुद, मङ्गल, बाह्य, उपकरण या निमित्तकी अपेक्षा नहीं करता। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

नोट—५ 'फिरत सनेह मगन सुख अपने' इति। (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि—स्मरण करते-करते नामके प्रतापसे प्रभुके चरणकमलोंमें प्रीति हुई, जिससे मन 'स्नेह' रंगमें रँग गया, लोकवासना छूट गयी, मन शुद्ध होकर श्रीरामस्नेहसे अपने सुखमें मग्न हो गया अर्थात् स्वतन्त्र हो गया, इसीसे निर्भय विचरते हैं। (ख) श्रीरामजीके सेवक वानर, रीछ, राक्षस विभीषणादि ब्रह्मानन्दमें मग्न हो गये थे, प्रभु-पदमें प्रीति ऐसी थी कि उनको छः मास बीतते जान ही न पड़ा। यथा—'नित नइ प्रीति रामपदपंकज।·· ब्रह्मानंद मगन कपि सब कें प्रभु पद प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति॥ ७। १५। 'बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।',—यह जो श्रीरामरूपने गुण दिखाया वही गुण नाममें अनन्त सेवकोंद्वारा दिखाते हैं।

६ 'नाम प्रताप सोच नहिं सपनें' इति। (क) 'नाम-प्रताप' का भाव कि रीछ, वानर आदि रूपके प्रतापसे निर्भय थे। यथा—'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥ ७। १६।', 'निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू॥ ६। ११७।' और नामके प्रतापसे सभी नामजापक सेवक निजानन्दमें मग्न निर्भय रहते हैं। (ख) रूपके सेवकोंको शत्रु आदिका सोच, घरबार

आदिका सोच, अपने शरीर आदिका सोच प्रभुके बलपर नहीं था और नाम-जापक सेवकको कामादि शत्रुओंका, घरबार आदिके पालनका एवं अपनी देहादिका शोच नामके प्रतापसे नहीं रहता। (ग) 'सोच नहिं सपने' में ध्वनि यह है कि रामचन्द्रजीको राज्य मिलनेपर भी लवणासुरके मारनेकी, श्रीसीताजीके प्रति पुरवासियोंके संदेह इत्यादिकी चिन्ताएँ बनी ही रह गयीं, पर जापक जनको स्वप्नमें भी चिन्ता नहीं रहती, जाग्रतिकी कौन कहे? यथा—'तुलसी गरीब की गई बहोर रामनाम, जाहि जपि जीह रामहू को बैठो धूतिहौं। प्रीति रामनाम सों प्रतीति रामनाम की, प्रसादरामनाम के पसारि पायँ सूतिहौं। क० उ० ६९।', सप्रेम नाम जप करनेवालेको आत्म-साम्राज्य प्राप्त हो जानेपर राज्यरक्षणादिका कोई दायित्व उसपर नहीं रह जाता।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—मानसका पूरा प्रसंग आत्मबलका आध्यात्मिक अर्थ भी रखता है। उस अर्थकी ओर भी यहाँ संकेत है। 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पुर अयोध्या।' आठ चक्रों और नव द्वारकी अयोध्या नगरी-सी मानव देह ही है। मोह रावण है और उसका प्रबल दल कामादि है। मोहदलको जीतकर रावणवधके पश्चात् आत्मसुख अयोध्याके सिंहासनपर शान्तिके साथ प्रतिष्ठा होती है।

दो०—ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जियँ जानि॥ २५॥

शब्दार्थ—बरदायक=वरदान देनेवाले=बरदानि। जिय=हृदयमें=प्राण, आत्मा, सार। सत=सौ।

अर्थ—ब्रह्म (निर्गुण अव्यक्त) और राम (सगुण व्यक्त) से (राम) नाम बड़ा है, बड़े-बड़े वर देनेवालोंको भी वरका देनेवाला है। श्रीमहादेवजीने मनमें (ऐसा) जानकर (अथवा, इसको सबका प्राण जानकर) 'शतकोटि रामचरित' मेंसे चुनकर ले लिया॥ २५॥

नोट—१ 'रामसे नाम क्यों बड़ा है', यह बात दृष्टान्त देकर दोहा २३ 'कहउँ नाम बड़ राम तें निज बिचार अनुसार' से लेकर यहाँतक बतायी। और निर्गुण (अव्यक्त) ब्रह्मरामसे नामका बड़ा होना दोहा २३ (५) से 'निरगुन तें येहि भाँति बड नाम प्रभाउ अपार॥ ५३॥' तक कहा गया। अब यहाँ उपसंहारमें दोनोंको फिर एक साथ कहते हैं। 'ब्रह्म राम तें नामु बड़ ' ' 'कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें' २३ (५) उपक्रम है। यहाँतक अव्यक्त ब्रह्म राम, व्यक्त ब्रह्म (सगुण) राम और नाम दोनोंके गुण दिखलाकर यह सिद्ध किया कि जो गुण राममें है वे सब वरंच उनसे अधिक नाममें है। क्योंकि वे गुण नामद्वारा अनन्त हो जाते हैं।

२ 'बरदायक बरदानि' इति। मुख्य वरदाता तीन है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये भी रामनाम जपकर ही सिद्ध हुए है। यथा—'अहं च शंकरो विष्णुस्तथा सर्वे दिवौकसः। रामनामप्रभावेण सम्प्राप्ताः सिद्धिमुत्तमाम्।' (विष्णुपुराणे ब्रह्मवाक्यम्), 'सावित्री ब्रह्मणा सार्द्धं लक्ष्मी नारायणेन च। शम्भुना रामरामेति पार्वती जपति स्फुटम्॥' (पुलह-संहिता), 'यत्प्रसादेन कर्त्ताभूद् देवो ब्रह्मा प्रजापतिः। यत्प्रभावेण हर्त्ताहं त्राता विष्णू रमापतिः॥ ये नराधमलोकेषु रामभक्तिपराङ्मुखाः। जपं तपो दया शौचं शास्त्राणामवगाहनम्। सर्वं वृथा विना येन शृणु त्वं पार्वति प्रिये॥' (रुद्रयामल)। इन उद्धरणोंसे भी यह सिद्ध है कि विधि-हरि-हर आदि सभी रामनामके प्रभावसे वरदाता है। गणेशजी इसीसे प्रथम पूज्य हुए। शक्तिजी सदा जपती ही है।

☞ 'रामचरित सतकोटि महँ' इति*। आनन्दरामायण मनोहरकाण्डमें लिखा है कि वाल्मीकिजीने 'शतकोटि रामायण' रचा। उसमें सौ करोड़ श्लोक, नौ लाख काण्ड और नब्बे लाख सर्ग हैं। यथा—'नवलक्षाणि काण्डानि शतकोटिमिते द्विज॥ १४॥ सर्गा नवतिलक्षाश्च ज्ञातव्या भुवि कीर्त्तिता। कोटीनां च शतं श्लोकमानं ज्ञेयं विचक्षणैः॥ सर्ग १०। १५।', आनन्दरामायणादि अनेक रामायणोंमें उसीकी बहुत संक्षिप्त कथाएँ हैं और जो

---

* *अर्थ*—(२)—'राम ब्रह्मसे नाम बड़ा है, वरदेनेवाला है। इसीके प्रसादसे श्रीमहादेवजी स्वयं वरदायक हुए हैं (सु० द्विवेदीजी)।

वाल्मीकीय आजकल प्रचलित है वह भी उसीमेंसे ली हुई संक्षिप्त कथा है। यह चतुर्विंशति वाल्मीकीय रामायण सबमें प्रथम है। (सर्ग ८ श्लोक ६३ आदि)।

(२) आनन्दरामायण यात्राकाण्डमें लिखा है कि—वाल्मीकिजीने शतकोटि रामायण लिखा। मुनियोंने उसको ग्रहण किया। आश्रममें कथा होती थी। तीनों लोक देव, यक्ष, किन्नर, दैत्य आदि सुननेको आते थे। जब सबने सविस्तर सुना तब सभीको चाह हुई कि हम इस काव्यको अपने लोकको ले जायँ। परस्पर बहुत वाद-विवाद होने लगा तब शिवजी सबको रोककर उस ग्रन्थको लेकर सबके सहित क्षीरसागरको गये और भगवान्‌से उन्होंने सब कलह निवेदन किया। तब भगवान्‌ने उसके तीन भाग बराबर-बराबर किये। इस तरह तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस श्लोक और दस अक्षर प्रत्येक भागमें आये। केवल राम ये अक्षर बच रहे। तब शिवजीके माँगनेपर भगवान्‌ने ये दोनों अक्षर उनको दिये, जिससे शिवजी अन्तकालमें काशीके जीवोंको मुक्ति देते हैं। यथा—'द्वेऽक्षरे याचमानाय मम ग्रोचे हरो हरि। उपदिशाम्यहं काश्यां तेऽन्तकाले नृणां श्रुतौ॥ १५॥ रामेति तारक मन्त्र तमेव विद्धि पार्वति॥ १६॥' (सर्ग २)।

(३) उपर्युक्त तीन भागोंमेंसे एक भाग देवताओंको, एक मुनियोंको और तीसरा नागोंको मिला। मुनियोंवाला भाग पृथ्वीमें रहा। पृथ्वीमें बराबर-बराबरके सात भाग करके यह भाग बाँट दिया गया। चार करोड़ सत्तर लाख उन्नीस हजार सैंतालीस श्लोक सातोंको बँटनेपर चार श्लोक बच रहे। यह भगवान्‌से ब्रह्माजीने माँग लिये। ये चार श्लोक वही हैं जो नारदजीने व्यासजीको उपदेश किया जिसका विस्तार 'श्रीमद्भागवत' हुआ। जिस द्वीपमें जितने खण्ड हैं उस द्वीपका भाग उतने खण्डोंमें समभाग होकर बँटा। जम्बूद्वीपमें नौ खण्ड हैं। अतएव इसके प्रत्येक खण्डमें बावन लाख एक्यानबे हजार पाँच श्लोक और सात सात अक्षर गये। एक अक्षर 'श्री' बच रहा। भगवान्‌ने कहा कि यह अक्षर नवों खण्डवाले अपने यहाँके नामके समस्त मन्त्रोंमें लगा लें। जितने भी पुराण, उपपुराण, शास्त्र आदि ग्रन्थ जम्बूद्वीपके भारतवर्षमें हैं, वे सब इन्हीं बावन लाख एक्यानबे हजार पाँच श्लोकोंसे निर्माण किये गये हैं।

शतकोटि रामचरितके बटवारेका उल्लेख तथा श्रीशिवजीका उसमेंसे केवल 'रा' 'म' इन दो अक्षरोंका पाना हमें बहुत खोजनेपर भी अभीतक आनन्दरामायणहीमें मिला है। इसलिये प्रसङ्गानुकूल हमने इसको सर्वप्रथम यहाँ लिखा।

(४) शतकोटिकी चर्चा कुछ पुराणों तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी पायी जाती है। (क) पद्मपुराण पाताल-खण्डमें शेषजीने वात्स्यायनजीसे जो कहा है कि—'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। येषां वै यादृशी बुद्धिस्ते वदन्त्येव तादृशम्॥ १।१४।' अर्थात् श्रीरघुनाथजीका चरित शतकोटि श्लोकम विस्तारसे लिखा गया है। जिसकी जितनी बुद्धि है, उतना वह कहता है—इससे भी श्रीरामचरितका शतकोटि-श्लोकबद्ध होना प्रामाणिक है।

(ख) पाराशर्य उपपुराणमें वाल्मीकीय रामायणके माहात्म्यमें लिखा है कि—यह जो शतकोटि रामायण है वह मेरे (शिव) लोकमें, विष्णुलोक और मर्त्यलोकमें विराजमान है। ध्रुवलोकमें पचास करोड़, गोलोकमें दस करोड़, इन्द्रलोकमें एक करोड़, सूर्यलोकमें पचास करोड़, गन्धर्व-यक्षादि मुख्य मुख्य लोकोंमें एक-एक करोड़ गाया जाता है। उसीमें चौबीस हजार देवर्षि नारदजी परमानन्दमें निमग्न होकर व्याख्यान करते हैं जिसको इनके मुखसे सुनकर तुम (पार्वतीजी) पाठ किया करती हो। इसीका उपदेश नारदजीने वाल्मीकिजीको किया और इनके द्वारा यह मर्त्यलोकमें प्रसिद्ध हुआ। यथा—'एतद्रामायणं श्रीमच्छतकोटिप्रविस्तरम्। मल्लोके विष्णुलोके च मर्त्यलोके च भामिनि॥ ३९॥ व्याख्याति नारदस्तेषां परमानन्दनिर्भरः॥ ३८॥ चतुर्विंशतिसाहस्रीं श्रीरामायणसंहिताम्। उपादिशत स वाल्मीके लोके प्राचीकशत् सताम्॥ ३९॥ यामेतां नारदाच्छ्रुत्वा त्वन्नित्यं पठसि प्रिये। सेषा चरति भूलोके श्रीरामायणसंहिता॥ ४०॥ (अ० ५)।'

(ग) शिवसंहिता (श्रीहनुमत्-प्रेस, श्रीअयोध्याकी छपी हुई) में इस सम्बन्धके श्लोक ये हैं—'रामायणस्य कृत्स्नस्य वक्ता तु भगवान् स्वयम। ब्रह्मा चतुर्मुखश्चान्ये तस्योच्छिष्टभुज प्रिये ॥ ९ ॥ अनन्तत्वेऽपि कोट्यानां शतेनास्य प्रपञ्चनम्। रामायणस्य बुध्यर्थं कृत तेन विजानता ॥ १० । अ० ७ ।' अर्थात् समग्र रामायणके वक्ता स्वय चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा हैं। यद्यपि श्रीरामचरित अपार है तथापि अपने बोधके लिये शतकोटिमें रचा गया है।

इन तीनोंमें रामचरितका 'शतकोटि' होना पाया जाता है। परतु इनमें बटवारेकी चर्चा नहीं है। अन्य किसी स्थलपर हो तो ज्ञात नहीं है। तीसरेमें केवल भेद इतना है कि शतकोटिरामायणके कर्त्ता ब्रह्माजी बताये गये हैं जो कल्प-भेदसे ठीक हो सकता है। अथवा, ब्रह्मा और वाल्मीकिमें अभेद मानकर कहा गया हो। तत्त्वदीपिकाकार श्रीमहेश्वरतीर्थजीने स्कन्दपुराणके—'वाल्मीकिरभवद्ब्रह्मा वाणी वाक्स्य रूपिणी। चकार रामचरित पावन चरितव्रत.।' इस प्रमाणसे वाल्मीकि-जीको ब्रह्माजीका अंशावतार माना है।

श्री प० नागेशभट्टजीने अपने रामाभिरामीय टीकामें लिखा है कि ब्रह्माके अंशभूत प्राचेतस वाल्मीकिजीने अपनी रची हुई शतकोटि रामायणका सारभूत चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकात्मक वाल्मीकीय रामायण कुश और लवको पढाया। यथा—'ब्रह्मांशभूत एव भगवान् प्राचेतसो वाल्मीकि स्वकृतशतकोटिरामायणसारभूत " रामायणं चतुर्विंशति-सहस्रश्लोकरूप कुशलवाभ्यामग्राहयत्।' (बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक १ में से)। इसका प्रमाण वे यह देते हैं—'शापोक्त्या हृदि सतप्त प्राचेतसमकल्मषम्। प्रोवाच वचन ब्रह्मा तत्रागत्य सुसत्कृत। न निषाद स वै रामो मृगया चर्तुमागत.। तस्य सवर्णनेनैव सुश्लोक्यस्त्व भविष्यसि ॥ इत्युक्त्वा त जगामाशु ब्रह्मलोक सनातन। तत सवर्णयामास राघव ग्रन्थकोटिभि ॥' अर्थात् निषादको शाप देनेके पश्चात् मुनिको पश्चात्ताप हुआ, तथा वहाँ ब्रह्माजी आ प्राप्त हुए। उनका सत्कार होनेके बाद उन्होंने कहा कि वह निषाद नहीं था किंतु श्रीराम ही मृगयाके मिस आये थे। उनके वर्णनसे तुम प्रसिद्ध हो जाओगे। ऐसा कहकर वे ब्रह्मलोकको चले गये। तत्पश्चात् उन्होंने कई करोड़ श्लोकोंमें रामायण बनाया। श्रीनागेशभट्टजी श्लोकान्तर्गत 'कोटिभि' का अर्थ शतकोटि करते हैं। 'कोटिभिः' का अर्थ है 'करोड़ों', परतु अन्यत्र 'चरित रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्' ऐसा वाक्य आया है। उसके सम्बन्धसे यहाँ 'कोटिभि' का अर्थ शतकोटि किया है। इससे भी हमारे उपर्युक्त कथनकी पुष्टि होती है।

परतु (घ) मत्स्यपुराण अ० ५३ में भगवान्‌ने कहा है कि प्रथम एक ही पुराण था जिसको ब्रह्माने शतकोटि श्लोकोंमें बनाया था। यथा—'पुराण सर्वशास्त्राणां प्रथम ब्रह्मणा स्मृतम् ॥ ३ ॥ पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ। त्रिवर्गसाधन पुण्य शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ४ ॥ कालानुसार जब लोग इतने भारी विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तब मैं ही व्यासरूपसे द्वापरके अन्तमें चार लक्ष प्रमाणमें अठारह पुराणोंके रूपमें उसीको बनाता हूँ। वह शतकोटि देवलोकमें अद्यापि विराजमान है। (श्लोक ८)। वेदार्थप्रतिपादक एकलक्षप्रमाणका महाभारत बनाया हूँ। ब्रह्माने जो शतकोटि बनाया है, उसमेंसे श्रीरामोपाख्यान ग्रहण करके उन्होंने नारदजीको बताया और उसीको वाल्मीकिजीने चौबीस हजार प्रमाणमें बनाया। इस प्रकार सवा पाँच लाख प्रमाणका पुराण भारतवर्षमें वर्तमान है। यथा—'भारताख्यानमखिल चक्रे तदुपबृंहितम्। लक्षणैकेन यत्प्रोक्त वेदार्थपरिबृंहितम् ॥ ६९ ॥ वाल्मीकिना तु यत्प्रोक्त रामोपाख्यानमुत्तमम्। ब्रह्मणाभिहित यच्च शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ७० ॥ आहृत्य नारदायैव तेन वाल्मीकये पुन'। वाल्मीकिना च लोकेषु धर्मकामार्थसाधनम्। एव सपाद पञ्चैते लक्षा मर्त्ये प्रकीर्त्तिता ॥ ७१ ॥'

लगभग यही सब विषय स्कन्द० प्रभासखण्ड प्रभासमाहात्म्य अ० २ श्लोक ९३ इत्यादिमें है और कुछ श्लोक भी दोनोंके मिलते हैं, केवल इतनी बात (स्कन्दमें इस स्थानमें) नहीं है कि प्रथम एक ही पुराण था। इन दोनों ग्रन्थोंमें वर्तमान वाल्मीकीयका इस शतकोटिपुराणसे रचा जाना सिद्ध होता है और उपर्युक्त अन्य प्रमाणोंसे वर्तमान वाल्मीकीयका शतकोटिरामायणसे रचा जाना पाया जाता है इससे यह निश्चय होता है कि शतकोटि रामायण और शतकोटि पुराण एक ही वस्तु हैं। ऐसा मान लेनेमें एकवाक्यता हो सकती है।

इसपर शङ्का हो सकती है कि जब वह शतकोटि रामायण ही है तब उसको पुराण कहकर उससे वर्तमान चतुर्विं-शति वाल्मीकीयका होना क्यों कहा? तो उसका समाधान यह हो सकता है कि सम्भवत उसमें श्रीरामचरितके साथ-

साथ अन्य देवताओं, अवतारों और राजाओं आदिके उपाख्यान प्रसङ्गानुसार विस्तृतरूपसे कहे गये हैं, उसमेंसे राम-भक्तोंके लिये केवल श्रीरामचरित चुनकर यह वाल्मीकीय ग्रन्थ बनाया गया और उसका नाम रामायण रक्खा गया और इस चतुर्विंशति वाल्मीकीयसे उस शतकोटिका भेद दिखानेके लिये उसका नाम रामायण न कहकर व्यासजीने उसे 'पुराण' कहा, जिसका अर्थ पुराण अर्थात् प्राचीन पुरातन (रामायण) हो सकता है।

नोट—३ श्रीसुदर्शनसिंहजीका मत है कि प्रत्येक त्रेतायुगमें श्रीरामावतार होता है। इस तरह ब्रह्माके एक दिनमें चौदह बार श्रीरामावतार होता है। (हमको इसका प्रमाण नहीं मिला)। ब्रह्माकी पूरी आयु भगवान् शङ्करका एक दिन है। शङ्करजी अपने वर्षोंसे सौ वर्ष रहते हैं। फिर शिवकी पूरी आयु भगवान् विष्णुका एक दिन है। ये भी अपनी आयुसे सौ वर्ष रहते हैं। विष्णुके सौ वर्ष पूरे होनेपर एक सृष्टिचक्र पूरा होता है। स्मरण रहे कि यहाँ जिन त्रिदेवकी बात है वे त्रिगुणोंमेंसे रज, तम और सत्त्वके अधिष्ठाता हैं। त्रिपाद्विभूतिस्थ त्रिदेव शाश्वत हैं, उनकी चर्चा यहाँ नहीं है।—सृष्टिके इतने दीर्घ चक्रमें प्रत्येक त्रेतामें जो रामावतार होते हैं उनमें कुछ-न-कुछ चरितगत अन्तर रहता है। अतः प्रत्येक त्रेताका रामचरित भिन्न-भिन्न है। ऐसे रामचरितों रामायणोंकी कोई संख्या करना कठिन है। ७। ५२ (२) 'राम चरित सतकोटि अपारा' में 'शतकोटि' के साथ 'अपारा' कहकर सूचित किया है कि कवि शतकोटिको 'अनन्त' के अर्थमें लेता है। इन रामायणोंमेंसे अपनी रुचि एवं अधिकारके अनुसार लोग किसी चरितको अपना आदर्श आराध्य बना लेते हैं, किंतु भगवान् शङ्करने अपना कोई चरित आराध्य नहीं बनाया। वे तो रामनामके आराधक हैं, यही यहाँका भाव है।

गोस्वामीजीका मत है कि कल्प कल्पमें श्रीरामावतार होता है। इस प्रकार भी ब्रह्माकी आयुभरमें छत्तीस हजार बार श्रीरामावतार होना निश्चित ही है। शिवजीकी आयुभरमें ३६००० × ३६००० बार अवतार होना चाहिये और सृष्टिके एक चक्रमें ३६००० × ३६००० × ३६००० अर्थात् ४६६५६००००००००० बार अवतार निश्चित होता है।

नोट—४ 'जब 'रा' 'म' को शिवजीने सार समझकर ले लिया, तो वहाँ तो छाँछ ही रह गया?' इस शङ्काका समाधान यों किया जाता है कि 'रामायण' का अर्थ 'राम + अयन' अर्थात् 'रामका घर' है। वे तो उसमें सदा रहते ही हैं। पुनः, 'रामायण' को राम-तन भी कहते हैं; क्योंकि नाम, रूप, लीला, धाम—चारों नित्य परात्पर सच्चिदानन्द-विग्रह (भगवानके) माने गये हैं और रामचरित्र ही रामलीला है। पुनः, रामायणके लिये आशीर्वाद है कि उसका एक-एक अक्षर महापातकोंका नाश करनेवाला है। प्रमाण, यथा—'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥'

विनयपत्रिकामें भी ऐसा ही कहा है, यथा—'सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम घृतु है।' (पद २५४) जो भाव वहाँ है वही यहाँ है। वहाँ पूरा रूपक है, यहाँ साधारण वर्णन है। इसमें उपमाका एक देश केवल ग्रहण किया गया है। जैसे वेदोंका सार प्रणव 'ॐ' और 'राम' नाम है। ॐ या राम नाम सार लेनेसे वेदका महत्त्व घटा नहीं और न वह निःसार हुआ, वैसे ही 'राम' नाम रामायणमेंसे लेनेसे रामायण फिर भी वैसी ही परिपूर्ण है। 'राम' नाममें सारा चरित बीजरूपसे है, उसके अर्थमें सारा चरित है जैसे आगे दिखाया गया है। वाक्य और अर्थ अभिन्न हैं। भाव यह कि 'राम' नामसे ही सारा चरित भरा है, जो कार्य चरितसे होता है वह 'राम' नामसे होता है, यह समझकर उन्होंने इसीको अपनाया।

शिवजी—'राम' यह दोनों अक्षर रामायणका सार कैसे? उत्तर—रामतापिनी उपनिषद्में लिखा है—'राजते महीस्थित' इसके दोनों शब्दोंके प्रथम अक्षर लेनेसे 'राम' निकलता है। यथा—'राजते' का 'रा' और 'महीस्थित' का 'म' अर्थात् राम। एवं समस्त रामायण 'राम' इस नामसे निकलता है। इस कारण रामायणका जीवात्मा 'राम' शब्द है।

सत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'राम' के अर्थमें सारा चरित्र है जैसा रामतापिनीसे सिद्ध होता है—'रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः। स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः॥ ·· राक्षसान्मर्त्यरूपेण राहुर्मनसिजं यथा। प्रभाहीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम्॥ धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः। तथा

ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात् ॥ तथा रामस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वत ॥' अर्थात् पृथ्वीतलपर जो रघुकुलमें विराजते हैं और जिनको तत्त्ववेत्ताओंने 'राम' नामसे प्रकट किया। नररूप धारण करके राक्षसोंको इस तरह प्रभाहीनकर, जैसे राहु चन्द्रमाको करता है, अपने चरितद्वारा यथायोग्य राजाओंके धर्ममार्गको, नामसे ज्ञानमार्गको, ध्यानसे वैराग्यको और पूजनसे ऐश्वर्यको दर्शित करनेके कारण पृथ्वीपर तत्त्वत. श्रीरामजीका राम नाम प्रसिद्ध हो गया। (रा० पू० ता० १—५)।

नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगलरासी॥ १॥
सुक सनकादि सिद्ध मुनि[1] जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥ २॥

अर्थ—नामके प्रसादसे शिवजी अविनाशी हैं और (शरीरमें) अमङ्गल सामग्रियाँ होनेपर भी मङ्गलकी राशि हैं॥ १॥ श्रीशुकदेवजी, श्रीसनकादिजी, सिद्ध, मुनि और योगी लोग नामहीके प्रसादसे ब्रह्मसुखके भोग करनेवाले हैं॥ २॥

नोट—१ अब नामकी बड़ाई पाँचवें प्रकारसे कहते हैं। (प० रामकुमारजी)। वा, अब नामका फल कहते हैं (मा० प्र०)। अथवा, अब नामके बड़ाईकी करनी वा कामका फल कहते हैं। (रा० प्र०, सू० मिश्र)।

२—प० सुधाकर द्विवेदी—'विष खानेसे भी न मरे, इसलिये 'अविनाशी' होना सत्य हुआ। यद्यपि चिताकी भस्म, साँपका आभूषण, नरमुण्डके माल इत्यादि अशुभ वेष किये हैं, तथापि नामके बलसे महादेव मङ्गलकी राशि कहलाते हैं, शङ्कर, शिव इत्यादि नामसे पुकारे जाते हैं और बात बातपर सेवकोंपर प्रसन्न हो अभय वरदान देते हैं, जिनके पुत्र गणेशजी मङ्गलमूर्त्ति कहलाते हैं, वे वस्तुत' मङ्गलराशि हैं।

३—मा० मा० कारका मत है कि 'शम्भु तो सनातन अविनाशी हैं ही, पर नामके प्रसादसे सब साज भी अविनाशी और मङ्गलके राशि हो गये।' पर अर्थमें उन्होंने यही लिखा है कि 'नामहीकी कृपासे शिवजी अविनाशी हैं।' और यही ठीक है जैसा कि 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' से स्पष्ट है।

श्रीराम-नामके ही प्रतापसे अविनाशी भी हुए इसके प्रमाण ये हैं—'यन्नाम सततं ध्यात्वाविनाशित्वं परं मुने। प्राप्तं नाम्नैव सत्यं सगोप्य कथितं मया॥' (शि० पु०)। 'रामनामप्रभावेण ह्यविनाशिपदं प्रिये। प्राप्तं मया विशेषेण सर्वेषां दुर्लभं परम्॥' (आदिपुराण)। विशेष १९ (३) 'महामंत्र जोइ जपत महेसू।' में लिखा जा चुका है। (पूर्व सस्करणोंमें जो लिखा गया था वह प्रसङ्गानुकूल न होनेसे छोड़ दिया गया)।

नोट—४ 'साजु अमगल मगलरासी' इति। श्रीरामनामकी ही कृपा और प्रभावसे अमङ्गल वेषमें भी मङ्गलराशि हैं, इसका प्रमाण पद्मपुराणमें है। कथा इस प्रकार है—श्रीपार्वतीजी पूछ रही हैं कि जब कपाल, भस्म, चर्म, अस्थि आदिका धारण करना श्रुतिबाह्य है तब आप इन्हें क्यों धारण करते हैं? यथा—'कपालभस्मचर्मास्थिधारणं श्रुतिगर्हितम्। त्वया धार्यते देव गर्हितं केन हेतुना॥ १६॥' श्रीशिवजीने उत्तर देते हुए कहा है कि एक समयकी बात है कि नमुचि आदि दैत्य सर्वपापरहित भगवद्भक्तियुक्त वेदोक्त आचरण करनेवाले होकर, इन्द्रादि देवताओंके लोक छीनकर राज्य करने लगे। तब इन्द्रादि भगवान्की शरण गये, पर भगवान्ने उनको भगवद्भक्त और सदाचारी होनेके कारण मारना उचित न समझा। भक्त होकर भी भगवान्के बाँधे हुए लोक मर्यादा और नियम भग कर रहे हैं, अत उनका नाश करना आवश्यक है, इसलिये उनकी बुद्धिमें भेद डालकर सदाचारसे मन हटानेकी युक्ति सोचकर वे (भगवान्) हमारे पास आये और हमें यह आज्ञा दी कि आप दैत्योंकी बुद्धिमें भेद डालकर उस सदाचारसे उनको भ्रष्ट करनेके लिये स्वयं पाखण्डधर्मोका आचरण करें। यथा—'त्वं हि रुद्र महाबाहो मोहनार्थं सुरद्विषाम्। पाखण्डाचरणं धर्मं कुरुष्व सुरसत्तम॥ २८॥' [पाखण्डाचरणधर्मका लक्षण पार्वतीजीसे उन्होंने पूर्व ही बताया है। वह इस प्रकार है—'कपालभस्मास्थिधरा ये ह्यवैदिकलिङ्गिन। ऋते वनस्थाश्रमाच्च जटावल्कलधारिण॥ ५॥ अवैदिकक्रियोपेतास्ते वै पाखण्डिनस्तथा।'] 'आपका

---

१. साधु—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। सिद्ध—१६६१, १७०४।

परन्तु सब जानते ही हैं। इसलिये आपके आचरण देखकर वे सब देत्य उसीका अनुकरण करने लगेंगे और हमसे विमुख हो जायँगे। और जब जब हम अवतार लिया करेंगे तब तब उनको दिखानेके लिये हम भी आपकी पूजा किया करेंगे जिससे उनका इन आचरणोंमें विश्वास हो जायगा और उसीमें लग जानेसे वे नष्ट हो जायँगे।' यह सुनकर हमारा मन उद्विग्न हो गया और मैंने उनको दण्डवत् कर प्रार्थना की कि मैं आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ पर मुझे बड़ा दुःख यह है कि इन आचरणोंसे मेरा भी नाश हो जायगा और यदि नहीं करता हूँ तो आज्ञा उल्लङ्घन होती है, यह भी बड़ा दुःख है।

मेरी दीनता देख भगवान्‌ने दया करके मुझे अपना सहस्र नाम और षडक्षर तारक मन्त्र देकर कहा कि मेरा ध्यान करते हुए मेरे इस मन्त्रका जप करनेसे तुम्हारा सर्व पाखण्डाचरणका पाप नष्ट हो जायगा और तुम्हारा मङ्गल होगा। यथा—'दत्तवान्कृपया मह्यमात्मनामसहस्रकम्॥ ४६ ॥ हृदये मां समाधाय जप मन्त्रं ममाव्ययम्॥ षडक्षरं महामन्त्रं तारकब्रह्मसंज्ञितम्॥ ४७ ॥ इमं मन्त्रं जपन्नित्यममलस्त्वं भविष्यसि। भस्मास्थिधारणाद्यत्तु संभूतं किञ्चिदपि त्वयि॥ ५१ ॥ मङ्गलं तदभूत्सर्वं मन्मन्त्रोच्चारणाच्छुभात।', अतएव देवताओंके हितार्थ भगवान्‌की आज्ञासे मैंने यह अमङ्गल साज धारण किया। (पद्मपु० उत्तरखण्ड अ० २३५)।

'साजु अमंगल' इति। कपाल, भस्म, चर्म, मुण्डमाला आदि सब 'अमंगल साज' हैं। शास्त्रसदाचारके प्रतिकूल और अवैदिक हैं, इसीसे कल्याणका नाश करनेवाला है जैसा कि उपर्युक्त कथासे स्पष्ट है। पर श्रीरामनाममहामन्त्रके प्रभावसे, उसके निरन्तर जपसे, वे मङ्गलकल्याणकी राशि हैं। अन्यत्र भी कहा है—'अशिव वेष शिवधाम कृपाला।', [मिलान] मिलान कीजिये—'श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचराश्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः। अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि॥ २४॥' (महिम्न स्तोत्र)। अर्थात् हे कामारि! श्मशान तो आपका क्रीडास्थल है, पिशाच आपके सङ्गी साथी हैं, चिताभस्म आप रमाये रहते हैं, मुण्डमालधारी हैं, इस प्रकार वेषादि तो अमङ्गल ही हैं फिर भी जो आपका स्मरण करते हैं उनके लिये आप मङ्गलरूप ही हैं।

नोट—५ 'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। ' इति। (क) श्रीशुकदेवजी भी श्रीरामनामके प्रतापहीसे ऐसे हुए कि परीक्षित् महाराजकी सभामें व्यासादि जितने भी महर्षि बैठे थे सबने उठकर उनका सम्मान किया। शुकसंहितामें उन्होंने स्वयं कहा है कि श्रीरामनामसे परे कोई अन्य पदार्थ श्रुतिसिद्धान्तमें नहीं है और हमने भी कहीं कुछ और न देखा है न सुना। श्रीशङ्करजीके मुखारविन्दसे श्रीरामनामका प्रभाव शुकशरीरमें सुनकर हम साक्षात् ईश्वरस्वरूप समस्त मुनीश्वरोंसे पूज्य हुए। यथा—'यन्नामवैभवं श्रुत्वा शंकराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्य पूजितोऽहं मुनीश्वरैः॥ नातः परतरं वस्तु श्रुतिसिद्धान्तगोचरम्। दृष्टं श्रुतं मया क्वापि सत्यं सत्यं वचो मम॥' (शुकसं० बी० रा० प्र० प्र० में उद्धृत)।

श्रीशुकदेवजीके श्रीरामनामपरत्व सुनकर अमर होनेकी कथा इस प्रकार है—एक समय श्रीपार्वतीजीने श्रीशिवजीसे पूछा कि आप जिससे अमर हैं वह तत्त्व कृपा करके मुझे उपदेश कीजिये। यह सोचकर कि वह तत्त्व परम गोप्य है भगवान् शङ्करने डमरू बजाकर पहले समस्त जीवोंको वहाँसे भगा दिया। तब वह गुह्य तत्त्व कथन करने लगे। दैवयोगसे एक शुकपक्षीका अण्डा वहाँ रह गया जो कथाके समय ही फूटा। वह शुकपोत अमरकथा सुनता रहा। बीचमें श्रीपार्वतीजीको झपकी आ गयी तब वह शुकपोत उनके बदले हुँकारी देता रहा। पार्वतीजी जब जगीं तो उन्होंने प्रार्थना की कि नाथ! मुझे झपकी आ गयी थी, अमुक स्थानसे फिरसे सुनानेकी कृपा कीजिये। उन्होंने पूछा कि हुँकारी कौन भरता था? और यह जाननेपर कि वे हुँकारी नहीं भरती थीं, उन्होंने जो देखा तो एक शुक देख पड़ा। तुरत उन्होंने उसपर त्रिशूल चलाया पर वह अमरकथाके प्रभावसे अमर हो गया था। त्रिशूलको देख वह उड़ता-उड़ता भगवान् व्यासजीके यहाँ आया और व्यासपत्नी (जो उस समय जँभाई ले रही थीं) के मुखद्वारा उनके उदरमें प्रवेश कर गया। वही श्रीशुकदेवजी हुए। ये जन्मसे ही परमहंस और मायारहित रहे। इनकी कथाएँ श्रीमद्भागवत, महाभारत आदिमें विस्तृत विलक्षण हैं। (श्रीरूपकलाजीकृत भक्तमाल टीकासे)।

सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'शुक नाम-माहात्म्यरूप भागवतके ही कारण महानुभाव हुए, पिता व्यास, पितामह पराशरसे भी परीक्षित्‌की सभामें आदरको पाया।'

(ख) 'ब्रह्मसुखभोगी' कहकर जनाया कि वे ब्रह्मरूप ही हो गये। यथा—'योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे' (भा० १२। १३। २१)।

(ग) श्रीसनकादि भी नामप्रसादसे ही जीवन्मुक्त और ब्रह्मसुखमें लीन रहते हैं, यह इससे भी सिद्ध होता है कि ये श्रीरामस्तवराजस्तोत्रके ऋषि (प्रकाशक) हैं। उस स्तवराजमें श्रीरामनामको ही 'पर जाप्य' बताया गया है। यथा—'श्रीरामेति पर जाप्य तारक ब्रह्मसञ्ज्ञकम्। ५।', 'ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहुकालीना॥ ७। ३२।', 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर। ७। ४२॥'

सू० मिश्र—यह बात भा० २। १। ११ में लिखी है कि ज्ञानियोंको यही ठीक है कि प्रत्येक क्षणमें परमेश्वरका नाम लेवें और कुछ नहीं। यथा—'योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्।' 'योगिनां' का अर्थ श्रीधरस्वामीने यह लिखा है—'योगिनां ज्ञानिनां फलं चैतदेव निर्णीतं नात्र प्रमाणं वक्तव्यमित्यर्थः।' अर्थात् यह फल योगियों अर्थात् ज्ञानियोंका निर्णय किया हुआ है।

श्रीमद्भागवतके अन्तमें भी यह लिखा है कि परमेश्वरका नाम सारे पापको नाश करनेवाला है। यथा—'नाम-सङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्। प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥' (१२। १३। २३)। इसी कारण गोसाईंजीने लिखा कि शुक सनकादि भी नामके प्रभावसे सुखका अनुभव करते हैं। (मानसपत्रिका)।

नोट—६ श्रीशुकदेवजीको श्रीसनकादिके पहले यहाँ भी लिखा है। इसका कारण मिश्रजी यह लिखते हैं कि 'शुकदेवजी अनर्थप्रद युवावस्थाके अधीन न हुए। सनकादिकोंने परमेश्वरसे वरदान माँगा कि हम बालक ही बने रहें जिससे कामके वशीभूत न हों। इस कारण इनके नामका उल्लेख ग्रन्थकारने पीछे किया।' शुकदेवजी परमेश्वरके रूप ही कहे जाते हैं, यथा—'योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे। संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत्॥ भा० १२। १३। २१।' दोहा १८ (५) देखिये।

श्रीबालअलीजीने इसका कारण यों लिखा है कि—'जन जु अनन्य आश्रय बल गहै। तिनपर दया न करि हरि चहै। वय आश्रित सनकादिक भयो। क्रोध अभयपुर में है गयो। हरि आश्रित शुक यौवन माहीं। काम क्रोध नहिं तिहि ढिग जाहीं॥' (सिद्धान्तदीपिका। मा० मा०), अर्थात् श्रीशुकदेवजी युवावस्थामें रहते हुए सदा भगवान्‌के आश्रित रहे, तब 'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥' और श्रीसनकादिजीने पाँच वर्षकी अवस्थाको विकाररहित जानकर उस अवस्थाका आश्रय लिया था न कि प्रभुका। इसीसे उनमें विकार आ ही गया।

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि[1] हरि हर प्रिय आपू॥ ३॥

अर्थ—श्रीनारदजीने नामका प्रताप जाना। जगत्-मात्रको हरि प्रिय हैं, हरिको हर प्रिय हैं और हरि तथा हर दोनोंको आप प्रिय हैं॥ ३॥

नोट—१ 'नारद जानेउ नाम प्रतापू' इति। कैसे जाना? इसी ग्रन्थमें इसका एक उत्तर मिलता है। नारदको दक्षका शाप था कि वे किसी एक स्थानपर थोड़ी देरसे अधिक न ठहर सकें। यथा—'तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम्॥ भा० ६। ५। ४३।' अर्थात् सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हुए तेरे ठहरनेका कोई निश्चित

---

१ यह पाठ 'हरि हरि हर' १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा० में है। १६६१ में प्रथम यही पाठ था, पर बीचके 'हरि' के 'ि' पर हरताल दिया गया है जिससे 'हरि हर हर' पाठ हो जाता है। इस पाठका अर्थ होगा—'जगत्‌को हरि प्रिय, हरिको हर प्रिय और हरको आप प्रिय हैं।' पंजाबीजी और वि० टी० तथा मा० प्र० ने 'हरि हर हरि' पाठ दिया है। जिसका अर्थ होगा—'जगको हरि प्रिय, हरिको हर और हर-हरिको आप प्रिय हैं।' 'वा, जगको हरिहर प्रिय है और हरिको आप प्रिय हैं।'

स्थान न होगा। परंतु हिमाचलकी एक परम पवित्र गुफा जहाँ गङ्गाजी बह रही थीं, देखकर ये वहाँ बैठकर भगवन्नामका स्मरण ज्यों ही करने लगे, त्यों ही आपकी गति रुक गयी, समाधि लग गयी। यथा—'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी ॥ १ । १२५ ।' इन्द्रने डरकर इनकी समाधिमें विघ्न डालनेके लिये कामको भेजा। उसने जाकर अनेक प्रपञ्च किये, पर 'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी ।' नारदके मनमें न तो काम ही उत्पन्न हुआ और न उसकी करतूतिपर उनको क्रोध हुआ। यह सब नाम-स्मरणका प्रभाव था, जैसा कहा है—'सीम कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ॥ १ । १२६ ।' परंतु उस समय दैवयोगसे वे भूल गये कि यह स्मरणका प्रभाव एवं प्रताप है। उनके चित्तमें अहंकार आ गया कि शङ्करजीने तो कामहीको जीता था और मैंने तो काम और क्रोध दोनोंको जीता है। उसका फल जो हुआ उसकी कथा विस्तारसे ग्रन्थकारने आगे दी ही है। भगवान्‌ने अपनी मायासे उनके लिये लीला रची जिसमें उनको काम, लोभ, मोह, क्रोध, अहंकार—सभीने अपने वश कर लिया। माया हटा लेनेपर प्रभुके चरणोंपर त्राहि-त्राहि करते हुए गिरनेपर प्रभुकी कृपासे इनकी बुद्धि ठीक हुई और इन्होंने जाना कि यह सब नामस्मरणका ही प्रताप था, इसीसे अवतार होनेपर उन्होंने यह वर माँग लिया कि 'रामनाम सब नामोंसे श्रेष्ठ हो', श्रीरामनामके वे आचार्य और ऋषि हुए। गणेशजी, प्रह्लादजी, व्यासजी आदिको नामका प्रताप आपने ही तो बताया है।

२ 'जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू' इति। इसमें 'मालादीपक अलंकार' है। इस अलंकारमें एक धर्मके साथ उत्तरोत्तर धर्मियोंका सम्बन्ध वर्णित होता है। यथा—'साहित्यदर्पणे 'तन्मालादीपकं पुनः। धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम् ॥' उदाहरण यथा—'त्वयि संगरसम्प्राप्ते धनुषा सादिताः शराः। शरैररिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः ।' अर्थात् संग्राममें आपके आनेपर धनुषने शर, शरने शत्रुशिर, उसने पृथ्वी, पृथिवीने आपको और आपने यशको प्राप्त किया। यहाँ धनुरादि सभी धर्मियोंका प्राप्ति कर्तृत्वरूपी एक धर्मका वर्णन हुआ है। अतः यहाँ मालादीपकालंकार माना गया। उसी तरह 'जग', 'हरि हर' और 'आपू' इन सभी धर्मियोंमें 'प्रियत्वरूपी एक धर्म' के वर्णनसे 'मालादीपक अलंकार' माना गया है। काव्यप्रकाशके मतमें पूर्वकथित वस्तुको उत्तरोत्तर वस्तुके उत्कर्षके हेतु होनेसे 'मालादीपकालंकार' माना गया है। यथा—'मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।' इस मतसे भी यहाँ 'मालादीपक' ही होता है। क्योंकि जगत्‌के प्रिय हरि, हरिके प्रिय हर और उनके प्रिय आप (नारद) हैं। इस प्रकारके कथनसे उत्तरोत्तर उत्कर्षकी प्रतीति स्पष्ट हो रही है।*

जगको हरि, हरिको हर, हरिहरको नारद प्रिय हैं। प्रमाण क्रमसे यथा—(१) 'ए प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी ॥ बा० २१६ ।', 'मो बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियराम प्रानप्रिय नाहीं ॥ अ० १८१ ', 'अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं ॥ २ । १६२ ।' (२) 'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा' (लं० २), 'कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें ॥ १ । १३८ ।' (३) 'करत दंडवत लिए उठाई। राखे बहुत बार उर लाई।''' कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह मागी ॥ ३ । ४१-४२ ।' 'मार चरित संकरहिं सुनाए। अति प्रिय जानि महेसु सिखाए ॥ १ । १२७ ।' पुनश्च यथा—'शास्म्यहं त्वया विशेषेण मम प्रियतमो भवान्। विष्णुभक्तो यतस्त्वं हि तद्भक्तोऽतीव मेऽनुग' (शिवपुराण रुद्रसंहिता २ अ० २ श्लोक ३४)। ये वचन श्रीशिवजीके हैं।

३ श्री सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'प्रथम 'हरि' से विष्णुका ग्रहण करनेके अर्थमें कुछ रोचकता नहीं आती।' वे उत्तरार्द्धका अर्थ यों करते हैं—जगत्‌में जितने हरि और हरके प्रिय पात्र थे सबको (हरि) हरणकर

---

* अप्पय्य दीक्षितके मतानुसार यह अलंकार दीपक और एकावलीके मेलसे बनता है। 'जग जपु राम राम जपु जेही' में मालादीपक है। विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता ॥' 'बिनु गुरु होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु' में एकावली है। 'संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान तें ग्यान पान तें लाजा ॥ प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी ॥' में दीपक है।

अर्थात् सबको नीचाकर आप हरिहरके सर्वोत्तम प्रिय हुए; दासीपुत्रसे देवर्षि हो गये। यही अर्थ ग्रन्थकारको अभिप्रेत है।'

प० रामकुमारजी इसका एक भाव यह कहते हैं कि 'रामनाम भक्तके हृदयको निर्विकार कर देते हैं, हरिहरमें भेद नहीं रह जाता, भेद रहना ही विकार है, यथा—'प्रथमहि कहि मैं सिवचरित बूझा मरम तुम्हार।'

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥ ४॥

शब्दार्थ—प्रसादू=प्रसन्नता, रीझ, कृपा। 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' (अमरे १। ३। १६)

अर्थ—नामके जपनेसे प्रभुने प्रसन्नता (प्रकट) की जिससे प्रह्लादजी भक्तोंमें शिरोमणि हो गये॥ ४॥

नोट—१ 'भगतसिरोमनि'। प्रह्लादजीको भक्तशिरोमणि कहा, क्योंकि द्वादशप्रधान भक्तोंमेंसे इनका नाम पाण्डवगीतामें प्रथम दिया गया है। यथा—'प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि॥ १॥' भक्तशिरोमणि होनेका प्रमाण श्रीभागवतमें भी मिलता है, यथा—'भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः। भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥' (भा० ७। १०। २१)। श्रीनृसिंह भगवान् कहते हैं कि 'संसारमें जो लोग तुम्हारा अनुकरण करेंगे वे मेरे भक्त हो जायँगे। निश्चय ही तुम मेरे सम्पूर्ण भक्तोंमें आदर्शस्वरूप हो।' भगवान्‌ने जब स्वयं उनको सम्पूर्ण भागवतोंमें आदर्श माना-जाना है तब 'भक्तशिरोमणि' गोस्वामीजीने ठीक ही कहा है। नवधाभक्तिके 'सुठि सुमिरन' (अनन्त स्मरणरूप भक्तिनिष्ठाके नियन्ता वा नेता आप ही हैं। किसने भगवान्‌को पाषाणसे प्रकट कराकर उनकी सर्वव्यापकता प्रकट की? नारदजी कहते हैं—'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥ भा० ७। ८। १८।' अर्थात् भक्तकी वाणीको सत्य करने, अपनी व्यापकता सबको दिखानेके लिये सभाके उसी खम्भेमें विचित्ररूप धारण किये हुए, जो न मनुष्य ही था न सिंह, प्रकट हो गये।—गोस्वामीजीने भी कहा है—'सेवक एक तें एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े। प्रेम बदौं प्रह्लादहि को जिन्ह पाहन तें परमेस्वर काढ़े॥ क० ७। १२७।' श्रीसुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि नृसिंहजी हिरण्यकशिपुको मारकर प्रह्लादको गोदमें लेकर जिह्वासे चाटते थे। ऐसी कृपा किसी भक्तपर नहीं प्रकट की गयी। इसीसे उनको भक्तशिरोमणि कहा।

२ शङ्का—प्रह्लादजी भक्तशिरोमणि हैं तो यहाँ उनको नारदजीसे पहले क्यों न कहा?

समाधान—पाण्डवगीता और भगवतकी बात उन्होंने 'भक्तशिरोमणि' कहकर रक्खी और यह कहते हुए भी नारदजीको प्रथम रखकर गुरुकी मर्यादा, उनका उचित सम्मान करके रक्खी।

३ प्रह्लादजीने नारदजीसे कब उपदेश पाया? यह कथा भा० स्क० ७ अ० ७ में है। यह कथा प्रह्लादजीने स्वयं दैत्यबालकोंसे उनको रामनाममें विश्वास दिलानेके लिये कही थी। वह यह है कि 'जब हिरण्यकशिपु तप करनेको चला गया तब इन्द्रादि देवताओंने दैत्योंपर धावा किया, वे सब जान बचाकर भागे। इन्द्र मेरी माता राजरानीको पकड़कर स्वर्गको चले। मार्गमें नारदजी मिले और उनसे बोले कि निरपराध सती और पर-स्त्रीको ले जाना अयोग्य है। इन्द्रने कहा कि इसके गर्भमें दैत्यराजका दुःसह वीर्य है, पुत्र होनेपर उसे मार डालूँगा और इसे तब छोड़ दूँगा। नारदजीने उत्तर दिया कि इसके गर्भमें एक निष्पाप, अपने गुणोंसे महान्, विष्णुभगवान्‌का अनुचर और पराक्रमी महाभागवत है। वह तुम्हारे द्वारा मारा नहीं जा सकता। यथा—'अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान्। त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली॥ ७। १०।' नारदजीके वचनका आदर कर विश्वास मान इन्द्रने उसे छोड़ दिया। नारदजी उसे अपने आश्रममें ले आये और मेरे उद्देश्यसे उन्होंने मेरी माताको धर्मके तत्त्व और विशुद्ध ज्ञानका उपदेश दिया। ऋषिके अनुग्रहसे मैं उसे अभीतक नहीं भूला जो प्रेमपूर्वक लज्जा छोड़कर 'हे हरे! हे जगन्नाथ! हे नारायण!' इत्यादि रीतिसे कीर्तन करता है वह मुक्त हो जाता है।'

प्रह्लादजी सर्वत्र रामहीको देखते थे। पिताने इनको पानीमें डुबाया, आगमें डाला, सिंह और मतवाले हाथियोंके

आगे डलवाया, इत्यादि अनेक उपाय करके हार गया, पर इनका बाल बाँका न हुआ और इन्होंने 'रामनाम' न त्याग किया। अन्तमें उस दुष्टने स्वयं इनका वध करना चाहा। उसी समय पत्थरके खम्भेसे भगवान् रामचन्द्रजी नृसिंह-रूपसे प्रकट हो गये और हिरण्यकशिपुका वध किया।

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायेउ* अचल अनूपम ठाऊँ॥ ५॥

शब्दार्थ—सगलानि=ग्लानिसहित। ग्लानि मनकी वह वृत्ति है जिसमें किसी अपने कार्यकी बुराई या दोष आदिको देखकर अरुचि, खेद और खिन्नता उत्पन्न होती है। नाऊँ (नाँव, नाम)=नाम। ठाऊँ=ठाम, स्थान।

अर्थ—श्रीध्रुवजीने ग्लानिसे (सौतेली माँके कठोर वचनोंसे हृदय बिंध जानेसे दुःखी होकर) भगवान्‌के नामको जपा। उससे उन्होंने अटल उपमारहित धाम पाया॥ ५॥

नोट—१ 'ध्रुव' इति। इनकी कथा भागवत स्कन्ध ४ अ० ८, ९, १०, ११, १२ में है। 'सगलानि' का प्रसङ्ग अ० ८ श्लोक ९ से ३८ तक है। अ० ९ श्लोक २९ भी 'सगलानि जपेउ हरि नाऊँ' का प्रमाण है। यथा—'मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान्स्मरन्। नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान्॥' (मैत्रेयजी कहते हैं कि ध्रुवजीने अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे हृदयमें विद्ध होकर हरिका स्मरण करते हुए भी उन मुक्तिदातासे मुक्ति नहीं माँगी इससे उनको पश्चात्ताप हुआ। कथा इस प्रकार है—स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपाद थे जिनके दो रानियाँ थीं—एक सुनीति, दूसरी सुरुचि। छोटी रानी सुरुचिपर राजाका बड़ा प्रेम था, उससे 'उत्तम' हुआ और सुनीतिसे ध्रुवजी हुए। राजा प्रायः सुरुचिके महलमें रहते थे। एक दिन वहाँ बैठे जिस समय राजा उत्तमको गोदमें लिये खिला रहे थे, ध्रुवजी बालकोंके साथ खेलते-खेलते वहाँ पहुँच गये और पिताने जाकर कहा कि हम भी गोदमें बैठेंगे। राजाने सुरुचिके भयसे इनकी ओर देखा भी नहीं। ये बालक (पाँच वर्षके) थे इससे सिंहासनपर चढ़ न सकते थे। इन्होंने कई बार पुकारा पर राजाने कान न दिया। तब सुरुचि राजाके समीप ही बड़े अभिमानपूर्वक भक्तराजजीसे बोली—'वत्स! तू राजाकी गोदमें सिंहासनपर बैठनेकी इच्छा करता है, तू उसके योग्य नहीं। तू यह इच्छा न कर, क्योंकि तू हमारे गर्भमें नहीं उत्पन्न हुआ। तू राजसिंहासनका अधिकारी तभी होता जब हमारे उदरसे तेरा जन्म होता। तू बालक है, तू नहीं जानता कि तू अन्य स्त्रीका पुत्र है। जा, पहले तप करके भगवान्‌का भजन कर उनसे वर माँग कि तेरा जन्म सुरुचिसे हो तब हमारा पुत्र हो राजाके आसनका अधिकारी हो सकता है। पहले अपने संस्कार अच्छे बना। अभी तेरा या तेरी माँका पुण्य इतना नहीं है।' अपने और अपनी माताके विषयमें ऐसे निरादरके और हृदयमें बिंधनेवाले विषैले वचन सुन ध्रुवजी खड़े ठिठक-से रह गये और लम्बी साँसें भरने लगे—राजा सब देखता-सुनता रहा पर कुछ न बोला। राजाको तुरत छोड़, चीख मारकर रोते, साँस लेते, ओठ फड़फड़ाते हुए आप माँके पास आये। साथके लड़के भी साथ गये। माँने यह दशा देख तुरत गोदमें उठा लिया। बालकोंने सब वृत्तान्त कह सुनाया। वह बोली—'वत्स! तू किसीके अमङ्गलकी इच्छा न कर, कोई दुःख दे तो उसे सह लेना चाहिये। सुरुचिके वचन बहुत उत्तम और सत्य हैं। हम दुर्भगा हतभाग्या हैं, हमारे गर्भसे तुम हुए सो ठीक है। सिवाय भगवान्‌के और कोई दुःखके पार करने और सुखको देनेवाला नहीं। ब्रह्मा, मनु आदि सभी उन्हींके चरणोंकी भक्ति करके ऐश्वर्य और सुखको प्राप्त हुए। तू भी मत्सररहित और निष्कपट होकर उनके चरणोंकी आराधना कर।' माताके ऐसे मोहतम नाशक वचन सुन बालक ध्रुव यही निश्चयकर माताको प्रणामकर आशीर्वाद ले चल दिये। नारद मुनिने सब जाना तो बड़े विस्मित हुए कि 'अहो! बालककी ऐसी बुद्धि ' ' क्षत्रिय कभी अपमान नहीं सह सकते। पाँच वर्षका बालक! इसको भी सौतेली माँके कटुवचन नहीं भूलते।' नारदजीने इन्हें आकर समझाया-बुझाया कि घर चल, आधा राज्य दिला दें। भगवान्‌की आराधना क्या खेल है? योगी-मुनिसे भी पार नहीं लगता। इत्यादि (परीक्षार्थ कहा)। ध्रुवजीने उत्तर दिया कि 'मैं घोर क्षत्रियस्वभावके वश हूँ, सुरुचिके वचनरूपी बाणोंसे मेरे हृदयमें छिद्र हो गया। आपके वचन इसीसे उसमें नहीं ठहरते। यथा—'अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्त्रं घोरमुपेयुषः। सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि। भा० ४। ८। ३६।' 'सगलानि' का प्रसङ्ग यहाँ समाप्त हुआ।

* पायेउ—१७२१, १७६२।

नारदजीने मन्त्र और ध्यान इत्यादि बताया। छ मासहीमें भगवान्‌ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और ध्रुवजीके गालोंपर शङ्ख छुआया जिससे उनकी जिह्वापर देवसम्बन्धी वाणी प्राप्त हो गयी, उनको अपना और परस्वरूपका ज्ञान हो गया। घर आनेपर फिर उसी सुरुचिने भी इनको प्रणाम किया। भगवान् प्रसन्न होते हैं तो चराचरमात्र प्रसन्न हो जाता है। ध्रुवजीको राज्य मिला और अन्तमें अचल स्थान मिला। ध्रुवतारा इन्हींका लोक है। विनय पद ८६ भी देखिये।

नोट—२ 'सग्लानि' जपने छ माहमें ही श्रीहरिने उनको ध्रुवलोक दिया और इस पृथ्वीका छत्तीस हजार वर्ष राज्य दिया तथा यह वर दिया कि नाना प्रकारके भोग भोगकर तू अन्तकालमें मेरा स्मरणकर सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दनीय सप्तर्षियोंके लोकोंसे भी ऊपर मेरे निज धामको जायगा जहाँसे फिर संसारमें लौटना नहीं होता, यथा—'ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्। उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः॥ भा० ४। ९। २५।'

३—'अचल अनूपम ठाऊँ' इति। ध्रुवतारा स्थिर है। सप्तर्षि आदि तारागण उसकी नित्य परिक्रमा करते हैं। कल्पमें भी उसका नाश नहीं होता। अतः अचल कहा। यह तेजोमय है। उसमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र स्थित हैं [भा० ४। ९। २०]। परम ज्ञानी सप्तर्षिगण भी उसे न पाकर केवल नीचेसे देखते रहते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह, नक्षत्र और तारागण—इसकी निरन्तर प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इस पदको उस समयतक और कोई भी न प्राप्त कर सका था, यह विष्णुभगवान् जगद्वन्द्यका परमपद है (भा० ४। १२। २४)। यह सब ओर अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है और इसके प्रकाशसे तीनों लोक आलोकित हैं (भा० ४। १२। ३६)। अतः 'अनुपम' कहा।

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'ध्रुव' का एक प्रतिबिम्ब दूसरा 'ध्रुव' भी दक्षिण ओर अचल है। इन्हीं दोनोंकी प्रदक्षिणा आकाशमें सब ग्रह-नक्षत्र करते हैं। [सम्भवतः दूसरा ध्रुव आदि वह है जो विश्वामित्रजीने अपने तपोबलसे निर्माण किये थे।]

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥ ६॥

अर्थ—पवनदेव-पुत्र श्रीहनुमान्‌जीने (भी) इस पवित्र नामको स्मरणकर श्रीरामचन्द्रजीको अपने वशमें कर लिया॥ ६॥

नोट—१ **'सुमिरि पवनसुत'** इति। आपका रामनाम-स्मरण बड़ा विलक्षण है। श्रीरामनाम आपका जीवन है, आपके रोम-रोममें श्रीरामनाम अंकित ही नहीं किंतु श्रीनामकी ध्वनि भी उनमेंसे उठती है। ऐसा आश्चर्यमय स्मरण कि 'न भूतो न भविष्यति !!!' प्रमाण यथा—**'नाम्नः पराशक्तिपते. प्रभाव प्रजानते मर्कटराजराज। यद्रूपरागीश्वरवायुसूनुस्तद्रोमकूपे ध्वनिमुल्लसन्तम्॥'** (प्रमोद नाटक) भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका कवित्त २७ भी आपके वैराग्य और नामस्मरणका उदाहरण है कि रामनामहीन अत्यन्त अमूल्य पदार्थको भी वे तुच्छ समझ अपने पास भी नहीं रखते—**'राम बिनु काम कौन फोरि मनि दीन्हे डारि, खोलि त्वचा नाम ही दिखायो बुद्धि हरी है॥'**

२—**'पवनसुत'** का भाव यह है कि पवित्र करनेवालोंमें 'पवनदेव' सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंमें उनको गिनाया है। यथा—'पवनः पवतामस्मि' (गीता १०। ३१), अर्थात् मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु हूँ, उनके ये पुत्र हैं तब भी उन्होंने श्रीरामनामको ही परम पावन समझकर उसे जपा। यही कारण है कि उन्होंने अनन्य भक्तोंको यही कहकर रामनाम जपनेको कहा है। यथा—**'कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य॥…'** (श्रीहनुमन्नाटकका यही मङ्गलाचरण है)। 'पवन' को 'पवनसुत' और 'नामू' दोनोंका विशेषण मान सकते हैं। पवनसुत भी पावन और नाम भी पावन, यथायोग्यका सम्बन्ध दिखाया। 'पावन' विशेषण देकर जनाया कि इन्होंने 'राम' यही नाम जपा। यह सब नामोंमें श्रेष्ठ है जैसा पूर्व दिखाया जा चुका है—'राम सकल नामन्ह ते अधिका'। अतः 'पावन' विशेषण इसीके लिये दिया।

३ बाबा हरिदासजी कहते हैं कि—'श्रीहनुमान्जीने निष्काम नामको जपा है, इसीसे 'पावन' कहा। अर्थात् वे स्वयं पवित्र हैं और उन्होंने पवित्र रीतिसे स्मरण किया है। [सकाम स्मरण 'अपावन' है। यदि वे निष्काम न होते तो प्रभु उनके हृदयमें धनुष-बाण धारण किये हुए कभी न बसते। श्रीवचनामृत है कि 'वचन करम मन मोरि गति भजन करहिं नि काम। तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥ ३। १६।']

द्विवेदीजी—'पावन नामू' इति। हजारों नामोंमें यही (राम) नाम सबसे पवित्र है—'सहस नाम सम सुनि सिव बानी।' नामके प्रभावसे हनुमानजीने श्रीरामजीको वशमें कर लिया। रामजी रहस्य विहारके समयमें भी इनको साथ रखते थे। उत्तरकाण्डमें लिखा है कि 'भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवन कुमारा॥' जिसने जगज्जननी जानकीजीसे आशीर्वाद पाया ('अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥ सु०') और पुत्र कहाया, वह यदि रामको वश कर रक्खे तो कुछ चित्र नहीं। ग्रन्थकार भी हनुमत्कृपाहीसे रामदास कहाये। रामजीने मुखर इन्हींके कहनेसे तुलसीदासको अपना दास बनाया, यह विनय पत्रिकाके अन्तिम पदसे स्पष्ट है।'

टिप्पणी—१ यहाँ गोसाईंजी श्रीरामचन्द्रजीको वशमें करनेका उपाय बताते हैं। श्रीरामनामके स्मरणसे वश होते हैं, परन्तु वह स्मरण भी पवनसुतका सा होना चाहिये। पवन पवित्र, उनके पुत्र पवित्र और नाम पवित्र। 'पावन' शब्द देकर सूचित करते हैं कि पवित्रतासे स्मरण करे, किसी प्रकारकी कामना न करे। यह भाव 'करि राखे' पदसे भी टपकता है। 'करि राखे' का तात्पर्य यह है कि श्रीरामचन्द्रजीसे कुछ चाहा नहीं, कुछ लिया नहीं, इसीसे वे वशमें हो गये।

नोट—४ श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'यहाँ पावन शब्द बड़ा सुन्दर और सारगर्भित है। ग्रन्थकारने प्रथम श्रीरामनामकी महिमा बड़ी विलक्षणतापूर्वक कही। पश्चात् अन्य नामोंकी महिमा उदाहरणसयुक्त कही, यथा—'ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ।' अब पुन रामनामका महत्त्व वर्णन करना है। हनुमान्जी वृत्ति तथा नियम और प्रेमका उदाहरणसमेत। इसने रामनामके साथ 'पावन' शब्द देकर गम्भीर रहस्यको बतलाया।'

५—'अपने बस करि राखे' इति। (क) 'वशमें कर रक्खा', यथा—'दीबेको न कछु रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ।' (विनय० १००), 'तेरो रिनि हौं कह्यो कपि सों' (विनय० १६४) 'साँची सेवकाई हनुमान की सुजानराय रिनिया कहाये हौं बिकाने ताके हाथ जू।' (क० ७। १९)। वाल्मीकीयमें भी प्रभुने कहा है कि तुम्हारे एक-एक उपकारके लिये मैं अपने प्राण दे सकता हूँ, पर शेष उपकारोंके लिये तो मैं तुम्हारा सदा ऋणी ही रहूँगा। तुमने जो-जो उपकार मेरे साथ किये हैं, वे सब मेरे शरीरहीमें जीर्ण हो जायँ, यही मैं चाहता हूँ। इनके प्रत्युपकारका अवसर नहीं चाहता, क्योंकि उपकारीका विपत्तिग्रस्त होना ही प्रत्युपकारका समय है, सो मैं नहीं चाहता कि तुमपर कभी विपत्ति पड़े। यथा—'एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥' (वाल्मी० ७। ४०। २३, २४)। (ख) 'वशमें कर रक्खा' कहकर जनाया कि श्रीहनुमान्जीमें सन्तोंके वे समस्त गुण हैं जिनसे श्रीरामजी उनके वश होते हैं। श्रीरघुनाथजीने नारदजीसे वे गुण यों कहे हैं। यथा—'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥ षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा॥ ३। ४५ (६-७)।' से 'हेतु रहित परहितरतसीला' तक। (ग) देवता अपने मन्त्रके वशमें रहते हैं, यथा—'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब। १। २५६।' श्री 'राम' यह नाम श्रीरामजीका मन्त्र है, यथा—'महामंत्र जोइ जपत महेसू'। इसीसे श्रीरामनामके जपसे श्रीरामजी वशमें हो गये।

६—'रामू' इति। बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि—'राम' का 'रामू' लिखा। एक मात्रा और बढ़ाकर 'स्वतन्त्रतासे भिन्न वश होना जनाया।' (रा० प्र०)।

अपतु* अजामिलु गजु गनिकाऊ। भये मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥ ७॥

* अपढ़—१७०४। जपत—को० रा०। अपत—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

शब्दार्थ—अपतु=पतित, पापी, यथा—'पावन किय रावनरिपु तुलसिहुँ से अपत' (वि० १३०) 'अपत उतार अपकारको अगार जग जाकी छाँह छुए सहमत ब्याध बाधको' (क० उ० ६८)।

अर्थ—अजामिल, गजेन्द्र और गणिका—ऐसे पतित भी भगवान्‌के नामके प्रभावसे मुक्त हो गये॥ ७॥

टिप्पणी—'अपतु' इति। उत्तम भक्तोंकी गिनती श्रीशिवजीसे प्रारम्भ की। यथा—'महामंत्र जोइ जपत महेसू।' और शिवजीहीपर समाप्त की। यथा—'सुमिरि पवनसुत पावन नामू।' श्रीहनुमान्‌जी रुद्रावतार हैं, यथा—'रुद्रदेह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान। १४२। जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुषा ते सेवक भए, हर ते भे हनुमान॥ १४३।' (दोहावली)। अर्थात् 'महामंत्र जोइ जपत महेसू' से 'सुमिरि पवनसुत' तक उच्च कोटिके भक्तोंको गिनाया, अब पतितोंके नाम देते हैं जो नामसे बने।

'अपत' की गिनती अजामिलसे प्रारम्भ करके अपनेमें समाप्ति की। गोस्वामीजीने अपनी गणना भक्तोंमें नहीं की। यह उनका कार्पण्य है।

नोट—१ 'अजामिल' इति। इनकी कथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध ६ अ० १, २ में, भक्तिरसबोधिनी टीकामें विस्तारसे है। ये कन्नौजके एक श्रुतसम्पन्न (शास्त्रज्ञ) सुस्वभाव और सदाचारशील और क्षमा, दया आदि अनेक शुभ गुणोंसे विभूषित ब्राह्मण थे। एक दिन यह पिताका आज्ञाकारी ब्राह्मण जब वनमें फल, फूल, समिधा और कुशा लेने गया, वहाँसे इनको लेकर लौटते समय वनमें एक कामी शूद्रको एक वेश्यासे निर्लज्जतापूर्वक रमण करते देख यह कामके वश हो गया ''उसके पीछे इसने पिताकी सब सम्पदा नष्ट कर दी, अपनी सती स्त्री और परिवारको छोड़ उस कुलटाके साथ रहने और जुआ चोरी इत्यादि कुकर्मोंसे जीवनका निर्वाह और उस दासीके कुटुम्बका पालन करने लगा। इस दासीसे उसके दस पुत्र थे। अब वह अस्सी वर्षका हो चुका था। (भा० ६। १। ५८—६५, २१—२४) एक साधुमण्डली ग्राममें आयी, कुछ लोगोंने परिहाससे उन्हें बताया कि अजामिल बड़ा सन्तसेवी धर्मात्मा है। वे उसके घर गये तो दासीने उनका आदर-सत्कार किया। उनके दर्शनोंसे इसकी बुद्धि फिर सात्त्विकी हो गयी। सेवापर रीझकर उन्होंने इससे कहा कि जो बालक गर्भमें है उसका नाम 'नारायण' रखना। इस प्रकार सबसे छोटेका नाम 'नारायण' पड़ा। यह पुत्र उसको प्राणोंसे प्यारा था। अन्तकालमें भी उसका चित्त उसी बालकमें लग गया। उसने तीन अत्यन्त भयंकर यमदूतोंको हाथोंमें पाश लिये हुए अपने पास आते देख विह्वल हो दूरपर खेलते हुए पुत्रको 'नारायण' 'नारायण' कहकर पुकारा। तुरत नारायण पार्षदोंने पहुँचकर यमदूतोंके पाशसे उसे छुड़ा दिया (भा० ६। १। २४—३०)। भगवत्-पार्षदों और यमदूतोंमें वाद-विवाद हुआ। उसने पार्षदोंके मुखसे वेदत्रयीद्वारा प्रतिपादित असगुण धर्म सुना। भगवान्‌का माहात्म्य सुननेसे उसमें भक्ति उत्पन्न हुई (६। २। २४-२५)। वह पश्चात्ताप करने लगा और भगवद्-भजनमें आरूढ हो भगवल्लोकको प्राप्त हुआ। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि पुत्रके मिससे भगवन्नाम उच्चारण होनेसे तो पापी भगद्धामको गया, तो जो श्रद्धापूर्वक नामोच्चारण करेंगे उनके मुक्त होनेमें क्या सन्देह है?—'नाम लियो पूत को पुनीत कियो पातकीस। क० उ० १८।', 'म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम्। अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥ अ० २ श्लो० ४९।'

२—'गज'—क्षीरसागरके मध्यमें त्रिकूटाचल है। वहाँ वरुण भगवान्‌का ऋतुमान् नामक बगीचा है और एक सरोवर भी। एक दिन उस वनमें रहनेवाला एक गजेन्द्र हथिनियोंसहित उसमें क्रीड़ा कर रहा था। उसीमें एक बली ग्राह भी रहता था। दैवेच्छासे उस ग्राहने रोषमें भरकर उसका चरण पकड़ लिया। अपनी शक्ति भर गजेन्द्रने जोर लगाया। उसके साथके हाथी और हथिनियोंने भी उसके उद्धारके लिये बहुत उपाय किये, पर उसमें समर्थ न हुए। एक हजार वर्षतक गजेन्द्र और ग्राहका परस्पर एक दूसरेको जलके भीतर और बाहर खींचा-खींची करते बीत गये। अन्ततोगत्वा गजेन्द्रका उत्साह, बल और तेज घटने लगा और उसके प्राणोंके सङ्कटका समय उपस्थित हो गया। उस समय अकस्मात् उसके चित्तमें सबके परम आश्रय हरिकी शरण लेनेकी सूझी और उसने प्रार्थना की—'य. कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्। भीतं प्रपन्नं

परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥ (भा० ८ । २ । ३३)। अर्थात् जो कालसर्पसे भयभीत भागते हुए व्यक्तिकी रक्षा करता है, जिसके भयसे मृत्यु भी दौड़ती रहती है, उस शरणके देनेवाले, ईश्वरकी मैं शरण हूँ। यह सोचकर वह अपने पूर्वजन्ममें सीखे हुए श्रेष्ठ स्तोत्रका जप करने लगा। यथा—'जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्। अ० ३ । १ ।' स्तुति सुनते ही सर्वदेवमय भगवान् हरि प्रकट हुए। उन्हें देखते ही बड़े कष्टसे अपनी सूँड़में एक कमलपुष्प ले उसे जलके ऊपर उठा भगवान्‌को 'नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते। ३ । ३२।' इस प्रकार हे नारायण! हे अखिल गुरो! हे भगवन्! आपको नमस्कार है' कहकर प्रणाम किया। यह सुनते ही भगवान्, गरुड़को भी मन्दगामी समझ उसपरसे कूद पड़े और तुरत ही उसे ग्राहसहित सरोवरसे बाहर निकाल सबके देखते-देखते उन्होंने चक्रसे ग्राहका मुख फाड़ गजेन्द्रको छुड़ा दिया।

पूर्वजन्ममें यह ग्राह हूहू नामक गन्धर्वश्रेष्ठ था और गजेन्द्र द्रविड़ जातिका इन्द्रद्युम्न नामक पाण्ड्य देशका राजा था। यह मनस्वी राजा एक बार मलयपर्वतपर अपने आश्रममें मौनव्रत धारणकर श्रीहरिकी आराधना कर रहा था। उसी समय दैवयोगसे अगस्त्यजी शिष्यसहित वहाँ पहुँचे। यह देखकर कि हमारा पूजा-सत्कार आदि कुछ न कर राजा एकान्तमें बैठा हुआ है उन्होंने उसे शाप दिया कि—हाथीके समान जड़बुद्धि इस मूर्ख राजाने आज ब्राह्मणजातिका तिरस्कार किया है, अतः उसी घोर अज्ञानमयी योनिको प्राप्त हो। इसीसे वह राजा गजयोनिको प्राप्त हुआ। भगवान्‌की आराधनाके प्रभावसे इस योनिमें भी उन्हें आत्मस्वरूपकी स्मृति बनी रही।—अब भगवान्‌के स्पर्शसे वह अज्ञानबन्धनसे मुक्त हो भगवान्‌के सारूप्यको प्राप्त कर भगवान्‌का पार्षद हो गया [भा० ८ । ४ । १-१३]। हूहू गन्धर्वने एक बार देवलऋषिका जलमें पैर पकड़ा, उसीसे उन्होंने उसको शाप दिया कि तू ग्राहयोनिको प्राप्त हो। भगवान्‌के हाथसे मरकर वह अपने पूर्व रूपको प्राप्त हुआ और स्तुति करके अपने लोकको गया। गजेन्द्रके सङ्गसे उसका भी नाम चला। गजेन्द्रका 'गजेन्द्रमोक्ष' स्तोत्र प्रसिद्ध ही है। विनय० में भी कहा है—'तर्‍यो गयंद जाके एक नायँ।' (भक्तमालटीकामें श्रीरूपकलाजी-ने पूर्वजन्मकी और भी एक कथा दी है)।

३ 'गनिका' इति। पद्मपुराणमें गणिकाका प्रसङ्ग श्रीरामनामके सम्बन्धमें आया है। सत्ययुगमें एक रघु नामक वैश्यकी जीवन्ती नामकी एक परम सुन्दरी कन्या थी। यह पशुनामक वैश्यकी नवयौवना स्त्री थी। युवावस्थामें ही वह विधवा होकर व्यभिचारमें प्रवृत्त हो गयी। ससुराल और मायका दोनोंसे यह निकाल दी गयी। तब वह किसी दूसरे नगरमें जाकर वेश्या हो गयी। यही वह गणिका है। इसके कोई सन्तान न थी। इसने एक व्याधासे एक बार एक तोतेका बच्चा मोल ले लिया। और उसका पुत्रकी तरह पालन करने लगी। वह उसको 'राम, राम' पढ़ाया करती थी। इस तरह नामोच्चारणसे दोनोंके पाप नष्ट हो गये। यथा—'रामेति सततं नाम पाठ्यते सुन्दराक्षरम् ॥ ७७ ॥ रामनाम परं ह्येतत् सर्वदेवाधिकं महत्। समस्तपातकध्वंसि स शुकस्तु तया पठन् ॥ ७८ ॥ रामोच्चारणमात्रेण तयोश्च दुष्कर्मसंचयो। विनष्टमभवत्पापं सर्वमेव सुदारुणम् ॥ ७९ ॥' दोनों साथ-साथ इस प्रकार रामनाम लेते थे। फिर किसी समय वह वेश्या और वह शुक एक ही समय मृत्युको प्राप्त हुए। यमदूत उसको पाशसे बाँधकर ले चले, इतनेमें ही भगवान्‌के पार्षद पहुँच गये और उन्होंने यमदूतोंसे उसे छुड़ाया। छुड़ानेपर यमदूतोंने मार-पीट की। दोनोंमें घोर युद्ध हुआ। यमदूतोंका सेनापति चण्ड जब युद्धमें गिरा तब सब यमदूत भगे। भगवत्पार्षदोंने तब जय-घोष किया। उधर यमदूतोंने जाकर धर्मराजसे शिकायत की कि महापातकी भी रामनामके केवल रटनेसे भगवान्‌के लोकमें चले गये तब आपका प्रभुत्व कहाँ रह गया? इसपर धर्मराजने उनसे कहा—'दूताः स्मरतो तौ रामरामेति नामाक्षरद्वयम्। तदा न मे दण्डनीयौ तयोर्नारायणः प्रभुः ॥ ७३ ॥ संसारे नास्ति तत्पापं यद्रामस्मरणैरपि। न याति संक्षयं सद्यो दूताः शृणुत किङ्कराः ॥ ७४ ॥'—हे दूतो! ये 'राम राम' ये दो अक्षर रटते थे, इसलिये वे मुझसे दण्डनीय नहीं हैं। उनके प्रभु श्रीरामजी हैं। संसारमें ऐसा कोई पाप नहीं है जो रामनामसे न विनष्ट हो जाय हो, यह तुम लोग निश्चय जानो।—वे दोनों श्रीरामनामके प्रभावसे मुक्त हो गये। यथा—'रामनामप्रभावेण तौ गतौ धाम्नि सत्वरम् ॥ पद्मपु० क्रियायोगसारखण्ड अ० १५ ।'

एक 'पिङ्गला' नामकी वेश्याका प्रसङ्ग भा० ११।८ में इस प्रकार है कि एक दिन वह किसी प्रेमीको अपने स्थानमें लानेकी इच्छासे खूब बन-ठनकर अपने घरके द्वारपर खड़ी रही। जो कोई पुरुष उस मार्गसे निकलता उसे ही समझती कि बड़ा धन देकर रमण करनेवाला कोई नागरिक आ रहा है, परंतु जब वह आगे निकल जाता तो सोचती कि अच्छा अब कोई दूसरा बहुत धन देनेवाला आता होगा। इस प्रकार दुराशावश खड़े-खड़े उसे जागते-जागते अर्धरात्रि बीत गयी। धनकी दुराशासे उसका मुख सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया और चिन्ताके कारण होनेवाला परम सुखकारक वैराग्य उसको उत्पन्न हो गया। वह सोचने लगी कि—ओह! इस विदेहनगरीमें मैं ही एक ऐसी मूर्खा निकली कि अपने समीप ही रमण करनेवाले और नित्य रति और धनके देनेवाले प्रियतमको छोड़कर कामना-पूर्तिमें असमर्थ तथा दुःख, शोक, भय, मोह आदि देनेवाले, अस्थिमय टेढ़े तिरछे बाँसों और थूनियोंसे बने हुए, त्वचा, रोम और नखोंसे आवृत्त, नाशवान् और मल-मूत्रसे भरे हुए, नवद्वारवाले घररूप देहोंको कान्त समझकर सेवन करने लगी। अब मैं सबके सुहृद्, प्रियतम, स्वामी, आत्मा, भवकूपमें पड़े हुए कालसर्पसे ग्रस्त जीवोंके रक्षकके ही साथ बिककर लक्ष्मीजीके समान उन्हींके साथ रमण करूँगी। यह सोचकर वह शान्तिपूर्वक जाकर सो रही और भजनकर संसार सागरसे पार हो गयी। (परन्तु इस कथामें नाम-जप या रामनामकी बात भागवतमें नहीं है और न अवधूतके इस कथाप्रसङ्गमें नामका प्रसङ्ग ही है। सम्भवतः इसीसे आगेका चरित्र न दिया गया हो।)

४ 'भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ' इति। अभीतक इसके पूर्व यह दिखाया था कि भक्तोंने नाम जपकर उसका प्रभाव जाना। (शिवजी कालकूट पीकर भी अविनाशी हो गये, वाल्मीकिजी और गणेशजीकी अनेकों ब्रह्महत्याएँ मिटीं और एक ब्रह्माके समान भारी महर्षि हुए, दूसरे प्रथम पूज्य हुए। गणेशजीने जाना कि त्रैलोक्य राममें ही है। पार्वतीजीने सहस्रनाम समान जाना। शुक-सनकादिने ब्रह्मसुख पा ब्रह्मसमान जाना। प्रह्लादने सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक आदि जाना। ध्रुवजीने इहलोक-परलोक दोनों देनेवाला जाना। नारदजीने जाना कि हरि-हर सब इसीके वश हैं, नामजापक सबका प्रिय हो जाता है। इत्यादि) अब अजामिल आदिके दृष्टान्त देकर दिखाते हैं कि ये महापापी प्राणी नामके प्रभावसे उसके उच्चारणमात्रसे मुक्त हो गये। यथा—'जानि नाम अजानि लीन्हे नरक यमपुर मने।' विनय० १६०। जैसे अग्निको जानो या न जानो वह छूनेसे अवश्य जलावेगी वैसे ही होठोंके स्पर्शमात्रसे नाम सर्व शुभाशुभकर्मोंको नष्ट कर मुक्ति देगा ही। अजामिल पतितोंकी सीमा था, इसीसे उसका नाम प्रथम दिया। ग्रन्थके अन्तमें भी कहा है कि ये सब नामसे तरे। यथा—'गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना। आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे॥ कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते। ७। १३०।'

कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥ ८॥

अर्थ—(मैं श्रीरामजीके नामकी बड़ाई कहाँतक करूँ? श्रीरामजी (भी) (अपने) नामके गुण नहीं कह सकते॥ ८॥

नोट—इस प्रकरणमें नामकी विशेषता दिखा रहे हैं। 'राम' न सकहिं नाम गुन गाई' कहकर नामकी अत्यन्त अपार महिमा दिखायी है। नामके गुण अनन्त हैं तो उनका अन्त कैसे कर सकें? कथनका तात्पर्य यह है कि ईश्वरकोटिवाले तो कोई कह ही नहीं सकते, रहे श्रीरामजी जो परात्पर ब्रह्म हैं सो वे भी नहीं कह सकते तो भला अल्पबुद्धिवाला मैं क्योंकर कह सकता हूँ? अतएव कहते हैं कि अब मैं कहाँतक कहता जाऊँ, इसीसे हद है कि स्वयं श्रीरामजी भी नहीं कह सकते।

'राम न सकहिं नाम गुन गाई' इति। क्यों नहीं कह सकते? इस प्रश्नको उठाकर महानुभावोंने अपने विचारानुसार इसके उत्तर यों लिखे हैं—(१) नामके गुण अनन्त हैं। यथा—'राम नाम कर अमित प्रभावा।' (१।४६), 'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥' (७।९१) जिसका अन्त ही नहीं, वह कैसे कहा जा सकता है? यदि यह कहें कि श्रीरामजी कह सकते हैं तो फिर उनके गुणोंके अनन्त होनेमें बट्टा लगता है। अतएव यह बात स्वयं सिद्ध है कि वे भी नामके समस्त गुणोंका कथन नहीं कर सके। गुण-कथन महाप्रलयतक भी

नहीं समाप्त हो सकता। प्रमाण, यथा—'राम एवाभिजानाति रामनाम्न फलं हरि। प्रवक्तुं नैव शक्नोति ब्रह्मादीनां तु का कथा॥' (वसिष्ठतन्त्र), 'राम एवाभिजानाति कृत्स्नं नामार्थमद्भुतम्। ईषद्वदामि नामार्थं वेद्मि तत्रानुकम्पया॥' (महारामायण, ५२। ४), 'नामसङ्कीर्तनं विद्धि यतो नान्यद्वदाम्यहम्। स्वयं रामचन्द्रोऽपि तन्नामानन्तवैभवम्॥' (तापनी संहिता)। (२) अपने मुख अपने नामकी प्रभुता कहना अयोग्य होगा। श्रीरामजी तो 'निज गुन श्रवण सुनत सकुचाहीं' तो फिर कहें कैसे? (३) श्रीरामजी धर्मनीतिके प्रतिपालक हैं। वेद-पुराण कहते हैं कि नामकी महिमा अनन्त है, अतएव आप वेद-मर्यादा न तोड़ेंगे। (४) मानसकारने नामका महत्त्व श्रीरामके लिये अवर्णनीय बताकर अपने प्रबन्धका उपसंहार किया है। बात मनमें आ जानेकी है। भगवन्नाम जैसा सुलभ, सर्वाधिकारीके लिये उपयुक्त विधि-निषेधरहित, अनन्त प्रभावसम्पन्न साधनका माहात्म्य कैसे वर्णन किया जा सकता है? सम्पूर्ण विश्व नामरूपात्मक है और उसमें भी नाम व्यापक है। विश्वसे परे परम पद प्राप्त करनेका मार्ग भी नाम है और परमपदस्वरूप भी नाम ही है। नाम साधन, साध्य, उपकरण, आचार्य, चेष्टा और प्राप्य सब कुछ है। नामके महत्त्वका कहीं पार है ही नहीं। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

(५) मयङ्ककार कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी 'अपने नामके रस अर्थात् प्रेमके वश स्वयं मत्त रहते हैं, यद्यपि चाहते हैं कि महत्त्वको कहें किंतु मत्ततावश नहीं कहा जा सकता।' (६) 'संसारकी रीति है कि कोई यदि भ्रमसे किसी प्रतिष्ठितसे पूछे कि आपका नाम अमुक है? इसपर सच्चा नाम होनेपर भी वह पुरुष सकोचसे उत्तर देता है कि नहीं वह मेरा नाम नहीं है, उस नामकी बड़ी महिमा है, मैं अधम उस नामकी प्रशंसा नहीं कर सकता।' (सु० द्विवेदीजी)। (७) यदि श्रीरामजी कहा भी चाहें तो कहें किससे? ऐसा कौन है जो सुनकर, समझे? वक्ता और श्रोता दोनों समशील और समदर्शी होने चाहिये तभी वक्ताका कहा श्रोता समझ सकता है। नामके गुणोंमें किसी श्रोताकी गति नहीं है, इसीसे प्रभु भी नहीं कह सकते। [वै०]। (८) 'राम' शब्द सगुणरूपका वाचक है और उसका जो अर्थ है वह निर्गुणरूपका वाचक है, इससे यह सिद्ध हुआ कि नाममें तो शब्द-अर्थ दोनों भाग रहते हैं। इसलिये नाम दोनोंके जानने योग्य है। रूप तो आधे भागका मालिक है, वह दोनों भागका स्वामी जो नाम है उसको कैसे जान सकता है (रा० प्र०)। (९) गोसाईंजी रघुनाथजीकी व्यंग स्तुति करके उनको प्रसन्न कर रहे हैं। जैसे कोई किसी राजा या धनिकसे कहे कि आप तो बड़े कंजूस हैं पर आपके नामका प्रताप ऐसा है कि वनमें भी आपका नाम लें तो सिंह नहीं बोल सकता। या, आपके नामसे मैं करोड़ों रुपया ला सकता हूँ। यह सुन वह 'कंजूस' कथनके दोषको मनमें किंचित् नहीं लाता वरंच प्रसन्न हो जाता है (करु० मिश्रजी)। श्रीहनुमानजीने भी ऐसा ही कहा था। (१०) मा० त० वि० कार एक भाव यह भी लिखते हैं कि 'मैं राम नहीं हूँ जो नामके गुण गा सकूँ। इत्यादि।'

नोट—२ यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि वन्दना तो 'राम' नामकी की, पर, दृष्टान्त अन्य नामोंके भी दिये गये। इनसे श्रीरामनामकी बड़ाई कैसे हुई? समाधान—सब नाम आपहीके हैं। 'राम' नाम सबका आत्मा और प्रकाशक है [१९ (१-२) में देखिये], सब नाम पतितपावन हैं और सब 'राम' नामके अंशांश-शक्तिसे प्रकट होते हैं और महाप्रलयमें श्रीरामनाममें ही लीन हो जाते हैं। प्रमाण—'विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि। तानि सर्वाणि देवर्षे जानाति रामनामनः॥' (पद्मपुराण)।

दो०—नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदास॥ २६॥

अर्थ—कलियुगमें श्रीरामचन्द्रजीका नाम कल्पवृक्ष और कल्याणका निवास (वास करनेका स्थान) है। जिसके स्मरण करनेसे तुलसीदास भाँगसे तुलसी हो गये॥ २६॥

नोट—१ 'कलप-तरु कलि कल्यान निवास' इति। (क) कल्पतरुका यह धर्म है कि जो कोई जिस विचारसे उसके नीचे जाय उसका मनोरथ वह पूर्ण कर देता है 'कल्पद्रुम कल्पितमेव सूते'। 'नामसे समीने

अपने-अपने मनोरथ पाये और आजतक पाते जाते हैं, इसलिये वस्तुतः कल्पवृक्षका धर्म 'नाम' में है। (मा० प०)। (ख) कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म, काम देता और सूर्यकी तपन हरता है। नाम अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष (भी) देते हैं और त्रिताप हरण करते हैं। यथा—'रामनाम कामतरु देत फल चारि रे' (वि० ६७), 'बैठे नाम कामतरु तर डर कौन घोर घन घाम को' (वि० १५५), 'सुमिरु त्रिबिध घाम हरन' (वि० २५५) 'जासु नाम त्रयताप नसावन। ५। ३९।'

२ 'कलि कल्यान निवासु' इति। (क) भाव यह कि कलियुगमें तो कल्याण अन्यत्र किसी स्थानपर है ही नहीं, केवल 'नाम' रूपी कल्पवृक्षके नीचे ही उसका घर रह गया है। इसमें यह भी ध्वनि है कि और युगोंमें अन्य साधनरूपी वृक्षोंके नीचे भी कल्याणका वास था। यथा—'पीपर तरु तर ध्यान जो धरई। जाप जग्य पाकर तर करई॥ आँब छाँह कर मानसपूजा। तजि हरि भजनु काजु नहिं दूजा॥ बर तर कह हरि कथा प्रसंगा।' (उ० ५७)। अर्थात् सत्ययुगमें पीपर, त्रेतामें पाकर और द्वापरमें आमके नीचे वास था क्योंकि सत्ययुगमें योग ध्यान, त्रेतामें जप यज्ञ और द्वापरमें पूजन मुख्य साधन थे जिनसे कल्याण होता था। कलियुगमें कल्याण सब स्थानोंसे भागकर 'नाम' कल्पतरुके नीचे आ बसा है, अन्य किसी उपायसे कल्याण होना असम्भव है, यथा—'एहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रमफलनि फरो सो।' 'सुख सपनेहु न योग सिधि साधन रोग बियोग धरो सो॥ काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।' (वि० १७३)। (ख) श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि नाम कल्याणनिवास कल्पवृक्ष है। अन्य युगोंमें तो अनेक प्रकारके यज्ञ, योग, तप, अनुष्ठान थे। पुत्र होनेके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ और लक्ष्मीके लिये अनुष्ठान। इस युगमें तो जो इच्छा हो वह नामके द्वारा ही प्राप्त होती है। कुछ भी इच्छा हो नाम उसे पूर्ण कर देगा।—यदि ऐसी बात है तब नामके द्वारा धन, भवनादि पानेका प्रयत्न करना चाहिये? 'कल्यान निवासु' कह रहा है कि ऐसा करना बुद्धिमानी न होगी। नाम स्वर्गके कल्पवृक्षकी भाँति केवल अर्थ, धर्म, काम ही देनेवाला नहीं है। वह तो कल्याणनिवास है। जीवका परम कल्याण करनेवाला है। अतएव उससे तुच्छ भौतिक पदार्थ लेनेकी मूर्खता न करके अपना परम कल्याण ही प्राप्त करना चाहिये। यहाँ नामको कल्पवृक्षसे विशेष मोक्षदाता बताया गया और उससे कल्याण ही प्राप्त करनेका संकेत भी किया गया। यहाँ महिमा-वर्णनके पश्चात् उपयोग बताकर गोस्वामीजी उत्तरार्धमें अपने अनुभवकी साक्षी देते हैं। 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' वाली बात नहीं है। वे कहते हैं कि मैंने स्वयं नाम-जप किया है और करता हूँ। 'सुमिरत' सूचित करता है कि अभी स्मरण समाप्त नहीं हुआ। इस स्मरणसे प्रत्यक्ष लाभ हुआ है। (ग) बैजनाथजी 'नामरूपी कल्पवृक्षका रूपक यह लिखते हैं—अयोध्याधाम थाल्हा है, रामरूप मूल है, नाम वृक्ष है, ऐश्वर्य-माधुर्यमिश्रित लीला स्कन्ध है, नाना दिव्य गुण शाखाएँ हैं, श्रृङ्गारादि आठों रस पत्र हैं, विवेक वैराग्यादि फूल है, ज्ञान फल है, नवधा-प्रेमा-परादि भक्तियाँ रस हैं, श्रीरामानुरागी सन्त प्रेमानुरागरसके भोक्ता हैं। (घ) अभिप्राय-दीपककारके मतानुसार यहाँ यह रूपक है—कलि सूर्य है, कलिके पाप सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें हैं, कल्याण बटोही (यात्री, राह चलनेवाला मुसाफिर) है, जप तप-योग-ज्ञानादि अनेक साधन वृक्ष हैं जो सूर्यकी किरणोंसे झुलस गये, उनके नीचे छाया न रह गयी, नाम कल्पतरु है जो अपने प्रभावसे हरा-भरा बना रह गया। अतः कल्याण-बटोहीने उसकी छायाकी शरण ली।

'जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी' इति।

(प० रामकुमारजी लिखते हैं कि इस दोहेमें यह अभिप्राय गर्भित है कि (क) जैसे तुलसी चार पदार्थोंकी देने-वाली है, वैसे ही भवरोगहारी और सर्वकामप्रद मैं हो गया। पुन, (ख) श्रीरामजीको प्रिय हुआ और पावन तथा पूज्य हो गया, यथा—'रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी' (१। ३१)

(२) श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—'तुलसीदासजी माता-पितासे परित्यक्त एक अधम भाँग ऐसे थे, पर नामके माहात्म्यसे 'तुलसी' वृक्षके ऐसे पवित्र हो गये जिनकी वाणीरूपी पत्रिकासे हजारों पतित पवित्र होते हैं। विनयपत्रिकाके २७५ पदसे स्पष्ट है कि मूलमें जन्म लेनेसे माताने इन्हें फेंक दिया था।' यथा—'तनुज तज्यौ कुटिल कीट ज्यों तज्यो

मातुपिता हूँ। काहे को रोष दोष काहि धौं मेरे ही अभाग, मोसों सकुचत सब छुइ छाहूँ॥ नाम की महिमा सीलु नाथ को मेरो भलो, बिलोकि अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ॥ २७५॥', 'जननी जनक तजेउ जननि करम बिनु' (वि० २२७)।

(३) सू० प्र० मिश्र—'आधे दोहेमें अपने भाग्यकी बड़ाई नामद्वारा निरूपण करते हैं कि जिसको स्मरण करके मैं भाँगसे तुलसी हुआ हूँ। इसका आशय यह है कि भाँग और तुलसीकी मञ्जरी दोनों एक-सी होती हैं, उसपर भी भाँग मादक तथा अपावन है और यह पावन एवं रोगनाशक है। उसी तरह मेरा रूप तो साधुओंके समान था पर मेरा कर्म मलिन था वह भी नामके प्रभावसे शुद्ध हो गया।' (यह भाव प० का है)

(४) बैजनाथजी—भाँग जहाँ जमती है वह भूमि अपावन मानी जाती है और तुलसी जहाँ जमती है वह भूमि और उसकी मिट्टी भी पावन हो जाती है। वहाँकी मिट्टी भी तुलसीके अभावमें भगवान्‌की सेवामें काम आती है। नामके प्रभावसे तुलसीके समान लोकपूज्य हो गया।

नोट—३ भाँग मद्य अर्थात मदकारक है। और इस प्रकारके मादक द्रव्यमें विषाक्त परमाणु रहते हैं। इसीलिये उनकी मात्रा अत्यधिक हो जानेसे वे मृत्युके कारण हो जाते हैं। उपर्युक्त मादक पदार्थ विशेष भङ्गके विरुद्ध गुणधर्मवाली ओषधि 'तुलसी' है। उसके सेवनके सेवनसे विषका नाश होता है और मद दूर होता है। अस्तु। गोस्वामीजीकी 'भये भाँग ते तुलसी' इस उक्तिका भाव यह है कि वे विषयीसे रामभक्त हो गये।

४ साधारण मनुष्यका विषयलीन जीवन भङ्गके समान ही होता है। वह स्वयं तो प्रमत्त होता ही है, दूसरोंको भी प्रमत्त बनाता है। पुत्र, स्त्री, मित्र, पड़ोसी सबको प्रेरित करता है कि वे पदार्थोंकी प्राप्तिमें लगें। जो नहीं लगते उन्हें अयोग्य समझता है। विवेकहीन होकर विषयोंमें ही सुख मानता है और अपने संसर्गमें आनेवाले प्रत्येकको यही प्रेरणा देता है। 'तुलसी भयो' का भाव कि जैसे तुलसीके बिना भगवान्‌की पूजा पूर्ण नहीं होती वैसे ही उनके 'मानस' के बिना श्रीरामजीकी पूजा पूर्ण नहीं होती। सम्पूर्ण लोकमें वे तुलसीके समान आदरणीय हो गये।

'भाँग से तुलसी बन जाना है', यह तो कविकी काव्योक्ति है।' इस प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिये। गोस्वामीजी पहले कह आये हैं कि नाम माहात्म्यमें धृष्टता या काव्योक्ति नहीं कर रहा हूँ। यह मेरी 'प्रीति प्रतीति' है नाममें प्रेम और विश्वास होनेपर तो नामने महाविषको अमृत बना दिया था, फिर भाँग तो केवल मादकमात्र है। इसीलिये 'जो सुमिरत' कहा गया और पहले नाममें प्रीति प्रतीतिकी बात कह ही आये हैं (भगवन्नामके जपका प्रभाव यह हुआ कि स्वयं मत्त एवं दूसरोंको मत्त करनेवाला स्वभाव स्वयं पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाला बन गया (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

५ यहाँ गोस्वामीजीने अपनेको 'तुलसीवृक्ष' कहा है। सम्भवतः श्रीमधुसूदनसरस्वतीजीने इसीको लेकर प्रसन्न होकर पुस्तकपर यह रूपक लिख दिया—'आनन्दकानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसीतरुः। कविता मञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥' जिसका अनुवाद काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायणसिंहजीने इस तरह किया है—दोहा—'तुलसी जंगम तरु लसै, आनँदकानन खेत। कविता जाकी मंजरी, रामभ्रमर रस लेत॥'

६ कल्पवृक्षका गुण श्रीरामनाममें स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना और रूपक' का सन्देह संकर है। नामके प्रभावसे तुलसीदास भाँगसे तुलसी हो गये—यहाँ 'प्रथम उल्लास' अलंकार है (वीरकवि)।

७ कुछ टीकाकारोंने इस दोहेका भाव न समझकर 'भाँग' पाठको बदलकर 'भाग' रख दिया है, जो अशुद्ध है। यही भाव अन्यत्र भी आया है, यथा—'केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास। राम जपत भए तुलसी तुलसीदास' (बरवै० ५९), 'तुलसी से खोटे खरे होत ओट नाम ही की। तेजी माटी मगहू की मृगमद साथ जू'। 'रामनामको प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो' (क० उ० १९, ७२)।

८ इस दोहेमें रामनामके ग्यारह फल दिखाये। नाम ब्रह्म, (१) अविनाशी करते हैं, (२) अमङ्गल हरते हैं,

(३) मङ्गल राशि बनाते हैं, (४) ब्रह्मसुख भोगी बनाते हैं, (५) हरिहरप्रिय करते हैं, (६) भक्तोंमें शिरोमणि बनाते हैं, (७) अचल अनूपम स्थान देते हैं, (८) श्रीरामजीको वशमें कर देते हैं, (९) मुक्ति तथा (१०) अर्थ, धर्म, काम देते और (११) पवित्र कर देते हैं।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका॥ १॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम[1] सनेहू॥ २॥
ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत[2] प्रभु पूजें॥ ३॥
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥ ४॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला[3]॥ ५॥

शब्दार्थ—तिहुँ=तीनोंमें। एहू=यह। मख=यज्ञ। मखबिधि=क्रिया, यज्ञकी विधि। परितोषत=सन्तुष्ट होते हैं, प्रसन्न होते हैं। पूजें=पूजनसे। मल=पाप। पयोनिधि=समुद्र।

अर्थ—चारों युगों, तीनों कालों और तीनों लोकोंमें प्राणी नाम जपकर शोकरहित हुए॥ १॥ वेदों, पुराणों और सन्तोंका यही मत है कि समस्त पुण्योंका फल श्रीराम (नाम) में स्नेह होना है॥ २॥ पहले युग (अर्थात् सत्ययुग) में ध्यानसे, दूसरे (त्रेता) युगमें भगवत्सम्बन्धी यज्ञक्रियासे और द्वापरमें पूजनसे प्रभु प्रसन्न होते थे॥ ३॥ परतु कलियुग केवल पापकी जड़ और मलिन है। पापसमुद्रमें प्राणियोंका मन मछली हो रहा है॥ ४॥ ऐसे कठिन कलिकालमें नाम कल्पवृक्ष है। स्मरण करते ही सब जगजालका नाश करनेवाला है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) अब यहाँसे नाम-माहात्म्य छठे प्रकारसे कहते हैं। अर्थात् 'काल' के द्वारा नामकी बड़ाई दिखाते हैं। (ख) 'चहुँ जुग' कहकर तब 'तीन काल' भी कहा। भाव यह कि निरन्तर जीव नाम जपकर विशोक होते आये हैं। विशेष दोहा २२ (८) 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति ··' में देखिये।

नोट—१ (क) 'तीनि काल' इति। काल वह सम्बन्ध-सत्ता है जिसके द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान आदिकी प्रतीति होती है और एक घटना दूसरीसे आगे-पीछे आदि समझी जाती है। वैशेषिकमें काल एक नित्य द्रव्य माना गया है। देश और काल वास्तवमें मानसिक अवस्थाएँ हैं। कालके तीन भेद भूत, वर्तमान और भविष्य माने जाते हैं। भूत=जो बीत गया। वर्तमान=जो उपस्थित है, चल रहा है, बीत रहा है। भविष्य जो आगे आनेवाला है। (ख) 'तिहुँ लोका' इति। निरुक्तमें तीन लोकोंका उल्लेख मिलता है—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। इनका दूसरा नाम भूः, भुव, स्वः है, जो महाव्याहृति कहलाते हैं। इनके साथ मह, जनः, तप· और सत्यम् मिल·र सप्त-व्याहृति कहलाते हैं। इनके नामसे सात लोकों—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक—की कल्पना हुई। पीछे इनके साथ सात पाताल—अतल, वितल, सुतल, तलातल, (अग्निपु० और विष्णुपु० में 'गभस्तिमान्') महातल, रसातल, (विष्णुपु० में 'नितल') और पाताल मिलकर चौदह लोक या भुवन माने गये हैं। प्राय 'लोक' के साथ 'त्रै' और 'भुवन' के साथ 'चौदह' का प्रयोग देखा जाता है। मर्त्य (पृथिवी), स्वर्ग और पाताल भी इन्हीं तीनके नाम हैं। (ग) 'तिहुँ लोक' का भाव कि केवल पृथ्वीपर ही नहीं, किंतु स्वर्ग और पातालमें भी। असुरोंके प्रबल होनेपर स्वर्गमें भी शोक होता है। तीनों लोकोंमें जीव विशोक हुए। सत्ययुगमें ध्रुव पृथ्वीपर, स्वर्गमें हिरण्यकशिपुसे पीड़ित देवता, पातालमें हिरण्याक्षसे पीड़ित पृथ्वी, इस प्रकार प्रत्येक युगमें प्रत्येक लोकमें जीवोंके विशोक होनेके उदाहरण शास्त्रमें मिलते हैं। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

'भए नाम जपि जीव बिसोका' इति। शका—भविष्यके लिये 'भये' क्रिया कैसे सगत है?

---

१ नामसनेह—(मानसपत्रिका)। २ परितोषत—१६६१, १७०४, को० रा०। परितोषन—१७२१, १७६२, छ०। ३ जजाला—१७२१, १७६२, छ०। जगजाला—१६६१, १७०४।

समाधान—(१) यहाँ 'भविष्य अलंकार' है जिसका लक्षण ही यह है कि भविष्यको वर्तमानमें कह दिया जाय। (२) यह क्रिया अन्तिम शब्द 'तिहुँ लोका' के विचारसे दी गयी। (३) तीन कालके लिये जब एक क्रियाका प्रयोग हुआ तो भूत और वर्तमान दोके अनुसार क्रिया देनी उचित ही थी। (४) चारों युग पूर्व अमित बार हो चुके हैं, उनमें नाम जपकर लोग विशोक हुए हैं, अतएव यह भी निश्चय जानिये कि आगे भी होंगे—इति भाव। जो हो गये उनका हाल लिखा गया। और (५) व्याकरणशास्त्रका नियम है कि वर्तमानके समीपमें भूतकालिक अथवा भविष्य-कालिक क्रियाओंका प्रयोग किया जा सकता है। यथा—'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा। अष्टाध्यायी ३। ३। १३७।' (६) जब किसी कार्यका होना पूर्ण निश्चित होता है तो उसे हो गया कहते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा—मेरे द्वारा ये सब पहले ही मारे जा चुके हैं, अर्जुन! तुम केवल निमित्त बनो। यहाँ भी कार्यके होनेकी पूर्ण निश्चयात्मकता ही है। इसी प्रकार यहाँ गोस्वामीजी कहते हैं कि आगे भी जो शोकार्त नाम-जप करेंगे, वे शोकहीन निश्चय ही हो जायँगे, अतः वे भी शोकहीन हो गये, ऐसा अभी कहनेमें कोई हानि नहीं। ऊपरके दोहेमें नामको कलिमें कल्याण निवास कल्पतरु कहा था, अतः नाम केवल कलियुगका साधन नहीं है, इसे तुरत स्पष्ट करनेके लिये यहाँ चारों युग, तीनों काल तथा तीनों लोकोंकी बात कही गयी। (श्रीचक्रजी)।

'त्रिसोका' हुए अर्थात् जन्म, जरा, मरण, त्रितापादिके शोकसे रहित हो गये।

नोट—२ 'बेद पुरान संत मत एहू।''राम सनेहू' इति। 'वेद पुराण सन्त' तीनकी साक्षी देनेका भाव कि 'कर्म प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है। अनुमान तथा उपमान भी प्रत्यक्षके ही कर्म अनुगामी होते हैं। तथा कर्मफल शास्त्र-प्रमाणसे ही जाने जाते हैं। शास्त्रोंमें परम प्रमाण श्रुति हैं', अतः उनको प्रथम कहा। 'श्रुति-प्रमाण होनेपर भी परोक्ष है। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इतिहास-पुराणोंके द्वारा वेदार्थ जानना चाहिये। 'अकेले वेदार्थ जाननेमें भ्रमकी सम्भावना है'। अतः 'पुराण' को कहा। 'पुराण अधिकारी भेदसे निर्मित हैं, उनमें अनेक प्रकारके अधिकारियोंके लिये साधन हैं। नाम-महिमा पता नहीं किस कोटिके अधिकारीके लिये होगी। भ्रान्तिहीन सत्यका पता तो सर्वज्ञ सन्तोंको ही होता है'। अतः अन्तमें इनको कहा। (ख) वेदका मत है कि सम्पूर्ण पुण्योंका फल राम-नाममें प्रेम होना ही है। क्योंकि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' वह परात्पर तत्त्व साधनसे नहीं मिलता। जिसे वह स्वयं वरण करे उसे ही मिलता है। वह किसे वरण करेगा? सीधा उत्तर है कि जिससे उसका प्रेम होगा। प्रेम उसका किससे होगा? जिसमें उसके प्रति प्रेम होगा। समस्त पुण्य उसीको पानेके लिये किये जाते हैं। पुण्यका उद्देश्य है सुखकी प्राप्ति और दुःखका विनाश। अतः समस्त पुण्योंका फल उससे प्रेम होना ही है। शाश्वत सुखकी प्राप्ति एवं दुःखका आत्यन्तिक विनाश नामसे होता है, अतएव नाममें अनुराग ही पुण्यमात्रका फल है। (श्रीचक्रजी)। (ग) तीनोंका मत यही है, यथा—'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥ सब कर मत खगनायक एहा। करिअ रामपदपंकज नेहा॥ श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥ ७। १२२।'

बैजनाथजी लिखते हैं कि—गुरु साधुसेवासे भजनकी रीति प्राप्त कर उसे करते-करते हृदयमें प्रकाश होनेपर जो अनुभवादि होते हैं उसीको 'सन्तमत' कहते हैं। 'सकल सुकृत फल रामसनेहू'—अर्थात् जप-तप-व्रत-तीर्थ दान, गुरु-साधुसेवा, पूजा-पाठ संध्या-तर्पणादि यावत् कर्मकाण्ड है, विवेक-वैराग्य, शम, दम, उपराम, श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षुतादि जो ज्ञानकाण्ड है तथा नवधा-प्रेमा-परा भक्ति, षट् शरणागति इत्यादि जो उपासनाकाण्ड है—इन सब सुकृतोंका फल केवल एक 'रामसनेह' है। यथा—'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥ आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥ तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥''सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित॥ दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥ ७। ४९।'

कोई-कोई पुराणमतका अर्थ 'लोकमत' कहते हैं। यथा—'प्रगट लोकमत लोकमें, दुतिय वेदमत जान। तृतिय संतमत करत जेहि, हरिजन अधिक प्रमान॥' इस अर्थका आधार है—वसिष्ठजीका वचन 'करब साधुमत लोकमत, नृपनय

निगम निचोरि। २। २५८।' वेदादि सबका यही मत है, यथा—'सर्वेषां वेदसाराणां रहस्यं ते प्रकाशितम्। एको देवो रामचन्द्रो व्रतमन्यन्न तत्समम्॥' (पद्मपु०, वै०)। 'सकल सुकृतोंका फल' कथनका एक भाव यह भी होता है कि जब समस्त सुकृत एकत्र होते हैं तब कहीं श्रीरामजी और उनके नाममें प्रेम होता है। श्रीरामप्रेम होना अन्तिम पदार्थ है जिसके पानेपर कोई चाह ही नहीं रह जाती। अतएव सब धर्मोंको त्यागकर इसीमें लगना उचित है, इससे सब सुकृतोंका फल प्राप्त हो जायगा।

प० रामकुमारजी—'सनेह' का भाव यह है कि नाम जपनेमें रोमाञ्च हो, अश्रुपात हो, कभी जपमें एक तो विक्षेप पड़े ही नहीं और यदि कदाचित् पड़ जाय तो पश्चात्ताप हो, विह्वलता हो, इत्यादि। यथा—'जपहि नाम रघुनाथ को चरचा दूसरी न चालु।' (विनय० १९३), 'मति रामनाम ही सों रति रामनाम ही सों गति रामनामही की'। वि० १८४।', 'तुम्हरेइ नाम को भरोसो भव तरिबे को बैठे उठे जागत बागत सोये सपने।' (क० ७। ७८), 'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥' (२। ३२६)। भरतजीकी श्रीरामप्रेममें यह दशा थी तभी तो भरद्वाजजीने कहा है कि—'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥ २। २०८।' और श्रीअवधके सभी लोगोंने भी कहा है—'रामप्रेम मूरति तनु आही। २। १८४।' रामस्नेह क्या है भरतजीकी दशा, रहनी-सहनी, त्याग-वैराग्यादि ही उसका उदाहरण है।

नोट—३ मा० मा० का मत है कि—'एहू'=यह भी। 'एहू' से ज्ञात होता है कि यह मुख्य ध्यान नहीं है। वेदमें दो मत हैं—परमत और लघुमत। ऊपर परमत कह आये—'ब्रह्म राम ते नाम बड़', 'सकल कामनाहीन जे···' और 'राम न सकहिं नाम गुन गाई।' इत्यादि। भगवत्प्राप्ति होनेपर भी नाममें रत रहनेसे प्रभु वशमें हो जाते हैं और लघुमत यह है कि—'नामद्वारा प्रेम उत्पन्न होना।' सिद्धान्तसे नवधाभक्तिमें 'विष्णु-स्मरण' को तीसरी सीढ़ीमें रक्खा है।' पर मेरी तुच्छ बुद्धिमें यह आता है कि यह नामका प्रसग है और यहाँ कहते भी हैं—'भये नाम जपि जीव बिसोका', अत यहाँ 'रामसनेह' से श्रीरामनाममें स्नेह ही अभिप्रेत है। नाम-नामीमें अभेद है भी। 'एहू' शब्द कई ठौर 'यह, यही' अर्थमें आया है। यथा—'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। २। २०८।'

वीरकवि—पहले साधारण बात कहकर फिर विशेष सिद्धान्तसे उसका समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। 'सकल सुकृत···' में 'तृतीयतुल्ययोगिता' अलंकार है।

नोट—४ 'ध्यान प्रथम जुग' इति। (क) ऐसा ही उत्तरकाण्ड दोहा १०३ में कहा है और श्रीमद्भागवतमें भी, यथा—'कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरिध्यान तरहिं भव प्रानी। त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि करम भव तरहीं॥ द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥ कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। ···नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥ ७। १०३।' 'कृते यद्ध्यायतो विष्णु त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥ भा० १२। ३। ५२।'

बैजनाथजी लिखते हैं कि अब 'राम सनेह' होनेका उपाय बताते हैं कि सत्ययुगमें रूपके ध्यानसे स्नेह होता था। अर्थात् उस युगमें जीव शुद्ध रहे, सत्त्वगुण होनेसे चित्तकी वृत्ति विषयोंसे विरक्त हो थिर रहती थी, जिससे मन श्रीरामरूपके ध्यानमें लग जाता था, उससे श्रीरामस्नेह होनेपर जीव कृतार्थ होता था। 'मख बिधि दूजे' अर्थात् त्रेतायुगमें यज्ञविधिसे। यज्ञ पाँच प्रकारका है—देवयज्ञ (अग्निमें हवन करना), पितृयज्ञ (तर्पणादि), भूतयज्ञ (अभ्यागतादि), मनुष्ययज्ञ (साधु ब्राह्मणादिको भोजन देना) और ब्रह्मयज्ञ (सामादि वेदोंकी ऋचा पढ़ना)। त्रेतामें जीवोंमें कुछ रजोगुण भी आ जानेसे चित्तमें कुछ चञ्चलता आ जानेसे 'रामयशरूपधर्मके आधार' यज्ञद्वारा रामस्नेह होता था। द्वापरमें रजोगुण बहुत हो गया और कुछ तमोगुण भी आ गया, सत्त्वगुण थोड़ा रह गया। इससे अधर्मका प्रचार बढ़ा और विषयसुखकी चाह हुई तब विभवसहित भगवान्‌का पूजन करके रामस्नेह प्राप्त करते थे जिससे प्रभु प्रसन्न होते थे और जीव कृतार्थ होता था।

नोट—५ सत्ययुगमें मन सात्त्विक होनेसे एकाग्र था। शरीरमें पूर्ण शक्ति थी। अतः उस समयका साधन ध्यान

था। त्रेताके आते-आते मनमें अहंकार आ जानेसे यशेच्छा उत्पन्न हुई। मन इतना शुद्ध न रह गया कि निरन्तर ध्यान हो सके। संग्रहमें रुचि हो गयी। अत: यशेच्छाको दूर करके निष्काम भावसे भगवान्‌के लिये यज्ञ करना उस युगका साधन हुआ। द्वापरमें शारीरिक शक्ति भी क्षीण हो गयी। संग्रह पवित्र था पर शरीरमें आसक्ति हो जानेसे संग्रहके प्रति भी आसक्ति हो जानेसे यज्ञके लिये सर्वस्व त्याग सम्भव नहीं था। परलोकके सम्बन्धमें सन्दिग्धभाव होने लगे थे। अत: उस युगका साधन पूजा हुआ। भगवान्‌के निमित्त संग्रह करके प्रसादरूपसे उसका सेवन विधान बना। कलिके मनुष्यके सम्बन्धमें कहा जाता है—'असन्तोष अविरत उद्वेलन, भोली भूलें, सूनी आशा। अर्धतृप्ति उद्दाम वासना मानव जीवन की परिभाषा॥' अत: ध्यान हो नहीं सकता। अन्यायोपार्जित द्रव्य न यज्ञके कामका न पूजाके। शुद्ध पदार्थ अप्राप्य, श्रद्धा-विश्वास-एकाग्रता स्वप्न हो गये। मन, आचार, शरीर सभी अपवित्र हैं। अत: ऐसे समयको 'कराल' कहा गया।

टिप्पणी—२ 'कलि केवल मल मूल मलीना। ' इति। (क) कलि मलको उत्पन्न करता, आप मलिन है और दूसरोंको मलिन करता है जैसा आगे कहते हैं। (ख) 'केवल' कहकर सूचित किया कि और युगोंमें और धर्म प्रधान रहे, नामका भी माहात्म्य रहा, परंतु कलियुगमें और कोई धर्म नहीं है क्योंकि पापीको और धर्मोंमें अधिकार नहीं है, यथा—'अन्यत्र धर्मे खलु नाधिकार'। नाममें पापीका अधिकार है, यथा—'पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥ ४। २९।' (ग) तीन युगके धर्म कहकर तब कलियुगमें नामसे भलाई होना कहा। ऐसा करके जनाया कि चारों युगोंका फल कलियुगमें नामहीसे मिलता है, यथा—'कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥ ७। १०२।' (घ) पूर्व नामको कल्पतरु कह चुके हैं—'रामनाम कलि कल्पतरु ।' अब फिर कल्पतरु कहते हैं। भाव यह है कि नाम कलिको कल्याणकारक एवं कल्याणका निवास स्थान कर देते हैं और युगका धर्म ही बदल देते हैं।

नोट—६ 'केवल मलमूल' कहनेका भाव कि कलियुगमें सत्त्वगुण नहीं रह गया, प्राय: तमोगुण ही रह गया और कुछ रजोगुण है। अत: धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होनेसे प्राणियोंके मन पापमें रत रहते हैं। यथा—'तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥ ७। १०४।'

'कलि केवल मल मूल मलीना ' का अर्थ श्रीकान्तशरणजीने 'कलियुगमें 'केवल' (नामसे) क्योंकि कलि पापका मूल और मलिन है तथा ''॥ ८॥ ऐसे कठिन कालमें नाम कल्पवृक्ष है ' ऐसा किया है। फिर इसके विशेषमें वे लिखते हैं कि—'यहाँ कलिके साथ 'केवल' कहकर उसे उद्देश्यांशमें साकाङ्क्ष ही छोड़ कलिकी करालता कहने लगे। इसे फिर अगली चौ० 'नाम कामतरु ' इत्यादिसे जोड़ेंगे, क्योंकि फिर वहाँ कलिका नाम नहीं है। 'इससे स्पष्ट हुआ कि जब कलिमें केवल नाम ही अभीष्टपूरक है तब अन्य युगोंमें दो-दो साधन थे।'

प० रूपनारायण मिश्रजी कहते हैं कि—यहाँ इस भावके लिये 'केवल' शब्दपर जोर देकर खींचातानी करके अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि स्वयं कविने ही प्रथम 'चहुँ जुग, तीन काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥' कहकर चारों युगोंमें नामसाधनका होना भी जना दिया है तथा आगे इसी प्रसंगमें 'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥' से सूचित करेंगे कि पूर्व तीन युगोंमें 'कर्म (मख), भक्ति (पूजा), विवेक (ध्यान) और नाम' इनका अवलम्ब था, कलिमें कर्म, भक्ति, विवेक—ये तीन छूट गये, एक मात्र नामका ही अवलम्ब रह गया है। अत: इस भावको कलिमें 'केवल' (नामसे) यहाँपर लगाना ठीक नहीं तथापि यदि आग्रह ही हो तो 'कलि केवल' से 'जगजाला' तक चार चरणोंका एकत्र अन्वय करके उसमें 'केवल' शब्दको नामका विशेषण कर देनेसे भी यह अर्थ सिद्ध हो जाता है। 'केवल' शब्दको उद्देश्यांशमें साकाङ्क्ष छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। वस्तुत: यहाँ ग्रन्थकारका उद्देश्य केवल नामका महत्त्व ही दिखानेका है कि जो कार्य पूर्व तीन युगोंमें ध्यान, मख और पूजासे होता था वह कलिमें श्रीरामनामके जपसे सिद्ध हो जाता है।

'पाप पयोनिधि जन मन मीना' इति।

(क) जैसे, मछली जलसे अलग होना नहीं चाहती, अगाध जलहीमे सुखी रहती है, जलके घटनेपर वह सकोचयुक्त हो जाती है और जलसे अलग होते ही तड़पने लगती है, वैसे ही कलियुगमें प्राणियोंका मन पाप-समुद्रमें मग्न रहता है, विषयरूपी जलके कम होनेमें, सबकी ममता-मोहके वश होनेके कारण वह उलटे शोचमें पड़ जाता है, यथा—'**विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। तातें सहिय बिपति अति दारुन जनमत योनि अनेक॥** वि० १०२।' विषयोंको वह कदापि नहीं छोड़ना चाहता। उनके बिना तड़पने लगता है। पुन', (ख) जैसे मछलीका चित्त जल छोड़ दूसरी ओर नहीं जाता, वैसे ही इनके चित्तकी वृत्ति पापहीकी ओर रहती है, ध्यान, योग, यज्ञ, पूजन आदिकी ओर उसकी प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती। पुन, (ग) जैसे बड़ा जाल डालकर मछलीको पकड़कर जलसे जबरदस्ती बाहर निकाल लेनेपर वह मर जाती है, वैसे ही यहाँ श्रीनाममहाराज जालरूप होकर मनरूपी मीनको पापसमुद्रके विषयरूपी जलसे खींचकर उसके जग (ससार, भव-जन्म-मरणादि) का नाश करते हैं, मन ससारकी ओरसे मर-सा जाता है, विषयवासना जाती रहती है। पुन', (घ) भाव यह कि मन सर्वथा पापमें डूबे रहनेसे ध्यान, यज्ञ और पूजन—इन तीनोंके कामका नहीं। इन तीनोंमें मनकी शुद्धता परम आवश्यक है। अतएव इनमें लगनेसे श्रममात्र ही फल होगा। कलिमें नामका ही एकमात्र अधिकार रह गया है। (ङ) मन पाप समुद्रमें मछली बन गया है, किंतु यहाँ भी स्वतन्त्र नहीं है। जप-तपके जालमें उलझा हुआ है। पाप करके भी वह अभीष्ट नहीं प्राप्त कर पाता। ससारकी विकट परिस्थितिमे फँसा हुआ तड़फड़ा रहा है। छुटकारा पानेके लिये जितना प्रयत्न करता है उतना ही उलझता जाता है। नामके स्मरणसे सब परिस्थितियोंकी जटिलता दूर तो होती ही है, साथ ही सभी प्रकारके अभीष्ट पूरे हो जायँगे। इस प्रकार सकाम भावसे नाम लेनेसे अनिष्टकी निवृत्ति और अभीष्टकी प्राप्ति ठीक वैसे ही हो जाती है जैसे अन्य युगोंमें अन्य साधनोंसे होती थी, यह कहना अभीष्ट है। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

नोट—७ '**नाम कामतरु काल कराला**' ' इति। (क) '**काल कराला**' पर दोहा १२ (१) देखिये। उत्तरकाण्डमें कराल कलिकालके धर्म '**सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥**' ९७ (८) से '**सुनु व्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार। १०२।**' तकमें वर्णित है। (ख) '**नाम कामतरु**' इति। तीन युगोंके साधनरूपी वृक्षोंका वर्णन करके अब कराल कलिका साधन कहते हैं। ध्यानादि कोई साधन कलिमें नहीं रह गये। नाम ही एकमात्र साधन है जिसपर कलिका प्रभाव नहीं पड़ता और जो सब कामनाओंका देनेवाला है। विशेष दोहा २६ देखिये। (ग) '**सुमिरत समन**' का भाव कि इसमें किंचित् भी परिश्रम नहीं। केवल स्मरणमात्र करना पड़ता है, इतनेहीसे सब जगजाल शान्त हो जाता है जैसे कल्पवृक्षके तले जानेसे वह सब शोकोंको शान्त कर माँगनेमात्रसे अभिमत देता है। यथा—'**जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोचु। मागत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोचु॥** २। २६७।' एकमात्र श्रीरामके आश्रित हो जानेसे काम बन जाता है। '**सुमिरत**' से जनाया कि अनायास सब जगजाल दूर हो जाता है। '**जगजाला**' इति। जाल=समूह, विषम पसारा, जाल। '**जगजाल**' अर्थात् दुःख-सुख, राग-द्वेष, योग-वियोग, स्वर्ग-नरक आदि द्वन्द्व, धन-धाम-धरणी इत्यादि समस्त भव-पाश। यथा—'**योग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँ लग जग जालू**' '२। ९२।' ये सब ससारमें फँसानेवाले 'जाल' हैं जैसे मछुवाहा-धीमर आदि मछलीको जालमें फाँसते हैं वैसे ही ये सब इन्द्रियोंके विषय प्राणियोंके मनको फाँसनेके जाल हैं जो कलिकालरूपी मछवाहेने फैला रक्खा है। श्रीरामनाम उस जालको काटकर प्राणीको सब प्रकारके ससारबन्धनोंसे छुड़ा देते हैं। अथवा, तरुके रूपकसे जगजालको त्रयताप कह सकते हैं। तरु छायासे सुख देता है—'**छाँह समन सब सोचु**' वैसे ही नामकामतरु सब त्रयतापरूपी तीक्ष्ण धूपसे सतत प्राणीको सुख देते हैं।

रामनाम कलि अभिमत दाता। हित पर लोक लोक पितु माता॥ ६॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥ ७॥

शब्दार्थ—अभिमत=मनोरथ, मनोवाञ्छित पदार्थ, अभीष्ट।

अर्थ—कलियुगमें रामनाम मनोरथके देनेवाले हैं, परलोकके लिये हित और इस लोकमे माता-पिता (रूप) हैं ॥ ६ ॥ कलिमें न कर्म है और न भक्ति वा ज्ञान ही, रामनाम ही एक सहारा है ॥ ७ ॥

नोट—१ 'राम नाम कलि अभिमत दाता' इति। (क) पापपरायण रागद्वेषादिमें रत मनुष्यके मनोरथ निष्फल जाते हैं। यथा—'बिफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसा के ॥ ६। ९१।' और, कलियुग-में सब पापरत रहते हैं तब उनके मनोरथ कैसे सिद्ध हों—यही यहाँ कहते हैं कि 'रामनाम' कलिके जीवोंको भी अभिमतदाता हैं। किस प्रकार अभिमत देते हैं यह दूसरे चरणमें बताते हैं। (ख) 'हित परलोक' अर्थात् जैसे परम हितैषी स्वार्थरहित मित्रके हितमें तत्पर रहता है वैसे ही श्रीरामनाम जनके परलोकको बिना किसी स्वार्थके बनाते हैं। ऐसे परलोकके हित हैं। पुन', 'हित परलोक' कहकर सूचित किया कि कल्पवृक्ष मोक्ष नहीं देता और श्रीरामनाम परलोक (मोक्ष) भी देते हैं, (ग) 'लोक पितु माता' इति 'पितु माता' के समान कहकर जनाया कि बिना वाञ्छा किये अपनी ओरसे देते हैं, माँगना नहीं पड़ता। कामतरु माँगनेपर देता है, यथा—'माँगत अभिमत पाव जग'। २। २६७।' पुन, जैसे माता पिता बालकका नि स्वार्थ पालन-पोषण करते हैं। बालकपर ममत्व रखते है, वैसे ही श्रीरामनाम-रूपी माता पिता बालककी तरह जनका हित करते हैं। यथा—'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी ॥ ३। ४३।' विशेष दोहा २० चौ० २ 'लोक लाहु परलोक निबाहू' में देखिये।

२—कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म और काम देता है, मोक्ष नहीं। फिर याचक यदि अहितकारक वस्तु माँगे तो वह उसे अहितकारक वस्तु भी दे देता है जिससे याचकके मनकी इच्छाकी पूर्तिके साथ ही उसका विनाश भी हो जाता है। सत्ययुग आदिमें तो सत्त्वकी विशेषता होनेसे मनुष्य प्राय सात्त्विक पदार्थ माँगते थे पर कलि तो 'केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥' है, अत' आजकल तो लोग प्राय पापमय वासनाओंकी ही माँग करेंगे। अतः 'राम नाम कलि अभिमत दाता।·····' इस चौपाईकी प्रवृत्ति हुई। अर्थात् श्रीरामनाम इस युगमें इच्छाओंकी पूर्ति अवश्य करते हैं पर किस तरह? 'हित परलोक लोक पितु माता' न कर करते हैं। तात्पर्य कि समस्त बुरी-भली इच्छाओंकी पूर्तिकी पूर्ण शक्ति होते हुए भी वह कल्पवृक्षकी तरह अपने जापकको उसके अकल्याणकी वस्तु नहीं देता, वह चाहे जितना रोवे, चिल्लावे। देवर्षि नारदकी कथा इसी ग्रन्थमें ही उदाहरणके लिये है ही। भगवान् कहते हैं—'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु·· ॥ १३२।' 'कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी।। एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठएऊ।' नारदजीके पूछनेपर श्रीरामजीने कहा है कि 'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी ॥' (३। ४३)। वही बात यहाँ नामके सम्बन्धमें कह रहे हैं। श्रीरामनाम महाराजकी दृष्टि भक्तके 'परम हित' (परलोक-हित) की ओर विशेष रहती है। पारलौकिक कल्याणमें हानि न पहुँचे यह उद्देश्य) दृष्टिमें रखते हुए उसके लौकिक कामनाओंकी पूर्ति की जाती है जहाँतक सम्भव है। इसीसे प्रथम 'हित परलोक' कहकर तब 'लोक पितु माता' कहा। 'लोक पितु माता' का भाव कि जापककी इच्छाकी पूर्ति उसी प्रकार करते हैं जैसे पिता और माता बच्चोंकी इच्छाओंकी पूर्ति करते हैं। बच्चा यदि रोगमें कुपथ्य माँगता है तो माता-पिता उसे नहीं देते, यथा—'जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं ॥ '७। ७४।' नामको प्रथम पिता कहा, क्योंकि माताकी अपेक्षा पिताका ध्यान पुत्रके भविष्यकी उन्नतिकी ओर विशेष रहता है। फिर माता-रूपसे हित करनेमें भाव यह है कि माताकी तरह नाम महाराज स्नेहमय हैं, तात्कालिक कष्टके निवारणकी सर्वथा उपेक्षा भी उनमें नहीं है। वे उसके 'परलोक हित' की रक्षा करते हुए लौकिक हित भी करते हैं। पुन भाव कि 'हित परलोक' के सम्बन्धमें तो नाम 'अभिमत दाता' हैं अर्थात् परमार्थसम्बन्धी जो भी कामनाएँ होती हैं नाम उसे उसी रूपमें पूर्ण कर देता है किंतु 'लोक' (लौकिक कामनाओं) के सम्बन्धमें नाम 'पितु माता' है। अर्थात् परलोकके हितकी रक्षा करते हुए ही सासारिक कामनाओंकी पूर्ति करता है (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

३ 'नहिं कलि करम' ·' इति। (क) तात्पर्य कि कलिमें मनुष्यके अत्यन्त शक्तिहीन हो जानेसे इनका साधन उससे निबह नहीं सकता, इन सबोंमें उपाधियाँ हैं। 'करम' (कर्म), शब्दसे क्रियारूप उन सभी कर्मोंकी

ओर संकेत है जो आध्यात्मिक उन्नतिके लिये किये जाते है। मनके पापपरायण होनेसे प्राणियोंको इनका अधिकार ही नहीं रह जाता (क्योंकि अपवित्र मनसे जो धर्म होता है वह धर्म नहीं रह जाता)। प्रमाण यथा—'कर्मजाल कलिकाल कठिन, आधीन सुसाधित दाम को। ज्ञान बिराग जोग जप को भय लोभ मोह कोह काम को॥ वि० १५५।', 'रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः। कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥', 'कर्म उपासना कुवासना बिनास्यो, ज्ञान वचन, बिराग, वेष, जगत हरो सो है। क० उ० ८४।'

उपर्युक्त उद्धरणोंके अनुसार कर्मकाण्डमें धन चाहिये, श्रद्धा चाहिये। कलिमें जिनमें कुछ धर्म है वे निर्धन हैं। मनमें कुवासनाएँ होनेसे, काम-क्रोध-लोभ-मोह होनेसे, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि भी नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें मन शुद्ध चाहिये। (ख) 'कर्म शुद्ध नहीं तो क्या? भगवान् तो भाव देखते हैं। द्रव्य अन्यायोपार्जित और अशुद्ध हो, किंतु भाव शुद्ध हो तो यज्ञादि किये जा सकते हैं। भाव ही फल देगा।' यह विकल्प ठीक नहीं। कर्मके दो प्रकार हैं। एक क्रियामात्रसे फल देनेवाले, दूसरे भावानुसार फल देनेवाले। जो क्रियारूप कर्म है, सर्वज्ञ महर्षियोंने उन क्रियाओंमें शक्तिका ऐसा विधान किया है कि वे विधिपूर्वक हों तो उनसे फल होगा ही। वहाँ भावकी अपेक्षा नहीं है। विधिके अज्ञान, पदार्थदोष, अन्यायोपार्जित पदार्थोंका भाव-दोष, इन कारणोंसे क्रियारूप कर्म तो इस युगमें शक्य नहीं। रहे भावरूप कर्म, उनके लिये अविचल विश्वास और श्रद्धा चाहिये। भाव मनका धर्म है और आज मनमें अविश्वास, चञ्चलता, मलिनता, संदेह स्वभावसे भरे हुए हैं। भक्तिके लिये मन निर्मल चाहिये। 'संदेहयुक्त मनसे किये हुए कर्मोंमें भावदोष होनेसे फलप्रद नहीं होते, किंतु बुद्धि तो विकाररहीन है। ज्ञान बुद्धिका धर्म है। अतः कम-से-कम ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।' इसपर कहते हैं 'न बिबेकू' अर्थात् कलिमें सत्-असत्का विवेक नहीं रह गया। आजकलकी सत्को असत् और असत्को सत् माननेवाली बुद्धि कैसे तत्त्वका निर्णय करेगी? दूसरी बात यह है कि बुद्धिका विवेचन जब मनके विपरीत होता है, वह पाखण्ड बन जाता है। वैराग्यादि साधनचतुष्टयसम्पन्नके लिये ही ज्ञान मोक्षप्रद है। आज मनमें वैराग्य नहीं, इन्द्रियोंका संयम नहीं, अतः अपरोक्ष साक्षात्काररूप ज्ञान सम्भव नहीं।

बैजनाथजी कहते हैं कि 'कर्म नहीं हैं' कहनेका भाव यह है कि चारों वर्ण अपने धर्मसे च्युत हो गये। ब्राह्मणके नौ कर्म कहे गये हैं, यथा—'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ गीता १८। ४२।' इसी तरह क्षत्रियोंके छः और वैश्योंके तीन कर्म कहे गये हैं। यथा—'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥ कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥'—ये कोई कर्म इन चारोंमें नहीं रह गये। यदि कोई सत्कर्म करता भी है तो मानप्रतिष्ठा, लोकप्रशंसा आदि दुर्वासनासे करता है। उपासना नहीं है, यदि कोई करता है तो मन तो उसका विषय आदिमें रहता है ऊपरसे पूजापाठ, तिलक, माला आदिका पाखण्ड। ज्ञान भी वचनमात्र है।

५ 'राम नाम अवलंबन एकू' अर्थात् यही एकमात्र उपाय 'श्रीरामजीमें स्नेह और भवतरण' का है। इसमें लगनेसे पाप नाश होते हैं, मन भी शुद्ध हो प्रभुमें लग जाता है और विवेक भी होता है तथा कोई विघ्न नहीं होने पाते। कहा भी है—'एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि रे। ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे।' (विनय० ६६)।

६ श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि पूर्व जो 'ध्यान प्रथम जुग' 'मख बिधि दूजे' और 'द्वापर परितोषत प्रभु पूजे' कहा था उसीको यहाँ विवेक, कर्म और भक्ति कहकर निषेध करते है। (मा० मा०)।

कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥ ८॥

अर्थ—कपटका निधान (स्थान, खजाना) कलि कालनेमि (रूप) है। '(उसके नाशके लिये) नाम ही अत्यन्त बुद्धिमान् और समर्थ श्रीहनुमान्जी हैं॥ ८॥

नोट—१—'कालनेमि' इति। यह रावणका मामा था। बड़ा ही कपटी था। इसने रावणके कहनेसे श्रीहनुमान्जीको छलनेके लिये साधुवेष बनाया था। श्रीहनुमान्जीने उसके कपटको जान लिया और उसको मार डाला। कालनेमिका प्रसङ्ग लं० दोहा ५६ (१) से ५७ (७) तक है।

२—पूर्व कहा कि रामनाम ही एक अवलम्ब रह गया है। उसपर यह शंका होती है कि जैसे कलि कर्म, ज्ञान और भक्तिमें बाधक हुआ वैसे ही 'नामजापकोंपर भी विघ्न करेगा ?', उसपर कहते हैं कि नहीं।

टिप्पणी—१—'कलि कपट निधानू' इति। (क) कलियुगको कपटी कहनेका भाव यह है कि वह नामके प्रभावको जानता है, इसीसे साक्षात् प्रकट रूपसे विघ्न नहीं कर सकता, कपटसे विघ्न करना चाहता है। जैसे, कालनेमि श्रीहनुमान्‌जीके बलको जानता था। यथा—'देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा। तासु पंथ को रोकन पारा॥ ६। ५५।'—यह उसने रावणसे कहा है इसीसे साक्षात् प्रकट रूपसे विघ्न न कर सका, कपट करके उसने विघ्न करना चाहा था। यथा—'अस कहि चला रचिसि मग माया। सर मंदिर बर बाग बनाया॥ राच्छस कपट बेष तहँ सोहा। मायापति दूतहि चह मोहा॥ ६। ५६।' कलि कपटी है। इसने राजा नल और राजा परीक्षित्‌के साथ कपट किया। यथा—'बीच पाइ नीच बीचही नल छरनि छरयो हौं। विनय० २६६।' भागवतमें परीक्षित्‌की कथा प्रसिद्ध ही है।

नोट—३ (क) सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि—'जैसे कालनेमि ऊपरसे तो मुनि था और भीतरसे तो राक्षस ही था। इसी तरह कलियुग भीतरसे कपटवेष और ऊपरसे युगवेष किये हुए है। (ख) 'कपटनिधान' का भाव कि कपटी तो सभी राक्षस होते हैं, यथा—'कामरूप जानहिं सब माया। १८१। १।' पर कालनेमि कपटका भंडार ही था, इसके समान मायावी दूसरा न था। श्रीहनुमान्‌जीको राक्षसी मायासे भ्रममें डाल देना अन्य किसीका सामर्थ्य न था, तभी तो रावण कालनेमिके पास ही गया। इसकी शक्ति बड़ी अपूर्व थी। वह हनुमान्‌जीसे पहले ही मार्गमें पहुँचकर माया रच डालता है और उसकी मायाके भ्रममें हनुमान्‌जी पड़ ही तो गये। मकरीके बतानेसे ही वे कालनेमिके कपटको जान पाये। कलिको कपटनिधान कालनेमि कहनेका भाव कि जैसे कालनेमिने साधुवेषद्वारा कपट किया वैसे ही कलियुग धर्मकी आड़में अधर्म करता है—'मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥ ७। ९८।' कलि दम्भ, कपट और पाखण्डरूपी खजानेसे भरा हुआ है। इसके दम्भ, कपट, पाखण्ड जाल बड़े-बड़े बुद्धिमानोंको भ्रममें डाल देते हैं।

टिप्पणी—२ 'नाम सुमति समरथ हनुमानू' इति। (क) 'सुमति' का भाव कि बुद्धिमानीसे उसका कपट भाँप गये। कालनेमिने पहले श्रीरामगुणगान किया। इस तरह उनको वहीं सबेरे तक रोक रखनेका यही उपाय था। श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामगुणगान सुनते रहे। पर जब वह अपनी बड़ाई करने लगा कि 'इहाँ भएँ मैं देखउँ भाई। ज्ञानदृष्टि बल मोहि अधिकाई॥ ६। ५६।' तब वे ताड़ गये कि यह सन्त नहीं है, क्योंकि सन्त तो 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। ३। ४६।' मुखसे कहना तो बहुत ही असम्भव है। अतः वे पानी पीनेका बहाना कर चल दिये। जल पीकर लौटे तो लाँगूलमें लपेटकर उसे धर पटका, तब उसका कपट वेष भी प्रकट हो गया। पुनः, (ख) 'सुमति' विशेषण देकर यह भी सूचित किया कि हनुमान्‌जी तो मकरीके बतलानेपर कि—'मुनि न होइ यह निसिचर घोरा। मानहु सत्य बचन कपि मोरा॥ ६। ५७।' कालनेमिके कपटको जान पाये थे और तब उसे मारा था। परंतु श्रीरामनाम महाराजको दूसरेके बतानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। कालनेमि गुरु बनकर हनुमान्‌जीको ठगना चाहता था, वैसे ही जब कलि जापकको ठगनेका कोई उपाय करेगा तभी मारा जायगा।—यहाँ 'सुमति' में शाब्दी व्यंग्य है कि नामरूपी हनुमान्‌जी मतिमान् हैं, बिना किसीके सुझाये कलिके कपटका नाश करते हैं।

नोट—४ बैजनाथजी रूपककी पूर्ति इस प्रकार करते हैं—श्रीरामजी विवेक और लक्ष्मणजी विचार हैं। मोह-रावणके पुत्र काम इन्द्रजित्‌ने असत् वासनारूप शक्तिसे जब विचार लक्ष्मणको घायल किया तब वैराग्यरूप हनुमान् सत्सङ्गरूप द्रोणाचलसे चैतन्यतारूप सजीवनी लेने चले। कालनेमिरूपी कलिने कपटनिधान मुनि बनकर संसाररूप बागमें गृहसुखरूप मन्दिर इन्द्रियविषयरूप तड़ाग रचकर ज्ञानवार्ता की अर्थात् घरहीमें भजन बनता है, गृहस्थका आसरा त्यागी भी करता है, इत्यादि वार्ता करके वैराग्य-हनुमान्‌को लुभाया। जब इन्द्रियसुखरूपी जल पीने गये, तब राम-नामका अवलम्ब जो वे लिये हुए हैं वही सहायक हुआ, भगवत्-लीला देख पड़ी। कुमतिरूपी मकरी शापोद्धारसे सुमति हुई, उसीने वैराग्यरूप हनुमान्‌जीको समझा दिया। नामके प्रतापसे सुमतिके प्रकाशसे वैराग्य-हनुमान्‌ने कलिका नाश कर दिया।

५ इस चौपाईका आशय यह है कि हम यदि नामका नियम ले लें तो हमारे लिये कलियुगका नाश हो चुका। 'कलिकी दम्भकी प्रवृत्ति वासनात्मक है, बहिर्मुख है। बहिर्मुखताके साथ नाम चल नहीं सकता। अत यदि हम किसीके द्वारा कभी भ्रममें पड़ेंगे भी तो यदि नाममें दृढ रहेंगे तो बहिर्मुख वृत्ति एव कार्य नष्ट हो जायगा। उसकी पोल खुल जायगी और हम उसे समावत छोड़ देंगे।' (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

दो०—रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—नरकेसरी=नृसिंहजी। सुरसाल=देवताओंको पीड़ित करनेवाला, दैत्य। दलना=नाश करना। कनककसिपु=हिरण्यकशिपु।

अर्थ—कलिकालरूपी हिरण्यकशिपुके लिये श्रीरामनाम नृसिंह (रूप) है, जापक जन प्रह्लादजीके समान हैं, वे (रामनामरूपी नृसिंह) देवताओंको दुःख देनेवाले (कलिरूपी हिरण्यकशिपु) को मारकर (जापकरूपी प्रह्लादका) पालन करेंगे। भाव यह है कि जैसे नृसिंहजीने देवताओंको दुःख देनेवाले हिरण्यकशिपुको मारकर अपने दास प्रह्लादकी रक्षा की थी, वैसे ही इस कराल कलिकालमे श्रीरामनाम कलिकालसे नामजापकोंकी रक्षा करते हैं एव करेंगे ॥ २७ ॥

टिप्पणी—१ (क) रामनामका नृकेसरीसे रूपक देकर दिखाया है कि जैसे कनककशिपु सबसे अवध्य था, नृसिंहजीने उसको मारा, इसी तरह कलि सबसे अवध्य है, नाम ही उसका नाश करते हैं। (ख)—'जापक जन प्रहलाद जिमि ···' इति। 'सुरसाल' का भाव यह कि जबतक हिरण्यकशिपु देवताओंको दुःख देता रहा तबतक भगवान् प्रकट न हुए। परंतु जब प्रह्लादजीको उसने मारना चाहा तब तुरन्त प्रकट हो गये। यथा—'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा ॥ २। २६५।' इसी प्रकार जबतक कलि सद्धर्मोंका नाश करता है तबतक 'नाम' महाराज कलिका कुछ अपकार नहीं करते, परंतु जब वह जापकको दुःख देता है तब उसका नाश करते हैं।

नोट—१ नृसिंहहीकी उपमा क्यों दी और किसी अवतारकी क्यों न दी? क्योंकि जब हिरण्यकशिपुने दासपर विघ्न किया तब प्रभुको अत्यन्त क्रोध हुआ। ऐसा क्रोध अन्य किसी अवतारमें नहीं प्रदर्शित किया गया, इससे इस अवतारकी उपमा दी गयी।

२ यहाँ 'रामनाम', 'कलिकाल' और 'जापकजन' पर क्रमसे 'नृसिंहजी', 'कनककशिपु' और 'प्रह्लाद' होनेका आरोपण किया गया, पर, 'सुरसाल' शब्दमें 'सुर' उपमानका उपमेय नहीं प्रकट किया गया कि क्या है? इसमें 'वाचकोपमेयलुप्ता' अलङ्कारसे अर्थ समझना चाहिये। हिरण्यकशिपुसे देवताओंको दुःख और कलियुगमें सद्गुण सद्धर्मको धक्का पहुँचा, यथा—'कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सद्ग्रंथ। (उ० ९७), 'कलि सकोप लोपी सुचाल निज कठिन कुचालि चलाई ॥ विनय० १९५।' सद्गुण ही सुर हैं, यथा—'सद्गुन सुरगन अब अदिति सी। बा० ३१।' यहाँ परम्परितरूपक और उदाहरण हैं। 'पालिहि' भविष्य-कालिक क्रिया देकर जनाया कि जापकजन निश्चिन्त रहें, कलि जब विघ्न करेगा तभी मारा जायगा।

३ 'कालनेमि कलि' इस चौपाईमे श्रीरामनामरूपी हनुमान्‌जीद्वारा कलिरूपी कालनेमिका नाश कहा गया। जब उसका नाश हो गया तो फिर दोहेमें दुबारा मारना कैसे कहा? अर्थात् दो रूपक क्यों दिये गये? यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान यों किया जाता है कि—(१) 'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू' २७ (७) कहकर जनाया गया था कि कलिने कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनोंको नाश कर डाला, अब केवल नामहीका एक अवलम्ब रह गया है। इस वाक्यसे यह सदेह उत्पन्न हुआ कि 'नाम' को भी नाश कर देगा। इस शकाकी निवृत्ति 'कालनेमि कलि कपट निधानू। ···' से की गयी। जैसे हनुमान्‌जीने अपनी सुमति और सामर्थ्यसे कालनेमिको नाश किया वैसे ही श्रीराम-

नाम महाराज ऐसे समर्थ हैं कि वे कलिसे अपनी रक्षा सदा किये हैं। श्रीरामनामको चौपाईमें अपनी रक्षाके लिये स्वयं समर्थ होना जनाकर फिर दोहेमें अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये भी समर्थ होना निरूपण किया। भाव यह कि कलि न तो 'नाम' ही का और न 'नाम जापक' का ही कुछ कर सकता है वा कर सकेगा। पुन, (२) श्रीरामनाममहाराजने हनुमान्‌रूपसे कलिका कपट नाश किया और नृसिंहरूपसे उसका पुरुषार्थ नाश किया। दो बातें दिखानेके लिये दो बार कहा। यथा—'इहाँ कपट कर होइहि भाँड़। २। २१८।', 'अब कुचालि करि होइहि हानी। २। २१८।' (प० रामकुमारजी)। अथवा, (३) कालनेमि हनुमान्‌जीसे डरता था जैसा उसके 'रामदूत कर मरौं बरु। ६। ५५।', इन वचनोंसे स्पष्ट है, वैसे ही कलि रामनामसे डरता है। यह चौपाईमें दिखाया। हिरण्यकशिपु नामजापक प्रह्लादसे डरता नहीं था किंतु अपना पुत्र समझकर वह उनको अपनी राहपर लाना चाहता था। और न वह भगवान्‌से डरता था, वैसे ही कलिकाल न तो नामजापकसे डरता है और न नामसे। वह नामजापकको कलिमें उत्पन्न होनेसे अपना पुत्र मानकर जब अपने मार्गपर चलाना चाहता है और जापक अपनेमें दृढ है, तब नाममहाराज अद्भुतरूपसे कलिका नाश कर देते हैं। यह दोहेसे दिखाया। अथवा (४) दो बार लिखकर जनाया कि कलि कपट-छलसे विजय चाहे, चाहे सम्मुख लड़कर, दोनों हालतोंमें उसका पराजय ही होगा। हिरण्यकशिपुने सम्मुख लड़कर विजय चाही सो भी मारा गया।

४ कलियुगके दो रूप हैं। एक तो धर्मकी आड़में अधर्म, इसीको दम्भ या आडम्बर कहते हैं, चाहे साधक स्वयं दम्भ करे चाहे दूसरेके दम्भसे भ्रान्त हो, ये दोनों दम्भ इसमें आ जाते हैं। दूसरा, प्रत्यक्ष अधर्म। यह रूप पहलेकी अपेक्षा बहुत भयङ्कर है क्योंकि प्रत्यक्ष अधर्ममें पाप करनेमें घृणा, लज्जा या भय नहीं लगता। कलिके प्रथमरूपको कालनेमि और दुर्दमनीय दूसरे रूपको हिरण्यकशिपु बताया गया। कलिके दम्भात्मक रूपसे सच्चे साधकको भ्रान्त करनेका प्रयत्न भी एक सीमातक उनका समर्थन करते हुए ही होता है। उसमें सत्यधर्मके प्रति सम्मानका प्रदर्शन है, उत्पीड़न नहीं है। पर कलियुगके प्रत्यक्ष अधर्मरूपके द्वारा साधक उत्पीड़ित किया जाता है। अधर्मका यह रूप अपने आपमें सन्तुष्ट नहीं रहता। धर्म या ईश्वरको मानना अपराध बना देना उसका लक्ष्य है। जैसे हिरण्यकशिपु अपनेको ही सर्वोपरि सत्ता मानता था, दैविक सम्पत्तिका शत्रु था, ईश्वर और धर्मको मानना अपराध घोषित कर दिया था वैसे ही कलियुगमें सन्ध्या-वन्दन, वर्णाश्रम धर्म, पूजा-पाठ और शास्त्र—उपहास एवं अपमानके कारण होते जायँगे। ईश्वरको भीरु एवं मूर्ख समाजकी कल्पना कहा जाने लगा ही है। आध्यात्मिकताके लिये कोई प्रयत्न करना अशक्य हो जायगा। ऐसी दशामें धार्मिक एवं आस्तिक लोग क्या करें? गोस्वामीजी इसका उत्तर इस दोहेमें देते हैं। सबपर प्रतिबन्ध लग सकता है, किंतु आपकी वाणी आपकी ही रहेगी। जोरसे न सही, मनमें तो आप नाम सदा ले सकेंगे। नाम ही रक्षाका एकमात्र साधन है। नाम-जापक भी सताये जा सकते हैं, परंतु जब ऐसा होगा, अधर्म स्वतः नष्ट हो जायगा। अनैतिक उत्पीड़नसे भी यही रक्षा कर लेता है। (श्रीचक्रजी)।

५ श्रीजानकीशरणजीने कलिकालके रूपकका विस्तार इस प्रकार किया है कि—''हिरण्यकशिपुने वर माँगा था कि मैं न नरसे मरूँ न देवसे, न भीतर न बाहर, न दिनमें, न रातमें, न पृथ्वीपर न आकाशमें, न पशुसे न पक्षीसे। वैसे ही कलिने भगवान्‌से वर माँगा कि मैं न कर्मधर्म करनेवालोंसे (रजोगुणी वा सतोगुणीसे) मरूँ, न गृहस्थसे न तपस्वीसे, न अविद्यासे न विद्यासे, न पापसे न पुण्यसे, न मूर्खसे न साक्षरसे और जैसे हिरण्यकशिपुने माँगा था कि मेरा एक रक्तबुन्द गिरे तो सहस्रों हिरण्यकशिपु पैदा हो जायँ वैसे ही कलिने माँगा कि 'यदि कोई ज्ञान-वैराग्यादि बाणोंसे मुझे छेदन करे तो मेरा तेज और अधिक हो जाय।'' जापकके जिह्वारूपी खम्भसे नामनृसिंह निकलकर कलिका नाश करेंगे। रकार सिंह और मकार नरवत् है।'' (मा० मा०) कलिको जापकपर क्रोधका कारण यह है कि द्वापरमें जन्मे हुए राजा नल, युधिष्ठिर महाराज और राजा परीक्षित् भी मेरी आज्ञापर चले—जूआ खेले, घोड़ेपर चढ़े, फलके बहाने मांस खाया, मुनिके गलेमें मरा सर्प डाला, और यह जापक मेरे ही राज्यमें जन्म लेकर मेरी आज्ञाके विरुद्ध चलता है। (अ० दी० च०)

६—'कालनेमि कलि…' मे पहले कालनेमि कलिको रक्खा तब 'हनुमान्‌जीको' और दोहेमें प्रथम 'नर-केसरी' को तब 'कनककसिपु कलिकाल' को अर्थात् एकमें मारनेवालेको पहले और दूसरेमें पीछे कहा गया है। शब्दोंका यह हेर-फेर भी भावसे खाली नहीं है। (१)—'कालनेमि…' में यह दिखाया है कि नाम महाराज अपनी रक्षामें इतने निश्चिन्त वा असावधान (लापरवा) हैं कि कालनेमि कलियुगको देख रहे हैं फिर भी उसकी उपेक्षा कर रहे हैं, उसकी परवा नहीं करते और दोहेमें यह बताते हैं कि अपने 'जापक उनकी रक्षामें' प्रथमसे ही तैयार रहते हैं। पुन, (२) चौपाईमें बताया कि श्रीहनुमान्‌जीने यह जानकर भी कि यह राक्षस है, साधु बनकर ठगना चाहता था, तो भी उन्होंने उसपर रोष नहीं किया। वैसे ही श्रीरामनाम महाराज अपने ऊपर अपराध करनेपर भी रोष नहीं करते। और दोहेमे बताते हैं कि यदि कोई जापकजनका अपराध करे तो वे उसे नहीं सह सकते, उसके लिये नृसिंहरूपसे सदा तैयार रहते हैं। यथा—'सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥ जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥ लोकहु बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥' (२।२१८)।

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥ १॥

अर्थ—भाव, कुभाव (खोटे भाव, अप्रीति), क्रोध या आलस्य (किसी भी प्रकार) से नाम जपनेसे दसों दिशाओंमें मङ्गल ही होता है॥ १॥

नोट—१ 'भाय कुभाय अनख…' इति। (क) बैजनाथजीका मत है कि—"भाय=भाव। जैसे कि शेष-शेषी, पिता-पुत्र, भार्या-स्वामी, शरीर-शरीरी, धर्म-धर्मी, रक्ष्य-रक्षक इत्यादि भाव। यह मित्र पक्ष है। कुभाय=कुत्सित भाव। जैसे कि अनरस जिसमे स्वाभाविक विरोध है, ईर्ष्या—भाव (जो बढती न सह सके), असूया—भाव (जो गुणमे दोष आरोप करे), वैरभाव—इत्यादि जो शत्रुपक्षके भाव हैं। 'अनख' अर्थात् जो प्रीति—विरोध-रहित है पर किसी कारणसे रुष्ट हो गया। 'आलस' जैसे शोकमें या श्रमित होनेपर मुख आ जाना, नाम निकल पड़ना—ये उदासीन पक्षमें हैं।"

(ख) मिलान कीजिये—'सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥ भा० ६।२।१४।' अर्थात् सङ्केतसे, हँसीसे, गानके आलापको पूर्ण करनेके लिये, अथवा अवहेलनासे भी लिया हुआ भगवन्नाम मनुष्यके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है, इसे महात्मालोग जानते हैं। इसमे 'हेलन' का भाव 'कुभाव' से समझा जा सकता है।

(ग) विजय दोहावलीमें इनके उदाहरण ये दिये हैं—'भाव सहित शंकर जप्यो, कहि कुभाव मुनि बाल। कुम्भकरण आलस जपेउ, अनख जपेउ दशभाल॥' मानसमें इसके प्रमाण, यथा—'सादर जपहु अनँग आराती। १।१०८।', 'भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू। १।१९।', 'राम रूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक। ६।६२।' और 'कहा रामु रन हतउँ प्रचारी। ६।१०२।'

(घ) 'कु' शब्दके—पापबोधक, कुत्सा (बुरा), ईषदर्थ (थोड़ा) और निवारण—ये चार अर्थ, हैमकोशने मिलते हैं। यथा—"कुपापीयसि कुत्सायामीषदर्थे निवारणे।' 'कुभाव' में इन चारोंका ग्रहण हो सकता है। कुभाव=पाप भावसे, बुरे भावसे, किञ्चित् भावसे तथा 'अभाव' से।

☞ इस तरह हम 'भाय कुभाय' के तात्पर्य यह निकाल सकते हैं कि—'भाय (भाव)' से शुद्ध निष्काम प्रेम और श्रद्धा-विश्वासादि सात्त्विक भावका ग्रहण होगा। इस व्याख्यासे आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी और प्रेमी सभी भक्तोंका समावेश 'भाय' में आ जाता है। 'कुभाय' से पूर्वोक्त शुद्ध निष्काम या सात्त्विक तथा तामसी भावोंके अतिरिक्त जितने भी भाव हैं उन सबोंका ग्रहण होगा। इसमें सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा आदिके लिये होनेवाले राजस-तपको ले सकते हैं। यथा—'सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ गीता १७।१८।'

विनोद, नामाभास, अनुवाद आदि भी 'कुभाय' में ही लिये जायँगे। अनख और आलस्य तामस वृत्तियाँ हैं, अतएव क्रोध, ईर्ष्या, आलस्य, निद्रा आदि सब इनमें आवेंगे।

☞ नौ दोहेमें नामका माहात्म्य कहकर अब सबका साराश यहाँ अन्तमें लिखते हैं। चाहे कोई प्रेमपूर्वक मन और वचनकी एकतासे एव उसके अर्थ और महत्त्वको समझते हुए नामका जप करे। अथवा, अनादर और असूयापूर्वक निन्दाके मिष उसका उच्चारण करे किंवा आलस्यवश अँगड़ाई लेते हुए विश्राम भावविशिष्ट नामका जप करे, वह कल्याण-लाभ अवश्य करेगा, प्रत्येक देश-कालमें वह मङ्गल फल प्राप्त करेगा। इसमें सन्देह नहीं।

२—श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि "कुभाव" का अर्थ है—निन्दाके लिये, द्वेष बतानेके लिये, घृणाप्रदर्शनके लिये, दम्भसे, किसीको ठगनेके लिये लिया गया नाम। 'क्या राम राम करते हो, क्या रक्खा है इसमें? राम एक आदर्श राजा अवश्य थे, पर उनका नाम रटना व्यर्थ है।' इस प्रकार द्वेष बतानेके लिये भी नाम लिया जाता है। 'राम-राम करनेवाले सब धूर्त या मूर्ख होते हैं।' इस प्रकार निन्दाके लिये भी नाम लिया जाता है। 'राम! राम! छिः!'—घृणाप्रदर्शन भी नामद्वारा होता है। दूसरेको पुकारनेमें यदि उनका नाम राम हो तथा परस्पर अभिवादनमें जो 'जय रामजी' या 'राम-राम' किया जाता है उनमें कुभाव तो नहीं है, किंतु भगवन्नाम-बुद्धि नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक रीतिसे भावहीन या दुर्भावपूर्वक नामोच्चारण भी मङ्गलप्रद है।" छींकते, खाँसते, गिरते, चौंकते, डरकर चोट लगनेपर नाम लेना भी 'आलस्य' में ही है, क्योंकि जान-बूझकर सावधानीसे नाम नहीं लिया गया।

'दिसि दसहूँ' इति। इसका एक अर्थ तो यह है ही कि नाम सभी स्थानोंमें सर्वत्र मङ्गलप्रद है। दूसरा भाव यह है कि दूसरे सभी साधन एवं पुण्य कार्य केवल मर्त्यलोकमें मनुष्ययोनिमें किये जानेपर मङ्गलप्रद होते हैं। दूसरी योनियोंमें तथा दूसरे लोकोंमें किये गये कर्म मङ्गलप्रद नहीं होते। क्योंकि मनुष्येतर सभी योनियाँ भोगयोनि हैं और मर्त्यलोकको छोड़ सभी लोक भोगलोक हैं। भोगयोनियों तथा भोगलोकोंके कर्म फलोत्पादक नहीं होते। परंतु नामोच्चारण सभी योनियों और सभी लोकोंमें कल्याणकारी होगा, व्यर्थ नहीं जायगा, वहाँके नियम उसे बाधित नहीं करते।

भाव, कुभाव आदिसे नाम जपनेवालेका मङ्गल होगा, यह बात कठिनतासे समझमें आनेकी है। बात यह है कि कर्ममात्र अपना फल भावके आधारपर ही देते हैं। भावके द्वारा ही कर्म संस्कार बनते हैं और वही संस्कार फल उत्पन्न करते हैं। यह नियम है। केवल मनुष्य ही स्वतन्त्र भाव कर सकता है। दूसरे सभी देव, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट-प्रकृतिसे नैसर्गिक स्वभावसे सञ्चालित होते हैं। अतः उनके कर्मोंमें भाव स्वातन्त्र्य न होनेसे कर्मसंस्कार नहीं बनते। ऐसी दशामें नामोच्चारणका फल सर्वत्र कैसे हो सकता है? वह केवल मनुष्ययोनिमें और भावके अनुसार होना चाहिये। दुर्भाव आदिसे लिया गया नाम मङ्गलप्रद कैसे हो सकेगा?

ये तर्क इसलिये उठते हैं कि नामको 'भावरूप कर्म' समझ लिया गया है। वस्तुतः नाम भावरूपकर्म न होकर पदार्थरूप है। सत्य, अहिंसा, दान, चोरी इत्यादि भावरूप कर्म हैं। अतएव इनके करनेमें भावानुसार पाप-पुण्य होता है। बच्चे, पागल, विक्षिप्तके द्वारा ये कर्म हों तो उनका कोई फल नहीं होता। इसी प्रकार भोगयोनियोंके जीव सिंहादि हिंसा करनेपर भी उसके पापके भागी नहीं होते।

अग्निका स्पर्श—यह वस्तुरूप पदार्थात्मक कर्म है। इसके परिणामके प्रकट होनेमें भावकी अपेक्षा नहीं है। अग्निका स्पर्श श्रद्धा, अश्रद्धा, घृणा, द्वेष या आलस्यसे जानकर या अनजानमें करें, परिणाम एक ही है। चाहे बच्चा हो, पागल हो तो भी अग्नि उसे जलावेगा ही। वहाँ स्पर्शरूप कर्मका एक ही फल सभी भाववालोंको होगा। भगवन्नाम अपने नामीका स्वरूप है, यह भाव नहीं है, सत्य है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है, परम तत्त्व है। अतएव उसका संसर्ग 'भावरूप कर्म' न होकर वस्तुरूप कर्म है। वस्तुरूप कर्म भावकी अपेक्षा नहीं करता, अतः वह कर्ममात्रसे फल प्रकट करता है। इसीसे नाम 'जपत' जपकी क्रिया होते ही मङ्गल होता है। क्योंकि भगवान् सर्वव्यापी हैं अतः उनका

स्वरूप नाम भी सर्वव्यापी है। वह उच्चारणमात्रसे कल्याणकारी है। जैसे अग्निका स्वाभाविक गुण दाह है वैसे ही नामका स्वाभाविक गुण मंगल करना है।

नाम-वन्दनाका उपसंहार करते हुए गोस्वामीजीने यहाँ जपके अधिकारीकी सूचना दी है कि ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त सभी प्राणी जपके अधिकारी हैं। भावकी यहाँ अपेक्षा नहीं। अभ्यासके द्वारा नामको स्वभाव बना लेना चाहिये जिसमें सभी स्थितियोंमें नाम ही निकले।

३—'दिसि दसहूँ' का भाव यह है कि नाम जापक सबसे निर्भय रहता है, प्रह्लादजी इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। सुश्रुतसंहितामें भी ऐसा ही कहा है—'तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापतेर्नाम यदा स्मरामि ॥'

इसका भाव यह भी निकलता है कि श्रीअयोध्या, मथुरा इत्यादि पुरियों और प्रयागराज आदि तीर्थों तथा पर्वत आदि सब स्थानोंका कोई भेद यहाँ नहीं है, किंतु सर्वत्र ही, जहाँ रहे तहाँ ही मंगल होगा।

वैजनाथजी लिखते हैं कि 'दशों दिशाओंको कहनेका भाव यह है कि मन्त्रजापके सम्बन्धमें तन्त्रोंमें दसों दिशाओंका संशोधन करके तब बैठकर जप करना कहा है, अन्यथा सिद्धि नहीं होती। अतः 'मंगल दिसि दसहूँ' कहकर जनाया कि श्रीरामनाममें बिना संशोधन ही फलकी प्राप्ति होती है।

दसों दिशाएँ ये हैं—पूर्व, आग्नेयी (पूर्व-दक्षिणके बीच), दक्षिण, नैर्ऋती (दक्षिण पश्चिमके बीच), पश्चिम, वायवी (पश्चिम-उत्तरका मध्य), उत्तर, ऐशानी (उत्तर-पूर्वका मध्य), ऊर्ध्व (ऊपर), अधर (नीचे)।

वराहपुराणमें इनकी उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है—'ब्रह्मणस्सृजतस्सृष्टिमादिसर्गे समुत्थिते। प्रादुर्बभूवुः श्रोत्रेभ्यो दशकन्या महाप्रभाः ॥ ३ ॥ पूर्वा च दक्षिणा चैव प्रतीची चोत्तरा तथा। ऊर्ध्वाधरा च षण्मुख्याः कन्या ह्यासंस्तदा नृप ॥ ४ ॥ तासां मध्ये चतस्रस्तु कन्याः परमशोभनाः ॥ अ० २९ ॥'

४—श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—नवों दोहोंके लिखनेपर यह चौपाई लिखनेका भाव यह है कि गोस्वामीजीने वैद्यवत् जीवरूपी भवरोगग्रसितको नामरूपी भेषज खानेको बतलाया। नवों दोहोंके अन्दर नाम जपनेकी रीति, संयम आदि विस्तारपूर्वक वर्णन किये। उसके अनुकूल नामस्मरण करनेसे सारे भवरोगोंका नाश हो जायगा और वह भगवत्प्राप्तिरूपी आनन्दमें मग्न रहेगा। पर जो रोगी मरणासन्न हो रहा है, संयम करता ही नहीं, अपना हठ नहीं छोड़ता, उसकी दशा देखकर परम कृपालु वैद्य उसको भी यही दवा देकर कहता है कि यह अपूर्व गुणदायक है, इसको खाते रहना, मुखमें जानेसे रोगका नाश अवश्य करेगा। हाँ, भेद इतना है कि मेरे वचनोंपर विश्वास करके भाव (=विधि) के साथ खाते तो शीघ्र नीरोग हो जाते। अच्छा कुभावसे ही सही, खाते जाना, मंगल ही होगा। (मा० मा०)।

५—नाम-वन्दना सबकी वन्दनासे विशेष की गयी, नौ दोहोंमें यह प्रकरण लिखा गया, यह क्यों? उत्तर—(१) अंकका प्रमाण '९' ही तक है, उसके पश्चात् शून्य (०) है। नौ दोहोंमें इस प्रकरणको समाप्त करके सूचित किया है कि श्रीरामनाम साधन ही सम्पूर्ण कल्याणोंकी सीमा है, इसे छोड़ अन्य साधनोंसे कल्याणकी आशा रखनी व्यर्थ है। यथा—'तुलसी अपने रामको भजन करहु निःशंक। आदि अंत निरबाहि हैं जैसे नवको अंक ॥' (सतसई) 'राम नामको अंक है, सब साधन हैं सून। अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून ॥ 'रामनाम छाँड़ि जो भरोसो करै और रे। तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे ॥ वि० ६६।' (२) लोक-परलोक दोनोंके लिये कलिमें दूसरा उपाय नहीं है, अतएव सबके कल्याणार्थ विस्तारसे कहा। (३) श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीरामनामहीके उपासक हैं, अपना मत भी उन्होंने इसी प्रकरणमें दरसाया है, तथा—'मोरे मत बड़ नाम दुहूँ तें।' (२३) अपना मुख्य सिद्धान्त एवं इष्ट 'नाम' ही होनेके कारण अपने उपास्यको इतने दोहोंमें वर्णन किया है। उपास्यके प्रमाण, यथा—'रामनाम मातु पितु स्वामी समरत्थ हित, आस राम नामकी भरोसो रामनाम को। प्रेम रामनाम ही सों नेम रामनामहीको जानउँ न मरम पद दाहिनो न बामको। स्वारथ सकल परमारथको रामनाम रामनामहीन तुलसी न काहू कामको ॥ राम की सपथ सरबस मेरे रामनाम कामधेनु कामतरु मोसे छीन छामको ॥ क० उ० १७८।' 'रावरी सपथ रामनाम ही

की गति मेरें यहाँ झूठो झूठो सो तिलोक तिहूँ काल है ॥ क० उ० ६५ ।' 'मेरे माय बाप दोउ आखर हौं शिशु अरनि अरयों । संकरसाखि जो राखि कहउँ कछु तो जरि जीह गरो । अपनो भलो रामनामहिं तें तुलसिहि समुझि परो ॥ वि० २२६ ।' 'नाम अवलंब अंबु मीन दीन राउ सो । प्रभु सों बनाइ कहउँ जीह जरि जाउ सो ॥ वि० १८२ ।' 'रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को । वि० ६८ ।' 'और ठौर न और गति अवलंब नामु बिहाइ' 'मोको गति दूसरी न विधि निरमई' इत्यादि ।

नोट—४ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि नामवन्दन स्थूल प्रकरणके अवान्तर सूक्ष्म सात प्रकरण है, यथा—'नाम-वंदना सात विहार । प्रथम स्वरूप अग अरु फल कहि दूजे जुग अच्छर निस्तार ॥ तीजे नामी नाम सरिस कहि चौथे भक्तनको आधार । पाँचव अगुन सगुन ते बड़ कहि छठवें फल उदार । सतयें चारिउ जुग नामहि को जानकीदास निहार ॥ (मा० प्र०)

श्रीरामनामवंदना-प्रकरण समाप्त हुआ ।
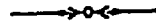
निज कार्पण्य तथा श्रीरामगुणवर्णन-प्रकरण

सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा । करौं नाइ रघुनाथहि माथा ॥ २ ॥

अर्थ—उस श्रीरामनामको सुमिरकर और श्रीरघुनाथजीको माथा नवाकर मैं उन श्रीरामजीके गुणोंकी कथा रचता हूँ ॥ २ ॥

नोट—१ (क) 'भाय कुभाय अनख आलसहू । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥ २८ । १ ।' तक नामकी बड़ाई की । अब यहाँसे दो दोहोंमें रूपकी बड़ाई करते हैं । यहाँसे लेकर—'एहि बिधि निज गुन दोष कहि''। २९ ।' तक ग्रन्थकार अपना कार्पण्य और स्वामीके गुण वर्णन करते हैं । (ख) नामका स्मरण किया जाता है और रूपके सामने मस्तक नवाया जाता ही है, अत 'सुमिरि नाम' और 'नाइ रघुनाथहि माथा' लिखा ।

टिप्पणी—पहले श्रीरामनामकी वन्दना की । वन्दनासे नमस्कार-स्तुति हो चुकी, यथा—'वदि अभिवादनस्तुत्यो' (सि० कौमुदी ११) । अब स्मरण करते हैं । ये गुणगाथ श्रीरघुनाथजीके हैं और श्रीरामनामसे अङ्कित हैं, यथा—'एहि महँ रघुपति नाम उदारा ।', 'राम नाम जस अंकित जानी । १ । १० ।' इसलिये श्रीरामनामको सुमिरके श्रीरघुनाथजीको माथा नवाके उनकी गुणगाथा रचते हैं ।

नोट—२ (क) अब ग्रन्थकार दिखलाते हैं कि पूर्वोक्त नामके स्मरणके ही प्रभावसे मैं श्रीरामचरित्र लिखता हूँ और कोई दूसरा भरोसा मुझे नहीं है । इससे सूचित हुआ कि ग्रन्थकार श्रीरामनामके अनन्य भक्त थे । (मा० प०) । (ख) यहाँ गोस्वामीजी अपनी अनन्यता दिखाते हैं कि जिस नामसे सर्व देश-कालमें मङ्गल होता है अब तो मैं उसी नामको स्मरणकर उसके नामी (श्रीरामजी) हीके गुणोंकी गाथा अनन्य भावसे उन्हें प्रणाम करके करता हूँ । (प० शुकदेवलाल) । (ग) यहाँ नामको साधन और चरित्रको सिद्ध फल बनाया । (रा० प्र०) । (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ दिखाते हैं कि मन, कर्म और वचनसे मुझे प्रभुहीकी गति है । प्रभुने जो कहा है कि—'बचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम । तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥ ३ । १६ ।' इसी रीतिको कवि यहाँ दृढ़ कर रहे हैं । पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंको वशमें करके मनद्वारा नाम-स्मरण करते हैं, पञ्च कर्मेन्द्रियोंके विषयोंका रोककर शीशद्वारा वन्दन करते हैं और वचनद्वारा गुणगाथा वर्णन करते हैं ।

३ 'सुमिरि सो नाम ' इति । गौड़जीका टिप्पण 'वन्दौं नाम राम रघुबर को । १९ । १ ।' में देखिये । 'बदौं नाम राम रघुबर को' में 'रघुबर' के रामनामकी वन्दना करते हुए परात्परके रामनामसे उसकी एकता दिखायी है और

रामावतारसे उसकी महिमाकी तुलना की है। 'सुमिरि सो नाम ···'—'सो' कौन? वही 'रघुबरको' नाम। फिर 'रामगुन-गाथा' करता हूँ, उन्हीं 'रघुनाथ' की वन्दना करके। 'रघुनाथ' और 'रघुबर' शब्दोंपर काफी जोर दिया है। लोग शिकायत करते हैं कि तुलसीदास मौके-बेमौके हर जगह पाठकोंको याद दिलाते रहते हैं कि राम वही ब्रह्म हैं। वे (आलोचक) यह नहीं जानते कि सारे मानसका यही उद्देश्य है कि यह दिखावें कि अवधेशकुमार राम और परात्पर ब्रह्म एक ही हैं और पाठकका ध्यान सदा इस उद्देश्यकी ओर केन्द्रित रहे। (गौड़जी)

४—यदि कोई कहे कि तुम्हारी मति मलिन है तुम प्रभुके गुण क्या कर वर्णन करोगे, तो उसपर आगे लिखते हैं—'मोरि सुधारिहि ।' (प०)।

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥ ३॥

शब्दार्थ—अघाना=किसी चीजसे जी (मन) का भर जाना।=सन्तुष्ट होना।

अर्थ—वे मेरी (बिगड़ीको) सब तरहसे सुधार लेंगे, जिनकी कृपा कृपा करनेसे नहीं अघाती॥ ३॥

टिप्पणी—'मोरि सुधारिहि' इति। 'सुधारिहि' कहनेसे बिगड़ा होना पाया गया। गोस्वामीजी कहते हैं कि मेरी सब तरहसे बिगड़ी है—(१) मन और मति दोनों बिगड़े हैं, यथा—'सूझ न एकौ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥ १। ८। ६।' (२) कविता सब गुणरहित है, यथा—'आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥ भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥ कबित बिबेक एक नहिं मोरें' १। ९। ९-१०।' (३) भणित सर्वगुणरहित है, यथा—'भनिति मोरि सब गुन रहित। ९।' (४) भाग्य बिगड़ा है, यथा—'भाग छोट अभिलाषु बड़। १। ८।' 'सब भाँती' अर्थात् इन सब बिगड़ियोंको सब प्रकार सुधारकर बना देंगे।

नोट—१ 'जासु कृपा' इति। 'कृपा' गुणकी व्याख्या भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है—'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसंधान कृपा सा पारमेश्वरी॥', 'स्वसामर्थ्यानुसंधानाधीनकालुष्यनाशन। हार्दो भावविशेषो य. कृपा सा जगदीश्वरी॥' अर्थात् मैं ही समस्त जीवोंकी रक्षाके लिये समर्थ हूँ। ऐसे सामर्थ्यका अनुसन्धान करना 'कृपा' गुण है। अपने सामर्थ्यके अनुसन्धानसे शरणागतके पापोंका नाश करनेवाला जो जगदीश्वरका हार्दिक भाव है उसी विशेष भावको 'कृपा' गुण कहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌की कृपाके तीन रूप हैं—जीवोंकी रक्षा, पापका नाश और मित्र भाव।

२ 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती' के भाव ये हैं—(१) जिनपर एक बार कृपा हो गयी, फिर उनपर बराबर कृपा होती ही रहती है, तो भी वे सहज कृपालु भगवान् यही समझते हैं कि जितनी कृपा चाहिये उतनी नहीं हो सकी। गोस्वामीजीका आशय यह है कि जो मुझपर कृपा हुई है तो अब वह बराबर बढ़ती ही जायगी और प्रभु मेरी सब तरहसे सुधारेंगे। (२) आपकी जो मूर्तिमती कृपा है वह अपने तीनों रूपोंसे लोकोंके जीवोंका हित करते हुए भी कभी अघाती नहीं। (वै०)। (३) मूर्तिमती कृपा भी आपकी कृपाकी सदैव अभिलाषिणी रहती है कि मुझे भलीभाँति काममें लावें। (४) जिसपर कृपा की, उनसे फिर चूक भी हो तो उस चूकपर दृष्टि भी नहीं देते। प्रभु यही सोचते हैं कि हमने इसपर कम कृपा की, इसीसे चूक हुई, नहीं तो न होती। उसकी चूक अपने मत्थे ले लेते हैं। ऐसे कृपालु हैं। (मा० प्र०)। (५) करुणासिन्धुजी एक भाव यह देते हैं कि जिनकी कृपा बिना अपर-देव-कृपासे अघका हनन नहीं होता। रा० प्र० में भी यह भाव दिया है। इस प्रकार 'अघाती'=अघ हाती। (६) जिनकी कृपासे आजतक कृपाधिकार देवी भी सन्तुष्ट नहीं, ज्यों-की-त्यों बनी ही रहती है। (७) कृपा देवी सदा चाहती है कि रघुनाथजी मुझपर कृपा बनाये रहें जिससे मुझमें कृपात्व सामर्थ्य बना रहे। (मानस-पत्रिका)। (८) श्रीपाण्डेजी 'सो' और 'जासु' को ऊपरकी अर्धालीके 'सो नाम' का सर्वनाम मानकर अर्थ करते हैं कि—'सो (वही) नाम मेरी सब भाँति सुधारेगा जिसकी कृपा दीनोंपर कृपा करनेसे नहीं अघाती।' (९) मानसमयककार 'जासु कृपा' से 'नाम कृपा' और 'कृपा अघाती' से

'रूपकृपा अघाती' का अर्थ करते हैं। यथा—'रूपकृपा चाहति सदा नाम कृपाकी कोर। दँवौं लसे सकार तहँ पूर्व अर्थ बरजोर ॥' श्रीजानकीशरणजीका मत है कि 'ऊपर नामका महत्त्व वर्णन हुआ, अब यहाँ वन्दनाका फल लिखते हैं कि सर्वप्रकार सुधारेंगे, अतः यह भाव उत्तम जँचता है कि—'जिस नामकी महिमाका वर्णन हो चुका उसकी कृपासे कृपा अघाती नहीं।'

आगे अपने ऊपर कृपा होनेका स्वरूप दिखाते हैं।

राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—'दया'—बिना स्वार्थ जीवोंका भला करना 'दया' गुण है, यथा—'दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम्।' (भ० गु० द०)। 'निधि=निधान, राशि, धन, समुद्र, पात्र इत्यादि। यथा—'निधिर्निधाने राशौ च निधिर्वित्तसमुद्रयो। शङ्खपद्मादिभेदे च निधिः पात्रे च कथ्यते ॥' (अभिधानचिन्तामणि नामक कोश)। पोसो = पोषण किया, पालन किया।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी-सा अच्छा स्वामी और कहाँ मुझ-सा बुरा सेवक! तो भी दयासागरने अपनी ओर देखकर मेरा पालन किया ॥ ४ ॥

नोट—१ 'सुस्वामि', 'कुसेवकु' और 'दयानिधि' पद देकर सूचित किया कि स्वामी कुसेवकको नहीं रखते और सेवाके अनुसार ही मजूरी देते हैं। श्रीरामचन्द्रजी सुस्वामी हैं। बिना सेवा ही कृपा करते हैं। ऐसे दयालु और नहीं।

यथा—(१) 'भूमिपाल व्यालपाल नाकपाल लोकपाल, कारनकृपालु मैं सबै के जी की थाह ली। कादर को आदर काहू के नाहिं देखियत, सबनि सोहात है सेवा सुजान टाहली ॥ तुलसी सुभाय कहै नाहीं कछु पच्छपात, कौने ईस किए कीस भालु खास माहली। राम ही के द्वारे पै बोलाइ सनमानियत, मोसे दीन दूबरे कुपूत कूर काहली ॥ क० उ० २३।'

(२) 'सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों, बिहीन गुन पथिक पियासे जात पथ के। लेखे जोखे चोखे चित तुलसी स्वारथ हित, नीके देखे देवता दिवैया घने गथ के ॥ गीध मानो गुरु कपि भालु मानो मीत कै, पुनीत गीत साके सब साहिब समरत्थ के। और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत, लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के ॥ (क० उ० २४।')

(३) 'बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं। वि० १६२।' 'सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाए। कोसलपालु कृपालु कलपतरु द्रवत सकृत सिर नाए ॥ वि० १६३।'

(४) 'ब्योम रसातल भूमि भरे नृप कूर कुसाहिब सेंतिहुँ खारे। स्वामी सुसील समर्थ सुजान सो तोसों तुहीं दसरत्थ दुलारे ॥ क० उ० १२।'

(५) 'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु। प्रेम कनौड़ो राम सों नहिं दूसरो दयालु ॥ तन साथी सब स्वारथी सुर ब्यवहार सुजान। आरत अधम अनाथ हित को रघुबीर समान ॥ नाद निठुर समचर सिखी सलिल सनेह न सूर। ससि सरोग दिनकर बड़े पयद प्रेम पथ कूर। सुनि सेवा सहि को करै परिहरै को दूषन देखि। केहि दिवान दिन दीन कौ आदर अनुराग बिसेषि ॥ वि० १९१।', साहिब समत्थ दसरत्थके दयालु देव, दूसरो न तोसों तुही आपने की लाज को। क० उ० १३।', 'आपने निवाजे की तौ लाज महाराज को। क० उ० १४।', 'बचे खोटो दामु न मिलै न राखै कामु रे। सोउ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा रामु रे ॥ वि० ७१।'

नोट—२ 'निज दिसि देखि' इति। भाव यह कि कुछ मेरी सेवा देखकर मेरा पालन नहीं किया, क्योंकि मैं तो कुसेवक हूँ, मुझसे क्या सेवा हो सकती, वरन् अपनी दया, अनुकम्पा इत्यादि गुणोंके कारण मेरा पालन किया है। यथा—'मेरा भलो कियो राम आपनी भलाई। हौं तो साईं द्रोही पै सेवकहित साईं ॥ वि० ७२।'

प० रामकुमारजी—ऊपर कहा था कि 'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती', अब यहाँसे बताते हैं कि यह भरोसा हमें क्यों है।

लोकहुँ बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनत पहिचानत प्रीती ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सुसाहिब=सुस्वामी=अच्छा स्वामी।

अर्थ—वेदोंमें और लोकमें भी अच्छे स्वामीकी यह रीति (प्रसिद्ध) है कि वे विनय (सुनते हैं और) सुनते ही हृदयकी प्रीतिको पहिचान लेते हैं ॥ ५ ॥

नोट—१ प० रामकुमारजी यों अर्थ करते है कि 'लोकमें देखनेमें आता है और वेदमें लिखा है कि सुन्दर साहेबकी यह रीति है कि विनती सुनता है और प्रीति पहिचानता है।' अब इसीका विस्तार आगे करते हैं। २—अर्धाली ४, ५ की टीका आगेके दोनों मूल दोहे हैं। (मानसपत्रिका)।

गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ मलीन उजागर ॥ ६ ॥
सुकबि कुकबि निज मति अनुहारी। नृपहि सराहत सब नरनारी ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—'गनी' अर्बी भाषाका शब्द है। इसका अर्थ 'धनवान्' 'अमीर' है, जिसको किसी वस्तुकी पर्वा या चिन्ता न रह जाय। मलीन (मलिन)=अपयशी=मल-दूषित।=जिनके कर्म, स्वभाव या कुल बुरे हों, मैली वृत्तिवाले, मैले। गरीब=निर्धन। नागर=नगरका रहनेवाला, चतुर, सभ्य, शिष्ट और निपुण व्यक्ति। मूढ=मूर्ख। ग्रामनर=देहाती, गँवार। उजागर=स्वच्छ, भले, प्रसिद्ध, दीप्तिमान्। स्वच्छवृत्तिवाले, यशस्वी। अनुहारी=के अनुसार।

अर्थ—धनी, गरीब, गँवार, चतुर, पण्डित, मूर्ख मलिनवृत्तिवाले और स्वच्छवृत्तिवाले (पवित्र, यशस्वी) तथा अच्छे और बुरे कवि, ये सब स्त्री क्या पुरुष अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार राजाकी प्रशंसा करते हैं ॥ ६-७ ॥

नोट—१ ये दसों क्यो सराहना करते हैं, यह आगे बताया है कि वह 'नृपाल' है और 'ईस अंस' से उत्पन्न है। इस कारण उसकी सराहना करते हैं।

२ मा० म०—कार 'ग्राम' का अर्थ 'समूह' और 'वृन्द' करते हैं और उसको 'गनी, गरीब, नागरनर' इत्यादि सबके साथ लगाते हैं। इस तरह नौ प्रकारके लोगोंके नाम यहाँ होते हैं। वे शब्दोंके अर्थ यह लिखते हैं—पण्डित=क्षर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्मके वेत्ता। मूढ=क्षर और अक्षर दोनों ब्रह्मके ज्ञानसे रहित। मलीन=वेदोक्त कर्म और दिव्य-तीर्थाटन इन दोनोंके कर्मोंसे रहित। उजागर=वेदोक्त कर्मों और दिव्य तीर्थाटन करके बाह्याभ्यन्तरमें विमल। प० राजकुमारजीके मतानुसार, पण्डित=मान और अपमानमें समान रहनेवाला तथा अक्षोभ। यथा—'न हृष्यत्यात्म-सम्माने नावमानेन कुप्यति। गङ्गाह्रद इवाक्षोभ्य स वै पण्डित उच्यते ॥' पुन, पण्डित=प्राणितत्त्व, योगतत्त्व, कर्मतत्त्व और मनुष्यहितकारी सम्पूर्ण उपायोंका ज्ञाता, निष्कपट, रोचक वक्ता, तर्क एव प्रतिभाशील, ग्रन्थोंका शीघ्र तथा स्पष्ट वक्ता। यथा—'तत्त्वज्ञ सर्वभूताना योगज्ञ सर्वकर्मणाम्। उपायज्ञो मनुष्याणा स वै पण्डित उच्यते ॥ न वृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्। आशु ग्रन्थस्य वक्ता च स वै पण्डित उच्यते ॥ मूढ=बिना बुलाये भीतर जानेवाला, बिना पूछे बहुत बोलनेवाला, प्रमत्तोंमें विश्वास रखनेवाला 'मूढ' कहलाता है, यथा—'अनाहूत प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते। विश्वासश्च प्रमत्तेषु मूढचेता नराधम ॥' (महाभारत उ० प०)

३ प० शिवलालपाठकजी इन चौपाइयों, 'गनी गरीब···रीझत राम सनेह निसोतें' का भाव यह कहते है—'गनी आदि पाँचो बहुरि, धनप आदि लखि पच। हौं गरीब आदिक निगम, रटना मोर न रच ॥' इसका भावार्थ बाबू इन्द्रदेवनारायणसिंहजीने यह लिखा है कि 'मयङ्ककार सन्दर्भ कहते है कि जिसके यशको (गनी) कुबेर, (नागर) सनकादि, (पण्डित) बृहस्पति, (उजागर) नारद, (सुकवि) शुक्राचार्यादिक साहसकर कुछ कथन करते हैं, उसके यशको मैं गरीब, ग्रामनर, मूढ, मलिन और कुकवि होकर क्या कह सकता हूँ, परतु आशा है कि मेरी किंचित् रटनाको प्रेमसयुक्त विचार श्रीरामचन्द्रजी रीझेंगे, जो शुद्ध प्रेमके रसिक हैं।' [तात्पर्य यह है कि प्राकृत महिपालके राज्यके 'गनी, नागर, पण्डित, उजागर और सुकवि' ये पाँचों अप्राकृत महिपाल कोसलराज श्रीरघुनाथजीके दरबारमेंके

क्रमसे कुबेर (धनद), सनकादि, बृहस्पति, नारद और शुक्राचार्य इत्यादि हैं, जो अपनी भक्ति, नति और भणितसे सम्मान पाते हैं। और मैं गरीब आदि 'निगम' (=वेद=चार) हूँ। मेरे पास न तो धन ही है न बुद्धि, न नम्रता है न सुन्दर वाणी ही। मेरी तो गति ही देखकर सम्मान करेंगे कि इस बेचारेकी इतनी ही गति है।

साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला॥ ८॥
सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति* गति पहिचानी॥ ९॥

शब्दार्थ—नृपाल=नर अर्थात् मनुष्योंका पालन करनेवाला=राजा। भव=उत्पन्न, पैदा। साधु=समीचीन मार्गमें चलनेवाला (पाँडेजी)।=पवित्र, सीधा। सुजान=मतिकी गति जाननेवाला—(पाँडेजी)।=जानकार। सुसील=सुन्दर स्वभाववाला।=दीन, हीन, मलिनको भी अपनानेवाला।

अर्थ—साधु, सुजान, सुशील, ईश्वरके अंशसे उत्पन्न और परम कृपालु राजा सबकी सुनकर उनकी वाणी, भक्ति, नम्रता और गति पहिचानकर सुन्दर कोमल वचनोंसे उन सबोंका आदर-सत्कार करता है॥ ८-९॥

नोट—१ गोस्वामीजीने राजाकी स्तुति करनेवाले दस प्रकारके लोग गिनाये, राजामें साधुता, सुजानता इत्यादि पाँच गुण बताये और फिर यह बताया कि राजा प्रशंसा करनेवालोंकी 'भणिति' भक्ति, नति, गति पहिचानकर उनका आदर-सत्कार करते हैं।

२ पं० रामकुमारजी और श्रीकरुणासिंधुजी राजामें पाँच गुण मानते हैं और बाबा हरिहरप्रसादजी 'नृपाला' को भी विशेषण मानकर छः गुण मानते हैं। बाबा जानकीदासजी 'साधु, सुजान, सुशील और परम कृपाला' ये चार गुण मानते हैं। पं० रामकुमारजी अर्धाली ७ में आये हुए 'प्रीति' शब्दको भी 'भणिति, भक्ति, नति और गति' के साथ गिनकर पाँच बातोंका पहिचानना मानते हैं।

'ईस अंस भव' इति। राजा ईश्वरका अंशावतार माना जाता है। यथा—'नराणां च नराधिपम्।' गीता १०। २७।' मनुस्मृतिमें कहा है कि राजाको चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, पवन, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम—इन अष्टलोकपालोंका शरीर समझो, क्योंकि इन अष्टलोकपालोंके सारभूत अंशोंको खींचकर (परमात्माने राजाको बनाया)। इन्द्रादि लोकपालोंके अंशसे राजाकी शक्ति निर्माण की गयी है, इसीलिये राजाका पराक्रम और तेज सब प्राणियोंसे अधिक होता है। यथा—'सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च। अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः॥' (मनु० ५। ९६), 'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती॥ यस्मादेष सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येषु सर्वभूतानि तेजसा॥' (मनुस्मृति ७। ४-५)। इस तरह यह यहाँ 'ईश' का अर्थ लोकपाल है।

४ श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—'चन्द्रांशसे साम हो, कुबेरांशसे दाम हो, यमांशसे दण्ड हो, इन्द्रांशसे विभेद हो, यह चारों अंशयुक्त उत्पत्ति राजाकी हो और कृपालु हो, यह प्राकृत उत्तम राजाओंका लक्षण है।' (मा० मा०)।

नोट—५ अब प्रश्न यह है कि—(१) 'दसों सराहनेवालोंमेंसे किसमें क्या बात पहिचानकर राजा उसका सम्मान करते हैं?' (२) 'अपने किस गुणसे किसकी पहिचान करते हैं?'

इसपर पं० रामकुमारजी, श्रीकरुणासिंधुजी, श्रीजानकीदासजी तथा महाराज हरिहरप्रसादजीने जो विचार प्रकट किये हैं वे निम्नलिखित हैं—

पं० रामकुमारजी—राजाकी स्तुति करनेवाले पाँच प्रकारके हैं—(१) धनी, गरीब, (२) ग्रामनर, नागर नर, (३) पण्डित, मूढ़, (४) मलिन, उजागर और (५) सुकवि, कुकवि। राजा—(१) साधु, (२) सुजान, (३) सुशील, (४) ईश-अंश भव और (५) परमकृपालु है। अर्थात् पाँच गुणोंसे युक्त है। राजा अपने इन गुणोंसे प्रजाकी—(१) प्रीति, (२) भणिति, (३) भक्ति, (४) नति और (५) गति

* मति—रा० प०, करु०, वै०, पं०।

क्रमसे पहिचानते है। पहिचाननेमें भी पाँच ही बातें कही हैं, यथा—'विनय सुनत पहिचानत 'प्रीती', 'भनिति', 'भगति', 'नति', 'गति', 'पहिचानी'।

(इनमें क्रमालङ्कार हुआ)—। सुकवि और कुकविकी भणित, मलिन एवं उजागरकी भक्ति, पण्डित तथा मूढ़की नति, ग्रामनर और नागरकी गति और गनी–गरीबकी प्रीति पहिचानते हैं। यह क्रम उलटा है जैसा 'कृतयुगत्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। ७। १०२।' में भी है।

प्रशंसकोंके नाम	क्या बात देखकर आदर करते हैं	अपने किस गुणसे प्रीति इत्यादि पहिचानते हैं
१ गनी, गरीब	प्रीति	साधुतागुणसे प्रीति पहिचानते हैं, यथा—'कहहिं सनेह मगन मृदुबानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी॥ २। २५०।'
२ ग्रामनर, नागर	गति	कृपालुतासे गति।
३ पण्डित, मूढ	नति	ईशअशत्व गुणसे 'नति' पहिचानते हैं। क्योंकि ईश्वर एक ही बार प्रणाम करनेसे अपना लेते हैं—'सकृत प्रनामु किहें अपनाये। २। २९९।' 'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥ वि० १३५।'
४ मलिन, उजागर	भक्ति	सुशीलतासे भक्ति पहिचानते हैं।
५ सुकवि, कुकवि	भनिति	सुजानतागुणसे भणिति।

यह प० रामकुमारजीका मत हुआ। अब औरोंके मत दिये जाते हैं।

प्रशंसकोंके नाम	क्या बात देखकर आदर करते हैं	अपने किस गुणसे प्रीति इत्यादि पहिचानते हैं
१ सुकवि, पण्डित—(ना० प्र० मा० पत्रिका, रा० प्र०, करु०, मा० मा०)	भणिति। भणितिके कहनेवाले यह दोनों हैं। सुकविकी काव्य-रचना देखकर, पण्डितोंका वेद-शास्त्र आदिके भाव और अर्थका ज्ञान देकर जो उनकी वाणीमें प्रकट होता है।	सुजानता गुणसे। सुजान ही भणितकी पहचान कर सकता है। यहाँ चौदहों विद्याओंमें निपुण होनेसे 'सुजान' कहा है।

वैजनाथजी इसीमें 'नागर' को भी लेते है।

२ गनी, नागर (करु०), गनी (मा० मा०)	भक्ति। गनी धनसे राजाकी सेवा करते हैं, यह राजभक्ति है। नागर कुल और क्रियामें श्रेष्ठ है। वे राजासे धर्मकर्म कराकर (करु०), या नागर चतुर हैं। अपनी चतुराईसे देश-कोषका काम करके सेवा करते हैं—(मा० प्र०)	साधुता गुणसे।

(क) रा० प्र० में कुकवि और मूढकी भक्ति पहिचानकर आदर करना सूचित किया है, क्योंकि इनके भीतर किसी प्रकारका अभिमान नहीं रहता है, ये जब कुछ कहेंगे तो भक्तिहीसे। इसकी पहिचान 'साधु' का काम है। सुकवि और पण्डितके विपर्ययमें ये दो हैं। (ख) वैजनाथजी गनी और उजागरकी भक्ति साधुतागुणसे पहचानना कहते हैं।

३ उजागर (करु०, मा० प्र०)	मति। उजागर=सभाचातुरीमें निपुण—(करु०)। या अच्छी क्रियावाले—(मा० प्र०)। ये राजाको सुन्दर मति देते हैं।	सुशीलता गुणसे।

करु०, मा० प्र० में 'मति' पाठ है, उसके अनुसार भाव कहा गया है।

मा० प्र० कार गनी, और उजागरकी नति (=नम्रता) देखकर राजाका अपनी सुशीलतासे आदर करना लिखते हैं। मा० मा० कार 'नागर, उजागर' की गति देखना लिखते हैं। जब वे अपनी चतुराई और अभिमान छोड़कर दीन होकर रहेंगे तभी राजा प्रसन्न होगा। और बैजनाथजी गरीब और मलिनकी नम्रता देखना कहते हैं।

४ गरीब, गँवार मलिन, मूढ, कुकवि (करु०, मा० प्र०)	गति। ये लोग किसी लायक नहीं हैं, हम न पूछेंगे तो उन्हें कौन पूछेगा? इनकी गति हम ही तक है, ऐसा विचारकर आदर करते हैं।	परमकृपालुता गुणसे।

बैजनाथजी मूढ, कुकवि और ग्रामनर इन तीनको यहाँ लेते हैं।

यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसल राऊ॥ १०॥

शब्दार्थ—प्राकृत=साधारण, मायिक। महिपाल=पृथ्वीका पालन करनेवाला=राजा। जान=ज्ञानी, सुजान। कोसल=अयोध्याजी। राऊ=राजा।

अर्थ—यह स्वभाव तो प्राकृत राजाओंका है। कोसलनाथ श्रीरामचन्द्रजी तो सुजानशिरोमणि हैं॥ १०॥

नोट—१ औरोंको प्राकृत कहकर श्रीरामजीको अप्राकृत बतलाया। और राजा सुजान हैं, ये सुजानशिरोमणि हैं। यथा—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥ २। २५४।', 'सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ। २। २५७।', 'राम सुजान जान जन जी की। २। ३०४।'

प० रामकुमारजी—ग्रन्थकार यहाँ राजाओंकी रीति लिख रहे हैं। इसीलिये श्रीरामजीको भी 'कोसलराऊ' लिखा।

नोट—२ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'ऊपरकी चौपाइयोंमें तो केवल दृष्टान्त है। इन दृष्टान्तोंके दार्ष्टान्त क्या हैं? अर्थात् श्रीरामराज्यमें गनी गरीब आदिक कौन हैं?'

ग्राम	गनी	नागर	पण्डित	सुकवि	उजागर	गरीब, कुकवि, मूढ, मलिन, ग्राम-नर
समस्त ब्रह्माण्ड	दिक्पाल	पुत्रोंसहित ब्रह्माजी (करु०)। शारदा गणेश (मा० प्र०)	मुनीश, बृहस्पति, शेष इत्यादि	वाल्मीकि आदि	शारदा इत्यादि (करु०)। दक्षों पुत्रोंसहित ब्रह्माजी (मा० प्र०)	इनके गोस्वामीजी अपनेको रखते हैं कि हमें कुछ नहीं आता, आप ही की गति है।
मा० म०	कुबेर	सनकादि	बृहस्पति	शुक्राचार्य	नारद	गोस्वामीजी

विशेष दोहा २८ (६-७) में मा० म० का मत देखिये।

नोट—यह व्यंग्यात्मक अर्थ है।

रीझत राम सनेह निसोतें। को जग मंद मलिन मति* मोतें॥ ११॥

* मन—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। मति—१६६१, १७०४।

शब्दार्थ—निसोत=नि+स्रोत=जिसकी धार न टूटे, तैलधारावत्।=जिसमें और किसी चीजका मेल न हो, शुद्ध, निरा, यथा—'तौ कत त्रिबिध सूल निसि बासर सहते बिपति निसोती', 'कृपा-सुधाजलदानि मानिबो कहौं सो साँच निसोतो'। रीझत=प्रसन्न होते हैं, द्रवीभूत होते हैं—(श० सा०)

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी शुद्ध प्रेमसे रीझते हैं, (परतु) जगत्‌में मुझसे बढकर मन्द और मलिन बुद्धिवाला कौन है? अर्थात् कोई नहीं॥ ११॥

प० रामकुमारजी—भाव यह है कि 'मुझमें स्नेह नहीं है, इसीलिये मलिन हूँ। स्नेह जल है, यथा—'माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु। १। ३७।' स्नेहसे मलिनता नहीं रहती, यथा—'रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै। वि० ८२।' प्राकृत राजा गुणसे रीझते हैं और स्नेहसे, परतु श्रीरामजी केवल स्नेहसे रीझते हैं।'

नोट—१ 'निसोते' अर्थात् 'जैसे शुद्ध तैलकी धारा टूटती नहीं चाहे एक बूँद भी रहे, जब उसको गिराओ तो वह एक बूँदकी भी धारा न टूटेगी। भाव यह कि जिनका निरवच्छिन्न प्रेम रामचरणमें है उन्हींपर रीझेंगे तो मेरे ऊपर कैसे रीझेंगे, मैं तो मैं ही हूँ।'

२ सुधाकर द्विवेदीजी—निषाद, शबरी आदिकी कथासे स्पष्ट है कि अविच्छिन्न स्नेहकी धाराहीसे रीझते हैं, इसीलिये मुझे भी आशा है कि मुझपर राम रीझेंगे, नहीं तो मेरे-ऐसा ससारमें कौन मन्द मलिन मति है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

मा० प्र०—यदि कोई कहे कि श्रीरामजी तो शुद्ध प्रेमसे रीझते है तो उसपर कहते हैं कि यद्यपि ऐसा है और यद्यपि मैं अत्यन्त मन्द मलिन मति हूँ तथापि 'सठ सेवक …'।

दो०—सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु।
उपल किए जलजान जेहि सचिव सुमति कपि भालु॥ २८॥

शब्दार्थ—उपल=पत्थर। जलजान=जल+यान=जलपर चलनेवाला रथ या सवारी=नाव, जहाज। सचिव=मन्त्री। सुमति=सुन्दर बुद्धिवाला।

अर्थ—(मुझ) शठ सेवककी प्रीति और रुचिको कृपालु श्रीरामचन्द्रजी (अवश्य) रक्खेंगे कि जिन्होने पत्थरोंको जलयान (जलपर तैरने व स्थिर रहनेवाला) बना दिया और वानर-भालुओंको सुन्दर बुद्धिवाला मन्त्री बना लिया॥ २८॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ काव्यलिङ्ग अलकार है। 'रामकृपालु' कहनेका भाव यह है कि प्राकृत राजा अपने कृपालुता गुणके कारण सबका सम्मान करते है तो मुझे विश्वास है कि शठ सेवककी प्रीति रुचि रामचन्द्रजी रक्खेंगे क्योंकि वे कृपालु हैं। इसीको उदाहरण देकर और पुष्ट करते हैं। (ख) 'पत्थरको नाव बना देना', और कपिभालुको 'सुमति मन्त्री बनाना' कहना साभिप्राय है। श्रीरामकथा रचनेका प्रेम और रुचि है, बिना सुमतिके उसे कर नहीं सक्ते और अपनी 'मति अति नीच' है, जैसा कहा है—'करन चहउँ रघुपति गुनगाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥ १। ८।', 'सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति बल अति थोरि। १। १४।' श्रीरघुनाथजीने कपि-भालुको सुन्दर मति देकर मन्त्री बनाया तो मुझे भी सुमति देंगे। (ग) पुन भाव यह कि उन्होंने पत्थरको पानीपर तैराया जिसपर कपि-भालु चढकर समुद्र पार हुए, इसी तरह कथा अपार है, वे मुझे भी पार लगायेंगे। (घ) पत्थरको 'जलजान' करना, कपि-भालुको सुमति देना यह अयोग्यको योग्य करना है।

नोट—१ 'प्रीति रुचि' क्या है? पण्डित रामकुमारजीका मत ऊपर आ चुका। सन्त श्रीगुरुसहायलालजीके मतानुसार 'सुमिरि सो नाम रामगुनगाथा। करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा॥ २८। २।' यह प्रीति है। और 'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहि कृपा अघाती॥' यह रुचि है।

सन्तउन्मनीटीका—(क) नल-नीलको शाप था कि जो पत्थर वे जलमें डालेंगे वह डूबेगा नहीं इससे जलपर इनके स्पर्श किये हुए पत्थर तैरते थे। परंतु एक साथ ही ठहरना असम्भव था, सो भी आपने कर दिखाया, यथा— 'बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेई॥ श्रीरघुबीर प्रताप तें सिंधु तरे पाषान। लं० ३।' आप तो डूबते ही हैं, दूसरोंको भी ले डूबते हैं, सो दूसरोंको पार करनेवाले हुए। लं० ३ में भी देखिये। (ख) 'उपल किये जलजान' का भाव यह भी है कि पत्थर आप डूबे सो तैरने लगा और कपि-भालु जो केवल नटोंके नचाने योग्य थे वे सुन्दर सम्मति देनेवाले मन्त्री बन गये। जिनकी ऐसी अद्भुत करनी है कि गुरुतर पत्थर काष्ठवत् लघु हो गया और पशुयोनिवाले नरके काम करने लगे, तो वे मेरा मनोरथ क्यों न पूरा करेंगे, मैं तो नर-शरीरमें हूँ, यद्यपि शठ सेवक हूँ?

नोट—२ 'सचिव सुमति कपि भालु' इति। यह कहकर जनाते हैं कि उत्तम कुलमें जन्म, सौन्दर्य, वाक्चातुरी, बुद्धि और सुन्दर आकृति—ये कोई भी गुण प्रभु श्रीरामजीकी प्रसन्नताका कारण नहीं हो सकते। यह बात दिखानेके लिये ही आपने उपर्युक्त सब गुणोंसे रहित होनेपर भी वानरोंसे मित्रता की। यह हनुमान्‌जी अपने नित्य स्तोत्रके पाठमें कहा करते हैं यथा—'न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः। तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥ भा० ५। १९। ७।' आपकी यह कृपालुता कहाँतक वर्णन की जाय? गोस्वामीजी कहते हैं कि मैं वाक्चातुरी और बुद्धि आदिसे रहित हूँ, मुझे भी अवश्य अपनाकर सुन्दर बुद्धि आदि देंगे। अत्यन्त अयोग्य होनेपर भी उनकी इस कृपालुतासे विश्वास होता है कि वे मेरी प्रीति और रुचि रक्खेंगे जैसे वानर भालुओंकी प्रीति और रुचि रक्खी थी।—विशेष दोहा २९ (४) 'कहत नसाइ ' पर गौड़जीकी टिप्पणी देखिये। पूर्वार्धमें सामान्य बात कहकर उत्तरार्धमें विशेष सिद्धान्त कहकर उसका समर्थन करनेसे 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' हुआ।

नोट—३ श्रीकरुणासिन्धुजी महाराज लिखते हैं कि ऊपरकी चौपाई 'रीझत राम सनेह निसोतें ' से लेकर 'राम निकाईं रावरी है सबही को नीक' दोहा २९ तक श्रीगोस्वामीजीने षट्शरणागति कही है। इसलिये यह जानना परमावश्यक है कि षट्शरणागति क्या है। षट्शरणागति यथा—'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वर्णनं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥' (करु०)। इसका भावार्थ यह है कि जो उपासनाके अनुकूल हो उसका सङ्कल्प करना 'प्रथम शरणागति' है। जो भक्तिका बाधक हो जिससे उपासनामें विक्षेप हो उसका त्याग, यह 'दूसरी शरणागति' है। मेरी रक्षा प्रभु अवश्य करेंगे यह विश्वास दृढ़ रखना, 'तीसरी शरणागति' है यथा—'जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठु सदा सदोस। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥ २। १८३।', 'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥ २। १८३।' कोल, भील, कपि, भालु, गीध, निशाचर आदि जो चौरासी भोगने योग्य थे उनकी प्रणाममात्रसे रक्षा की, उनके अवगुणोंका विचार न किया, इत्यादि रीतिसे स्तुति करना, यह 'गोप्तृत्ववर्णन' 'चौथी शरणागति' है। प्रभुके लिये अपनी आत्मातक समर्पण कर देना यह 'आत्मनिवेदन' है। गृध्रराज जटायुने यही किया। मुझसे कुछ नहीं बनता, मैं तो किसी कामका नहीं, सब प्रकार अपराधी, पतित इत्यादि हूँ, यह 'कार्पण्य शरणागति' है। ये छः प्रकारकी शरणागतियाँ हैं (करु०)

☞ षट्शरणागतिके उपर्युक्त श्लोकोंका पाठ ऐसा ही 'आनन्दलहरीटीका' में दिया है और उसी पाठके अनुकूल अर्थ भी दिया गया है जो ऊपर लिखा गया। परंतु वाल्मीकीय युद्धकाण्ड सर्ग १७ के आरम्भमें प्रसिद्ध भूषण टीकामें श्लोक इस प्रकार है—'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।' इस श्लोकके पाठमें 'गोप्तृत्ववरण' है और श्रीकरुणासिंधुजीके पुस्तकमें 'गोप्तृत्ववर्णन' है। गोप्तृत्ववर्णनका अर्थ ऊपर दिया गया है। और 'गोप्तृत्ववरण' का अर्थ है—रक्षकरूपसे भगवान्‌को वरण करना। अर्थात् आप ही एकमात्र मेरे रक्षक हैं—इस भावसे उनको स्वीकार कर लेना।'

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥ ३३ ॥ मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम् ॥ वाल्मी० सु० सर्ग १८। ३।' ये श्रीवाल्मीकीय रामायणमें श्रीरामचन्द्रजीके श्रीमुखवचन हैं, इनपर विश्वास करना 'रक्षिष्यतीति विश्वास', तीसरी शरणागति है। 'रीझत राम सनेह निसोतें' में 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्प' और 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' पहिली दो शरणागति-गतियाँ दिखायीं। 'को जग मंद मलिन मति मोतें' में 'कार्पण्यशरणागति' है। 'सठ सेवक…' में कार्पण्य और 'गोप्तृत्ववरण' दोनों शरणागतियाँ मिश्रित हैं।

नोट—४ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'राजाओंके चार गुण ग्रन्थकारने दिखाये थे, अब उन गुणोंको 'कोसलराऊ' श्रीरामचन्द्रजीमें दिखा रहे हैं। ऊपर चौपाईमें 'जानसिरोमनि' गुण कहा, और यहाँ 'कृपालुता' गुण। (मा० प्र०)।

दो०—हौंहु कहावत सबु कहत राम सहत उपहास।
साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास ॥ २८ ॥

अर्थ—मैं भी कहलवाता हूँ और सब लोग कहते हैं, और श्रीरामचन्द्रजी इस उपहासको सहते हैं कि कहाँ तो श्रीसीतानाथ ऐसे स्वामी और कहाँ तुलसीदास-सा उनका सेवक ॥ २८ ॥

नोट—१ अब अपने विश्वासका प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं कि हमारी प्रीति-रुचि अवश्य रखेंगे।

२ (क) 'सीतानाथ', पद देकर श्रीरामचन्द्रजीका बड़प्पन दिखाते हैं। श्रीसीताजी कैसी हैं कि 'लोकप होहिं बिलोकत जाके। २। १०३।' सो वे श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करती हैं, यथा—'जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ। राम पदारबिंद रति करति सुभावहिं खोइ ॥ उ० २४।' जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य या बड़प्पन दिखाना अभिप्रेत होता है वहाँ ग्रन्थकारने प्राय 'सीतानाथ' 'सीतापति' ऐसे पद दिये हैं, यथा—'जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ। सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥ २। २४३।', 'तुलसी रामहि आपु तें, सेवक की रुचि मीठि। सीतापति से साहिबहि, कैसे दीजै पीठि ॥ दोहावली ४८।' (ख) करुणासिन्धुजी 'सीतानाथ'-पद देनेका भाव यह लिखते हैं कि शक्तियाँ तीन हैं—श्री-शक्ति, भू-शक्ति, लीला-शक्ति। ये श्रीसीताजीसे उत्पन्न हुई हैं, प्रमाण यथा—'जानक्यशसमुद्भूता श्रीभूलीलादिभेदन। प्रकाशं श्रीश्च भूधार लीलालयमवस्थितिम् ॥'

नोट—३ 'राम सहत उपहास' इति। (क) यहाँ क्या उपहास है जो श्रीरामजी सहते हैं? उत्तर—हँसी लोग यह उड़ाते हैं कि देखो तो कहाँ तो श्रीरामचन्द्रजी कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिनके सेवक हैं, यथा—'सिव बिरंचि हरि जाके सेवक। लं० ६२।' 'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका ॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा ॥ १। ५४।', पुनश्च, ऐश्वर्यमयी ब्रह्मस्वरूपिणी श्रीसीताजीके जो स्वामी हैं उनका सेवक 'तुलसीदास' बनता है, भला यह ऐसे बड़े स्वामीका सेवक होने योग्य है? कदापि नहीं। अथवा, हँसी यह कि ऐसे पुरुषोत्तम भगवान्‌को भी कोई और सेवक न जुड़ा जो ऐसे शठको सेवक बनाया। (मा० त० वि०) ☞ उत्तम सेवक (जैसे हनुमान्‌जी, अङ्गदजी इत्यादि) से स्वामीकी कीर्ति उन्नत होती है और कुसेवकसे स्वामीकी बुराई व हँसी होती है। यथा—'बिगरे सेवक, स्वानके साहिब सिर गारी' (विनय०)। (ख) 'सहत' पद देकर यहाँ प्रभुकी सुशीलता दर्शाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि मुझे यह अभिमान है कि मैं श्रीरामजीका दास हूँ, जो मुझसे कोई पूछता है तो मैं कहता हूँ कि मैं रामदास हूँ। इससे दूसरे भी कहते हैं, श्रीरामचन्द्रजी शीलके कारण कुछ कहते नहीं, हँसी सह लेते हैं। पुन.,

नोट—४ 'सहस नाम मुनि भनित सुनि तुलसी-बल्लभ नाम। सकुचत हिय हँसि निरखि सिय धरम धुरंधर राम ॥' दोहावली १८८ तथा तुलसीसतसईके इस दोहेके आधारपर श्रीबैजनाथजी उपहासका कारण यह कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी एक-नारीव्रत धारी हैं। सहस्रनाममें 'तुलसीवल्लभ' भी आपका एक नाम है, इस नामको

सुनकर श्रीसीताजी आपकी ओर देखकर मुसुकुराती हैं कि एकपत्नीव्रत है तो 'तुलसी' के वल्लभ कैसे कहलाये? एकपत्नीव्रत आपका कहाँ रहा? जिस तुलसीके आप वल्लभ हैं, उसके सम्बन्धसे गोस्वामीजी अपनेको श्रीसीतानाथका सेवक प्रसिद्ध करते हैं। स्वयं कहते हैं, दूसरोंसे कहलाते हैं। इस तरह अभीतक जो बात सहस्रनामहीमें गुप्त थी उसको मैं जगत्मात्रमें फैला रहा हूँ। जिसमें प्रभुका उपहास हो, जो बात सेवकको छुपानी चाहिये, मैं उसको प्रकट करता हूँ। श्रीसीताजी हँसी करती हैं कि यदि आपका एकपत्नीव्रत सच होता तो 'तुलसी' का दास आपसे क्योंकर नाता जोड़ता, 'सीता' या 'जानकी' दास ही आपका सेवक हो सकता था!

श्रीसुधाकर द्विवेदीजीका भी मत यही है। वे लिखते हैं कि 'मेरे ऐसे नालायकको अपना दास बना लेनेमें रामजी उपहास सहते हैं कि श्रीसीतानाथ ऐसे प्रभु और तुलसीदास ऐसा सेवक! प्रभु राम जगज्जननी सीताके नाथ और मैं गजुगपत्नी तुलसीका दास, इन दोनोंमें प्रभुदासका सम्बन्ध होना असम्भव है—यह ग्रन्थकारका आन्तरिक अभिप्राय है। इस ढिठाईपर आगे लिखेंगे और कहेंगे भी कि स्नेहके नातेसे रघुनाथजीने स्वप्नमें भी इस ढिठाईपर ध्यान न दिया।'—गौड़जीकी टिप्पणी भी २९ (४) में देखिये। उत्तरार्धमें 'प्रथम विषम अलंकार' है।

अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी॥ १॥

शब्दार्थ—खोरी (खोरि)=खोटाई, दोष, ऐब, यथा—'कहउँ पुकारि खोरि मोहिं नाहीं'। ढिठाई खोरी=ढिठाई और दोष।=ढिठाईकी खोरि।=ढीठतारूपी कोप—(प० रा० कु०)।

अर्थ—'इतने बड़े स्वामीका अपनेको सेवक कहना', 'तुलसीके दासका अपनेको सीतापतिका सेवक कहना'—यह मेरी बहुत बड़ी ढिठाई और दोष है। इस पापको सुनकर नरक भी नाक सिकोड़ता है॥ १॥

टिप्पणी—इसी दोषको सज्जनोंसे क्षमा कराया है, यथा—'छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई।' स्वामीको कष्ट हुआ, उन्होंने उपहास सहा, यह पाप है, यथा—'मोहि समान को साँइ दोहाई'। अत्यन्त बड़ी खोरी है। ढिठाई यह है कि जिनकी सेवकाई ब्रह्मादिक चाहते हैं तो भी उनको नहीं मिलती, यथा—'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥' उनका मैं सेवक बनता हूँ। (आगेकी चौपाईकी टिप्पणी भी देखिये)। [सन्त-उन्मनी टीकाकार लिखते हैं कि 'ढिठाई' पद देकर सूचित किया कि जान-बूझकर अवगुणमें तत्पर हैं]।

नोट—'सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी' के भाव। (१) यह मुहावरा (लोकोक्ति) है। जब कोई घृणाकी बात देखता है तो नाक सिकोड़ता है। इस प्रकार वह यह सूचित करता है कि यह बात हमको बुरी लगी। (२) यह सुनकर मूर्तिमान नरकको भी मुझसे घृणा होती है और नरक भी नाक सिकोड़ता है कि हमारे यहाँ ऐसे पापीकी समाई नहीं। पाप और नरकके अभिमानी देवता नाक सिकोड़ते हैं। भाव यह है कि पाप ऐसा है कि नरकमें भी इसे ठौर-ठिकाना नहीं। (३) पाप कारण और नरक कार्य है, इसलिये पापका फल नरक है। कार्य-कारण दोनों ही मुझसे घृणा करते हैं। (४) रुद्रनारायणजी लिखते हैं कि पाप सोचता है कि यह हमारा सम्बन्धी है और नरक अपने यहाँका समझता है। ऐसा होते हुए भी मैं अपनेको राम-सेवक कहता हूँ, इस ढीठताको देखकर वे नाक सिकोड़ते हैं। (५) गोस्वामीजीका विनयपद १५८ पद यहाँ देखने योग्य है। यथा—'कैसे देउँ नाथहिं खोरि। कामलोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि॥ बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि। देत सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि॥ किए सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि। संग बस किय सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि॥ करउँ जो कछु धरउँ सचि पचि सुकृत सिला बटोरि। पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि॥ लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि। बात कहउँ बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि॥ एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि। निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहि छोरि॥' पुनश्च, 'बड़ो साईंद्रोही न बराबरी मेरी को कोउ, नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं।' इस भावपर सूरदासजीका भी पद है, यथा—'बिनती करत मरत हौं लाज॥ यह काया नख सिख लौं मेरी पापकी भरी जहाज। आगे भयो न पाछे कबहूँ सो पतितन सिरताज॥ भागत नरक नाम सुनि मेरो पीठ देत यमराज। गीध अजामिल गणिका तारी मेरे कौने काज। सूर अधम को जबहिं तारिहौ तब बदिहौं ब्रजराज॥'

समुझि सहम मोहि अपडर अपने । सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपने ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सहम=डर। अपडर—(१) झूठा डर अर्थात् जहाँ डरकी कोई बात न हो वहाँ डरना इसीको 'अपडर' कहते हैं, यथा—'अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहिं न दोष देव दिसि भूले ॥'—(अ० २६७), 'सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता ॥ २। २४२।' पुनः, (२), 'अपडर' का अर्थ 'अपने आपसे डर होना', 'अपनी ही तरफसे डर मानना' भी लेते हैं। पुनः, अपडर (सं० अपदर)=अपभय, दुःखद भय। (मा० प०)। सुधि=स्मरण, खयाल, ध्यान। सपने=सोतेमें।=स्वप्नमें अर्थात् भूलकर भी।

अर्थ—अपनी ढीठता और दोषको समझकर मुझे अपने अपडरके कारण आप डर ही रहा है। (परंतु) श्रीरामचन्द्रजीने स्वप्नमें भी उसका खयाल नहीं किया ॥ २ ॥

नोट—१ 'समुझि सहम मोहि अपडर अपने' से लेकर 'ते भरतहिं भेटत सनमाने। राज सभा रघुराज बखाने ॥' तक 'आत्मसमर्पण' शरणागतिके लक्षण मिलते हैं। (करु०)

२—पण्डित रामकुमारजी इस चौपाईका भाव यों लिखते हैं कि—(क) 'पापी पापको नहीं डरता परंतु मेरा पाप ऐसा भारी है कि उसे समझकर मुझे डर लगता है। इस कथनसे पापकी बड़ाई दिखायी।' (ख) 'अपडर यह कि राम-जीकी ओरसे डर नहीं है, समझनेसे मुझे अपनी ओरसे डर मानकर भय हुआ है। मेरे ढिठाईरूप पापकी सुधि स्वप्नमें भी नहीं की कि यह मेरी सेवकाईके योग्य नहीं' (ग) श्रीरामचन्द्रजीने ढिठाईको भक्ति मानकर मेरी प्रशंसा की जैसा श्रीभरत-जीने कहा है—'सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥ २। २९८।' सब धर्म छोड़कर श्रीभरतजी श्रीरामजीकी शरण आये—इसीको अपनी ढिठाई कहा, श्रीरामचन्द्रजीने उसीको सनेह और सेवकाई मान लिया। वैसे ही अपनेको प्रभुका सेवक बनाने और कहनेको श्रीमद्गोस्वामीजी ढिठाई मानते हैं—सेवकका धर्म यही है। उसीको रामजीने भक्ति मानकर सराहा—स्वामीका धर्म यही है।—'लोक कहैं राम को गुलाम हौं कहावउँ। एतो बड़ो अपराध भो न मन बावों' (विनय०) 'ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावो। विनय० १७१।' (घ) 'सपने'—ईश्वर तो तीनों अवस्थाओंसे परे है, उसमें स्वप्न कहाँ? उत्तर—'स्वप्नमें भी, यह लोकोक्ति (मुहावरा) है अर्थात् भूलकर भी, स्वप्नमें भी कभी ऐसा नहीं हुआ, जागनेकी कौन कहे। अथवा, स्वप्न होना माधुर्यमें कहा गया है जैसे उनका जागना और सोना बराबर कहा गया है वैसे ही स्वप्न भी कहा जा सकता है।

३—स्वप्नमें भी इसपर ध्यान न दिया, यह कैसे जाना? करुणासिन्धुजी इसका उत्तर लिखते हैं कि यदि ध्यान देते तो हृदयमें उद्वेग उठता। सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि 'इस कथनका भाव यह हुआ कि रघुनाथजी मुझे छोड़े होते और मेरे दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि होती तो मेरा मन उनके गुणानुवादकी ओर न लगता और मेरे मनमें अधिक उद्वेग होने लगता सो मैं व्यर्थ अपने दोषोंको समझकर डरा हूँ।' पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—कहाँ सीतानाथ प्रभु और कहाँ मैं अधम तुलसीदास सेवक, इस मेरी बड़ी भारी बुरी ढिठाईको सुनकर अघसे भरा नरक भी नाक सिकोड़ेगा, यह समझकर सङ्कोचसे ग्रन्थकार कहते हैं कि मुझे स्वयं महाभय है। भय होते ही ग्रन्थकारके हृदयमें रामकृपाका प्रादुर्भाव हुआ, जिससे स्पष्ट हो गया कि दासकी अधमतापर रामजीने स्वप्नमें भी नहीं ध्यान दिया।

सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि* मति स्वामि सराही ॥ ३ ॥

* मोरि—१७२१, १७६२, छ०, मा० म०। मोरि—१६६१, १७०४। भोरि—रा० प्र०। 'भोरि' पाठके अर्थ ये हैं—(१) भोरी (भोली भाली) मतिकी भक्ति स्वामीने सराही है (रा० प्र०)। (२) संसारकी ओरसे जिनकी मति भोली है उनकी प्रीति स्वामीने सराही है। (प०)। (३) मेरी भुलनी भक्ति और भुलनी मति। (मा० मा०)। (४) मेरी भोरी भक्ति और स्वामीकी दीनपालिनी मति। (मा० मा०)। (५) भक्ति करते हुए जो मति भूल जाय अर्थात् विधानपूर्वक भक्तिको जो मति नहीं जानती वह भक्ति 'भोरी मति' कहलाती है। (मा० मा०)। (६) मेरी भक्ति और भोली बुद्धिकी सराहना की। (न० प०)। (७) मेरी भक्तिमें उसकी मति विभोर हो गयी है, यह सराहना की। (गौड़जी)।

शब्दार्थ—अवलोकि=देखकर। सुचित=सुन्दर चित्त। =स्वस्थचित्त—(मा० पत्रिका)। चख (चक्षु)=आँख, नेत्र। सुचितचख=दिव्य दृष्टि। चाही=देखी, यथा—'सीय चकित चित रामहिं चाहा। १। २४८।'=विचार किया। सुचित चख चाही=मनसे विचारकर। (प० रा० कु०)।

अर्थ—१ दूसरोंसे सुनकर और स्वयं सुन्दर चित्तरूपी नेत्रसे (भी) देखकर, स्वामीने मेरी भक्ति और बुद्धिको सराहा। (प० रामकुमार, रा० प्र०, पॉ०) ॥ ३ ॥*

टिप्पणी—'भक्तिके सराहनेमें सुनना, देखना और विचारना लिखा। भाव यह है कि चूककी खबर नहीं रखते, हृदयकी भक्तिका बारम्बार स्मरण करते हैं, क्योंकि उनको भक्ति प्रिय है। इसी बातको आगे पुष्ट करते हैं, यथा—'कहत नसाइ होइ हिय नीकी०', से 'प्रभु तरु तर०' तक। इसीसे मेरी भक्तिको सुना, देखा, विचारा। विनयमें इनकी भक्ति लिखी है। उसीको देख विचार हृदयमें डाल लिया।'

नोट—१ सुनने-देखने और सराहनेके प्रमाण विनयपत्रिकाके अन्तिम पदमें हैं। यथा—'मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहू नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है ॥ सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है। कृपा गरीब निवाज की देखत गरीब को साहिब बाँह गही है॥ बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हू लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है। विनय० २७९।' श्रीलक्ष्मणजीसे सुना, पुनः श्रीसीताजीसे सुना, क्योंकि पूर्व प्रार्थना कर आये हैं कि 'कबहुँक अंब अवसर पाइ। मेरियो सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ०' 'कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी' वि० ४१-४२।' 'देखत' में 'अवलोकि' का ग्रहण हो गया और 'बिहँसि राम कहेउ०' से सराहना पाया जाता है।

अर्थ—२ जब 'मैंने (गुरु वा सन्तोंसे) सुनकर, हृदयके नेत्रोंसे सुचित्त होकर† अवलोकन किया तब देख पड़ा कि मेरी मतिके अनुसार जो भक्ति मुझमें है सो रघुनाथजीकी सराही हुई है।' (करु०)

अर्थ—३ 'सन्त-महात्माओंसे सुनकर, शास्त्रोंका अवलोकन करके फिर सुन्दर चित्तरूपी नेत्रोंसे देखा (विचारा) तो देख पड़ा कि मतिअनुकूल जो मुझमें भक्ति है सो स्वामीकी सराही हुई है।' (मा० प्र०)

---

* पंजाबीजी इस अर्थमें यह दोष निकालते हैं कि—श्रीरघुनाथजीका तो निरावरण ज्ञान है, उनका एक बार साधारण देखना और फिर चित्तसे देखना कैसे बने ?' दूसरा दोष यह बताते हैं कि यह वाक्य निज-प्रशंसा है, इससे 'पुण्य नाश होते हैं', इन दोषोंके सम्बन्धमें सूर्यप्रसाद मिश्रजी कहते हैं कि 'ग्रन्थकार इस बातको किसी दूसरेसे तो कहते नहीं हैं पर अपने मनके सन्तोषके लिये अपनेहीको आप समझाते हैं। दोष तब होता जब दूसरेसे कहते। दूसरा दोष भी ठीक नहीं, कारण कि प्रेमदृष्टिसे सब ठीक है, क्योंकि प्रभु प्रेमहीके अधीन हैं। यहाँतक कि सुदामाके तन्दुल और शबरीके जूठे फल खाने। विदुरका शाक भी खाया है, इत्यादि अनेक प्रमाण पुराणोंमें हैं, तब गोसाईंजीने जो इतना कहा तो इसमें क्या दोष है ?' पंजाबीजी अर्धालीका यह अर्थ करते हैं कि 'मैंने यह बात गुरु, शास्त्रोंसे सुनी और अवलोकी है। धन्य है मीराबाई आदिक। प्रभु हृदयके सुन्दर नेत्र चाहनेवाले हैं। अर्थात् भक्तोंके ध्यान-परायणताको ग्रहण करते हैं और मेरी मतिमें भी ऐसा ही आता है कि स्वामी हृदयकी प्रीतिवाले भक्तोंहीको सराहते हैं।'

† सुनि अवलोकि, यथा—'राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई ॥ कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी ॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए ॥ देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥' (अ० २९९)।' पुनश्च—'देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच। अ० २६७। मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू।', 'मम प्रन सरनागत भयहारी' 'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू। 'रखिहउँ ताहि प्रानकी नाईं। सु० ४४।' इत्यादि। पुनश्च, यथा—'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो' (यह सत श्रीनाभाजीकी वाणी है। सतवाणी प्रभुकी प्रेरणासे होती है।)

अर्थ—४ संसारमें मैंने सुना (क्योंकि संसारभर मेरा यश गाता है), देखा (कि सब मेरा आदर श्रीरामजीके समान करते हैं) और सुन्दर चित्तके नेत्रोंसे देखा अर्थात् विचारा (कि बिना श्रीरामजीके आदर किये कोई न आदर करता, श्रीरामजी ही सूत्रधर हैं।) [बाबा हरिदासजी]।

अर्थ—५ 'जो मेरी ढिठाई-खोराईको सुनेंगे, जो जो देखने है और ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्रोंसे देखेंगे वे मेरी भोरी भक्ति और स्वामीकी दीनपालिनी मतिकी सराहना करेंगे'। 'सुचित=(नेत्रको) अव्यग्र करके' [मा० मा०]। [मा० मा० मयककारकी परम्पराके हैं। उनका पाठ 'भोरि' है।]

अर्थ—६ 'गुरु अरु वेदसे श्रवण करके तथा ध्यानद्वारा हृदयके नेत्रोंसे देखकर मुझे यही निर्णय हुआ कि पराभक्ति-वश, भूल भी हो जाय तो, श्रीरामचन्द्रजी रूठते नहीं, प्रसन्न होकर हृदयमे लगाते हैं और यदि जानकर भक्ति बिसारे तो दुःख होता है' (मा० मा०)। ☞सब अर्थोंपर विचार करनेमे प्राय दो ही अर्थ प्रधान जान पड़ते हैं। एक तो श्रीरामचन्द्रजीका सुनना, देखना आदि, दूसरा कविका स्वय सुनना आदि। अब प्रश्न यह है कि क्या सुना, देखा, प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके सुनने-देखनेके भाव प्रथम ही टिप्पणी और नोट १ मे लिखे गये हैं। कविके सुनने-देखने आदिका भाव यह है कि—अपनी धृष्टता समझकर सन्तोंसे अथवा गुरुजीसे घबड़ाकर पूछा तो उन्होंने ढारस दिया कि श्रीरघुनाथजी झूठेहू भक्तसे, कैसा ही अपराध क्यों न बन पड़े कभी क्रोध नहीं करते। अथवा, जहाँ तहाँ सन्तोंमे अपनी बड़ाई सुनी, सन्त और भगवन्तमें अन्तर नहीं है, अत उनकी बड़ाई करनेसे जाना गया कि भगवान् प्रसन्न हैं (पा०)। वेदशास्त्रोंमें भी यही सिद्धान्त देखा। (प्रमाण दोहा २९ (५) में देखिये)। और अपने सुन्दर चित्तरूपी अथवा ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्रोंसे यही अनुभव भी किया।

मा० मा० कारका मत है कि 'ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्रोंसे देखनेका तात्पर्य है—ध्यानावस्थित होकर देखना' इससे क्योंकर जाना कि 'प्रभु कोप नहीं करते, कृपा ही करते हैं?' उत्तर यह है कि जब किसीपर किंचित् भी प्रभुका कोप होता है, तब उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और विधानपूर्वक समाधि नहीं बनती।" मेरी समाधि विधानपूर्वक समाधिद्वारा ध्यानरसको प्राप्त हुई, इससे मैं जानता हूँ कि कृपा है, कोप नहीं। गौड़जीकी टिप्पणी दोहा २९ (४) में देखिये।

नोट—२ कौन भक्ति सराही है? 'होहुँ कहावत'—यह भक्ति यह है। क्योंकि श्रीमुखवचन है कि 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥' और यह बात शास्त्रमें देखी और सुनी भी है।

३—यहाँसे यह बताते है कि हमने क्योंकर जाना कि प्रभुने हमारे अघोंपर किंचित् ध्यान नहीं दिया है—(मा० प्र०)।

कहत नसाइ होइ हिअँ नीकी। रीझत राम जानि जन जी की॥ ४॥

शब्दार्थ—नसाइ=नष्ट हो, बिगड़ जाय। नष्ट हो जाती है। बिगड़ जाती है।

अर्थ—१ कहनेमें चाहे बुरी जान पड़े (कहते न बने) मगर हृदयकी अच्छी हो। श्रीरामचन्द्रजी दासके हृदयकी जानकर रीझते हैं॥ ४॥

अर्थ—२ श्रीरामजी अपने जनके जीकी बात जानकर रीझते हैं यह बात कहनेकी नहीं है, कहनेमे उसका रस जाता रहता है (मन-ही-मन समझ रखनेकी है, उसके आनन्दमें डूबे रहनेकी है)। हृदयहीमे उसका रहना अच्छा है। [पं०, गौड़जी, मा० प०]।

टिप्पणी—अर्थात् मुझमे कहनेमे नशानी है जो मैं अपनेको सेवक कहता हूँ, यथा—'राम सुस्वामि कुसेवक मो सो।' 'सठ सेवक की प्रीति रुचि०।', रही यह कि मेरे हृदयमें प्रीति है, यही हियकी नीकी है।

---

१ हिय० को० रा०।

नोट—१ (क) बाबा जानकीदासजी 'हिय नीकी' का भाव यह कहते हैं कि 'हम श्रीरामजीके हैं' यह हृदयमें दृढ़ हो। यथा—'हौं अनाथ प्रभु तुम अनाथहित चित यह सुरति कबहु नहिं जाई। विनय० २४२।'

(ख) अर्थ २ के भाव आगे गौड़जीके लेखमें देखिये। पंजाबीजी कहते हैं कि—सन्त यह कभी नहीं कहते कि स्वामी हमारी सराहना करता है अतएव वे नहीं कहते। उस सुखको हृदयहीमें रखना उत्तम है। इससे गम्भीरता सिद्ध होती है। हृदयकी अनन्यता और गम्भीरताको जानकर प्रभु प्रसन्न होते हैं। (पं०)।

२—इस चौपाईके भाव नारदपाञ्चरात्रके प्रथम रात्रके अ० १२ के श्लोक ३९ से स्पष्ट हो जाते हैं—'मूर्खो वदति विष्णाय बुधो वदति विष्णवे। नम इत्येवमर्थं च द्वयोरेव समं फलम्॥ ३९॥' अर्थात् मूर्ख 'विष्णाय नमः' कहता है और पण्डित 'विष्णवे नमः' कहते हैं। दोनोंका तात्पर्य (नमन) और फल एक ही हैं। आशय यह है कि मूर्ख समझता है कि जैसे 'राम' से 'रामाय' होता है वैसे ही 'विष्णु' से 'विष्णाय' होगा, यह समझकर वह भगवान्‌को प्रणाम करते हुए 'विष्णाय नमः' कहता है जो व्याकरण दृष्टिसे अशुद्ध है। वस्तुतः 'विष्णवे नमः' कहना चाहिये। और पण्डित शुद्ध शब्द—'विष्णवे नमः' कहकर प्रणाम करता है। भगवान् मूर्खके हृदयके शुद्ध भावको लेकर उसे वही फल देते हैं जो पण्डितको।—यही 'कहत नसाइ होइ हिय नीकी' का भाव है।

नोट—३ 'जानि जन जी की' इति। जीकी जानकर रीझते हैं। भाव यह है कि हृदय अच्छा न हो और वचन-हीसे रिझाना चाहो तो नहीं रीझते।—(मा० रा० कु०)। यह अर्थ और भाव विनयके १७८ वें पदके 'कहत नसानी है हैं हिये नाथ नीकी है। जानत कृपानिधान तुलसी के जी की है॥' इन चरणोंसे भी सिद्ध होता है। सुधाकर द्विवेदीजी दूसरे प्रकारसे अर्थ करते हैं। वे लिखते हैं कि—'यह मन्त्ररूप हृदयगत प्रभुकी प्रसन्नता हृदयमें रखनेहीमें भला है, कह देनेसे, बाहर चली जानेसे, उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। ग्रन्थकारका यह भाव है कि मुझे तो रामजीको प्रसन्न करना है और प्राकृत जनोंसे क्या काम और रामजी तो भक्तजनके जीवकी प्रीति जानकर रीझते हैं।' श्रीमान् गौड़जी भी लगभग ऐसा ही अर्थ करते हैं। सूर्यप्रसादमिश्रजी ऊपर दिये हुए अर्थका खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि 'कहत नसाइ' का यह अर्थ अत्यन्त अशुद्ध है, यह अर्थ कथमपि नहीं निकल सकता है। वे लिखते हैं कि ऊपरके कथनसे यह बात सिद्ध हो गयी कि जीवमात्रका बाह्य व्यवहार संसारकी दृष्टिमें नितान्त बुरा (नसाइ) हो या भला हो पर जगदीश्वर तो हृदयके प्रेमको जानकर प्रसन्न होता है वह बाह्य व्यवहार-को कदापि नहीं देखता है।

गौड़जी—गोस्वामीजी पहले तो कहते हैं कि अपनी प्रशंसा सुनकर तो प्राकृत राजा भी रीझ जाता है, फिर सरकार तो जानकारोंमें शिरोमणि हैं, हृदयके अन्तरतमकी बात जानते हैं। वह तो विशुद्ध प्रेमसे रीझते हैं सो यहाँ मेरी क्या स्थिति है सो सुनिये, कि जगतीतलमें मेरे-जैसा 'मन्द' और 'मलिनमति' खोजे नहीं मिलेगा। इतनी अयोग्यतापर भी मुझे आशा होती है कि वह मेरे जैसे शठ सेवककी प्रीति और रुचि रखेंगे, क्योंकि आपने बन्दर-भालुओंकी प्रीति और रुचि रखकर पत्थरको जहाज-सरीखा बना डाला था। [नल नीलके स्पर्श किये पत्थर तैर भले ही जायँ पर वह बोझ भी सँभाल लें और बँधे और स्थिर भी रहें और अपने स्वभावको त्याग दें यह होना आवश्यक नहीं था। स्वभावसे ही उनका पुल बनना सम्भव न था। सरकारने उनकी प्रीतिको सम्मान दिया और असम्भवको सम्भव करनेकी उनकी रुचि उन्होंने रख ली। मेरी भी वह सब तरहसे सुधार ही देंगे।] ऐसी आशा भी कठिन ही है। क्योंकि वे पशु हैं, पशुता स्वाभाविक है, फिर भी वे अपराधी नहीं हैं। परंतु मैं तो मनुष्य होते हुए भी पशुसे गया-बीता हूँ। मैं भारी ढीठ और अपराधी हूँ। मालिक तो "सीतानाथ" हैं, एकपत्नीव्रती और उसकी भी कठिन अग्निपरीक्षा लेनेवाले और उनका सेवक मैं क्या हूँ 'तुलसीदास', जारपत्नीका दास अपने प्रभुके बदनाम करनेवाले नामको धारण करने-वाला। मैं स्वयं अपनेको 'तुलसी'—दास कहता हूँ और सबसे यही कहलवाता हूँ। सरकारके हजारों नामोंमें 'तुलसी वल्लभ' ही नामको चुनकर बारम्बार उनको इस बदनामीकी याद ही नहीं दिलाता हूँ, बल्कि उपहास कराता रहता हूँ। [तुलना कीजिये दोहावलीके १८८ वाँ दोहासे—'सहसनाम मुनिभनित सुनि तुलसी बल्लभ नाम। सकुचत हिय हँसि निरखि सिय धरमधुरंधर राम॥' जिसका भाव यह है कि सरकार सीताजीकी ओर देखकर

सकुचते हैं कि देखो हमारी करनी कि हमने जलन्धरकी स्त्रीका सतीत्व बिगाड़ा और सीताजीके हरणके कारण हम ही हुए, फिर हमारी यह जबरदस्ती कि फिर उनकी ही अग्निपरीक्षा ली] "तुलसी" का नाम लेते ही हर तरहपर प्रभुके मनमें तो सकोच और लज्जा होती है और दूसरोंको याद दिलाकर मर्यादापुरुषोत्तमकी घोर बदनामी और हँसी होती है, परतु मैं ऐसा शठ और ढीठ सेवक हूँ कि यह अपराध सदा करता रहता हूँ। मेरी यह ढिठाई और शठता बहुत बड़ी है और इतनी घृणित है कि सुनकर नरकने भी नाक सिकोड़ी कि ऐसा पातकी है कि हमको भी इसकी गदगी घिनौनी लगती है। इस दशाको समझकर मुझे अपने भीतर ही-भीतर हृदयके अन्तःस्थलमें भारी भय है, अपने ही कसूरसे जी काँपता रहता है। परतु सरकारको देखिये कि सपनेमें भी इस महापातककी ओर कभी ध्यान न दिया। (जब कुटिल मनवाले कर्मचारियों और यम, चित्रगुप्तादि नरकके परमाधिकारियोंने देखा कि सरकार उधर ध्यान नहीं देते तो उन्होंने हमारी निन्दा की) तो सरकारने निन्दा (अवलोक=अपलोक) सुनकर बड़े स्नेहभरे चित्तसे और वात्सल्यभरी निगाहोंसे मेरी ओर देखा (और मै निहाल हो गया) और (क्रोध या दण्डके बदले) सरकारने उलटे सराहना की कि "(मेरी) भक्तिमे (ऐसा डूबा है कि अपनेको और मेरी बदनामीको) उसकी मति बिल्कुल भूल गयी है। (यह कोई दोष नहीं है, बल्कि भक्तिमें ऐसा विभोर हो जाना मेरे सच्चे दासका एक भारी गुण है, ऐसा ही आदर्श दास होना भी चाहिये।)" । प्रभुकी ऐसी कृपा, 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती', ऐसी ममता एक रहस्यकी बात है, अपने जीमें समझकर प्रभुकी इस प्रभुता और ममतापर लोटपोट हो जाने और बलि बलि जानेकी बात है, मुँहसे कहनेकी बात नहीं है। यह बात कि सरकार अपने भक्तके जीकी बात जानकर रीझ जाते हैं, ऊपरकी बातें कैसी ही बुरी हों उनकी परवा नहीं करते, कहनेकी नहीं है, मन-ही-मन समझकर उसके आनन्दमें डूबे रहनेकी है, कहनेसे तो उसका स्वाद घट जाता है। दुष्टात्मा विषयोंके भक्त कहनेसे उल्टा समझने लगेंगे कि—"सरकार शायद अपनी निन्दासे ही रीझते हैं, उनको अपना उपहास ही प्रिय है। देखो न, तुलसी-जैसे निन्दाके अपराधीको दण्ड देना तो दूर रहा, उलटे सराहना करते है।" इसलिये इसके कहनेमें हानि है, बात बिगड़ जाती है। [वह यह नहीं समझेंगे कि प्रभुकी अपने दासोंपर विशेष ममता है।] प्रभुके ध्यानमें दासकी की हुई चूककी बात तो आती ही नहीं। हाँ, उसके हृदयमे एक बार भी अच्छा भाव आता है तो सरकार उसे सौ-सौ बार याद करते हैं। देखो तो, वालिको जिस पापपर मार डाला वही पाप सुग्रीव और विभीषणने किया पर सरकारने उसका ख्याल तो सपनेमें भी नहीं किया और भरतजी आदिके सामने उनकी प्रशसा करते नहीं अघाये, उनका आदर सत्कार इतना किया कि अपना सखा कहा और कहा कि ये न होते तो हम रावणसे युद्धमे न जीतते, इत्यादि।

रहति न प्रभु चित चूक* किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥ ५॥

शब्दार्थ—किये की=की हुई, हो गयी हुई। चूक=भूल-चूक, खता, अपराध। सुरति=याद, स्मरण। सय=शत=सौ। सयबार=सैकड़ों बार, अनेक बार। 'चूक किये की'=चूककी बात, की हुई चूक की बात-चूक करनेकी बात (मा० प०)=भूलसे की हुई भक्तकी कुकृति—(द्विवेदीजी)।

अर्थ—प्रभुके चित्तमें (अपने जनकी) भूल-चूक नहीं रहती। वे उनके हृदयकी ('नीकी' को) बारम्बार याद करते रहते है॥ ५॥

टिप्पणी—चूक करना यह कर्म है। भाव यह है कि वचन और कर्मसे बिगड़े, पर मनसे अच्छा हो, तो श्रीरामजी रीझते हैं, यथा—'बचन बेष से जो बनै, सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन ते जो बनै बनी बनाई राम॥' दोहावली १५४।' अब इसीका उदाहरण देते हैं।

नोट—१ वाल्मीकीयमें भी कहा है कि—'कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मव-

* शेषदत्तजी एव कोदोरामजीकी पुस्तकमें 'बार दिए की' पाठ है। नगेपरमहसजी उसे शुद्ध मानते हैं परतु मा० मा० कार उसको लेखप्रमाद बताते हैं। कहीं अन्य किसी पोथीमें यह पाठ नहीं मिलता।

यथा ॥ २ । १ । ११ ।' अर्थात् (वाल्मीकिजी कहते हैं—) कदाचित् किसी प्रसगसे कोई किंचित् भी श्रीरामजीका उपकार करे तो वे सन्तुष्ट हो जाते हैं। और यदि सैकड़ों अपराध भी कर डाले तो उसको अपना समझकर उनका खयाल नहीं करते । पुन॰ श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है कि यदि कोई दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। यथा—'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य-भाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स ॥ ९ । ३० ।' तात्पर्य यह है कि जिसने यह भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि भजनके समान और कुछ नहीं है और जिसके मनमें केवल अनन्य भजनका निश्चय है, परंतु काल-स्वभाव-कर्म आदिके वश वचन और कर्मसे व्यभिचार होते रहते हैं, इसमें उसका क्या वश ? ऐसा समझकर प्रभु उसके हृदयहीकी सचाईको देखते रहते हैं और चूककी ओर देखते भी नहीं। यथा—'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन । विनय० २०६ ।' 'अपने देखे दोष सपनेहुँ राम न उर धरेउ । दोहावली ४७ ।' 'अपराध अगाध भएँ जन ते अपने उर आनत नाहिंन जू। गनिका गज गीध अजामिल के गनि पातक पुंज सिराहिं न जू ॥ क० उ० ७ ।'

जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली । फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥ ६ ॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी । सपनेहु सो न राम हिय हेरी ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस पाप और अपराधसे वालिको (श्रीरामचन्द्रजीने) बहेलिनेकी तरह मारा था फिर वही कुचाल सुग्रीवने की ॥ ६ ॥ और वही करनी विभीषणकी थी। (परंतु) श्रीरामचन्द्रजी स्वप्नमें भी उस दोषको हृदयमें न लाये ॥ ७ ॥

नोट—१ 'जेहि अघ', 'सोइ कीन्ह कुचाली', 'सोइ करतूति'—'सोइ' पद देकर 'अघ', 'कुचाली' और 'करतूति' तीनोंको एक ही बताया। २—वालिका क्या 'अघ' था ? भाईकी पत्नीपर बुरी दृष्टिसे देखना तथा अपनी पत्नी बनाना । वालिने सुग्रीवकी स्त्रीको छीन लिया और उसको अपनी स्त्री बनाया । यही अपराध वालिका था, यथा—'हरि लीन्हेसि सर्बस अरु नारी । ४ । ५ । ११ ।', 'अनुजबधू भगिनी सुतनारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥ इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधें कछु पाप न होई ॥ ४ । ९ ।'—यह उत्तर वालिके इस प्रश्नका रघुनाथजीने दिया था कि 'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ।'—(कि० ९) । पुन यथा—'बधु बधूरत कहि कियो, बचन निरुत्तर बालि । दोहावली १५७ ।'

सुग्रीवने भी वालिके मारे जानेपर उसकी स्त्री ताराको अपनी स्त्री बनाया । धर्मशास्त्रकी रीतिसे दोनो पाप एक-से हैं; क्योंकि दोनो अगम्य हैं। छोटी भावज (छोटे भाईकी स्त्री) कन्या सम है, बड़ी भावज माताके समान है। देखिये श्रीसुमित्रा-अम्बाने श्रीलक्ष्मणजीसे क्या कहा है—'तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता रामु सब भाँति सनेही ॥ २ । ७४ ।' परंतु सुग्रीवने प्रथम यह प्रतिज्ञा की थी कि—'सुख संपति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥ ४ । ७ ।' यदि ऐसी प्रतिज्ञा है तो वह परम भक्त है । परम भक्त होकर भी उसने जान-बूझकर कुचाल की । इसी तरह विभीषणजीने भी मन्दोदरीको अपनी स्त्री बनाया था । यथा—'सज्जन सींव बिभीषन भो अजहूँ बिलसै बर बधु बधू जो ।' (क० उ० ५), तो भी प्रभुने उनके अवगुणोंपर ध्यान न दिया, क्योंकि श्रीमुख-वचन है कि 'मित्रभावेन संप्राप्त न त्यजेय कथचन । दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम् ॥ वाल्मी० यु० १८ । ३ ।'

देखिये विभीषणजी जब शरणमें आये तब कुछ हृदयमें वासना लेकर आये थे पर प्रभुके सामने आते ही उन्होंने उस वासनाका भी त्याग कर दिया और केवल भक्तिकी प्रार्थना की, जैसा उनके—'उर कछु प्रथम बासना रही । प्रभुपद प्रीति सरित सो बही ॥ अब कृपाल निज भगति पावनी । देहु सदा सिव मन भावनी ॥ ५ । ४९ ।' इन वचनोंसे स्पष्ट है। प्रभु श्रीसुग्रीवजी एव श्रीविभीषणजी दोनोंकी इस भक्तिपर प्रसन्न हुए। इसी गुणको लेकर उनके चूकोंका कभी भूलसे भी स्मरण न किया, क्योंकि भक्तिगुण विशेष है। चूक सामान्य है। देखिये सुग्रीवने पीछे वालिका वध करानेसे इनकार कर दिया और विभीषणने राज्य न चाहा तो भी श्रीरामजीने यह कहकर कि—

'जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥ ४। ७।', 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं॥ ५। ४९।', बालि और रावणका वधकर दोनोंको राज्य दिया। विभीषणजीके शरण आते ही पहले ही उनका तिलक किया और 'लंकेस' सम्बोधित किया। राज्य-पद पानेपर दोनोंसे 'चूक' हुई। श्रीरामजीने केवल उनके हृदयकी 'नीकी' पर ही ध्यान दिया चूकपर नहीं। (नंगे परमहंसजी)।

☞ स्मरण रहे कि बालि शरणागत न था किन्तु भक्तका शत्रु था, इसीसे उसको नीतिके अनुसार कर्मदण्ड दिया गया। जब वह शरणमें आया तब प्रभुने उसकी वह चूक माफ (क्षमा) कर दी और कहा कि 'अचल करउँ तनु राखहु प्राना' (४। १०) और उसके सिरपर अपना करकमल फेरा था। यथा—'बालि सीस परसेउ निज पानी॥ ४। १०।'

नोट—३ 'व्याध जिमि' इति। बहेलिये छिपकर पक्षीपर घात करते हैं, वही यहाँ सूचित किया। भाव यह है कि अपने जनके लिये यह अपयशतक लेना अङ्गीकार किया कि व्याधकी तरह बालिको मारा। ('बालि-वधके औचित्य' पर किष्किन्धाकाण्ड देखिये)। अपयश होना विनयके 'सहि न सके जनके दारुन दुख हत्यो बालि सहि गारी। १६६।' से स्पष्ट है।

४—'सपनेहु सो न राम हिय हेरी' इति। यथा—'कहा बिभीषन लै मिलेउ कहा बिगारी बालि। तुलसी प्रभु शरनागतहिं सब दिन आयो पालि॥', 'तुलसी प्रभु सुग्रीव की चितइ न कछू कुचालि'—[दोहावली १५९। १५७]

५—गोस्वामीजीके कथनका आशय यह है कि सुग्रीव आदिकी कुचालि नहीं देखी, वैसे ही मेरी भी 'ढिठाई' नहीं देखी।

ते भरतहि भेंटत सनमानें। राजसभा रघुबीर बखानें॥ ८॥

अर्थ—प्रभुने श्रीभरतजीसे मिलते समय भी उनका सम्मान किया और राजसभामें भी उनकी बड़ाई की॥ ८॥

नोट—१ भरत मिलाप-समय सम्मान यह किया कि उनको भरतजीसे भी अधिक कहा, यथा—'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे॥ मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु तें मोहि अधिक पियारे॥ उ० ८।' पुन, 'राम सराहे भरत उठि, मिले रामसम जानि। दोहावली २०८।' (प० रा० कु०)।

२—प० रोशनलालजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी भरतजीसे १४ वर्षके वियोगपर मिले तो सम्भव था कि भरत-मिलाप समय इनको भूल जाते, क्योंकि प्राय बिछुड़े हुओंसे मिलनेपर लोग उस समय उन्हींपर ध्यान रखते हैं। परतु आपने उस समय भी इन दोनोंके सम्मानपर भी दृष्टि रक्खी।

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—'सुग्रीव विभीषणादि प्रभुकी रणक्रीड़ा देखकर उनके ऐश्वर्यमें पगे हुए हैं। ऐश्वर्योपासक एक प्रभुको छोड़कर किसको प्रणाम करें? प्रणाम न करनेसे वसिष्ठजीने उनको नीचबुद्धि समझ प्रभुसे पूछा कि ये कौन हैं? प्रभु आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तोंकी न्यूनता कैसे सहन कर सकते? इससे वे उसी समय उनकी बड़ाई करने लगे।'' भला कहाँ भक्त-शिरोमणि श्रीभरतजी और कहाँ वानर और राक्षस! उनकी न्यूनताके कारण ऐसा कहकर उन्होंने उनकी मर्यादा तीनों लोकोंमें विख्यात कर दी।'—[वसिष्ठजीके सम्बन्धमें जो ऊपर कहा है कि उन्होंने सबको नीच बुद्धि समझा, इत्यादि, किसी प्रामाणिक आधारपर हैं इसका कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। ध्वनिसे ऐसा भाव सम्भवत लिखा गया हो।]

नोट—३ 'राजसभा रघुबीर बखाने', यथा—'तब रघुपति सब सखा बुलाये। आइ सबन्हि सादर सिरु नाये॥ परम प्रीति समीप बैठारे। भगत सुखद मृदु बचन उचारे॥ तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करउँ बड़ाई॥ तातें मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥ अनुज राज सपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥ उ० १६।' ☞ राजसभामें प्रशसा करनेका यह भाव है कि जो बात सभाके सामने कही जाती है वह अत्यन्त प्रामाणिक होती है।

टिप्पणी—सुग्रीव और विभीषणके अपराध कहकर अब वानरोंके अपराध कहते हैं, क्योंकि इन्होंने खास रामजीका अपराध किया।

दो०—प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान॥ २९ (क)॥

शब्दार्थ—प्रभु=स्वामी। तरु=वृक्ष, पेड़, दरख्त। तर=तले, नीचे। डार=डाल, शाखा। आपु=अपने। शील—नोट ४ में देखिये।

अर्थ—स्वामी श्रीरामचन्द्रजी तो पेड़के नीचे और बन्दर डालपर। (अर्थात् कहाँ शाखामृग वानर और कहाँ सदाचारपालक पुरुषोत्तम भगवान् आर्यकुल-गौरव श्रीरामचन्द्रजी। आकाश-पातालका अन्तर। सो उन विजातीय विषम योनि पशुनको अपना लिया) उनको भी अपने समान (सुमन्य) बना लिया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी-सरीखा शीलनिधान स्वामी कहीं भी नहीं है॥ २९॥

नोट—१ अब रक्षामें विश्वास 'रक्षिष्यतीति विश्वास'—यह शरणागति दिखाते हैं। (बै०)।

२—(क) 'प्रभु तरु तर कपि डार पर' इति। पूर्व जो कह आये कि 'रीझत राम जानि जन जी की' और 'रहति न प्रभु चित चूक किये की' उसीके और उदाहरण देते हैं कि देखिये, प्रभु तो वृक्षके नीचे बैठे हैं और वानर उनके सिरपर उसी वृक्षके ऊपर बैठे हैं, उनको इतनी भी तमीज (विवेक) नहीं कि हम ऊँचेपर और फिर स्वामीके सिरपर ही बैठते हैं यह अनुचित है। ऐसे अशिष्ट वानरोंके भी इस अशिष्ट व्यवहारपर प्रभुने किञ्चित् ध्यान न दिया, किन्तु उनके हृदयकी 'निकाई' हीपर दृष्टि रक्खी कि ये सब हमारे कार्यमें तन-मनसे लगे हुए हैं। यथा—'चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह। रामकाज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह॥ ४। २३।' इससे जनाया कि श्रीरामकार्यमें, श्रीरामसेवामें, श्रीरामप्रेममें मनको लवलीन कर शरीरकी सुध भुला देनेसे प्रभु प्रसन्न होते हैं। उस समय जो शरीरसे दोष या अपराध हो भी जाय तो प्रभु उसे स्वप्नमें भी नहीं देखते। (ख)—इस दोहेभरमें गोस्वामीजीने यही कहा है कि सेवकका अपराध प्रभु कभी नहीं देखते, केवल उसके हृदयकी प्रीति देखते हैं। प्रथम अपना हाल कहा फिर सुग्रीव और विभीषणजीका। अब वानर-भालु-सेनाका हाल कहते हैं कि उनके भी अशिष्ट व्यवहारको कभी मनमें न लाये, किन्तु उनके हृदयकी 'निकाई' ही पर रीझे हैं।

३—'ते किय आपु समान' इति। उनको भी अपने समान बना लिया। 'समान' बनाना कई प्रकारसे है (क) विभीषणजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है कि 'पिता बचन मैं नगर न आवउँ। आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ॥ लं० १०५।' यहाँ वचन और मनसे समान होना जनाया। (ख) उनको अपना रूप भी दिया, यथा—'हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा॥ ७। ८। २।' (ग) उनकी कीर्ति भी अपनी कीर्तिके सदृश कर दी। यथा—'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसार-सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥ लं० १०५।' (घ) सखा बनाया। यथा—'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥ ७। ८।' (ङ) बन्दन पाठकजी कहते हैं कि—'भरतजी श्रीरामजीके अंश हैं, इसलिये उनसे अधिक कहनेसे सिद्ध हुआ कि मेरे समान हैं, इसीपर सभाके सब लोग सुखमें मगन हो गये। 'सुनि प्रभु बचन मगन सब भये। निमिष निमिष उपजत सुख नये॥ ७। ८।'

४—'सील निधान' इति।—ऐसे बन्दरोंको भी कुछ न कहा, इसीसे जान पड़ा कि बड़े ही शीलवान् हैं। हीन, दीन, मलिन, कुत्सित, बीभत्स आदिके भी छिद्रोंको न देख उनका आदर करना 'शील' है। यथा—'हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः॥' (भ० गु० द०, बै०)।

ऊपर कहा है, 'रीझत राम जानि जन जी की' यहाँ बन्दरोंके हृदयमें क्या अच्छी बात देखी? करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि ये सब रामकाजमें तत्पर हैं, उन्हें ऊपर-नीचेकी सुधि नहीं। 'मम हित लागि जनम इन्ह हारे।

७ । ८ ।' यह श्रीमुखवचन है। प्रभुके प्रेममे वे घर भी भूल गये, यथा—'प्रेम मगन नहिं गृह कै ईछा । ६ । ११७ ।' 'बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं । ७ । १६ ।' इत्यादि ।

६—गोस्वामीजीने पहले अपना हाल कहकर उदाहरणमे श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणजीको दिया । दोनोंका मिलान इस प्रकार है—

गोस्वामीजी	सुग्रीव-विभीषणजी
१ 'अति बड़ि मोरि, ढिठाई खोरी'	'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली । फिरि सुकठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी ।
२ 'सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपने'	सपनेहु सो न राम हिय हेरी ॥'
३ 'कहनेमें नशानी, यथा, 'कहत नसाइ'	इनकी करनी 'नशानी'
४ मेरी भक्ति भरतजी इत्यादिके बीच सभामें बखानी (साकेतमें), यथा 'सकल सभा लै उठी ·'	'ते भरतहिं भेंटत सनमाने । राजसभा रघुबीर बखाने ॥'

☞ भक्तोंको इस दोहेमें उपदेश है कि हृदयकी निकाईसे श्रीरामजी रीझते है ।

दो०—राम निकाई रावरी है सबही को नीक ।
जौ यह साची है सदा तौ नीको तुलसीक ॥ २९ (ख) ॥

शब्दार्थ—निकाई=भलाई । रावरी=आपकी । सदा=सदैव, हमेशा ।=आवाज, बात,—यह अर्थ फारसी शब्द 'सदा' का है । तुलसीक=तुलसीको ।

अर्थ—हे श्रीरामचन्द्रजी ! आपकी (यह, उपर्युक्त) भलाई सभीको अच्छी है, यदि यह सदा 'सच' है तो मुझ तुलसीदासको भी भली ही होगी ॥ २९ ॥

करुणासिंधुजी—तो तुलसीको भी भली ही होगी । यह 'अचल विश्वास' है । यहाँतक गोस्वामीजीने परधारणा-सयुक्त पट्शरणागति वर्णन की ।

नोट—१ 'निकाई · नीक' । आपकी भलाईसे सबका भला है, यथा—'रावरी भलाई सबही की भली भई । वि० २५२ ।' 'तुलसी राम जो आदरो खोटो खरो खरोइ । दीपक काजर सिर धरो धरो सुधरो धरोइ ॥', 'तन बिचित्र कायर बचन अहि अहार मन घोर । तुलसी हरि भए पक्ष धर ताते कह सब मोर ॥ दोहावली ॥ १०६, १०७ ।' अतएव मेरा भी भला होगा, यथा—'लहै न फूटी कौड़िहू, को चाहै केहि काज । सो तुलसी मँहगो कियो, राम गरीबनिवाज ॥', 'घर घर मांगे टूक पुनि भूपनि पूजे पाय । ते तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय ॥' (दोहावली १०८, १०९), 'मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई । हौं तो साईंदोही पै सेवकहितु साईं ॥' (विनय० ७२) ।

प० रामकुमारजी—सेवकका अपराध न देखना यह 'निकाई' है, जैसा ऊपरसे दिखाते चले आये है । पुनः, यथा—'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबधु अति मृदुल सुभाऊ ॥' इसीसे सबको नीक है ।

नोट—२—'सबही को नीक' कहकर जनाया कि सुग्रीव, विभीषण और वानरसेना ही मात्रके साथ 'निकाई' वरती हो सो नहीं, सभीके साथ वे अपनी 'निकाई' से भलाई करते आये और करते हैं । उत्तम, मध्यम, नीच, लघु कोई भी क्यो न हो ।

दो०—एहि बिधि निज गुन दोष कहि सबहि बहुरि सिरु नाइ ।
बरनउँ रघुबर बिसद जसु सुनि कलि कलुष नसाइ ॥ २९ (ग)॥

अर्थ—इस तरह अपने गुण-दोष कहकर और सबको फिर माथा नवाकर (प्रणाम करके) श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशको वर्णन करता हूँ—जिसके सुननेसे कलियुगके पाप नाश होते हैं ॥ २९ ॥

नोट—(क) एहि विधि—इस प्रकार, जैसा ऊपर कह आये हैं। (ख) 'निज गुनदोष' इति। अपने गुण-दोष। गुण यह कि मैं श्रीरामचन्द्रजीका सेवक हूँ, मुझे उन्हींकी कृपालुताका बल-भरोसा है, यथा—'हौहुँ कहावत सब कहत राम सहत उपहास। साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास ॥ २८ ॥', 'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती ॥' 'सठ सेवककी प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु। २८।', 'राम निकाई रावरी है सबही को नीक। जौ यह साँची है सदा तौ नीको तुलसीक ॥'—यह अनन्य शरणागति, रक्षाका दृढ़ विश्वास ही गुण है, जो आपने कहे हैं। 'निज दोष', यथा—'को जग मंद मलिन मति मोते', 'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी', 'राम सुस्वामि कुसेवक मोसो', 'तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी ॥ १। १२।' पुन 'निज गुन दोष' यथा—'है तुलसी के एक गुन अवगुननिधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझिबे जोग ॥ दोहावली। ८५।' मा० प्र० में 'निज' पद गुन और दोष, दोनोंमें अलग-अलग लगाकर 'निज गुन' का अर्थ यों भी किया है कि 'निज' अर्थात् अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके गुण और 'निज दोष' अर्थात् अपने दोष। ऐसा जान पड़ता है कि यह भाव दोहावलीके ७७ वें दोहे—'निज दूषनु गुन राम के समुझे तुलसीदास। होय भलो कलिकालहू उभय लोक अनयास ॥' के आधारपर लिखा गया है। परंतु दोहावलीमें दोहा ९६ है जो यहाँके दोहेसे मिलता है। यथा—'तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष ॥' दोहा ७७ में उपदेश है कि अपने दोषोंको समझे और श्रीरामजीके गुणोंको समझा करे, अपनेमें कभी गुण न समझे। और दोहा ९६ में उपदेश है कि प्रभुसे जब कहे तब अपने गुण-दोष सब कह दे। ☞ इसीपर गोस्वामीजीने विनयमें अपने गुण भी कहे हैं, यथा—'निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहि छोरि। पद १५८।' 'तुलसी जदपि पोच तउ तुम्हरोइ और न काहू केरो। पद १४५।', 'सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है। है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है ॥ पद १७०।', 'रीझिबे लायक करतब कोटि कढ़, रीझिबे लायक तुलसी की निलजई ॥ पद २५२।', 'तुलसीदास कासों कहै तुमही सब मेरे प्रभु गुरु मातु पितु हौ। पद १७०।' इत्यादि। दोहावलीमें भी कहा है—'है तुलसी के एक गुन अवगुननिधि कहैं लोग' जैसा ऊपर कह आये हैं।

बैजनाथजीने 'गुणदोष' के ये अर्थ कहे हैं—(१) दोषरूपी गुण। (२) शरणागतिरूपी गुण और सब दोष। (३) शरणागति करके अपने दोष ठीक-ठीक कहनेसे स्वामी प्रसन्न होकर गुण मान लेते हैं, दोष भी प्रभुकी कृपासे गुण हो जाते हैं, अतः 'गुणदोष' कहा।

नोट—२ अपने गुण-दोष क्यों कहे? इस प्रकरणमें एक चौपाईका सम्बन्ध दूसरीसे ऊपर कहते आये हैं।

प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'निज गुण' श्रीरामजीके रीझने योग्य है, इसलिये गुण कहे। दोष कहनेका कारण दोहावलीके दोहा ९६ में है, यथा—'तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाव गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष ॥' विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि कोई-कोई शङ्का कर बैठते हैं कि 'गोस्वामीजीने अपने ही मुँहसे अपने गुणका कथन क्यों किया?' और फिर उसका समाधान यों करते हैं कि उन्होंने लोगोंकी कथनप्रणालीके अनुसार ऐसा कहा है। लोग प्रायः प्रत्येक वस्तुके बारेमें प्रश्न करते समय उसके गुण-दोष पूछते हैं, क्योंकि गुण-दोष प्रायः सभीमें पाये जाते हैं। जैसा कह आये हैं कि 'जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार' आदि। इसके सिवा तुलसीदासजीने भी अपनी कविताके बारेमें यों कहा है कि 'भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक' आदि और वह गुण यह है कि 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा'। बस, इन्हीं आधारोंसे कविजी अपनेको श्रीरामचन्द्रजीका सेवक समझ इस बातपर विश्वास कर लिखते हैं कि 'राम निकाई…'। भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजीने मुझे अपना लिया है नहीं तो मैं इस ग्रन्थके लिखनेमें सामर्थ्यवान् न हो सकता। यदि वे मेरे चित्तमें ऐसे विचार उत्पन्न कर देते कि मैं रामचरित्रोंको लिख ही नहीं सकता।

प० रामकुमारजी—'बहुरि सिर नाइ' इति। फिरसे सबको माथा नवानेका भाव यह है कि 'सबकी वन्दना कर चुके तब नामकी बड़ाई की', श्रीरामजीको माथा नवाकर रूपकी बड़ाई की। यथा—'करिहउँ नाइ राम पद माथा।' सबको सिर नवाकर लीलाकी बड़ाई की है, यथा—'बरनउँ रघुबर बिसद जस।' इसी तरह फिर सबको सिर नवाकर आगे धामकी बड़ाई की है, यथा—'पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी' १। ४।

नोट—३ 'सुनि कलिकलुष नसाइ' इति। रघुबरयश निर्मल है, विशद है, इसलिये उससे कलिकलुषका नाश होता है। यथा—'सोइ स्वच्छता करइ मल हानी', 'रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥ उ० १३०।' 'बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥ १। ३५।' इत्यादि।

निज कार्पण्य वा पट्शरणागति तथा श्रीरामगुणवर्णन-प्रकरण समाप्त हुआ

जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई॥ १॥
कहिहौं सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुखु मानी॥ २॥

☞किसी-किसी महानुभावका मत है कि श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीरामचरितमानसके आचार्योंकी परम्परा यहाँसे कहते हैं और बताते हैं कि किस तरह उनको रामचरित प्राप्त हुआ। पर दासकी समझमें इसे परम्परा तभी कह सकते जब श्रीशिवजीसे श्रीशिवा (पार्वती) जीने और श्रीपार्वतीजीसे श्रीभुशुण्डिजीने पाया होता। यह भले ही कह सकते हैं कि गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतादि पुराणोंकी कथाकी जो शैली है, जो क्रम व्यासजीका है, उसीका अनुसरण करते हुए यह दिखाया है कि जो कथा हम कहते हैं इसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई, इसके वक्ता-श्रोता कौन थे और हमको कैसे प्राप्त हुई। भा० स्कन्ध १ अध्याय ४ में ऋषियोंके ऐसे ही प्रश्न हैं—'कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना। ततः सञ्चोदितः कृष्णः (व्यास) कृतवान् संहितां मुनिः॥ ३॥' अर्थात् यह कथा किस युगमें किस कारणसे किस स्थानपर हुई थी और व्यासजीने किसकी प्रेरणासे इस संहिताको रचा था? विशेष दोहा ३० 'मैं पुनि निज गुर' में देखिये।

अर्थ—श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने जो सुहावनी कथा मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीको सुनायी, वही संवाद मैं बखानकर (विस्तार-पूर्वक) कहूँगा। आप सब सज्जन सुख मानकर सुनें॥ १-२॥

टिप्पणी—१ गोस्वामीजीने पहले चारों संवादोंका बीज बोया है, तब चारों संवाद कहे हैं। पहिले अपने संवादका बीज बोते हैं, यथा—'तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा॥' १। १३।', 'सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥ ९॥' और, कथा आगे कहते हैं, यथा—'कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥ ३५॥' फिर 'जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज।' में भरद्वाज-याज्ञवल्क्यके संवादका बीज बोया। कथा आगे कहते हैं, यथा—'अब रघुपति पद-पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संबाद॥ ४३॥' तत्पश्चात्, 'कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥ ३३। १। में शिव-पार्वती संवादका बीज है, आगे कथा कहते हैं, यथा—'कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। १। ४७।' और 'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड॥ १। १२०।' में भुशुण्डि गरुड़-संवादका बीज बोया और कथा उत्तरकाण्डमें कही है। यथा—भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुन गाहा॥ ७। ६४। ६।'

मा० म० 'गोस्वामीजीके कहनेका यह तात्पर्य है कि इस रामचरितमानसमें चार घाट है जो आगे कथन करेंगे। उन चारोंमें दक्षिण घाट कर्मकाण्डमय याज्ञवल्क्यजीका है। अतः ग्रन्थकारका यह अभिप्राय है कि मैं सुगम दक्षिण घाटसे रामचरितमानससरमें सज्जनोंके सहित प्रवेश करता हूँ। इसकी अगम तरङ्गोंमें विधिपूर्वक क्रीड़ा-विनोद करूँगा। अर्थात् इसमें कोई गोपनीय तत्त्व मैं कथन किये बिना नहीं छोड़ूँगा। जो अनुभवगम्य है, अनिर्वाच्य

है, उसे तो सज्जनोंको स्वयम् अनुभव करना होगा। जो कथन किया जा सकता है उसे कहता हूँ। सब सज्जन उसे सुखपूर्वक सुनें।'

नोट—१ याज्ञवल्क्यजी ब्रह्माजीके अवतार हैं। इनकी कथा स्कन्दपुराणके हाटकेश्वरक्षेत्रमाहात्म्यके प्रसंगमें इस प्रकार है—किसी समयकी बात है कि ब्रह्माजी एक यज्ञ कर रहे थे। ब्रह्माजीकी पत्नी सावित्रीजीके आनेमें देर हुई और शुभ मुहूर्त जा रहा था। तब इन्द्रने एक गोपकन्या (अहीरिन) को लाकर कहा कि इसका पाणिग्रहण कर यज्ञ आरम्भ कीजिये। पर ब्राह्मणी न होनेसे उसको ब्रह्माने गौके मुखमें प्रविष्टकर योनिद्वारा निकालकर ब्राह्मणी बना लिया, क्योंकि ब्राह्मण और गौका कुल शास्त्रमें एक माना गया है। फिर विधिवत् उसका पाणिग्रहणकर उन्होंने यज्ञारम्भ किया। यही गायत्री है। कुछ देरमें सावित्रीजी वहाँ पहुँचीं और ब्रह्माके साथ यज्ञमें दूसरी स्त्रीको बैठे देख उन्होंने ब्रह्माजीको शाप दिया कि तुम मनुष्यलोकमें जन्म लो और कामी हो जाओ। अपना सम्बन्ध ब्रह्मासे तोड़कर वह तपस्या करने चली गयी। कालान्तरमें ब्रह्माजीने चारणऋषिके यहाँ जन्म लिया। वहाँ याज्ञवल्क्य नाम हुआ। तरुण होनेपर वे शापवशात् अत्यन्त कामी हुए जिससे पिताने उनको निकाल दिया। पागल सरीखा भटकते हुए वे चमत्कारपुरमें शाकल्य ऋषिके यहाँ पहुँचे और वहाँ उन्होंने वेदाध्ययन किया। एक समय आनर्त्तदेशका राजा चातुर्मास्यव्रत करनेको वहाँ प्राप्त हुआ और उसने अपने पूजापाठके लिये शाकल्यको पुरोहित बनाया। शाकल्य नित्यप्रति अपने यहाँका एक विद्यार्थी पूजापाठ करनेको भेज देते थे, जो पूजापाठ करके राजाको आशीर्वाद देकर दक्षिणा लेकर आता था और गुरुको दे देता था। एक बार याज्ञवल्क्यजीकी बारी आयी। यह पूजा आदि करके जब मन्त्राक्षत लेकर आशीर्वाद देने गये तब वह राजा विषयमें आसक्त था, अतः उसने कहा कि यह लकड़ी जो पास ही पड़ी है इसपर अक्षत डाल दो। याज्ञवल्क्यजी अपमान समझकर क्रोधमें आ आशीर्वादके मन्त्राक्षत काष्ठपर छोड़कर चले गये, दक्षिणा भी नहीं ली। मन्त्राक्षत पड़ते ही काष्ठमें शाखापल्लव आदि हो आये। यह देख राजाको बहुत पश्चात्ताप हुआ कि यदि यह अक्षत मेरे सिरपर पड़ते तो मैं अजर-अमर हो जाता। राजाने शाकल्यजीको कहला भेजा कि उसी शिष्यको भेजिये। परन्तु इन्होंने कहा कि उसने हमारा अपमान किया इससे हम न जायँगे। तब शाकल्यने कुछ दिन और विद्यार्थियोंको भेजा। राजा विद्यार्थियोंसे दूसरे काष्ठपर आशीर्वाद छुड़वा देता। परंतु किसीके मन्त्राक्षतसे काष्ठ हरा भरा न हुआ। यह देख राजाने स्वयं जाकर आग्रह किया कि याज्ञवल्क्यजीको भेजें, परंतु इन्होंने साफ जवाब दे दिया। शाकल्यको इसपर क्रोध आ गया और उन्होंने कहा कि—'एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्॥ ८५।', अर्थात् गुरु जो शिष्यको एक भी अक्षर देता है पृथ्वीमें कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जो शिष्य देकर उससे उऋण हो जाय। उत्तरमें याज्ञवल्क्यजीने कहा—'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथे वर्तमानस्य परित्यागो विधीयते॥ ८८।' अर्थात् जो गुरु अभिमानी हो, कार्य-अकार्य (क्या करना उचित है, क्या नहीं) का नहीं जानता हो ऐसे दुराचारीका चाहे वह गुरु ही क्यों न हो परित्याग कर देना चाहिये। तुम हमारे गुरु नहीं, हम तुम्हें छोड़कर चल देते हैं। यह सुनकर शाकल्यने अपनी दी हुई विद्या लौटा देनेको कहा और अभिमन्त्रित जल दिया कि इसे पीकर वमन कर दो। याज्ञवल्क्यजीने वैसा ही किया। अन्नके साथ वह सब विद्या उगल दी। विद्या निकल जानेसे वे मूढबुद्धि हो गये। तब उन्होंने हाटकेश्वरमें जाकर सूर्यकी बारह मूर्तियाँ स्थापित करके सूर्यकी उपासना की। बहुत काल बीतनेपर सूर्यदेव प्रकट हो गये और वर माँगनेको कहा। याज्ञवल्क्यजीने प्रार्थना की कि मुझे चारों वेद साङ्गोपाङ्ग पढ़ा दीजिये। सूर्यने कृपा करके उन्हें मन्त्र बतलाया जिससे वे सूक्ष्म रूप धारण कर सकें और कहा कि तुम सूक्ष्म शरीरसे हमारे रथके घोड़ेके कानमें बैठ जाओ, हमारी कृपासे तुम्हें ताप न लगेगी। मैं वेद पढ़ाऊँगा, तुम बैठे सुनना। इस तरह चारों वेद साङ्गोपाङ्ग पढ़कर सूर्यदेवसे आज्ञा लेकर वे शाकल्यके पास आये और कहा कि हमने आपको दक्षिणा नहीं दी थी, जो माँगिये वह हम दें। उन्होंने सूर्यसे पढ़ी हुई विद्या माँगी। याज्ञवल्क्यजीने वह विद्या उनको दे दी। (नागरखण्ड अ० २७८)। इनकी दो स्त्रियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। कात्यायनीके

पुत्र कात्यायन हुए। (अ० १३०)। लगभग यही कथा अ० १२९ व १३० मे भी है। विशेष दोहा ४५ (४) व (८) में देखिये।

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—(१) छान्दोग्य उपनिषद्मे इनकी बड़ी महिमा लिखी है। इन्होंने जनकमहाराजकी सभामें छ मासतक शास्त्रार्थ किया है। ये धर्मशास्त्रादिके प्रधान विद्वान् है। भगवान्के ध्यानमे समाधि लगानेमें अद्वितीय योगी हैं, इसीलिये इन्हें 'योगि याज्ञवल्क्य' कहते है। भगवद्भक्तोमें प्रधान होनेसे पहले याज्ञवल्क्यका नाम लिया। प्रयागमें ऋषिसभाके बीच प्रथम रामचरित्रके लिये भरद्वाजहीने प्रश्न किया, इसलिये प्रधान श्रोता भरद्वाजका प्रथम नामोच्चारण किया। (२) 'सुख मानी' इति। सुख माननेका भाव यह है कि वह कथा संस्कृतके गद्यपद्यमें होनेसे दुःखसाध्य थी और मेरी रचना तो देशभाषामें होनेसे सबको अनायास सुखसे समझमें आवेगी।

सूर्यप्रसाद मिश्र—भरद्वाजजीको मुनिवर कहनेका आशय यह है कि इन्होंने रामकथा सुनी, इसीसे मुनिवर हुए।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥ ३॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥ ४॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥ ५॥

अर्थ—श्रीशिवजीने यह सुन्दर चरित रचा। फिर कृपा करके श्रीपार्वतीजीको सुनाया॥ ३॥ वही चरित शिवजीने कागभुशुण्डिजीको श्रीरामभक्त और अधिकारी (पात्र) जानकर दिया॥ ४॥ उनसे फिर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने पाया और इन्होंने (उसे) भरद्वाजजीसे कह सुनाया॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) कथाको 'सुहाई' और चरितको 'सुहावा' स्त्रीलिङ्ग-पुँल्लिङ्गभेदसे कहा है। कथा और चरित दोनोंका बीज बोते हैं क्योंकि आगे दोनोंका माहात्म्य कहना चाहते है। पहिले कथा कही, पीछे चरित कहा। इसी क्रमसे ग्रन्थकी परम्परा कहकर फिर माहात्म्य कहेंगे। यहाँसे दोहेतक परम्परा है।' (ख) 'सुहावा' अर्थात् औदार्यादि गुणसहित और अनर्थक आदि दोषरहित है।' (बैजनाथजी लिखते हैं कि जैसे शिवजीने लोक-सुखके लिये शाबरमन्त्र सिद्धरूप बनाये, वैसे ही लोक-परलोक दोनों सुखके लिये मानस रचा, यथा—'सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंत काल रघुपति पुर जाहीं॥ ७। १५।' सुखदायक होनेसे सब जगको प्रिय है। अत 'सुहावा' कहा।

२—'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। ' इति। बालकाण्डमे तीन ही संवाद हैं, इसलिये तीनका नाम दिया। भुशुण्डि गरुड़ संवाद उत्तरकाण्डमें है, इसलिये भुशुण्डिजीका गरुड़जीसे कहना यहाँ नहीं लिखा।

नोट—१ शिवजीने पार्वतीजी और कागभुशुण्डिजीको यह रामचरित दिया। पार्वतीजीको 'कृपा करि' देना लिखते हैं और भुशुण्डिजीको 'राम भगत अधिकारी' जानकर देना कहा है। याज्ञवल्क्यजी और भरद्वाजजीको देनेका कारण नहीं लिखते। प० रामकुमारजी इस भेदका भाव यह लिखते हैं कि 'पार्वतीजीके अधिकारी होनेमें सन्देह था—'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' इति श्रुति'। पुन पार्वतीजीका वचन है कि 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥ गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥ अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥ बा० ११०।' इसलिये कृपा करके सुनाना लिखा। 'कृपा' पद देकर यह भी जनाया कि ईश्वरके कृपापात्र अधिकारी हैं। भुशुण्डिजीके अधिकारमें सन्देह था, यथा—'देखु गरुड निज हृदय बिचारी। मैं रघुबीर भजन अधिकारी॥' 'सकुनाधम सब भाँति अपावन। उ० १२३।' इसलिये रामभक्त अधिकारी लिखा। रामभक्तको अधिकार है, चाहे जिस योनिमें हो, चाहे जिस जातिका हो, जैसा कहा है कि 'ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रान प्रिय श्रीरघुराई॥ ७। १२८।' भरद्वाज-याज्ञवल्क्यजी पूर्ण अधिकारी हैं इसलिये उनके अधिकारका हेतु नहीं कहा।

नोट—२ यहाँ गोस्वामीजी लिखते हैं कि 'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा' और उत्तरकाण्डमें भुशुण्डिजी लोमशऋषि-से पाना कहते हैं, यथा—'मेरु सिखर बटछाया मुनि लोमस आसीन। मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा ॥ राम चरित मानस तब भाषा। उ० ११० । ११३।' यह परस्पर विरोध-सा दीखता है, परंतु जरा ध्यान देनेसे समझमें आ जायगा कि कोई विरोध इन दो चौपाइयोंमें नहीं है। इस चौपाईका 'दीन्हा' पद गूढ़ता और अभिप्रायसे भरा है। गोस्वामीजीने यह शब्द रखकर अपनी सावधानता दर्शा दी है।

श्रीशिवजीने भुशुण्डिजीको आशीर्वाद दिया था कि—'पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरें। राम भगति उपजिहि उर तोरें ॥ उ० १०९।' जब इनमें रामभक्तिके चिह्न पूरे आ गये, यथा—'राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना ॥ सो उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया ॥'' 'पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोले बचन सकोपा ॥' 'मूढ़ परमसिख देउँ न मानसि। उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि ॥ सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सबही ते डरही ॥ सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला ॥ लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई ॥ तुरत भयउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ। सुमिरि राम रघुबंसमनि हरषित चलेउँ उड़ाइ ॥ उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥ ११२ ॥ सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन ॥ कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्हीं प्रेम परिच्छा मोरी ॥ रिषि मम सहन सीलता देखी। रामचरन बिस्वास बिसेषी ॥ उ० ११३।' इस तरह जब पूरी परीक्षा उनकी मिल गयी तब शिवजीने रामचरितमानस इनको दिया। कोई चीज किसीको देना हो तो उसके दो तरीके हैं—एक तो स्वयं देना, दूसरे किसी औरके द्वारा भेजना। जिसके द्वारा चीज दी जाती है वह मुख्य देनेवाला नहीं है। वही रीति यहाँ जानिये। इसलिये लोमशजीने भुशुण्डिजीसे यह कहा भी है कि—'रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा ॥ तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी ॥ उ० ११३।' और यहाँ भी गोस्वामीजीने 'राम भगत अधिकारी चीन्हा' लिखा है।

'दीन्हा' शब्दका प्रयोजन भी स्पष्ट हो गया। सुनाना या कहना इत्यादि पद न दिया। क्योंकि कहना, सुनाना कहने और सुननेवालेका समीप ही होना सूचित करता है। उमाजीको 'सुनावा' और भरद्वाजप्रति 'गावा' लिखा है।

पं० शिवलाल पाठकजी इस शंकाका समाधान इस प्रकार करते हैं—"सुनि लोमश गुरु ते बहुरि, शिव सद्गुरु ढिग जाय। लहे मंत्रविधि सह ग्रंथ तब यह मत लखे लखाय ॥ अ० दीपक ४४।' श्रीजानकीशरणजी इस दोहेका भाव यह लिखते हैं कि—उत्तरकाण्डमें 'रामचरितमानस तब भाषा' कहा है और यहाँ 'दीन्हा' पद दिया है। इसमें भाव यह है कि लोमशजीने कथामात्र सुनायी और शिवजीने मानसग्रन्थका प्रयोग, मन्त्र, यन्त्रविधि सहित दिया। भाव यह कि लोमशजी भुशुण्डिजीके मन्त्रदाता गुरु थे और शिवजी सद्गुरु थे। 'श्रीरामतत्त्वादिका उपदेशपूर्वक भक्ति तथा ज्ञानमार्गका बताना सद्गुरुका काम है।' श्रीकबीरजीने भी कहा है—'गुरु मिले फल एक है, संत मिले फल चारि। सद्गुरु मिले अनेक फल कहे कबीर बिचारि ॥' बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि परम्परासे शिवजीका देना सिद्ध है, अथवा, लोमशजीसे सुननेके पीछे शिवजीसे भी सुना हो।

नोट—३ कहा जाता है कि यह बात कि शिवजीसे ही भुशुण्डिजीको रामचरितमानस मिला, भुशुण्डि-रामायण (आदिरामायण) से भी सिद्ध होती है। उसमें कहा जाता है कि भुशुण्डिजीने स्वयं यह बात कही है। पुनः देखिये जब श्रीअवधपुरीमें बालक रामलालाजीके दर्शनोंकी अभिलाषासे श्रीशिवजी और श्रीभुशुण्डिजी आये तो गुरु-शिष्यरूपसे आये थे, जैसा गीतावलीसे सिद्ध है। यथा—'अवध आज आगमी एक आयो।' बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो। सँग सुसिष्य सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो (बा० पद १४)। पुनः, यथा—'कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ ॥ १ । १९६।' सम्भव है कि पं० शिवलाल पाठकजीने भुशुण्डिरामायणके आधारपर शिवजीका देना लिखा हो, परंतु गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें यह बात जिस तरहसे दिया उत्तरकाण्डहीमें दर्शाया है।

☞ हमको यहाँपर इस प्रश्न वा शङ्काके उठानेकी कोई आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती कि 'जो क्रम यहाँ गोस्वामीजीने दिया है वह ठीक ऐसा ही है या इसमें उलट-फेर है।' क्योंकि यहाँ ग्रन्थकारके लेखका केवल

यह तात्पर्य है कि हमको शिवकृतमानस क्योंकर मिला। श्रीपार्वतीजी परम्पराके बाहर है क्योंकि श्रीपार्वतीजीसे किसीको पाना नहीं कहा गया। परम्परामें पूर्वापर क्रम जरूरी है। यहाँ केवल इतना दिखाना है कि शिवजीसे भुशुण्डिजीने पाया, उनसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने और याज्ञवल्क्यजीसे श्रीभरद्वाजजीने पाया, हमको अपने गुरुदेवजीसे मिला। अन्यत्र इस प्रश्नपर विचार किया गया है, परंतु लोगोंने यहाँ यह शंका की है अतः उसपर कुछ लिखा जाता है।

पं० शिवलाल पाठकके मतानुसार 'शिवजीने कागभुशुण्डिजीको दिया, फिर कागभुशुण्डिजीसे स्वयं सुनकर तब पार्वतीजीको सुनाया। इस बातके प्रमाणमें वे यह कहते हैं कि कथा कहनेमें शिवजीने बारम्बार कागभुशुण्डिजीको साक्षी दिया है और भुशुण्डिजीने शिवजीको साक्षी नहीं दिया। इसी तरह याज्ञवल्क्यजीने शिवजीसे पाया, अतएव इन्होंने शिवजी और भुशुण्डिजी दोनोंको साक्षी दिया है। यथा—'शंकर साखी देत है काक काक ना शंभु। लहे यागवलि शंभु ते साखी द्वै हैं कभु॥' इसका निष्कर्ष यह है कि यदि याज्ञवल्क्यजी भुशुण्डिजीसे पाते तो केवल उन्हींकी साक्षी देते, शिवपार्वतीसंवादकी न देते। मु० रोशनलालजीने भी याज्ञवल्क्यजीका श्रीशिवजीसे पाना लिखा है।—प्रायः अन्य सभी प्रसिद्ध टीकाकारोंका मत यह नहीं है, 'तेहिं' शब्द शिवजीके लिये नहीं है किंतु कागभुशुण्डिजीके लिये है।

ते श्रोता बकता समसीला। सँवँदरसी* जानहिं हरिलीला॥ ६॥
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतलगत आमलक समाना॥ ७॥

शब्दार्थ—श्रोता=सुननेवाले। बकता=वक्ता, कथा कहनेवाले। सँवँदरसी=सर्वदर्शी=सर्वज्ञ। आमलक=आँवलाके दर्पणके। समसील=समसील तुल्यस्वभाव। गत=प्राप्त=रखा हुआ।

अर्थ—ये कहने-सुननेवाले एक-से शीलवान् हैं और हरिलीलाको जानते हैं॥ ६॥ अपने ज्ञानसे तीनों कालों (भूत, भविष्य, वर्तमान) का हाल हथेलीमें प्राप्त आमलकके समान जानते हैं॥ ७॥

नोट—१ (क) 'सँवँदरसी' अर्थात् सर्वज्ञ हैं, इसीसे हरिलीलाको जानते हैं। सन्त श्रीगुरुसहायलाल 'सँवँदरसी' का भाव यह लिखते हैं कि जो लीला केवल अनुभवात्मक है उसको भी जानते हैं। (ख) 'जानहिं तीनि काल' अर्थात् त्रिकालज्ञ हैं, इसलिये उनको कथामें सन्देह नहीं होता। आगे कहते हैं कि श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि होने चाहिये। इनको त्रिकालज्ञ कहकर इनका 'ज्ञान निधि' होना सूचित किया। (ग) सुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि परम्परासे यह कथा रामभक्तोंके द्वारसे याज्ञवल्क्य और भरद्वाजको प्राप्त हुई, इसलिये बराबर निर्मल जनोंके बीचमें रहनेसे इस कथामें अशुद्ध वस्तुकी एक बूँद भी न पड़ी। कदाचित् याज्ञवल्क्य और भरद्वाजके बीचमें कुछ कलङ्क होनेसे (क्योंकि याज्ञवल्क्यने अपने गुरुसे द्रोह किया था और भरद्वाज दो पुरुषोंके वीर्यसे उत्पन्न हुए हैं) यह कथा कलुषित हो गयी हो, उसपर कहते हैं कि ये वक्ता और श्रोता समशील इत्यादि हैं, इन कारणोंसे वे निष्कलङ्क हो गये हैं।

टिप्पणी—१ (क) ग्रन्थकारने वक्ता-श्रोता दोनोंको समशील कहा ही नहीं बल्कि अपने अक्षरोंमें भी उनकी समशीलता दिखा दी है। इस तरहसे कि पहिले तीन चौपाइयोंमें वक्ताओंके नाम प्रथम देकर तब श्रोताओंके नाम दिये हैं, यथा—'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥', 'सोइ सिव काग भुसुंडिहि ˙।', 'तेहि सन जागबलिक˙˙˙', 'तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।' और तत्पश्चात् दूसरी बार 'श्रोता' पद पहिले दिया और 'वक्ता' पीछे। यथा—'ते श्रोता बकता सम ˙।' इस तरह दोनोंको बराबर जनाया। ['समशील' अर्थात् एक-से-एक शीलवान्। वा, श्रोता श्रवणमें परस्पर तत्पर, वक्ता परस्पर कथनमें कुशल। अथवा, जैसे शंकरजी ज्ञानी, याज्ञवल्क्यजी भगवत्-सम्बन्धी कर्मकाण्डी और भुशुण्डिजी उपासनाकाण्डवाले वक्ताओंमें शिरोमणि, वैसे ही पार्वतीजी ज्ञानी, भरद्वाजजी कर्मकाण्डी और गरुड़जी उपासक श्रोताओंमें शिरोमणि। (मा० मा०)] (ख) 'निज ग्याना' अर्थात् किसीके अवलम्बसे नहीं जानते, अपने ज्ञानसे जानते हैं।

* 'समदरसी' इसका पाठान्तर है जो प्राचीन पुस्तकोंमें भी मिलता है। आधुनिक प्रतियोंमें कहीं-कहीं 'समदरसी' पाठ मिलता है। १७०४ में भी 'समदरसी' है। (श० चौ०)। परंतु रा० प्र० में 'सबदरसी' ही है।

नोट—२ (क) 'आमलक समाना' अर्थात् जैसे आमला हाथकी हथेलीपर रखनेसे वह पूर्ण रीतिसे रेशा-रेशा दिखलायी देता है, इसी प्रकार तीनों काल उनके नेत्रके सम्मुख है, सब हाल इनको प्रत्यक्ष-सा देख पड़ता है। तीनों कालके पदार्थोंके सब अवयव देख पड़ते हैं। (ख) रा० प्र० में आमलकका अर्थ 'जल' भी किया है और यह भाव दिया है कि जैसे जल हाथमें प्राप्त हो तो उसका ज्ञान निरावरण होता है वैसे ही इनको तीनों कालोंका ज्ञान है। अथवा, जैसे हथेलीपर स्वच्छ जल रखनेसे साफ-साफ हथेलीकी रेखाएँ कुछ मोटी-मोटी ऊपरसे झलकती हैं, उसी प्रकार उनको त्रिकालके पदार्थ साफ-साफ दीखते हैं। यहाँ वे 'आमलक'='स्वच्छ जल-सरीखा' अर्थ करते हैं। (ग) मानसतत्त्वविवरणमें 'आमलक' का अर्थ 'दर्पण' भी दिया है और प्रमाणमें श्रीपदत्तजीकी व्याख्या जो 'करामलकवद्विश्व भूत भव्य भविष्यवत्।' श्रीमद्भागवत-वाक्यपर है, देते हैं।

☞ आमलकका अर्थ 'आँवला' लेनेपर 'तीन काल' उपमेय और 'करतलगत आमलक' उपमान है। 'जानना' निरावरण देख पड़ना है। तथा 'निज ज्ञान' अपने 'नेत्र' है। और उसका अर्थ 'दर्पण' लेनेपर 'तीन काल' उपमेयका उपमान 'मुख' होगा और 'निज ज्ञान' का उपमान 'करतलगत आमलक' होगा। इसका भावार्थ यों होगा कि—वे तीनों कालोंकी बातें अपने ज्ञानसे इस प्रकार देख लेते हैं, जैसे अपने हाथमें लिये हुए दर्पणसे मनुष्य अपना मुख देख लेता है। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि "शिवादिका ज्ञान दर्पण है और श्रीरघुनन्दन-जानकीजीका यश मुखवत् है। जैसे दर्पण हाथमें लेनेसे अपना मुख यथार्थ मालूम होता है, ऐसे ही जब ये ज्ञानानन्दमें स्थित होते हैं तब परमानन्दमयुक्त श्रीजानकी-रघुवरका यश विधानपूर्वक जिह्वाग्रपर आ जाता है।"—इस तरह आपके मतानुसार 'श्रीरघुवर-जानकी यश' अपना मुख है (और अर्धालीमें 'तीन काल' का जानना लिखा है)। आप लिखते हैं कि 'निज-ज्ञानके विषय जो श्रीरघुनन्दनजानकी रहस्य कर आये हैं और कर रहे हैं तथा करेंगे, उसको अच्छी प्रकार जानते हैं।'

☞ श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अ० ५ में भी यह प्रयोग आया है। नारदजी ब्रह्माजीसे कहते हैं—'सर्वं ह्येतद्भवान् वेद भूतभव्यभवत्प्रभु। करामलकवद्विश्वं विज्ञानावसितं तव॥ ३॥' अर्थात् आप यह सब जानते हैं, क्योंकि भूत, भविष्यत्, वर्तमान सबके स्वामी होनेसे यह सम्पूर्ण विश्व हाथपर रक्खे हुए आँवलेके समान आपके ज्ञानका विषय है।—यही भाव यहाँ इस अर्धालीका है।

टिप्पणी २—यहाँ 'करतलगत आमलक समाना।' कहा और अयोध्याकाण्डमें कहा है कि 'जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना। १। १८२।' त्रिकालका जानना पथ्य है और 'आमला' भी पथ्य है, यथा—'धात्रीफलं सदा पथ्यं कुपथ्यं बदरीफलम्।' इसलिये पथ्य फलकी उपमा दी। 'बेर' कुपथ्य है और संसार भी कुपथ्य है, इससे वहाँ विश्वको बेरकी उपमा दी। विशेष अ० १८२ (१) में देखिये।

औरौ जे हरि भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥ ८॥

अर्थ—और भी जो सुजान हरिभक्त हैं वे अनेक प्रकारसे कहते, सुनते, समझते हैं॥ ८॥

नोट—१ 'औरौ' पद देकर सूचित किया कि भरद्वाजजीसे और मुनियोंने प्रयागराजमें सुना; क्योंकि वहाँ तो हर साल (प्रतिवर्ष) मुनियोंका समाज उनके आश्रमपर होता ही था। इनसे फिर औरोंने सुना और उनसे दूसरोंने।

टिप्पणी—१ (क) 'उत्तम कोटिके वक्ताओं-श्रोताओंके नाम कहकर अब मध्यम कोटिके कहते हैं। क्योंकि ये नाना विधिसे सब शङ्काएँ समझते हैं। तब समझ पड़ती हैं। इससे ग्रन्थकी गम्भीरता दिखायी कि यह ईश्वरका बनाया हुआ है, अत्यन्त गम्भीर है।' (ख) 'यहाँतक श्रोता-वक्ताकी समशीलता कही, आगे अपने गुरुसे अपनेको न्यून कहते हैं, क्योंकि गुरुसे न्यून होना उचित है।' (ग)—'कहहिं ' इति। अर्थात् श्रोतासे कहते, वक्तासे सुनते हैं और श्रोता-वक्ताके अभावमें समझते हैं, यथा—'हरि अनंत हरि कथा अनंता।'

नोट—१ 'कहहिं' इति। कथन अर्थात् व्याख्या छ प्रकारसे की जाती है। यथा—'पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो

वाक्ययोजना । आक्षेपश्च समाधान षड्‌धा व्याख्यानमुच्यते ।' अर्थात् पदच्छेद (वाक्यके पदोंको अलग-अलग करना), शब्दार्थ, विग्रह (समासार्थविबोधक वाक्य विग्रह । अर्थात् समासयुक्त पदोंका बोधक वाक्य), अन्वय, आक्षेप (जो शङ्काएँ उस विषयपर किसीने की हों, अथवा जो शङ्काएँ हो सकती हैं उनका उल्लेख) और समाधान ।—व्याख्याके ये छ भेद हैं । 'कहहिं' शब्दसे इस प्रकार व्याख्या करना जनाया ।

२—"सुनहिं समुझहिं बिधि नाना" इति । कथा कही-सुनी जाती है और अर्थ एवं भाव समझा जाता है । कहना-सुनना तो 'नाना'-विधिसे होता ही है, पर "समुझहिं बिधि नाना" का क्या भाव है ? उत्तर—अर्थका समझना भी आठ प्रकारसे होता है । यथा—'ध्वनिशब्दाक्षरव्यङ्ग्यभावावर्त्तपदोक्तिभिः । अर्था वैयासकिप्रोक्ता बोध्यास्तेषु मनीषिभि ।' इति भागवते पञ्चाध्यायी सरसीनाम्नि टीकायाम् । अर्थात् ध्वनि, शब्दों (की योजना), अक्षरोंकी योजना, व्यंग्य, भाव, आवर्त्त, पद और उक्ति—इन आठ भेदोंसे कथाका रहस्य बुद्धिमानोंको समझना चाहिये । ऐसा व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीने कहा है । आठोंकी व्याख्या इस प्रकार है—'वक्ता स्वार्थं समुद्दीश्य यत्र तद्गुणरूपकम् । स्वच्छमुल्लिख्यमान च ध्वन्यर्थः स उदाहृत ॥ १ ॥ रूढ्यर्थं संपरित्यज्य धातुप्रत्ययोर्बलात् । युज्यते स्वप्रकरणे शब्दार्थं स उदाहृतः ॥ २ ॥ प्रसिद्धार्थं परित्यज्य स्वार्थे व्युत्पत्तियोजना । परभेदो न यत्र स्यादक्षरार्थं स उच्यते ॥ ३ ॥ शब्दरूपपदार्थेभ्यो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । विरुद्ध. स्यात्प्रकरणे व्यंग्यार्थ. स निगद्यते ॥ ४ ॥ बह्वर्थेनापि सपूर्णं वर्णितं स्वादसयुतम् । तद्योजन भवेद्येन भावार्थ प्रोच्यते बुधै ॥ ५ ॥ धात्वक्षरनियोगेन स्वार्थो यत्र न लभ्यते । तत्पर्यायेण ससिद्धेदावर्त्तार्थं स गद्यते ॥ ६ ॥ पदैकेन समादिष्ट कोशधात्वर्थयोर्बलात् । पदभेदो भवेद्यत्र पदार्थ सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥ विरुद्धं यत्प्रकरणादुक्तिभेदेन योजनम् । वाक्यार्थपदपर्याय उक्ति सा कथिता बुधै ॥ ८ ॥' अर्थात् प्राकरणिक भावको उद्‌देश्य करके तदनुकूल जो सुन्दर रहस्यमें अर्थ कहा जाता है वह 'ध्वनि' है ॥ १ ॥ रूढ्यर्थको छोड़कर धातु और प्रत्ययके बलसे प्रकरणके अनुकूल जो अर्थ किया जाय उसे 'शब्दार्थ' कहते हैं ॥ २ ॥ प्रसिद्ध अर्थको छोड़कर स्वार्थमें व्युत्पत्तिकी योजना जिसमें हो, पर साथ ही प्रसिद्ध अर्थका भेद भी न हो उसे 'अक्षरार्थ' कहते है ॥ ३ ॥ जहाँ शब्दरूप और पदार्थोंसे भिन्न अर्थ न हो, पर प्रकरणके विरुद्ध हो वहाँ 'व्यंग्य' होता है ॥ ४ ॥ बहुतसे अर्थोंको लेकर सम्पूर्ण वर्णित पदार्थको जिसके द्वारा स्वादयुक्त बनाया जाय उसे 'भावार्थ' कहते हैं ॥ ५ ॥ धातुके अक्षरोंके बलसे जहाँ स्वार्थ न सिद्ध होनेपर उसके पर्यायसे उस अर्थको सिद्ध किया जाय उसे 'आवर्त्तार्थ' कहते हैं ॥ ६ ॥ एक पदसे कहा हुआ पदार्थ कोश और धातुके बलसे जहाँपर दो पद होने लगे वहाँ 'पदार्थ' कहेंगे ॥ ७ ॥ प्रकरणके जो विरुद्ध हो, पर जिसे शब्दके भेदसे सगत किया जाय उसे वाक्यार्थ, पदपर्याय वा उक्ति कहते हैं । ये ही आठ भेद हैं ।

दो०—मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥ ३० (क) ॥

शब्दार्थ—सूकर-खेत=वाराहक्षेत्र । यह श्रीअयोध्याजीके पश्चिम बारह कोसपर श्रीसरयूजीके तटपर है । (करु०) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते है कि 'मेरे मतमें यह सूकरक्षेत्र नेपालराज्यमे है जिसे लोग वाराहक्षेत्र कहते हैं ।' ☞ यहाँ घाघरा सरयू-सङ्गम है । यहाँ वाराहक्षेत्रपर पौष महीनेमें कल्पवास किया जाता है । सन्तमत यही है परन्तु कोई-कोई टीकाकार इसे सोरोंपर एटा जिलेमें बताते है । विशेष नोट २ में देखिये । तसि=जैसी औरोंने समझी कि जिनको ऊपर कह आये हैं । वैसी=ठीक-ठीक कथा है वैसी नहीं समझी—(पाण्डेजी) ।

अर्थ—मैंने उस कथाको वाराहक्षेत्रमें अपने गुरुजीसे सुना । उस समय बालपन था । मै अत्यन्त अचेत (अजान, अज्ञान) था (मुझे कुछ भी ज्ञान न था) इसलिये वैसी समझमें न आयी ॥ ३० (क) ॥

टिप्पणी—(१) उत्तम, मध्यम कहकर अब निकृष्ट कोटिको कहते हैं क्योंकि वे लोग सुजान थे । उन्हें समझ पड़ी, मुझे नहीं समझ पड़ी, क्योंकि तब मैं अति 'अचेत' था । 'अति अचेत' अर्थात् अचेत तो अब भी

हूँ, कलिमलग्रसित हूँ, विमूढ हूँ।' उस समय 'अत्यन्त' अचेत था। (२) 'मैं पुनि' यह बोली है, दोनोंका मिलकर 'मैं' अर्थ है। यथा—'सब चुपचाप चले मग जाहीं।' (अ०) में चुपचापका अर्थ चुप है,—'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई', 'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी', 'मैं पुनि गयउँ बंधु सँग लागा॥' इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। (३) अपने गुरुका किसीसे मानस पढ़ना न कहा। क्योंकि गुरु साक्षात् भगवान् हैं, इसीलिये किसीका शिष्य होना न कहा। शिष्यका धर्म है कि अपने गुरुको किसीसे लघु न माने, यथा—'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी। २। १२९।' (४) गुरुका पढ़ना साक्षात् न कहा, आशयसे जना दिया है।

नोट—१ 'मैं पुनि निज गुर सन सुनी' इति। गोस्वामी तुलसीदासजीके गुरु (मन्त्र-उपदेष्टा) श्रीस्वामी नरहर्य्यानन्दजी महाराज थे, यह पूर्व लिखा जा चुका है। रामचरितमानस इन्हीं गुरुके द्वारा गोस्वामीजीको प्राप्त हुआ। गुरुको कहाँसे मिला, यह इस ग्रन्थमें महाकविने नहीं स्पष्ट लिखा, बिना इसके जाने इनकी मानसपरम्परा नहीं बतायी जा सकती। (न लिखनेका कारण यह जान पड़ता है कि वे गुरुको 'हर' और 'हरि' रूप कह चुके हैं। हरिरूप कहकर जनाया कि श्रीराममन्त्र इनसे मिला और हररूप कहकर गुप्तरूपसे यह कह दिया कि 'हर' रूपसे इन्होंने 'मानस' दिया)—वस्तुत भगवान् शङ्करने ही रामचरितमानस इनको गुरुके द्वारा दिया (जैसे भुशुण्डिजीको लोमशजीद्वारा दिया था।) 'मूल 'गुसाईं-चरित' में भी कहा है—'प्रिय शिष्य अनन्तानंद हुते। नरहर्य्यानंद सुनाम छते॥ तिन कहँ भव दरसन आपु दिये। " प्रिय मानस रामचरित्र कहे। पठये तहँ जहँ द्विजपुत्र रहे॥ दो०—लै बालक गवनहु अवध विधिवत मंत्र सुनाय। मम भाषित रघुपति कथा ताहि प्रबोधहु जाय॥'*

श्रीशङ्करजीकी आज्ञानुसार तुलसीदासजीको गुरु श्रीअवध लाये, वैष्णवपञ्चसंस्कार वहीं इनका हुआ और राम-मन्त्र मिला। लगभग साढ़े सात वर्षकी अवस्था उस समय थी। १० मास श्रीहनुमान्गढ़ीपर रहकर पाणिनिसूत्र आदि पढ़ा। फिर शूकरक्षेत्रमें, हेमन्त ऋतुमें, सम्भवत मार्गशीर्ष मासमें गये। तब ८ वर्ष ४ मासकी अवस्था थी। शूकरक्षेत्रमें ५ वर्ष रहे, यहीं गोसाईंजीने गुरुजीसे पाणिनिसूत्र अर्थात् अष्टाध्यायीका अध्ययन किया। सुबोध होनेपर रामचरितमानस गुरुने इनको सुनाया और बारम्बार सुनाते-समझाते रहे। इस प्रकार गोस्वामीजीने गुरुसे जब रामचरितमानस सुना तब उनकी अवस्था तेरह-चौदह वर्षसे अधिक न थी, इसीको कविने 'बालपन' 'अति अचेत' (अवस्था) कहा है। यह अपरिपक्व अतः अबोध अवस्था है ही। इस तरह मानसकी गुरुपरम्परा आपकी यह हुई, १ भगवान् शङ्करजी। २ स्वामी श्रीनरहर्य्यानन्दजी। ३ गोसाईंजी। रामचरितमानसके मूलस्रोत भगवान् शङ्कर ही हैं, इन्हींसे अनेक धाराएँ निकलीं।

२—मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि 'बृहद्रामायणमाहात्म्य' में कहा है कि ममता नाम्नी स्वस्त्रीकी शिक्षा होनेपर गोस्वामीजी श्रीअयोध्याजीमें आकर गुप्तारघाटपर सो रहे। स्वप्नमें देखा कि पिताजी उनसे कहते हैं कि आँख खुलने-पर जिस सन्तका प्रथम दर्शन हो उन्हींसे शिष्य हो जाना। जागनेपर श्रीनरहरिदासजीके दर्शन हुए। प्रार्थना करनेपर उन्होंने उपदेश दिया। तत्पश्चात् नैमिषारण्यके वाराहक्षेत्रको साथ-ही-साथ गये। वहाँ कुछ दिन रहकर रामायण श्रवण किया।

नोट—२ गोस्वामीजीद्वारा मानसमें निर्दिष्ट 'सूकरखेत' कौन है जहाँ उन्होंने अपने गुरुदेवसे प्रथम-प्रथम मानसकी कथा सुनी ?

---

* 'मूल गुसाईंचरित' के सम्बन्धमें मतभेद है। उसमें तिथियोंकी अशुद्धियाँ पायी जाती हैं। इससे कुछ विशेष साहित्यज्ञोंने उसको प्रमाण माननेमें संदेह प्रकट किया है। श्रीरामदास गौड़जीने उसको प्रामाणिक माननेके कारण अपने एक लेखमें (जो कल्याणमें छपा था) कहे हैं। कुछ लोगोंने यह मत प्रकट किया है कि तिथियोंकी अशुद्धियाँ होनेपर भी यह सर्वथा अग्राह्य नहीं है। उसकी प्रतिलिपि जो बाबा रामदासकी लिखी हुई है उसके कागज और मसीसे वह प्राचीन लिखी हुई ही सिद्ध होती है, सतमण्डलोंमें उसका मान है। अत हम उसके उद्धरण भी कहीं-कहीं दे रहे हैं।

श्रीअयोध्याजीके निकटवर्ती भूभागमें 'सूकरखेत' के नामसे प्रसिद्ध प्राचीन शूकरक्षेत्र गोंडा जिलेमें अयोध्याजीसे लगभग तीस मीलकी दूरीपर उत्तर-पश्चिमकोणपर स्थित है। अवध-तिरहुत रेलवेकी 'कटिहार' से 'लखनऊ' जानेवाली प्रधान लाइनपर कर्नैलगंज स्टेशनसे यह बारह मील उत्तर पड़ता है। यहाँ प्रतिवर्ष पौषकी पूर्णिमाको बड़ा भारी मेला लगता है और श्रीअयोध्या, काशी, प्रयाग, चित्रकूट, नैमिषारण्य एवं हरिद्वार आदिसे साधुओंके अखाड़े भी पौषभर कल्पवास करनेके लिये आते हैं। यह क्षेत्र पसका-राज्यके अन्तर्गत है। मेला पसकासे एक फरलाँगकी दूरीपर लगता है। यहाँ एक मन्दिर वाराह भगवान्‌का और वाराही देवीका भी है। घाघराके बहावकी दिशा निरन्तर बदलती रहने तथा प्रतिवर्ष बाढ़के प्रकोपके कारण प्राचीन मूर्ति और मन्दिर प्रायः लुप्त हो चुके थे। सौ वर्षसे अधिक हुआ कि राजा नैपालसिंहजीने नये मन्दिरकी स्थापना की। देवीभागवतमें भी वाराह भगवान् और वाराहीदेवीका उल्लेख आया है। यथा—'वाराहे चैत्र वाराही सर्वैः सर्वाश्रया सती।''। २५। ''पूर्वरूप वराह च दधार स च लीलया। पूजा चकार तां देवीं ध्याध्वा च धरणीं सतीम्॥ ३३॥' (स्कन्ध ९, अ० ९) शूकरखेतमें दोनोंकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। वाराहीदेवी या उत्तरी भवानीका मन्दिर पसकाके उत्तर-पूर्व-दिशामें स्थित है।

गोस्वामीजीका सम्बन्ध इसी शूकरक्षेत्रसे था। इसका एक प्रमाण यह भी मिलता है कि शूकरक्षेत्रके मन्दिरसे मिली हुई एक बहुत प्राचीन कुटी है जो अपने आसपासकी भूमिसे बीस फुटकी ऊँचाईपर स्थित है। कुटीके द्वारपर बरगदका एक विशाल वृक्ष है और पीछे एक उतना ही पुराना पीपलका। ये दोनों बाबा नरहरिदास (नरहर्य्यानन्द) के लगाये कहे जाते हैं और यह कुटी भी उन्हींकी है, यह वहाँके वर्तमान अधिकारी बाबा रामअवधदासने बताया और सतसमाजमें भी यही ख्याति है।

बाबा रामअवधदास नरहरिदासजीकी शिष्यपरम्पराकी दसवीं पीढ़ीमें हैं। इनका कथन है कि इस गद्दीके संस्थापक श्रीनरहरिदासजीकी साधुतापर मुग्ध होकर उनके समकालीन पसकाके राजा धौकलसिंहने कुछ वृत्ति दी थी जो अबतक वैसी ही उनकी शिष्यपरम्पराके अधिकारमें चली आती है। मेरे विचारमें तो गोस्वामीजीके गुरुदेवकी स्मृति भी अबतक उसी भूमि (वृत्ति) के कारण सुरक्षित रह सकी है, नहीं तो दो एक पीढ़ियोंके बाद ही उसका भी चिह्न मिट जाता। उस भूमिपर आज भी लगान नहीं लिया जाता। पसकाराज्यके पदाधिकारी उपर्युक्त कथनकी पुष्टि करते हैं। वृत्तिदाता तथा भोक्ता दोनोंकी परम्परा अबतक अविच्छिन्न रूपसे चली आती है।

गोस्वामीजीके पसका वा सूकरखेत आनेकी बात इस प्रकार भी सिद्ध होती है कि बाबा वेणीमाधवदास, जो 'गोसाईं-चरित' के परम्परासे प्रसिद्ध रचयिता हैं, पसकाके ही निवासी थे। 'शिवसिंह सरोज' तथा यू० पी० डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, गोंडा डिस्ट्रिक्ट, दोनों इसकी पुष्टि करते हैं। 'सेंगर' ने स्वयं गोसाईं-चरित देखा था तभी तो वे लिखते हैं कि 'इनके (तुलसीके) जीवन चरित्रकी पुस्तक श्रीवेणीमाधवदास कवि पसका ग्रामवासीने जो इनके साथ रहे, बहुत विस्तारपूर्वक लिखा है। उसके देखनेसे इन महाराजके सब चरित्र प्रकट होते हैं। इस पुस्तकमें की ऐसी विस्तृत कथाको हम कहाँतक वर्णन करें?' तुलसी या उनके परिचित किसी अन्य महानुभावके जीवनसे सम्बद्ध आजतक किसी अन्य पसका गाँवका उल्लेख साहित्यके इतिहासोंमें नहीं मिलता। डिस्ट्रिक्ट गजेटियर लिखता है—

"One or two Gonda worthies have attained some measure of literary fame Beni Madho Das of Paska was a disciple and Companion of Tulsi Das whose life he wrote in the form of Poem entitled "The Goswami-Charita.'

(Vol. X I L V) District Gazetteer of Gonda

By W. C. Benett

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' और 'डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें उस समय लिखे गये थे जब 'सूकरखेत' की स्थिति एक प्रकारसे सर्वमान्य होकर वर्तमान वर्गोंके दुराग्रहसे एक समस्या नहीं बना दी गयी थी और न उनके लेखकों विद्वानोंपर, जिनमें एक अंग्रेज महाशय भी थे, किसी प्रकारका साम्प्रदायिक अथवा वैयक्तिक स्वार्थोंका दोष ही लगाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मानसकी भाषा ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अवश्य ही तुलसीने अयोध्याके निकटमें अपने प्रारम्भिक जीवनका अधिकांश भाग व्यतीत किया था, क्योंकि किसी स्थानकी भाषा उसी अवस्थामें पूर्णरूपेण ग्रहण की जा सकती है।

गोंडा जिलेका शूकरक्षेत्र आज भी 'सूकरखेत' के नामसे ही, जिस रूपमें उसका उल्लेख रामचरित-मानसमें हुआ है, प्रसिद्ध है।—यह बात बड़े मार्केकी है। 'सोरों' शूकरका अपभ्रंश हो सकता है और वाराहावतारका किसी कल्पमें स्थान भी, किंतु उसे तुलसीका 'शूकरखेत' कहना एक बहुत बड़ी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक भूल है।

यह भी बता देना आवश्यक है कि उकारकी मात्राका प्रयोग आज भी पसकाके रहनेवाले बहुत करते हैं जैसा कि मानसमें भी है जैसे कि रामु, भरतु इत्यादि।

सूकरखेतको वराहावतारका स्थान सिद्ध करनेवाले मुख्य प्रमाणोंमें शूकरक्षेत्र नामके अतिरिक्त 'पसका' तथा 'घाघरा' नदीके नाम-विशेष सहायक हैं। पसका = पशुका = वह स्थान जहाँ पशु रहते हैं = वह स्थान जहाँ भगवान्ने पशुरूप धारण किया था = शूकरक्षेत्र। अथवा, पसका = पशुक = पशु एव इति। (पशुप्रधान स्थान)—कुत्सित पशु (कुत्सित पशु अर्थात् शूकर)। अथवा, भगवान् जब अधिक समयतक रसातलसे न लौटे तब अनिष्टकी शङ्कासे ऋषियोंने यहाँ उपवास किया था जिससे इस स्थानका नाम 'उपवासका' पड़ा जो धीरे-धीरे पवासका, पासका, पसका हो गया। घाघरा 'घुरघुर' शब्दका अपभ्रंश माना जाता है। क्रोधावेशमें हिरण्याक्षके वधके समय वाराहभगवान् बड़े ऊँचे स्वरसे 'घुरघुर' शब्द करते हुए निकले थे, इससे नदीका नाम घाघरा पड़ा। (श्रीभगवतीप्रसाद सिंहजी)

नोट—४ श्रीनगेपरमहंसजीका मत है कि—'ग्रन्थकार अपनेको बालपनकी तरह अचेत सूचित करते हैं किंतु अपने बालपन नहीं थे। क्योंकि बालपन तो अति अचेत अवस्था है। उस अवस्थामें कोई रामचरितकी कथा क्या सुनेगा? अतः गोस्वामीजीको गुरुसे कथा श्रवण करते समय बालक अवस्थाका अर्थ करना असङ्गत है।'—(गोस्वामीजी सस्कारी पुरुष थे। वाल्मीकिजीके अवतार तो सभी मानते हैं—उनके समयसे ही। संस्कारी बालकोंके अनेक उदाहरण अब भी मिलते हैं।)

वे उत्तरार्धका अर्थ यह करते हैं—'जसि बालपन अति अचेत है तस मैं अचेत रहेउँ।', वे लिखते हैं कि 'बिना 'जस' शब्दको लिये 'तस' शब्दका अर्थ हो ही नहीं सकता।' ग्रन्थकारकी अवस्था समझनेकी थी पर अचेत होनेके कारण नहीं समझे। एक तो रामकी कथा गूढ़, दूसरे मैं जीव जड़, तीसरे कलिमलग्रसित। अतः नहीं समझ सका। और बालपन तो समझनेकी अवस्था ही नहीं है। उसमें जीवकी जड़ता, कथाकी गूढ़ता, कलिका ग्रसना कहनेका क्या प्रयोजन है?'

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि ज्ञानमें तुलसीदासजी बालक थे। अर्थात् उस समय विशेष हरिचरित्रका ज्ञान न था। थोड़े ही दिनोंमें साधु हुए थे। इसीलिये वे आगे लिखते हैं कि मेरा जीव जड़ कलिके मलसे ग्रसा हुआ उस गूढ़ रामकथाको कैसे समझे। पूर्व नोट २ भी देखिये।

दो०—श्रोता बकता ग्यान निधि कथा राम कै* गूढ़।
किमि समुझौं† मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित बिमूढ़॥३० (ख)॥

अर्थ—श्रीरामजीकी कथा गूढ़ है। इसके श्रोता-वक्ता दोनों ज्ञाननिधि होने चाहिये। मैं जड़, कलिमलसे ग्रसा हुआ और अत्यन्त मूर्ख जीव कैसे समझ सकता?॥ ३० (ख)॥

नोट—१ (क) 'श्रोता बकता ज्ञाननिधि०' का एक अर्थ ऊपर दिया गया। मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'यद्यपि श्रोता-वक्ता दोनों ज्ञाननिधि हों तो भी कथा गूढ़ है।' तात्पर्य यह कि ज्ञाननिधि वक्ता-श्रोता होनेपर भी कथाका

* की। † समुझै यह—पाठान्तर किसी छपी पुस्तकमें है।

समझना कठिन है और मैं तो 'जीव जड़' हूँ। (ख) किसी-किसीका मत है कि आशय यह है कि 'गुरुदेव तो ज्ञाननिधि थे ही और श्रोता भी जो वहाँ थे वे भी ज्ञाननिधि थे, इस कारण वक्ताका भाषण संस्कृतमें ही होता था। वे सब कथामें वर्णित गुप्त रहस्यको खूब समझते थे। मुझे वैसी समझमें नहीं आती थी, जैसी उन्हें।' और 'मूल गुसाईंचरित' के अनुसार शङ्करजीकी आज्ञा केवल गोस्वामीजीको यह कथा पढ़ाने-समझानेकी थी और उन्हींको गुरुजीने पढ़ाया-समझाया भी, क्योंकि इन्हींके द्वारा भगवान् शङ्करको उसका प्रचार जगत्‌में कराना अभिप्रेत था। यथा—'मम भाषित रघुपति कथा ताहि प्रबोधहु जाय। ७। जब उघरहिं अतर दगनि तब सो कहिहि बनाय॥'' पुनि पुनि मुनि ताहि सुनावत भे। अति गूढ़ कथा समुझावत भे॥' (ग) 'कथा रामकै गूढ़' इति। कथासे तात्पर्य श्रीरामजीके चरित्र, उनके गुणग्राम, उनकी लीला जो उन्होंने की इत्यादिसे है न कि केवल काव्यरचना या पदार्थहीसे। किस चरितका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। कथाका विषय एवं गुप्त रहस्य जानना कठिन है। गूढ़=कठिन, अभिप्रायगर्भित गम्भीर, जिसका आशय शीघ्र न समझमें आवे, गुप्त यथा—'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति॥' (आ० मं० सो०)।

तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥ १॥
भाषाबद्ध* करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥ २॥

शब्दार्थ—बद्ध-बँधा हुआ, प्रबन्ध बना हुआ। भाषाबद्ध-साधारण देशभाषामें बना या रचा हुआ। प्रबोध= पूर्ण बोध, संतोष।

अर्थ—(यद्यपि मैं बालक था, अति अचेत था, कलिमलग्रसित और विमूढ़ था) तो भी श्रीगुरुदेवजीने बारम्बार कथा कही। तब बुद्धिके अनुकूल कुछ समझमें आयी॥ १॥ उसीको मैं भाषा (काव्य) में रचूँगा, जिससे मेरे मनको पूरा बोध होवे॥ २॥

नोट—१ 'तदपि कही' का भाव कि जड़ जानकर भी गुरुजीने मेरा त्याग न किया, मेरे समझनेके लिये बारम्बार कहा। इसमें यह अभिप्राय गर्भित है कि यदि गुरु तत्त्ववेत्ता और दयालु हों तो शिष्यको, चाहे कैसा ही वह मंद हो, बारम्बार उपदेश देकर बोध करा ही देते हैं। इस तरह अपने गुरु महाराजको ज्ञाननिधि और परम दयालु सूचित किया। (मा० प०)।

२—पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ गोस्वामीजीने 'बारहिं बारा' पद देकर यह भी जना दिया कि कितने बार गुरुजीने आपसे कथा कही। बारह-बारह अर्थात् चौबीस बार पढ़ाया। पुन:, इससे यह सूचित किया कि रामकथा एक बार सुनकर न छोड़ देनी वरन् बारबार सुनते रहना चाहिये। वायुपुराणमें लिखा है कि सारे कार्मोंसे सकोच करके कथा सुननी चाहिये। यथा—'स्नानसन्ध्यादिकर्माणि परित्यज्य हरे कथाम्। शृणोति भक्तिसम्पन्नः कर्मपाशाद्विमुच्यते॥ कथानिमित्तं यदि कर्मलोपः स कर्मलोपो न भवेन्मदीय'।' (मानसपत्रिका)

पं० शिवलालपाठकजी '**राम भगत अधिकारी चीन्हा**' शब्दका अर्थ यह करते हैं कि 'जिसके उरमें पूर्वहीसे भक्तिका वास हो रहा है, तत्पश्चात् जिसने मानसविज्ञ गुरुको पाकर उसमें पञ्चावृत्ति मन लगाकर मानस पढ़ा हो, वह अधिकारी है।' इस प्रमाणसे कुछ लोगोंका मत है कि 'बारहिं बारा' से केवल पाँच बार पढ़ानेका तात्पर्य है।

☞ गोस्वामीजी 'पाँच बार' स्वयं कह सकते थे पर ऐसा न कहकर उन्होंने 'बारहिं बारा' लिखा। इससे निश्चय नहीं कहा जा सकता कि कितने बार कही। मूल गुसाईंचरितमें भी 'पुनि पुनि मुनि ताहि सुनावत भे' कहा है, जिसका अर्थ 'बारबार' ही है। जब प्रबोध हो गया तब वहाँसे चले। यथा—'येहि भाँति प्रबोधि मुनीस चले।' अपने-अपने मति-अनुसार जो अर्थ चाहे लोग लगा सकते हैं। हाँ, समयका खयाल अवश्य रहे कि जितनी बारका अर्थ लगाया जाय उतनी आवृत्तियाँ उतने समयमें सम्भव हों। यह भी प्रश्न यहाँ उठता है कि—क्या यहाँ कोई ग्रन्थ

* बध—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। बद्ध—१६६१, १७०४। सुधाकर द्विवेदीजी 'बध' को उत्तम मानते हैं।

पढानेकी बात है या केवल शंकरद्वारा कही हुई कथा? ग्रन्थ पढने-पढानेमें समय अधिक लगेगा, केवल चरित कहने और समझनेमें समय कम लगेगा। यहाँ ग्रन्थका पढना नहीं है।—यह इस दीनका विचार है, आगे जो सतों, मानसविज्ञों का विचार हो, वही ठीक है।

श्रीशंकरजीने 'अधिकारी' का अर्थ ७। १२८ में स्वयं कहा है। यथा—'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी॥ गुरुपद प्रीति नीतिरत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई॥'

टिप्पणी—१ 'कछु मति अनुसारा' इति। 'मति लघु थी इससे कुछ समझ पड़ा, मति भारी होती तो बहुत समझ पड़ता। कुछ समझनेमें तो जगत्‌भरका उपकार हुआ, जो बहुत समझ पड़ता तो न जाने क्या होता?'

नोट—'भाषाबद्ध करबि' से सूचित किया कि आपने गुरुजीसे संस्कृतहीमें पढा सुना था।

४—चौपाईके उत्तरार्द्धमें भाषामें रचनेका कारण यह बताया कि पूरा बोध हो जावे। श्रीकरुणासिंधुजी यहाँ शङ्का उठाते हैं कि—'क्या गुरुके कहनेसे आपको बोध न हुआ और स्वयं अपना ग्रन्थ बनानेसे बोध हो जावेगा? ऐसा कहनेसे आपकी आत्मश्लाघा सूचित होती है, अपने मनकी चाह प्रतीत होती है—यह दोष आता है, और फिर इसका समाधान भी करते हैं कि भाषाबद्ध करनेमें यह कोई प्रयोजन नहीं है। आप यह नहीं कहते कि हमने गुरुके कहनेसे नहीं समझा। बल्कि यह कहते हैं कि जो कुछ हम गुरुसे पढकर समझे हैं उसीको भाषामें लिखते हैं।

५—भाषाबद्ध करनेसे अपने जीको संतोष हो सकेगा कि—(क) हमने जो गुरुजीसे सुना है वह ठीक-ठीक स्मरण है, भूल तो नहीं गया। यह बात लिखनेहीसे ठीक निश्चय होती है। लिखनेसे कोई सदेह नहीं रह जाता सब कमी भी पूरी हो जाती है। (ख) आगे भूल जानेका डर न रहेगा। लिखनेसे फिर भ्रम न रहेगा क्योंकि बहुत गूढ विषय है—(प० रा० कु०)। पुन, (ग) भाव कि साधारण बुद्धिवाले जब इसे पढें, सुनें और समझें तब हमें पूरा बोध हो कि गुरुजीने जो कहा वह हमें फलीभूत हुआ, हमारा कल्याण हुआ, औरोंका भी कल्याण होगा। इससे हमारे गुरुको परमानन्द होगा। (मा० प्र०)। [नोट—यथार्थ समझना तभी है जब दूसरेको समझा सकें]

टिप्पणी—२ गोस्वामीजीने इस ग्रन्थके लिखनेका कारण आदिमें 'स्वान्त सुखाय' कहा—(म० श्लोक ७), ग्रन्थके अन्तमें 'स्वान्तस्तम शान्तये' कहा और यहाँ 'मोरे मन प्रबोध जेहि होई' कहा। ये तीनों बातें एक ही हैं। अन्तम् मनका वाचक है। मनका प्रबोध होता है तभी सुख और शान्ति आती है।

जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हियँ हरि कें प्रेरें॥ ३॥

अर्थ—जैसा कुछ मुझमें बुद्धि विवेकका बल है वैसा ही मैं हृदयमें 'हरि' की प्रेरणासे कहूँगा॥ ३॥

प० रामकुमारजी—यहाँ गोस्वामीजी अपनी दीनता कहते हैं। इनको बुद्धि-विवेकका बड़ा बल (परमेश्वरका दिया हुआ) है। क्योंकि बुद्धि श्रीजानकीजीसे पायी है यथा—'जनकसुता जगजननि जानकी। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥ १। १८। ८' पुन समस्त ब्रह्माण्डके प्रसादसे आपको मति मिली, यथा—'आकर चारि लाख चौरासी।' से 'निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करउँ सब पाहीं॥ १। ८। १-४।' और शम्भु-प्रसादसे सुमति मिली है, यथा—'संभुप्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥ १। ३६। १।' इसी तरह इनको विवेकका बड़ा बल है। प्रथम गुरुपदरजसेवनसे विवेक मिला, यथा—'गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥ तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन॥ दो० २।' उसपर भी हरि-प्रेरणाका बड़ा बल है। उनके प्रेरक भगवान् हैं, यथा—'सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥ ७। ११३।', 'सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ १। १०५। ५।' हरिप्रेरणासे ही सरस्वतीजी कविके हृदयमें विराजकर कहलाती हैं।

सूर्यप्रसाद मिश्र—यह बात सच है कि मानस अति गम्भीर है, उसके पूरा-पूरा कथनका अधिकार किसीको नहीं है, मैं क्या कह सकता हूँ, उसी हृदयप्रेरक भगवान्‌की प्रेरणासे कहूँगा। इस कथनसे यह बात साफ हो गयी कि मैं कुछ नहीं कह सकता।

नोट—'हरि' से कोई-कोई क्षीरशायी भगवान्‌का अर्थ लेते हैं, क्योंकि प्रथम इनको हृदयमें बसाया है, यथा—'**करउ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन।**' काष्ठजिह्वास्वामीजी 'हरि' से मङ्गलमूर्त्ति श्रीहनुमान्‌जीका अर्थ करते हैं। हरि 'वानर' को भी कहते हैं। सुधाकर द्विवेदीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि हनुमान्‌जीकी रचनापर जब रामजीने सही नहीं की, क्योंकि वे वाल्मीकीयपर सही कर चुके थे, तब हनुमान्‌जीने नियम किया कि मैं कलिमें तुलसीकी जिह्वापर बैठकर भाषामें ऐसा रामायणका प्रचार करूँगा कि वाल्मीकिकी महिमा बहुत थोड़ी रह जायगी।'

'हरि' का अर्थ ग्रन्थकारने प्रथम ही मङ्गलाचरणमें लिख दिया है। यथा—'**वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।**' अर्थात् जिसका 'राम' यह नाम है वे हरि। फिर यहाँ कहा है कि '**कहिहौं हिय हरि के प्रेरे।**' और आगे श्रीरामजीका सूत्रधररूपसे हृदयमें सरस्वतीका नचाना कहा है। यथा—'**सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥**' (१।१०५)। इस प्रकार भी 'हरि' से श्रीरामजी ही अभिप्रेत हैं। भागवतमें भी कहा है—'**प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वता यस्य सतीं स्मृतिं हृदि।**' (भा० २।४।२२)। 'मूलगुसाईंचरित' का मत है कि श्रीहनुमान्‌जीने गोस्वामीजीको श्रीअवध भेजा और चैत्र शु० ९ को दर्शन देकर हनुमान्‌जीने उनको आशीर्वाद दिया।—'**नवमी मंगलवार सुभ प्रात समय हनुमान। प्रगटि प्रथम अभिषेक किय करन जगत कल्यान॥**' इससे श्रीहनुमान्‌जीका भी ग्रहण 'हरि' शब्दमें हो सकता है।

श्रीरामचरितमानसमाहात्म्यवर्णन-प्रकरण।

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी॥ ४॥

अर्थ—मैं अपने संदेह, मोह और भ्रमको हरनेवाली और संसारनदीके लिये नावरूप कथा रचता हूँ॥ ४॥

नोट—१ (क) यहाँसे गोस्वामीजी श्रीराम-कथाका माहात्म्य एवं ग्रन्थका प्रयोजन विशेषणोंद्वारा कहते हैं। पचीस विशेषण स्त्रीलिङ्गके और अट्ठाईस पुॅल्लिङ्गके हैं। यहाँ अपना तथा संसारभरका भला करना प्रयोजन बताया (ख) संदेह, मोह, भ्रमके रहते हुए भवका नाश नहीं होता। इसीसे पहिले तीनोंका नाश कहकर तब 'भव सरिता तरनी' कहा। (प० रा० कु०)।

"संदेह मोह भ्रम" इति।

बैजनाथजीका मत है कि मन विषय, सुख, भोगमें जब आसक्त हो जाता है तब भगवत्‌रूपमें आवरण पड़ जानेसे चित्तमें संदेह उत्पन्न हो जाता है, जिससे मन मोहवश होकर बुद्धिको हर लेता है, यथा—'**इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥** गीता २।६७।' किसीका मत है कि संदेह चित्तमें होता है, मोह मनमें और भ्रम बुद्धिमें। रा० प० कार लिखते हैं कि आत्माके ज्ञानमें द्विविधा होना, यह बोध न होना कि मैं कौन हूँ 'सन्देह' है। अपनेको देह मानना 'भ्रम' है। सू० प्र० मिश्र लिखते हैं कि 'यह ठीक है या नहीं, यही, संदेह है—'**इदमेव भवति न वा इति संदेहः**'। काम और बेकाम, इनका विचार न होना मोह है—'**कार्य्याकार्य्यविवेकाभावरूपो मोहः।**' झूठेमें सच्चेकी प्रतीति होना भ्रम है—'**भ्रमयतीति भ्रमः।**' श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि—'संदेह अर्थात् संशय, किसी वस्तुके ज्ञानमें द्विविधा होना, जैसे श्रीरामजीको परब्रह्म मानकर श्रीशिवजीने प्रणाम किया और पार्वतीजीको चरितकी दृष्टिसे रामजी मनुष्य जान पड़े। अतः संदेह हो गया कि शिवजी ईश हैं इनका निश्चय अन्यथा कैसे हो? पर मुझे तो रामजी मनुष्य ही दीखते हैं। अतः 'संदेह' का अर्थ ईश्वरके स्वरूप-ज्ञानमें द्विधा है। 'मोह' का अर्थ 'अपने (जीव) स्वरूपमें' अज्ञान होना है, जिससे अपनेको देह ही मानना और इन्द्रियाभिमानी होकर दसों इन्द्रियोंके भोक्ता होनेमें दशमुखरूप होना है।'''भ्रम' का अर्थ अचित् (माया) तत्त्वमें अनिश्चय होना अर्थात् ब्रह्मके शरीररूप जगत्‌में नानात्व-सत्ताका भ्रम होना है।''''अतः यहाँ संदेह, मोह और भ्रम क्रमशः ब्रह्म, जीव और मायाके विषयमें कहे गये हैं।'

परतु सतीजी, गरुड़जी और भुशुण्डिजीके मोह-प्रसङ्गोंके पढनेसे स्पष्ट है कि ब्रह्मके सम्बन्धहीमें तीनोंको मोह, भ्रम और सदेह होना कहा गया है। ग्रन्थमें 'सदेह, मोह और भ्रम' ये तीनों शब्द प्रायः पर्यायकी तरह एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। पर यहाँ तीनों शब्द एक साथ ही आये हैं, इसलिये इनमें कुछ-न-कुछ भेद भी होना पाया जाता है। साधारणतया तो ऐसा जान पड़ता है कि ये तीनों अज्ञानके कार्य हैं। जब किसी पदार्थके विषयमें मनुष्यको अज्ञान होता है तब उसको उस विषयका किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता, अज्ञानकी इस प्रथम अवस्था (कार्य) को 'मोह' कहते हैं—'मुह वैचित्ये' 'वैचित्यमविवेक.'। 'मोह' वह अवस्था है जिसमें निश्चयात्मक या सदेहात्मक किसी प्रकारका विचार नहीं होता। इस अवस्थाका अनुभव प्राय देखनेमें कम आता है, बहुधा इसके स्थूल रूप (सदेह या भ्रम) ही विशेष अनुभवमें आते हैं। जब मोह स्थूल रूप धारण करता है तब उसीको 'भ्रम' कहते हैं। किसी पदार्थके विपरीत ज्ञान (अयथार्थ अनुभव) को 'भ्रम' कहते हैं। इस अवस्थामें मनुष्यको पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता, किंतु वह कुछको कुछ समझता है। इसके दृष्टान्त 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रम.', 'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि॥ १। ११७।' इत्यादि हैं। जब 'भ्रम' अनिश्चित रहता है तब उसको 'सदेह' भी कहते हैं। एक विषयमें भिन्न-भिन्न प्रकारके ज्ञानको 'सदेह' कहते हैं। अर्थात् ऐसा है अथवा ऐसा मनकी इस द्विविधावृत्तिको 'सदेह' (सशय) कहते हैं। सशयात्मा यह निर्णय नहीं कर सकता कि ठीक क्या है। यह दोनों प्रकारसे होता है। प्रथम यथार्थ ज्ञान होनेपर जब कोई कारण होता है तब उसमें सदेह होता है। जैसे गरुड़जी और भुशुण्डिजी आदिको प्रथम यथार्थ ज्ञान था कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं। पश्चात् लीला देखनेसे उनको संदेह हो गया। कहीं प्रथम अयथार्थ ज्ञान रहता है तब कारणवशात् उसमें सदेह होता है। जैसे सतीजीको प्रथम निश्चय था कि श्रीरामजी मनुष्य हैं परतु शिवजीके प्रणाम करनेपर उनको सदेह हो गया। यथा—'सतीं सो दसा सभु कै देखी। उर उपजा सदेहु बिसेषी॥ सकरु जगतबद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥ तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानद परधामा॥ ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥ १। ५०। बिष्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥ खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥ सभुगिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सब कोई॥ अस ससय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥' इस प्रकार सदेह, मोह, भ्रम और इनके मूल कारण अज्ञानमें यद्यपि सूक्ष्म भेद है तथापि कार्य-कारण, स्थूल-सूक्ष्म भावमें अभेद मानकर एक प्रसङ्गमें भी समानरूपसे इनका प्रयोग प्राय देखनेमें आता है। इनमेंसे 'सदेह' में एक अशमें विपरीत ज्ञान भी होता है, इसलिये 'सदेह' (अनिश्चित ज्ञान) के स्थलमें 'भ्रम' शब्दका प्रयोग भी कतिपय स्थानोंमें हुआ है, परतु जहाँ निश्चयपूर्वक विपरीत ज्ञान है उस स्थलमें 'सदेह' शब्दका प्रयोग नहीं होता, क्योंकि वहाँ उसका लक्षण नहीं आता। उस स्थलमें 'भ्रम' शब्दका ही प्रयोग होगा। अज्ञान तथा मोह ये सदेह तथा भ्रमके कारण हैं। अत. उनका प्रयोग निश्चित और अनिश्चित दोनों स्थलोंमें होता है। अतएव सतीमोह और गरुड़मोह प्रसङ्गोंमें इन चारों शब्दोंका प्रयोग एक ही अवस्थामें किया गया है। गरुड़-प्रसङ्गमें अज्ञानके बदले माया शब्दका प्रयोग हुआ है।

अज्ञानकी स्थूल या सूक्ष्म कोई भी अवस्था क्यों न हो उसकी निवृत्ति कथासे होती है, यह बतानेके लिये ही यहाँपर 'सदेह, मोह, भ्रम' इन तीनों शब्दोंका ग्रहण किया गया है। इसी भावको लेकर ही अन्यत्र भी एक साथ इन शब्दोंका प्रयोग किया है। यथा—'देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह ससय नाना भ्रम॥ ७। ६४।', 'तुम्हहिं न संसय मोह न माया। ७। ७०।'

नोट—२ 'सदेह' को आदिमें रखनेका कारण यह है कि यह तीनोंमें सबसे भयकर है। मोह और भ्रम होनेपर कदाचित् सुख हो भी जाय परतु सदेहके रहते सुख नहीं हो सकता। जैसे सतीजीको जबतक यह निश्चयात्मक अयथार्थ ज्ञान (अर्थात् भ्रम) रहा कि श्रीरामजी मनुष्य हैं तबतक उनको कोई दुःख न था, परतु जब शिवजीको प्रणाम करते देख उन्हें सदेह उत्पन्न हुआ तभीसे उनको दुःखका प्रारम्भ हुआ। गीताके—'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च सशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुख सशयात्मन.॥ ४। ४०।' इस श्लोकपर स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी भाष्यमें कहते हैं कि—

अज्ञानी और अश्रद्धालु यद्यपि नष्ट होते हैं पर वैसे नहीं कि जैसे संशयात्मा नष्ट होता है। क्योंकि-उसको न यह लोक, न परलोक और न सुख प्राप्त होता है।

नोट—३ कथा भवसागरके लिये तरणोपाय है। यथा—'एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः। भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥ भा० १। ६। ३५।' अर्थात् (नारदजीने व्यासजीसे कहा है कि) जिन लोगोंका चित्त विषय-भोगोंकी इच्छासे बारबार व्याकुल होता है, उनके लिये भगवान्‌के चरित्रोंकी कथा ही संसार-सागरसे पार उतारनेवाला प्लव निश्चित किया गया है।

प० रामकुमारजी—'निज संदेह' का भाव यह है कि गुरु-वचन रवि-किरण-सम है, उससे मोह-अंधकार दूर होता है, कथा हमने गुरु-मुखसे सुनी, इससे संदेह-मोह-भ्रम अब न रहेगा। (इससे जनाया कि कथासे श्रीराम-स्वरूपका बोध हो जाता है।)

रा० प्र०—भवसागर न कहकर यहाँ भवसरिता कहनेका भाव यह है कि रामकथाके आगे भवसागर कुछ नहीं रह जाता, एक साधारण नदीके समान जान पड़ता है जिसके लिये नाव बहुत है। इससे भव या संसारजन्य दुःखकी तुच्छता दिखायी।

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि कलुष बिभंजनि॥ ५॥

अर्थ—रामकथा पण्डितोंको विश्राम देनेवाली, सब प्राणियोंको आनन्द देनेवाली और कलिके पापोंका नाश करनेवाली है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) पहिले कह आये है कि 'सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी॥ सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥ १। १०।' अर्थात् यह कथा श्रीराम-नाम और श्रीरामयशसे अङ्कित है, इसीसे 'बुधजन' को विश्रामदात्री है। अथवा, आपने जो कवियोंसे प्रार्थना की थी कि—'होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधुसमाज भनिति सनमानू॥ १। १४।' वह प्रसाद आपको मिला, इसलिये बुध विश्राम कहा।

यह कथा केवल 'बुध' ही को विश्रामदात्री नहीं है, सकल जन रञ्जनी है। यह शक्ति इसी कथामें है, क्योंकि प्रायः जहाँ बुध विश्राम है वहाँ सकल जन-रञ्जन नहीं और जहाँ सकल जन रञ्जन होता है वहाँ बुधको विश्राम नहीं। परंतु यह दोनोंको विश्राम देती है। 'सकल' से श्रोता, वक्ता, पृच्छकादि सभीका ग्रहण है। [पुनः, (ख) बुध-विश्रामका भाव यह है कि जो बुद्धिमान् अनेक शास्त्र पढ़कर श्रमित हो गये हैं उनको विश्रामरूपी है—'विश्रामस्थानमेकं कविवर-वचसाम्।' (रा० प्र०)। ☞परिश्रमके उपरान्त विश्रामहीसे प्रयोजन रहता है और उसका वास्तविक अनुभव भी परिश्रम करनेवाला ही कर सकता है। यथा—'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरुछाया सुख जानै सोई॥ ७। ६९।' पुनः, (ग)—'विश्राम' पद 'पूर्व थका हुआ' का सूचक है। पण्डित लोग वेद-शास्त्र-पुराणादि अध्ययन करते-करते थक गये पर उनको यथार्थ तत्त्वका निश्चय न हुआ। उनको भी मानसमें विश्राम मिलेगा। क्योंकि इसमें सब 'श्रुति सिद्धान्त निचोरि' कहा गया है] '(मानस-मयङ्क)। ☞अध्यात्मरामायणके माहात्म्यमें भी कहा है 'तावत्सर्वाणि शास्त्राणि विवदन्ते परस्परम्।' २५।' अर्थात् समस्त शास्त्रोंमें परस्पर विवाद तभीतक रहेगा जबतक श्रीरामायणको नहीं पढ़ते। तात्पर्य कि इस कथाको पढ़नेपर वाद-विवाद सब छूट जाते हैं।

२ 'कलि कलुष बिभंजनि' इति। (क) कलिकलुषको विशेष नाश करती है 'वि'=विशेष, पूर्ण रीतिसे। 'विशेष भंजनि' कहा क्योंकि सुकर्मसे भी पाप नाश होते हैं, पर विशेष रीतिसे नहीं, यथा—'करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥ वि० १२८।' (ख) कलि-कलुषका नाश कहकर आगे कलिका नाश कहते हैं। कलि कारण है, कलुष कार्य है। यदि कारण बना रहेगा तो फिर कार्य हो सकता है। इसीसे कार्यका नाश कहकर कारणका नाश कहते हैं जो केवल कलिका नाश कहते तो कलिसे जो कार्य 'कलि-कलुष' हो चुका है वह बना रहता। इसलिये दोनोंका नाश कहा। [सूर्यप्रसाद मिश्र—नाश करनेका क्रम यह है कि भगवत्कथा सुननेवाले प्राणीके कर्णद्वारा

हृदयमें प्रवेश करके भगवान् उसके अकल्याणोंको दूर कर देते हैं। जैसे शरद् ऋतुके आते ही नदीमात्रका गँदलापन दूर हो जाता है]।

२ तीन प्रकारके जीव संसारमें हैं। मुक्त, मुमुक्षु और विषयी। चौपाई ४ और ५ में यह जनाया कि यह कथा इन तीनोंका कल्याण करनेवाली है।—'सुनहिं विमुक्त बिरत अरु बिषई। ७। १५।' 'बुधविश्राम' से मुक्तकोटिका हित 'संदेह मोह भ्रम हरनी' और 'भवसरिता तरनी' से मुमुक्षुका हित सूचित किया। इनके संदेह-मोह-भ्रम दूर करके भव पार करेगी। और 'सकल जन रंजनि' से विषयीका हित दिखाया। इनके पापका नाश करके इनको आनन्द देगी।

☞ अध्यात्मरामायण-माहात्म्यमें भी कहा है—'तावद्विजृम्भते पापं ब्रह्महत्यापुरःसरम्। यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति ॥ २२ ॥ तावत्कलिमहोत्साहो निःशङ्कं सम्प्रवर्तते।' अर्थात् संसारमें ब्रह्महत्यादि पाप तभीतक रहेंगे, जबतक अध्यात्मरामायणका प्रादुर्भाव नहीं होगा और कलियुगका महान् उत्साह भी तभी तक निःशंक रहेगा।

नोट—यहाँ सबको आनन्द देना और पापका नाश करना काव्यका प्रयोजन बताया।

रामकथा कलि पन्नग भरनी। पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पन्नग=सर्प, साँप। 'भरनी'—भरणीके अनेक अर्थ किये गये हैं—(१) व्रज देशमें एक सर्पनाशक जीवविशेष होता है जो मूसेका-सा होता है। यह पक्षी सर्पको देखकर सिकुड़कर बैठ जाता है। साँप उसे मेढक (दादुर) जानकर निगल जाता है, तब वह भरनी काँटेदार देहको फैला देता है जिससे सर्पका पेट फट जाता है और साँप मर जाता है। यथा—'तुलसी क्षमा गरीब की पर घर घालनिहारि। ज्यों पन्नग भरनी ग्रसेउ निकसत उदर बिदारि ॥', 'तुलसी गई गरीब की दई ताहि पर डारि। ज्यों पन्नग भरनी भषे निकरै उदर बिदारि ॥', (२) 'भरनी' नक्षत्र भी होता है जिसमें जलकी वर्षासे सर्पका नाश होता है—'अश्विनी अश्वनाशाय भरणी सर्पनाशिनी। कृत्तिका षड्विनाशाय यदि वर्षति रोहिणी ॥' (३) भरणीको मेदिनीकोशमें 'मयूरनी' भी लिखा है—'भरणी मयूरपत्नी स्यात् वरटा हंसयोषिति' इतिमेदिनी। (४) गारुडी मन्त्रको भी भरणी कहते हैं। जिससे सर्पके काटनेपर झाड़ने हैं तो साँपका विष उतर जाता है। (५) 'वह मन्त्र जिसे सुनकर सर्प हटे तो बचे नहीं और न हटे तो जल-भुन जावे।' यथा—'किलो सर्पा तेरे बामी' इत्यादि। (मानसतत्त्वविवरण)। बाबाहरीदासजी कहते हैं कि झाड़नेका मन्त्र पढ़कर कानमें 'भरणी' शब्द कहकर फूँक डालते हैं और पाँड़ेजी कहते हैं कि भरणी झाड़नेका मन्त्र है। (६) राजपूतानेकी ओर सर्पविष झाड़नेके लिये भरणीगान प्रसिद्ध है। फूलकी थालीपर सरफुल्ईसे तरह-तरहकी गति बजाकर यह गान गाया जाता है। (सुधाकर द्विवेदीजी)। अरणी=एक काठका बना हुआ यन्त्र जो यज्ञोंमें आग निकालनेके काम आता है।

अर्थ—रामकथा कलि-रूपी साँपके लिये भरणी (के समान) है और विवेकरूपी अग्निको (उत्पन्न करनेको) अरणी है ॥ ६ ॥

नोट—१ (क) भरणीका अर्थ जब 'भरणी पक्षी, या 'गारुडी मन्त्र' लेंगे तब यह भाव निकलता है कि कलिसे ग्रसित हो जानेपर भी कलिका नाश करके जीवको उससे सदाके लिये बचा देती है। कलिका कुछ भी प्रभाव सुनने-पढ़नेवालेपर नहीं पड़ता। पुनः (ख) 'कलि कलुष बिभंजनि' कहकर 'कलि पन्नग भरनी' कहनेका भाव यह है कि कथाके आश्रित श्रोता-वक्ताओंके पापोंका नाश करती है और यदि कलि इस वैरसे स्वयं कथाका ही नाश किया चाहे तो कथा उसका भी नाश करनेको समर्थ है। अन्य सब ग्रन्थ मेढकके समान हैं जिनको खा-खाकर वह परक गया है। यथा—'कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रन्थ।७।९७।' पर यहाँ वह बात नहीं है, क्योंकि श्रीरामकथा 'भरणी पक्षी' के समान है जिसको खाकर वह पचा नहीं सकता। इस तरह कथाको अपना रक्षक भी जनाया। [☞ कलिके नाशका भाव यह है कि कलिके धर्मका नाश करती है' कलियुग तो बना ही रहता है पर उसके धर्म नहीं व्यापते। (प० रा० कु०)] (ग) उसका अर्थ 'भरणी नक्षत्र' या 'मयूरनी' करें तो यह भाव निकलता है कि कलिको पाते ही वह उसका नाश कर देती है। उसको

इसनेका अवसर ही नहीं देती। ऐसी यह रामकथा है। यह भी जनाया कि कलिसे श्रीरामकथाका स्वाभाविक वैर है, वह सदा उसके नाशमें तत्पर रहती है चाहे वह कुछ भी बाधा करे, या न करे। वह कामादि विकारोंको नष्ट ही करती है, रहने नहीं देती। (घ) इस तरह 'भरणी' शब्द देकर सूचित किया है कि श्रीरामकथा दोनोंका कल्याण करती है—जिन्हें कलिने ग्रास कर लिया है और जिनको अभी कलि नहीं व्यापा है उनकी भी रक्षा करती है।

२—'अरनी' इति। इसके दो भाग होते हैं, अरणि वा अधरारणि और उत्तरारणि। यह शमीगर्भ अश्वत्थसे बनाया जाता है। अधरारणि नीचे होती है और उसमें एक छेद होता है। इस छेदपर उत्तरारणि खड़ी करके रस्सीसे मथानीके समान मथी जाती है। छेदके नीचे कुश वा कपास रख देते हैं जिसमें आग लग जाती है। इसके मथनेके समय वैदिक मन्त्र पढते है और ऋत्विक् लोग ही इसके मथने आदिके कामोंको करते हैं। यज्ञमें प्राय अरणीसे निकाली हुई अग्नि ही काममें लायी जाती है। (श० सा०)

सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि—'अरणीसे सूर्यका भी बोध होता है। सर्पपक्षमें ऐसा अर्थ करना चाहिये कि सूर्यके उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है एव रामकथारूपी सूर्यके उदय होनेसे हृदयस्थ अविवेकरूप अन्धकार नष्ट होकर परम पवित्र विवेक उत्पन्न होता है।' (स्कन्दपुराण काशीखण्ड अ० ९ में सूर्य भगवान्के सत्तर नाम गिनाकर उनके द्वारा उनको अर्घ्य देनेकी विशेष विधि बतायी है। उन नामोंमेंसे एक नाम 'अरणि' भी है। यथा—'गभस्तिहस्तस्तीव्रांशुस्तरणि· सुमहोरणि। ८०॥' इस प्रकार 'अरणि' का अर्थ 'सूर्य भी हुआ)।

श्रीजानकीशरणजीने 'अरणी' का अर्थ 'लोहारकी धौंकनी' भी दिया है, पर कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस अर्थमें यह रूपक भी ठीक नहीं जमता, क्योंकि जहाँ किञ्चित् अग्नि होगी वहीं धौंकनी काम देगी और जहाँ अग्नि है ही नहीं वहाँ उससे कुछ काम न चलेगा।

टिप्पणी—१ (क) कलि और कलुषके रहते विवेक नहीं होता। इसीसे कलि और कलुष दोनोंका नाश करके तब विवेककी उत्पत्ति कही। (ख) 'अरणी' कहनेका भाव यह है कि यह कथा प्रत्यक्षमें तो उपासना है परंतु इसके अभ्यन्तर ज्ञान भरा है, जैसे अरणीके भीतर अग्नि है यद्यपि प्रकटरूपमें वह लकड़ी ही है। (ग) यहाँ 'परपरित रूपक' है।

नोट—३ यहाँ काव्यका प्रयोजन पापनाशन और विवेकोत्पत्ति बताया।

४—गोस्वामीजीने ३१वें दोहेमें 'कथा' पद और ३२वेंमें 'चरित' पद दिया है। प० शिवलालजी पाठक इस भेदको यों समझाते हैं कि 'अठारहवें दोहेमें ग्रन्थकारने यह लिखा है कि (गिरा अर्थ जल बीचि सम · ··) श्रीजानकीजीने गिरा और श्रीरामचन्द्रजीने अर्थ प्रदान किया सो गिराको ३१वें और अर्थको ३२वें दोहेमें कथा और चरित करके लिखा है। 'निज सदेह मोह भ्रम हरनी' से 'तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु' तक जो महत्त्व इस मानसका कहा वह श्रीजानकीजीको प्रदान की हुई गिराके प्रभावसे कहा। पुन·, 'रामचरित चिंतामनि चारु' से 'सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेष बड़ लाहु' तक जो महत्त्व कहा वह श्रीरामचन्द्रजीके प्रदान किये हुए अर्थके प्रभावसे कहा। ध्वनि यह है कि श्रीरामजानकीजीके प्रभावसे परित यह महत्त्वका भण्डार मानस मैं कथन करता हूँ।'

रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवनि मूरि सुहाई॥ ७॥

शब्दार्थ—कामद=कामनाओं अर्थात् अभीष्ट मनोरथको देनेवाली। सजीवनी=जिलानेवाली। कामद गाई=कामधेनु।

अर्थ—रामकथा कलियुगमें कामधेनु है और सज्जनोंके लिये सुन्दर सजीवनी जड़ी है॥ ७॥

नोट—१ 'कलि कामद गाई' इति। कलियुगमें कामधेनु है, ऐसा कहनेका भाव यह है कि—(क) कलियुगमें जब कामधेनुके समान है तब और युगोंमें इस कथाका जो महत्त्व है वह कौन कह सकता है? (रा० प्र०)। (ख) कलिमें प्रधान धर्म रामकथा है—'कलौ तद्धरिकीर्तनात्।' अथवा ऐसे भी कलिकालकरालमें कामधेनुके समान फल

देती है।—(प० रा० कु०)। (ग) कामधेनु सर्वत्र पूज्य है और सब कामनाओंकी देनेवाली है। इसी तरह रामकथा सर्वत्र पूज्य है और अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी देनेवाली है।

सूर्यप्रसाद मिश्र—'कामधेनु' शब्दसे यह व्यञ्जित होता है कि कामधेनु सर्वत्र नहीं होती और बड़ी कठिनतासे मिलती है एवं रामकथा कलियुगमें बड़ी कठिनतासे सुननेमें आती है। सत्ययुग, त्रेतामें घर-घर गायी जाती थी, द्वापरमें केवल सज्जनोंके घरमें, पर कलियुगमें तो कहीं-कहीं। स्कन्दपुराणमें भी रामकथाको कामधेनु कहा है—'कलौ रामायणकथा कामधेनूपमा स्मृता।'

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि जैसे देवता कामधेनुकी पूजा करते हैं वैसे ही सबको श्रीरामकथाकी पूजा करनी चाहिये। यह उपदेश इस चौपाईमें है।

नोट—२ 'सजीवनिमूरि सुहाई।' सजीवनीसे मरे हुए लोग भी जी उठते हैं। 'सजीवनि मूरि' कहकर सूचित किया कि—(क) सज्जन इसीसे जीते हैं। भाव यह है कि सज्जनोंको यह जीवनस्वरूप है अर्थात् उनको अत्यन्त प्रिय है, इसीको वे जुगवते रहते हैं। यथा—'जिवनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। २। ५९। (प० रा० कु०)। अस्तु। जीवनमूल अतिशय प्रियत्वका बोधक है। (ख) अविनाशी कर देती है' (करु०, रा० प्र०)। (ग) इससे सज्जन लोग संसार-सर्पदष्ट मृतक जीवोंको जिला देते हैं। चौदह प्राणी जीते हुए भी मरे ही माने गये हैं। यथा—'कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नुबिमुख श्रुति संत बिरोधी। तनुपोषक निंदक अघखानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥ ६। ३०।' इनको भी कथारूपिणी सजीवनी देकर भक्त बना श्रीरामसम्मुख कर सज्जन लोग भवपार कर देते हैं।

३—सकामियोंके लिये कामधेनु-सम कहा और सज्जनों अर्थात् निष्कामियोंको सजीवनि मूरि-सम कहा। (प० रा० कु०)। यहाँ काव्यका प्रयोजन 'सम्पत्ति' है। (वै०)।

सोइ बसुधा तल सुधा-तरंगिनि। भय*भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि॥ ८॥

शब्दार्थ—बसुधा-तल=पृथ्वीतल। तरङ्गिनि=लहरोंवाली, बड़ी नदी। तरङ्गें भारी नदियोंमें होती हैं।

अर्थ—पृथ्वीपर वही (रामकथा) अमृत-नदी है। भयकी नाशक और भ्रमरूपी मेढकके लिये सर्पिणी है॥ ८॥

नोट—१ 'बसुधातल सुधा तरंगिनि' कहनेका भाव यह है कि—(क) पृथ्वीपर तो अमृतका एक बूँद भी प्राप्त नहीं है सो इस पृथ्वीपर इसे अमृतकी नदी समझना चाहिये, पृथ्वीभरका जरामरण इससे छूटेगा। (प० रा० कु०)। (ख) यह नदी पृथ्वीभरमें है। इसके लिये किसी खास स्थान (स्थानविशेष) पर जानेकी आवश्यकता नहीं है। यह सर्वत्र प्राप्त है, घर बैठे ही यह अमृतनदी प्राप्त है। अपना ही आलस्य या दोष है। यदि हम उसका दर्शन, स्पर्श, पान और स्नान नहीं करते।—'सुरसरि तीर बिनु नीर दुख पाइहै।' (ग) 'सोइ बसुधातल' का भाव यह भी है कि प्रथम यह श्रीरामकथामृत-सरिता देवलोक कैलासमें भगवान् शंकरके निकट रही, परन्तु श्रीयाज्ञवल्क्यजीके सम्बन्धसे वही भूलोकमें आयी।

२—श्रीरामकथाको कामगाई, सजीवनमूरि और सुधातरंगिनि कहना 'द्वितीय उल्लेख अलङ्कार' है।

३ 'भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि' इति। (क) यहाँ 'भय' से जन्ममरण आदिका भय अर्थात् भवभय समझना चाहिये। (रा० प्र०)। श्रीरामकथाको अमृतनदी कहा। नदीके दो तट होते हैं। यहाँ कथाका कीर्तन और श्रवण उसके दोनों तट हैं। नदी तटके वृक्षोंको उखाड़ती है, श्रीरामकथा नदी भवभयरूपी वृक्षोंको उखाड़ती है। (ग) 'भ्रम भेक भुअंगिनि' इति। गोस्वामीजीने पहिले इससे अपने भ्रमका नाश होना कहा, यथा—'निज संदेह मोह

* 'भव' पाठान्तर है। प० रामकुमारजी 'भव' पाठ देकर यह भाव लिखते हैं कि ऊपर चौपाई ४ में रामकथाको 'भवतरनी' कहा। इससे भवका बना रहना निश्चय हुआ। इसलिये अब 'भव' का नाश यहाँ 'भवभंजनि' पद देकर कहते हैं। 'भव' वै०। भ्रम भवका मूल है। 'तब भव मूल भेद भ्रम नासा।'

भ्रम हरनी' और अब दूसरेके भ्रमका नाश कहते हैं, इसलिये पुनरुक्ति नहीं है। नदीके तीर मेंढक रहते हैं, इस तरह कथाके निकट जितने भ्रम हैं उनको यहाँ कथा सर्पिणीरूपा होकर खाती है। सर्पिणी बिना श्रम मेंढकको निगल जाती है, वैसे ही रामकथा भ्रमको खा जाती है, उसका पता भी नहीं रह जाता। (घ) यहाँ, 'परम्परित रूपक' है। (ङ) बाबा हरिहरप्रसादजी कहते है कि स्वस्वरूप, परस्वरूपमे अन्यथाज्ञान भ्रम है। कथारूप सर्पिणी शंकर-हृदय बाँबीमें बैठी थी, उमाके भ्रम दादुरको देख प्रकट हो निगल गयी।

असुरसेन सम नरक निकंदिनि। साधु बिबुध कुल हित गिरि नंदिनि॥ ९॥

शब्दार्थ—नरक*=पाप कर्मोंके फल भोगनेके स्थान। निकन्दिनि (निकंदिनी)=खोद डालनेवाली, नाश करनेवाली। बिबुध=देवता, पण्डित। कुल=वंश, समूह, समाज। हित=लिये। निमित्त=हित करनेवाली।

अर्थ—'असुरसेन' के समान नरककी नाश करनेवाली है और साधुरूपी देव समाजके लिये श्रीपार्वतीजीके समान है॥ ९॥

नोट—१ श्रीश्यामसुन्दरदासजीने—'असुरोंकी सेनाके समान नरककी नाश करनेवाली है और साधु तथा पण्डित जनोंके समूहके लिये पर्वतनन्दिनी गङ्गाजीके समान है' ऐसा अर्थ किया है। विनायकी टीकाने भी गिरिनन्दिनीका 'गङ्गा' अर्थ किया है।

नोट—२ 'असुरसेन' के दो अर्थ टीकाओं और कोशमें मिलते हैं। (क) 'असुर+सेन'=दैत्योंकी सेना। साधारणतया तो 'असुरसेन' का अर्थ यही हुआ। सूर्यप्रसादजी कहते है कि नरककी सब बातें असुरोंमें पायी जाती हैं, इसीसे नरकको 'असुरसेन' कहा। (ख) दूसरा अर्थ हिन्दी शब्दसागरमें यों दिया है—'असुरसेन—इसकी संज्ञा पुँल्लिङ्ग है। संस्कृत शब्द है। यह एक राक्षस है' कहते है कि इसके शरीरपर गया नामक नगर बसा है। महात्मा हरिहरप्रसादजी, श्रीबैजनाथजी और सन्त श्रीगुरुसहायलालने भी इसका अर्थ 'गयासुर' किया है। गयातीर्थ इसीका शरीर है।

वायुपुराणान्तर्गत गयामाहात्म्यमें इसकी कथा इस प्रकार है—यह असुर महापराक्रमी था। सवासौ योजन ऊँचा था। और साठ योजन उसकी मोटाई थी। उसने घोर तपस्या की जिससे त्रिदेवादि सब देवताओंने उसके पास आकर उससे वर माँगनेको कहा। उसने यह वर माँगा कि 'देव, द्विज, तीर्थ, यज्ञ आदि सबसे अधिक मैं पवित्र हो जाऊँ। जो कोई मेरा दर्शन या स्पर्श करे वह तुरत पवित्र हो जाय।' 'एवमस्तु' कहकर सब देवता चले गये। सवासौ योजन ऊँचा होनेसे उसका दर्शन बहुत दूर तकके प्राणियोंको होनेसे वे अनायास पवित्र हो गये जिससे यमलोकमें हाहाकार मच गया। तब भगवान्‌ने ब्रह्मासे कहा कि तुम यज्ञके लिये उसका शरीर माँगो। (जब वह लेट जायगा तब दूसरे लोगोंको दर्शन न हो सकेगा, जो उसके निकट जायँगे वे ही पवित्र होंगे)। ब्रह्माजीने आकर उससे कहा कि संसारमें हमे कहीं पवित्र भूमि नहीं मिली जहाँ यज्ञ करें, तुम लेट जाओ तो हम तुम्हारे शरीरपर यज्ञ करें। उसने सहर्ष स्वीकार किया। अवभृथ-स्नानके पश्चात् वह कुछ हिला तब ब्रह्मा-विष्णु आदि सभी देवता उसके शरीरपर बैठ गये और उससे वर माँगनेको

---

*शब्दसागरमें लिखते हैं कि 'मनुस्मृतिमें नरकोंकी संख्या २१ बतलायी गयी है जिनके नाम ये हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, नरक, महानरक, कालसूत्र, सञ्जीवन, महावीचि, तपन, प्रतापन, संहति, काकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्तिक, लोहशंकु, ऋजीष, शाल्मली, वैतरणी, असिपत्रवन और लोहदारक। इसी प्रकार भागवतमें भी २१ नरकोंका वर्णन है जिनके नाम इस प्रकार है—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, घोर, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, संदंश, तप्तशूर्मि, वज्रकण्टक, शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचिमान् और अय पान। और इनके अतिरिक्त क्षारमर्दन, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्तशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन और शूचीमुख ये सात नरक और भी माने गये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पुराणोमे और भी अनेक नरककुंड माने गये हैं, जैसे—वसाकुण्ड, तप्तकुण्ड, सर्पकुण्ड, चक्रकुण्ड। कहते हैं कि भिन्न-भिन्न पाप करनेके कारण मनुष्यकी आत्माको भिन्न-भिन्न नरकोंमे सहस्रों वर्षोंतक रहना पड़ता है जहाँ उन्हें बहुत अधिक पीड़ा दी जाती है।'

कहा। उसने वर माँगा कि जबतक संसार स्थिर रहे तबतक आप समस्त देवगण यहाँ निवास करें, यदि कोई भी देवता आपमेंसे चला जायगा तो मैं निश्चल न रहूँगा और यह क्षेत्र मेरे नाम (अर्थात् गया नाम) से प्रसिद्ध हो तथा यहाँ पिण्डदान देनेसे लोगोंका पितरोंसहित उद्धार हो जाय। देवताओंने यह वर उसे दे दिया। (अ० १, २)।

नोट—३ (क) 'असुरसेन' का अर्थ असुरोंकी सेना लेनेसे इस चौपाईका भाव यह होता है कि जैसे पार्वतीजीने दुर्गारूपसे असुरोंकी सेनाका नाश देवताओंके लिये किया, वैसे ही रामकथा नरकका नाश साधुओंके लिये करती है। (मा० प०)। यहाँ 'असुरसेन' से शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्ड, महिषासुर आदिका ग्रहण होगा।

(ख) 'असुरसेन' का अर्थ गयासुर लेनेसे यह भाव निकलता है कि 'रामकथा गयासुर वा गयातीर्थके समान नरकका नाश करनेवाली है। पुनः साधुरूप देवताओंका हित करनेको दुर्गारूप है।

कोई-कोई महानुभाव इस अर्थको 'क्लिष्ट एवं असङ्गत कल्पना' कहते हैं। परंतु एक प्रामाणिक कोशमें 'असुरसेन' का अर्थ ऐसा मिलता है। रामकथाका माहात्म्य 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी॥' से प्रारम्भ हुआ है। प्रत्येक चौपाईमें यहाँतक दो दो विशेषण पाये जाते हैं, यथा—(१) 'सदेह मोह भ्रम हरनी। (२) भव सरिता तरनी। (३) बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। (४) कलि कलुष बिभंजनि। इत्यादि। जान पड़ता है कि इसी रीतिका निर्वाह करनेके लिये 'गयासुर' अर्थ किया गया। इस तरह अर्थ और प्रसङ्गमें सङ्गति भी है। हाँ, एक असङ्गति पड़ती है कि रामकथाके और सब विशेषण स्त्रीलिङ्गके हैं और 'गयासुर' पुँल्लिङ्ग है, जो कि काव्यदोष माना गया है। वै० भू० दो-दोकी सङ्गति लगानेके लिये 'गिरिनन्दिनि' के दो अर्थ करते हैं—एक तो 'पार्वतीजी' जो अर्थ प्रसिद्ध ही है, दूसरा गङ्गाजी। गङ्गाजीको हिमालयकी कन्या कहा है, यथा—'शैलेन्द्रो हिमवान् राम धातूनामाकरो महान्। तस्य कन्या द्वयं राम रूपेणाप्रतिमं भुवि॥ १३॥ या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा। नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया॥ १४॥ तस्यां गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता। उमा नाम द्वितीयाभूत् कन्या तस्यैव राघव॥ १५॥ एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते। गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा उमा देवी च राघव॥ २१॥ (वाल्मी० १। ३५) अर्थात् धातुओंकी खानि पर्वतराज हिमाचलके मेरुपुत्री मेनासे दो कन्याएँ हुईं—प्रथम गङ्गा हुईं, दूसरी उमा। ये दोनों पूजनीय हैं। गङ्गा नदियोंमें और उमा देवियोंमें श्रेष्ठ हैं। इस तरह यहाँ भी दो विशेषण हो जाते हैं। 'गिरिनन्दिनि' कहकर दोनों अर्थ सूचित किये हैं। पाराशर्य उपपुराणमें भी कहा है कि—'वाल्मीकिगिरिसंभूता राममागरगामिनी। पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी॥' अर्थात् (वाल्मीकिरूपी पर्वतसे उत्पन्न श्रीरामरूपी सागरको जानेवाली यह पवित्र रामायणरूपी महानदी लोकोंको पवित्र करे। वाल्मीकीय माहात्म्य अध्याय १ श्लोक ३८)

नोट—४ 'साधु बिबुध कुलहित गिरिनंदिनि इति। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि—(क) 'गिरिनन्दिनि' पार्वतीजी हैं। क्योंकि हिमाचलके यहाँ इनका जन्म हुआ था। राम-कथाको गिरिनन्दिनिकी उपमा बहुत ही सार्थक है, क्योंकि राम-कथाको भी 'पुरारिगिरिसम्भूता' कहा गया है। (ख) पार्वतीजीने ही दुर्गारूप होकर शुम्भ-निशुम्भ, कुम्भेश आदि असुरोंको मारकर देवताओंको सुख दिया, यथा—'चंड भुजदंड खंडनि बिहंडनि मुंड महिष मद भंग करि अंग तोरे। सुंभि निसुंभि कुंभेस रन केसरिनि क्रोध बारिधि बैरि बृंद बोरे॥ वि० १५।' इसी प्रकार कथा सबके लिये नरकोंका नाश करती है। (ग) 'पार्वतीजीने दुर्गारूप होकर देवताओंके लिये असुरोंको मारा, उससे और सबका भी हित हुआ। इसी तरह राम-कथा साधुओंके लिये नरकका नाश करती है, इसीसे और सबका भी हित होता है।' (एक भाव यह भी हो सकता है कि जैसे दुर्गा सप्तशती है वैसे ही रामकथा 'सप्त सोपान' है)।

टिप्पणी—१ 'राम-कथा साधु लोगोंके बाँटे पड़ी है, इसीसे बार-बार साधुओंका हित होना लिखते हैं। यथा—

(१) बुधविश्राम सकल जन रंजनि, (२) सुजन सजीवनि मूरि सुहाई, (३) साधु विबुध कुलहित गिरिनंदिनि, (४) संतसमाज पयोधि रमा सी, (५) तुलसिदास हित हिय हुलसी सी, (६) सिव प्रिय मेकलसैलसुता सी। २—छः बार स्त्रीलिङ्गमें कहा। इसी तरह छः प्रकारसे हित पुँल्लिङ्गमें कहा है, यथा—(क) संत सुमति तिय सुभग सिंगारू। (ख) काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बनके॥ (ग) सेवक सालिपाल जलधर से। (घ) राम भगत जन जीवनधन से। (ङ) सेवक मन मानस मराल से। (च) रामकथा राकेस कर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर''। (प० रा० कु०)।

संत समाज पयोधि रमा सी। बिस्व[1] भार भर अचल छमा सी॥ १०॥

शब्दार्थ—पयोधि=समुद्र, क्षीरसागर। रमा=लक्ष्मीजी। भार=बोझ। भर=धारण करनेके लिये।=धारण करनेवाले। छमा (क्षमा)=पृथिवी।

अर्थ—सन्त-समाजरूपी क्षीर-समुद्रके लिये रामकथा लक्ष्मीजीके समान है। जगत्का भार धारण करनेको अचल पृथ्वीके सदृश है॥ १०॥

नोट—१ 'संत समाज पयोधि रमा सी' इति। सन्त-समाजको क्षीरसमुद्रकी और रामकथाको लक्ष्मीजीकी उपमा देनेके भाव ये हैं—

(क) लक्ष्मीजी क्षीरसमुद्रसे निकलीं और उसीमें रहती हैं। इसी तरह श्रीरामकथा सन्त समाजसे प्रकट हुई और इसीमें रहती है। इसीसे कहा है कि 'बिनु सतसंग न हरि कथा'—(करु०, रा० प्र०, प० रा० कु०)। (ख) जैसे लक्ष्मीजी क्षीरसागरमें रहकर अपने पितृकुलको आनन्द देती हैं और उनके सम्बन्धसे भगवान् भी वहीं रहते हैं, वैसे ही श्रीरामकथाके सम्बन्धसे श्रीरामचन्द्रजी भी संतोंके हृदयमें वास करते हैं। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीसहित राम-कथा सन्त-समाजमें सदा वास करती है। (ग) लक्ष्मीजी दुर्वासा ऋषिके शापसे क्षीरसागरमें लुप्त हो गयी थीं जो क्षीरसमुद्र मथनेपर प्रकट हुईं, इसी तरह कलि-प्रभावसे रामकथा सन्त-समाजमें लुप्त हो गयी थी, सो श्रीगोस्वामीजीद्वारा प्रकट हुई। विश्वमें जीव, पर्वत, नदी आदि हैं। यहाँ विवेकादि जीव हैं, संहिता आदि सागर, पुराणादि नदी, वेदादि पर्वत हैं। कथा सबका आधार है। (वै०)। (घ) लक्ष्मीजी क्षीरसागरकी सर्वस्व, इसी तरह रामकथा सन्त-समाजकी सर्वस्व (रा० प्र०) (ङ) क्षीरसागर श्वेतवर्ण है, वैसे ही सन्त-समाज सत्त्वगुणमय है।

नोट—२ प० पु० उ० में लिखा है कि शुद्ध एकादशी तिथिको समुद्रका मन्थन प्रारम्भ हुआ। इन्द्रको दुर्वासाने शाप दिया था कि 'तुम त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होनेके कारण मेरा अपमान करते हो। (मैंने जो पारिजातकी माला तुमको यात्रा-समय भेंट की वह तुमने हाथीके मस्तकपर रखकर उसे रौंदवा डाला) अतः तीनों लोकोंकी लक्ष्मी नष्ट हो जायगी।' इससे लक्ष्मीजी अन्तर्धान हो गयी थीं। उनको प्रकट करनेके लिये समुद्रका मन्थन हुआ। श्रीसूक्त और विष्णुसहस्रनामका पाठ प्रारम्भ हुआ और भी पूजन होने लगा। मन्थनसे क्रमशः ये चौदह रत्न निकले।—१ कालकूट जिसे शङ्करजी भगवान्के तीन नामोंका जप करते हुए पी गये। यथा—'अच्युतानन्त गोविन्द इति नामत्रयं हरेः।' (२६०। १७—२१)। २ दरिद्रादेवी। ३ वारुणीदेवी जिसे नागराज अनन्तने ग्रहण किया। ४ स्त्री, जिसे गरुड़ने अपनी स्त्री बनाया। ५ दिव्य अप्सराएँ। ६ अत्यन्त रूपवान् सूर्य, चन्द्र और अग्निके समान तेजस्वी गन्धर्व। ७ ऐरावत हाथी। ८ उच्चैःश्रवा अश्व। ९ धन्वन्तरि वैद्य। १० पारिजात वृक्ष। ११ सुरभि गौ। ७, ८, ९, १०, ११ को इन्द्रने ग्रहण किया। फिर १२—द्वादशीको महालक्ष्मी प्रकट हुईं। १३ चन्द्रमा। १४ श्रीहरिकी पत्नी तुलसी देवी। इनका प्रादुर्भाव श्रीहरिकी पूजाके लिये हुआ।—तत्पश्चात् देवताओंने लक्ष्मीकी स्तुति की कि आप भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें सदा निवास करें। लक्ष्मीजीने इसे स्वीकार किया।

अमृतके लिये जब समुद्र मथा गया तब उसमेंसे जो रत्न निकले उनमेंसे उपर्युक्त १, ३, ५, ७, ८, ९, ११, १२, १३, १४ और कल्पवृक्षके नाम प० पु० सृष्टिखण्डमें आये हैं।

---

[1] १—बिस्वाभार—१६६१।

नोट—३ श्रीरामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि—उत्तरकाण्डमें सन्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीमुखवाक्य है कि—'ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥ ७। ३८।' इसके अनुसार द्वीपान्तरमें भी जिस किसी व्यक्तिमें वे लक्षण पाये जायँ, तो उसे भी 'सन्त' कहना ही होगा। और सन्तमात्र चाहे किसी देश व वेषमें हों उन्हें 'पयोधिसमान' कहना भी सार्थक है। परंतु जैसे क्षीरसिंधुमें सर्वत्र लक्ष्मीजीका वास नहीं है, किंतु उस महोदधिके किसी विशेष स्थानमें है, उसी तरह सन्तमात्रमें इस कथाका निवास नहीं है, वरन् श्रीसम्प्रदायवाले महानुभावोंके अन्तःकरणमें यह कथा रमावत् रमी हुई है। जहाँ रमा हैं, वहीं रमापति हैं। पुनः, आगे कहा है—'जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई॥ संतसभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल। १। ३९।' एवं 'संतसभा चहुँ दिसि अँवराई' (१। ३७।) अतएव सन्तसभामें जानेसे कथारूपिणी रमाकी प्राप्ति प्रयोजन है। (तु० प० ३। ६)।

नोट—४ 'बिस्वभार भर अचल छमा सी' इति। (क) हिन्दू-मतानुसार पृथिवी स्थिर है। इसीसे अचलताके लिये पृथिवीकी उपमा दी। पृथिवी प्रलय आदि कारणोंसे चलायमान हो जाती है पर श्रीरामकथा शिव सनकादिके हृदयमें वास होनेसे सदा अचल है। यह विशेषता है। हिन्दू ज्योतिषमतपर अन्यत्र लिखा जायगा। (ख) जैसे पृथिवीमें सब बिम्ब हैं वैसे ही कथामें सब बिम्ब है—(प० रा० कु०)। (ग) विश्वका भार धारण करनेमें पृथिवी सम अचल है या अचल पृथिवीके समान है। भाव यह है कि रामकथा संसारकी आधारभूता है। (रा० प्र०)।

टिप्पणी—श्रीरामकथाको गिरि-नन्दिनी पार्वतीजीके समान कहा, फिर यहाँ 'रमा' सम कहा, परंतु सरस्वती सम न कहा। यद्यपि उमा, रमा, ब्रह्माणीकी त्रयी चलती है जैसे त्रिदेवकी?' समाधान यह है कि कथा तो सरस्वती स्वयं ही है, इससे उनकी उपमा देनेकी आवश्यकता नहीं—'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥'

जमगन मुहँ मसि जग जमुना सी। जीवन मुकुति हेतु जनु कासी॥ ११॥

अर्थ—श्रीरामकथा यम-दूतोंके मुखमें स्याही लगानेको जगत्‌में यमुनाजीके समान है। जीवोंको मुक्ति देनेके लिये मानो काशी है॥ ११॥

नोट—'जीवन मुकुति हेतु' का दूसरा अर्थ यह भी निकलता है कि काशीमें मरनेसे मुक्ति होती है और श्रीरामकथा जीतेजी ही काशीके समान मुक्ति देती है। अर्थात् जीवन्मुक्त कर देती है। (ख) जीवन्मुक्ति जीवकी वह अवस्था है जिसमें कर्म, भोग, दुःख, सुख आदि जो चित्तके धर्म हैं उनसे शरीर रहते जीव रहित हो जाता है। यथा—'पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिलक्षणाश्चित्तधर्माः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति तन्निरोधनं जीवन्मुक्तिः' (मुक्तिको० २)। जीवन्मुक्तके लक्षण महाभारत शान्तिपर्वमें अरिष्टनेमिने सगरमहाराजसे ये कहे हैं—जिसने क्षुधा, पिपासा, क्रोध, लोभ और मोहपर विजय पा ली है, जो सदा योगयुक्त होकर स्त्रीमें भी आत्मदृष्टि रखता है, जो प्राणियोंके जन्म, मृत्यु और कर्मोंके तत्त्वको यथार्थ जानता है, जो करोड़ों गाड़ियों अन्नमेंसे सेर भरको ही पेट भरनेके लिये पर्याप्त समझता है, तथा बड़े-बड़े महलोंमें भी लेटने भरकी जगहको ही अपने लिये पर्याप्त मानता है, थोड़ेसे लाभमें सन्तुष्ट रहता है, जिसे मायाके अद्भुत भाव छू नहीं सकते, जो पलंग और भूमिकी शय्याको समान समझता है, जो रेशमी, ऊनी, कुशके बने अथवा वल्कल वस्त्रमें भेद नहीं समझता, जिसके लिये सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, इच्छा-द्वेष और भय-उद्वेग बराबर हैं, जो इस देहको रक्त, मलमूत्र तथा बहुत-से दोषोंका खजाना समझता है और आनेवाले बुढ़ापेकी बुराइयोंको नहीं भूलता। यथा—'क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः। क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्त्ववान्मुक्त एव सः॥ २७॥ समत्वं च विनाशं च आत्मभावं तथा स्त्रीषु युक्तमेव पुनः पुनः। यः पश्यति सदा युक्तो यथावन्मुक्त एव सः॥ २८॥ ... भूतानां चेष्टितं तथा। यस्तत्त्वतो विजानाति लोकेऽस्मिन्मुक्त एव सः॥ ३०॥ प्रस्थं वाहसहस्रेषु यात्रार्थं चैव कोटिषु। प्रासादे मञ्चकं स्थानं यः पश्यति स मुच्यते॥ ३१॥' यथाप्यल्पेन संतुष्टो लोकेऽस्मिन्मुक्त एव सः॥ ३२॥ न च संस्पृश्यते

भावैरद्भुतैर्मुक्त एव स' ॥ ३३ ॥ पर्यङ्कशय्या भूमिश्च समाने यस्य देहिन । शालयश्च कदन्न च यस्य स्यान्मुक्त एव स ॥ ३४ ॥ क्षौम च कुशचीर च कौशेय वल्कलानि च । आविक चर्म च समं यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥ ३५ ॥ सुखदुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ । इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव स ॥ ३७ ॥ रक्तमूत्रपुरीषाणां दोषाणा सचया-स्तथा । शरीर दोषबहुल दृष्ट्वा चैव विमुच्यते ॥ ३८ ॥ वलीपलितसयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च । कुब्जभाव च जरया यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३९ ॥' (अ० २८८)।

आश्वमेधिकपर्व सिद्ध-काश्यपसवादमें कहा है कि—जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, चित्त-निग्रहमें अनुरक्त, जितेन्द्रिय, निर्भय, क्रोधरहित, सबके प्रति आत्मभाव रखनेवाला, पवित्र, निरभिमान, अमानी, जीवन-मरण, दुःख सुख, प्रिय-द्वेष, लाभालाभ इत्यादिमें समबुद्धिवाला, निस्पृही, किसीका अपमान न करनेवाला, निर्द्वन्द्व, वीतरागी, मित्र-पुत्र-बन्धु आदिसे रहित, अर्थ-धर्म-कामादि आकाङ्क्षासे रहित, वैराग्यवान्, आत्मदोष देखते रहनेवाला इत्यादि है, वह 'मुक्त' है। यथा—'सर्वमित्र सर्वसह शमे रक्तो जितेन्द्रियः । व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान्मुच्यते नर ॥ २ ॥ आत्मवत्सर्वभूतेषु यश्च-रेन्नियत शुचि । अमानी निरभिमान स सर्वतो मुक्त एव स ॥ ३ ॥ जीवितं मरण चोभे सुखदुःखे तथैव च । लाभालाभे प्रियद्वेष्ये च सम स च मुच्यते ॥ ४ ॥ न कस्यचित्स्पृहयते नाऽवजानाति किंचन । निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव स. ॥ ५ ॥ अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च य. क्वचित् । त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी च मुच्यते ॥ ६ ॥' इत्यादि । (अ० १९ । अनुगीतापर्वप्रकरण)।

(ग)—कथासे मुक्ति होती है। यथा भागवते—'यदनुध्यासिना युक्ता. कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् । छिन्दन्ति कोविदा-स्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥ भा० १ । २ । १५ ।' अर्थात् जिनके चिन्तनरूपी खड्गसे युक्त पण्डित कर्मजन्य ग्रन्थिरूपी बन्धनको काट देते हैं उनकी कथामे प्रेम कौन न करेगा ?

नोट—२ पद्मपुराणमें ऐसी कथा है कि 'कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको जो कोई यमुनाजीमे स्नान करके धर्मराजकी पूजा करे उन्हें यमदूत नरकमें नहीं ले जाते।' ऐसा वरदान यमराजने यमुनाजीको दिया था। यमुनाजी सूर्यकी पुत्री और यम पुत्र हैं। यह लोकरीति है कि इस द्वितीयाको भाई अपनी बहिनके यहाँ जाता है, भोजन करता है और फिर यथाशक्ति बहिनको कुछ देता है। इसी द्वितीयाको धर्मराजने वरदान दिया था। [१ । २ (९) 'करम कथा रबिनंदिनि…' देखिये]

☞ परतु गोस्वामीजीके मतानुसार यमुनामे यह गुण सदैव है। यथा—'जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न । त्यों त्यों सुकृत सुभट कलिभूपहिं निदरि लगे बहु काढ़न ॥ ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों त्यों जमगन मुख मलीन लहैं आढ़न । तुलसिदास जगदवजवास ज्यों अनघ मेघ लागे डाढ़न ॥ वि० २१ ।' इसीसे यमुनाजीकी उपमा दी।

३—जमगन मुँह मसि जग जमुना सी ।' (क) मुखमे स्याही लगानेका भाव यह है कि यमदूत पापीको जब लेने आते हैं तब उस समय यदि उसके या और किसीके मुखसे श्रीरामकथाकी एक भी चौपाई निकले तो उसके पास वैष्णव पार्षद पहुँच जाते हैं, यमदूत उस पापी प्राणीको नहीं लेने पाते। अपना-सा मुँह लेकर चले जाते हैं। पुन, रामकथाके पढने-सुननेवाले नरक भोग नहीं करते—यह भी भाव है।

(ख)—यमुनाजी यमदूतोंको लज्जित कर देती है। इसका प्रमाण पद्मपुराणमे यह है—'ऊर्जे शुक्लद्वितीयायां योऽपराह्णेऽर्चयेद्यमम् । स्नान कृत्वा भानुजायां यमलोक न पश्यति ॥' इस प्रकार रामकथाके वक्ता-श्रोताके समीप यमदूत अपना मुख नहीं दिखाते। अर्थात् उनसे भागते-फिरते हैं। (मा० प०)।

टिप्पणी—यमपुर निवारण होनेपर जीवकी मुक्ति हो सकती है। इसीसे प्रथम यमुनासम कहकर तब काशीसम कहा।

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी । तुलसिदास हित हिय हुलसी सी ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—हित = लिये = भलाई। हुलसी सी = हुल्लासरूप, आनन्दरूप आनन्दकी लहर-सदृश। यथा—'सुख मूल दूलह देखि दपति पुलक तन हुलसेउ हियो। १। ३२४।' = हुलसी माताके समान।

अर्थ—श्रीरामजीको यह कथा पवित्र तुलसीके समान प्रिय है। मुझ तुलसीदासके हितके लिये हुलसी माताके ध्व हृदयके आनन्दके समान है ॥ १२ ॥

नोट—१ 'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी' इति। (क)—'तुलसी' पवित्र है और श्रीरामजीको प्रिय है। तुलसीका पत्ता, फूल, फल, मूल, शाखा, छाल, तना और मिट्टी आदि सभी पावन है। यथा—'पत्र पुष्प फल मूल शाखा त्वक् स्कन्धसंज्ञितम्। तुलसीसम्भवं सर्वं पावनं मृत्तिकादिकम् ॥' (प० पु० उत्तरखण्ड (२४। २)। वह इतनी पवित्र है कि यदि मृतकके दाहमें उसकी एक भी लकड़ी पहुँच जाय तो उसकी मुक्ति हो जाती है। यथा—'यद्येक तुलसीकाष्ठं मध्ये काष्ठस्य तस्य हि। दाहकाले भवेन्मुक्तिः कोटिपापयुतस्य च ॥' (उत्तरखण्ड। १४। ७)। तुलसीकी जड़में ब्रह्मा, मध्यभागमें भगवान् जनार्दन और मञ्जरीमें भगवान् रुद्रका निवास है। इसीसे वह पावन मानी गयी है। (दर्शनसे सारे पापोंका नाश करती है, स्पर्शसे शरीरको पवित्र करती, प्रणामसे रोगोंका निवारण करती, जलसे सींचनेपर यमराजको भी भय पहुँचाती है और भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ानेपर मोक्ष प्रदान करती है। यथा—'या दृष्टा निखिलाघसंघशमनी स्पृष्टा वपुष्पावनी रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्तान्तकत्रासिनी। प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः ॥' (प० पु० उत्तर० ५६। २२। पाताल० ७९। ६६।) प्रियत्व यथा—'तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया'। प० पु० सृष्टि० ५९। ११।', (ख) भगवान्‌को तुलसी कैसी प्रिय है, यह बात स्वयं भगवान्‌ने अर्जुनसे कही है। तुलसीसे बढ़कर कोई पुष्प, मणि, सुवर्ण आदि उनको प्रिय नहीं है। लाल, मणि, मोती, माणिक्य, वैदूर्य और मूँगा आदिसे भी पूजित होकर भगवान् वैसे सन्तुष्ट नहीं होते, जैसे तुलसीदल, तुलसीमञ्जरी, तुलसीकी लकड़ी और इनके अभावमें तुलसी वृक्षके जड़की मिट्टीसे पूजित होनेपर होते हैं। (प० पु० उ० अ० ५६)। ☞ भगवान् तुलसीकाष्ठकी धूप, चन्दन आदिसे प्रसन्न होते हैं तब तुलसीमञ्जरीकी तो बात ही क्या?

'तुलसी' इतनी प्रिय क्यों है, इसका कारण यह भी है कि ये लक्ष्मी ही हैं। कथा यह है कि सरस्वतीने लक्ष्मीजीको शाप दिया था कि तुम वृक्ष और नदी रूप हो जाओ। यथा—'शशाप वाणी तां पद्मा महाकोपवती सती। वृक्षरूपा सरिद्रूपा भविष्यसि न संशयः ॥ ६। ३२।' पद्माजी अपने अंशसे भारतमें आकर पद्मावती नदी और तुलसी हुई। यथा—'पद्मा जगाम कलया सा च पद्मावती नदी। भारतं भारतीशापात्स्वयं तस्थौ हरेः पदम् ॥' ७। ७। 'ततोऽन्यया सा कलया चालभज्जन्म भारते। धर्मध्वजसुता लक्ष्मीर्विख्याता तुलसीति च ॥ ८॥ (ब्रह्म-वैवर्तपुराण प्रकृतिखण्ड)।

(ग)—पुनः, तुलसीके समान प्रिय इससे भी कहा कि श्रीरामचन्द्रजी जो माला हृदयपर धारण करते हैं, उसमें तुलसी भी अवश्य होती है। गोस्वामीजीने ठौर-ठौरपर इसका उल्लेख किया है। यथा—'उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला। १। १४७।', 'कुंजरमनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल ॥ १। २४३।', 'सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला ॥ ३। ३४।' बनमालामें प्रथम तुलसी है, यथा—'सुन्दर पट पीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई ॥ गी० ७। ३।' पुनः,

(घ)—'तुलसी-सम प्रिय' कहकर सूचित किया कि श्रीजी भी इस कथाको हृदयमें धारण करती हैं। (प० रामकुमार)। पुनः, (ङ) तुलसीकी तुलनाका भाव यह है कि जो कुछ कर्म-धर्म तुलसीके बिना किया जाता है वह सब निष्फल हो जाता है। इसी प्रकार भगवत्-कथाके बिना जीवन व्यर्थ हो जाता है।

नोट—२ 'हिय हुलसी सी' इति। (क) करुणासिन्धुजी इसका अर्थ यों करते हैं कि 'मेरे हृदयको श्रीरामचन्द्रविषय हुल्लासरूप ही है'। (ख)—पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'हृदयमें निरन्तर कथाका उल्लास (आनन्द) बना रहना ही बड़ा हित है। (ग)—सन्तउन्मनी टीकाकार लिखते हैं कि बृहद्रामायण-माहात्म्यमें गोस्वामीजीकी माताका नाम 'हुलसी' और पिताका नाम अम्बादत्त दिया है। पुनः—'सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय। गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय॥'

इस दोहेके आधारपर भी कुछ लोग 'हुलसी' आपकी माताका नाम कहते हैं। यह दोहा खानखानाका कहा जाता है। माताका 'हुलसी' नाम होना विवादास्पद रहा है। वेणीमाधवदासकृत 'मूल गुसाईंचरित' में भी माताका नाम हुलसी लिखा है। यथा—'उदये हुलसी उदुघाटिहि ते। सुर संत सरोरुह से बिकसे', 'हुलसी सुत बीरथराज गये॥' 'हुलसी' माताका नाम होनेसे अर्थ पिछले चरणका यह होता है कि 'मुझ तुलसीदासका हृदयमें हित करनेवाली 'हुलसी' माताके समान है।' भाव यह है कि जैसे माताके हृदयमें हर समय बालकके हितका विचार बना रहता है वैसे ही यह कथा सदैव मेरा हित करती है। तुलसीदास अपने हितके लिये रामकथाको माता हुलसीके समान कहकर जनाते हैं कि पुत्र कुपूत भी हो तो भी माताका स्नेह उसपर सदा एकरस बना रहता है—'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' और 'हुलसी' माताने हित किया भी। पिताने तो त्याग ही दिया। यथा—'हम का करिबे अस बालक लै। जेहि पालै जो तासु करै सोइ छै॥ जननेउ सुत मोर अभागो महा। सो जिये वा मरै मोहिं सोच नहीं॥' (मूल गुसाईंचरित)। माताने सोचा कि यह मूलमें पैदा हुआ है और माता-पिताका घातक है—यह समझकर इसका पिता इसको कहीं फेंकवा न दे, अतएव उसने बालक दासीको सौंपकर उसको घर भेज दिया और बालकके कल्याणके लिये देवताओंसे प्रार्थना की। यथा—'अबहीं सिसु लै गवनहु हरिपुर। 'नहिं तो भ्रुव जानहु मोरे मुये। सिसु फेंकि पधारहिंगे भकुये॥ सखि जानि न पावै कोउ बतियाँ। चलि जायहु मग रतियाँ-रतियाँ॥ तेहि गोद दियो सिसु दारस दै। निज भूषन दै दियो ताहि पठै॥ चुपचाप चली सो गई सिसु लै। हुलसी उर सूनु बियोग फलै॥ गोदराइ रमेस महेस बिधी। बिनती करि राखिये मोर निधी॥'॥ ५॥ (मूल गुसाईंचरित)। इस उद्धरणमें माताके हृदयके भाव झलक रहे हैं। ३—बैजनाथजी लिखते हैं कि—'जैसे हुलसीने अपने उरसे उत्पन्नकर स्थूलरूपका पालन किया वैसे ही रामायण अपने उरसे उत्पन्न करके आत्मरूपका पालन करेगी। यहाँ रामयश होना प्रयोजन है।'

सिव प्रिय मेकल सैल सुता सी। सकल सिद्धि सुख संपतिरासी॥ १२॥

शब्दार्थ—'मेकल-सैल-सुता'-मेकल-शैल अमरकण्टक पहाड़ है। यहाँसे नर्मदा नदी निकली है। इसीसे नर्मदाजीको 'मेकल शैल सुता' कहा। 'रेवती तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमर। १।१०।३२।'

अर्थ—श्रीशिवजीको यह कथा नर्मदाके समान प्रिय है। सब सिद्धियों, सुख और सम्पत्तिकी राशि है॥ १२॥

नोट—१ सूर्यप्रसाद मिश्र—नर्मदाके समान कहनेका भाव यह है कि नर्मदाके स्मरणसे सर्पजन्य विषनाश हो जाता है प्रमाण—'नर्मदायै नमः प्रातर्नर्मदायै नमो निशि। नमस्ते नर्मदे तुभ्यं त्राहि मां विषसर्पतः॥' (विष्णुपुराण), वैसे ही रामकथाके स्मरणसे संसारजन्य विष दूर हो जाता है।

२ 'सिव प्रिय मेकल सैल सुता सी' इति। नर्मदा नदीसे प्रायः स्फटिकके या लाल या काले रंगके पत्थरके अण्डाकार टुकड़े निकलते हैं जिन्हें नर्मदेश्वर कहते हैं। ये पुराणानुसार शिवजीके स्वरूप माने जाते हैं और इनके पूजनका बहुत माहात्म्य कहा गया है। शिवजीको नर्मदा इतनी प्रिय है कि नर्मदेश्वररूपसे उसमें सदा पड़े रहते हैं या यों कहिये कि शिवजी अति प्रियत्वके कारण सदा अहर्निश इसीद्वारा प्रकट होते हैं। रामकथा भी शिवजीको ऐसी ही प्रिय है अर्थात् आप निरन्तर इसीमें निमग्न रहते हैं।

सत उनमनी टीकाकार लिखते हैं कि—'शिवजीका प्रियत्व इतना है कि अनेक रूप धारण करके नर्मदामें नाना क्रीड़ा करते हैं, तद्वत् इसके अक्षर-अक्षर प्रति तत्त्वके नाना भावार्थरूप कर उसीमें निमग्न रहते हैं। अतः मानसरामायणपर नाना अर्थोंका धाराप्रवाह है।

कोई-कोई 'मेकल सैल सुता' को द्वन्द्वसमास मानकर यह अर्थ करते हैं कि—'मेकलसुता नर्मदा और शैलसुता श्रीगिरिजा (पार्वतीजी) के सदृश प्रिय है।' पर इस अर्थमें एक अड़चन यह पड़ती है कि पूर्व एक बार 'गिरिनंदिनि' की उपमा दे आये हैं। दूसरे, नर्मदाके साथ पार्वतीजीको रखनेमें [श्रीजानकीशरणजीके मतानुसार] एकदम भावविरोध होता है—'कहाँ नर्मदा अर्थात् माताके समान कहकर उसी जगह पार्वतीजी अर्थात् पत्नीके समान कहना कितना असंगत होता है। रामकथाको भला परमभक्त शिवजी पत्नी समान मानेंगे।' (मा० मा०)। नर्मदा शिवजीको प्रिय है। प्रमाण 'यथा—'पुण्या पवित्रविपुला नदी त्रैलोक्यविश्रुता। नर्मदा सरितां श्रेष्ठा महादेवस्य वल्लभा॥' (स० ८८।) अर्थात् (वायुपुराणमें कहा है कि) यह पवित्र, बड़ी और त्रैलोक्यमें प्रसिद्ध नदियोंमें श्रेष्ठ नर्मदा महादेवजीको प्रिय है। पद्मपुराण स्वर्गखण्डमें नर्मदाकी उत्पत्ति श्रीशिवजीके शरीरसे कही गयी है। यथा—'नमोऽस्तु ते ऋषिगणैः शङ्करदेहनिःसृते। १८। १७।' और यह भी कहा है कि शिवजी नर्मदा नदीका नित्य सेवन करते हैं। अतः 'शिव प्रिय' कहा। पुनः, स्कन्दपुराणमें कथा है कि नर्मदाजीने काशीमें आकर भगवान् शङ्करकी आराधना की जिससे उन्होंने प्रसन्न होकर वर दिया कि तुम्हारी निर्द्वन्द्व भक्ति हममें बनी रहे और यह भी कहा कि तुम्हारे तटपर जितने भी प्रस्तरखण्ड हैं वे सब मेरे वरसे शिवलिङ्गस्वरूप हो जायँगे। (काशीखण्ड उत्तरार्ध)।

३—'सुख संपति रासी' से नव निधियोंका अर्थ भी लिया जाता है। निधियाँ ये हैं—'महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलश्च खर्वश्च निधयो नव।' मार्कण्डेयपुराणमें निधियोंकी संख्या आठ कही है, यथा—'यत्र पद्ममहापद्मौ तथा मकरकच्छपौ। मुकुन्दो नन्दकश्चैव नीलः शङ्खोऽष्टमो निधिः॥ ६५। ५।' 'पद्म' निधि सत्त्वगुणका आधार है, महापद्म भी सात्त्विक है, मकर तमोगुणी होती है, कच्छपनिधिकी दृष्टिसे भी मनुष्यमें तमोगुणकी प्रधानता होती है, यह भी तामसी है, मुकुन्दनिधि रजोगुणी है और नन्द-निधि रजोगुण और तमोगुण दोनोंसे संयुक्त है। नील निधि सत्त्वगुण और रजोगुण दोनोंको धारण करती है और शङ्ख निधि रजोगुण-तमोगुणयुक्त है। विशेष २। १२५ (१) 'हृदये जनु नव निधि घर आई' तथा १। २२० (२) 'मनहुँ रंक निधि लूटन लागी' में देखिये।

सद् गुन सुर गन अंब अदिति सी। रघुपति भगति प्रेम परमिति सी॥ १४॥

शब्दार्थ—अंब=माता। अदिति—ये दक्षप्रजापतिकी कन्या और कश्यप ऋषिकी पत्नी हैं। इनसे सूर्य, इन्द्र इत्यादि तैंतीस देवता उत्पन्न हुए और ये देवताओंकी माता कहलाती हैं। (श० सा०)। परमिति=सीमा, हद। सदगुन (सद्गुन)=शुभ-गुण।

अर्थ—(यह कथा) सद्गुणरूपी देवताओं (के उत्पन्न करने) को अदिति माताके समान है वा अदितिके समान माता है। रघुनाथजीकी भक्ति और प्रेमकी सीमाके समान है*॥ १४॥

नोट—१ 'सद्गुण' जैसे कि सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, कोमलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शूरवीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, मान और निरहङ्कारता आदि। यथा—'सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्। शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥ २६॥

* अर्थान्तर—(१) भगति प्रेम=प्रेमा-पराभक्ति। (करु०)। (२)—'भगति प्रेम' =भक्तिमें प्रेमकी अवधिके समान है। (रा० प०)। 'भक्ति और प्रेम' ऐसा अर्थ करनेमें 'भक्ति' से सेवाका भाव लेंगे, क्योंकि यह शब्द 'भज सेवायाम्' धातुसे बना है।

ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बल स्मृति । स्वातन्त्र्य कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥ २७ ॥ प्रागल्भ्य प्रश्रय. शीलं सह ओजो बल भगः । गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्य कीर्तिर्मानोऽनहंकृति ॥ २८ ॥ भा० १ । १६ ।'

२—'अदिति सी' कहनेका भाव यह है कि जैसे—(क) अदितिसे देवताओंकी वैसे ही श्रीरामकथासे शुभ गुणोंकी उत्पत्ति है। पुन जैसे (ख) अदितिके पुत्र दिव्य और अमर है, वैसे ही कथासे उत्पन्न सद्गुण भी दिव्य और नाशरहित हैं—(प० रा० कु०)। (ग) अदिति देवताओंको उत्पन्न करके बराबर उनके हितमें रत रहती है और जिस तरह हो उनका भोग-विलास-ऐश्वर्य सदा स्थित रखती है—देखिये कि देवहितके लिये उन्होंने भगवान्‌को अपने यहाँ वामनरूपसे अवतीर्ण कराया था। इसी तरह रामकथारूपी माता सद्गुणोंको उत्पन्न करके उनको अपने भक्तोंमें (कलिमलसे रक्षा करती हुई) स्थिर रखती है।

टिप्पणी—यहाँ प्रथम सद्गुणोंकी उत्पत्ति कहकर तब प्रेम-भक्ति कही। क्योंकि सद्गुणोंका फल प्रेमभक्ति है जिसका फल श्रीसीतारामजीकी प्राप्ति और उनका हृदयमें बसना है, यथा—'तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥', (७। ४९) 'सब साधन कर एक फल जेहि जाने सो जान''' (दोहावली)। यह आगे कहते हैं।

नोट—३ श्रीजानकीदासजी 'रघुबर भगति प्रेम परमिति सी' का भाव यह लिखते है कि 'रामकथाके आगे अपर प्रेमाभक्ति नहीं है।' सन्तसिंहजी लिखते है कि इससे परे प्रेमभक्तिका प्रतिपादक ग्रन्थ और नहीं है। इस टीनकी समझमे भक्ति और प्रेमकी सीमा कहनेका आशय यह है कि श्रीरामकथामें, श्रीरामगुणानुवादमें, श्रीरामचर्चामे दिन-रात बीतना भक्तके लिये भक्ति और प्रेमकी सीमा है। प्राणपतिकी ही कीर्तिमें निरन्तर लगे रहनेसे बढकर क्या है? श्रीसनकादितक कथा सुननेके लिये ध्यानको तिलाञ्जलि दे देते हैं और ब्रह्मा आदि नारदजीसे बारबार श्रीरामचरित सुनते हैं।—'बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं। सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥ सनकादिक नारदहिं सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं॥ सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।'''। ७। ४२।' यदि कथा प्रेम और भक्तिकी सीमा न होती तो ब्रह्मनिरत मुनि ध्यान छोड़कर उसे क्यों सुनते तथा श्रीभुशुण्डिजी भी नित्य कथा क्यों कहते?

३ बैजनाथजी कहते है कि—'श्रीरामभक्तिके मूल प्रेमकी मर्यादा है। अर्थात् रामायणके श्रवण-कीर्तनसे परिपूर्ण प्रेम उत्पन्न होनेसे जीव भक्तिको धारण करता है। इसमें चातुर्यता प्रयोजन है।' पुन:, 'सीमा' का भाव यह है कि जैसे जलकी काक्षा होनेपर तालाब, कुआँ या नदीके तटपर जानेसे उसका ग्रहण होता है वैसे ही कथाके निकट जानेसे भक्ति और प्रेम प्राप्त होते हैं। अथवा, जैसे सीमा अपनेमें जलको रोके रखती है वैसे ही यह भक्ति और प्रेमको अपनेमें रोके हुए हैं।

दो०—रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय-रघुबीर-बिहारु॥ ३१॥

अर्थ—श्रीरामकथा मन्दाकिनी-नदी है, सुन्दर निर्मल चित्त चित्रकूट है। तुलसीदासजी कहते हैं कि (भक्तोंका) सुन्दर स्नेह (ही) वन है जहाँ श्रीसिय-रघुवीर विहार करते हैं॥ ३१॥

नोट—१ 'मंदाकिनी'—यह नदी अनसूया पर्वतसे निकली है जो चित्रकूटसे कोई पाँच कोसपर है। पौराणिक कथाके अनुसार यह नदी श्रीअनसूया महादेवी अपने तपोबलसे लायीं। इनकी महिमा अयोध्याकाण्डमें दी है।—'अत्रिप्रिया निज तपबल आनी। २। १३२। ५-६।' देखिये। 'बन' के दो अर्थ हैं—जगल और जल। विहार दोनोंमें होता है। स्नेहको वनकी उपमा दी। दोनोंमें समानता है। स्नेहमें लोग सुध-बुध भूल जाते हैं। देखिये निषादराज भरतजीके साथ जब चित्रकूट पहुँचे और भरतजीको वृक्ष दिखाये, जहाँ श्रीरामचन्द्रजी विराजमान थे। उस समय भरतजीका

प्रेम देख 'लपहिं सनेह विवस मग भूला'। जगलमें भी लोग भटक जाते हैं। पुन, स्नेह जल है, यथा—'माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु।'

'सिय रघुबीर बिहारु' इति।

'विहार' १-म० श्लो० ४ देखिये। श्रीसीतारामजी विहार करते हैं। श्रीकरुणासिन्धुजी और काष्ठजिह्वास्वामी 'रघुबीर' से श्रीरामलक्ष्मण दोनोंका भाव लेते हैं। क्योंकि चित्रकूटमें दोनों साथ-साथ थे। यथा—'रामु लखन सीता सहित सोहत परन निकेत। जिमि बासव बस अमरपुर सची जयत समेत॥ (२। १४१)। इस दोहेमें भी विहारगर्भित उदाहरण है। श्रीगोस्वामीजीके मतानुसार श्रीसीतारामजीका चित्रकूटमें नित्य निवास रहता है। यह बात दोहावलीमें स्पष्ट लिखी है। यथा—'चित्रकूट सब दिन बसत प्रभु सिय लखन समेत। रामनाम जप जापकहिं तुलसी अभिमत देत॥ दोहा ४।' 'रघुबीर' पद यहाँ सार्थक है। स्त्रीसहित वनमें विचरना यह वीरका ही काम है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि—'चित्त विपि प्रणय, प्रेम, आसक्ति, लग्न, लाग, अनुराग आदि रामस्नेह सुभग वनके वृक्ष हैं। अर्थात् नेहकी ललित दृष्टि ललिताई शोभा है, उसीमें श्रीसिय-रघुवीरका नित्य विहार है। भाव यह कि जो श्रीरामस्नेहमें सुन्दर चित्त लगाकर रामायण धारण करे उसीको प्रभुका विहार प्राप्त हो। यहाँ रामवश होना काव्यका प्रयोजन है।'

सब दिन श्रीसीतारामजीका यहाँ निवास एवं विहार—यह प्रभुका नित्य वा ऐश्वर्यचरित है, जो प्रभुकी कृपासे ही जानने और समझनेमें आता है। माधुर्य वा नैमित्तिक लीलामें तो वे कुछ ही दिन चित्रकूटमें रहे। 'विहार' का किंचित् दर्शन अरण्यकाण्ड 'एक बार चुनि कुसुम सुहाए। ३। १।' में कविने करा दिया है। प्रेमी वहाँ देख लें। गीतावली २। ४७ में भी यहाँ नित्य विहार कहा है। यथा—'चित्रकूट कानन छबि को कबि बरनै पार। जहँ सिय लखन सहित नित रघुबर करहिं बिहार॥ ७१॥ तुलसिदास चाँचरि मिस कहे राम गुन ग्राम।'—'विहार' शब्दमें गूढ़ भाव भरे हैं।

इस दोहेका भाव यह है कि—(क) जैसे चित्रकूटमें मन्दाकिनीके तटपर वनमें श्रीसीतारामजी सदा विहार करते हैं, वैसे ही जिनके निर्मल चित्तमें रामकथाका सुन्दर प्रेम है उनके हृदयमें श्रीसीतारामजी सदा विहार करते हैं। (ख) मन्दाकिनीका प्रवाह सब ऋतुओंमें जारी रहता है। इसी तरह शुद्ध अन्तःकरणके संतोंमें रामकथाका प्रवाह जानिये। पुन जैसे जल न रहनेसे जल विहार नहीं हो सकता और जगलका विहार निर्जन वनमें मनको नहीं भाता, वैसे ही कथामें प्रेम न हुआ और चित्त उधरसे हटा तो सियरामविहार न होगा। अर्थात् न तो कथा ही समझनेमें आवेगी और न प्रभुकी प्राप्ति होगी। (ग) जैसे श्रीरघुनाथजीके चित्रकूटमें रहनेसे दुष्ट डरते थे वैसे ही यहाँ कामादि खल चित्तमें बाधा न कर सकेंगे।

नोट—यहाँतक २५ विशेषण स्त्रीलिङ्गमें दिये। प्रायः प्रत्येक चौपाईमें दो-दो विशेषण हैं, कहीं-कहीं एक-ही-एक दिया है (मा० प्र०)।

राम चरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिअ सुभग सिंगारू॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचरित सुन्दर चिन्तामणि है, सन्तोंकी सुमतिरूपिणी स्त्रीका सुन्दर शृङ्गार है॥ १॥

नोट—१ (क) 'चिन्तामणि सब मणियोंमें श्रेष्ठ है, यथा—'चिंतामनि पुनि उपल दसानन। ६। २६।' इसी तरह रामचरित्र सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है। संतकी मतिकी शोभा रामचरित्र धारण करनेसे है, अन्य ग्रन्थसे शोभा नहीं है। 'सुभग सिंगारू' कहकर सूचित किया कि और सब शृङ्गारोंसे यह अधिक है। यथा—'तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने।' (विनय० २३५)। बिना रामचरित जाने चित्तकी चिन्ता नहीं मिटती। प्राकृत शृङ्गार नाशवान् है और यह नाशरहित सदा एकरस है। (प० रा० कु०)। (ख) जैसे चिन्तामणि जिस पदार्थका चिन्तन करो सोई देता है वैसे ही रामचरित्र सब पदार्थोंका देनेवाला है। (करु०)। (ग) 'सुभग सिंगारू' का भाव यह है कि यह 'नित्य, नाशरहित, एकरस और अनित्य प्राकृत शृङ्गारसे विलक्षण है।' (रा० प्र०)।

२—उत्तरकाण्डमें सुन्दर चिन्तामणिके लक्षण या दिये हैं—'(राम भगति) चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥ परम प्रकास रूप दिनराती। नहिं तहँ चहिय दिया घृत बाती॥ मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥ प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥ खल कामादि निकट नहिं जाहीं। (बसइ भगति जाके उर माहीं)॥ गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥ ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्हके बस सब जीव दुखारी॥ (राम भगति-मनि उर बस जाके)। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥ १२०॥' यहाँ रामचरितको 'सुन्दर-चिन्तामणि' कहकर इन सब लक्षणोंका श्रीरामचरित्रसे प्राप्त हो जाना सूचित किया है।

☞ 'चिन्तामणि' के गुण स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्डान्तर्गत ब्रह्मोत्तरखण्ड अध्याय ५ में ये कहे हैं—वह कौस्तुभमणिके समान कान्तिमान् और सूर्यके सदृश है। इसके दर्शन, श्रवण, ध्यानसे चिन्तित पदार्थ प्राप्त हो जाता है। उसकी कान्तिके किंचित् स्पर्शसे ताँबा, लोहा, सीसा, पत्थर आदि वस्तु भी सुवर्ण हो जाते हैं। यथा—'चिन्तामणिं ददौ दिव्य मणिभद्रो महामतिः॥ १५॥ स मणिः कौस्तुभ इव द्योतमानोऽर्कसंनिभः। दृष्टः श्रुतो वा ध्यातो वा नृणां यच्छति चिन्तितम्॥ १६॥ तस्य कान्तिलवस्पृष्टं कांस्यं ताम्रमयस्त्रपु। पाषाणादिकमन्यद्वा सद्यो भवति काञ्चनम्॥ १७॥'

३—बैजनाथजी लिखते हैं कि चिन्तामणिमें चार गुण हैं—'तम नासत दारिद हरत, रुज हरि विघ्न निवारि' वैसे ही श्रीरामचरित्रमें अविद्या-तमनाश, मोह दारिद्र्य-हरण, मानस रोग-शमन, कामादि-विघ्न-निवारण ये गुण हैं। सतोकी सुन्दर बुद्धिरूपिणी स्त्रीके अङ्गाके सोऽहीं शृङ्गाररूप यह रामचरित है। यथा—'उबटि सुकृति प्रेम मज्जन सुधर्म पट नेह नेह माँग श्याम दमसे दुरारा है। नूपुर सुबैनगुण यावक सुबुद्धि आँजि चूरि सज्जनाई सेव मेहदी सँवारी है॥ दया कर्णफूल नय शांति हरिगुण माल शुद्धता सुगंधपान ज्ञान त्याग कारी है। घूँघट सध्यान सेज तुरिया मे बैजनाथ रामपति पास तिय सुमति शृङ्गारी है॥' इति श्रवणमात्रसे प्राप्त होता है।

नोट—४ 'चारु' विशेषण देकर जनाया कि जो चिन्तामणि इन्द्रके पास है वह अर्थ, धर्म, काम ही दे सकती है और यह चिन्तामणि भक्ति एवं मुक्ति भी देती है। वह चिन्तित पदार्थ छोड़ और कुछ नहीं दे सकती और रामचरित्र अचिन्तितको भी देनेवाला है।

जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥ २॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके गुणग्राम जगत्‌का कल्याण करनेवाले हैं। मुक्ति, धन, धर्म और धामके देनेवाले हैं॥ २॥

नोट—१ 'जग मंगल' से जनाया कि जगत्‌के अन्य सब व्यवहार अमङ्गलरूप हैं।

२ (क) धामसे 'काम' का भाव लेनेसे चारों फलोंकी प्राप्ति सूचित की। चार फलोंमेंसे तीन धन (अर्थ), धर्म और मुक्ति तो स्पष्ट हैं। रहा 'काम' उसकी जगह यहाँ 'धाम' है। (ख) श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि—'यहाँ चारों फलोंका देना सूचित किया।...धाम अर्थात् गृहसे गृहिणीसमेतका तात्पर्य है, क्योंकि गृहिणी ही गृह है, यथा—'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्गृहम्॥ प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तारमिति निश्चितम्।' (महाभारत)। अतः काम भी आ गया।' इस कथनसे यहाँके 'धाम' शब्दसे लक्षणाद्वारा कामदेवका ग्रहण उनका अभिप्रेत जान पड़ता है। परंतु मेरी समझमें चारों पुरुषार्थोंवाले 'काम' शब्दसे केवल कामदेवका ही ग्रहण नहीं है, किंतु समस्त कामनाओंका ग्रहण होगा। ऐसा जान पड़ता है कि 'धन धरम धाम' पाठमें (लगातार तीन धकारादि शब्द आनेसे) शब्दालङ्कार भी होता है इससे कामके बदले धाम शब्द ही दिया गया। (ग) मा० प्र० कार 'मुक्तिरूपी धन और धर्मरूपी धाम देते हैं' ऐसा अर्थ करते हैं। जैसे धनकी रक्षाके लिये धाम होना जरूरी है, वैसे ही मुक्तिके लिये धर्मका होना जरूरी

है। रामचरित दोनों पदार्थोंके देनेवाले है। (घ) प० रामकुमारजीका मत है कि 'मुकुति, धन, धरम, धाम' इसमे धर्म, धन (अर्थ) और मुक्ति—ये तीन तो स्पष्ट ही है, परतु काम अस्पष्ट है, वह अर्थमे गतार्थ है। क्योंकि अर्थहीसे कामकी प्राप्ति शास्त्र-सम्मत है। (ड) ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजीका मत है कि 'धरम-धाम' तत्पुरुष समास है। 'उसका है धर्मका स्थान जो धर्महीका विशिष्ट पद है।'

२ मानसपत्रिकाकार अर्थ करते हैं कि 'रामका गुणसमूह जगत्के लिये मङ्गल है, मुक्तिका देनेवाला है और धन धर्मका गृह है।'

सदगुर ग्यान बिराग जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के॥ ३॥

अर्थ—ज्ञान, वैराग्य और योगके सद्गुरु है और ससाररूपी भयङ्कर रोगके लिये देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमारके समान हैं॥ ३॥

नोट—१ 'सद्गुरु' कहनेका भाव यह है कि (क) जैसे सद्गुरुके मिलनेसे सब भ्रम दूर होते है और यथार्थ बोध होता है, यथा—'सदगुर मिलें जाहिं जिमि ससय भ्रम समुदाइ' (४। १७)। वैसे ही इनका सम्यक् बोध श्रीराम-गुणग्रामसे हो जाता है। (ख) 'ज्ञान, वैराग्य और योगसिद्धिप्राप्ति करानेमे सद्गुरुके समान रामचरित्र है अर्थात् सिद्धि-जन्य फल इसमे अनायास प्राप्त हो सकता है।' (सू० मिश्र)। ['योग' से यहाँ 'भक्ति' को भी ले सकते हैं, क्योकि ज्ञान, वैराग्य और भक्ति प्राय साथ रहते हैं—ऐसा भी मत कुछ लोगोंका है]।

२ (क) 'बिबुध बैद' इति। त्वष्टाकी पुत्री प्रभा नामकी स्त्रीसे सूर्य भगवान्के दो पुत्र हुए जिनका नाम अश्विनीकुमार है। एक बार सूर्यके तेजको सहन करनेमे असमर्थ होकर प्रभा अपनी दो सतति यम और यमुना तथा अपनी छायाको छोड़कर चुपकेसे भाग गयी और घोड़ी बनकर तप करने लगी। इस छायासे भी सूर्यके दो सतति हुई—शनि और तापी। शनिने अपने भाई धर्मराजपर लात चलायी, तब धर्मराजने सूर्य (पिता) से कहा कि यह हमारा भाई नहीं हो सकता। सूर्यने ध्यान किया तो सब बात खुल गयी। तब सूर्य घोड़ा बनकर प्रभाके पास गये जहाँ वह घोड़ीरूपमें थी। इस सयोगसे दोनों कुमारोंकी उत्पत्ति हुई इसलिये अश्विनीकुमार नाम पड़ा। ये देवताओंके वैद्य हैं। इन्होंने एक कुण्डमे जड़ी-बूटियाँ डालकर च्यवन ऋषिको उसमे स्नान कराया तो उनका सुन्दर रूप १६ वर्षकी अवस्थाका हो गया। ऐसे बड़े वैद्य है। (ख) 'भव भीम रोग के' इति। छोटे रोगके लिये छोटे वैद्य ही बस हैं। पर यह भीम रोग है, इसलिये इसके लिये भारी वैद्य भी कहा। (ग) श्रीकरुणासिंधुजी 'बिबुध बैद' का अर्थ धन्वन्तरि भी करते है। (घ) भाव यह है कि भव रोगके वश सब जीव रोगी हो रहे हैं। जिस जीवको रामचरित प्राप्त हुआ उसके ससार रोग (जन्म-मरण) नष्ट हो जाते हैं।

जननि जनक सियराम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के॥ ४॥

अर्थ—श्रीसीतारामजीके प्रेमके माता पिता अर्थात् उत्पन्न, पालन और रक्षा करनेवाले है। सम्पूर्ण व्रत, धर्म और नियमोंके बीज है॥ ४॥

१ *नोट*—'जननि जनक' अर्थात् श्रीरामपदमें प्रीति उत्पन्न करके उसको स्थिर रखते है। 'जननि-जनक' के सम्बन्धमे 'सिय' और 'राम' दोनों नामोंका दिया जाना यहाँ बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है। 'जननि ··प्रेम के' हैं, इससे जनाया कि यदि चरित्रके पठन-श्रवणसे प्रेम उत्पन्न न हुआ तो निश्चय समझ लेना चाहिये कि हमारा चित्त चरित्रमें नहीं लगा। वस्तुतः हमने पढा-सुना नहीं।

२ 'बीज' इति। (क) जैसे वृक्ष बिना बीजके नहीं हो सकता वैसे ही कोई भी व्रत, धर्म, नियम बिना इनके नहीं हो सकता। (ख) श्रीरघुनाथजीके प्रतिकूल जितने नियम-धर्म है वे सब निर्मूल है, निष्फल हैं। (रा० प्र०)। (ग) जैसे बिना बीजका मन्त्र या यन्त्र सफल नहीं होता वैसे ही रामचरितके बिना सम्पूर्ण व्रत, धर्म और नियम सफल नहीं होते। पुन:, (घ) श्रीरामजीने अपने चरितद्वारा समस्त व्रतों, धर्मों और नियमोंका पालन करके एक आदर्श स्थापित कर दिया है कि जिसके अनुसार सब लोग चलें, इसीसे, 'चरित' को व्रतादिका 'बीज' कहा। यथा—'धर्ममार्गं चरित्रेण' (रा० पू० ता० १। ४)

समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के॥ ५॥

अर्थ—पाप, संताप और शोकके नाश करनेवाले हैं। इस लोक और परलोकके प्रिय पालक हैं॥ ५॥

नोट—१ (क) पाप जैसे कि परनिन्दा, परद्रोह, परदारामें प्रेम इत्यादि। संताप-दैहिक, दैविक, भौतिक ताप। शोक जैसे कि प्रिय वियोग, इष्टहानि इत्यादि। पाप कारण है, शोक संताप उसके कार्य हैं। यथा—'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग। ७। १००।' कारण और कार्य दोनोंके नाशक श्रीरामगुणग्रामको बनाया। (ख) पं० सू० प्र० मिश्र अर्थ करते हैं कि 'पापजन्य संताप ही शोक है, उसके नाशक हैं।' (ग) 'प्रिय पालक' कहनेका भाव कि श्रीरामगुणग्राम बड़े प्रेमपूर्वक दोनों लोक बना देते हैं, इस लोकमें सब प्रकारके सुख देते हैं और अन्तमें सद्गति देते हैं, प्रभुकी प्राप्ति करा देते हैं।

सचिव सुभट भूपति बिचार के। कुंभज लोभ उदधि अपार के॥ ६॥

अर्थ—विचाररूपी राजाके मन्त्री और अच्छे योद्धा हैं। लोभरूपी अपार समुद्रके सोखनेको अगस्त्यजी हैं॥ ६॥

नोट—१ 'सचिव सुभट भूपति बिचार के' इति। (क) राजाके आठ अङ्ग कहे गये हैं—१ स्वामी (राजा), २ अमात्य (मन्त्री), ३ सुहृद् (मित्र), ४ कोश, ५ राष्ट्र (देश-भूमि), ६ दुर्ग, ७ बल (सेना) और ८ राज्याङ्ग (प्रजाकी श्रेणियाँ, विभिन्न गुण-कर्मके पुरजन) इनमेंसे मन्त्री और सेना ये दो अङ्ग प्रधान हैं। इनसे राज्य स्थिर रहता है। यदि राजाके सब अङ्ग छूट गये हों पर ये दो अङ्ग साथ हों तो फिर और सब भी सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। इस ग्रन्थमें भी जहाँ-जहाँ राजाका वर्णन है वहाँ-वहाँ इन दोनों अङ्गोंको भी साथ ही कहा गया है। यथा—'सग सचिव सुचि भूरि भट। बा०। २१४।' 'नृपहितकारक सचिव सयाना'। 'अमित सुभट सब समर जुझारा॥ बा०। १५४।' इसी तरह सद्विचारोंके स्थित रखनेके लिये रामचरित्र मन्त्री और सुभटका काम देते हैं। मन्त्री राजाको मन्त्र (अच्छी सलाह) देते हैं, सुभट उसकी रक्षा करते हैं। मोह, अविवेक आदि राजाओंको जीतनेमें ये सुभट सहायक होते हैं। यथा—'जीति मोह महिपाल दल'। २। २३५।' (ख) 'विचारको यहाँ भूपति कहनेका भाव यह है कि रामचरित्रमें विचार मुख्य है, रामकथापर विचार करनेसे लोभका नाश होता है। सद्विचारोंकी वृद्धि होती है' (प० रा० कु०)। (ग) रामचरित विवेक-राजाके मन्त्री इस तरह हैं कि श्रीराम-मन्त्रकी दृढ़ता कराते हैं, और सुभट इस कारण हैं कि पापोंका क्षय करते हैं।' रामचरित्रसे पापका नाश होकर राम और रामचरित्रकी दृढ़ता होती है। (प०)।

२ 'कुंभज लोभ उदधि अपार के' इति। समुद्रशोषणकी कथा स्कन्दपुराण नागरखण्ड अध्याय ३५ में इस प्रकार है कि कालेय दैत्यगण जब समुद्रमें छिप गये और नित्य रात्रिमें बाहर निकलकर ऋषियों, मुनियों आदिको खा डाला करते थे, देवता समुद्रके भीतर जाकर युद्ध न कर सकते थे। तब ब्रह्मादि देवताओंने यह सम्मतकर कि अगस्त्यजी ही समुद्रशोषणको समर्थ हैं, सब उनके पास चमत्कार पुर नामक क्षेत्रमें गये और उनसे समुद्रशोषणकी प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि एक वर्षकी अवधि हमें दी जाय इसमें योगिनियोंके विद्याबलसे आश्रित होकर हम समुद्रका शोषण कर सकेंगे। यथा—'अहं संवत्सरस्यान्ते शोषयिष्यामि सागरम्। विद्याबलं समाश्रित्य योगिनीनां सुरोत्तमाः॥ २७॥' आप सब एक वर्ष बीतनेपर यहाँ आवें तब मैं आपका कार्य करूँगा। तब देवता चले गये और महर्षि अगस्त्यजीने यथोक्त विधिसे विशोषिणीनामक विद्याका आराधन प्रारम्भ किया। एक वर्षमें वह प्रसन्न हो गयी और वरदान देनेको उपस्थित हुई। अगस्त्यजीने माँगा कि 'आप मेरे मुखमें प्रवेश करें जिससे मैं समुद्रका शोषण कर सकूँ।' यथा—'यदि देवि प्रसन्ना मे तदास्यं विश सत्वरम्। येन संशोषयाम्याशु समुद्रं देवि वाञ्छितम्॥ ३३॥' तत्पश्चात् देवता भी आये और अगस्त्यजीने साथ जाकर समुद्रको सहजहीमें पी लिया। [पूर्वका प्रसङ्ग दोहा ३ (३) में देखिये]।

समुद्र-शोषणकी कथा महाभारत वनपर्व अ० १०३-१०५ तथा पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भी है, परंतु इनमें महर्षि

अगस्त्यजीका देवताओंकी प्रार्थना सुनकर तुरत समुद्रतटपर उनके साथ जाना और समुद्रको देखते-देखते चुल्लू लगाकर पी जाना लिखा है। कल्पभेदसे ऐसा सम्भव है।

ऐसा भी सुना जाता है कि अगस्त्यजीने 'रामाय रामचन्द्राय रामभद्राय' ऐसा कहकर समुद्रको तीन आचमनोंमें पी लिया। इसीसे इनका नाम समुद्रचुलुक और पीताब्धि आदि भी है। विनयपत्रिकामें भी श्रीरामनामके प्रतापसे सोखना कहा है।

समुद्र सोखनेकी कथा ऐसी भी सुनी जाती है कि एक बार समुद्र किसी चिड़ियाके अंडेको बहा ले गया तब वह पक्षी समुद्रतटपर आ अपनी चोंचमें समुद्रका जल भर-भरकर बाहर उलचने लगा कि मैं इसे सुखा दूँगा। दैवयोगसे महर्षि अगस्त्यजी वहाँ पहुँच गये। सब वृत्तान्त जाननेपर उन्हें दया आ गयी और उन्होंने 'रामाय रामचन्द्राय रामभद्राय' कहकर जल सोख लिया।

ऐसा भी सुना जाता है कि एक बार आप समुद्रतटपर पूजन कर रहे थे। समुद्र आपकी पूजन-सामग्री बहा ले गया। इसपर आपने कुपित हो उसे पी लिया। और फिर देवताओंकी प्रार्थनापर उसे भर भी दिया। यथा—'सोख्यो सिंधु सहित झष ब्याल, नाम प्रताप, डारयो हिय भारो भयो भूसुर बरनि॥ विनय० २४७।' आनन्दरामायणमें लिखा है कि—'पीतोऽयं जलधिः पूर्वं कुम्भजेनाब्धिरूनिला। मूत्रद्वाराद्वहिस्त्यक्तो यस्मात्क्षारत्वमागत॥' (विलासकाण्ड सर्ग ९। २१) अर्थात् सुना है कि अगस्त्य कुम्भजजीने इसे पी लिया था और फिर मूत्रद्वारसे इसे भर दिया, इसीसे यह खारा हो गया।

३—'लोभ उदधि' इति। (क) लोभको अपार समुद्र कहा, क्योंकि जैसे-जैसे लाभ होता जाता है तैसे-तैसे लोभ भी अधिक होता जाता है। इच्छाकी पूर्ति होनेपर भी यह नहीं जाता—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।' ६। १०१।' (ख) रामचरितको अगस्त्यजीकी उपमा देनेका भाव यह है कि रामचरितसे संतोष उपजता है जिससे लोभ दूर हो जाता है, यथा—'जिमि लोभहि सोषइ संतोषा। ४। १६।' (ग) पंजाबीजी यह शंका उठाते हैं कि 'कुम्भजऋषिने समुद्र पी लिया, पर वह अब भी प्रकट है तो इसी तरह लोभ भी रामनामसे निवृत्त होनेपर भी रहा तो अधिकार्य नहीं रही?' और इसका समाधान यों करते हैं कि यहाँ दृष्टान्तका एक अङ्ग लिया है। अथवा, जैसे समुद्र देखनेमें आता है परन्तु पीनेके कामका नहीं, क्योंकि उसका जल खारा हो गया है, वैसे ही विवेकियोंमें व्यवहारमात्र लोभका आभास होता है। वह जन्मान्तरोंका साधक नहीं अर्थात् जन्मान्तरोंपर उसका प्रभाव न पड़ेगा। [इस कथनका आशय यह है कि रामनामसे लोभका तो नाश ही हो गया, परन्तु प्रारब्धानुसार कुछ व्यवहार ऐसा होता है कि जिससे अज्ञानी लोग उसमें लोभादिकी कल्पना कर लेते हैं। वह प्रारब्धकर्म केवल भोगका निमित्त हो सकता है, पुनर्जन्मका नहीं, जैसे भूँजा बीज। भुना हुआ अन्न केवल उदरपूर्ति आदिके काममें आ सकता है पर वह बीजके काममें नहीं आ सकता। गीतामें स्थिरबुद्धि पुरुषके विषयमें भी जो ऐसा ही कहा गया है, यथा—'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे॰॰२। ७०।' (अर्थात् जैसे नाना नदियोंका जल समुद्रमें जाकर समा जाता है, उनसे समुद्र चलायमान नहीं होता वैसे ही स्थिरबुद्धि पुरुषके प्रति सम्पूर्ण भोग समाकर भी कोई विकार नहीं उत्पन्न करते), वह दशा मानसके ज्ञानसमाजका सहज प्राप्त हो जाती है।

काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के॥ ७॥

शब्दार्थ—करिगन = हाथियोंका समूह। केहरि = सिंह। सावक = बच्चा। जन = भक्त, दास।

अर्थ—भक्तोंके मनरूपी वनमें बसनेवाले कलियुगके विकाररूप काम, क्रोध हाथियोंके झुंडके (नाश करनेके) लिये सिंहके बच्चेके समान है॥ ७॥

प० रामकुमारजी—१ लोभ, काम और क्रोधको एकत्र कहा, क्योंकि ये तीनों नरकके द्वार हैं, यथा—'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।' (५। ३८), 'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। काम.

क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ गीता १६ । २१ ।' इन्हींके वश पाप होते हैं। इसीसे तीनोंके अन्तमें कलिमल कहा। कामादिसे पाप होते हैं और पापसे नरक होता है। इसलिये कार्य और कारण दोनोंका नाश कहा।

२—जिस वनमें सिंह रहता है वहाँ हाथी नहीं जाते। इसी तरह जिस जनके मनमें रामचरित रहते हैं, वहाँ कामादि विकार नहीं रहते और यदि वहाँ गये तो रामचरित्र उनका नाश कर देते हैं। सावक=किशोर सिंह, यथा—'मनहुँ मत्त गजगन निरखि सिंह किसोरहिं चोप। १। २६७।'

नोट—१ 'केहरिसावक' इति। सिंहके बच्चेको हाथीके झुंडको भगानेमें विशेष उत्साह होता है। अत श्रीराम-चरितको 'शावक' बनाया। (सु० द्विवेदीजी)। पुन, 'शावक' कहनेका भाव यह है कि बच्चा दिनोंदिन बढ़ता जाता है और काम-क्रोधादि कलिमल तो क्षीण होते जाते हैं। अतएव रामचरित्रपर इनका प्राबल्य नहीं होगा। सिंह और हाथीका स्वाभाविक वैर है, इसी तरह कामादिका रामचरित्रसे स्वाभाविक वैर है। (पा०)। पुन, चरितको शावक कहकर श्रीरामजीको सिंह जनाया।

२—काम क्रोधका क्रम यों है कि पहले मनमें कामना उठती है, उसकी पूर्ति न होनेसे क्रोध होता है और 'क्रोध पापकर मूल' है यही कलिमल है।

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के॥ ८॥

शब्दार्थ—अतिथि=वह अभ्यागत या मेहमान जिसके आनेका समय निश्चित न हो या जो कभी न आया हो, यथा—'दूरागत परिश्रान्तं वैश्वदेव उपस्थितम्। अतिथिं त विजानीयान्नातिथि पूर्वमागत ॥' अर्थात् जो दूरसे आया हो, थका हो और बलिवैश्वदेव कर्मके समय आ पहुँचे, वह 'अतिथि' कहा जाता है परन्तु ऐसा होनेपर भी जो कभी पहले आ चुका हो वह 'अतिथि' नहीं है। दवारि=दावाग्नि। वह आग जो वनमें आप-ही-आप लग जाती है।= दावानल। कामद=मनमाँगा देनेवाला।

अर्थ—१ श्रीरामचरित्र त्रिपुर दैत्यके शत्रु शिवजीको अतिथिसम पूज्य और अतिप्रिय (एवं प्रियतम पूज्य अतिथिसम) हैं। दरिद्रतारूपी दावानल (को बुझाने) के लिये कामना पूर्ण करनेवाले मेघके समान हैं॥ ८॥

नोट—१ 'पूज्य प्रियतम' इति। (क) 'पूज्यका भाव यह है कि अतिथिका किसी अवस्थामें त्याग नहीं होता है, वह सदा वन्द्य है, उसकी पूजा न करनेसे दोष होता है। यथा—'अतिथिर्यस्य भग्नाशो गेहात्प्रतिनिवर्तते। स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ ४ ॥ सत्यं तथा तपोऽधीतं दत्तमिष्टं शतं समा। तस्य सर्वमिदं नष्टमतिथिं यो न पूजयेत् ॥ ५ ॥ दूरादतिथयो यस्य गृहमायान्ति निर्वृताः। स गृहस्थ इति प्रोक्त शेषाश्च गृहरक्षिण ॥ ६ ॥' (स्कन्दपु० ना० उ० १७६)। अर्थात् जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उसे वह अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है। जो अतिथिका आदर नहीं करता उसके सौ वर्षोंके सत्य, तप, स्वाध्याय, दान और यज्ञ आदि सभी सत्कर्म नष्ट हो जाते हैं। जिसके घरपर दूसरे प्रसन्नतापूर्वक अतिथि आते हैं, वह गृहस्थ कहा गया है। शेष सब लोग तो गृहके रक्षकमात्र हैं। (ख) अतिथिके प्रति मनुजीने यह कहा है—'एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मण स्मृत। अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ ३। १०२।' अर्थात् ब्राह्मण यदि एक रात्रि दूसरेके घरपर रहे तो वह अतिथि कहलायेगा। उसका रहना नियत नहीं है इसीसे उसको अतिथि कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि सम्मान्य पुरुषको भी अतिथि पूजनीय है तब मर्यादापुरुष श्रीशङ्करजीको 'प्रियतम' क्यों न होगा? (सू० प्र० मिश्र)। (ग) 'प्रतिक्षण श्रीरामजीके नये-नये चरित्रोंको हृदयमें अति प्रेमसे स्मरण करनेसे गुणग्राम श्रीमहादेवजीका प्रियतम पूज्य हुआ।' (सु० द्विवेदी)। पुन०, (घ)—सभी अतिथि पूज्य होते हैं। उनमें जो ज्ञानवयोवृद्ध होते हैं वे तो परम पूज्य हैं। प्रियतम (अतिशय प्रिय) कहकर जीवनधन होना जनाया। (ङ) बैजनाथजी कहते हैं कि रूप अतिथि है, नाम पूज्य है और लीला प्रियतम है। (परन्तु यहाँ तीनों विशेषण चरितहीके दिये जाते हैं)।

अर्थ—२ श्रीत्रिपुरारिजीको श्रीरामचरित अतिथि, पूज्य और प्रियतम हैं। भाव यह कि मनसे प्रियतम है, कर्मसे पूज्य है और वचनसे अतिथिरूप है। (वै०)

नोट—२ 'कामद घन दारिद ··' इति। (क) 'कामद' कहनेका भाव कि श्रीरामचरित्रसे फिर कोई इच्छा शेष नहीं रह जाती। दरिद्री सब सम्पत्तिका आगार हो जाता है। (ख)—'कामद घन' का भाव कि जिस समय जो सुख दरिद्र चाहता है वह उसी समय देते हैं। यथा—'मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र के राज'। ७। २३।'

प० रामकुमारजी—सामान्य जनोंको कहकर अब विशेष जनोंको कहते हैं। 'शिवजी' रामचरितकी पूजा करते हैं और उसे प्राण-प्रिय मानते हैं। उससे कुछ कामना नहीं करते। इसलिये शिवजीके प्रति कुछ देना नहीं लिखा, औरोंको देते हैं सो आगे कहते हैं कि दारिद-दवारिके कामद घन हैं, सुकृतमेघरूप होकर सुखरूपी जल बरसाते हैं जिससे दारिद्र्य बुझता है।'

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥ ९॥

अर्थ—श्रीरामचरित विषयरूपी सर्प (का विष उतारने) के लिये मन्त्र और महामणि है। ललाटपर लिखे हुए कठिन बुरे अङ्कों अर्थात् दुर्भाग्यके मिटा देनेवाले हैं॥ ९॥

नोट—१ 'मंत्र महामनि ··' इति। (क) प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यहाँ मन्त्र और महामणि दोकी उपमा दी। क्योंकि मन्त्रके सुननेसे या मणिके ग्रहण करनेसे विष दूर होता है। इसी तरह रामचरित दूसरेसे सुने अथवा आप धारण करे तो विषय-विष दूर हो जाता है। दो भाव दिखानेके लिये दो उपमाएँ दीं।'

मा० मा० कारका मत है कि 'शाबरमन्त्रका धर्म है कि गारुड़ी मन्त्र जाननेवाला दूसरेको झाड़कर अच्छा कर सकता है पर स्वयं अपनेको उस मन्त्रसे नहीं अच्छा कर सकता और महामणिका धर्म है कि जिसके पास हो उसको प्रथम तो सर्प डसता ही नहीं और डस भी ले तो उसे धोकर पीनेसे विष उतर जाता है, पर उस मणिसे वह दूसरेको अच्छा नहीं कर सकता। यहाँ दो उपमाएँ देकर जनाया कि वक्ताके लिये मणिवत् है और श्रोताओंके लिये मन्त्रवत् है। चरित्र सुनाना मन्त्रसे झाड़ना है और उसका 'आराधन नेमयुक्त पाठ, नवाह, सम्पुट नवाह प्रायोगिक पाठ' करना मणिको स्वयं धोकर पीना है।' वे० भूषणजी इसपर कहते हैं कि—'परंतु शास्त्रोंका कहना है कि मणि सबको अच्छा कर देती है, यह नहीं कि जिसके पास हो उसीको, प्रत्युत जिस किसी विषव्याप्त शरीरसे उसका स्पर्श हो जाय उसीका विष वह हरण कर ले। मानसमें भी कहा है—'हरइ गरल दुख दारिद दहई। २। १८४।'

(ख) 'महा' पद दीप देहलीन्यायसे मन्त्र और मणि दोनोंके साथ है। (पं०)।

(ग) रामायण-परिचर्याकार लिखते हैं कि 'विष हरनेवाले तीन हैं—मन्त्र, महौषधि और मणि। मन्त्रसे झाड़नेसे या मन्त्र-जपसे, महौषधिके लगाने या सेवनसे और मणिके स्पर्शसे सर्पका विष दूर होता है। यहाँ ये तीनों सूचित किये हैं।' (यहाँ 'मंत्र' से वे महौषधिका ग्रहण समझते हैं) इसी प्रकार रामचरित्र विषयसर्पका विष उतारनेके लिये तीनों प्रकारसे उत्तम है।' (यह भाव बैजनाथजीके आधारपर लिया हुआ जान पड़ता है)।

(घ) 'मनि'—यह जहर-मुहरा कहलाता है, इसको घावपर ओषधिरूपसे लगानेसे विष दूर होता है। सर्पमणिसे विष दूर होता है। यथा—'अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥ २। १८४।'

(ङ)—दूसरा भाव महामणिका यह है कि सर्पका विष तो मणिहीसे उतर जाता है और रामचरित तो महामणि है। इनके ग्रहणसे विष चढ़ने ही नहीं पाता। और पहिलेका चढ़ा हुआ हो तो वह भी उतर जाता है।

२ बैजनाथजी विषय-सर्पका रूपक यों देते हैं कि—'विषयमें मनका लगना सर्पका डसना है, कामना विष है, काममें हानि होनेसे क्रोध होता है। यही विष चढ़नेकी गर्मी है। क्रोधसे मोह होता है। यह मूर्छा (लहर) है, मोहमें आत्मस्वरूप भूल जाता है। यही मृत्यु है। श्रीरामगुणग्राम मन्त्र है, महौषधि है और मणि है। मन्त्रके

प्रभावसे सर्प नहीं काट सकता और जिसको सर्पने डसा हो उसे मन्त्रसे झाड़कर फूक डालनेसे विष उतर जाता है। श्रीरामनाम महामन्त्र है। इसके स्मरणसे विषय लगता ही नहीं और जो पूर्वका लगा है वह छूट जाता है। पुनः, घृत, मधु, मक्खन, पीपल छोटी, अदरक, मिर्च, सेंधानमक—इन सबको मिलाकर ओषधि बनाकर खानेसे भी विष उतर जाता है। यहाँ प्रभुकी लीला ओषधि है जिसके श्रवणमात्रसे विषका नाश हो जाता है। पुनः, मणि हीरा आदिके स्पर्शसे भी विष नहीं व्यापता। यहाँ श्रीरामरूप मणि है। श्रीरामरूपके प्रभावसे विषय व्यापता ही नहीं।'

३ (क) 'विषय-सेवनसे भालमें कुअङ्क पड़ते हैं। इसलिये प्रथम विषयका नाश कहा तब भालके कुअङ्क मेटना'। (ख) 'कठिन कुअङ्क' अर्थात् जो मिट न सकें। कठिन कहा, क्योंकि विधिके लिखे अङ्क कोई नहीं मिटा सकता। यथा—'कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥ १। ६८।' 'बिधि कर लिखा को मेटनिहारा', 'तुम्ह से मिटिहिं कि बिधि के अंका' इत्यादि। श्रीरामचरित ऐसे कठिन कर्मबन्धनको भी मिटा देता है। शुकदेवजीने भी यही कहा है, यथा—'पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन्। आनृशंस्यपरो राजन्कर्मबन्धैर्विमुच्यते॥' भा० ९। ११। २३।' पुनः, 'कठिन कुअङ्क' = पूर्व जन्मोंके बुरे कर्मोंकी फलस्वरूप ललाटरेखाएँ। इन अङ्कोंके मिटानेका भाव विनय-पत्रिकाके—'भागु है अभागेहु को' (पद ६९) और 'बाम बिधि भालहू न कर्मदाग दागिहैं' (७०) से मिलता है। पुनः, देखिये चरखारीके ठाकुरकी कन्याको रामचरितमानससे ही पुत्र बनाया गया था, मृतकको जिलाया गया था। गोस्वामीजीकी जीवनीसे स्पष्ट है।

हरन मोह तम दिनकर कर से। सेवक सालि पाल जलधर से॥ १०॥

अर्थ—मोह अन्धकारके हरनेको सूर्य-किरणके समान हैं। सेवकरूपी धानके पालन करनेको मेघ-समान हैं॥ १०॥

टिप्पणी—मोहके नाशमें बड़ा परिश्रम करे तो भी वह नहीं छूटता, यथा—'माधव मोह फाँस क्यों टूटै। वि० ११५।' रामचरित सुननेसे बिना परिश्रम ही अज्ञानका नाश होता है, यथा—'उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। १। २३९।' सूर्य-किरणमें जल है, यथा—'आदित्याज्जायते वृष्टिः।' सेवक-शालिको मेघकी नाईं पालते हैं, शालि मेघके जलसे पलता है, नहीं तो सूख जाता है। वह स्थावर है। इसी तरह सेवक रामचरितसे जीते हैं, रामचरितके भरोसे हैं। पुनः, जैसे मेघ और भी अन्नोंको लाभकारी है पर 'शालि' का तो यही जीवन है (भाव यह कि और अन्न तो अन्य जलसे भी हो जाते हैं) वैसे ही जो सेवक नहीं हैं रामचरित उनका भी कल्याण करता है पर सेवकका तो जीवन ही है। ('सेवक' को शालि कहनेके भाव 'तुलसी सालि सुदास' दोहा १९ में देखिये)।

अभिमत दानि देव तरु बर से। सेवत सुलभ सुखद हरि हर से॥ ११॥

शब्दार्थ—अभिमत=मनमाँगा, मनमें चाही हुई वस्तु, वाञ्छित पदार्थ। देवतरु=कल्पवृक्ष। यह वृक्ष क्षीरसागर मथनेपर निकला था, चौदह रत्नोंमेंसे एक यह भी है। यह वृक्ष देवताओंके राजा इन्द्रको दिया गया था। इस वृक्षके नीचे जानेसे जो मनमें इच्छा उठती है वह तत्काल पूरी होती है। यथा—'देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समन सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच॥ अ० २६७।', 'रामनाम कामतरु जोई जोई मागिहै। तुलसी स्वारथ परमारथौ न खाँगिहै॥' (विनय०)। यह अर्थ, धर्म और कामका देनेवाला है। इसका नाश कल्पान्ततक नहीं होता। इसी प्रकारका एक पेड़ मुसलमानोंके स्वर्गमें भी है जिसे 'तूबा' कहते हैं। कल्पवृक्षके फूल सफेद होते हैं।

अर्थ—(श्रीरामचरित) वाञ्छित फल देनेमें श्रेष्ठ कल्पवृक्षके समान हैं। और सेवा करनेसे हरिहरके समान सुलभ और सुखद हैं॥ ११॥

नोट—१ रामचरितको श्रेष्ठ कल्पवृक्ष सम कहा। क्योंकि कल्पवृक्षके नीचे यदि बुरी वस्तुकी चाह हो तो बुरी ही मिलेगी। एक कथा है कि एक मनुष्यने जाकर सोचा कि यहाँ पलग होता, बिछौना आदि होता तो लेटते, भोजन करते,

भोग विलास करते। वह सब इच्छा करते ही उसको मिला। इतनेहीमें उसके विचारमें आया कि कहीं यहाँ सिंह न आ जाय और हमें खा न डाले। विचारके उठते ही सिंह वहाँ पहुँचा और उसे निगल गया। रामचरितमें वह अवगुण नहीं है, इसीलिये यहाँ 'बर' पद दिया है। पुन कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म और काम तीन ही फल दे सकता है, मोक्ष नहीं। और रामचरित चारों फल देते हैं, अतएव इन्हें 'देव तरुबर' कहा।

टिप्पणी—१ ऊपर चौपाईमें सेवकको शालिकी उपमा दी। धान स्थावर है। इससे रामचरितको मेघकी उपमा दी कि सेवकके पास जाकर उसको सुख दें। अब रामचरितको वृक्षकी उपमा दी, वृक्ष स्थावर है। इसलिये सेवकका वहाँ जाकर सेवन करना कहा। दोनों तरहकी उपमा देकर सूचित किया है कि श्रीरामचरित दोनों तरहसे सेवकको सुख देते हैं।

नोट—२ 'सुलभ सुखद हरिहर से' इति। भगवान् स्मरण करते ही दुःख हरते हैं। द्रौपदी, गजेन्द्र आदि इसके उदाहरण हैं। 'हरि' पद भी यही सूचित करता है। पुन, सुलभता देखिये कि सम्मुख होते ही, प्रणाम करते ही, अपना लेते हैं। यथा—'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ सु० ४४।', 'उठे राम सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥ अ० २४०। ऐसे सुलभ। पुन, हरि-हरसे सुखद हैं अर्थात् मुक्ति-भुक्तिके देनेवाले हैं। ऐसे ही सुलभ भगवान् शंकर हैं, यथा—'सेवा सुमिरन पूजिबो पात आखत थोरे'—(वि० ८), 'अवटर दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे॥' (वि० ६) ☞श्रीरामचरितमें सुलभता यह है कि चौपाई-दोहा पढ़नेमें परिश्रम नहीं। (ख) 'हरिहर' की ही उपमा दी और किसी देवताकी नहीं। इसका भाव बैजनाथजी यह लिखते हैं कि अन्य देवताओंकी सेवामें विघ्न और बाधाएँ होती हैं और वे विशेष सुख भी नहीं दे सकते। हरिहर लोक-परलोक दोनोंका सुख देते हैं। यहाँ 'सपन्ति' प्रयोजन है।

मा० पत्रिका—'जो वस्तु सुगमतासे मिलती है उसका आदर थोड़ा होता है पर रामचरितमें यह विशेषता है कि इसकी प्राप्ति सत्सगतिद्वारा सुगमतासे होती है। यह फल देनेमें शिव और विष्णुसम है।'

सुधाकर द्विवेदीजी—हरिहर थोड़ी ही सेवामें शीघ्र मिल जाते हैं, वैसे ही गुणग्राम भी शीघ्र सन्तजनोंकी कृपासे प्राप्त होकर सुख देने लगता है।

सुकबि सरद नभ मन उड़गन से। राम भगत जन जीवन धन से॥ १२॥

अर्थ—(श्रीरामचरित) सुकविरूपी शरदृऋतुके मनरूपी आकाश (को सुशोभित करने) के लिये तारागण समान हैं। रामभक्तके तो जीवन-धन (अथवा जीवन और धनके) सदृश ही हैं॥ १२॥

नोट—१ (क) 'सरद-नभ मन' इति। शरदृऋतुकी रातमें आकाश निर्मल रहता है, इसलिये उस समय छोटे-बड़े सभी तारागण देख पड़ते हैं, उनके उदय होनेसे आकाशकी बड़ी शोभा हो जाती है। इसी तरह जिन कवियोंके मन स्वच्छ हैं उनके मनमें छोटे-बड़े सभी निर्मल रामचरित उदय होकर उनकी शोभा बढ़ाते हैं। (ख)—'तारागणकी उपमा देकर रामचरितका अनन्त और अनादि होना जनाया। पुन, यह भी सूचित किया है कि रामचरित कवियोंके बनाये नहीं हैं, उनके हृदयमें आते हैं, जैसे तारागण आकाशके बनाये नहीं होते, केवल वहाँ उदय होते हैं। यथा—'हर हिय राम-चरित सब आए। १। १११।' (ग)—'सुकबि' से परमेश्वरके चरित्र गानेवाले कवि यहाँ समझिये। (प० रा० कु०)। वा, भगवान्के यशके कथनमें प्रेम होनेसे इनको 'सुकवि' कहा और परमभक्त न होनेसे इन्हें तारागणकी उपमा दी, नहीं तो पूर्णचन्द्रकी उपमा देते। (मा० मा०)।

सकल सुकृत फल भूरि भोग से। जग हित निरुपधि साधु लोग से॥ १३॥

अर्थ—(श्रीरामचरित) सारे पुण्योंके फलके भोगसमूहके समान हैं। जगत्का एकरस हित करनेमें सन्तोंके समान हैं॥ १३॥

टिप्पणी—'सकल सुकृत' का फल भी भारी ही होना चाहिये। इसीसे कहते हैं कि फल बड़ा है।

उसी फलके भोग सम हैं। [ये 'भूरि' को फलका विशेषण मानते हैं। करुणासिन्धुजी भी ऐसा ही अर्थ करते है]।

नोट—१ 'भूरि' पद 'फल' और 'भोग' के बीचमें है, इससे वह दीपदेहलीन्यायसे दोनोंमें लगाया जा सकता है। भाव यह है कि फल समस्त पुण्योंके एकत्र होनेसे भोगनेको मिल सकता है वह केवल रामचरित-से प्राप्त हो जाता है। समस्त सुकृतोंका फल श्रीरामप्रेम है, यथा—'सकल सुकृत फल रामसनेहू। १। २७।' अतः यह भी भाव निकलता है कि इससे भरपूर श्रीरामस्नेह होता है। (ख)—ऊपर चौपाइयोंमें अपने जनको हितकर होना कहा, अब कहते हैं कि इससे जगन्मात्रका हित है। (ग)—'निरुपधि' (निरुपाधि)=निर्बाध, एकरस। १। १५। (४) देखिये।

मा० पत्रिका—जितने अच्छे काम हैं उनका सबसे अधिक फलभोग स्वर्गसुखभोग है, उससे भी अधिक फल राम-चरित्र-श्रवण-मनन है। अधिक इससे है कि पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गसुखका नाश होकर पुनः मर्त्यलोकमें आना पड़ता है और रामचरित्रके श्रवण-मननसे अक्षयलोककी प्राप्ति होती है 'जहँ ते नहि फिरे'

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'निरुपधि' इससे कहा कि रामचरित पढनेका अधिकार सबको है।

नोट—२ 'साधु लोग से' इति। अर्थात् निस्स्वार्थ कृपा करते हैं, यथा—'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥' चाहे लोग उनकी सेवा पूजा करें, वा न करें, एक बार भी उनका सङ्ग, स्पर्श, दर्शन आदि होनेसे उनका कल्याण हो जाता है।

सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग माल से॥ १४॥

अर्थ—(श्रीरामचरित) सेवकके मनरूपी मानस-सरोवरके लिये हंसके समान है। पवित्र करनेमें गङ्गाजीकी लहरोंके समूहके समान हैं॥ १४॥

☞ मिलान कीजिये—'कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल। १। १४।' से। हंस मानसमें रहते हैं, विहार करते हैं, यथा—'जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल। अ० २८१।' 'सुरसर सुभग बनज बनचारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥ अ० ६०।' मरालकी उपमा देकर सेवकका रामचरित्रसे नित्य सम्बन्ध दिखाया। दोनोंकी एक दूसरेसे शोभा है। चरित इनके मनको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते।

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि गङ्गाजीकी सब तरंगे पावन है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीके सब चरित्र पावन हैं। २—प० रामकुमारजी कहते हैं कि जैसे गङ्गाकी तरगें अमित हैं वैसे ही रामचरित अनन्त है। पुनः, जैसे गङ्गासे तरग वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीसे रामचरित और जैसे 'गङ्ग-तरग' अभेद वैसे ही राम और रामचरितमें अभेद सूचित किया।

दो०—कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड।
दहन रामगुनग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड॥ ३२ (क)॥

शब्दार्थ—कुपथ=कुमार्ग=वेदोंने जो मार्ग बतलाये है उनको छोड अन्य मार्ग, यथा—'चलत कुपथ वेदमग छाँडे। १। १२।' कुचालि-बुरा चाल-चलन, जैसे जुआ खेलना, चोरी करना।=खोटे कर्म करना। कुतरक (कुतर्क)=व्यर्थ या बेढगी दलीलें करना, जैसे 'राम' परमेश्वर होते तो घर बैठे ही रावणको मार डालते, अवतारकी क्या जरूरत थी। परलोक किसने देखा है, इत्यादि। तर्क—'आगमस्याविरोधेन ऊहन तर्क उच्यते। अमृतनादोपनिषद् १७।' अर्थात् वेदसे अविरुद्ध (शास्त्रानुकूल) जो ऊहापोह (शका-समाधान) किया जाता है उसे 'तर्क' कहते हैं। पुन, तर्क=अपूर्व उत्प्रेक्षा। यथा—'अपूर्वोत्प्रेक्षणं तर्क इत्यमर-विवेकटीकायाम्' (अमरे १। ५। ३) अर्थात् अपूर्व रीतिसे और वस्तुमें और कहना। कुतर्क—पवित्र पदार्थमें पाप निकालना, उत्तमको निकृष्ट करके दिखाना, युक्तिसे बड़ोंकी निन्दा

करना, सत्कर्म करनेसे रोकना, इत्यादि सब 'कुतर्क' है। (वै०) कलि=कलियुग। मानस-परिचारिकाकार और पंजाबीजी इसका अर्थ यहाँ 'कलह' करते हैं।

अर्थ—कुमार्ग, बुरे तर्क, कुचाल और कलिके (वा, कलह एवं) कपट दम्भ-पाखण्डरूपी ईंधनको जलानेके लिये श्रीरामचन्द्रजीके गुणसमूह प्रचण्ड अग्निके समान हैं॥ ३२ (क)॥

नोट—'कपट' 'दम्भ' 'पाखंड' में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। (क) कपटमें ऊपरसे कुछ और भीतरसे कुछ और होता है। अपना कार्य साधनेके लिये हृदयकी बातको छिपाये रहना, ऊपरसे मीठा बोलना, भीतरसे छुरी चलानेकी सोचना इत्यादि कपट है। यथा—'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥ अ० २७।' 'लखहिं न भूप कपट चतुराई। २। २७।', 'जौं कछु कहौं कपट करि तोही। भामिनि राम सपथ सत मोही॥ २। २६।' कपट हृदयसे होता है। (ख) औरोंके दिखानेके लिये झूठा आडम्बर धारण करना जिससे लोगोंमें आदर हो। इस ऊपरके दिखावके बनानेको 'दम्भ' कहते हैं। जैसे साधु हैं नहीं, पर ऊपरसे कण्ठी-माला-तिलक धारण कर लिया या मूड़ मुड़ाय गेरुआ वस्त्र पहिन लिया जिससे लोग वैरागी या सन्यासी समझकर पूजें, यथा—'नाना वेष बनाइ दिवस निसि पर बित जेहि तेहि जुगुति हरौं। वि० १४१।' धार्मिक कार्योंमें अपनी प्रसिद्धि करना भी दम्भ है। 'दम्यते अनेन दम्भ।' (ग)—'पाखण्डी'=दुष्ट तर्कों और युक्तियोंके बलसे विपरीत अथवा वेद-विरुद्ध मतके स्थापन करनेवाले। नास्तिकादि। यथा—'हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ, जिमि पाखंड बाद तें गुप्त होहिं सद्ग्रंथ॥ कि० १४।' (घ)—अथवा, कपट मनमें, दम्भ कर्मसे और पाखण्ड वचनसे होता है, यह भेद है। प्रचण्ड=प्रज्वलित, जिससे खूब ज्वालाएँ निकलें।

दो०—रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु॥ ३२॥

शब्दार्थ—'कुमुद'=कुमुदिनी, कुँई, कोईं, कोकाबेली। 'चकोर'=एक प्रकारका बड़ा पहाड़ी तीतर जो नेपाल, नैनीताल आदि स्थानों तथा पंजाबके पहाड़ी जंगलोंमें बहुत मिलता है। इसके ऊपरका रंग काला होता है, इसकी चोंच और आँखें लाल होती हैं। यह पक्षी झुंडोंमें रहता है और वैशाख ज्येष्ठमें बारह-बारह अंडे देता है। भारतवर्षमें बहुत कालसे प्रसिद्ध है कि यह चन्द्रमाका बड़ा भारी प्रेमी है और उसकी ओर एकटक देखा करता है, यहाँतक कि वह आगकी चिनगारियोंको चन्द्रमाकी किरणें समझकर खा जाता है। कवि लोगोंने इस प्रेमका उल्लेख अपनी उक्तियोंमें बराबर किया है। (श० सा०)।

अर्थ—श्रीरामचरित पूर्णिमाके चन्द्रमाकी किरणोंके समान सब किसीको एक-सा सुख देनेवाले हैं। (परंतु) सज्जन-रूपी कोकाबेरी और चकोरके चित्तको तो विशेष हितकारी और बड़े लाभदायक हैं॥ ३२॥

नोट—१ 'सरिस' पद दीपदेहली है। 'चन्द्रकिरण सरिस' और 'सरिस सुखद' हैं। सबको सरिस सुखद है और सज्जन-कुमुद-चकोरको विशेष सुखद। चन्द्रमासे जगत्का हित है, यथा—'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन' पर कुमुद और चकोरका विशेष हित है, वैसे ही यह चरित सबको सुखदाता है पर सज्जनोंको उससे विशेष सुख प्राप्त होता है।

टिप्पणी—१ सज्जनको कुमुद और चकोर दोनोंकी उपमा देकर सूचित करते हैं कि—(क) सज्जन दो प्रकारके हैं—एक कुमुदकी तरह स्थावर हैं अर्थात् प्रवृत्तिमार्गमें हैं, दूसरे चकोरकी तरह जङ्गम हैं अर्थात् निवृत्ति-मार्गमें हैं। अथवा, (ख) बड़ा हित और बड़ा लाभ दो बातें दिखानेके लिये दो दृष्टान्त दिये। चन्द्रमासे सब ओषधियाँ सुखी होती हैं, रहा कुमुद सो उसको विशेष सुख है, उसमें उसका अत्यन्त विकास होता है, यह कुमुदका बड़ा हित है। चकोरको अमृतकी प्राप्तिका बड़ा लाभ है, चन्द्रमासे अमृतका लाभ सबको है, परंतु इसे विशेषरूपसे है जैसा कहा है—'रामकथा ससि किरिन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना॥ १। ४७।' सन्त इसे सदा अमृतकी तरह पान

करते हैं। यथा—'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥ उ० ५२।' इससे बड़ा लाभ यह है कि त्रिताप दूर होते हैं तथा मोह दूर होता है जिससे सुख प्राप्त होता है, यथा—'ससि-कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥' 'रामसरूप जानि मोहिं परेऊ॥ नाथ कृपा अब गयउ बिषादा। सखी भयउँ प्रभु चरन प्रसादा॥ बा० १२०।'

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'नवधा भक्तिवाले सज्जन कुमुद हैं। इनका विशेष हित यह है कि देखते ही मन प्रफुल्लित हो जाता है, और प्रेमा-परा भक्तिवाले सज्जन चकोर हैं जो टकटकी लगाये देखते ही रह जाते हैं—'" निमेष न लावहिं'। अथवा, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दो प्रकारके सज्जन सूचित किये।'

३ पंजाबीजी लिखते हैं कि 'चकोरको बड़ा लाभ यह है कि वह अग्नि भक्षण कर लेता है, उसमें भी सुखी रहता है। इसी तरह ज्ञानवानोंको माया-अग्नि-अङ्गीकृत भी नहीं मोहती, यह महान् लाभ है।

टिप्पणी—२ रामकथा-माहात्म्यद्वारा ग्रन्थकार उपदेश दे रहे हैं कि कथामें मन, बुद्धि और चित्त लगावे अर्थात् (क) कथासे मनको प्रबोध करे, यथा—'मोरे मन प्रबोध जेहि होई'। (ख) बुद्धिके अनुसार कथा कहे, यथा—'जस कछु बुधि बिबेक बल मोरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे'॥ (ग) कथामें चित्त लगावे, यथा—'राम कथा मदाकिनी चित्रकूट चित चारु।'

इसी तरह रामचरित-माहात्म्यमें श्रीगोस्वामीजीने दिखाया है कि यह भक्तके मन, बुद्धि और चित्तका उपकार करते हैं—(क) मनमें बसते हैं, यथा—'सेवक मन मानस मराल से।' (ख) बुद्धिको शोभित करते हैं, यथा—'संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।' (ग) चित्तको सुख देते हैं, यथा—'सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु।'

३—यहाँ बताया है कि—(क) कथामें मन, चित्त और बुद्धि तीनों लगते हैं, यथा—'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥ आ० १५।' दार्शनिक दृष्टिसे ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं। संकल्प-विकल्प करना मनका धर्म, निश्चय करना बुद्धिका और चिन्तन करना चित्तका धर्म है। (ख)—सज्जन ही इन तीनोंको कथामें लगाते हैं, इसीसे इन तीनोंके प्रसङ्गमें सज्जनहीको लिखा है, यथा—'सेवक मन मानस…', 'संत सुमति…' और 'सज्जन कुमुद चकोर चित…।' और, (ग)—रामकथा-माहात्म्य तथा रामचरित-माहात्म्य दोनोंको चित्तहीके प्रसङ्गसे समाप्त किया है, यथा—'राम कथा मदाकिनी चित्रकूट चित…' और 'सज्जन कुमुद चकोर चित…।' क्योंकि कथा चित्तहीतक है।

नोट—४ कोई-कोई महानुभाव (मा० प०, मा० मा०, नगेपरमहंसजी, पॉ०) 'चकोर' को 'चित्त' की और 'कुमुद' को संतकी उपमा मानते हैं। इस प्रकार उत्तरार्धका अर्थ यह है—

अर्थ—२ सज्जनरूपी कुमुद और उनके चित्तरूपी चकोरको विशेष हितकर और बड़ा लाभदायक है।

नोट—इस अर्थके अनुसार भाव यह है कि—(क) जैसे चन्द्रदर्शनके बिना चकोरको शान्ति नहीं होती एवं रामचरितके बिना 'जियकी जरनि' नहीं जाती है। जैसे चन्द्रदर्शनसे कुमुद प्रफुल्लित होता है वैसे ही रामचरित्रद्वारा सन्तहृदय विकसित होता है। (मा० प०)। (ख)—'चन्द्रकिरणसे कुमुद प्रफुल्लित और वृद्धिको प्राप्त होता है वैसे ही रामचरित सज्जनोंको प्रफुल्लित और रामप्रेमकी वृद्धि करता है। चन्द्रकिरणें चकोरको नेत्रद्वारा पान करनेसे अन्तस्में शीतलता पहुँचाकर आनन्द देती हैं, उसी तरह सज्जनोंके चित्तको श्रीरामचरित श्रवणद्वारा पान करनेसे शीतलतारूप श्रीरामभक्ति प्रदान कर उनके उष्णरूप त्रितापको दूर करता है, उसी आनन्दमें सज्जनोंका चित्त चकोरकी तरह एकाग्र हो जाता है। (नगेपरमहंसजी)।

श्रीनगेपरमहंसजीने चित्त-चकोरका प्रमाण—'स्वाति सनेह सलिल सुख चाहत चित चातक सो पोतो' (विनय०), यह दिया है और सज्जन कुमुदका 'रघुबरकिंकर कुमुद चकोरा' यह प्रमाण दिया है। परंतु चातकका अर्थ 'चकोर'

नहीं है और दूसरा प्रमाण प० रामकुमारजीके अर्थका ही पोषक है। संतकी उपमा चकोरसे अन्यत्र भी दी गयी है, यथा—'रामकथा ससि किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना ॥ १ । ४६ ।'

अर्थ—२ सज्जनोंके चित्तरूपी कुमुद और चकोरके लिये विशेष हित ०। (रा० प्र०)।

श्रीरामनाम और श्रीरामचरितकी एकता

श्रीरामचरित	श्रीरामनाम
३१ (४) निज संदेह मोह भ्रम हरनी।	बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती ॥ २५ ॥ (७)
३१ (५) बुधबिश्राम सकल जन रंजनि।	फिरत सनेह मगन सुख अपने ॥ २५ ॥ (८)
रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ॥	नाम सकल कलि कलुष निकंदन ॥ २४ ॥ (८)
३१ (६) रामकथा कलि पन्नग भरनी।	कालनेमि कलि कपट निधानू।
पुनि पावक बिबेक कहँ अरनी ॥	नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥ २७ ॥ (८)
३१ (७) रामकथा कलि कामद गाई।	हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥ १९ ॥ (१)
सुजन सजीवन मूरि सुहाई ॥	रामनाम कलि अभिमत दाता ॥ २७ ॥ (६)
३१ (८) सोइ बसुधातल सुधातरंगिनि।	कालकूट फल दीन्ह अमी को ॥ १९ ॥ (८)
३१ (९) भवभंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि।	'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के' ॥ २० ॥ (७)
३१ (९) साधु बिबुध कुल हित गिरिनंदिनि।	'नाम सुप्रेम पियूषहृद ।।' २२, 'धन्यास्ते
३१ (१०) बिस्वभार भर अचल छमा सी।	कृतिन पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्' ॥ (कि० म० २)।
३१ (११) जीवनमुकुति हेतु जनु कासी।	भवभय भंजन नाम प्रतापू ॥ २४ ॥ (६)
३१ (१२) तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।	'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ।'२६। (२)
३१ (१३) सिवप्रिय मेकल सैल सुता सी।	कमठ सेष सम धर बसुधा के ॥ २० ॥ (७)
३१ (१३) सकल सिद्धि सुखसंपतिरासी।	कामी मुकुति हेतु उपदेसू ॥ १९ ॥ (३)
	रामलखन सम प्रिय तुलसी के ॥ २० ॥ (३)
	नाम प्रभाउ जान सिव नीको ॥ १९ ॥ (८)
	होहिं सिद्ध अनिमादिक पाये ॥ २२ ॥ (४)
३१ (१४) रघुपतिभगति प्रेमपरमिति सी।	भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥ २४ ॥ (२)
	सकल कामना हीन जे, रामभगति रस लीन।
३२ (१) रामचरित चिंतामनि चारू।	नाम सुप्रेम पियूष हृद तिन्हहुँ किए मन मीन ॥ २२ ॥
मत सुमति तिय सुभग सिंगारू ॥	राम नाम मनि दीप धरु ० ॥ २१ ॥
३२ (२) जग मंगल गुन ग्राम राम के।	भगति सुतिय कल करनबिभूषण ॥ २० ॥ (६)
	'मंगल भवन अमंगल हारी।''
दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥	नाम जपत मंगल दिसि दसहू ॥ २८ ॥ (१)
३२ (३) बिबुध बैद भव भीम रोग के।	भए सुकृत हरिनाम प्रभाऊ ॥ २६ ॥ (७)
३२ (४) जननि जनक सियराम प्रेम के।	जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रयसूल। (उ० १२४)
बीज सकल ब्रत धरम नेम के ॥	सुमिरिय नाम ०। आवत हृदय सनेह बिसेषे ॥ २१ ॥ (६)
३२ (५) समन पाप संताप सोक के।	सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥ २७ ॥ (२)
प्रिय पालक परलोक लोक के ॥	नाम प्रसाद सोच नहिं सपने ॥ २५ ॥ (८)
	हित परलोक लोक पितु माता ॥ २७ ॥ (६)
	लोक लाहु परलोक निबाहू ॥ २० ॥ (२)

श्रीरामचरित	श्रीरामनाम
३२ (७) कामकोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के ॥	रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल। जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ॥ ७ ॥
३२ (८) अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।	रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि। (२५)
३२ (९) मंत्र महामनि बिषय ब्याल के ॥	महामंत्र जोइ जपत महेसू ॥ १९ ॥
३२ (१०) हरन मोहतम दिनकर कर से।	जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। ११६ (४)
सेवक सालिपाल जलधर से ॥	बरषारितु रघुपतिभगति तुलसी सालि सुदास। रामनाम बर बरन जुग सावन भादव मास ॥ १९ ॥
३२ (११) अभिमत दानि देवतरुवर से ॥	रामनाम कलि अभिमत दाता। २७ (६) नाम राम को कलपतरु ॥ २६ ॥
,, सेवत सुलभ सुखद हरिहर से ॥	सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू ॥ २० ॥ (२)
३१ (१२) सुकबि सरद नभ मन उडगन से।	अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम ॥ (आ० ४२)
३२ (१३) सकल सुकृत फल भूरि भोग से।	सकल सुकृत फल राम सनेहू। २७ (२)
,, जगहित निरुपधि साधु लोग से ॥	जगहित हेतु बिमल बिधु पूषन। २० (६)
३२ (१४) पावन गंग तरंग माल से।	जनमन अमित नाम किय पावन। २४ (७) तीरथ अमित कोटि सम पावन। उ० ९२। २।
कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड। दहन रामगुनग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड ॥ ३२॥	जासु नाम पावक अघ तूला ॥ जनम अनेक रचित अघ दहहीं। ६। ११९ नाम अखिल अघ पूग नसावन। (उ० ९। २२)
रामचरित राकेसकर ॥ ३२ ॥	'राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।' (आ० ४२)
...सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेषि बड़ लाहु ॥ ३२॥	जगपालक बिसेषि जन त्राता। २० (५)
१०५ (३) रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा ॥	रामु न सकहिं नाम गुन गाईं। २६ (८)
७ (१०३) कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा ॥ (७। १०३)	नहिं कलि कर्म न भगति बिबेकू। रामनाम अवलंबन एकू ॥ २७ ॥ ७।
भवसागर चह पार जो पावा। राम कथा ताकहँ दृढ़ नावा ॥ ७। ५३।	नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं। २५ (४)
ते भवनिधि गोपद इव तरहीं। (उ० १२९)	नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं।

श्रीमद्रामचरित-माहात्म्य-वर्णन समाप्त हुआ।

"मानसका अवतार, कथा-प्रबन्धका 'अथ'"—प्रकरण

कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहिं बिधि संकर कहा बखानी ॥ १ ॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबंध बिचित्र बनाई ॥ २ ॥

अर्थ—जिस तरहसे श्रीपार्वतीजीने प्रश्न किया और जिस रीतिसे श्रीशंकरजीने विस्तारसे कहा, वह सब कारण मैं कथाकी विचित्र रचना करके (अर्थात् छन्दोंमें) गाकर (=विस्तारसे) कहूँगा ॥ १-२ ॥

नोट—१ (क) 'कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी' यह प्रसङ्ग दोहा १०७ (७) 'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी' से १११ (६) 'प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई ॥' तक है और फिर उत्तरकाण्ड दोहा ५३ (७) 'हरिचरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा ॥ तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभसुंडि गरुड़ प्रति गाई ॥' से दोहा ५५ (५) 'कहहु कवन बिधि भा संबादा।··' तक है। (ख) 'जेहि बिधि संकर कहा बखानी' यह प्रसङ्ग दोहा १११ (६) 'प्रस्न उमा कै·' ॥ हर हिय रामचरित सब आए। रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह। १११।' से चला है और 'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई' ७। ५२ (६) तक है और फिर ७। ५५ (६) 'गौरि गिरा सुनि सरल सुहाई। बोले सिव सादर सुख पाई ॥' से 'सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली ·' ७। १२९ (७) तक है। (ग)—'सो सब हेतु कहब मैं' इति। यह प्रसङ्ग दोहा ४७ (८) 'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी ॥ कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। भयउ समय जेहि हेतु जेहि । ४७।' से दोहा १०७ (२-६) 'पारबती भल अवसरु जानी। गईं संभु पहिं मातु भवानी ॥ कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी ॥' 'हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी' १०८ (४) तक है।

२—गोस्वामीजी कहते हैं कि जिस कारणसे भवानीने शिवजीसे पूछा और उन्होंने कहा वह कारण मैं गाकर कहूँगा। 'गाई' का प्रयोग जहाँ-तहाँ इस अर्थमें किया गया है कि विस्तारसे कहूँगा, यथा—'आपन चरित कहा मैं गाई'। इसका तात्पर्य यह है कि प्रश्नके हेतुकी कथा शिवजीने मानसमें नहीं है, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवादमें इसकी कथा है, इसलिये उनका संवाद कहूँगा और महादेव-पार्वतीके संवादका हेतु उसीमें कहूँगा। याज्ञवल्क्य भरद्वाज संवाद गुसाईंजीने गुरुसे नहीं सुना, किंतु अलौकिक घटनाद्वारा श्रीहनुमत्कृपासे मालूम हुआ जिसका प्रमाण आगे दिया गया है। ३५ (११) देखो।

३—मानसतत्त्वविवरणमें 'हेतु' का एक अर्थ यहाँ 'लिये' भी किया है अर्थात् सबके लिये कहूँगा। पुन 'सब हेतु' का वे यह भाव देते हैं कि शिव-पार्वती-संवादका जो कारण है पूरा-पूरा दूँगे, संक्षेपसे नहीं।

सूर्यप्रसादमिश्रजी—गानके दो भेद हैं। यन्त्र और गात्र। सितारा, वीणा, बंसी, शहनाई, फोनोग्राफ आदिकी गणना यन्त्रमें है। मुखसे जो गाया जाता है उनका नाम गात्र है। प्रमाण—'गीतञ्च द्विविधं प्रोक्तं यन्त्रगात्रविभागतः। यन्त्रं स्याद्वेणुवीणादि गात्रं तु मुखजं मतम् ॥' चारों वेदोंसे गानका पूर्णरूप होता है। गानमाहात्म्य वेदतुल्य है। अतएव ग्रन्थकारने इस कथाको 'गाई' करके उल्लेख किया।

नोट—४ 'कथा प्रबंध बिचित्र बनाई' इति। (क) प्रबन्ध=एक दूसरेसे सम्बद्ध वाक्यरचनाका सविस्तार लेख या अनेक सम्बद्ध पद्योंमें पूरा होनेवाला काव्य। (ख) कोई कोई महानुभाव 'बिचित्र' को कथाका विशेषण मानते हैं। कथा विचित्र है, यथा—'सुनत्यों कि भिभि हरिकथा सुहाई। अतिबिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई ॥ उ० ६९।' और कोई उसे 'बनाई' के साथ लगाते हैं।

मानसतत्त्वविवरणकार 'बिचित्र बनाई' का भाव यह लिखते हैं कि—(१) 'बहुत अद्भुत रीतिसे कहेंगे अर्थात् जिस भावनाके जो भावुकजन होंगे उनको उनके भावके अनुकूल ही अर्थोंसे सिद्ध होगा। (२) नाना कल्पका चरित सूचित हो, पर अघटितघटनापटीयसी योगमाया कर्तृ एक ही कालकी लीला प्रकटाप्रकट्य है। क्योंकि परिपूर्णावतारमें लोगके उद्योतनकी यही व्यवस्था है।'

सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि 'बिचित्र' 'विभ्यां पक्षिभ्यां भुशुण्डिगरुडाभ्यां चित्रमिति विचित्रम्' इस विग्रहसे भुशुण्डि और गरुड़से चित्र जो कथाप्रसङ्ग उसे बनाकर और गाकर मैं सब कारणोंको कहूँगा, ऐसे अर्थमें बड़ी रोचकता है।

सूर्यप्रसादमिश्रजी—विचित्र शब्दसे अर्थ विचित्र, शब्द-विचित्र और वर्ण-विचित्र तीनोंका ग्रहण है। इसमें मन न ऊबेगा, यह सूचित किया। बैजनाथकृत मानसभूषणटीकामें जो यह लिखा है कि 'विचित्र तो वाको कही जो अर्थ के अन्तर अर्थ ताके अन्तर अर्थ जो काहूकी समुझिमें न आवे' मेरी समझसे यह ग्रन्थकारका अभिप्रेत नहीं हो सकता।

बैजनाथजी कहते हैं कि चित्रकाव्य वह है कि जिसके अक्षरोंको विशेष क्रमसे लिखनेसे मनुष्य, पशु, वृक्षादि कोई विशेष चित्र बन जाता है। अथवा, 'जिसमें अन्तर्लापिका बहिर्लापिका गतागतादि अनेक हैं।' और विचित्र वह है जिसमें अर्थके अंदर अर्थ हो और फिर उस अर्थके अंदर अर्थ हो जो किसीकी समझमें न आवे। श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि कथाके प्रबन्धको विचित्र बनाकर कहनेका भाव यह है कि किसी प्रबन्धमें किसी प्रबन्धकी कथा आ मिली है जैसे कि पृथ्वीके करुण-क्रन्दनके पश्चात् देवताओंका परस्पर कथनोपकथनपर ब्रह्मस्तुति 'जय जय सुरनायक' से 'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा।' तकके बीचमें नारदशापावतारकी कथा आ मिली है।

श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि 'इसमें विचित्रता यह है कि प्रथम मानससरोवरका रूपक स्वयं रचेंगे। वह बड़ा ही विचित्र है, जिसमें चार घाटों, चार प्रकारके श्रोता वक्ताओंके सम्बन्ध और उनके द्वारा काण्डत्रय एवं प्रपत्ति (शरणागति) की सँभाल रखते हुए, मुख्य उपासनारूपी ही कथा चलेगी। तब आगे हेतु कहेंगे।'

नोट—'विचित्र' के ये अर्थ होते हैं—(१) जिसके द्वारा मनमें किसी प्रकारका आश्चर्य हो। (२) जिसमें कई प्रकारके रंग हों। (३) जिसमें किसी प्रकारकी विलक्षणता हो। यहाँ मेरी समझमें ये सब अर्थ लगते हैं। कथाप्रसङ्ग जो इसमें आये हैं उनमेंसे बहुतेरी कथाएँ अलौकिक हैं, उनके प्रमाण बहुत खोजनेपर भी कठिनतासे मिलते हैं, अतः आश्चर्य होता है। जो आगे 'अलौकिक' कहा है वह भी 'विचित्र' शब्दसे जना दिया है। फिर इसमें नवों रसोंयुक्त वर्णन ठौर-ठौरपर आया ही है, यही अनेक रंगोंका होना है। इस कथाके रूपक आदि तो सर्वथा विलक्षण हैं। कई कल्पोंकी कथाओंका एकहीमें सम्मिश्रण भी विलक्षण है जिसमें टीकाकार लोग मत्था-पच्ची किया करते हैं। इसके छन्द भी विलक्षण हैं, भाषाके होते हुए भी संस्कृतके जान पड़ते हैं।

मेरी समझमें गोस्वामीजीने मं० श्लो० ७ में 'रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति' यह जो प्रतिज्ञा की है, वह भी 'विचित्र' शब्दसे यहाँ पुनः की है। इस तरह विचित्र=अति मञ्जुल। आगे जो 'करइ मनोहर मति अनुहारी। ३६। २।' कहा है, वह भी 'विचित्र' का ही अर्थ स्पष्ट किया गया है।

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करै सुनि सोई॥ ३॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरजु* करहिं अस जानी॥ ४॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं। अस प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—अलौकिक=जो लोकमें पढ़ने-सुननेमें न आयी हो। अपूर्व, असाधारण, अद्भुत, विचित्र। मिति=संख्या, सीमा, इति, अन्त, हद, मान, नाप। आचरज (आश्चर्य)=अचम्भा।

अर्थ—जिन्होंने यह कथा और कहीं सुनी न हो, वे इसे सुनकर आश्चर्य न करें। (भाव यह कि यह कथा वाल्मीकीय, अध्यात्म आदि रामायणोंकी कथासे विलक्षण है)॥ ३॥ जो ज्ञानी विचित्र कथाको सुनते हैं वे ऐसा जानकर आश्चर्य नहीं करते॥ ४॥ (कि) रामकथाकी हद संसारमें नहीं है। ऐसा विश्वास उनके मनमें है॥ ५॥

नोट—१ (क)—चौपाई (३) में कहा कि आश्चर्य न करो। फिर (४) (५) में ज्ञानियोंका प्रमाण देकर आश्चर्य न करनेका कारण बताते हैं। पुनः, (ख)—'ज्ञानी' शब्दमें यह भी ध्वनि है कि जो अज्ञानी हैं वे तो संदेह करेंहीगे, इसमें हमारा क्या वश है? [मा० प्र०]।

---

* आचरज—१६६१। यह लेखकका प्रमाद है। अन्यत्र सर्वत्र 'आचरजु' है।

२—यह 'कथा' कौन है जिसे सुनकर आश्चर्य न करनेको कहते हैं? सतीमोह प्रकरण, भानुप्रतापका प्रसङ्ग, मनु-शतरूपा, कश्यप-अदिति, नारदशापादि-सम्बन्धी लीलाएँ एक ही बारके अवतारमें सिद्ध हो जाना, इत्यादि 'अलौकिक' कथाएँ हैं।

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'पशु हनुमान् आदिकी नर राम-लक्ष्मण-सीतासे बातचीत होना, पक्षी जटायुसे मनुष्य रामसे बातचीत करना इत्यादि साधारण मनुष्यके सामने असम्भव है। इसलिये हठार्थ कहते हैं कि सुनकर आश्चर्य न करें क्योंकि परमेश्वरकी लीलामें कोई बात असम्भव नहीं है।'

सन्त श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि 'भगवत्‌की नित्यलीला प्रकट्या अप्रकट्या रीतिसे अनेक है। हरएकके परिकर भिन्न-भिन्न हैं। जब जिस लीलाका अवसर आ पड़ता है तब उस लीलाके परिकर प्रकट होकर उस लीलाको करते हैं पर एककी दूसरेको खबर नहीं जैसा भागवतामृतकणिकामें कहा है—'स्वैः स्वैर्लीलापरिकरैर्जनैर्दृश्यामि नापरैः। तत्तल्लीला-घयसरे प्रादुर्भावोचितानि हि। आश्चर्यमेकत्रैकत्र वर्तमानान्यपि ध्रुवम्। परस्परमसहृक्त स्वरूपत्येव सर्वथा॥' ऐसी लीलाकी कथा अलौकिक है।'

वे० भू०—आश्चर्यका कारण कथाकी अलौकिकता है। कारण एक जगह है और कार्य दूसरी जगह। 'और करै अपराध कोउ और पाव फल भोग'। जैसे कि नारद-शाप क्षीरशायीको इस लोक (एकपाद्-विभूति) में और शापकी सफलता दिखाती राम अलौकिक (त्रिपाद्विभूति स्वामी) ने, वृन्दाका शाप एवं सनकादिका शाप रमावैकुण्ठाधीश विष्णुसे सम्बन्ध रखता है और इसकी पूर्ति की श्रीरामजीने जो त्रिपाद्विभूतिस्थ हैं। सारांश यह कि दूसरे-दूसरे कारणोंसे भी श्रीरामजीका अवतीर्ण होकर चरित्र करना कहा गया है—यही अलौकिकता है।

नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥ ६॥
कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥ ७॥

शब्दार्थ—कल्प कालका एक विभाग है जिसे ब्रह्माका एक दिन कहते हैं। इसमें चौदह मन्वन्तर और चौदह इन्द्र हो जाते हैं। यह हमारे वर्षके अनुसार चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षोंके बराबर होता है। इस एक दिनमें एक-एक हजार बार चारों युग बीत जाते हैं। यथा—'चतुर्युगसहस्राणि दिनमेकं पितामह।' चारों युग जब इकहत्तर बारसे कुछ अधिक हो जाते हैं तब एक मन्वन्तर होता है।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके अवतार अनेक तरहसे हुए हैं, रामायण सौ करोड़ (श्लोकोंकी) किंतु अपार है॥ ६॥ कल्पभेदसे सुन्दर हरिचरित मुनीशोंने अनेक तरहसे गाये हैं*॥ ७॥

सूर्यप्रसाद मिश्रजी—'नाना भाँति ··' इसमें क्रिया पद नहीं है, उसका अध्याहार करना चाहिये। अध्याहार इस प्रकार होगा कि 'रामके अवतार कितने हो गये, कितने हैं और कितने होंगे' इसीलिये 'नाना भाँति' लिखा और शतकोटि रामायण भी। भेदका कारण सातवीं चौपाईमें देते हैं।'

नोट—१ 'सतकोटि अपारा' यथा—'रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनइ पारा॥ उ० ५२।' पुनः यथा—'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥'

* यथा—'एहि बिधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे॥ कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥ तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई॥ बिबिध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरजु सयाने॥ हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता॥ रामचंद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए॥ १४०। १-६।' कल्प-कल्पमें अवतार होनेसे ब्रह्माकी आयुभरमें ही छत्तीस हजार बार अवतार हो जाता है।

२—'रामायन सतकोटि'—दोहा २५ 'रामचरित सतकोटि महँ लिए महेस' '' में देखिये। लोगोंने इसका अर्थ 'सौ करोड़ रामायणें' लिखा है पर वस्तुतः यह अर्थ उसका नहीं है। 'शतकोटि रामायण' नाम है उस रामायणका जो वाल्मीकिजीने अथवा कल्पभेदसे ब्रह्माजीने सौ करोड श्लोकोंमें बनायी थी और जिसका सारभूत वर्तमान चतुर्विंशति वाल्मीकीय है। 'शतकोटि' उसी तरह शतकोटिश्लोकबद्ध रामायणका नाम है जैसे अष्टाध्यायी, सतसती, उपदेश-साहस्री इत्यादि तदन्तर्गत अध्याय या श्लोकों आदिकी संख्याको लक्षित करके नाम हुए हैं।

'रामायन सतकोटि अपारा' कहनेका भाव यह है कि रामचरित तो अपार है, अनन्त है तथापि अपने ज्ञानके लिये शतकोटि श्लोकोंमें कुछ रामचरितकी रचना की गयी। और अन्य उपलब्ध रामायणें तो इसी शतकोटिके कुछ-कुछ अंश लेकर ही बनायी गयी हैं। यथा—'अनन्तत्वेऽपि कोटीनां शतेनास्य प्रपञ्चनम्। रामायणस्य तु यन्मे कृतं तेन विजानता॥' (शिवस० ७। १०। हनु० प्रे० अयोध्या०)।

३—श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि इन चौपाइयोंमें ज्ञानियोंके विश्वासका कारण बताया है। और पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि आश्चर्य न करनेका एक कारण ऊपर लिखा, अब दूसरा कारण लिखते हैं कि अनेक प्रकारसे या कारणोंसे रामावतार हुए हैं, प्रत्येक कल्पमें कुछ-न-कुछ भेद कथामें पड़ गया है। जिसकी जहाँतक बुद्धि दौड़ी वहाँतक उसने कहा। यथा—'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरं। येषां वै यादृशी बुद्धिस्ते वदन्त्येव तादृशम्॥' (पद्मपु०), 'क्वचिद् क्वचित्पुराणेषु विरोधो यदि दृश्यते। कल्पभेदविधिस्तत्र व्यवस्था सद्भिरुच्यते॥'

करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥ ८॥

अर्थ—ऐसा जीमें विचारकर सन्देह न कीजिये और कथाको आदरपूर्वक प्रेमसे सुनिये॥ ८॥

नोट—१ 'अस'=जैसा ऊपर समझा आये हैं कि कथाकी सीमा नहीं है, कल्पभेदसे तरह-तरहके चरित्र हुए हैं और चरित्र अपार हैं। संसय=संशय, संदेह। संदेह यह कि यहाँ ऐसा कहा, वहाँ ऐसा कहते हैं, अमुक ग्रन्थमें तो यहाँ ऐसी कथा है और यहाँ गोस्वामीजीने ऐसा कैसे लिख दिया? इत्यादि।

'सादर' अर्थात् एकाग्र भावसे प्रेमसे मन, चित्त और बुद्धिको कथामें लगाकर तथा श्रद्धापूर्वक, यथा—'सुनहु तात मति मन चित लाई। ३। १५। १।', 'भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवनपुट पान। ७। १२८।' निरादरसे सुननेका निषेध किया गया है, यथा—'यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि॥ ७। १२८। ३।' मन न लगाना, कुतर्क आदि करना 'निरादर' से सुनना है। पूर्व दोहा ३२ (ख) भी देखिये।

सूर्यप्रसाद मिश्रजी—'बैजनाथकृत मानस-भूषणमें जो अर्थ लिखा है कि 'प्रीतिसे आदरसहित सुनिये मनतें प्रीति वचन कर्मतें आदरसहित चन्दनाक्षत चढ़ाई वचनमें जय उच्चरिये' यह अर्थ प्रकरणसे विरुद्ध है, क्योंकि इस चौपाईमें केवल कथा शब्दका उल्लेख है और 'सुनिय' भी लिखा है। कर्म वचनका तो नाम भी नहीं।'

दो०—राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार॥ ३३॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी अनन्त हैं, उनके गुण भी अनन्त हैं और उनकी कथाका विस्तार भी अमित है। जिनके विचार निर्मल हैं वे सुनकर आश्चर्य न करेंगे॥ ३३॥

टिप्पणी—१ (क) अब ग्रन्थकार तीसरी प्रकार समझाते हैं कि क्यों आश्चर्य न करें। पुन, यह भी यहाँ बताते हैं कि किस-किस विषयमें संदेह न करना चाहिये। वह यह कि राम अनन्त हैं इसलिये श्रीरामजीके विषयमें आश्चर्य न

करें। प्रभुके गुण अनन्त हैं, यथा—'विष्णु कोटि सम पालन कर्ता। ७। ९२।' उनकी कथा भी अगणित प्रकारसे है, इसलिये इनमें सन्देह न करें। (ख)—'रामकथा कै मिति जग नाहीं' कहकर प्रथम कथाका सन्देह निवृत्त किया और अब कथाके विस्तारका सन्देह दूर करते हैं कि अमुक कथा अमुक पुराणमें तो इतनी ही है, यहाँ अधिक कहाँसे लिखी। (ग)—कौन आश्चर्य न करेंगे? इस विषयमें दो गिनाये—ज्ञानी और जिनके विवेक है। जो विचारहीन और अज्ञानी हैं, उनके मनमें आश्चर्य होता ही है। (घ) 'जिन्ह के बिमल बिचार'—ऐसा ही दूसरी ठौर भी कहा है, यथा—'सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक। १। ९।'

एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरुपदपंकज धूरी॥ १॥
पुनि सबही बिनवौं कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी॥ २॥

अर्थ—इस प्रकार सब सन्देहोंको दूर करके और श्रीगुरुपदकमलकी रज सिरपर धारण करके फिरसे सबकी विनती हाथ जोड़कर करता हूँ जिससे कथा करनेमें दोष न लगे॥ १-२॥

टिप्पणी—१ (क) 'सब संसय'—वे ऊपर कह आये हैं। अर्थात् कथा और कथाके विस्तारमें संशय, श्रीरामजी और उनके गुणोंमें संशय और अब उन सबको यहाँ एकत्र करते हैं। (ख) 'सिर धरि'—अर्थात् माथेपर लगाकर, तिलक करके। ग्रन्थमें तीन बार रज-सेवन करना कहा है। आदिमें गुरुपदरजको नेत्रमें लगाकर 'बिबेक-बिलोचन' निर्मल किये, यथा—'गुरपद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥ तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भव मोचन॥ १। २।' फिर यहाँ सरपर धारण करना लिखा, क्योंकि ऐसा करनेसे सब वैभव वशमें हो जाते हैं, यथा—'जे गुरचरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥ अ० ३।' आगे अयोध्याकाण्डमें रजसेवनसे मन निर्मल करेंगे, यथा—'श्रीगुरुचरनसरोजरज निज मन मुकुर सुधारि। बरनउँ रघुबर बिमल जसु ...॥' (म० दो०) तीनों जगह प्रयोजन भिन्न-भिन्न है।

२ 'पुनि सबहीं बिनवौं' इति। दुबारा विनती क्यों की? इसका कारण भी यहाँ बताते हैं कि कथा रचनेमें कोई दोष इसमें न आ जावे अर्थात् कथा निर्दोष बने। पहिले जो विनती की थी वह इस अभिप्रायसे थी कि कोई दोष न दे, यथा—'समुझि बिबिधि बिधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी॥ १। १२। ७।' यहाँ यद्यपि दोनों जगह दोष न लगना कहा तथापि पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि पहले कथा सुनकर सुननेवालोंका दोष न लगाना कहा था और यहाँ कहते हैं कि कथा रचनेमें कोई दोष न आ पड़े। अथवा, कथा बनानेमें दोष न दें और न सुनकर दें, ये दो बातें कहीं।

सुधाकर द्विवेदीजी—संशय दूर होनेमें गुरुको प्रधान समझकर फिर उनके पदरजको सिरपर रक्खा। भाषामें कथा करनेमें पहले कारण 'भाषाबद्ध करब मैं सोई।' लिख आये हैं, उसे स्मरण करानेके लिये फिर सबसे विनय किया।

नोट—श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि अब गोस्वामीजी वन्दनाकी तीसरी आवृत्ति करके वन्दनाको समाप्त करते हैं।

सादर सिवहि नाइ अब माथा। बरनौं बिसद रामगुनगाथा॥ ३॥

अर्थ—अब आदरपूर्वक श्रीशिवजीको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंकी निर्मल कथा कहता हूँ॥ ३॥

टिप्पणी—गोस्वामीजीने 'नाम, रूप, लीला और धाम' चारोंकी बड़ाई क्रमसे की है। (१) सबको माथा नवाकर नामकी बड़ाई की,—'प्रनवौं सबहिं धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥ १८। ६।' (२) श्रीरामचन्द्रजीको माथा नवाकर रूपकी बड़ाई की, यथा—'सुमिरि सो नाम रामगुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा॥ राम सुस्वामि ...। १। २८। २।' से 'तुलसी कहूँ न रामसे साहिब सील निधान। १। २९।' तक। (३) फिर सबको माथा नवाकर लीलाकी बड़ाई की, यथा—'एहि बिधि निज गुनदोष कहि सबहि बहुरि सिरु नाइ।

बरनउँ रघुबर बिसद जस सुनि कलिकलुष नसाइ। १। २९।' से लेकर 'रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु। १। ३२।' तक और, (४) अब शिवजीको प्रणाम करके धामकी बड़ाई करते हैं।

नोट—श्रीशिवजीकी तीसरी बार वन्दना है। ये मानसके आचार्य हैं। इसलिये कथा प्रारम्भ करके फिर आचार्यको प्रथम प्रणाम करते हैं। गोस्वामीजीके 'मानस' गुरु भी यही हैं। इन्होंने रामचरितमानस उनको स्वामी श्रीनरहर्यानन्दजीके द्वारा दिया।—'गुरु पितु मातु महेस भवानी'।

संबत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा॥ ४॥
नौमी भौम बार मधु मासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥ ५॥

शब्दार्थ—भौमवार = मंगलवार। मधुमासा = चैत्र,—'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः। अमरकोशे १। ४। १५।'

अर्थ—भगवान्‌के चरणोंपर सिर रखकर सवत् १६३१ मे कथा प्रारम्भ करता हूँ॥ ४॥ नवमी तिथि, मंगलवार, चैत्रके महीनेमें, श्रीअयोध्याजीमें यह चरित प्रकाशित हुआ॥ ५॥

नोट—१ यहाँसे गोस्वामीजी अब अपने हिन्दी-भाषा निबन्ध श्रीरामचरितमानसका जन्म, संवत्, महीना, दिन, पक्ष, तिथि मुहूर्त्त, जन्मभूमि, नामकरण और नामका अर्थ और फल कह रहे हैं।

२ संवत् १६३१ मे श्रीरामचरितमानस लिखना प्रारम्भ करनेका कारण यह कहा जाता है कि उस संवत्‌में श्रीरामजन्मके सब योग, लग्न आदि एकत्र थे। इस तरह श्रीरामजन्म और श्रीरामकथाजन्ममें समानता हुई। मानस-मयङ्कके तिलककार लिखते हैं कि 'स्वय श्रीरामचन्द्रजी लोक कल्याण-निमित्त काव्यरूप हो प्रकट हुए। दोनों सनातन और शुद्ध पञ्चाङ्गमय हैं। इससे दोनोंको एक जानो'।

महात्माओंसे एक भाव इस प्रकार सुना है कि श्रीरामचन्द्रजी १६ कलाके अवतार थे—'बालचरितमय चन्द्रमा यह सोरह कला निधान। गी०। १। १९।' तो भी जब उन्होंने ३१ बाण जोड़कर रावणपर आघात किया तब उसका वध हुआ, यथा—'सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भये॥ खैंचि सरासन श्रवन लगि छाँड़े सर इकतीस। रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस॥ लं० १०१।' इसी विचारसे ग्रन्थकारने १६ मे इकतीस लगानेसे जो संवत् बना उसमें रामचरितमानस कथाका आरम्भ किया जिसमें मोहरूपी रावण इसके आघातसे न बच सके।

नोट—३ इन दो चौपाइयोंमे जन्मका संवत्, महीना, तिथि, दिन और (भूमि) स्थल बताये। 'मधु मास' पद देनेका भाव यह है कि भगवान्‌ने गीतामें श्रीमुखसे बताया है कि 'ऋतूनां कुसुमाकरः' अर्थात् ऋतुओंमें इसे अपना रूप कहा है।

※ 'नौमी भौमवार···यह चरित प्रकासा' ※

प० रामकुमारजी लिखते है कि 'प्रकासा' पद देकर सूचित किया कि जैसे श्रीरामचन्द्रजी सनातन हैं वैसे ही उनका यह चरित्र भी सनातन है, परंतु उसका प्रकाश अब हुआ। दूसरे यह भी सूचित किया कि जैसे रामचन्द्रजी पूर्णचन्द्ररूप प्रकट हुए थे, यथा—'प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। १। १६।', वैसे ही उनके चरित्र पूर्ण-चन्द्ररूपसे प्रकट हुए, यथा—'रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु। १। ३२।', इस प्रकार श्रीरामजन्मकुण्डली और श्रीरामचरितमानसजन्म-कुण्डलीका पूरा मिलान ग्रन्थकार यहाँसे करते हैं जो आगे एकत्र करके दोहा ३५ (९) में दिया गया है।

२—श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञासे श्रीअवधमे श्रीरामचरितमानस प्रारम्भ किया गया। श्रीवेणीमाधवदासजी 'मूल गोसाईंचरित' में लिखते हैं कि संवत् १६२८ मे गीतोंको एकत्रकर उसका नाम रामगीतावली रक्खा और फिर कृष्णगीतावली रची। दोनों हनुमान्‌जीको सुनाये तब उन्होंने प्रसन्न होकर आज्ञा दी कि तुम अवधपुर जाकर रहो। इष्टकी आज्ञा पाकर वे श्रीअवधको चले, बीचमें प्रयागराजमें मकर-स्नानके लिये ठहर गये,

वहाँ भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-दर्शन और संवादकी अलौकिक घटना हुई, तब हरिप्रेरित आप काशीको चल दिये। जब कुछ दूर निकल गये तब श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञा स्मरण हो आयी, अब क्या करें? मनमें यह दृढ़ किया कि हरदर्शन करके तब श्रीअवधपुर जायँगे। काशी पहुँचकर संस्कृतभाषामें रामचरित रचने लगे, पर जो दिनमें रचते वह रात्रिमें लुप्त हो जाता। सात दिनतक बराबर यह लोपक्रिया चलती रही जिसने इन्हें बड़ा चिन्तित कर दिया। तब आठवें दिन भगवान् शङ्करने इनको स्वप्न दिया और फिर प्रकट होकर इनको वही आज्ञा दी कि भाषामें काव्य रचो। 'सुरबानिके पीछे न तात पचो। सबकर हित होइ सोई करिये॥ अरु पूर्व प्रथा मत आचरिये। तुम जाइ अवधपुर बास करो॥ तहँई निज काव्य प्रकाश करो। मम पुन्य प्रसादसों काव्य कला॥ होइहै सम सामरिचा सफला। कहि अस सभु भवानि अतरधान भये तुरत॥ आपन भाग्य बखानि चले गोसाईं अवधपुर॥ सोरठा ९॥'

श्रीशिवाज्ञा पाकर आप श्रीअवध आये और बरगदिहा बागमें, जहाँ उस समय भी वटवृक्षोंकी पाँति-की-पाँति लगी थी, ठहरे, जिसे आज 'तुलसीचौरा' कहते हैं। यहाँ आप दृढ़ संयमसे रहने लगे। केवल दूध पीते और वह भी एक ही समय—'पय पान करैं सोउ एक समय। रघुवीर भरोस न काहुक भय॥ दुइ बत्सर बीते न वृत्ति डगी। इकतीसको संवत आइ लगी॥'

इस तरह श्रीहनुमान्‌जीकी और पुनः भगवान् शङ्करकी भी आज्ञासे आप रामचरितमानसकी रचनाके लिये श्रीअवध आये और दो वर्षके बाद संवत् १६३१ में श्रीरामनवमीको रामचरितमानसका आरम्भ हुआ। इस शुभ मुहूर्तके लिये दो वर्षसे अधिक यहाँ उन्हें रहना पड़ा। तब—'रामजन्म तिथि वार सब जस त्रेता महँ भास। तस इकतीसा महँ जुरो जोग लग्न ग्रह रास॥ ३८॥ नवमी मंगलवार सुभ प्रात समय हनुमान। प्रगटि प्रथम अभिषेक किय करन जगत कल्यान॥ ३९॥'

सम्भवतः इसीके आधारपर टीकाकार सन्तोंने लिखा है कि उस दिन श्रीरामजन्मके सब योग थे। उस दिन ग्रन्थका आरम्भ हुआ और दो वर्ष सात मास छब्बीस दिनमें अर्थात् संवत् १६३३ अगहन सुदी ५ श्रीरामविवाह-के दिन यह पूरा हुआ।—'एहि विधि भा आरंभ रामचरितमानस विमल। सुनत मिटत मद दंभ कामादिक संसय सकल॥ सो० ११। दुइ बत्सर सातेक मास परे। दिन छब्बिस मांझ सो पूर करे॥ तैंतीसको संवत औ मगसर। सुभ द्योस सुराम-विवाहहिं पर॥ सुठि सत जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारनको॥'

'जब इतने दिनोंमें तैयार हुआ तब श्रीरामनवमी सं० १६३१ को प्रकाशित होना कैसे कहा? प्रकाशित तो तैयार होनेपर कहा जाता है?' इस शङ्काका उत्तर भी हमें इसी 'मूल गोसाईंचरित' में ही मिलता है, अन्यत्र इसका समाधान कोई ठीक नहीं मिला। वस्तुतः यह ग्रन्थ उसी दिन पूरा भी हो गया था पर मनुष्यलेखनी उसको एक ही दिन लिखनेको समर्थ न थी, अतएव लिखनेमें इतना समय लगा।—'जेहि छिन यह अरंभ भो तेहि छिन पूरेउ पूर। निरबल मानव लेखनी खींचि लियो अति दूर॥ ४२॥ पाँच पात गनपति लिखे दिव्य लेखनी चाल। सत सिव नाग अरु द्यु दिसप लोक गये ततकाल॥ ४३॥ सबके मानसमें बसेउ मानस रामचरित्र। बदन रिषि कबि पद कमल मन क्रम बचन पवित्र॥ ४४॥'

इस अलौकिक गुप्त घटनाका परिचय 'यह चरित प्रकासा' का 'प्रकासा' शब्द दे रहा है। यहाँ 'प्रकाशा' का अर्थ 'आरम्भ किया' मात्र नहीं है।

३—'नौमी भौमवार', इति। मतसिंहजी पंजाबी तथा विनायकी टीकाकारने यहाँ यह शंका उठाकर कि—'नौमी तो रिक्ता तिथि है', पुनः मंगलवारको कोई-कोई दूषित समझते हैं, तो ऐसी तिथि और वारमें 'ग्रन्थका आरम्भ क्यों किया गया'? उसका उत्तर भी यों दिया है कि ईश्वरने उस दिन जन्म धारण किया, इसलिये वह तो सर्वश्रेष्ठ है।' और भी समाधान ये है—

(१) मंगल परमभक्त हनुमान्‌जीका जन्मदिन है। (२) दिनके समय ग्रन्थ आरम्भ हुआ सो शुभ ही है, यथा—'न वारदोषाः प्रभवन्ति रात्रौ देवेज्यदैत्येज्यदिवाकराणाम्। दिवा शशांकार्कजभूसुतानां सर्वत्र निन्द्यो बुधवारदोषः॥',

(बृहद्दैवज्ञरञ्जन वारप्रकरण श्लोक १९)। अर्थात् शुक्र, गुरु और रविवारके दोष रात्रिमें नहीं लगते। चन्द्र, शनि और मंगलवारका दोष दिनमें नहीं लगता। बुधवार-दोष सर्वत्र निन्द्य है। (पाँडेजी कहते हैं कि) 'नवमी तिथिसे शक्तिका आलम्ब, मंगलवारसे हनुमान्‌जीका आलम्ब और चैत्रमाससे श्रीरघुनाथजीका आलम्ब है। गोस्वामीजी इन तीनोंके उपासक हैं और श्रीरामजन्म नौमीको हुआ है। अतः उसी दिन ग्रन्थ प्रकाशित किया गया।' ☞ स्मरण रहे कि कवि पूर्व ही प्रतिज्ञापूर्वक श्रीरामचरित्रके माहात्म्यमें कह चुके हैं कि कैसा ही कठिन कुयोग क्यों न उपस्थित हो श्रीरामचरित्र-नामगुणसे वह सुयोग हो जाता है—'मेटत कठिन कुअंक भाल के'। उस दिनका लिखा हुआ ग्रन्थ कैसा प्रसिद्ध हो रहा है !!!

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि ज्योतिष फलग्रन्थोंमें लिखा है कि 'शनिभौमगता रिक्ता सर्वसिद्धिप्रदायिनी'। इसीलिये उत्तम मुहूर्त्त होनेसे चैत्र शु० ९ भौमवारको ग्रन्थ आरम्भ किया। फलितके ज्योतिषी चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशीको रिक्ता कहते हैं।

जेहि दिन रामजन्म श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं॥ ६॥

अर्थ—जिस दिन श्रीरामजन्म होता है, वेद कहते हैं कि उस दिन सारे तीर्थ वहाँ (श्रीअयोध्याजीमें) चलकर आते हैं॥ ६॥

नोट—१ 'जेहि दिन' ' इति। नवमी, भौमवार और मधुमास ऊपर बताया, इनसे पक्षका निर्णय न हुआ, अतः 'जेहि दिन ' कहकर शुक्ला नवमी बतायी।

२—'सकल' अर्थात् पृथ्वीभरके। 'चलि आवहिं' का भाव यह है कि रूप धारण करके अपने पैरों-पैरों आते हैं। 'तीर्थ' के चलनेका भाव यह है कि इनके अधिष्ठाता देवता जो इनमें वास करते हैं वे आते हैं। ये सब इच्छारूप धारण कर लेते हैं। इसका प्रमाण इस ग्रन्थमें भी मिलता है, यथा—'बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा॥ कामरूप सुंदर तनु धारी। सहित समाज सोह बर नारी॥ आए सकल हिमाचल गेहा। गावहिं मंगल सहित सनेहा॥ १। ९३।' ☞ भारतवर्षमें रीति है कि जब कोई ग्राम, नगर इत्यादि प्रथम-प्रथम बसाये जाते हैं तो उनके कोई-न-कोई अधिष्ठाता देवता भी स्थापित किये जाते हैं। 'सकल' और 'चलि आवहिं' पद देकर श्रीरामनवमी और श्रीअवधपुरीका माहात्म्य दर्शित किया।

प्रयागराज तीर्थराज हैं, ये और कहीं नहीं जाते। दधीचि ऋषिके यज्ञके लिये नैमिषारण्यमें इनका भी आवाहन हुआ। परंतु ये न गये, तब ऋषियोंने वहाँ 'पञ्च प्रयाग' स्थापित किया। सो वे तीर्थराज भी श्रीअवधमें उस दिन आते हैं। कहा जाता है कि विक्रमादित्यजीको प्रयागराजहीने श्रीअवधपुरीकी चारों दिशाओंकी सीमा बतायी थी। निर्मलीकुण्ड प्रयागराजकी सम्बन्धी कथाका परिचय देता है।

नोट—३ 'जेहि दिन' इति। श्रीरामजन्म-दिन विवादास्पद है। इसमें मत-भेद है। कोई सोमवार, कोई रविवार और कोई बुधवार कहते हैं। इसी कारण जन्म समय गोस्वामीजीने किसी दिनका नाम नहीं दिया। केवल इतना लिखा है कि—'नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकुलपच्छ अभिजित हरिप्रीता॥ मध्यदिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा॥ १। १९१।', 'जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल। १। १९०।' यहाँ रामचरितमानस जन्मकुण्डलीके द्वारा राम-जन्म-दिन और जन्म-भूमिको निश्चय करा दिया। ☞ हमारे महाकवि पूज्यपाद श्रीमद्गोस्वामीजीकी प्राय यह शैली है कि जिस वस्तुको दो या अधिक बार वर्णन करना पड़ेगा उसका कुछ वर्णन एक ठौर, कुछ दूसरी ठौर देकर उसे पूरा करते हैं। वैसा ही यहाँ जानिये। यहाँ तिथि, वार, मास, जन्म भूमि कह दिया और यह भी कह दिया कि 'जेहि दिन राम जनम' हुआ। और श्रीरामजन्मपर 'नौमी तिथि मधुमास पुनीता' 'काल लोक बिश्रामा' ऐसा लिखा, जिसमें वार और भूमि नहीं दिये। अर्थ करनेमें शुक्लपक्ष अभिजित् नक्षत्र ३४ (५) में जोड़ लेना होगा और भौमवार और अवधपुरी दोहा १९० में जोड़ लेना होगा।

श्रीराम-जन्मका वार गीतावलीमें 'मंगल मोद निधान' की आड़में कह जनाया है। इस तरह गीतावलीसे श्रीराम-

जन्मदिन मगल पाया जाता है, यथा—'चैत चारु नौमी सिता मध्य गगन गत भानु। नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मगल मोद निधान ॥ गी० बा० ।' कविने इस युक्तिसे मगलको जन्म होना लिखा जिसमें किसीके मतका प्रकटरूपसे खण्डन न हो।

नोट—४ अब दूसरी शङ्का लोग यह करते हैं कि वे ही सब योग लग्न थे तो रामावतार होना चाहिये था। इसका उत्तर महात्मा यह देते हैं कि—'रामस्य नाम रूपञ्च लीलाधाम परात्परम्। एव चतुष्टय नित्य सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥' (वसिष्ठ स०), अत. रूपसे अवतीर्ण न हुए, लीलाहीका प्रादुर्भाव हुआ।

* 'नौमी भौमवार', 'गोस्वामीजीका मत' *

नागरीप्रचारिणी सभाके सभापति अपनी टीकामें प्रस्तावनाके पृष्ठ ६७ मे लिखते है कि 'गोसाईंजी स्मार्त वैष्णव थे। जिस दिन उन्होंने रामायण आरम्भ की, उस दिन मगलवारको उदयकालमें रामनवमी नहीं थी, किंतु मध्याह्नव्यापिनी थी; इसलिये स्मार्तवैष्णवोंहीके मतसे उस दिन रामनवमी होती है। स्मार्त वैष्णव सब देवताओंका पूजन-जप करते हैं। किसीसे विरोध नहीं करते। यही रीति तुलसीदासजीकी भी थी जो कि उनके प्रत्येक ग्रन्थसे स्पष्ट है।' *

हम उनकी इस सम्मतिसे सहमत नहीं हैं। गोस्वामीजी अनन्य वैष्णव रामोपासक थे, यह बात शपथ खाकर उन्होंने कही है। पाद-टिप्पणीमें दिये हुए पद इसके प्रमाण हैं। देवताओंकी वन्दनासे उनकी अनन्यतामें कोई बाधा नहीं पड़ सकती। यह भी याद रहे कि उन्होंने छ ग्रन्थोंमें किसी देवताका मङ्गल नहीं किया। इस विषयमें कुछ विचार म० श्लो० १ म० और सो० १ में दिये जा चुके हैं। वहीं देखिये। मानसमें उन्होंने स्मृतिप्रतिपादित धर्म एवं पञ्चदेवोपासनाको ही प्रश्रय दिया है, क्योंकि यह ग्रन्थ सबके लिये है।†

'नवमी उस दिन थी और दूसरे दिन भी। पर दूसरे दिन उनके इष्ट हनुमान्‌जीका दिन न मिलता, नवमी तो जरूर मिलती। और उन्हें अपने तीनों इष्टोंका जन्मदिन मङ्गलवार होनेसे वह दिन उन्हें अतिप्रिय अवश्य होना ही चाहिये, उसे वे क्यों हाथसे जाने देते? अतएव ग्रन्थ रचनेके लिये मङ्गलवारको मध्याह्नकालमें नवमी पाकर ग्रन्थ रचा। भेद केवल व्रतमें होता है। व्रत उस दिन करने या न करनेसे स्मार्त या वैष्णवमत सिद्ध हो सकता है, सो इसका तो कोई पता नहीं है। (एकादशीव्रतका उदाहरण लीजिये। वैष्णवोंमें ही मतभेद है। जो अर्द्धरात्रिसे दिनका प्रवेश मानते हैं वे रातको बारह बजकर एक पलपर एकादशी लगनेसे उस दिन सबेरे व्रत नहीं करेंगे पर सबेरे जो तिथि होगी वह एकादशी ही कहलायेगी, व्रत अवश्य दूसरे दिन द्वादशीको होगा। तो भी वे द्वादशीको भी व्रतके लिये एकादशी ही कहेंगे। पर तिथि लिखेंगे। द्वादशी ही)। और यह भी स्मरण रहे कि वे तो दो वर्ष पूर्वसे ही बराबर केवल एक समय दूध पीकर ही रहते रहे। जब नित्य फलाहार ही करते थे तब व्रत उसी दिन कैसे होना कहा जाय, दूसरे ही दिन क्यों न माना जाय? दूसरे, यह भी विचारणीय है कि उनके समयमें श्रीरामानन्दीय वैष्णवोंमें उत्सव उदया तिथिहीको मनाया जाता था या जिस

---

* जान पड़ता है कि यह बात उन्होंने सुधाकर द्विवेदीजीकी गणना और मतके अनुसार लिखी है जो विस्तारपूर्वक डा० ग्रियर्सनने १८९३ ई० के इण्डियन ऐन्टिक्वेरी मे Notes on Tulsidas लेखमें प्रकाशित किया है। सम्भव है कि किसी औरकी गणनामें कुछ और निकले।

† ईस न गनेस न दिनेस न धनेस न सुरेस सुर गौरि गिरापति नहिं जपने ॥ तुम्हरेई नाम को भरोसो भव तरिबे को बैठे उठे जागत बागत सोये सपने ॥ तुलसी है बावरो सो रावरोई रावरी सौं, रावरेऊ जानि जिय कीजिये जु अपने। जानकीरमन मेरे रावरे बदन फेरे ठाउँ न समाउँ कहाँ सकल निरपने ॥ क० उ० ७८। पुनश्च, 'रामकी सपथ सरबस मेरे रामनाम कामधेनु कामतरु मोसे छीन छाम को ॥ क० उ० १७२।' पुनश्च 'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो। मेरे माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरयो' इति विनये। इत्यादि।

दिन मध्याह्नकालमें नवमी या कोई नक्षत्रविशेष होता था? जबतक यह निश्चय न हो तबतक यह कैसे मान लें कि वे स्मार्त वैष्णव थे?

असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा॥ ७॥

जन्म महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल-कीरति गाना॥ ८॥

अर्थ—असुर, नाग, पक्षी, मनुष्य, मुनि और देवता आकर श्रीरघुनाथजीकी सेवा करते हैं॥ ७॥ सुजान लोग जन्मके महान् उत्सवकी रचना करते हैं और श्रीरामचन्द्रजीकी सुन्दर कीर्ति गाते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ 'असुर नाग खग' से इनमें जो रामोपासक हैं उन्हींको यहाँ समझना चाहिये। 'असुर' में प्रह्लाद, विभीषण आदि, नागसे अनन्त, वासुकी आदि और खगसे कागभुशुण्डि, गरुड़, जटायु आदि जानिये। नरसे ध्रुव, मनु, अम्बरीषादि, मुनिसे शुक-सनकादि, नारदादि और देवसे ब्रह्मादि, इन्द्रादि जानिये। यथा—'विमानैरागता द्रष्टुमयोध्यायां महोत्सवम। ब्रह्मेन्द्रप्रमुखा देवा रुद्रादित्यमरुद्गणा। यमवो लोकपालाश्च गन्धर्वाप्सरसोरगा। अश्विनौ चारणा: सिद्धा साध्याः किन्नरगुह्यका। ग्रहनक्षत्रयक्षाश्च विद्याधरमहोरगा। सनकाद्याश्च योगीन्द्रा नारदाद्या महर्षय॥' (संस्कृत खर्रेसे)। पुनः, (ख) 'असुर और नाग' पातालवासी हैं, 'नर खग मुनि' मृत्युलोकवासी हैं, और देवता स्वर्गवासी हैं। इन सबको कहकर यह जनाया कि तीनों लोकोंके हरिभक्त उस दिन आते हैं। पुन: (ग) ऊपर कह आये हैं कि 'तीर्थ' आते हैं, तीर्थ स्थावर हैं। और, यहाँ असुर आदिका आना कहा जो जङ्गम हैं। इस तरह चराचरमात्रके हरिभक्तोंका आना सूचित किया।

२—'आइ करहिं०' इति। (क) साक्षात् राम-जन्ममें देवता अयोध्याजी नहीं आये थे, उन्होंने आकाशहीसे सेवा की थी। यथा—'गगन विमल सकुल सुरजूथा। गावहिं गुन गंधर्व बरूथा॥ बरषहिं सुमन सुअंजुलि साजी। गहगह गगन दुदुभी बाजी॥ अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज निज सेवा॥' महोत्सवकी रचना साक्षात् रामजन्म समय पुरवासियोंने ही की थी, देवता महोत्सव देखकर अपने भाग्यको सराहते हुए चले गये थे, यथा—'देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥ १। १९६।' और अब जब-जब जन्ममहोत्सव होता है तब-तब सब आकर महोत्सव रचनेमें सम्मिलित होते हैं। इस भेदका कारण यह है कि जन्म-समय उनके आनेसे ऐश्वर्य खुलनेका भय था, उस समय आनेका योग न था जैसा भगवान् शिवके विचारमें भी साफ स्पष्ट है—'गुपुतरूप अवतरेउ प्रभु, गयें जान सब कोइ' और अब ऐश्वर्य खुलनेका भय नहीं है। इसीसे अब स्वय आकर रचते हैं और यश गाते हैं। पहिले अवधवासियोंने गाये और उन्होंने सुने, इन्होंने महोत्सव रचा, उन्होंने देखा और सराहा। देवताओंका गाना गीतावलीमें पाया जाता है, यथा—'उघटहिं छद प्रबध गीत पद राग ताल बधान। सुनि किन्नर गधर्व सराहत बिथके हैं बिबुध बिमान॥ गी० बा० २।' (ख) श्रीरामजन्मसमय महोत्सवका वर्णन है, इसीसे रामचरितमानसके जन्ममें जन्मोत्सवका वर्णन किया। (ग)—'सुजाना' अर्थात् जो रचनेमें प्रवीण हैं। पुन, जो चतुर हैं, सज्जन हैं। [नोट—महोत्सवरचना १९४ वें १९५ वें दोहेमें है।]

दो०—मज्जहिं सज्जन बृंद बहु पावन सरजू नीर।

जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥ ३४॥

अर्थ—सज्जनोंके झुण्ड-के-झुण्ड पवित्र श्रीसरयूजलमें स्नान करते हैं और हृदयमें सुन्दर श्यामशरीरवाले रघुनाथजीका ध्यान धारण करके उनके राम-नामको जपते हैं॥ ३४॥

नोट—यहाँ बतलाते हैं कि उस दिन क्या करना चाहिये, श्रीरामोपासकोंको यह जानना जरूरी है। श्री-सरयूस्नान करके श्रीरामचन्द्रजीके श्याम-शरीरका, जैसा ग्रन्थमें वर्णन किया गया है, ध्यान करते हुए उनके नामको जपना चाहिये।

टिप्पणी—१ (क) महोत्सवके पीछे स्नानको लिखा है जिसका भाव यह है कि अवभृथ स्नान करते हैं [यज्ञमें दीक्षाके अन्तमें जो विधिपूर्वक स्नान होता है उसे 'अवभृथ स्नान' कहते हैं—'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे । अमरकोश २ । ७-२७ ।'] अथवा दधिकाँदव करके स्नान करते हैं। (ख)—'जपहिं राम धरि ध्यान उर' इति। 'सुंदर स्याम शरीर' का ध्यान करना लिखकर जनाया है कि योगियोंकी तरह ज्योति नहीं देखते। ध्यान धरकर नाम इसलिये जपा जाता है कि मूर्तिके संयोगसे 'नाम' अत्यन्त शीघ्र सिद्ध होता है, नहीं तो यदि रामनाम जपते समय प्रपञ्चमें मन लगा तो प्रपञ्चका सम्बन्ध होगा। इसीसे मन्त्र जल्द सिद्ध नहीं होता। भानुपीठका उदाहरण इस विषयमें उपयोगी है। भानुपीठ (सूर्यमुखी, आतशी शीशा) और भानुका जबतक ठीक मिलान नहीं होता तबतक आग नहीं निकलती, अच्छी तरह मिलान होनेहीपर आग प्रकट होती है। इसी तरह जब मूर्तिका अनुसन्धान करके मन्त्र जपा गया तब मन्त्र बहुत शीघ्र सिद्ध होता है। ऐसा करनेसे श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, श्रीरामजी हृदयमें आ जाते हैं। नाम महाराज रूपको हृदयमें प्रकट कर देते हैं, यथा—'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥'

नोट—२ 'जपहिं राम' कहकर राम राम अर्थात् रामनाम जपना कहा। रामनाम मन्त्र है, यथा—'महामंत्र जोइ जपत महेसू'। मन्त्र शब्दका अर्थ है, जो मनन करनेसे जापकको तारता है।—'मननात्त्राणनान्मन्त्र' (रा० पू० ता० १। १२)। मनन मन्त्रके अर्थका (अर्थात् मन्त्रके, देवताके रूप, गुण, ऐश्वर्य आदिका) होता है, क्योंकि मन्त्र वाचक होता है और अर्थ वाच्य है। यहाँ राम मन्त्र है, अत श्रीरामजी उसके वाच्य हैं। जब मुखसे वाचक (राम-नाम) का उच्चारण होगा और साथ ही वाच्य श्रीरामजीका ध्यान हृदयमें होगा तब वह शीघ्र फलप्रद होता है। यथा—'मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्य स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः ॥ (रा० पू० ता० ४। २)।' योगसूत्रमें भी जप करते समय उसके अर्थकी भावना करनेका भी उपदेश है, यथा—'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगसूत्र १। १। २८)।

नोट—३ (क) यह जन्मका समय है, अत यहाँ 'ध्यान' से बालरूपका ही ध्यान करना सूचित करते हैं। (करुणासिन्धुजी)। (ख) गोस्वामीजीने प्राय नीलकमल, नील मणि, जल भरे हुए श्याम मेघ, केकिकण्ठ, तमाल और यमुनाके श्याम जलकी उपमा श्रीरामजीके शरीरके वर्णके सम्बन्धमें ग्रन्थभरमें दी है, परतु यहाँ 'श्याम शरीर' ही कहकर छोड़ दिया, कोई उपमा श्यामताकी यहाँ नहीं दी। कारण स्पष्ट है। भक्तोंके भाव, भक्तोंकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है, अपनी-अपनी इष्टसिद्धिके लिये लोग भिन्न-भिन्न प्रकारसे ध्यान करते हैं। यहाँ त्रैलोक्यके भक्त एकत्र हैं। जो श्यामता जिसके रुचिके, इष्टके, भावके, अनुकूल हो वह वैसा ही ध्यान करता है, इसीसे पूज्य कविने श्यामताकी कोई उपमा देकर उसको सीमित नहीं किया। सबके मतका, सबकी भावनाओंका परिपोषण किया है और साथ ही यह भी नहीं कहा है कि किस अवस्थाके रूपका ध्यान करते हैं।

दरस परस मज्जन अरु पाना। हरै पाप कह बेद पुराना ॥ १ ॥

अर्थ—वेद पुराण कहते हैं कि (श्रीसरयूजीका) दर्शन, स्पर्श, स्नान और जलपान पापको हरता है ॥ १ ॥

नोट—१ ग्रन्थकारने 'दरस, परस, मज्जन और पान' ये क्रमानुसार कहे हैं। पहले दूरसे दर्शन होते हैं, निकट पहुँचनेपर जलका स्पर्श होता है, भक्तजन उसे शीशपर चढ़ाते हैं, जलमें प्रवेश करके फिर स्नान किया जाता है, तत्पश्चात् जल पीते हैं—यह रीति है। यह सब क्रम स्नानके अन्तर है, क्योंकि बिना दर्शन-स्पर्शके स्नान हो ही नहीं सकता। स्नानारम्भहीमें आचमनद्वारा पान भी हो सकता है। इसलिये प्रधान मज्जन ठहरा। इसी कारण उत्तरकाण्डमें श्रीमुखसे कहा गया कि 'जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा।'

२—यहाँसे श्रीसरयू माहात्म्य कहना प्रारम्भ किया ३—उपर्युक्त चार (दरस, परस, मज्जन, पान) कर्मोंमेंसे किसी भी एक कर्मके होनेसे पापका क्षय होता है। ४—बैजनाथजी 'दरस' से श्रीस्वरूप वा श्रीसरयू-दर्शन, 'परस' से जन्मभूमिकी धूलिका स्पर्श और 'पान' से श्रीचरणामृत अथवा श्रीसरयूजलका पान—ऐसा अर्थ करते हैं, परतु मेरी समझमें यहाँ श्रीसरयूजीके ही दर्शन आदिका प्रसङ्ग है।

नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकै सारदा बिमल मति ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पुनीत=पवित्र। अमित=जिसकी सीमा नहीं, अतोल। महिमा=माहात्म्य, प्रभाव।

अर्थ—यह नदी अमित पवित्र है, इसकी महिमा अनन्त है, (कि जिसे) निर्मल बुद्धिवाली सरस्वतीजी भी नहीं कह सकतीं ॥ २ ॥

नोट—१ 'कहि न सकै सारदा'' का भाव यह है कि शारदा सबकी जिह्वापर बैठकर, जो कुछ कहना होता है, कहलाती हैं, परंतु जिस बातको वह स्वयं ही नहीं कह सकतीं, उसे दूसरा क्योंकर कह सकेगा? सरस्वती महिमा नहीं कह सकती, इसमें प्रमाण सत्योपाख्यानका है। ब्रह्माजीका वचन सरस्वतीजीसे है—'सरय्वा महिमानं को वेत्ति लोके च पण्डित.' इत्यादि (पू० १८। १०)। इसकी महिमा और स्थूल-सूक्ष्मभेदसे अयोध्याके दो स्वरूप सत्योपाख्यानमें लिखे हैं। (सू० मिश्र)

२—'नदी पुनीत अमित महिमा अति' इति। अयोध्याकाण्डमें इस बातके उदाहरण बहुत मिलते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीके थोड़ी देरके सङ्गसे सर-सरिता आदिकी महिमा इतनी हुई कि देवता और देवनदियाँ इत्यादि भी उनको सराहती थीं। यथा—'जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहिं देव सर सरित सराहहिं ॥ २। ११३।', 'सुरसरि सरसइ दिनकर कन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या ॥ सब सर सिंधु नदी नद नाना। मंदाकिनि कर करहिं बखाना॥ २। १३८।', 'महिमा कहिय कवन बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥ २। १३९।' और, श्रीसरयूजीमें तो आपका (श्रीरामचन्द्रजीका) नित्य स्नान होता था, तब फिर उसकी पुनीतता और महिमाकी मिति कैसे हो सकती है? काशीमें हजार मन्वन्तरतक, प्रयागमें बारह माघोंपर और मथुरामें एक कल्प वास करनेका जो फल है उससे अधिक फल श्रीसरयूके दर्शनमात्रसे प्राप्त होता है। यथा 'मन्वन्तरसहस्रेषु काशीवासेन यत्फलम्। तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते ॥ प्रयागे यो नरो गत्वा माघानां द्वादश वसेत। तत्फलादधिकं प्रोक्तं सरयूदर्शने कृते ॥ मथुरायां कल्पमेकं वसते मानवो यदि। तत्फलादधिकं प्रोक्तं सरयूदर्शने कृते ॥' इन्हीं भाव एवं प्रमाणसे 'अमित महिमा अति' विशेषण दिया गया।

रामधामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति[1] पावनि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—रामधामदा=रामधामकी देनेवाली। रामधाम=परधाम=साकेत।

अर्थ—यह सुन्दर पुरी राम धामको देनेवाली है। सब लोकोंमें प्रसिद्ध है। अत्यन्त पवित्र है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'पापीको राम-धाम नहीं प्राप्त होता, इसलिये प्रथम पापका नाश होना कहा, यथा—'हरै पाप कह वेद पुराना', पीछे रामधामकी प्राप्ति कही है।'

❋ 'रामधामदा पुरी० इति' ❋

मानसपरिचारिकाके कर्त्ता यहाँ शङ्का करते हैं कि 'रामधाम तो अयोध्याजी ही हैं, वह रामधाम कौन है जिसको अयोध्याजी देती हैं?' और इसका समाधान यों करते हैं कि अयोध्याजीके दो स्वरूप हैं, एक नित्य दूसरा लीला। लीलास्वरूपसे प्रकृतिमण्डलमें रहती हैं परंतु उनको प्रकृतिका विकार नहीं लगता वरन् वे औरोंके प्रकृति-विकारको हरकर अपने नित्यस्वरूपको देती हैं। श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'श्रीअयोध्याजी दो हैं; एक भूतलपर, दूसरी ब्रह्माण्डसे परे। दोनों एक ही हैं, अखण्ड हैं, एकरस हैं। तत्त्व, स्वरूप, नाम और नित्यनामें अभेद हैं। भेद केवल माधुर्य और ऐश्वर्यलीलाका है, यथा—'भोगस्थानं परायोध्या लीलास्थानं त्विदं भुवि। भोगलीलापती रामो निरङ्कुशविभूतिकः ॥' (शिवसंहिता २। १८)। ब्रह्माण्डमें सात लोकावरण हैं और सात तत्त्वावरण—यह जान लेना जरूरी है।'

---

[1] अति—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०। परंतु रा० प० में 'जग' पाठ है। जगपावनी-जगत्को पवित्र करनेवाली।

वे प्रकृतिपार श्रीअयोध्याका वर्णन यों करते है कि 'भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक—ये सात लोक हैं। क्रमश एकसे दूसरा दुगुना है और एकके ऊपर दूसरा है, दूसरेपर तीसरा इत्यादि।'

'पुन सदाशिवसंहिताके मतानुसार सत्यलोकके ऊपर क्रमसे कौमारलोक, उमालोक, शिवलोक हैं। भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोकको पृथ्वी मानकर शिवलोकतक सप्तावरण कहे जाते है जिसकी देवलोक संज्ञा है।' 'सत्यलोकके उत्तर ऊर्ध्व प्रमाणरहित रमा वैकुण्ठलोक है।' 'गोलोक अनन्त योजन विस्तारका है, यह श्रीरामचन्द्रजीका देश है। जैसे नगरके मध्यमें राजाका महत् महल होता है, वैसे ही गोलोकके मध्यमें श्रीअयोध्याजी हैं। यह स्थिति निम्न नक्शेसे समझमें आ जायगी—

इसमें दश आवरण हैं जिनके बाहर चारों दिशाओंमें चार दरवाजे हैं, दरवाजोंके अग्रभागमें परम दिव्य चार वन हैं। श्रीअयोध्याजीके उत्तर श्रीसरयूजी हैं, दक्षिणमें विरजा गङ्गाके नामसे सरयूजी शोभित हैं। दक्षिण द्वारपर श्रीहनुमान्‌जी पार्षदोंसहित विराजमान हैं। इसी तरह पश्चिममें विभीषणजी, उत्तरमें अङ्गदजी और पूर्व द्वारपर सुग्रीवजी विराजमान हैं।' 'नौ आवरणोंमें दासों और सखाओंके मन्दिर हैं और दसवें (भीतरके) आवरणमें सखियोंके मन्दिर हैं। इस दसवें आवरणके मध्यमें परम दिव्य ब्रह्मस्वरूप कल्पतरु है। जो छायादार है। यह वृक्ष और इसके स्कन्ध, शाखा, पत्तियाँ, फूल, फल, सम्पूर्ण परम दिव्य श्रीरामस्वरूप है। इस छायादार तरुके नीचे ब्रह्ममय मण्डप है जिसके नीचे परम दिव्य रत्नमय वेदिका है जिसपर परम प्रकाशमान सिंहासन विराजमान है। सिंहासनपर रत्नमय सहस्रदल कमल है जिसमें दो या तीन मुद्राएँ हैं (अग्नि, चन्द्र वा सूर्य भी)। उनके मध्यमें श्रीसीतारामजी विराजमान हैं। श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और श्रीहनुमान्‌जी इत्यादि षोडश पार्षद छत्र, चमर, व्यजन इत्यादि लिये हैं।'

'परमानन्य उपायशून्यप्रपत्तिवाले सातों लोकों और सातों तत्त्वावरणोंको भेदकर महाविष्णु, महाशम्भु, वासुदेव, गोलोक होते हुए विरजा पार होकर श्रीहनुमान्‌जीके पास प्राप्त होते हैं। वे पार्षदोंसहित उनको श्रीसीतारामजीके पास ले जाते हैं।'—(करुणासिन्धुजी)। 'रामधाम' पर उत्तरकाण्ड (दोहा ३ से दोहा ४ तक) विशेष लिखा गया है। प्रेमी पाठक वहाँ देख लें।

नोट—उत्तरकाण्डमें श्रीमुखवचन है—'मम धामदा पुरी सुखरासी' 'मम समीप नर पावहिं बासा' ॥ ये वाक्य श्रीरामजीके हैं। यह धाम कहाँ है? यदि कहनेवाले (श्रीरामजी) का कोई अपना धाम-विशेष है तब तो दूसरे स्थानको धाम कहनेवालेका धाम (अर्थात् रामधाम वा मम धाम) नहीं हो सकता। और यदि वक्ताका कोई अपना धाम नहीं है, तब देखना होगा कि कहनेवालेका इस 'मम धाम' से क्या तात्पर्य हो सकता है।

श्रुतियों, पुराणों, संहिताओंसे श्रीरामजीका धाम 'अयोध्या' प्रमाणसिद्ध है। ब्रह्मचारी श्रीभगवदाचार्य वेदरत्नजी 'अथर्ववेदमें श्रीअयोध्या' शीर्षक लेखमें लिखते हैं कि—'अथर्ववेद (संहिताभाग) दशमकाण्ड, प्रथम अनुवाक, द्वितीय सूक्तके २८वें मन्त्रके उत्तरार्धसे श्रीअयोध्याजीका प्रकरण आरम्भ होता है।—

'पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥ न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥ अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥ तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्मयीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥ इन मन्त्रोंका अर्थ देकर अन्तमें वे लिखते हैं कि—'अथर्ववेदका प्रथम अनुवाक यहाँ ही पूर्ण हो जाता है। इस अनुवाकके अन्तमें इन साढ़े पाँच मन्त्रोंमें अत्यन्त स्पष्ट रूपमें श्रीअयोध्याजीका वर्णन किया गया है। इन मन्त्रोंके शब्दोंमें व्याख्याताओंको अपनी ओरसे कुछ मिलानेकी आवश्यकता ही नहीं है। श्रीअयोध्याजीके अतिरिक्त अन्य किसी भी पुरीका इतना स्पष्ट और सुन्दर साम्प्रदायिक वर्णन मन्त्रसंहिताओंमें होनेका मुझे ध्यान नहीं है।'—(श्रीमद्रामप्रसादग्रन्थमाला मणि ५ से संक्षेपसे उद्धृत)।

विशेष उत्तरकाण्ड ४ (४) 'अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ', १४ (४) 'अंतकाल रघुपतिपुर जाहीं' में देखिये।

श्रीअयोध्याजी त्रिपाद्विभूति और लीलाविभूति दोनोंमें हैं। 'अयोध्या' नित्य है। नारदपञ्चरात्रान्तर्गत बृहद्ब्रह्मसंहिता द्वितीय पाद सप्तमाध्याय श्लोक २ तथा तृतीयपाद प्रथमाध्यायके अनेक श्लोक इसके प्रमाण हैं। दोहा १६ (१) भी देखिये। पाँडेजी 'धाम' के दो अर्थ देते हैं—'शरीर' और 'घर'। रामधामदा= 'रामको' धाम अर्थात् शरीर देनेवाली है, जहाँ सदैव श्रीरामजी अवतार लेते हैं अथवा धाम अर्थात् घर देनेवाली है।' सम्भवतः उनका आशय है कि सारूप्य और सालोक्य मुक्ति देनेवाली है। अथवा यह भाव हो कि श्रीरामजीको शरीर देनेवाली है अर्थात् उनका यहाँ अवतार या जन्म होता है। परंतु इस भावमें विशेष महत्त्व नहीं है। 'धाम'

का अर्थ तेज भी है—'तेजो गृह धाम इन्यमरे।' रामधाम देती है अर्थात् श्रीरामजीके तेजमें मिला देती है, सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर देती है।

चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजें तनु नहिं संसारा॥ ४॥

अर्थ—जगत्‌के अगणित जीवोंकी चार खानें (उत्पत्ति-स्थान) है, श्रीअयोध्याजीमें शरीर छूटनेसे फिर संसार नहीं रहता। (अर्थात् इनमेंसे जिन जीवोंका शरीर श्रीअयोध्याजीमें छूटता है उनका जन्म फिर संसारमें नहीं होता, वे आवागमनके चक्रसे छूट जाते है। भवसागर उनके लिये अगम्य नहीं रह जाता)॥ ४॥

'अवध तजें तनु नहिं संसारा'

ऊपरकी चौपाईमें जो कहा कि यह पुरी 'अति पावनि' है, उसीको यहाँ दृढ़ करते है कि कैसा भी जीव हो वह यहाँ मरनेसे भवसागर पार हो जाता है और रामधामको प्राप्त होता है। यथा—'अस्यां मृताश्च वैकुण्ठमूर्ध्वं गच्छन्ति मानवाः। कृमिकीटपतङ्गाश्च म्लेच्छाः संकीर्णजातयः॥ ३६॥ कौमोदकीकराः सर्वे प्रयान्ति गरुडासनाः। लोकं सान्तानिकं नाम दिव्यभोगसमन्वितम्॥ ३७॥ यद्गत्वा न पतन्त्यस्मिँल्लोके मृत्युमुखे नराः। माहात्म्यं चाधिकं स्वर्गात् साकेतं नगरं शुभम्॥ ३८॥ (सत्योपाख्यान पू० सर्ग १९)।' अर्थात् कृमि, कीड़े, पतिंगे, म्लेच्छ आदि सब संकीर्ण जातिके प्राणी यहाँ मरनेपर गदाधारी हो गरुड़पर बैठकर ऊपर वैकुण्ठको जाते है। (वहाँसे) दिव्य भोगोंसे युक्त जो सान्तानिक लोक है उसमें प्राप्त होते हैं कि जहाँ जानेपर फिर मृत्युलोकमें मनुष्य नहीं आता। अत इस शुभ नगर साकेतका माहात्म्य स्वर्गसे अधिक है।

२—श्रीकरुणासिंधुजीके मतानुसार जो भजनानन्दी या सुकृती जीव है वे मुक्त हो जाते है और जो मनुष्य अयोध्याजीमें रहकर पाप करते है उनका शरीर छूटनेपर वे फिर यहीं कीट, पतङ्ग आदि योनियोंमे पैदा होते हैं और यहाँ फिर शरीर छूटनेपर सालोक्य मुक्ति उनको मिलती है। आपका मत है कि यह अयोध्या प्रकृतिसे परे होनेके कारण यहाँ पुनर्जन्म होना भी संसारमें जन्म न होना ही है।

अस्तु जो हो। परंतु इस अर्थकी संगति चौपाईसे नहीं लगती और न इसका कोई प्रमाण कहीं मिलता है। श्रीअयोध्याजीमें मृत्यु होनेसे रामधाम प्राप्त हुआ, यह सालोक्य-मुक्ति हुई। यदि सरयू स्नान भी जीवने किया है तो धाममें पहुँचनेपर सामीपता भी प्राप्त होती है, यह सामीप्य-मुक्ति है। उत्तरकाण्डमें श्रीमुखवचन है कि 'जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥'

करुणासिंधुजी महाराजने जो लिखा है वह दासकी समझमें भयदर्शनार्थ है, जिससे लोग पापकर्ममें प्रवृत्त न हो जायँ। यह विचार लोकशिक्षार्थ बहुत ही उत्तम है। पर यह विचार श्रीअयोध्याजीके महत्त्वको छुपा देता है। दासकी समझमें तो जो यहाँ निवास कर रहे हैं उनमेंसे किसी-किसीमें जो पाप हमारी दृष्टिमें देख पड़ते है वह केवल पूर्वजन्मके अन्तिम समयकी भक्तके हृदयमें उठी हुई वासनाका भोगमात्र है, उस वासनाकी पूर्ति कराकर श्रीसीतारामजी उसे अपना नित्यधाम देते है। भक्तमालमें दी हुई 'अल्ह कोल्ह' दोनों भाइयोंकी कथा प्रमाणमें ले सकते है। विशेष लङ्काकाण्डके 'जिमि तीरथके पाप॥ ९६॥' में भी देखिये।

श्रीनंगेपरमहंसजी—जैसे काशी-प्रयागका ऐश्वर्य है कि वहाँ शरीर छोड़नेसे पुन संसारमें नहीं आता है वैसे ही श्रीअवध धामका ऐश्वर्य है। जब अण्डज, ऊष्मज, स्थावरके लिये मुक्ति लिखी गयी है तब मनुष्यके लिये क्यों संशय करना चाहिये, चाहे वह पापी ही क्यों न हो। यदि कोई शङ्का करे कि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं (यथा) 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' यह विरोध होता है तो इसका समाधान इस प्रकार है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' यह श्रुति सर्वदेशी है और काशी, प्रयाग, अयोध्यामें मुक्ति यह श्रुति एकदेशी है, तो सर्वदेशी और एकदेशीमें विरोध कैसे हो सकता है, क्योंकि सर्वदेशके लिये वह सत्य है और एकदेशमें वह भी सत्य है। विरोध उसमें होता है जो एक देशमें श्रुति भिन्न-भिन्न बातोंको सूचित करती हो। अथवा, सर्वदेशकी दो श्रुतियाँ दो तरहकी बातें कहती हो। किन्तु सर्वदेशी वचन और एकदेशीवचनमें विरोध नहीं हो सकता है, जैसे दो बजे दिनको लालटेनकी जरूरत नहीं

नामवर्णन, यथा—'बंदउँ नाम राम रघुवर को' से 'नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ' तक। 'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥'

रूपवर्णन, यथा—'करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा' से 'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान' तक। 'राम सरिस को दीनहितकारी। कीन्हें मुकुत निसाचर झारी ॥'

लीलावर्णन, यथा—'निज संदेह मोह भ्रम हरनी' से 'रामचरित राकेसकर सरिस सुखद सब काहु' तक। 'मंत्र महामनि विषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥'

धामवर्णन, यथा—'अवधपुरी यह चरित प्रकासा' से 'सब बिधि पुरी मनोहर जानी' तक।—(रा० प्र०)।

श्रीअयोध्याजीकी विशेष महिमा होनेका कारण यह है कि सातों पुरियोंमें यह आदिपुरी है। दूसरी बात यह है कि और सब पुरियाँ भगवान्‌के अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं और यह तो शिरोभाग है, यथा पद्मपुराणे—'विष्णोः पादमवन्तिका गुणवती मध्ये च काञ्चीपुरी नाभौ द्वारवती तथा च हृदये मायापुरी पुण्यदा। ग्रीवामूलमुदाहरन्ति मथुरा नासाग्रवाराणसीमेतद् ब्रह्मपदं वदन्ति मुनयोऽयोध्यापुरीं मस्तके ॥'

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी ॥ ५ ॥
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥ ६ ॥

अर्थ—अयोध्यापुरीको सब तरहसे मनोहर और सब सिद्धियोंकी देनेवाली तथा समस्त मङ्गलोंकी खान समझकर, इस निर्मल कथाको मैंने (यहाँ) प्रारम्भ किया, जिसके सुननेसे काम, मद और दम्भका नाश हो जाता है ॥ ५-६ ॥

नोट—१ (क) 'सब बिधि' इति। सब प्रकारसे, जैसा ऊपर कह आये हैं कि यहाँ ब्रह्मका अवतार हुआ, सब तीर्थ यहाँ आते हैं, यहाँ रामजन्म-महोत्सव होता है जिसमें देवता आदि सब सम्मिलित होते हैं, यह रामधामकी देनेवाली है, 'अति पावनि' है, सब सिद्धियों और मङ्गलोंकी देनेवाली है, यहाँ श्रीसरयूजी हैं जो सब पापोंका क्षय करके सामीप्य-मुक्तिकी देनेवाली हैं। यहाँ श्रीरामजन्मके सब योग हैं और यह रामचरित है, इत्यादि भाँतिसे मनोहर है। (ख) ग्रन्थकारने उपर्युक्त कथनसे स्थानशुद्धि दिखलायी। इससे व्यञ्जित होता है कि उत्तम कार्योंकी सिद्धिके लिये स्थानशुद्धिकी आवश्यकता है, अर्थात् बिना स्थानशुद्धिके कोई कार्य कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये ऐसे शुभ अवसर और उत्तम स्थलमें कथाका आरम्भ किया। आधी-आधी चौपाईमें दोनों (स्थल और कथा) का फल-माहात्म्य दिखलाया। (सू० मिश्र)

टिप्पणी—१ ऊपरतक इस पुरीके प्रभावसे पापका क्षय होना और रामधामका प्राप्त होना कहा, अर्थात् परलोक बनना कहा और अब ('सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी' कहकर) इस लोकका सुख भी देना बताया। २—'बिमल' पद देकर यह सूचित किया कि कथा निर्मल है, इसलिये इसके अवतारके लिये 'बिमल' स्थान भी होना चाहिये था। अस्तु ! यह पुरी मानसके अवतारके योग्य है। ३—काम, मद और दम्भ ये तीनों कथाके विरोधी हैं। इनमेंसे काम मुख्य है, यथा—'क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा ॥ सु० ५८।' इसलिये कामका पहिले कहा। श्रीरामचन्द्रजीने अवतार लेकर रावणको मारा और मानसका अवतार काम, मद, दम्भके नाशके लिये हुआ।

नोट—२ पाण्डेजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीका अवतार रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद तीनके वधहेतु हुआ, वैसे ही कथाका भी आरम्भ तीनहीके वधार्थ हुआ। दम्भ रावण, मद-कुम्भकर्ण और काम मेघनादका वध कथा करती है।

नोट—३ यहाँ रामचरितमानसका अवतार कहा, आगे नामकरण इत्यादि कहेंगे।

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा ॥ ७ ॥

अर्थ—इसका नाम रामचरितमानस है। इसको कानोंसे सुनते ही विश्राम (शान्ति) मिलता है॥ ७॥

नोट—१ ग्रन्थका आविर्भाव कहकर अब नाम कहते हैं। श्रीरामचन्द्रजीका नामकरण-संस्कार श्रीवसिष्ठजी-द्वारा हुआ और मानसका शिवजीने नाम रक्खा, यथा—'धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर। चौ० १२।' २—'सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा' इति। (क) अर्थात् सुनते ही कानोंको सुख मिलता है। वा, कानोंसे सुनते ही मनको विश्राम मिलता है, फिर मन कहीं नहीं भटकता। (ख) मानससरका स्नान कथाका श्रवण है, सर-स्नानसे मल छूटता है, कथा-श्रवणसे पाप मिटते हैं। स्नानसे श्रम दूर होता है, कथासे अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेके कारण जीवको जो श्रम हुआ वह दूर होता है, विश्राम मिलता है। स्नानसे घामकी तपन दूर हुई, कथासे त्रिताप गये। (वै०)। (ग)—श्रीरामचरितमानसमें ही श्रीगोस्वामीजीने अपना गरुड़जी और पार्वतीजीका इससे विश्राम पाना कहा है, यथा क्रमशः 'पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ। ७। १३०।' 'सुनेउँ पुनीत रामगुन ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा॥ ७। ११५।', 'हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥ ७। ५३।' इसी तरह और लोग भी जो सुनेंगे उनको विश्राम मिलेगा।

३—गोस्वामीजीने अपने भाषा-प्रबन्धकी जो भूमिका की है वह ३२ वें दोहेपर ही समाप्त हो गयी है—'कीन्हि प्रस्न' से लेकर 'नमामि काम मद दंभा' तक इस कथा प्रबन्धका 'अथ' है। रामचरितमानसके नामसे इस कथाका आरम्भ है। जैसे कोई कहे 'अथ श्रीरामचरितमानस लिख्यते' उसी तरह 'रामचरितमानस एहि नामा' यह कहा है।—[विशेष विस्तार 'रामचरित सर कहेसि बखानी। उ० ६४। ७-९।' में देखिये।] (गौड़जी)।

मन-करि बिषय-अनल-बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥ ८॥

अर्थ—मनरूपी हाथी विषयरूपी अग्निके जंगलमें (वा, विषयरूपी वनाग्निमें) जल रहा है। यदि वह इस तालाब-में आ पड़े तो सुखी हो जावे॥ ८॥

नोट—१ (क) भाव यह है कि यदि चरित्रमें मन लगे तो मनका ताप दूर हो जावे, और यदि इस मानस-सरमें आकर पड़ ही जावे तो फिर इतना सुख मिले कि जो ब्रह्मसुखसे भी अधिक है, फिर तो सरसे बाहर निकलनेकी इच्छा ही न करेगा। यथा—'ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥ सनकादिक नारदहिं सराहहिं। जद्यपि ब्रह्म निरत मुनि आहहिं॥ सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। ७। ४२।' पुनः, यथा—'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहर कीन्ह। रघुपतिचरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह॥ बा० १११।', 'मम गुनग्राम नाम रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥ ७। ४६।', इत्यादि। (ख) 'परई' शब्द कैसा सार्थक है। इसे देकर बताते हैं कि हाथीकी तरह इसमें पड़ा ही रहे, बाहर न निकले, तब सुख प्राप्त होगा। (ग) मन विषयाग्निमें जल रहा है, इसीसे सरमें सुख पाना कहा क्योंकि 'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥ ७। ६९।' भामिनीविलासमें इसी भावका यह श्लोक विनायकी टीकामें दिया है 'विशालविषयावलीवलयलग्नदावानलप्रसृत्वर-शिखावलीकवलित मदीय मन। अमन्दमिलदिन्दिरे निखिलमाधुरीमन्दिरे मुकुन्दमुखचन्द्रिरे चिरमिदं चकोरायताम्॥' अर्थात् विशाल विषय पङ्क्तिरूपी दावानलकी अत्यन्त लपटोंसे व्याप्त मेरा मन, जिसमें लक्ष्मीजी मदिन्द हैं ऐसे निखिल माधुर्ययुक्त मुकुन्द भगवान्‌के मुखचन्द्रका, चिरकाल चकोर बने। पुनश्च यथा—'वयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः। तृषार्तोऽवगाढो न सस्मारदावं न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः॥' भा० ४। ७। ३५।' अर्थात् नाना प्रकारके क्लेशरूप दावानलसे दग्ध हुआ हमारा मनरूपी हाथी अति तृषित होकर आपकी कथारूप निर्मल अमृतनदीमें घुसकर उसमें गोता लगाये बैठा है। वहाँ ब्रह्मानन्दमें लीन सा हो जानेके कारण उसे न तो संसाररूप दावानलका ही स्मरण रहा है और न वह उस नदीसे बाहर ही निकलता है।

२—'एहिं' (अर्थात् इसी सरमें) कहकर अन्य उपायोंको सामान्य जनाया। भाव यह कि अन्य उपायोंसे काम नहीं चलनेका। (पा०)।

नोट—३ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'तीनों तापोंसंयुक्त जो अनेक चिन्ताएँ हैं वही दावानल लग रहा है।' सूर्यप्रसादमिश्रजीका मत है कि यहाँ संसारको वन, विषयको अग्नि कहा, और अग्नि लगानेवाले कामादि किरात हैं। जैसे अग्नि लगा देनेसे उसमें रहनेवाले हाथी जल मरते हैं क्योंकि भारी शरीर होनेके कारण बाहर निकल भी नहीं सकते, वैसे ही मन अनेक वासनारूप होनेके कारण स्थूलकायरूप इन्द्रियोंसे प्रेरित विषयसे मर रहा है।

प० रामकुमारजी—ऊपर चौपाई (७) 'सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा।' से 'रामचरितमानस मुनि भावन।' तक दिखाया है कि यह मानस विषयी, मुमुक्षु और मुक्त तीनों प्रकारके जीवोंका हितकारी है। 'मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥' में विषयी जीवोंका हित दर्शित किया, क्योंकि वे दिन-रात शब्द स्पर्श-रूप रस गन्ध आदि विषयोंमें आसक्त रहते हैं। विषयी जीवोंको क्या सुख मिलता है, यह उत्तरकाण्डमें दिखाया है, यथा—'बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुनग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ५३। ४।' इनको दोनों सुख प्राप्त होते हैं—कानोंका सुख और मनको विश्राम वा आनन्द। इसीसे ऊपर पहले ही कह दिया कि 'सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा।' मुमुक्षु इसे सुनकर, पढ़कर प्रसन्न होते हैं क्योंकि 'सुनत नसाहिं काम मद दंभा' और 'सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा' और आगे 'मुनि-भावन' कहकर मुक्त जीवोंका हित बताया है। 'जीवन्मुक्त कुछ नहीं चाहते, वे इस ग्रन्थकी उपासना करते हैं।'

नोट—४ 'मानस-सर हिमाचलपर है और हिमजलसे अग्निसे जले हुएका ताप नहीं रहता। इसीसे विषयाग्निसे जलते हुए मनको मानस-सरमें पड़े रहनेको कहा।' (मा० त० वि०)।

रामचरितमानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥ ९॥

शब्दार्थ—भावन=भानेवाला, रुचिकर। बिरचेउ=अच्छी तरहसे रचा, निर्माण किया।

अर्थ—(इस) मुनियों (के मन) को भानेवाले, सुहावने और पवित्र 'रामचरितमानस' की रचना श्रीशिवजीने की॥ ९॥

नोट—१ दोहा ३४ की चौपाई ४ 'संवत सोरह सौ एकतीसा' से लेकर दोहा ३५ की चौपाई १२ 'धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर' तक श्रीरामचरितमानस और श्रीरामचन्द्रजी दोनोंमें समता वा एकता दिखायी है। २—'मुनि भावन' कहकर सूचित किया कि यह शान्तिरससे परिपूर्ण है। 'बिरचेउ संभु' से ईश्वर कोटिवालोंका रचा हुआ, 'सुहावन' से अलंकार आदि गुणोंसे परिपूर्ण तथा दोष रहित, और 'पावन' से इसमें पवित्र-रामयश-वर्णन होना बताया है। पुनः, 'सुहावन पावन' अपने स्वरूपसे है और सेवनसे त्रिविध दोष एवं दुःखको नाश करना है—देखिये ३५ (८) भी पुनः, ३—'सुहावन' से मुमुक्षुको ज्ञानभक्तिसाधन और 'पावन' से 'विषयी' अधम जीवोंको भगवत्में लगा देनेवाला जनाया। (सू० मिश्र)। अथवा 'सुहावन पावन' से शान्त और शृङ्गारयुक्त तथा 'मुनिभावन' से 'मुनियोंकी भावनासे शिवजीका इसे विशेष करके रचना जनाया (पाँ०)।

श्रीरामचन्द्रजी और श्रीरामचरितमानसका ऐक्य

श्रीरामचन्द्रजी	श्रीरामचरितमानस
१ षोडशकलाका पूर्णावतार। पुनः, ३१ सर जोड़कर रावणका मारना।	संवत् १६३१ में कथाका प्रारम्भ करना ही १६ कला,में ३१ का जोड़ समझिये। इससे महामोहका नाश हुआ और होता रहेगा।
२ दोनोंका जन्म नवमी, मङ्गलवार, चैत्र शुक्लपक्ष,	अभिजितनक्षत्र, मध्याह्नकाल श्रीअयोध्याजीमें हुआ।
३ रामावतार रावण, मेघनाद, कुम्भकर्ण और उनकी सेनाके वध करनेके लिये हुआ।	मानसका अवतार मोह, काम, मद, दम्भके नाशके लिये हुआ। ३५ (६)

४ देवसर्गके आदर्श श्रीरामजी, आसुरसर्गका आदर्श रावण।

५ रावण आदिके नाशसे देवता और मुनि सभी सुखी हुए।

६ श्रीरामचन्द्रजीका नामकरण-संस्कार श्रीवसिष्ठजीने किया। वसिष्ठजी ब्रह्माजीके पुत्र हैं।

दैवीसम्पत्तिका आदर्श श्रीरामचरित, आसुर सम्पत्तिके आदर्श मोह-मद आदि।

यहाँ विषयी, साधक, सिद्ध तीनोंको सुख मिलता है। ३५ (६-८)

'रामचरितमानस' नाम शिवजीने रक्खा। श्रीमद्भागवतमें एक रुद्रका अवतार ब्रह्माजीसे होना कहा है। यथा—'वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनम्।'

त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि* कलुष नसावन॥ १०॥

शब्दार्थ—त्रिविध=तीन प्रकारका। दारिद=दरिद्रता। कुलि=सब। दावन=दमन वा नाश करनेवाला, यथा—'त्रिबिध ताप भवदाप दावनी' (उ०) 'जातुधान दावन परावन को दुर्ग भयो' (हनुमानबाहुक)।=दावानलके समान जला डालनेवाला।

अर्थ—तीनों प्रकारके दोषों, दुःखों और दरिद्रताका दमन तथा कलिके सब कुचालों और पापोंका नाश करनेवाला है॥ १०॥

नोट—१ 'त्रिबिध दोष दुख' इति। पापका फल दुःख है, यथा—'करहिं पाप पावहिं दुख '। यह तीन प्रकारका है, यथा—'जे नाथ करि करुना बिलोकहु त्रिबिध दुख ते निर्बहे।' जन्म, जरा, मरण ये तीन दुःख हैं, यथा—'जराजन्मदुःखौघतातप्यमानम्।' मन कर्म-वचनसे किये हुए तीन प्रकारके दोष हैं। काशीखण्डके 'अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च कायिकं त्रिविधं स्मृतम्॥ पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाचिकं स्याच्चतुर्विधम्। परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम। वितथाभिनिवेशश्च मानसं त्रिविधं स्मृतम्॥' के अनुसार—जो किसीने हमको दिया नहीं है उसका ले लेना अर्थात् चोरी, अविहित हिंसा और परस्त्रीसेवन—ये तीन कायिक पाप (दोष) हैं। कठोर, झूठे, चुगली और परस्पर भेदनशीलतावाले, आपसमें फूट डालनेवाले और अव्यवस्थित—ये चार प्रकारके वचन वाचिक पाप हैं। परद्रव्यका चिन्तन अर्थात् उसकी प्राप्तिकी इच्छा करना, मनसे किसीका अनिष्ट सोचना, झूठा अभिमान (मिथ्याका आग्रह)—ये तीन मानसिक पाप हैं। विनायकी टीकाकार तन, जन और धनसम्बन्धी तीन प्रकारके दरिद्र और दैहिक, दैविक, भौतिक तीन प्रकारके दुःख लिखते हैं। और मानसपत्रिकाकार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक वा कर्मणा, मनसा और वाचा—ये तीन प्रकारके दुःख मानते हैं।

२ ग्रन्थके अन्तमें जो माहात्म्य कहा है—'श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्। 'पुण्यं पापहरं सदाशिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्। श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥' वही यहाँ 'सुनिभावन, सुहावन, पावन, त्रिबिधदोष दुख दारिद दावन' और 'कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन' से कहा है। भक्तिको प्राप्त कर देने, कल्याण करने, विज्ञान और भक्तिको देनेवाला होनेसे 'मुनिभावन' है। अत्यन्त विमल, प्रेमाम्बुसे पूर्ण और पुण्य एवं शुभ होनेसे 'सुहावन' कहा और 'माया मोह मलापह' और 'पापहर' इत्यादि होनेसे 'त्रिबिध ···' कहा।

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥ ११॥

अर्थ—श्रीमहादेवजीने (इसे) रचकर अपने हृदयमें रक्खा और अच्छा मौका (अवसर) पाकर श्रीपार्वतीजीसे कहा॥ ११॥

नोट—१ अब ग्रन्थके नामका हेतु कहते हैं।

---

* 'कुलि' का पाठान्तर 'कलि' भी है। पर प्रामाणिक सभी पोथियोंमें 'कुलि' ही पाठ है।

२—श्रीगोस्वामीजी श्रीशिवजीका श्रीपार्वतीजीसे मानस कथन करना पूर्व ही कह आये हैं, यथा—'बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा। ३०। ३।', 'जेहि बिधि संकर कहा बखानी। ३३। १।' अब यहाँ तीसरी बार फिर कह रहे हैं कि 'पाइ सुसमउ सिवा मन भावा।' इसमें पुनरुक्ति नहीं है। तीन बार लिखना साभिप्राय है। प्रथम जो 'सुनावा' कहा वह संवादके साथ है, यथा—'जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई॥ कहिहउँ सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुख मानी॥ संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥ ३०। १—३।' अर्थात् मैं उस कथाका संवाद जैसा याज्ञवल्क्य भरद्वाजमें हुआ, कहूँगा। जिस कारणसे प्रश्नोत्तर हुआ वह 'कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥ सो सब हेतु कहब मैं गाई। ३३। १—२।' से सूचित किया। और तीसरी बार यहाँ जो कहा है उसमें और वर्णन करना सूचित किया। इन तीनोंको दोहा ४७ 'कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु-संबाद। भयउ समय जेहि हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि बिषाद' में एकत्र करेंगे।

चार संवादोंकी रचना

आषाढ़ कृष्ण १० संवत् १५८९ को श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीको स्त्रीका उपदेश हुआ। बस, घरसे चलकर तीर्थराजमें आपने वस्त्रका विसर्जन किया और वहाँसे श्रीअवधपुरी आकर चौमासेतक रहे। वहाँसे तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। इस तीर्थयात्रामें ही भावी ग्रन्थकी रचनाकी बहुत सामग्री इन्हें प्राप्त हुई। मानसरोवर गये। वहाँसे दिव्य साहाय्य पाकर सुमेरु पहुँचे। वहाँ नीलाचलपर भुशुण्डिजीके दर्शन हुए। मानस-रचनाकी तैयारीके लिये ईश्वरीय प्रेरणासे ये सब अलौकिक संघटन हुए—'होनेवाला होत है होता है जा कार। तासे होते हैं सभी आकार॥'

श्रीरामगीतावली और श्रीकृष्णगीतावली रचनेके उपरान्त जब श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञासे आप श्रीअवधको चले तब कुछ दिन प्रयागराजमें ठहरे। उस समय भगवदीय प्रेरणासे आपको भरद्वाज-याज्ञवल्क्य इन दोनों महर्षियोंका दर्शन हुआ और दोनोंका संवाद सुननेको मिला। इन दोनों यात्राओंमें जो कुछ देखा-सुना था उसीको अपने शब्दोंमें उन्होंने निबद्ध किया।

जो जिस कोटिकी आत्माएँ होती हैं उनके चरित्र भी उसी कोटिके होते हैं। आर्षप्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि गोस्वामीजी आदिकवि वाल्मीकिजीके अवतार हैं, अतः वे एक विशिष्ट भगवदीय विभूति थे। उनके जीवनमें इस प्रकारकी अलौकिक घटनाओंका होना स्वाभाविक है।—और प्रायः सभी महात्मा और सिद्ध सन्तोंके चरित्रोंमें कुछ न-कुछ लोकोत्तर चमत्कार पाये जाते हैं।—जिस उद्देश्यसे उनका आविर्भाव हुआ था उसकी पूर्तिके लिये उन्हें दिव्य सूत्रोंसे अलौकिक साहाय्य मिलना कोई विचित्र बात नहीं।

नोट—३ (क) ३५ (९-१०१४) मानो तीन सूत्र हैं जिनकी व्याख्या दोहा ४७ से प्रारम्भ हुई है। (ख)—'निज मानस राखा' से कुछ महानुभाव यह भी ध्वनि निकालते हैं कि शिवजी इसका मानसी अभ्यास करते थे। मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि शिवजीने 'रामचरितमानस' नाम रखनेके बारह हजार कल्प पहले ही इस ग्रन्थको रचकर हृदयमें स्थापित किया।

गौड़जी—भगवान् शङ्करने उसकी रचना करके अपने मनमें रक्खा और जब अच्छा अवसर मिला तब पार्वतीजीसे कहा। भगवान् शङ्करने रचना कब की? पार्वतीजीसे कहनेका वह सुअवसर कब आया? यह दो प्रश्न इस चौपाईके साथ ही उठते हैं। भगवान् शङ्करने रामचरितमानसकी रचना बहुत पहले कर रक्खी थी। कभी लोमश ऋषिसे कहा था। लोमशजीने काकभुशुण्डिसे तब कहा जब उनके ही शापसे वह कौआ हुए। कौआ हो जानेपर कथा सुनकर वह उत्तराखण्डमें रहने लगे। सत्ताईस कल्प गरुड़जीको उन्होंने यही कथा सुनायी, यथा—'इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥'

इस तरह मानसकी रचनाके सत्ताईस कल्पसे बहुत अधिक समय बीतनेपर गरुड़-भुशुण्डि-संवाद हुआ। इस संवादके पीछे किसी कल्पमें स्वायम्भुव मनु और शतरूपाकी तपस्याके कारण रामावतार हुआ होगा, क्योंकि

गरुड़ भुशुण्डि-सवादम नारदमोहकी ही चर्चा है और नारदमोहवाली घटना मानसकी रचनासे भी पहलेकी है, क्योंकि भुशुण्डि इसी कथाकी चर्चा मानसकी कथा सुनानेमें करते हैं। मनुसहितामें 'जो भुसुडि मन मानसहंसा' कहकर भुशुण्डिके बादकी घटना सूचित होती है। प्रतापभानुवाली कथा भी सम्भवत उसी स्वायम्भुव मनुकी तपस्यावाले कल्पकी है, यद्यपि इस बातका स्पष्ट निर्देश नहीं है और प० धनराज शास्त्रीका मत इसके अनुकूल नहीं है। परतु इसमें तो सन्देह नहीं कि मनुवाले हेतुसे जो रामावतार हुआ था, पार्वतीको मोहित करनेवाला था, और उसीपर उनकी शङ्का हुई थी। अत पार्वतीजीने भगवान् शङ्करसे जो रामायणकी कथा सुनी वह रचनाके कम-से-कम अट्ठाईस कल्प बीत जानेपर सुनी थी। याज्ञवल्क्यजीकी कही कथा तो उसका अन्तिम सस्करण है।

नोट—४ अधिकाशका मत यही है कि प्रथम कागभुशुण्डिजीको मानस प्राप्त हुआ और कम-से-कम २७ कल्प बाद श्रीपार्वतीजीको वही सुनाया गया। किसी एक या दोका ही मत इसके विरुद्ध है पर उस मतको वे सिद्ध नहीं कर सके है। हाँ, 'मूल गुसाईंचरित' से चाहे कोई सहायता उनको मिल सके, क्योंकि उसमे 'पुनि दीन्ह भुसुंडिहि तत्त गोई' कहा है।

तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हिअँ हेरि हरषि हर॥ १२॥

अर्थ—इसलिये श्रीशिवजीने हृदयमें खूब सोच-विचारकर हर्षपूर्वक इसका सुन्दर 'रामचरितमानस' नाम रखा॥१२॥

नोट—१ 'तातें' अर्थात् रचकर अपने मानस (मन) मे रक्खा था इससे, तथा जैसे वह (मानस) सर ब्रह्माने मनसे रचा और उसमें भगवान्‌के नेत्रोंसे निकला हुआ दिव्य जल रक्खा तबसे उसका नाम मानस-सर हुआ, जो सुहावन, पावन आदि है, वैसे ही शिवजीने दिव्य श्रीरामचरित रचकर अपने मनमें रक्खा जो सुहावन, पावन इत्यादि है, इससे बर= श्रेष्ठ, उत्तम, सुन्दर। 'हेरि'—यह शब्द कैसा सार्थक है। हेरना ढूँढनेको कहते है। हृदयमें हेरकर नाम रक्खा अर्थात् बहुत विचार किया तो और कोई नाम इससे बढकर न मिला।

टिप्पणी—'गोस्वामीजीने प्रथम इस ग्रन्थका जन्म कहा, यथा—'बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा।' फिर नामकरण कहा। इससे यह सन्देह होता है कि ग्रन्थका नाम भी उन्होने रक्खा होगा। इस भ्रमके निवारणार्थ आप कहते है कि 'ग्रन्थका नाम शिवजीने रक्खा है, हमने नहीं'। रामचरितमानस जिस तरह ग्रन्थकारके हृदयमें आया उसे कुछ पूर्व कह आये—'निज गुर सन सुनी।' और कुछ मानस-प्रकरणमे कहेगे।

कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥ १३॥

अर्थ—मैं उसी सुख देनेवाली और सुहावनी (रामचरितमानस) कथाको कहता हूँ। हे सज्जनो! आदरपूर्वक मन लगाकर सुनिये॥ १३॥

नोट—१ 'गोस्वामीजीने यहाँ तीन सवादोका बीज बोया है। वही अब क्रमसे कहते है। पहिले श्रोता वक्ताओंके नाम कहे, फिर उनके सवादके स्थान कहे'। इस चौपाईमें गोस्वामीजीके श्रोता और उनका सवाद-स्थान सूचित किया गया है। इस तरह चार सवाद इस ग्रन्थमे हैं।

२ 'सादर', यथा—'हेतुवादरतो मूर्खः स्त्रीजित कृपणः शठ.। अहयुक्क्रोधनोऽसाधु श्रोता न स्याद्वरानने॥ इति गौरीसम्मोहनतन्त्रे।'—(प० रा० कु०)। अर्थात् हे वरानने! जो भौतिक सुखोपायमे लगे रहते है, मूर्ख है, स्त्रीवश रहते, सूम हैं, शठ हैं, अभिमानी हैं, क्रोधी हैं और असाधु हैं वे श्रोता नहीं है।

३ 'मन लाई', यथा—'लोकचिन्ता धनागारपुत्रचिन्तां व्युदस्य च। कथाचित्त. शुद्धमति. स लभेत्फल-मुत्तमम्॥ इति पाद्मे।' (प० रा० कु०) अर्थात् जो लोक (मानापमान), धन, घर, स्त्री, पुत्रादिकी चिन्ता त्यागकर दत्तचित्त हो और शुद्ध बुद्धिसे (तर्क-वितर्क छोड़कर) श्रद्धा-भक्तिसे कथा सुनता है वही यथार्थ रीतिसे उत्तम फलको पाता है।

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीविरचित चारों संवादोंके वक्ता-श्रोता और उनके संवाद-स्थान

वक्ता-श्रोता	संवाद-स्थान
१—श्रीशिवजी, श्रीपार्वतीजी,	कैलाश। यथा—'परम रम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥ ।१।१०५-१०६।'
२—श्रीकागभुशुण्डिजी, श्रीगरुड़जी,	नीलगिरि। यथा—'उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला॥' गयउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी। ७।६२-६३।'
३—श्रीयाज्ञवल्क्यमुनि, श्रीभरद्वाजजी,	प्रयाग। यथा—'भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। जिन्हहिं रामपद अति अनुरागा॥' माघ मकरगत रबि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई॥'' जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥ बा० ४४-४५।'
४—श्रीगोस्वामीजी, सज्जन। यथा 'होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥' सुनहु सकल सज्जन सुखु मानी (३०)	श्रीअयोध्याजी। यथा—'सब बिधि पुरी मनोहर जानी।'' बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥'

☞ सुजन समाज सर्वत्र है—'संत समाज प्रयाग', 'जिमि जग जंगम तीरथराजू'। इसलिये दासकी समझमें इस संवादका स्थान सर्वत्र है। जहाँ भी इसे सज्जन पढ़ें-सुनें। श्रीमहाराज हरिहरप्रसादजीके मतानुसार गोस्वामीजीका संवाद अपने मनसे है, क्योंकि जहाँ तहाँ ग्रन्थमें मनको उपदेश देना पाया जाता है।

नोट—८ 'सुखद' शब्द देकर सूचित करते हैं कि जो इसको सुननेमें सुख मानेंगे वे इसके अधिकारी हैं।

कथाका 'अथ' अर्थात् तदन्तर्गत श्रीअयोध्या-धामका स्वरूप तथा श्रीरामचरितमानसका अवतार जन्म-तिथि इत्यादि और फलवर्णन यहाँ समाप्त हुआ।

(मानस-प्रकरण)

दो०—जस मानस जेहिं बिधि भएउ जग प्रचार जेहिं हेतु।
अब सोइ कहौं प्रसंग सब सुमिरि उमा बृषकेतु॥ ३५॥

शब्दार्थ—बृषकेतु—बृष=बैल, नादिया, साँड़। केतु=ध्वजा, पताका। बृषकेतु=नादिया है ध्वजा जिनका=महादेवजी। 'बृष' का अर्थ 'चारों चरणसे पूर्ण धर्म भी' किया जाता है, इस तरह 'बृषकेतु'=जो धर्मकी ध्वजा ही हैं। वा जिनके केतुपर चतु पाद धर्म विराजमान है ऐसे सकल धर्मोंके उपदेश करनेवाले श्रीशिवजी। (रा० प्र०)।

अर्थ—१ मानस (का) जैसा (स्वरूप) है, जिस तरह मानस बना और जिस कारणसे जगत्‌में इसका प्रचार हुआ, वही सब प्रसङ्ग अब श्रीपार्वती-महादेवजीका स्मरण करके कहता हूँ॥ ३५॥

अर्थ—२ 'जैसा मानसका स्वरूप है, जिस प्रकार और जिस लिये जगमें उसका प्रचार हुआ।' (मा० त० वि०)।

अर्थ—३ 'जिस प्रकार मानस-यश प्रकट हुआ और जिस कारण जगमें उसका प्रचार हुआ सो सब प्रसङ्ग अब मैं कहता हूँ।' (अर्थात् 'जैसे श्रीमन्नारायणने करुणाजल ब्रह्माको दिया, जो मानससरमें स्थित हुआ, वैसे ही

शिवजीने यशरूपी जल पार्वतीजीको दिया जो इस मानसमें पूरित है।' इस अर्थमें 'जस' का अर्थ 'यश' किया गया है) (मा० म०)।

श्रीमन्नारायणसे रूपक मेरी समझमें यों घटेगा कि—श्रीमन्नारायण भगवान् शिव हैं। वहाँ भगवान्के नेत्रसे जल, यहाँ शिवजीके मानसमें रामयश। वहाँ करुणाद्वारा नेत्रसे जल निकला, यहाँ शिवजीकी कृपाद्वारा मुखसे रामयश-जल प्रकट हुआ, यथा—'बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा'। वहाँ ब्रह्माजीने अञ्जलिमें लिया, यहाँ पार्वतीजीने श्रवणपुटद्वारा (रामयशको) पान किया। वहाँ ब्रह्माजीने जलको मानसी सरोवरमें रक्खा, यहाँ उमा-महेश्वरकी कृपासे रामयश-जल तुलसी-मानसमें स्थित हुआ।—[मा० मा० का मत है कि नेत्रोंसे निकला हुआ करुणाजल ब्रह्माजीके करकमलोंपर होकर कैलासपर सुशोभित हुआ और वहाँ पार्वतीजीके कर्णमें प्राप्त होकर और वेदोंद्वारा गोस्वामीजीके हृदयमानसमें आया]—वहाँ मानससे वसिष्ठजी लाये, यहाँ 'संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥' 'भयउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेमप्रमोद प्रबाहू॥ चली सुभग कबिता सरिता सी।' अर्थात् गोस्वामीजीकी विमल बुद्धिद्वारा काव्यरूपमें रामचरितमानस प्रकट हुआ। वहाँ श्रीसरयूजी अयोध्याजीके लिये आयीं, यहाँ कीर्ति-सरयू सन्त-समाजरूपी अनुपम अवधमें अवधके लिये आयीं।

नोट—१ (क) दोहेमें 'जस मानस' अर्थात् मानसके स्वरूपके कथनकी प्रतिज्ञा प्रथम की, तब 'जेहि बिधि भयउ' की—परंतु वर्णनमें 'जेहि बिधि भयउ' अर्थात् बननेकी विधि प्रथम कही गयी, स्वरूप पीछे कहा गया। कारण कि 'स्वरूपप्रदान ही बनना है। बनना समाप्त होते ही स्वरूप पूरा हो जाता है, अतः बननेकी विधि पहले कही। बन चुकनेके पश्चात् स्वरूपपर ही दृष्टि प्रथम जाती है, उसके बाद बननेकी विधिपर ध्यान जाता है, अतः प्रतिज्ञामें स्वरूपवर्णन प्रथम कहा, तत्पश्चात् 'जेहिं बिधि भयउ' का उल्लेख किया।' (मानसप्रसङ्ग)।

(ख) गोस्वामीजीने मानसके आदिमें तीन प्रतिज्ञाएँ कीं—'जस मानस,' 'जेहि बिधि भयउ' और 'जग प्रचार जेहिं हेतु'। ये बातें छन्दहेतु क्रम तोड़कर कही गयीं। कथनका क्रम यह है—प्रथम 'जेहिं बिधि भयउ' यह 'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। ३६। ३।' से 'सुखद सीत रुचि चारु चिराना। ३६। ८।' तक कहा। इसके पश्चात् 'जस मानस' अर्थात् मानसका स्वरूप 'अस मानस मानस चख चाही। ३९। ९।' तक कहा। आगे 'भयउ हृदय आनंद उछाहू। ३९। १०।' से जग-प्रचारका हेतु कहते हैं। (खर्रा)।

(ग) आरोप्यमाण मानसकी विधि पूर्व कह आये। पर आरोप्य विषयभूत सभी मानसोंके बननेकी विधि पृथक्-पृथक् है। भगवान् शङ्कर वेदस्वरूप हैं, यथा—'विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपम्।' अतः उन्होंने स्वयं रचा। भुशुण्डिजीको शिवजीने लोमशद्वारा दिया, याज्ञवल्क्यको भुशुण्डिजीसे मिला और तुलसीदासजीको गुरुद्वारा मिला। (मा० प्रसङ्ग)।

(घ) 'जग प्रचार जेहिं हेतु' इति। आरोप्यमाण मानसका प्रचार देशमें श्रीसरयूद्वारा हुआ जो उसीसे निकली हैं। उमा-शम्भु-संवाद एकान्तमें कैलासपर देववाणीमें हुआ, भुशुण्डि-गरुड़-संवाद नीलगिरिपर (जो इस वर्ष खण्डमें नहीं है) पक्षी भाषामें हुआ और याज्ञवल्क्य भरद्वाजसंवाद यद्यपि प्रयागराजमें हुआ पर माघ बीतनेपर फाल्गुनमें हुआ जब सब मुनि चले गये थे, यथा—'एक बार भरि मकर नहाए। सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए॥' अतएव उनका प्रचार अति विरल हुआ। श्रीरामचरितमानस (भाषाकविता) का प्रकाश श्रीरामनवमीके शुभ अवसरपर श्रीअयोध्याजीमें सन्तसमाजके बीचमें हिन्दी भाषामें हुआ। अतः इसका प्रचार सन्तानरूपसे हिन्दी-संसारमें हुआ और परम्परासे समुद्रतक चला गया। (वि० त्रि०)। जिस प्रकार जगत्में उसका प्रचार हुआ, यह बात 'भयउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥ १। ३९। १०।', से लेकर 'सुमिरि भवानी सबरहि कह करि कथा सुहाइ। १। ४२।' तक कही गयी है।

(ङ) 'जेहि हेतु' अर्थात् जिस कारणसे प्रचार हुआ, यह प्रसङ्ग काशिराजकी पोथी एवं रा० प० के अनुसार 'भरद्वाज जिमि प्रस्न किय जागबलिक मुनि पाइ। प्रथम मुख्य संबाद सोइ कहिहउँ हेतु बुझाइ। १। ४३।'

इत्यादिमें दरसाया है। परतु अन्य प्राचीन पोथियोंमें यह दोहा नहीं है। अतः हमारे पाठानुसार यह प्रसङ्ग 'अब रघुपतिपदपंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहौं जुगल मुनिवर्य कर मिलन सुभग संवाद॥ १। ४३।' से आरम्भ होकर 'कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी। १। ११२।' या 'तदपि असका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई। १। ११३। १।' तक है।

नोट—२ (क) 'अब' अर्थात् श्रीशिवजीकी रचनाका नामकरण, माहात्म्य और परम्परा कहकर अब 'सोई' अर्थात् जिसकी पूर्वार्धमें प्रतिज्ञा कर चुके हैं वही सब। (ख) 'सुमिरि उमावृषकेतु' इति।—यहाँ श्रीशिव-पार्वती दोनोंका स्मरण किया। महानुभाव ऐसा करनेके अनेक भाव कहते हैं। एक यह कि दोनोंकी प्रसन्नता पा चुके हैं, यथा—'सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। १। १५।' दूसरे शिवजी रामतत्त्वके मुख्य वेत्ता हैं और श्रीपार्वतीजी आपकी अर्द्धाङ्गिनी हैं। तीसरे उमा पद शब्दग्राही है और शिव-पद अर्थग्राही है। ऐसा वाराहपुराणमें कहा गया है, जैसे शब्द, अर्थ मिले हैं, वैसे ही उमा-शिव एक ही हैं। यथा—'शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा। अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखर ॥' (प० रा० कु०)। अर्थात् शिवजीकी वल्लभा पार्वतीजी अशेष शब्दसमूहको धारण करती हैं और सुन्दर बालेन्दुको धारण करनेवाले शिवजी सकल अर्थको। चौथे शिवजीने मानसकी रचना की और पार्वतीजीने उसे लोकहितके लिये प्रकट कराया। जैसा कहा है—'तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥ पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥ तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥ बा० ११२।' पाँचवें यह कि ये मुख्य वक्ता-श्रोता हैं। (शुकदेवलाल)। (ग) 'वृषकेतु' शब्द देकर जनाते हैं कि इनकी कृपासे यह ग्रन्थ भी धर्मका पोषक होगा। शिवजीका स्मरण करके जनाते हैं कि आप मानसके आचार्य हैं, अतः आप मानसके कथनमें तत्पर होकर मुझे पार लगावें और वक्ताओंको विश्वास और कथन तथा समझनेकी बुद्धि दें। श्रीउमाजीसे माँगते हैं कि श्रोताओंपर कृपा करके उनको कथा श्रवणमें श्रद्धा और समझनेकी बुद्धि दें। श्रीशिवजी-को विश्वासरूप और श्रीपार्वतीजीको श्रद्धारूपिणी प्रारम्भमें कह ही आये हैं। (मा० मा०)। (घ)—उमाके प्रसादसे वृषकेतुकी कृपा हुई, अतः पहले उमाका स्मरण किया और वृषकेतुकी कृपासे सुमतिका उल्लास हुआ। अथवा उमा सुमतिरूपा हैं, यथा—'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता' और शिवजी बुद्धिके प्रेरक हैं, यथा—'तुम्ह प्रेरक सबके हृदय, सो मति रामहि देहु॥ २। ४४।' और सुमति भूमिकामें ही रामचरितमानसकी रचना हुई। अतः उमावृषकेतुका स्मरण प्रसंग-कथनके प्रारम्भमें करते हैं। अथवा अभेद दृष्टिसे शक्ति-शक्तिमान्‌का साथ ही स्मरण करते हैं जिसमें यथार्थ वर्णनकी शक्ति हो, यथा—'तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु' (वि० त्रि०)।

☞ यहाँसे लेकर दोहा ४३ तक आठ दोहोंमें 'मानस प्रसंग' है।

संभु प्रसाद सुमति हिँयँ हुलसी। राम चरित मानस कबि तुलसी॥ १॥

अर्थ—श्रीशिवजीकी प्रसन्नतासे हृदयमें सुमतिका उदय हुआ। जिससे मैं तुलसीदास रामचरितमानसका कवि हुआ॥ १॥

नोट—१ श्रीशुकदेवलालजी उत्तरार्द्धका अर्थ यों करते हैं कि 'नहीं तो कहाँ रामचरितमानस और कहाँ मैं तुलसीदास लघुमतिवाला उसका कवि।'

टिप्पणी—१ 'संभुप्रसाद सुमति हियँ हुलसी' इति। (क)—संस्कृत रामचरितके कवि शिवजी हैं, उनके प्रसादसे भाषा रामचरितमानसके कवि 'तुलसी' हैं। (ख)—आपने पूर्व चराचरमात्रसे 'मति' माँगी है, यथा—'आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥ जानि कृपाकर किंकर मोहू।··· निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं'॥ १। ८।' पुनः, कवियोंसे और श्रीजानकीजीसे भी इसीकी प्रार्थना की है। यथा—'करहु अनुग्रह अस जिय जानी। ·', 'ताके जुग पद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं॥ १। १८।' इन सबोंकी कृपा शिवजीके द्वारा प्रकट हुई, उसीका यहाँ वर्णन है। शम्भुप्रसादके प्रमाणमें 'सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। १। १५।' यह चौपाई है। (ग)—पूर्व कह चुके हैं कि—'लघु मति मोरि चरित अवगाहा। 'मन मति रंक मनोरथ राऊ॥ मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। १। ८।' वही लघु रंक और अति

नीच मति अब उनके प्रसादसे 'सुमति' (सुन्दर मति) होकर हुलसी। (शम्भुके प्रसादसे अव्याहत गति होती है, यथा—'अव्याहत गति संभु प्रसादा')। (घ) 'सुमति हिय हुलसी' इति। यथा—'प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः। प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्। भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्यादि॥' इति वाग्भट्टालङ्कारे। शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं चैव धारणम्। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥' इति कामन्दके। अर्थात् उत्तरोत्तर वृद्धि पानेवाली प्रतिभाका नाम प्रज्ञा है। अतः प्रज्ञाका कारण प्रतिभा है और व्युत्पत्ति उसका भूषण है। अभ्यास करनेसे उसका बारंबार उदय होता है। सुननेकी इच्छा, सुननेकी शक्ति, ग्रहणकी इच्छा, धारणकी शक्ति, ऊह (तर्क), अपोह (मीमांसा वा विचार), अर्थज्ञान और तत्त्व (तात्पर्य) ज्ञान—ये आठ बुद्धिके गुण हैं।—(और भी किसीका वाक्य है कि—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषा बुद्धिस्तात्कालिकी मता। मतिरागामिनी ज्ञेया प्रतिभा संस्कृता तु या॥' अर्थात् उत्तरोत्तर नये-नये रूपसे वृद्धि पानेवाली विचारशक्ति 'प्रज्ञा' कही जाती है। समय पड़नेपर तुरंत प्रस्फुटित होनेवाली विचारशक्तिकी बुद्धि संज्ञा है। भविष्यके हिताहित सोचनेवाली विचारशक्तिका नाम 'मति' है। और तीनोंके सुमार्जित रूपको प्रतिभा कहा गया है)।—[मेरी समझमें इन श्लोकोंके देनेका भाव यह है कि यहाँ 'सुमति' से 'प्रतिभा' का अर्थ समझना चाहिये]।

वि० त्रि०—१ मति दो प्रकारकी है। एक सुमति, दूसरी कुमति। यथा—'सुमति कुमति सब के उर रहई। नाथ पुरान निगम अस कहई॥ जहाँ सुमति तहँ संपति नाना।' सुमतिकी अव्याहत गति होती है। वह प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्ध, मोक्षको यथावत् जानती है, यथा—'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ गीता १८। ३०।' इसका उदाहरण यही मानस-प्रसङ्ग है। कुमतिके दो भेद हैं, राजसी और तामसी। राजसीमें कार्याकार्य और धर्माधर्मका यथार्थ ज्ञान नहीं रहता और तामसीमें विपरीत ज्ञान होता है। तामस बुद्धिवाला अधर्मको ही धर्म मान बैठता है। कुमतिका उदाहरण अयोध्याकाण्डमें है। शम्भुके प्रसादसे रजोगुण और तमोगुणको पराभूत करके सात्त्विकी बुद्धि उल्लसित हुई। ['हुलसी' शब्द इस बातको जनाता है कि पहले 'मति' नीची थी। पूर्व ग्रन्थकार अपनी मतिका कदराना-सकुचाना भी कह आये हैं, यथा—'मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। १। ८।' 'करत कथा मन अति कदराई। १। १२।']

२—'रामचरितमानस' का भाव कि यह अपार है, इसको कहनेमें शारदा, शम्भु, ब्रह्मा और वेदादि भी असमर्थ हैं, भगवान् शङ्कर इसके आदिकवि हैं सो उन्होंने भी मति अनुसार कहा है, यथा—'मैं सब कही मोरि मति जथा।' ऐसे रामचरितमानसका कवि शम्भुप्रसादसे मैं हो गया, निर्मल मति होनेसे ही ऐसी कविता होती है।

नोट—२ सूर्यप्रसादजी लिखते हैं कि 'शम्भुकी प्रसन्नता न होती तो इनके हृदयमें सुमतिका हुल्लास याने उमङ्ग न आता।' ग्रन्थकारका आशय यह है कि वास्तवमें मैं कुछ भी नहीं हूँ, मुझे 'कवि' कहना ही झूठ है। ग्रन्थकारने सर्वथा अपने अहङ्कारका त्याग ही किया।' मा० त० वि० का मत है कि यहाँ कवि-पद अपनी ओर हास्ययुक्त ही नीचानुसन्धानसे है। देखिये, इस प्रसादके पहले गोस्वामीजीने अपनेको कवि नहीं कहा, यथा—'कवि न होउँ नहिं'। १। ९।' और अब यहाँसे प्रसन्नता हो जानेपर वे अपनेको कवि कहते हैं। यथा—'रामचरितमानस कवि तुलसी। १। ३६।', 'सुमिरि भवानी संकरहि कह कबि कथा सुहाइ। १। ४३।', 'सुकबि लखन मन की गति भनई। २। २४०।', 'कबिकुल कानि मानि सकुचानी। २। ३०३।', 'सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू। २। ३१८।', 'कुकबि कहाइ अजसु को लेई। १। २४८।'

नोट—३ 'कबि तुलसी' इति। पूर्व ९ (८) और १२ (९) में कहा है कि 'कबि न होउँ' और यहाँ और आगे भी अपनेको कवि कहते हैं। इसीसे चौपाईके पूर्वार्द्धमें 'संभु-प्रसाद' पद देकर पहिले ही इस विरोधका निवारण कर दिया है। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'जैसे धनी पुरुषकी प्रसन्नतासे निर्धन भी धनी कहलाता है, वैसे ही शिवजी श्रीरामचरितके धनी हैं, उनकी प्रसन्नतासे मैं जो काव्यधनहीन हूँ वह भी कवि हो गया।'

विनायकी-टीकाकार इस विरोधका समाधान यों करते हैं कि 'यहाँ और आगे 'कहउ कवि कथा सुहाइ' में 'कवि' शब्दका यथार्थ अभिप्राय ग्रन्थ बनानेवालेसे है, कविके सम्पूर्ण गुणोंसे परिपूर्ण होनेका दावा करनेका नहीं है। इसके सिवा दोनों अन्तिम स्थानोंमें महादेव पार्वतीजीके प्रसादसे अपनेको कवि अर्थात् रचयिता कहा है। जबतक उनकी कृपाका विश्वास उनके चित्तमें नहीं आया था तबतक अपनेको कवि कहनेके योग्य उन्होंने नहीं समझा। जैसा अरण्यकाण्डमें सुतीक्ष्ण मुनिने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा था कि 'मैं बर कबहुँ न जाँचा।' श्रीरामचन्द्रजीके प्रसादसे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ तब कहने लगे कि 'प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥'

मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि 'संभु-प्रसाद' पदसे उस घटनाको ग्रन्थकार सूचित करते हैं कि जिसमें शिवजी-ने परमहंसस्वरूपमें प्रकट होकर गोस्वामीजीका संस्कृतभाषामें रचा हुआ रामचरितमानस देखनेके बहाने ले जाकर लुप्त कर दिया था और फिर स्वप्नमें इन्हें आज्ञा दी थी कि हिन्दीभाषामें इस ग्रन्थको रचो। यह प्रसाद पाकर हृदयमें आह्लाद बढ़ा, तब आप ग्रन्थारम्भमें प्रवृत्त हुए।—(इस घटनाका उल्लेख मं० श्लोक ७ तथा दोहा १५ में और अन्यत्र भी किया जा चुका है)।

करइ मनोहर मति अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी॥ २॥

शब्दार्थ—सुचित=ध्यान देकर, सावधान होकर। सुन्दर शुद्ध चित्तसे।

अर्थ—अपनी बुद्धिके अनुसार (तुलसी) इसे मनोहर ही बनाता है। सज्जनो! सुन्दर चित्तसे सुनकर आप इसे सुधार लें॥ २॥

नोट—१ मानसमयङ्ककार और करुणासिन्धुजी इसका एक भाव यह लिखते हैं कि 'सुन्दर चित्तमें धारण कर लीजिये।' अर्थात् 'लेहु सुधारी'=अच्छी तरहसे धारण कर लो।

२ 'मनोहर मति अनुहारी' इति। (क) शिव-कृपासे मति सुन्दर हो गयी है। इसलिये इस सुमतिके अनुहरित कथाप्रबन्ध रचनेसे वह 'मनोहर' अवश्य होगी। (प० रा० कु०)। पुन, 'मनोहर' अर्थात् काव्यालङ्कार-युक्त, वा जिस रस और भावके जो भक्त हैं उनको वही भाव इसमें झलकेगा। (मा० त० वि०)। (ख)—श्रीकरुणासिन्धुजी, श्रीजानकीशरणजी, श्रीबैजनाथजी और श्रीमहाराज हरिहरप्रसादजी 'मनोहर' को रामचरितमानसका विशेषण मानते हैं। इस भावसे कि वह तो स्वयं मनोहर है, किसीके रचनेसे मनोहर नहीं हो सकता। (ग) 'मति अनुहारी' इति। सुमति पानेपर भी 'मति अनुहारी' ही बनाना कहते हैं, क्योंकि मनुष्य कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, चूकना उसका स्वभाव है—'To err is human', अचूक तो एक परमेश्वर ही है। (घ) वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'शब्द और अर्थको कविता सरस्वतीका देह माना गया है, रीतिको अवयवसंस्थान, माधुर्यादिको गुण और दुःश्रवादिको दोष माना गया है। उपमादिको अलङ्कार कहा गया है और रस आत्मारूपसे वर्णित है। श्रीगोस्वामीजीका मत है कि इतना होनेपर भी कविता सरस्वतीको साड़ी चाहिये, जिसके बिना सब सुन्दरता, अलङ्कार तथा स्वयं जीवन भी मिट्टी है। यथा—'भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥' से 'मधुकर सरिस संत गुन ग्राही' तक। बिना भगवन्नाम-की साड़ी पहनाये सरस्वती दर्शनीया नहीं होती। गोस्वामीजीका अभिप्राय है कि मैं अपनी कविताका यथेष्ट शृङ्गार तो न कर सका पर मैंने उसे साड़ी तो पहना रक्खा है। अतः मेरी कविता-सरस्वती दर्शनीया है। 'मति अनुहारी' में भाव यह है कि साहित्यके ग्रन्थोंमें कहीं साड़ी पहनानेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी और न कहीं उसका उल्लेख है और मेरी समझमें साड़ीकी अनिवार्य आवश्यकता है। अन्य साहित्यसेवियोंके साथ ऐकमत्य न होनेसे 'मति अनुहारी' कहा।

३ 'सुजन सुचित' इति। (क) सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'कहींसे टूटने न पावे और नीचा-ऊँचा भी न हो, क्योंकि ऐसा होनेसे भक्त लोगोंको स्नान करनेमें कठिनता पड़ेगी' इसलिये ग्रन्थकार सज्जनोंसे प्रार्थना करता है कि आप लोग सुचित (सुन्दर 'चिति' चउतरे इत्यादिके मूल) अर्थात् कारीगर हैं। इसे सुधार

लेना।'—(परन्तु यह अर्थ क्लिष्ट कल्पना है)। (ख)—यह गोस्वामीजीका कार्पण्य है। जो बड़े होते हैं वे सदा औरोंको बड़ा मानते हैं और अपनेको छोटा, यह शिष्टाचार है। (मा० प्र०)। (ग)—इसके श्रोता सज्जन ही हैं, अतः उन्हींसे सुनने और सुधारनेको कहते हैं। सुन्दर चित्तसे अर्थात् प्रेमसे सुख मानकर। दुर्जनसे सुनने सुधारनेको नहीं कहते, क्योंकि वे सुनेंगे ही कब? वे तो परिहास करेंगे, यथा—'खल करिहहिं उपहास'। उपहास करनेवाले सुधारनेमें असमर्थ होते हैं। (वि० त्रि०)। (घ) सुधारनेका अर्थ यह नहीं है कि पाठ बदल दें, क्षेपक मिला दें, अपना मत पोषण करनेके लिये प्रसङ्गको क्षेपक कहकर निकाल दें, इत्यादि। ये सब बिगाड़नेवाले हैं। यहाँ 'सुधारने' का तात्पर्य है कि दुःख दोष दूर करके निर्मल यश दें। यथा—'काल सुभाउ करम बरिआईं। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाईं॥ सो सुधारि हरि जन जिमि लेहीं। दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं॥' (वि० त्रि०)। (ङ) मिलान कीजिये—कीर्तिमलापकाव्यके, यथा—'जन्मदीयमुखनिर्गतमेतद्वर्णनं पदपदार्थविहीनं वापि चेद् भवति तद्बुधवृन्दैः शोधनीयमिदमत्र न दोषः।' अर्थात् मेरे मुखसे जो वर्णन निकलता है वह यदि पद-पदार्थ-रहित भी होगा तो भी कुछ हानि नहीं, क्योंकि पण्डित लोग तो परिशोधन कर ही लेंगे।

४ रामायणपरिचर्याकार लिखते हैं कि 'गोस्वामीजीने प्रथम शंकर-प्रसादका आलम्बन किया, अब यहाँ सुजन जनोंका आलम्बन करते हैं।' सूर्यप्रसादमिश्रजी भी लिखते हैं कि 'यहाँ दो बातोंका निरूपण किया है। वह यह कि सुजन सावधान होकर सुनें फिर जो भूल-चूक उसमें रह गयी हो उसे सुधार लें। इस प्रकार ग्रन्थकारने भीतर-बाहर दानाका अवलम्बन किया। भीतर शम्भुप्रसाद, बाहर सुजनप्रसाद। सुजन ही सावधान होकर सुनते हैं, दुर्जन नहीं। इसलिये सुजनोंसे ही सुधारनेकी प्रार्थना की है।'

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥ ३॥

शब्दार्थ—'भूमि=पृथ्वी। तालाबके चारों ओर ऊँची धरती होती है जिसपरसे बरसाती जल बहकर तालाबमें जाता है, भूमिसे यहाँ उसीका तात्पर्य है। 'थल=थाल्हा=तालाबके भीतर गहराईमें जो जमीन होती है, जिसपर पानी पहुँचकर ठहरता है। यथा—'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥ उ० ११९।'=कुण्डल—(करु०)। उदधि=समुद्र।

अर्थ—सुमति भूमि है, अगाध हृदय ही गहरा थल है। वेद-पुराण समुद्र हैं और साधु मेघ हैं॥ ३॥

नोट—१ कुछ महानुभाव 'भूमि-थल' को एक मानकर यों अर्थ करते हैं कि 'सुमति भूमितल है और हृदय गहराई है।'

नोट—२ जिस प्रकार यह मानस ग्रन्थकारके हृदयमें उत्पन्न हुआ सो कहते हैं। (मा० प्र०)।

☞ यहाँसे रामचरितमानसका रूपक मानससरमें बाँधकर तुल्यप्रधानरूप रूपकालङ्कारमें मानसका स्वरूप कहना प्रारम्भ करते हैं।

☞ 'रूपक क्या है' यह जान लेना यहाँ आवश्यक है। पूर्णोपमालङ्कारमेंसे वाचक और धर्मको मिटाकर उपमेय-पर ही उपमानका आरोप करे अर्थात् उपमेय और उपमानको एक ही मान ले, यही 'रूपक' अलङ्कार है। इसके प्रथम दो भेद—'तद्रूप' और 'अभेद' हैं। फिर प्रत्येकके तीन-तीन प्रकार 'अधिक', 'हीन' और 'सम' होते हैं। अर्थ-निर्णय, न्याय-शास्त्र और व्याकरणके अनुसार तो रूपकके यही छः भेद हैं। परन्तु वर्णनप्रणालीके अनुसार इन्हीं सब रूपकोंके केवल तीन प्रकार कहे जा सकते हैं। अर्थात् १ साङ्ग, २ निरङ्ग, और ३ परम्परित। इनमेंसे 'साङ्गरूपक' वह कहलाता है, जिसमें कवि उपमानके समस्त अङ्गोंका आरोप उपमेयमें करता है।—यहाँ साङ्गरूपक है। इसी तरह लङ्काकाण्डमें 'विजय-रथ' का रूपक, उत्तरकाण्डमें 'ज्ञान-दीपक' और 'मानसरोग' का साङ्गरूपक है। 'समस्त' का आशय यह नहीं है कि जितने भी अंग होते हैं वे सब दिये जायँ। तात्पर्य केवल इतना है कि उपमेयके जिस अङ्गका उल्लेख किया हो, उसके साथ उसके उपमानका भी उल्लेख किया गया हो। यदि किसी एकका उपमान देनेसे रह जाय तो वह साङ्ग-रूपक 'समस्त वस्तुविषयक' न होकर 'एकदेशविवर्ती रूपक' कहा जायगा। जैसे कि—'नाम पाहरू रात दिन ध्यान

तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥ ५। ३०।' में नाम, ध्यान और लोचनका रूपक पहरू, कपाट और यन्त्रसे किया गया, परंतु प्राणका रूपक जो कैदीसे होना चाहिये था वह नहीं किया गया। अतः यह 'एकदेशविवर्ती साङ्गरूपक' हुआ। यदि प्राणका रूपक कैदीका भी उल्लेख इसमें होता तो यह भी 'समस्तवस्तुविषयक साङ्गरूपक, हो जाता। प्रमाण यथा—'रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे। तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा॥ २८॥ अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्॥ ३०॥ समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च। आरोप्याणामशेषाणां शब्दत्वे प्रथमं मतम्॥ ३१॥ यत्र कस्यचिदर्थत्वमेकदेशविवर्ति तत्॥ ३२॥' (साहित्यदर्पण परिच्छेद १०)।

नोट—३ 'सुमति भूमि' इति। जिस प्रकार भूमि चराचरकी योनि (उत्पत्तिस्थान) है, उसी भाँति सुमति भी गुणगणकी योनि है, इसीलिये सुमतिमें भूमिका आरोप किया। यथा—'सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल गुनगन जगजोनी॥ भरत बिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥ २। २९७।' अतः सुमति ही श्रीराम सुयश वर वारिकी धारणोपयोगी है, यथा—'रामचरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥ १। ३२।' (वि० त्रि०)। 'सुमति भूमि' का भाव कि कुमति-भूमिपर श्रीरामयशकथन (रूपी वर्षाजल) बिगड़ जाता है, जैसे गढे आदिमे जल पड़नेसे बिगड़ जाता है। (खर्रा)। 'सुमति भूमि' का विशेष रूपक इस प्रकार है—भूमिका उद्धार वराह भगवान्‌द्वारा हुआ, सुमतिका उद्धार शम्भुप्रसादद्वारा हुआ। भूमिको हिरण्याक्षने हरण किया, सुमतिको संसारने हरा। यथा—'कहँ मति मोरि निरत संसारा (वि० त्रि०)। (ख)—'थल हृदय अगाधू' इति। मानससर-की भूमिको सुमति कहकर सज्जनोंके गम्भीर हृदयको थल अर्थात् जलका आधार कहा। सुमति-भूमिवाला हृदय गम्भीर होता ही है, यथा—'कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा॥ १। ५३।' हृदयको आगे मानसमें कहा है, यथा—'भरेउ सुमानस सुथल थिराना। चौ० ९।' साधु वेदपुराणोंका सार लेकर इस मानसरूपी हृदयको भर देते हैं। (मा० प०)। अथवा 'रामयशकी इच्छा करनेवाली जो मेरी मति है वह मानसकी भूमि है, उसको धारण करनेवाले जो सज्जनोंके हृदय हैं वही अगाध सर हैं। गाम्भीर्य हृदयका लक्षण, यथा—'गूढाभिप्रायरूपत्वं कर्तव्येषु च कर्मसु। गाम्भीर्यं राम ते व्यक्तं व्यक्ताव्यक्तनिरूपकै॥' (भगवद्गुण-दर्पण, मा० प०, वै०)

शंका—'हृदय अन्तःकरणको कहते हैं। अन्तःकरण चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। इस तरह हृदय और बुद्धि तो एक ही हैं और भूमि और थल दो हुए। भूमिके रूपकमें बुद्धिको कह आये तब थलके रूपकमें बुद्धिको फिर कैसे कहा?' (मा० प्र०)

समाधान—१ 'बुद्धि' आठ प्रकारकी है। समुद्र-तटपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा है कि अङ्गद आठों बुद्धियोंसे युक्त हैं। वाल्मी० कि० सर्ग ५४ श्लोक २ की रामाभिरामी तथा शिरोमणि टीकामें इनके नाम इस प्रकार हैं—'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः।' (इसका अर्थ ३६ (१) में आ चुका है।) इनमें-से ग्रहणबुद्धि वह है जो सुनी हुई बातको कुछ कालतक याद रखती है, फिर भूल जाती है। और धारणाबुद्धि वह है जो सुनी हुई बातको ग्रहण करके धारण कर लेती है कि फिर भूल न जाय। यहाँ ग्रहण-बुद्धि भूमि है और धारण-बुद्धि गहरा थल है। (मा० प्र०)।

२—यहाँ 'हृदय' शब्द शुद्ध मनका उपलक्षण है, क्योंकि जिस हृदयको ऊपर सुमतिका आधार कह आये, उसी-को 'सुमति' का आधेय या सुमतिका एकदेश नहीं कह सकते और आगे इसके लिये मन-शब्दका प्रयोग हुआ भी है—'भरेउ सुमानस··' कुमति-भूमिकावाले मनमे रामयशके लिये गहराई नहीं रहती। यथा—'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥'

नोट—४ 'वेद पुरान उदधि' इति। (क) वेद चार हैं, अठारह पुराण हैं, उतने ही उपपुराण। इनकी उपमा समुद्रसे दी गयी है। सो समुद्र भी चार ही हैं, छोटे समुद्र, खाड़ियाँ पचासो होगी। समुद्र ही जलराशि

है। इसीका पानी नदी, नद, झील, तालाब, झरना, कुआँरूपसे ससारको मिलता है। उस पानीका एक बूँद भी नष्ट नहीं हो सकता और ससारभरका पानी समुद्रमें गिरता है। विचित्र व्यापार चल रहा है। तौलकर पानी इस भूमण्डलको मिला है। वह सदा उतना ही बना रहता है। तमाम संसारका काम उसीसे चलता है, फिर भी उसमेंसे न एक बूँद अधिक हो सके न कम। पृथ्वीके भीतर, बाहर, मीठा, खारा, निर्मल, मलीन जितना जल है, सो सब समुद्रका ही जल है। इस भाँति जो कुछ ज्ञान इस ससारमें है, उसका खजाना वेद-पुराण है। वेद-पुराणसे ही ज्ञान ससारमें फैला है। चाहे जिस रूपसे जिस देशमें, जिस प्रकार ज्ञान है, सबका मूल वेद-पुराण है। वेद-पुराणके ज्ञानमेंसे न एक बिन्दु घट सकता है, न बढ़ सकता है। चाहे रासायनिक, चाहे वैद्युत, चाहे इस लोकका, चाहे परलोकका सबका मूल वेद-पुराण है। समुद्रसे जल लेकर ससारभरमें पहुँचाना मेघका काम है। जो जल नद-नदीमें बह रहा है, जो तालाब, झील और कुओंमें एकत्रित है, वह सब इन्हींका जूठा है। इसी भाँति वेद-पुराणके ज्ञानको, जहाँ-तहाँ सारे ससारमें फैलानेवाले साधु हैं। जो कुछ ज्ञान-विज्ञान ससारमें दिखायी पड़ता है, सो सब साधुओंका दिया हुआ है और सब वेद-पुराणोंसे निकला है। आकाशसे गिरता हुआ जल, पातालसे खोदकर निकाला हुआ जल, समुद्रसे ही लाया गया है, यह बात आपाततः समझमें नहीं आती, इसी भाँति यूरप-अमेरिकाका आविष्कृत ज्ञान भी परम्परया वेदसे ही निकाला गया है, यह बात भी एकाएक मनमें नहीं आती, पर वस्तुस्थिति ऐसी ही है। (वि० त्रि०)

(ख) वेदादिको समुद्र और मेघको साधु कहनेका भाव यह है कि समुद्र एक ठौर स्थित है और उसमें अगाध जल भरा है, सबको नहीं मिल सकता, मेघ उसके जलको शुद्ध स्वरूपमें सर्वत्र पहुँचा देते हैं। इसी तरह वेद-पुराणमें सबका गम्य नहीं साधुओंके द्वारा उसका निचोड़ (सार पदार्थ) सबको मिल जाता है, क्योंकि सन्त विचरते रहते हैं और परोपकारी होते हैं। मेघ समस्त परोपकारियोंमें सार्वभौम सम्राट् माने जाते हैं। यथा—'शैलेयेषु शिलातलेषु च गिरेः शृङ्गेषु गर्तेषु च श्रीखण्डेषु विभीतकेषु च तथा पूर्णेषु रिक्तेषु च। स्निग्धेन ध्वनिनाऽखिलेऽपि जगती-चक्रे सम बर्षतो वन्दे वारिद सार्वभौम भवतो विश्वोपकारिव्रतम्॥' (सु० र० भा० ५।५९)। अर्थात् सैंधव और शिलाखण्डमें, पर्वतके शिखरों और गड्ढोंमें, चन्दनमें और भिलावेमें, परिपूर्णमें और खाली (जलरहित जगह) में इत्यादि सारे भूमण्डलमें गम्भीर मधुर ध्वनिके साथ समान रूपसे वर्षा करनेवाले हे सार्वभौम (चक्रवर्त्ती राजा) मेघ! तुम्हारे इस विश्वोपकारी व्रतकी मैं वन्दना करता हूँ।—साधुको घन कहा, क्योंकि दोनों परोपकारके साधनेवाले हैं, दोनोंकी सबोंपर समान दृष्टि रहती है यथा—'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥ ७।४७।' और साधुका अर्थ भी यही है, इसीसे 'साधु' शब्द दिया। (प० रामकुमार)।

(ग) वेद-पुराणकी उपमा समुद्रसे दी है, क्योंकि वे अखिल धर्मके मूल होनेसे काम्य धर्मके भी प्रतिपादक हैं, उनमें अर्थ कामका भी यथेष्ट मात्रामें प्रतिपादन है, अत॰ वे सबके कामके न रह गये। साधारण श्रेणीके लोग तो काम्य धर्मको ही मुख्य मान बैठेंगे। उनमें जो त्यागकी महिमा कही गयी है, उसे मुख्य न मानेंगे और यह अर्थ लगावेंगे कि यह त्याग कर्मके अनधिकारी पशुके लिये है। परतु सिद्धान्त यह है कि 'सो सब करम धरम जरि जाऊ। जहँ न रामपद पकज भाऊ॥ जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥' काम्य धर्म अर्थादि खारे जलके समान हैं। साधु इनको छोड़कर श्रीरामसुयशरूपी शुद्ध धर्म निकाल लेते हैं जो सबके कामका होता है। यथा—'जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥' से 'बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥' तक। (वि० त्रि०)। (घ) मा० प्र० और वै० के मतानुसार रूपक इस प्रकार है—किंपुरुष-खण्डमें मानससर है, श्रीरामरूप पूज्य हैं, श्रीहनुमान्‌जी पुजारी हैं। मानससरमें भूमि, थल, थलकी अगाधता। मेघ समुद्रसे मीठा जल लेकर वर्षा करते हैं। वैसे ही क्रमशः यहाँ तुलसीतन किम्पुरुष खण्ड, श्रीरामरूप पूज्य, श्रीहनुमान्‌जी पुजारी, सुमति भूमि, हृदय थल, हृदयकी गम्भीरता थलकी अगाधता, साधु मेघ, वेद-पुराण समुद्र, उपासना वा श्रीरामयश मीठा जल वेदपुराणोंसे निकालकर साधु उसकी वर्षा करते हैं। (मा० प्र०, वै०)।

शंका—'गोस्वामीजी ऐसे दिव्य तालाबका रहना अपनी बुद्धिके आश्रय कहते हैं कि जिस तड़ागमें भगवत्की लीला और महिमा आदि अनेक दिव्य गुण भरे हैं, जहाँ मन और वाणी नहीं पहुँच सकते ! यह क्या बात है' (पं० रा० कु०)

समाधान—(क) गोस्वामीजी यहाँ केवल उस पदार्थका अपने उरमें आना कहते हैं जो सतोंके मुखसे सुना है। समस्त रघुपतिमहिमा तो वेद भी नहीं जानते। अथवा, (ख)—शङ्कर-प्रसादसे सुमति प्राप्त हुई है। ऐसी दिव्य बुद्धिमें सब आ सकता है, कुछ आश्चर्य नहीं है। (पं० रा० कु०)।

शंका—गोस्वामीजीकी प्रतिज्ञा है कि शिवकृत रामचरितमानसको हम भाषामें करते हैं, किंतु यहाँ 'बेद पुरान उदधि घन साधू०' कहनेसे पाया जाता है कि सतोंसे वेद-पुराण सुनकर रामचरित कहते हैं। और पूर्व कह आये हैं कि—'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥'—यह सब कैसे बने ? (पं० रा० कु०)

समाधान—(१) ग्रन्थकार शिव-मानसकी कथामात्र कहते हैं, यथा—'कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। बा० ३५।', और सब विचित्रता और अनेक प्रसङ्ग जो कहे हैं, वे सब वेद-पुराणों और मुनियोंके ग्रन्थोंके हैं। अथवा, (२) जिस तरह वर्षा होती है उसी तरह कहते हैं। जल प्रथम सूर्यकिरणोंद्वारा सूर्यमण्डलमें जाता है, फिर क्रमसे चन्द्रमण्डल, वायुमण्डल और मेघमण्डलमें होता हुआ भूमण्डलमें आता है। १। ७ (१२) देखिये। इसी तरह रामयश प्रथम वेद-पुराणसे शिवजीके उरमें आया, यथा—'बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि। १। १०९।' क्रमशः भुशुण्डिजी, याज्ञवल्क्यजी, श्रीगुरुमहाराज और तत्पश्चात् अनेक सज्जनोंके उरमें आया। श्रीगुरुजीके द्वारा गोस्वामीजीकी मेधामें आया। गुरुको साधु कहा है, यथा—'परम साधु परमारथ बिंदक। संभु उपासक नहिं हरि निंदक॥ ७। १०५।' (पं० रा० कु०)।

(३) 'सुने गुरू ते बीच शर संत बीच मन जान। परगट सतहत्तर परे ताते कहे बिरान॥' (मा० म०)। अर्थात् पाँच वर्षके लगभग गुरुसे कई आवृत्ति पढ़ीं और फिर सतोंसे लगभग 'मन' (=४०) वर्ष तक सुना। सतहत्तर वर्षकी अवस्था होनेके पश्चात् मानस-कथा प्रकाशित हुई। इससे यह भाव निकला कि संतोंसे जो सुना वह वेद-पुराणादि समुद्रसे निकला हुआ श्रीरामयश जल है जो शिवदत्त मानस-जलमें आकर मिला। (मा० म०)।

बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥ ४॥

अर्थ—(साधुरूपी मेघ) राम-सुयशरूपी उत्तम मीठे, मनोहर और मङ्गलकारी जलकी वर्षा करते हैं॥ ४॥

नोट—१ जैसे मेघ समुद्रसे जल खींचकर पृथ्वीपर बरसते हैं जो पृथ्वीपर बहता हुआ मानससरके गहरे थलमें जाकर जमा होता है, वैसे ही साधु वेदों-पुराणोंमेंसे रामसुयश निकालकर सुमतिवान्को सुनाते हैं जो उसे हृदयमें धारण कर लेते हैं।

२ 'बरषहिं' इति। समुद्रका जल तटवासियोंको ही सुलभ है, सबको नहीं, कितने ही लोग ऐसे हैं जिन्हें जन्मभर समुद्रका दर्शन भी नहीं हुआ। इसी भाँति अधिकारीका ही वेद-पुराणोंमें प्रवेश है, शेष जगत्ने तो वेद-पुराणका नाम-मात्र सुन रक्खा है और मेघ तो ऐसी वर्षा करते हैं कि प्रान्त-का-प्रान्त जलमय हो जाता है, इसी तरह साधुलोग रामसुयशकी ऐसी वर्षा करते हैं कि देश-देश यशसे प्लावित हो उठता है, इसीसे उन्हें 'जंगम तीर्थराज' कहा गया है। ये 'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा' होनेसे सर्वोपकारी होते हैं। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—सुन्दर यश है इसीसे 'बर बारि' कहा। समुद्रमें खारा जल है, वेद-पुराणमें रामयश मधुर जल है। कर्म, उपासना और ज्ञान सब श्रीरामजीहीके यश हैं। 'मधुर मनोहर मंगलकारी' अर्थात् पीनेमें मधुर है, देखनेमें मनोहर है और इसमें मङ्गलकारी गुण हैं। जलका रोगहारी पुष्टिकारी इत्यादि होना मङ्गलकारी गुण है'। मनोहर=स्वच्छ।

मानस-पत्रिका—'जैसे मेघ जलको वर्षाकालका समय पाकर बरसता है वैसे ही सज्जन लोग राम-सुयश अर्थात् सगुण, निर्गुण दोनोंके यशको सत्सङ्ग पाकर फैलाते हैं। यहाँ ग्रन्थकारने यह विशेष दिखाया है कि

मानसरोवरका जल मेघोंके मुखसे गिरा, भूमिमें पड़ा, तदनन्तर सब गदी वस्तुओंसे मिला-जुला आता है, यहाँ तो यह बात नहीं है। 'मधुर-स्वादु' अर्थात् पीनेमें मानसरोवरका जल मीठा एव सुननेमें रामकथा माधुर्य आदि गुणविशिष्ट। मनोहर= सोहावन। कथापक्षमें, 'मनोहर'=श्रवणकटु आदि दोषरहित। मगलकारी=पापनाशक, आयुवर्द्धक। कथापक्षमें 'मगलकारी'= जीवनको सफल करनेवाली।

शुकदेवलालजी—रामसुयशका सुनना, समझना और उससे लोक-परलोक बनना यही जलका पीनेमें मधुर, देखनेमें मनोहर और रोगहारक बलप्रद इत्यादि होना है।

वि० त्रिपाठीजी—मधुर आदि कहकर समुद्रके जलको खारा, भयकर और दोपयुक्त जनाया। खारा, यथा—'लीलहिं लाँघउँ जलनिधि खारा।' भयकर, यथा—'सकुल मकर उरग झख जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती॥' दोषयुक्त, यथा—'तव रिपुनारि रुदन जल धारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा॥' कुछ विशेष अवसरोंके व्यतिरिक्त समुद्रका जलस्पर्श निषिद्ध है। इसी तरह वेद-पुराणसे सद्य-प्राप्त ज्ञान भी खारा, भयानक और दोषयुक्त-सा होता है। उदाहरण, यथा—'प्रौढ़ भए मोहि पिता पढ़ावा। समुझौं सुनौं गुनौं नहिं भावा॥' (यह खारा-सा हुआ), 'मेघनाद मख करै अपावन। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥' (यह भयानक-सा है) और 'श्रुति पुरान बहु कहे उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥' (यह दोषयुक्त-सा है)। पर यही वेद-पुराणका ज्ञान साधुमुखच्युत होनेसे मधुर, मनोहर, मगलकारी हो जाता है। यथा—'श्रवनवत अस को जग माहीं। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाहीं॥' (यह मधुरता), 'सावधान मन करि पुनि सकर। लागे कहन कथा अति सुदर॥' (यह मनोहरता) और 'मगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथकी' (यह मगलकारित्वगुण है)।

नोट—३ 'मधुर मनोहर मगलकारी' गुण जो यहाँ कहे है वे पृथ्वीपर पड़नेके पहिले जलमें होते ह। भूमिपर पड़नेसे जलमें ये गुण नहीं रह जाते।

प० रामकुमारजी —'वेद-पुराण श्रीरामजीके यश गाते हैं, यथा—'बदउँ चारिउ वेद, भवसागर बोहित सरिस। जिन्हहिं न सपनेहु खेद, बरनत रघुबर बिसद जस॥ १। १४।', 'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहुँ जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥ उ० १३।' वेद सब कुछ कहते हैं। रहा उनका सिद्धान्त सो रामयश ही हैं, यथा—'बदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि। बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि॥ १। १००।'

नोट—४ मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि इस चौपाईमें ध्वनि यह है कि 'गुसाईंजीकी अगाध बुद्धिके अभ्यन्तर पहिले ही यशरूपी जल भरा हुआ था और वेद-पुराणादि सिंधुसे सतरूपी मेघद्वारा यशको पाकर परिपूर्ण हुआ जो आगे कहा है।'

श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि रामसुयशको 'मधुर मनोहर मंगलकारी' कहकर सूचित किया कि वेद-पुराणरूपी समुद्रका साधारण जल खारा है, देखनेमें अच्छा नहीं और उसके पी लेनेसे रोग पैदा हो जाते हैं।

शका—समुद्रका जल तो खारा होता है, वेद-पुराणमे खारापन कहाँ है?

समाधान—श्रीकरुणासिन्धुजी तथा श्रीजानकीदासजी इसका उत्तर यों देते हैं कि—'वेदमे कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड तीनों मिले हुए हैं। इनमेसे उपासनाकाण्ड मीठा जल है और कर्मकाण्ड खारा जल है।' समुद्रका जल ऊपरसे देखनेसे खारा ही जान पड़ता है। जो भेदी हैं वे उसमेंसे भी मीठा जल भापद्वारा निकाल लेते हैं। यदि उसमें मीठा जल मिला न होता तो उसमेंसे ऐसा जल कैसे निकलता! मेघ सूर्यकिरणोंकी सहायतासे मीठा जल खींच लेते हैं, सबमें यह शक्ति नहीं होती। वैसे ही वेदों-पुराणोंमेंसे सतलोग अपने शुद्ध बोधसे मनन-निदिध्यासन करके श्रीराम-सुयश निकाल लेते हैं। जो ऊपरसे देखनेवाले हैं उनको केवल कर्मरूपी खारा ही जल हाथ लगता है। [जो कर्म और ज्ञान भगवत्-सम्बन्धी हैं, वे उपासनाहीके अङ्ग हैं, वे खारी नहीं है, यथा—'सो सुख कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न रामपद पंकज भाऊ॥ जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥ अ० २९१।']

☞श्रीजानकीशरणजी भी श्रीकरुणासिंधुजी तथा श्रीजानकीदासजीसे सहमत नहीं हैं। वे लिखते हैं कि कर्मकाण्ड रामयशसे पृथक् किसी प्रसंगमें नहीं है। देखिये संत-समाज प्रयागमें प्रथम ही कर्मरूपी यमुना हैं। भरद्वाजजी कर्मकाण्डी हैं, उन्होंने भी संतसभामें कर्म वर्णन किये हैं। यथा—'भगति निरूपन करम (?) बिधि बरनहिं तत्त्व बिभाग'।' श्रीलखनलालजीका कथन निषादराज प्रति, यथा—'निज कृत करम भोग सब भ्राता।' पुनः संयम, नियम, जप-तप, योग विरागादि ये सब जलचर चारु तड़ागमें वर्णित हैं और संतसभारूपी अमराईमें फूलका वर्णन होगा। अतएव कर्मको खारापन कहना परम असम्भव है।' उनका मत है कि 'समुद्रजल खारा और अमंगल है अर्थात् पीनेमें स्वादहीन और रोगकारक है, धान आदि कृषिमें पड़े तो नोनासे कृषि बरबाद हो जाय, तथा रङ्गतमें निकम्मा है, यही अमनोहरता है। इसी तरह वेद-पुराणोंमें प्राकृत राजाओंकी कथा और पापियोंके उद्धार होनेकी कथा रामयशके साथ मिश्रित होनेसे रामयशजलमें मधुरता नहीं रहती—यही जलका खारापन है। रामचरित्र दो प्रकारका है एक मर्यादा दूसरा लीला। वेद-पुराणादिमें लीलाचरित्र विशेष करके कथन किया है, वह लीलायश परत्व भी प्राकृत राजाओंके तुल्य जहाँ-तहाँ है—यह वेदपुराणवर्ती रामयशका मटियाला रंग है। यह लीला देख-सुनके सुकृतरूपी शालि सूखता है, इससे अमंगलकारी है।'''मेघजलमें सब गुण आ जाते हैं। वैसे ही वेद-पुराणके यथार्थतत्त्वको नहीं जाननेसे उससे लाभके बदले हानि होती है। जब संत, गुरु (रूपी मेघ) बोध कराते हैं तब उससे वास्तविक बोध लाभ होता है।' जब साधुरूपी मेघ श्रीरामयशरूपी जलको खींचकर अपने उदरमें रखते तब रामयशकी तीन उत्तम गतियाँ हो जाती हैं—'मधुर मनोहर और मंगलकारी।'

श्री पं० रामकुमारजीका मत है कि—पृथ्वीके योगसे वर्षाजल अपावन और मलिन हो जाता है, परंतु यहाँ तो श्रीशंकरजीके प्रसादसे मिली हुई 'सुमति' भूमि है इसलिये यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ उपमाका एक देश लिया गया है। सु० द्विवेदी एवं सू० प्र० मिश्रका भी यही मत है। विशेष चौ० ३ के नोट ४ (ग) में वि० त्रि० जीके भाव देखिये।

प्रश्न—वर्षाके पहिले गर्मी होती है, हवा रुक जाती है। यहाँ वह गर्मी क्या है?

उत्तर—रामगुणकथनके पूर्व आह्लाद और उत्साह होना है यही गर्मी है। प्रेममें मग्न होना वायुका रुकना है, यथा—'परमानंद अमित सुख पावा। मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह॥ रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह। १। १११।', 'हिय हरषे कामारि तब'''। १। १२०।', 'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुनगाहा॥ उ० ६३।' इत्यादि।

शार्ङ्गधरके 'गुणायन्ते दोषा सुजनवदने दुर्जनमुखे गुणा दोषायन्ते तदिदमपि नो विस्मयपदम्। महामेघः क्षारं पिबति कुरुते वारि मधुरं फणी क्षीरं पीत्वा वमति गरलं दुःसहतरम्॥' इस श्लोकके अनुसार भाव यह होता है कि जैसे मेघ खारे जलको पीकर उसे मधुर बना देते हैं और सर्प दूध भी पीकर अत्यन्त दुःसह विष ही उगलता है, वैसे ही सज्जन दोषोंमेंसे गुण निकाल कर दे देते हैं, और दुर्जन गुणोंमें भी दोष ही दिखाते हैं। (सस्कृत खर्रा)।

नोट—५ चौपाई ३ और ४ का अन्वय एक साथ यों किया जाता है—'वेद पुराण अगाध उदधि, साधु घन, मनोहर मंगलकारी रामचरित बर बारि, सुमति भूमि, थल हृदय बरषहिं॥'

अर्थ—वेद-पुराण अगाध समुद्रसे ग्रहणकर साधुरूपी मेघ जो मधुर मनोहर मंगलकारी रामचरितरूप उत्तम जल मेधारूपिणी भूमिका और हृदयरूपी आशयमें बरसाते हैं।

लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करै मलहानी॥ ५॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥ ६॥

शब्दार्थ—स्वच्छता=निर्मलता। मल=मैल। करै मलहानी=मैलको दूर करती है। प्रेमभगति=प्रेमलक्षणा भक्ति, वह भक्ति जो बड़े प्रेमसे की जाय।

अर्थ—सगुण लीला जो विस्तारसे कहते हैं वही (रामसुयश जलकी) निर्मलता है जो मलको दूर करती है ॥ ५ ॥ प्रेमाभक्ति जिसका वर्णन नहीं हो सकता वह इसका मीठापन और सुशीतलता गुण है ॥ ६ ॥

नोट—१ श्रीत्रिपाठी लिखते हैं कि—(क) सगुण लीला कहनेसे ही अर्थापत्ति होती है कि निर्गुण लीला भी है। *वस्तुत. निर्गुण-सगुणमे* कोई भेद नहीं है। शुद्ध ब्रह्मको निर्गुण और मायाशबल ब्रह्मको सगुण कहते हैं—[यह अद्वैत मत है। इस मतसे ब्रह्म गुणरहित माना जाता है और यावत् गुण हैं वे सब मायाके हैं, परंतु माया स्वय जड़ है, वह चेतन ब्रह्मके आश्रयसे सब कार्य करती है, अतः परमाश्रय होनेसे उस ब्रह्मपर सगुणत्वका आरोप किया जाता है। और, विशिष्टाद्वैतमतमें ब्रह्म दिव्य गुणोंसे युक्त माना जाता है, अतः उसकी लीला होना ठीक ही है। गोस्वामीजीके मतानुसार श्रीरघुवंशभूषण 'राम' शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, यथा—'सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुलकेतु। चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु। २। ८७।' वे मायाशबल ब्रह्म नहीं हैं, यथा—'अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंदा। १। १८६।', 'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद। १९८।' इत्यादि। वे ही निर्गुण हैं, वे ही सगुण हैं और दोनोंसे परे अनुपम हैं, यथा—'अगुन सगुन गुनमंदिर सुंदर। ६। ११४ छंद।', 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपसिरोमने।' इत्यादि। गोस्वामीजी निर्गुण और सगुणमें किंचित् भी भेद नहीं मानते, यथा—'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥ अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥…। ११६। १–२।', 'जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका।' उन्होंने निर्गुण और सगुणकी व्याख्या यह की है—'एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू। १। २३४।'] सगुणके भी सामान्यतः दो भेद माने जाते हैं, एक विश्वरूप दूसरा लीला-विग्रह जो इच्छामय होनेसे विश्वरूपकी अपेक्षा सूक्ष्म है। ब्रह्म सदा आप्तकाम है, चाहे वह निर्गुणरूप हो, चाहे सगुणरूप हो। उसे किसी प्रकारका कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी दोनों रूपोंकी लीलाएँ होती हैं, निर्गुण ब्रह्म निरीह निष्क्रिय है, पर उसके सनिधानसे जड़ मायामें क्रिया उत्पन्न होती है और ससारका व्यापार चल पड़ता है, यही उसकी लीला है, सगुण ब्रह्मकी लीला दूसरे प्रकारकी है। जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है तब-तब साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंके विनाशके लिये प्रभु अवतीर्ण हो लीला करते हैं यथा—'जब-जब होइ धरम कै हानी।….' इत्यादि। जो भुशुण्डिजीने 'प्रथमहि अति अनुराग भवानी। ७। ६४। ७।' से 'पुर बरनन नृप नीति अनेका। ७। ६८। ६।' तक ८४ प्रसङ्गोंमें कहा है, वही सब कथा सगुण लीला है। ८४ लक्षयोनियोंसे छुड़ानेवाली है। (ख) 'जो कहहिं बखानी' इति। भाव यह कि निर्गुण लीला बखानकर नहीं कहते, क्योंकि उसीसे ससार फैला हुआ है। कितना भी अध्यारोप किया जाय, पर अन्तमें उसका अपवाद ही करना है, अत उसके विस्तारसे कोई प्रयोजन नहीं है। पर *सगुण लीला* विस्तारसे कही जाती है कि उसके गानसे लोग भवसागरके पार चले जायँ। तापनीय श्रुतिमें कहा है कि श्रीरामजी अपने चरितके द्वारा धर्म, नामके द्वारा ज्ञान, ध्यानद्वारा वैराग्य और पूजनद्वारा ऐश्वर्य देते हैं। लीलावर्णनमें नाम-चरित, ध्यान और पूजन सभी आ जाते हैं और कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीनों काण्डोंका फल सुलभ हो जाता है। अत सगुण लीलाका वर्णन विस्तारसे करना ही प्राप्त है। (ग) 'सोइ स्वच्छता' इति। भगवान्‌के जन्म, कर्म दिव्य हैं, उनका शरीर भी भौतिक नहीं, उनके कर्म भी अलौकिक हैं और उनसे वह लिप्त नहीं होते। वे जो कुछ करते हैं, अभिनयकी भाँति करते हैं—'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव दिखावै आपुन होइ न सोइ।'—जिस कथामें ऐसे दिव्य कर्मका निरूपण हो उसे दिव्य न कहना ही अनुचित है और जो दिव्य है वही स्वच्छ है, मनोहर है। जीव अविद्याके वश हो कर्म-फल-भोगके लिये जन्म पाता है और जन्म लेकर फिर कर्म करता है, जो उसके अनागत जन्मका कारण होता है, इसी भाँति कर्मजालमें फँसा हुआ वह दुःख पाता है। भगवान्‌का कर्म, विपाक (फल) और आशय (सस्कार) से कोई सम्पर्क नहीं रहता, यथा—'कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा। १। १३७।' भगवान् स्वतन्त्र हैं। वे जो कुछ करते हैं लोकोपकारार्थ करते हैं।

रामयशजलमें सगुणलीलाका बखान है। जलकी शोभा निर्मल (स्वच्छ) होनेमें ही है, इसी भाँति रामयशकी शोभा सगुणलीलाके बखानमें है।

२—बैजनाथजी 'लीला सगुन' का अर्थ करते हैं—'गुण सहित लीला' अर्थात् कृपा, दया, उदारता, सुशीलता और माधुरी आदि जो परम दिव्य गुण हैं उनको प्रकट कर जो लीला की है वह 'सगुण लीला' है। जैसे अहल्योद्धार-में उदारता, धनुर्भंगमें बल, परशुरामगर्वहरणमें प्रताप, पुरवासियोंमें माधुर्य, निषादसे उदारता और सुशीलता, कोल-भीलोंसे सौलभ्य, गृध्रराज और शबरीजीसे अनुकम्पा, सुग्रीव-विभीषणसे शरणपालता और करुणा, एवं राक्षसोंसे युद्धमें शौर्य-वीरता इत्यादि गुणोंसहित जो लीला विस्तारसे कहते हैं वह "स्वच्छता" है। उज्ज्वलताके छः अङ्ग हैं। 'औज्ज्वल्य जैसे चन्द्रमामें, नैर्मल्य जैसे शरद्‌में आकाश, स्वच्छत्व जैसे स्फटिक, शुद्धता जैसे गङ्गाजल, सुषमा और दीप्ति जैसे सूर्य। उदारता आदि गुणोंसहित जो लीलाका वर्णन है वह उज्ज्वलताके छः अङ्गोंमेंसे स्फटिकमणिवत् स्वच्छता गुण है।'

३—(क) 'करै मलहानी' इति। स्वच्छ जल ही मलको दूर कर सकता है, नहीं तो 'छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। ७। ४९।' जब वर्षा होती है तब संसारका मल दूर हो जाता है। पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी सब धुल जाते हैं। इसी भाँति जब श्रीरामयशकी वर्षा होती है तब सगुणलीलाके बखानसे अभ्यन्तर मल दूर हो जाता है। इस बातको सभी श्रोताओंने स्वीकार किया है। यथा—'गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित। ७। ६८।' (गरुड़जी) 'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह। ७। ५२।' (पार्वतीजी), 'जेहि मिटइ मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी। १। ४७।' (भरद्वाजजी)। गोस्वामीजीने भी वही फल कहा है। यथा—'रघुबंसभूषन-चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥ ७। १३०।' (वि० त्रि०)। (ग) 'स्वच्छता'के साथ 'करै मल हानी' पद देकर सूचित किया कि ऊपर जो 'मनोहरता' कही थी, वही स्वच्छता' है। सगुण लीलाके बखानको 'स्वच्छता' कहा, क्योंकि अवतार लेकर जो लीला प्रभुने की, उसके सुननेसे मनका विकार दूर हो जाता है, मन निर्मल हो जाता है।

मानस पत्रिका—जल और लीला दोनोंसे शारीरिक शुद्धि होती है, जलसे बाहरकी और चरितसे भीतरकी (अर्थात् मनकी) शुद्धि होती है। दूसरा भाव यह है कि वह सगुण-लीला बखान करूँगा। जिसमें निर्गुण ब्रह्मके भाव प्रति लीलामें प्रत्यक्षरूपसे दिखलायी पड़ेंगे।

४ 'करै मल हानी' इति। यह मल क्या है? जलके सम्बन्धसे मल शरीरका मैल है जो स्वच्छ जलसे दूर हो जाता है। वर्षा और भूमिके सम्बन्धसे पृथ्वीपर जल पड़ते ही भूमिकी रज आदि जो उस जलमें मिलकर जलको गदा कर देते हैं वही जलका मल है। श्रीरामसुयशसम्बन्धमें मोहसे उत्पन्न जो हृदयकी विस्मृति, भ्रम, संशय, विषयवासना, काम-क्रोध लोभादि विकार हैं वे ही मल हैं। यथा—'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कवनिहु जतन न जाई। नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन विषय सँग लागे। हृदय मलिन बासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे॥ परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भे, बचन दोष पर गाये। सब प्रकार मल भार लाग, निज नाथ चरन बिसराये॥ विनय ८२।' इस ग्रन्थमें श्रीभरद्वाजजी, श्रीपार्वतीजी और श्रीगरुड़जीके संदेह, मोह और भ्रमकी निवृत्ति सगुण चरितद्वारा दिखायी गयी है। श्रीरामचरित समस्त मलके हरनेवाले हैं, यथा—'निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा…॥ १। ३१।', 'काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के॥ १। ३२।' 'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं। ७। १३०।' इत्यादि।—सगुण लीलाके श्रवणसे भगवान्‌के गुणोंका प्रभाव श्रोताओंके हृदयपर पड़ता है जिससे उनके हृदयका सूक्ष्म (अभ्यन्तर) मल नष्ट हो जाता है।

मा० प्र० कार लिखते हैं कि जब यह कहा गया कि श्रीरामजी बड़े उदार, शीलवान्, वाग्मी, धैर्यवान्, दीनदयालु, गरीबनिवाज, पतितपावन इत्यादि हैं, ऐसा वेद-पुराण कहते हैं, तब मनमें यह मैल रह गया कि

'कौन जाने ये गुण हैं कि नहीं?' जब उक्त गुणोंको रघुनाथजीके अवतारके साथ लीलामें दर्शाया गया तब मनका वह संदेह (तथा जो मोहजनित मल हृदयमें लगा है वह) दूर हो जाता है, और प्रभुमें प्रेम और दृढ़ विश्वास हो जाता है कि प्रभु हमारी रक्षा अवश्य करेंगे। यथा—'प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान। १। २९। रहति न प्रभुचित चूक किये की।'''जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥ इत्यादि।' १। २९।', 'गौतम नारि श्रापबस'''' से 'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारनरहित कृपाल' तक १। २११।' 'रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी। सदय हृदय दुखु भयउ बिसेषी॥ करुनामय रघुनाथ गुसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥'''सीलु सनेह छाँड़ि नहिं जाई। '२। ८५।', 'बेदबचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥ रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा॥'''२। १३६॥।', 'कंदमूल फल सुरस अति दिये राम कहुँ आनि। प्रेम सहित प्रभु खाये बारंबार बखानि।' 'जाति हीन अघ जनम महि मुकुति कीन्हि असि नारि। आ० ३४। ३६।', 'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। 'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती। आ० ४३-४५।' 'कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा।''भगतबछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेषी॥ ७। ८३।' इत्यादि रीतिसे सगुणयशका वर्णन होनेसे हृदय निर्मल हो जाता है। श्रीराम-यशमें प्रेम होता है। यही 'रामयशका' मनोहरता गुण है।

मा० मा० का मत है कि श्रीरामयशमें जो व्याख्या होती है उसका यथार्थ बोध न होना 'मल' है।

☞ सगुण लीलाका व्यवहार जगत्‌में घर-घरमें है—पुत्रजन्म, यज्ञोपवीत और विवाह आदि घर-घर होते ही रहते हैं। सबोंके हृदयोंमें इस लीला व्यवहारका रास्ता बना हुआ है, अतएव सुनते ही वह हृदयमें प्रवेश कर जाती है। और, यह नित्य लीला है, भगवान्‌का यश है, अतः इसके श्रवणसे मलका नाश होता है।

५ अब यह प्रश्न उठता है कि 'राम सुयश' और 'सगुणलीला' तो दोनों एक ही बातें जान पड़ती हैं तब दो बार क्यों कहा? उत्तर यह है कि रामसुयशमें सगुण लीला सम्मिलित है, पर केवल सगुणलीला ही रामसुयश नहीं है। 'रामसुयश' में निर्गुण-सगुण दोनों ही लीलाएँ मिश्रित हैं, फिर उसमें प्रेमभक्ति भी है। इनमेंसे केवल 'सगुण लीला' का कथन 'स्वच्छता' है।

'प्रेमभगति जो बरनि न जाई।''' इति।

१—ऊपर वर्षाजलमें 'मधुरता, मनोहरता और मङ्गलकारित्व' ये तीन गुण कहे हैं। अब यहाँ बतलाते हैं कि 'श्रीरामसुयश बर बारि' में ये गुण क्या हैं? स्वच्छता (मनोहरता) सगुण-लीलाका बखानकर कहना है, यह पिछले चरणोंमें बताया। वर्षाजल मीठा (स्वादिष्ट) होता है और वैद्यकमें उसे वात-पित्त-कफके लिये बहुत गुणदायक कहा है। यहाँ (श्रीसुयशके) प्रेमाभक्तिमें ये दोनों गुण हैं। जैसे बहुत मीठा खानेसे मुँह बँध जाता है, वैसे ही प्रेमाभक्तिमें मुखसे वचन नहीं निकलता। यही 'मधुरता' है। नारदभक्तिसूत्रमें भी कहा है—'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः। सा कस्मै परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।', 'ॐ अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्'। (मा० प्र०, वै०, मा० मा०)। प्रेमाभक्तिमें देहकी सुध-बुध नहीं रह जाती, कण्ठ गद्‌गद हो जाता है, मुखसे वचन नहीं निकलता, रोमाञ्च होता है। प्रेमी भक्त कभी खड़ा हो जाता है, कभी बैठ जाता है, कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी गाता है, कभी स्वरूपाकार वृत्तिको प्राप्त हो जाता है, इत्यादि ४१ दशाएँ प्रेम-लक्षणाभक्तिमें होती हैं। (भक्तमालकी भगवान् श्रीरूपकलाजीकृत 'भक्ति-सुधाबिन्दु' टीकामें देखिये)। सुतीक्ष्णजी, शबरीजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीभरतजी, श्रीसनकादि ऋषि एवं श्रीसीताजीकी दशाएँ इसके उदाहरण हैं। यथा क्रमसे (१) सुतीक्ष्णजीकी दशा—'निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। अबिरल प्रेमभगति मुनि पाई।''मानहु चित्र माँझ लिखि काढ़ा। ३। १०।' (२) शबरीजीकी दशा—'सबरी परी चरन लपटाई॥ प्रेम मगन

सुख बचन न आवा। ३। ३४।' (३) हनुमान्‌जीकी दशा—'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥ पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ ४। २। (४) भरतजीकी दशा—'परे भूमि नहिं उठत उठाये।'' बूझत कृपानिधि कुसल भरतहिं बचन बेगि न आवई। सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥ ७। ५।' (५) सनकादि ऋषियोंकी दशा—'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भये मगन मन सके न रोकी॥', 'एकटक रहे निमेष न लावहिं। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा। । उ०। ३३।' (६) स्वामिनी श्रीसीताजीकी दशा—'अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥ १। २३२। इत्यादि। ऊपर जो मङ्गलकारित्व गुण कहा था उसीको यहाँ 'सुशीतलताई' कहा है। क्योंकि प्रेमाभक्तिकी दशामें सुख ही सुख होता है, प्रेमके आँसू हृदयको शीतल और शान्त कर देते हैं, 'त्रिविध ताप भवदाप' नाशको प्राप्त होते हैं और काम-क्रोधादि रोग दूर होते हैं। (म० प्र०)। त्रिपाठीजीके मतानुसार इस अर्धालीमें माधुर्य कहा, मङ्गलकारित्व गुण आगे 'सो जल सुकृत सालि हित होई'·· में कहेंगे।

२ कोई-कोई टीकाकार 'प्रेम' और भक्ति' ऐसा अर्थ 'प्रेमभगति' का करते हैं। परन्तु ऐसा करनेसे आगे पुनरुक्ति होती है। क्योंकि आगे भक्तिको लता कहेंगे, यथा—'भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया द्रुम लता बिताना॥ १। ३७। १३।' दूसरा दोष यह आवेगा कि यहाँ 'जो बरनि न जाई' यह विशेषण प्रेमभक्तिका ही यथार्थ हो सकता है, केवल भक्तिके लिये ये विशेषण नहीं दिये जा सकते, क्योंकि भक्तिका वर्णन इसी ग्रन्थमें कई ठौर किया गया है।

प्रेम भक्ति (जिसे प्रेमलक्षणा-भक्ति भी कहते हैं) कही नहीं जा सकती। जैसे गूँगेका गुड़, वह स्वाद तो पाता है पर कह नहीं सकता। प्रेम-भक्तिमें जो ऊपरकी दशा होती है वही थोड़ी-बहुत भले ही कही जा सके। यथा—'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई। उ० ५।', 'कहि न जाइ सो दसा भवानी। आ० १०। १०।' कारण कि भक्त प्रेमविभोर हो जानेसे उसके मनकी सङ्कल्प-विकल्प आदि गति रुक जाती है, उसे तो मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारका विस्मरण हो जाता है। यथा—'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥ २। २४२।', 'परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सुपेम प्रगट को करई। २। २४१। जहाँ-जहाँ प्रेमदशाके वर्णनमें कविने असमर्थता दिखायी है वहाँ प्रेमभक्तिका आविर्भाव समझना चाहिये जैसे कि अयोध्याकाण्डमें तापस-प्रसङ्गमें 'सजल नयन मन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि। परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि॥ २। ११०।' अरण्यकाण्डमें सुतीक्ष्ण-प्रसङ्गमें 'हे बिधि दीनबंधु रघुराया। ३। १०। ३।' से 'प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी' तक जो प्रेमका वर्णन है उसके सम्बन्धमें शिवजी कहते हैं 'कहि न जाइ सो दसा भवानी'। इसी तरह श्रीभरतजी और श्रीहनुमान्‌जी आदिके प्रेम-भक्तिकी दशाएँ वर्णन न की जा सकीं। पुलकावली होना, नेत्रोंसे प्रेमाश्रुका प्रवाह चलना, गद्‌गद होना इत्यादि प्रेमभक्तिकी दशाएँ मात्र हैं। इन दशाओंको आगे रूपकमें कहा है, यथा—'पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहग बिहारु। माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु॥ ३७।'

३ प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'प्रेम-भक्ति' में प्रेम और भक्ति दोनों परिपूर्ण हैं। जैसे जलमें मधुरता और शीतलता रहती है वैसे ही श्रीरामजीके सब यशमें प्रेमभक्ति है। सब रामायणभरके प्रसङ्ग प्रेमभक्तिसे भरे हैं। पृथक्‌से कहना चाहें तो कहते नहीं बनता। इसीसे 'बरनि न जाई' पद दिया। रामायणभरके प्रसङ्ग प्रेमभक्तिसे भरे हैं, इसको त्रिपाठीजीने विस्तारसे दिखाया है।

त्रिपाठीजी—रामभक्तिके आनन्दमें लीन रहना और किसी प्रकारकी कामना न रखना ही 'प्रेमाभक्ति' कहलाती है। साधक भेदसे इस भक्तिके चौदह भेद ग्रन्थकारने माने हैं। भक्ति, भक्त और भगवान्‌का निरपेक्ष निरूपण नहीं हो सकता। अतः भगवद्यशमें भक्ति और भक्तका वर्णन ओतप्रोत है। सो सातों काण्डोंके पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें एक-एक प्रकारके भक्तोंका वर्णन है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें चौदह प्रकारके भक्तोंका वर्णन पाया जाता है। 'वाल्मीकि-प्रभु-मिलन'-प्रसङ्गमें इसकी कुञ्जी है।

(१) बालकाण्डके पूर्वार्धमें रामचरितके मुख्य श्रोता श्रीभरद्वाजजी और श्रीउमाजी प्रथम प्रकारके भक्त हैं। 'जाके श्रवन समुद्र समाना।' । २ । १२८ । ४—५ ।' भरद्वाजजी कथामें ऐसे लीन हुए कि उन्होंने कहीं कोई प्रश्न भी नहीं पूछा। और याज्ञवल्क्यजीके बारबार सम्बोधन करके सावधान करनेपर भी मुनिकी वृत्ति जैसी-की-तैसी रह गयी। इसीसे रावणजन्म कहनेके बाद याज्ञवल्क्यजीने सम्बोधन करना बंद कर दिया। 'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भएउ निसाचर सहित समाजा ॥ १ । १७६ । १ ।' अन्तिम सम्बोधन है। उमाकी भी तृप्ति कथासे नहीं हुई। यथा—'श्रवन पुटन्ह मन पान करि नहिं अघात मति धीर।' बालकाण्डके उत्तरार्धमें स्वायम्भू मनु शतरूपा, महाराज दशरथ, महाराज जनक, विदेहराजसमाज—ये सब दूसरे प्रकारके भक्त हैं जिनके विषयमें कहा है—'लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥ निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥ १ । १२८ । ६—७ ।' मनु-शतरूपाजीने दर्शनके लिये तप किया, यथा—'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' और विधि हरि-हररूपी सिंधु-सरादिका उन्होंने निरादर भी किया। श्रीदशरथजी महाराजके लिये विख्यात है कि 'जिअत राम बिधु बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा ॥' जनक महाराज स्वयं कहते हैं 'इन्हहि देखि मन अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥' पुरवासी भी कहते हैं कि 'जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी ॥ १ । २२९ ।' इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तरार्ध ऐसे ही भक्तोंकी प्रेमकथासे परिपूर्ण है।

(२) अयोध्याकाण्डपूर्वार्धमें अवधपुरवासी तीसरे प्रकारके भक्त हैं जिनके सम्बन्धमें कहा—'जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु। मुकुताहल गुन गन चुनइ । २ । १२८ ।' इस भक्तिका उत्तरकाण्डमें स्पष्ट उल्लेख है। यथा—'जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परस्पर इहै सिखावहिं ॥ ७ । ३० ।' से 'एहि बिधि नगर नारि नर करहिं राम गुन गान। ३० ।' तक। उत्तरार्धमें 'प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा ॥', 'तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥ सीस नवहिं सुरगुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी ॥ कर नित करहिं रामपद पूजा। रामभरोस हृदय नहिं दूजा ॥ चरन रामतीरथ चलि जाहीं। २ । १२९ । १—५ ।' भरतजीमें ये पाँचों लक्षण घटते हैं। क्रमसे, यथा—'तेहि पुर बसहिं भरत बिनु रागा। ', 'चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु। जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु ॥ २ । २२२ ।' 'करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही', 'कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। २ । ३१२ ।' 'नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति। २ । ३२५ ।' 'चले राम बन अटन पयादे। २ । ३११ । ३ ।'

(३) अरण्यकाण्डके पूर्वार्धमें ऋषिगण पाँचवें प्रकारके भक्त हैं जिनके नियम ये हैं कि—'मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा', 'पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा।', 'तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना ॥', 'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी ॥' और 'सब करि मागहिं एक फलु रामचरन रति होउ। २ । १२९ ।' ऋषियोंमें ये पाँचों लक्षण घटते हैं। क्रमसे उदाहरण, यथा—'राम अनुज समेत बैदेही। निसि दिनु देव जपत हहु जेही ॥ ३ । १२ ।' (अगस्त्यजी), एवं 'जे राम मंत्र जपत संत अनंत जन मन रंजन। ३ । ३२ ।' (गृध्रराजजी); 'भजे सशक्ति सानुज। ३ । ४ ।, (अत्रिजी) एवं 'दिव्य बसन भूषन पहिराए।··· ३ । ५ ।' (अनुसूयाजी), 'करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। १ । १६९ ।' से स्पष्ट है कि ऋषियोंका यह नित्य कर्म है। 'अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं ॥ ३ । १२ । ३ ।' (सुतीक्ष्णजी), 'जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा ॥ ३ । ८ ।' (शरभङ्गजी)। अरण्यके उत्तरार्धमें छठे प्रकार, ('काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥ जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया। २ । १३० ।'), के भक्त नारदजी हैं। यथा—'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी' 'भएउ न नारद मन कछु रोषा' 'छमेहु होउ मम श्राप कृपाला' (इससे मदमानरहित जनाया), 'सोचेहु उन्ह के मोह न माया' 'राम सकल नामन्ह ते अधिका। ··' (बरदानमें अपने लाभकी बात न माँगी), 'मुनि गति देखि सुरेस डेराना' (छोभ नहीं हुआ), 'उदासीन धन धाम न जाया' 'तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ॥' 'साचेहु उन्ह के मोह न माया।'

(४) किष्किंधाकाण्डके पूर्वार्धमें सुग्रीवजी सातवें प्रकारके भक्त हैं जिनके लक्षण ये हैं—'सबके प्रिय १ सबके हितकारी २। दुख सुख सरिस ३ प्रसंसा गारी॥ कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥ तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं। २। १३०। ३—५। सुग्रीवजीमें ये सब लक्षण हैं। यथा—'दीन्हेउ मोहि राज बरिआई' 'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥' (शत्रुका भी हित चाहते हैं), 'सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥' 'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी॥' (सत्य-सत्य कह दिया), 'सो सुग्रीव दास तव अहई', 'सुनु हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा॥' उत्तरार्धमें आठवें प्रकारके भक्त चौदहों सुभट हैं जो दक्षिण भेजे गये। इस प्रकारके भक्तोंके लक्षण ये हैं—'जननी सम जानहिं परनारी। धन पराव बिष तें बिष भारी॥ जे हरषहिं परसंपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥ जिन्हहि राम तुम्ह प्रान पिआरे। २। १३०। ६-८।' ये सब इन भटोंमें हैं, यथा—'मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तप पुंज। २४। दूरि ते ताहि सबन्हि सिरु नावा।' 'तेहि तब कहा करहु जल पाना। खाहु सुरस सुंदर फल नाना।' 'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं', 'अस कहि लवनसिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई।' रामकाज लवलीन मन बिसरा तन कर छोह।'

(५) सुन्दरकाण्डके पूर्वार्धमें नवें प्रकारके (अर्थात् 'स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्हके सब तुम्ह तात। २। १३०।') भक्त श्रीहनुमान्‌जी हैं। यथा—'हरष हृदय निज नाथहि चीन्ही। ४। २।' एवं 'रामदूत मैं मातु जानकी' 'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा' 'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे' 'सेवक सुत पति मातु भरोसे' एवं 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं' 'सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥ ४। ३।' (यह उपदेश है। अतः गुरु हैं। और, मन्त्रराजकी परम्परासे भी गुरु हैं) उत्तरार्धमें दसवें प्रकारके (अर्थात् 'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। बिप्रधेनु हित संकट सहहीं॥ नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका' इन लक्षणोंसे युक्त) भक्त श्रीविभीषणजी हैं। यथा—'जौं कृपाल पूँछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता॥ ५। ३८।' 'बिप्ररूप धरि बचन सुनाए। सुनत बिभीषन उठि तहँ आए॥ ५। ६।' 'मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती। अति नय निपुन न भाव अनीती॥ ५। ४६।'

(६) लङ्काकाण्ड पूर्वार्धमें समुद्र ग्यारहवें प्रकारका भक्त है जिसके लक्षण हैं—'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥ राम भगत प्रिय लागहिं जेही। २। १३१। ३-४।' समुद्रमें इन लक्षणोंके उदाहरण, यथा—'प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्हीं' प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई॥ ५। ५९।', 'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी॥ ५। १। उत्तरार्धमें बारहवें प्रकार (अर्थात् 'जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥ सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। २। १३१। ५-६।) के भक्त वानर हैं। यथा—'मम हित लागि तजे इन्ह प्राना। ६। ११३।', 'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। ७। ८।', 'मम हित लागि भवन सुख त्यागे। ७। १६।' 'हरि मारग चितवहिं मतिधीरा। १। १८८।'

(७) सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥ करम बचन मन राउर चेरा' ऐसे जो तेरहवें प्रकारके भक्त हैं वे उत्तरकाण्डके पूर्वार्धमें सनकादिकजी हैं। यथा—'समदरसी मुनि बिगतबिभेदा॥ आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं॥ रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं। ७। ३२।' चौदहवें प्रकारके भक्त ('जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह। २। १३१।' उत्तरार्धमें श्रीभुशुण्डिजी हैं। यथा—'मन तें सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥ ७। ११०।'

नोट—६ 'सोइ मधुरता सुसीतलताई' इति। भक्तिको कथामृतकी मधुरता कहा गया है, यथा—'ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं। कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं॥ ७। १२०।' बैजनाथजीका मत है कि प्रेम मधुरता है और भक्ति रामयशकी सुशीतलता है जिससे जीवकी चाहरूपी प्यास मिट जाती है,

त्रिताप दूर होते हैं। मा० प्र० का मत है कि जिसे मगलकारित्व गुण कहा था वही यहाँ 'सुशीतलता' कहा गया, क्योंकि प्रेमा-भक्तिकी दशामे सुख-ही-सुख है, प्रेमाश्रु हृदयको शीतल कर देते हैं, काम-क्रोधादि रोग दूर हो जाते हैं। त्रिपाठीजीका मत है कि यहाँ केवल माधुर्य गुण कहा है, मङ्गलकारित्व गुण अगली अर्धालीमें 'सो जल सुकृत सालि हित होई' में कहेंगे।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि रामकथामे जो मिठास है वह प्रेमाभक्तिकी है। भक्तिमिठासके उत्कर्षसे ही जहाँ-तहाँ रामकथाको अमृत कहा गया है। 'सुसीतलताई' का भाव यह है कि जीव और ससारमें ताप्य तापकभाव सम्बन्ध है। विचारशीलके लिये ससार दु खरूप है, यथा—'काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।' दु खद होनेसे ससार तापक है, दु ख पानेसे जीव ताप्य है। तापको दु ख और शीतलताको सुख माना गया है। 'सुसीतलताई' का अर्थ तरावट है। जल यदि अति शीतल हो तो दु खद हो जाता है, अत 'सुसीतलताई' कहा। रामयशमें मिठास और तरावट है। अर्थात् रामयश सुननेमें भी प्रिय लगता है और साथ-ही-साथ दु:खका भी नाशक है। यथा—'सुनतहि सीता कर दुख भागा', 'मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहि सर परई॥'

टिप्पणी—'प्रथम जलको मधुर कह आये है, यथा—'मधुर मनोहर मगलकारी।, अब यहाँ पुन 'मधुर' कहते हैं, यह क्यों? इसका समाधान यह है कि—(१) प्रथम जलको मधुर कहा, अब यह बताते है कि जलमें जो 'मधुरता गुण है वह क्या वस्तु है, वह मधुरता प्रेमभक्तिकी है। अथवा (२) यों कहिये कि पहले जलका मधुर होना कहा, अब कहते हैं कि जैसे जलमें मीठा घोल दे तो वह अधिक मीठा हो जाता है वैसे ही प्रेमभक्ति मिलनेसे रामयश-जल अधिक मधुर हो गया। (प० रा० कु०)।

नोट—यहाँतक पृथ्वीपर गिरनेके पहलेके गुण कहे, आगे पृथ्वीपर गिरनेपरके गुण कहते हैं।

सो जल सुकृत सालि हित होई। राम भगत जन जीवन सोई॥ ७॥

अर्थ—वह राम सुयश-जल सुकृतरूपी धानको हितकर है और रामभक्त लोगोंका जीवन भी वही है॥ ७॥

नोट—१ 'सो जल सुकृत सालि हित होई' इति। (क) सुकृत—१। २७। (२) 'सकल सुकृत फल रामसनेहू' में देखिये। जप-तप-व्रत-पूजा आदि विप्रसेवा, श्रवण-कीर्तन आदि सब सुकृत हैं। (वै०)। (ख) शालि—दोहा १९ 'बर्षा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि ' में देखिये। (ग) भाव कि जैसे वर्षाजलसे शालि बढता और पुष्ट होता है, वैसे ही रामसुयशके गानसे भक्तोंके सुकृत बढते है। वही राम-सुयस-जल वा सुकृतकी वृद्धि भक्तोंका जीवन है, क्योंकि जल न होनेसे धान नहीं हो सकता, धानके बिना जीवन नहीं। इसी तरह बिना रामसुयशके सुकृत न बढेगे और 'सकल सुकृत फल राम सनेहू' है, इनके वृद्धिके बिना श्रीरामजीमें प्रेम नहीं होगा।—दोहावलीका दोहा ५६८ भी इसी आशयका है। यथा—'बीज राम-गुन गन नयन जल अकुर पुलकालि। सुकृती सुतन सुखेत बर बिलसत तुलसी सालि॥'

वि० त्रि०—१ (क) यहाँ 'राम सुयस बर बारि' का मङ्गलकारित्व दिखाते है। वर्षाके जलसे धान उपजता है। यहाँ धान उपलक्षण है, सभी अन्न वर्षासे ही होते हैं पर धानमें विशेषता यह है कि इसे बड़ी प्यास होती है, इसे पानीकी बड़ी आवश्यकता होती है, पानी सूखा और धान गया। सुकृत, यथा—'तीर्थाटन साधन समुदाई' से 'जहँ लगि साधन बेद बखानी। ७। १२६। ४—७।' तक सब सुकृतके अन्तर्गत है। सुकृतको सालिसे उपमा दी, क्योंकि सुकृतको श्रीरामयशजलकी प्यास होती है जैसे शालिको वर्षाजलकी, दुष्कृत तो रामयशजलसे विमुख ही रहता है, यथा—'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥' यहाँ खेत, किसान आदि क्या हैं। यह 'तुलसी यह तन खेत है, मन बच करम किसान। पाप पुन्य दुइ बीज हैं बवै सो लुनै निदान॥' में कहे है। (ख) 'सुकृत सालि हित होई' कहकर कर्मकाण्डियोंको प्रवृत्तिमार्गवालोंको भी श्रीरामसुयशकी अपरिहार्य आवश्यकता जनायी। बिना राम-सुयशके जाने अति कष्टसे अनुष्ठित धर्म उत्साहपूर्वक भगवदर्पण नहीं किया जा सकता और 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।' तथा 'बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़े किएँ अरु पाएँ' सब निष्फल हो जाता है।

नोट—२ (क) 'रामभगत जन' इति। अर्थात् आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चारों प्रकारके भक्त। ज्ञानीहीमें प्रेमी भक्त भी शामिल हैं।—विशेष २२ (७) तथा दोहा २२ में देखिये। त्रिपाठीजीका मत है कि इससे साधन-भक्तिवाले चारों प्रकारके और सिद्धिभक्ति (प्रेमाभक्ति) के चौदह प्रकारके भक्तोंका ग्रहण है (जो चौदह स्थानोंके व्याजसे वाल्मीकिजीने श्रीरामजीसे कहे हैं)। (ख) 'जीवन सोई' इति। श्रीरामनामकी उपमा पूर्णचन्द्रसे दी है और चरितकी चन्द्रिकासे। यथा—'राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम। ३। ४२।', 'रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु। १। ३२।' इस तरह नाम और चरितका नित्य सम्बन्ध दिखाया। बिना चन्द्रके चन्द्रिकाका अस्तित्व नहीं होता एवं बिना चरितके नाम निस्तेज है और बिना नामके चरित्रको आधार ही नहीं रहता। सब प्रकारके भक्तोंका आधार नाम है, यथा—'चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा।' यहाँ प्रमाणित होता है कि बिना चरित्रके नाम भी अकिञ्चित्कर है। अतः श्रीरामयशको भक्तोंका जीवन कहा। भावार्थ यह कि कर्मकाण्डके अनुयायियोंको तो रामयश 'हित' है, पर उपासनाकाण्डवालोंका तो प्राण ही है। इसने रामयशका मङ्गलकारी होना वर्णन किया (वि० त्रि०)।

(ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ सुकृत शालि हैं और रामभक्तजन कृषिकार हैं। शालिका वर्षाजलसे परिपूर्ण उपजना सुकृतोंकी परिपूर्ण वृद्धि होना है। जलवृष्टिसे कृषिकारका जीवन, श्रीरामयशश्रवणसे रामभक्तोंका जीवन अर्थात् आत्माको आनन्द। (घ) पाँडेजी 'रामभगत' और 'रामभक्तजन' इस प्रकार अर्थ करके रामभक्तसे श्रीशङ्कर और श्रीयाज्ञवल्क्य आदि एवं रामभक्तजनसे श्रीपार्वती-भरद्वाजजी आदिका भाव होना लिखते हैं। श्रीरामयश ही भक्तोंका जीवन है तभी तो श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे यह वर माँगा था कि—हे वीर! जबतक पृथ्वीतलपर आपका चरित्र रहे तबतक मेरे शरीरमें प्राण रहें और आपके दिव्य चरित्ररूपी कथाको अप्सराएँ मुझे बराबर सुनाती रहें, यथा—'यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले। तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः॥ १७॥ यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथा ते रघुनन्दन। तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ॥ १८॥' (वाल्मी० ७। ४०)। अप्सराएँ तथा गन्धर्व उनको बराबर श्रीरामचरित सुनाया ही करते हैं। (म० श्लो० ४) 'सीतारामगुणग्राम' में देखिये।

मेधा महि गत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥ ८॥

शब्दार्थ—मेधा=अन्तःकरणकी वह शक्ति जिससे जानी, देखी-सुनी या पढ़ी बातें मनमें दिन-रात बनी रहती हैं, भूलती नहीं। बातको स्मरण रखनेकी मानसिक शक्ति। धारणावाली बुद्धि।—'धीर्धारणावती मेधा। अमरे १। ५। २।' पुनः 'मेधा' कानके उस भागको कहते हैं जो श्रवणद्वारपर होता है और जो बातको सुनकर ग्रहण करता है=ग्रहणबुद्धि जो सदा कानके समीप ही खड़ी रहती है। सकिलि=बटुरकर, एकत्र होकर, सिमिटकर।

अर्थ—(साधुरूपी मेघोंद्वारा बरसाया हुआ) वह पावन और सुहावन (श्रीरामयश) जल 'मेधा' (धारणाशक्ति या ग्रहणबुद्धि) रूपिणी पृथ्वी (प्रान्तभूमि) पर प्राप्त हुआ और सिमिटकर श्रवणरूपी मार्गसे (भीतर हृदयरूपी ओर) चला॥ ८॥

त्रिपाठीजी—धारणाशक्ति-सुमति भूमिमें अगाध हृदय (शुद्ध मन) की प्रान्तभूमि है। श्रवणरन्ध्रमें प्रवेश करनेके पहिले ही जलका मेधामहिगत होना कहा है। कारण कि वेदान्तके मतसे पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंमेंसे दो इन्द्रियाँ चक्षु और श्रोत्र, ऐसी हैं जो बाहर जाकर विषयको ग्रहण करती हैं। न्यायशास्त्र श्रोत्रेन्द्रियको बाहर जानेवाली नहीं मानता। 'वेदान्तवेद्यं विभुम्' आदि पदोंके प्रयोगसे श्रीगोस्वामीजीकी अधिक श्रद्धा वेदान्तमें ही ज्ञात होती है, अतः श्रोत्रेन्द्रियका बाहर जाकर विषय ग्रहण करना ही गोस्वामीजीको इष्ट है। इन्द्रियके साथ वृत्ति भी बाहर जाती है, और निस्सन्देह यह वृत्ति धारणाशक्तिवाली है, नहीं तो शब्दार्थका ग्रहण न होता। अतः रामयशरूप वारिका साधुमेघ मुखच्युत होनेपर पहले मेधामहिगत होना ही प्राप्त है। (इस तरह जहाँतकका जल मानससरमें बहकर आता है, वहाँतक मानससरकी प्रान्तभूमि हुई। इसी प्रकार जहाँ-तककी बात सुनायी दे, वहाँतक मेधाकी प्रान्तभूमि है)।

नोट—१ मा० पत्रिकाकार कहते हैं कि जहाँतककी बात सुनायी दे, वहाँतक ग्रहणबुद्धिकी पहुँच है। 'ग्रहण

बुद्धि ही श्रोत्रेन्द्रियद्वारा श्रीरामजीके सुयशरूप अक्षर और अर्थसमूहोंको धारणकर सुमतिको पहुँचाती है।' इस तरह इनके मतानुसार मेधा ग्रहण-बुद्धि है।

मा० प्र० कारका मत है कि बुद्धि आठ प्रकारकी है, 'सुमति भूमि थल··'। १। ३६। ३।' देखिये। वाल्मी० ४। ५४। २ पर भूषणटीकामें वे आठ प्रकार ये बताये गये हैं—'ग्रहणं धारणं चैव स्मरणं प्रतिपादनम्। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणा ॥' मा० प्र० के मतानुसार सर्वधारणत्वगुण लेकर 'सुमति' को 'भूमि' कहा गया और चतुष्टय अन्त करणमेंसे बुद्धिको ही हृदय कहा गया। भूमिके साथ ग्रहणबुद्धिका और थलके साथ धारणबुद्धिका रूपक है। वे 'मेधा महिगत·' का अर्थ यह करते हैं कि साधुरूपी मेघोंने रामयश जल बरसा। वह मेधा ग्रहणबुद्धि (जो पूर्व कह आये है अर्थात् सुमति भूमि) में प्राप्त हुआ तब सिमिटकर श्रवणबुद्धिके मार्ग होकर धारणबुद्धिरूप थल (हृदय) को चला। इस मतके अनुसार सुमतिभूमि और मेधा-महि एक जान पड़ते हैं।

२—(क) 'सो जल पावन' इति। महिगत होनेपर भी 'पावन' कहते हैं, यद्यपि वह प्रान्तभूमिकी मिट्टी आदिके योगसे गँदला हो गया है। कारण यह है कि यह दोष आगन्तुक है, जल तो स्वभावसे ही मधुर और शीतल है। जहाँ वह स्थिर हुआ तहाँ वह फिर स्वच्छ और शीतल हो जाता है। जो प्रारम्भमें स्वच्छ था और अन्तमें भी स्वच्छ ही होगा, वह वर्तमानमें आगन्तुक दोष आ जानेपर भी स्वच्छ ही है, अत सो 'जल पावन' कहा। जैसे वर्षा-जल पृथ्वीके दोषसे गँदला हो जाता है वैसे ही मेधामहिगत श्रीरामसुयश भी श्रोताके मेधाके दोषसे लिप्त हो जाता है। (वि० त्रि०)। (ख) 'सकिलि ··' इति। शब्द होनेका देश विस्तृत है और श्रवण-प्रणालिका बड़ी संकीर्ण है, इससे श्रीरामयशजलका सिमिटकर आना कहा। सरकी प्रान्तभूमि बहुत दूरतक होती है। प्रान्तभूमिपर बरसा हुआ जल जब सिमिटकर चलता है तब एक सकीर्ण रास्ता-सा बन जाता है। उसी मार्ग होकर वह सब जल बहता है और सरमें जाता है। यथा—'सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा। ४। १४।' इसी तरह मेधामहिगत श्रीरामयशजल सिमिटकर श्रवणरन्ध्रद्वारा हृदयरूपी थलमें गया। सुननेके बाद ही बात हृदयमे आती है। हृद्गत होनेका मार्ग श्रवणेन्द्रिय ही है, यथा—'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई ॥ १। १४५। ७।' अत उसे 'श्रवन मग' कहा। 'सकिलि' शब्द देकर सूचित किया कि जब बात समझमें आ जाती है, तब वही श्रवण-बुद्धिमें आती है। नहीं तो सुना-न-सुना बराबर हो जाता है। (ग)—तालाबमें बिना प्रयत्नके दूरतकका जल आता है, वैसे ही अन्य स्थानोंमें वर्णित रामयशका समाचार परम्परासे रामयश-रसिकके यहाँ अनायासेन आया ही करता है। 'सकिलि' से यह भी जनाया कि सब चरित्र एकाग्र होकर सुना। (वि० त्रि०)। (घ) रामसुयशके सुननेमें बड़ा स्वाद है अत सुननेमे वह सुहावन है। यथा—'कहेउँ राम बन गवन सुहावा', 'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई।'

खर्रा—इस स्थानमें बुद्धिके चार स्वरूप कहे हैं—एक जल रोपनेवाली, एक जलकर्षण करनेवाली, एक जल धारण करनेवाली और एक जलकी रक्षा करनेवाली।

भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—थिराना=स्थिर हो गया अर्थात् मैल, मिट्टी आदि नीचे बैठ गयी, जल साफ थिर हो गया। सीत (शीत)=शीतल।=शीतकाल, शरदृऋतु। (पा०)। रुचि=रुचिकर, स्वादिष्ट।=मधुर (करु०, मा० प्र०)। चारु=सुन्दर, निर्मल, स्वच्छ।=पवित्र (मा० प०)। चिराना=चिरकालका हुआ, पुराना हुआ।=परिपक्व हुआ।

अर्थ—१ और (वह श्रवणमार्गसे चला हुआ श्रीरामयश जल) सुन्दर मानसमे भरा और सुन्दर थल पाकर (वहाँ) स्थिर हुआ फिर पुराना होकर सुन्दर, रुचिकारक और शीतल तथा सुखदायी हुआ ॥ ९ ॥

अर्थ—२ सुन्दर मानस भर उठा, अच्छे थलमें जल थिराया और सुखद, ठढा, सुन्दर, स्वादु और चिराना हुआ अर्थात् पक गया। (वि० त्रि०)।

अर्थ—३ उस रामयश-जलसे सुन्दर मानसका सुन्दर थल भर गया और स्थिर हो गया तथा रुचिरूपा शरद् ऋतु पाकर पुराना होकर सुखदायी हुआ। (पां०)।

नोट—१ 'भरेउ सुमानस....' इति। (क) 'सुमानस' श्लिष्ट है। वर्षा-जल 'सुन्दर मानस सर' में भरा और श्रीरामयशजल कविके 'सुन्दर मन' में भरा। (ख) मानसके भरनेपर उसका 'सुमानस' नाम हुआ। पहले केवल 'मानस' नाम था। यथा—'जस मानस जेहि बिधि भयउ।' इसी तरह जल भर जानेपर 'थल' का नाम 'सुथल' पड़ा।—'भरेउ सुमानस सुथल...।' (प० रामकुमारजी)। पुन, भाव कि मन दो प्रकारका होता है, शुद्ध और अशुद्ध। यथा—'मनस्तु द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥' कामसंकल्प-वाला मन अशुद्ध है और कामविवर्जित मन शुद्ध है। कामनारहित मन 'सुमानस' है। इसीको अगाध हृदय कह आये हैं। कामसे भरा न होनेसे इसमें गहराई है। अब वह मन रामसुयशसे भर गया। उसमें किसी दूसरी वस्तुके लिये स्थान नहीं। (वि० त्रि०)। (ग) 'सुथल' का भाव कि जल गहरे स्थानमें ही थिराता है। जहाँ लोगोंके आने-जानेका रास्ता रहता है, थल उथला है, वहाँ जल नहीं थिराता, यथा—'सदा मलीन पंथके जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिरान्यो' (विनय०)। (घ)—यहाँ श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि कहे गये। 'सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन' में श्रवण, 'भरेउ सुमानस' से मनन (क्योंकि सुनी हुई बातको मनमें बिठाना ही 'मनन' है) और 'सुथल थिराना' से निदिध्यासन कहा। मनको थिर करना समाधि है। श्रीरामयशके विषयमें मनको एकाग्र किया, यह सम्प्रज्ञात समाधि है। यथा—'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥' (करु०, वि० त्रि०)।

२ थिराना। 'चिराना', इति। (क) मा० टी० कार लिखते हैं कि 'चावल दो सालका होनेपर पुराना और तीन सालका पुराना होनेपर 'चिराना कहा जाता है, वैसे ही वर्षाजल बरसातमें नया, शरद् (कुआर, कार्तिक) में स्थिर होनेपर पुराना और हिम तथा शिशिरऋतुमें 'चिराना' हुआ।' (बैजनाथजीके मतसे कुआरमें पुराना और कार्तिकमें 'चिरान' होता है)। (ख) मा० प्र० कार कहते हैं, कि पृथ्वीपर जल पड़नेसे गँदला हो जाता है। शरद्ऋतुमें जब जलकी मिट्टी बैठ जाती है, गँदलापन दूर हो जाता है, जल थिरता है, तब ऊपर-ऊपर सुन्दर शीतल निर्मल जल प्राप्त होता है और शरद्ऋतुके बीतने और हिमऋतुके आनेपर जलमें पूर्वगुण फिर आ जाते हैं। 'शीत, रुचि और चारु' ये जो तीन गुण यहाँ कहे हैं ये ही पूर्वके 'मङ्गलकारी, मधुर और मनोहर' गुण हैं। शीतल जल नीरोग (गुणकारी) होता है, इसीसे शीतसे पूर्वका मङ्गलकारित्व गुण कहा। रुचि स्वादको कहते हैं इसीसे 'रुचि' से 'मधुर गुण' का ग्रहण हुआ और 'चारु' का अर्थ है 'दीप्तिमान्, सुन्दर', अत इससे 'मनोहर गुण' लिया। (ग)—गोस्वामीजी अपनी रामायण-रचनाको 'चिरान' कहते हैं। (श्रीरूपकलाजी)। (घ) मा० म० कार लिखते हैं कि 'पढ्यो गुरूते बीच शर सत बाँच मन जान। गौरी शिव हनुमत कृपा तब मैं रची चिरान॥' अर्थात् गोस्वामीजी जगत्के कल्याणके लिये संवत् १५५४ में प्रकट हुए। पाँच वर्षकी अवस्थामें उन्होंने गुरुजीसे रामचरित श्रवण किया। फिर ४० (चालीस) वर्षकी अवस्थामें सतोंसे सुनकर उन्होंने उसे सैंतीस वर्ष मनन किया, तदनन्तर अठहत्तर वर्षकी अवस्था स० १६३१ में रामचरितमानस प्रकट हुआ। इसी कारण श्रवण-मगसे चलकर थिराना और फिर चिराना कहा। (यह बात 'मूल गुसाईंचरित' से भी सिद्ध होती है। इस मतके अनुसार बालपनेमें जो सुना वह मानसमें पहलेहीसे था। फिर सतोंसे युवावस्थामें सुना। यही नया है। सैंतीस वर्ष मनन किया, यह 'थिराना' हुआ। ७८ वर्षकी अवस्थामें वह 'चिराना' अर्थात् परिपक्व हुआ)। (ङ) त्रिपाठीजीका मत है कि गुरुमुखसे जो रामयश बारबार सुना था उसीका मनन और निदिध्यासन किया तब उसके गुण प्रकट हुए, विषय अभ्रान्त हो गया, उसमें आनन्द आने लगा, दुःख दूर हो गये। यही 'सुखद' होना है।

प्रश्न—वर्षा, शरद् और हेमन्तमें जो जलका नया पुराना और चिराना होना कहा है, वह राम-सुयशमें क्या है?

उत्तर—सतोंके मुखसे सगुण-लीला-सहित रामसुयश-जलकी वर्षा हुई तब वह सुयश सुमति-भूमिपर पड़कर मेधा-बुद्धिसे होकर श्रवणपुटद्वारा हृदयरूपी थलपर जाकर टिका। यह नयापन है। मननद्वारा हृदयमें स्थिर होना पुराना होना है और जैसे मिट्टी आदि बैठ जानेके पश्चात् हेमन्तऋतुमें जल पूर्ववत् निर्मल, मधुर और गुणकारी हो जाता है, वैसे ही

निदिध्यासनद्वारा श्रीरामसुयशके पूर्वगुण सगुण-लीला-रूपी स्वच्छता, प्रेम-भक्तिरूपी मधुरता और शीतलता दिखायी देने लगी। यही उसका चिराना है। (म० प्र०)।

प्रश्न—वर्षाजल भूमिपर पड़नेपर गँदला हो जाता है। श्रीरामसुयश सुननेपर ग्रहण बुद्धिमें आया तो वहाँ बुद्धिरूपी भूमिके संयोगसे इसमें क्या गँदलापन आ गया?

उत्तर—१ (क) संसारी जीवोंकी बुद्धि विषयासक्त होती है, त्रिगुणात्मिका मायामें लिप्त रहती है। उसमें राजस-तामस-गुण बहुत रहता है जिससे मनमें अनेक संशय, भ्रम और कुतर्क आदि उठते रहते हैं। अतएव उसकी समझमें श्रीरामसुयश शीघ्र क्योंकर आ सकता है? जैसा कहा है—'किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित बिमूढ़। १। ३०।' इसको समझानेके लिये प्राकृत दृष्टान्तों, उदाहरणों और उपमाओं आदिका प्रयोग किया गया (जो उसके हृदयमें पूर्वसे थीं)। हृदय-थलमें श्रीरामसुयश इनके सहित पहुँचा। बुद्धिके योगसे सब बात ग्रहण हुई। ऊपरकी सब बातें ही मलिनता व गँदलापन हैं। (मा० प्र०)। (ख) 'सन्तोंने जब निर्मल यशकी वर्षा की तब श्रोता कविकी बुद्धिमें पड़नेसे बुद्धिका राजस गुण उसमें मिल गया, इसीसे यह ढाबर हो गया।' (करु०)। (अर्थात् जैसे भूमिमें तो रज पूर्वसे ही थी, उसके मिल जानेसे वर्षाजल गँदला हो जाता है, वैसे ही प्राकृत बुद्धिमें जो राजस गुण है वही भूमिकी रज है, बुद्धिकी उत्पत्ति पृथिवी तत्त्वसे है—'बुद्धिर्जाता क्षितेरपि'। यह राजसगुण ही मलिनता है) मनन करनेपर बुद्धिका राजसगुण और सन्तोंकी दी हुई प्राकृत दृष्टान्त आदि क्रमशः हटे। फिर निदिध्यासन (अच्छी तरह अभ्यास) करनेसे रामसुयश केवल निर्मल आनन्दरूप देख पड़ा, अन्तःकरण शान्त हुआ और सबके लिये सुखदाता शीतल और रुचिकर हो गया। (करु०)।

२—बैजनाथजीका मत है कि 'श्रीराम-सुयशरूपजलमें, मेधारूपी भूमिका स्पर्श करते ही, विषयसुख-वासनारूप रज मिल गया जिससे वह ढाबर हो गया। जब वह सुन्दर मनरूप मानसमें भरा तब सुथलरूपी सुबुद्धि पाकर वह थिर हो गया अर्थात् बुद्धिके विचारसे कुतर्करूप मल नीचे बैठ गया, निर्मल यश रह गया। यहाँ भक्तिरूपी शरद् पाकर अर्थात् नवधा कुआरमें पुराना हुआ और प्रेमा कार्तिकमें चिरान हुआ। फिर रामविरह आतप पाकर यशरूप जल औटकर सुन्दर हो गया, जीवको स्वच्छ देख पड़ा और मीठा लगा। पुनः सुखद हुआ अर्थात् कामादि रुजको हरनेवाला हुआ।'

मा० प०—जल चिरान अर्थात् पुराना होनेसे परिपक्व होकर सुखद, रुचिवर्द्धक और सुस्वादु हो जाता है। एवं सन्तोंके मुखसे वर्णित रामयशरूप जल मेधारूपी भूमिके स्पर्शसे सांसारिक विषयसुख वासनारूप रजसे जो अन्तःकरण ढाबर हो गया था जब वह जल सुन्दर मनरूप मानसमें भरा तब सुबुद्धि पाकर स्थिर हुआ अर्थात् बुद्धि-विचारद्वारा कुतर्क कुपन्थरूप मल नीचे बैठ गया और केवल प्रेम-ही-प्रेम रह गया, वह शरद्रूप नवधा भक्तिद्वारा परिपक्व होकर काम-क्रोधादिका नाशक हुआ। [यह मत बैजनाथजीका ही लिया हुआ है]।

प० रामकुमारजीके मतानुसार—गँदलापन पृथ्वीके योगसे प्राकृत जलमें होता है, पर यहाँ 'सुमति' रूपी भूमि है और 'मेधा' मही है। यहाँ गँदलापन नहीं है। फिर वहाँ प्राकृत मानससर और थल है और यहाँ 'सुमानस' और 'सुथल' हैं। यहाँ रूपकके सब अङ्ग नहीं लिये जायँगे।

दो०—सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहिं पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥ ३६॥

शब्दार्थ—सुठि (सुष्ठु)=अत्यन्त, बहुत ज्यादा, उत्तम। यथा—'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे। १। ३४२।'

अर्थ—अत्यन्त श्रेष्ठ और सुन्दर संवाद (जो) बुद्धिने विचारकर रचे हैं वे ही इस पवित्र सुन्दर तालाबके चार मनोहर घाट हैं॥ ३६॥

नोट—'सुठि सुंदर संबाद बर' इति। 'सुठि सुंदर' और 'बर' का भाव यह है कि—

१ (क) जब जिसको ही विचारने लगेंगे तब वह ही प्रधान जान पड़ेगा। अथवा, (ख) भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-सत्सङ्ग होनेपर भरद्वाजका रामचरित्र मूढ़ बनकर पूछना याज्ञवल्क्य मुनिको बहुत अच्छा लगा और उन्होंने कहा—'चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहु अति मूढ़ा॥ तात सुनहु सादर मनु लाई। कहहूँ राम कै कथा सुहाई॥ १। ४७।' इसीलिये इनको सुन्दर और वर कहा। पार्वतीजीका प्रश्न रामतत्त्वकी प्राप्तिके लिये सहज सुन्दर छलविहीन होनेसे शिवजीके मनको भाया। इसी तरह गरुड़जीका मोह जो शिवादिसे न छूटा था वह भुशुण्डि-आश्रमके पास पहुँचते ही छूट गया और भुशुण्डिजीको भी परम उत्साह हुआ, इसलिये ये दोनों संवाद भी श्रेष्ठ हुए। गोस्वामीजीका संवाद दीनतासे पूर्ण है। सज्जन सुख मानकर सुनते हैं, इसलिये यह भी 'सुन्दर वर' है। पुन, ये चारों घाट विचारद्वारा अनुभवसे रचे गये हैं; इसलिये चारों वर और सुन्दर हैं। 'तस कहिहउँ हियँ हरिके प्रेरे' कहा ही है। भगवान् श्रीरामजी एवं श्रीहनुमान्‌जीकी प्रेरणासे बने हैं अत सुन्दर हुआ ही चाहे। (मा० त० वि०)। अथवा, (ग) इन संवादोंसे वक्ता-श्रोताओंकी श्रेष्ठताके सम्बन्धसे उनके संवादोंको भी 'सुठि सुंदर' और 'बर' कहा। अथवा, संवादोंका विषय परम मनोहर श्रीरामचरित होनेसे उनको 'सुठि सुंदर बर' कहा। अथवा,

२ (त्रिपाठीके मतानुसार)—(क) इन चारों संवादोंमें चार पृथक् पृथक् कल्पोंकी कथाएँ हैं। श्रीरामावतार एक कल्पमें एक ही बार होता है। मानसमें चार कल्पोंकी कथाएँ हैं। भुशुण्डिजीने नारदशापवाले अवतार (कल्प) की कथा कही, यथा—'पुनि नारद कर मोह अपारा।··'। शंकरजीने मनु-शतरूपा वरदानवाले कल्पकी कथा विस्तारसे कही। याज्ञवल्क्यजीने जलधर-रावणवाले कल्पकी और गोस्वामीजीने जय-विजय रावण-कुम्भकर्णवाले कल्पकी कथा कही। यथा—'महावीर दितिसुत संघारे'। चारों कल्पोंकी कथाएँ एक-सी हैं, अत एक साथ कही गयीं। अत संवादोंमें वैकुण्ठनाथ, नारायण तथा ब्रह्मके अवतारोंकी कथाएँ होनेसे उन्हें 'सुठि सुंदर बर' कहा। पुन (ख) 'दूसरी बात यह है कि रामचरित्रको मणि-माणिक्य कहा है, यथा—'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥ १। १।' सो श्रीरामकथाकी भी यहाँ चार खानि कही गयी हैं। जिनके ऊपर गुरुकी कृपा होती है वे ही बतला सकते हैं कि यह कथा किस खानिकी है।' उनमेंसे शंकरजीकी कथा सर्पमणि (शंकररूपी सर्प 'गरलकण्ठ' से निकली) याज्ञवल्क्यजीकी कथा माणिक्य और भुशुण्डिजीकी गजमुक्ता है, अत मणि, माणिक्य, मुक्तावत् स्वभावसे ही 'सुठि सुंदर' है। इसपर ग्रन्थकारका और भी कहना है कि श्रीशंकरजी आदि सुकवि हैं और उनकी कविता मणि है। मणि आदिकी भाँति जहाँ उत्पन्न हुई वहाँ वैसी शोभित नहीं हुई जैसी कि मेरे विरचित संवादमें पड़कर शोभित हुई। यथा—'नृपकिरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥ १। ११। १-३।' यहाँ ज्ञान नृप है, यथा—'सचिव बिराग बिबेक नरेसू। २। २३५।' कर्म मुकुट है, यथा—'मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥ साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥ ६। ३७।' साम, दाम, दण्ड और विभेद ये चारों कर्म हैं, उसे अपह्नुति अलंकारद्वारा मुकुट कहा। उपासना तरुणी है, यथा—'भगति सुतीय (कल करन बिभूषन)। १। २०।' सो ये तीनों कविताएँ ग्रन्थकर्ताके ज्ञानघाट, कर्मघाट और उपासनाघाटपर आकर क्रमश अत्यन्त शोभित हुईं। अत 'सुठि सुंदर बर' कहा। रह गया तुलसी-सन्त-संवाद, उसे ग्रन्थकर्ता सीपीका मोती कहते हैं, यथा—'हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥ जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥ जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग। पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥ १। ११।' यह संवाद भी सुठि सुन्दर है। इसकी शोभा भी सज्जनका उर पाकर अत्यन्त बढ़ गयी। अत यह संवाद भी 'सुठि सुंदर बर' है। अर्थात् चारों घाट रत्नमय हैं।

३—ग्रन्थके अन्तमें कहा है कि 'यह सुभ संभु उमा संवादा। सुख संपादन समन बिषादा॥ भवभंजन गंजन संदेहा। जनरंजन सज्जन प्रिय एहा॥ ७। १३०।' मुख्य संवाद रामचरितमानसका यही है। इसीसे समाप्तिमें 'संभु-उमा-संवादा' पद देकर तब उसका माहात्म्य वा फल कहा है। जो माहात्म्य यहाँ कहा, वह चारों संवादोंका माहात्म्य है, क्योंकि चारों संवाद एक-दूसरेसे गठे और गुँथे हुए हैं और सब मिलकर 'राम-चरित-मानस' ग्रन्थ रचा गया। इसलिये चारों संवाद सुठि सुन्दर और वर हुए।

४—सुधाकर-द्विवेदीजी कहते हैं कि 'अब ग्रन्थकार चारों घाटोंका नामकरण दिखलाते हैं। कर्म, ज्ञान, उपासना और दैन्य। इनके बनानेवाले कारीगर बड़ोंकी बुद्धि और विचार हैं—बिरचे 'बुद्धि बिचारि'। इन्हींके द्वारा इन घाटोंकी रचना है। इनकी सामग्री 'सुठि सुंदर संवाद वर' है, इसके दो अर्थ हैं—(१) अपनी उत्तम बुद्धिसे जो श्रेष्ठ संवाद है। (२) सुठि=कर्मकाण्ड। सुन्दर=ज्ञानकाण्ड। संवाद=उपासनाकाण्ड। बर=दैन्यघाट। यह अर्थ ग्रन्थकारहीके लेखसे व्यञ्जित होता है। साफ-साफ ग्रन्थकारने घाटके चार विशेषण लिखे हैं, यदि यह अर्थ अभिप्रेत न होता तो चार विशेषण क्यों लिखते?'

नोट—२ ग्रन्थकारने 'सुठि सुंदर संवाद वर' जो यहाँ कहा है उसे अन्ततक निबाहा है। भुशुण्डि-गरुड़ संवादके विषयमें शिवजी कहते हैं—'सो संवाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब॥ १२०॥' पुनः 'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन॥ १२५॥' इसमें वक्ता और श्रोता दोनोंको बड़ा आनन्द मिला था। शिव-पार्वती-संवादके विषयमें याज्ञवल्क्यजीका वचन है कि यह 'सुभ संभु उमा संवादा। सुख संपादन समन बिषादा॥ भवभंजन गंजन संदेहा। जनरंजन सज्जन प्रिय एहा॥ १३०॥' श्रीशिवजी प्रश्नोंको सुनकर बहुत सुखी हुए थे। यथा—'परमानंद अमित सुख पावा॥ १११॥' और पार्वतीजीको तो कथा सुनकर परम विश्राम ही हुआ। गोस्वामीजीने याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवादके विषयमें भी 'सुभग' पद दिया है, यथा—'कहउँ जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संवाद। १। ४३।' और देखिये, दोनों मुनियोंको इस समागमसे कितना आनन्द हुआ, यथा—'सुनु मुनि आजु समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुख मन मोरें॥ १। १०५।', 'भरद्वाज मुनि अति सुख पावा। १। १०८। अब रहा, तुलसी सन्त-संवाद। इसको अपने मुखसे कैसे कहें? 'सुनहु सकल सज्जन सुख मानी', 'साधु समाज भनित सनमानू' से स्पष्ट है और नित्य देखनेमें आ ही रहा है कि आपके इस कथासे सज्जनोंको कैसा सुख मिल रहा है। उपर्युक्त कारणोंसे 'सुठि सुंदर वर' पद दिया गया।

* "संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि" *

१—'संवाद' का अर्थ बात-चीत है। 'संवाद' शब्दसे श्रोता और वक्ता दोनोंका समीप होना और आपसमें बात करना, शंका-समाधान करना पाया जाता है। गोस्वामीजी ग्रन्थमें चार संवाद बुद्धिसे रचे हुए लिखते हैं। गोस्वामीजीका संवाद सज्जनोंसे है। आप रामचरितमानस उनको सुनाते हैं, यथा—'रामचरितमानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥ कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥... १। ३५।' प्रथम भूमिका बाँधकर मानसका स्वरूप और उसके प्रचारका हेतु इत्यादि कहकर आप सज्जनोंसे कहते हैं कि यही कथा श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने श्रीभरद्वाज मुनिसे कही थी। हम आपको उन्हींका पूरा संवाद सुना देते हैं।

कवियों और वक्ताओंकी यह शैली है कि जब वे कोई बात कहते हैं तो प्रथम उसकी भूमिका बाँधते हैं। वैसे ही यहाँ संवादके पहले ग्रन्थकार यह बता देते हैं कि इन दोनों मुनियोंका समागम कब और क्योंकर हुआ और कथा कहनेका क्या कारण था। 'अब रघुपति पद पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संवाद॥ १। ४३।' यहाँसे लेकर 'करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी॥ १। ४५। ६।' तक 'मिलन' कहा। इसके आगे 'नाथ एक संसउ बड़ मोरें। करगत बेद तत्व सब तोरें॥ १। ४५। ७।' से भरद्वाज-याज्ञवल्क्य संवादका आरम्भ हुआ—ये वाक्य भरद्वाजमुनिके हैं। याज्ञवल्क्यमुनिका

उत्तर 'जागबलिक बोले मुसुकाई। १।४७।२।' से शुरू होता है। भरद्वाजजीकी प्रशंसा करके श्रीराम-कथाका कुछ महत्त्व कहकर आप बोले कि श्रीपार्वतीजीने भी ऐसा ही संदेह किया था तब महादेवजीने विस्तारसे उनको समझाया था। हम तुमसे वही संवाद कहे देते हैं, तुम्हारा संदेह दूर हो जायगा। यथा—'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥ कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संवाद॥ ४७॥' और उस संवादके पूर्व उस संवादका समय और कारण भरद्वाजजीको कह सुनाया। यथा—'भयउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि बिषाद॥ ४७॥ एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज रिषि पाहीं॥' से लेकर 'बैठीं सिव समीप हरषाई। पूरब जन्म कथा चित आई॥ पति हिय हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥ कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥ १०७। ६।' तक यह प्रसङ्ग है। इसके आगे श्रीपार्वती-महेश्वर संवाद है। श्रीपार्वतीजी पूछेंगी और शिवजी कहेंगे। 'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी॥ १०७। ७।' से यह संवाद शुरू होता है। आपके वचन सुनकर शिवजीने 'परमानंद अमित सुख' पाया और फिर 'रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह। १। १११।' आपने श्रीरामकथा तथा श्रीराम-नाम और श्रीरामरूपका परत्व आदिम कहा, जिसमें प्रथम प्रश्नका उत्तर भी आ गया और श्रीपार्वतीजीका संशय भी दूर हुआ। तब उन्होंने यह प्रश्न किया कि 'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्ब रहित सब उर पुरबासी॥ नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू।' १। १२०।' इसपर शिवजीने उनकी प्रशंसा की और कहा कि हम तुमको रामचरितमानसकथा सुनाते हैं जो भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कही थी। यथा—'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित मानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड॥ सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब। सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ॥ हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु॥ १। १२०।' शिवजीने कथा कहना शुरू किया और यह कह दिया कि भुशुण्डि-गरुड़-संवाद जिस तरह हुआ वह पीछे कहेंगे। यह संवाद उत्तरकाण्डमें है—'ऐसिअ प्रस्न बिहगपति कीन्हि काग सन जाइ। सो सब सादर कहिहउँ सुनहु उमा मन लाइ॥ उ० । ५५।' 'मधुर बचन तब बोलेउ कागा। नाथ कृतारथ भयउँ मैं तव दरसन खगराज। आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयहु केहि काज॥ ६३॥ सुनहु तात जेहि कारन आयउँ। सो सब भयउ दरस तव पायउँ॥...। ७। ६४। १।' से यह संवाद शुरू होता है।

ऊपरके लेखसे यह स्पष्ट हो गया कि तुलसी-संत-संवादके अन्तर्गत याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद है जिसके अन्तर्गत शिव-पार्वती-संवाद है और इस संवादके अन्तर्गत भुशुण्डि-गरुड़-संवाद है।

२ ☞ संवादोंका वृत्तान्त क्योंकर गुसाईंजीको प्राप्त हुआ, यह ३४ (११) में लिखा जा चुका है।

३—अब यह देखना है कि कौन संवाद कहाँ समाप्त किया गया है। सबके पीछे भुशुण्डि-गरुड़-संवाद है। इसलिये जरूरी है कि उसके वक्ता शिवजी उस संवादकी इति लगाकर तब अपना संवाद समाप्त करें। इसी तरह शिव-पार्वती-संवादकी इति लगानेपर उसके वक्ता याज्ञवल्क्यजी अपने संवादको समाप्त करेंगे, जिसके पीछे ग्रन्थके मुख्य वक्ता अपने कथनको समाप्त करेंगे। यही कारण है कि इति विलोमसे लगायी गयी है अर्थात् जो क्रम प्रारम्भका है उसका उलटा समाप्तिमें है।

संवाद	इति कहाँ हुई
श्रीभुशुण्डि-गरुड़- १ संवाद	'तासु चरन सिरु नाइ करि, प्रेम सहित मतिधीर। गयउ गरुड बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर॥ ७। १२५।'
श्रीशिव-पार्वती- २ संवाद	'मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस। उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥ ७। १२९।'
श्रीयाज्ञवल्क्य- ३ भरद्वाज-संवाद	'यह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा॥ भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥ राम उपासक जे जग

श्रीतुलसी-संत-संवाद	४	माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं ॥ ७। १३०।' 'रघुपति कृपा जथा मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा ॥' से 'ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः' (ग्रन्थके अन्तमें)

प्रश्न—संवादोंमें 'विलोम इति' लगानेका क्या भाव है?

उत्तर—'विलोम इति' का भाव यह है कि गोस्वामीजी ग्रन्थकार हैं। यदि ग्रन्थकर्त्ता आदि-अन्तमें न रहे तो ग्रन्थको आरम्भ और समाप्त कौन करे? इसीसे आदि-अन्तमें आप ही रहे हैं। प्रारम्भ और इति, चारोंकी पृथक्-पृथक् कही हैं, बीचमें मुनि-संवाद और शिव-पार्वती-संवाद मिलाये हैं। (प० रामकुमारजी)

नोट—३ गोस्वामीजीने अपना संवाद याज्ञवल्क्यजीके संवादमें मिलाया। यथा—'कहौं जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संबाद। १। ४३।' याज्ञवल्क्यजीने अपना संवाद शिवजीके संवादमें मिलाया। यथा—'कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। १। ४। ७।' शिवजीने अपना संवाद भुशुण्डिजीके संवादमें मिलाया। यथा—'सो संवाद उदार जेहि बिधि भा आगें कहब। १। १२०।' इसी तरह तालाबके घाट मिलाये जाते हैं।

४ गोस्वामीजीने अन्तमें मनहीको उपदेश देकर ग्रन्थको समाप्त किया है और आदिसे अन्ततक ठौर-ठौर मनहीको उपदेश दिया है। इसका कारण केवल उनका कार्पण्य है। कथा सज्जनोंसे कह रहे हैं, सज्जनोंको भला कैसे उपदेश देते? उपदेश तो कुटिल जीवोंको दिया जाता है, संतमें कुटिलता कहाँ? इसलिये मनकी ओटमें 'कुटिल जीव निस्तार हित' उपदेश देते आये। पर आपका संवाद सज्जनोंहीसे है। 'मन' को बारबार उपदेश करनेके कारण कुछ महानुभावोंने गोस्वामीजीका संवाद अपने मनहीसे होना माना है। और किसी किसीने आपका संवाद अपने गुरु एवं अपने प्रेमियोंसे माना है।

"बिरचे बुद्धि बिचारि" इति।

१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मानस-सर' में पाषाण-मणि-चित्रित चार घाट हैं। यहाँ प्रथम संवाद गोस्वामीजीका जो 'भाषा बद्ध करब मैं सोई' है वह दैन्यतारूप श्वेत पाषाणरचित है। इस संवादमें धाम मणिवत् चित्रित है, क्योंकि यह अयोध्यापुरीमें प्रारम्भ हुआ और उसीके प्रभावसे ग्रन्थका माहात्म्य माना है। यथा—'सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी ॥ बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥' १। ३५।' दूसरा संवाद भरद्वाज-याज्ञवल्क्यका कर्मकाण्डरूप हरित-पाषाणरचित है। इसमें 'लीला' मणिवत् चित्रित है। यथा—'महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला ॥ रामकथा ससि किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना ॥ १। ४७। ६-७।' तीसरा संवाद शिव-पार्वतीजीका ज्ञानरूप स्फटिकपाषाणरचित है। इसमें 'नाम' मणिवत् चित्रित है। यथा—'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी ॥ १। ११९। १।' चौथा संवाद भुशुण्डि-गरुड़का उपासनारूप लाल पाषाणरचित है। इसमें प्रभुका रूप मणिवत् चित्रित है। यथा—'परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती ॥ ७। १२०।'

२ त्रिपाठीजी—पहले ग्रन्थकारने कहा था 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ॥ १। १३। १०।' पर संवादकी रचनामें इन्होंने किसीका अनुकरण नहीं किया। चार-चार कल्पकी कथाओंका एक साथ कथन कहीं भी नहीं पाया जाता। सभीने किसी-न-किसी कल्पविशेषके रामावतारकी कही है, यथा—'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं ॥ तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। ',। यहाँपर ग्रन्थकारने अपनी बुद्धिसे काम लिया है, किसीका अनुकरण नहीं किया, इसीलिये कहते हैं कि 'बिरचे बुद्धि बिचारि। कर्मकाण्डी, ज्ञानी, उपासक और दीन सर्वसाधनहीन सब प्रकारके अधिकारियोंका काम एक ही रामचरितमानससे चल जाय, इस बातको बुद्धिसे विचारकर ग्रन्थकर्त्ताने चारों संवादोंकी, अपने रामचरितमानसके लिये रचना की।

३ श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—'लोकमें घाटकी जब विशेष रचना होती है तब मणि-माणिक्य आदि

श्रीतुलसी-सन्त-संवाद	४	नाहीं । एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं ॥ ७ । १३० ।' 'रघुपति कृपा जथा मति गावा । मैं यह पावन चरित सुहावा ॥' से 'ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः' (ग्रन्थके अन्तमें)

प्रश्न—संवादोंमें 'विलोम इति' लगानेका क्या भाव है ?

उत्तर—'विलोम इति' का भाव यह है कि गोस्वामीजी ग्रन्थकार हैं। यदि ग्रन्थकर्त्ता आदि-अन्तमें न रहे तो ग्रन्थको आरम्भ और समाप्त कौन करे ? इसीसे आदि-अन्तमें आप ही रहे हैं। प्रारम्भ और इति, चारोंकी पृथक्-पृथक् कही हैं, बीचमें मुनि-संवाद और शिव-पार्वती-संवाद मिलाये हैं। (प० रामकुमारजी)

नोट—३ गोस्वामीजीने अपना संवाद याज्ञवल्क्यजीके संवादमें मिलाया। यथा—'कहौं जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संबाद। १ । ४३ ।' याज्ञवल्क्यजीने अपना संवाद शिवजीके संवादमें मिलाया। यथा—'कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। १ । ४ । ७ ।' शिवजीने अपना संवाद भुशुण्डिजीके संवादमें मिलाया। यथा—'सो संवाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब। १ । १२० ।' इसी तरह तालाबके घाट मिलाये जाते हैं।

४ गोस्वामीजीने अन्तमें मनहीको उपदेश देकर ग्रन्थको समाप्त किया है और आदिसे अन्ततक ठौर-ठौर मनहीको उपदेश दिया है। इसका कारण केवल उनका कार्पण्य है। कथा सज्जनोंसे कह रहे हैं, सज्जनोंको भला कैसे उपदेश देते ? उपदेश तो कुटिल जीवोंको दिया जाता है, सन्तमें कुटिलता कहाँ ? इसलिये मनकी ओटमें 'कुटिल जीव निस्तार हित' उपदेश देते आये। पर आपका संवाद सज्जनोंहीसे है। 'मन' को बारंबार उपदेश करनेके कारण कुछ महानुभावोंने गोस्वामीजीका संवाद अपने मनहीसे होना माना है। और किसी किसीने आपका संवाद अपने गुरु एवं अपने प्रेमियोंसे माना है।

"बिरचे बुद्धि बिचारि" इति।

१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मानस-सर' में पाषाण-मणि-चित्रित चार घाट हैं। यहाँ प्रथम संवाद गोस्वामीजीका जो 'भाषा बद्ध करब मैं सोई' है वह दैन्यतारूप श्वेत पाषाणरचित है। इस संवादमें धाम मणिवत् चित्रित है, क्योंकि यह अयोध्यापुरीमें प्रारम्भ हुआ और उसीके प्रभावसे ग्रन्थका माहात्म्य माना है। यथा—'सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी ॥ बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥'''१ । ३५ ।' दूसरा संवाद भरद्वाज-याज्ञवल्क्यका कर्मकाण्डरूप हरित-पाषाणरचित है। इसमें 'लीला' मणिवत् चित्रित है। यथा—'महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला ॥ रामकथा ससि किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना ॥ १ । ४७ । ६-७ ।' तीसरा संवाद शिव-पार्वतीजीका ज्ञानरूप स्फटिकपाषाणरचित है। इसमें 'नाम' मणिवत् चित्रित है। यथा—'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी ॥ १ । ११९ । १ ।' चौथा संवाद भुशुण्डि-गरुड़का उपासनारूप लाल पाषाणरचित है। इसमें प्रभुका रूप मणिवत् चित्रित है। यथा—'परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती ॥ ७ । १२० ।'

२ त्रिपाठीजी—पहले ग्रन्थकारने कहा था 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ॥ १ । १३ । १० ।' पर संवादकी रचनामें इन्होंने किसीका अनुकरण नहीं किया। चार-चार कल्पकी कथाओंका एक साथ कथन कहीं भी नहीं पाया जाता। सभीने किसी-न-किसी कल्पविशेषके रामावतारकी कही है, यथा—'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं ॥ तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। ',। यहाँपर ग्रन्थकारने अपनी बुद्धिसे काम लिया है, किसीका अनुकरण नहीं किया, इसीलिये कहते हैं कि 'बिरचे बुद्धि बिचारि। कर्मकाण्डी, ज्ञानी, उपासक और दीन सर्वसाधनहीन सब प्रकारके अधिकारियोंका काम एक ही रामचरितमानससे चल जाय, इस बातको बुद्धिसे विचारकर ग्रन्थकर्त्ताने चारों संवादोंकी, अपने रामचरितमानसके लिये रचना की।

३ श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—'लोकमें घाटकी जब विशेष रचना होती है तब मणि-माणिक्य आदि

टिप्पणी—१ 'तेइ एहि पावन सुभग सर ' इति। ऊपर १। ३६। ८ में जलको पावन और सुहावन कहा है, इसीसे यहाँ तालाबको भी पावन और सुभग कहा। कहनेका तात्पर्य यह है कि पृथ्वीके योगसे जल अपावन और मलिन हो जाता है सो बात इसमें नहीं हुई, क्योंकि शिवजीकी दी हुई, सुमति है। अथवा, (ख)—सवाद अत्यन्त सुन्दर है इससे घाटको मनोहर कहा, रामयशसे पूर्ण है इससे सरको सुभग कहा—('मनोहर' का अर्थ यह भी है कि चारों ही श्रोताओंका मन हर लेते हैं, जिस घाटमें उतरे उसीमें रामयश मिलता है। अर्थात् सब घाट रामयशमय हैं)

त्रिपाठीजी—(क) मलको दूर करनेवाली वस्तुएँ 'पावन' कहलाती हैं और मनको आकर्षण करनेवाली 'सुन्दर' कहलाती हैं। मन स्वभावसे ही विषयकी ओर आकृष्ट होता है। अत पावन और सुन्दर दोनों गुणोंका एकत्र होना दुर्लभ है परन्तु यह सर पावन भी है और सुन्दर भी। पावन इसलिये है कि वेदान्तवेद्य पुरुषका इसमें वर्णन किया गया है। यथा—'जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥' और सुन्दर इसलिये है कि विषयी जीवोंके चित्तमें भी आकर्षित करता है। यथा—'बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ७। ५३।' (ख) सवादपक्षमें 'सुठि सुंदर' और घाटके पक्षमें 'मनोहर' कहा है, इससे सिद्ध होता है कि 'सुठि सुदर' ही 'मनोहर' है। यद्यपि सुन्दरता और मनोहरतामें वस्तुभेद नहीं है, तथापि सुन्दरताके उत्कर्षमें मनोहरता आती है। यथा—'तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर॥'

टिप्पणी—२ (क) 'मानससरमें चार घाट है, यहाँ चार सवाद है, समता केवल इतनेहीमे है। यदि कोई कहे कि 'घाटसे जलकी प्राप्ति होती है तो शिव-मानसमें घाट कहाँ है, और अन्य ग्रन्थोंमे घाट कहाँ है, रामयश सबको प्राप्त होता है', तो उसपर कहते हैं कि गोस्वामीजी रूपक कह रहे हैं, चार सवाद कहकर उन्होंने अपने ग्रन्थमे चार घाट बनाये और सब रामयश आपहीने कहा है। यदि घाट न बनाते, केवल रामयश कहते तो क्या लोगोंको न प्राप्त होता?' अवश्य प्राप्त होता। पुन-, (ख) घाटके द्वारा जलकी प्राप्ति होती है, यहाँ वक्तालोग रामयश कह गये हैं, इसीसे सब लोगोंको प्राप्त हुआ।

"घाट मनोहर चारि" इति।

गोस्वामीजीने सवादको घाट कहा, घाटको मनोहर कहा और यह लिखते हैं कि बुद्धिने इन्हें विचारपूर्वक रचा है। रचा ही नहीं बल्कि 'बिरचे' अर्थात् विशेष रीतिसे रचा है। मानस परिचारिकाकार लिखते है कि 'इन शब्दोंसे प्रतीत होता है कि इन घाटोंमें कुछ-न-कुछ विचित्रता, विलक्षणता, अवश्य है। ये चारों एक समान न होंगे। तभी तो चार घाट कहे हैं, नहीं तो घाटका कौन नियम?' इसी विचारसे प्रायः सभी प्रसिद्ध टीकाकारोंने अपनी-अपनी बुद्धि घाटके रूपकको पूरा निवाह देनेमें लगायी है।

१—प० रामकुमारजी लिखते है कि 'सरमें चार घाट होते है। इसलिये उसकी जोड़में यहाँ चार सवाद कहे। केवल इतनेहीमे समता है' (मानसपरिचारिका, मानसतत्त्वविवरण और बैजनाथजीके तिलक इत्यादिमें घाटोंका रूपक पूरा-पूरा दिखाया गया है)

२—प्राय· तालाबमें चार घाट हुआ करते हैं। ग्रन्थकारने पम्पासरके वर्णनमें भी यह बात कही है। यथा—'पुनि प्रभु गए सरोबर तीरा। पपानाम सुभग गभीरा॥ संत हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी॥ आ० ३९।' चारो घाट एकसे नहीं होते। एक घाट सपाट होता है, जिसमें लँगड़े-लूले और पशु सुगमतासे जलतक पहुँचकर स्नान-पान कर सकते हैं। लौकिक तालाबोंमे प्राय इस घाटको 'गऊघाट' कहते हैं। यह घाट आजकलके तालाबोंमें प्राय· 'पूर्व' दिशामें होता है। दूसरा घाट 'पञ्चायतीघाट' कहलाता है, जिसमें सर्वसाधारण लोग बेरोक-टोक स्नान पान करते हैं। यह प्राय 'दक्षिण' दिशामें होता है। तीसरा घाट 'राजघाट' कहलाता है, जिसमें केवल उत्तम वर्णके अथवा बड़े लोग स्नान-पान करते हैं। यह घाट प्राय· 'पश्चिम' दिशामें होता है। चौथा घाट 'पनघट एव स्त्रीघाट' कहलाता है। यहाँ पुरुषोंको जानेका अधिकार नहीं, क्योंकि यहाँ सती-साध्वी स्त्रियाँ पीनेको जल भरती हैं तथा स्नान करती हैं। अच्छे सरमें यह घाट झँझरीदार होता है

कि बाहरसे भी कोई देख न सके। यथा—'पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष कराहिं असनाना॥ ७। २८।' यह घाट प्रायः 'उत्तर' दिशामें होता है।

३—अब यह प्रश्न होता है कि 'ग्रन्थकारने जो चार संवाद चार घाट कहे हैं तो कौन संवाद कौन घाट है और क्यों?' या यों कहिये कि 'इन घाटोंके कारीगरोंके नाम और काम क्या-क्या हैं?' और इसका उत्तर यह दिया जाता है कि—

(क) तुलसी-संत-संवाद 'गोघाट' के समान है। कारण यह है कि यह संवाद दीनतासे परिपूर्ण है। गोस्वामीजीने आदिके ३५ दोहोंमें विशेषकर और ग्रन्थमें ठौर-ठौर दीनता दर्शायी है। यथा—'सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥' 'लघु मति मोरि चरित अवगाहा। १। ८।' इत्यादि। अपनेको लूला-लँगड़ा या छोटी च्यूँटी सम कहा है—'अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं॥ १। १३।' ☞ जो सकल साधनरूपी अङ्गसे हीन हैं वे इस घाटमें आकर राम सुयश-जलको प्राप्त करके भव पार होंगे। यह घाट अति सरल है, इसमें सबका निर्वाह है। (मा० प्र०)।

☞ दीनतासे परिपूर्ण होनेके कारण इस संवादका 'दैन्यघाट' नाम रक्खा गया है। गोस्वामीजीका मत दोहावलीके 'तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरे दीन।' इस दोहेमें स्पष्ट है। वे कर्म, ज्ञान, उपासना तीनों मार्गोंको छोड़ एकमात्र दैन्यभावको ग्रहण किये हुए हैं। पाँडेजी इसे 'प्रपत्ति' घाट कहते हैं। त्रिपाठीजी दैन्यप्रधान कहनेका कारण यह लिखते हैं कि इनसे कोई पूछता नहीं है (प्रश्न नहीं करता है), पर 'करन पुनीत हेतु निज बानी' ये स्वयं अति उत्सुक हैं, कविसमाजमें वरदान माँगते हैं कि 'साधुसमाज भनिति सनमानू' हो। जानते हैं कि मुझसे कहते न बनेगा, पर अपनी रुचिसे लाचार हैं। अतः कहते हैं—'मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। १। ८। ६—९।' 'निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करौं सब पाहीं॥ १। ८। ४।'

(ख) याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद 'पञ्चायतीघाट' के समान है। इसे 'कर्मकाण्डघाट' भी कहते हैं। कारण कि इस संवादमें कर्मकाण्डकी प्रधानता है।

श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'कर्मकाण्डका यह स्वरूप है कि प्रथम गौरी, गणेश, महेशका मङ्गल करें। याज्ञवल्क्यजीने यही किया है। देखिये, याज्ञवल्क्यजीने प्रथम कहा है कि 'तात सुनहु सादर मन लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई॥ ४७।' परंतु 'रामकथा' न कहकर वे प्रथम शिव, शक्ति और गणेश आदिका चरित और महत्त्व कहने लगे। ऐसा करनेमें याज्ञवल्क्यजीका अभिप्राय यह है कि शैव, शाक्त, गाणपत्य इत्यादिको भी इस मानसमें स्नान कराना चाहिये। वे लोग अपने-अपने इष्टका महत्त्व इसमें सुनकर इस ग्रन्थको पढ़ेंगे।' तीनोंके महत्त्वका लक्ष्य, यथा—'संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥ १। ७०।' 'सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपानिकेता। पृथक-पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा॥ १। ८८।' इत्यादि शिवमहत्त्वके वाक्य हैं। 'मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥ अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥ जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥ १। ९८।'—इत्यादि शक्तिमहत्त्वके सूचक वाक्य हैं और—'मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि। कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि॥ १। १००।' इत्यादि गणेशमहत्त्वके लक्षण हैं। इस प्रकार याज्ञवल्क्यजीने कर्मपूर्वक तीनोंका महत्त्व कहकर तब श्रीरामकथा कही जिसमें अन्य देवोंके उपासक भी अपने-अपने इष्टकी उपासनासहित श्रीरामचरितमानससरमें स्नान करें।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि प्रश्नकर्ता भरद्वाजजीका कर्मविषयक ही प्रश्न हुआ। 'एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥ नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भयउ रोष रन रावन मारा॥'—ये दोनों कर्म मानो प्रश्नकर्ताको पसंद नहीं आये। कर्मविषयक प्रश्न करनेसे ही याज्ञवल्क्यजीने 'मनहु अति मूढ़ा' कहा है, फिर भी शीलगुणकी परीक्षा करके तब रामचरित्र कहा है।

इसके प्रवर्तक श्रीयाज्ञवल्क्यजी और श्रीभरद्वाजजी हैं। वक्ताके वचनोंमें प्रायः कर्महीका प्रतिपादन पाया जाता है। यथा—'भरद्वाज सुनु जाहि जब होत बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम॥ १। १७५।' 'यह इतिहास पुनीत अति उमहि कही बृषकेतु। भरद्वाज सुनु अपर पुनि रामजनम कर हेतु॥ १। १५२।' 'सो मैं तुम्ह सन कहउँ सबु सुनु मुनीस मन लाइ। रामकथा कलिमल हरनि मंगल करनि सुहाइ॥ १। १४१।' इत्यादि।

इनके प्रसङ्गोंका उपक्रम और उपसंहार कर्महीपर जहाँ-तहाँ मिलता है। उनमेंसे कहीं-कहीं प्रसङ्गमें श्रीरामपरत्व भी कहा गया है। मकर-स्नान, गणपति, शिव और शक्तिकी पूजा एवं महत्त्ववर्णनके पीछे मुख्य देवका आराधन है। ☞कर्मपूर्वक संवाद होनेके कारण इस संवादका 'कर्म-काण्डघाट' नाम रक्खा गया।

(ग) उमा-शम्भु-संवाद राजघाटतुल्य है। यह संवाद ज्ञानमय है। यथा—'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥ जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥ १। ११२।' 'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ ...१। ११७।' 'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। १। ११६। ४।' से 'राम सो परमातमा भवानी। ११९। ५।' तक, इत्यादि ज्ञानप्रतिपादक वचनोंसे शिवजीका कथन प्रारम्भ हुआ है। पं० रामकुमारजीका मत है कि ज्ञानका यही स्वरूप है कि परमेश्वर सत्य है, जगत्‌का प्रपञ्च असत्य है। यथा—'सत हरिभजन जगत सब सपना', 'रजत सीप महँ भास जिमि०' इत्यादि।

श्रीपार्वतीजीको ज्ञानविषयक संदेह हुआ। उनके प्रथम प्रश्न ब्रह्मविषयक ही हैं। यथा—'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥ १। ११०। ४।', 'प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥ राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥ जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। १०८।' सती-तनमें भी उनको यही शङ्का हुई थी कि 'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नृप जाहि न जानत बेद॥ ५०।' इसीसे शङ्करजीने प्रथम ब्रह्म-निरूपण ही किया।

प्रथम ही वचनमें ज्ञान भरा है। ज्ञान अगम्य है। यह संवाद दुर्गम है। इसके अधिकारी ज्ञानी हैं। यह सबके समझमें जल्द नहीं आ सकता। इसीसे इसका 'ज्ञानकाण्डघाट' नाम रक्खा गया है। और इसके प्रवर्तक श्रीशिव-पार्वतीजी हैं।

(घ) भुशुण्डि-गरुड़-संवाद 'पनघट' घाटके तुल्य है। जैसे सती स्त्री अपने पतिको छोड़ दूसरे पतिपर दृष्टि नहीं डालती, वैसे ही ये अनन्य उपासक हैं, अपने प्रभु और उनके चरित्रको छोड़ दूसरेकी बात भी नहीं करते। किसीका मङ्गलतक नहीं करते। यथा—'प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरितसर कहेसि बखानी॥ ७। ६४। ७।' इस संवादमें उपासनाहीकी प्रधानता है, यथा—'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। उ० ११९।' से 'जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल। सो कृपालु मोहि तोहि पर सदा रहउ अनुकूल॥ ७। १२४।' तक। इसीसे इसका 'उपासनाकाण्डघाट' नाम रक्खा गया है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'इस संवादमें ऐश्वर्यविषयक संदेह है। यथा—'सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥ भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥ ७। ५८।' भगवान्‌में समग्र ऐश्वर्य है। अनन्य उपासक अपने भगवान् (इष्ट) के ऐश्वर्यका अपकर्ष सह नहीं सकता, अतः (गरुड़को) 'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा। ७। ५८।' गरुड़के कहनेपर कि 'मोहि भयउ अति मोह प्रभुबंधन रन महुँ निरखि। चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन ७। ६८।' 'देखि चरित अति नर अनुहारी। भयउ हृदय मम संसय भारी॥ श्रीभुशुण्डिजी ऐश्वर्यका वर्णन करते हैं। गरुड़ ऐसे उपासकको पाकर अत्यन्त गोप्य रहस्य कहते हैं। जैसा शिवजीके 'पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास। ७। ६९।' से स्पष्ट है। इस संवादका सम्बन्ध रहस्य-विभागसे है, इसीसे यहाँ श्रीरामभक्ति एवं

परत्वके अतिरिक्त अन्य चर्चा ही नहीं। यहाँ भक्तिरहित व्यक्तिका प्रवेश नहीं है। यहाँ तो 'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा' उन्हींका प्रवेश है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'इसका सम्बन्ध रहस्यविभागमें है, इसीलिये यहाँके श्रोता-वक्ता पक्षी रक्खे गये हैं। यह घाट अन्य सभी घाटोंसे पृथक् है, क्योंकि किसी घाटसे इसमें रास्ता नहीं है, यथा—'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानै कोइ। जो जानै रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होइ॥ ७। ११६।' अतः इसकी कथा चौरासी प्रसङ्गोंमें अलग उत्तरकाण्डमें कही गयी।'

नोट—५ (क) श्रीसुधाकर द्विवेदीजीका मत उपर्युक्त दिये हुए घाटों, सवादों और उनके प्रवर्तकोंके नामोंसे कुछ भिन्न ही है। हम उनके शब्दोंको ही यहाँ उद्धृत किये देते हैं—'यदि चारों ओरसे ऐसा पक्का घाट बना हो जो टूटे नहीं तो बाहरके मैले सरोवरमें नहीं आ सकते। इसलिये याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, भुशुण्डि-गरुड, महादेव-पार्वती और नारद-वाल्मीकिके सवादरूप चारों घाट ऐसे मजबूत बने हैं जो कभी टूटनेवाले नहीं। ये घाट आप सुन्दर और साफ हीरेके हैं, सर्वदा मानसको निर्मल रखनेवाले हैं। महादेव-पार्वती-सवाद राजघाट भुशुण्डि-गरुडका सवाद गोघाट, जहाँ पशुपक्षी सब सुखसे स्नान-पान करें। नारद-वाल्मीकि-सवाद द्विजघाट जहाँ ऊँची जातिके लोग स्नान कर सकते हैं और याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-सवाद रामघाट है जहाँ सुखसे सर्वजातिके लोग स्नान करते हैं।'

(ख) मा० त० वि० कारका मत है कि 'बुद्धिके विचारद्वारा अनुभवात्मक रचा गया है, यथा—'समुझि परी कछु मति अनुसारा। १। ३१।' 'जस कछु बुधि बिबेक बल मोरें। तस कहिहउँ हिय हरिके प्रेरें॥ १। ३१।'' अतएव यह 'बुद्धि-विचार' नाम घाट है। अथवा जिन-जिन रामायण आदिमें रामचरित इन चारके संवादानुसार हैं, उन-उनका ही भाव लेकर विरचा है, अतः उन्हीं-उन्हींके सम्बन्धसे घाटोंकी सज्ञा है। इस प्रकार महारामायण अध्यात्मादिके तत्त्वसम्बन्धसे शंकरघाट, भुशुण्डिरामायणादिके तत्त्वसम्बन्धसे भुशुण्डिघाट, श्रीरामतापिनी उत्तरार्ध इत्यादिके तत्त्वसम्बन्धसे याज्ञवल्क्य वा भरद्वाजघाट और सत्योपाख्यान, अग्निवेश, वाल्मीकीय, बहुधा उपनिषद् संहिता स्मृति श्रुतिसम्मत, सद्गुरु-उपदेश, स्वानुभव-सम्मति तथा यत्र-तत्र कथाके अनुसार जिसमें रचना की गयी वह 'बुद्धि विचार' घाट है। अथवा कर्म, उपासना, ज्ञान, दैन्य। अथवा, बहि, अन्तर धन इति प्रश्न त्रिधा, चौथा मिश्रित ये चतुर्धा बुद्धिविचार नाम मनोहर चार घाट हैं।'

नोट—६ 'पूर्व आदि दिशाओंका विचार किस प्रकार किया गया? तुलसी-संत-घाटको पूर्वदिशाका घाट क्यों कहा गया?' इत्यादि शङ्काएँ भी यहाँ उठ सकती हैं। इनका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि—दिशाओंकी गिनती पूर्वसे प्रारम्भ होती है और यहाँ सर्व प्रथम सवाद श्रीतुलसीदासजी ग्रन्थकर्ता और मतका है। दूसरे, लोकमें लँगड़े-लूलों, पशु-पक्षियों आदिके जल पीनेके लिये सपाट घाट होता है। वह भी प्रायः पूर्वदिशामें ही होता है अतः तुलसी-संत-सवाद पूर्वघाट हुआ। परिक्रमा पूज्यस्थानों, घर, मन्दिर आदिकी दक्षिणावर्त्त होती है। दक्षिणावर्त्त प्रदक्षिणा करते चलें तो पूर्वके पश्चात् क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाएँ पड़ेंगी। श्रीरामचरितमानसमें क्रमशः तुलसी-संत सवादके अन्तर्गत याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, शिव-पार्वती और भुशुण्डि गरुड़-सवाद आते हैं। अतएव इनको क्रमसे दक्षिण, पश्चिम और उत्तरके घाट कहे गये। ये ही क्रमसे दैन्य वा प्रपत्ति (गोघाट), कर्म (सर्वसाधारण स्मार्त आदि सब मतवालोंका 'पचायती' घाट), ज्ञान (राजघाट) और उपासना वा पनघट घाट हैं। जैसे तुलसी-संतके अन्तर्गत शेष तीनों सवाद वैसे ही प्रपत्तिके अन्तर्गत कर्म, ज्ञान और उपासना सब हैं।

त्रिपाठीजी—एक ही तालाबमें चारों घाट हैं। अतः चारों एक होनेपर भी दिशाभेद (दृष्टिकोणभेद) से पृथक् हैं। दैन्य घाटके सम्मुख पड़ता है, कर्म-उपासना बायें-दाहिने पड़ते हैं, इस भाँति ज्ञानघाट कर्मघाटके सम्मुख

उपासनाघाट पड़ता है, दैन्य और ज्ञान दाहिने-बायें हैं। भाव यह कि 'ज्ञानमार्गं तु नामत' अर्थात् नामसे ज्ञानमार्गकी प्राप्ति होती है। दैन्यमार्गवालेको केवल नाम बल है, अत ज्ञान उसके सम्मुख पड़ता है। कर्म और उपासनाका समुच्चय विहित है,—'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय सह। अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥' कर्म और उपासनाका जो एक साथ सेवन करता है वह कर्मसे मृत्युको तिरकर उपासनासे अमृतका भोग करता है। अत. कर्म-घाटको उपासनाके सम्मुख कहा। दायें-बायेंवाले ('पार्श्ववर्ती') का भी प्रभाव पड़ता ही है, पर वे साक्षात् सम्मुख नहीं हैं।

नोट—७ 'जो रामचरितमानस शिवजीने ही रचा वही तो सबने कहा, उसमें कर्म, ज्ञान, उपासना आदि कहाँसे आये? वहाँ तो जो एकका सिद्धान्त है वही सबका चाहिये?' यदि कोई यह शङ्का करे तो उसका उत्तर यह है कि सबका सिद्धान्त एक-रामचरितमानस ही है। चारों वक्ता श्रीरामजीके उपासक हैं परंतु श्रीरामचरितमानसमें चार प्रकारके घाट बँधे हैं। कारण यह है कि श्रीशिवजीने जो मानस रचा है वह अत्यन्त दुर्गम है, जैसा ग्रन्थके अन्तमें कहा गया है—'यत्पूर्वं प्रभुणा कृत सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्' वह समस्त जीवोंको सुगमतासे प्राप्त हो जाय यह सोचकर कविने भगवान् शङ्करकी दी हुई सुन्दर बुद्धिसे विचारकर इसमें चार प्रकारके सवादरूपी चार घाट रचे। जो ज्ञानी हैं वे ज्ञानघाट होकर श्रीरामयश-जल प्राप्त करें, उपासक उपासनाघाट होकर, कर्मकाण्डी स्मार्त पञ्चायतीभक्त कर्मघाट होकर और सर्व-कर्म-धर्मसे पशु सर्वसाधनहीन दैन्य वा प्रपत्तिघाट होकर उसी श्रीरामयशजलको प्राप्त करें। श्रीरामचरितमानस एक ही है पर उसके आश्रित कर्म, ज्ञान, उपासना, दीनता सभी हैं।—ये सब भाव 'विरचे बुद्धि बिचारि' इन शब्दोंकी ही व्याख्या है। (मा० प्र०)।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि श्रीरामचरितमानसके चारों वक्ताओंके मानसोंमें भी कुछ सूक्ष्म भेद हुए हैं, फिर भी गोस्वामीजीने अपने मानसमें चार घाट बनाकर प्रत्येक घाटके लिये वक्ता और श्रोता नियत कर दिये हैं जिसमें रास्ता अलग-अलग होनेपर भी प्राप्य स्थान एक ही रहे। रूपकमें जहाँ कहीं भेद पड़ता है, उसे किसी-न-किसी जगह व्यक्त कर दिया है। यथा—'जे पदसरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं।' इससे पता चलता है कि श्रीशिवजीके 'मानससर' में सरकारके चरण ही कमल हैं। पर गोस्वामीजी स्पष्ट कहते हैं कि 'छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा॥ ३७। ५।' मेरे मानसमें तो छन्द-सोरठा-दोहारूपी कमल हैं, मैं सरकारके चरणोंको मानसका कमल न बना सका। 'जो भुसुण्डि मन मानस हंसा। १। १४६।' 'हर हृदि मानस बाल मराला। ३। ११।' इन पदोंसे पता चलता है कि भुशुण्डिजी तथा शंकरजीके मानससरमें स्वय सरकार हंसरूप थे। पर गोसाईंजी कहते हैं कि इतना सौभाग्य मेरा नहीं, मेरे मानसमें तो 'ज्ञान बिराग बिचार मराला' है। रूपकके शेष अंग सबके 'मानसों' में समान मालूम होते हैं।

☞ सवादका रूपक घाटसे बाँधा गया। यह रूपक आगे दिये हुए नकशोंसे सुगमतासे समझमें आ जायगा।

	चार मुख्य सवाद	श्रीतुलसी-सत	श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज	श्रीशिव-पार्वती	श्रीभुशुण्डि-गरुड़
१	सवादोंकी भूमिका	'वर्णानामर्थसघाना रसाना छन्दसामपि' म० श्लोक १ से	'भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा।'… १। ४४ (१) से 'करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी॥ ४५॥ ६।' तक	'कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा सभु संवाद॥ ४७।' से 'कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैल कुमारी। १०७। ६।' तक	'ऐसिअ प्रश्न बिहगपति कीन्हि काग सन जाइ। सो सब सादर कहिहउँ सुनहु उमा मन लाइ॥ उ०। ५५।' से 'मधुर बचन तब बोलेउ कागा। उ० ६३। ८।' तक।

	चार मुख्य संवाद	श्रीतुलसी-सन्त	श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज	श्रीशिव-पार्वती	श्रीभुशुण्डि-गरुड़
२	संवाद कहाँसे प्रारम्भ हुआ	'बरनउँ रघुबर बिसद जसु सुनि कलि कलुष नसाइ ॥२९॥ जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई ॥ कहिहउँ सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुख मानी ॥ बा० । २९ । ३० ।' से 'कहउँ जुगल मुनिबर्जकर मिलन सुभग संवाद। ४३ ।' तक। वस्तुत सारा रामचरितमानस तुलसी-संत-संवाद है। सब संवाद तुलसीदासजीने सुनाये हैं।	नाथ एक संसउ बड़ मोरे। करगत बेद तत्व सब तोरे॥ ४५ । ७ ।' से	'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी ॥ १०७ । ७ ।' से	'आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयहु केहि काज ॥ उ० ६३ ।' से
३	संवादोंकी इति कहाँने लगायी गयी *	'रघुपति कृपा जथा मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा। १ । १३० । ४ ।' (प० रा० कु०)	'यह सुभ संभु, उमा संवादा। सुख संपादन समन बिषादा ॥ उ० १३० ।' (प० रा० कु०)	'रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समन मनोमल हरनी उ० १२९ ।' (प० रा० कु०) 'मैं कृतकृत्य भइउँ अब'।' (मा० सं०)	'तासु चरन सिर नाइ करि प्रेम सहित मति धीर। गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर ॥ उ० १२५।'
४	घाटके रूपक-में कौन संवाद कौन घाट है	दैन्यघाट (यह संवाद दीनता और कार्पण्यसे परिपूर्ण है)	कर्मकाण्डघाट (इसमें कर्मकाण्ड-की विशेषता है। मकर-स्नान, गौरी-गणेश-महेशकी पूजा, महत्त्व आदिका वर्णन करके तब मुख्य-देवकी कथा है)	ज्ञानघाट यह ज्ञान और अनुभवपूर्ण संवाद है। ज्ञान-मय वचनोंसे ही इसका प्रारम्भ हुआ है।	उपासनाघाट इसमें अनन्य उपासनाकी रीति आद्योपान्त भरी है।
५	लौकिक सरके किस घाटके तुल्य ये घाट हैं	गऊघाट (जहँ जल पिअहिं बाजि गज ठाटा)	पञ्चायतीघाट (मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर)	राजघाट (राजघाट सब बिधि सुंदर बर)	पनघट (तहाँ न पुरुष करहिं असनाना)

* मयङ्ककार प्रथम तीन संवादोंकी इति यों लगाते हैं। तुलसी-सन्त—'वर्णानामर्थसंघाना' से 'बोले अति पुनीत मृदु बानी' तक। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज—'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी' तक। शिव-पार्वती—'बहु बिधि उमहि प्रसंसि पुनि बोले कृपा निधान' तक।

* श्रीसीताराम *

॥ श्रीरामचरितमानस-सर ॥

उत्तर दिशा

'नाथ कृतारथ भयउँ मैं तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयहु केहि काज॥
सदा कृतारथरूप तुम्ह कह मृदु बचन खगेस।
जेहि कै अस्तुति सादर निज मुख कीन्ह महेस॥' इत्यादि।

४५ (७) इत्यादिसे।

'नाथ एक संसउ बड़ मोरें। करगत बेदतत्त्व सबु तोरें॥'

दक्षिण दिशा
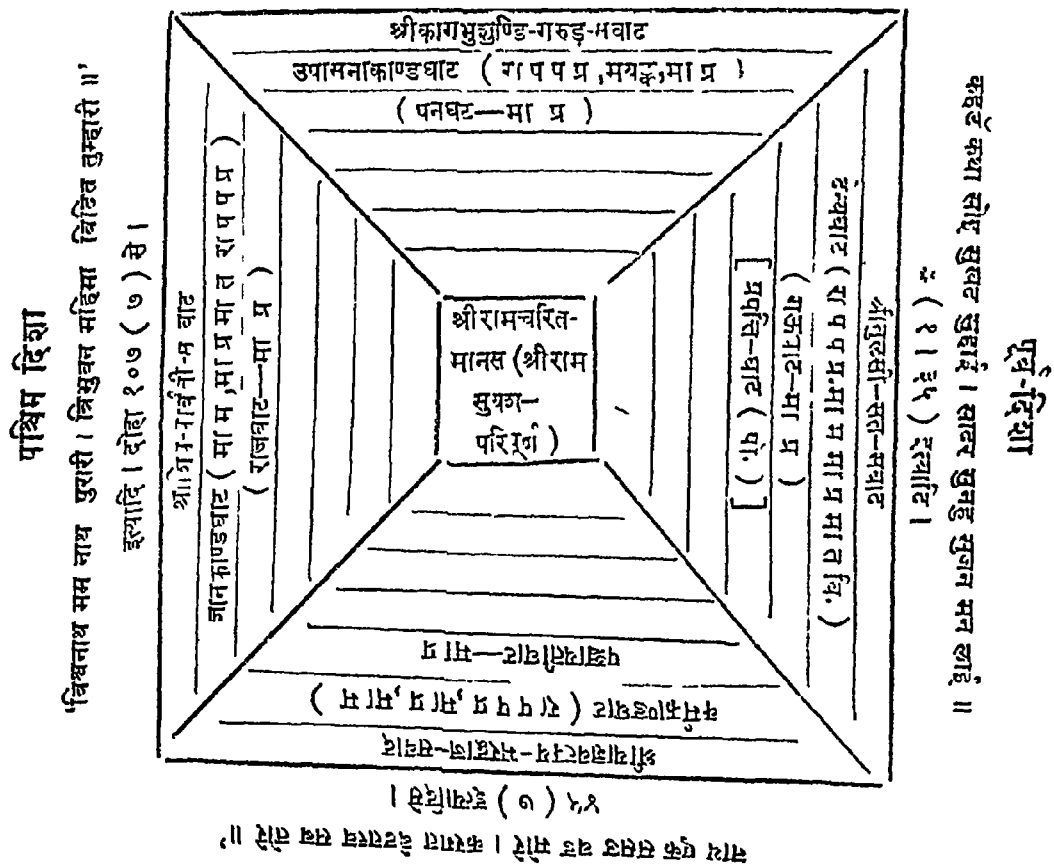
सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना॥ १॥

शब्दार्थ—प्रबन्ध—यह शब्द 'प्रबन्धकल्पना' से लिया गया है जिसका अर्थ है—वाक्यविस्तारकी रचना, काण्ड। सोपान=सीढ़ी। निरखत=देखते ही। मन माना=मन रमता है, प्रसन्न होता है, मान लेना है अर्थात् उसको प्रतीति हो जाती है। यथा—'कौसिक कहेउ मोर मन माना', 'मन माना कछु तुम्हहिं निहारी'

* मयङ्ककारके मतानुसार यह संवाद 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि' से प्रारम्भ हुआ है और 'करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी' पर समाप्त हुआ। संवाद और घाटक्रम अधिक मतके अनुसार यहाँ उसने दिखाया गया है। भिन्न-भिन्न मतोंका उल्लेख पूर्व पृष्ठोंमें किया जा चुका है।

अर्थ—सात सुन्दरकाण्ड ही इस मानसकी सुन्दर (सात) सीढ़ियाँ हैं। ज्ञानरूपी नेत्रसे देखते ही मन प्रसन्न होता है ॥ १ ॥

नोट—१ (क) घाट बँधनेपर भी सीढ़ीके बिना जलका मिलना अति कठिन जानकर ग्रन्थकार स्वयं ही सीढ़ीका निर्माण करते हैं। घाटमें सीढ़ियाँ होती हैं। ऊपर चार संवादोंको चार घाट कहा है। अब बताते हैं कि वहाँ मानस-सरमें सीढ़ियाँ हैं, यहाँ रामचरितमानस-सरमें सात प्रबन्ध सात काण्ड ही सात सीढ़ियाँ हैं। ['यह शंका न करनी चाहिये कि लोगोंने पीछेसे वाल्मीकीय आदिके आधारपर सातों प्रबन्धोंके बाल, अयोध्या आदि नाम रख दिये, क्योंकि बिना इनके माने काम नहीं चलता। ग्रन्थभरमें कहीं किष्किन्धाका नाम नहीं आया है। यदि चौथे प्रबन्धका नाम किष्किन्धा न मानिये तो 'संग्रिन्ह पुर डेरा बिनु माई' अथवा 'अर्धरात्रि पुर द्वार पुकारा' इन अर्धालियोंके 'पुर' का पता ही न चलेगा कि यह कौन सा पुर था, जिसका हाल कह रहे हैं'। (वि० त्रि०)। परंतु उत्तरकाण्डमें उन्हींका मत इसके विरुद्ध है—(मा० सं०)] आगे कहेंगे कि इन सातों सीढ़ियोंपर रामसुयश जल परिपूर्ण भरा है, इन्हीं सीढ़ियोंपरसे होकर कविता-सरजू बहेगी। (ख) अब यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब सातों सीढ़ियोंपर जल भरा है तो सब सीढ़ियाँ दिखायी कैसे देती हैं ?' उसीका समाधान दूसरे चरणमें करते हैं कि 'ज्ञान नयन निरखत मन माना' अर्थात् साधारण नेत्रोंसे ये नहीं दिखायी दे सकतीं, इनके देखनेके लिये ज्ञान-नयन चाहिये। उनसे देखनेसे प्रतीति होगी कि हम यथार्थ ही कह रहे हैं।

श्रीजगद्विहारस्वामीजीका एक पद ज्ञान-नयनपर है—'कई तरहकी ते अँखियाँ नर चितवत जिन आँखिन से। हैं अँखियाँ तो इतर जननकी काम एक तासन से ॥ वेद अँखियन से ब्राह्मण देखैं भूप चार चाकन से। रसिया रस अनुभवसे देखे पशु पक्षी नाकन से ॥ नारी गतिमें वैद विलोकहिं जोतिषि ग्रह आँकन से। ध्यानकलासे जोगी देखे चतुर चाल ताकन से ॥ बड़े अमीर अमीरी किम्मत परख लेत साकन ते। देव सदा अंतरगत परखहिं बदन नयन आँकन ते। कई तरहकी ते अँखियाँ० ।'

टिप्पणी—१ 'सातों सीढ़ियोंमें जल होना कैसे कहा ? ऊपरकी सीढ़ी तो जल-रहित होगी और यदि ऊपरकी सीढ़ीमें जल नहीं है तो ऊपरवाला सोपान (काण्ड) भी रामयश-जलसे रहित होना चाहिये। पुनः यदि सातों जलमें डूबी हैं तो नीचेकी सीढ़ीका जल मिलना दुर्लभ है क्योंकि जल अगाध है'—इस शङ्काका समाधान यह है कि 'यहाँ रूपक है' साक्षात् सीढ़ियाँ नहीं हैं और न साक्षात् जल ही है। रामयश सातों काण्डोंमें भरा है और लोगोंको ज्ञान भी होता है; इतने ही देशमें उपमा है। सात जो प्रबन्ध हैं सोई सुन्दर सोपानका प्रबन्ध अर्थात् प्रकर्ष करके बाँधना है, इसीसे 'प्रबन्ध' पद यहाँ दिया है।'—[समाधान यों भी हो सकता है कि—यहाँ इन्हीं शङ्काओंके निराकरणके लिये कविने प्रथम ही 'रिचे बुद्धि बिचारि' कहा और यहाँ 'ज्ञान-नयन निरखत मन माना' कहा है। भाव यह है कि यहाँ प्रथम सीढ़ीसे लेकर अन्ततक सभी सीढ़ियोंमें जल भरा है, परन्तु जिनको ज्ञान-नयन नहीं हैं उनको तो अन्तिम सीढ़ीपर भी उसका अभाव ही देख पड़ेगा। और ज्ञानदृष्टिसे देखनेवालेको तो प्रथम सीढ़ीपर भी अगाध जल ही मिलेगा।]

२ (क) 'सुभग' कहकर सूचित किया है कि सब सोपान रामयशसे परिपूर्ण हैं। (ख) मानसके भरनेपर उसका 'सुमानस' और 'थल' का 'सुथल' नाम पड़ा, यथा—'भरेउ सुमानस सुथल थिराना'। इसी तरह जब ग्रन्थकारके मनमें वेद पुराणकी सब बातें आ गयीं, तब घाट-सीढ़ी इत्यादिकी रचनाका विचार हुआ। बालकाण्डसे उत्तरकाण्डतक क्रमसे सीढ़ियाँ कहीं। इन सबोंमें रामयश भरा है और इनको उ० १२९ में 'रघुपति भगति केर पयाना' कहा है, इन्हीं कारणोंसे सोपानको 'सुभग' कहा। घाटको 'मनोहर' कह ही आये, तब उसकी सीढ़ियाँ क्यों न सुन्दर हों ? (ग) 'मन माना' कहनेका भाव यह है कि मनका स्वभाव यह है कि प्रत्यक्ष देखनेहीसे मानता है। उसपर कहते हैं कि यहाँ यह बात नहीं है, यह बाहरके नेत्रोंसे नहीं देख पड़ता, ज्ञाननेत्रसे देख पड़ता है, और ज्ञाननेत्रसे देखनेपर मन प्रसन्न हो जाता है।

नोट—२ पुराने खर्रेमें लिखा है कि सुभगसे जनाया कि 'वह घाट मणियोंसे रचा गया है, वैसे ही यहाँके घाट 'रामचरित चिंतामनि चारू' मय हैं। श्रृङ्गारादि नवों रसोंमें प्रवेश किये हुए जो रामचरितमानस है वही अनेक रंगोंकी मणियाँ हैं'। परन्तु यहाँ रामचरितको मणि और नवों रसोंको अनेक रङ्ग माननेसे पूर्वापरविरोध होता है, क्योंकि इस रूपकमें रामयशको जल और रसोंको जलचर कहा गया है (दोहा ३६ मे प० रूपनारायणजीका टिप्पण देखिये) सम्भवत इसी कारणसे प० रामकुमारजीने साफ खर्रेमें इस भावको निकाल दिया।

सू० प्र० मिश्र—१ (क) सुभग=सुन्दर=अपूर्व। भाव यह है कि सातो काण्डोंकी कथा श्रुति, स्मृति, महाभारत, पुराण आदिकोंसे अपूर्व है। इसकी अपूर्वता यह है कि ज्ञानकी परम अवधिके पहुँचे बिना भी रामचरित्रका सुननेवाला जन परमपदका भागी हो जाता है। 'भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि'। सीढीको सुन्दर माननेका भाव यह है कि और सीढियोंके समान न इनमें काई लगती है, न ये पुरानी होकर बिगड़ जाती है और न इनपरसे चलनेवालेको कोई भय रह जाता है। सातों काण्डोंकी कथाको सीढ़ी माननेका भाव यह है कि सीढ़ीद्वारा लँगड़ा, लूला, अन्धा, कमजोर सभी अनायास चढ सकते है और बड़े-बडे कठिन रास्तोंको पार कर सकते हैं, चढनेकी सारी कठिनता जाती रहती है और अगम राह सुगम हो जाती है। अब यह स्पष्ट हो गया कि रामचरित्रके अधिकारी सभी हैं और हो सकते हैं, इस राहमें किसी विशेष पाण्डित्य आदिकी, कोई किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। यह राजमार्ग है। सभी इसके द्वारा मुक्तिके अधिकारी हो सकते हैं। इसीलिये ग्रन्थकारने आगे 'ज्ञान नयन निरखत मन माना' कहा अर्थात् ये बातें बिना ज्ञानके समझमें नहीं आवेंगी। (ख) 'मन माना' शब्दमें यह ध्वनि है कि फिर किसी बातकी कुछ भी कमी रह ही नहीं जाती और अवश्य मनुष्य परमपदका अधिकारी हो जाता है। 'मन माना' के और भी अर्थ ये हैं—एक 'जो बातें मनमें माने उनको देख सकता है।' 'दूसरे, अवश्य मन मान जाय अर्थात् सुखी हो जाय।' दूसरा भाव यह है कि समुद्र सात हैं, जिनमेंसे अन्तिम मधुर जलका है, बिना मधुर जलके तृप्ति नही होती। वैसे ही श्रीरामजीका साम्राज्य बिना देखे आनन्द नहीं प्राप्त होता।

त्रिपाठीजी—श्रीरामचरित्रके साथ-साथ प्रत्येक काण्डमे दो दो प्रकारके भक्तोंकी कथाएँ हैं। इस भाँति सातों काण्डोंमें वाल्मीकिजीकी कही हुई चौदह प्रकारकी भक्तियोंका निरूपण है—यह पूर्व कहा जा चुका है। इनमेंसे किसी प्रकारका आश्रयण करनेसे परम कल्याण है, फिर भी ये परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं किसीका आश्रयण करनेसे अन्यमें विचरणकी शक्ति आप-से-आप हो जाती है। अत ये प्रबन्ध पृथक्-पृथक् होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं, क्योंकि सभी भक्तिके प्रतिपादक है, यथा—'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पथाना॥ ७। १२९।' और मुक्ति भक्तिको छोड़कर कहीं रह नहीं सकती, यथा—'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥ ७। ११९।'

नोट—३ 'रघुपति भगति केर पथाना' से सूचित होता है कि ये सातों सोपान श्रीरामजीकी उत्तरोत्तर भक्तिके मार्ग हैं। प्रत्येक काण्डकी जो फलश्रुति या माहात्म्य कहा गया है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रथम सोपान—'उपबीत ब्याह उछाह मगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि रामप्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं॥
सियरघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं। तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजसु।'

द्वितीय सोपान—'कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल। सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल॥ ३। ६।'

तृतीय सोपान—'रामभगति दृढ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥'

चतुर्थ सोपान—'भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि। तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥'

पञ्चम सोपान—'सुखभवन ससय समन दवन बिषाद रघुपति गुनगना। 'सकल सुमगल दायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान॥'

षष्ठ सोपान—'यह रावनारि चरित्र पावन रामपदरतिप्रद सदा। कामादिहर बिज्ञानकर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा॥
समर बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान। बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान॥'

सप्त सोपान—'रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ॥'

संवत् १६६१ वाले बालकाण्डकी 'इति' इस प्रकार है—'श्रीरामचरितमानसे (स) कलकलिकलुषविध्वंसने प्रथमः सोपानः समाप्तः।' राजापुरके अयोध्याकाण्डमें 'इति' नहीं है। श्रीपंजाबीजी, रामायणपरिचर्याकार, श्रीबैजनाथजी, बाबा हरिदासजी, श्रीभागवतदासजी, वीरकविजी आदिने सोपानोंके नाम भी 'इति' में दिये हैं। इन नामोंमें भेद है। इससे संदेह होता है कि गोस्वामीजीने नाम दिये हों। सम्भव है कि पीछे फलश्रुतिके अनुकूल इतिमें महानुभावोंने नाम भी रख दिये हों। उदाहरणार्थ कुछ पुस्तकोंमें दी हुई इतियाँ लिखी जाती हैं—

	प्रथम सोपान	द्वितीय सोपान	तृतीय सोपान	चतुर्थ सोपान	पञ्चम०	षष्ठ०	सप्तम०
भा० दा० छ०, रा० आ० दा०	सुखसम्पादनो नाम प्रथम सोपान	×	विमलवैराग्य सम्पादनो नाम तृतीय सोपान	विशुद्धसंतोष सम्पादनो नाम	ज्ञानसम्पादनो नाम	विमल विज्ञान सम्पादनो'	अविरल हरिभक्ति सम्पादनो०
रा० प०	विमलसंतोष सम्पादनो ··	×	" "	"	,	"	"
प०	अविरलभक्ति सम्पादनो '		" "	ज्ञानवैराग्य सम्पादनो	विमल विज्ञान	विमल·· विज्ञान	अविरल हरिभक्ति'
वीरकवि	विमलसंतोष सम्पादनो'	विमलविज्ञान वैराग्य	" ,	विशुद्धसंतोष सम्पादनो०	ज्ञान सम्पादनो	विशुद्ध संतोष सम्पादनो०	अविरल हरिभक्ति सम्पादनो ·

श्रीबैजनाथजीमें प्रथम छः काण्डोंकी इति एक ही है 'विमलवैराग्यसम्पादनो' सातवेंमें इति नहीं दी है। विचार करनेसे श्रीभागवतदासजीके नाम विशेष उपयुक्त जान पड़ते हैं। रा० प० मेंकी इतियाँ (केवल प्रथम सोपानको छोड़कर) सब वही हैं जो भा० दा० में हैं। विमल सन्तोष चतुर्थमें आया है, इसलिये प्रथम सोपानमें भी वही नहीं होना चाहिये। दूसरे प्रथम सोपानमें 'सर्वदा सुखकी प्राप्ति कही है' अतः उसका नाम 'सुख सम्पादन' ठीक है। दूसरे सोपानमें इति नहीं है, उसकी इति अरण्यकाण्ड दोहा ६ में है, तथापि काण्डके अन्तमें भरतचरितश्रवणका माहात्म्य कहा गया है। उसके अनुसार उस सोपानको 'प्रेम एवं भवरसविरति' नाम दे सकते हैं। सुखभोगके पश्चात् उससे वैराग्य और श्रीरामजीमें प्रेम होता है जिससे श्रीरामजीकी अनुकूलता होती है।

पं० रामकुमारजी (किष्किन्धाकाण्डके अन्तमें) लिखते हैं कि प्रत्येक काण्डके अन्तमें जो फलश्रुति है, वही सोपानका नाम है। जैसे कि—(१) बालकाण्डकी फलश्रुतिमें व्रतबन्ध और विवाह आदिका वर्णन है। यह सब कर्म है और कर्मका फल सुख है। इसीसे बालकाण्ड 'सुखसम्पादन' नामका सोपान है। (२) अयोध्याकाण्डकी फलश्रुतिमें 'प्रेम और विरति' का वर्णन है, अतः वह 'प्रेम वैराग्यसम्पादन' नामक काण्ड है। (३) अरण्यकाण्डकी फलश्रुतिमें वैराग्य है, इसलिये वह 'विमल-वैराग्य-सम्पादन' नामका सोपान है। [तीसरा सोपान 'दृढभक्ति-सम्पादन' है—'रामभगति दृढ़ पावहिं··'।' परंतु इसे 'विमल वैराग्यसम्पादन' नाम दिया गया, जिसका कारण सम्भवतः यह है कि माहात्म्यके पश्चात् इसमें कविने मनको उपदेश किया है कि 'दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग। भजहिं राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग ॥'] (४) चौथेको 'सकल मनोरथ' सिद्ध करनेवाला कहा है। मनोरथसिद्धिसे संतोष होता है, इसीसे इसका 'विशुद्ध-संतोष-सम्पादन' नाम है। (५) पाँचवें सोपानको 'सकल-सुमंगलदायक' कहा है। सुमंगल ज्ञानका नाम है। इसीसे यह

'ज्ञान-सम्पादन' नामका सोपान है। (६) छठेको 'विज्ञानकर' कहा है, अत इसका 'विज्ञानसम्पादन' नाम है। और (७) सातवें सोपानमें 'अविरल हरिभक्ति' का वर्णन है। यथा—'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥', इसीसे वह 'अविरल हरिभक्तिसम्पादन' नामक सोपान है। ☞ साराश यह है कि जैसा क्रम सातों सोपानोंकी फलश्रुतिमें है, उसी प्रकार धर्म, वैराग्य, संतोष, ज्ञान, विज्ञान और हरिभक्तिकी प्राप्तिका क्रम है। अर्थात् धर्मका फल वैराग्य, वैराग्यका संतोष, संतोषका ज्ञान, ज्ञानका विज्ञान और विज्ञानका फल हरिभक्ति एव रामधामप्राप्ति है।

नोट—४ 'ज्ञान नयन निरखत' इति। 'ज्ञाननयनसे क्या देखे ?' के उत्तरमें महानुभावोंने यह लिखा है—

(१) मानसदीपक तथा रा० प्र० एव मानसपत्रिकाकार लिखते हैं कि शास्त्रजन्य ज्ञानमें इन सीढ़ियोंको देखना चाहिये। इस तरहसे कि बालकाण्ड प्रथम सोपानमें श्रीसीतारामसयोग बना, इसलिये यह सोपान 'साख्यशास्त्र' है। अयोध्याकाण्ड दूसरा सोपान वैशेषिक अर्थात् वैराग्यशास्त्र है, क्योंकि इससे वैराग्यका उपदेश मिलता है। अरण्यकाण्ड तीसरा सोपान मीमासाशास्त्र है, क्योंकि इसमें क्षत्रियका परमधर्म दुष्टनिग्रह और सज्जन-पालनका वर्णन है। इसी तरह किष्किन्धाकाण्ड चौथा सोपान योगशास्त्र है। सुन्दरकाण्ड पाँचवाँ सोपान न्यायशास्त्र है। लङ्का वेदान्त है और उत्तर साम्राज्य शास्त्र है।—(अधिक देखना हो तो रामायणपरिचर्या और मानसपत्रिका पृष्ठ २१७ देखिये)।

(२) बैजनाथजी—ज्ञान-नयनसे क्या देखे ? यह कि—बाल साख्यशास्त्र है, अयोध्या वैशेषिक, अरण्य मीमासा, किष्किन्धा योग, सुन्दर न्याय, लङ्का वेदान्त और उत्तर साम्राज्य है। अथवा ज्ञानकी सप्तभूमिकाएँ हैं वे ही सप्त सोपान है। अथवा, नवधाभक्तिका नौ सीढ़ियोंमेंसे श्रवण-कीर्तन ये बाहरसे चढ़नेकी दो सीढ़ियाँ हैं और शेष सात भीतरकी सात सीढ़ियाँ हैं।—(यह भाव "एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पथाना॥' इस चौपाईके आधारपर कहा गया जान पड़ता है)। अथवा, ज्ञानसे यह विचार करना चाहिये कि यहाँ चार सवाद चार घाट हैं। शिवकृत मानससरमें चार घाट कौन है, विचारनेसे जान पड़ेगा कि नाम, रूप, लीला और धाम ही चार घाट थे। उन्हींके अवलम्बपर चारों सवाद हैं। इन सवादोंके अन्तर्गत धाम आदिका वर्णन सात-सात ठौर जो ग्रन्थमें है वही सातों प्रबन्ध सातो सुन्दर सीढ़ियाँ है।—रामचरित जलरूप है। उसके प्रारम्भमें जो प्रथम सीढ़ी है वह देखनेमात्र खुली है, अन्य छ सीढ़ियाँ जलमें डूबी हैं। प्रारम्भ समय जो अवध-प्रभाव वर्णन किया—'रामधामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति पावनि॥ १। ३५। ३।' इत्यादि प्रथम सोपान है फिर श्रीरामजन्मसमय जो वर्णन किया—'अवधपुरी सोहै एहि भाँती। १। १९५।' इत्यादि दूसरा सोपान है। फिर विवाहसमय, वनसे लौटनेपर, राज्याभिषेक होनेपर, भुशुण्डि-प्रसङ्गमें तथा शिववचनमें जो धामका वर्णन है, यथा—'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि।···१। २९६।', 'जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। ७। ४।', 'देखत पुरी अखिल अघ भागा। ७। २९।', 'अवध प्रभाव जान तब प्रानी। ७। ९७।', 'पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। ७। १०९।'—ये शेष पाँच सीढ़ियाँ धाम-सप्त-प्रबन्ध दैन्यघाटमें हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-सवाद लीला अवलम्ब कर्मघाटमें सप्तप्रबन्ध लीला सोपान है। यथा—'तेहि अवसर भजन महि भारा। हरि रघुबस लीन्ह अवतारा॥ १। ४८।', 'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा॥ १। ११०।', 'जब जब होइ धरम कै हानी।''तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि · १। १२१।', 'एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी॥ · '(१। १२३), 'तहाँ जलधर रावन भयऊ। रन हति। १। १२४।', 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा॥ ' एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। १। १२४—१३९।', 'प्रभु अवतार कथा पुनि गाई।' "७। ६४।' से ६८ (७) तक। इसी तरह शिव-पार्वती-सवाद ज्ञानघाट नामावलम्ब नामके सात प्रबन्ध है. यथा—'रामनाम कर अमित प्रभावा।' इत्यादि 'जागी सरत जतु अवलोकी। जासु नाम ॥ बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥ १। ११९।', 'जासु नाम सुमिरत एक बारा।···२। १०१।', 'राम राम कहि जे जमुहाहीं।''२। १९४।', 'राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ''। ३। ४२।', 'रामनाम बिनु गिरा

न सोहा। ५। २३।', 'तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघपूग नसावन। ७। ९२।', तथा भुशुण्डि-गरुड़-संवाद उपासनाघाटरूपावलम्ब रूपके सात प्रबन्ध है, यथा—'नील सरोरुह नील मनि नीलनीलधर स्याम।' (समग्ररूप वर्णन। १। १४६), 'काम कोटि छबि स्याम सरीरा।··' इत्यादि। (१। १९९)' 'पीत बसन परिकर कटि भाथा।··' इत्यादि (१। २१९), 'सोभासींव सुभग दोउ बीरा।··। १। २३३।', 'सहज मनोहर मूरति दोउ।··१। २४३।', 'केकिकंठ द्युति स्यामल अंगा··। १। ३१६।', 'मरकत मृदुल कलेवर स्यामा।'। ७। ७६-७७।',

(३) सूर्यप्रसादमिश्रजी—भाव यह कि इसमें भीतर षट् शास्त्रोंके तत्त्व भरे हैं। (क) सांख्यमें प्रकृति-पुरुषका विचार है, इसका काम तीनों दुःखोंसे रहित होना है। इसमें २५ तत्त्वोंकी उत्पत्ति मायासे कही है जिनके विवेकसे दुःख निवृत्त होता है। रामजीमें प्रथम कुछ इच्छा न थी, पर जब श्रीजानकीजीका फुलवारीमें संयोग हुआ तब इन्द्रियोंके कार्य उनमें होने लगे। मायाके सब कार्य बालकाण्डमें हैं। यह भी दिखाना है कि प्रकृति पुरुषके अधीन है। (ख) वैशेषिकका विषय पदार्थविवेचनपूर्वक वस्तुवैराग्य है। इसमें ६ पदार्थ माने गये हैं, इनके जाननेसे विरक्ति होती है। अयोध्याकाण्डमें रामजीका विशेष धर्मपर आरूढ़ होना दिखाया है। (ग) मीमांसाका सिद्धान्त है कि वेदविहित कर्मके अनुष्ठानद्वारा परम पुरुषार्थ लाभ होता है। अरण्यकाण्डमें सब बातें राजधर्म अनुष्ठानहीकी हैं। धर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति है, मोक्ष नहीं, मोक्षके लिये योगयुक्त धर्मानुष्ठान चाहिये, इसीलिये किष्किन्धाका आरम्भ है। (घ) योगका विषय चित्तवृत्तिनिरोध है, इसका काम शान्ति है। अपने निरुपाधिस्वरूपको जानना इसका सिद्धान्त है। इन बातोंका ज्ञान बिना तर्कशास्त्रके नहीं होता, अतः सुन्दरकाण्डका प्रारम्भ है। (ङ) न्यायका विषय १३ पदार्थोंका जानना है। इनमेंसे ५ इन काण्डोंमें पूर्ण रीतिसे हैं—'प्रतिज्ञा' समुद्रबन्धनकी, इसका 'हेतु' रामबाण, 'उपनयन' समुद्रबन्धन, 'निगमन' पार जाना, 'उदाहरण' रामनामका 'सधानेउ धनु०।' न्याययुक्त योगसे मोक्ष नहीं, इसलिये वेदान्तस्वरूप लङ्काकाण्डका आरम्भ है। (च) वेदान्तका स्वरूप ब्रह्मजीवका ऐक्य है। जीवरूप विभीषण वैराग्यसे भ्रातृसुखत्यागपूर्वक, रामसे बढ़कर कुछ नहीं, इस विवेकसहित, महामोहरावणके नाशकी इच्छासे परब्रह्म राम-जानकीका दर्शन लाभ किया। (छ) यद्यपि उपर्युक्त बातें ब्रह्मानन्दप्रापक है तथापि यह आनन्द क्षणिक है, रामजीकी साम्राज्यलक्ष्मीकी शोभा बिना और किसीमें सामर्थ्य नहीं है कि मनको स्थिर रक्खे, इसलिये साम्राज्यस्वरूप उत्तरकाण्डका आरम्भ है। इससे सिद्ध हुआ कि सर्वगुणसम्पन्न जीवका रामभक्ति बिना सब साधन व्यर्थ है। (परंतु ये सब क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं)।

(४) सूर्यप्रसादमिश्रजी—बैजनाथजीने जो लिखा है वह ठीक नहीं है। सात प्रबन्ध सात ठिकाने वर्णन 'रामधामदा पुरी सुहावनि' इत्यादि, ये बातें ठीक होतीं यदि ग्रन्थकार सात स्थलोंको, जो मानसभूषणकारने लिखी हैं, छोड़कर अयोध्याके विषयमें और कुछ कहीं न लिखते। पर ग्रन्थकारने और भी स्थलोंमें अयोध्याका माहात्म्य कहा है। इसी तरह और भी तीनों घाट जो लिखे हैं वे भी निर्मूल हैं।

(५) त्रिपाठीजी—'ज्ञान नयन ··माना'। भाव कि गुरुपदसे प्राप्त दिव्य ज्ञानदृष्टिद्वारा देखनेसे सातों सोपान मणि-माणिक्यमुक्ताके बने हुए दिव्य तेजोमय दिखायी पड़ते हैं। ज्ञानघाटके सोपान मणिमय, कर्मघाटके माणिक्यमय, उपासनाके गजमुक्तामय और दैन्यके मुक्तामय दिखायी पड़ते हैं। भावार्थ यह है कि वेदराशिकी भाँति ये तेजोमय हैं। भरद्वाजजीको जब इष्टदेवने वेदराशिका दर्शन कराया, तो वे उन्हें तेजके पहाड़ोंकी भाँति दिखायी पड़े। इसी भाँति दिव्यदृष्टि पानेसे ये वेदावतार सातों सोपान तेजोमय दृष्टिगोचर होते हैं। प्रकाशावरण क्षीण करनेमें समर्थ होनेसे तेजोमय कहा।

(६) सु० द्विवेदीजी—'सातों काण्ड इस मानसकी सात सीढ़ियाँ हैं। इनपर क्रम-क्रमसे मन चढ़ता और ज्ञानदृष्टिसे देखता जाय अर्थात् ऐसा न हो कि पहली सीढ़ी बालकी बिना पूरी किये दूसरी सीढ़ी अयोध्यापर पैर रक्खे, ऐसा करनेमें पहली सीढ़ीमें कहाँ-कहाँपर कैसे कैसे चित्र उरेहे हैं, यह देखनेमें न आयेगा और पहलीको छोड़कर दूसरीपर पैर रखनेमें

सम्भव है कि पैर फिसल जाय। चित्रके सब अंग साफ साफ देख पड़ें इसलिये ज्ञाननयन कहा। भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तप, सत्य, इन सातों लोकरूप सीढ़ीपर चढ़ जानेसे अन्तमें सत्यलोकमें ईश्वरसे भेंट होती है, इसी तरह यहाँ भी उत्तरके अन्तमें ईश्वरप्राप्ति है।'

(७) त्रिपाठीजी—ये सात प्रबन्ध सात पुरियोंकी भाँति मुक्तिके प्रापक हैं। बालकाण्ड अयोध्यापुरी है, क्योंकि श्रीरामजन्मभूमि होनेसे बालचरित्र आदि इसीमें हुए। अयोध्याकाण्ड मथुरा है, क्योंकि जैसे श्रीकृष्णजीके मथुरा गमनसे गोपिकाओंको तीव्रातितीव्र विरह हुई वैसे ही श्रीरामवनवाससे अवधवासियोंकी वही गति हुई। दूसरे मथुरामें अवतार होनेका बीज इसी काण्डमें है। भगवान्‌ने ऋषियोंसे कहा था कि कृष्णावतारमें तुम्हारे मनोरथ पूरे करेंगे, जैसा श्रीकृष्णोपनिषद्‌में स्पष्ट है। अरण्यकाण्डमें तो मायाका काम, खरदूषणादिकी माया, मायापतिकी मायासे खरादिका वध, मायाका सन्यासी, मायाका मृग, मायाकी सीता सब माया ही माया है और महामाया सतीको मोह भी इसीमें हुआ। अतः इसे 'माया' पुरी कहा। किष्किन्धाको 'काशी' कहा, क्योंकि 'सो कासी सेइय कस न' प्रारम्भमें ही कहा है। काशीमें ही श्रीराममन्त्रके अनुष्ठानसे भगवान् शङ्करको श्रीरामजी मिले, वैसे ही इस काण्डमें रुद्रावतार श्रीहनुमान्‌से श्रीरामजीकी भेंट हुई। सुन्दरकाण्ड काञ्चीपुरी है, क्योंकि यह पुरी साझेकी है। आधी शिवकाञ्ची है, आधी विष्णुकाञ्ची। इसी प्रकार यहाँ पूर्वार्धमें हनुमत्-चरित्र है और उत्तरार्धमें रामचरित। लङ्का अवन्तिका है। क्योंकि वहाँ महाकालका लिङ्ग है और लङ्काकाण्डमें शिवलिङ्गकी स्थापना है। उत्तरकाण्ड द्वारावती है, क्योंकि श्रीकृष्णजीने राज्यभोग किया और पुरीको ले गये, वैसे ही श्रीरामजीने 'गुनातीत अरु भोग पुरंदर' होकर राज्य किया और प्रजासहित अपने धामको गये। अतः सबको सुभग कहा, ज्ञानदृष्टिसे ही यह समझ पड़ता है।

मा० प्र०—सीढ़ी नीचेसे बँधती है। नीचे और ऊपरकी सीढ़ियाँ बड़ी होती हैं और बीचकी छोटी होती हैं। वैसे ही यहाँ श्रीरामचरितमानससरमें, बालकाण्डसे प्रारम्भ होकर उत्तरकाण्डपर समाप्ति है। नीचेकी दो सीढ़ियाँ बाल और अयोध्या हैं जो बड़ी हैं, लङ्का और उत्तर ऊपरकी दो सीढ़ियाँ हैं, यह भी बड़ी हैं। अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दर बीचकी सीढ़ियाँ हैं अतः ये छोटी हैं।

नोट—५ प० रामकुमारजीका मत है कि सीढ़ियाँ ऊपरसे बनी हैं। हमारी समझमें इनका मत ठीक है। पहाड़ोंपर तालाबके घाटकी सीढ़ियाँ ऊपरसे काट-काटकर बनायी जाती हैं। दूसरे ऐसा माननेसे प्राकृत तालाबके साथ जैसा लोगोंका व्यवहार होता है इससे उसकी प्रायः समता आ जाती है। जैसे तालाबकी ऊपरवाली सीढ़ी प्रथम मानी जाती है, उसका आरम्भ भी यहींसे होता है, यहाँ आकर तब दूसरी, तीसरी इत्यादि सीढ़ियोंपर जाते हैं, इत्यादि, वैसे ही यहाँ भी गोस्वामीजीने प्रथम सोपान बालकाण्ड माना है, यहींसे इसका प्रारम्भ भी है, अनुष्ठानपाठ आदि भी प्रायः यहींसे प्रारम्भ होता है, इत्यादि।

नोट—६ नीचेकी सीढ़ी दाबकर ऊपरकी सीढ़ी बनायी जाती है। यहाँ एक काण्डकी फलश्रुतिका दूसरे काण्डके मङ्गलाचरणसे संयोग होना ही 'दाबन' है। काण्डोंका सम्बन्ध मिलाना सीढ़ियोंका जोड़ना है। (मा० प्र०)। जोड़ और दाबन निम्न नकशेसे स्पष्ट हो जायँगे।

१—प्रथम सोपान (बालकाण्ड) के अन्तमें 'आए ब्याहि राम घर जब ते। बसे अनंद अवध सब तब तें॥ १। ३६१। ५।' है। इसका जोड़ द्वितीय सोपान अयोध्याकाण्डके आदिके 'जब तें राम ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए॥ २। १। १।' से है।	जोड़की दोनों चौपाइयों १। ३६१। ५ और २। १। १ के बीचके 'प्रभु बिबाह जस भयउ उछाहू।' से 'सिय रघुबीर बिबाह जे सप्रेम गावहिं सुनहिं' तक तथा फलश्रुति और—अ० मङ्गलाचरण ('यस्याङ्के च विभाति···' 'प्रसन्नतां या' ', 'नीलांबुज ··' और 'श्रीगुरुचरन···'), यह सब दाबन है।
२—अयोध्याकाण्डके अन्तमें 'भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। २। ३२६।' का सम्बन्ध तृतीय सोपान (अरण्यकाण्डके आदिके	तृतीय सोपानका मङ्गलाचरण 'मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः ··', 'सान्द्रानन्दपयोद ··' और 'उमाराम गुन गूढ़···' दाबन है।

'पुरनर भरत प्रीति मैं गाई । २ । १ । १ ।' से है।
यही जोड़ है।

३—अरण्यकाण्डके अन्तके 'सिर नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्म पुर नारद गए । ३ । ४६ ।' (मा० प्र०) अथवा 'देखी सुंदर तरुबर छाया । बैठे अनुज सहित रघुराया ॥ ३ । ४१ । २ ।' इसका सम्बन्ध चतुर्थ सोपान (किष्किन्धाकाण्ड) के आदिके 'आगे चले बहुरि रघुराया । ४ । १ । १ ।' से है।

अरण्यकाण्डके 'ते धन्य तुलसीदास' से अथवा 'तहँ पुनि सकल देव मुनि आए । ३ । ४१ । ३ ।' से 'भजहिं राम ' सतसंग । ३ । ४६ । तक तथा फलश्रुति 'इति श्रीमद्रामचरितमानसे ' और किष्किन्धाकाण्डका मङ्गलाचरण 'कुन्देन्दीवर ' ' 'ब्रह्माम्भोधि ' ' 'मुक्तिजन्म ' ' से 'सकर सरिस' तक।

४—चतुर्थ सोपानके अन्तके 'जामवंत मैं पूछउँ तोही । ४ । ३० । १० ।' का जोड़ पञ्चम सोपान (सुन्दर) के आदिके 'जामवंत के बचन सुहाए । ५ । १ । १ ।' से है।

कि० काण्डके 'इतना करहु तात तुम्ह जाई । ४ । ३० । ११ ।' से अन्ततक + फलश्रुति + सुन्दरकाण्डका मङ्गलाचरण 'शान्त '', 'नान्या स्पृहा'' ' 'अतुलित '' '।

५—सुन्दरकाण्डके अन्तके 'निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहिं यह मत भायऊ । ५ । ६० ।' का सम्बन्ध षष्ठ सोपान (लङ्काकाण्ड) के आदिके 'सिंधु बचन सुनि राम '' लं० मं०' सोरठासे मिलाया गया।

सुन्दरकाण्डकी पूर्ति अर्थात् 'यह चरित कलिमल हर' ' । ५ । ६० ।' से लं० मं० दोहा 'लव निमेष '' ' तक।

६—लङ्काकाण्डके अन्तके 'प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई । तुरत पवनसुत गवनत भयऊ । ६ । १२० । १—३ ।' का सम्बन्ध सप्तम सोपानके आदिके 'राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत । बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥ ७ । १ ।' से मिलाया गया।

लं० १२० । ३ 'तब प्रभु भरद्वाजपहिं गयऊ। से 'श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिंन आन अधार । ६ । १२० ।' तक + फलश्रुति + उत्तरकाण्डका मङ्गलाचरण 'केकीकण्ठाभनील '' 'कोसलेन्द्रपदकञ्ज '' ', 'कुन्दइन्दु दर गौर ''' दोहा 'रहा एक दिन' से 'राम बिरह सागर'' ' तक।

नोट—त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'अन्य वक्ताओंने सात काण्डोंकी कल्पना तो की, पर सोपान नहीं बनाया, इसलिये अल्प पुरुषार्थ व्यक्तियोंके लिये दुर्गम था। पर ग्रन्थकारने इसमें प्रसङ्गरूप फलक (डंडे) देकर इसे सोपान बना दिया। प्रत्येक प्रबन्धके प्रसङ्ग ही उसमेंके फलक वा डंडे हैं। सोपानोंके बीचमें विश्रामके लिये फर्श होता है, सातों काण्डोंके विश्रामस्थान सात फर्श हैं। मा० प्र० में जो जोड़ और दावन कहे गये हैं, वही त्रिपाठीजीके फर्श हैं।

रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अगुन = निर्गुण । सत्त्व, रज, तम गुणोंसे रहित, गुणातीत, अव्यक्त । अबाधा = बाधा या विघ्नरहित, एकरस । बरनब = वर्णन करूँगा, कहूँगा । वा, वर्णन या कथन करना । अगाध = अथाह होना, गहराई, गम्भीरता ।

अर्थ—१ श्रीरघुनाथजीकी निर्गुण (रूपकी) एकरस महिमाका वर्णन ही उत्तम जलकी अगाधता है ॥ २ ॥

अर्थ—२ श्रीरघुनाथजीकी महिमा जो गुणातीत एकरस है उसको श्रेष्ठ जलकी अगाधता कहूँगा ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) सीढ़ीसे उतरनेपर गहराई देख पड़ती है। इसीसे प्रथम सीढ़ी लिखकर तब गहराई लिखते हैं। (खर्रा) । (ख) रघुपतिके दो रूप हैं, एक निर्गुण (अव्यक्त), दूसरा सगुण । (ग) रघुपतिके सगुणरूपकी लीलाका वर्णन जलकी स्वच्छता है और निर्गुणरूपकी महिमाका वर्णन अगाधता है। तात्पर्य यह है कि ऐश्वर्य वर्णनसे यशकी गम्भीरता होती है, सगुणमें लीला है, निर्गुणमें महिमा।

२ (क) प्रथम थलको अगाध कहा, यथा—'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू ।' अब जलको अगाध कहते हैं,

क्योंकि प्रथम थलकी अगाधता है पीछे जलकी। जल थलपर टिकता है, इसीसे प्रथम थलको कहा। सगुणयश 'वर बारि' है, यथा—'बरषहि रामसुजस बर बारी' और निर्गुण-महिमाका वर्णन जलकी अगाधता है।

(ख) 'अबाधा' का भाव यह है कि सगुणकी महिमा एकरस नहीं है, निर्गुणकी महिमामें बाधा नहीं है, यह एकरस है, इसी तरह अगाध जल बाधारहित है। इसीसे अगुणकी महिमाको 'अबाधा' कहा। सगुणकी महिमामें बाधा है, क्योंकि जब लीलामें विलाप किया, बाँधे गये, अज्ञानी बनकर विद्या पढ़ी, इत्यादि कर्म किये, तब ईश्वरकी महिमा क्या रह गयी?—['अगुन' से जनाया कि सगुणकी भी महिमा है। सगुणकी महिमा श्रीसतीजीने देखी (दोहा ५४ और ५५ में 'निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा।' से 'सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ' तक इसका उल्लेख है), श्रीकौसल्याजीने देखी (दोहा २०१, २०२ मे देखिये) और श्रीभुशुण्डिजीने देखी ('तब मैं भागि चलेउँ उरगारी' ७। ७९ से ७। ८२ तक)। 'रघुपति' शब्द देकर जनाया कि सगुन-अगुन दोनों श्रीरामजीकी ही महिमा हैं।]

नोट—१ 'अगुन अबाधा महिमा' के उदाहरण—(१) 'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अनंत अखंड अनादी।' निजानंद निरुपाधि अनूपा। १४४। ३–७।', (२) 'राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा। 'करहिं जोग जोगी जेहि लागी। महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥ १। ३४१। ६।' तक, (३) 'राम ब्रह्म परमारथरूपा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥' (२। ९३), (४) 'मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥ तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥ ऊमरितरु बिसाल तव माया' से 'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं' तक (आ० १३। ४–९।')। (५) 'जग कारन तारन भव भंजन धरनीभार।' (कि० १), (६) 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया। सु० २१। ४।' से 'जाके बल···॥ २१॥' तक, (७) 'काल कर्म जिव जाकें हाथा। लं० ६।' 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥ लं० २२।' 'जगदातमा प्रानपति रामा। ··तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। लं० ३४। ६–८।', 'उमा काल मरु जाकी इच्छा। लं० १०१।', (८) 'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥ उ० ९१। ३।' से 'तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥' प्रभु अगाध सत कोटि पताला। राम अमित गुनसागर थाह कि पावइ कोइ। ९२।' तक, (९) 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। उ० १२२।', 'महिमा निगम नेति करि गाई' से 'जासु नाम भवभेषज हरन घोर त्रयसूल' तक (उ० १२४)। इत्यादि। (मा० प्र०)।

२—'महिमा अगुन अबाधा····' के और भाव—(क) अगुन अर्थात् बिना गुण (डोर) के और अबाध अर्थात् बिना बाधाके हैं। यह महिमारूप जल बिना डोर और बिना बाधाके सबको सुलभ है। इसलिये यह महिमा श्रेष्ठ और अगाध जल है। रामकी महिमाकी थाह नहीं, इसलिये अगाध कहना उचित है। वेद कहता है कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (सुधाकर द्विवेदीजी)। (ख) जलकी थाह (गहराईका पता) गुन (डोर) हीसे मिलता है। यहाँ गुन है ही नहीं, तब थाह कैसे मिल सके। अत 'अगाध' कहा। (ग) सांख्यशास्त्रमें मायाके तीन गुण हैं, इससे जनाया कि रामजीकी महिमा मायिक गुणोंसे पृथक् है। मायाके गुणोंमे बाधा होती है, रामजीकी महिमामें मायाकी प्रबलता नहीं होती। अत 'अबाधा' विशेषण दिया।'(सू० प्र० मिश्र)। (घ) अगुण अबाधा महिमाकी अगाधता कहनेका भाव यह है कि रघुनाथजीके नाम, रूप, लीला और धाम इन चारोंका जो परात्परत्व वर्णन है वही प्रभुकी अगुण अगाध महिमा है। यथा—'महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥' इति नाममहिमा, 'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥' इति रूपमहिमा, 'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥ तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥ २। १२७।' इति लीलापरत्व, और 'रामधामदा पुरी सुहावनि।' इति धामपरत्व। (ङ) 'निर्गुण परब्रह्मकी महिमा जो नित्य एक रस पूर्ण है, सोई मानस-कथारूपी जलकी सजलताका मूल है अर्थात् इसके प्रभावसे जल नहीं घटता, एकरस परिपूर्ण रहता है, अतएव अगाधता है। जैसे परतमके यशकी थाह नहीं, वैसे ही मानस अथाह है।' (मा० म०)। (च)

अद्वैत मतके अनुसार सत्ता तीन प्रकारकी है। प्रातिभासिकी, व्यावहारिकी और पारमार्थिकी। प्रातिभासिकीका बाध व्यावहारिकीमें और व्यावहारिकीका पारमार्थिकीसे होता है। पारमार्थिकी सत्ता (अर्थात् निर्गुण ब्रह्म) का बाध नहीं होता, अत सगुण महिमाको 'अबाध' कहा। जिस भाँति एक बृहदाकार शिलामें पुतली आदिके आकार विद्यमान हैं, शिल्पी पाषाणके उन भागोंको जो कि उन आकारोंको ढके हुए हैं, छेनीसे काटकर निकाल देता है, कुछ अपने पाससे कोई आकार लाकर उस शिलामें नहीं डाल देता, इसी भाँति निर्गुण निराकार ब्रह्म एक अनादि अनन्त शिला है, उसीमें सब गुण और सब आकार कल्पित हैं, अत उसको अगाध कहा, उसकी थाह नहीं है। (वि० त्रि०)।

वि० त्रि०—'बरनब सोइ' इति। वह निर्गुण ब्रह्म अपनी महिमामें ही प्रतिष्ठित है अत उसका साक्षात् वर्णन नहीं, उपमाद्वारा वर्णन करनेका निश्चय करते हैं। यद्यपि निरुपमकी उपमा भी नहीं दी जा सकती तथापि निषेधरूपसे प्रादेशमात्र दिखाया जा सकता है। वर्षाके जलमें गहराई इतनी थोड़ी होती है कि उसका वर्णन न करना ही प्राप्त था। अगाध हृदयमें आकर रामसुयश भर गया, तो उसमें अथाह गहराई भी आ गयी। उसी अथाह गहराईसे 'सगुन अबाधा' महिमाको उपमित किया है।

राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि* बिलास मनोरम ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सलिल=जल। उपमा=एक वस्तुको दूसरेके समान कहनेकी क्रिया। बीचि=लहर। बिलास=आनन्द, शोभा। मनोरम=मनको रमानेवाली—खींचनेवाली। बीचि बिलास=तरंगका उठना। यथा—'सोभित लखि बिधु बढ़त जनु बारिधि बीचि बिलास।'

अर्थ—श्रीसीतारामयश अमृतके समान जल है। जो उपमाएँ इसमें दी गयी हैं वे ही मनको रमानेवाली लहरोंके विलास हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'रामसीय जस सलिल सुधा सम' का भाव यह है कि जब श्रीरामयशमें श्रीसीताजीका यश भी मिला तब माधुर्य और शृङ्गार दोनों एकत्रित हो गये। यह युगल यश भक्तोंको विशेष आह्लाद देनेवाला है। इसीसे पुष्पवाटिका और विवाहप्रसङ्ग श्रीरामचरितमानसमें सर्वोत्तम और सारभूत माने गये हैं।—[निर्मल, पावन और मधुर होनेसे यशको 'सलिल' कहा। श्रीरामसीयकी सरलताको देखकर स्वयं कैकेयीजीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ, यथा—'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥' श्रीकौसल्याजी श्रीसुनयनाजीसे कहती हैं—'ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुतबधू देवसरि बारी ॥' अत इनके यशको भी सलिलसे उपमित किया। (वि० त्रि०)]

रामसीय-यशके उदाहरण—१ अरण्यमें, यथा—'एक बार चुनि कुसुम सुहाए' से 'रघुपति चित्रकूट बसि नाना ॥ चरित किये श्रुति सुधा समाना ॥' तक, यह गुप्त रहस्य किया गया है। इत्यादि। २—अयोध्याकाण्डमें, यथा—'चले समीय मुदित दोउ भाई। २। ११२।' से 'एहि बिधि रघुकुल कमल रबि मग लोगन्ह सुख देत। जाहिं । २। १२३।' तक। पुन दोहा १३८ से दो० १४१ तक, और दो० २८५–२८६, इत्यादि। ३—बालकाण्डमें यथा—(क) 'चहुँ दिसि चितइ पूछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥ १। २२८। १।' से 'हृदय सराहत सीय लुनाई। २३७।' तक। (ख) 'जगदंबा जानहु जिय सीता। २४६। २।' से 'बर साँवरो जानकी जोगू। २४९। ६।' तक (ग) 'रामसीय सोभा अवधि सुकृत अवधि दोउ राज। जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस मिलि नरनारि समाज ॥ ३०९।', 'हृदय बिचारहु धीर धरि सियरघुबीरबिआहु'। एहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा ॥ ३१४ ॥ १–३।' इत्यादि।

नोट—१ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि रामसुयश जलमें सगुण लीला और प्रेमभक्तिको 'मधुर मनोहर' कहा; सलिल सुधा समकी जो उपमाएँ दी गयी हैं वे जलके विलास (कार्यवर्ग)

* बीच—१६६१। इस पाठका अर्थ होगा—'बीच बीचमें जो उपमाएँ दी गयी हैं वे जलके विलास (कार्यवर्ग) अर्थात् लहर हैं।'

मङ्गलकारी' गुण कह आये हैं, अब रामसीय दोनोंका मिश्रित यश यहाँ जलका अमरत्व गुण कहा गया है। अमृत मधुर, पुष्ट और आह्लादकारक होता है, मधुरता गुण पहिले कह ही चुके हैं इसलिये यहाँ 'सुधा सम' से पुष्ट और आह्लादकारक अर्थ लेना चाहिये। (मा० प्र०)। यदि 'स्वाद' 'मिष्टता' गुण अभिप्रेत होता तो पहिले मधुरता गुण क्यों लिखते? (मा० प्र०)। इस भावसे रा० प्र०, भावदीपिका, मानसभूषण आदिमें दिये हुए भावोंका खण्डन हो जाता है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि मेघका जल एकत्रित होकर तालाबमें आनेपर उसके गुण तथा स्वादमें सूक्ष्म भेद पड़ जाता है, इसीसे ग्रन्थकारने साधुमुखच्युत रामयशका माधुर्य वर्णन करनेपर भी सरमें आनेसे फिर उसका माधुर्य वर्णन किया और उसकी अमृतसे उपमा दी। मेघके जलका रस अव्यक्त होता है, सरमें एकत्रित होनेपर शरदृतुमें इस जलका रस व्यक्त हो जाता है। अतः माधुर्यातिशयसे सुधाकी उपमा दी गयी। 'प्रेमभक्तिमें ही माधुर्य है' इस सिद्धान्तमें त्रुटि नहीं है। यहाँ श्रीरामजानकीमें प्रेमातिशय होनेसे ही उनके यशको सुधासम कहा। प्रेमातिशय ही सर्वत्र अभेदका कारण होता है।

प० सूर्यप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि 'उसी जलमें सुधासम गुण होते हैं जिसमें सूर्यप्रकाश और चन्द्रप्रकाश दोनों पड़ें। यही बात ग्रन्थकारने भी लिखी है कि यथा सूर्यसम रघुनाथजी और चन्द्रसम जानकीजी दोनोंके यशरूपी जल सुधा-सम हैं। कोषमें सुधा नाम 'मोक्ष' का है, ऐसा ही श्रीरामजानकी-यश है। पुनः यशका अर्थ प्रेम भी है। श्रीराम-जानकी-का-सा प्रेम किसीका न हुआ, न है और न होगा।'

प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सुधा सम' का भाव यह है कि अमृतसमान पुष्टकर्ता, रोगहर्ता और संतोषकर्ता है। दोनोंके दर्शन होनेपर फिर किसी वस्तुकी चाह नहीं रह जाती, यही संतोषकारक गुणका भाव है। यथा—'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूजे सब काम हमारे॥'

श्रीसुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि 'महिमाको अगाध श्रेष्ठ जल अर्थात् क्षीरसागरका जल बनाया। उसमें श्रीसीतारामजीका यश अमृत जल अर्थात् चौदहों रत्नोंमें श्रेष्ठ अमृत है।

वै० भू०—रामयशको सर्वत्र जल कह आये हैं। यथा—'बरषहिं राम सुजस बर बारी।', 'राम विमल जस जल भरिता सो'। वैसे ही यहाँ भी रामयशको जल ही कहा है। यहाँ राम और सीय दोनोंके यशका एक-एक विशेषण नाम निर्देशक्रमसे है। अर्थात् रामयश सलिल सम और सीययश सुधासम है।

नोट—२ उपमा एक अर्थालंकार है जिसमें दो वस्तुओंके बीच भेद रहते हुए भी उनका समानधर्म बतलाया जाता है।' (श० सा०)। जिस वस्तुका वर्णन किया जाता है उसे 'उपमेय' और जो समता दी जाती है उसे 'उपमान' कहते हैं। उपमा देनेमें जिमि, तिमि, सम इत्यादि पद समता देनेमें काम आते हैं, इनको 'वाचक' कहते हैं। उपमेय, उपमानमें जिस गुण लक्षण-देशकी समानता दिखाते हैं उसे 'धर्म' कहते हैं। जब उपमामें चारों अङ्ग (उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म) होते हैं तो उसे 'पूर्ण उपमा' कहते हैं। यदि इनमेंसे कोई अङ्ग लुप्त हुआ तो उसे लुप्तोपमा कहते हैं। यहाँ 'उपमा' रूपक आदि अलंकारोंमात्रका उपलक्षण है अर्थात् रूपक आदि सभी अलंकार 'बीचि बिलास मनोरम' हैं। 'अलङ्कारों' की संख्या तथा कहीं-कहीं लक्षणोंमें मतभेद है। अलङ्कार-ग्रन्थोंमें महाराज जसवन्तसिंहकृत 'भाषाभूषण' विशेष माननीय माना जाता है। अलङ्कारोंके नाम और लक्षण प्रसङ्ग आनेपर हमने इस टीकामें दिये हैं। 'उपमा' के कुछ उदाहरण ये हैं। यथा—'श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥ रामहिं लखन बिलोकत कैसे। ससिहि चकोर किसोरक जैसे॥ १। २६३।', 'दामिनि दमक रह न घन माहीं। कि० १४। २।' से 'सद्गुरु मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ। कि० १७।' तक, इत्यादि।

मानसमें रूपक, प्रतीप, उल्लेख, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर, असङ्गति, विशेषोक्ति, असम्भव, भ्रम, सन्देह, स्मरण, अनन्वय, दीपक, दृष्टान्त, उदाहरण, श्लेष, अप्रस्तुत, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, विभावना, आक्षेप, विरोधाभास, विषम, सम, पर्यायोक्ति,

अन्तिम अर्धालीको भी पूरी चौपाई माननी होगी। अर्थात् जहाँ ग्यारह अर्धालियाँ हैं वहाँ छ चौपाइयाँ मानना ही न्याय है, ग्यारह माननेसे छन्दशास्त्रका भारी विरोध होगा।' गौड़जीका मत था कि सम संख्यामें चार चरणकी चौपाई मानना चाहिये और विषम संख्यामें दो चरणकी चौपाई माननी चाहिये।

१—'चारु' कहा क्योंकि कोई चार चरणकी चौपाई रकार मकारसे खाली नहीं है। अर्धाली तो दो एक रकार मकाररहित मिल भी जाती हैं (वि० त्रि०)।

नोट—४ 'जुगुति मंजु मनि··' इति। क्रियासे कर्मको छिपा देनेको 'युक्ति' कहते हैं। यथा—'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥', 'पुनि आउब इह बिरियाँ काली। १। २३४।' और उदाहरण यथा—(२) 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥ ताते अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहि निहारी॥ आ० १७।' शूर्पणखा विधवा है, अपने विधवापनको इस युक्तिसे छिपाती है। (३) 'अह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मति मंद। अ० २६।', 'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई॥'—हँसकर हृदयके मर्मको छिपाया। 'सुनत श्रवन बारिधि बधाना। दससुख बोलि उठा अकुलाना॥ बाँधेउ बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस। सत्य तोयनिधि कंपति उदधि पयोधि नदीस॥ लं० ५। 'निज बिकलता बिचारि बहोरी। बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी॥' यहाँ डर और व्याकुलताके कारण घबड़ाकर दसों मुखोंसे बोल उठा, फिर यह सोचकर कि और सभा यह न समझ पावे कि मैं डर गया। वह हँस दिया और भयके छिपानेहीके विचारसे महलको चला गया। अङ्गद रावण-सवाद युक्तियोंसे भरा-पूरा है। इत्यादि। (५) 'गये जाम जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा॥ १। १७२।' यहाँ प्रतापभानुको निशाचर रानीके पास लिटा गया था, यह कर्म है। इसको छिपानेके लिये राजा 'मुनिमहिमा मन महँ अनुमानी। उठेउ गवहिं जेहि जान न रानी॥ कानन गयउ बाजि चढ़ि तेही। पुर नर नारि न जानेउ केही॥' और दिन चढ़नेपर घर आया, जिससे रातका भेद कोई न जान पाया। (६) 'दरकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू॥ ऐसिउ पीर बिहसि तेहि गोई। चोर नारि जिमि प्रगटि न रोई॥ लखहि न भूप कपट चतुराई।·· कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहसि नयन मुँहु मोरी॥ २। २७।', 'राजु देन कहि दीन्ह बन मोहि न सो दुख लेसु। तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहिं प्रचंड कलेसु॥ २। ५५।', 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥ जारै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥ २। १६।,' 'प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥ तव रिपु नारि रुदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा॥ सुनि अति उक्ति पवन सुत केरी। ६। १।', 'गूलरि फल समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जंतु असंका॥ मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥ जुगति सुनत रावन मुसुकाई। ६। ३३।' इत्यादि। (मा० प्र०)

त्रिपाठीजी—युक्ति उपायको कहते हैं। दुःसाध्य कार्य भी युक्तिसे सुसाध्य हो जाता है। सुन्दर युक्ति वही है जिससे अल्पायासमें अर्थ सिद्ध भी हो और धर्ममें बाधा भी न पड़े। ऐसी युक्तियाँ मानसमें अनेक हैं। (क) नारदजीने जब पार्वतीजीका हाथ देखकर बताया कि जोगी जटिल आदि लक्षणयुक्त पति इसका होगा, तब मैना और हिमवान् घबड़ा उठे। नारदजीने कहा 'तदपि एक मैं कहौं उपाई। जौं बिवाह सकर सन होई। दोषौ गुन सम कह सबु कोई॥ १। ६९।' विधिका लिखा भी हो और अपना काम बन जाय। यह युक्ति है। (ख) भरतजी श्रीरामजीको लौटाना चाहते है, यदि श्रीरामजी लौटते है तो पिताका वचन जाता है, नहीं लौटते तो अवधवासियोंको प्राण-सङ्कट है। अत भरतजी कहते है 'तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मन माना॥ सानुज पठइअ मोहि बन।' यह युक्ति है। आशय यह कि आप राज्य स्वीकार करें और मै वन स्वीकार करता हूँ, इस तरह दोनो बातें बन जायँगी। इसी तरह (ग) 'इहाँ राम जसि जुगुति बनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई॥ ३। २३।' (घ) 'का चुप साधि रहेउ बलवाना।··। (४। ३०। ३-६)' (यह जाम्बवान्‌की युक्ति हनुमान्‌जीको बलका स्मरण दिलानेकी है) इत्यादि।

बैजनाथजी—इस मानसमें युक्ति यह है कि जब गोस्वामीजीने ग्रन्थ प्रारम्भ किया तब उन्होंने बिचार

किया कि विमुख जीव श्रीरघुपतिलीलामें अनेक तर्क निकालेंगे, इसलिये उन्होंने प्रथम भरद्वाजजीहीके प्रश्नमें सन्देह रख दिया। याज्ञवल्क्यजीके वचनोंसे सतीजीमें सदेह और उसकी सजा दिखायी। फिर शिवजीके वचनोंमें गरुड़का सदेह और सदेहके कारण गरुड़की व्याकुलतारूपी सजा कही। इसमें युक्ति यह है कि श्रीरघुनाथजीमें सन्देह करनेसे श्रीशिवजीकी वामाङ्गी और विष्णुवाहन गरुड़को भी सजा मिली, यह विचारकर और लोग सदेह न करेंगे। युक्तिकी 'कहनूति (कथन)' सीप है, अन्तमें श्रीरामरूपमें विश्वास होना मुक्ता (मोती) है।

टिप्पणी—१ पुरइन कहकर कमल कहना चाहिये था, सो न कहकर बीचमें मणि-सीप कहा। इसका कारण यह है कि 'पुरइनके नीचे मणिवाली सीपियाँ आकर रहा करती है, इसी तरह चौपाईके भीतर अनेक युक्तियाँ है। सुन्दर युक्ति सुन्दर मणिसीपी है। इसलिये पुरइन और मणि-सीप कहकर तब कमल कहा है। तालाबमें सीपी रहती है, इसलिये यहाँ सीपहीका वर्णन है, मणिसे कोई प्रयोजन नहीं।

२ युक्तिके भीतर जो बात है वही मोती है अर्थात् युक्तिके भीतरकी बात शोभित है जैसे सीपके भीतर मोती। जैसे सीपमें मोती नहीं दिखायी पड़ता, वैसे ही ग्रन्थकारने भी मोती नहीं खोला।

मा० प्र०—युक्ति इस मानसका मोती है। युक्ति और मोतीकी तुलना इस प्रकार है कि जैसे मोती जलसे होता है (स्वातिबूँद जो सीपके मुखमें पड़ता है वही मोती हो जाता है) और सारहीन है, केवल पानीका बुल्ला है, फिर भी बड़े मोलका होता है और उसकी बड़ी शोभा होती है, वैसे ही युक्ति उक्तिसे होती है, इसलिये सारहीन है, परन्तु सुननेमें अच्छी लगती है, अत सुन्दर है। पुन, युक्ति जिससे कही जाती है, वह उससे प्रसन्न होता है यही युक्तिका बड़ा मूल्य है। 'सीपि सुहाई' से यहाँ 'सुबुद्धि' का ग्रहण है। पूर्व जो अष्ट प्रकारकी बुद्धि कही गयी है (दोहा ३६ चौ० ३ देखिये) उनमेंसे यह बारम्बार कथन श्रवणरूपी 'पोहा' (आपोह) नामक बुद्धि है। उसीमें युक्ति रहती है।

नोट—५ मा० प्र०, रा० प्र० और सू० मिश्र युक्तिको सीपका मोती और बुद्धिको 'सुहाई सीपी' मानते हैं। पं० रा० कु०, वै०, पॉ० आदि अमूल्य मोतीको उत्पन्न करनेवाली सीपीको 'युक्ति' मानते है। मा० प्र० कारने जो समानता दिखायी है वह बहुत सुन्दर है, पर मेरी समझमें चौपाईका अर्थ वही ठीक है जो प० रा० कु० जीने किया है। युक्तिके भीतरकी बात मोती है। मोती बड़े मोलका होता है, वैसे ही यहाँ युक्तिके भीतर बुद्धिकी चतुरता भरी है, जो आशय दूसरेको उन वचनोंसे जनाया चाहते हैं। यदि वह समझ ले तो उससे अच्छा विनोद भी होता है और युक्ति तथा कहनेवालीकी चतुरता भी सफल हुई, यही मोतीका बहुमूल्य है। [पाँडेजीका मत है कि युक्ति तो थोड़े दामकी सीपी है, पर वह रामयश मोती ही प्रकट करती है जो अमूल्य है। और सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि—'भगति सुतिय कलकरन बिभूषन' यह मञ्जु मणि रामनामरूप मुक्ताकी सीपी है अर्थात् युक्तिके भीतर रामनामरूप मुक्ता भरी है। त्रिपाठीजीका मत है कि भगवान्‌के गुण-गण ही सीपके मोती है, यथा—'जस तुम्हार मानस बिमल हसिनि जीहा जासु। मुकताहल गुनगन चुनइ ।२।१२८।']

छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥ ५॥

अर्थ—इसमें जो सुन्दर छद, सोरठे और दोहे है, वे ही बहुत रगके कमलसमूह इसमें शोभित है॥ ५॥

नोट—१ छद—वह वाक्य जिसमें वर्ण वा मात्राकी गणनाके अनुसार विराम आदिका नियम हो। यह दो प्रकारका होता है—वर्णिक और मात्रिक। जिस छदके प्रति पादमें अक्षरोंकी सख्या और लघु-गुरुका नियम होता है वह वर्णिक वा वर्णवृत्त और जिसमें अक्षरोंकी गणना और लघु-गुरुके क्रमका विचार नहीं, केवल मात्राओंकी सख्याका विचार होता है वह मात्रिक छद कहलाता है। दोहा, चौपाई, सोरठा इत्यादि मात्रिक छद हैं। (श० सा०)। देखिये म० श्लोक १ और बा० ९ (९)। दोहा, चौपाई और सोरठाके अतिरिक्त जो छद इसमें आये है उन्हींको यहाँ 'छद' नामसे अभिहित किया है। इस ग्रन्थमें प्राय सोलह प्रकारके छद पाये जाते हैं—

(१) अनुष्टुप् छंद (वृत्त)—इसके प्रत्येक चरणमें आठ-आठ वर्ण होते हैं। चारों चरणोंमें पाँचवाँ वर्ण लघु और छठा गुरु होता है। दूसरे और चौथे चरणोंके सप्तम वर्ण भी लघु होते हैं। मानसमें इस वृत्तके सात श्लोक हैं। 'वर्णानामर्थसंघानां··' म० श्लो० १ से 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।'··· श्लोक ५।' तक पाँच हैं। 'यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम्।' ··लं० मं० श्लोक ३।' और 'रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं''७। १०८।'

(२) शार्दूलविक्रीडित वृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें उन्नीस वर्ण होते है जिनमेंसे अन्तिम वर्ण गुरु होता है। प्रत्येक चरणका स्वरूप यह है—मगण (SSS), सगण (IIS), जगण (ISI), सगण (IIS), तगण (SSI), तगण (SSI) S। मानसमें ऐसे दस वृत्त आये हैं। 'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं····' म० श्लो० ६, 'यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके।'·· । २, म० श्लोक १।', 'मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं····। ३ म० श्लोक १।', 'सान्द्रानन्दपयोद । ३. म० श्लोक २।', 'कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ ··। ४. मं० श्लो०, १, २।' इत्यादि।

(३) वसन्ततिलकावृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें चौदह-चौदह अक्षर होते हैं। चरणका स्वरूप यह है—तगण (SSI) भगण (SII) जगण (ISI) जगण (ISI) SS। मानसमें ऐसे दो वृत्त आये हैं।—'नाना पुराणनिगमागम ''म० श्लो० ७, 'नान्या स्पृहा रघुपते ··' ५। म० श्लोक २।

(४) हरिगीतिका छन्द। इसके प्रत्येक चरणमें अट्ठाईस मात्राएँ होती है। सोलहपर यति है, अन्तमें लघु और गुरु होता है। इसकी रचनाका क्रम यह है—२, ३, ४, ३, ४, ३, ४। (प्रायः प्रत्येक चरणमें १६—१२ मात्रापर विश्राम रहता है पर मानसमें कहीं-कहीं इस छंदमें १४-१४ पर विराम है)। किसी चौकलमें जगण (ISI) न पड़ना चाहिये। मानसमें १४१ छंद ऐसे आये हैं। 'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।''' १। १०।', 'भरे भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारगु चले। । १। २६१।' इत्यादि। श्रीसीयस्वयंवर और श्रीसियरघुवीरविवाह एवं उमा-शिवविवाह प्रसङ्गोंमें प्रायः इसी छन्दका प्रयोग हुआ है।

(५) चवपैया छंद। इसके प्रत्येक चरणमें तीस-तीस मात्राएँ होती है और दस, आठ और बारह मात्राओंपर विराम होता है। चरणान्तमें एक यगण (ISS) वा एक सगण (IIS) और एक गुरु रहता है। यह छंद केवल बालकाण्डमें नौ आये हैं।—'जप जोग बिरागा, तप मख भागा, श्रवन सुनै दससीसा।', 'जय जय सुरनायक, जन सुखदायक, प्रनतपाल भगवंता', 'भए प्रगट कृपाला, दीनदयाला, कौसल्या हितकारी।' इत्यादि।

(६) त्रिभङ्गी छंद। इसका प्रत्येक चरण बत्तीस मात्राओंका होता है। दस, आठ, आठ और छ मात्राओंपर विश्राम होता है। चरणान्तका वर्ण गुरु होता है। इस छंदके किसी भी विरामके भीतर जगण (ISI) न आना चाहिये। ऐसे पाँच छंद केवल बालकाण्डमें हैं। 'ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै', 'परसत पद पावन सोक नसावन, प्रगट भई तपपुंज सही। से 'जो अति मन भावा सो बर पावा, गै पतिलोक अनंद भरी॥' तक चार छंद है।

(७) इन्द्रवज्रावृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें ग्यारह-ग्यारह वर्ण होते हैं। इसका स्वरूप यह है—'तगण (SSI) तगण (SSI) जगण (ISI) SS।' मानसमें ऐसा छंद एक ही है परंतु उसका चौथा चरण उपेन्द्रवज्राका है, क्योंकि उसके आदिमें जगण (ISI) है। 'नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्। पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥ २ मं० श्लोक ३।

(८) वंशस्थविलम् वृत्त। इसके चारों चरणोंमें बारह-बारह वर्ण होते हैं। स्वरूप यह है—जगण (ISI) तगण (SSI) जगण (ISI) रगण (SIS)। यह वृत्त केवल अयोध्याकाण्डमें एक बार आया है। 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥ मं० श्लो० २।'

(९) नगस्वरूपिणी वृत्त । इसका प्रत्येक चरण आठ वर्णोंका होता है । स्वरूप यह है—'जगण (।ऽ।) रगण (ऽ।ऽ) । ऽ' । अर्थात् इसके दूसरे, चौथे, छठे और आठवें वर्ण गुरु है । क्रमसे लघु गुरु वर्ण आते हैं । श्रीअत्रिजीकृत स्तुतिमें ऐसे बारह वृत्त हैं और उत्तरकाण्डमें एक है । 'नमामि भक्तवत्सलं कृपालु सील कोमलं ।', 'विनिश्चित वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे ।'

(१०) तोमर छंद । इसके चारों चरण बारह-बारह मात्राके होते हैं, अन्तमें गुरु लघु वर्ण रहते हैं । अरण्यकाण्डमें खरदूषणयुद्धमें छः (वा, ६ ॥) और लंकाकाण्डमें रावणयुद्धमें सोलह ऐसे छंद हैं । 'तब चले बान कराल । फुंकरत जनु बहु ब्याल ॥', 'जब कीन्ह तेहि पाखंड । भए प्रगट जनु प्रचंड ॥ ६ । १०० ।', 'जय राम सोभाधाम । दायक प्रनत बिश्राम ॥ ६ । ११२ ।'

(११) मालिनी वृत्त । इसके प्रत्येक चरणमें पंद्रह अक्षर होते हैं । स्वरूप यह है—दो नगण (।।।, ।।।) एक मगण (ऽऽऽ) दो यगण (।ऽऽ, ।ऽऽ) । यह केवल सुन्दरकाण्डमें एक आया है । 'अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् । ' ।'

(१२) स्रग्धरा वृत्त । इसके प्रत्येक चरण इक्कीस-इक्कीस अक्षरके होते हैं । चरणका स्वरूप यह है—मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण । ऽऽऽ,ऽ।ऽ,ऽ।।, ।।।, ।ऽऽ,।ऽऽ,।ऽऽ । सात-सात अक्षरोंपर यति है । मानसमें ऐसे दो वृत्त हैं 'राम कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं '। लं० मं० । 'केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं ' । उ० मं० १ ।'

(१३) त्रिभंगी छंद । इसके चारों चरण सोलह मात्राके होते हैं । प्रत्येक चरणके अन्तमें भगण (ऽ।।) का रहना आवश्यक है । लंकाकाण्डमें श्रीशिवकृत स्तुति इस छंदमें है । 'मामभिरक्षय रघुकुलनायक । धृत बर चाप रुचिर कर सायक ।'' । ६ । ११४ ।'

(१४) तोटकवृत्त । इसका प्रत्येक चरण बारह अक्षरोंका होता है, चार सगण (।।ऽ) प्रत्येक चरणोंमें होते हैं । अर्थात् तीसरा, छठा, नवां और बारहवां वर्ण गुरु होते हैं । केवल लंकाकाण्डमें ब्रह्माकृत स्तुति और उत्तरकाण्डमें श्रीशिवकृत स्तुति इस वृत्तमें हैं । 'जय राम सदा सुखधाम हरे । रघुनायक सायक चाप धरे । ' लं० ११० ।', 'जय राम रमारमनं समनं '' । ७ । १४ ।'

(१५) रथोद्धतावृत्त । इसके चारों चरणोंमें ग्यारह-ग्यारह अक्षर होते हैं । स्वरूप यह है—'रगण (ऽ।ऽ) नगण (।।।) रगण (ऽ।ऽ) । ऽ' । इसके दो वृत्त केवल उत्तरकाण्डमें आये हैं । 'कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ । '' ''म० श्लो० २ ।' 'कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं '' । म० श्लो० ३ ।'

(१६) भुजंग-प्रयात वृत्त । इसका प्रत्येक चरण बारह-बारह अक्षरका होता है । चरणमें चार यगण (।ऽऽ) होते हैं अर्थात् पहला, चौथा, सातवाँ और दसवाँ वर्ण लघु रहता है । विप्रकृत शिवस्तुति 'नमामीशमीशाननिर्वाणरूपं'' ' में इसके आठ वृत्त आये हैं और कहीं नहीं ।

नोट—२ 'सोरठा सुंदर दोहा' इति । (क) सोरठाके पहले और तीसरे चरणोंमें ग्यारह-ग्यारह तथा दूसरे और चौथे चरणोंमें तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं । इनके दूसरे और चौथे चरणोंमें जगण (।ऽ।) न आना चाहिये तथा इनके आदिमें त्रिकलके पश्चात् दो गुरु नहीं आते । सोरठाके चरणोंको उलटकर पढ़नेसे दोहा बन जाता है । अर्थात् दोहेके प्रथम और तृतीय चरणोंमें तेरह-तेरह और द्वितीय और चतुर्थ चरणोंमें ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ रहती हैं । (ख) 'सुन्दर' देहलीदीपकन्यायसे सोरठा और दोहा दोनोंके साथ है । सुन्दर सोरठा वह है जिसके द्वितीय और चतुर्थ चरणमें जगण (।ऽ।) नहीं आता । जगणके आनेसे छन्दकी गति बिगड़ जाती है और वह अशुभ माना जाता है । सुन्दर दोहा वह है जिसके पहले और तीसरे चरणोंके आदिमें जगण न हो, नहीं तो उस दोहेकी चण्डालिनी संज्ञा हो जाती है जो अति निन्द्य है । यदि पूरे शब्दमें जगण पड़े तभी वह निन्द्य समझा जाता है । यदि पहला और दूसरा अक्षर मिलकर एक शब्द बन जाता हो और तीसरा अक्षर किसी दूसरे शब्दका अंग हो तो दोष नहीं पड़ता । यथा—'भलो भलाइहि

पै लहै लहै निचाइहिं नीचु।' यहाँ दो अक्षर मिलकर 'भलो' शब्द पृथक् है, और 'भलाई' का प्रथमाक्षर भी मिलनेसे जगण हुआ। अत इसमे दोष नहीं है। (ग) ☞हमारे धर्मग्रन्थोंमें अठारह सख्यासे अधिक काम लिया है। पुराणोंकी सख्या अठारह है, भारतमें अठारह पर्व है, गीतामें अठारह अध्याय हैं, अठारह अक्षौहिणी सेना है, अठारह दिन युद्ध होता है, श्रीगोस्वामीजीने भी श्रीरामचरितमानसमें अठारह प्रकारके छन्दोंमे ही काम लिया है। इस अठारह सख्याके रहस्यपर विद्वानोंको दृष्टिपात करना चाहिये। (वि० त्रि०) [दोहा और सोरठा भी छद हैं, पर गोस्वामीजीने इनको पृथक् रक्खा है।

नोट—३ 'बहु रंग कमल' इति। (क) श्रीरामचरितमानसमे चार प्रकारके कमलोंका वर्णन पाया जाता है। अरुण, श्वेत, नील और पीत। प्रमाण यथा—'सुभग सोन सरसीरुह लोचन। १।२१९।६।', 'जहँ बिलोक मृगसावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी॥ १।२३२।२।', 'नील पीत जलजाभ सरीरा। १।२३३।१।' चारो रगोंके कमलोंके प्रमाण 'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥ १।२८८।४।' इस एक ही चौपाईमे मिल जाते हैं। माणिक्य लाल, मर्कत नील, कुलिश श्वेत और पीरोजा पीले रगका होता है। हिंदी-शब्दसागरमें भी चार रगके कमलोंका उल्लेख मिलता है। रक्त कमल भारतके प्राय. सभी प्रान्तोंमे मिलता हैं। इसे सस्कृतमें कोकनद, रक्तोत्पल, हल्लक इत्यादि कहते हैं। श्वेत कमल काशीके पास और सयुक्तप्रान्तके अन्य स्थानोंमे भी होता है। इसे शतपत्र, महापद्म, नल, सिताम्बुज इत्यादि कहते हैं। नील कमल विशेषकर काश्मीरके उत्तर तिब्बत और कहीं कहीं चीनमे होता है। पीत कमल अमेरिका साइबेरिया उत्तर जर्मनी इत्यादि देशोंमे मिलता है। अधिकतर लाल, श्वेत और नील कमल देखे गये हैं। ☞सम्भव है कि इसी विचारसे छद, सोरठा, दोहा तीन ही नाम स्पष्ट लिखे गये। दोहे सबसे अधिक है। अत वे लाल हैं। सोरठे उनसे कम हैं अतः वे श्वेतकमल कहे जा सकते हैं और छद नील (वा, नील और पीत) कमल हैं।

श्रीबैजनाथजी भी चार रंगके कमल मानकर लिखते है कि 'अहल्यास्तुतिमे त्रिभगी ३२ मात्राकी, जन्मसमय चवबैया ३० मात्राकी, ब्याहसमय हरिगीतिका २८ मात्राकी—इत्यादि बड़े छद श्याम कमल है। वेदमुनि (भुशुण्डिजीके गुरु) को भुजगप्रयात, राज्याभिषेकसमय शिवजीका तोटक, अत्रिमुनिकी नगस्वरूपिणी इत्यादि श्वेत कमल हैं। खरदूषणके युद्धका तोमर १२ मात्राका पीत कमल है। सोरठा और दोहा लाल वर्णके कमल हैं। बड़े बड़े छद सहस्रदलवाले कमल हैं, मध्यवाले शतदलके और सोरठा-दोहा आदि छोटे कमल हैं।

सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि छन्द, सोरठा, दोहा तीन नामोका उल्लेख करके कमलके तीन भेद सूचित किये। कोशमें श्वेत, रक्त और नील तीन ही भेद लिखे है। ग्रन्थकारने जो चौथी प्रकारका कमल लिखा है वह इसमे कि पीतका अन्तर्भाव श्वेतमें है, इसीलिये लक्ष्मणजीकी उपमा पीतसे दी है। (परन्तु श० सा० से इसका विरोध होता है)।

बाबा जानकीदासजीका मत है कि छन्द, सोरठों और दोहोंको बहुरगके कमल कहकर जनाया कि इनके रग त्रिगुणमय हैं। जो रजोगुणी वाणीमे हैं वे लाल रगके कमल है। तमोगुण वाणीवाले श्याम है और जो सत्त्वगुणी वाणीमें हैं वे श्वेत कमल हैं। जितने छद, सोरठे और दोहे हैं वे त्रिगुणमय वाणीमे है। जो पीत कमल भी मानते हैं, वे पीतरगके कमलोंको गुणातीत मानते है। इस तरह विषयभेदसे छदादि सात्त्विक, राजस, तामस और गुणातीत माने गये हैं। यथा—'को जान केहि आनदबस सब ब्रह्म बर परिछन चली। १।३१८।', 'पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई। आनदकद बिलोकि दूलहु उभय दिसि आनँद मई। १।३२१।' 'लागे पखारन पाय पकज प्रेम तन पुलकावली। १।३२४।' इत्यादि तात्त्विक श्वेत रगके है। रामराज्य-प्रसङ्गके छन्दादि राजस लाल रगके कमल हैं। यथा—'रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं। काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं। ७।२१।', 'दड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्यसमाज।...७।२२।', 'मनिदीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरीं बिद्रुम रची।...७।२७।' इत्यादि। खरदूषण, मेघनाद, रावणके युद्धोंवाले छन्द तामसिक

नीले रंगके कमल हैं। 'ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार। ' ७। २५।', 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपसिरोमने। ' ७। १३।', 'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।···३। ३२।', इत्यादि जहाँ गुणातीत-रूपका वर्णन है वे गुणातीत पीत रंगके कमल कहे जायँगे।

पाण्डेजीका मत है कि 'बहुरंग' कहकर जनाया कि अनेक रंगके रस उनमें भरे हुए हैं।' पं० रामकुमारजी एक खर्रेमें लिखते हैं कि 'जिस रसके सम्बन्धमें जो छन्द, सोरठे, दोहे हैं वे उसी रंगके कमल हैं और जहाँ रसोंका मिलाप है वहाँ रंगका भी मिलाप जानिये। यथा—'आइ गए हनुमान जिमि करुना महँ बीररस', 'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।·· ', 'रामहि चितै रहे भरि लोचन। रूप अपार ' ', इत्यादि। पुरइनके रंगसे छन्दादि कमलोंको रंगकी प्राप्ति है, मूल कारण पुरइन है। कारणके अनुकूल कार्य होता है इसीसे पुरइनमें रंग न कहा।'

४ 'कमल कुल' इति। कुल=समुदाय, समूह, घराना, यथा—'भानुकमल कुल पोषनिहारा। २। १७।' कमल कुल कहकर जनाया कि प्रत्येक रंगके भी अनेक प्रकारके कमल होते हैं, जिनके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। एक जाति और रंगके जितने कमल होंगे वे सब एक कुलके माने जायँगे। इसी तरह छन्द, सोरठा और दोहाके भी अनेक भेद हैं जिन्हें एक एक 'कुल' कह सकते हैं।

रा० प्र० का मत है कि 'कुल से शतपत्र, सहस्रपत्र आदि कमल जानना चाहिये। परंतु सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि शतपत्र आदि कमलके भेद नहीं हैं, वे तो नामान्तर ही हैं। द्विवेदीजीका मत रा० प्र० से मिलता है। वे लिखते हैं कि—'चौपाई पुरइनिसे भिन्न ललित छन्द, सोरठे, दोहे, सहस्रपत्र, शतपत्र, पुण्डरीक, नील कमल, कोकनद इत्यादि ऐसे सोहते हैं। 'कुल' का लेखा वर्ण और मात्रासे है। मानसके कमल अष्टदलसे लेकर बत्तीस दलतकके हैं'।

५ चौपाईको पुरइन और छन्द सोरठा, दोहाको कमल कहकर सूचित करते हैं कि— (क) सब पुरइनोंमें कमल नहीं होता, इसीसे इस ग्रन्थमें भी कहीं ८ पर, कहीं १०, ११, १३ इत्यादि चौपाइयों (अर्धालियों) पर दोहा, सोरठा या छन्द दिया गया है। (ख) दोहा, सोरठा और छन्द ये सब चौपाईसे निकलते हैं जैसे कमल पुरइनसे निकलते हैं। (ग) चौपाई सोलह मात्राओंकी होती है। अतः वह पुरइन ठहरी। सोरठे-दोहे उससे बड़े (अर्थात् चौबीस मात्राओंके) होते हैं और छन्द उनसे भी बड़े हुए हैं। उन्हें कमल कहा, क्योंकि ये पुरइनोंके ऊपर रहते हैं, चौपाइयोंके बीच-बीचमें छन्दादि होते हैं जैसे पुरइनोंके बीच बीचमें कमल। (पाँ०)। पुरइनसे कमलका और चौपाइयोंसे छन्दादिका निकलना इस प्रकार है। यथा—'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥' इस चौपाईसे 'मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं। ' । १। ५१।' यह छन्द निकला। पुरइनका रंग इसमें आ गया। 'मुनि धीर जेहि ध्यावहीं' और 'सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।'

त्रिपाठीजी—१ श्रीरामचरितमानसका ठीक अर्थ लगानेके लिये, प्रत्येक पुरइन और कमलका हाल जानना होगा। दोनोंका पूरा पता लगाये बिना अर्थ नहीं लगेगा। यथा—'तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास ते काढ़ि।' इस कमलकी पुरइनका पता लगाये बिना शंका बनी रहती है कि 'केहि कपास ते काढ़ि ?' क्योंकि यहाँ कपासको उपमेय कहा ही नहीं गया। यह कमल तो मिला उत्तरकाण्डमें और पुरइनका पता लगा बालकाण्डमें—'साधुचरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥' अब अर्थ खुल गया कि साधु चरित ही कपासका गुनमय फल है। पुनश्च यथा—'मुनि भूपाल भरत ब्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू॥' यह पुरइन है। यहाँ भरतव्यवहारको सोना कह रहे हैं और उसमें सुगंध और स्वाद भी बतला रहे हैं, पर यह न जान पड़ा कि 'व्यवहारमें क्या सुवर्ण है और क्या सुगंध एवं स्वाद ? इस पुरइनका सम्बन्ध किन-किन पुरइनों और कमलसे है यह पता लगाये बिना अर्थ नहीं खुलता। 'सोन' का सम्बन्ध 'कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥' तथा 'करमें कनक मनि पारिख पाएँ।' से है। अर्थ स्पष्ट हो गया कि नेमनिर्वाह ही 'सोना' है। 'सुगन्ध' का सम्बन्ध 'भायप भगति चहूँ बधु की जल माधुरी सुबास' इस कमलसे है। अर्थ स्पष्ट हो गया कि भरतजीका भायप ही सोनेमें

सुगन्ध है। इसी तरह 'सुधा सरिस सारू' का सम्बन्ध 'परम पुनीत भरत आचरनू।...राम सनेह सुधाकर सारू। २। ३२६।' से है। अर्थ स्पष्ट हो गया कि भरतजीका आचरण ही 'सुधाकर सार' अर्थात् स्वाद है। तालाबमें जो पुरइनें होती हैं उनके फैलनेका कोई नियम नहीं है, कोई किधर जाती है, कोई किधर जाती है। इसी भाँति छन्द, सोरठा, दोहा और चौपाइयोंका भी कोई नियम नहीं है।

☞ऐसी पुरइनें बहुत हैं जिनमें फूल नहीं निकले हैं, पर ऐसे कमल नहीं हैं जिन्हें पुरइन न हो। इनके कुछ नियम जो हाथ लगे हैं वे ये हैं—(क) कहीं फूले हुए कमल हैं, यथा—'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख'''। ५। ४।' यह 'तात मोर अति पुन्य बहूता'''। ५। १। ८।' पुरइनका कमल है। दूतके दर्शनमात्रके सुखकी विशद व्याख्या है। (ख) कहीं कली विकसित हो रही है, आगे उसीका विकास हो रहा है यथा—'कनककोट कर परम प्रकासा' का विकास 'कनककोट विचित्र मनिकृत''में है। (ग) कहीं एक पुरइनमें एकाधिक कमल फूले हैं। यथा—'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी।'''। २। २७३।' इन पुरइनोंसे चार कमल बालकाण्डके म० सोरठारूपमें निकले। प्रथम चारों सोरठोंमें 'च ौं' पद नहीं आया, क्योंकि पुरइनमें आ चुका है। (घ) कहीं अनेक स्थानोंकी पुरइनें इकट्ठी होकर फूली हुई हैं, जिनसे फूलोंका गुच्छा बन गया है। तीन दोहोंके बाद तीन सोरठा और फिर एक दोहा आया है, इस भाँति कमलोंका गुच्छा बन गया है, और इन सबोंकी पुरइनें सब एक जगहकी नहीं हैं। यथा—'सरल कवित कीरति'। १। १४।' इन दोनों कमलोंमें पुरइन है 'कीरति भनिति भूति भलि सोई।''' और इसके आगेवाले दोहे 'कवि कोबिद रघुबर चरित। १। १४।' की पुरइन 'कवि कोबिद अस हृदय बिचारी''। १। ११। ६।' है जो कुछ दूरसे आयी है।—दोहा १४ में चार दोहे और तीन सोरठे एकत्र आये हैं, इनसे सम्बद्ध चौपाई दूर दूरसे आयी है। (ङ) कहीं जहाँ-की-तहाँ पुरइनें फूली हुई हैं। उदाहरण '(क)' में आ गया है। (च)—कहीं बहुत दूर जाकर पुरइन फूल देती है, यथा—'भरि लोचन छबि सिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्हि चिन्हारी। १। ५०। २।' यह पुरइन जाकर लङ्काकाण्डमें 'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आएउ संभु सुजान।'''६। १४।' में फूली। (छ)—कहीं एक पुरइन दूसरेसे सम्बद्ध है। यथा—'बार बार रघुबीर सँभारी। ''५। १। ६।' का सम्बन्ध 'हनुमत जन्म सफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना। ४। २३।' से है। हनुमान्‌जी 'कृपानिधान' को धारण करके चले थे, इसीलिये उन्हें सँभाल रहे हैं।

वि० त्रि०—२ 'सोहा' इति। (क) कमलोंके फूलनेसे ही सरोवरकी शोभा होती है, यथा—'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥' इसी भाँति छन्द, सोरठा, सुन्दर दोहासे श्रीरामचरितमानसकी शोभा है। अत: जहाँ शोभातिशयका प्रकरण आ गया है, वहाँ छन्दोंकी भी भरमार है। श्रीशङ्करभगवान्‌के ब्याहमें चार-चार चौपाईके बाद एक छन्द और एक सोरठा या एक दोहा है। इस भाँति ग्यारह (रुद्रसंख्यक) छन्द इकट्ठे आये हैं, श्रीरामजीके ब्याहमें इसी भाँति बारह (आदित्यसंख्यक) छन्द इकट्ठे आये हैं, श्रीराम-रावण-युद्धमें इसी भाँति सत्ताईस (नक्षत्रसंख्यक) छन्द इकट्ठे आये हैं। ये संख्याएँ भी सप्रयोजन हैं। (ख) जिन देशोंके दृश्यसे साम्यकी शोभा है, वहाँके चरित्रमें पुरइन और कमलोंके क्रम और संख्यामें भी समता है, यथा बालकाण्डमें प्रायेण चार चौपाइयोंके बाद दोहा आता गया है, अयोध्याकाण्डमें तो चार चौपाइयोंके बाद एक दोहा और २४ दोहोंके बाद पचीसवाँ एक छंद और सोरठा बराबर आता है, फिर भी सरोवरके पुरइन और कमलसे उपमित होनेके कारण किसी क्रमको पूरी तरहसे निबहने नहीं दिया है। (ग) जिन देशोंमें दृश्यवैषम्यकी शोभा है, वहाँ कमल भी उसी रीतिसे फूले हैं। कहीं एक पुरइनके बाद भी कमल है और कहीं १७ पुरइनतक कमलका पता नहीं है।

अरथ अनूप सुभाव सुभाषा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥ ६॥

अर्थ—उपमारहित अर्थ, सुन्दर भाव और सुन्दर भाषा ही पराग, मकरंद (पुष्परस जो परागके नीचे होता है) और सुगन्ध हैं॥ ६॥

त्रिपाठीजी—ग्रन्थकारका कहना है कि इस ग्रन्थमें उपमारहित अर्थ हैं। 'यह समझनेकी बात है कि इतने बड़े विनम्र होते हुए ग्रन्थकार रघुवंश, नैषध, किरात, माघादिके विद्यमान रहनेपर भी अपनी कविताके अर्थको अनूप कहनेका दावा क्यों करते हैं? क्या अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके अतिरिक्त कोई चौथा रास्ता है?' बात यह है कि ग्रन्थकारने मानसमें स्नानका फल 'महाघोर त्रयताप न जरई' यह बताया है। अत यह ग्रन्थ इस दृष्टिसे रचा गया है कि इसके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन प्रकारके अर्थ हों। आधिभौतिक अर्थसे भौतिक, आधिदैविकसे दैविक और आध्यात्मिक अर्थसे आध्यात्मिक ताप नष्ट होते हैं।—यही अर्थकी अनूपता अपूर्वता है।

आधिभौतिक अर्थ वह है जिसे आजकलके ऐतिहासिक सत्य कहते हैं। वही माधुर्यलीला आधिभौतिक अर्थ है। भुशुण्डिजीके मूल रामचरितमानससे यदि पहला, दूसरा और अस्सीवाँ प्रसङ्ग हटा दिये जावें तो आधिभौतिक रामचरितमानसका एक्यासी सूत्रों (प्रसङ्गों) में पूरा वर्णन आ जाता है। यह ससारके बड़े कामका है।

आधिदैविक अर्थ—जैसे नाटकमे हरिश्चन्द्रका खेल देखकर साधारण दर्शकोंको भी आनन्द होता है और उससे शिक्षा भी मिलती है। पर नाटकके रसिकोंको उतनेहीसे तृप्ति नहीं होती, उन्हें उन पात्रोंकी भी खोज होती है जिन्होंने अभिनय किया था। इसी भाँति आधिदैविक चरित सम्पूर्ण जगत्के लिये हैं पर भक्तोंका तो यह सर्वस्व है। यदि इस जगत्का कोई नियामक है तो यह भी आवश्यक है कि कभी वह इस ससारमें अवतीर्ण हो। इस ससार-नाट्यशालामें इसके सूत्रधर स्वयं रङ्गमञ्चपर आ भी जाते हैं। महर्षि वाल्मीकि, अगस्त्य, शरभग आदि जानकार लोग उन्हें उसी समय पहचान भी लेते हैं। आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों चरित साथ-साथ चलते हैं, फिर भी ग्रन्थकारने १। १११ से १। १८६ तक पचहत्तर दोहोंमें शुद्ध आधिदैविक चरित्र ही कहा है। आधिभौतिकसे शिक्षामात्र मिलती है, पर ससार-सागर-सतरण तो आधिदैविक माहात्म्यके साथ यशोगानसे ही होता है।

आध्यात्मिक अर्थ भी इसमें है जैसे ब्रह्माण्डके कल्याणके लिये श्रीरामावतार होता है वैसे ही जीवके इस पिण्डमें नामावतार होता है। दु ख, दोष, कलिमल और मोहमें पड़ा हुआ जीव अत्यन्त सतप्त हो रहा है, उसके उद्धारका उपाय यह है कि इस पिण्डमें श्रीरामजीके नामका अवतार हो। नामावतारसे जीवका कल्याण होता है। यह आध्यात्मिक अर्थ है। श्रीरामचरितका जाननेवाला स्पष्ट अपने शरीरमें देख सकता है कि इस समय कौन-सा राक्षस उत्पात कर रहा है और नामके प्रयोगसे उससे छुटकारा पा सकता है। सम्पूर्ण कथामें ये तीनों अर्थ अनवरत चले जाते हैं। यही यहाँ अर्थकी अपूर्वता है।

नोट—१ 'सुभाव' इति। चित्त द्रव्य लाखकी भाँति स्वभावसे ही कठिन होता है, तापक विषयके योगसे वह पिघल उठता है। काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक और दयादिक चित्तके लिये तापक हैं। इन्हींके योगसे वह पिघलता है और इनके शान्त हो जानेपर फिर कठिन हो जाता है। चित्तकी पिघली हुई दशामें जिस बातका रग उसमें चढ जाता है, उसी रगको सस्कार, वासना-भावना, या भाव कहते हैं। यह भाव यदि रसके अनुकूल हो तो उसे 'सुभाव' कहते हैं। (वि० त्रि०)। अन्य लोगोंने 'सुन्दर भाव' अर्थ किया है।

१—'सुभाषा' इति। सस्कृतमें सबका अधिकार नहीं है, भाषामें आ-पामर सबका जन्म-सिद्ध अधिकार है। अत रामयशवर्णनके लिये लोकोपकार-दृष्ट्या लोकभाषा ही सुभाषा है। यथा—'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥' पर लोकभाषाके अवान्तर अगणित भेद हैं। अवधनरेश भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तमके चरित्रवर्णनमें गोस्वामीजीने अवधी भाषाका प्रयोग किया। पुन , मानसमें श्रुतिकटु, भाषाहीन, क्लिष्ट, अश्लीलादि शब्द-दोष, प्रतिकूलाक्षर, व्याहत, पुनरुक्ति, दुष्क्रम आदि अर्थदोष तथा अङ्गवर्णन अगीविस्मरणादि रस दोषके न होनेसे 'सुभाषा' कहा। अथवा अलंकृत शब्द होनेसे 'सुभाषा' कहा। (वि० त्रि०)।

नोट—२ ऊपर कमल बताया, कमलमें पराग, मकरन्द और सुगन्ध होती है। अब यहाँ बताते हैं कि इस मानसमें वे क्या हैं। 'अर्थ भाव और भाषा' की 'पराग, मकरन्द और सुवास' से क्या समता है? यह महानुभावोंने इस प्रकार दिखाया है कि—(क) शब्दके भीतर अर्थ होता है, वैसे ही पराग फूलकी पाखुरी (पखड़ी) से मिला

हुआ भीतरकी ओर पहिले ही दिखायी देता है। मकरन्द परागके नीचे रहता है जो साधारणतः दिखायी नहीं देता, इसी तरह शब्दोंके भीतर अर्थके अभ्यन्तर सुन्दर भाव भरे होते हैं जैसे पुष्पकी सुगन्धका फैलाव दूरतक होता है, वैसे ही इसमें भाषा दूर-दूरकी है और दूर-दूरके देशोंमें भी इसका प्रचार हो रहा है, इसकी प्रशंसा हो रही है। इसमें पंजाबी, बंगाली, फारसी, अरबी, अवधी, बघेलखण्डी, ब्रज, बुँदेलखण्डी, मराठी, बैसवारी, भोजपुरी इत्यादि अनेक देशोंकी भाषाओंके भी शब्द आये हैं, यद्यपि यह ग्रन्थ अवधी भाषाका ही है। (ख) जब भ्रमर कमलपर बैठता है तब कमलसे पराग उड़ता है, मकरन्द झड़ता (वा टपकता) है और सुवास फैलती है, वैसे ही जब सुकृती पुरुषोंके चित्त-भ्रमर छन्दादि कमलोंपर बैठते हैं तब अर्थपरागका विकास होता है, भाव-मकरन्दकी वर्षा होती है और सुभाषासुगन्ध (सन्निकट श्रोताओंके अङ्गमें) बिंध जाती है। (मा० म०, रा० प्र० शर्मा)। 'सुभाषा' का भाव कि इसमें भाषालालित्य है।

(ग)—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियोंसे अर्थ होता है। शक्तियोंके भेदसे अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकारके होते हैं। ये तीनों प्रकार अर्थके अन्तर्गत हैं। इसी भाँति परागके तीन गुण हैं—सौन्दर्य, सौगन्ध्य और सारस्य। यथा—'बंदौं गुरपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥' यहाँ वाच्यको सुगन्ध कहा है, क्योंकि पृथक्-पृथक् शब्दके पृथक्-पृथक् अर्थ उसी भाँति नियत हैं जिस भाँति भिन्न-भिन्न पुष्पोंके भिन्न-भिन्न गन्ध नियत हैं। एवं लक्ष्यार्थको सौन्दर्य कहा, क्योंकि वाच्यार्थसे जब अन्वय या तात्पर्यकी उपपत्ति नहीं होती, तो उसे छोड़कर सुन्दर अर्थ ग्रहण किया जाता है, जिससे अन्वय और तात्पर्य बन जायँ। व्यंग्य तो काव्यका प्राण ही है, इसी-लिये उसे सारस्य कहा। सुभाव मकरन्द (पुष्परस) है, क्योंकि आनन्द तो सुन्दर भावमें ही होता है। यथा—'मातु बचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला॥ सुख मकरंद भरे श्रियमूला। २। ५३।' पराग स्पष्ट रहता है और मकरन्द अन्तर्गत होता है, भावुकको ही मिलता है। अतः सुभावको मकरन्द कहा। सुभाषा सुगन्ध है क्योंकि भाषाका प्रभाव सुगन्धकी भाँति दूरतक पहुँचता है। अर्थ और भाव अलग रहता है, सुरचित भाषामें ही ऐसा प्रभाव है कि उसके सुननेमात्रसे श्रोताको आनन्द आ जाता है। यथा—'सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान। सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥,' 'तया कवितया किं वा किं वा वनितया तया। पादनिक्षेपमात्रेण यया न ह्रियते मनः॥' (वि० त्रि०)

(घ)—मा० म० कारका मत है कि 'यथाक्रमसे अर्थ करनेसे भाव बिगड़ जाता है, क्योंकि भाव-को मकरन्द और सुभाषाको सुवास माननेसे यह अर्थ करना पड़ेगा कि भावोंके अभ्यन्तर भाषाएँ हैं (क्योंकि मकरन्दके अभ्यन्तर सुवास होता है न कि सुवासके अभ्यन्तर मकरन्द) तो भाव ऊपर नजर आवेगा या भावादि निकालनेपर भाषापर दृष्टि पड़ेगी। इससे यहाँ क्रम-विपर्यय अलङ्कारसे अर्थ करनेपर सङ्गति ठीक बैठती है। भाषाएँ प्रथम ही दिखायी देती हैं अतः वे पराग हैं, परागके मध्य मकरन्द 'वैसे ही भाषाके मध्य अर्थ, अतः मकरन्द अर्थका रूपक है। और मकरन्दके अभ्यन्तर सुगन्ध वैसे ही अर्थके भीतर सुन्दर भाव है जो मानस-रामायणका सार है जिसका फैलाव दूर-दूरतक है। यद्यपि अनेकों ग्रन्थ मौजूद हैं तथापि मानसके भावोंके सामने सब तुच्छ हैं।'

नोट—४ अनुपम अर्थ और सुन्दर भावके उदाहरण श्रीसुधाकर द्विवेदीजी इस प्रकार देते हैं। (क) 'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।' इस छन्दमें कृपालासे दिखलाया कि भूमि और देवताओंपर कृपा करके प्रकट हुए। केवल माताको अपना विष्णुरूप दिखलाया। यद्यपि दशरथने इनके वियोगमें प्राण-त्याग किया तथापि पहले वैवस्वतमनुरूपके समयमें जिस रूपका दर्शन किया था उस रूपमें रामको कभी नहीं देखा, इसलिये 'कौसल्या हितकारी' कहनेका भाव बहुत ही रोचक है।' (ख) 'मुक्तिजनम महि जानि ग्यान खानि अघ हानि कर। जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न।' में 'सो कासी' एक पद करनेसे 'जो सोक (जन्म-मरण-दुःख) के काटनेके लिये तलवार है इसलिये इसे क्यों न सेइये' यह 'अनुपम' अर्थ होता है। (ग) 'प्रभुहिं चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल ··।' इसमें बार बार रामको देखकर फिर सङ्कोचसे माताको देखना, यह सब अनुपम अर्थ और भाव हैं।

वे लिखते हैं कि 'यहाँ भावसे ग्रन्थकारके अभिप्रायको लेना चाहिये। जिस भावको साहित्यदर्पणमें 'निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथमविक्रिया' लिखते हैं। और जिसका उदाहरण—'स एव सुरभि काल स एव मलयानिल। नैवेयमबला किन्तु मनोऽन्यदिव दृश्यते॥ य. कौमारहर स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते चोन्मीलितमालतीसुरभय प्रौढाः कदम्बानिला। सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेत समुत्कण्ठते॥' यह देते हैं। उन भावके हाव, हेला इत्यादि ३३ भेद हैं। तुलसीदासजीने भी भावके उदाहरण 'तासु बचन अति सियहिं सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥' 'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥' इत्यादि दिखाये हैं।

सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ग्यान बिराग बिचार मराला॥ ७॥

शब्दार्थ—अलिमाला=अलि+माला=भौंरोंका समूह या पंक्ति। मराल=हंस। सुकृतपुंज=पुण्यसमूह।=सुकृती लोग जिनके पुण्योंका समूह एकत्र हो गया है। यथा—'ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥ २। ११३।', 'चित्रकूटके बिहँग मृग बेलि बिटप तृन जाति। पुन्यपुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिन राति॥ २। १३८।', 'हम सब पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥ अ० २७४।', 'हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर बासी॥ जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥ १। ३१०।', 'नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग १। ४०।' ☞ इस ग्रन्थमें विप्रपदपूजा, परोपकार इत्यादि पुण्यकर्मोंका तथा पुण्यपुरुषोंका ठौर-ठौर वर्णन है। पुन सुकृत-पुंज=सुकृत कर्म करनेवालोंका समूह।

अर्थ—सुकृतपुंज सुन्दर भ्रमरोंकी पंक्ति है। ज्ञान, वैराग्य और विचार हंस हैं॥ ७॥

नोट—१ करुणासिन्धुजी स्वामीजी आदि कुछ महानुभाव 'ज्ञान-वैराग्यका विचार' ऐसा अर्थ करते हैं। काष्ठजिह्वा स्वामीजी कहते हैं कि 'इनका 'विचार' हंस है। दूध पानी जुदा करनेसे हंस विचारी है।' सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'भक्तोंके ज्ञान और वैराग्यरूप विचार इस मानसके हंस हैं। भक्तिके चाहनेवाले तो फिर-फिर संसारमें जन्म लेकर भगवद्भक्तिमें लीन रहते हैं। जो ज्ञानी और विरागी हैं वे अपने ज्ञान-वैराग्य विचारसे इस मानसके द्वारसे मुक्ति पाते हैं। जैसे हंस अपने नीर क्षीर विवेकसे मानसमें मोती पाते हैं। मुक्तिके साम्यसे ज्ञान-विरागके विचारको हंस बनाना बहुत उचित है।'

२ कमलके स्नेही भ्रमर हैं। यथा—'मुनिमन मधुप रहत जहँ छाये'। अतएव कमल कहकर भ्रमरावली कही। मानसके 'छन्द-सोरठा दोहा' रूपी कमलपुष्पोंपर सुकृतपुञ्ज छाये रहते हैं, उनके भावरूप मकरंद-रसको पान करते हैं (अर्थात् भावरूपी मकरन्दकी प्राप्ति सुकृतियोंके ही भाग्यमें है, वे इसीसे पुष्ट होते हैं, यही उनका जीवन है। जहाँ सुकृत नहीं है वहाँ भावोंकी गुणग्राहकता कौन करे?) और परागरूपी अर्थमें लोटते-पोटते रहते हैं। सुकृतपुञ्ज रामभक्त हैं, यथा—'रामभगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥ १। २२। ६।'

टिप्पणी—भ्रमर कहकर फिर हंस कहा, क्योंकि हंस कमलका स्नेही है, कमलपर बैठता है, यथा—'हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥ बिमल बिबेक धरम-नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥ २। २९७।', 'पुनि नभ-सर सम कर-निकर कमलन्ह पर करि बास। सोभत भयो मराल इव संभु सहित कैलास॥ ६। २२।'

❀ 'ज्ञान बिराग बिचार मराला' इति। ❀

१ विचार—यह सोचना कि शरीर और उसके सम्बन्ध एव जगत्के सभी व्यवहार अनित्य हैं, एक आत्मा-परमात्मा ही नित्य है, यथा—'देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किये बिचारि। ज्यों कदलीतरु मध्य निहारत, कबहुँ न निकसै सार॥ वि० १८८।' ☞ विचारसे वैराग्य उत्पन्न होता है। श्रीस्वायम्भुव मनुके मनमें प्रथम विचार उठा कि 'होइ न बिषयबिराग भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि-भगति बिनु॥ १।

१४२।' तब 'नारि समेत गवन बन कीन्हा'—यह वैराग्य हुआ। बिराग=वैराग्य, विषयसे मनका हट जाना, उसमें आसक्त न होना। वैराग्यसे ज्ञान होता है, यथा—'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु। ७। ८९।' किसी प्रकारका मान हृदयमें न होना ज्ञानका लक्षण है, यथा—'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। ३। १५।'

२—ज्ञान, वैराग्य,—विचार तीनको हंस कहा, क्योंकि हंस भी तीन प्रकारके होते हैं—हंस, कलहंस और राजहंस। (पं० रा० कु०, मा० दी०)। यथा 'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार। १। ६ 'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। ३। ४०।', 'सखी संग लै कुँअरि तब चलि जनु राजमराल। १। १३४।' पुनः दोनोंका रंग श्वेत है। (मा० दी०)। पुनः अमरकोशमें 'राजहंस, मल्लिकाक्ष और धार्तराष्ट्र' ये तीन भेद हंसोंके कहे हैं। यथा—'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः। मलिनैर्मल्लिकाक्षास्ते धार्तराष्ट्राः सितेतरैः॥ २। ५। २४।' अतः यहाँ ज्ञान, विराग और विचार तीन कहे।

३ (क) ज्ञान, वैराग्य और विचारको हंस कहनेका कारण यह है कि जैसे हंस दूध-पानी अलग करके दूध पी लेता है, वैसे ही इनसे सत्-असत्‌का निर्णय होकर सत्‌का ग्रहण और असत्‌का त्याग किया जाता है। पुनः (ख) राजहंसके गतिकी भी प्रशंसा है। यथा—'चलि जनु राजमराल'। कलहंसकी बोलीकी और हंसकी क्षीर-नीर विवरणकी प्रशंसा है, यथा—'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। ३। ४०। २।' 'छीरनीर बिवरन गति हंसी।' ज्ञानकी गति उत्तम (मोक्ष) है, अतः यह राजहंस हुआ। विरागयुक्त वाणीकी शोभा है, यथा 'सुनि बिराग संजुत कपि बानी। बोले बिहँसि राम धनुपानी॥' अतः वैराग्य कलहंस है। विचार सत्-असत्‌का विवेक करता है, गुण-दोषको अलग करता है, अतः यह हंस है। यथा—'भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥' मानसमें जहाँ-जहाँ ज्ञान-विराग-विचारका उल्लेख मिले वहाँ-वहाँ हंसोंका विहार समझ लेना चाहिये। (वि० त्रि०)।

४ 'कमलमें भ्रमर और हंस विहार करते हैं, 'छन्द-सोरठा-दोहा' में 'सुकृत' और 'ज्ञान-विराग-विचार' विहार करते हैं। अर्थात् इनके कहने-सुननेसे सुकृत होते हैं और 'ज्ञान-वैराग्य-विचार' हृदयमें आते हैं। जहाँ कमल होता है वहाँ ये सब रहते हैं।

५ यहाँ कमलके योगसे भ्रमर और हंसको 'तल्लीन' के साथ कहा गया, नहीं तो ये 'तद्‌गत' में आते हैं। (मा० प्र०)।

धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥ ८॥

अर्थ—(श्रीरामचरितमानसमें) ध्वनि, अवरेब, गुण और जाति जो कविताके भेद हैं वे ही बहुत प्रकारकी सुन्दर मछलियाँ हैं॥ ८॥

नोट—'धुनि अवरेब गुन जाती' इति। १—'धुनि' (ध्वनि)—जब शब्दोंमें नियत अर्थोंका साधारणतः कुछ और अर्थ हो और उनमेंसे प्रसङ्गानुकूल मुख्य अर्थ कुछ और ही झलकता हो तो उसे 'ध्वनि' कहते हैं। चाहे यह चमत्कार वाच्यार्थसे ही निकले चाहे लक्षणार्थ वा व्यंग्यार्थसे। सीधे वचनोंमें टेढ़ा भाव होना यह इसका मुख्य चमत्कार है। ध्वनिके एक लाख चार हजार पचपन भेद कहे जाते हैं। काव्यप्रकाशमें ध्वनिके ४०८ भेद लिखे हैं। ध्वनि भी व्यंग ही है। इसमें यह भेद कहा जाता है कि जिस अर्थका चमत्कार ऐसा हो कि उससे श्रोताको वाञ्छित सिद्धिका आनन्द हो वह ध्वनि है और जिस अर्थके चमत्कारसे सुननेवालेको अप्रसन्नता या लज्जा हो, वह व्यङ्ग है। विशेष आगे २ (ज) में देखिये। उदाहरण, यथा—

(क) 'पुनि आउब एहि बिरियाँ काली'—'कल फिर आवेंगी, कल फिर इनके दर्शन होंगे', इससे मन प्रसन्न होता है। यहाँ 'आना' कहकर 'चलना' जनाया। उसमें ध्वनि यह है कि अब देर हो गयी, न चलोगी तो कल फिर क्या आने पाओगी, इत्यादि। विशेष १। २३४ (६) में देखिये। यह ध्वनि है। 'समर बालि सन करि जसु पावा', यह व्यङ्ग्य है।

(ख) 'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥ १ । २८४ ।' इसे सुनकर श्रोता प्रसन्न होगा, इसमें ध्वनि यह है कि हम तुमको नहीं डरते, ब्राह्मणत्वका विचार करते है कि मारनेसे पाप होगा। यह ध्वनि है।

(ग) 'जेहि बिधि होइहि परमहित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार ॥ कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥ एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। १ । १३२ । ३ ।'— यहाँ 'हित' कहकर मनोरथ-सिद्धि सूचित की और ध्वनि यह कि अपना रूप तुमको न देंगे।

(घ) 'हंस बंस दसरथु जनकु राम लखन से भाइ। जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ ॥ २ । १६१ ।'—यहाँ द्वितीय 'जननी' शब्दसे कैकेयीजीकी कठोरता व्यङ्ग्य है। यह अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्य-भेद है। (वि० त्रि०)।

(ङ) 'कुंदकली दाड़िम दामिनी।' 'हरषे सकुल पाइ जनु राजू। ३ । ११ । १४ ।' यहाँ कुन्दकली आदिकों-का हर्षित होना असम्भव है, तब वाचकने अपना अर्थ छोड़ा और सान्ध्यावसानासे दशनादिका ग्रहण हुआ। अब उपमेयसे उपमानका अनादर पाना गूढ़ व्यङ्ग्य हुआ और तुम्हारे वैरियोंका हर्ष मुझसे नहीं सहा जाता, यह ध्वनि है। यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-भेद है। (वि० त्रि०)

(च) 'पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची ॥ २ । २१ ।'—यहाँ गुणियोंके रेखा खींचनेकी सिद्धि 'भुआल' शब्दसे होती है। यहाँ पहले इसी अर्थकी प्रतीति होती है कि भरत राजा होंगे, पर ऐसा अर्थ करनेसे गुणी झूठे होंगे। अत 'भुआल' शब्दकी शक्तिसे यह अर्थ निकला कि भरत पृथ्वीमें रहेंगे, यथा— 'महि खनि कुस साँथरी सँवारी' (वि० त्रि०)। इत्यादि।

२ 'अवरेब'— (संस्कृत, अव=विरुद्ध+रेव=गति)। तिरछी या टेढ़ी चाल। (क) अधिकांश टीकाकारोंका मत है कि काव्यमें इसको 'खण्डान्वय' भी कहते है। जहाँ सीधे शब्द जैसे रक्खे हैं वैसे ही अर्थ करनेसे ठीक आशय नहीं निकलता, शब्दोंका उलट-फेर करनेहीसे ठीक अर्थ निकलता है, उस काव्यको 'अवरेब काव्य' कहते हैं। उदाहरण—'देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने ॥' इसमें 'ललचाने लोचन' ऐसा रखकर अर्थ सिद्ध होता है अर्थात् जो लोचन ललचाये हुए थे। (मा० प्र०, करु०, मा० दि०)। 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही ॥'—इसमें 'इहाँ' शब्द 'खोजत' के साथ जायगा। इत्यादि। पजाबीजी इसे 'व्यङ्ग्य' और रा० प्र० कार 'अन्वय' कहते हैं। (ख)—शब्दसागर इसीको 'वक्रोक्ति' 'काकूक्ति' कहता है। वक्रोक्तिके दो भेदोंमेंसे एक 'काकु' भी है जिसमें शब्दोंके अन्यार्थ या अनेकार्थसे नहीं बल्कि ध्वनिहीसे दूसरा अभिप्राय ग्रहण किया जाय। जैसे 'क्या वह इतनेपर भी न आवेगा?' अर्थात् आवेगा।—[वक्रोक्तिके उदाहरण अङ्गद-रावण-संवादमें बहुत हैं]

(ग) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'अवरेब' वह है जहाँ दूषण भी किसी कारणसे भूषण हो जाता है। यथा—'श्यामतन सोनित कनी।' रक्तकनी देहकी शोभा नहीं है, सो भी रणभूमिके प्रसङ्गसे शोभा है। पुन' सौभागिनीको तापस वेष अशोभित, सो श्रीकिशोरीजीमें पति सङ्ग-वनवाससे शोभित। अथवा, हितमें अहित—जैसे कैकेयीका मनोरथ, हनुमान्‌जीकी पूँछका जलाना, चित्रकूटमें अवधवासियोंपर देवमाया इत्यादि। यह अर्थ 'अवरेब' हुआ। शब्द-अवरेब वह है जिसमें आदि अन्तके शब्द मिलाकर अर्थ करना होता है।'

प० सूर्यप्रसाद मिश्रने मानसपरिचारिका, करुणासिन्धुजी, रा० प्र०, पजाबीजी, बैजनाथजी, रामेश्वर भट्ट इत्यादिके दिये हुए 'अवरेब' के अर्थोंका खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि ये सब अर्थ निर्मूल हैं, क्योंकि किसीने कुछ भी प्रमाण नहीं लिखा है। ध्वनिके साथ 'अवरेब' के लिखनेसे दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता, जब होगा तब काव्यभेद ही हो सकता है। वे लिखते हैं कि काव्यके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम, अधम। ध्वनिकाव्य उत्तम है। ग्रन्थकारने मध्यमका उल्लेख ही नहीं किया। रह गया अधमकाव्य सो कैसे कहें, क्योंकि स्वय कह चुके हैं कि

'एहि महँ रघुपति नाम उदारा' इसलिये अधम (अवर) नहीं कहा, अवरेब (=अवर+इव) कहा अर्थात् अधमके समान। अवरेबमें दो शब्द हैं—'अवर' और 'इव'। 'अवर' का अर्थ अधम-काव्य है, यथा काव्यप्रकाशमें कहा है—'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।' इसका अर्थ यह है कि गुण और अलङ्कारके रहनेपर भी ध्वनिके न होनेसे अवरकाव्य होता है। यथा—'तात जनकतनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥' इत्यादि, अनेक हैं। ऐसे अर्थका प्रमाण ग्रन्थकारहीने स्वयं लिखा है। यथा—'रामकथा' [?] अवरेब सुधारी' (?) इसका अर्थ हुआ कि इस काव्यमें जो अधमकाव्यके समान भी लक्षण आवें वह भी रामकथा होनेसे शुद्ध हो जावेगी। अवरेब अर्थात् अधमपना जाता रहा। [परंतु शुद्ध पाठ है 'रामकृपा'। 'रामकथा' पाठ हमें कहीं नहीं मिला]

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि बहुतोंके मतसे 'अवर इव' दो पद हैं, जिनकी व्याख्या पं० सूर्यप्रसादने की है पर मेरी समझमें यह फारसी शब्द है। जिसका अर्थ टेढ़ा या फेरफार है, अर्थात् जहाँ कोई बात फेरफारसे कही जाय वही 'अवरेब' है। इसीको साहित्यमें 'पर्यायोक्त' कहते हैं जैसे—'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥ २३४। २।' यहाँ सीधा 'राम' के स्थानमें फेरफारसे कविने भूपकिशोर कहा इसलिये पर्यायोक्त (अवरेब) हुआ। ऐसे ही सूरदासके 'तोयाके सुत ता सुत के सुत ता सुत भखबदनी' में सीधा चन्द्रबदनी न कहकर अवरेबसे जलके पुत्र (ब्रह्मा) के पुत्र (कश्यप) के पुत्र (राहु) के भक्षण चन्द्र कहा।'

(घ) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थसे उत्तम न हो अर्थात् समान या न्यून हो उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं। यहाँ 'अवरेब' शब्द इसीके लिये आया है। टेढ़ी चालको अवरेब कहते हैं। अथवा, 'अवर इव' अवरेब हुआ। व्यंग्यसहित बोलनेवालेको कहा भी जाता है कि 'अवरेब' के साथ बात करते हैं। 'अवरेब' शब्द टेढ़ी चालके अर्थमें आया भी है। यथा—'रामकृपा अवरेब सुधारी।' टेढ़ी ही बातमें व्यंग्य होता है। यहाँ 'धुनि अवरेब कबित' कहा है, सो काव्यके दो भेद हैं—ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य। अतः 'अवरेब' से गुणीभूतव्यंग्य ही अभिप्रेत है।

मा० मा०—कारके मतानुसार अवरेब व्यञ्जनाको कहते हैं। 'जिस शक्तिद्वारा शब्दोंका व्यंग्यभाव प्रकट हो उसे व्यञ्जना कहते हैं।'

(ङ) श्रीरूपनारायणमिश्रजी—यहाँ 'अवरेब' शब्दार्थमें टीकाकारोंका वैमत्य है। श्रीसूर्यप्रसाद मिश्रजीने ध्वनिसे उत्तम काव्य और 'अवरेब' में 'अवर इव' ऐसा पदच्छेद करके 'अवर (अधम काव्य) के सदृश' अर्थ किया है। परंतु सूक्ष्मेक्षिकया विचार करनेपर 'अवर+इव' से 'अवरेब' शब्द बन नहीं सकता। क्योंकि 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिकसे समास होनेपर 'अवर' शब्दके आगे आयी हुई विभक्तिका लोप नहीं हो सकता और विभक्तिके रहते हुए सन्धि नहीं हो सकती, तथा केवल प्रातिपदिक असाधु है और शास्त्रसाधु शब्दोंमें ही प्रवृत्त होते हैं।

कुछ लोगोंने 'अवरेब' से पर्यायोक्ति-अलङ्कार लिया है, किंतु स्थालीपुलाकन्यायसे 'उपमा बीचि बिलास मनोरम' अर्धांश चौपाईमें 'उपमा' शब्दसे अर्थालङ्कारोंके बीजभूत उपमालङ्कारसे सभी अलङ्कारोंको गोस्वामीजी 'तरंग' का रूपक स्वीकार कर चुके हैं। अतः एक 'पर्यायोक्ति अलंकार' को मीनका रूपक देना अनुचित मालूम पड़ रहा है।

रामायणरूपी काव्यका सरोवरके साथ जब रूपकका तात्पर्य है तब उत्तम काव्य और मध्यमकाव्यको मीनका रूपक मानना अत्यन्त असङ्गत है। अतः ध्वनिसे व्यञ्जनावृत्ति और फारसी शब्द 'अवरेब' (जिसका अर्थ है—तिरछा, टेढ़ा, पेचीदा) के अनुसार 'अवरेब' से 'लक्षणावृत्ति' लेना चाहिये, क्योंकि वाच्यार्थसे सम्बद्ध ही अर्थ लक्षणावृत्तिसे जाना जाता है। जैसे कि 'इनका घर गङ्गामें है'—इसमें गङ्गा-वाच्यार्थका तटके साथ सामीप्य-सम्बन्ध होनेसे लक्षणावृत्तिद्वारा गङ्गा पदका 'तट' ही अर्थ होगा' पर्वत (? नदी) नहीं। अनन्त सम्बन्धोंमें वैपरीत्य भी एक सम्बन्ध है। जैसे महान् अपकारीसे कहा जाय कि आपने मेरा बड़ा उपकार किया। यहाँ 'उपकार' का लक्षणावृत्तिद्वारा वैपरीत्य सम्बन्धसे सम्बद्ध (विपरीत अर्थ) 'अपकार' समझा जायगा। फारसी कोशमें 'अवरेब' का अर्थ 'पेचीदा',

टेढ़ा, तिरछा' है और लक्षणासे भी पेचीदा अर्थात् विपरीत अर्थ लिया जाता है, अतः अवरेब और लक्षणाका अर्थ-साम्य बन जाता है। तथा ध्वनिसे व्यञ्जनावृत्तिका ग्रहण आवश्यक है क्योंकि व्यञ्जनावृत्तिका आधार काव्य हुआ और मीनका आधार सरोवर हुआ। इसलिये ध्वनि और मीनका सादृश्य होनेसे ठीक रूपकालङ्कार भासित हुआ। यदि ध्वनिसे काव्यका ग्रहण किया जाय तो मीनके साथ रूपक हो नहीं सकता, क्योंकि काव्यका सरोवरके साथ साङ्गरूपक बनानेके उद्देश्यसे ही अन्य रूपकोंका चित्रण गोस्वामीजीने किया है। यदि ध्वनिकाव्यका मीनके साथ रूपकका तात्पर्य माना जाय तो सरके साथ नहीं हो सकता। जब ध्वनिसे व्यञ्जनाका ग्रहण किया तब 'अवरेब' से लक्षणावृत्तिका ग्रहण करनेपर प्रकरणकी संगति भी बन जाती है।

समस्त चौपाईका अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—'कवित (काव्यकी), ध्वनि (व्यञ्जना), अवरेब (लक्षणा) और गुणजाति (अर्थात् माधुर्यादि गुणसमूह) मनोहर मछलियाँ हैं।'

नोट—३ 'गुण'=जिससे चित्तको आनन्द होता है। यह रसका मित्र है, रसकी उत्कर्षता रचना है। 'कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा। १।९।१०।' देखिये। काव्यगुण कई प्रकारके होते हैं। इनमेंसे 'माधुर्य', 'ओज' और 'प्रसाद' मुख्य हैं। 'माधुर्यगुण' वह है जिसके सुनते ही चित्त द्रवीभूत होता है। अत्यन्त आनन्द होता है। प्रायः शान्त, करुण और शृङ्गार रसमें यह गुण होता है। माधुर्य पद्यकी रचना रत्नाकरके 'अनुस्वारयुत वर्णयुत सुखद रीति अति स्वाद। बिन टवर्ग लघु समक पद सो माधुर्य प्रसाद॥' इस दोहेके अनुसार होती है। जिसमें कठु अक्षर न हों, टवर्ग-रहित अनुस्वारयुक्त कोमल वर्ण पड़ें। यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥…। १।२३०।', 'उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग॥ १।२५४।'

'ओज गुण' वह है जिसमें उद्धत शब्द और संयोगी वर्ण हों और बड़ा समास हो। पुनः, टवर्ग, कवर्ग और रवर्गकी अधिकता हो। इसमें 'जो, तो, सो, करि, लिये, ते, ए, मे' नहीं होते। किसीने यों कहा है कि—'जिन पदनि तेज उर होत बीर रस जान। अद्भुत रौद्र बीभत्स महि ताको वरन निदान॥ संयोगी ट ठ ड ढ ण युत उद्धत रचना रूप। रेफ जोग लघु ए वर्ण पद वरनौ ओज अनूप॥' उदाहरण यथा—'चिक्करहिं मर्कट भालु छल बल करहिं जेहिं खल छीजहीं' 'इति [illegible] प्रचंड', 'ब्रह्माण्ड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे।'—६।८५। 'बिस [illegible]। १।१२।', 'कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीं ३।२०।', 'कपि क्रुद्ध [illegible] भालु [illegible] डारहीं। झपटहिं चरन गहि पटकि महि भजि चलत बहोरि प्रचारहीं॥ ६।८०।' इत्यादि।

'प्रसाद'—जहाँ सुनते ही अर्थ जाना जाय, कोमल पद और सुरुचि वर्ण पड़ें। किसीने 'प्रसादगुण' के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—'सब रस सब रचनानसें सब बरनन को भूप। अरथ सुनत ही पाइये यह प्रसाद को रूप॥' ☞ यह सब रसों और सब गुणोंमें पाया जाता है। यथा—'ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार। केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहिं संसार॥ ७।७०।' 'सतानंद पद बंदि प्रभु बैठे गुर पहिं जाइ। चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक बोलाइ॥ १।२३९।', 'सजन सजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि॥ २।११७।', 'भव भव बिभव पराभव कारिनि। १।२३५।', 'बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥ कदलि ताल बर धुजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका॥ २।२३८।', 'लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघु-चंदु। ग्यान सभा जनु तनु धरें भगति सच्चिदानंदु॥ २।२३९।', 'कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं॥ २।३११।', इत्यादि।

☞ माधुर्यगुण उपनागरिका वाणीमें होता है, प्रसादगुण कोमलामें और ओजगुण परुषा वाणीमें होता है, यथा—'त्रिबिध वृत्ति माधुर्यगुण उपनागरिका होइ। मिलि प्रसाद पुनि कोमला परुषा ओज ससोइ॥ तुलसी-भूषणे।' (मा० प्र०)।

४ 'जाति'—जातिकाव्यमें पदका अर्थ स्पष्ट देख पड़ता है। जैसा जिसका स्वरूप, गुण, स्वभाव हो वैसा ही जातिकाव्यमें वर्णन किया जाता है। जातिको वृत्त या मात्रिक छन्द भी कहते हैं। इसमें आठ, दस, बारह, चौदह अक्षर होते हैं। जातिकाव्य (वृत्त) चार प्रकारका होता है—कौशिकी, भारती, आरभटी और सात्विकी। यथा—'कहिये केशोदास जहँ करुणा हास शृंगार। सरस बरन शुभ भाव जहँ सो कौशिकी विचार ॥ १ ॥', 'बरनिये जामहँ वीररस भय अरु अद्भुत हास। कह केशव शुभ अर्थ जहँ सो भारती प्रकास ॥ २ ॥', 'केशव जामहँ रौद्ररस भय बीभत्सक जान। आरभटी आरभ यह पद पद जमक बखान ॥ ३ ॥', 'अद्भुत रस गंभीर रस समरस सरस समान। सुनतहिं समुझत भाव मन सो सातकी सुजान ॥ ४ ॥' इनके उदाहरण ये हैं, यथा—'नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मन अति छोभा ॥ १ । २३४ ।' (कौशिकी)। 'कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी। १ । २५३ ।' (भारती)। 'भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।' इत्यादि (आरभटी)। 'देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना ॥ १ । २८४ ।' (सात्वती)। पुनः यथा—'खायउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा ॥ सब कें देह परम प्रिय स्वामी। जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे। ५ । २२ ।', 'साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई ॥', 'राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभायँ कछु पूछत डरहीं ॥ स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गवाँरी। कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥ २ । ११६-११७ ।'

टिप्पणी—ध्वनि, अवरेब, कवितगुण और कवितजाति—इन चारोंको मीन कहा। क्योंकि मछली चार जातिकी होती हैं, जिनमेंसे प्रत्येक जातिमें अनेक प्रकारकी मछलियाँ होती हैं। अरण्यकाण्डमें भी मीन चार प्रकारके कही हैं, यथा—'बुधि बल सील सत्य सब मीना। ३ । ४४ ।' मछली जलके भीतर रहती है, उसी तरह ध्वनि आदि सब कवितके भीतर रहते हैं। [मत्स्यके बिना सरकी शोभा नहीं, अतः इसे लिखा। (मा० प०)। मीन चार प्रकारकी हैं। १ पाठीन, २ बामी, ३ सहरी या सिधरी और ४ चेल्हवा। ध्वनि आदि और मीनमें समानता इस प्रकार है कि—'पाठीन' जिसे पढ़िना, बुराई, रोहू भी कहते हैं, यह बिना सेहरेकी मछली है, जो नद और समुद्र सभी स्थानोंमें पायी जाती है। इसका पेट लम्बा और मुख काला होता है और इसके कण्ठमें मञ्जरी होती है। यह सबसे बड़ी होती है और जलके भीतर रहती है, भेदी ही जानते हैं। ध्वनि भी शब्दोंके भीतर होती है, यह समता है। 'बामी' मीन जो मुख और पूँछ मिलाकर चलती है। बाम नामक मछली देखनेमें साँप सी पतली, गोल और लम्बी होती है। और 'अवरेब' में आगे-पीछेके शब्दों-को मिलानेसे अर्थ सिद्ध होता है। यह दोनोंमें समानता है। 'सहरी, सिधरी, सौरी या शफरी' मीन छोटी होती है और दस-बीस मिलकर चलती हैं। गुणकाव्यमें दो-दो तीन-तीन अक्षरोंका पद होता है और पद-पदमें यमक, अनु-प्रासकी आवृत्ति होती है, दो-चार पद मिलकर चलना यह समता है। 'चेल्हवा मीन' एक प्रकारकी छोटी और पतली मछली होती है जो बहुत चमकती है और पृथक् रहती है। जातिकाव्यमें अर्थ शब्दोंसे चमकता है। यह समता है। (मा० प्र०)]

नोट—'पुरइन सघन चारु चौपाई। ३७ । ४ ।' में कहा था कि यहाँसे तल्लीन, तद्गत और तदाश्रय तीन परिखाओंमेंसे तल्लीनवालोंको कहते हैं जो सरसे बाहर एक क्षण भी नहीं रह सकते, उनको यहाँतक पाँच चौपाइयों (अर्धालियों) में कहा। आगे तद्गतवालोंको कहते हैं। ये भी सरके आश्रित हैं, उसीमें रहते हैं पर कुछ देरके लिये बाहर भी आ जाते हैं। (मा० प्र०)।

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान बिग्यान बिचारी ॥ ९ ॥
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥ १० ॥

अर्थ—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों और ज्ञान तथा विज्ञानका विचार करके कहना* तथा नवों रसों, जप, योग और वैराग्य (का कथन) ये सब इस सुन्दर तालाबके जलचर हैं ॥ ९-१० ॥

* सूर्यप्रसाद मिश्र अर्थ करते हैं कि 'अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इनको शास्त्र (ज्ञान) जनित अनुभव (विज्ञान) के विचारसे कहूँगा'। वे कहते हैं कि ज्ञान-विज्ञान ये दोनों पृथक्-पृथक् नहीं हैं।

नोट—१ ज्ञानको तो हंस कह आये, अब उसीको जलचर कैसे कहते हैं? यह शङ्का उठाकर महानुभावोंने ये समाधान किये हैं—(क) ज्ञानके स्वरूपको हंस कहा है और ज्ञानके कथनको जलचर। ज्ञान-विज्ञानको विचारकर कहना जलचर है। (पं० रा० कु०)। (ख) 'इनका वर्णन ग्रन्थमें बहुत स्थानोंमें आया है, जहाँ विस्तारसे कहा है वहाँ मरालकी उपमा दी और जहाँ सङ्कोचसे कहा वहाँ जलचरकी, क्योंकि जलचर गुप्त रहते हैं।' (पं०)। स्वतन्त्र प्रसङ्ग विस्तारसे है, आनुषंगिक सङ्कोचसे है।

टिप्पणी—१ 'अरथ धरम ''' इति। यहाँ 'काम' स्त्रीभोगका वाचक है, क्योंकि चार पदार्थोंमें कामकी भी गिनती है, यथा—'गुरुमनति गुरु होइ सो लघु सनति लघु नाम। चारि पदारथमें गने नरकद्वारहू काम॥ दो०।'

२—ध्वनि, अवरेब, कवित-गुण जाति, ये सब काव्यमें लगते हैं और काव्यसे अर्थ, धर्मादिक होते हैं, इसीसे उनके पीछे उनको कहा। धर्मसे यश होता है यथा—'पावन जस कि पुन्य बिनु होई' मोक्षका साधन ज्ञान है, इससे अर्थ, धर्म, काम, मोक्षके पीछे ज्ञानको कहा।'

नोट—२ यहाँ अर्थ-धर्म आदि १९ (अर्थादिक ४ + ज्ञान विज्ञान २ + रस ९ + जप, तप, योग, विराग ४) वस्तुओंको जलचरकी उपमा दी। यह शंका की जाती है कि 'मीन भी तो जलचर है सो उसको तो ऊपर 'ध्वनि अवरेब' ' में कह आये, अब फिरसे जलचर कहनेका क्या भाव है ?'

समाधान—(क) ऊपर 'पुरइनि सघन चारु चौपाई ''' से 'धुनि अवरेब कबित गुन जाती। '।' तक जो उपमाएँ जलचरोंमेंसे दीं वह तल्लीन जलचरोंकी हैं। अर्थात् जो सरसे बाहर क्षणभर भी नहीं रह सकते। ध्वनि आदि शब्दोंमें ही रहती है और मीन जलहीमें। और, अब मगर, घड़ियाल, कछुआ इत्यादि जलचरोंकी उपमा देते हैं जो तद्गत रहते हैं, अर्थात् जिनका जलसे नित्य सम्बन्ध नहीं है, जो जलके बाहर भी आ जाते हैं। पूर्व मीन और अब जलचर कहकर दोनोंको पृथक् किया है। (मा० प्र०)।

(ख) मीन आदि जाल या बंसी बिना नहीं देख पड़तीं, इसी तरह ध्वनि आदि बिना विचारके नहीं समझ पड़ते और स्थूल जलचर मगर, घड़ियाल इत्यादि बिना जलके भी स्पष्ट देख पड़ते हैं। (पाण्डेजी)। यहाँ स्थूल जलचर कहे गये। (पाँ०)।

(ग) खर्रेमें लिखा है कि 'रामयश-जलके निकट अर्थ-धर्म-कामादिका कुछ प्रयोजन नहीं है, इसीसे 'जलके आलम्ब करिके (अर्थात् जलका अवलम्ब लेकर) अङ्गोंको छिपाये पड़े रहते।'

नोट—३ अर्थ, धर्म इत्यादि १९ वस्तुओंका कथन इस ग्रन्थमें बहुत ठौर है। उनमेंसे कुछ लिखे जाते हैं (१) अर्थ=धन, धाम, ऐश्वर्य। जहाँ-जहाँ धन, धाम, ऐश्वर्यके सम्बन्धसे उपदेश तथा इनकी सिद्धिकी चर्चा आयी है वे सब इसके उदाहरण हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि शास्त्रकारोंने अर्थ-शुद्धिको ही शुद्धि माना है और उसके जो छः उपाय भिक्षा, सेवा, कृषि, विद्या, कुसीद (सूद) और वाणिज्य—अर्थशास्त्रने बताये हैं, उनका भी उल्लेख मानसमें है। यथा—'सब सुख सोवत सोचु नहिं भीख माँगि भव खाहिं।', 'बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी॥', 'कृषी निरावहिं चतुर किसाना।', 'बिद्यानिधि कहँ बिद्या दीन्हा।', 'दिन चलि गये ब्याज बहु बाढा।', 'फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।'

श्रीमद्भागवत ६। ११। २५ 'न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे'॥ के अनुसार स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका आधिपत्य, योगसिद्धि और मोक्ष ये छहों अर्थ हैं जो भक्त नहीं चाहते। मोक्षको भी नहीं चाहते, क्योंकि यह भी दोषयुक्त है। इसमें पुरुष परमानन्दका अनुभव नहीं कर सकता। भक्तका 'अर्थ' स्वयं भगवान् हैं, वह सकलार्थरूप श्रीरामको ही चाहता है। इसीसे कहा है—'मुकुति निरादर भगति लुभाने'।

(२) धर्म=वह कर्म जिसका करना किसी सम्बन्ध या गुणविशेषके विचारसे उचित और आवश्यक हो। वेद-विहित यज्ञादिक कर्म, वर्णाश्रमधर्म माता-पिता, पुत्र, स्त्रीके धर्म इत्यादि। यथा—'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग। ''' 'परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा' इत्यादि। सत्य और अहिंसा सार्ववर्णिक धर्म हैं। इनके

अतिरिक्त ऐसे विशेष धर्म हैं, जिनके न पालन करनेसे मनुष्य शोचनीय हो जाता है। यथा—'सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना २। १७२। ३।' से सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई। १७३। ४।' तक। जिस भाँति विहितका अनुष्ठान धर्म है, उसी भाँति निषेधका वर्जन भी धर्म है। यथा—'जे अघ मातु पिता सुत मारे। २। १६७। ५।' से 'तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ।···१६८। ८।' तक। इत्यादि, जहाँ-जहाँ सामान्य धर्म, विशेष-धर्म, विहितधर्म, निषेधवर्जितधर्मों एवं साधनोंका वर्णन है वह सब 'धर्म' के उदाहरण हैं। अहल्याको पतिकी पुनः प्राप्ति हुई उसका धर्म सिद्ध हुआ।

(३ क) काम=कामनाएँ। महाराज दशरथजी, सतीजी, पार्वतीजी, विश्वामित्रजी, जनकपुरवासियों, श्रीशबरीजी, सुग्रीवजी, दण्डकारण्यके ऋषिगण, विभीषणजी आदिकी कामनाओंकी सिद्धिका इसमें वर्णन है। यथा—'संगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥ सफल काज भा सिद्ध तुम्हारा॥ १। १८९। ५–७।', 'तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह यह मोरी॥ जौं मयदग्मी सुनिय प्रभु करौ सो बेगि उपाइ। होइ मरनु जेहिं बिनहिं श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ॥ १। ५९। सती मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिवपद अनुरागा॥ तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई।···६५। उपजेउ सिवपदकमल सनेहू। ६८। । मिल नव चरन उपज अनुरागा।···। भएउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि। ७०।', 'गाधितनय मन चिंता ब्यापी। हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी॥ तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥' बहुबिधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार १। २०६। पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनिभय हरन। २०८। मारि असुर द्विज निर्भयकारी। २१०। ६।' तक। जनकपुरवासियोंका प्रसङ्ग तो श्रीरामजीके नगरमें पहुँचनेके समयसे लेकर बारातकी विदाईके समयतक बारबार आया है—'जाइ देखि आवहु नगर सुखनिधान दोउ भाइ। करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ॥ २१८। जौं बिधिबस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू॥ सखि हमरें आरति अति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नातें॥ नाहिं त हम कहुँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसनु दूरि। २२२।···।', 'निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥' कहि बातें मृदु मधुर सुहाई॥ किए बिदा बालक बरिआई॥ २२५।', 'मोर मनोरथ जानहु नीकें। सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी॥ २३६।', 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ॥ २५२। 'सखिन्ह सहित हरषी अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥ जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई॥ सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥ २६३। ' मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाईं॥ २८६।', 'पुरनारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं। ब्याहिअहुँ चारिउ भाइ एहिं पुर हम सुमंगल गावहीं॥ ३११।'

'मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि। जनु पाए महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चारि॥ ३२५।',—इत्यादि। इसी तरह शबरीजीका प्रसङ्ग ३। ३४ (५) 'सबरी के आश्रम पगु धारा' से 'जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि। ३६।' तक, सुग्रीवजीका प्रसङ्ग किष्किन्धाके प्रारम्भमें 'सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। ४। १२। ४।' तक है, दण्डकारण्यके ऋषियोंका प्रसङ्ग अरण्यकाण्डके प्रारम्भ अत्रिऋषिसे 'शरभगजी' सुतीक्ष्णजी, अगस्त्यजी तक लगातार है—'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥ ३। ९।', और विभीषणजीका प्रसङ्ग सुन्दरकाण्ड दोहा ४२ (१) से 'सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥ ४९।' तक है।

☞ (३ ख) सामान्यतः वैषयिक सुखको और विशेषतः स्त्रीसुखको काम कहते हैं। साधन सामग्रीके तारतम्यसे कामसुखकी मात्रामें भी तारतम्य होता है। यह सब होते हुए भी काम धर्म और अर्थका विरोधी न हो, नहीं तो उससे लोक-परलोक सभीका नाश होता है। यथा—'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।' वस्तुतः धर्मात्मा इन्द्रियजयी पुरुष ही वैषयिक सुखभोग करनेमें भी समर्थ हो जाता है। यथा—'श्रुतिपथपालक धरमधुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर॥' इत्यादि उपदेशों तथा प्रसङ्गोंको 'धर्म' के उदाहरण समझना चाहिये। (वि० त्रि०)

(४) 'कामादिकचारी' कहकर मोक्षका भी ग्रहण किया। यहाँ कामके साथ मोक्ष कहनेका यह तात्पर्य

है कि काम और मोक्ष साध्य हैं और धर्म तथा अर्थ साधन हैं। (वि० त्रि०)। मोक्ष=जन्म-मरणसे छुटकारा हो जाना। गृध्रराज जटायु, खरदूषणादि, विराध, शरभंगजी, शबरीजी तथा निशाचरोंकी मुक्तिके प्रसंग मानसमें आये हैं। यथा—'तनु तजि तात जाहु मम धामा। ३। ३२।' 'गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाचत जोगी॥ ३। ३३। २।' तक, 'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान॥ ३। २०।', 'मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता॥ तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा॥ ३। ७।', 'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा॥ ३। ९। १।' 'जातिहीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि। ३। ३६।' 'महा मंद मति पावहिं। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं॥ कहहु बिभीषन तिन्ह के नामा। देहिं राम तिन्हहू निज धामा॥' ६। ४४।', 'निसिचर अधम मलाकर ताहि दीन्ह निज धाम। ६। ७०।', 'राम सरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुकुत निसाचर झारी॥ ६। ११३।' कैवल्य मुक्तिका वर्णन ज्ञान-दीपक-प्रसङ्गमें है। यथा—'जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥ राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥ ७। ११९।' मोक्षके साधन जहाँ-जहाँ कहे हैं वे भी 'मोक्ष' के उदाहरण हैं।

(५, ६) ज्ञान, विज्ञान। यथा—'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥ ३। १५।', 'ग्यान बिराग जोग बिग्याना' ७। ११५ (१५) से ११९ तक। 'भगति ज्ञान बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर। २। ३२।' देखिये। 'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ' मं० श्लोक ४ देखिये। तथा—'तब बिग्यानरूपिनी बुद्धि॥ एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिग्यानमय। ११७।' 'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥ तबहिं दीप बिग्यान बुझाई।' ७। ११८। तक। इत्यादि। मं० श्लोक ४ 'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ' पृष्ठ २२ देखिये। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ 'ज्ञान' से अपरोक्ष ज्ञान अभिप्रेत है जिसका साधन दीपकके रूपकमें उत्तरकाण्डमें कहा गया है और जड़-चेतनकी जो ग्रन्थि हृदयमें पड़ी हुई है, उसका छूटना 'विज्ञान' है।

(७) नव रस—देखिये मं० श्लो० १। इसपर शृङ्गाररसमालामें यह श्लोक कहा जाता है। 'शृङ्गारो जनकालये रघुवराद्दाम कृतो चैवशात कारुण्योऽनुजरोदने खरवधे रौद्रोऽद्भुत काकके। बैभत्स्य हरिवन्धने भयकर सेतौ रणे वीरहा शान्त श्रीभुवनेश्वरो भवहराद्रामाऽस्मोऽभूत्तव॥'

(क) शृङ्गार—'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥ १। २४१।', 'छबि सिंगारु मनहुँ एक ठौरी। १। २६५। ७।', 'जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही। ७। ५।' भी देखिये। श्रीजनकपुरमें श्रीरामजीके रहनेपर कई प्रसङ्गमें इस रसका वर्णन है। शृङ्गाररस दो प्रकारका होता है—एक वियोग, दूसरा संयोग। 'एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥ सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिकसिला पर सुंदर॥ ३। १। संयोग शृङ्गारका उदाहरण है। वियोग शृङ्गारका उत्तम उदाहरण गोपियोंके प्रेममें देखा जाता है।

(ख) हास्य—'नाना जिनस देखि सब कीसा। पुनि पुनि हँसत कोसलाधीसा॥ ६। ११७।' पुनः, शूर्पणखाका प्रसङ्ग इत्यादि।

(ग) रौद्र—'जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतौं रघुबीर दोहाई॥ ७। ७४।' खरदूषणका प्रसङ्ग, लक्ष्मणक्रोध इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(घ) वीर—'उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहु बीररस सोवत जागा॥ बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासनु सायकु हाथा २। २३०। १-२।', 'सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला॥ ४। ६।'

(ङ) भयानक—'हाहाकार करत सुर भागे', 'बाँधे बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस। सत्य तोयनिधि कंपति उदधि पयोधि नदीस॥ ६। ५।', 'डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥ १। २४१। ६।'

(च) बीभत्स—'ब्यालपास बस भए खरारी। ६। ७३।', 'बृष्टि होइ रुधिरोपल छारा॥ ६। ४५। ११।'

(छ) अद्भुत—'सती दीख कौतुक मग जाता' से 'नयन मूँदि बैठीं ···' तक (१।५४।४-५५।५), 'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥ ७।८०।', श्रीकौसल्याजी और श्रीभुशुण्डिजीको विराट्-दर्शन १।२०१-२०२, ७।७९-८१।

(ज) शान्त 'कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनि चीरा॥··· बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरें सरीर सांतरस जैसे॥ १।१०६।६-१०७।१।' [मा० प्र० का मत है कि जिसमें मोक्षका अधिकार हो वहाँ शान्तरस जानो, रामराज्यमें सब मोक्षके अधिकारी हुए, यथा—'रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं। काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥ ७।२१।', 'रामभगतिरत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥ ७।२१।४।' इत्यादि। अत रामराज्य शान्तरसका उदाहरण है]

(झ) करुण—'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।··· जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई। बड़ बिषादु नहिं धीरजु होई॥ मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोकु न हृदयँ समाइ। मनहुँ करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ॥ २।४६।' 'अवगाहि सोक समुद्र सोचहि नारि नर ब्याकुल महा।' २।२७५-२७६।' लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर श्रीरामजीका विलाप, यथा—'राम उठाइ अनुज उर लायउ॥ ६।६०।२।' से 'प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर। आइ गयउ हनुमान जिमि करुना महँ बीर रस॥ ६०।' तक। इत्यादि।

(८) 'जप' इति। जप अनेक प्रकारके हैं। यथा—'मन संहृत्य विषयान् मन्त्रार्थगतमानसः। जिह्वोष्ठचेष्टारहितो मनसो जप उच्यते॥ ९२॥ जिह्वोष्ठौ चालयेत्किंचिद्देवतागतमानसः। किंचिच्छ्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः॥ ९३॥ मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा स जपो वाचिकः स्मृतः। उपांशुर्वाचिकाच्छ्रेयान्मनस्तस्मादपि च मानसः॥ ९४॥ (दुर्गाकल्पद्रुमशास्त्रार्थपरिच्छेदान्तर्गत जपविषयक विचार पृष्ठ २३)। अर्थात् विषयोंसे मनको हटाकर मन्त्रार्थचिन्तनपूर्वक जिह्वा और ओष्ठके हिले बिना जो जप किया जाता है उसे मानस जप कहते हैं॥ ९२॥ जिह्वा और ओष्ठ जिसमें किञ्चित् चले जिससे किञ्चित् श्रवण हो सके और देवताके ध्यानपूर्वक जो जप हो वह 'उपांशु जप' है॥९३॥ वैखरीसे जिसमें स्पष्ट उच्चारण हो वह 'वाचिक जप' है वाचिकसे उपांशु श्रेष्ठ है और उपांशुसे मानस॥९४॥—१।८४।७-८ भी देखिये। (ख) 'जप' के लक्ष्य, यथा—'अस कहि लगे जपन हरिनामा १।५२।८।', 'जपहिं सदा रघुनायक नामा। १।७५।८।', 'जपहु जाइ संकर सत नामा। १।१३८।५।', 'द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग। १।१४३।', 'जीह नाम जप लोचन नीरू। २।३२६।१।', 'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात। ७।१।', 'जपउँ मंत्र सिवमंदिर जाई। ७।१०५।८।', इत्यादि। (मा० प्र०)

(९) 'तप' इति। तपस्याके अनेकों स्वरूप हैं, पर उनमेंसे निराहार रहनेसे बढ़कर कोई 'तप नहीं है। तपको जगत्का मूल कारण भी कहा गया है। विशेष 'तापस सम दम दयानिधाना १।४४।२।' में देखिये। तपके उदाहरण, यथा—'उर धरि उमा प्रानपति चरना। जाइ बिपिन लागीं तपु करना॥ अति सुकुमार न तनु तप जोगू। पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू॥ नित नव चरन उपज अनुरागा॥ बिसरी देह तपहिं मनु लागा॥ संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरष गवाँए॥ कछु दिन भोजन बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपवासा॥ बेल पाती महि परइ सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥ पुनि परिहरेउ सुखानेउ परना। उमहि नामु तब भयउ अपरना। देखि उमहि तप खीन सरीरा॥' १।७४।' 'पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार मूल फल त्यागे। एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार। संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥ १।१४४। बरष सहस्र दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ॥ बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ ' अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।' इत्यादि। रावण आदिका तप।

(१०)—'योग' इति। योग=अष्टांग योग। योगकी क्रियाओंके आठ भेद ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। श्रीशिवजीकी ध्यानसमाधि और श्रीनारदजीकी समाधिकी कथा बालकाण्डमें है।

(११) 'विराग' इति । (क) विराग=विगतराग । उदाहरण, यथा—'जानिअ तबहिं जीव जग जागा । जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥ २ । ९३ । ४ ।', 'कहिअ तात सो परम बिरागी । तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥ ३ । १५ । ८ ।' (ख) वैराग्य क्रमसे चार प्रकारका होता है । विषयोंमें प्रवृत्ति न हो इसलिये प्रयत्नका प्रारम्भ करना 'यतमान वैराग्य' है । यथा—'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजन करौं दिन राती ॥' दूसरे, प्रयत्न प्रारम्भ करनेपर सतुष्ट होकर पके हुए दोषोंको त्याग करनेको 'व्यतिरेक वैराग्य' कहते हैं । यथा—'बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा । नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥' दोषोंके परिपक्व होनेसे इन्द्रिय प्रवृत्त होनेमें असमर्थ हैं, पर मनमें उत्सुकता मात्र होनेको 'एकेन्द्रिय सज्ञा वैराग्य' कहते है । यथा—'उर कछु प्रथम बासना रही ।' उत्सुकता-मात्रकी भी निवृत्ति हो जानेपर उपर्युक्त तीनों अवस्थाओंसे परे दिव्यादिव्य विषयोमे उपेक्षा 'बुद्धि-वशीकार सज्ञा वैराग्य' है । यथा—'मन ते सकल बासना भागी ।' ये तीनों 'अपर वैराग्य' कहलाते हैं । अपर-वैराग्य पर-वैराग्यका कारण है । 'कहिय तात सो परम बिरागी । तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥' 'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निरबान ।' (वि० त्रि०) ।

सुकृती साधु नाम गुन गाना । ते बिचित्र जल बिहँग समाना ॥ ११ ॥

अर्थ—सुकृती लोगों, साधुओं और रामनामके गुणोंका गान ये विचित्र जल-पक्षियोंके समान हैं ।* (जो मानसके सीयरामयशजलमें विहार करते हैं) ॥ ११ ॥

नोट—यहाँ 'गुनगाना' सुकृती, साधु और नाम तीनोंके साथ है । पूर्व 'सुकृतपुञ्ज' को भ्रमरकी उपमा दे आये हैं । अब सुकृतीके 'गुन गान' को जल पक्षीकी उपमा देते है । मानसमें श्रीरामयशके साथ सुकृतियोंका भी गुन गान किया गया है ।

प० रामकुमारजी—१ सुकृतसे साधु मिलते हैं, यथा—'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता । ७ । ४५ ।' इसलिये सुकृतीको प्रथम कहा । साधु बिना नाम-गुण गान कौन करें ? इसमे साधुके पश्चात् 'नाम गुन गाना' कहा । गुणगानके उदाहरण—(क) सुकृती-गुण-गान, यथा—'मुनि बोले गुर अति सुख पाई । पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई ॥ ·· तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी । तसि पुनीत कौसल्या देवी । सुकृती तुम्ह समान जग माहीं । भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥ तुम्ह तें अधिक पुन्य बड काकें । राजन राम सरिस सुत जाकें ॥ तुम्ह कहँ सर्बकाल कल्याना ॥ १ । २९४ । 'राम सीय सोभा अवधि सुकृत अवधि दोउ राज । जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस मिलि नर नारि समाज ॥ १ । ३०९ । जनक सुकृत मूरति बैदेही । दसरथ सुकृत राम धरे देही ॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे । काहु न इन्ह समान फल लाधे ॥ इन्ह सम कोउ न भयेउ जग माहीं । है नहि कतहूँ होनेउ नाही ॥ हम सब सकल सुकृत कै रासी । भए जग जनमि जनकपुर बासी ॥ जिन्ह जानकी राम छबि देखी । को सुकृती हम सरिस बिसेषी ॥ १ । ३१० ।', 'जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं । तिन्हहि नाग सुर नगर सिहाहीं ॥ केहि सुकृती केहि घरी बसाए । धन्य पुन्यमय परम सुहाए ॥ पुन्यपुंज मग निकट निवासी । तिन्हहि सराहहिं सुरपुरबासी ॥ २ । ११३ ।' इत्यादि । (ख) 'साधु गुण गान', यथा, 'सुजन समाज सकल गुन खानी । करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी ॥ १ । २ । ४ ।' से 'अजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ॥ १ । ३ ।' तक, 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ । जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ ॥ ३ । ४५ । ६ ।' से 'मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते । कहि न सकहि सारद श्रुति तेते ॥ ४६ । ८ ।' तक । 'सतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता । ७ । ३७ । ६ ।' से 'ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुखपुंज ॥ ७ । ३८ ।' तक, 'संत मिलन सम सुख जग नाहीं ॥ सत सहहि दुख परहित लागी । ··भूर्जतरू सम संत कृपाला । पर हित निति सह बिपति बिसाला ॥', 'संत उदय संतत सुखकारी । बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी ॥ ७ । १२१ ।' इत्यादि । [स्मरण रहे कि गोस्वामीजीने वेषको साधुका लक्षण नहीं माना

* कोई-कोई महानुभाव यह अर्थ करते हैं कि—(१) सुकृती साधुओंके द्वारा नामका गुण गान होना रंग-बिरंगके जलपक्षी है । (२) सुकृती साधु जो नाम-गुण-गान करते हैं वा सुतीक्ष्णादि सुकृती साधुओंके नाम और गुणोंका गान, विचित्र जल-बिहंगके समान है । (रा० प्र०, पंजाबी) । (३) 'धर्मात्माओं और साधुओंके नाम गुणगान '—[मानसपत्रिका] । और पाण्डेजीका मत है कि 'जो सुकृती कर्मकाण्डी साधु हैं उनके नाम-गुणका कथन अनेक रंग बूँदोवाले जलपक्षी हैं ।'

है, क्योंकि कपटी, पापी, दुष्ट भी साधु वेषका आश्रयण कर लेते हैं और साधु भी पूजासे बचनेके लिये कहीं कहीं तामसिकोंका वेष धारण किये हुए मिलते हैं। दुष्ट लोग साधुकी सब नकल उतार लेते हैं, पर एक नक्ल उनकी उनसे नहीं उतरती। वह है—'मंद करत जो करै भलाई'। यह लक्षण सिवाय संतके और किसीमें नहीं आ सकता। उपकार ही साधुका अव्यभिचारी लक्षण है। (वि० त्रि०)] (ग) नाम-गुन गान, यथा—'बंदौं नाम राम रघुबर को। १। १९। १।' से 'भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥ १। २८। १।' तक। अयोध्याकाण्डमें ठौर-ठौरपर नाम-गुण-गान है जैसे कि भरत-निषाद भेंटपर, वसिष्ठ-निषाद-भेंटपर चित्रकूटमें इत्यादि। अरण्यकाण्डमें 'जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका। राकारजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम। अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम॥ ४२॥'—इसी तरह सभी काण्डोंमें जहाँ-तहाँ है। पूर्व भी कुछ उद्धरण दिये गये हैं।

२—यहाँतक जलमें जलचर, थलचर और नभचर तीनों कहे हैं, यथा—(क) 'पुरइन सघन चारु चौपाई'—पुरइन थलचर है, क्योंकि यह बिना थलके नहीं रह सकती। तीन चौपाइयोंमें थलचरकी व्याख्या है। (ख)—'सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ग्यान बिराग बिचार मराला॥ कृतुनी साधु नाम गुनगाना। ते बिचित्र जल बिहँग समाना॥' ये नभचर हुए। और, (ग)—'धुनि अवरेब कबित गुन जाती।' तीन चौपाइयोंमें जलचर कहे।

त्रिपाठीजी—(क) 'गुनगाना'—श्रीरामचरितमानसमें राम-गुण-गान है, तथा सुकृती, साधु और नामका गुणगान है। रामगुणगानरूपी जलसे तो रामचरितमानस भरा पड़ा है, पर सुकृती गुणगान, साधु गुणगान और नाम-गुणगानकी भी मात्रा अल्प नहीं है। (ख) 'ते बिचित्र'—यहाँ 'बिचित्र' शब्द देहली दीपक न्यायसे 'ते' के साथ भी अन्वित होगा और जलविहगके साथ भी अन्वित होगा। सुकृती, साधु और नामके गुणगान विचित्र हैं क्योंकि इनका विषय विचित्र है। कहीं नरनारीका गुणगान है, तो कहीं बेलि-विटपका गुणगान है। कहीं देवताका गुणगान है तो कहीं राक्षसका भी गुणगान है। कहीं मुनियोंका गुणगान है तो कहीं कोल-किरातका गुणगान है। कहीं विहग-मृगका गुणगान है तो कहीं बन्दर-भालुका गुणगान है। इसी भाँति कहीं राम, रघुबीर, हरि, दीनदयालादि नामोंका गुणगान है, तो कहीं गईबहोरि, गरीबनेवाज, साहिब आदि नामोंका गुणगान है। (ग) 'जलविहग' और जलका साथ है, ये जलसे बहुत दूर नहीं रहते। इसी तरह सुकृती साधु-नाम-गुणगानका और रामयशका साथ है। ये गान रामयशसे दूर नहीं जाते, रामयश ही इनका निवासस्थल है।

संत सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥ १२॥

शब्दार्थ—अँवराई=आमके बाग। श्रद्धा—म० श्लो० २ देखिये।

अर्थ—संतसभा (ही सरके) चारों दिशाओंकी अँवराई है। (संतोंकी) श्रद्धा वसन्त ऋतुके समान कही गयी है॥ १२॥

नोट—१ संतसभा और अँवराई दोनों ही परोपकारी हैं। यह समता है। जैसे वसन्तसे अँवराईकी शोभा वैसे ही श्रद्धासे संतसभाकी। श्रद्धा स्त्रीलिङ्ग है। ग्रन्थकारने 'वसन्तरितु' को भी स्त्रीलिङ्ग माना है, यथा—'जहँ बसंतरितु रही लुभाई' इसीसे स्त्रीकी स्त्रीसे उपमा दी। जहाँ-जहाँ ग्रन्थकारने बागका वर्णन किया है वहाँ वहाँ प्रायः वसन्तका भी वर्णन किया है। जैसे कि जनकपुष्पवाटिका तथा अवधकी वाटिकाओं और उपवनों (उ० २८), इत्यादिमें। अतः अँवराई कहकर वसन्तऋतु कहा।

टिप्पणी—संतगुणगानको विहङ्ग कहा, अब संतसभाको अँवराई कहते हैं। यहाँ 'चहुँ दिसि' क्या है? (उत्तर) चारों संवाद चार घाट हैं। चारों संवादोंमें जो संतसभा है (जो कथा सुननेके लिये बैठी है) वही चहुँ दिशिकी अँवराई है। अब चारों संवादोंमें जो सन्तसभा है उसको सुनिये—

(१) 'कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥' यह गोस्वामीजी और सुजन-संवादमें सुजनकी सभा है। यह पूर्वदिशामें है।

(२) 'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन॥ तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथ राजा॥ १। ४४। ६-७।' यह याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवादमें सन्तसभा है जो दक्षिण दिशामें है।

(३) 'सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किंनर मुनिबृंद। बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुखकंद॥ १। १०५।' शिवकथामें इनकी सभा थी और मुख्य श्रोता तो श्रीपार्वतीजी ही हैं। यह पश्चिम दिशामें है।

(४) 'बृद्ध बृद्ध बिहग तहँ आए। सुनइ राम के चरित सुहाए॥ ७। ६३। ४।' यह भुशुण्डिजीकी कथामें सभा है जो उत्तर दिशामें है।

नोट—२ 'चहुँ दिसि' कहकर सूचित किया कि चारों घाटोंकी चार सभाएँ ही चारों दिशाकी अँवराई हैं, जैसे चारों वक्ताओंके पास सन्तसभा, वैसे ही चारों घाटोंके पास अमराई है।

३ चारों दिशाओंमें इस मानसकी सन्तसभा है। कौन दिशामें कौन सन्त हैं? सन्त उन्मनी टीकाकारका मत है कि—(क) 'सन्त चार प्रकारके हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन्हींकी सभा चारों ओर है। (ख) पिपीलिकामार्गके सन्त पश्चिम दिशाकी अमराई हैं क्योंकि मेरुकी ओर होकर रामतत्त्व और चरित्रका अनुभव करते हैं। विहङ्गमार्गवाले सन्त पूर्व-दिशाकी अमराई हैं, क्योंकि 'नाशाग्रपूर्वतो दिशि' उत्तरगीतायाम्। सोई आधार अनुभवके प्रारम्भका है। कपिमार्गवाले सन्त दक्षिण दिशाकी अमराई हैं क्योंकि दक्षिण दिशाके नाडीके अनुसार प्राणायामका इनके प्रारम्भ है। मीनमार्गवाले सन्त उत्तर अमराई हैं क्योंकि वाम स्वरमें प्रारम्भकी उत्तम रीति है।' मा० मा० कारका मत है कि—उपासना काण्डवाले सन्तोंकी सभा उत्तरघाटमें है, ज्ञानकी पश्चिममें, कर्मकाण्डीकी दक्षिणमें और शरणागति भाववाले केवल नामावलम्बियोंकी सभा पूर्वघाटमें है।

४ मा० प्र० कार कहते हैं कि—'तल्लीन, तद्गत और तदाश्रयमेंसे 'मीन मनोहर ते बहु भाँती' तक 'तल्लीन' का वर्णन हुआ, फिर 'ते विचित्र जल बिहग समाना' तक तद्गत स्वरूपका उल्लेख हुआ, अब यहाँसे 'तदाश्रय' कहते हैं अर्थात् जो सरके बाहर हैं पर उसके आश्रित हैं। 'यहाँसे सरके बाहरका वर्णन हो रहा इसीसे इनके उदाहरण ग्रन्थसे नहीं दिये जाते, कहीं-कहीं प्रसङ्ग पाकर प्रमाण देंगे।'

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—'चारों संवादोंके मध्यमें जहाँ जहाँ सन्तसभाओंका वर्णन है, उनमें विश्राम करनेसे मानससरमज्जनका आनन्द आता है। अभिप्राय यह है कि श्रोता-वक्ताके सिवा सन्तसभा जो वर्णित है वही अँवराई है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'सन्तोंकी सभा जहाँ श्रीरामचरितका श्रवण-कीर्तन सदा होता है वही चारों दिशाओंकी अमराई है।'

इस तरह मा० प्र०, बै० और मा० मा० का एक मत है कि यह सन्तसभा चार संवादवाले वक्ता-श्रोता नहीं है किंतु इनके अतिरिक्त जो सन्तसभा है, वह अमराई है। संवाद तो घाटमें आ गये।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि—(क) संतोंकी उपमा वृक्षोंसे दी गयी। इनमें भी आम अत्यन्त सुस्वाद होता है, इसीसे रसाल कहलाता है। जिन संतोंका हृदय रामस्नेहसे सरस है वे ही श्रीरामचरितमानसके आश्रित हैं, उन्हींकी सभाको यहाँ अँवराई कहा है, यथा—'रामसनेह सरस मन जासू। साधुसभा बड़ आदर तासू॥' दैन्य, ज्ञान, कर्म और उपासनाघाटकी संतसभाके उदाहरण, यथा—'धेनुरूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी॥ १। १८४। ७।' से 'बैठे सुर सब करहिं बिचारा। '। १८५। १।' तक 'लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु। ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु। २। २३९।', 'तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा॥' 'ब्रह्मनिरूपन धर्मबिधि बरनहिं तत्त्वबिभाग। । १। ४४।', 'मुनि समूह महँ बैठे सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर॥ ३। १२।' (ख) श्रद्धाके बिना कर्म, ज्ञान और उपासना कोई भी सम्भव नहीं। यथा—'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।' 'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई॥', 'श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥' यहाँ श्रद्धासे सात्त्विकी श्रद्धा अभिप्रेत है। (ग) 'सम गाई' इति। ऊपर कह आये हैं 'सुकृती साधु नाम गुन गाना।' और यहाँ 'श्रद्धा रितु बसंत सम गाई' कहा। भावार्थ यह कि जिस भाँति

सुकृती, साधु तथा नाम-गुणगान अनेक स्थलोंमे है। उसी भाँति वसन्तका भी गुण-गान अनेक स्थलोंमें है, अथवा जैसे वसन्त आनेपर वनबागकी शोभाका गान होता है, वैसे ही श्रद्धाके उदयमे साधुसभाकी शोभाका गान अभिप्रेत है [श्रद्धा— म० श्लोक २ पृष्ठ १४, १५ देखिये ।]

भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया द्रुम* लता बिताना ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—विधान=प्रकारकी, प्रकारसे। निरूपण=यथार्थ वर्णन। सर्वाङ्ग वर्णन।

अर्थ—अनेक प्रकारसे एव अनेक प्रकारकी भक्तियोंका निरूपण (जो सतसभामें होता है) वृक्ष हैं और क्षमा, दया, लता और वितान हैं† ॥ १३ ॥

नोट—१ ऊपर वसन्तऋतु कहा था, अब उसका धर्म कहते है—लताका फैलना, वृक्षोंका फूलना व फलना। कवि जहाँ वनबागका वर्णन करते हैं वहाँ लता—वितान भी कहते हैं, यह ग्रन्थकारकी शैली है, यथा—'लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलिबिताना ॥ १ । २२७ । ४ ।' 'फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मञ्जु बिटप बर बेलि बिताना ॥ २ । १३७ । ६ ।' 'बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिए जनु तानी ॥ ३ । ३८ । १ ।', इत्यादि।

२—वृक्षके आधारपर लताएँ और उनका मण्डप होता है, वैसे ही भक्तिके आश्रित क्षमा, दया है। अमराईमें वृक्ष होते हैं जिनपर बेलें लपटी रहती हैं। सतसभामे भक्तिका निरूपण वृक्ष है, क्षमा-दया-लता बितान हैं। भाव यह है कि भक्तिहीके कारण क्षमा और दया गुण इनमें रहते हैं। सामर्थ्य रहते अपराधीको दण्ड न देना 'क्षमा' है, जैसे परशुरामजीके कटु वचनोंपर रामजीने क्षमा की। सुन्दरकाण्डमें लक्ष्मणजीका शुकसारणको छोड़वा देना 'दया' है,—'दया लागि हँसि दीन्हि छुड़ाई' 'दया लागि कोमल चित संता।' इत्यादि। लता-वितानसे वृक्षोंकी शोभा, वैसे ही क्षमा-दयासे भक्तोंकी शोभा।

३—'बिबिध बिधाना' इति श्रीरामचन्द्रजीने नवधाभक्ति श्रीलक्ष्मणजीसे और श्रीमती शबरीजीसे कही है। लक्ष्मणजीने पूछा है कि 'कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ॥ ३ । १४ । ८ ।' भक्तिसम्बन्धी उत्तर—'जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥ ३ । १६ । २ ।' से 'तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥ १६ ।' तक है। इसमे भी श्रीरामजीने श्रीमुखसे कहे है। अरण्यकाण्डमें 'नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। ३५ । ७ ।' से 'मम भरोस हिय हरष न दीना। ३६ । ५ ।' श्रीरामजीने श्रीमुखसे श्रीशबरीजीसे नवधा भक्ति कही है। वाल्मीकिजीने १४ स्थान ठहरनेके बताये हैं, ये भी भक्तिके मार्ग हैं।—२ । १२८ (४) से दोहा १३१ तक देखिये। किष्किन्धाकाण्डमें पुन लक्ष्मणजीसे भक्ति, वैराग्य, नीति और ज्ञान विविध प्रकारसे कहा है, यथा—'कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नय नीति बिबेका' दोहा १३ (७) से दोहा १७ तक)। उत्तरकाण्डमे श्रीरामचन्द्रजीने पुरवासियोंसे, और भुशुण्डिजीने गरुड़-जीसे भक्ति कही। (देखो ७ । ४५-४६ और ७ । ११४-१२०) इत्यादि, भक्तिका अनेक प्रकारसे निरूपण है। —(परतु इनमेंसे जो-जो प्रसङ्ग सतसभामें आये हैं, प्राय वे ही यहाँ अभिप्रेत हैं, यथा—'कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ग्यान बिराग १ । ४४ ।' इत्यादि। मा० मा० कार कहते हैं कि भक्ति-निरूपण 'आम्रवृक्ष' है तहाँ राम-

* रा० प०, प०, प्र०, मा० त० वि० मे और भी जहाँ-तहाँ इसका पाठान्तर 'दम' मिलता है। इस पाठका अर्थ—'भक्तिके विविध रीतियोंके निरूपण और (तत्सम्बन्धी) क्षमा, दया, दम (गुणोंका वर्णन) लताके वितान हैं। भाव यह कि ये सब सन्तरूपी अमराईपर लपटी हैं—(रा० प्र०)।

दम—१७२१, १७६२, छ०। १६६१ में 'द्रुम' था। '—', का चिह्न अबतक है। हरताल नहीं है। स्याही चाहे उड़ गयी हो, चाहे मिटाई गयी हो। ना० प्र० सभाने भी इसे द्रुम ही पढा और देखा है। १७०४ में भी 'द्रुम' है।

† मा० प०—कार यह अर्थ करते हैं—'लताओंके चँदोये हैं जिनकी शरणमे प्राणी सुखसे विश्राम करते हैं, खलोंके वचन-आतप इनके भीतर नहीं पहुँच सकते।'

नाम कल्पवृक्ष है, मानससर देवसर है, मानसके चारों ओर देवबाग है, देवबागहीमें कल्पतरु रहता है, अतएव रामनाम कल्पवृक्षका वहाँ रहना उचित है।)

त्रिपाठीजी—१ प्रयोजन तथा अधिकारी भेदसे भक्तिके अनेक विधान हैं। विपाद नाशके लिये भक्तिविधान, भगवत्कृपासम्पादनके लिये भक्तियोग जन्मफल-प्राप्तिके लिये भक्तिमार्ग, सर्वसाधारणके लिये नवधा भक्ति, जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्तके लिये गौणी भक्ति इत्यादि। श्रीलक्ष्मणजीने जो भक्ति निषादराजसे कही वह विषादनाशके लिये थी। यह 'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। २। ९२। ४।' से 'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥ ९४। १।' तक है। अरण्यकाण्ड दोहा १६-१७ वाली भक्ति तथा उत्तरकाण्ड दोहा ४५। १। 'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू' से दोहा ४६ तक भक्तियोग है। (नवधाभक्ति ऊपर आ चुकी है)। ज्ञानी-जिज्ञासु आदिके लिये भक्ति-का विधान नाम-वन्दनाके 'नाम जीह जपि जागहिं जोगी।' इत्यादिमें है।

२ 'लता बिताना' इति। गुण गुणीके आश्रयसे रहते हैं। भक्तिके विविध विधान, क्षमा आदि जो लतास्थानीय माने गये हैं, इन्हीं संत-विटपके आश्रयमें हैं, अर्थात् ये गुण संतोंमें इसी प्रकार लिपटे हुए हैं जैसे लताएँ वृक्षोंमें। संत-समाजमें बराबर गुणोंका आदान-प्रदान हुआ करता है, अतः वहाँ ये गुण छाये रहते हैं।

सम* जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति† रस बेद बखाना॥ १४॥

शब्दार्थ—सम=शम।=अन्तःकरण तथा अन्तर इन्द्रियोंको वशमें करना। मनोनिग्रह। यम=चित्तको धर्ममें स्थिर रखनेवाले कर्मोंका साधन। मनुके अनुसार शरीर-साधनके साथ साथ इनका पालन नित्य कर्तव्य है। मनुने अहिंसा, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य, अकल्कता और अस्तेय ये पाँच यम कहे हैं। पर पारस्करगृह्यसूत्रमें तथा और भी दो-एक ग्रन्थोंमें इनकी संख्या दस कही गयी है और नाम इस प्रकार दिये गये हैं। ब्रह्मचर्य, दया, क्षान्ति, ध्यान, सत्य, अकल्कता, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य और दम। यम योगके आठ अङ्गोंमेसे पहला अङ्ग है। (श० सा०)। उत्तरकाण्ड ज्ञानदीपक प्रसङ्गमे इनका विशेष उल्लेख किया गया है। नियम=शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय इत्यादि क्रियाओंका पालन करना और उनको ईश्वरार्पण कर देना। (श० सा०)। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें यम और नियम दस-दस प्रकारके कहे गये हैं। यथा—'ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता। अहिंसास्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः॥ ३१२॥ स्नानं मौनोपवासेज्या स्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः। नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता॥ ३१३॥' और भागवतमें बारह कहे हैं, यथा—'अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥ ३३॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ ३४॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः' (११। १९)। गायत्रीभाष्यमें दस नियम इस प्रकार हैं—'शौचेज्या च तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहम्। व्रतोपवासमौ-नानि स्नानं च नियमा दश॥'

अर्थ—शम, यम, नियम (इस अमराईके) फूल हैं, ज्ञान फल है। हरिपदमें प्रीति होना फलका रस है (ऐसा) वेदोंने कहा है॥ १४॥

☞भा० दा० ने 'संजम' पाठ दिया है, उसीके अनुसार पं० रामकुमारजीने भाव कहे हैं। सुधाकरद्विवेदीजीने 'सम जम' पाठ दिया है।

नोट—१ (क) अमराई कहकर उसके वृक्ष, लता और वितान कहे। पेड़ों और लताओंमें फूल-फल होते हैं। अब बताते हैं कि रामचरितमानस-सरके संतसभारूपी अमराईमें फूल-फल क्या है। (ख) उधर वसन्तमें आममें बौर लगता है और आम फलता है। यहाँ संतोंमें श्रद्धासे संयम (सम, यम), नियम और ज्ञान होते हैं। फलमें रस होता है, यहाँ हरिपदमें प्रीति होना यह ज्ञानका रस है—'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। २। २७७।' (ग)—जैसे फूलसे फल लगे तब फूलकी शोभा है, फल न लगा तो फूल व्यर्थ हुआ, वैसा ही शम, यम, नियम

*—संयम नियम—को० रा०। संयम, यथा—'अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यदयार्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शुचिश्च संयमा दश।'

†—रति रस—१७२१, १७६२, छ०। रस बर—१७०४। १६६१ में 'ति र' हाशियेकी लकीरसे मिले हुए बाहर बनाये गये हैं। 'बेद' के नीचे लकीरें हैं, उनपर हरताल है। हाशियेपर 'बन' (बर) बना है। सब पुरानी स्याहीका है। जान पड़ता है कि 'रस बेद' के बीचका 'बर' शब्द छूट गया था वह 'V' चिह्न देकर हाशियेपर बनाया गया था। 'ति र' की स्याही उससे कुछ फीकी है।

करनेपर यदि ज्ञान न हुआ तो वह यम-नियम आदि व्यर्थ है। फूलमें फल भी लगा पर वह परिपक्व न होने पाया, सूख गया, उसमें रस न हुआ, तो वह फल भी व्यर्थ गया। इसी तरह ज्ञान होनेपर श्रीरामपदमें प्रेम न हुआ तो वह ज्ञान भी व्यर्थ है, उस ज्ञानकी शोभा नहीं। (घ) यम, नियम योगके अङ्ग हैं। योगसे ज्ञान होता है, यथा—'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ३। १६।' ज्ञानसे भक्ति होती है, यथा—'होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथचरन अनुरागा। २। ९३। ४।' इसीसे यम, नियम, ज्ञान और हरिपदरति क्रमसे लिखे गये। (ङ) शम, यम, नियमको फूल इसलिये माना कि उन्हींसे सतसभाकी शोभा है। पुष्पके बिना फल नहीं होता, वैसे ही शम-यमादि बिना ज्ञान नहीं होता। फलके साधन पुष्प होते हैं और ज्ञानके साधन शम, यम, नियम हैं। रस उस भागका नाम है जिसके द्वारा स्वाद लेनेकी योग्यता होती है। (सू० मिश्र०)।

२ ऊपर चौपाई १० 'नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥' में योगको जलचर कहा और यहाँ योगके अङ्गको फूल और योगकी सिद्धिको ज्ञान कहते हैं। ज्ञानका रस भक्ति है, इसपर वेदकी साक्षी देते हैं। यहाँ जनाते हैं कि कर्म, ज्ञान और उपासना क्रमसे होते हैं।—यह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है।

३ 'हरिपदरति रस' कहनेका भाव यह है कि जिस ज्ञानमें हरिभक्ति नहीं, वह ज्ञान व्यर्थ है। वह फल रसरहित साररहीन है। यथा—'सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू' 'जोग कुजोग ग्यान अग्यानू। जहँ नहि रामप्रेम परधानू॥ २। २९१।' ☞ मिलान कीजिये—'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥' (गीता)।

४—'बेद बखाना', यथा—'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥' (भागवतमाहात्म्य १। १। ३)। अर्थात् अहो भावुक रसिकगण! वेदरूप कल्पवृक्षका यह अमृतरससे परिपूर्ण भागवतरूप फल शुकके मुखसे पृथ्वीपर गिरा है, इसके भगवत्कथारूप अमृतरसका आपलोग मरणपर्यन्त बार-बार पान करते रहें।

ज्ञानको फल और 'हरिपदरति' को उसका रस कहा, यह विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त है। अद्वैतसिद्धान्त भक्तिको ज्ञानका साधन मानता है। गोस्वामीजीका मत विशिष्टाद्वैतके अनुकूल है।

औरौ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा॥ १५॥

शब्दार्थ—प्रसंगा (प्रसंग)=मेल, सम्बन्ध, संगति। विषय, बातें।

अर्थ—और भी अनेक कथाएँ और अनेक प्रसंग (वा, कथाओंके अनेक प्रसंग जो इस मानसमें आये हैं) ही तोता, कोकिल आदि बहुत रंगके पक्षी हैं॥ १५॥

अर्थान्तर—२ प्रसंग पाकर जो कथाएँ कही गयी हैं '। (पा०)

३—'और बीच-बीचमें प्रसंगवश जो कथा, जैसे कि पार्वतीविवाह, भानुप्रतापकथा, नारद-अभिमानभञ्जनके लिये स्वयंवरकी रचना इत्यादि आ गयी है वे ही बरन-बरनके शुक, पिक हैं जो ऋतुविशेषमें कभी-कभी देख पड़ते हैं।' (सु० द्विवेदी)।

मा० प्र०—मानससरकी अमराईमें बाहरके पक्षी भी आते हैं, जल पीते हैं, अमराईमें कुछ देर ठहरते हैं, फिर उड़कर चले जाते हैं।

टिप्पणी—रामचरितमानसमें अनेक कथाएँ और अनेक प्रसंग हैं, इन्हींको संत विस्तारसे कहते हैं। कथाएँ जैसे कि सती-मोह, शिवविवाह आदि। प्रसंग, यथा—'तेहि सन आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाव जहाँ रघुराई॥ ४। २५।' 'कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा॥ दुंदुभि-अस्थि ताल देखराये। ४। ७।' 'इहाँ साप बस आवत नाहीं। कि० ६।', 'सबरी देखि राम गृह आये। मुनि के बचन समुझि जिय भाये॥ ३। ३४।' 'दंडकबन पुनीत प्रभु करहू। उग्रसाप मुनिबरकर हरहू। ३। १३।', 'भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्रभय रिषि दुरबासा। ३। २।', 'ससि गुरुतिय गामी नहुष चढ़ेउ भूमि सुर जान। लोक बेद ते बिमुख भा अधम न बेन समान॥', 'सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥ २। २२८-२२९।', 'परसुराम पितु आज्ञा राखी। मारी मातु लोक सब साखी॥ तनय जजातिहि जौबन दयऊ। पितु आज्ञा अघ अजसु न भयऊ॥ अ० १७४।', 'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना। २। ९५।' इत्यादि प्रसंग हैं जो कथामें उदाहरणरूपसे या प्रसङ्गवश लिख भर दिये गये। इन प्रसंगोंकी कथाएँ अन्य ग्रन्थोंसे कही जाती हैं जहाँकी वे हैं।

मानसमें इनकी कथाएँ नहीं हैं।—[दूसरा भाव यह है कि बहुत-सी कथाएँ श्रीमद्भागवतकी हैं। श्रीमद्भागवतको शुकजीने कहा है। अत: उन कथाओंको 'शुक' कहा। कुछ कथाएँ वाल्मीकीयकी हैं, यथा—'गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥', 'तेहि सब आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाव जहाँ रघुराई॥' वाल्मीकिजीको कोकिल कहा ही है, यथा—'कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥' अत: इनकी कथाको 'पिक' कहा। और कुछ कथाएँ महाभारतादिकी हैं, उन्हें 'बहु बरन बिहगा' कहा। (वि० त्रि०)]

नोट—१ मानसपरिचारिकाके मतानुसार 'कथा प्रसगा' से उन कथाओंका तात्पर्य है जो रामचरितमानस कहते समय प्रसङ्ग पाकर सत लोग दृष्टान्तके लिये या प्रमाणपुष्टि वा प्रकरणपुष्टिके लिये देते हैं। ये कथाएँ मानससरके वह पक्षी हैं जो बाहरसे आकर अमराईमें कुछ समय ठहरकर उड़ जाते हैं। वैसे ही कथाका प्रसङ्ग थोड़े समयका होता है। प्रसङ्गकी कथा समाप्त हुई, फिर रामचरितमानसकी कथा होने लगी। प्रसङ्गका आना और उसकी कथाका समाप्त होना ही पक्षियोंका थोड़े समय विश्राम लेकर उड़ जाना है। उदाहरण वही हैं जो ऊपर 'प्रसङ्ग' के दिये गये हैं।

मा० मा० कार इस मतका विरोध करते हुए लिखते हैं कि 'यह भाव मुझे उत्तम नहीं जँचता, क्योंकि मूलहीमें वर्णन है कि 'औरौ कथा अनेक प्रसगा। ते सुक पिक बहु बरन बिहंगा॥' अर्थात् रामयश, सुकृती लोगोंका यश और साधुओंके यशके सिवा और भी अनेक कथाका प्रसङ्ग मानसमें वर्णन है, वही अनेक रगके पक्षी हैं, ये संतसभा अमराईके स्थायी पक्षिगण हैं। जैसे प्रथम ज्ञान-विरागादि हस, सुकृती-साधु-यशगान जलविहग मानसहीमें दिखाया गया, उसी प्रकार सतसभा अमराईमें अन्य कथा-प्रसङ्गरूपी पक्षियोंको दिखलाना चाहिये। यदि मानसकी कथा नहीं कही जाय, केवल मूलका पाठ किया तब तो अन्य कथा-प्रसङ्ग पक्षीका आगमन नहीं हुआ।'—कथनका तात्पर्य यह कि कथाओंके प्रसग चहुँदिशि अमराईके स्थायी पक्षी हैं।

नोट—☞ विवेकी पाठक यहाँ विचार कर लें कि इस दोहेमें पक्षी वा विहगका प्रयोग किन चार स्थितियोंमें किया गया है। चार बार विहगोंकी उपमा इस दोहेमें दी गयी है, यथा—१ 'सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान बिराग बिचार मराला॥ चौ० ७।' २—'सुकृती साधु नाम गुनगाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना॥ चौ० ११।' ३—'औरौ कथा अनेक प्रसगा। तेइ सुक पिक बहुबरन बिहगा॥ चौ० १५।' ४—'पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु। दो० ३७।'

दो०—पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु।
माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु॥ ३७॥

शब्दार्थ—पुलक=रोमाञ्च होना, आनन्दमें रोमका खड़ा होना। सुमन=सु+मन=सुन्दर मन।

अर्थ—(संतसभामें कथासे) रोमाञ्च (पुलक) होना फुलवारी, बाग और वन है। (जो) सुख (होता है वही) सुन्दर पक्षियोंका विहार है। निर्मल मन माली है जो स्नेहरूपी जलसे सुन्दर नेत्र (रूपी घड़ोंके) द्वारा उनको सींचता है॥ ३७॥

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी—कथाओंके सुनने और अनुभव करनेसे जो थोड़ा, कुछ अधिक और अत्यन्त रोमाञ्च हो जाते हैं वे इस मानसके आसपास सत-सुखरूप पक्षियोंके विहार करनेके लिये वाटिका, बाग और उपवन हैं तिन्हें संतोंके सुन्दर मनमाली स्नेहजलसे दोनों आँखोंरूप हजारेसे सींचा करते हैं। इस सिञ्चनसे वे वाटिका, बाग और वन सदा प्रफुल्लित रहते हैं।

'पुलक बाटिका बाग बन' इति

१—वाटिकासे बाग बड़ा होता है और बागसे वन। वाटिका, बाग और वन क्रमसे कहे, इससे जान पड़ा कि सरके चारों ओर अमराई है, जिसके चारों ओर वाटिका है, फिर बाग, फिर वन। यही क्रम जनकपुरमें भी दिखाया गया है, यथा—'सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहग निवास। फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास॥ १। २१२।'

२—वनमें कोई माली नहीं रहता, यहाँ वनके लिये भी माली कहा है। मानसतत्त्वविवरणमें इसका समाधान यह किया है कि वृन्दावन, प्रमोदवन इत्यादि विहार-स्थलोंमें वृन्दासखी इत्यादि मालिनें हैं, उन्हींकी अपेक्षासे यहाँभी माली कहा है।

३—पुलकावली जो मत-सभामें होती है उसको यहाँ वाटिका, बाग और वनकी उपमा दी है। इससे यहाँ पाया जाता है कि पुलकावली भी तीन प्रकारकी है।

☞ श्रीकरुणासिन्धुजी, संत श्रीगुरुसहायलालजी, महाराज श्रीहरिहरप्रसादजी, श्रीबैजनाथजी, श्रीजानकीदासजी इत्यादि प्रसिद्ध टीकाकारोंने अपने-अपने विचार इस विषयमें जो प्रकट किये हैं वह क्रमशः लिखे जाते हैं—

टीकाकार	वाटिका	बाग	वन
१—बाबा हरिहरप्रसादजी (रा० प्र०)	(क) 'जो प्रथम दिन समाजमें आते हैं उनको थोड़ा रोमाञ्च होता है, जैसे वाटिकामें थोड़े वृक्ष होते हैं जो थोड़ा ही घाम पाकर कुम्हला जाते हैं।' (ख) 'माधुर्यरसमें जो छके हुए हैं उनकी पुलकावली पुष्पवाटिका है। वाटिका अति रमणीय होती है और उसमें पुष्प, नाना भाँतिके होते हैं वैसे ही ये अनेकानन्दयुक्त हैं।'	'जो थोड़े दिनोंसे समामें आने लगे हैं उनकी पुलकावली बाग है, बागमें वृक्ष वाटिकासे अधिक होते और घाम भी कुछ अधिक सह सकते हैं। ऐश्वर्योपासकोंकी पुलकावली बाग है क्योंकि बाग कम सुन्दर होते हैं।' (रा० प्र०)। मा० त० वि०—'बागमें रसाल फल अधिक, उसी तरह ज्ञानीको ब्रह्मानन्दरूप फलकी पुलकावली है सोई बाग है।'	'जो चिरकालसे समाजमें रहते हैं, आनन्दमें भरे हैं, इनकी पुलकावली वन है। वन सदा हरा रहता है।' कर्मकाण्डयुक्त उपासकोंकी पुलकावली वन है, क्योंकि वनकी शोभा फुलवारी और बागसे बहुत कम होती है।' (रा० प्र०) सतउन्मनी टीका-'वनमें अनेक प्रकारके फल और कर्मकाण्डमें अनेक कर्मफलकी प्राप्तिकी अपेक्षा रहती है।'
२—बाबा हरिदास	(ग) कथन श्रवणसे जो उत्तम पुलकावली होती है वह वाटिका है।	मध्यम पुलकावली बाग है।	निकृष्ट पुलकावली वन है। वन दैवयोगसे सींचा जाता है इससे निकृष्ट है।
३—श्रीजानकीदासजी (मा० प्र०, रा० प्र०, वि० त्रि०)	'भक्तिकी पुलकावलीमें बार-बार अश्रुपात होते हैं और वाटिकामें सब दिन जलकी नहर लगी रहती है और कभी पुष्पोंका अभाव नहीं होता। जिसमें पुलकवाटिका बारह मास फूली रहती है।' यहाँ पुलकावली अश्रुपातादिकी तुलना पुष्पोंसे है। यथा—'पुलकित गात अत्रि उठि धाए। ३। ३। ५-६।'	केवल ज्ञानकी पुलकावली बाग है। जैसे बागमें चार-छः महीनेमें जल दिया जाता है वैसे ही ज्ञानकाण्डमें पुलकावली थोड़ी है। ज्ञानी भक्तोंको सदा पुलकावली नहीं होती। यथा—'ज्ञाता राम प्रभाव तब पुलक प्रफुल्लित गात'	कर्मकाण्डकी पुलकावली वन है जैसे वनका सींचना दैवाधीन, वैसे ही कर्मकाण्डकी पुलकावली दैवाधीन है।' यथा—'मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ।'

टीकाकार	वाटिका	बाग	वन
४ वश०, मा० प्र०, मा० पत्रिका	प्रेमी भक्त पुलकावलीशून्य नहीं। वाटिकामें पुष्प अनेक, यहाँ रोमकूप अनेक। पुष्पमें रस जिसके ग्राही भ्रमरादि जन्तु, पुलकावलीमें ही सीतारामजीके गुणस्वरूप माधुर्यादिक रसस्थानापन्न है और उसमें जो स्वभावानुकूल सुख है वही रय-मुनिया आदि विहङ्ग हैं जो विहारपूर्वक माधुरीरसको पान करते हैं। प्रेमीमें आर्तभक्तका भी अन्तर्भाव है।	ज्ञानी बाग हैं। इनकी पुलकावली सदा नहीं रहती, क्योंकि कभी-कभी इनकी समाधि बड़ी गहरी लग जाती है। इस बाग-का फल जीवन्मुक्ति है जिसमें ब्रह्मानन्दरूप रस है। स्वबुद्धि अनुकूल आनन्द शुकादि पक्षी हैं जो ब्रह्मानन्दमें विहार करते हैं।	कर्मपदारूढ़ साधनावस्थाके भक्तोंकी पुलकावली दैवाधीन है, कभी हुई तो अच्छा, नहीं तो नहीं है ही है। कर्मकाण्डमें अर्थ, धर्म, काम, उत्तम, मध्यम, अधम फल हैं। इसका जो अहङ्कार-पूर्वक सुख है वही उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकारके पक्षी है। जो उनके भोगरूप रसको लेते हैं।
५ मा० ध०	पुष्पवाटिकामें सुगन्ध बहुत, प्रेमी भक्तका आदर बहुत।	बाग बड़ा, और ज्ञानी भक्त भी बड़े गिने जाते हैं।	५ वनका पूरा पता लगाना मनुष्यशक्तिके बाहर, कर्मकाण्डी-की दशा भी वैसी ही है, क्योंकि कर्मकाण्डके सारे प्रकरणोंका पता लगाना और उनपर चलना शक्तिसे बाहर है।
६ सत श्रीगुरुसहाय-लालजी	'निष्काम भक्तोंकी पुलकावली वाटिका है, वाटिकामें पुष्पोंकी अधिकता और इनमें आकाङ्क्षाकी न्यूनता।'	'सकाम भक्तोंकी पुलकावली बाग है, क्योंकि नित्य अपकर्मके समय कर्मनिवेदन भी करते है, पर कामनाके लिये प्रार्थना वा सम्पुटादि भगवत्सम्बन्धी भी कर लेते हैं।'	६ 'ज्ञानियोंका रोमाञ्च वन है, क्योंकि इनकी केवल मुक्तिमात्र फलकी अपेक्षा रहती है।'
७ श्रीवैजनाथजी	'मुग्धा भक्तामें थोड़ा प्रेम होता है। इसीसे पुलकावली थोड़ी और वाटिका देखनेमें छोटी।'	मध्या भक्तोंका पुलक बाग है जो वाटिकासे बड़ा होता है। मुग्धा भक्तोंसे मध्यमकी पुलकावली बड़ी है।	७ प्रौढ भक्तोंका पुलक एकरस सदा वनसमान बड़ा है। वन बागसे भी बड़ा, वैसे ही इनका पुलक सबसे अधिक।
८ पाँडेजी	हर्षसे फूल उठना वाटिका है।	फूलनेसे जो उनका सुनना सुफल हुआ वह बाग है।	आनन्दमें अपनेको भूल जाना वन है।

☞ गोस्वामीजीने मानसके रूपकमें 'कमल, पुरइन, अमराई, वन, बाग' आदिका वर्णन किया है। परंतु कुछ यात्रियोंका कहना है कि वहाँ कुछ छोटे-छोटे पौधे और कुछ पहाड़ी घासके अतिरिक्त कुछ नहीं होता। विशेष कालतक तो वह बर्फसे ही ढँका रहता है। इस प्रकार इस रूपकमें काव्यका 'ख्यातिविरुद्धता दोष' आ जाता है।

इस शङ्काका समाधान यह है कि लोकमें अप्रसिद्ध होनेपर भी कवि-समयमें यदि यह बात प्रसिद्ध वा सगृहीत है तो उसका वर्णन दोष नहीं किंतु गुण है। यथा—'कवीनां समये ख्याते गुण ख्यातिविरुद्धता' (साहित्यदर्पण ७। २२)। 'समय' का अर्थ है सम्प्रदाय वा पद्धति। यह तीन प्रकारका है—'असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात्। नियमस्य पुरस्कारात् सम्प्रदायस्त्रिधा कवे.॥' (सा० द० टीका)। अर्थात्—१ जो सत है ही नहीं उसको कहना। जैसे कि जहाँ भी छोटा-मोटा जलाशय है वहाँ हंस आदिका वर्णन, नदी और आकाश आदिमें कमलका वर्णन, आकाशनदीमें हाथीका वर्णन, कीर्ति और पुण्यको शुक्ल, अकीर्ति और पापको कृष्णवर्ण वर्णन और चकोरका चन्द्रकिरणभक्षण, इत्यादि। यथा—'रत्नानि यत्र तत्रादौ हंसाद्यल्पजलाशये। जलेभाद्यं नभो नद्यामम्भोजाद्यं नदीष्वपि॥ ··शुक्लत्व कीर्तिपुण्यादौ कार्ष्ण्यं चाकीर्त्यघादिषु।' ज्योत्स्नापानं चकोराणां शैवालं सर्ववारिषु॥ (सा० द० टीका)। २—जो विद्यमान है उसका अभाववर्णन अर्थात् उसको कहना कि नहीं होता। जैसे कि वसन्तमें मालतीपुष्प, चन्दनमें फूलफल, स्त्रियोंमें श्यामता इत्यादि वे कभी नहीं वर्णन करते। यथा—'वसन्ते मालतीपुष्पं फले पुष्पे च चन्दने ··नारीणां श्यामता ··'। ३—कुछ उनके अपने विशेष बँधे हुए नियम। जैसे कि भोजपत्र हिमालयहीपर, चन्दन मलयागिरिहीपर और कमल हेमन्त और शिशिरऋतु छोड़ सब ऋतुओंमें होता है। यथा—'हिमवत्येव भूर्जत्वक् चन्दनं मलये परम्। हेमन्तशिशिरौ त्यक्त्वा सर्वदा कमलस्थिति.॥' (सा० द० टीका)।

उपर्युक्त श्लोक कुछ हेरफेरसे 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के प्रतान १ स्तवक ५ में (श्लोक ९४ से अन्ततक) हैं। और उसीमें 'सरमें कवियोंको क्या-क्या वर्णन करना चाहिये' यह भी लिखा है। यथा—'सरस्यम्भोलहर्यम्भोगजाद्यम्बुज-षट्पदा.। हंसचक्रादयस्तीरोद्यानस्त्रीपान्थकेलय.॥ ६५॥' अर्थात् तालाबमें जल, लहर, जलहस्ती, कमल, भ्रमर, हंसादि पक्षी, तीरमें बाग-बगीचा, स्त्रियों और पथिकोंकी जलक्रीडा—इनका वर्णन प्राय. होता है।

काव्यके इस नियमके अनुसार सत्कवि जलाशयों नदी, समुद्र, तालाब आदिमें कमल और हंस आदिका वर्णन किया करते हैं। यथा—'मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो रक्तौ च क्रोधरागौ सरिदुदधिगत पङ्कजेन्दीवरादि। तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिक. पक्षिसघो ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसा॥ २३॥ अह्न्यम्भोजं निशायां विकसति कुमुदं चन्द्रिका शुक्लपक्षे मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात्। न स्यात् जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणामित्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे॥ ७। २५।' (सा० द०)। अर्थात् आकाश और पापमें मालिन्य यश, हास्य और कीर्तिमें शुक्लता, क्रोध और रागमें रक्तता, नदी और समुद्रमें कमलादि, समस्त जलाशयोंमें हंसादि पक्षी, चकोरका चन्द्रकिरणभक्षण, वर्षासमय हंसोंका मानससरको चले जाना, दिनमें कमलका और रात्रिमें कुमुदका खिलना, शुक्लपक्षमें ही चन्द्रिका, मयूरका मेघ-ध्वनि होनेपर नृत्य करना, अशोकमें फलका अभाव, वसन्तमें जातीपुष्पका और चन्दनमें फूल-फलका अभाव—इत्यादि कविसम्प्रदायकी बातोंको सत्कवियोंके काव्योंसे निर्णीत कर लेना चाहिये।

सत्कवियोंके इस नियमानुसार मानसकविने यहाँ मानस-सरके रूपकमें कमल, हंस, वन, बाग और पक्षी आदिका वर्णन किया है।

नोट—१ सात्त्विकभाव होनेसे ही पुलक होता है, सात्त्विकभावमें सुख है। अत. 'सुख' को 'सुबिहंग बिहाग' कहा। भयादिकोंमें भी रोमाञ्च होता है, अत. उसके व्यावर्तनके लिये 'सुविहग' कहा, क्योंकि यहाँ सुमतिका प्रसङ्ग चल रहा है। कुविहग कुमतिके प्रसङ्गमें कहा गया है, यथा—'कुमति कुबिहँग कुलह जनु खोली।

२ । ३८ । ८ ।' जहाँ-जहाँ पुलक है वहाँ आनन्दसे पुलक है । यहाँ सुखरूपी विहग मानससरके वासी हैं, ये बाहरसे नहीं आये हैं, अत यहाँ विहार करते हैं । (वि० त्रि०) ।

पुलकाङ्गकी दशामें जो सुख है वही सुविहगविहार है । पाण्डेजी कहते हैं कि 'इस दशामें जो सुख हुआ वही सुन्दर पक्षी होकर विहार कर रहा है ।' वह सुख क्या है ? किसका सुख कौन पक्षी है ?

उत्तर—(१) मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि—'उपासना, ज्ञान और कर्मका समाज मानो क्रमसे पुष्पवाटिका, बाग और वन हैं । और तीनों समाजोंको सुखकी प्राप्ति, अर्थात् क्रमसे श्रीरामचन्द्रजीकी प्राप्ति, ब्रह्मकी प्राप्ति और शुभ-प्राप्ति—ये तीनों सुख मानो मधुकर, शुक और लावक आदि विहङ्ग-विहार हैं । इन तीनों (वाटिका, बाग और वन) का माली शुद्ध मन है । यदि मन शुद्ध रहा तो सब हरा-भरा रहा नहीं तो सब सूख जाते हैं, अतएव मालीकी शुद्धता बिना केवल परिश्रम ही है ।'—[मा० मा० कार इसीको इस प्रकार लिखते हैं—'भक्तोंको श्रीरामचन्द्रजीके सनातन चतुष्टय (नाम, रूप, लीला, धाम) द्वारा जो सुख होता है वही मधुकर पक्षी होकर वाटिकामें विहार करता है, ज्ञानियोंको ब्रह्मसुख अनुभव होनेपर उस दशाका सुख पक्षी होकर बागमें शुकवत् विहार करता है और कर्मकाण्डियोंको शुभप्राप्तिका सुख लवादिक पक्षी होकर वनमें विहार करता है ।]

(२) करुणासिंधुजी तथा श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'भक्तिकाण्डमें अपने-अपने भावानुकूल जो सुख होता है वह रयमुनिया आदिक विहङ्ग हैं । ज्ञानकाण्डमें अपनी बुद्धि-अनुकूल जो सुख होता है, वह शुकादि विहङ्ग हैं जो ब्रह्मानन्दमें विहरे हैं । कर्मकाण्डमें अहङ्कारपूर्वक जो सुख होता है वह उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तीन भाँतिके विहङ्ग हैं जो अर्थ, धर्म, काम, फलोंके भोगरूप रसको ग्रहण करते हैं ।'

नोट—२ स्नेहसे आँसू निकलते हैं, रोमाञ्च होता है, इसीसे उसको जल कहा । नेत्र घड़ा है । घड़ेसे जल सींचा जाता है और यहाँ पुलकमें नेत्रोंसे अश्रुपात होते हैं । मालीको सुमन कहा, क्योंकि मालीसे वाटिका उदास नहीं होने पाती, इसी तरह सुन्दर मनसे पुलकावली नहीं मिटने पाती । पुन मनके ही द्रवीभूत होनेसे रोमाञ्च होता है, अत पुलककी स्थिति मनपर ही निर्भर है । पुलकरूपी वाटिका आदिका सिञ्चन नेत्रके प्रेमाश्रुद्वारा ही होता है । यथा— मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगदगिरा पुलक बह नीरा ॥'

जे गावहिं यह चरित सँभारे । तेइ एहि ताल चतुर रखवारे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सँभारे=सँभालकर, चौकसीसे, सावधानतापूर्वक । 'सँभारना' शब्द ग्रन्थमें स्मरण करनेके अर्थमें भी आया है, यथा—'बार बार रघुबीर सँभारी । तरकेउ पवनतनय बल भारी ॥ ५ । १ ।' 'तब मारुतसुत प्रभु सँभारेउ । लं० ९४ ।'

अर्थ—जो लोग रामचरितमानसको सँभालकर (सावधानीसे) गाते (कहते) हैं वे इस सरके चतुर रखवाले हैं ॥ १ ॥

प० रामकुमारजी—१-दोहा ३७ तक सरका वर्णन हुआ । अब यहाँसे उसके बाहरका वर्णन है । सर तो अपने स्वरूपहीसे सुन्दर है, वह नहीं बिगड़ता । सरपर जो रक्षक (पहरेवाले) रहते हैं, वे बाहरकी खराबियों और न्यूनताओंसे सरकी रक्षा करते हैं । यहाँ यह बतलाते हैं कि रामचरितमानसमें रखवाले कौन हैं ? [मानससरमें देवताओंकी ओरसे प्रवीण रक्षक रहते हैं कि कोई जल न बिगाड़े, उसमें थूके-खखारे नहीं । (मा० प्र०)]

२ 'जे गावहिं' इति । इसके मुख्य श्रोता सज्जन हैं । गोस्वामीजी तो सज्जनोंहीसे कह रहे हैं सो ये तो घाटहीमें हैं । इनके अतिरिक्त और जो कोई वर्णन करें वे रखनेवाले हैं ।—[गानमें सबका अधिकार बताया । अपने समाजमें सभीको अधिकार है । पक्षिसमाजमें भुशुण्डिजी कहते और गरुड़जी सुनते हैं । देवसमाजमें शंकरजी, मुनिसमाजमें याज्ञवल्क्यजी और नरसमाजमें गोस्वामीजी वक्ता हैं । यहाँ 'गान' का अर्थ प्रेम और आदरसे बखान करना है । इसी अर्थमें इस शब्दका बारम्बार प्रयोग हुआ है यथा—'रिपु कर रूप सकल तैं गावा ।' (ल०) 'हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा', 'रघुपति कृपा जथा मति गावा' । इत्यादि । (वि० त्रि०)]

'सँभारे', 'चतुर रखवारे' इति। (क) रखवालोंका काम यह है कि पुरुषके घाटमें स्त्री, स्त्रीके घाटमें पुरुष न जावें, कोई सरमें थूकें-खखारे नहीं, कोई निषिद्ध वस्तु इसमें न पड़े, इत्यादि। रामचरितमानसके पढ़नेमें स्त्री-लिङ्गकी ठौर पुँल्लिङ्ग और पुँल्लिङ्गकी ठौर स्त्रीलिङ्ग शब्द पढ़ना पनघटमें पुरुषका और पुरुषोंके घाटमें स्त्रीका जाना है। पाठका बदलना, क्षेपक मिलाना, अशुद्ध पढ़ना इत्यादि ही थूकना, खखारना, निषिद्ध वस्तुका डाल देना है। (मा० प्र०)। (ख) 'सँभारे' पद देकर सूचित किया कि सँभालकर गाना मानने नहीं बनता। सँभालकर गाना यह है कि स्मरण और विचारपूर्वक पढ़े, पाठ शुद्ध हो, दोष बचाते हुए, अर्थ समझते हुए औरोंकी अशुद्धियोंको प्रसङ्ग-अनुकूल ठीक करके पढ़ना 'सँभारकर गाना' है। 'चतुर' अर्थात् होशियार, अचूक। (ग) सू० मिश्रका मत है कि 'सँभारे' का भाव यह है कि जो ग्रन्थकारने कहा है कि 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं' म०* श्लो० ७, उसीके अनुसार वेदमत, लोकमत और पूर्वापर सम्बन्ध या पूर्वापर विरोध और काव्यदोष, विचारपूर्वक विचार और उसीके अनुकूल अर्थ विचारकर कहना। बिना प्रेमके गाना नहीं हो सकता। जिसका जिसमें प्रेम होता है वही उसकी रक्षा करता है। इस तरह ग्रन्थकारने बताया है कि इस ग्रन्थके प्रेमी ही इसके रक्षक हैं और होंगे।' और पाण्डेजी श्रीशिवजी, भुशुण्डिजी, याज्ञवल्क्यजी और गोस्वामीजीके गुरुको रखवाले कहते हैं। (पर इस मतसे हम सहमत नहीं हैं)। (घ) 'रखवारे' का तात्पर्य यह है कि जहाँ जो रस प्रधान हो वहाँ वही कहा जाय और रसाभास न हो। (पा०)। पुनः इस मानसके रखवालोंका काम है कि यदि कोई एक चौपाई या दोहा लेकर औरका और अर्थ करे तो वह उसकी वाणीका पूर्वापर प्रसङ्गसे खण्डन कर दें (मा० प्र०)। 'चतुर रखवारे' कहकर यह भी जनाया कि चरितके गान करनेवाले 'रखवाले' हैं, गान करनेसे मानस बना रहेगा, नहीं तो लुप्त हो जायगा। और सँभालकर गानेवाले 'चतुर रखवाले' हैं]

सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥ २॥

अर्थ—जो स्त्री-पुरुष इसे सदा (नियमपूर्वक) आदरसहित सुनते हैं वे ही सुन्दर मानसके उत्तम अधिकारी श्रेष्ठ देवता हैं॥ २॥

नोट—१ मानस-सरके रक्षक ऋषि एवं देवता हैं और देवता एवं ऋषि ही उसके स्नान-पानके अधिकारी हैं। रामचरितमानसके अधिकारी कौन हैं यह यहाँ बताते हैं। ऊपर चौपाईमें गानेवाले अर्थात् वक्ताओंको बताया, उनके श्रोता होने चाहिये सो यहाँ कहते हैं।

२ यहाँतक तदाश्रय कहकर अब यहाँसे अधिकारी, अनधिकारी, मार्गकी कठिनाइयाँ और उनका निवारण यह सब कहते हैं—'सदा सुनहि सादर', 'नर नारी', 'सुरबर मानस अधिकारी।' (मा० प्र०)

नोट—३ (क) यहाँ दो बातें अधिकारी होनेके लिये जरूरी बतायीं, सदा सुनना और सादर सुनना। सुनना स्नान है, सदा सुनना सदा स्नान करना है। 'सदा' शब्द देकर जनाया कि इसमें प्रतिपदा, अष्टमी, अमावस्या, चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि अनध्यायका नियम नहीं है। यह धारणा न हो कि इसे कई बार सुन चुके हैं। इसका रस नित्य सुननेसे ही मिलेगा। 'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥' (वि० त्रि०)। (ख) 'सादर'=आदरपूर्वक—अर्थात् मन, चित्त और बुद्धि लगाकर। यथा—'सुनहु तात मति मन चित लाई। ३। १५। १।' (ग) ☞ गोस्वामीजीने यह शब्द उत्तम श्रोताओंके लिये प्रायः सभी ठौर दिया है, यथा—'सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयेउँ कैलास। उ० ५७।', 'सादर सुनु गिरिराज कुमारी। १। ११४। २।', 'तात सुनहु सादर मन लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई। १। ४७।, 'कहौं रामगुनगाथ भरद्वाज सादर सुनहु। १। १२४।' इत्यादि। सर्वत्र सादर सुननेको कहा गया है। १। ३५। १३ देखिये। (घ) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'मानस' तीर्थ है। यहाँ यह जनाया है कि तीर्थमें स्नान आदरपूर्वक करना चाहिये तभी फल होता है, यथा—'सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप-परिताप हिये ते॥ १। ४३। ६।', 'सोइ सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रयताप न जरई॥ १। ३९। ६।', (ङ) 'नर नारी' पदका भाव यह है कि इसके अधिकारी स्त्री-पुरुष सभी हैं। जाति, वर्ण या स्त्री-पुरुषका कोई भेद वा नियम नहीं है।

४ (क) 'वर 'मानस' और 'अधिकारी' दोनोंके साथ है। क्योंकि इस मानसमें सुन्दर रामयश जल है और इसके अधिकारी देवताओंसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि देवता अपने ऐश्वर्यमें भूले रहते हैं, यथा—'हम देवता परम अधिकारी। स्वारथरत प्रभु भगति बिसारी॥ भव प्रवाह संतत हम परे॥ ६। १०९।' अधिकारी=अधिकार पानेके योग्य, सेवा करनेके लायक। (ख) 'ते सुन्दर' कहकर जनाया कि आसुरी सम्पत्तिवाले इसमें स्नान नहीं कर सकते। सादर श्रवण दैवी सम्पत्तिवालोंके लिये ही सम्भव है। (वि० त्रि०)। (ग) वक्ता बनाके अधिक महत्त्व श्रोताका कहा। वक्ता तो पहरेदार है, उसका सारा समारम्भ तो श्रोताके लिये ही है। यद्यपि यात्रियोंको पहरेदारका आदेश मानना पड़ता है तो भी प्राधान्य यात्रियोंका ही है। इसीसे श्रोताको 'अधिकारी' कहा। (वि० त्रि०)। (घ) सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि अमृतपानके सुखसे भी बढ़कर इसकी कथाका स्वाद जिनके कर्णमें जान पड़ता है वे ही इसके अधिकारी हैं। जैसे देवता अमृत पीते-पीते उकताकर माननेसे बढ़कर अधिक स्वादिष्ट समझ पीते हैं वैसे ही जो अनुरागी नारी-नर सब कथाओंसे बढ़कर इस मानसकथाको समझते हैं वे ही इसके सच्चे अधिकारी देवता हैं।

अति खल जे बिषई बग कागा। एहिं सर निकट न जाहिं अभागा॥ ३॥

अर्थ—जो बहुत ही दुष्ट और विषयी हैं, वे बगुले और कौवे हैं। वे अभागे इस सरके पास नहीं जाते॥ ३॥

नोट—१ ऊपर मानसके अधिकारी कहे अब उसके अनधिकारी कहते हैं।

नोट—२ 'अति खल जे बिषई बग कागा' इति। (क) खलोंके लक्षण दोहा ४, ५ में कहे गये हैं। खल और कामी सत्सङ्ग करने से और सुधर जाते हैं जैसा वहाँ कह आये हैं, यथा—'सठउ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥ १। ३। ९।' 'मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥ १। ३। १।' और पुन आगे कहा है कि 'बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुनग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ७। ५३। ४।' इसीसे यहाँ 'अतिखल बिषई' कहा क्योंकि ये सत्सङ्गसे भागते हैं। इसीसे भाग्यहीन भी कहा। वे 'अति खल' हैं, 'अति बिषई' हैं। 'बिषई' का अन्वय कागाके साथ होनेका कारण यह है कि काग मलिन वस्तु (विष्ठा) खाता है और विषयी भी स्त्री-लम्पट आदि कुत्सित भोगी होता है। 'काक बक' के स्वभाव पूर्व दिये जा चुके हैं—'काक होहिं पिक बकउ मराला। १। ३। १।' इत्यादिमें देखिये। पुन, मा० मा० का मत है कि—'अतिखल बकवत् हैं, क्योंकि परम विश्वासघाती 'खल' कहाता है—'खलो विश्वासघातक।' काग गदहादिकोंपर बैठकर उनके मांसको भक्षण करता है, उसको रक्षक दया नहीं लगती। उसी प्रकार विषयी मांस-भक्षक और परदाराओंके धर्मको बिगाड़नेवाला है।,' मा० प्र० का मत है कि 'अतिखल' काक हैं और विषयी (जो विषयमें अत्यन्त आसक्त हैं) बक हैं। पाण्डेजी-का मत है कि वे खल काक हैं जो कथाके समय बकते हैं और विषयी बगुला वे हैं जिनका मन मछली, मेवामें रहता है, पर देखनेमें साधु बने बैठे हैं। पाण्डेजीका आशय 'कथाके समय से ऐसा समझमें आता है कि कथासे दूर अन्यत्र वा उसी समय अन्य विषयवार्ताकी बक लगाये रहते हैं, कथाके निकट नहीं जाते। बैजनाथजीका मत है कि हरिविमुख जो सत्पदार्थमें भेद लगानेवाले हैं वे ही 'अति खल' काक हैं।

(ख)—आगे चौ० ५ में केवल 'कामी' शब्द दिया है—'कामी काक बलाक बिचारे'। इससे कोई-कोई 'अति खल जे बिषई' का अर्थ यों भी कर लेते हैं कि 'जो विषयी अत्यन्त दुष्ट हैं'। पर प्रायः सभीने उपर्युक्त ही अर्थ ठीक माना है। समाधान यों हो जाता है कि गोस्वामीजीने 'खल जे बिषई' मेंसे अन्तिम पद 'कामी' (विषयी) देकर उसके पहलेका शब्द भी सूचित कर दिया है।

३ अभागा=भाग्यहीन, यथा—'सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥ ३। ३३। ३।', 'अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥ लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहुँ संतसभा नहिं देखी॥ १। ११५।' विषय सेवन करने एवं सत्सङ्गमें न जानेसे 'अभागा' कहा। पुन, 'अभागा' पद देकर न जानेका

कारण बताया कि 'उनका भाग्य ही नहीं कि वे यहाँ आवें'। (मा० प०)। भाग्यवान् ही श्रीरामयश सुनते हैं, यथा—'अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाँउ देइ एहि मारग सोई। ७। १२९।' पुनः, यहाँ 'अभागे' शब्दमें 'भाग' शब्द श्लिष्ट है। अत. दूसरा अर्थ यह होगा कि उनका 'भाग' अर्थात् विषय-चर्चारूपी शम्बुक-भेकादि यहाँ नहीं हैं। इस अर्थमें 'निदर्शना अलकार' होता है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि विषयी, साधक और सिद्ध तीनों प्रकारके जीव रामचरितके ग्राहक हैं। इनमें विषयियोंमें ही खल होते हैं और उन खलोंमें भी अति खल होते है। दोनो प्रकारके खलोकी वन्दना गोस्वामीजीने की है। सामान्य खलोंको 'खलगन' कहा है और 'अति खल' को 'खल' कहकर वन्दना की है। सामान्य खल हरियशके निकट राकेशके लिये राहुकी भाँति कभी-कभी भजनमें भग करनेके लिये आते हैं पर 'अति खल' इसलिये भी निकट नहीं आते। अति खल विषयियोंकी उपमा बक और कागसे दी। यद्यपि काग शकुनाधम सब भाँति अपावन, छली, मलिन, अविश्वासी, मूढ और मन्दमति है तथापि बककी गणना प्रथम है, क्योंकि यह हस का रूप धारण किये हुए ध्यानका नाट्य करता हुआ हिंसामें रत है। 'अभागा' का भाव कि भाग्यका निर्णय सासारिक सम्पदासे नहीं होता। जब जीवनका ही कुछ ठिकाना नहीं तो सम्पदा लेकर क्या होगा? इसीलिये कहा है कि यदि सर्वैश्वर्य हुआ और श्रीरामचरणानुराग न हुआ तो वह व्यर्थ है। अत जो रघुवीरचरणानुरागी हैं वे ही बड़भागी हैं और जो 'भवभजन पद विमुख' है वही अभागे है। इसलिये अतिखल विषयी बक कागको 'अभागा' कहा।

संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ ४॥
तेहि कारन आवत हिअँ हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥ ५॥

शब्दार्थ—(शम्बुक)=घोंघा। भेक=मेढक, दादुर। सेवार (शैवाल)=पानीमें मिट्टीके सहसे जो हरी हरी काईके समान घास जमती है, जो बालोंके लच्छोंकी तरह पानीमें फैलनेवाली होती है और जिसमें जलके छोटे छोटे जीव आकर फँस जाते हैं। इससे हलवाई चीनी (शक्कर) साफ करते हैं। काक-बक सेवारके जीवोंको खाते हैं। बलाक=बगुला। आवत=आनेमें।=आते हुए। आते है।

अर्थ—(क्योंकि यहाँ) घोंघा, मेंढक और सेवारके समान अनेक प्रकारकी विषयरसकी कथा नहीं है॥ ४॥ इसी कारण वे बेचारे काक-बकरूपी कामी लोग यहाँ आनेमें हृदयसे हार मान लेते हैं [वा, हिम्मत हारे हुए आते हैं। (वि० त्रि०)]॥ ५॥

नोट—१—यहाँ यह बताकर कि 'अति खल विषयी' किस वस्तुके अधिकारी हैं, उनके यहाँ न आनेका कारण कहते है। अभागे विषय-रसकी कथा सुनते हैं और भाग्यवान् रामयश सुनते है।

२—जितने सातिशय सुख है उन सबमें तीन प्रकार होते है।—उच्चकोटि, मध्यम और सामान्य कोटि। काक-बकके लिये शम्बुक उच्चकोटिका भोज्य है, मेढक मध्यम कोटिका और सेवारगत जन्तु सामान्य कोटिके भोज्य है। इसी भाँति रसोत्कर्षवाली विषय कथा अति खल विषयियोंके लिये उच्चकोटिका भोग्य है, उससे कम उत्कर्षवाली मध्यम कोटिका और सामान्य कथा सामान्य कोटिका भोग्य है। (वि० त्रि०)

३—(क) 'इहाँ न'—मानस बड़ा निर्मल और गम्भीर है, वहाँ शम्बुकादि नहीं है। ये सामान्य तलैयों या नदीके किनारे जहाँ पानी रुका रहता है, पाये जाते है। (ख) 'बिषय कथा' से लौकिक नायक-नायिकाकी कथा ही अभिप्रेत है। शृङ्गाररसके आलम्बन नायक और नायिका है। (ग) 'रस नाना'—रसके भेद अपार है, यथा—'भाव भेद रस भेद अपारा।' एक शृङ्गाररसके ही चुम्बन-आलिङ्गनादि भेद हैं। तत्सम्बन्धी कथाएँ ही नाना रसकी विषय-कथाएँ है जिनके सुननेमें विषयी पुरुषोंको बड़ा आनन्द होता है। इन्हीं कथाओंको 'संबुक भेक सेवार' कहा है। (वि० त्रि०)

४—'बिचारे' शब्द बड़े चमत्कारका है। साधारण अर्थ इसका 'गरीब, दीन' है। ध्वनि यह है कि वे यहाँ

'बेचारे' हैं, इनका चारा (भक्ष्य) यहाँ नहीं मिलता। खबुक, सियार और भेक ही इनका चारा है। इन्हें छोड़ ये और कुछ खाते नहीं, सो भी यहाँ नहीं मिलता, तो फिर यहाँ आकर क्या करें? पुन किसीकी दशापर जब तरस आता है तब भी देखने-सुननेवाले 'बिचारे' शब्दका प्रयोग करते हैं। इससे मकटापन्न मनुष्यके विषयमें उनकी आत्मीयता प्रकट होती है। कामीको ज्ञान-वैराग्यरूपी धनसे रहित और इनकी प्राप्तिके साधनरूप रामचरितमानससे विमुख होनेसे उनके भावी कष्टोंको जानकर कवि दयापूर्वक उनमें अपनी आत्मीयता प्रकट करते हुए 'बिचारे' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं।

५—'हियँ हारे' का भाव यह है कि कथा सुननेको मन नहीं चलता, यथा—'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥ ५। ५८। ४।' 'हिय' हार जानेमें 'बिचारे' ही हेतु है। हरिकथा उनका 'चारा' नहीं है। यद्यपि इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति, लोक और वेद, दोनों मार्गों और मतोंका वर्णन है तथापि उनकी प्रवृत्ति तो दोनों मार्गों और मतोंसे बाह्य है, अत यह कथा उनको क्यों भली लगने लगी? पुनः 'हियँ हारे' से सूचित होता है कि देखा-देखी जानेका यदि कुछ मन हो भी जाता है तो दुर्बुद्धिको जीतने नहीं पाते, इसलिये हारकर बैठ जाते है। (पं० सू० ना० मिश्र)।

वीरकवि—विषयी प्राणियोंको मानसके समीप न आ सकनेमें हेतुसूचक दिखाकर अर्थ समर्थन करना 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' है। निदर्शना और काव्यलिङ्गकी ससृष्टि है। 'कामी काक ' में रूपक है।

नोट—६ 'आवत हियँ हारे' का दूसरा अर्थ लेनेमें भाव यह है कि 'अतिखल बिना विषय कथा-श्रवणके रह ही नहीं सकते, अत कहते हैं—'तेहि कारन आवत हियँ हारे।' निष्कारणकी हैरानी किसे नहीं अखरती, अत हिम्मत छोड़े हुए आते हैं। भाव कि जहाँ रामचरितमानस होता हो, उन्हें वहाँ तक जाना अपार मालूम होता है। जो 'अति खल बिषई बकरु काग' हैं वे तो मानसके निकट ही नहीं जाते, परतु जिनमें खलताकी अतिशयता नहीं है, वे जाते हैं, पर हिम्मत हारे हुए जाते हैं, इसलिये उन्हें 'कामी काक बलाक' ही कहा। 'बिचारे' में भाव यह है कि लाचार (बेबस) होनेपर ही जाते हैं जैसे स्वामी जाय तो साथ जाना ही पड़ेगा। (वि० त्रि०)।

आवत येहिं सर अति कठिनाई। राम कृपा बिनु आइ न जाई॥ ६॥

अर्थ—इस (रामचरितमानस) सरमें आनेमें बहुत ही कठिनाइयाँ हैं। बिना श्रीरामजीकी कृपाके (यहाँ) आना नहीं हो सकता॥ ६॥

नोट—१ (क) मानससरके आनेमें बहुत कठिनाइयाँ हैं। यह सर तिब्बतराज्यमें ६० मीलकी परिधिमें पहाड़ोंसे घिरा हुआ कैलासके पास है। कठिनाइयोंका वर्णन आगे कवि स्वय कर रहे हैं। वाचिक, कायिक और मानसिक तीनों प्रकारकी कठिनाइयाँ कवि दिखाते हैं। (ख) 'अति कठिनाई' एव 'येहि सर' का भाव कि सर तो बहुत हैं पर औरोंमें इतनी कठिनाइयाँ नहीं हैं जितनी यहाँ हैं। यहाँकी यात्रा अत्यन्त विकट है। पुन. भाव कि देव-मानससरमें कठिनाइयाँ हैं और इस (रामचरितमानस) सरमें 'अति कठिनाइयाँ' हैं।

२ (क) 'राम कृपा बिनु आइ ''' इति। आनेमें मुख्य रामकृपा है, यथा—'अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई॥ ७। १२९।' त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'गुरुकृपा, शास्त्रकृपा और आत्मकृपा होनेपर भी यहाँ काम नहीं चलता। गुरुकृपा और शास्त्रकृपासे माहात्म्य जानकर यात्राकी रुचि होती है। आत्मकृपासे इतने बड़े आयासको जीव स्वीकार करता है पर विघ्नोंका नाश परमेश्वरीय कृपासे ही सम्भव है। यथा—'सकल बिघ्न ब्यापहि नहि तेही। राम सुकृपा बिलोकहि जेही॥ ३९। ५।', 'मूक होइ बाचाल पगु चढ़ै गिरिबर गहन। जासु कृपा ' (म० सो०)।', (गुरुकृपासे भी ये कठिनाइयाँ दूर होती है, यदि गुरुमें नररूप हरिका भाव हो। आचार्याभिमानका बड़ा भारी गौरव है। (ख) कृपा क्योंकर हो? कृपाका साधन 'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहि रघुराई। १। २००। ६।' में कविने स्वय बताया है। (ग) यहाँ 'विनोक्ति अलकार' है। (वीर)।

३—इस प्रसङ्गमें गोस्वामीजीने चार कोटियाँ कहीं। एक सामान्य खल, दूसरे अति खल, एक अधिकारी, दूसरे अति अधिकारी। चारोंके लक्ष्य क्रमश, यथा—'जौ करि कष्ट जाइ पुनि कोई। ३९। १।', 'एहि सर निकट न जाहिं

अभागा । ३८ । ३ ।', 'सोइ सादर सर मज्जनु करई । ३९ । ६ । और 'ते नर यह सर तजहिं न काऊ । ३९ । ७ ।' (खर्रा) ।

४—पूर्व चौपाई (३) मे 'अति खल विषई' का इस मानसमें जाना कठिन कहा और यहाँ इस मानसमें आना भी कठिन बताया । (करु०) । वहाँ जाना और यहाँ आना कहा; यथा—'एहिं सर निकट न जाहिं अभागा ।' 'आवत एहि सर अति कठिनाई ॥' यहाँसे पाठक इन शब्दोंपर विचार करते चलें । इसका भाव ३९ (९) में लिखा जायगा ।

कठिन कुसंग कुपंथ कराला । तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला ॥ ७ ॥

अर्थ—घोर कुसंग ही कठिन (भयंकर) बुरे रास्ते हैं । उन कुसंगियोंके वचन बाघ, सिंह और सर्प (एवं दुष्ट हाथी) हैं ॥ ७ ॥

नोट—१ (क) कुसंग कुपथ है तो सुसंग सुपथ हुए । कठिन कुसंग कराल कुपथ अर्थात् भय उत्पन्न करनेवाले बुरे रास्ते है कि जिनपर तनिक भी पैर नहीं धरा जाता । श्रीरामचरितके सम्बन्धमें कठिन कुपथ क्या है यह क० उ० २९-३० मे यों कहे हैं—'सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे । सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संतसभा न बिराजहि रे ॥ नरदेह कहा करि देखु बिचारु बिगारु गँवार न काजहि रे ॥ ... जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों तुलसी भजु कोसलराजहि रे ॥ ३० ॥' 'करु संग सुसील सुसंतन सो तजि कूर कुपंथ कुसाथहि रे ॥ २९ ॥' (ख) पाँडेजी कहते हैं कि 'कठिन कुसंग वह है जो छूटने योग्य नहीं है, जैसे कि विद्यागुरु, माता-पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र आदिका संग । और यही कुसंग अर्थात् परवश होना कठिन कुपथ है ।' स्मरण रहे कि यदि 'सुत दार सखा परिवार' आदि श्रीरामचरणानुरागी हों, भगवद्भक्त हों, तो वे कुसंगी नहीं हैं, वे तो परमधर्ममें सहायक होते हैं । पर जो रामविमुख हैं वे ही कठिन कुसंगी हैं, ऐसोंहीका त्याग कहा गया है । यथा—'जाके प्रिय न राम बैदेही । तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥ तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी । हरि हित गुरु बलि, पति ब्रजबनितन्हि भये मुद मंगलकारी ॥ नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं । विनय० १७४ ।' (ग) 'कुपथ कराला' इति । कराल मार्गमें भयानक ऊँचा-नीचा, काँटे-कंकड़युक्त ऊबड़-खाबड़ रास्ता, यहाँ कथामें स्त्री, पुत्र, घर, सखा, परिवारकी ममता (जैसे कि स्त्री घरमें अकेली है, बच्चा छोटा है, जाने नहीं देता, घरमें कोई नहीं है, ताला न टूट जाय, मित्र आ गये हैं, उनके साथ न बैठे तो नहीं बनता, परिवारमें अमुक भाई दुखी है—इत्यादि), खल और कामी पुरुषोंके संग जो स्वयं नहीं जाते और दूसरोंको भी नहीं जाने देते । (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि) 'मानससरोवरकी यात्रामें एक मार्ग पड़ता है जिसे निरपनियाँ कहते हैं, वह कराल कुपथ है । ऊपर दृष्टि कीजिये तो भयंकर पहाड़ोंकी चट्टानें डराती हैं, नीचे हजारों फीट गहरी खाई है, यात्रीकी दृष्टि पाँव और रास्तेपर ही रहती है । तनिक-सी चूकमें यात्री कालके गालमें जा रहते हैं । 'सुत दार अगार सखा परिवार ।' निरपनियाँकी घाटी है ।'

२ 'तिन्हके बचन बाघ०' इति । (क) कठिन कुसङ्गी ही कठिन कुपथ हैं और उन कुसङ्गियोंके वचन 'बाघ हरि ब्याल' हैं । (ख) यहाँ 'वचन' के लिये तीन उपमाएँ बाघ, सिंह और सर्पकी दी हैं । बराबरवालों (जैसे भाई-सखा) के वचन बाघ (व्याघ्र) हैं, पिता-माता और अन्य गुरुजनों बड़ोंके कुवचन सिंह हैं, स्त्री, पुत्र और छोटोंके वचन सर्प है । (ग) भाई ईर्ष्या करते, सखा कहते कि वहाँ स्त्रियाँ भी घूमने जाती हैं, वहाँ जानेसे तो पाप लगेगा, अभी तो अनजानमें पाप होता है जो क्षम्य है । उनके वचन श्रद्धाको नष्ट करते हैं । छोटोंके वचन सर्प है । ये प्रत्यक्ष कहते नहीं, धीरेसे फुसकार छोड़ते हैं । हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'इनका मधुर बोलना डसना है ।' बड़ोंके वचनोंको सिंह कहा, क्योंकि इनकी डाँट-फटकार बड़ी दर्पमान ही हृदयको दहला देती है, फिर कथामें जानेका साहस नहीं पड़ सकता । जायँ तब तो वे निगल ही जायँ, दण्ड दें, इत्यादि । बैजनाथजी लिखते हैं कि सिंह हाथी छोड़ और जीवोंपर चोट नहीं करता, परन्तु उसका भय तो सभीको रहता है । उसी प्रकार गुरु, माता-पिता आदि चाहे स्पष्ट रोकें नहीं, परन्तु उनकी दुष्ट प्रकृति विचारकर उनके अन्यथा

वचनका भय सभीको रहता है। (घ) 'ब्याल' का अर्थ 'दुष्ट या पाजी हाथी' भी होता है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि स्त्रीका वचन सर्प है, पुत्रका वचन दुष्ट हाथी है जो व्याघ्रसे भी अधिक घातक है। व्याघ्रसिंह तो कभी बगल भी दे जाते हैं पर दुष्ट हस्ती तो सच्चा वैरी होता है, प्राण लेकर ही मानता है। (ङ) इन्हीं लोगोंके विषयमें कहा है—'जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥ २। १८५।'

☞ यहाँ वाचिक कठिनाइयाँ दिखायीं कि वचनोंकी मारके मारे नहीं जा सकते।

गृहकारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला॥ ८॥

अर्थ—घरके काम-काज और फँसाववाले अनेक झझट-बखेड़े ही अति कठिन ऊँचे बड़े-बड़े पर्वत हैं॥ ८॥

नोट—१ (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'कराल कुपन्थसे भारी पहाड़ अधिक (कठिन), उससे वन, वनसे नदी। इसी तरह कठिन कुसङ्गसे गृहकार्य, उससे मोह-मद-मान और इनसे कुतर्क अधिक (कठिन) है।' इसी क्रमसे यहाँ कहते हैं—(ख) वहाँ रास्तेमें बड़े-बड़े पहाड़ एकके पीछे एक उनका ताँता टूटने ही नहीं पाता, चढ़ाई कठिन, रास्ता चुकने ही नहीं आता। यहाँ घरके कार्य चुकते नहीं, एकसे छुट्टी मिली तो दूसरा माथेपर है। आज मूँडन तो कल उपवीत, फिर वर्षगाँठ, विवाह इत्यादि। पर्वत दुर्गम विशाल हैं, उनका उल्लङ्घन कठिन, वहाँ गृहासक्त दुःखरूपको गृहकार्य जंजालसे अवकाश कहाँ जो कथा पढ़े-सुने। १। ४३ (८) भी देखिये। (ग) मा० प्र० कार 'गृहकारज नाना जंजाला' का 'नाना गृहकार्यका जंजाल' और मिश्रजी 'गृहके काम जो अनेक जंजाल हैं' ऐसा अर्थ करते हैं। 'गृहकार्यके अनेक जंजाल' ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं। 'जंजाल' का अर्थ है प्रपञ्च, झंझट, बखेड़ा, उलझन, फँसाव, बन्धन। 'गृहकारज जंजाल' हीसे 'गृहासक्त दुःखरूप' उत्तरकाण्डमें कहा है। (घ)—पाँडेजी 'जंजाल' का अर्थ 'जंगम (चलता हुआ) जाल' करते हैं। अर्थात् चाहे जहाँ हो वहींसे ये जाल खींच लाते हैं। मा० पत्रिकामें 'जालसे भरा' अर्थ किया है। हरिहरप्रसादजी गृहकारजका 'शास्त्रोक्त गृहकार्य' (उपवीत, ब्याह, श्राद्ध आदि) और बैजनाथजी 'जीविकाके व्यापार' अर्थ करते हैं। और 'नाना जंजाला' का 'अनेक उपाधियाँ' 'मनकी चिन्ताएँ जो जीवोंको बन्धनमें डाले रहती हैं' अर्थ किया है। सूर्यप्रसादजी लिखते हैं कि गृहकारजका यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्रोक्त कार्य करनेसे गृहस्थको मुक्ति मिलती है, शास्त्रमर्यादा छोड़कर चलनेवाले नरकगामी होते हैं। (ङ) गृहस्थी चलानेमें अनेक बखेड़ोंका सामना करना पड़ता है। यह एक छोटे राज्यके समान है जो बखेड़े राज्य चलानेमें सामने आते हैं वैसे ही गृहस्थीमें होते हैं। (वि० त्रि०)।

२ ☞ यहाँ कायिक कठिनाइयाँ दिखायीं। गृहकार्य शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं।

बन बहु बिषम मोह मद माना। नदीं कुतर्क भयंकर नाना॥ ९॥

शब्दार्थ—विषम=कठिन, घना कि जिसमें चलना दुर्गम है।=बीहड़। मोह=अन्यथाको यथार्थ समझना, जीका उसमें अटकना, महत्त्व। मान=अभिमान, आत्मगौरव। मद=गर्व। अपने समान किसीको न समझना। विद्या, रूप, यौवन, जाति और महत्त्व—ये पाँच प्रकारके मद कहे गये हैं।

अर्थ—मोह, मद, मान ही (इस मानसके) बहुत-से बीहड़ वन हैं। और अनेक भयङ्कर कुतर्क ही अनेक भयङ्कर नदियाँ हैं॥ ९॥

नोट—१ 'बन बहु बिषम' इति। (क) अब पहाड़का वन कहते हैं। गृहकारजमें जो मोह-मद-मान हैं वही बहुत से वन हैं। सामान्य वनमें लोग चले जाते हैं। विषम वनमें नहीं जा सकते, वैसे ही सामान्य मोह-मद-मानवाले लोग तो कथामें चले भी जाते हैं, परंतु विषम मोह-मद-मानवाले नहीं जा सकते, इसलिये 'विषम' कहा। पुनः, 'विषम' पदसे सूचित किया कि वन दो प्रकारके कहे हैं। 'पुलक बाटिका बाग बन०' में जो वन कहा वह ललित है।

जो मानसरके पासका वन है और यहाँ जो वन कहा वह रास्तेका है और भयदायक है। यहाँ 'वृत्यनुप्रास अलङ्कार' है। (प० रा० कु०)। (ख) भाव यह है कि गृहकार्य आदिसे चाहे छुटकारा भी मिल जाय पर मोह-मद-मान बड़े ही कठिन हैं। 'मोह' और 'अज्ञान' पर्याय हैं। मोह, जैसे कि कथा उन्हींकी तो है जो स्त्रीके लिये विलाप करते थे, उसके सुननेसे क्या परमार्थ लाभ होगा? परिवारकी ममता आदि भी मोह है। उदाहरण चौपाई ७ नोट १ (ग) में देखिये। वक्ता कलका छोकड़ा है, वह क्या कथा कहेगा? उससे अधिक तो हम जानते हैं। वक्ता साधारण आदमी है, वह व्यासासनपर बैठेगा? मैं नीचे कैसे बैठूँगा? इत्यादि मद है। मद पाँच प्रकारका है, यथा— 'जातिविद्यामहत्त्वं च रूपयौवनमेव च। यत्नेन वै परित्याज्य पञ्चैते भक्तिकण्टका.॥' अर्थात् हम जातिके बड़े हैं, हम विद्वान् हैं, हमारा बड़ा मान है। रूप और युवा होनेका भी मद होता है। उदाहरण आगे 'कुतर्क' में देखिये। (घ) 'मीयते अनेन इति मानम्' जिससे नापा-जोखा जाय उसे मान कहते हैं। अर्थात् विषमता मान है। यह समदृष्टिका विरोधी है। (वि० त्रि०)।

त्रिपाठीजी—मोह-मद-मानको विषम वन कहा, क्योंकि इसीके अन्तर्गत कुपन्थरूपी कुसङ्ग, 'गृहकार्य नाना जजाल' रूपी शैल और कुतर्करूपिणी नदियाँ हैं। बीहड़ वन अनेक भय, विषाद और परितापके कारण होते हैं। वनकी विपत्तियोंका वर्णन अयोध्याकाण्ड दोहा ६२, ६३ मे 'कानन कठिन भयकर भारी' से 'डरपहिं धीर गहन सुधि आए' तक देखिये। इसी तरह मोह-मद-मान भी अनेक भय, विषाद और परितापके कारण हैं।

टिप्पणी—'नदी कुतर्क' इति। ग्रन्थकार पर्वतसे नदीका निकलना सदा कहा करते हैं। यथा—'भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥ रिधि सिधि संपति नदीं सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहुँ आई॥ २। १। २-३।' 'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी॥ पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥ २। ३४। १। २।' 'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥ छुद्र नदीं भरि चलीं तोराई। ४। १४। ४-५।', 'रघुपति कोपि बान झरि लाई। घायल भे निसिचर समुदाई।' स्रवहिं सयल जनु निर्झर भारी। सोनित सरि कादर भयकारी॥ ६। ८६। ८-१०।' वैसे ही यहाँ 'गृहकारज नाना जंजाला। ते अति दुर्गम सैल बिसाला॥' से 'नदी कुतर्क भयकर नाना' का निकलना कहा। वनमें पर्वतोंसे निकली हुई अनेक तीव्र भयङ्कर वेगवाली नदियाँ बहती हैं।

नोट—१ (क) कुतर्क—गृहकार्यवाले अपने गृहकार्य सुधारनेके लिये लड़कोंको भय देते हैं कि रामायण सुननेसे दरिद्रता आ जाती है, रामायण साधुओंके लिये है, गृहस्थको पढ़ना-सुनना उचित नहीं, उससे फिर गृहस्थीके कामका नहीं रह जाता; वैराग्य हो जाता है। देखो, अमुक जनने बाँचा-सुना तो उसका वंश ही नाश हो गया और अमुक मनुष्य दरिद्र हो गया। मूलरहित तर्क कुतर्क है। पुन:, वक्ता तो लोभसे कथा कहते हैं, वहाँ जानेसे किसको लाभ हुआ। शूद्रके मुखसे कथा सुनना? वक्ता अभिमानी है। वहाँ हमारा मान हो या न हो। (मा० प्र०)। कौन जाने परलोक किसीने देखा है? कथाके श्रोतामेंसे किसीको विमान आते नहीं देखा। परलोकसे किसीका पत्र नहीं आया इत्यादि 'कुतर्क' हैं। (प० शुकदेवलालजी)। (ख) कुतर्कके प्रमाण, 'मिटि गै सब कुतरक कै रचना। १। ११९। ७।', 'दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता। ७। ९३। ६।' सतीजी और गरुड़जीके संशय कुतर्क हैं। (ग) 'बैजनाथजी कुतर्कका रूपक इस प्रकार देते हैं कि वहाँ मार्गमें अनेकों नदियाँ हैं, यहाँ सत् पदार्थमें असत् विचारना इत्यादि कुतर्कणा ही अनेक प्रकारकी भयङ्कर नदियाँ हैं। पाप तर्कणा मगर-घड़ियाल हैं, बुद्धिका भ्रम विषम आवर्त और असत् वासना तीक्ष्णधार है, जिसमें उपदेशरूपी नाव नहीं चलती। (घ) कुतर्क मनका विषय है। अत 'नदी कुतर्क भयकर नाना' से मानसिक कठिनाई दिखायी। इस तरह यहाँतक तीन प्रकारकी कठिनाइयोंमेंसे एक वाचिक तो दूसरोंके द्वारा आ पड़ी और दो कायिक और मानसिक अपने ही कारण हुईं।

दो०—जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥ ३८॥

शब्दार्थ—सबल=राहका खर्च। श्रद्धा—म० श्लोक २ देखिये। अगम=कठिन।

अर्थ—जिनके पास श्रद्धारूपी राह-खर्च नहीं है, न सन्तोंका साथ है और न जिनको श्रीरघुनाथजी प्रिय हैं उनको यह मानस अत्यन्त कठिन है॥ ३८॥

मा० प०—'अति खल जे बिषई बक कागा' से दोहेतकका कथाभाग 'प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुत। क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम्॥ ३॥ निवासतोयद्रविणात्मबुद्धिस्ततस्ततो धावति भो अटव्याम्। क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः॥ ४॥ अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा। अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित्॥ ५॥ क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति परस्परं चालषते निरन्धः। आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः॥ ६॥ (भा० ५। १३)।' इत्यादिसे मिलता है। वहाँ भी उपसंहारमें भगवत्-कृपा बिना आनन्द न होना कहा है।

नोट—१ यहाँतक मानसका रूपक कहा। अब इसके अधिकारी-अनधिकारीको इसकी प्राप्तिमें जो कठिनाई वा सुगमता है, वह आगे कहते हैं। यह रूपकमें नहीं है—ऐसा किसीका मत है, पर हमारी समझमें रूपक बराबर चला जा रहा है।

२—यहाँ यह बताया है कि मानस सब प्रकार अगम है। पर तीन प्रकारसे सुगम हो जाता है—श्रद्धा हो, सन्तोंका सङ्ग करे एवं श्रीरामचरणमें प्रेम हो। भाव यह है कि यदि तीर्थमें प्रेम हो, खर्च पास हो या धनीके साथ जाना हो तो भी राहकी कठिनाइयाँ जान नहीं पड़तीं और तीर्थमें मनुष्य पहुँच सकता है। वैसे ही रामचरितमानस तक पहुँचना तभी हो सकता है जब इसके अभिमानी देवता श्रीरघुनाथजीमें प्रेम हो, कथामें श्रद्धा हो एवं सन्तोंका साथ हो। प्रेममें फिर भूख, प्यास, काँटे, कंकड़, वन कुछ भी नहीं व्यापते। गोस्वामीजी तथा बिल्वमंगल सूरदासजी स्वयं इसके उदाहरण हैं।

प० रामकुमारजी—'अति अगम' कहनेका भाव यह है कि अगम तो और सब बातोंसे है ही। अर्थात् (१) 'कुसङ्ग' से, (२) कुपंथियोंके 'वचन' से, (३) 'गृहकारज' से, (४) 'नाना जंजाल' से, (५) 'मोह, मद, मान' से और (६) 'कुतर्क' से भी मानसके निकट पहुँचना अगम है। परन्तु श्रद्धाहीन, सत्सङ्गरहित और श्रीरघुनाथजीमें स्नेहरहित मनुष्योंको तो 'अति अगम' है। तात्पर्य यह है कि ये विघ्न सबसे अधिक हैं। इसीसे उपक्रममें कहा था कि 'आवत एहिं सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई॥ ३८। ६।' और यहाँ उपसंहारमें लिखा कि 'तिन्ह कहँ मानस अगम अति…'।

पिपाटीजी—श्रद्धा, सत्सङ्ग और श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम, ये तीनों आवश्यक हैं। जबतक ऐसी श्रद्धा न होगी कि जो कुछ श्रीरामचरितमानसमें लिखा है वह अक्षर-अक्षर ठीक है, यदि मेरे समझमें नहीं आता तो मेरा अभाग्य है, तबतक उसमें श्रीरामचरितमानसके समझनेकी पात्रता नहीं आती। यदि श्रद्धा बनी रही तो एक-न-एक दिन सन्देह दूर हुए बिना नहीं रहता। अतः निश्चय श्रद्धा श्रीरामचरितमानस पथके लिये पाथेय है। सत्सङ्ग बिना विषयके पर्यवसानका पता नहीं चलता। इस ग्रन्थमें सब विषयोंका पर्यवसान भक्तिमें ही हुआ है। ग्रन्थकी बारीकीतक सत्सङ्गीकी ही पहुँच हो सकती है, नहीं तो सन्देह होगा कि वाल्मीकि, व्यास, तुलसीदासादि सभीने उर्मिलाके साथ अन्याय किया। सत्सङ्गसे ही यह भावना होती है कि वे महात्मा किसीपर अन्याय करनेवाले नहीं। लक्ष्मणजी वन गये तो सही, पर श्रीरामजीकी सेवाके लिये अपनी इच्छासे गये, उन्हें वनवास मिला नहीं था। यदि उन्हें वनवास मिला होता तो उर्मिलाजी भगवती जनकनन्दिनीकी भाँति किसीके रोके न रुकतीं। दूसरी बात यह कि कविका कहीं चुप रह जाना बहुत बोलनेसे बढ़कर काम करता है। कविने यहाँपर चुप रहकर दिखलाया कि उर्मिला भगवतीने पतिके सेवाधर्ममें बाधा पहुँचनेके भयसे इतना तक न की। उनका इतना बड़ा त्याग श्रीजनकनन्दिनीके अनुरागसे कम नहीं है। हजार लक्ष्मण-उर्मिलासंवाद लिखनेपर भी इस बूँदसे भेंट नहीं हो सकती। सत्सङ्गसे ही मनुष्य गलित अभिमान होकर ग्रन्थकारकी बारीकीको देख सकता है। अतः श्रीरामचरितमानसका पथप्रदर्शक सत्सङ्ग ही है। भगवच्चरणमें प्रेम न रहनेसे इस चरितका आनन्द ही जाता रहता है। उसे पदे-पदे भगवत्-महिमा प्रतिपादन खटकता है, भावना उठती है कि ग्रन्थकारको इस बात की बड़ी फिक्र रहती है कि कहीं कोई रामजीको आदमी न समझ ले। ठीक है इसलिये तो यह ग्रन्थ ही बना है,

इसकी फिक्र रहना क्या बेजा है? जिस चरित्रसे सतीको मोह हुआ, गरुड़को मोह हुआ, उस मोहसे श्रोताकी रक्षाके लिये ग्रन्थकारकी फिक्र अत्यन्त उपादेय है।

नोट—३ श्रद्धामें सम्बलका आरोप है, अत यह रूपक है। इस दोहेमें एकदेशविवर्ती साङ्गरूपक है, क्योंकि यहाँ श्रद्धा सम्बलका आरोप शब्दत है तथा सतोंमें यात्रियों या पर्वतीय साथियोंका और रघुवीरमें गम्यस्थानस्थित प्रिय वस्तुका आरोप आर्थिक है। इस प्रकार अगम्य होनेका हेतुप्रदर्शन होनेसे यहाँ 'काव्यलिंग अलङ्कार' भी है। अत' दोनो अलङ्कारोंकी सृष्टि है। (प० रू० ना० मि०)। वीरकविजीका मत है कि यहाँ दो अवम वाक्योंकी समता होनेसे 'प्रथम निदर्शना अलङ्कार' है।

जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नींद जुड़ाई होई॥ १॥

शब्दार्थ—जुड़ाई=जूड़ी=जाड़ा देकर ज्वर आना। ठड, शीतज्वर।

अर्थ—जो कोई मनुष्य फिर भी कष्ट उठाकर वहाँ पहुँच जाय तो उसे नींदरूपी जूड़ी जाते ही आ जाती है॥ १॥

नोट—१ (क) 'जौं' सदिग्ध पद है, उसके जानेमें सन्देह है। (ख) 'करि कष्ट' इति। अर्थात् जिन कठिनाइयोंको ऊपर कहा है उन्हे झेलकर। (ग) 'पुनि' का भाव कि प्रथम तो श्रद्धाहीन, सन्तसङ्गरहित तथा श्रीरामपदप्रेमविहीन मनुष्यका पूर्वकथित प्रतिबन्धकोके कारण जाना हो ही नहीं सकता तथापि यदि दैवयोगसे वहाँतक पहुँच भी जाय तो भी स्नान-पान न कर सकेगा, जाना व्यर्थ होगा। अथवा, 'पुनि' शब्द बिना अर्थका है। बुन्देलखण्डमे 'मै पुनि' 'तुम्ह पुनि' केवल 'मैं' और 'तुम' की जगह बोले जाते हैं। (घ) 'कोई'—ऊपर बतलाया है कि श्रद्धा, सत्सङ्ग और हरि-पद-प्रीति हो तो रामचरितमानसतक पहुँच सकता है। यहाँ कष्ट करके जाना उनका कहा है कि जो श्रद्धा-सम्बल रहित हैं और जिनकी हरिपदमें प्रीति नहीं है, जो केवल ईर्ष्यासे या किसीके सकोचसे जावें। ईर्ष्या आदिसे जाना ही कष्ट करके जाना है। 'अति खल जे बिषई बक कागा' तो पास जा ही नहीं सकते, इससे पृथक् जो और कोई जावें उन्हींसे यहाँ तात्पर्य है। (प० रा० कु०)। अश्रद्धालुओंमेंसे कोई ही यहाँ पहुँच पाते हैं, पर वहाँ जाकर वे छिपते नहीं, स्पष्ट पहचाने जाते हैं। ग्रन्थकार उनके लक्षण कहते है। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—१ (क) 'जातहिं' का भाव कि पहुँचनेके कुछ देर पीछे जूड़ी आवे तो स्नान कर ही लेता, वैसे ही कथामें पहुँचनेके कुछ देर पीछे नींद आवे तो रामचरितमानस कुछ-न-कुछ सुन ही ले, इसीसे जाते ही नींद आ जाती है कि एक अक्षर भी नहीं सुनने पाता। (ख) यहाँ जाड़ा क्या है? जड़ता ही जाड़ा है; यथा—'जड़ता जाड़ बिषम उर लागा।' (ग) 'जुड़ाई होई' इति। नींदकी उपमा जूड़ीसे देकर यह दिखलाया कि कोई यह नहीं चाहता कि मुझे जूड़ी आवे, पर जूड़ी बलपूर्वक आती है, वैसे ही श्रोतारूपसे उपस्थित वह अश्रद्धालु पुरुष यह चाह नहीं सकता कि उसे नींद आवे, पर नींद बलात्कारसे आती है। (वि० त्रि०)। (घ) 'वहाँ सरकी शीतलतासे जूड़ी, यहाँ स्थिरतारूप शीतलतासे निद्रारूपी जूड़ी' (वै०)

जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गएहुँ न मज्जन पाव अभागा॥ २॥

अर्थ—(तीक्ष्ण) जड़तारूपी कठिन जाड़ा हृदयमें लगा। (इससे वह) अभागा जानेपर भी स्नान करने न पाया॥ २॥

नोट—१ जड़ताको जाड़ा कहा। क्योंकि जूड़ी आनेमें विषम जाड़ा स्वाभाविक है, वैसे ही नींद आनेमें विषम जड़ता स्वाभाविक है। विषम जाड़ेसे मानसरोवरके अद्भुत सौन्दर्यका दर्शनतक नहीं हो सकता और विषम जड़तासे उनींदे श्रोताको रामचरितकी अद्भुत मनोहरताका अनुभव नहीं हो सकता। दोनोंसे इन्द्रियाँ और मन पराभूत हो जाते हैं। वहाँ कप होने लगता है, यहाँ श्रोता ऊँघ-ऊँघकर गिरने लगता है। (वि० त्रि०)। मूर्खतावश कथापर ध्यान न देना जाड़ा लगना है, ध्यान न देनेसे नींद आ गयी, जैसे वहाँ जूड़ी आ जानेसे स्नान न कर सका। शीतज्वरकी गणना विषमज्वरमें है। इसका जाड़ा हृदयमें समाकर उसे कॅपा देता है। अतः यहाँ 'विषम' पद दिया।

टिप्पणी—१ 'विषम उर लागा' इति। (क) विषम=कठिन, अर्थात् जो छूटने योग्य न हो, जो किसी उपायसे न छूटे। (ख) 'उर लागा' कहनेका भाव यह है कि जो ऊपरसे जाड़ा लगा होता तो आग तापनेसे दूर हो जाता, और इसके हृदयहीमें जाड़ा लगा है तो उसमें ये कोई उपाय काम नहीं देते। पुन जड़ता भी हृदयहीसे होती है, इससे दोनोंकी समता दिखलानेके लिये 'उर लागा' कहा। [रामचरितपक्षमें उनीदे श्रोताको बाँह पकड़कर हिलाना, कड़ी बातें कहना इत्यादि प्रकारसे सावधान करनेकी चेष्टाएँ आग तपाना, रूईभरे वस्त्र लिहाफ और कम्बल आदि उढाना इत्यादि हैं (ग) 'गएहुँ'=जानेपर भी। इस शब्दको देकर जनाया कि दुर्भाग्य तो इसके साथ प्रारम्भसे ही है। पहले तो पास ही न आने देता था और अन्तमें भी इसे परिश्रम और कष्ट ही हाथ लगा। पुन. भाव कि श्रद्धा और रघुपतिपदप्रेम मनके धर्म हैं। जड़ता जाड़ उरमें लगा है, अत' श्रद्धा और श्रीरामपदप्रेमसे रहित है। रह गया सन्तसङ्गसे, सन्तोंके कहने-सुननेसे अथवा और भी किसी कारणसे कथामें पहुँच भी गये तो श्रद्धा प्रेम-विहीन होनेसे बैठते ही नींद आ गयी। (घ) 'न मज्जन पाव'—कथाके सम्बन्धमें सुनकर समझना स्नान है, यथा—'सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग। १। २।']

२ 'अभागा' इति। 'अभागा' पद दो ठौर दिया है, एक तो यहाँ, दूसरे 'अति खल जे बिषई बग कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥ १। ३८।' में। इससे सूचित किया कि जो सरके निकट न गये और जो निकट गये पर स्नान न कर पाये, उन दोनोंकी एकहीमें गणना है। तात्पर्य यह है कि जो कथामें नहीं जाते, अथवा जो जाकर सो जाते हैं, दोनों अभागे हैं। अबतक नींद न थी, कथामें बैठते ही नींद आ गयी, इसीसे जाना गया कि अभागा है। [प्रयत्न करनेपर जब उसमें फल लगे तो उस फलको भोगनेमें उस समय सामर्थ्याभाव हो जाना पूरा अभाग्य है। यहाँ पूर्व जन्मका दुष्कृत ही बाधक हुआ। इस जन्ममें तो वह प्रयत्न करके फलतक पहुँच चुका था। पर अभाग्यने फलभोगसे वञ्चित कर दिया। अभाग्य प्रारम्भसे ही साथ है। अत 'अभागा' से उपक्रमकर 'अभाग' से ही उपसहार किया। भाव कि कथामें जाकर भी जो सो जाय, उसके विषयमें समझ लेना चाहिये कि श्रीरामचरित-श्रवण उसके भाग्यमें नहीं है, इससे बढ़कर अभाग्य क्या होगा? (वि० त्रि०)]

करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवै समेत अभिमाना॥ ३॥

अर्थ—सरमें स्नान-पान तो किया नहीं जाता और अभिमानसहित लौट आता है॥ ३॥

प० रामकुमारजी—'करि न जाइ'=करते बना। भाव यह है कि सरतक आना तो बिना श्रीरामकृपाके हो ही नहीं सकता, यथा—'रामकृपा बिनु आइ न जाई'। जो आ भी जाय तो मज्जनपान नहीं करते बनता। मानस-सरमें जाड़ेके कारण न नहाते ही बना, न जलपान किया, शरीरका मैल और प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रही। जलमें स्नान करनेसे बाहरका मैल छूट जाता, पीनेसे अन्त करण शुद्ध होता, प्यास बुझती। कथाका सुनना और धारण करना ही स्नान-पान है, इनसे अभिमान और आशा दूर होती है। अभिमान ही मैल है, यथा—'आस पियास मनोमलहारी। १। ४३।' कथामें स्नान-पान होता तो अभिमान रह ही न जाता। स्नान न होनेसे अभिमान बना रह गया।

त्रिपाठीजी—'मज्जन पाना' इति। मज्जनसे पुण्यके अतिरिक्त थकावट मिटती है। जल पान करनेसे मन प्रसन्न होता है। यथा—'मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भयऊ॥'

नोट—१ (क) 'मज्जन पाना' इति। मानससरकी यात्रा मज्जन-पानके लिये ही होती है। जो स्नान नहीं कर पाते, वे आचमन तो अवश्य ही कर लेते हैं। आचमनसे भी पुण्य होता है, यथा—'मज्जन पान पाप हर एका।' स्नानसे श्रम दूर होता है और सुख होता है, जल पान करनेसे मन प्रसन्न होता है, यथा—'मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाइ॥ १५८॥ गै श्रम सकल सुखी नृप भयेऊ।' 'मज्जन कीन्ह परम सुख पावा। ३। ४१।' 'मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गएऊ। सुचि जल पिअत मुदित मन भएऊ॥' इसी तरह श्रीरामचरितमानस सुननेसे पाप, त्रिताप और अज्ञान नष्ट होते हैं, यथा—'सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें॥ १। ४३।', 'मोह सादर सर मज्जन करई। महा घोर त्रयताप न जरई॥ १। ३९।',

'कहत सुनत एक हर अविवेका' वह जूड़ीमे आचमन भी नहीं कर पाता और वह निद्रासे ऐसा जड़ीभूत हो जाता है कि कुछ सुन नहीं पाता, यदि कानमे दो-चार शब्द पड़ भी जायँ तो उसे एक अक्षर समझमें नहीं आता (वि० त्रि०)।

(ख) 'समेत अभिमाना' से जनाया कि उसे पश्चात्ताप नहीं होता कि मेरा भाग्य ऐसा खोटा है कि मै यात्राके फलसे वञ्चित रहा, इसी तरह उनीदे श्रोताको अपनी निद्रा और जडतापर पश्चात्ताप नहीं होता (वि० त्रि०)। पुन, भाव कि ससारमे कहनेको हो गया कि मानससरोवर हो आये, ऐसे ही कथा सुनी न सुनी, कहनेको तो हो गया कि कथामें हो आये। (सू० प्र० मिश्र)।

जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सर निंदा करि ताहि बुझावा॥ ४॥

अर्थ—फिर जो कोई पूछने आया तो सरकी निन्दा करके उसे समझा बुझा दिया॥ ४॥

नोट—१ लोकरीति है कि जब कोई किसी तीर्थसे लौटता है तब उसके भाई-बन्धु, मित्र आदि उससे मिलने आते हैं और तीर्थका हाल पूछते हैं। वैसे ही यहाँ पूछने आये। २ बहोरि=बहार=पुन, फिर दूसरी बार (लौटनेपर)। ३ ☞गोस्वामीजीने 'बुझावा' पद यहाँ कैसा अभिप्रायगर्भित दिया है! भाव यह है कि जैसे अग्निपर जल डालनेसे अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही जो इनसे किसीने आकर पूछा कि वहाँका हाल कहो तो इन्होंने उससे कह दिया कि वहाँ क्या जाड़ो मरना है, पुरइन बहुत है, जल जैसे वहाँका वैसे यहाँका, इत्यादि। इसी तरह इस मानसमें जानेसे क्या! वहाँ यही चौपाई दोहा तो हैं सो हम घरहीमें बाँच लेते हैं, इत्यादि रीतिसे कथाकी निन्दा कर दी, जिससे श्रद्धारूपी अग्नि जो उसके हृदयमे उठी थी, उसको भी ठण्डी कर दी। निन्दा करना ही जल डालना है। [३९ (३—४) में अनद्गुण अलकारकी ध्वनि है। (वीर)]

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥ ५॥

अर्थ—ये कोई भी विघ्न उसको बाधक नहीं होते जिसे श्रीरामचन्द्रजी अतिशय कृपादृष्टिसे देखते हैं॥ ५॥

नोट—१ (क) ३९ (३) तक यह बताया कि बिना रामकृपाके कैसा हाल होता है और अब कहते हैं कि जिनपर रामकृपा है उनका क्या हाल है। जितने विघ्न ऊपर कह आये इनमेंसे कोई भी इसको नहीं होते। अर्थात् हृदयसे हार मानना, बड़ी-बड़ी विभीषिकाएँ, दुर्लङ्घ्य पर्वत, घोर वन, भयकर नदियाँ, सबलका अभाव, सतसगका अभाव और जूड़ी ये श्रीरामकृपाश्रितको नहीं होते। (ख) 'ब्यापहिं नहिं' का भाव कि ये विघ्न औरोंको व्यापते हैं। विघ्न तो बने ही हैं, पर श्रीरामकृपाश्रितको वह व्यापते नहीं। (ग) कथाके सम्बन्धके विघ्न ये हैं—सुननेको जी नहीं चाहना, जाना चाहें तो कठिन कुसङ्गियोंके कटु वाक्य नहीं जाने देते, गृहकार्य नाना जजाल, मोह-मद-मान, कुतर्क, अश्रद्धा, सत्सङ्गका अभाव, निद्रा ये श्रीरामकृपाश्रितके ऊपर अपना प्रभाव जमा नहीं पाते, उपस्थित तो उनके सामने भी होते हैं।

२ 'राम सुकृपा बिलोकहिं' इति। 'सुकृपा' का भाव यह है कि (क) जब कोई पदार्थ देना होना है तो कृपावलोकन होती ही है, परतु रामचरितमानससरमें स्नान तभी मिलता है जब सुकृपा करके देखते हैं। साधारण कृपासे इस सरमें जाना नहीं हो सकता, यथा—'अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाँउ देइ यहि मारग सोई॥ ७। १२९।' (प० रामकुमारजी)। (ख) श्रीरामजीकी साधारण एक-सी कृपा तो जीवमात्रपर है, यथा—'सब पर मोहि बराबरि दाया। ७। ८७।', 'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसधान कृपा सा पारमेश्वरी॥' (भ० गु० द०)। पर उस कृपासे काम नहीं चलता। (ग) अहैतुकी कृपाकटाक्ष, यथा—'पङ्गु लङ्घयते गिरिम्'। जिनपर ऐसी कृपा होती है वे ही समस्त विघ्नों और विघ्नकारकोंके सिरपर पाँव धरकर निःशक चले जाते हैं। (शुकदेवलालजी)। (घ) श्रीरामजीकी कृपादृष्टि ही सर्वविघ्नविनाशिनी है, यथा—'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥ १। २८। ३।' 'अतिशय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥ बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी।' 'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥ ४। २१। २-६।' (अर्थात् मोह, मद, मान आदिका छूटना कृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं। अतः मनुष्यको चाहिये कि प्रभुकी कृपाकी चाह करता रहे), 'जापर

नाथ करहु तुम्ह दाया ॥ ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर । सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर ॥ सोइ बिजई बिनई गुन सागर । तासु सुजसु त्रैलोक उजागर ॥ प्रभु की कृपा भयउ सब काजू । ५ । ३० ।' (सुरसा, सिंहिका, लंकिनी इत्यादि सभी विघ्नोंका नाश हुआ । अग्नि भी शीतल हो गयी), 'देखी राम सकल कपि सेना । चितइ कृपा करि राजिव नैना ॥ राम कृपा बल पाइ कपिंदा । भए पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥ ५ । ३५ ।', 'राम कृपा करि चितवा सबही । भए बिगतश्रम बानर तबही ॥ ६ । ४७ ॥' 'अब मोहि भा भरोस हनुमंता । बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ॥ ५ । ७ ।', 'राम कृपा करि जुगल निहारे । भए बिगत श्रम परम सुखारे ॥ ६ । ४५ ।', 'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके । भए प्रबल रन रहहिं न रोके ॥ कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किए सुरबृंद । ६ । १०२ ।'

सोइ सादर सर* मज्जनु करई । महा घोर त्रयताप न जरई ॥ ६ ॥

अर्थ—वही इस सरमें आदरपूर्वक स्नान करता है, महाघोर त्रितापसे नहीं जलता ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सोइ' अर्थात् जिसपर श्रीरामजी अतिशय कृपादृष्टिसे देखते हैं । 'सोइ' कहकर अन्यका व्यावर्तन किया । (ख) 'सादर' अर्थात् श्रद्धापूर्वक मन, बुद्धि, चित्त लगाकर । बिना श्रद्धाके धर्म निष्फल जाते हैं, इसी तरह कथामें बैठनेपर मनमें और बातें सोचता रहा तो भी फल नहीं होता । ऐसे लोगोंपर समझना चाहिये कि श्रीराम-जीकी सुकृपा-दृष्टि नहीं हुई । (ग) सरमें स्नान करनेका विधान है, उसका जल गरम करके स्नान करनेका नहीं । वैसे ही कथामें जाकर वक्ताकी कही हुई बातोंके सुननेका विधान है । उसका कोई अंश लेकर मनमें तर्क-वितर्क उठा देनेसे कथाका सम्यक् श्रवण नहीं होता, अतः वह कथाके फलसे वञ्चित रह जाता है । यथा—'बारंबार सरोष मुनि कहै निरूपन ग्यान । मैं अपने मन बैठि तब करउँ बिबिध अनुमान ॥ ७ । १११ ।' 'मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ ।' (वि० त्रि०) । (घ)—'त्रयताप'=तीनों ताप, अर्थात् दैहिक, दैविक, भौतिक । यथा—'दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहिं काहुहि ब्यापा ॥ उ० २१ ।' शरीरमें फोड़ा-फुन्सी-ज्वरादि रोगोंसे पीड़ा होना दैहिक ताप है । साँप, बिच्छू इत्यादिसे दुःख भौतिक ताप है और ग्रहका अरिष्ट, अतिवृष्टि, अनावृष्टि इत्यादिसे दुःख होना दैविक है । (ङ) 'न जरई' । यथा—'श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये । ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥ उ० १३० के पश्चात् ।

नोट—१ (क) यहाँ सूचित किया कि ताप तब दूर होगा जब सादर मज्जन करेगा, यथा—'सादर मज्जन पान किए तें । मिटहिं पाप परिताप हिए तें ॥ १ । ४३ ।' रामराज्यमें तीनों तापोंसे लोगोंकी रक्षा थी । (ख) मानस-सरोवरका स्नान रामराज्य-सा सुखकर है, इसी भाँति श्रीरामचरितमानसश्रवण भी रामराज्यमें प्रवेश है । इसके आधिभौतिक अर्थसे भौतिक ताप, आधिदैविक अर्थसे दैविक और आध्यात्मिक अर्थसे आध्यात्मिक ताप दूर होते हैं । इसीसे महात्मा लोग श्रीरामकथा श्रवणसे अघाते नहीं—'भरहिं निरंतर होहिं न पूरे ।' (वि० त्रि०) । (ग) [मज्जनसे ताप दूर होना है, कथाश्रवणसे त्रिताप (मा० पी० प्र० सं०)] ।

ते नर यह सर तजहिं न काऊ । जिन्ह के रामचरन भल भाऊ† ॥ ७ ॥
जो नहाइ‡ चह एहिं सर भाई । सो सतसंग करौ मन लाई ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—काऊ=कभी भी । भाऊ=प्रीति । भल=भलीभाँति, पूर्ण । लाई=लगाकर ।

अर्थ—जिनका श्रीरामचरणमें पक्का प्रेम है वे इस सरको कभी भी नहीं छोड़ते ॥ ७ ॥ हे भाई ! जो इस सरमें स्नान करना चाहे वह मन लगाकर सत्सङ्ग करे ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'जे श्रद्धा संबल रहित नहि संतन्ह कर साथ । तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ ॥' इस दोहेमें श्रद्धा-सत्सङ्ग रामपदप्रेम-रहित जनोंको रामचरितमानस अगम दिखाया । फिर यहाँतक तीन

* मज्जन सर—१७२१, १७६०, छ० । सरमज्जन—१६६१, १७०४, को० रा० ।

† चाऊ—१७२१, १७६२, छ० । भाऊ—१६६१, १७०४, को० रा० । ‡ नहाइ—१६६१ ।

चौपाइयोंमें इन्हीं तीनोंके होनेसे सुगमता दिखाते हैं। (क) जब श्रीरामजीकी कृपादृष्टि होती है तब श्रद्धा उत्पन्न होती है। 'सोइ सादर सर मज्जन करई' से श्रद्धाको सूचित किया। आदरसे मज्जन करना श्रद्धा है। (ख) 'जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई॥' मे सत्सङ्गसे सुगमता जनायी। (ग) 'ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह के रामचरन भल भाऊ॥' से रामपदप्रेमसे भी सुलभ होना दिखाया।

नोट—१ 'जे श्रद्धा सबल रहित'। ३८।', से यहाँके 'सो सतसंग करौ मन लाई।' तक अन्वय-व्यतिरेकसे श्रद्धा, भगवत्प्रेम और सत्सङ्ग—ये तीन मानसकी प्राप्तिके हेतु हैं, यह बताया। 'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम् अन्वयः, यदभावे यदभावो व्यतिरेकः।' अर्थात् एकके रहनेसे दूसरेका अवश्य होना 'अन्वय' कहलाता है और एकके न रहनेसे दूसरेका न रहना 'व्यतिरेक' है। दोहेमें व्यतिरेकसे बताया कि श्रद्धा आदि जिनमें नहीं है उनको मानस अगम्य है और चौपाइयोंमे अन्वयसे बताया कि जिनमें श्रीरामचरणप्रेम, सत्सङ्ग और ('मन लाई' अर्थात्) श्रद्धा है उनको मानस प्राप्त है। दूसरे, इसमे यह भी बताया कि श्रीरामपदप्रेम और श्रद्धा मनुष्यके वशकी बात नहीं है, अतः उनके लिये वह साधन बताते हैं जो वे कर सकते है अर्थात् सत्सङ्ग। (प० रू० ना० मिश्र०)।

टिप्पणी—२ 'तजहिं न' से सूचित किया कि सदा इस सरपर ही रहते हैं, उसको कभी नहीं छोड़ते, लौटना तो कोसों दूर। जिनपर कृपा नहीं है उनका कथासे लौटना कहा था, यथा—'फिरि आवइ समेत अभिमाना'। लौटकर वे दूसरोंकी श्रद्धा मिटा देते हैं तो स्वयं मानसके निकट फिर कैसे जा सकते? और जिनपर कृपा है वे कभी नहीं छोड़ते। यथा—'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपतिचरित होइ तहँ सुनहीं॥' (श्रीसनकादिकजी।) 'फिरि आवइ' की जोड़मे यहाँ 'तजहिं न काऊ' कहा।

३ 'जो नहाइ चह०।' (क) श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीरामचरितमानसमें स्नान करनेका प्रधान साधन यहाँ कहते हैं। अर्थात् सत्सङ्ग करो। ऐसा ही उत्तरकाण्डमें भी कहा है, यथा—'बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥ ७। ६१।' [यहाँ प्रथम और चतुर्थ निदर्शना अलङ्कारका सम्मेलन है। (वीरकवि)] (ख) 'भाई'—सजातियोंसे 'भाई' सम्बोधन किया जाता है। गोस्वामीजीने मानसमें स्नान किया है, यथा—'भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही। १। ३९।' इसीसे अन्य स्नान करनेवालोंको 'भाई' कहते है। (खर्रा)। और साधारण बोली तो है ही। (ग) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'भाई' कहकर श्रीग्रन्थकर्त्ता मनुष्यमात्रको सम्बोधन करते हैं, पुकारकर कहते हैं कि 'एहिं सर' जिसकी उपमा मानसरोवरसे दी गयी है, बड़ा उत्तम है। इसका जल मधुर मनोहर मङ्गलकारी है। कमल फूले हैं, भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं, इत्यादि ऐसे सरमें स्नान करनेकी इच्छा न होना ही आश्चर्य है। (वि० त्रि०)। 'भाई' के और भाव पूर्व आ चुके हैं। (१। ८। १३ देखिये)। 'जो नहाइ चह' का भाव कि जिनकी इच्छा ही नहीं है, उनसे हम नहीं कहते। जिनको इच्छा हो, उनसे कहते है कि यद्यपि कथामें जाना और सादर श्रवण करना श्रीरामकृपासाध्य है, पर वह श्रीरामकृपा मनुष्य चाहे तो प्राप्त कर सकता है। उसका साधन हम बताये देते हैं कि संत सर्वत्र मिलते हैं, उनका सङ्ग करो।

नोट—२ गोस्वामीजी मन लगाकर सत्सङ्ग करनेको कहते है जिसका भाव यह है कि बिना सत्सङ्गके भ्रम-संशय दूर नहीं होते। यही बात शिवजीने गरुड़जीसे कही है, यथा—'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥ ७। ६१। ४।' मानसतत्त्वविवरणकार 'सत्सङ्ग करौ' का एक भाव यह भी देते हैं कि 'इसके सत् तत्त्वका सङ्ग करे अर्थात् सत्-मतकी जिज्ञासा रक्खे हुए इसके वचनोंमे चित्त दे। मन लगानेका भाव कि पास बैठकर उनकी बातें सुने और समझे तो उसमे मौलिक परिवर्तन हो सकता है। अनिच्छुक काक, बक भी कोकिल हंस हो जाते हैं। मन न लगानेवालोंका स्वभाव नहीं छूटता।

मानस-सर और रामचरित-मानसका मिलान

मानस-सर

१—चतुरसे मेघ सूर्यद्वारा मीठा जल खींचकर पृथ्वीपर बरसते हैं जो सिमिटकर थलमें जमा होता है।

२—वर्षाजलसे धान होता है जिससे जीवोंकी रक्षा होती है—'सो जल सुकृत सालि हित होई।'

३—वर्षाजल पृथ्वीपर पड़नेसे पूर्व मधुर, मनोहर और सुखकारी होता है।—'बरषहि रामसुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥'

४—वर्षाजल भूमिके योगसे गँदला हो जाता है, शरद् ऋतुमें थिर होकर पुराना होता है तब उसमें फिर पूर्व गुण आ जाते हैं।—'भरेउ सुमानस सुथल थिराना।'

५—यहाँ चार घाट। गऊघाट, पचायतीघाट, राजघाट और पनघट।—'ते एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि।'

६—यहाँ सीढ़ियाँ घाटोंमें।

७—इसमें जल अथाह है।—'सोइ बरनब बर बारि अगाधा।'

८—जल सुधा सम।

९—लहरोंका विलास।

१०—पुरइन घनी ऊपर फैली है।—'पुरइन '

११—पुरइनके नीचे जलमें सीपियाँ हैं जिनसे उत्तम मणि उत्पन्न होते हैं।

१२—यहाँ चार रंगके अनेक कमल—'सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा।'

१३—कमलमें पराग, मकरंद, सुगंध—'सोइ पराग मकरंद सुबासा।'

रामचरित-मानस

वेद-पुराणसे साधु अपने विवेकद्वारा रामसुयश लेकर सुन्दर बुद्धिवाणीसे कहते हैं जिसे सुनकर वे हृदयमें धारण करते हैं।

रामसुयशसे सुकृत बढ़ते हैं, जिससे भक्तोंका जीवन है।—'राम भगत जन जीवन सोई।'

रामसुयशमें प्रेमलक्षणा भक्ति मधुरता और सुशीतलता अर्थात् मङ्गलकारी गुण है और सगुण लीलाका वर्णन करना मनोहरता (स्वच्छता) है। 'लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥ प्रेमभगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥'

मायिक उपमाओं, दृष्टान्तों इत्यादिका मिलना गँदलापन है। मनन-निदिध्यासन ही थीत पाकर थिराना होना है। वा, शरद्में पुराना होकर शीतल रुचिकर और सुखद होना है—'सुखद सीत रुचि चारु चिराना।'

यहाँ चार संवाद तुलसी-संत संवाद, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद, शिव-पार्वती-संवाद, काकभुशुण्डिगरुड़-संवाद।—'सुठि सुंदर संवाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि' [चार्ट (नक्शा) दोहा ३६ में देखिये]

सात सोपान वा काण्ड—'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना।'

यहाँ श्रीरघुनाथजीकी अगुण और बाधारहित महिमा अगाध है। 'रघुपति महिमा अगुन अबाधा।'

श्रीसीतारामजीका मिश्रित यश पुष्ट और आह्लादकारी।—'रामसीय जस सलिल सुधा सम'

उपमाएँ—'उपमा बीचि बिलास मनोरम।'

यहाँ चौपाइयाँ हैं जिनके अभ्यन्तर श्रीरामसुयशजल छिपा है।—'सघन चारु चौपाई'

यहाँ रामचरित-मानसमें चौपाइयोंके अभ्यन्तर काव्यकी युक्तियाँ हैं जिनमें बड़े मोलकी चमत्कारियाँ हैं।—देखिये ३७ (४)]—'जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई'

यहाँ सुन्दर छन्द, सोरठे, दोहे—'छंद सोरठा सुंदर दोहा।'

यहाँ छन्दादिमें अनुपम अर्थ, अनेक भाव और सुन्दर सब देशोंकी भाषा 'अरथ अनूप सुभाव सुभासा'।

मानस-सर	रामचरित-मानस
१४-यहाँ सुन्दर भ्रमर और हंस।	यहाँ सुकृती और सुकृत-समूह और ज्ञान-विराग-विचार।
१५-मानस-सरके जलके आश्रित तीन प्रकारके जलचर हैं—एकको तल्लीन सज्ञा है जो जलके बाहर जीते जी जा ही नहीं सकते, दूसरे तद्गत है जैसे मगर, घड़ियाल, कछुए आदि जो जलसे बाहर भी कुछ देर रह जाते है और तीसरे तदाश्रय जलपक्षी हैं।	यहाँ—'धुनि अवरेब कबित गुन जाती' ही 'मीन मनोहर' बहु भाँतिकी हैं, 'अर्थ धर्म कामादिक चारी। कहब ज्ञान विज्ञान बिचारी ॥ नवरस जप तप जोग बिरागा' ये तद्गत जलचर हैं, और 'सुकृती साधु नाम गुनगाना' तदाश्रय है। [देखिये ३७ (८-११)]।
१६-सरके बाहर चारों ओर आमके बाग।	रामचरितमानसके चारों ओर सतसभा।
१७-वसन्त ऋतु।	श्रद्धा।
१८-बागमें आमके और-और भी जामुन, कटहल इत्यादि वृक्ष हैं जिनपर बेलें छायी हैं।	सतसभामें भक्तिका अनेक प्रकारसे निरूपण होता है, जिससे आश्रित क्षमा-दया रहते हैं।
१९-वृक्षोंमें फूल, फल, रस।	यहाँ भक्तिमें शम, यम, नियम फूल है। इनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह फल है, हरिपदमें प्रेम होना रस है।
२०-वृक्षोंकी छायामें, या फूल, फल, रसका आनन्द लेने पक्षी आते है।	यहाँ रामचरितमानसमें सन्तसभामें अनेक कथाएँ और कथाओंके प्रसङ्ग आते है।
२१-अमराईके बाद चारों ओर क्रमसे फुलवारी, बाग और बन है जिनमें पक्षियोंका विहार होता है। माली घड़ेमें जल लेकर सींचता है।	सतसभामें रोमाञ्च है। (देखिये ३७)। रोमाञ्चसे सुख प्राप्त होना पक्षियोंका विहार है, सुन्दर मन माली है, स्नेह जल है, नेत्र घट हैं। पुलक कायम रखनेको निर्मल मन चाहिये, प्रेम चाहिये सो यहाँ दिखाये हैं।
२२-सरमें पहरा चतुर रक्षकोंका।	यहाँ रामचरितमानसको सँभालकर गाना।
२३-इसके अधिकारी देवता हैं।	इसके अधिकारी सभी स्त्री-पुरुष हैं जो इसे सादर सुनते हैं।
२४-यहाँ घोंघा, मेढक, सिवार नहीं होते, इसीसे कौए-बगुले नहीं जाते।	विषयकी रसीली कथाएँ इसमें नहीं हैं, इससे अत्यन्त खल और विषयी लोग कथाके पास नहीं फटकते।

सरमें पहुँचनेके लिये मार्गमें अनेक कठिनाइयाँ और विपत्ति हैं। अब उनको बताते हैं।—३८ (७-१४)

२५-(१) कँकरीले, पथरीले, काँटेदार कठिन भयङ्कर मार्गमें बाघ, सिंह, सर्प।	(१) दुष्टोंका सङ्ग, कुसङ्ग और उनमें कुसङ्गियोंके टेढे वचन।
(२) बड़े ऊँचे पर्वत।	(२) गृह-कार्य और अनेक झगडे।
(३) घोर गहन वन और नदियाँ।	(३) मोह, मद, मान और अनेक दुष्ट तर्क।
२६-जिनके पास राहखर्च नहीं, जिनका मानस-तीर्थमें प्रेम नहीं और जिनको यात्री-सन्तोंका साथ नहीं प्राप्त है और न मानस-तीर्थ-स्नान-जन्य पुण्यमें प्रीति है, उनको यह अत्यन्त कठिन है।	यहाँ जिनको श्रद्धा नहीं, श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें जिनका प्रेम नहीं और न सत्सङ्ग ही जिनको नसीब हुआ उनको यह कथा अत्यन्त कठिन है।
२७-जो कठिनता झेलकर पहुँच भी जायँ तो वहाँ जाड़ा देकर ज्वर आ जाता है। हृदयतक जाड़ेसे काँप उठता है, इससे वह स्नान नहीं कर पाता।	यहाँ जाते ही नींद आ जाती है, क्योंकि इसके हृदयमें तो मूर्खता भरी है, इससे वह रामयश सुनता समझता ही नहीं। नींद तुरत आनेसे कथा कुछ भी न सुन सका।

२८—तीर्थ-स्नान न होनेसे भीतर-बाहरका मैल बना ही रहा। लौटनेपर जो कोई तीर्थका हाल पूछने आया तो तीर्थकी निन्दा करता है।

कथा सुनता तो अभिमान दूर होता। न सुना इससे अभिमान बना रहा।

यहाँ कथा और वक्ताकी निन्दा करके पूछनेवालेकी श्रद्धाको बुझा देता है।

इसमें कौन स्नान करते हैं अब उनका वर्णन करते हैं। ३९ (५-८)

२९— 'सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥'
'सोइ सादर सर मज्जनु करई। महा घोर त्रयताप न जरई॥'

३०— 'ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह कें रामचरन भल भाऊ॥'

३१— 'जो नहाइ चह एहिं सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई॥'

अर्थात् श्रद्धा, श्रीरामपद-प्रेम या सत्सङ्ग जिनमें हो।

'मानस-सर' का 'पंपा-सर' से मिलान

मानस-सर	पंपा-सर
रामचरितमानस एहि नामा	१ पंपा नाम सुभग गंभीरा
भरेउ सुमानस सुथल थिराना	२ संत हृदय जस निर्मल बारी
ते एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि	३ बाँधे घाट मनोहर चारी
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥	४ अति अगाध जल माहिं
पुरइनि सघन चारु चौपाई	५ पुरइनि सघन ओट जल
ग्यान नयन निरखत मन माना	६ देखि राम अति रुचिर तलावा।' परमसुख पावा
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥	७ बिकसे सरसिज नाना रंगा
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला।	८ मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा
ग्यान बिराग बिचार मराला॥	९ बोलत जल कुक्कुट कलहंसा
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥	१० सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माँहि
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहँग समाना॥	११ सुंदर खगगन गिरा सोहाई। जात पथिक ' ॥
सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥	१२ ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये—
संतसभा चहुँ दिसि अँवराई।	१३ चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस परास रसाला॥
सम जम नियम फूल फल ग्याना॥	१४ नव पल्लव कुसुमित तरु नाना फल भारन
औरउ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा॥	१५ कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव०
पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग	१६ चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए।
कलि खल सब अवगुन कथन ते जल मल बक काग	१७ चक्रबाक बक खग समुदाई। देखत बनै०

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबिबुद्धि बिमल अवगाही॥ ९॥

शब्दार्थ—कवि-बुद्धि=वह बुद्धि जो उस (रामयश) को प्रबन्धरूपमें लानेको उद्यत है। (मा० त० वि०) चाही=देखकर, यथा—'सीय चकित चित रामहि चाहा'। मानस-चख=हृदयके नेत्र=ज्ञानदृष्टि।

अर्थ—ऐसे मानसको हृदयके नेत्रोंसे देखकर कविकी बुद्धि उसमें गोता लगाकर निर्मल हो गयी*॥ ९॥

---

* अर्थान्तर—१ 'देखनेसे बुद्धि कवि हो गयी (अर्थात् कविता करने योग्य हुई, जो रूप देखा है, उसकी वक्ता हो गयी) और उसमें गोता लगानेसे बुद्धि निर्मल हुई।' (पा०, रा० प्र०)।

नोट—१ (क) "अस मानस" इति। यहाँ मानसका स्वरूप सम्पुट किया। 'जस मानस जेहि बिधि भयउ' उपक्रम है और 'अस मानस' उपसंहार है। अस मानस=ऐसा मानस अर्थात् जैसा ऊपर 'जस मानस जेहि बिधि भयउ ०॥ ३५॥' से ३९ (८), 'या जे श्रद्धा संबल रहित ०' ३८ तक [मा० प्र० के मतानुसार 'सुठि सुंदर संबाद ॥ ३६॥' से 'जे गावहिं यह चरित सँभारे। ३८। १।' तक] कह आये। यहाँ मानस शब्द दो बार भिन्न-भिन्न अर्थोंमें आया है। यहाँ यमक और अनुप्रास दोनोंकी सृष्टि है। (ख) जो बुद्धि पहले 'अति नीचि' होनेसे कदराती थी वह रामगुणगणसे 'हुलसी' और सुमति हुई। फिर जब उसने मानसको देखा और उसमें गोता लगाया तब वह निर्मल हो गयी। (मा० प्र०)। (ग) श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि जो बुद्धि अब गोता लगाकर निर्मल हुई है वह [illegible] बुद्धि है जो [illegible] मेधा नाम महिका निरूपण किया, वह बुद्धितत्त्व पदार्थका धारण करनेवाली है। पुनः सुमति [illegible] भूमिका निरूपण किया जो रामतत्त्वका निर्णय निरूपण करनेवाली है। अब वही बुद्धि गोता मारकर निर्मल हो गयी, वही अब रामगुणगानमें प्रवृत्त हुई है।

त्रिपाठीजी—मनमें ही यह मानसतीर्थ साधुजनोंकी वर्णन [illegible] है। जिस भाँति मानसरोवरके दृश्योंकी पर्यालोचना स्थूलनेत्रोंसे की जाती है, उसी भाँति इस रामचरितमानसकी पर्यालोचना कविने मानसचक्षुसे की। भावार्थ यह कि पहले भलीभाँति गुरुमुख तथा साधुओंसे श्रवण किया, तब उसका आलोचन मनन किया। मनन करनेसे ही यह सर मनोहर सुन्दर तथा उपयोगी हो गया। [illegible] उपयुक्त करनेके लिये प्रवचन भी किया। तत्पश्चात् कविकी बुद्धिने उस सरमें स्नान भी किया। भाव कि श्रवण-मननके बाद निदिध्यासन भी किया। मनन करते ही बुद्धि समाहित हो गयी। समाधिस्थ ही तत्त्वदर्शनकी अधिकारिणी होती है। इस अवस्थाको यहाँ 'अवगाहि' कहकर अभिहित किया है। मनकी धारणासे ही ध्यान और समाधि होती है। जबतक समाहितावस्था न आयी तबतक बुद्धिमें रज और तमका अनुवेध बना ही रहा। सात्त्विकी बुद्धि भी पूर्ण निर्मल समाधिसे ही होती है। कथाके प्रारम्भमें वक्ताके समाहित होनेका विधान है, यथा—'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥' जब समाधिमें बुद्धि निर्मल हो जाती है तो देशकालका आवरण दूर हो जाता है और प्राचीनसे प्राचीन चरितका प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव होता है।

टिप्पणी—दोहा ३८ में 'जे गावहिं यह चरित सँभारे' से 'रामकृपा बिनु ...' तक 'यह' 'एहि' 'इहाँ' 'आवा' इत्यादि पद दिये। दोहा ३९ में 'जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई' से 'जौं बहोरि कोउ पूछन आवा' तक 'जाइ' 'जाहि' 'गएहुँ' इत्यादि पद दिये और फिर 'ते नर यह सर तजहिं न काऊ' में 'यह' 'अस' पद दिये हैं। इसका क्या भाव है? उत्तर यह है कि—(क) दोहा ३८ (१–६) में तड़ाग और तड़ागके समीपका वर्णन किया है, इसीसे वहाँ समीपवाची शब्द 'यह' 'एहि' इत्यादि दिये। दोहा ३९ (१–४) में तड़ागसे दूरका वर्णन किया, इससे यहाँ दूरवाची पद 'जाइ' 'गयेहूँ' इत्यादि दिये। अब फिर समीपवाची पद देते हैं। इसके तीन हेतु हैं—[illegible], ज्ञाननयन और सत्सङ्ग। इन तीनोंके होनेसे रामचरित समीप हो जाता है, यथा—'ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह के रामचरन भल भाऊ॥', 'जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सतसंग करउ मन लाई॥', 'अस मानस मानस चष चाही'। अथवा, (ख) दूरका वर्णन करके कविकी बुद्धि पुनः सरके समीप गयी, इससे पुनः समीपवाची शब्द दिये। (ग) [यह मानस श्रीगोस्वामीजीके हृदयमें है, अतः यात्रियोंके लिये 'आवत' शब्दका प्रयोग करते हैं, 'जात' नहीं कहते। (वि० त्रि०)]

२—सुधाकर द्विवेदीजी 'चष' का अर्थ 'प्याला' करते हैं। वे लिखते हैं कि 'संस्कृतमें चष या चषक प्यालेको कहते हैं जिसमें किसी रसको रखकर पीते हैं। हृदयरूप पात्रहीमें रखनेसे इस मानसका [illegible] अमृतरस नहीं बिगड़ता, दूसरे पात्रमें रखनेसे बिगड़ जाता है। ऐसे पात्रमें रखकर रस पीनेसे और रससे अवगाहन अर्थात् स्नान करनेसे कविकी बुद्धि विमल हुई।

नोट—२ इस चौपाईसे कवितासरयूका रूपक चला है। रूपकके लिये श्रीसरयूजीके जन्मकी कथा जान लेना आवश्यक है जो इस प्रकार है—

(१) आनन्दरामायणके 'यात्राकाण्ड' सर्ग ४ में श्रीसरयूअवतारकी कथा इस प्रकार है कि रघुनाथजी मुद्गलऋषिके पुराने आश्रमपर पहुँचे तब मालूम हुआ कि वे इस आश्रमको छोड़कर दूसरे स्थानपर रहते हैं। मुद्गलजीके दर्शन होनेपर श्रीरामजीने इस आश्रमके त्यागका कारण विस्तारसे पूछा—'त्वयायमाश्रमस्त्यक्तः किमर्थं मुनिसत्तम। तत्त्वं वद महाभाग यथावच्च सविस्तरम्॥ ६४॥' उसके उत्तरमें कारण वे बताते हैं कि—'सान्निध्यं नात्र गङ्गाया सरय्वा अपि नात्र वै। इति मत्वा मया त्यक्त आश्रमोऽयं महत्तम॥ ६८॥ अत्र सिद्धिं गता पूर्वं शतशोऽथ सहस्रशः। मुनीश्वरा मयाप्यत्र तपस्तप्तं दिवानिशम्॥ ६९॥' अर्थात् गङ्गा सरयूका सङ्ग प्राप्त करनेके लिये इस आश्रमको छोड़कर दूसरी जगह चला गया जहाँ दोनों प्राप्त हैं। फिर रघुनाथजीने पूछा कि यदि दोनों यहाँ प्राप्त हो जायँ तो इस आश्रममें आप निवास करेंगे? उनके इस बातके अङ्गीकार करनेपर रघुनाथजीने और भी प्रश्न किये और यह भी पूछा कि सरयूजी क्यों श्रेष्ठ हैं और क्यों धरातलपर प्राप्त हुईं? 'किमर्थं सरयूः श्रेष्ठा कुतः प्राप्ता धरातलम्॥ ७४॥' ऋषिका उत्तर इस प्रकार है कि शङ्खासुर वेदोंको चुरा ले गया और आपने मत्स्यरूप धरकर उसे मारकर वेदोंको ला दिया और फिर अपना पूर्वरूप हर्षपूर्वक धारण किया उस समय हर्षके कारण आपके नेत्रमें अश्रुबूँद निकल पड़ा—'तदा हर्षेण नेत्रात्ते पतिताश्चाश्रुबिन्दव। हिमालये ततो जाता नदी पुण्या शुभोदका॥ ७९॥ साक्षान्नारायणस्यैव आनन्दाश्रुसमुद्भवा। शनैर्बिन्दुसरः प्राप तस्माच्च मानसं ययौ॥ ८०॥ पुनस्त्रिकालान्तरे राम पूर्वजस्ते महत्तम। वैवस्वतो मनुर्यष्टुमुद्युक्तो गुरुमब्रवीत्॥ ८१॥ अनादिसिद्धायोध्येयं निमेषेणापि वै मया। रचिता निजधामाऽत्र यज्ञं करोम्यहम्॥ ८२॥' उन अश्रुओंसे हिमालयमें एक प्रेमनदी उत्पन्न हुई और मानससरोवरमें वे प्रेमबिन्दु प्राप्त हुए। उसी समय वैवस्वत मनुजीने एक यज्ञ करना चाहा और गुरुसे आज्ञा माँगी। गुरुने कहा कि यदि यहाँ यज्ञकी इच्छा है तो परमपावनी सरयूजीको मानससे यहाँ ले आओ। यह सुनकर उन्होंने प्रत्यञ्चा चढ़ा बाण चलाया जो मानस-सरको बेधकर श्रीअयोध्याजीमें ले आया। आगे-आगे बाण पीछे पीछे सरयूजी आयीं। इसीसे शरयू नाम हुआ वा सरोवरसे आयीं इससे सरयू नाम पड़ा।

(२) सत्योपाख्यान पू० अध्याय ३७ में कथा इस प्रकार है कि राजा दशरथजीने सरयू-अष्टक बनाकर श्रीसरयूजीकी स्तुति की जिसे सुनकर उन्होंने प्रकट होकर श्रीदशरथ महाराजको पुत्रोंसहित दर्शन दिया। फिर श्रीरामचन्द्रजीको गोदमें बिठाकर आशीर्वाद दिया और राजासे बोलीं कि हमारे वचन सुनो। ये बालक ब्रह्माण्डभरके इष्ट और प्रिय मेरे कोखमें सदैव विराजमान रहते हैं—'इमे च बालका इष्टाः सर्वेषामण्डगोलके॥ वसन्ति मम कुक्षौ हि पश्यता ज्ञानचक्षुषा॥ १५-१६॥' ये ज्ञाननेत्रसे देखे जा सकते हैं, ऐसा कहकर अपनी कुक्षिमें श्रीरामचन्द्रजीको दिखाया। राजा देखकर बड़े आश्चर्यको प्राप्त हुए और प्रणाम करके कहा कि मैं आपके मुखारविन्दसे आपकी उत्पत्ति सुनना चाहता हूँ, (हमें यों मालूम है कि) स्वायम्भुव मनुके समय वसिष्ठजी आपको लाये। उसी समयसे हमारे पुत्रोंको आप उदरमें धारण किये हैं और वासिष्ठी कहलाती हैं।

श्रीसरयूजीने अपनी उत्पत्ति कही जो श्लोक २१ से ४१ तकमें इस प्रकार है—'सृष्टिके आदिमें जब ब्रह्माजी पद्मनाभ भगवान्‌से उत्पन्न हुए, तब उनको तपकी आज्ञा हुई। ब्रह्माजीने दिव्य हजार वर्षतक कुम्भकको चढ़ाकर भगवदाराधन किया। अपनी आज्ञामें वर्तमान देख कमलापति भगवान् वहाँ आये। इनको भक्तिमें तत्पर देख उनके नेत्रोंसे करुणाजल निकल चला—'तं तदा तादृशं दृष्ट्वा निजभक्तिपरायणम्। कृपया सम्परीतस्तु नेत्राज्जलं मुमोच ह॥ २५॥' ब्रह्माजीने नेत्र खोल भगवान् लोकनाथ जगत्पतिको देखकर दण्डवत् प्रणाम किया। और उस दिव्य जलको हाथमें ले लिया—'पतितं विष्णुनेत्राच्च जलं जग्राह पाणिना। कमण्डलौ स्थापयामास प्रेम्णा तत्र पितामह॥' फिर बड़े प्रेमसे उसे कमण्डलुमें रख लिया। भगवान्‌के अन्तर्धान होनेपर ब्रह्माजीने यह विचारकर कि यह ब्रह्मद्रव साक्षात् ब्रह्मरूप अप्राकृत जल है इसे स्थापित करनेको मनसे एक मानस-सर रचा और उसमें इस

ब्रह्मद्रवको स्थापित किया,—'ब्रह्मापि तज्जल ज्ञात्वा ब्रह्मद्रावमिदं शुभम ॥ ३० ॥ मनसा रचयामास मानसं सर एव स । जले तु सरसस्तस्मिंश्चक्रे न्यास च पङ्कज ॥ ३१ ॥' बहुत काल बीतनेपर तुम्हारे पूर्वज इक्ष्वाकु राजाकी प्रार्थनासे वसिष्ठजी मानस सरपर गये और मञ्जुकेशि ऋषि (जो इस जलकी रक्षाके लिये नियुक्त किये गये थे) की स्तुति की। ऋषिने प्रसन्न होकर कहा कि वर माँगो। तब उन्होंने नदी माँगी—'वव्रे मुनिर्नदीं तस्मात्तेन दत्ता न नेदनम। जल यत्स्थानमे न्यस्त ब्रह्मणा ब्रह्मयोनिना ॥ ३५ ॥' ऋषिने ले जानेकी आज्ञा दी, तब उस सरसे हम नदीरूप होकर निकलीं। वसिष्ठजी आगे-आगे अयोध्यामे आकर प्राप्त हुए और हम उनके पीछे-पीछे।—'नदीरूपेण साहं वै सरसस्तु विनिर्गता। प्रापायोध्या वसिष्ठस्तु पश्चादहं तु तस्य वै ॥ ३६ ॥'

यह उत्पत्तिकी कथा कहकर फिर उन्होंने इसका कारण बताया कि 'श्रीरामचन्द्रजीको क्यों सदैव उदरमे धारण किये रहती हैं।—'विष्णुनेत्रसमुत्पन्ना विष्णु कुक्षौ परं बिभर्म्यहम्। ये ध्यायन्ति सदा राम मम कुक्षिगतं नरा ॥ तेषां भक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशय। राम विद्धि पर ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्॥ भक्ताना रक्षणार्थाय दुष्टानां हि वधाय च। जातस्तव गृहे राजन् तपसा तोषितस्त्वया ॥ ३७-३९ ॥' हम इनके नेत्रसे उत्पन्न हुई हैं, इसलिये हम इन्हें अपनी कुक्षिमे धारण किये हैं। जो सदा इन रामजीके ध्यान करनेवाले हैं उनको भक्ति-मुक्ति मिलती है। ये पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्द हैं, तुम्हारे तपसे प्रसन्न हो तुम्हारे यहाँ प्रकट हुए हैं।'

प्राय इस कथाके आधारपर टीकाकारोने कवितासरयूके रूपकको विस्तृतरूपसे लिखा है।

(क) बैजनाथजी लिखते हैं कि शिवजी ब्रह्मा हैं, हरि-करुणानेत्रमें चरित-जल प्राप्त करके अपने मनमानसमे रक्खे रहे, कविका मन इक्ष्वाकु है, मनोरथ वसिष्ठ है जो काव्यरूप सरयूको सन्तसमाजरूपी अयोध्यामे लाये। मानससे सरयूजी नदीरूप होकर निकलीं, इसी तरह हृदय मानसमे जो रामयश-जल भरा था वह कवितारूपी नदी होकर निकला जिसका नाम 'कीर्ति-सरयू' हुआ।

(ख) संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'शिवजीकी कृपादृष्टिसे पतन होकर, मेरे (गोस्वामीजीके) प्रबन्धारम्भसकल्परूप कमण्डलुमें सम्प्राप्त हैं। कवि-बुद्धि जो रामयशजलको प्रबन्धकी रीतिसे लानेको उद्यत है वही ब्रह्मा है। बुद्धिब्रह्माने मानसमें प्रथम स्नान किया—'ब्रह्मापि तज्जल स्नात्वा ब्रह्मद्रावमिदं शुभम्।' मनन-निदिध्यासन कवि बुद्धिका स्नान करना है, गोता लगाना चित्तकी समस्त वृत्तियोका उसमे लय होना है, जिसमें केवल मानस-रामायणके तदनुकथनमात्र संस्कारका ग्रहण शेष रह जाता है।'

(ग) मयङ्ककार कहते हैं कि 'जिस प्रकार मानससरमे वसिष्ठजीने स्नान किया और निकलकर चले तब उनके पीछे सरयू नदी चली वैसे ही गोस्वामीजीकी बुद्धि मानसको बारम्बार थाह करके अर्थात् विचार तथा मनन करके निकली और चली, उसके पीछे यह रामकथास्रोतरूपी सरयू उक्त मानससरसे प्रकट होकर चली।'

(घ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'मानससरके अधिष्ठाता शिवजीने वसिष्ठजीसे कहा कि आप प्रथम मानससरमें स्नान करें। फिर जिस घाटसे निकलियेगा उसी ओरसे श्रीसरयूनाम्नी नदी चलेगी। वैसे ही हुआ। वसिष्ठजी स्नान करके दक्षिण घाटसे निकले तब मानससरसे उनके पीछे लगी हुई सरयू चलीं जो अयोध्या होते हुए छपराके प्रत्र गङ्गामें मिली हैं।'—(यह कथा किस ग्रन्थमें है यह उन्होंने नहीं लिखा। सत्योपाख्यान अ० ३७ में तो ऐसा है नहीं और इसी ग्रन्थका उन्होने नाम दिया है।) इसीके आधारपर यह भाव कहते हैं कि 'गोस्वामीजीके मनमे जो गुरुद्वारा प्राप्त शङ्कररचित मानस था उस मनरूपी मानसमे बुद्धिरूपी वसिष्ठने अवगाहन किया तब पवित्र होकर निकली। उसके पीछे पीछे काव्यरूपी सरयू प्रकट हुई और भक्तिरूपी गङ्गामे शोभित हुई।'

भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥ १०॥

चली सुभग कविता सरिता सो*। राम बिमलजस जलभरिता सो*॥ ११ ॥

अर्थ—हृदयमें आनन्द और उत्साह भर गया, (जिससे) प्रेम और आह्लादका प्रवाह उमड़ आया ॥१०॥ और कवितारूपी सुन्दर नदी हो वह निकली कि जिसमें (वही) निर्मल रामयश जल भरा हुआ है ॥ ११ ॥

नोट—१ (क) 'मइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही। ३९। ८।' में और यहाँ 'भयउ हृदय आनंद उछाहू' में स्नानके गुण दिखाये कि बुद्धि निर्मल हुई और हृदयमें आनन्द और उत्साह हुआ। (ख) जैसे यहाँ कविके हृदयमें 'प्रेम प्रमोद' उमगा और प्रवाह चला वैसे ही श्रीशिवजी और श्रीभुशुण्डिजीके प्रसङ्गोंमें भी प्रेम-प्रमोद और प्रवाहका वर्णन है। यथा—'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाये॥ श्रीरघुनाथरूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥ मगन ध्यानरस दंड जुग ''। १११।' यह प्रेम-प्रमोद हुआ। 'रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह। १११।' यह प्रवाह है। इसी तरह 'भयउ तासु मन परम उछाहा' यह प्रेम-प्रमोद है और 'लाग कहै रघुपति गुन गाहा। ७। ६४।', यह प्रवाह है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्यजीके प्रसङ्गमें—'सुनु मुनि आज समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुख मन मोरें॥ १। १०५। २।' यह प्रेम-प्रमोद है और 'राम चरित अति अमित मुनीसा॥' से 'बरनउँ बिसद तासु गुन गाथा।' तक प्रवाह है। (ग) ☞ यहाँसे सरयू और कविता वा कीर्ति सरयूका अभेद-रूपकालङ्कारमें वर्णन है। (घ) यहाँ गोघाट पशु-पक्षु-अन्धादिके सुभीतेके लिये ढालुआ बना है, अत इधरसे ही सीयरामयशरूपी जल उमगकर बाहर चला। (वि० त्रि०)।

२ 'जस मानस जेहि बिधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु' में जगत्‌में प्रचारका हेतु जो बतानेको कहा था वह यहाँ बताया कि उत्साह-आनन्द इतना बढ़ा कि प्रवाहरूप हो निकल पड़ा अर्थात् यह कविता आपके प्रेम-प्रमोदहीकी मूर्ति है। मिलान कीजिये—'यत्र सा सरयूर्नित्या प्रेमवारिप्रवाहिनी। यस्या अंशेन सम्भूता विरजाद्या सरिद्वरा.॥' (वसिष्ठ सं०) अर्थात् जहाँपर वह प्रेमरूपी जल बहनेवाली नित्या सरयू हैं कि जिनके अंशसे विरजा आदि श्रेष्ठ नदियाँ उत्पन्न हुई हैं।

सूर्यप्रसादमिश्रजी—स्नान करनेसे आलस्य छूट जाता है और उत्साह आ ही जाता है, इसीलिये ग्रन्थकारने लिखा 'भयउ हृदय आनंद उछाहू।' यहाँ उछाहका अर्थ 'काव्य करनेकी शक्ति' समझना चाहिये। अब पाठकोंको ध्यान देकर सोचना चाहिये कि अन्तःकरणसे आनन्दकी धारा, बुद्धिसे उत्साहकी धारा और मनसे प्रेमकी धारा तीनों ओरसे धारा, उमगकर मानसकी ओर चली पर वह मानसमें समा न सकी। तब वृहद्रूपसे उमड़ती हुई अन्तःकरणका जो चतुर्थ भाग काव्य करनेवाली शक्ति है उसीपर होकर बहने लगी। यह अर्थ 'प्रेम प्रमोद प्रवाहू' से व्यञ्जित होता है।

टिप्पणी—१ 'भयउ हृदय आनद उछाहू'''चली सुभग कविता सरिता सो॥' में रामचरितमानससरयूकी उत्पत्ति कही। जन्मस्थान बताकर 'सरयू नाम ''' में नामकरण सूचित किया। सरजू=सरसे जो उत्पन्न हुई। सरयू मानस-सर (=मानससरोवर) से निकलीं, कविता हृदयसे निकली हृदय और मानस (=मन) एक ही हैं। दोनों ही 'सुमानस नंदिनी' हैं।

---

* नागरीप्रचारिणी सभाकी प्रतिका पाठ 'सी' है। काशिराज, प० रामकुमारजी, मा० त० वि०, व्यासजी और १६६१ की पोथीका पाठ 'सो' है। दोनों पाठोंका अर्थ एक ही है। सो=वह। सो=समान। सी=समान। १७२१, १७६२, छ०, १७०४ म भी 'सो' है। को० रा० में 'सी' है।

† (१) श्रीसुधाकरद्विवेदीजी इस प्रकार अर्थ लिखते हैं—'हृदयमें आनन्द उत्साहके साथ वह (सीयरामयशसुधा) रस बढ़ा, फिर भगव प्रेमके संयोगसे ऐसा बढ़ गया कि वहाँसे उमगकर एक प्रमोदकी धारा निकली जिससे कवितारूप नदी उत्पन्न हुई। (२) श्रीनंगे परमहंसजी यह अर्थ करते हैं—'सुन्दर कविता सरिता ऐसी रामजीके विमल यशरूप जल तिससे भरिके चली।'

२ 'जो नदियाँ मानससे उत्पन्न हैं, पहाड़को उनका मूल कहनेका कोई प्रयोजन नहीं, इसलिये यहाँ पहाड़को नहीं कहा। करुणा-नदी मानस (मन) से उत्पन्न होती है। वैसे करुणानदीके प्रसङ्गमें कविने पहाड़का वर्णन नहीं किया है, यथा—'सेन मनहुँ करुनासरित लिये जाहिं रघुनाथ। अ० २७५।', वैसे ही यहाँ भी नहीं कहा।

वि० त्रि०—'चली सुभग कबिता सरिता' इति प्रेमप्रमोदका प्रवाह ही कवितारूप हो गया, अतः 'सुभग' कहा। 'सुभग' से 'सरल' अभिप्रेत है जिसे सुनकर वैरी भी वैर भुलाकर सराहने लगते हैं। 'सरिता चली' कहनेका भाव कि जैसे नदी आप-से-आप बह चलती है, वैसे ही कविताका प्रवाह चला, लिखना कठिन हो गया, यह मधुमती भूमिकाका वर्णन हो रहा है, जहाँ पहुँचनेपर भारतादि काव्योंकी रचना सरल-सी बात हो जाती है। उसे फिर गणेशजी-से लेखककी आवश्यकता आ पड़ती है, जो बोलनेके साथ ही लिखता चला जाय। यह सोचनेकी आवश्यकता नहीं कि कहाँ ध्वनि रखना चाहिये, कहाँ अलकार रखना चाहिये। नदी जान-बूझकर लहर, भँवर आदि नहीं उठाती, वे आप ही उठते रहते हैं।

प्रश्न—वह कविता किस रामसुयशकी है—जो गुरुसे सुना था या जो साधुओंने बरसाया था ?

उत्तर—मानसमें वर्षा होनेके पहले भी जल भरा था। जब वर्षाका जल उसमें आ मिला तब जो जल पहलेसे उसमें था वह भी उमड़कर बह निकला। उसी तरह यहाँ हृदयमें श्रीगुरुमहाराजसे जो रामचरितमानस पूर्व सुना था सो भरा हुआ था, फिर और संतोंसे जो सुना वह भी हृदयमें पहुँचा।

प्रश्न—वर्षा-जलसे जलमें मलिनता आ जाती है, वह मलिनता यहाँ क्या है ?

उत्तर—गुरुसे सुने हुए और संतोंसे सुने हुएमें जहाँ-तहाँ व्यतिक्रम वा भेद जो जान पड़ा उससे मानस मलिन हुआ। यह भेद ही मलिनता है। जब उसमें डुब्बी लगायी अर्थात् दोनोंको मनन किया तो मानसका यथार्थ स्वरूप वही देख पड़ा जो गुरुसे सुना था, बुद्धि निर्मल हो गयी, आनन्द-उत्साह इतना बढ़ा कि वही रामयश कवितारूपमें निकला। और भी ३६ (९) में देखिये। (मा० प्र०, प०)

वि० टी०—गुरुसे सुनी हुई कथासे गोस्वामीजीका मानस कुछ भर गया था। संतोंसे जो कई प्रकारसे सुना वही मानो वर्षाका बहुत सा नवीन जल आकर भर गया और जब उन्होंने इसपर विशेष विचार किया तब उनका हृदय इस रामकथा-जलसे इतना परिपूर्ण हो गया कि वह रामायणरूपीकविता-नदीद्वारा बह निकला। उत्तररामचरितमें लिखा है कि 'पूरोत्पीडे तडागस्य परिवाह प्रतिक्रिया' अर्थात् जलस्थान यदि पानीसे विशेष भर जाय तो उसे बहा देना ही उत्तम उपाय है। साराश यह है कि शिक्षा और सतकथनको सुनकर विचारपूर्वक गोस्वामीजीने रामायण ग्रन्थका निर्माण किया।

मा० त० वि०—'राम बिमल जस जल भरिता सो' इति। (क) नदीको रामयशजलसे भरा हुआ कहा। कारण यह है कि सत्योपाख्यान अध्याय ३७ में वर्णन है कि सरयूजीने अपने उदरमें श्रीरामचन्द्रजीको विराजमान दिखलाया था।—वैसे ही रामयशरूप सच्चिदानन्दविग्रह इस कवितारूपिणी नदीमे प्राप्त है। अर्थात् शब्द-चित्र, अर्थ-चित्र, शब्दार्थ-चित्र जैसा कि भक्तमालके पाद-टिप्पणीमें 'रची कविताई…' इस पदके स्पष्ट अर्थ करनेमें लिखा। ['रची कबिताई' यह नाभाजी कृत भक्तमालका प्रियादासजी कृत भक्तिरसबोधिनीटीकाका कवित्त है]।

वि० त्रि०—'राम बिमल जस जल भरिता सो' कहकर इसे महाकाव्य कहा। महाकाव्यके विषयमे साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं, कि—(१) महाकाव्यका नायक कोई देवता या सत्कुलोत्पन्न धीरोदात्त-गुणयुक्त क्षत्रिय होना चाहिये,* या बहुतसे सत्कुलप्रसूत राजा भी हो सकते हैं। (२) शृङ्गार, वीर और शान्त रसोंमेसे एक अङ्गी और सब रसोको अङ्गभूत होकर रहना चाहिये और नाटककी सब सन्धियाँ रहनी चाहिये। (३)

* श्रीरामचन्द्रजी देवाधिदेव भी हैं और भौतिक दृष्टिसे सत्कुलोत्पन्न क्षत्रिय भी हैं। ये धीरोदात्त नायक हैं। जो अविकत्थन, क्षमावान्, अति गम्भीर, महासत्त्व-निगूढमान और दृढ़व्रत हो उसे धीरोदात्त कहते हैं।

इतिहासकी कोई कथा या किसी सज्जनका वृत्त होना चाहिये (ग) उसमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों हो, पर फल सबका एक ही हो। (५) आरम्भमें उसके वन्दना, आशीर्वाद या वस्तुनिर्देश रहे। (६) कहीं-कहीं खलोंकी निन्दा और सज्जनोंका गुणकीर्तन रहे। (७) उसमें ८ से अधिक सर्ग रहें जो न बहुत छोटे हों न बहुत बड़े और प्रत्येक सर्गमें एक वृत्तमय पद्य हो तथा समाप्ति अन्य वृत्तसे हो और सर्गान्तमें भावी सर्गकी कथाकी सूचना रहे। (८) उसमें संध्या, सूर्य, चन्द्र, प्रदोष, अँधेरा, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, शैल, ऋतु, वन, सागर, सम्भोग, विप्रलम्भ, रण, प्रयाण, उपयम, मन्त्र, पुत्र (?) और उदयका साङ्गोपाङ्ग यथायोग्य वर्णन हो, और (९) सर्गका नाम, कविके वृत्त, नायकके वृत्त या सर्गके उपादेय कथाका सम्बन्धी होना चाहिये। साङ्गोपाङ्गसे जलकेलि मधुपानादिका ग्रहण है। ये सब लक्षण श्रीरामचरितमानसमें घटते हैं।*

वीरकवि—यहाँ कविताप्रवाहपर सरयूका आरोपकर उसकी परिपूर्णताके लिये रामयशमें जलका आरोपण करना 'परम्परितरूपक' है। उपमान सरयूका सर्वाङ्ग उपमेय कविता नदीपर आगे क्रमशः आरोप करनेमें 'साङ्गरूपकालङ्कार' है।

सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक बेद मत मंजुल कूला॥ १२॥

अर्थ—(इस कवितारूपिणी नदीका) नाम सरयू है जो (समस्त) सुन्दर मङ्गलोंकी जड़ है। लोकमत और वेदमत इसके दोनो सुन्दर तट या किनारे हैं॥ १२॥

प० रामकुमारजी—१ (क) 'सुमंगलमूला' यथा—'सरजू सरि कलि कलुष नसावनि। १। १६।', 'जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥ ७। ४।' कलिके पापोंका नाश करने और श्रीरामसामीप्य प्राप्त कर देनेवाली होनेसे 'सुमंगलमूला' कहा। (ख) लोकमत वह है जहाँ लोकरीतिका वर्णन है, यथा—'लोक रीति जननी करहिं बर दुलहिनि सकुचाहिं। १। ३५०।', 'प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥ आयसु माँगि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥ १। २०५।', 'बदि बिप्र सुर गुरु पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता॥ १। ३५८।' इत्यादि। वेदमत वह है जहाँ प्रभुका ऐश्वर्य, परब्रह्म होना, ज्ञान, उपासना इत्यादि परमार्थकी बातें वर्णित हैं, यथा—'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। १। १३।', 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥ १। ११७।', इत्यादि। गोस्वामीजीका काव्य लोक-वेदमय है। यथा—'करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि। २। २५८।', 'लोक बेद बुध संमत दोऊ। २। २०७। १।', 'लोकहु बेद बिदित कबि कहहीं। २। २५२। ७।', 'लोकहु बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनत पहिचानत प्रीती॥ १। २८। ५।', 'करि लोक बेद बिधानु कन्यादान नृपभूषन किये।…१। ३२४।', 'करि कुलरीति बेद बिधि राऊ। १। ३०२।', 'निगम नीति कुल रीति करि अरघ पाँवड़े देत। १। ३४९।' इत्यादि।

२ लोकमत और वेदमत दोनोंको कविता-सरयूके सुन्दर किनारे कहे, इन दोनोंके भीतर यह नदी बहती है। अर्थात् रामचरितमानसमें दोनों मतोंका प्रतिपादन है, लौकिक और पारमार्थिक दोनों व्यवहारोंका पूर्णतया निरूपण है। [इन दोनों मतोंका उल्लङ्घन उसमें नहीं है। यदि है भी तो राक्षसोंके अत्याचाररूपी अतिवृष्टिकी बाढ़ समझनी चाहिये। वि० टी०] ☞ किसीके मतानुसार लोकमत मञ्जुल नहीं है और कोई वेदमतका खण्डन करते हैं। गोस्वामीजी दोनों मतोंको मञ्जुल कहते हैं, जिसका भाव यह है कि रामचरितने दोनों मतोंको

* (२) रघुवीरचरित होनेसे इसमें वीररस प्रधान है, शेष अङ्गभूत होकर आये हैं। नाटकमें पाँच सन्धियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निवर्हण। (३) महाभारत और वाल्मीकीय इतिहासोंमें श्रीरामकथा है ही। (४) 'सब कर फल हरि भगति भवानी' कहा ही है। (७) रामायणपरम्पराका अनुसरण करते हुए कविने इसमें सात ही काण्ड माने हैं। यह चौपाई-छन्दोंमें कहा गया है। पर काण्डकी समाप्ति छंद, सोरठा, दोहा या श्लोकसे की गयी है। काण्डके अन्तमें भावी काण्डका सूत्रपात भी है। (९) नायकके वृत्तके अनुसार बाल और उत्तरकाण्ड नाम रक्खे गये। शेष काण्डोंके नाम कथावृत्तके अनुसार हैं।

'मञ्जुल' कर दिया है, इससे लोक और वेद दोनोंको बड़ाई मिली है। दोनों मतोंको लेते हुए रामचरित्र कहेंगे। लोकमत वेदमत दोनोंमें जल है।

नोट—१ श्रीकबीरजीने लोकमत और वेदमतका भी जहाँ-तहाँ खण्डन किया है। श्रीनाभास्वामीजी उनके सम्बन्धमें लिखते हैं कि—'कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट्‌दर्शनी।' कबीरजी अपने 'राम' को 'सबसे न्यारा' कहते हैं। गोस्वामीजीने कर्म, ज्ञान, उपासना और दैन्य चार घाट बनाकर लोक और वेद दोनो मतोंका उल्लेख किया। जो जिस घाटकी वस्तु है वह उस घाटमें दिखायी गयी, कर्मकाण्डका सिद्धान्त कर्मकाण्डघाटमें, उपासनाका उपासनाघाटमें, इत्यादि। इसीसे उनके कथन जहाँ जो हैं, वहाँ वे पूरे सत्य हैं, कोई विरोध नहीं है।

२—नदीके दो किनारोंमेंसे एक किनारे जल गहरा रहता है और दूसरेपर उथला, एक किनारा खड़ा और दूसरा प्रायः ढाल्ह। नदीका बहाव (धारा) जिधर होता है वह किनारा गहरा होता है। यहाँ कविता-सरयू वेदमत-किनारे लगकर चलती है जहाँ श्रीरामयश-जल सदा गहरा रहता है। लोकमत-किनारा उथला किनारा है। वेदमतके उदाहरण, यथा—'करि आरति नेवछावरि करहीं। बार बार सिसु चरनन्हि परहीं ॥ १। १९४। ५।', 'जो आनदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी ॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥ १। १९७। ५—६।', 'जे मृग रामबान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे ॥ १। २०५।' 'सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दये। १। ३२१।'—(इसमें अन्तर्यामित्वगुण प्रकट होनेसे वह वेदमत ही है।), इत्यादि। लोकमत, यथा—'कौतुक बिनोद प्रमोदु प्रेमु न जाइ कहि जानहिं अलीं। १। ३२७।', 'लोकरीति जननी करहिं बरदुलहिनि सकुचाहिं। मोदु बिनोदु बिलोकि बड़ रामु मनहिं मुसुकाहिं ॥ १। ३५०।', इत्यादि। ग्रन्थभर दोनोंके प्रमाणोंसे ओत-प्रोत है। (मा० प्र०)। त्रिपाठीजीका मत है कि लोकमत दक्षिणकूल है और वेदमत वामकूल है।

नदी पुनीत सुमानस नंदिनि। कलिमल त्रिन तरुमूल निकंदिनि ॥ १३ ॥

अर्थ—यह सुमानस नन्दिनी (जो सुन्दर मानससे उत्पन्न हुई, सुमानसकी पुत्री) नदी पवित्र है और कलिके पापरूपी तिनकों और वृक्षोंको जड़से उखाड़ फेंकनेवाली है ॥ १३ ॥

नोट—१ (क) श्रीसरयू मानससरसे निकलीं जिसमें भगवान्‌के नेत्रका जल भरा है। कवितासरयू कविके हृदयसे निकली* श्रीरामसुयश-जल भरा है। इसीसे दोनोंको 'सुमानस' की पुत्री कहा और दोनो इसीसे पुनीत भी कही गयीं। (पं० रा० कु०, मा० प्र०)। (ख) महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'और नदियाँ पर्वत, भूमि, वृक्ष आदिसे निकली हैं और इनकी उत्पत्ति शिवजीके मानससे है, और नदियाँ जलसे भरी हैं और यह रामयशसे, इसीसे मानसनन्दिनीको सबसे पुनीत कहा। (ग) श्रीसरयूजीकी पुनीतताके सम्बन्धमें गोस्वामीजी स्वयं कहते हैं—'नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकै सारदा बिमल मति ॥ १। ३५। २।' (घ) 'नंदिनि' कहकर जनाया कि यह अपनी माता मानसतीर्थको आनन्ददायिनी है, क्योंकि इसके द्वारा उसका नाम भी जगत्‌में विख्यात हुआ। बेटीमें कुछ गुण माताके-से होते हैं और कुछ नहीं भी। मानस ६० मीलकी परिधिमें और कोई २६४ फीट गहरा है, पर सरयू कई प्रान्तोंमें फैली हुई है। और गहराई ४० फीटसे अधिक न होगी। अत काव्यद्वारा जिस कथाका प्रचार संसारमें हुआ उसमें मूलकी अपेक्षा बहुत कम गहराई होना स्वाभाविक ही है। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—१ 'कलिमल त्रिन' इति। (क) कलिमल छोटे और बड़े दो प्रकारके हैं—पातक और उपपातक, यथा—'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं ॥ २। १६७।' पातक बड़े हैं और उपपातक छोटे। उपपातक तृण हैं, पातक तरु हैं। (ख) 'मूलनिकंदिनि' का भाव यह है कि पापका मूल मन, वचन और कर्म हैं। यह प्रथम मनको पवित्र करती है क्योंकि मानसनन्दिनी है, उत्पत्ति-स्थान इसका मन ही है, मनमें आते ही मन पवित्र हुआ। मनसे उमगकर वचनमें आयी तो वचन पवित्र हुआ, तब कर्म पवित्र हुए। इस तरह यह मन,

* सू० प्र० मिश्र—यह मानसरामायण शिवमानससे निकला।

वचन और कर्म तीनोंको पवित्र कर देती है। यथा—'मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई ॥ ७ । १२६ । ३ ।' अथवा, क्रोध और अभिमान इत्यादि पापके मूल हैं। प्रमाण, यथा—'क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि। क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ॥ ४ ॥ (वाल्मी० ५५ । ५) अर्थात् (श्रीहनुमान्‌जी लङ्कादहनके पश्चात् सोच कर रहे हैं कि) क्रोधी पुरुष कौन-सा पाप नहीं कर सकता है? वह गुरुको भी मार सकता है तथा कठोर वाणीद्वारा महात्माओंका तिरस्कार भी कर सकता है। पुनः यथा—'लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल। जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्व प्रतिकूल ॥ १ । २७७ ।', 'दया धर्म को मूल है पापमूल अभिमान।' इन सबोंका नाश करती है। यथा—'काम कोह कलिमल करिगन के। केहरिसावक जन मन बन के ॥ १ । ३२ । ७ ।'

२—(क) ये तृण और तरु कूलके हैं। यहाँ लोकमत और वेदमत दो कूल हैं। लोकमतसे जो पाप हैं और वेदमतसे जो पाप हैं दोनोंको यह नाश करती है। पुनः, [श्रीसरयूजी तो बुरे-भले सभी वृक्षोंको उखाड़ डालती हैं, पर सुकीर्ति सरयू दुर्बुद्धि आदि कुत्सित वृक्षोंको ही उखाड़ती हैं, यह विशेषता है; इसीसे तो 'सुमानसनन्दिनी' है। (ख) जब नदीके वेगसे किनारा कटकर गिरता है तब उसीके साथ भूमिमें प्रविष्ट वृक्षका मूल भी उखड़कर बह जाता है एवं पापका उत्पत्तिस्थान बुद्धि है, मानसरामायणके श्रवण-मनन-कीर्तनमें प्रवृत्त होनेपर जब पुलकाग होता है एवं पापबुद्धि समूल उखड़कर कथाप्रवाहरूपी वेगमें बह जाती है। कथाको नदीकी समता देनेका भाव कि नदीका प्रवाह और कथाकी वाणी दोनों प्राचीन कालसे चली आती हैं। पुनः जैसे नदी ऊँचेसे नीचेकी ओर जाती है, वैसे ही कथा भी बड़ोंके मुखसे निकलकर छोटोंको पवित्र करती है। पुनः एक समुद्रमें, दूसरी ईश्वर (रामरूप समुद्र) में लीन होती है। इत्यादि। (वै०, सू० मिश्र)]

टिप्पणी—३ उत्तमता और अधमता चार प्रकारसे देखी जाती है। अर्थात् जन्म-स्थानसे, सगसे, स्वभावसे और तनसे। विभीषणजी जब शरणमें आये तब उन्होंने अपना अधम होना चारों प्रकारसे कहा है 'निसिचर बंस जनम सुरत्राता' से जन्म दूषित दिखाया, 'नाथ दसानन कर मैं भ्राता' से अधम रावणका सङ्ग-दोष कहा, 'सहज पाप प्रिय' से स्वभाव-दोष कहा और 'तामस देहा' कहकर तनकी अधमता कही। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने चन्द्रमाके प्रति चारों बातें कही हैं, यथा—'जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंकु। सियमुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु ॥ १ । २३७ ।' 'घटइ बढ़इ बिरहिनि दुख दाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई ॥ कोक सोकप्रद पंकज द्रोही।'—'जन्म सिंधु' (यह जन्मदोष), 'बंधु बिष' (यह सगदोष), 'दिन मलीन' और 'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही' (यह स्वभावदोष) और 'घटइ बढ़इ ··' (यह तनदोष) है।

☞ इसी तरह श्रीसरयूजीकी उत्तमता गोस्वामीजीने चारों प्रकारसे दिखायी है। 'सुमानसनन्दिनि' से जन्म-स्थानकी पवित्रता कही, 'नदी पुनीत' से तन पवित्र बनाया, 'राम भगति सुरसरितहि जाई। मिली··' से उत्तम संग और 'सुकीरति सरजु सुहाई' से स्वभावसे उत्तम दिखाया। दोहा ४० (५) भी देखिये।

दोहा—श्रोता त्रिबिध समाज पुर ग्राम नगर दुहुँ कूल।
संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल ॥ ३९ ॥

अर्थ—तीन प्रकारके श्रोताओंका समाज इसके दोनों किनारोंके पुरवे, गाँव और नगर हैं। सुमंगलमूल सन्त-सभा उपमा-रहित और सब सुन्दर मङ्गलोंकी जड़ श्रीअयोध्याजी हैं ॥ ३९ ॥

नोट—'श्रोता त्रिबिध समाज पुर ग्राम नगर' इति। श्रोता तीन प्रकारके हैं। वह तीन कौन हैं इसमें मतभेद है—

१—इस ग्रन्थमें मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीन प्रकारके श्रोताओंका प्रमाण मिलता है, यथा—'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई ॥ ७ । १५ ।' (पा०, पं० रा० कु०, संत उन्मनी टीका)। तुलसीसतसईमें

भी कहा है—'मुक्त, मुमुक्षु अरु बिषई श्रोता त्रिबिध प्रकार। ग्राम नगर पुर जुग सुतट तुलसी कहहिं बिचार॥', 'मुक्त' मुमुक्षु और विषयी जीवोंके श्रोता होनेके प्रमाण और भी हैं—'जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥ उ० ५३।', 'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥ सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति पुर जाहीं॥…बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी। ७। १५।', 'बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा॥ श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा। ७। ५३।' यहाँ, 'विरत'=मुमुक्षु=जो अभी साधन अवस्थामें हैं। कथाका रस पूर्ण रीतिसे जिनको नहीं मिला है।

२—श्रीबैजनाथजी तथा काष्ठजिह्वास्वामीजीके मतानुसार उत्तम, मध्यम और निकृष्ट—ये तीन प्रकारके श्रोता होते हैं।

बैजनाथजी लिखते हैं कि जो वक्ताके मुखपर दृष्टि, उसकी वाणीमें श्रवण, अर्थमें मन लगाये हुए बुद्धिसे विचारकर उसे चित्तमें धर लेता है वह उत्तम श्रोता है। जो सुनते तो हैं पर न विचारते हैं और न मनमें धरते हैं वे मध्यम हैं। जो सुनते हैं, पर जिनका मन नहीं लगता वे नीच श्रोता हैं। जैसे ग्राम आदिमें सरयूजीका माहात्म्य श्रीअयोध्याजी जैसा नहीं है वैसे ही श्रीकीर्ति-सरयूका माहात्म्य जैसा संत-समाज—अवधमें है वैसा अन्यत्र नहीं है।

देवतीर्थकाष्ठजिह्वास्वामीजी कहते हैं कि 'उत्तम श्रोता सूपकी तरह सारग्राही हैं, मध्यम चलनीकी नाईं असार-ग्राही हैं और निकृष्ट खेतके पनारीके समान कि गीली हो जाय पर जल न रक्खे, सुनते हैं पर धारण नहीं करते।' सूर्यप्रसाद मिश्रने इसीकी नकल कर दी है और कुछ विस्तार कर दिया है। वे लिखते हैं कि 'जो प्रेमपूर्वक सुनकर हृदयमें रखे हैं वे नगरके समान हैं। असारग्राही चलनीके समान हैं अर्थात् हरिकथाको अपनी बड़ाईके लिये सुनने जाते हैं, न विचारपूर्वक सुनें न धारण करें। इन्हें ग्रामसमान जानो। निकृष्ट 'पत्थरकी नालीके समान हैं, ये कथा सुनते हैं पर कथाका प्रभाव इनपर कुछ नहीं होता।' सुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि 'प्रेमसे सुननेवाले' 'कुछ प्रश्न करने-वाले' और 'किसी कारणसे दुखिया हो मनःशान्तिके लिये कुछ काल सुननेवाले'—ये तीन प्रकारके श्रोता हैं। इनका अन्तर्भाव ऊपर दिये हुए श्रोताके प्रकारोंमें हो जाता है।

इन दोनोंपर विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—(क) 'मुक्त' और 'उत्तम' एक ही श्रेणीके हैं, ये कथा सादर सुनते है और निरन्तर धारण किये रहते हैं। जिज्ञासु रामतत्त्व जाननेके अभिप्रायसे सुनते हैं। इससे वे भी निरन्तर सुनते हैं। ये भी इसी श्रेणीमें आ सकते हैं। (ख) 'मुमुक्षु' और 'मध्यम' एक श्रेणीके हैं। इन्हींको अर्थार्थी भी कह सकते हैं। ये निरन्तर नहीं सुनते क्योंकि 'रस बिशेष जाना तिन्ह नाहीं'। उ० ५२।' और, (ग) 'विषयी' और 'निकृष्ट' एक श्रेणीके हैं। ये इधर सुना उधर भूले। सुननेमें इनका मन नहीं लगता। सुनते समय सुख हुआ। फिर कुछ नहीं। आर्त श्रोता भी इसी श्रेणीके हैं, दुःख पड़ता है तब कथामें आ जाते हैं, दुःख दूर होनेपर कथाका नाम नहीं लेते।

३—त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'तटवासीको ही सदा अवगाहनका सौभाग्य प्राप्त है, अतः उनसे नित्यके श्रोताओं-को उपमित किया है। कोई इस काव्यसे लौकिक शिक्षा ग्रहण करते हैं और कोई वैदिक शिक्षा ग्रहण करते है। दोनों प्रकारके श्रोता होनेसे उन्हें यथाक्रम दोनों किनारोंका निवासी कहा। तामस, राजस और सात्त्विक भेदसे भी श्रोता-समाजका भेद हुआ।

४—श्रीजानकीदासजी एवं करुणासिन्धुजीके मतानुसार 'आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु' ये तीन प्रकारके श्रोता हैं। वे लिखते हैं कि 'आर्त, सुत, वित्त, लोक, बड़ाई, शरीररक्षा इत्यादि अपने आर्त्तिवृत्तिके लिये कथा सुनते हैं। ये पुर हैं। क्योंकि दुःख दूर होते ही कथा सुनना छोड़ देते हैं। लोक-आर्त लोकमतके और परलोकआर्त वेदमतके तटपर बसे हैं। अर्थार्थी श्रोता सिद्धियोंकी या किसी अन्य अर्थकी प्राप्तिके लिये वेद, पुराण इत्यादि कथा सुनकर फिर मन्त्र-यन्त्र, देवाराधन आदि अन्य साधनोंमें लग जाते हैं। ये ग्राम हैं। लोकार्थी जो अन्न-वस्त्रादि लोक-पदार्थोंकी चाह करते हैं, वे लोकमतके किनारे, और परलोक स्वर्गादिके अर्थी वेदमतके किनारे बसे

हैं। और जिज्ञासु केवल ज्ञान, वैराग्य आदि ग्रहण करनेके लिये, वस्तु जाननेके लिये कथा सुनते हैं जिससे मुक्ति मिले—ये नगर हैं। ये सब दिन सुनते हैं। जो लोक-चतुराई सीखनेके हेतु सुनते हैं वे लोकमतके और जो रामतत्त्व जाननेके हेतु सुनते हैं, वे वेदमतके तत्पर बसे हैं। और 'जो केवल ज्ञानी भक्त हैं, भगवद्यश सुनते हैं, अपने स्वरूपमें सदा आरूढ़ रहते हैं और श्रीरामचन्द्रजीके माधुर्य स्वरूप-नाम-धाम-लीलारूपी रसको पान करते हैं, ऐसे निष्काम सन्तोंकी समाज श्रीअयोध्याजी हैं।' (करु०)।—ये ज्ञानी सन्त त्रिविध श्रोताओंमें नहीं हैं, इन्हें कोई चाह नहीं है। ये केवल रामयशकी चाह रखते और उसीको सुनते हैं। ये सर्वकाल वहाँ बने रहते हैं, कोटि विघ्न उपस्थित होनेपर भी वे कथा नहीं छोड़ते। ये सदा वेदतत्पर 'सतसभारूपी' अनुपम अयोध्याजीमें वास करते हैं।' (मा० प्र०)

श्रीकरुणासिंधुजी एवं बाबा जानकीदासजीके मतमें एक विशेषता यह है कि अन्य महात्माओंने जो त्रिविध श्रोता माने हैं उनमें फिर 'अवध' के लिये कोई अवशिष्ट नहीं रह जाते, क्योंकि उत्तम, मध्यम और निकृष्ट अथवा विमुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीन ही श्रेणियाँ होती हैं, इनको त्रिविध माननेसे ये तीनों श्रेणियाँ ग्राम, पुर और नगरमें ही समाप्त हो जाती हैं, निष्काम भक्त भी उत्तम या विमुक्तमें आ जाते हैं। अन्य स्थलोंमें जहाँ त्रिविध श्रोताओंकी चर्चा आयी है वहाँ चौथेकी चर्चा नहीं है। चौथा भी उन्हींमें आ जाता है। चार प्रकारके भक्त आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानीमेंसे प्रथम तीनको त्रिविध श्रोतामें लेनेसे चौथा ज्ञानी, जिसमें निष्कामका भी ग्रहण किया गया है, अवधके लिये शेष रह जाता है।

नोट—श्रोताओंको 'पुर, ग्राम, नगर' किस भावसे कहा है, अब इसपर विचार करना है। पुर, ग्राम और नगरकी व्याख्यामें भी मतभेद है।

१—प्रायः सब मतोंका साराश यह है कि नगर बड़ा होता है, ग्राम छोटा और पुर जिसे पुरवा या खेरा भी कहते हैं बहुत छोटा होता है। पुरवा जल्द कट वा उजड़ जाता है, ग्राम उससे अधिक दृढ़ होता है और देरमें कटता वा उजड़ता है। नगर बहुत दृढ़ होता है। इसके उजड़नेका भय बहुत कम होता है। त्रिविध श्रोताओंमेंसे कौन पुर हैं, कौन ग्राम और कौन नगर? अब इसे देखें—

(क) मुक्त, मुमुक्षु और विषयीमेंसे जीवन्मुक्त नगर हैं क्योंकि 'हरिगुन सुनहिं निरतर तेऊ', मुमुक्षु ग्राम हैं क्योंकि ये कामनापूर्ण होनेपर फिर नहीं सुनते—'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥' और विषयी पुर हैं जो भूले-भटके कभी पहुँच जाते हैं। अब 'आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु' वा 'निकृष्ट, मध्यम और उत्तम श्रोताओंको लें। पुर नदीसे शीघ्र कटता है इसी तरह आर्त अथवा निकृष्ट श्रोता बहुत शीघ्र कथासे हट जाते हैं। दुःख दूर हुआ और कथा छूटी। अर्थार्थी वा मध्यम श्रोता कुछ अधिक दिन ठहरते हैं और जिज्ञासु अपने वसभर सदा सुनते हैं क्योंकि ये वस्तु जाननेके लिये सुनते हैं। ये नगर हैं, दैवयोगहीसे कटें तो कटें। (मा० प्र०)। पाण्डेयजीके मतानुसार 'विषयी जिनकी बाहुल्यता है सो नगर हैं, उनसे कमतर मुमुक्षु पुर हैं और बहुत थोड़े जो मुक्त हैं सो ग्राम हैं। सतसभा सम्रूल शुभ मगल रामजन्मभूमि है।'

अथवा, (ख) यों कहें कि जैसे नदीके तटपर नगर कहीं-कहीं और वह भी बहुत कम होते हैं, ग्राम उससे अधिक और पुरवे बहुत होते हैं वैसे ही 'श्रोता बक्ता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़।' ऐसे विमुक्त, जिज्ञासु या उत्तम श्रोता भी बहुत कम होते हैं, मुमुक्षु अर्थार्थी या मध्यम श्रेणीके श्रोता इनसे अधिक होते हैं और विषयी, आर्त वा निकृष्ट श्रोता ही प्रायः बहुत होते हैं।

(ग) संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'पुर, ग्राम और नगर' इस ग्रन्थभरमें पर्याय शब्द जान पड़ते हैं परन्तु बस्तियोंके अन्त कहीं पुर, कहीं ग्राम, कहीं नगर पद पाया जाता है। जैसे—'जन पुर नगर गाउँ गन खेरे', 'पुर न जाउँ दसचारि बरीसा', 'पिता बचन मैं नगर न आवउँ' शृङ्गवेरपुर' एव 'ग्राम बास नहिं उचित०' 'पहुँचे दूत रामपुर पावन', एवं नन्दिग्राम, रामनगर इत्यादि। सभी कथा श्रवण करनेवाले श्रोता ही हैं पर कोई विषयी,

कोई मुमुक्षु, कोई मुक्त कहलाते हैं। इसीसे कहा कि तीनों प्रकारके जो श्रोतासमाज हैं वे ही पुर, ग्राम, नगरसंज्ञक आबादी हैं। (मा० त० वि०)।

(घ) सूर्यप्रसाद मिश्रजीका मत है कि 'पुर' राजधानीका नाम है। प्रमाणमें उन्होंने श्रीधरस्वामीकी भा० स्क० १ अ० ६ श्लो० ११ की व्याख्या दी है—'तत्र पुराणि राज्यधान्यः'। ग्रामलक्षण जो उन्होंने दिया है वह मानसके अनुकूल नहीं है, इससे उसे यहाँ नहीं उद्धृत करता। इस मतके अनुसार उत्तम पुर हैं, मध्यम नगर और निकृष्ट ग्राम हैं।

मयङ्ककार कहते हैं कि 'पहिले मानसका समाज कहा है (संत सभा चहुँ दिसि अँवराई।) कि चारों ओर संतोंका समाज जो है वही मानो अँवराई है और वाटिका, बाग, वन इत्यादि जो कहा है वही समाज। जो मानसमें रहनेपर था प्रकट होनेपर वही सरयूके किनारे सुशोभित हुआ। संतसभारूपी अवध वाटिका बाग, वन और पुरादिक किनारे-किनारे सुशोभित हुए।'

(ङ) सुधाकरद्विवेदीजी—'इस नदीके दोनों किनारोंपर किसी कारणसे सुननेवाले पुरा, भगवत्प्रीति बढ़नेके लिये प्रश्न करनेवाले गाँव अचल प्रेमसे सुननेवाले शहर हैं। सब सुमंगलकी मूल संतसभा अनुपम अवध है जहाँ सदा यह नदी अमृतमय धारासे बहा करती है।

※ 'संत सभा अनुपम अवध' इति ※

१—'मुक्त, मुमुक्षु, विषयी—इन तीनोंसे पृथक् संत (संतसभा) हैं। [ये निष्काम रामानन्य अनुरागी हैं—'सकल कामना हीन जे रामभगति रस लीन'। इन्हींके लिये कहा है कि 'एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं॥ उ० १३०।' 'संत समाज पयोधि रमा सी' और 'संत-सुमति-तिय सुभग सिंगारू' इत्यादि। १। ३१।' 'आसा बसन व्यसन यह तिन्हही। रघुपतिचरित होइ तहँ सुनहीं। ७। ३२।' 'सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। ७। ४२।] इसी तरह 'पुर' ग्राम और नगर' से पृथक् अवध है। अवधके निमित्त सरयूजी आयीं, इसीसे अवध पहुँचनेपर फिर 'ग्राम, पुर, नगर' का मिलना नहीं कहा है।

खर्रा—१ 'मुक्त वेदमतकूलमें टिके हैं, विषयी लोकमतकूलमें टिके है और मुमुक्षु आधे-आधे दोनों ओर हैं, इसीसे बराबर हैं। इनसे पृथक् चौथी कोटिमें संत हैं जो न मुक्त है, न मुमुक्षु और न विषयी, यथा—'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निरबान।'—ये ही अवध हैं। ग्राम, पुर और नगरसे भिन्न साकेत राम रूप है। २ 'सकल सुमंगलमूल' सबको सुमंगलमूल है अर्थात् मुक्तको मुक्तिरूप है, मुमुक्षुको साधनरूप और विषयी-को आनन्दभोगरूप है।'

(नोट—प० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ 'सकल सुमंगल मूल' कहकर श्रीअवध-सरयूमें समता दिखायी। यथा—'अवध सकल सुमंगल मूल' तथा 'सरजू नाम सुमंगल मूला'। अवध-वाससे जीव श्रीरघुनाथजीको प्रिय हो जाते हैं, यथा—'अति प्रिय मोहि यहाँ के बासी' और सरयू-स्नानसे सामीप्य 'मुक्ति' मिलती है, यथा—'रामधामदा पुरी सुहावनि' तथा 'जा मज्जन तें बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।')

२ संतसमाज और श्रीअयोध्याजीमें समता यह है कि—(क) दोनों अनुपम हैं। शारदा-शेषादि इनकी महिमा नहीं कह सकते यथा—'बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥ १। ३। ११।', 'कहि न सकत सारद श्रुति तेते। ३। ४६। ८।', तथा—'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। 'अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। ७। ४।' 'रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ। ७। २९।' (ख) दोनो 'सुमंगलमूल' है। यथा—'मुद-मंगलमय संत समाजू। १। २।', 'सत्सङ्गति मुदमंगल मूला। १। ३।', तथा 'अवध सुमंगलमूल'। (यहाँ) 'सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी। १। ३५।' (ग) दोनों ही श्रीसीतारामजीके विहार स्थल हैं। यथा—'संतसमाज पयोधि रमा सी' और 'रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥ ३१॥'

(देखिये) १ । ३१ (१०) और दोहा ३१) । श्रीअवध तो लीलास्थल प्रसिद्ध ही है, यह जन्मभूमि ही है। सत-समाजमें कथारूपसे विहार होता है। (ख) यह 'कीर्ति सरयू' सतसमाजके लिये रची गयी। यथा—'होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू ॥ १ । १४ । ७ ।' वैसे ही वसिष्ठजी सरयूजीको अयोध्यावासीहीके लिये लाये। (मा० प्र०)। (ग) रामकथाका महत्त्व जैसा सतसमाजमें है वैसा अन्य ठौर नहीं और सरयूजीका माहात्म्य जैसा अवधमें है वैसा और कहीं नहीं *। पुनः जैसे सतसमाजकी शोभा रामकथासे और कथाकी सतसमाजसे है, वैसे ही श्रीअवध-सरयूकी शोभा एक दूसरेसे है। 'साधु इस (कथा) समाजमें शोभा देते हैं और जैसी शोभा एवं महत्त्व इसका साधुसमाजमें है वैसी अन्य ठौर नहीं तथा इसीसे साधुसमाज भी शोभित है, ये दोनों (रामकथा और साधुसमाज) ऐसे परस्पर मिले हुए हैं।' (मा० प्र०)

रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई ॥ १ ॥

अर्थ—सुकीर्तिरूपी सुन्दर सरयू राम-भक्ति गङ्गामें जाकर मिली ॥ १ ॥

नोट—१ 'सुकीर्तिरूपिणी सरयू रामभक्ति-सुरसरिमें जाकर मिली, इस कथनका तात्पर्य यह है कि सुकीर्तिके आनेसे रामभक्तिकी प्राप्ति है। कीर्ति सुन्दर है। उस सुकीर्तिको सरयू कहा, अतएव सरयूको कहा सुहाई।' (पं० रामकुमार)।

(२) श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'यहाँ अब यह बात समझनेकी अपेक्षा हुई कि 'रामयशजलका क्या स्वरूप है और उसी यशकी कीर्तिनदी चली तो इस नदीका क्या स्वरूप है?' कैलासप्रकरणके चार दोहोंमें रामयशका स्वरूप कहा गया है। अर्थात् 'सगुनहिं अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥ १ । ११६ । १ ।' से 'सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गइ सब कुतरक कै रचना ॥ ११९ । ७ ।' तक। जो कुछ सरके प्रकरणमें कह आये वह सब इसीके भीतर जानो। [नोट—किसीने यों कहा है कि यह सुकीर्ति-सरयू शिवजीके मानसमें स्थित थी, यथा—'मानस मूल मिली सुरसरिहीं', जो पार्वतीजीके प्रश्नमें उमगी और निकल पड़ी। शिवजी जो प्रसंग ले चले यही सुकीर्ति-सरयूका मानससे चलना है।'—दोनों पवित्र नदियोंका संगम दूना पवित्र हुआ।]—यह रामयश उमगा और कीर्तिरूपी प्रवाह चला। यह धारा 'सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए। बिपुल बिसद निगमागम गाए ॥ १२१ । १ ।' से चली और मनुशतरूपाजीका अनन्य रामभक्तिरूपी गङ्गामें जा मिली।

जैसे श्रीसरयूजी थोड़ी दूर चलकर तब छपरा (जिला सारन) के पास गङ्गामें मिलीं, वैसे ही श्रीराम-चन्द्रजीकी कीर्तिका वर्णन शिवजीने पार्वतीजीके प्रश्नके उत्तरसे उठाया, बीचमें क्षीरशायी, वैकुण्ठ-भगवान् इत्यादिकी रामावतारकी कथाएँ कहते हुए पूर्णब्रह्म श्रीसाकेतविहारीके अवतारकी कथा प्रारम्भ की। यथा—'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी ॥ जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा ॥ १ । १४१ ।' इस कथामें अनन्य रामभक्तिका वर्णन मनुशतरूपाजीके तपमें दिखाया गया है, यथा—'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा ॥ माँगहु बर बहु भाँति लुभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए ॥ १ । १४४ । २-३ ।' ब्रह्मा, विष्णु, महेश जगत्‌के उत्पत्ति, पालन, संहारकर्ताओंकी ओर ताका भी नहीं—ऐसे अनन्य राममक्त! इन्होंने सब देवताओंकी भक्तिका निराकरण करके रामभक्तिहीको दृढ़ माना। †

* श्रीमहाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'इसका भाव यह है कि सरयूजी और ठौर अकेली हो जाती हैं और यहाँ अवधपुरीमें पुरीसहित दूनी रहती हैं' (रा० प्र०)।

† सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'और भी भक्तिहीके लिये रामजीका प्रादुर्भाव हुआ, सब काण्डोंमें भक्तिरूप गङ्गा वर्तमान है—अयोध्यामें भरतजी, अरण्यमें सुतीक्ष्णजी, किष्किन्धामें सुग्रीव-हनुमान्‌जी, सुन्दरमें विभीषणजी, लङ्कामें रावणादिका हरिमें लीन होना और उत्तरमें तो सब भक्ति-ही-भक्ति है।' (यह भाव वैजनाथजीका है)।

यहाँ राम-भक्ति-गङ्गामें कीर्ति सरयू जाकर मिलीं इसीसे 'जाई' शब्द यहाँ दिया। अभिप्रायदीपककार लिखते हैं कि 'मन मानस ते चलि चली लसी जाह्नवी बीच। बसी राम उर उदधि महँ रमी उपासक बीच ॥ ४८ ।', जिसका भाव यह है कि जैसे मानससरसे श्रीसरयूजी प्रकट होकर गङ्गाजीमें सुशोभित हुईं वैसे ही गोस्वामीजीके मन-मानसमें जो गुरुदत्त शंकररचित मानस था वही काव्यरूप होकर निकला। अब जो कोई भी उसका आश्रय लेंगे वे राम-भक्ति प्राप्त करेंगे। —यही कविता सरयूका राम-भक्ति-गङ्गामें मिलना है। 'जैसे गङ्गाजी सरयूजीको अपने हृदयमें लेकर सहस्रों धारासमेत समुद्रमें मिल गयीं, उसी प्रकार भक्तिगङ्गा अनेकों उपासकोंके अनुभवसे अनेकों रूप होकर एक रामरूपहीमें अचल हो जाती है।'

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'इससे ज्ञात होता है कि गङ्गाकी स्थिति सरयूसे पहलेकी है',—(परन्तु ऐतिहासिक ग्रन्थों, पुराणों, रामायणोंसे इस मतका विरोध होता है। गङ्गाजी बहुत पीछे पृथ्वीपर आयी हैं)। सरयूजी पुर, ग्राम, नगरोंसे दोनों ओर संयुक्त होती हुई अवध पहुँची और वहाँसे श्रीगङ्गाजीमें जा मिलीं और सरयू नाम छोड़कर गङ्गा ही हो गयीं। इसी भाँति कविता-सरिता भी अनेक तामस, राजस और सात्त्विक श्रोतृसमाजोंमेंसे होती हुई संतसमाजमें जा पहुँची और वहाँ जाकर भक्तिसे मिल गयी। अर्थात् यह कविता-सरिता भक्तिकी प्रापिका है।

नोट—रामभक्तिको गङ्गाजीकी उपमा और भी जहाँ-तहाँ दी गयी है, यथा—'रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा' दोनोंकी समता दोहा २ (८–११) में देखिये। वहीं भक्तिकी उपमा गङ्गासे देनेके कारण देखिये।

☞ स्मरण रहे कि मानस-प्रकरण दोहा ३५ से प्रारम्भ होकर दोहा ४३ तक गया है। इसमें समस्त रामचरितमानसका रूपक है। इसीसे प्रत्येक दोहे-चौपाईमें इस ग्रन्थका प्रसंग दिया गया है।

'सुरसरितहिं जाई।' इति।

यहाँपर ग्रन्थान्तरोंमें मतभेद है। श्रीसरयूजीका आविर्भाव सृष्टिके आदिमें हुआ। इक्ष्वाकु महाराजके समयमें श्रीअवधके लिये श्रीसरयूजीका आना पाया जाता है और गङ्गाजीको इनके बहुत पीछे उन्नीसवीं पीढ़ीमें भगीरथजी लाये तो सरयूका गङ्गामें मिलना कैसे कहा गया? उचित तो यह था कि गङ्गाका सरयूजीमें जा मिलना कहा जाता पर ऐसा कहा नहीं गया?'—इस विषयपर बहुत महानुभाव जुट पड़े हैं।

संत-उन्मनी-टीकाकार तथा पं० शिवलालजी कहते हैं कि 'यह कथा भक्ति-सिद्धान्त सम्मिलित है, इससे भक्ति प्राप्त होती है जिससे फिर रामस्वरूपकी प्राप्ति होती है। सुकीर्तिसरयूका राम भक्ति गङ्गामें मिलना कहनेमें केवल इतना ही तात्पर्य है। आद्यन्त इतना ही दिखलाना है कि भक्ति हो तो ऐसी हो जैसी मनुशतरूपाजीकी, यथा—'माँगहु बर बहु भाँति लुभाए। परम धीर नहि चलहि चलाए॥ या जैसी भरतजीमें थी कि 'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चचरीक जिमि चंपक बागा' इत्यादि, वा, जैसी भुशुण्डिजीमें थी कि 'भक्तिपक्ष हठ नहिं सठताई।'

सूर्यप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि ग्रन्थकारका यह आशय नहीं है कि सरयू गङ्गाजीमें मिलीं या गङ्गाजी सरयूजीमें मिलीं, उनको तो यही अभिप्रेत है कि रामभक्ति रामकीर्तिसे भी बढ़कर है और रामजीका प्रादुर्भाव भी महाराज भगीरथजीके बहुत बादका है। ग्रन्थकार भी रामजीहीके उपासक है, जो बातें उनको वर्तमानमें दिखायी पड़ीं उन्हींको लिखा है।

नोट—यहाँ 'सुरसरितहि' शब्दसे स्पष्ट है कि गङ्गाजीहीमें सरयूजीका मिलना कहते हैं न कि गङ्गाजीका सरयूजीमें। वर्तमान कालमें सरयूजीहीका गङ्गाजीमें मिलना कहा और देखा जाता है। इसीके अनुसार ग्रन्थकारने लिखा है। अथवा, अन्य कारणोंसे जो आगे दिये जाते हैं वा कल्पान्तर भेदसे।—

(१) कहा जाता है कि गङ्गाजीने ब्रह्माजीसे वर माँग लिया था कि कोई भी नदी क्यों न हो जिससे हमारा संगम हो वह हमारे संगमसे आगे हमारे ही नामसे प्रसिद्ध हो इस कारणसे भी सरयूमें संगम होनेपर सरयूका नाम गङ्गा ही ख्यात हुआ। इसका प्रमाण आनन्दरामायण, यात्राकाण्ड सर्ग ४ के श्लोक 'वरदानात्कलौ शम्भोर्गङ्गा ख्याति

गमिष्यति। अग्रे सागरपर्यन्तमेनां गङ्गां वदन्ति हि ॥ ९१ ॥ तव पादसमुद्भूता या विश्वं पाति जाह्नवी। इयं तु नेत्रसम्भूता किमग्रे वदाम्यहम् ॥ ९२ ॥ कोटिवर्षसहस्रैश्च कोटिवर्षशतैरपि। महिमा सरयूनद्या कोऽपि वक्तुं न वै क्षम' ॥ ९३ ॥' में मिलता है। इस वरदानका कारण यह कहा जाता है कि सरयू-सागर-सङ्गमसे कुछ दूरपर कपिलजीका आश्रम था। सरयूजीसे कहा गया कि आप अपनी धारा वहाँ ले जाकर सगरपुत्रोंको मुक्त करें, पर उन्होंने साफ जवाब दे दिया कि हमारा आविर्भाव अयोध्याजीके निमित्त था, हम अपनी मर्यादा उल्लङ्घन न करेंगी। गङ्गाजीने इस शर्तपर कि सरयू-गङ्गा-सङ्गममें हमारा ही नाम पड़े तो हम सहस्रधारा होकर सगरपुत्रोंको कृतार्थ करें। अतएव यह वर उनको मिला कि कलियुगमें सङ्गमसे तुम्हारा ही नाम ख्यात होगा। सरयूजीने इसे स्वीकार कर लिया।

(२) अथवा, गुरु-आज्ञासे, भगीरथजी गङ्गाजीको लाये, सगरके पुत्रोंका उससे उद्धार हुआ। इससे गङ्गाका माहात्म्य लोकमें प्रसिद्ध हुआ तथा कालान्तरके कारणसे सरयूका नाम सङ्गमसे गङ्गा ही प्रसिद्ध हो गया।

(३) श्रीसरयूजी गुरु वसिष्ठकी कन्या हैं अर्थात् वसिष्ठजी सरयूजीको अयोध्याजीमें लाये और गङ्गाजी राजाकी कन्या हैं। अर्थात् राजा भगीरथ गङ्गाजीको पृथ्वीपर लाये। जैसे गुरुकी कन्याको देखकर राजकन्या उसे आदरपूर्वक गोदमें ले लेती है इसी भाँति दोनोंका मिलना जानिये। मानो सरयूजीको गङ्गाजीने गोदमें ले लिया।

(४) सरयूजी नेत्रजा हैं अर्थात् भगवान्के नेत्रसे निकली हैं, और गङ्गाजी भगवान्के चरणसे निकली हैं। जो जल नेत्रसे चलेगा वह चरणकी ओर जावेगा। इसीसे सरयूजीका गङ्गामें मिलकर फिर 'गङ्गा' ही नामसे कहना कहा।

(५) मा० त० वि० कार लिखते हैं कि 'शतकोटिरामायणमें वैवस्वत मनुका वचन है कि मुद्गल ऋषिके लिये बद्रीक्षेत्रमें श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे लक्ष्मणजी बाणद्वारा सरयूजीको सुरसरिमें ले आये।' आनन्दरामायण यात्राकाण्डमें भी यह कथा है। श्लोक ९५ से ९७ तक।

नोट—स्कन्दपुराण रेवाखण्डमें लिखा है कि एक बार मनु महाराजने त्रिपुरी तीर्थमें जाकर नर्मदातटपर यज्ञ किया। यज्ञकी समाप्तिपर नर्मदाकी स्तुति की और उनके प्रसन्न होनेपर वर माँगा कि देवलोकमें जो गङ्गा आदि अनेक नदियाँ हैं वे अयोध्या प्रदेशमें प्रकट हो जायँ। नर्मदाने वर दिया कि त्रेताके प्रथम भागमें भगीरथ गङ्गाको इस लोकमें लावेंगे। द्वितीय भागमें यमुना, सरस्वती, सरयू तथा गण्डकी आदि नदियाँ प्रकट होंगी।—इस कथाके अनुसार पहले गङ्गा आयीं तब सरयू।—इससे शङ्का नहीं रह जाती।

सानुज राम समर जसु पावन। मिलेउ महानदु सोन सुहावन ॥ २ ॥

शब्दार्थ—महानदु = बड़ी नदी। अथवा, पुराणानुसार एक नदका नाम है। प० शिवलालपाठकजी महानदसे गण्डकी नदीका अर्थ करते हैं।

अर्थ—भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीका पवित्र यश जो युद्धमें हुआ वही मानो सुन्दर महानद सोन उसमें (गङ्गामें) मिला है ॥ २ ॥

सानुज राम समर

प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सानुज राम समर' मारीच-सुबाहुका हुआ और कोई समर सानुज नहीं हुआ। विराधको श्रीरामजीने अकेले मारा, यथा—'मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता ॥' खर-दूषण, कबन्ध और बालिको भी श्रीरामजीने अकेले मारा। लङ्कामें जो समर हुआ 'केवल सानुज राम' समर नहीं है। अर्थात् वहाँ वानर-रीछ भी समरमें इनके साथ रहे, ऐसा कोई समर वहाँ नहीं हुआ जिसमें केवल श्रीराम-लक्ष्मण ही हों। सिद्धाश्रममें ही श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयोंने साथ ही यज्ञकी रक्षामें निशाचरोंका संहार किया था, यथा—'रामु लखन दोउ बंधुबर रूप सील बल धाम। मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम ॥ १। २१५।' समरको महानद कहकर जनाया कि महासंग्राम हुआ।

नोट—१ 'सानुज' से यहाँ केवल श्रीलक्ष्मणजीका ग्रहण होगा क्योंकि समरमें और कोई भाई साथ न थे।

२ मानसमयङ्ककार कहते हैं कि 'लक्ष्मणजीका वन-चरित सोन है और श्रीरामचन्द्रजीका यश महानद (गण्डकी) है'। वे 'सानुज राम समर' का अर्थ 'रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी दोनोंका एक साथ जहाँ समर यश है' ऐसा नहीं करते। इसका कारण वे यह कहते हैं कि 'यहाँ मूलमें उपमेय दो यश कहा—एक लक्ष्मणका, दूसरा रामका और उपमान एक सोन कहनेसे साहित्यानुसार विरोध पड़ता है। पुनः सोन और महानद आमने-सामनेसे आकर गङ्गामें मिले हैं।' मा० त० वि० कार और शुकदेवलालजीका भी यही मत है।

३ 'समर जसु पावन' इति। 'समर-यश' और फिर 'पावन' यह कैसे? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर लोगोंने इस प्रकार दिया है कि—(क) 'पावन' कहनेका भाव यह है कि छल करके नहीं मारा, संग्राममें मारा, (प० रा० कु०)। इस समरमें कहनेके लिये भी कोई स्वार्थ न था। (ख) निशाचरोंके वधसे अधर्म होना बन्द हो गया, धर्मका प्रचार हुआ। भक्तों, मुनियों, सन्तों, देवताओं एवं समस्त लोकोंको इस समरमें सुख प्राप्त हुआ। सन्त, भक्त, ऋषि, मुनि निष्कण्टक हो भजनमें लगे, देवता बन्दीखानेसे छूटे और फिरसे सुखसे बसे, इत्यादि कारणोंसे समर-यशको पावन कहा। (मा० प्र०)। (ग) निशाचरोंकी अधम देह छूटकर उनकी मुक्ति हुई, इसलिये पावन कहा। यथा—'निर्वानदायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी। ३। २६।' 'एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निजपद दीन्हा॥ बा० २०९।' (घ) रामयश तो सभी पावन है। समरयशमें जीवहिंसा होनेके कारण सन्देह किया जाता है कि वह पावन कैसे? पर यह यश तो और भी पावन समझना चाहिये, क्योंकि इसीसे तो सर्व धर्मोंका निर्वाह और प्रतिपालन हुआ। ऋषि स्वच्छन्द होकर यज्ञादि कर सके, नहीं तो मारीचादिके भयसे विश्वामित्र ऐसे महामुनि भी यज्ञ न कर पाते थे। (मा० प्र०)

४ 'मिलेउ महानद सोन' इति। (क) सोन एक प्रसिद्ध महानद है जो मध्यप्रदेशके अमर-कण्टककी अधित्यका भूमिसे, नर्मदाके उद्गमस्थानसे दो-ढाई मील पूर्वसे निकला है और उत्तरमें मध्यप्रदेश तथा बुन्देलखण्डमें होता हुआ पूर्वकी ओर प्रवाहित हुआ है और बिहारमें दानापुरसे दस मील उत्तर गङ्गामें मिला है। बिहारमें इस नदका पाट कोई ढाई-तीन मील लम्बा है। वर्षाऋतुमें समुद्र-सा जान पड़ता है। इसमें कई शाखा नदियाँ मिलती हैं जिनमें कोइल प्रधान है। गर्मीमें इस नदमें पानी बहुत कम हो जाता है। इसका नाम 'मागध' भी हो गया है।

गण्डकी नदी नैपालके हिमालयसे निकलकर बहुत-सी छोटी नदियोंको लेती हुई पटनेके पास गङ्गामें गिरती है। इसमें काले रंगके गोल-गोल पत्थर निकलते हैं, जो शालग्राम कहलाते हैं।

(ख) 'महानद सोन'—वीरताके पावन यशको, अति उदात्त होनेसे, नदी न कहकर महानद शोणसे उपमित करते हैं। शोण महानद दक्षिण ऋक्षवान्‌से आकर गङ्गाजीसे मिला है, इसी भाँति यह पावन समरयश भी दक्षिण सिद्धाश्रमसे आकर रामभक्तिके अन्तर्गत हो गया। अतः दोनों भाइयोंके पावन यशको महानद शोण कहा। (वि० त्रि०)

(ग) जब सरयूकाव्य रामसुयशसे भरा हुआ आकर भक्ति भागीरथीसे मिल ही चुका था, फिर समरयशको उससे अत्यन्त पृथक् करके शोणसे उपमित करनेका कारण यह है कि इसमें वैरभावसे भजन करनेवालोंकी (निशाचरोंकी) कथा है। इसका भी मेल रामभक्तिसे हुआ, पर यह उस रामयशसे एकदम पृथक् है, जिसमें प्रेमसे भजन करनेवालोंको आनन्द ही-आनन्द है, और वैरसे भजन करनेवालोंको यावज्जीवन प्रेमका आनन्द नहीं होता बल्कि द्वेषसे जला करते हैं, अतः दोनोंको अलग-अलग कहना पड़ा। (वि० त्रि०)। वैरभावसे भजनेवालोंका वध ही किया जाता है।

(घ) सुधाकरद्विवेदीजी इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'उसमें लक्ष्मणरामका रणयश कुछ क्रोध होनेसे लाल वर्णका शोण महानद मिल जानेसे महापवित्र स्थान हरिहरक्षेत्रसे भी अधिक पुनीत हो गया। युद्धमें रक्तकी धारा बहती है, इसलिए रुधिरका रंग नदीमें रक्षक किया ही जाता है।

(ङ) मा० प्र०—सोनकी धारा बड़ी तीव्र है, भयावनी लगती है, वैसे ही समर बड़ा भयावन है। जैसे सोन नदीसे मगध-सी अपवित्र भूमि पवित्र हो गयी वैसे ही यद्यपि समर देखनेमें बड़ा भयावन है तथापि इस समरमें राक्षसों-की मुक्ति हुई। इस तरह शोणभद्र और समरयशकी एकता हुई।

☞ऐसा जान पड़ता है कि मानस-परिचारिकाकार तथा प० रामकुमारजी महानदको 'सोन' का विशेषण मानते हैं। इसमें मानसमयङ्ककारकी गङ्गाकी जगह भी नहीं रहती। इसीसे आगे भी सरयू और शोणभद्रके बीचमें गङ्गाका शोभित होना कहा। दूसरे, 'सानुज राम' कथनसे अनुजका यश पृथक् नहीं कहा गया। तीसरे, महानद और सोनभद्रसे यदि दो नद अभिप्रेत होते तो 'मिलेउ' एकवचनसूचक क्रिया न देते। चौथे, परम्परागतके पढ़े हुए मा० मा० कार एवं श्रीनगेपरमहमजीने भी महानदको शोणका विशेषण माना है। पाँचवें, महानद पुँल्लिङ्ग है, गण्डकी स्त्रीलिङ्ग है। गण्डकी अभिप्रेत होता तो 'महानदि' लिखते अथवा 'गण्डकी' प्रसिद्ध शब्द ही रख देते। 'महानद' की जगह 'गण्डकी' बैठ भी जाता है। स्मरण रहे कि नद (पुरुष) सात माने गये हैं, शेष सब स्त्रीलिङ्ग माने गये हैं। यथा—'शोणासिन्धुहिरण्याख्या कोकलोहितघर्घरा। शतद्रुश्च नदाः सप्त पावनाः परिकीर्तिताः॥' (देवलवाक्य। निर्णयसिन्धु परिच्छेद २ श्रावण प्रकरण)। शोणभद्र, सिंधु, ब्रह्मपुत्र, सतलज, झेलम, घाघरा और व्यास ये सात नद हैं। पुनश्च यथा—'गण्डक पुंसि खड्गे स्यात् संख्याविद्याप्रभेदयोः। अवच्छेदेऽन्तराये च गण्डकी सरिदन्तरे॥' इति विश्वमेदिन्यौ (अमर २। ५। ४)

जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥ ३॥

शब्दार्थ—देवधुनि—देव + धुनि (= नदी। यह संस्कृत शब्द है)= देवनदी = गङ्गाजी।

अर्थ—(शोण और सरयू) दोनोंके बीचमें गङ्गाजीकी धारा कैसी सुहावनी लगती है, जैसे ज्ञान और सुष्ठु वैराग्यके सहित भक्ति (शोभित हो)॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'यहाँ विचार ज्ञानका वाचक है। सरयू विरति है, सोनभद्र ज्ञान है, गङ्गा भक्ति है। जैसे सरयू और सोनभद्रके बीचमें गङ्गा, वैसे ही ज्ञान और वैराग्यके बीचमें भक्ति है। ऐसा कहनेका भाव यह है कि कीर्तिके सुननेसे वैराग्य होता है, समरयश सुननेसे ज्ञान होता है, अतएव लङ्काकाण्ड 'विज्ञानसम्पादिनी नाम सोपान है।' ज्ञान-वैराग्यसे भक्तिकी शोभा है। इसीसे तीनोंको जहाँ-तहाँ साथ कहा है। यथा—'कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ज्ञान बिराग १। ४४।' 'श्रुति संमत हरिभगति पथ संजुत बिरति बिबेक। ७। १००।'

नोट—१ त्रिपाठीजी अर्थ करते हैं—'दोनोंके बीचमें गङ्गाजीकी धारा सुविरति और विचारके साथ शोभित है।' वे लिखते हैं कि—(क) यहाँ कार्यसे कारणका ग्रहण किया। 'बिरति' से कर्मकाण्ड कहा, यथा—'धर्म तें बिरति' और 'बिचार' से ब्रह्मविचारका ग्रहण किया। सन्तसमाज प्रयागमें जाकर भक्ति, कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड (ब्रह्म-विचार) से योग होता है। ब्रह्मविचारका सरस्वतीकी भाँति अन्तःप्रवाह रहता है और कर्म तथा भक्ति प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर होते हैं। प्रयागसे होती हुई गङ्गाजी जब बहुत आगे बढ़ जाती हैं तब जाकर सरयूका सङ्गम होता है। अतः यहाँ भक्ति गङ्गा, विरति यमुना और ब्रह्मविचार सरस्वतीके साथ वर्णन करना पूर्णतः उपयुक्त है।

(ख) 'जुग बिच' इति। एक ओर तो उत्तरसे दक्षिण बहती हुई सरयू आयी, दूसरी ओर दक्षिणसे उत्तर बहता हुआ महानद शोण आया। बीचमें यमुना और सरस्वतीसे मिली हुई गङ्गाजीके पश्चिमसे पूर्वके प्रवाहकी अद्भुत शोभा है। इसी भाँति एक ओरसे माधुर्यगुणयुक्त रामसुयश बह रहा है, दूसरी ओरसे ऐश्वर्यगुणयुक्त समरयशका प्रवाह आ रहा है, बीचमें वैराग्य और ब्रह्मविचारके साथ भक्तिकी अविच्छिन्न धाराकी अद्भुत शोभा है।

२—'यहाँ भक्तिमें विरति और विचार क्या है?' यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर श्रीजानकीदासजी यह देते हैं कि श्रीमनुजीने पहिले विचार किया कि 'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥ दो० १४२।'—यह जो हृदयमें सोचा यही 'बिचार' है। और तत्पश्चात् जो 'बरबस

राज सुतहि तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा'—यह वैराग्य है। पहिले विचार किया तब वैराग्य हुआ तब भक्ति (यही मत श्रीबैजनाथजीका है)। बाबा जानकीदासजीके मतानुसार यह अर्थ हुआ कि 'जैसे सरयू और शोणके बीचमें गङ्गा शोभित हैं वैसे ही सुन्दर वैराग्य और विचारके सहित भक्ति शोभित है। कीर्तिरूपा कविता सरयू और समर यशरूप शोणके बीचमें भक्तिगङ्गा।'

३—करुणासिन्धुजी 'सुबिरति बिचारा' का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि 'सुबिरति'=सुष्ठु वैराग्य। (सु) विचार=सुष्ठु विचार। असत्‌का त्याग सुष्ठु वैराग्य है और सत्‌का ग्रहण सुष्ठु विचार है। बिना इनके भक्तिकी शोभा नहीं।'

नोट—४ मा० म० 'जुग' से महानद गण्डकी और शोनका अर्थ करते हैं। अर्थात् इन दोनोंके मध्य सुबिरति और विचारसहित भक्ति गंगा शोभित है। शोण दक्षिणसे आकर शेरपुरके पास मिला और महानद उत्तरसे आकर राम-चौराके बायें गंगामें मिला।—परपराके पढे हुए मा० मा० कारने इस अर्थको 'अथवा' में रखा और मा० म० के भावको इस तरह निर्वाह करनेकी चेष्टा की है कि 'काव्य सरयूको भक्तिगङ्गा निज उदरमें लेकर लखनलालके समरयशशोन और श्रीराघवसमरयश शालग्रामी ये दोनोंके बीचमें दोनोंकी मर्यादाकी रक्षा करती हुई सनातन रहती है। न तो भक्तिने रामसमरयशको दबाया और न लखनलालके समरयशको ही दबाया। चारों एकमें भिन्न-भिन्न होकर शोभा देती और साथ ही समुद्रमें मिलती है अर्थात् रामरूपमें प्राप्त होती हैं।'

त्रिबिध ताप त्रासक तिमुहानी। रामसरूप सिंधु समुहानी॥ ४॥

शब्दार्थ—तिमुहानी=तीन मुखवाली।=वह स्थान जहाँ तीन ओरसे नदियाँ आकर मिली हों। तीन नदियोंका सगम होनेसे गङ्गाको तिमुहानी कहा। गङ्गामें पहले सरयू मिलीं फिर शोण।

अर्थ—तीनों तापोंको त्रास देनेवाली यह तिमुहानी गङ्गा रामस्वरूप सिन्धुकी ओर चली॥ ४॥

नोट—१ 'त्रिबिध ताप त्रासक तिमुहानी' इति। (क) जैसे तीन मुँहवाले मनुष्यको देखनेसे डर लगे वैसे ही तीन नदियोंके संगमपर तीव्र धारा भयावन लगती है। इसीसे 'त्रासक' कहा। त्रिविध=तीन प्रकारका अर्थात् दैहिक, दैविक और भौतिक। यथा—'दैहिक दैविक भौतिक तापा। ७।२१।१।' शारीरिक कष्ट जैसे ज्वर, खाँसी, फोड़ा, फुन्सी इत्यादि रोग तथा काम, क्रोधादि मानसरोग दैहिक ताप है। देवताओं अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों ग्रहादि द्वारा जो क्लेश होता है उसे दैविक ताप कहते हैं जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बिजली गिरना, पाला इत्यादि। सर्प, बिच्छू, पशु इत्यादिद्वारा जो दुःख हो वह भौतिक ताप है। इन्हींका दूसरा नाम आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक है।

(ख) रघुवंश सर्ग ८ में श्रीसरयूगङ्गासंगमके प्रभावका उल्लेख मिलता है। उस प्रसंगकी कथा इस प्रकार है—'श्रीदशरथजी महाराजकी माता इन्दुमती थीं जिनको 'अज' महाराज स्वयंवरमें जीतकर लाये थे। राजा दशरथकी बाल्यावस्थामें एक दिन नारद मुनि वीणा बजाते हुए आकाशमार्गसे निकले, वीणापरसे एक पुष्पमाला खिसकी और श्री-इन्दुमतीजीके हृदयपर गिरी जिससे उनके प्राण निकल गये। अज महाराज बहुत शोकातुर हुए तब वसिष्ठजीने शिष्य द्वारा उनको उपदेश कहला भेजा और बताया कि रानी इन्दुमती पूर्व जन्मकी अप्सरा है जो तृणबिन्दुऋषिका तपोभंग करनेको गयी थी। ऋषिने मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेका शाप दिया और प्रार्थना करनेपर देवपुष्पदर्शनतक शापकी अवधि नियुक्त कर दी। देवपुष्पके दर्शनसे उसका शाप समाप्त हुआ। उस समय दशरथजी बहुत छोटे थे। आठ वर्षके पश्चात् श्रीदशरथजीको राज्यपर बिठाकर राजा अज उसी शोकसे व्याकुल श्रीसरयू-गंगा-संगमपर आये और वहाँ प्रायोपवेशन करके उन्होंने अपना प्राण त्याग दिया। स्वर्गमें पहुँचनेपर इन्दुमतीकी वहाँ प्राप्ति हुई जो पूर्वसे अब अधिक सुन्दर थी। 'तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोर्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः। पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥ ९५॥' इस तीर्थका माहात्म्य स्कन्दपुराणमें यह लिखा है कि इस तीर्थमें किसी प्रकार भी जो देह त्याग करता है उसको अपने इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है और आत्मघातका दोष नहीं

लगता। यथा—'यथाकथचित्तीर्थेऽस्मिन्देहत्याग करोति य । तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयार्दीप्सितान्यपि ॥' (मल्लिनाथटीकामे)।

त्रिपाठीजी—जैसे कोई राजमार्ग पश्चिमसे पूर्वको जा रहा हो, उसमें एक मार्ग उत्तरसे आकर मिल जाय और एक दक्षिणसे आकर मिल जाय तो उन सङ्गमोके बीचके स्थलको तिमुहानी कहते हैं। इसी भाँति माधुर्य गुणोके अनुध्यानसे भी भक्तिकी प्राप्ति होती है, तथा ऐश्वर्य गुणोके अनुध्यानसे भी भक्तिकी ही प्राप्ति होती है, अत रामसुयश तथा 'सानुज रामसमरयश' दोनोका भक्तिरूपी राजपथमें ही मिलना कहा। माधुर्य और ऐश्वर्यका विराग विचारयुक्त भक्तिमे मिल जानेसे यहाँ भी तिमुहानी हो गयी।

यहाँपर श्रीगोस्वामीजीने हिन्दी-प्रसारकी सीमा भी दिखला दी। हिन्दी-भाषा-भाषी ससारके पश्चिमकी सीमा यमुना नदी है, पूर्वकी सीमा गङ्गाशोणसङ्गम है। उत्तरकी सीमा सरयूनदी और दक्षिणकी सीमा शोण है। इन्हीं प्रान्तोंमें हिन्दी बोली जाती है। अत इतनेमें ही श्रीगोस्वामीजीने अपने काव्यका रूपक बाँधा है।

टिप्पणी—१ (क) गङ्गा-सरयू-सोनका सङ्गम 'तिमुहानी' है। त्रिविध तापकी त्रास करनेवाली तीनों नदियाँ हैं। जब ये तीनों त्रिमुहानी हुईं तब रामस्वरूप सिन्धुके सम्मुख चलीं। भाव यह है कि जैसे इनका सङ्गम होनेपर समुद्रकी प्राप्ति होती है, वैसे ही ज्ञान, वैराग्य और भक्ति होनेसे श्रीरामजी मिलते हैं। (ख) 'सिन्धु' कहनेका भाव यह है कि तीनों नदियोंका पर्यवसान समुद्र है और ज्ञान, वैराग्य, भक्तिके पर्यवसान श्रीरामजी हैं। (ग) गङ्गाजीमें सोन और सरयूका सङ्गम कहकर तब समुद्रके सम्मुख चलना कहा अर्थात् दोनोको लेकर गङ्गाजी समुद्रमें मिलीं। समुद्रके मिलनेमें गङ्गाजी मुख्य हैं, इसी तरह ज्ञान वैराग्य-सहित श्रीरामजीकी प्राप्ति करनेमे भक्ति मुख्य है।

नोट—२ (क) श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि सरयू, सोन और गङ्गा तीनों मिलकर समुद्रको चलीं। जहाँ समुद्रमे मिलीं वहाँ तिमुहानी गङ्गाकी धारा कुछ दूर समुद्रके भीतरतक चली गयी है। वैसे ही यहाँ कैलास-प्रकरण दोहा ११५ से कीर्ति सरयू चलकर मनुशतरूपाजीकी अनन्य रामभक्तिमें मिली, फिर इसमे सानुज-राम-समर-यश (जो मारीच-सुबाहुके समरमें हुआ) रूपी शोण मिला। ये तीनो श्रीरामचन्द्रके राजसिंहासनपर विराजमान स्वरूपके सम्मुख चलीं और मिलीं। इसके पश्चात् जो चरित 'प्रथम तिलक वसिष्ठ मुनि कीन्हा। उ० १२।' से लेकर शीतल अमराईके प्रसग दोहा ५१ तक वर्णित है वह नित्य चरितका है। यह नित्य चरित्रका वर्णन स्वरूप-सिन्धुमें पैठकर धाराका कुछ दूरतक चला जाना है। (मा० प्र०)। (ख) समुद्रके समीप गङ्गाका चलना कहकर अर्थात् पहिले सरयू-शोण गङ्गाका सगम कहकर फिर समुद्रकी ओर चलना कहा और सगमका फल कहा। अब केवल सरयूका वर्णन करेंगे—(मा० द०)।

वीरकवि—यहाँ 'उक्तविषयागम्यवस्तूत्प्रेक्षा' है, क्योंकि बिना वाचक पदके उत्प्रेक्षा की गयी है। यहाँ अनुप्रास, उत्प्रेक्षा और रूपक तीनोंकी ससृष्टि है।

मानस मूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजन मन पावन करिही ॥ ५ ॥

अर्थ—इस कीर्ति-सरयूका मूल (उत्पत्तिस्थान) मानस है और यह गङ्गाजीमे मिली है। (इसलिये) इसके सुननेसे सुजनोंका मन पवित्र होगा ॥ ५ ॥

नोट—१ यहाँसे सिंहावलोकन न्याय काव्य रचना है अर्थात् जैसे सिंह चलकर फिर खड़ा होकर अगल-बगल दृष्टि डालता है वैसे ही ऊपर राजतिलक-प्रसग कहकर फिर पीछेका प्रसग मानस, गङ्गा और सरयूका वर्णन उठाया और बीचके प्रसग कहेंगे। समुद्र-सगम और सगमका माहात्म्य दो० ४० (४) में कहा, अब फिर सरयूका वर्णन करते हैं और माहात्म्य कहते हैं। यहाँसे आगे सरयूजी और कीर्तिसरयूका रूपक चला।

टिप्पणी—१ (क) नदी कहकर अब नदीका मूल कहते हैं। इसका मूल मानस है। (ख) नदीका सगम समुद्रसे कहना चाहिये जैसे अन्य-अन्य स्थानोंमें कहा है। यथा—(क) 'रिधि-सिधि सपति नदी सुहाई।

उमगि अवध अबुधि कहँ आई। २। १।' (ख) 'ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला ॥' २। ३४।' तथा यहाँ भी समुद्रमें मिलना कहा, यथा—'त्रिबिध ताप त्रासक तिमुहानी। रामसरूप सिंधु समुहानी ॥' (ग) मूल और सगम कहकर इस कीर्ति नदीका आदि और अन्त दोनों शुद्ध बताये,* सुनते ही सुजन बना देती है और मनको पावन करती है। अथवा यहाँ यह दिखाया कि श्रोता सुजन हैं इससे सुजनके मनको पवित्र करती है, आप पवित्र हैं और अपने श्रोताको पवित्र करती है। मनकी मलिनता विषय है, यथा—'काई विषय मुकुर मन लागी। १। ११५।' सुजनके मनको भी विषय मलिन करता है, यथा—'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पसु कपि अतिकामी ॥ कि० २१।' (घ) 'पावन करिही' कहनेका भाव यह है कि अभी तो चली है, आगे पावन करेगी।

नोट—पाण्डेजी भी यही भाव कहते हैं अर्थात् 'सुननेवालेको सुजन और उसके मनको पावन करेगी'। 'सुजन= अपने जन=सुन्दर जन।' इस अर्धालीमें 'अधिक अभेदरूपक' का भाव है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीके दो श्रोता है—एक सुजन, दूसरा मन। अत. यहाँ 'सुजन और मन' दोनोंका ग्रहण है।

बिच बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सरि तीर तीर बनु बागा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—विभाग=प्रकरण, प्रसङ्ग।

अर्थ—इस कीर्ति सरयूके बीच-बीच जो विचित्र कथाओंके प्रकरण अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकारकी विचित्र कथाएँ कही गयी हैं वे ही मानो नदीके किनारेके पास-पासके वन-बाग हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) बीच-बीचमें कथाके जो विभाग हैं वे मानो सरिके तीर-तीर वन बाग हैं। बड़ी कथा वन है, छोटी कथा बाग है। (ख) यहाँ वाटिका क्यों न लिखी? क्योंकि नदीके तीर वाटिका नहीं होती, मानस सरके तीर वाटिका है, इसलिये वहाँ वाटिका भी दिखायी थी, यथा—'पुलक वाटिका बाग बन ·।' (ग) वृक्षोंका दो बार वर्णन किया गया, एक तो 'कलिमलतृन तरु मूल निकंदिनि' में और दूसरे यहाँ वन-बागमे भी तरु हैं। दो बार इससे लिखा कि 'कलिमलतृन तरु …' से करारके वृक्ष सूचित किये और यहाँ करारके ऊपर जो बाग-वनमे वृक्ष लगे है उनको बताया। पहलेवालोंको उखाड़ती हैं और वन-बागको ललित करती हैं।

वि० त्रि०—'बिचित्र बिभागा' इति। कथाका विभाग एक-सा नहीं है। 'सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम जनम सिवपद अनुरागा ॥' इसलिये सतीका पर्वतराजके घर जन्म हुआ और उन्होंने सर्वज्ञ नारदके उपदेशसे तपस्या की। नारद-मोहकी कथा इससे बिलकुल नहीं मिलती। नारदजीको कामजयका अभिमान हुआ, अत भगवान्‌से प्रेरित मायामयी मूर्ति विश्वमोहिनीपर वे मोहित हो गये। भानुप्रतापकी कथा इन दोनोंसे विलक्षण है। ये कपटी मुनिपर श्रद्धा करनेमें मारे गये। अत 'विचित्र विभाग' कहा।

नोट—१ (क) 'सरि तीर तीर' पद देकर सूचित करते हैं कि ये कथाएँ रामचरितमानसकी नहीं हैं किंतु रामसुयशके प्रसङ्गसे कुछ दूरका सम्बन्ध रखते हैं। 'तीर' शब्द नदीसे अलग बाहर होना सूचित करता है। (ख) यहाँसे कीर्ति-सरयू और साक्षात् सरयूका रूपक कहते हैं। सरयूके तीर-तीर कुछ जलका स्पर्श किये हुए वन-बाग है, वैसे ही कीर्ति-सरयूके लोकमत, वेदमत दोनों तटोंपर बीच-बीचमें विचित्र भाग-विभागकी कथाएँ हैं। वन-बागसे नदीकी शोभा, विचित्र कथा-विभाग से कीर्ति शोभित। (मा० प्र०)। (ग) सरयूतटपर पुर, ग्राम, नगर ही नहीं है, किंतु वन और बाग भी हैं, वैसे ही कीर्ति-सरयूके दोनों तटोंपर श्रोताओंके अतिरिक्त बीच-बीचमें विचित्र कथाएँ भी हैं।

---

* उत्तररामचरितमें कहा है कि जिसकी उत्पत्ति ही पवित्र है, उसे और कोई क्या पवित्र करेगा? जैसे तीर्थोंके जल और अग्निको पवित्र करनेवाला दूसरा नहीं है, यथा—'उत्पत्ति· परिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः। तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः ॥'

प्रश्न—श्रीरामचरितमानसमें वे कथाएँ कहाँ वर्णन की गयी है, उनमें कौन वन-बाग हैं और क्यों ?

उत्तर—(१) कीर्ति-सरयूका प्रसङ्ग शिवजीने उठाकर जलन्धरकी कथा, नारद-मोह, भानुप्रतापकी कथा, रावणका जन्म, दिग्विजय इत्यादि कथाएँ कहीं, वे ही ये कथाएँ हैं। सातों काण्डोंमें जहाँ-जहाँ मुख्य रामचरितका प्रसङ्ग छोड़कर दूसरी कथाका प्रसङ्ग आया और उसकी समाप्तिपर फिर मुख्य प्रसङ्ग चला वे सब 'बीच' की कथाएँ हैं। जलन्धरकी कथा तथा नारद-मोह-प्रसङ्ग क्रमसे छोटा और बड़ा बाग हैं। भानुप्रताप-कथा-प्रसङ्ग वन है। रावणका जन्म, दिग्विजय, देवताओंसे विचार—ये वेद-मत तीरके वन-बाग हैं। शिव-विवाहके उपरान्त जेवनार इत्यादि सब लोकमत तीरके वन बाग हैं। इसी तरह सारे प्रसङ्गोंकी योजना कर ले, लौकिक प्रसङ्ग लोकमततीरके और वैदिक प्रसङ्ग वेदमत-तीरके वन-बाग समझ लें। (मा० प्र०)।

(२) मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि सतीमोह, सतीतनत्याग, नारदमोह, प्रतापभानु, रावणजन्म और दिग्विजय—ये कथाएँ विषम वनरूप हैं क्योंकि दुःखदायी हैं। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद, पार्वती जन्म, तप और शिवजीसे विवाह, शिव-पार्वती-संवाद, मनुशतरूपाकी कथाएँ बागरूप हैं, फलकी देनेवाली हैं। ये सब मिलकर बारह कथाएँ रामचरितके बाहरकी हैं। (पाँड़ेजी)।—(परन्तु संवादको सरका घाट कह आये हैं ?)

(३) 'जैसे वन-बागसे पथिकोंको आनन्द होता है वैसे ही हर-एक विषयकी कथासे हर-एक भावके लोगोंको आनन्द होता है।' (मा० त० वि०)।

(४) वनमें लोग भटक जाते हैं। सतीजी, नारदजी, भानुप्रताप आदि भी अपना रास्ता भूलकर भटक गये। श्रीगिरिजाजन्म और स्वायम्भुवमनुशतरूपाकी कथाओंमें कार्त्तिकेय-जन्म, रामचरितमानसकी कथा और ब्रह्मका अवतार आदि फल हैं जिनसे संसारका कल्याण हुआ। यहाँ सुख-ही-सुख है।

उमा महेस बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती॥ ७॥

शब्दार्थ—बरात (सं० वरयात्रा)=विवाहके समय वरके साथ कन्यापक्षवालेके यहाँ जानेवाले लोगोंका समूह जिसमें शोभाके लिये बाजे, हाथी, घोड़े, ऊँट या फुलवारी आदि भी रहती है। जो लोग बरातमें जाते हैं वे बराती कहलाते हैं।

अर्थ—श्रीपार्वती महादेवजीके विवाहके बराती ही (कीर्तिसरयूके) बहुत भाँतिके अगणित (अनगिनती) जलचर हैं॥ ७॥

नोट—१ 'जलचर बहु भाँती' इति। नदीमें बहुत प्रकारके रंग बिरंगके बहुत-से जलचर होते हैं। कोई-कोई भयानक होते हैं और कोई-कोई सुन्दर भी, किसीका मुख बड़ा, किसीका पेट, किसीका सिर पेटके भीतर, इत्यादि। शिव-गण भयानक हैं, यथा—'कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू' से 'देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥ १। ९३। ६।' से ९३ तक। ये भयावने जलचर हैं। विष्णु, ब्रह्मा आदि सुन्दर जलचर हैं। बराती बहुत भाँतिके हैं और बहुत हैं, सुन्दर भी हैं और भयावने भी, यह समता है।

वि० त्रि०—१ सात्त्विक लोग देवताओंका यजन करते हैं, राजसिक लोग यक्ष-राक्षसोंकी पूजा करते हैं और तामसिक लोग भूत-प्रेतोंकी पूजा करते हैं। सो इस बरातमें सभी देवता हैं, सभी मुख्य-मुख्य यक्ष, राक्षस, भूत और प्रेत हैं। अतः बरात क्या है त्रैलोक्यके लिये इष्टदेवोंका समाज है। जड-जन्तुओंसे उपमा देकर यह भी दिखलाया है कि इस कविता-सरिमें मज्जन करनेवालोंको इनसे बचकर रहना चाहिये, नहीं तो ये उदरस्थ कर लेंगे। अर्थात् इन्हें इष्टदेव मान लेनेसे इन्हींकी गति होगी, फिर श्रीरामपदकी प्राप्ति न हो सकेगी। यथा—'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता), 'जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर। तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि०। २। १६७।' शिवजीके भूत-प्रेतादि गण भी रामयशमें विहार करनेवाले हैं, फिर भी इनका दूरसे ही दर्शन सुखद है; इनके भजन करनेके फेरमें न पड़े, नहीं तो श्रीरामभक्तिसे दूर निकल जायगा।

मानससरमें 'नवरस जप तप जोग विरागा' जलचर थे और यहाँ महादेवजीके विवाहके बरातीगण जलचर बता रहे हैं। बात यह है कि यशके प्रचारके साथ-साथ गूढ विषय नहीं चल सकते। सरयू नदि तो श्रीमानसका प्रचार मात्र है। श्रीगोस्वामीजीके पहिले श्रीरामयशका प्रचार इतना अधिक नहीं था। यह तो उनके काव्य श्रीराम-चरितमानसके प्रचारका ही प्रभाव है कि श्रीरामकथाके विस्तारसे सभी परिचित हो गये हैं, अतः काव्यके प्रचारसे जिस भाँति रामयशका विस्तार होगा उसी भाँति उसमें वर्णित गूढ विषयोंका प्रचार नहीं हो सकता, अतः प्रचाररूपिणी सरयूसरिके रूपकमें श्रीरामचरितमानसमें वर्णित अन्य विषयोंको छोड़कर केवल कथाभागसे ही काम लिया है।

रघुबर जनम अनंद बधाई। भवँर तरंग मनोहरताई ॥ ८ ॥

अर्थ—रघुवर-जन्मपर जो आनन्द और बधाइयाँ हुईं वे (कीर्तिसरयूके) भँवर और तरंगोंकी मन हर लेनेवाली शोभा हैं ॥ ८ ॥

नोट—१ यहाँ 'रघुवर' पदसे ग्रन्थकारकी सावधानता और चतुरता झलक रही है। यह शब्द देकर इन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके साथ ही-साथ उनके तीन भ्राताओंको भी सूचित किया है। श्रीमद्गोस्वामीजीने इस शब्दको और भाइयोंके लिये भी दो-तीन ठौर दिया है। जैसे—'बरनउँ रघुबर बिमल जसु। अ० म०।' में रघुवर केवल श्रीभरतजी, अथवा श्रीरामचन्द्रजी और श्रीभरतजी दोनोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। फिर 'मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ। कि० म०।' में श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंको 'रघुवर' कहा है। 'बाजत अवध गहगहे आनद बधाए। नाम करन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाए ॥ गी० १ । ६ । १ ।' में भी आनन्द-बधाईके समय चारों भाइयोंके लिये 'रघुवर' शब्द आया है। पुनश्च यथा—'नेकु बिलोकि धौं रघुवरनि। चारि फल त्रिपुरारि तोको दिए कर नृपघरनि ॥ परस्पर खेलनि अजिर उठि चलनि गिरि गिरि परनि। गी० १ । २५ । १-२ ।'

२ (क)—आनन्द और बधाईको क्रमसे भँवर और तरंग कहा है। यहाँ यथासंख्य अलंकार है। आनन्द भँवर है क्योंकि मन जब आनन्दमें मग्न हो जाता है तब कुछ सुध-बुध नहीं रह जाती। आनन्द मनको अपनेमें डुबा लेता है जैसे भँवरके चक्करमें पड़ जानेसे बाहर निकलना कठिन होता है। श्रीदशरथजी आनन्दमें डूब गये—'दसरथ पुत्र जनम सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना ॥ १ । १९३ ।' इत्यादि। भँवरमें पड़नेवाला एक ही स्थानमें चक्कर खाता रहता है। सूर्यभगवान्की यही दशा हुई थी, यथा—'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ ॥ १ । १९५ ।' जब देवताओंका यह हाल हुआ तब मनुष्योंकी क्या कही जाय।

(ख) मा० मा० कारका मत है कि 'भँवर' के उपर्युक्त भावमें विरोध पड़ता है। भँवरके चक्करमें डूबना दुःखद है और यहाँ सुखद दृश्यसे उपमा है। पर इस दीनकी समझमें यहाँ मनके मग्न हो जानेमें समता है, अन्य अङ्गोंमें नहीं। सम्भवतः इसी भावसे पाँडेजीने लिखा है कि 'आनन्दको भँवर इसलिये कहा है कि वह मनको अपनेमें डुबा लेता है।' देखिये—'कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि' में वृक्षोंका उखाड़ना दोष है, परन्तु कलिमलका उखाड़ना गुण है।

(ग) 'बधाई' तरंग है, क्योंकि लोग गाते-बजाते-नाचते हुए मंगल द्रव्य लेकर चलते हैं। (खर्रा)। 'बधाई' में भी आनन्दकी लहरें, विशेषकर सात्त्विक भावकी तरंगें उठती हैं। पुनः, बधाई बजती है, वैसे ही तरंगके उठनेमें शब्द होता है। पुनः, बधाईको तरंग कहा, क्योंकि वह बाहर-बाहर रहती है। जैसे तरंगमें पड़ा हुआ मनुष्य ऊपर-ही ऊपर बहता है। बधाईका लक्ष्य, यथा—'कहा बुलाइ बजावहु बाजा। १ । १९३ ।', 'गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुखमाकंद। हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद ॥ १ । १९४ ।', इत्यादि। (पां०)।

☞ जन्म-आनन्द-बधाईका प्रसंग 'अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ। १ । १८८ । ७ ।' से 'अनुपम बालक देखेन्हि जाई। ... १ । १९३ । ८ ।' तक है।

३ जन्मके आनन्द-बधाईकी उपमा 'भँवरतरंगकी मनोहरता' से दी है। इस तरह 'जन्मके आनन्दोत्सवकी बधाई' ऐसा अर्थ अधिक सगत जान पड़ता है। आनन्दोत्सव भँवरतरंगके विलासके समान सोह रहे हैं। पर प्राय सभी टीकाकारोंने ऊपर दिया हुआ ही अर्थ किया है।

दो०—बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहु रंग।
नृपरानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग॥ ४०॥

अर्थ—चारों भाइयों (श्रीरामचन्द्रजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी) के बालचरित इस (कीर्तिसरयू) में (खिले हुए) बहुत रंगके बहुत-से कमल हैं। महाराज दशरथजी तथा रानियोंके सुकृत (उन कमलों-परके) भ्रमर हैं और कुटुम्बियोंके सुकृत जल-पक्षी हैं॥ ४०॥

नोट—१ ☞ बालचरित-प्रकरण 'सुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बालकेलि रस तेहि सुख माना॥ १। १९८। २।' से प्रारम्भ होकर 'यह सब चरित कहा मैं गाई। १। २०६। १।' पर समाप्त हुआ।

नोट—२ 'बनज बिपुल बहुरंग' इति। बनज (वनज)=वन+ज=जलसे उत्पन्न=जलज, जलजात, कमल, यथा—'जय रघुबंस बनज बन भानू। १। २८५।' वन जलको कहते हैं। यथा—'बाँधेउ बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस। ६। ५।' कमल चार रंगके होते हैं। 'सोह बहुरंग कमल कुल सोहा। १। ३७। ५।' देखिये। यहाँ बन्धु भी चार हैं। 'कौन चरित किस रंगका कमल है?' इसपर कुछ टीकाकारोंने अपने-अपने विचार लिखे हैं।

(क) मानसदीपिकाकार बालचरितमेंसे इन चारों रंगोंके कमलोंके उदाहरण इस प्रकार लिखते हैं कि—(१) 'बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥ १। २०५। ६।' श्वेत रंगके कमल हैं। (२) 'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड। १। २०१ से २०२।' तकका चरित पीतरंगका कमल है। (३) 'आयसु माँगि करहिं पुर काजा। १। २०५।' अरुण कमल है। (४) 'पावन मृग मारहिं जिय जानी। १। २०५। २।' यह नील कमल है।

(ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'हास्यरसमय बालचरित श्वेत कमल है, वीररसमय चरित पीत, रौद्ररसके चरित अरुण और रूपमाधुरी-वर्णवाले प्रसङ्ग शृङ्गाररसके चरित नीलकमल हैं। इनके उदाहरण क्रमसे ये दिये हैं—'भाजि चले किलकत मुख १। २०३।' 'खेलहिं खेल सकल नृप लीला। करतल बान धनुष अति सोहा। १। २०३।' 'बन मृगया नित खेलहिं जाई। १। २०५।' 'जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई॥ १। २०४।' इत्यादिसे विवाहपर्यन्त जो रूपकी माधुरी वर्णित है।

(ग) श्रीमान् पं० रामकुमारजीने ये श्लोक दिये हैं—'श्वेत पीत तथा नील रक्त चैव चतुर्विधम्। बाल्यं वैवाहिकं युद्धं राज्यं चैव चतुर्विधम्॥ एतल्लीलाप्रमाणं तु कथयन्ति मनीषिण॥', 'माधुर्यैश्वर्यवात्सल्य कारुण्य च चतुर्विधम्। लीलाब्ज च रामस्य कथयन्ति मनीषिण॥' अर्थात् पण्डित लोग कहते हैं कि बाल्य, विवाह, युद्ध और राज्यके चरित क्रमश श्वेत, पीत, नील और रक्त कमल हैं। अथवा माधुर्य, ऐश्वर्य, वात्सल्य और कारुण्य—ये चार भाव चार प्रकारके कमल हैं। परंतु ये प्रत्येक भाव बाल, विवाह, युद्ध और राज्य चारोंमें आ सकते हैं।

(घ) त्रिपाठीजी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक और गुणातीत चार प्रकारके चरितको चार प्रकारके कमल (श्वेत, रक्त, नील और पीत) मानते हैं। उदाहरण क्रमसे, यथा—'तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मञ्जुलताई हरैं। 'किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भागि तब पूप देखावहिं॥ आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं।' ' ॥ ७। ७७।' 'आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके। रहत न बैठे ठाढे पालने झुलावतहू' (गीतावली)' 'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥ २०१।' से 'देखी भगति जो छोरै ताही। २०२। ४।' तक। मानसमेंसे सात्त्विकका उदाहरण,

यथा—'वेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥ प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुर नावहि माथा ॥ १ । २०५।' तामसका, यथा—'बन मृगया नित खेलहिं जाई।' राजसके और उदाहरण, यथा—'खेलहिं खेल सकल नृप लीला। १ । २०४।' इत्यादि।

(ङ) मानसपरिचारिकाकार तीन ही प्रकारके कमल मानकर लिखते हैं कि 'यहाँ 'बहुरंग' पद दास्य, सख्य, वात्सल्य इन तीन रसोंके विचारसे दिया गया है। इनमेंसे दास्य धूम्र रंगका, सख्य पीतरंगका और वात्सल्य चित्ररंगका कमल है। इनके उदाहरणमें एक-एक चौपाई सुनिये। 'बालचरित हरि बहुबिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा ॥ १ । २०३।' यह दास्यरसका चरित धूम्र-रंगका है। 'बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई ॥ १ । २०५।' यह सख्यरसका चरित पीत रंगका कमल है। और 'भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा ॥ १ । २०३।' यह वात्सल्यरस चित्ररंगका कमल है।'

(च) मा० मा० ने मा० प्र० के ही भाव दिये हैं, भेद केवल इतना है कि दास्य, वात्सल्य और सख्य रसमय चरित्रोंको इन्होंने क्रमसे रक्त (क्योंकि ये बहुत हैं), पीत और नील रंगके (जो सबसे कम हैं) कहा है।

नोट—३ 'नृप रानी परिजन सुकृत' इति। (क) बालचरितरूपी कमलोंसे उत्पन्न जो जिनके पुण्योंका यह फलभोग है उनको कहते हैं। 'नृप' से यहाँ श्रीदशरथजी महाराज और रानीसे उनकी श्रीमदादि रानियाँ अभिप्रेत हैं क्योंकि बालचरितका रसास्वादन इन्हींको मिला। (ख) इसमें यथासंख्य अलंकार है अर्थात् नृपरानी और परिजनके सुकृत क्रमसे मधुकर और पक्षी हैं। नृपरानीके सुकृत मधुकर और परिजनके सुकृत जलपक्षी हैं।*

४ 'सुकृत मधुकर' ' इति। (क) सुकृतको भ्रमर कहा क्योंकि यह पुण्योंका फल है कि वात्सल्य रसमें पगे हुए राजा रानी चारों भाइयोंका लालन पालन-पोषण, मुखचुम्बन इत्यादिका आनन्द लूट रहे हैं। जैसे भ्रमर कमलका स्पर्श करता है, रस चूसता है, इत्यादि यथा—'कर पद मुख चखु कमल लसत लखि लोचन भ्रमर भुलावै। गी० १ । १७ । १।', 'पुन्य फल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथघरनि। गी० १ । २४ । ६।', 'दसरथ सुकृत मनोहर बिरवनि रूप करह जनु लाग। गी० १ । २६ । २।', 'दसरथ सुकृत राम धरे देही। १ । ३१० ।', 'जनु पाए महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चारि। १ । ३२५।' 'सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥ तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके ॥ १ । २९४।',

(ख) भ्रमर कमलका अधिक स्नेही है, कमलके मकरन्दका अधिक पान वही करता है। राजारानीको बालचरितका विशेष सुख हुआ, अतः इनके सुकृतको मधुकर कहा। माता-पिताकी अपेक्षा परिजनका सुकृत और सुख थोड़ा है, इसीसे इसको जलपक्षीकी उपमा दी। (सू० प्र० मिश्र)। दम्पतिको जन्मसे ही सुख मिल रहता है और परिजनको बड़े होनेपर सुख मिलता है, यथा—'बड़े भये परिजन सुखदाई।' अतः एकको मधुकर और दूसरेको जलपक्षी कहा।

---

* प्रायः समस्त टीकाकारोंने 'सुकृत' को ही 'मधुकर' और 'वारिविहग' माना है पर श्रीनंगे परमहंसजी इस मतका खण्डन करते हैं। वे लिखते हैं कि ऐसा अर्थ करनेसे कई दोष उपस्थित हो जाते हैं।' प्रथम यह कि जैसे कमल भोग है और मधुकर भोक्ता, वैसे ही बालचरित भोग है और राजा-रानी भोक्ता हैं न कि उनके शुभ कर्म। कर्म भोक्ता हो ही नहीं सकता, कर्मोंका कर्त्ता भोक्ता होता है, यथा—'करै जो कर्म पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई ॥' अतः सुकृतको भौंरा बनाना वेदविरुद्ध है। पुनः जब बालचरित कमल है तो उसका सुख अनुभव करनेवाले माता पिता भ्रमर हैं, यह सुख दम्पतिको हो रहा है न कि उनके सुकृतको।' इसी प्रकार 'परिजन सुकृत' का अर्थ परिजनके सुकृत करनेसे भावविरोध उपस्थित हो जाता है। इसका अर्थ है 'सुकृती परिजन।'—इस प्रकारका उत्तरार्धका अर्थ हुआ—'राजारानी मधुकर हैं और सुकृती परिजन जलपक्षी हैं।'

प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'भ्रमर कमलका आलिङ्गन करता है, राजा रानी भाइयोंको गोद लेते हैं, मुख, चुम्बन करते हैं। जलपक्षी कमलको देखकर सुखी होते हैं। वैसे ही परिजन बालचरित देख सुखी होते हैं। दोनों बाल-चरितके सुखरूपी मकरन्दको पान करते हैं। सुख ही मकरन्द है, यथा—'सुख मकरंद भरे श्रिय मूला। २। ५३।' नृप रानी और परिजन आदिके सुखके उदाहरण, यथा—'भोजन करत बोल जब राजा' से 'भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ। बा० २०३।' तक 'अनुज सखा सँग भोजन करहीं' से 'देखि चरित हरषइ मन राजा'। तक २०५। ४-८।', 'जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥ २०५। ५।' परिजनके सुखका वर्णन, यथा—'कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भए परिजन सुखदाई॥ २०३। २।' से दोहा २०३ तक दशरथ-अजिर घरके भीतरके सब चरित परिजन-सुखदायी हैं।

मानसतत्त्व विवरणकार लिखते हैं कि 'कमलमें सुगन्ध और मकरन्दरस होता है। यहाँ 'व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥ १। २०५।' यही सुगन्ध है। 'मुनि धन जन सर्बस सिव प्राना। बालकेलि रस तेहि सुख माना॥ १। १९८।' यह रस है। मा० प्र० का मत है कि लालन-पालन आलिङ्गन आदि रस पान करना है और परिजनरूपी जिह्वाका अनेक प्रकारके चरित्रोंका देखना ही सुगन्ध लेना है। पाँड़ेजीके मतानुसार 'मुख चुम्बनको दरस आनन्द प्राप्त होना कमलोंमेंसे रसका टपकना है।'

सीय स्वयंबर कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई॥ १॥

अर्थ—श्रीसीताजीके स्वयंवरकी जो सुन्दर कथा है वह इस सुहावनी नदीकी सुन्दर छवि है जो उसमें छा रही है॥ १॥

नोट—१ 'सीय स्वयंबर' इति। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि 'स्वयंवर तो वह है जिसमें कन्या अपनी रुचि-अनुकूल वर कर ले, और यहाँ तो ऐसा नहीं हुआ, तब इसे स्वयंवर क्यों कहा?' इस विषयमें यह जान लेना चाहिये कि स्वयंवर कई प्रकारका होता है। देवीभागवत तृतीय स्कन्धमें लिखा है कि 'स्वयंवर केवल राजाओंके विवाहके लिये होता है, अन्यके लिये नहीं और वह तीन प्रकारका है—इच्छा स्वयंवर, पण-स्वयंवर और शौर्य-शुल्क-स्वयंवर। यथा—'स्वयंवरस्तु त्रिविधो विद्वद्भिः परिकीर्तितः। राज्ञां विवाहयोग्यो वै नान्येषां कथितः किल॥ ४१॥ इच्छास्वयंवरश्चैको द्वितीयश्च पणाभिधः। यथा रामेण भग्नं वै त्र्यम्बकस्य शरासनम्॥ ४२॥ तृतीयः शौर्यशुल्कश्च शूराणां परिकीर्तितः।' शौर्य-शुल्क-स्वयंवरके उदाहरणमें हम भीष्मपितामहने जो काशिराजकी तीन कन्याओं-अम्बा, अम्बालिका और अम्बिकाको, अपने भाइयोंके लिये स्वयंवरमें अपने पराक्रमसे सब राजाओंको जीतकर प्राप्त किया था इसे दे सकते हैं।

स्वयंवर उसी कन्याका होता है जिसके रूप लावण्यादि गुणोंकी ख्याति संसारमें फैल जाती है और अनेक राजा उसको ब्याहनेके लिये उत्सुक हो उठते हैं। अतः बहुत बड़े विनाशकारी युद्धके बचानेके लिये यह किया जाता है। जयमाल स्वयंवर वह है जिसमें कन्या अपने इच्छानुकूल जिसको चाहे जयमाल डालकर ब्याह ले। जयमाल तो इच्छा-स्वयंवर और पणस्वयंवर दोनोंमें ही पहनाया जाता है। जयमालस्वयंवर अलग कोई स्वयंवर नहीं है। दमयन्ती नल विवाह और राजा शीलनिधिकी कन्या विश्वमोहिनीका विवाह (जिसपर नारदजी मोहित हो गये थे) 'इच्छास्वयंवर' के उदाहरण हैं। पण (प्रतिज्ञा) स्वयंवर वह है जिसमें विवाह किसी प्रतिज्ञाके पूर्ण होनेहीसे होता है, जैसे राजा द्रुपदने श्रीद्रौपदीजीका और श्रीजनकजीने श्रीसीताजीके लिये पणस्वयंवर रचा था। यथा—'पन पराक्रम प्रतिज्ञा स्वयंवर किया। इसी प्रकार श्रीजनक महाराजने श्रीसीताजीके लिये पणस्वयंवर रचा था। यथा—'पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल। १। २४९।' 'सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा। राज समाज आजु जोइ तोरा॥ त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहिं बिचार बरै हठि तेही॥' श्रीरामजीने धनुषको तोड़कर उन्हें ब्याहा। यथा—'रहा बिबाहु चाप आधीना'। 'टूटतहीं धनु भयउ बिबाहू॥ १। २८६। कुछ महानुभाव इसके पूर्व पुष्पवाटिका प्रसङ्गके 'निज अनुरूप सुभग बरु माँगा' एवं 'चली राखि उर स्यामल मूरति' इन वाक्योंसे यहाँ इच्छा-स्वयंवर होना भी कहते हैं।

परन्तु इसकी पूर्ति 'प्रतिज्ञाकी पूर्ति' पर ही सम्भव थी, इसलिये इसे पणस्वयंवर ही कहेंगे। शिवधनुषके तोड़नेपर ही जयमाल पहनाया गया।

२ 'कथा सुहाई' इति। अन्य स्वयंवरोंकी कथासे इसमें विशेषता है। यह केवल धनुषभङ्गकी ही कथा नहीं है किंतु इसमें एक दिन पहले पुष्पवाटिकामें परस्पर प्रेमावलोकनादि भी है और फिर दूसरे ही दिन उन्हींके हाथों धनुर्भङ्गका होना वक्ता-श्रोता-दर्शक सभीके आनन्दको दुबाला कर देता है, सब जय-जय कार कर उठते हैं—'राम बरी सिय भंजेउ चापा', अत 'सुहाई' कहा। दूसरे, श्रीरामकथाको 'सुहाई' कह आये हैं, यथा—'कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई' अब श्रीसीताजीकी कथाको 'सुहाई' कहा। सीयस्वयंवरकथा वस्तुत श्रीसीताजी-की कथा है। (वि० त्रि०)। तीसरे, ऊपर 'रघुबरजन्म' कहा और यहाँ 'सीयस्वयंवर' कहा, क्योंकि पुत्रका जन्म सुखदायी होता है और कन्याका विवाह। लोकमें जन्मसे विवाह कहीं सुन्दर माना जाता है, इससे 'सीयस्वयंवर कथा' को 'सुहाई' कहा। (रा० प्र०)।

३ 'सो छबि छाई' का भाव यह है कि सीयस्वयंवरकथामें ही रामयशसे भरी हुई इस कवितारूपी शोभा है, यथा—'बिस्व बिजय जसु जानकि पाई'। सीयस्वयंवरकथामें युगलमूर्तिका छविवर्णन भरा पड़ा है, और बार बार 'छवि' शब्दकी आवृत्ति है। यहींकी झाँकीमें 'महाछवि' शब्दका प्रयोग हुआ है। यथा—'नगसिख मंजु महाछबि छाए। १। २४४।', 'छबिगन मध्य महाछबि जैसे। १। २६४।' ग्रन्थकार कहते हैं कि छविका सारा भाग यहीं है। यथा—'दूलह राम सीय दुलही री "सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहुँ मही री। गी० १। १०४।' अत कवितासरित्‌की छवि सीयस्वयंवर ही है। (वि० त्रि०)

४ प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सरित सुहावनि' कहनेका भाव यह है कि कीर्ति-नदी तो स्वयं सुहावनी है, कुछ 'सीय-स्वयंवर' की कथाके कारण सुहावनी नहीं हुई। उस कथासे कुछ उसकी शोभा नहीं हुई। स्वयंवरकी कथा ऐसी है कि जैसे कोई स्वरूपवती स्त्री शृङ्गार करे, वैसे ही इस सुहावनी नदीकी छवि है। स्वयंवरकथा कीर्ति नदी-का शृङ्गार है।

☞५ (क) 'सीय स्वयंवर'—प्रकरण कहाँसे कहाँतक है इसमें मतभेद है। किसीका मत है कि 'तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिअ जाई॥ धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा। १। २१०। ९।' से यह प्रकरण प्रारम्भ हुआ, और किसीके मतानुसार 'सीय स्वयंबर देखिय जाई॥ १। २४०। १।' से तथा किसीके मतसे 'यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई॥ १। २०६। १।' से हुआ है। (ख)— प० रामकुमारजीके मतानुसार स्वयंवर-प्रसङ्ग 'तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा बंस ब्यवहारु। १। २८६। तक है और कुछ महानुभावोंके मतानुसार 'रघुबर उर जयमाल०। २६४।', अथवा, 'गौतम तिय गति सुरति "। २६५।' पर यह प्रकरण समाप्त हुआ है। (मा० प्र०)। (ग) मेरी समझमें 'आगिलि कथा सुनहु मन लाई। १। २०६। १।' से अथवा महर्षि विश्वामित्रजीके साथ श्रीअयोध्याजीसे जानेके समयसे अर्थात् 'पुरुषसिंह दोउ बीर चले संग मुनि-भय-हरन। १। २०८।' से 'सीय-स्वयंवर' की भूमिका समझनी चाहिये। (घ) मा० प्र० कार कहते हैं कि 'दस दोहा पुष्पवाटिका प्रकरणकी कथा मानस सरके प्रकरणमें 'राम सीय जस सलिल सुधा सम।' के साथ है और किंचित्-किंचित् जल-गुणके साथ कहेंगे। यह गुण तो जलके साथ ही रहता है।' श्रीपाण्डेजीका मत है कि फुलवारीकी कथा ही श्रीजानकीजीके स्वयंवरकी कथा है (क्योंकि स्वयंवर ढूँढकर हृदयमें उसे पतिरूपसे रखना यहाँ ही पाया जाता है और आगे तो प्रतिज्ञा एवं जयमालस्वयंवर है। केवल 'सीय स्वयंवर' यहीं है) जो इस नदीकी शोभित छवि है। इसे छवि कहकर जनाया कि कविता-सरितामें पुष्पवाटिकाकी कथा सर्वोपरि है, इसीसे इसे नदीका शृङ्गार कहा। (खर्रा)

बैजनाथजी—श्रीअयोध्याजीमें श्रीसरयूजीकी विशेष शोभा है। तीरपर संतोंके निवासाश्रम, तुलसी पुष्पादिके

वृक्ष, ठाकुरद्वारा, पत्थरके बुर्ज, साफ सीढ़ियाँ और उनपर निर्मल जलकी तरंगें इत्यादि छवि छा रही हैं। वैसे ही श्रीकिशोरीजीके स्वयंवरकी कथा—जनकपुरवर्णन, धवलधाम, 'मणि-पुरट-पटादि' तीरके मन्दिर हैं, प्रेमीजन साधु हैं, रंगभूमि दिव्य घाट है, प्रभुकी सब लीला जल है, किशोरीजीकी लीला जलकी अमलता है, फुलवारी रंगभूमिमें परस्पर प्रेमावलोकन अगाधता है, उपमा तरंगें हैं, स्त्री-पुरुष-तुलसी-पुष्प-वृक्ष, इत्यादि—कीर्ति=सरिताकी सुहावनी छवि छा रही है।

सुधाकरद्विवेदीजी—स्वयंवरकथानदी रामबाहुबलसागरमें मिलनेके पतियोगसे तृप्त हुई। वह सागर भी अपनी प्रियाके मिलनेकी लालसासे ऐसा लहराया कि धनुषरूप बड़े जहाजको भी तोड़ डाला। इसीपर २६१ वाँ दोहा कहा है—'संकर चाप जहाज सागर रघुबर बाहुबल। ...'

नदी नाव पटु प्रस्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका॥ २॥

शब्दार्थ—पटु=विचारपूर्वक।='विचारवालोंके।=चतुर, कुशल, प्रवीण। अथवा, पटु=सुन्दर, मनोहर, यथा—'रघुपति पटु पालकी मँगाई', 'पाइन्हि पटु पालने सिसु निरखि मगन मन मोद'। पुनः, पटु=स्फुट, प्रकाशित। पं० रा० कु० के पुराने खर्रेमें 'पटुका अर्थ 'छलरहित' दिया है, यथा—''प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छलबिहीन सुनि ...'', 'लछिमन बचन कहे छलहीना०'। 'पटु' संस्कृत शब्द है। कुशल=अच्छा, समर्थ, प्रवीण, चतुर, यथा—'पर उपदेस कुसल बहुतेरे'।

अर्थ—अनेक 'पटु' प्रश्न इस कीर्ति सरयू-नदीकी नावें हैं और उनके विवेकसहित पूर्ण रीतिसे उत्तर नावके चतुर केवट हैं॥ २॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि अनेक प्रश्न हैं, अनेक नावें हैं, अनेक केवट हैं। जैसा प्रश्न वैसी नाव। और वैसे ही कुशल उत्तररूपी केवट। 'कुशल' कहनेका भाव यह है कि सब प्रश्नोंके उत्तर रामायणमें पूरे उतरे हैं। उत्तर न देते बनना ही नावका डूबना है सो यहाँ सब उत्तर पार हो गये हैं, कोई नाव नहीं डूबी। श्रीपजाबीजी लिखते हैं कि—'पटु' से उन चतुर स्त्रियोंसे तात्पर्य है जो मिथिलापुरके झरोखेमें बैठी हुई रघुनाथजीका वृत्तान्त पूछ रही हैं। उनके प्रश्न नाव हैं। उत्तर देनेमें जो युवतियाँ कुशल हैं, जिन्होंने विवेकसयुक्त मुनिवधू-उधारनादि प्रभाव सुनाकर निस्सन्देह किया, उनके उत्तर केवट हैं।' पं० रामकुमारजीका मत है कि 'यहाँ प्रश्नोत्तर स्वयंवरका प्रकरण नहीं है, क्योंकि इस प्रकरणमें तो स्त्रियोंका प्रश्नोत्तर नहीं है। [नोट—जहाँ उत्तर नहीं बन पड़ा है, वह प्रसङ्ग 'कुशल केवट' नहीं है और न वह यहाँ अभिप्रेत है]

प्रश्न और उनके उत्तरोंके उदाहरण,—(१) 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक॥ १। २१६। १।' इत्यादि। इस प्रश्नका कुशल उत्तर 'कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका।' से 'मग गवेउ सब सागि जग ...। २१६।' तक। (२) 'कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे॥ २। ११७। १।' ग्रामवासिनियोंके इस प्रश्नका उत्तर 'तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥ ' सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥ बहुरि बदन बिधु अचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥ खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥'—कितना कुशल और पूर्ण है कि सुनकर 'भई मुदित सब ग्राम बधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं॥ अति सप्रेम सिय पायँ परि ...। ११७।' (३) 'अस जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेगु न पावै कोई॥ ' अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ॥ तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करौं कछु काल कृपाला॥ २। १२६। २-६।'—श्रीरामजीके इस प्रश्नका उत्तर महर्षि वाल्मीकिजीने क्या सुन्दर दिया है, प्रथम तो उत्तरकी भूमिका ही सुन्दर है—'साधु साधु बोले मुनि ज्ञानी' से 'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा। २। १२७। ८।' तक, फिर 'पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ। जहँ न होउ तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥ १२७।' से 'बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु। १३१।' तक, फिर 'कह मुनि सुनहु भानुकुलनायक' से 'चित्रकूट महिमा अमित

कही महामुनि गाइ। १३२।' तक। उत्तर कितना सुन्दर है, कि प्रश्नकर्ता प्रसन्न हो गया—'बचन सप्रेम राम मन भाए।' (४) श्रीभरद्वाजजीसे श्रीरामजीका प्रश्न—'नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं। २। १०९। १।' और उसका उत्तर 'मुनि मन बिहसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं॥' कितना सुन्दर और पूर्ण है। (५) अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके प्रश्न और श्रीरामजीका उत्तर जो 'श्रीरामगीता' नामसे प्रसिद्ध है, । ३। १४। ५।' 'मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं' से 'भगति जोग सुनि अति सुख पावा। १७। १।' तक यह प्रसङ्ग है। (६) श्रीशबरीजीसे प्रश्न—'जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबर गामिनी॥' और उसका कुशल उत्तर 'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥ सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानतहूँ पूछहु मतिधीरा॥ बार बार प्रभु पद सिरु नाई। प्रेम सहित सब कथा सुनाई॥ ३। ३६। १०-१४।' (७) श्रीनारदजीके प्रश्न—'राम जबहि प्रेरेउ निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥ तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥ ३। ४३। २-३।', तथा 'संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भव भंजन भीरा॥ ३। ४५। ५।' और उनके उत्तर 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। ३। ४३। ४।' से 'ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं ४४।' तक, यथा—'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। ४५। ६।' से ४६ (८) तक। उत्तर सुनकर 'मुनि तन पुलक नयन भरि आए। ४५। १।' और 'नारद सुनत पद पंकज गहे। ४६।' (९) किष्किन्धामें श्रीहनुमान्‌जीका प्रश्न श्रीरामजीसे 'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।' "। ४। १। ७।' से दोहा तक और उसका उत्तर 'कोसलेस दसरथ के जाए।' से 'आपन चरित कहा हम गाई।' और साथ ही प्रश्न 'कहहु बिप्र निज कथा बुझाई' और हनुमान्‌जीका कुशल उत्तर। सुग्रीवजीसे श्रीरामजीका प्रश्न और उनका उत्तर—'कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव। ४। ५।' से 'तदपि सभीत रहउँ मन माहीं' तक। बालीका प्रश्न—'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा' और उसका उत्तर। ४४। ९। ५-१०। जाम्बवान्‌जीसे हनुमान्‌जीका प्रश्न—'जामवंत मैं पूछउँ तोही। उचित सिखावनु दीजहु मोही॥' और उसका उत्तर 'एतना करहु तात तुम्ह जाई' से 'परम पद नर पावई' तक ४। ३० में। (१४)—सुन्दरमें श्रीविभीषणजीका प्रश्न और हनुमान्‌जीका उत्तर 'बिप्र कहहु निज कथा बुझाई। ५। ६। ६।' से दोहा ७ तक। श्रीसीताजीके प्रश्न—'नर बानरहि संग कहु कैसें', 'कपि केहि हेतु धरी निठुराई', 'हे सुत कपि सब तुम्हहि समाना। और हनुमान्‌जीके उत्तर। हनुमान् रावण-संवाद भी रावणके प्रश्नसे प्रारम्भ होता है। सबके उत्तर पूरे-पूरे हनुमान्‌जीने दिये। श्रीरामजीके प्रश्न श्रीहनुमान्‌जीसे—'कहहु तात केहि भाँति जानकी। ५। ३०। ८।', 'कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥ ३३। ५।' और उनके उत्तर। इसी तरह लंकाकाण्डमें सुवेल-पर्वतपर श्रीरामजीके प्रश्न और सुग्रीवादि सबके उत्तर। अङ्गद-रावण-संवादमें रावणके प्रश्नोंके कुशल उत्तर अङ्गदने जो दिये हैं। विभीषणका प्रश्न—'नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥' और उसके उत्तरमें 'विजय धर्मरथ' का प्रसंग। दोहा ७९ में। और उत्तरकाण्डमें श्रीभरतजीके प्रश्न हनुमान्‌जीसे,—'को तुम्ह तात कहाँ ते आए' इत्यादि, 'कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥ और उनके उत्तर दोहा २ में। श्रीभरतजीका प्रश्न—'संत असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥' और श्रीरामजीका उत्तर दोहा ३७ (५) से ४१ तक।

इसी तरह जहाँ-जहाँ प्रश्न है और उनके कुशल उत्तर हैं वे ही प्रसंग यहाँ नाव और केवट हैं।

त्रिपाठीजी—यात्रियोंके सुभीतेके लिये नदियोंमें अनेक सुन्दर सुन्दर बड़ी-बड़ी नौकाएँ होती हैं। (१) कुछ ऐसी होती हैं जो इस पार और उस पार आया-जाया करती हैं, (२) कुछ ऐसी होती हैं, जो निश्चित स्थानोंपर जानेके लिये छूटती हैं, (३) कुछ ऐसी होती हैं जो सहायक स्रोतोंसे आ जाती हैं (४) और, कुछ छोटी ऐसी होती हैं, जो कार्य-विशेषके लिये छूटा करती हैं। कहना नहीं होगा कि चौथे प्रकारकी नाव असंख्य होती हैं। जिस प्रकार नदीमें नाव होती है, इसी प्रकारसे कवितासरित्‌में प्रश्न ही नाव है, उसी प्रश्नका सहारा लेकर ही निर्दिष्ट स्थानकी प्राप्ति होती है—विषयविशेषका ज्ञान होता है। इस कविता एवं सरित्‌में भी उपर्युक्त चारों प्रकारोंकी नावें हैं। दो प्रश्न भार

द्वाजके, बारह प्रश्न उमाके और बारह प्रश्न गरुड़के हैं। कुल चौबीस प्रधान प्रश्न हे। छोटे-छोटे प्रश्न प्रसङ्गोंमें अनेक आये हैं, उनकी सख्याकी आवश्यकता भी नहीं है।

भरद्वाजजीके मुख्य प्रश्न 'रामु कवन प्रभु पूछौं तोही। भयेउ रोषु रन रावनु मारा॥ प्रभु सोइ रामु कि अपर कोउ ''। १। ४६।' और 'जैसे मिटै मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी॥' ये है। इनमेसे पहली नाव पहले प्रकारकी है अर्थात् लोक और वेद दोनों कूलामे विचरती है और दूसरी नाव दूसरे प्रकारकी है अर्थात् नदीके उद्गमसे लेकर मुहानेतक उसका सचार है।

उमाने आठ प्रार्थनाएँ की हैं। इनके उत्तरमें शिवजीने समझाया है। ये भी एक प्रकारके प्रश्नोत्तर कहे जा सकते हैं। उन्हें पहले प्रकारका प्रश्न समझिये। फिर उनके आठ प्रश्न 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। ११०। ४।' से 'प्रजा सहित रघुबसमनि किमि गवने निज धाम। ११०।' तक दूसरे प्रकारकी नावें हैं और शेष चार तीसरे प्रकारकी हैं। फिर उमाके छ प्रश्न ('सो हरिभगति काग किमि पाई। ७। ५४। ८।' से 'तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा ''। ७। ५५। ४।' तक), गरुड़जीके चार प्रश्न 'कारन कवन देह यह पाई। ७। ९४। ३।' से 'कारन कवन सो नाथ सब कहहु सहित अनुराग। ९४।' तक एव 'ज्ञानहि भगतिहि अतर केता। । ७। ११५।'—ये सब प्रश्न तीसरे प्रकारकी नावे हैं। गरुड़जीके अन्तिम सात प्रश्न 'सात प्रश्न मम कहहु बखानी। ७। १२१। २-७।' चौथे प्रकारकी नावे हैं।

'उतर सबिबेका' इति। इससे जनाया कि सब प्रश्नोंके उत्तर विवेकसहित दिये गये हैं। जहाँ विवेकसहित न मालूम हो वहाँ समझना चाहिये कि भाव ठीक तरहसे समझमे नहीं आया।

नोट—२ मा० मा० कार इसपर लिखते हैं कि 'परतु क्रमसे चरित्रका वर्णन हो रहा है। इसपर विचार करना चाहिये। जन्म, बालचरित, स्वयवर, इसके बाद समस्त रामायणमे जो प्रश्न हैं और उनके उत्तरका उदाहरण देना अनुचित है, क्योंकि आगेकी चौपाईमें वर्णन है कि उन प्रश्नोत्तरोंको सुनकर उसका कथन करना ही उन नावोंपर चढकर पथिकगण जानेवाले हैं। उसके पश्चात् परशुरामजीका क्रोधित होना नावोंका घोर धारामें पड़ना है परतु उस घोर धारामें नावें बचकर घाटमें लग गयीं, यहाँ श्रीरामजीका वचन उसे घाटमें लगाना है। इस प्रकारसे प्रकरणका मिलान करना विचारकोंके समझका हो सकता है।' प्रश्नोत्तरके उदाहरण ये हैं—(क) महारानी सुनयनाका कथा सखियोंसे—'रामहि प्रेम समेत लखि सखिन्ह समीप बुलाइ। सीतामातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ॥ १। २५५।' से 'भूप सयानप सकल सिरानी। २५६। ५।' तक प्रश्न है, इसका उत्तर 'बोली चतुर सखी मृदुबानी' से 'सखी बचन सुनि भइ परतीती। २५७। ३।' तक है। (ख) धनुष टूटनेके प्रथम राजाओंका वचन—'तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुअँरि बिआहा २४५। ६। से' 'एक बार कालहु किन होऊ ' तक प्रश्न है, जिसका उत्तर 'यह सुनि अपर भूप मुसुकाने' के बाद 'सीय बिआहबि राम । २४५।' से 'करहु जाइ जा कहुँ जोइ भावा' तक उत्तर है। और, (ग) धनुर्भंगके बाद 'लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। २६६। ३।' से 'जीतहु समर सहित दोउ भाई' तक प्रश्न है, जिसका उत्तर 'साधु भूप बोले सुनि बानी' से 'लस तुम्हार लालच नरनाहा। २६७। ४।' तक है। ☞ प० रामकुमारजी आदिका मत ऊपर दिया गया कि सीय-स्वयवर प्रकरणमे किसीका प्रश्नोत्तर नहीं है। पाठक स्वतन्त्ररूपसे विचार कर लें कि इन उद्धरणोंकी 'प्रश्न' और 'उत्तर' सज्ञा हो सकती है या नहीं।

३—प्रश्नकर्त्ताका 'प्रश्न करना' नावपर चढना है, उसका समाधान पार उतरना है और सुफल उतराई है।—(वै०, रा० प्र०)।

सुनि अनुकथन परसपर होई। पथिक समाज सोह सरि सोई॥ ३॥

शब्दार्थ—अनुकथन (अनु+कथन)=पीछेसे कहना। कथा सुनकर तत्पश्चात् दस पाँच वा कुछ श्रोता मिलकर सुनी हुई कथाको आपसमें स्मरण रखनेके लिये कहते हैं, प्रश्नोत्तर-विवादसहित उसका पाठ

लगाते हैं—इसीको 'अनुकथन' कहते हैं=बार-बार कथन वा उसकी चर्चा ।=कथोपकथन, परस्पर बातचीत। (श० सा०)। 'अनु'—जिस शब्दके पहले यह उपसर्ग लगता है उसमें इन अर्थोंका संयोग करता है—१ पीछे। जैसे अनुगामी, अनुकरण। २ सदृश। जैसे अनुरूप, अनुगुण। ३ साथ। जैसे 'अनुकम्पा, अनुपान'। ४ प्रत्येक। जैसे अनुदिन। ५ बारम्बार। जैसे अनुगुणन, अनुशीलन। पथिक=मार्ग चलनेवाले, मुसाफिर, नदीके उतरनेवाले।

अर्थ—सुनकर आपसमें फिरसे उसका कथन करना ही इस कीर्ति-सरयूमें यात्रियोंका समाज है जो नदीतटपर शोभा दे रहा है ॥ ३ ॥

नोट—१ (क) पूरे काव्यके श्रोतृसमाजको पुर, ग्राम और नगर कह आये हैं, अब विशेष-विशेष प्रसंगके श्रोताओंके विषयमें कहते हैं। बहुतेरे श्रोता ऐसे हैं जिन्हें प्रसंग विशेष प्रिय है। कोई सीय-स्वयंवर सुनना चाहता है। कोई परशुरामसंवाद, तो कोई अङ्गदरावणसंवाद ही सुनना चाहता है। (ख) नाव और केवट निष्प्रयोजन नहीं होते। जब नाव और केवटका वर्णन किया तो उस पथिकसमाजका भी वर्णन प्राप्त है, जो उन नावों और केवटोंसे काम लेते हैं। अतः सुननेके बाद जो आपसमें चर्चा होती है वही इन नाव और केवटोंसे काम लेनेवाला पथिक-समाज हुआ। ऐसे चर्चा करनेवालोंका निर्दिष्ट स्थान है, जहाँपर वे प्रश्न प्रतिवचनद्वारा पहुँचना चाहते हैं। जिन्होंने चर्चा नहीं की उन्हें कहीं जाना-आना नहीं है, अतः वे नाव और केवटसे काम नहीं लेते, यों ही घूमते-घामते उधर आ निकले थे। यहाँ यह भी जनाया कि बिना अनुकथन वा मननके श्रवण अकिंचित्कर है, यह परस्परका अनुकथन उसी मननका व्यक्तरूप है। (वि० त्रि०)। (ग) स्थलसे यात्रा करनेसे जल (नाव) द्वारा यात्रा करना विशेष मनोरम तथा आयासरहित होता है, इसी भाँति किसी विषयके समझनेसे विषय-निरूपण प्रश्न-प्रतिवचनरूपमें होनेसे विशेष मनोरम हो जाता है, और शीघ्र समझमें आता है। सुननेके बाद आपसमें चर्चा करना उस प्रश्न प्रतिवचनसे लाभ उठाना और उक्त काव्यकी प्रतिष्ठा करना है। (वि० त्रि०)।

प० रामकुमारजी—परस्पर अनुकथन करनेवालोंकी शोभा रामचरितसे है। सरिकी शोभा उनसे नहीं कहते, क्योंकि सरिकी शोभा पहले ही कह चुके हैं, यथा—'सीय स्वयंवर कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई॥'

नोट—२ मानसपरिचारिकाकार लिखते हैं कि जैसे उस नावपर चढ़े पथिकोंका समाज शोभा देता है पर वह समाज है नदीके बाहरका, वैसे ही अनेक प्रकारके प्रश्नोत्तरोंको सुनकर जो परस्पर अनुकथन करते हैं, कहते हैं कि क्या प्रश्नका उत्तर निबहा है, यही पथिकोंका समाज कीर्तिसरिमें शोभा देता है। पूर्व जो श्रोताओंका त्रिविध समाज कह आये हैं उन्हींमें दो कोटि किये, एक जो सुनते भर हैं वे पुर, ग्राम, नगर हैं और दूसरे वह हैं जो सुनकर पीछे परस्पर अनुकथन करते हैं।

बैजनाथजीका मत है कि वक्ताकी वाणी सुनकर और लोग जो परस्पर वार्ता करके वक्ताके वचनको समझते हैं वे नदी पार जानेवाले पथिकोंका समाज है, जो नदीतटपर शोभित है। बोधित (जो वक्ताकी वाणी समझ गये हैं) पार हो गये और अबोधित पार जानेवाले हैं।

घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध* राम बर बानी॥ ४॥

* प० छक्कनलालजीकी प्रतिमें 'सुबध' पाठ है। प० रामवल्लभाशरणजी तथा भागवतदासजीका 'सुबधु' पाठ है अर्थात् लक्ष्मणसहित रामजीके वचन। मानसपरिचारिकामें 'सुबधु' पाठ है। मानसपत्रिकामें 'सुबद्ध' पाठ है सूर्यप्रसाद-मिश्रजीने जो भाव और अर्थ दिये हैं वह 'सबधु' पाठके हैं। मानसपरिचारिकाके भावोंको उन्होंने अपने शब्दोंमें उतार तो दिया है (और उस टीकाका नाम भी यहाँ नहीं लिया) पर यह ध्यान न रक्खा कि अपना पाठ वह नहीं है। १६६१ वाली पोथीमें 'सुबद्ध' पाठ है। 'घाट सबधु राम बर बानी' पाठका अर्थ यह होगा कि 'लक्ष्मणजी और रामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ वाणी घाट है'। 'सुबधु'=सुन्दर भाई। लक्ष्मणजीको सुबन्धु कहा है क्योंकि 'बारहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥ १। १९७।' पुन॰, अयोध्याकाण्ड ७२ में कहा है कि 'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू॥ करुनासिंधु सुबंधु के सुनि मृदु बचन पुनीत। '

अर्थ—(इस कथारूपिणी नदीमें जो) परशुरामजीका क्रोध (वर्णित है वही नदीकी) घोर धारा है और श्रीरामचन्द्रजीकी मृदु (क्रोधको शान्त करनेवाली) वाणी ही सुन्दर दृढ बँधा हुआ घाट है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ घोर (भयानक, तीक्ष्ण, तेज) धारा देखकर भय प्राप्त होता है। भृगुनाथ (परशुराम) की रिस भय देनेवाली है, जिसे देखकर जनक ऐसे महाज्ञानी एवं सुर-मुनि-नागदेवतक डर गये, इतर जनोंकी क्या गिनती। यथा—'अति डर उतर देत नृप नाहीं। १। २७०।', 'सुर मुनि नाग नगर नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी॥', 'भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अरध निमेष कलप सम बीता॥ १। २७०। ६, ८।', 'देखत भृगुपति बेषु कराला। उठे सकल भय बिकल भुआला॥ १। २६९। १।'

नोट—१ 'सीस जटा ससि बदनु सुहावा। रिस बस कछुक अरुन होइ आवा॥ २६८। ५।' से भृगुनाथकी रिसानीरूप घोर धारा चली और 'सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के॥ २८४। ६।' पर शान्त हो गयी।

२ 'घोर धार' के और भाव—(क) घोर धार जिधर घूमती है उधरहीके करारोंको काटती चली जाती है, वैसे ही परशुरामजीकी रिस लौकिक अथवा वैदिक जिसी कूलकी ओर घूमी उसीको काटती गयी। लौकिक कूलका काटना, यथा—'निपटहिं द्विज करि जानहि मोही। मैं जस बिप्र सुनावौं तोही॥ चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू॥ समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भए पसु आई॥ मैं एहि परसु काटि बलि दीन्हे। समरजग्य जप कोटिन्ह कीन्हे॥ १। २८३।' वैदिक कूलका काटना, यथा—'गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर। १। २७२।' (वि० त्रि०)।

(ख) घोर धारासे साधारण घाट भी कट जाते हैं। परशुरामजीने क्रोधमें आकर पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेका विचार ठान लिया था। उन्होंने २१ बार क्षत्रियकुलका नाश किया। सहस्रबाहु-से वीर इनके क्रोधके शिकार हो गये। इन्होंने स्वयं कहा है 'परसु मोर अति घोर', 'कहि प्रताप बल रोष हमारा', 'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व-बिदित छत्रियकुल द्रोही' इत्यादि।

३ 'भृगुनाथ' इति। परशुराम प्रसिद्ध नाम न देकर यहाँ भृगुनाथ नाम दिया है। कारण इसका यह है कि श्रीरामचरितमानस-कथा-भागमें धनुर्भंगके पश्चात् परशुरामजीका आगमन 'भृगु' शब्दसे उठाया और इसी शब्दसे परशुराम-राम-संवाद-प्रसङ्गको सम्पुट किया गया है। 'तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा॥ १। २६८। २।' आदिम और 'भृगुपति गये बनहि०। १। २८५। ७।' अन्तमें दिया है। तथा जब सभामें वे पहुँचे और सबकी दृष्टि उनपर पड़ी तब प्रथम ही 'भृगुपति' शब्दका प्रयोग महाकविने किया है 'पति' और 'नाथ' पर्याय शब्द हैं।—'देखत भृगुपति बेषु कराला। उठे सकल भय बिकल भुआला॥ १। २६९। १।' इन्हीं कारणोंसे यहाँ उस नामका प्रयोग भी किया है। विशेष दोहा २६८ चौपाई २ में देखिये।

☞ स्मरण रहे कि 'भृगुनाथ', 'भृगुपति', भृगुसुत, 'भृगुनायक' ये सब परशुरामजीके नाम हैं। ये उन्हीं भृगुजीके वंशज हैं जिन्होंने ब्रह्मा और शिवजीपर भी अपना क्रोध प्रकट किया था। पिता और भ्राता दोनोंका अपमान किया था तथा भगवान्‌की छातीपर लात मारी थी। वैसे ही परशुरामजीने अपनी माता और भ्राताओंका सिर काटा और भगवान् श्रीरामजीको भी कटु वचन कहे तो क्या आश्चर्य? इनके योग्य ही है। भगवान्‌ने भृगुको क्षमा ही किया, वैसे ही श्रीरामजीने इनको क्षमा किया।

४ 'घोर धारासे घाट, ग्राम, नगर आदिके कटनेकी सम्भावना रहती है। और यहाँ इस प्रसंगमें परशुरामजी राजा जनकका राज्य ही पलट देनेकी धमकी दे रहे हैं। यथा—'उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू। १। २७०। ४।' अतः रक्षाके लिये सुदृढ बँधे घाट चाहिये, वही दूसरे चरणमें कहते हैं।

५ 'घाट सुबद्ध' ' इति। (क) यात्रियोंके उतरने, स्नान करने, जल भरने और धारासे नगर आदिकी रक्षा इत्यादिके लिये पक्के दृढ़ घाट बनाये जाते हैं। परशुरामजीके क्रोधयुक्त कठोर वचन सुनकर 'सुर मुनि नाग नगर नर

नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥' कि अब रक्षा कैसे होगी, इस तीव्र क्रोधने सचमुच ही नगरको ये उलट न दें। सुर मुनि नाग यात्री हैं। इन यात्रियों तथा नगरनिवासियोंकी क्रोधरूपी घोर धारसे रक्षाके लिये श्रीरामजीकी श्रेष्ठ मधुर शीतल वाणी 'सुबद्ध घाट' सम है। प्रथम ही 'उलटौं महि जहँ लगि तव राजू' इसमें 'सभय विलोके लोग सब बोले श्रीरघुबीर। २७० ।', फिर जब लक्ष्मणजीके कटु वचनोंको सुनकर रिस बहुत बढ़ी और 'हाय हाय सब लोग पुकारा' तथा—'अनुचित कहि सब लोगु पुकारे' तब 'लखन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोपु कृसानु। बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुलभानु ॥ २७६ । ' तब 'राम वचन सुनि कछुक जुड़ाने'। फिर लक्ष्मणजीकी वाणीसे जब परशुरामजीका रिससे तन जलने लगा और 'थर थर कांपहिं पुरनरनारी' तब 'अति विनीत मृदु शीतल बानी। बोले रामु जोरि जुग पानी ॥ २७९ । १ ।' तब फिर कुछ शान्त हुए—'कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहु अनुज तव चितव अनैसे ॥' फिर जब वे श्रीरामजीपर ही क्रोध जताने लगे तब उन्होंने 'मृदु गूढ़ वचन कहे जिन्हें सुनकर 'उघरे पटल परसुधरमति के' और उन्होंने अपना धनुष देकर श्रीरामजीकी स्तुति कर दोनों भाइयोंसे क्षमा माँगी और वनको चल दिये। इस सुदृढ़ पक्के घाटपर उनके क्रोध-प्रवाहका कुछ जोर न चला और धारा यहाँसे लौट पड़ी।

(ख) 'घाट सुबद्ध' से यह भी जनाया कि जबतक घाट न बँधे थे तबतक लोग उनकी घोर क्रोधरूपी धारामें कट जाते थे, बह जाते थे, यथा—'जासु परसु सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा ॥ ६ । २६ ।' घाट बँधनेसे जीवोंकी अति रक्षा हुई, परशुरामकी रिस मंद पड़ गयी, यथा—'भृगुपति गए बनहि तब तेहू।'

(ग) घोर धारा अत्यन्त दृढ़ बँधे हुए घाटपर भी अपना बड़ा जोर लगाती है पर टक्कर खा-खाकर सुदृढ़ बँधे हुए घाटसे उसे घूम जाना ही पड़ता है। वैसे ही श्रीरामजीकी श्रेष्ठ वाणी यहाँ 'सुबद्ध घाट' है। भृगुनाथ-रिसानीरूपिणी घोर धारा यहाँ आयी तो बड़े तीव्र वेगसे थी, यथा—'बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू ॥ १ । २७० । ४ ।' संघर्ष भी खूब हुआ, चौदह टक्कर खाकर धारा पलट गयी। (वि० त्रि०)। पुन भाव कि (ख) लक्ष्मणजीके वचनसे क्रोध बढ़ता जाता था, उसे श्रीरामजीने अपनी मधुर श्रेष्ठ वाणीसे ठंडा किया। यथा—'लखन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोप कृसानु। बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुलभानु ॥ १ । २६७ ।' (प० रामकुमार)।

६ 'घाट सुबंधु' पाठ भी कई प्राचीन पोथियोंमें है। अत उस पाठका भाव जो मा० प्र० कारने लिखा है वह यहाँ हम देते हैं। यह भाव 'सुबद्ध' पाठमें भी दो-एक टीकाकारोंने लगाया है। मा० प्र० कार लिखते हैं कि घाट बनानेमें धाराका जोर रोकनेके लिये बारबार कोठियाँ गलायी जाती हैं। बहुधा ऐसा होता है कि तीक्ष्ण धारा कोठियोंको उखाड़ डालती है, जमने नहीं देती, इससे पुन-पुनः गचपर गच देकर कोठियाँ गलानी पड़ती हैं जिससे धाराका वेग कम हो जाता है। अथवा धाराका मुँह फिर जाता है, तब कोठी जमती है और घाट बँधता है। ऐसे ही जब प्रथम भृगुनाथ बोले—'कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा' तब यह घोर धारा देख रघुनाथजीने प्रथम गोला गलाया—'नाथ संभु धनु भंजनि हारा ··'। यह कहकर परशुरामजीको शान्त करना चाहा था, परंतु वे शान्त न हुए, किन्तु 'सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही।' यह मानो गोलेका न थमना वा कोठीका टूटना है। फिर लक्ष्मणजीने कहा कि—'बहु धनुही तोरी लरिकाईं ·· यहि धनु पर ममता केहि हेतू'। इनमेंसे एक ही बातका उत्तर परशुरामजीने दिया—'सुनि रिसाइ०। धनुही सम त्रिपुरारि धनु ··।' मानो दो कोठियोंमेंसे एक तो जमी। आगे जब उत्तर न देते बना तब विश्वामित्रजी, विदेहजी इत्यादिका निहोरा लिया कि इसे हटा दो, यथा—'तुम्ह हटकहु जौ चहहु उबारा।', 'केवल कौसिक सील तुम्हारें' इत्यादि। यही मानो धाराका फिर जाना है। श्रीरामजीकी अन्तिम वाणीने उनको शान्त कर दिया, उनकी आँखें खुल गयीं, वे अपना धनुष सौंपकर क्षमा माँगकर चले गये, यही मानो घाटका बँध जाना है।

७—श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—'सरयूजीकी घोर धारामें अनेकों नावें टूट गयी हैं, उसी प्रकार यहाँ अर्थात् जनकपुर-स्वयंवर-भूमिमें उपस्थित सभासद् प्रश्नोत्तरको सुनकर अनुकथन कर ही रहे थे कि

परशुरामजी आकर क्रोधयुक्त बोलने लगे। श्रीरामजीकी श्रेष्ठ वाणीने उनको शान्त किया, यह 'बर बानी' बँधी हुई घाट हुई। अर्थात् नाव घोर धारमें टूटी नहीं, बँधी हुई घाटमें लग गयी।'

—[पर 'नाव' तो प्रश्न है। प्रश्न टूटे नहीं, घाटमें लग गये। इसका क्या आशय है, यह समझमें नहीं आता। जयमालके पश्चात् पूर्वके प्रश्नोत्तरोंका आपसमें फिरसे कथन कौन-सा है? सम्भवतः 'रानिन्ह सहित सोच बस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया ॥ १ । २६७ । ७ ।' और 'खरभरु देखि बिकल नर नारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥ २६८ । १ ।' यही अनुकथन उनके मतसे हो। यह भी देखना है कि राजाओंके वचन सब परशुराम-जीके दर्शनके साथ ही बंद हो गये, यथा—'देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने ॥ २६८ । ३ ।'— यह नावका डूबना हुआ या घाट लगना या क्या? प्रश्नको पट्टु और सविवेक उत्तरको कुशल केवट कहनेका महत्त्व इस पक्षमें मेरी समझमें नहीं रह जाता।]

सानुज राम बिबाह उछाहू। सो सुभ उमग सुखद सब काहू ॥ ५ ॥

अर्थ—भाइयोंसहित श्रीराम-विवाहोत्सव इस कविता-सरयूकी शुभ (सुख, मङ्गल और कल्याणकारी) बाढ़ है जो सभीको सुख देनेवाली है ॥ ५ ॥

नोट—१ (क) 'सानुज राम समर जसु पावन' में अनुजसे केवल श्रीलक्ष्मणजीका ग्रहण है, क्योंकि और भाई साथ न थे, परंतु यहाँ 'सानुज राम बिबाह' में अनुजसे चारों भाइयोंका ग्रहण है, क्योंकि सब भाइयोंका विवाह साथ हुआ। (पं० रामकुमारजी)। (ख) धनुष टूटते ही सारे संसारमें उछाह भर गया, यथा— 'भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनकसुता रघुबीर बिआहू ॥ १ । २६६ । ३ ।' समाचार पाते ही बारात चल पड़ी। उत्साह इतना बढ़ा हुआ है कि ग्रन्थकार सगुनका भी नाचना वर्णन करते हैं—'सुनि अस ब्याहु सगुन सब नाचे। अब कीन्हे बिरंचि हम साँचे ॥ १ । ३०४ ।' बारातके पहुँचनेपर अगवानीके समयका आनन्द कवि यों वर्णन करते हैं—'जनु आनंद समुद्र दुइ मिलत बिहाइ सुबेल। १ । ३०५। श्रीरामचरितमानसभरमें सबसे बड़ा 'उछाह' श्रीरामविवाहोत्सव ही हुआ। राज्याभिषेकमें होना सम्भव था, पर उस समय महाराज दशरथका न होना सबको खला, यहाँतक कि अवधपुरमें बाजातक न बजा। बारात तो चली केवल श्रीरामजीके विवाहके लिये और लौटी चार बहुएँ लेकर। यह उत्साहकी पराकाष्ठा है। (वि० त्रि०)

२ श्रीरामविवाहमें 'उछाह' बहुत बढ़ा, यही नदीकी बाढ़ है। नदीकी बाढ़ अशुद्ध होती है, पर यह शुभ है। नदीकी बाढ़में लोगोंका अकाज होता है, परन्तु उछाहकी वृद्धिमें किसीका अकाज नहीं है। (पं० रामकुमारजी)। मा० प्र० का मत है कि सरयूजीकी उमग शुभ है, सबको सुखद है, वैसे ही सानुज-राम-विवाह शुभ और सबको सुखद है। 'सब सुखद' से यह भी जनाया कि नदीकी बाढ़ चाहे किसीको शुभ और सुखद न भी हो पर कीर्ति नदीके सानुज रामविवाहका उत्साह तो सबको शुभ एवं सुखद है।

श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'गर्मीके तपनमें जब श्रीसरयूजीमें ज्येष्ठमें बर्फ गलनेसे जलकी बाढ़ होती है तो वह सुखदायी होती है। इसी प्रकार जनकपुरवासी राजा जनकके प्रतिज्ञारूपी परितापसे और अवधपुरवासी प्रभुके वियोगसे तप्त थे। यहाँ विवाह-आनन्दरूपी बाढ़से दोनों सुखी हुए।

किसीका मत है कि शुभ इसने कहा कि श्रीसरयूजीकी बाढ़से दूर रहनेवालोंको भी स्नान सुलभ हो जाता है। पुनः माँझावालोंको खेतीके लिये बाढ़ उपकारक होती है। और विवाहोत्सव सबहीको सुखद और मङ्गलकारी है, यथा—'उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्बदा सुखु पावहीं ॥ सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं। तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजस। १ । ३६१ ।'

३ नदी उमगकर दोनों कूलोंको प्लावित करती चलती है और यह कविता सरिता उमगकर आनन्दसे लोक-वेद-विधियोंको प्लावित करती चली है। लोकविधिका प्लावन; यथा—'पहिचान को केहि जान सबहि अपान

सुधि भोरी भई। आनदवद बिलोकि दूलहु उभय दिसि आनँदमई ॥ १ । ३२१ ।' वेदविधिका प्लावन, यथा—'होम समय तनु धरि अनलु अतिसुख आहुति लेहिं । विप्र वेष धरि वेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं ॥ १ । ३२३ ।' (वि० त्रि०)।

४ 'सीयस्वयवर कथाका प्रकरण 'रहा बिबाह चाप आधीना ॥ टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू । सुर नर नाग बिदित सब काहू ॥ तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा बस ब्यवहार।'''। १ । २८६ ।' पर समाप्त हो गया। यहींसे अब विवाह प्रकरणका आरम्भ समझना चाहिये। यहाँसे विवाह-प्रसङ्गकी भूमिका है, विवाहकी तैयारियाँ आदि हैं, बारात आदि सब विवाहके ही सम्बन्धकी बातें है। 'सानुज राम विवाह उछाहू' यह शुद्ध प्रसङ्ग १ । ३१२ ।' 'धेनु धूरि बेला बिमल सकल सुमगल मूल । बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल ॥ से 'प्रभु बिबाह जस भयउ उछाहू । १ । ३६१ । ६ ।' तक है। मा० प्र० के मतानुसार यह प्रकरण 'रामचद्र मुखचद्र छबि । १ । ३२१ ।' से १ । ३६१ तक है।

५ 'सब काहू' से यह भी भाव ले सकते है कि विवाहमे ददिहाल, ननिहाल, ससुराल इत्यादि सभीके सम्बन्धी उपस्थित थे, पिता भी जीवित थे, (राज्याभिषेकमें पिता न थे)। अत यहाँ 'सब काहू' कहा।

कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं । ते सुकृती मन मुदित नहाहीं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पुलकाहीं=रोमाञ्चित होते है। मुदित=प्रसन्नतापूर्वक। सुकृती=पुण्यात्मा, धर्मात्मा।

अर्थ—(इस कथाके) कहते-सुनते जिनको हर्ष और रोमाञ्च होता है वे ही इस कीर्ति सरयूमें प्रसन्न मनसे नहानेवाले सुकृती हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) कहते और सुनतेमे हर्ष और पुलक होना ही मुदित मनसे नहाना है। बिना मुदित मन हुए तीर्थका फल नहीं मिलता है, उत्साह-भङ्गसे धन-धर्मकी हानि होती है। इसलिये उत्साहपूर्वक स्नान करना चाहिये। यथा—'मज्जहि प्रात समेत उछाहा । १ । ४३ । ८ ।', 'सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग । १ । २ ।', 'मुदित नहाइ कीन्ह सिव सेवा। पूजि जथा बिधि तीरथ देवा ॥', तथा यहाँ 'कहत सुनत हरषहि पुलकाहीं ।' कहने-सुननेमें हर्ष और पुलकावली बड़े सुकृतसे होती है। कीर्ति नदीमें सुकृती नहाते हैं, पापीको स्नान दुष्प्राप्य है, यथा—'पापवंत कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥' (ख) 'कहत सुनत' इति। अर्थात् श्रोता पाकर कहनेमें और वक्ता पाकर सुननेमें। अथवा, परस्पर एक दूसरेसे कहने-सुननेमें। यथा—'कहत सुनत रघुपति गुन गाथा । कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा ॥' १ । ४८ । ५ ।', 'बिदा किए सिर नाइ सिधाए । प्रभु गुन कहत सुनत घर आए ॥' 'कहत सुनत' 'कहना-सुनना' मुहावरा है।

नोट—१ 'हरषहि पुलकाहीं' इति। श्रीजानकीदासजी 'कहत हर्षहिं और सुनत पुलकाहीं,' ऐसा अर्थ करते हैं। यथा—'सुने न पुलकि तन कहे न मुदित मन किये जे चरित रघुबंसराय । वि० ८३ ।', 'रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह । १ । १११ ।' (मा० प्र०)। इस तरह यथासख्य अलकार होगा, पर इस ग्रन्थमे कहने-सुनने दोनोंमें हर्ष और पुलकका प्रमाण मिलता है, यथा—'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी । ७ । ५२ ।' 'सुनि हरि चरित न जो हरषाती । १ । ११३ ।' इत्यादि। कहनेके उदाहरण ऊपर दे ही चुके हैं।

२ 'ते सुकृती' इति। भाव कि—(क) श्रीसरयूजीमें प्रसन्न मनसे स्नान बड़े सुकृतसे प्राप्त होता है, क्योंकि 'जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा । मम समीप नर पावहिं बासा ॥', वैसे ही जब बहुत और बड़े सुकृत उदय होते हैं तब रामचरित कहने-सुननेमें मन लगता है, हर्ष और पुलक होता है, यथा—'अति हरिकृपा जाहि पर होई । पाउँ देइ एहि मारग सोई । ७ । १२९ ।', 'सोइ सुकृती सोइ परम सयाना। जो तजि कपट करइ गुनगाना ॥' (ख) जो सुकृती नहीं हैं, सरयू-स्नान उनको दुर्लभ है, वे तो श्रीसरयूजीको साधारण जलकी नदी ही समझेंगे, वे क्या जानें कि ये ब्रह्मद्रव ही हैं, इनका जल चिदानन्दमय है, भगवान्‌के नेत्रोंका दिव्य करुणाजल है। इसी तरह जो सुकृती नहीं हैं, वे इस कीर्तिसरिताको एक साधारण काव्य ही समझेंगे। उनके भाग्यमें स्नान कहाँ?

हर्ष और पुलक तो कोसों दूर है। पापीको स्नान दुष्प्राप्य है, यथा—'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥'

त्रिपाठीजी—मानसके अधिकारी श्रोताओंको 'सुरबर' कहा था, यथा—'तेइ सुरबर मानस अधिकारी। १। ३८। २।' और इस कवितासरिताके प्रचारके श्रोताको 'सुकृती' कहा। कारण यह है कि इस श्रीरामचरितमानसकी कथा ही दो प्रकारकी है। एक तो वह कथा है, जिसमें चारों घाटोंकी कथाओंका सँभार है, रस, अलङ्कार, लक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि आदिका विचार है, वैधीभक्ति, रागानुगाभक्ति, वैराग्य, ज्ञान-विज्ञानादिका विवरण है, शम, यम, नियम, योगादिका विवेचन है, वही कथा 'मानस' के नामसे विख्यात है। उसके वक्ता दुर्लभ हैं और श्रोता अत्यन्त ही दुर्लभ हैं, दूसरी वह कथा है, जो सर्वसाधारणमें प्रचलित है, जिसमें सीधा-सीधा कथाका आनन्द है, उपर्युक्त बातोंपर वक्ता-श्रोता दृष्टिपात नहीं करते, क्योंकि उन विषयोंमें उनका प्रवेश भी नहीं है। कहना नहीं होगा कि प्रचार दूसरी प्रकारकी कथाका ही विशेष है, क्योंकि इसके वक्ता श्रोता बहुतायतसे मिलते हैं। इसी प्रचारवाली कथाको श्रीग्रन्थकारने सरयूसे उपमित किया है, क्योंकि सरयूजीमें 'मानस' का ही जल है और सरयूजी सुलभ हैं, गृहस्थीमें रहते भी अवगाहन हो सकता है। मानसका अवगाहन दुर्घट है। बिना गृहस्थीके प्रेमके शिथिल किये उसका अवगाहन नहीं हो सकता, अतः 'मानस' के अवगाहन करनेवालेको 'सुरबर' कहा और सरयूके अवगाहन करनेवालेको सुकृती कहा।

नोट—२ 'कहत सुनत' हर्ष और पुलक होना जो यहाँ कहा गया वह किस कथाके लिये? इसपर टीकाकारोंने कोई प्रकाश नहीं डाला है। 'इस कथाके कहने-सुनने या 'कहते-सुनते' इतना ही लोगोंने लिखा है। 'इस कथा' से समस्त रामचरितमानसका भी ग्रहण हो सकता है और अंशका भी। श्रीजानकीशरणजीका मत है कि चरित्रका वर्णन यहाँ क्रमसे हो रहा है। आगेकी चौपाईमें अयोध्याकाण्डका प्रकरण आयेगा। इससे यहाँ विवाहचरित्रके कहने-सुननेवालोंसे ही यहाँ रूपक समझना चाहिये। उदाहरण, यथा—'सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।'। १। ३६१।'

राम तिलक हित मंगल साजा। परब जोग जनु जुरे समाजा॥ ७॥

शब्दार्थ—साजा=सामान, सामग्री। पर्व=अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण, अर्धोदय, सङ्क्रान्ति, महोदय, वारुणी, गोविन्दद्वादशी, श्रीरामनवमी, श्रीजानकीनवमी इत्यादि। पर्व-योग=पर्वकी प्राप्तिपर, पर्वके दिन, पर्वका योग होनेपर। ☞ पुराणानुसार चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा और सङ्क्रान्ति ये सब पर्व हैं। पर्वके दिन स्त्री प्रसङ्ग करना अथवा मांस-मछली आदि खाना निषिद्ध है। जो ये सब काम करता है, कहते हैं, वह विण्मूत्रभोजन नामक नरकमें जाता है। पर्वके दिन उपवास, नदी स्नान, श्राद्ध, दान और जप आदि करना चाहिये। यथा—'चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा। पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसङ्क्रान्तिरेव च॥' [विष्णु पु०। मुहूर्तचिन्तामणि पीयूषधाराटीकासे उद्धृत]। 'चतुर्दश्यष्टमी कृष्णा त्वमावास्या च पूर्णिमा। पुण्यानि पञ्चपर्वाणि सङ्क्रान्तिर्दिनस्य च॥' [वसिष्ठवचन। पीयूषधारासे]। 'स्त्रीसेवन पर्वसु पक्षमध्ये पल च षष्ठीषु च सर्वतैलम्। नृणां विनाशाय चतुर्दशीषु क्षुरक्रिया स्याद्सकृत्तदाशु॥ (वसिष्ठस०)

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके तिलकके लिये जो मंगलसाज सजाया गया वही मानो इस कीर्ति नदीपर पर्व-योगपर (योगी, यती, उदासी, वैष्णव, स्मार्त, विरक्त, गृहस्थ इत्यादि) यात्रियोंका समाज जुटा है॥ ७॥

नोट—१ पर्वयोग होनेपर श्रीसरयूजीपर बहुत भीड़ होती है। कीर्तिसरयूमें श्रीरामराज्याभिषेकसहित मङ्गल साज सजाया जाना पर्वका समाज है।

सु० द्विवेदीजीका मत है कि 'जब अमावास्याको सोमवार हो और अमावस्या तीन प्रहर भोग करे तदनन्तर चौथे प्रहर प्रतिपदा प्रवेश करे तो ऐसे योगमें रविको राहु भोगता है अर्थात् ग्रहण होता है। यहाँ राज्याभिषेकके दिन तीन प्रहर तक मानो अमावास्या रही और जब कैकयीने चौथे प्रहर अभिषेकसमाचार-

को सुनकर विघ्न आरम्भ किया, वही मानो प्रतिपदाका सचार हुआ। ऐसे योगमे राजतिलकमे बाधा पड़ी, मानो ग्रहण हुआ।'

बैजनाथजीका मत है कि यहाँ श्रीरामजी निष्कलङ्क चन्द्रमाके समान और कैकेयीके वरदान राहु समान हैं। (इनके मतानुसार पूर्णिमाका पर्व लेना होगा)।

त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'यद्यपि 'पर्व' शब्दसे किसी भी पर्वका ग्रहण हो सकता है फिर भी श्रीरामाभिषेक पुष्यके योगमें ही होनेवाला था और गोविन्दद्वादशी भी पुष्ययोगमे ही बहुत दिनोपर कभी आती है, अत वही मन्थरारकी लक्षभूता प्रतीत होती है।

२ 'जुरे समाजा' इति। अभिषेकके लिये 'लगे सुमगल सजन सब विधि अनुकूल विचारि ॥ २ । ८ ।', 'प्रमुदित पुर नर नारि सब सजहिं सुमगल चार। एक प्रविसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार ॥ २ । २३ ।' यही कीर्तिनदीपर रामराज्याभिषेकरूपी पर्वके अवसरकी भीड़ है। श्रीसरयूजीमे श्रीअयोध्याजीमे पर्व-विशेषपर कई दिन पूर्वसे भीड़ एकत्र होने लगती ही है।

३ (क) 'तिलक हित मगल साजा' का प्रसङ्ग, 'सबके उर अभिलाषु अस कहहिं मनाइ महेसु। आपु अछत जुवराजपद रामहि देउ नरेसु ॥ २ । १ ।' से प्रारम्भ होता है। और 'सकल कहहिं कब होइहि काली। २ । ११ । ६ ।' पर, अथवा, मानसपरिचारिकाके मतानुसार 'नाम मथरा मदमति चेरी कैकइ केरि। २ । १२ । पर समाप्त होता है। (ख) पर्वयोग दुर्लभ है। वैसे ही रामराज्य दुर्लभ है। लोग मनाते हैं कि रामराज हो। (प० रा० कु०)। (ग) यहाँ उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है। पर्वपर समाज जुटता ही है।

काई कुमति कैकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—घनेरी = एक साथ ही बहुत सी, घोर।

अर्थ—कैकेयीकी दुर्बुद्धि (इस कीर्ति-नदीमेंकी) काई है जिसका फल (परिणाम) 'घनेरी विपत्ति पड़ी' है ॥ ८ ॥

नोट—१ ☞ काई कुमति "घनेरी"—यह प्रसङ्ग 'नाम मथरा मदमति चेरी कैकइ केरि। २ । १२ ।' से 'सजि बन साजु समाजु सबु बनिता बधु समेत। बदि बिप्र गुरु चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत ॥ २ । ७९ ।' तक और फिर सुमन्त्रजीके लौट आनेसे 'पितु हित भरत कीन्ह जसि करनी' तक है। (मा० प्र०) मा० म० के मतसे 'भावी बस प्रतीति उर आई' से 'अस विचारि सोइ करहु जो भावा' तक यह प्रसङ्ग है। २ 'बिपति घनेरी' का प्रसङ्ग—'नगर व्यापि गइ बात सुतीछी। २ । ४६ । ६ ।' से 'अति बिषाद बस लोग लोगाईं। ५१ । ७ ।' तथा 'सजि बन साजसमाज' तक। पुन, 'चलत रामु लखि अवध अनाथा। २ । ८३ । ३ ।' से 'बिषम बियोग न जाइ बखाना। २ । ८६ । ८ ।' तक।' पुन, 'मत्री बिकल बिलोकि निषादू। २ । १४२ । ६ ।' से 'पितु हित भरत कीन्ह जसि करनी। अ० १७१ । १ ।' तक, वस्तुत वनसे पुन अवध लौट आनेतक सब विपत्ति है, पर प्रकरण क्रमसे यहींतक यह प्रसग होगा।

☞ ३—गोस्वामीजी सारी विपत्तिका दोष कैकयी-कुमति बताते हैं और यही अयोध्याकाण्डमे दर्शाया गया है। यथा—'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबस बेनु बन आगी ॥ ... सुरत महँ सोक टाटु धरि ठाटा ॥ ... ४७ ॥' 'वरु बिचारि नहि कुमतिहि दीन्हा' तक, 'भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी ॥ २ । ९२ ।', 'कैकयनदिनि मदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह। जेहि रघुनदन जानकिहि सुखु अवसर दुख दीन्ह ॥ २ । ९१ ।' इत्यादि।

टिप्पणी—१ (क) काईका होना उत्पात है, कुमतिका फल विपत्ति है। यथा—'जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना। ५ । ४० ।' (कुमति आनेपर लोग मित्रको शत्रु और शत्रुको मित्र मान लेते हैं; यथा—'तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥ ५ । ४० ।' वैसे कैकेयीने मन्थराको हित मान लिया, यथा—'तोहि सम हित न

मोर संसारा। बहे जात कइ भइसि अधारा॥ २। २३।' और 'विप्रबधू कुल मान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी॥' उनके वचन उसको बाण सम लगे, वे सब अहित जान पड़े)। पक्का घाट पहिले कह आये हैं, यथा—'घाट सुबद्ध राम बर बानी'। नदीमें पक्के घाटपर काई लगा करती है इसलिये घाट कहकर फिर काई कहा। (ख) एक उत्पातका फल अमित विपत्ति हुई—रामराजमें विघ्न, वन-गमन, दशरथ-मरण, रानियोंका वैधव्य, प्रजाको शोक, भरतजीको क्लेश इत्यादि। (ग) काईमें फिसलकर लोग गिर पड़ते हैं, यहाँ बहुत-सी विपत्ति आकर गिरी है—(पाँडेजी)] (घ) कैकेयीके हृदयमें मन्थराकी बात अच्छी लगना काईका लगना है।

नोट—४ काई घाटपर जलकी रुकावट और कीचड़के संयोगसे हो जाया करती है। यहाँ मन्थरा कीचड़ है जिसके संयोगसे कैकेयीमें कुमतिरूपी काई जमी। (बैजनाथजी लिखते हैं कि नदीतीरमें जहाँ भूमिकी विषमतासे जल थँमा रहता है वहाँ मैले पदार्थका योग पाकर काई पड़ जाती है। यहाँ देवप्रेरित सरस्वतीद्वारा मैला संयोग पानेपर कैकेयीकी मतिकी कुमति प्रकट हुई। यही काई है।)—काईमें बेधड़क चलनेसे फिसलकर गिरना होता है, यहाँ महाराज दशरथजी न जानते थे कि काई जम आयी है, वे बेधड़क वचन दे बैठे (यही कुमति काईपर चलना है) जिससे ऐसे गिरे कि फिर न उठे। 'परी' शब्द कैसा चोखा है। यह स्वयं ही जना देता है कि विपत्ति पूर्णतया फिर न हटी, पड़ी ही रही। केवल कुछ अंशमें कम हो गयी। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'जैसे कोई धर्मात्मा आ जाता है तो काईको घाटपरसे निकलवा देता है तब वह काई सूख जाती है। यहाँ भरतजीने माताका त्याग किया, फिर कभी कैकेयीको माता न कहा। यही काईका निकाल फेंकना है, विधवापन सूख जाना है।'

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि मानसमें काईका वर्णन नहीं है, क्योंकि वहाँ आधिभौतिक अर्थके साथ-ही साथ आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ भी चलते हैं, और उन अर्थोंपर ध्यान देनेसे कैकेयी भगवतीमें कुमतिका आरोप नहीं हो सकता, यथा—'तात कैकइहि दोष नहिं गई गिरा मति धूति।' अत मानससरमें काई नहीं कहा।

दो०—समन अमित उतपात सब भरत चरित जप जाग।
कलि अघ*खल अवगुन कथन ते जलमल बग काग॥ ४१॥

शब्दार्थ—उतपात (उत्पात)=विपत्ति, आपत्ति उपद्रव। जप जाग=जप-यज्ञ।

अर्थ—सभी असीम उपद्रवोंको शान्त करनेवाला श्रीभरतजीका चरित जप-यज्ञ है। कलिके पापों और खलोंके अवगुणोंके वर्णन इस नदीके मल बगुले और कौए हैं॥ ४१॥

नोट—१ 'समन अमित उतपात सब' इति। (क) 'जैसे काई लगनेसे जल बिगड़ता है, तब महात्मा लोग काईको निकलवाते हैं और जप, पुरश्चरण और यज्ञ करके विघ्नोंको शान्त करते हैं, वैसे ही कीर्ति—सरयूमें जो कैकेयीकी कुमतिरूपी काई लगनेसे उत्पात हुए उनकी शान्तिके लिये श्रीभरतजीका चरित जप-यज्ञ है। (मा० प्र०)। (ख) श्रीभरतजीका फिर जीते-जी कैकेयीको माता न कहना, उनका सदाके लिये त्याग करना, यही काईका निकाल फेंकना है। प्रभुकी चरणपादुका सिंहासनपर पधारना और स्वयं भूमि खोदकर नन्दिग्राममें अवधिभर रहना यह सब प्रायश्चित्त है। (ग) श्रीभरतजीके इस चरित्रसे कैकेयीकी कुमति जाती रही, उसे परिपूर्ण पश्चात्ताप हुआ। यथा—'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥ अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥ २। २५२।' 'गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषनु देई॥ २। २७३। १।' और भरतजीके ही चरितका प्रभाव है कि अवध फिर सुन्दर रीतिसे 'सुबस' बसा, 'रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपबास। तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि की आस॥ ३२२।' और भगवान् श्रीरामजीका राज्याभिषेक हुआ। सब उत्पात शान्त हुए।

---

* कलि अघ खल अवगुन—१६६१, पाँडेजी, बै०।

२—बैजनाथजी लिखते हैं कि—'काई, मैला आदि यावत् उत्पात जलमें होता है, वह सब वर्षाका प्रवाह आनेपर बह जाता है, यहाँ कैकेयी—कुमति आदि यावत् पूर्व उत्पातरूप काई और मैल रहा उस सबको शमन करनेके लिये जो जप-यज्ञमय भरतचरित है वही वर्षाका प्रवाह है जिससे सब विकार बह गया।'

३—यज्ञ प्रायश्चित्त आदिके लिये किया जाता है, वैसे ही कैकेयीजीके पापका प्रायश्चित श्रीभरतचरितसे हुआ। यथा—'दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राजतृष्णापराङ्मुखः। मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत॥' (रघुवंश १२। १९)। अर्थात् ज्येष्ठ भ्रातामें भरतजीकी दृढभक्ति थी, अतः राज्यतृष्णासे उनको पराङ्मुख होना मानो माताके पापका प्रायश्चित्त ही है।

४—(क) 'भरतचरित' प्रसंग 'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भए। लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए॥ सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।' २। १७६।, से 'भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं। २। ३२६।' तक है। बीच-बीचमें स्वभावका वर्णन है, उसे इस गुणके साथ दोहा ४२ (८) में सुशीतलता कहा है। (मा० प्र०)। (ख) 'भरत-चरित' सब उत्पातोंका नाशक है, यथा—'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नाम तुम्हार॥ २। २६३।'—यह श्रीरामजीका आशीर्वाद है। देखिये, कविने स्वयं भरतवचनको 'सञ्जीवन' की उपमा दी है। यथा—'भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधा जनु पागे॥ लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥ २। १८४।'

प० रामकुमारजीने १ (क) भरत-चरितको जप-यज्ञ कहा क्योंकि जप यज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, यथा—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। गीता। १०। २५।' (ख) जपयज्ञसे अमित उत्पात नाशको प्राप्त होते हैं, यहाँ तो एक ही उत्पात है। भरतचरित्रसे श्रीसीतारामलक्ष्मण तीनों प्रसन्न हुए, सब प्रजा सुखी हुई, स्वर्गमें राजा प्रसन्न हुए। (ग) पुनः, जैसे जप यज्ञका माहात्म्य है वैसे ही भरतचरितका माहात्म्य गोस्वामीजीने कहा है, यथा—'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥ हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महामोह निसि दलन दिनेसू॥ पापपुंज कुंजर मृगराजू। समन सकल संताप समाजू॥ जनरंजन भंजन भवभारू। रामसनेह सुधाकर सारू॥ २। ३२६।'

* 'कलि अघ खल अवगुन कथन', 'जलमल बग काग' *

(१) श्रीजानकीदासजीके मतानुसार 'कलि-अघ—कथन बक है, खल-अवगुन-कथन काग है। जैसे नदीके एक देशमें देशभूमिके योगसे घोंघी-सिवाररूप मल रहता है। जिसके साफ करनेको काग-बक रहते हैं, वैसे ही कीर्ति-नदीमें कविताके संयोगसे कहीं कहीं एक देशमें प्राकृत दृष्टान्त दिये गये हैं, वही घोंघी सिवाररूपी जलमल है जिनके साफ (दूर) करनेको उत्तरकाण्डमेंका कलि-अघवर्णन बक है और खल-अवगुण वर्णन काग है। ये वर्णन प्राकृत दृष्टान्तादि मलको साफ कर देते है। इस तरह कि इन दृष्टान्तोंको बहुत लोग पढ या सुनकर वैसा ही बुरा कर्म करने लगते हैं। 'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख' इत्यादि दृष्टान्तका उदाहरण लोग देते हैं और कहते हैं कि देवकोटिवाले ऐसा करते थे, हम क्यों न करें—यही मलका जमा होना है। वे यह नहीं समझते कि यह तो काव्यका अङ्ग है। परन्तु कलिके अघ और खलके अवगुणका वर्णन जो रामायणमें है इसको जब वे लोग सुनते हैं तब उनको ग्लानि होती है कि जो कर्म हम करते रहे सो तो दुष्टोंके कर्म हैं। ऐसा विचार होनेपर वे कुकर्मोंको त्याग देते हैं, यही मलका साफ होना है। यथा—'बुध जुगधर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥ ७। १०४॥ इसीसे अघ अवगुण-कथनको बक और काग कहा। इनका वर्णन आवश्यक अङ्ग है, क्योंकि 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।'

(२) श्री प० रामकुमारजी लिखते है कि 'कलिका वर्णन जलमल है, खलअघ बक है, खल अवगुण काग है।' अथवा कलिका अघ जलमल है और खल-अघ अवगुन-कथन बक और काग हैं।

(३) बैजनाथजीका मत है कि 'कलि मल ग्रसे धर्म सब। ७। ९७।' इत्यादि कलिका वर्णन जलमल है। अघ-वर्णन, यथा—'जे अघ मातु पिता सुत मारें। २। १६७। ५। इत्यादि बक है। खल-अवगुण कथन काक है। यहाँ यथासंख्य अलङ्कार है।

टिप्पणी—१ (क) जब मानसका वर्णन किया था तब खल और कामीको बक-काग कहा था, यथा—'अति खल जे बिषई बक कागा', 'कामी काक बलाक बिचारे।' यहाँ खलके अघ अवगुण कथनको बक-काग कहा। मानसमें 'जलमल बक काग' नहीं कहा, यहाँ सरयूमें कहा है। कारण यह है कि मानस देवलोकमें है जो दिव्य है, इससे वहाँ 'जलमल बक काग' नहीं हैं, यथा—'अतिखल जे बिषई बक कागा। एहिं सर निकट न जाहिं अभागा॥ संबुक भेक सेवार समाना॥ इहाँ न बिषय कथा रस नाना। १। ३८। ३-४।' और, सरयूजी नरलोकमें आयीं, इससे यहाँ ये सब हुए। इसी प्रकार जबतक मानस कविके स्वच्छ हृदयमें रहा तबतक ये वहाँ न थे, जब कथा वर्णन करने लगे तब कथामें तो खलकी कथा, कलियुगकी कथा, सभी कुछ कहना ही चाहिये, इससे यहाँ 'जलमल बग काग' कहे। अथवा, यों कहिये कि जैसे मानसमें बक-काग नहीं वैसे ही गोस्वामीजीके मानसमें जबतक कविताके अंग नहीं थे, तबतक बक-कागका रूपक भी न था। बककाग मर्त्यलोकमें हैं, सरयू मर्त्यलोकमें आयीं इससे यहाँ सब हैं। इसी तरह जब कविके हृदयमें निकलकर कथाका रूपक बाँधा गया तब बक-कागका भी कथामें वर्णन हुआ।

नोट—१ (क) ☞ कलि-अघ वा कलिका वर्णन उत्तरकाण्डमें है, यथा—'कलिमल ग्रसे धर्म सब' ' से 'सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार' तक (उ० ९७ से १०२ तक)। (मा० प्र०)। (ख) 'खल अघ अवगुन' का वर्णन बालकाण्डके आदि और उत्तरकाण्डके मध्यमें है, यथा—'बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ॥' से 'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥' तक। १। ४। (१) से १। ६ (१) तक, 'सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ' से 'स्वारथरत परलोक नसाना। ७। ३९। १।' से ७। ४१। ४ तक है। फिर दोहा १२१ में भी कुछ है—'पर दुख हेतु असंत अभागी। सन इव खल परबंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥' से 'जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू।' तक (७। १२१। १५-२०) इत्यादि। इसमेंसे उत्तरकाण्डमें जो वर्णन है वह 'खल अवगुन कथन' यहाँ अभिप्रेत है, यह मत मा० प्र० का है और यही ठीक जान पड़ता है। बैजनाथजी तथा और भी एक-दो टीकाकार 'खल अघ अगुन ' इत्यादि जो बालकाण्डमें है उसे 'खल अवगुन कथन' में लेते हैं। मा० मा० कार इसपर लिखते हैं कि पूर्वसे वर्णन क्रमसे हो रहा है, इसलिये फिर लौटकर बालकाण्डमें जाना प्रसंग-विरुद्ध जान पड़ता है। साथ ही एक बड़ा दोष इसमें यह है कि यह प्रसंग कीर्ति-सरयूका नहीं है, यह तो कविके वन्दना-प्रकरणका एक अंश है।

कीरति सरित छहूँ रितु रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी॥ १॥

शब्दार्थ—रितु (ऋतु)—प्राकृतिक अवस्थाओंके अनुसार वर्षके दो-दो महीनेके छः विभाग। ये छः हैं। इनके नाम मु० गुरुसहायलालके टिप्पणमें आये हैं और आगे अर्धालियोंमें कविने स्वयं दिये हैं। रूरी=(सं० रूढ़ा। रूढ़=प्रशस्त)=सुन्दर, पक्की। भूरी=बहुत।

अर्थ—यह कीर्ति-नदी छहों ऋतुओंमें सुन्दर है। सब समय (वा, समय-समयपर) बहुत ही सुहावनी और पावनी है॥ १॥*

टिप्पणी—१ (क) 'छहूँ रितु रूरी' इति। भाव यह है कि जिस ऋतुका जो धर्म है वही उसकी शोभा है। यहाँ सब ऋतु अपने-अपने धर्मके सहित हैं। इसीसे यह नदी सब समयमें सुहावनी है। (ख) यहाँ कीर्ति-नदीका छहों ऋतुओंमें सुन्दर होना कहा है (और आगे इन ऋतुओंका वर्णन किया है)। अर्थात् (१) श्री-पार्वती-महादेवविवाह सुन्दर, (२) प्रभुजन्मोत्सव सुन्दर, (३) श्रीरामविवाह समाज सुन्दर, (४) श्रीराम-वन-गमन सुन्दर, यथा—'कहेउँ राम बन गवन सुहावा। २। १४२। ४।', (५) 'निशाचर रारी' (अर्थात् निशाचरोंसे संग्राम) सुन्दर—इसके सुन्दर होनेका हेतु भी बता दिया है। वह यह कि 'सुरकुल सालि सुमंगलकारी' है। और (६) श्रीरामराज सुन्दर और विशद है।

---

* मा० पत्रिकामें अर्थ इस प्रकार किया है—'इस रामकथा-नदीमें समय (समय) पर सोहावनी, पवित्र और बहुत (अनेक लोगोंकी) कीर्ति (कथा) जो हैं वे छहों ऋतु हैं।'

नोट—१ 'छहू रितु रूरी' कहकर कीर्तिनदीकी सब दिन बड़ाई दिखायी। और नदियाँ तो काल और देश पाकर पवित्र होती हैं—'देशे देशे तद्‌गुणा सविशेषा' पर यह सदा सुन्दर है। इसकी शोभा नित्य नवीन बनी रहती है, कभी घटती नहीं। (सू० मिश्र)। पुनः यह भी जनाया कि परिवर्तन तो होता है पर वह उसे नित्य नवनवायमान बनाये रखनेमें सहायक होता है। अत परिवर्तन भी शोभाके उत्कर्षका कारण है। (वि० त्रि०)।

२ 'समय सुहावनि···' के भाव—(क) 'जैसे श्रीसरयूजी सब ऋतुओंमें सुन्दर हैं पर समय समयपर अति सुहावनी और अति पावनी हो जाती है (जैसे कार्तिक, श्रीरामनवमी आदिपर), वैसे ही कीर्ति-नदी सब ऋतुओंमें सुन्दर है, पर समय-समयपर यह भी बहुत सुहावनी और पावनी है।' (मा० प्र०)। (ख) जिस कथा-भागको जिस ऋतुमे उपमित किया गया, उससे उस ऋतुकी शोभा पायी जायगी। किस भागसे किस ऋतुकी शोभा है यह कवि आगे स्वयं कह रहे हैं। (वि० त्रि०)।

सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'श्रुति-वाक्य है कि वसन्तऋतुके चैत्र-वैशाख मासमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, वनस्पति पकती है, इसी कारण उन (मासों) के नाम मधु और माधव हैं। ग्रीष्मके ज्येष्ठ-आषाढ मासमें सूर्य अधिक तपते हैं इसीसे उन्हें शुक्र और शुचि कहते हैं। वर्षाके श्रावण, भाद्रपद मासमें आकाशसे वर्षा होती है, इसीसे उनका नाम नभ और नभस्य है। शरदऋतुके आश्विन, कार्तिक मासमें रसवान् ओषधियाँ पकती हैं, इसीसे उन्हें इष् और ऊर्ज कहते हैं। हेमन्तऋतुके अगहन और पौष मासमें प्रजा शीतवश हो जाती है, इसीसे उन्हें सह और सहस्य कहते हैं। शिशिरऋतुमे माघ-फाल्गुन मासमें सूर्यका तेज अधिक होता है, इस कारण उनका नाम तप और तपस्य है। इससे इस चौपाईका भाव यह हुआ कि 'कीर्ति नदी छहों ऋतुओंमें सुन्दर है और पावन और सुहावन समय तो यहाँ भूरी अर्थात् बहुत ही है। तात्पर्य यह है कि अन्य तीर्थोंमें कभी-कभी स्नान-क्रियामें विशेष फल होते हैं और यहाँ तो सर्वदा ही। पुन, मेला इत्यादिमें बहुतेरे सुहावन होते हैं और यह समाजियोंद्वारा सदा ही सुहावन है।'

महात्मा हरिहरप्रसादजी दोनों भाव देते हैं। वे किसी-किसी समयमें बड़ी शोभा और पवित्रताका उदाहरण यह देते हैं कि जैसे वन-गमन आदि लीलाएँ तारनेमें समर्थ हैं, पर जन्म, विवाह आदि लीलाएँ अति सुहावनी पावनी हैं।

३ 'पावनि भूरी' अर्थात् बहुत पवित्र। 'पावनि भूरी' कहा, क्योंकि यह कीर्ति श्रीरामजीकी है। छओं कथा विभागोंकी पावनताके प्रमाण—उमाशम्भुविवाहरूपी हेमन्तऋतुकी पावनता, यथा—'कल्यान काज बिबाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं। १। १०३।' प्रभुजन्मोत्सव शिशिरकी पावनता, यथा—'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहि ते न परहिं भव-कूपा। १। १९२।' श्रीरामविवाहसमाज ऋतुराजकी, यथा—'तिन्ह कहुँ सदा उछाहु। १। ३६१।' श्रीरामवन-गमन ग्रीष्मकी, यथा—'अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखनु सियरामु बटाऊ॥ रामधामपथ पाइहि सोई। २। १२४।' निशाचररारि वर्षाकी, यथा—'बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहि देहि भगवान। ६। १२०।' और श्रीराम-राज्यसुखादि शरद्‌ऋतुकी पावनता, यथा—'सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपतिपुर जाहीं॥ ७। १५।'

४ (क)—यहाँ ऋतुप्रकरण उठानेका कारण मानस-परिचारिकाकार यह लिखते हैं कि 'नदीका रूपक कहने लगे सो नदीमें जितनी सहायता रही वह अयोध्याकाण्डभरमें हो गयी, किञ्चित् उत्तरकाण्डमें पाया। आगे अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लङ्काकाण्डमें ये न मिले, इसलिये ऋतुप्रकरण उठाया। और त्रिपाठीजी लिखते हैं कि श्रीगोस्वामीजी नदीका रूपक यहीं समाप्त करते हैं। उन्होंने अयोध्याकाण्डतक ही मुख्य रामचरित माना। शङ्कर-पार्वतीका ब्याह तथा अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लङ्का और ५१ दोहेतक उत्तरकाण्डकी कथाओं-को उसी कीर्ति-सरितकी विशेष-विशेष अवस्थाओंके शोभारूपमें स्वीकार किया है। यही कारण है कि जिस भाँति बाल और अयोध्या विस्तारके साथ लिखे गये, उस भाँति दूसरे काण्ड नहीं लिखे गये। वस्तुतः श्रीराम-

जीके मुख्य गुणग्रामोंका परिचय इन्हीं दो काण्डोंमें हो जाता है, शेष ग्रन्थमें उन्हीं गुणग्रामोंकी शोभामात्रका वर्णन है।'

(ख) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'कीर्तिसरितमें छ ऋतु कहनेका हेतु यह है कि छ ही ऋतुओंमें सब दिन बीतते हैं। इसलिये जो इनको गावैं, सुनेंगे उनपर ऋतुओंके दोष न बिसायेंगे। अर्थात् कालके गुण न व्यापेंगे।'

शङ्का—'शास्त्रोंमें तो वर्षा-ऋतुमें नदी अपावनी कही गयी है, उसका रजस्वला होना कहा जाता है, यथा—'सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वला। तासु स्नानं न कुर्वन्ति वर्जयित्वा समुद्रगाः॥' तब सरयूको छहों ऋतुओंमें रुरी और पावनी कैसे कहा?'

समाधान—(१) रजोधर्म बाल्य और वृद्धा-अवस्थाओंमें नहीं होता। गङ्गा-यमुना सरयू आदि वृद्धा अवस्थाकी कही जाती हैं। ये जगज्जननी कही जाती हैं और सदैव पवित्र हैं। इसीसे सदा रुरी, सुहावनी और पावनी हैं। (२) शङ्कामें दिये हुए प्रमाणसे भी यह दोष श्रीसरयूजीमें नहीं लग सकता, क्योंकि ये 'समुद्रगा' हैं। (३) उपमाका केवल एक देश ही यहाँ लिया गया है, अतः यह शङ्का नहीं रह जाती। (४) श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि 'साथ ही यह भी लिखा है—'नदीषु मातृतुल्यासु रजोदोषो न विद्यते' (कृत्यशिरोमणि), 'न दुष्येत्तीरवासिनम्' (निगम)।'

हिम हिम सैलसुता सिव ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू॥ २॥

शब्दार्थ—हिम=हेमन्तऋतु। हिमसैलसुता=हिमाचलराजकी पुत्री श्रीपार्वतीजी। सिसिर=शिशिर।

अर्थ—श्रीशिवपार्वती-विवाह हेमन्तऋतु है। श्रीरामजन्म-महोत्सव सुखदायी शिशिरऋतु है॥ २॥

नोट—१ यहाँसे कथाका ऋतुके धर्मसे मिलान वर्णन किया जा रहा है। या यों कहिये कि कीर्त्ति नदीके ऋतुओंके पृथक्-पृथक् स्वरूपोंका निरूपण यहाँसे चला। और सुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि 'इस मानसमें जो बहुत लोगोंकी कीर्तिरूपी छ ऋतुएँ हैं उनमें संशय न हो इसलिये अलग-अलग कहते हैं। ऋतुवर्णनके व्याजसे गोसाईंजीने रामायणका पूरा-पूरा स्वरूप दिखलाया है।'

२ प्राचीन कालमें किसी समयमें संवत्सरका प्रारम्भ मार्गशीर्षमास अर्थात् हेमन्त ऋतुसे होता था। अमरकोशमें मार्गशीर्षका नाम आग्रहायणिक मिलता है। जिसकी व्याख्या सिद्धान्तकौमुदीमें 'आग्रहायण्यश्वत्थात् ठक्। ४। २। २२।' इस सूत्रपर इस प्रकार की गयी है—'अग्रेहायनमस्या इत्याग्रहायिणी। आग्रहायणी पूर्णमासी अस्मिन् सः आग्रहायणिक मासः॥' अर्थात् जिसका संवत्सर आगे है वह आग्रहायणी और आग्रहायणी पूर्णमासी जिस मासमें है उसका नाम आग्रहायणिक है।

सिद्धान्तकौमुदीकारके पुत्रने अमरकोशके इस शब्दकी व्याख्यामें यह लिखा है कि 'ज्योत्स्नादित्वात्' (वा० ५। २। १०३) अणि 'आग्रहायण' अपीति पुरुषोत्तमः॥' अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमजीके मतसे 'आग्रहायण' ऐसा भी शब्द होता है। (इसीका अपभ्रंश हिन्दीभाषामें 'अगहन' है)।

उपर्युक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि अगहनकी पूर्णिमा संवत्सरकी पहली पूर्णिमा है अर्थात् संवत्सरका प्रारम्भ अगहनसे होता है।

अमरकोशके कालवर्गमें मासोंके नामोंकी गणना मार्गशीर्षसे और ऋतुओंके नामोंकी गणना हेमन्तसे की गयी है एवं ऋतुगणनाके अन्तमें कहा गया है कि मार्गादिमासोंके दो-दो मासोंका एक-एक ऋतु होता है। यथा—'षडमी ऋतवः पुंसि मार्गादीनां युगैः क्रमात्। २०।' और प्रारम्भमें 'द्वौ द्वौ मार्गादिमासौ स्यादृतुः। १। ४। १३।' यह भी कहा है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि अमरकोशकारके समयमें अगहन माससे संवत्सरका आरम्भ होता था।

श्रीसुधाकरद्विवेदीजीका भी यही मत है। हिन्दी शब्दसागरकार भी लिखते हैं कि 'प्राचीन वैदिक क्रमके अनुसार अगहन (आग्रहायण) वर्षका पहिला महीना है। गुजरात आदिमें यह क्रम अभीतक प्रचलित है।'

अतः गोस्वामीजीने ऋतुका रूपक बाँधनेमें इसी ऋतुसे प्रारम्भ किया है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि 'कम-से-कम गोस्वामीजीके समय तो उत्तरीय भारतमें मार्गशीर्षसे संवत्सरके आरम्भकी परम्परा वा व्यवहारका प्रमाण उपलब्ध नहीं है किंतु वसन्त (चैत्र) से ही वर्षका आरम्भ सुना जाता है तब वसन्तको छोड़कर हिम ऋतुमें प्रारम्भ करनेका क्या हेतु है?'

समाधान यह है कि गोस्वामीजी श्रीरामराज्यको शरद्ऋतुमें उपमित करना चाहते हैं, क्योंकि शरद्ऋतु विशद, सुखद और सुहावनी है। यदि वर्तमान प्रथाके अनुसार वसन्तसे प्रारम्भ करते तो अन्तमें शिशिरऋतु पड़ती जो सबको उतना सुखद नहीं होता जितना शरद्।

श्रीशुकदेवलालजी लिखते है कि प्रथम हिमऋतु कहा, क्योंकि हिमऋतुका प्रारम्भ मार्गशीर्ष प्रथम माससे है, इस क्रमसे कि नारायण अपने केशवादि द्वादश नामोंसे द्वादश महीनोंके स्वामी और पृथक् द्वादश मासोंके माहात्म्योंमें प्रसिद्ध हैं, यथा—(१) केशव मार्गशिर, (२) नारायण पौष, (३) माधव माघ, (४) गोविन्द फाल्गुन, (५) विष्णु चैत्र, (६) मधुसूदन वैशाख, (७) त्रिविक्रम ज्येष्ठ, (८) वामन आषाढ, (९) श्रीधर श्रावण, (१०) हृषीकेश भाद्रपद, (११) पद्मनाभ आश्विन और (१२) दामोदर कार्तिक—ये हिमसे शरद्-पर्यन्तके महीने है।

मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि प्रथम हिम ऋतु-वर्णन करनेका आशय यह है कि हिमऋतु और शङ्कर-पार्वती-विवाहका एक क्रम है। वह यह कि इस विवाहमें त्रिलोकी कम्पायमान हो गया—'भयउ कोप कंपेउ त्रयलोका', कहहिं बचन सिसु कंपित गाता' ऐसे ही हिममें सब काँपते हैं।

प्रश्न—२ कीर्त्ति-सरयूके ऋतु-प्रसङ्गको उमा-शम्भु-विवाहसे ही क्यों प्रारम्भ किया?

उत्तर—(क) मानसप्रकरण इस रामचरितमानस ग्रन्थमें मूलरामायण-सरीखा है। गोस्वामीजीने श्रीराम-चरितमानसकथाके प्रारम्भमें यह दिखाया है कि किस हेतुसे और किस प्रकार मानसका जगत्में प्रचार हुआ, ऐसा करनेमें प्रथम शिव-पार्वती विवाहका वर्णन किया है, तब राम-जन्मोत्सवका। इसी कारण यहाँ भी वही क्रम रखना उचित ही था।

(ख) शिव-पार्वती-विवाहका कथन-श्रवण कल्याणकारी है यथा—'यह उमा संभु बिबाह जे नर नारि कहहिं जे गावहीं। कल्यान काज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीं॥ १। १०३।' अतएव आदिमें इसको कहा।

(ग) महादेव-पार्वती इस कथाके प्रचारके प्रथम आचार्य हैं। अतः उन्हींसे प्रारम्भ किया।

नोट—२ उमा-शम्भु विवाह-प्रसङ्गको हेमन्त-ऋतुसे उपमित करनेके भाव कि—(क) हेमन्तऋतुमें हिम (बर्फ, पाला) बहुत पड़ता है और उमाजी हिमशैलसुता हैं जो शिवजीको अत्यन्त प्रिय हैं। इसलिये इस कीर्तिसरयूमें हिमके स्थानपर हिमशैलसुताविवाह बहुत ही उपयुक्त है। (ख) हिमऋतुमें दो मास मार्गशीर्ष और पौष वैसे ही हिमशैलसुता-शिवब्याहमें भी दो चरित (उमाचरित तथा शिवचरित) हैं। यथा—'उमाचरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा॥ १। ७५। ६।' (वि० त्रि०)। (ग) जाड़ा अमीरोंको सुखदायी और गरीबोंको दुःखदायी होता है, वैसे ही यह विवाह देवताओंको सुखदायी हुआ। यथा—'तारक असुर भयउ तेहि काला। १। ८२। ५।' से 'एहि बिधि भलेहि देव हित होई। १। ८३।' तक। गरीब स्थानमें मेना अम्बा आदि हैं। इन्हें भय और दुःख हुआ, यथा—'बिकट बेष रुद्रहिं जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा॥ १। ९६।' से 'बहु भाँति बिधिहि लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं। १। ९७।' तक। (घ) सरयूमें हिमऋतु आनेपर जाड़ा होता है, लोग काँप उठते हैं, परंतु उससे भोजन पच जाता है, इससे बड़े लोग प्रसन्न रहते हैं। वैसे ही कीर्तिसरयू उमाशम्भुविवाहरूप हिमऋतुमें श्रीमेनाजी आदिको प्रथम दुःखरूप जाड़ा लगा। सब देवता अपना-अपना स्थान पाकर खुश हुए—यही भोजनका

पचाना है। (मा० प्र०)। (ङ) हिमऋतुमें बिना अग्निके जाड़ेका नाश नहीं होता, सो शङ्कर और पार्वतीके ब्याहके उपक्रममें ही जाड़ा और आगका सामना पड़ा। कामको जाड़ा (हिम) से और शङ्करजीको अग्निसे उपमित किया ही गया है। यथा—'तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहि काऊ॥ गएँ समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस कै नाई॥ १। ९०।' हिमऋतु कामियोंको अति सुखद है और नित्यकृत्यमें महाविघ्नप्रद है, इस भाँति भी जाड़ेका कामसे साधर्म्य मिलता है। कामरूपी जाड़ेका प्रकोप शङ्कररूपी अग्निपर हुआ जिसका वर्णन 'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा। १। ८४। ५। से 'धरी न काहू धीर'। ८५' तक है। जाड़ारूपी कामका यह पुरुषार्थ त्रैलोक्यको कम्पायमान करनेमें समर्थ तो हुआ परंतु कालाग्निके समान रुद्र भगवान्‌को देखते ही सङ्कुचित हो गया। (उसने फिर अपना प्रभाव दिखाया) 'तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भयउ जरि छारा॥ १। ८७।' यह तो हुई मार्गशीर्षकी बात, पौषमें तो अग्निदेव भी मन्दे पड़ गये, कारण कि भगवती हिमगिरिनन्दिनीके साथ ब्याह हो गया। (वि० त्रि०)।

प्रश्न—श्रीशिवपार्वती-ब्याह रामचरितके अन्तर्गत कैसे है?

उत्तर—श्रीरामचरितका बीज उमा-शम्भुविवाह-प्रसङ्गमें निहित है। सतीतनमें जो व्यामोह हुआ था उसकी निवृत्तिके लिये श्रीरामचरितका प्रादुर्भाव यह विवाह होनेसे ही हुआ। अतः उसे रामचरितके अन्तर्गत मानना अनुचित नहीं है। दूसरे, यह विवाह वस्तुतः रामचरित ही है। भगवान् शङ्करने सतीका परित्याग किया। समय पाकर सतीका हिमाचलके यहाँ जन्म हुआ। पर ब्याह कैसे हो? अतः अब रामचरित सुनिये—'नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥ प्रगटे राम कृतग्य कृपाला॥ १। ७६। ४-५।' से 'संकर सोइ मूरति उर राखी। ७७। ७।' तक। श्रीरामजीके अनुरोधसे यह ब्याह हुआ। अतः इसका श्रीरामचरितके अन्तर्गत होना सभी विधिसे प्राप्त है। (वि० त्रि०)

नोट—४ उमाशम्भुविवाहप्रसङ्ग मा० प्र० के मतानुसार 'कंचन थार सोह बर पानी। परिछन चली हरहि हरषानी॥ १। ९६। ३।' से और किसीके (सम्भवतः प० रामकुमारजीके) मतसे 'सुदिनु सुनखतु सुघरी सोचाई। १। ९१। ४।' से 'यह उमासंभु बिबाहु जे नर नारि कहहिं जे गावहीं। १०३। तक है।

५ 'सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू' इति। श्रीरामविवाहोत्सवको शिशिरकी उपमा दी, क्योंकि—(क) दोनों सुखद हैं। (ख) माघमें मकरसंक्रान्तिके स्नानके लिये तीर्थमें यात्रियोंका समाज जुटता है और फाल्गुनमें होली होती है जिसमें अबीरगुलाल रंगकी बहार देखनेमें आती है। यहाँ कीर्ति सरयूमें श्रीरामजन्मोत्सव-समय देव, ऋषि, गन्धर्व, मनुष्य इत्यादिका समाज, गान-तान नृत्य और उसपर 'ध्वज पताक तोरन पुर छावा॥ मृग मद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥ नगर रूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहु अरुनारी॥ १। १९४-१९५।' यह होली हुई। (मा० प्र०)। (ग) शिशिर ऋतुका गुण है कि काँपनेको कम करता है और आनन्द देनेवाले वसन्तके आगमनकी सूचना देता है। (पाँ०)। (घ)—शिशिरमें जाड़ेकी सर्वथा निवृत्ति तो नहीं होती पर आशा हो जाती है कि अब जाड़ा गया। रामजन्मसे साम्य यह है कि श्री-रामजन्ममात्रसे रावण तो मरा नहीं, पर उसके वधकी आशा सबको हो गयी। (मा० प०)। (ङ) माघमें जाड़ेकी अधिकता रहती है वही राक्षसोंकी अनीति है। फाल्गुनमें नाच गाना होलीका अनेक उत्सव होता है, वही श्रीरामजीके प्रकट होनेका आनन्द है, शीतस्वरूप राक्षसोंका प्रताप कम होने लगा और रामप्रताप घाम बढ़ने लगा।' (वै०)। (च) शिशिरमें जाड़ेसे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यहाँ भी महाराज दशरथजीके 'परम प्रेम मन पुलक सरीरा।' (सु० द्विवेदीजी)।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'प्रभु जन्म' माघ है और उछाह फाल्गुन। श्रीरामकथामें होलीका आनन्द लीजिये। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं 'त्रिबिध ताप होली जलै खेलिय अस फाग' (विनय०)। सो त्रिविधतापकी होली तो प्रभुके जन्म लेते ही जल गयी, यथा—'आनँद मगन सकल पुरबासी।' ··'परमानंद पूरि मन राजा', 'ब्रह्मानंद

मगन सब लोई।' (१। १९३-१९४)। होलीमें लोग ढोल बजाते, रंग-अबीर-गुलाल खेलते उड़ाते हैं, वैसे ही श्रीरामजन्मपर 'लै लै ढोर प्रजा प्रमुदित चले भाँति-भाँति भरि भार।'''कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर। ' (गीतावली)। होलीकी उमगमें बहुत-सी अनुचित बातें भी उचित-सी मान ली जाती हैं, इसी भाँति छोटी-मोटी भी हास-परिहासमें ही परिगणित होती है। लड़के उछाहभरे स्वाँग बनाये फिरते हैं। यहाँ बड़े-बूढ़ोंकी चोरी देखिये। 'औरो एक कहौं निज चोरी। १९६। ३।' से 'चौथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले' तक। इस महोत्सवमें सभी सम्मिलित हुए। ऐसे आनन्दके समय यदि अभिसारिका भी अपने प्रियतमसे होलीकी कसक मिटाने चले, तो आश्चर्य क्या ! वहाँ रात्रिदेवी अभिसारिका होकर प्रियतम प्राणधन प्रभुसे मिलने चली—'प्रभुहि मिलन आई जनु राती।'

६ 'प्रभु जनम उछाहू' यह प्रसङ्ग 'सुनि सिसुरुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आई सब रानी॥ हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनँदमगन सकल पुरबासी॥ १। १९३।' से-(मा० प्र० के मतानुसार 'नन्दीमुख सराध करि ' ' से)- 'धरे नाम गुर हृदय बिचारी। १९८। १।' तक है।

बरनब राम बिबाह समाजू। सो मुद मंगल मय रितु राजू॥ ३॥

अर्थ—श्रीराम विवाह-समाजका वर्णन ही आनन्द मङ्गलमय वसन्त है॥ ३॥

प० रामकुमारजी—सानुज-रामके विवाहका उत्सव नदीकी बाढ़ है। 'राम-विवाह' बाकी रहा सो सीतास्वयंवर-की कथामें गया। इन दोनों ठौरोंमें विवाहका ग्रहण नहीं है क्योंकि यदि ग्रन्थकार विवाह-वर्णन करते तो समाजको उछाहसे पृथक् कहते जैसे श्रीशिवपार्वतीजीके विवाहको विवाहसमाजसे पृथक् कहा है, यथा—'हिम हिमसैल सुता सिव ब्याहू' यह विवाह है और 'उमामहेस बिबाह-बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती॥' यह समाज है। यथा—'बिहँसे सिव समाज निज देखी।'

नोट—१ विवाह-समाजको वसन्त ऋतुकी उपमा दी है। दोनोंमें समानता यह है कि—(क) दोनों 'मुदमंगल-मय' हैं। (ख) मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'वसन्तका गुण है कि पुराने पत्तोंको झाड़कर फूल फलसहित कर देता है। इसी भाँति विवाहमें लोग पुराने भूषण-वस्त्र उतारकर नये रंग-बिरंगके भूषण-वस्त्र पहिनते हैं, (पाँड़ेजी)। (ग) जैसे वसन्तमें सब वृक्ष पल्लव-पुष्पोंसे नाना रंगके शोभित होते हैं वैसे ही राम-विवाहका समाज है। मण्डपकी रचना, बरातका बनाव, हाथी-घोड़े-रथोंकी सजावट, नाना रंगके भूषण-वस्त्र पहिने हुए पैदल, इत्यादि विवाह-समाज है जो वसन्तकी शोभा बन रही है। वसन्त ऋतुराज, वैसे ही राम-विवाहसमाज समस्त लीलाका राजा। (मा० प्र०)। (घ) वसन्तकी महिमा स्कन्दपुराणमें लिखी है। यह भी लिखा है कि ब्रह्मादिको बनाकर भगवान् लक्ष्मणसहित इस ऋतुमें अपने भक्तोंको वरदान देने आये हैं। ऐसा ही उत्सव राम विवाहमें भी हुआ। (सू० मिश्र)। (ङ) विवाहमें तरह-तरहके फूलके ऐसे देश-विदेशसे ठाट-बाटके साथ राजा लोग आये, मिथिलाकी नारियाँ कोयलसे भी बढ़कर पञ्चम स्वरसे मङ्गल गाने लगीं—'सकल सुमंगल अंग बनाए। करहिं गान कलकंठ लजाए॥' इसलिये इसे ऋतुराज बनाया। (सु० द्विवेदी) (च) वसन्तके चैत्र और वैशाख दोनोंके नाम 'मधु' और 'माधव' हैं। रामविवाहसमाजमें महाराज दशरथ और जनकजीकी प्रधानता है। गोस्वामीजीने इनको मधु माधव कहा है, यथा—'मधु माधव दसरथ जनक मिलब राज रितु-राज। रामाज्ञा-प्रश्न १। ३१।' इन दोनों राजाओंका समाज ही ऋतुराज है। अयोध्याजीकी बड़े ठाट-बाटकी बारात और उसके स्वागतकी तैयारीसे बड़ी चहल-पहल मच गयी, मानो वन-उपवनमें साक्षात् ऋतुराजका आगमन हो गया। वसन्तोत्सवमें नगरोंमें बड़ी तैयारी होती है, प्रजावर्ग महोत्सव मनाते हैं। अयोध्या और जनकपुरमें भी बड़ी तैयारी है और प्रजावर्ग आनन्दमें विभोर है। यथा—'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। ''''बीथीं सींचीं चतुर सम चौकें चारु पुराइ। २९६।' 'रचे रुचिर बर बंदनिवारे।' से 'तेहि लघु लगहिं भुवन दस-चारी। २९८। ७।' तक। (वि० त्रि०)

ग्रीषम दुसह राम-बन-गवनू। पंथ-कथा खर आतप पवनू॥ ४॥

शब्दार्थ—ग्रीषम (ग्रीष्म)—गर्मीके महीने, ज्येष्ठ-आषाढ । दुसह (दुःसह)=जो सहा न जा सके, असह्य, कठिन । 'दुसह' का प्रयोग पद्यहीमें होता है । आतप=तपन । खर=तीक्ष्ण, तेज, कड़ी । यथा—'तिग्म तीक्ष्ण खर तद्वत्' (अमर० १ । ३ । ३५) ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका दुःसह वन-गमन ग्रीष्मऋतु है और (वनके) मार्गकी कथाएँ कड़ी धूप (घाम) और लू हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'ग्रीषम दुसह रामबनगवनू' इति । (क) 'ग्रीष्म और वनगवन दोनों दुःसह हैं यह समता है । रामवनगमन दुःख (रूप) है सो ग्रीष्म है ।' [ग्रीष्मके दिन बड़े होते हैं और दुःखके दिन भी बड़े होते हैं, यथा—'निमिहिं ससिहि निंदति बहु भाँती । जुग सम भई सिराति न राती ॥', 'अति परिताप सीय मन माहीं । लव निमेष जुग सय सम जाहीं ॥ १ । २ । ८-८ ।', 'देखि परम बिरहाकुल सीता । सो छन कपिहि कलपसम बीता ॥ ५ । १२ । १२ ।', 'भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता । अर्धनिमेष कलप सम बीता ॥ १ । २७० । ८ ।' इत्यादि । सुखके दिन छोटे होते हैं, यथा—'मासदिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ ।', 'कछुक दिवस बीते एहि भाँती । जात न जानिय दिन अरु राती । १ । १९७ । १ ।', 'सुख समेत संवत दुइ साता । पलसम होहिं न जनियहिं जाता ॥ २ । २८० । ८ ।' इत्यादि] (ख) ['उमामहेशविवाह सुखरूप है, सो हिमऋतु है । राम-जन्म उत्साहमें बड़ा सुख है सो शिशिर है । रामराज शरद् है, रामविवाह-समाज वसन्त है, ये सब सुखके दिन हैं सो छोटे हैं । लड़ाई वर्षा है, सुरकुलशालिकी पोषणहारी है, इसके दिन भी ग्रीष्मके दिनसे छोटे होते हैं ।' (ग) जैसे वसन्तके दिये हुए ऐश्वर्यको तीक्ष्ण घाम और पवन नष्ट कर देते हैं वैसे ही वनगमनकथाने विवाहोत्सव और समाजको नष्ट कर दिया ।' (पाँ०) । (घ) रामवनगमनसे सब लोग सूख गये । श्रीरामजीकी शीतल बातोंसे भी कौशल्याजी सूख गयीं । यथा—'सहमि सूखि सुनि सीतल बानी ।', 'राखि न सकइ न कहि सक जाहू । दुहू भाँति उर दारुन दाहू ॥ सुखा देना और दाह पैदा करना—यह ग्रीष्मका धर्म है, अतः इसे ग्रीष्म कहा । (सु० द्विवेदी) । (ङ) ग्रीष्ममें संतापके कारण सूर्य हैं और रामवनगमनमें संतापका कारण श्रीरघुपतिवियोगविरह है, यथा—'नारि कुमुदिनीं अवध सर रघुपति बिरह-दिनेस । ७ । ९ ।' सरकारके विरह-दिनेशके उदयसे संसार सन्तप्त हो उठा । यथा—'राम गवनु बन अनरथ मूला । जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला ॥ २ । २०७ ।', ''नगर नारि नर निपट दुखारी । २ । १५८ ।' (च) ग्रीष्ममें सूर्यकी प्रखर किरणोंसे जलके सूखनेसे मछली व्याकुल होती है और यहाँ रघुपतिविरहदिनेशके प्रखर प्रतापसे प्रिय परिजन परम व्याकुल हो गये । परिजन मीन है, यथा—'अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना । २ । ५७ ।', 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना । मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना ॥ १ । १५१ ।' ऐसा वरदान माँगनेवाले राजा दशरथने तो अल्प जलमें पड़े हुए मत्स्यराजकी भाँति अपने शरीरका ही विसर्जन कर दिया । वि० त्रि० ।]

नोट—१ (क) 'दुसह', यथा—'राम चलत अति भयउ बिषादू । सुनि न जाइ पुर आरत नादू ॥ २ । ८१ ।', 'सहि न सके रघुबर बिरहागी । चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥ २ । ८४ । ४ ।', 'सुत बचन सुनतहि नरनाहू । परेउ धरनि उर दारुन दाहू ॥ महा बिपति किमि जाइ बखानी । सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा ॥ धीरजहू कर धीरज भागा ।' 'राम राम कहि सुरधाम । २ । १५२-१५५ ।' तक इत्यादि । (ख) 'बन गवनू' प्रसंग—'सजि बन साज समाज सब बनिता बंधु समेत । बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत ॥ २ । ७९ ।' से 'रमेउ राम मन । २ । १३६ ।' 'कहेउँ राम बनगमनु सुहावा । २ । १४२ । ४ ।' तक (मा० प्र० के मतसे 'बैठि बिटप-तर दिवसु गँवावा २ । १४७ । ४ ।' तक) है । और फिर अरण्यकाण्डमें 'जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया । करहिं मेघ नभ तहँ तहँ छाया ॥' इतना ।

२ 'पंथकथा खर आतप पवनू', इति (क) कवितावलीमें पन्थकथाका सुन्दर वर्णन है । यथा—'पुर ते निकसी रघुबीरबधू धरि धीर दये मगमें डग द्वै । झलकीं भरि भाल कनी जलकी पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥ फिर बूझति हैं चलनोब कितो पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै । तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥ क०

अ० ११ ।', 'जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीकहै ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ॥ तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाहको नेह लख्यो पुलको तन बारि बिलोचन बाढ़े ॥ क० अ० १२ ।', 'ठाढ़े हैं नव द्रुमडार गहे धनु काँधे धरे कर सायक लै।' 'श्रम सीकर साँवरि देह लसै मनो रासि महा तम तारक मै ॥ १३ ॥'

(ख) यह तीक्ष्ण लू निषादराजको भी लगी, यथा—'ग्राम बास नहिं उचित सुनि गुहहि भयउ दुखु भारु। २ । ८८ ।' मार्गमें नगे पैर पैदल जाते जो भी देखता है उसे यह लू लग जाती है, वह व्याकुल हो जाता है। यथा—'सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। २ । ११० ।' 'होहिं सनेह बिकल नर नारी। २ । १११ ।' कोई पहुँचाने-को तैयार हो जाता है तो कोई जल भरनेको, कोई ज्योतिषशास्त्रको झूठा कहने लगता है, कोई विधिको कोसता है और कोई राजारानीको दोष लगाता है। जो जितना ही मृदु था उसे लूने उतना ही अधिक कष्ट दिया। अन्तमें श्रीरामभक्ताग्रगण्य मारुतिजी मिलते हैं और प्रश्न करते हैं—'कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ॥ मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता ॥ ४ । १ ।' बस यहींसे लू बन्द हो गयी। महारुद्रावतार पवनकुमारने अब यहाँसे भगवान्‌को पैदल नहीं चलने दिया—'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई। ४ । ४ । पथ कथासे तीन काण्ड भरे हुए हैं। (वि० त्रि०)। सू० द्विवेदीजीका मत है कि सीताहरण, जटायुमरण इत्यादि तेज घाम और लू हैं।

३ ग्रीष्ममें जहाँ इतने दोष हैं वहाँ एक गुण भी है। 'ग्रीष्म है तो गर्म पर सरयूमें उस समय शीतलता हो जाती है। पुनः ग्रीष्म जितना तपता है उतनी ही अच्छी वर्षाका वह आगम जनाता है। इसी तरह रामवनगमन और पन्थ कथा है तो विरहरूपी ताप देनेवाली सही, परंतु श्रीराम-कीर्ति सरयूके साथसे त्रितापको हर लेती है, इसलिये शीतल है और राक्षसोंके युद्धरूपी वर्षाका आगम है, जिससे सबको सुख होगा।' यथा—'रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग ॥ ३ । ४६ ।', 'भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि। तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि ॥ ४ । ३० ।', 'अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखन सियराम बटाऊ ॥ रामधामपथ पाइहि सोई ॥ २ । १२४ । १-२ ।'

बरषा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—रारी=संग्राम, युद्ध, झगड़ा।

अर्थ—घोर निशाचरोंके साथ घोर विरोध और लड़ाई घोर वर्षा है। जो देवसमाजरूपी धानोंको अत्यन्त मङ्गलकारी है ॥ ५ ॥

※ वर्षा और निशाचरोंकी लड़ाईमें समता ※

१ (क) घोर वर्षा और निशाचर (रारि) दोनों भयानक हैं।

(ख) वर्षासे धानका पोषण होता है, निशाचर-रारि सुरपोषणहारी है। ज्यों-ज्यों राक्षस मरते हैं, देवता सुखी होते हैं। खरदूषणादिका वध होनेपर 'हरषित बरषहिं सुमन सुर बाजहिं गगन निसान। अस्तुति करि करि सब चले सोभित बिबिध बिमान ॥ ३ । २० ।' पुनः, मारीचके मरनेपर 'बिपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभु गुनगाथ। निजपद दीन्ह असुर कहँ दीनबंधु रघुनाथ ॥ आ० २७ ।' पुनः, कुम्भकर्णवधपर 'सुर दुन्दुभी बजावहि हरषहिं। अस्तुति करहिं सुमन बहु बरषहिं ॥ ६ । ७० ।' पुनः, मेघनादवधपर 'बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं। श्रीरघुनाथ बिमल जसु गावहिं ॥', 'तासु मरन सुनि सुर गंधर्बा। चढ़ि बिमान आए सुर सर्बा ॥ ६ । ७६ ।' पुनः, रावणवधपर 'बरषहि सुमन देवमुनि बृंदा। जय कृपाल जय जयति मुकुंदा ॥ ६ । १०२ ।' (प० रामकुमारजी)।

(ग) वर्षा ऋतुमें दो मास श्रावण, भादों। वैसे ही यहाँ भी सेनापतियोंका युद्ध, फिर कुम्भकर्ण, मेघनाद और रावणका घोर युद्ध इस प्रकार दो विभाग हैं। (त्रिपाठीजीके मतानुसार रावणयुद्ध भादों है और उसके पूर्वका श्रावण)।

२ वर्षाऋतु सावन-भादोंमें होती है। जैसे इन महीनोंमें वर्षाकी झड़ी लग जाती है, वैसे ही निशाचर-संग्राममें बाणादिकी वृष्टि हुई। दोनों दल मेघ हैं। मेघ गरजते हैं, बिजली चमकती है, वैसे ही यहाँ तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र चमकते हैं और बाणके लगनेसे राक्षस गरजते हैं, पर्वतोंके प्रहार वज्रपात हैं, बाण बूँदें हैं। कपिलगूल इन्द्रधनुष हैं। इत्यादि। यथा—(खरदूषण-संग्राममें) 'लागे बरषन राम पर अस्त्र सस्त्र बहु भाँति' से 'करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान' तक (आ० १९-२०), (कुम्भकर्णके युद्धमें) 'सत्यसंध छाँडे सर लच्छा। कालसर्प जनु चले सपच्छा॥...लागत बान जलद जिमि गाजहिं...।६।६७।', तथा पुन (रावण संग्राममें) 'एहीं बीच निसाचर अनी। कसमसात आई अति घनी॥ देखि चले सनमुख कपि भट्टा। प्रलय काल के जनु घन घट्टा॥ बहु कृपान तरवार चमकहिं। जनु दहँ दिसि दामिनीं दमकहिं॥ गज रथ तुरग चिकार कठोरा। गर्जहिं मनहुँ बलाहक घोरा॥ कपि लंगूर बिपुल नभ छाए। मनहुँ इन्द्रधनु उए सुहाए॥ उठइ धूरि मानहुँ जलधारा। बानबुंद भइ बृष्टि अपारा॥ दुहुँ दिसि पर्बत करहिं प्रहारा। बज्रपात जनु बारहिं बारा॥ रघुपति कोपि बान झरि लाई।...' इत्यादि (६।८६) ☞ श्रीराम-रावण संग्राममें वर्षाका पूरा रूपक है। (प० रामकुमार)।

३ प्रथम पुरवाई चलती है तब मेघ एकत्र होते हैं। 'मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता॥ ३।७।६।' इस विराधवध एवं कबन्धवधको प्रथम पुरवैयाका चलना और मेघका आना समझो। 'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई। जातुधान मुनि सेन बनाई॥ आ० १८।३।' से 'धुआँ देखि खरदूषन केरा। ३। २१।५।' तक बड़ा भारी दवगरा है। (ग्रीष्मऋतुके आषाढमासमें ही पहला पानी पड़ता है। उसीको दवगरा कहते हैं)। वानरोंका कर्तव्य 'प्रान लेहिं एक एक चपेटा। ४।२४।१।' और श्रीहनुमान्‌जीका कर्तव्य जो सुन्दरकाण्डमें है वह दूसरा दवंगरा है। (मा० प्र०)। इन सबोंको धानमें अङ्कुर जमनेके समान समझिये, क्योंकि इनसे देवताओंको भरोसा हुआ कि श्रीरामचन्द्रजी हमारा दुःख अवश्य हरेंगे। मेघनाद-युद्ध मघा-नक्षत्रकी वर्षा है जो वर्षाके मध्यमें होती है; यथा—'डारइ परसु परिघ पषाना। लागेउ बृष्टि करइ बहु बाना॥ दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहु मघा मेघ झरि लाई॥ ६।७२।' मघाकी उपमा मघाके समयमें ही दी गयी। आगे चलकर भी बाणवर्षा बहुत है पर मघासे उपमा नहीं दी गयी। मेघनादवधके साथ श्रावण समाप्त हो जाता है, रक्षापूर्णिमा हो जाती है। मेघनाद वधके साथ ही लङ्का जेय हो गयी, फलतः देवताओंकी रक्षा हुई। 'जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्ह निस्तारा॥ ६।७६।' कुम्भकर्ण, मेघनाद और रावणयुद्ध घोर वर्षा है, क्योंकि इनमें वर्षाका भारी रूपक है।

४—मा० प्र० का मत है कि 'एही बीच निसाचर अनी।...जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं॥ ६।८७।६।' तक 'घोर निसाचर रारी' (घोर वर्षा) है, इसके आगे रावणके युद्धभर कुआँरी वर्षा है। सम्भवतः इसका आशय यह है (जैसा त्रिपाठीजी लिखते हैं) कि वर्षाघोर समाप्त हो जाय, परंतु बिना आश्विनमें हस्त नक्षत्रका जल पाये शालिका पूरा मंगल नहीं होता। अतः हस्तकी वृष्टि भी चाहिये।

त्रिपाठीजीका मत है कि 'वर्षाघोर निसाचर रारी' लङ्काकाण्ड दोहा १०१ 'सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भए।' पर समाप्त हुई और 'कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किए सुर बृंद। १०२।' हस्तकी वृष्टि है।

वि० त्रि०—सात दोहोंमें चारो फाटकोंकी लड़ाई है, ७ दोहोंमें कुम्भकर्ण लड़ा है और मेघनादकी तीन लड़ाइयाँ ८ दोहोंमें कही गयी हैं। अतः ७+७+८=२२ दोहे हुए, और २२ दोहोंमें केवल राम-रावण युद्ध हुआ। पहली घटा सावनकी उठी। लङ्काके शहर-पनाहके बुर्जोंपर निशाचरी सेना आ डटी। जो ऐसी जान पड़ती थी कि 'मेरु के सृंगन्हि जनु घन बैसे।' तोपोंका दगना और वीरोंका सिंहनाद ही मेघोंका गर्जन है।—'जनु गर्जत प्रलय के बादले।' श्रावण समाप्त होते-न होते मघा लग गया। मेघनाद-युद्ध मघाकी वर्षा है। भाद्रपदमें राम-रावण-संग्राम है। शास्त्रोंमें भाद्रकृष्ण चतुर्दशीके दिनकी नदीके बाढ़को प्रमाण माना है, अतः यहाँ भादोंमें ही शोणित नदीकी बाढ़ कही है। इस स्थलपर वर्षाका पूरा रूपक है। यथा—'देखि चले सनमुख कपि भट्टा' से 'बीर परहिं जनु तीर तरु.... ।८६।' तक। इतना ही नहीं, नदीमें बाढ़ आनेपर इन्द्रद्युम्न नहाने लगता है। कहीं नदीके आधे तटपर मुर्दे रक्खे जाते हैं, कहीं

मछलीका शिकार होता है, कहीं स्त्रियाँ नावर खेलती हैं, कहीं कजली होने लगती है। रुधिरसरिताके सम्बन्धमें भी सभी कुछ दिखलाया गया है। यथा—'मज्जहिं भूत पिसाच बेताला। ६। ८७। १।' से 'चामुंडा नाना बिधि गावहिं। ८७। ८।' तक। भाद्रपदकी अन्तिम वर्षा रावणवध है।

नोट—जैसे वर्षासे नदीमें बाढ़ आती है, करारे कटते हैं, इत्यादि। वैसे ही यहाँ कीर्ति-नदीमें, 'टोड कूल दल रथ रेत चक्र आवर्त्त बहति भयावनी॥ लं० ८६।' यह बाढ़ आदि है।

रामराज सुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई॥ ६॥

अर्थ—१ रामराजका सुख और विशेष नीतिकी बड़ाई ही उज्ज्वल, सुख देनेवाली और सुन्दर शरद्‌ऋतु है॥ ६॥ (प० रा० कु०, पाँ०)।

टिप्पणी—१ 'रामराज सुख बिनय बड़ाई' इति। भाव कि राजा जितनी ही नीतिसे चले उतना ही उसको तथा प्रजाको सुख होता है। 'बिनय बड़ाई' में भाव यह है कि श्रीरामराज्यमें विशेष नीति है, इसीसे नीतिकी बड़ाई है। नीति विशेष होनेका कारण यह है कि श्रीरामजी नीतिके विशेष जाननेवाले हैं। यथा—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥ २। २५४।'

❋ 'रामराज सुख···' और शरद् ऋतुमें समानता ❋

१ 'रामराज सुखद, शरद् सुखद, नीति उज्ज्वल, शरद् उज्ज्वल यह समता है। निर्मल नीतिसे और प्रजाको सुख देनेसे कीर्तिकी शोभा है इति भाव। (प० रामकुमार)।

२ शरद्‌मे दो मास होते हैं, एक आश्विन दूसरा कार्तिक। इसी भाँति रामराज्यमें भी दो विभाग हैं—एक राज्याभिषेक और दूसरा राज्यका सुख, विनय और बड़ाई। आश्विनके प्रथम पक्षमें, जिसे पितृपक्ष कहते हैं, लोग पितरोंकी अक्षय तृप्तिके लिये श्राद्ध करते हैं। यहाँ भी पितृतृप्तिहेतु वनवास व्रत, जो श्रीरामजीने चौदह वर्षके लिये धारण किया था, पूरा हुआ और उसके उपलक्ष्यमें भक्तमौलिमणि भरतलालजी तथा प्रजावर्गने जो व्रत धारण किया था उसकी भी पूर्णाहुति हुई। भगवान्‌ने जटायुसे कहा था कि 'सीताहरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ। जौं मैं राम त कुलसहित कहिहि दसानन आइ॥' उसकी भी सविधि पूर्ति हुई। दशाननने जाकर कहा, महाराजको बड़ी तृप्ति हुई। वे 'सीता रघुपति मिलन बहोरी' के पश्चात् स्वयं आये और हर्षित होकर सुरधामको लौट गये। पितृपक्ष समाप्त हुआ। अब अवधमें जगदम्बाके आगमनकी अत्यन्त उत्कण्ठा है। अयोध्यामें धवलगिरिके ले जाते समय हनुमान्‌जी-द्वारा सीताहरणका समाचार आ चुका है। अतः जगदम्बासहित सरकारके लौटनेकी प्रतीक्षा हो रही है। हनुमान्‌जीने विप्रवेषसे भरतजीके समीप जाकर उन्हें समाचार दिया कि 'सीता अनुज सहित प्रभु आवत।' फिर भगवतीका सरकारके साथ आगमन हुआ। प्रेमानन्दका स्वागत हुआ। फिर राज्याभिषेक हुआ। इस भाँति नवरात्रमें जगदम्बाका आगमन और विजयादशमीका उत्सव कहा है। तत्पश्चात् श्रीरामराज्यके सुख, विनय और बड़ाईका वर्णन है। अब दीपावली आयी। नगरकी कायापलट हो गयी। राजधानी जगमगा उठी। यथा—'जातरूप मनिरचित अटारी। ७। २७। ३।' से 'पुर सोभा कछु बरनि न जाई। २९। ७।' तक। कार्तिकस्नान, तुलसीपूजन और राधादामोदरकी उपासना भी हो रही है। यथा—'अनिमादिक सुख संपदा रही अवध सब छाइ॥ ७। २९॥ जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥ जनकसुता समेत रघुबीरहि। कस न भजहु भजन भवभीरहि॥'—इस भाँति श्रीरामचरितमानसमें रामराज्यकी समता शरद्‌से दी गयी है। (वि० त्रि०)

३ श्रीरामराज्यतक मुख्य रामायण कथा है, आगे उत्तर-चरित्र है, यही हेतु समझकर वाल्मीकिजीने राजगद्दीपर रामायण समाप्त की और उसी भावसे गोस्वामीजीने हिमऋतुसे प्रारम्भ करके शरद्‌में षट्‌ऋतुओंकी समाप्ति की। (मा० दीपक)। जैसे रामचरितकी समाप्ति रामराज्यमें मानी गयी है, वैसे ही वर्षकी समाप्ति भी प्राचीन कालमें शरद्‌से ही की जाती थी। (जैसा पूर्व ४२। २ में लिखा जा चुका है) वैदिक साहित्यमें वर्षके स्थानमें 'शरत्'

शब्दका ही प्रयोग होता है। सम्भवत रामराज्यको शरद्से उपमित करनेका यह भी एक कारण हो सकता है। (वि० त्रि०)।

अर्थ—२ श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका सुख, विशेष नीति और बड़ाई (कीर्ति-नदीमें) उज्ज्वल, सुखदायक और सुहावना शरद् ऋतु है। (मा० प्र०)

नोट—१ यहाँ यथासंख्य-अलङ्कारसे रामराज्यका सुखरूप गुण शरद्की उज्ज्वलता है, विशेष नीति शरद्का 'सुखद' गुण है, और बड़ाई 'सुहाई' गुण है। शरद् 'सुहाई' है, यथा—'बर्षा बिगत सरद रितु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥ ४। १६। १।'

२ 'रामराज सुख विनय बड़ाई' का वर्णन उस कवितामें 'राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका' से 'एहि बिधि नगर नारि नर करहिं रामगुन गान०।' उ० २० (७) से ३० तक है। मा० प्र० के मतानुसार 'रामराज नभगेस सुनु०' उ० २१ तक यह प्रसङ्ग है।

३ मा० प्र० कार लिखते हैं कि 'रामराज्य ऐसा उज्ज्वल, स्वच्छ और शोभायमान है कि ब्रह्माण्ड भर सातों द्वीप एक उज्ज्वल हुए कि श्रीमन्नारायण क्षीरसमुद्र ढूँढ़ते हैं, महादेवजी कैलाश, इन्द्र ऐरावत, राहु चन्द्रमा और ब्रह्मा हंसको ढूँढ़ते हैं। प्रमाणमें यह श्लोक हनुमन्नाटकका कहकर देते हैं,—'महाराज श्रीमज्जगति यशसा ते धवलिते पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते। कपर्दी कैलासं कुलिशभृद् भौमं करिवरं कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना॥' [हनुमन्नाटकके अन्तमें कीर्तिपर श्लोक कई हैं पर वहाँ तो यह श्लोक नहीं मिला। सम्भव है कि किसी दूसरे हनुमन्नाटकमें हो। सु० र० भा० प्रकरण ३ कीर्तिवर्णन २९ में भी यही श्लोक है]।

४ मा० प्र० कार 'विनय बड़ाई' का अर्थ 'नम्रता और प्रशंसा' करते हैं।

सती सिरोमनि सिय गुन गाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा॥ ७॥

अर्थ—सती शिरोमणि (पतिव्रताओंकी सिरमौर) श्रीसीताजीके गुणोंकी कथा इस उपमारहित जलका अनुपम निर्मलता गुण है॥ ७॥

नोट—१ (क) 'सती शिरोमणि', यथा—'पतिदेवता सुतीयमनि सीय''२। १९९।' श्रीपार्वतीजी भी सती शिरोमणि हैं परन्तु ये श्रीसीताजीके अंशहीसे हैं, यथा—'जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ १। १४८। ३।' (ख) 'सती शिरोमणि' कहकर श्रीसीताजीके पातिव्रत्य गुणोंकी गाथा यहाँ सूचित की। रावणके उपर इन्होंने अपने पातिव्रत्यकी सत्यताहीसे अग्निके तेजको नष्ट कर दिया। यथा—'श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो। ६। १०८।' श्रीहनुमान्जीकी पूँछमें भी जो अग्नि लगायी गयी थी वह श्रीसीताजीके सतीत्वके प्रभावसे ही उनको शीतल हो गयी थी। यह वाल्मीकीयमें स्पष्ट कहा है। रावणका नाश भी इन्हींके सतीत्वके कारण हुआ। जनकनन्दिनी जिन्होंने कभी कठोर पृथ्वीपर पग न रक्खा था, न जिसको वनवास ही दिया गया था, वह सुकुमारी पतिके समझानेपर भी पतिका साथ न छोड़ सकीं, पतिके साथ वनवासिनी होनेमें ही उसने सुख माना। यथा—'बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥ प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥ २। ६६।' फिर सुमन्त्रके दशरथमहाराजका सन्देश सुनानेपर भी वे यही कहती हैं कि 'आरजसुत पद-कमल बिनु बादि जहाँ लगि नात। २। ९७। 'बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥' '। अयोध्याकाण्डमें तो ठौर-ठौरपर इनके गुण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सभी काण्डोंमें इनके गुणोंकी गाथा है। श्रीअनुसूयाजी आपको पातिव्रत्य धर्म सुनाकर कहती हैं—'सुनि सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥ ३। ५।' उत्तरकाण्डमें 'सियगुन गाथा' का लक्ष्य, यथा—'पति अनुकूल सदा रह सीता। ७। २३। ३।' से 'रामपदारविंद रति करति सुभावहि सोइ। २४।' तक।

२ 'सोइ गुन अमल अनूपम पाथा' इति। (क) शरद् कहकर अब यहाँसे जलके गुण कहते हैं, कारण कि

जलके निर्मल, शीतल और मधुर इत्यादि गुण शरद्‌मे ही होते हैं। यथा—'कार्तिके मार्गशीर्षे च जलमात्र प्रशस्यते' इति वृद्धसुश्रुते। 'गुण अमल…', यथा—'पानीयं श्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छापिपासापहम्। तन्द्राच्छर्दिविनाशनं बलकर निद्राहर तर्पणम्। हृद्यं गुप्तरस ह्यजीर्णशमनं नित्यं हितं शीतलम्। लघ्वच्छं रसकारण निगदितं पीयूषवज्जीवनम्॥' (इति भावप्रकाशे वारिवर्ग श्लोक २)। अर्थात् जल श्रम, ग्लानि, मूर्च्छा, प्यास, तन्द्रा, उत्रान्तका हरण करनेवाला है, बलकी वृद्धि करनेवाला, निद्रा हरनेवाला, तृप्त करनेवाला, हृदयको लाभदायक है। उसका माधुर्य गुप्त है। वह अजीर्णनाशक, नित्य हितकारी शीतल, हलका, स्वच्छ, रसोंका कारण और अमृततुल्य है। (प० रामकुमारजी)।

(ख) 'अनूपम पाथा' इति। रामसुयशजल निर्मल है, क्योंकि श्रीरामजी स्वय निरुपम हैं। यथा—'केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ। ७। १२४।', 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपसिरोमने। ७। १२।', 'उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कबि कोबिद कहैं। बल बिनय बिद्या सील सोभा सिंधु इन्ह से एइ अहैं॥ १। ३११।', 'जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥ १। २९२।' अर्थात् इनके रूप, बल, विनय, यश आदि गुण अनुपम हैं। जिस भाँति जलकी अनूपता उसके निर्मल दिव्य गुणोंपर ही निर्भर हैं, इसी भाँति श्रीरामजीके यशकी अनूपताका कारण सीताजीके दिव्य गुण हैं। गुण और गुणीमे अभेद सम्बन्ध होता है। (वि० त्रि०)। 'अनूपम' कहकर जनाया कि श्रीरामसुयश जल अत्यन्त निर्मल है, इसकी कोई उपमा नहीं है। श्रीसीताजीकी गुणगाथा ऐसे अनुपम जलकी निर्मलता है। तात्पर्य यह कि श्रीसीताजीके पातिव्रत्यगुणसे श्रीरामजीकी कीर्ति निर्मल है। 'सियगुनगाथा' अमल है, यथा—'पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सब कोऊ। जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अड करोरी॥ गंग अवनि थल तीनि बडेरे। एहिं किय साधु समाज घनेरे॥ पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुच महुँ मनहुँ समानी॥ २। २८७। २-५।'

(ग) इसपर अब यह शका उठती है कि—'निर्मलता गुण तो मानसके स्वरूपमे 'सगुण लीला' को कह चुके हैं, यथा—'लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मलहानी॥ १। ३६।', अब उसी गुणको 'सिय-गुनगाथा' कैसे कहा?' समाधान यह है कि—(१) दोहा १८ में दिखाया है कि 'सीता' और 'राम' दो नामरूप कहने-सुननेमात्र हैं, वस्तुत दोनों एक ही हैं। इसी कारण 'राम सुजस बर बारी' और 'सिय-गुनगाथा' दोनोंको निर्मल कहा। विचारनेसे सगुणलीला और सियगुणगाथा एक ही हैं।* (प० रामकुमारजी)। (२)—मा० प्र० कार एक और समाधान इस प्रकार करते हैं कि—निर्मलता गुण प्रथम तो साधुरूप मेघके मुखसे जब छूटा तब कहा, फिर जब बुद्धिरूप भूमिमें पड़ा तब वही गुण कुछ बुद्धिके गुण लिये कहे, फिर जब वही कवितारूपी नदीमें आया तब कुछ कविताके गुण लिये हुए कहे।'—इसीको कुछ विस्तार करके मा० मा० कारने यों लिखा है कि—'मानस-जलके वर्णनमे स्वच्छता दो बार कही, जिसमेंसे दूसरी बार वर्षा जलके मिश्रित होनेसे जो जल गँदला हो गया था, वह 'सुखद सीत रुचि चारु चिराना।' अर्थात् शरद्‌ऋतु पाकर स्वच्छ और सुखद हो गया। वैसे ही कीर्ति-सरयूमें रामचरित-सगुण-यश-जल 'राक्षसोंके घोर सग्रामरूपी वर्षाकाल' में गदा हो गया था अर्थात् राक्षसोंका चरित भी उसमें शामिल हो गया था, इससे रामचरितकी स्वच्छता जाती रही। शरद्‌रूपी रामराज्यके आनेपर फिर जल स्वच्छ हो गया।' (३)—श्रीरामजीकी सगुणलीलामें श्रीसीताजीकी ही प्रधानता है—'काव्य रामायणं कृत्स्न सीतायाश्चरित महत्। वाल्मी० १। ४। ७।' इन्हींकी प्रार्थना, इच्छा और प्रेरणासे यह लीला हुई।

---

* सू० प्र० मिश्र—'अमलका अर्थ मधुर है। ग्रन्थकार जलगुण मधुर लिख आये हैं—'बरषहिं रामसुजस बर बारी। मधुर मनोहर मगलकारी॥' दूसरे, आगे भरत-स्वभावको रामयशजलका शीतल गुण कहा है, इसलिये यहाँ मधुर कहना उचित है, क्योंकि जलके मधुर और शीतल दोनों गुण हैं। यथा मुक्तावलीमें 'जले मधुरशीतलौ।'

इसपर फिर यह शंका होती है कि—'जब दोनों एक ही हैं तब श्रीसीताजीका श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करना कैसे कहा?' इसका समाधान यह है कि यहाँ दोनों माधुर्यमें नर-नाट्य कर रहे हैं और अपने चरितसे जगन्मात्रको उपदेश दे रहे हैं। इसलिये पति-पत्नी भाव ग्रहण किये हैं। माधुर्यमें सेवा न करनेसे पातिव्रत्य धर्मको हानि पहुँचती, जगत्‌को बुरी शिक्षा होती, सेवा करना ही रामयशको निर्मल कर रहा है। सेवा न करनेसे शोभा न होती। दूसरे यह कि प्रभु भी उनको जुगवते रहते हैं, यथा—'जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें॥ २। १४२।'

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि शरदमें पृथ्वीका पानी निर्मल और गुणद होता है। यहाँ भी पृथ्वीसे उत्पन्न सती सीताने पति आज्ञासे वनमें जाकर भी अपने अनुपम निर्मल गुणको त्यागा नहीं, सदा पतिके ध्यानमें अपनी आयु समाप्त की। अत 'सियगुनगाथा' को अमल कहा।

भरत सुभाउ सुसीतलताई। सदा एकरस बरनि न जाई॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीका स्वभाव इस नदीकी सुन्दर शीतलता है जो सदा एक-सी रहती है और जो वर्णन नहीं की जा सकती॥ ८॥

प० रामकुमारजी—'सुन्दर शीतलता' कहनेका भाव यह है कि ऐसा शीतल नहीं है कि स्पर्शसे ही काँप उठे वरंच सुखद है, यथा—'प्रेमभगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई', 'ससि सतकोटि सुसीतल समन सकल भव-त्रास।' श्रीभरतजीके स्वभावको जलकी सुशीतलता कहा। भरतस्वभाव वर्णन नहीं किया जा सकता, यथा—'भरत सुभाउ न सुगम निगमहू। लघुमति चापलता कबि छमहू॥ २। ३०४।', इसीसे जलकी शीतलताको भी 'बरनि न जाई' कहा। अर्थात् 'भरत-सुभाउ और जलकी 'सुसीतलताई' दोनों विलक्षण हैं। पुन भाव कि 'भरतसुभाव' में शीतलता सदैव बनी रहती है, कभी गर्मी नहीं आती।

नोट—१ भरत स्वभाव वर्णन नहीं हो सकता तो अयोध्याकाण्डमें वर्णन कैसे किया? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि 'सुभाउ' का वर्णन नहीं किया गया, उनके स्वभावसे जो दशा उनकी देखनेमें आयी, केवल उस दशाका ठौर-ठौर किञ्चित् वर्णन है, यथा—'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भये। लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये॥ सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की। २। १७६।' इत्यादि श्रीअयोध्यामें भरतागमनसे लेकर अयोध्याकाण्डभरमें जहाँ-तहाँ आपकी दशाका वर्णन मिलता है। भरत-स्वभावके और उदाहरण, यथा—(१) 'भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। ''संपति सब रघुपति कै आही।'' करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥ अ० १८५।', (२) 'राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥ २। १९३।', (३) 'जानहुँ राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही॥ सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥ इत्यादि। २। २०५।', (४) 'संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार।''''अ० २१५।', (५) 'सुनहु लखन भल भरत सरीसा' से 'कहत भरत गुन सील सुभाऊ।' २। २३१ (८) से २३२ (८) तक। श्रीरामजी गुण, स्वभाव कहते-कहते प्रेममें डूब गये, फिर न कह सके। (६) 'प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। २। २९८। १।' से 'भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। ३०१। ८।' तक। यहाँ स्वभावका उनके चरितमें, वाणीमें देखना कहा है। देखकर ही सारा समाज स्नेहसे शिथिल हो गया। इत्यादि।

श्रीभरतजीका चरित उनके स्वभावका उदाहरण है। इनके चरितसे इनका स्वभाव मनमें आते ही जब श्रीवसिष्ठादि महर्षिगण, श्रीजनक आदि ज्ञानी भक्त और श्रीरामजी प्रेममें निमग्न हो जाते हैं, वे ही स्वभावका वर्णन नहीं कर सकते, तब और कौन समर्थ है जो कह सके? (मा० प्र०)। (नोट—मा० प्र० कार 'सुभाउ' का अर्थ 'सुन्दर भाव' करते हैं और कहते हैं कि भावकी दशा देखकर भाव अकथ्य हो गया है)।

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'रामराज्य' सियगुणगाथा क्रमसे वर्णन किये गये, वैसे ही भरतस्वभाव-वर्णनमें उत्तरकाण्डका प्रसंग लागू होगा, फिर अवधकाण्डका उदाहरण लौटकर देना असंगत प्रतीत होता है।

अवधकाण्डमें समस्त भरत-चरितका रूपक तो पूर्व ही हो चुका है—'जप-याग' से। यथा—'समन अमित उतपात सब भरतचरित जप जाग।' 'वे भरत सुभाउ' का उदाहरण यह देते हैं—'भरत शत्रुहन दोनउ भाई। सहित पवनसुत उपवन जाई॥ बूझहिं बैठि रामगुन गाहा। ७। २६। ४-५।' 'सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारतिहरना॥ ''३६। ''संतन्ह कै महिमा रघुराई। सुना चहउँ प्रभु तिन्ह कर लच्छन॥' उत्तरकाण्डके प्रारम्भमें जो भरतचरित है जिसे देख श्रीहनुमान्‌जी 'अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥' इत्यादि भी उदाहरण ले सकते हैं। [सम्भवतः इसपर यह कहा जाय कि पूर्व 'भरत-चरित' कहा गया, अब 'भरत सुभाउ'।]

२ भरतस्वभाव भी रामयशका अङ्ग कहा गया। कारण कि श्रीरामजीमें और भरतजीमें अन्तर नहीं है, यथा—'भरतहि जानि राम परिछाहीं' (अ०), 'भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ। ७। ३६।' भरतजीके स्वभावका प्रभाव सम्पूर्ण रामचरितमें चमकता है। उनके सकोचसे श्रीरामजी पिताका वचन छोड़नेको तैयार हो गये, परतु भरतजीने स्वामीको सकोचमें डालना उचित न समझा। (वि० त्रि०)।

३ 'सदा एकरस' इति। (क) भाव कि इनके स्वभावमें कभी अन्तर नहीं पड़ता। कैसा ही दुःख हो, सुख हो, जो हो, श्रीभरतलालजीकी वृत्ति एक-सी ही रहती है। (वि० त्रि०)। (ख) सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि शरद्के जलमें तो कभी-कभी स्वाद बदल जाता है और शीतलतामें भी भेद हो जाता है पर इस शरद्‌में तो सदा भरतकी सुयश-शीतलतासे मनुष्यका जीवन तृप्त हो जाता है और जानकीजीका गुणकथा जल भी सदा एकरस रहता है।

दो०—अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परसपर हास।
भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास॥ ४२॥

अर्थ—चारों भाइयों (श्रीराम-भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी) का आपसमें देखना, बोलना, मिलना, परस्पर प्रेम और हास्य तथा सुन्दर भाईपना (भाईपनका सच्चा निर्वाह) इस जलकी मिठास और सुगन्ध है॥ ४२॥

नोट—१ (क) 'अवलोकनि' इति। सब भाई प्रभुका मुखकमल देखते रहते हैं कि प्रभु हमें कृपा करके कुछ आज्ञा दें और जब प्रभु उनकी ओर देखते हैं तब सब नीचे देखने लगते हैं। यथा—'प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। ', 'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन। दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पिआसे नैन॥ २। २६०।' उधर प्रभु भाइयोंके मनको जुगवते रहते हैं। यथा—'राम अनुज मन की गति जानी। भगत बछलता हिय हुलसानी॥ १। २१८। ४-६।', 'अंतरजामी प्रभु सब जाना। बूझत कहहु काह हनुमाना॥ ७। ३६। ४।' से 'प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं। ६।' तक (ख) 'बोलनि'—बोलनेकी यह गति है कि जबतक भरतजी हैं, तबतक मानो लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी हैं ही नहीं। प्रभु जब चित्रकूट गये, लक्ष्मणजी साथ थे, अवसर पड़नेपर बिना पूछे ही बोलते थे, वही लक्ष्मणजी भरतजीके आनेपर एकदम चुप हैं। बड़े लोग एकत्रित हैं, जैसा उचित समझेंगे करेंगे, मैं तो दोनोंका सेवक ठहरा, यही भाव न बोलनेमें है। शत्रुघ्नजी सबसे छोटे हैं। जब भरत-लक्ष्मण न रहे तब इन्हें बोलनेका अवसर मिले। (ग) 'मिलनि'—मिलनका आनन्द दो स्थानोंपर विशेषरूपसे देख पड़ता है, एक चित्रकूटमें और दूसरा वनसे लौटनेपर अवधमें। २। २४० से दोहा २४१ तक, ७। ५। से 'भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे। ७। ६। १।' तक के। (घ) 'प्रीति परस्पर' ऐसी कि भरतजीके लिये प्रभु पिताका वचन छोड़नेको तैयार, उधर भरत प्रभुको सकोच देनेको अनुचित मानते हैं; लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर श्रीरामजी यही कहते हैं कि यह वियोग जानता तो वन आता ही नहीं। श्रीभरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नजीका प्रेम भी इतनी उच्च कोटिका है कि यदि प्रभु लौट जायँ तो तीनों भाई जन्मभर वनवासके लिये प्रस्तुत हैं। यथा—'नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। ' (ङ) 'हास'—यद्यपि चारों भाई परम सकोची हैं, फिर भी समय-समयपर हँसी भी हो जाया करती है। रावणकी बहन शूर्पणखा ब्याहका प्रस्ताव लेकर रामजीके सम्मुख उपस्थित है, सरकार सीताजीकी ओर

इङ्गित करके उसे बतलाते हैं कि 'अहै कुमार मोर लघु भ्राता'। लखनलालजी उसे समझा बुझाकर फिर सरकारके पास लौटा देते हैं कि मैं सेवक ठहरा, मुझसे ब्याह करनेमें कौन सुख है। मैं एकके ही पालनमें असमर्थ हूँ—और सरकार अयोध्याके राजा हैं—चाहे जितने ब्याह कर, यथा—'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हहि सब छाजा॥' इस भाँति भाइयोंमें कभी-कभी हँसी भी हो जाया करती थी। गीतावलीमें वसन्तोत्सवके समयम लिखते हैं—'नर नारि परस्पर गारि देत। सुनि हँसत राम भ्रातन्ह समेत॥' (वि० त्रि०)। विशेष नोट २ मे देखिये। 'भायप'—२ (ङ) मे देखिये।

२ 'जल माधुरी सुवास' इति। प० रामकुमारजीके मतानुसार 'अन्तर इन्द्रियोका व्यवहार जो 'जो भाईपना और प्रीति' है सो जलमाधुरी है क्योंकि जलमाधुरी जलके अदर रहती है बाह्य-इन्द्रियोंके व्यवहार जो 'अवलोकनि बोलनि मिलनि हास' हैं वे जलका सुवास है, क्योंकि सुगन्ध जलके बाहर फैलती है। यह समता है।' और श्री-जानकीदासजीके मतानुसार 'अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति हास' ये जलकी माधुरी (=मिष्ट गुण) हैं और भायप सुगन्धगुण है (यही मत त्रिपाठीजीका है। 'अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परस्पर हास' को अति सन्निकट-वर्त्ती ही जान सकते हैं। मिठासको चखनेवाला ही जानता है, इसी भाँति उपर्युक्त बातोंको देखनेवाले ही जानते हैं। अत उनकी उपमा मिठाससे दी। सुवास दूरतक फैलता है एव भायप भी ससारमें प्रसिद्ध है। अत भायपकी उपमा सुगन्धसे दी)। और इसी क्रमसे उन्होंने सबका लक्ष्य भी दिया है। यथा—(क) 'अनुरूप बर दुलहिनि परसपर लखि सकुचि हिय हरषहीं। १। ३२५।' यहाँ 'लखि' से अवलोकनि और 'सकुचि' से हास्य सूचित किया। श्रीऊर्मिला-जी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी श्याम हैं। श्रीसीताजी और श्रीमाण्डवीजी गौर वर्ण हैं। श्रीरामजी और श्रीभरतजी श्याम हैं, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी गौर हैं। इस तरह चार जोड़ गौर-श्यामके मिले। बडेको छोटेके और छोटेको बडेके सामने पत्नीसहित बठे होनेसे 'सकुच' है। ध्वनिसे हास्य और अवलोकन पाया जाता है।—(मा० प्र०)। (ख) 'बधु सखा सँग लेहि बोलाई।', 'आपु कहहि अनुजन्ह समुझाई—(१। २०५), इत्यादि बोलनि है। (ग) 'बरबस लिये उठाइ उर लाये कृपानिधान। भरत रामकी मिलनि लखि बिसरे सबहिं अपान॥ २। २४०।' 'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी।', 'भेटेउ लखन ललकि लघु भाई॥ २। २४२। १।', 'मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि०॥ २। २४१।', 'भूरि भाय भेटे भरत लछिमन करत प्रनाम। २। २४१।', 'भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा। लिये उठाइ लाइ उर रामा॥ हरषे लखन देखि दोउ भ्राता। मिले प्रेम परिपूरित गाता॥ १। ३०८।', 'गहे भरत पुनि प्रभु पद पकज।—परे भूमि नहि उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए। श्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥' से 'लछिमन भरत मिले तब परम प्रेम दोउ भाइ। ७। ५।' तक—यह 'मिलनि' है। (घ) 'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषग धनु तीरा॥' 'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी' (२। २४०-२४१) इसमें प्रेम और मिलन दोनों है। 'बधु सनेह सरस एहि ओरा। इत साहिब सेवा बरजोरा। २। २४०। ४।' (मे श्रीलक्ष्मणजीकी), 'भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥ १। १९८।' 'राम करहि भ्रातन्ह पर प्रीती।', 'सेवहि सानुकूल सब भाई। उ० २५।', इत्यादि परस्पर प्रीति है। (ङ) 'अनुज सखा सँग भोजन करहीं। १। २०५।', 'चलत पयादे खात फल पिता दीन्ह तजि राजु' से 'भायप भगति भरत आचरनू' तक (२। २२२-२२३)। श्रीरामजीका भायप, यथा—'गुरु सिख देइ राय पहि गयऊ। राम हृदय अस बिसमय भयऊ। जनमे एक सग सब भाई' से 'प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। २। १०।' तक पिता युवराजपद कल देंगे। प्रजा, परिवार, सखा आदि सब समाचार पाकर आनन्द मगल मना रहे हैं, पर श्रीरामजी सोचमें पड़े हैं, भरतजीका स्मरण भी कर रहे हैं। कैकेयीजी वरदान माँगती है, राजा प्रतिज्ञाबद्ध हो जाते हैं, जिससे राज्याभिषेकके बदले बनवास होता है। अब भरतका 'भायप' देखिये। वे राज्य नहीं लेते। चित्रकूट पैदल जाते हैं, मनमे यही सोच है कि 'केहि बिधि होइ राम अभिषेकू'। अयोध्याकाण्ड उत्तरार्धभर और लङ्काकाण्ड तथा उत्तरम उनका 'भायप' ही तो है। लक्ष्मणजीका भायप रामचरितभरमे जगमगा रहा है। शत्रुघ्नजी सबके आज्ञाकारी हैं। लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेका समाचार पा माता सुमित्राजी उनको श्रीरामजीकी सेवाके लिये जानेको

कहती हैं और वे तुरत तैयार हो जाते है। यथा—'सुनि रन घायल लखन परे हैं। रघुनंदन बिनु बधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे है। तात जाहु कपि सँग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।' (गीतावली ६। १३) इत्यादि परस्परका 'भायप' है।

२ श्रीजानकीशरणजीके मतानुसार इस प्रसगके उदाहरण उत्तरकाण्डसे ही लेना चाहिये। अतः उदाहरण क्रमसे ये होंगे—'प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥ ७। २५। ३।'; 'सनकादिक बिधि लोक सिधाए। भ्रातन्ह रामचरन सिरु नाए॥ पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं। चितवहिं सब मारुतसुत पाहीं॥ ७। ३६।', इत्यादिमें 'बोलनि, मिलनि' 'अनुजन्ह सयुत भोजन करहीं॥ ७। २६।', 'भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। सग परम प्रिय पवनकुमारा। सुदर उपवन देखन गए॥ ७। ३२।' यह परस्पर प्रीति, और 'सेवहिं सानुकूल सब भाई', 'राम करहि भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती ७। २५।' यह भायप है।

सू० प्र० मिश्र—यहाँ जलके दो गुण कहे—माधुर्य और सुगन्ध। माधुर्य तो ठीक ही है 'जले मधुरशीतले'। जलमें सुगन्ध गुण तो किसीने भी नहीं कहा, वृद्धसुश्रुतमे प्रशस्त जललक्षणमें सुगन्धका नाम भी नहीं तब ग्रन्थकारने कैसे लिखा? उत्तर यह है कि दूषित जलकी शुद्धिके लिये सुगन्ध द्रव्यकी आवश्यकता पड़ती है, यथावृद्धसुश्रुते—'कर्पूरजाति-पुन्नागपाटलादिसुवासितम्। शुचिसान्द्रपटस्रावैः (साफ मोटे वस्त्रसे छानना) क्षुद्रजन्तुविवर्जितम्। गोमयेन च वस्त्रेण कुर्यादम्बुप्रसादनम्॥' भाइयोंके गुणोंसे कलिकालजन्य कथारूपी जलके दोष निकल गये, अब केवल गुण-ही-गुण रह गये। कलिकालजनित दोष दूर करनेके ये ही उपाय है जो ऊपर कहे गये।—(नोट—यद्यपि सुवास जलका प्राकृतिक गुण नहीं है अतः उपर्युक्त उद्धरणमें उसका ग्रहण नहीं है तथापि जैसे वायुके वर्णनमें सुगन्धका उल्लेख प्रायः किया जाता है यद्यपि सुगन्ध वायुका प्राकृतिक गुण नहीं है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये)।

नोट—४ साधुमुखच्युत रामयशवारिमें प्रेमभक्तिको मधुरता और शीतलता दोनों कहा था, पर यहाँ कवितासरितके रामयशवारिमें भरत-सुभावको शीतलता और चारो भाईके व्यवहार तथा प्रेमको मधुरता कहा। भाव यह है कि भक्तिका माधुर्य सबमें बराबर है, पर भरतजीमे स्वभावकी शीतलता अधिक है। मन्थराको दण्ड देना भी भरतलालसे न देखा गया। यथा—'भरत दयानिधि दीन्हि छोड़ाई।' (वि० त्रि०)

आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी॥ १॥

शब्दार्थ—आरति=आर्ति=दुःख, क्लेश। विनय=विनती=प्रार्थना, निवेदन, विशेष नम्रतासे कोई बात कहना। दीनता=नम्रता, विनीतभाव, गरीबी, कातरता। लघुता=हलकापन।

अर्थ—मेरी आर्ति, विनती और दीनता इस सुन्दर उत्तम जलका हलकापन है जो ललित है और थोड़ा नहीं है अर्थात् बहुत है॥ १॥ †

---

* खोरी—१७०४, १७२१, १७६२, छ०। थोरी—१६६१, प० मा० प्र०, वै, को० रा०।

'न खोरी' का भाव त्रिपाठीजी यह कहते हैं कि जलके लिये हलकापन गुण है पर रामयशको हलका कैसे कहा जाय और जब जलके साथ रूपक बाँधा है तो हलकापन कहना ही चाहिये, अतः कहते है 'सुबारि न खोरी' अर्थात् वह हलकापन मेरा है। मेरी आर्ति आदिका योग जो इस रामयश-पूरित कविता-सरितासे हुआ वही इस जलका हलकापन है, नहीं तो इस रामयशमे दोष नहीं है।

† सू० प्र० मिश्र—यहाँ ऐसा भी विवेक हो सकता है कि आरति जलकी लघुता, विनय जलकी ललितता और दीनता जलकी शुद्धता है।

वीरकवि—हलकापन और निर्दोष भी, इसमे विरोधाभास है।

अर्थ—यह जल बड़ा अनोखा है, सुनते ही गुण करता है। आशारूपी प्यासको और मनके मैलको दूर करता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ ऊपर चौपाई (१) तक जलके स्वरूपमें जो गुण हैं वे कहे गये, अब दूसरोंके द्वारा जलके गुण दिखाते हैं। आगे जो वर्णन है वह सब जलकी अद्भुतता है।

२ 'सुनत गुनकारी' का भाव यह है कि इसका पान श्रवणसे है, यथा 'रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भावसहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान ॥ उ० १२८।' वह जल प्यासको हरता है, यह आशारूपी प्यासको हरता है कि जो (आशा) प्रभुके विश्वासका नाश करती है, यथा—'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा ॥ ७। ४६। ३।' 'तुलसी अदभुत देवता आसा देवी नाम। सेए सोक समरपई बिमुख भये अभिराम ॥ दोहावली २५८।'—देखिये १। २४ (४-५)। [पुन भाव कि सभी प्रकारके जल पीनेपर ही अपना गुण दिखलाते हैं तभी पिपासा, ग्लानि आदि दूर होती है, पर यह जल ऐसा है कि केवल कानमें पड़ जानेसे लाभ पहुँचाता है—(वि० त्रि०)।

३—(क) मनका मल विषय है, यथा—'काई विषय मुकुर मन लागी। १। ११५। १', 'मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई मन मलिन विषय सग लागे'। विनय ८२' (ख) 'मनोमलहारी' का भाव यह है कि आशाकी उत्पत्ति मलिन मनमें है, रामयश जल है, प्यास जलहीसे बुझती है। (ग) 'श्रीगुरुपदरज-वन्दनामें 'अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥' चूर्णका स्वरूप कहा था 'राम सुयस जल' उसका अनुपान है। अनुपानका स्वरूप यहाँ दिया। (रा० प्र०)। थोड़ा-थोड़ा जल पीनेसे जठराग्नि बढ़ती है—'तस्माज्जरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेद्भूरि'—(मा० प०)। (घ) 'आस पियास मनोमलहारी' से तात्पर्य यह निकला कि अन्य देवी, देवता, मनुष्यादिकी आशा छुड़ाकर और विषयोंसे वैराग्य कराकर यह मनुष्यको श्रीरामजीका अनन्य उपासक बना देता है, उन्हींमें दृढ़ विश्वास करा देता है। पुन', (ङ) जैसे मृग मरुमरीचिकाके पीछे इस आशासे कि अब जल मिलता है, अब जल मिलता है, दौड़ते-दौड़ते श्रान्त हो जाता है, इसी भाँति मन भी सुखके लिये चेष्टा करते-करते ग्लानियुक्त हो गया है। यही मनोमल है। (वि० त्रि०)।

वि० त्रि०—यहाँ तीन गुण कहे—गुणकारी, आसपियासहारी और मनोमलहारी। और सत्रह गुण अगली चौपाइयोंमें कहेंगे। कुल बीस गुण कहे। चरित-सरितको भी बीस अंशोंमें वर्णन किया और ये बीसों गुण क्रमशः इन्हीं बीसों अंशोंके हैं। इन्हीं बीसों अंशोंको ही लक्ष्यमें रखकर श्रीगोस्वामीजीने बीस बार गिनकर कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की है। यथा—(१) 'भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति। (२) बरनउँ रामचरित भवमोचन। (३) 'तेहि बल मैं रघुपति गुनगाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा ॥ (४) एहि प्रकार बल मनहि देखाई। करिहौं रघुपति कथा सुहाई ॥ (५) करहु कृपा हरि जस कहउँ, पुनि पुनि कहउँ निहोर ॥ (६) 'सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनौं राम चरित चित चाऊ ॥ (७) सुमिरि सो नाम रामगुनगाथा। करौं नाइ रघुनाथहि माथा। (८) बरनउँ रघुबर बिसद जस, सुनि कलिकलुष नसाइ। (९) कहिहौं सोइ संबाद बखानी। (१०) भाषाबद्ध करब मैं सोई। (११) तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे। (१२) करउँ कथा भवसरिता तरनी। (१३) सो सब हेतु कहब मैं गाई। (१४) बरनौं बिसद रामगुनगाथा। (१५) करौं कथा हरिपद धरि सीसा। (१६) कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। (१७) अब सोइ कहौं प्रसग सब '। (१८) करइ मनोहर मति अनुहारी। (१९) सुमिरि भवानी संकरहि कह कबि कथा सुहाइ। (२०) कहौं जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संबाद। अब अंश और गुण सुनिये। 'उमा महेस बिवाह बराती। ·' का माहात्म्य हुआ 'अद्भुत सलिल सुनत गुनकारी।' (बारातकी अद्भुतता) और विवाहका कल्याणकारी होना पूर्व कहा गया है। दूसरा अंग है 'रघुबर जनम अनंद बधाई। ··'। इसका माहात्म्य है 'आस पियास हारी', चक्रवर्ती महाराज आदि आशा लगाये हुए थे सो उनकी आशा जन्ममें बधाई बजते ही पूरी हो गयी। यथा—'घर घर बाज बधाव सुभ प्रगटेउ सुखमाकद। हरषवत सब जहँ तहँ

नगर नारि नर वृंद ।' तीसरा अंश है 'बालचरित चहुँ बंधु के, बनज बिपुल बहुरंग ।' इसका माहात्म्य है 'मनोमल-हारी' । बालचरित अत्यन्त सरल है, अतः मनोमलहारी है । शेष अंश आगे चौपाइयोंमें क्रमशः दिये गये हैं ।

राम सुप्रेमहि* पोषत पानी । हरत सकल कलि कलुष गलानी ॥ ३ ॥

अर्थ—यह जल सुन्दर रामप्रेम (श्रीरामचन्द्रसम्बन्धी सुन्दर निष्काम प्रेम) को बढ़ाता और पुष्ट करता है और कलियुगके समस्त पापोंकी ग्लानि (वा, कलिके पापों और पापोंसे उत्पन्न ग्लानि) को दूर करता है ॥ ३ ॥

नोट—१ पानी = पानीय अर्थात् पीनेवाली वस्तु । इसीसे जलका नाम पानीय है । उसीका प्राकृतरूप पानी है । यहाँ 'पानी' शब्दके प्रयोगसे रामयशके श्रवणका ही प्रसंग द्योतित किया । वि० त्रि० ।

टिप्पणी—१ (क) अब यहाँसे जलका 'परहितकारी' गुण कहते हैं । जल शरीरको पुष्ट करता है, यह राम-प्रेमको पुष्ट करता है यथा—'जननि जनक सिय राम प्रेम के । १ । ३२ । ४ ।' (ख) 'पोषत' से पहिले उत्पन्न होना सूचित होता है, क्योंकि जब जन्म होगा तभी पालन-पोषण हो सकेगा । प्रेमका उत्पन्न होना 'जननि जनक सिय राम प्रेम के । ३२ । ४ ।' मे कह आये, क्योंकि माता-पितासे ही बच्चा उत्पन्न होता है । श्रीरामचरितने माता-पितारूप होकर प्रेम उत्पन्न किया और श्रीरामसुयशजलसे प्रेमका पोषण हुआ । 'रामचरित और राम-सुयश' एक ही हैं । 'सुप्रेम' अर्थात् निष्काम प्रेम ।

नोट—२ 'कलि कलुष गलानी ।' इति । कलिके पापोंकी जो ग्लानि मनमें होती है, यथा—'सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि विनय सुनावउँ । जौं करनी आपनी विचारौं तौ कि सरन हौं आवौं । वि० १४२ ।', 'बाप आपने करत मेरी घनि घटि गई । वि० २५२ ।', 'जनम गयो बादिहि बर बीति । वि० २३४ ।' इत्यादि । यह ग्लानि इससे दूर हो जाती है, क्योंकि इसमें सन्तों, भक्तों तथा स्वयं श्रीरामजीके वाक्योंसे हमें उनकी दयालुतामें विश्वास हो जाता है, यथा—'आपन जानि न त्यागिहहि ', 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥ ७१ ॥' 'कोटि बिप्र बध लागहि जाहू । आए सरन तजउँ नहिं ताहू ॥ ५ । ४४ ।' इत्यादि । ज्यों ही यह सुयश स्मरण हो आता है, ग्लानि दूर हो जाती है ।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि वह जल ग्लानिमात्रको हरता है, यथा—'सुचि जल पियत मुदित मन भएऊ ।' और यह जल कलिको हरता है, यथा—'रामकथा कलि पन्नग भरनी', कलिसे उत्पन्न कलुषको हरता है, यथा—'रामकथा कलिकलुष विभंजनि ।' और 'कलुषसे जो ग्लानि उत्पन्न होती है उसको भी हरता है, यथा 'समन पाप संताप सोक के ।' तात्पर्य यह है कि कार्य और कारण दोनोंका नाश करता है ।

वि० त्रि०—यहाँ तीन गुण कहे—'राम सुप्रेमहि पोषत पानी', 'हरत सकल कलि कलुष' और 'हरत गलानी ।' ये माहात्म्य क्रमसे प्राप्त 'सीय स्वयंवर कथा सुहाई । ', 'नदी नाव पटु प्रश्न अनेका ।' और 'सुनि अनुकथन परसपर होई ' इस चौथे, पाँचवें और छठे अंगोंके हैं । सीयस्वयंवरमें श्रीरामजीको विश्वविजय यश और श्रीजानकीजी दोनों-की प्राप्ति हुई । इष्टदेवके उत्कर्षश्रवणसे प्रेम बढ़ता ही है । प्रश्नोत्तरमें एक प्रकारसे सभी रामचरितमानस आ जाता है अतः 'सकल कलि कलुष हरण' इसका गुण होना ठीक ही है । अनुकथनमें विश्राम अधिक होता है, अतः उसे ग्लानिका हरण करनेवाला कहा ।

भव श्रम सोषक तोषक तोषा । समन दुरित दुख दारिद दोषा ॥ ४ ॥

अर्थ—संसारके (आवागमन) श्रमको सोख लेनेवाला, सन्तोषको भी सन्तुष्ट करनेवाला और पाप एवं पापसे उत्पन्न दुःख, दरिद्रता और दोषोंको दूर करनेवाला है ॥ ४ ॥

पं० रामकुमारजी—१ (क) 'भव श्रम सोषक' इति । यहाँ भव समुद्र है, श्रम जल है, इसीसे सोखना कहा

* सुप्रेमहि १६६१, १७०४, रा० प्र० श्रीअयोध्याजीके मानसविज्ञोंकी छपाई प्रतियों, त्रि० टी०, पंजाबी और बैजनाथजीकी प्रतियोंमें है । ना० प्र० तथा गौड़जीका 'सुपेमहि' पाठ है ।

अनेक योनियोंमे बारबार जन्म लेना और मरना यही परिश्रम है। यथा—'भव पथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे। ७। १३।', 'आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी। फिरत ७। ४४।' (ख) 'तोषक तोषा' अर्थात् वह जल सन्तोष देता है और श्रीराम-सुयशजल जगत्‌को तृप्त करनेवाले मूर्तिमान् सन्तोषको भी तृप्त कर देता है। यथा—'सुदरता कहुँ सुदर करई', 'धीरजहु कर धीरज भागा', 'सुनि बिषाद दुसह दुख लागा', 'तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन। २। २९।' इत्यादि, तथा यहाँ 'तोषक तोषा' कहा। अथवा, दूसरा भाव यह है कि सतोंको सतोष प्राप्त है तो भी वे रामचरितके भूखे हैं। उनको भी सन्तोष देता है। (ग) दुरित=पाप। दुःख, दरिद्रता और दोष ये सब पापके फल हैं, यथा—'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग। उ० १००।' यह जल पाप और उसके फलको नाश करता है। दोष=अवगुण, यथा—'कहहु सुता के दोष गुन मुनिवर हृदय विचारि॥' वह जल अवगुणको नाश करता है, यह मानसरोगको।

नोट—यहाँ 'दुख दारिद दोषा' तीनोंका नाश कहा है।—अयोध्याकाण्डमें भी इन तीनोंका मिटना कहा है। यथा—'मिटे दोष दुख दारिद दावा। अ० १०२।' 'दुःख दरिद्ररूपी (अथवा दुःखदरिद्रके) दोषों', ऐसा अर्थ बाबू श्यामसुन्दरदास और विनायकीटीकाकारने किया है।

वि० त्रि०—यहाँ श्रीरामयशजलके छः गुण कहे—'भवश्रम सोषक' १, 'तोषक तोषा' २, समन दुरित ३, दुःख ४, दारिद ५, दोषा ६। ये क्रमसे प्राप्त 'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' 'घाटसुबद्ध राम बर बानी', 'सानुज राम बिबाह उछाहू।' 'कहत सुनत हरषहि पुलकाहीं…।', 'रामतिलक हित मगल साजा' और 'काई कुमति कैकई केरी।' इन सातवेंसे लेकर बारहवें अगोंके माहात्म्य है। भृगुनाथकी रिसानी भी श्रौताग्निकी भाँति पवित्र है। वे कर्मयोगी थे। इनका क्रोध युद्धयज्ञके लिये ही था, यथा—'चाप श्रुवा सर आहुति जानू।' इत्यादि। अतः इनको भवश्रम नहीं होता, अत इनकी रिसानीको भवश्रमशोषक कहा। श्रीरामजीकी वाणीसे परशुरामजीका मोह जाता रहा, यथा—'उघरे पटल परशुधर मति के।' अतः 'तोषक तोषा' गुण कहा। 'सानुज रामबिबाह उछाहू' पुण्यमय ही है, अत इसे दुरितशमन कहा। रामविवाहमे माताओंको अतिशय आनन्द हुआ। यथा—'पावा परमतत्त्व जनु जोगी' से लेकर 'एहि सुख तें सतकोटि गुन पावहिं मातु अनंदु।' तक। अतः 'कहत सुनत…' इस अगको दुःखशमन कहा। वास्तविक दरिद्र मोह है, यथा—'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।' 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री…' इस कारणसे अथवा अनेक विघ्न उपस्थित होनेपर भी अन्तमें राज्यलक्ष्मीने उनका वरण किया ही, अत 'राम तिलक हित मंगल साजा' को दारिद्र्यनाशक कहा। श्रीकैकेयीजी ऐसी दशरथ महाराजकी प्रेयसी और परम साधु भरतजीकी माताको दुष्टा मन्थराके सङ्गदोषसे कुमति उत्पन्न हुई। अत 'काई कुमति…' इस अगसे शिक्षा ग्रहण करनेवालेका दोष नष्ट हो जाता है।

काम कोह मद मोह नसावन। बिमल बिबेक बिराग बढ़ावन॥ ५॥

अर्थ—काम, क्रोध, मद और मोहका नाश करनेवाला है। निर्मल ज्ञान और वैराग्यको बढाने-वाला है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) कथाका बाधक काम है, यथा—'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥ ५। ५८। ४।' इसलिये प्रथम कामको नाश करता है। काम, क्रोध, मद और मोह—ये सब मानसरोग हैं। इनके नाश होनेपर विवेक और वैराग्य बढते हैं। इसीसे प्रथम कामादिका नाश कहकर तब विवेक और वैराग्यका बढना कहा है। (ख) 'विमल' विशेषण देनेका भाव यह है कि विवेक और वैराग्य तो और भी क्रियाओं, साधनोंसे बढते हैं, यथा—'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ३। १६। १।' और रामचरित विमल 'विवेक वैराग्य' को बढाता है।

नोट—१ 'बिमल बिबेक बिराग' इति। जब मानसरोग दूर हो जाते है, विषय-वासना जाती रहती है, तब 'विरागविवेक' निर्मल कहे जाते हैं। यथा—'जानिय तब मन बिरुज गुसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाईं॥ सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई। बिमल ग्यानजल जब सो नहाई।…७। १२२। ९, १०।'

२ 'काम, कोह, मोह' ये क्रमसे कहे, यही क्रम गीतामें है। यथा—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ २। ६२-६३।' विषयसङ्गसे कामना, कामना न पूर्ण होनेसे क्रोध और क्रोधसे मोह होता है, जिससे बुद्धि नष्ट होकर प्राणीका नाश होता है। अतः तीनोंका नाश कहा। मोहके नाशसे संसार असार दीखने लगता है उससे वैराग्य होता है।

☞ इन सद्‌गुणोंकी उत्पत्ति पहले कह आये हैं, यथा—'सद्‌गुन सुरगन अंब अदिति सी। ३२। ३।' उन्हीं सद्‌गुणोंका बढ़ना 'बढ़ावन' पद देकर यहाँ कहा। विमल विवेक वैराग्य सद्‌गुण हैं।

वि० त्रि०—यहाँ छः गुण कहे। काम १, क्रोध २, मद ३, मोहनसावन ४, विमल विवेक ५, बिराग बढ़ावन ६, जो क्रमसे प्राप्त 'समन अमित उतपात सब भरतचरित जप जाग।', 'कलि अघ खल अवगुन कथन ते जल मल बक काग', 'हिम हिमसैलसुता सिव ब्याहू', 'सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू', 'बरनब रामबिबाह समाजू' और 'ग्रीषम दुसह राम बन गवनू' इन तेरहवेंसे लेकर अठारहवें अङ्गोंके माहात्म्य हैं। भरत ऐसे निष्काम भक्तशिरोमणि कि जो अवध-ऐसे राज्यमें भी 'चंचरीक जिमि चंपक बागा' रहते थे, उनके चरितसे काम नष्ट होता है। जो कलिके अघ और खलोंके अवगुणका श्रवण-मनन करेगा वह समझ जायगा कि विरोध होना कलिका स्वभाव है, अतः विरोधीपर भी क्रोध न करेगा। उमा-शम्भुविवाह-प्रसङ्गमें कामने मदमें आकर संसारभरको पीड़ित किया। अतः उसका पराभव हुआ। अतः इस कथामें शिक्षा ग्रहण करनेवालेका मद नष्ट हो जाता है। प्रभु-जन्मके उछाहमें सब लोग ब्रह्मानन्दमें मग्न हो गये—'ब्रह्मानंद मगन सब लोई।' अतः इस चरितको मोहनाशक कहा। 'बरनब रामबिबाह समाजू' इस अंशमें वेदके चारों तत्त्व जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयके विभवोंका अपनी अपनी अवस्थाओंके साथ वर्णन है। यहाँ उत्प्रेक्षाके व्याजसे श्रीगोस्वामीजीने वेदके रहस्यका उद्‌घाटन कर दिया। अन्यत्र स्पष्ट भी कहा है, यथा—'तुरीयमेव केवलम्।' अतः इस अंशका फल 'बिमल बिबेक बढ़ावन' कहा। रामवनगमन-प्रसङ्गसे शिक्षा ग्रहण करनेवालेका निश्चय वैराग्य बढ़ेगा।

मु० रोशनलाल—ये छः चौपाइयाँ वैद्यक पर्याय हैं। मलके हरनेसे रोगीका शरीर पुष्ट होता है। यह जल मनोमलको पहिले हर लेता है, फिर उससे रामप्रेम पुष्ट होता है। रोगीको अपने रोगकी ग्लानि होती है जिससे उसका शरीर मलिन हो जाता है, सो इसने भवरोगके रोगीके मनसे कलिके पापोंकी ग्लानिको हर लिया है। पुनः, रोगीको चलनेमें श्रम होता है, सो यहाँ सांसारिक वासनाओंका रोगी जो जन्ममरणभवश्रमसे थका हुआ है उसके उस श्रमको सोख लेता है और जैसे रोगीको भोजनमें सन्तुष्टता होती है वैसे ही भवरोगके रोगीका सांसारिक व्यवहारोंसे संतोष देता है और दुरितकी चाह, दोष, दरिद्र, दुःख इन सबके दोषोंको हर लेता है। (पाँड़ेजी)।

सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें ॥ ६ ॥

अर्थ—आदर-पूर्वक स्नान-पान करनेसे हृदयसे पाप-परिताप दूर हो जाते हैं ॥ ६ ॥

पं० रामकुमारजी—१ (क) यहाँ यथासंख्य अलंकार है। अर्थात् स्नानसे पाप मिटते हैं और पीनेसे हृदयके परिताप दूर होते हैं। वह जल शरीरके तापको हरता है, राम-सुयश-जल हृदयके तापको हरता है। (ख) परिताप = मानसी व्यथा। पापका फलभोग ही परिताप है। श्रीरामयशके सम्बन्धमें कहना-सुनना ही 'मज्जन-पान' है, यथा—'मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका ॥ १। १५।' 'मिटहिं पाप ', यथा—'सकृदुच्चरितं येन रामायणमनुत्तमम्। भस्मीभवन्ति पापौघा इति रामस्तु तद्वत्' इति शिववाक्यम्। (मानस परिचारिकाके मतानुसार सुनना स्नान है और धारण-ग्रहण-मनन पान है। एकाग्रभावसे मनको कथामें डुबा देना स्नान है। गुणानुवादको सदा कानसे सुनते रहना पान है।) (ग) 'सादर' कहनेका भाव यह है कि कथा आदरपूर्वक कहे-सुने, निरादरसे नहीं। यथा—'सोइ सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रयताप न जरई ॥ १। ३९। ६।' 'सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी। १। ४४। ४।' पूर्व इसके भाव लिखे गये हैं।

२ ☞ पापका नाश होना इस प्रसंगमें तीन बार लिखा गया है, यथा—(१) 'हरत सकल कलि कलुष गलानी।' (२) 'समन दुरित दुख दारिद दोषा।' (३) 'मिटहिं पाप परिताप हिएँ के।' इसका कारण यह है कि पाप तीन प्रकारके है। यथा—'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥ २। १६७। ७।' तीन बार कहकर सूचित किया कि इन तीनोंका नाश होता है।

वि० त्रि०—१ यहाँ दो गुण कहे—मिटहि पाप और मिटहि परिताप। ये क्रमसे प्राप्त 'बरषा घोर निसाचर रारी' और 'रामराज सुख बिनय बड़ाई' इन उन्नीसवें और बीसवें अंशाके माहात्म्य हैं। भगवान्से वैर करनेवालेको भी परम गति मिलती है। इस अंशसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि प्रभुसे कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य बना रहे। पाप मिटनेका यह अचूक उपाय है। अतः यह कथाभाग पाप मिटानेवाला है। श्रीरामवनवाससे सबको परिताप था—'अवधि आस सब राखहिं प्राना।' श्रीरामराज्यसे सब परिताप मिट गया। अतः जिन लोगोंने राम-राज्यसे शिक्षा ग्रहण की, निश्चय उनके हृदयका परिताप मिटेगा।

नोट—१ यहाँतक सम्मुखका फल कहा, आगे विमुखका फल कहते हैं। (प० रामकुमार)।

२ 'पहिले ग्रन्थके आदिमें श्रीगुरुपदरजको भवरोगनाशक चूर्ण कहा, फिर उसका अनुपान 'राम-सुयश जल' दोहा ४२ में कहा। रोगके दूर होनेपर रोगीको स्नान कराया जाता है, इसलिये यहाँ स्नान करना कहा। (रा० प्र०)।

वीरकवि—४३ (३-६) में सहोक्ति और अनुप्रासकी संसृष्टि है।

जिन्ह एहिं बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए॥ ७॥

अर्थ—जिन्होंने इस (राम-सुयश) जलसे अपने मनको नहीं धोया उन कादरोंको कलिकालने ठग लिया और नष्ट कर डाला है॥ ७॥

नोट—१ (क) 'एहि बारि' अर्थात् जिसमें ऐसे गुण हैं। 'मानस धोए'—जैसे देहपर मिट्टी लगी हो तो धोनेसे वह छूट जाती है, वैसे ही मनके विकार रामयश कहने-सुनने समझनेसे दूर हो जाते हैं। यथा—'जनम अनेक किये नाना बिधि करम कीच चित सानेउ। होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखानेउ॥ वि० ८८॥' 'मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥ वि० ८२।', 'आस पिआस मनोमल हारी'। श्रीरामयशसे मनका मैल साफ हो जाता है। (श्रवण करके समझना तथा धारण करना मनका धोना है। मा० मा०)। (ख) 'कायर'=कादर, जैसे, मयन=मदन। 'बिगोए' (सं० विगोपन)=नष्ट किया, ठग लिया, बिगाड़ डाला, भ्रममें डाल दिया। यथा—'प्रथम मोह मोहिं बहुत बिगोवा। ७। ९६। ६।', 'राज करत निज कुमति बिगोई। २। २३। ७।', 'स्वारथ परमारथ कहा, कलि कुटिल बिगोयौ बीच। वि० १९२।' पुनः, 'बिगोए'=वि+गोए=विशेषकर छिपाये वा गुप्त किये गये।=नाश किये गये। कायर कहनेका भाव यह है कि बहुत लोग स्नान करनेसे डरते हैं, इससे स्नान नहीं करते। अथवा, इसमें मानसका धोना कलिकालसे युद्ध करना है, जो मानसको धो लेते हैं उन्होंने कलिकालको जीत लिया। जिन्होंने न धोया वे मानो कलिकालके संग्राममें रणभूमिसे भागे, इसीसे कादर कहलाये। अथवा, वे आलसी हैं, भाग्य भाग्य चिल्लाते हैं कि हमें अवकाश ही नहीं मिलता, उनसे पुरुषार्थ भी किया नहीं होता।

२ 'बिगोए'—नरतन पाकर भी विषयमें लगना यही ठगा जाना या नष्ट होना है, यथा—'हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहि नर तन पाई। ७। ११२। ९।' इत्यादि। (प० रामकुमारजी)। पुनः भाव कि रामचरित पढ़ने या सुननेसे क्या होगा? माहात्म्य तो सभी अपने काव्यका लिखते हैं, कथा पढ़-सुनकर किसीको स्वर्ग जाते नहीं देखा, इत्यादि बुद्धि उनकी हो गयी है। यह विपरीत बुद्धि कलिकालके कारण हो गयी है, अतः कलिकाल बिगोये कहा। पाण्डेजी 'कायर' का अर्थ 'जो जानकर अन्याय करे' कहते हैं। मा० प० में 'कलिकाल बिगोए' का अर्थ किया है कि 'कलिकाल' उन्हींको अपनी आड़में छिपाये है, भाव

यह कि अभी तो सेठ-साहूकार, महाराज-पण्डित सभी हैं, पर वह नहीं जानते कि मरनेपर क्या दशा होगी, किस योनिमें जायँगे।'

तृषित निरखि रबिकर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥ ८॥

अर्थ—वे (कलिसे विगोये हुए) जीव, प्यासे हिरनकी नाईं, जो सूर्यकिरणसे उत्पन्न हुए जलको देखकर मारा-मारा फिरता है, प्यासे भ्रमते रहेंगे और दुःखी होंगे॥ ८॥

नोट—इस अर्धालीमें बताते हैं कि कलिने उन्हें क्योंकर ठगा है।

प० रामकुमारजी—१ (क) 'फिरिहहिं' से मृगजलकी ओर दौड़ना सूचित होता है। आशा ही प्यास है, यथा—'आस पियास मनोमल हारी।' आशाके पूर्ण न होनेसे जीव दुखी रहते हैं, सबके पीछे दौड़ते फिरते हैं। (ख) आशा मानसिक विकार है। यह रामचरित सुननेसे दूर हो जाती है, अन्य किसी उपायसे नहीं। अन्य सब उपाय मृगजल हैं, यथा—'जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे॥' (ग) मज्जन करनेसे मनके पाप-परिताप मिटते हैं और मज्जन न करनेवालोंको सजा मिलती है। क्या दण्ड मिलता है सो 'जिन्ह एहिं बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए।' में कहा। (घ) यहाँ आशा नदी है, मनोरथ जल है और तृष्णा तरङ्गावली है।

नोट—'रबिकर भव बारी' इति। कर=किरण। भव=उत्पन्न। बारी=बारि=जल। रेतपर या ऊसर मैदानोंमें तीक्ष्ण सूर्यकिरणोंके पड़नेसे दूरसे प्यासे हिरनको उसमें जल वा जलकी लहरोंका धोखा होता है। उसी जल-भ्रमको 'सूर्यकिरणसे उत्पन्न हुआ जल' कहा है। ☞ गर्मीके दिनोंमें जब वायुकी तहोंका घनत्व उष्णताके कारण असमान होता है, तब पृथ्वीके निकटकी वायु अधिक उष्ण होकर ऊपरको उठना चाहती है, परंतु ऊपरकी तहें उसे उठने नहीं देतीं, इससे उस वायुकी लहरें पृथ्वीके समानान्तर बहने लगती हैं। यही लहरें दूरसे देखनेमें जलकी धारा-सी दिखायी देती है। मृग इससे प्रायः धोखा खाते हैं, इसीसे इसे 'मृगतृष्णा' 'मृगजल' आदि कहते हैं। प्यासे फिरना कथा है? इसे भी विनयके पद ८८ से मिलान कीजिये—'कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो। निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिन्ह तान्यो॥ जदपि बिषय सँग सह्यो दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहूँ नहिं जान्यो॥ जनम अनेक किये नाना बिधि करम-कीच चित सान्यो। होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो॥ निज हित नाथ पिता गुर हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो। तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥' ☞ जीवके सम्बन्धमें मृगजल क्या है यह विनयमें स्पष्ट दिखाया है, यथा—'ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जौं पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजलरूप बिषय कारन निसिबासर धावै॥ ११६॥', 'जिव जबतें हरि ते बिलगानेउ। तब तें देह गेह निज जानेउ॥ मायाबस सरूप बिसरायो। तेहिं भ्रमते दारुन दुख पायो॥ आनँदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा। मृग भ्रम बारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयउ सुख मानी॥ ... पद १३६।' 'जो पै रामचरन रति होती ...। तौ कत बिषय बिलोकि झूँठ जल मन कुरंग ज्यों धावै॥ १६८॥', 'महामोह मृगजल-सरिता महँ बोरेउँ हौं बारहिं बार॥ १८८॥' ☞ इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि विषय, सांसारिक सुख, महामोह एवं राम और रामयश छोड़ अन्य सब कुछ मृगजल है। यह सुखमय प्रतीत होता है, पर इसमें सुख कहाँ।

वीरकवि—पहले एक साधारण बात कही कि मनुष्य विषयसुखकी प्यास बुझानेके लिये संसारमें दौड़ेंगे, किंतु हरियश छोड़कर अन्यत्र सुख कहाँ है जो उन्हें मिलेगा? इसकी विशेषसे समता दिखाना कि वे ऐसे दुःखी होंगे जैसे मिथ्या-जलको सत्य-जल मानकर हरिण दौड़ते-दौड़ते प्राण खो देता है, पर उसे पानी नहीं मिलता। 'उदाहरण अलङ्कार' है।

दो०—मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी संकरहि कह कबि कथा सुहाइ॥ ४३॥

अर्थ—अपनी बुद्धिके अनुसार इस उत्तम जलके गुणसमूहको विचारकर और उसमें मनको स्नान कराके श्रीभवानी-शङ्करका स्मरणकर कवि सुन्दर कथाको कहता है ॥ ४३ ॥

प० रामकुमारजी—१ 'मति अनुहारि' और 'गुनगन' से सूचित किया कि श्रीरामचरितमें तो गुण अमित हैं, अनन्त हैं, परतु मैंने मति-अनुसार कुछ गुण कहे।

२—'गुन-गन गनि मन अन्हवाइ' कहकर तीर्थमें स्नानकी विधि सूचित की है। प्रथम तीर्थका माहात्म्य कहे या सुने तब स्नान करे, यह विधि है। यथा—(क) 'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा ॥ अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥ सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग। १। २।' (ख) 'गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई ॥ तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए। १। २१२।' (ग) 'सचिवहिं अनुजहिं प्रियहिं सुनाई। बिबुधनदी महिमा अधिकाई ॥ मज्जन कीन्ह पथ श्रम गयऊ। २। ८७।' (घ) 'कहि सिय लषनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई ॥' मुदित नहाइ कीन्हि सिव सेवा। २। १०६।' (ङ) 'चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। आइ नहाए सरित बर सिय समेत दोउ भाइ ॥ २। १३२। तथा यहाँ 'मति अनुहारि सुबारि गुनगन गनि ' कहा।

३—पूर्व श्रीमद्गोस्वामीजीने मन और मति दोनोंको रङ्क कहा था। इसलिये दोनोको रामसुयश-जलमें नहलाया। मतिको मानसमें स्नान कराया। यथा—'अस मानस मानस चष चाही। भइ कबिबुद्धि बिमल अवगाही ॥ १। ३९। १।' और मनको कीर्त्ति सरयूमें नहलाया, यथा—'गुनगन गनि मन अन्हवाइ।' इस प्रकार दोनोंको निर्मल करके तब श्रीरामयश कहते हैं। रामयशमें स्नानकी विधि बतायी कि पहले गुण-गणोंको सुने, विचारे, तब स्नान सम्भव है।

नोट—१ मानस-प्रकरण दोहा ३५ से उठाया गया और यहाँ समाप्त हुआ। इस प्रकरणको भवानी-शङ्करका स्मरण करके प्रारम्भ किया और उन्हींके स्मरणपर प्रसङ्गको सम्पुटित किया। इसलिये भक्तिपूर्वक इनका पाठ करनेसे अनेक मन कामनाएँ सिद्ध हो सकती है। मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने मानसके इन नौ दोहोंको गौरी-शंकरके नामसे सम्पुटित कर दिया है, क्योंकि ये दोहे रामायणके बीज है। इसलिये श्रीशंकर-पार्वतीजीकी रक्षामें रहे। यह तात्पर्य ग्रन्थकारका है।'

२ श्रीभवानी-शङ्करकी वन्दना और बारम्बार स्मरणके भाव पूर्व आ चुके हैं कि ये मानसके आचार्य हैं, इन्हींकी कृपासे ग्रन्थकारको मानस प्राप्त हुआ और इन्होंने वस्तुतः उनका पालन-पोषण किया। मं० श्लो० एवं 'गुर पितु मातु महेस भवानी। १। १५। ३।' देखिये। उन्हींके प्रसादसे ये रामचरितमानसके कवि हुए और उसका माहात्म्य जगमगा रहा है। १। १५। ५। 'साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा' देखिये।

३ 'कह कवि' इति। 'सम्भुप्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरित मानस कबि तुलसी ॥ करइ मनोहर '। '१। ३६। १-२।' उपक्रममें कहा है, इसीसे यहाँ 'कह कवि' कहा। अर्थात् अपनेको कवि कहा।

४ पहिले रामचरितमानसका रूपक मानससरसे बाँधकर मानसका स्वरूप दोहा ३५ 'जस मानस ' ' से 'अस मानस'' ' तक कहा, फिर 'चली सुभग कबिता सरिता सो' से रामचरितमानस काव्यका रूपक सरयू नदीसे बाँधकर कहा। इन दोनोंका मिलान यहाँ दिया जाता है—

रामचरितमानस-सर		कीर्ति-सरयू
तालाबका माहात्म्य कहा, यथा—'सोइ सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रयताप न जरई ॥'	१	नदीका माहात्म्य कहा, यथा—'नदी पुनीत सुमानसनंदिनि। कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि ॥'
बरषहिं रामसुजस बर बारी। ' मेधामहिगत सो जल पावन।	२	चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो ॥

घाट मनोहर चारि ।
लीला सगुन जो कहहिं बखानी । सोइ स्वच्छता
प्रेमभगति " सोइ मधुरता सुसीतलताई
सो जल सुकृतसालि हित होई
रामभगतजन जीवन सोई
उपमा बीचि बिलास मनोरम
छंद सोरठा सुंदर दोहा । सोइ बहुरंग कमल
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला । सुकृती साधु
'धुनि अवरेब' ' से 'ते सब जलचर चारु तड़ागा तक
पुलक वाटिका बाग बन
सदा सुनहिं सादर नरनारी । ते सुरबर मानस अधिकारी ॥
सोइ सादर सर मज्जन करई । महाघोर त्रय ताप न जरई ॥
अतिखल जे बिषई बक कागा । एहि सर निकट न जाहिं०
रामचरितमानस एहि नामा
सोइ स्वच्छता करै मलहानी
उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू
रामचरितमानस मुनिभावन
भइ कबिबुद्धि बिमल अवगाही
संतसभा चहुँ दिसि अँवराई
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन

३ घाट सुबद्ध राम बर बानी
४ सती सिरोमनि सिय गुनगाथा । सोइ गुन अमल अनूपम पाथा ॥
५ 'भरत सुभाउ सुसीतलताई 'भाव ... माधुरी सुवास'
६ राम सुप्रेमहि पोषत पानी
७ सुनत सुजन मन पावन करिही
८ सीय स्वयंबर कथा सुहाई । सरितसुहावनि सो छबि छाई
९ बाल्चरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग
१० नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग
११ उमा-महेस बिबाह बराती । ते जलचर अगनित०
१२ बिबिध कथा बिचित्र बिभागा । जनु सर तीर तीर बन बागा
१३ कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं । ते सुकृती मन मुदित नहाहीं
१४ सादर मज्जन पान किये ते । मिटहिं पाप परिताप हिये ते
१५ कलि अघ खल अवगुन कथन ते जलमल बक काग
१६ सरजू नाम सुमंगलमूला
१७ कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि
१८ सो सुभ उमग सुखद सब काहू
१९ कीरति सरित छहूँ रितु रूरी
२० गुनगन गनि मन अन्हवाइ
२१ संतसभा अनुपम अवध
२२ समन दुरित दुख दारिद दोषा

नोट—५ ☞ मानस-प्रकरण यहाँ सम्पुटित हुआ। दोहा ३५ का 'सुमिरि उमा वृषकेतु तथा ३६ (१) का 'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी । रामचरितमानस कबि तुलसी ॥' उपक्रम है। 'मति अनुहारि सुबारि गुन'", 'सुमिरि भवानी संकरहिं', 'कह कबि कथा' दोहा ४३ उपसंहार है।

६ जलके गुण तीन बार कहे। एक तो ३६ (४–७) में पृथ्वीपर पड़नेके पहिलेके। दूसरे, ३६ (९) से ३७ (३) तक सरमें आनेपरके। और तीसरे, ४१ (७) से ४२ (४) तक नदीमें आनेके पीछेके।

७ 'जस मानस', 'जेहि बिधि भयउ' और 'जग प्रचार जेहि हेतु' तीनों प्रसङ्ग, जिनकी दोहा ३५ में करनेकी प्रतिज्ञा की थी, यहाँ समाप्त किये। आगे सवादोंकी कथा कहते हैं।

मानस-प्रकरण (मानस-सरयू-साङ्ग-रूपक) समाप्त हुआ।

बालकाण्ड प्रथम भाग (वन्दना तथा मानस-प्रकरण) चतुर्थ-संस्करण समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु। श्रीसद्गुरु भगवच्चरणौ शरणं मम। जय जय श्रीसीतारामजी

(श्रावण कृ० ११ संवत् २०१३ वि०, ३ अगस्त १९५६)

मानस-पीयूष

सम्पादक—महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी अयोध्यानिवासी

	रु० पै०
खण्ड १—बालकाण्ड भाग १ (प्रारम्भसे दोहा ४२ तक) मूल्य	९.००
खण्ड २—बालकाण्ड भाग २ क (दोहा ४३ से ११० (३) तक)	
बालकाण्ड भाग २ ख (दोहा ११० से (४) १८८ (६) तक)	
दोनों एक जिल्दमें, मूल्य	१२.००
खण्ड ३—बालकाण्ड भाग ३ क (दोहा १८८ (७) से २६७ तक)	
बालकाण्ड भाग ३ ख (दोहा २६८ से समाप्तितक)	
दोनों एक जिल्दमें, मूल्य	१२.००
खण्ड ४—अयोध्याकाण्ड पूरा, मूल्य	१४.००
खण्ड ५—अरण्यकाण्ड पूरा तथा किष्किन्धाकाण्ड पूरा, मूल्य	८.५०
खण्ड ६—सुन्दरकाण्ड पूरा तथा लङ्काकाण्ड, मूल्य	१४.००
खण्ड ७—उत्तरकाण्ड पूरा, मूल्य	१०.५०

इस प्रकार यह लगभग ६८०० पृष्ठोंका सम्पूर्ण ग्रन्थ जो पहले बारह भागोंमें श्रीअयोध्याजीसे निकला था, अब ७ जिल्दोंमें सजिल्द केवल ८१.०० में मिल सकेगा। रेलभाड़ा अलग। कमीशन, फ्री डिलेवरी आदिके नियम अन्य पुस्तकोंकी तरह।

सूचीपत्र अलगसे मँगवाइये।

व्यवस्थापक—

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)